वी. पी. वर्मा

●

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

लेखक

डॉ. विश्वनाथप्रसाद वर्मा

एम.ए. इतिहास (पटना), एम.ए. राजनीति (कोलम्बिया, न्यूयार्क), पी-एच.डी. राजनीति (शिकागो)

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र एवं निदेशक, इन्स्टीट्यूट ऑव पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, पटना विश्वविद्यालय

भूतपूर्व अध्यक्ष, अखिल भारतीय राजनीति विज्ञान महासंघ (1968)

अनुवादक

डॉ. सत्यनारायण दुबे, एम.ए., पी-एच.डी.

अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3

समर्पण

सहधर्मिणी

श्रीमती प्रमिला वर्मा को

—लेखक

द्वितीय संस्करण की भूमिका

अंग्रेजी संस्करण की भाँति "मॉडर्न इण्डियन पॉलिटिकल थॉट" का हिन्दी रूपान्तर भी लोकप्रिय हुआ है, यह देखकर स्वाभाविक आह्लाद होता है। इस संस्करण में यत्र-तत्र किंचिन्मात्र शैलीगत परिवर्तन किया गया है। आशा है पाँच नूतन परिशिष्टों का समावेश इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और उपादेयता को संपुष्ट करेगा। ये पाँच परिशिष्ट स्वतन्त्र रूप में हिन्दी भाषा में ही लिखे गये थे और अंग्रेजी संस्करण में समाविष्ट नहीं हैं।

विश्व-राजनीतिशास्त्र में भारतीय चिन्तकों, मनीषियों, नेताओं और प्राध्यापकों के योगदान को पारदर्शित कराने वाला यह ग्रन्थ "राजनीति-चिन्तामणि" के रूप में उस एकांगिता का परिहार करेगा जो केवल पश्चिमी आधार को ग्रहण कर पाण्डित्य का दम्भ भरती है। व्यापक तुलनात्मक मापदण्ड का पर्यावलम्बन ही इस संक्रमण-काल में त्राण और सम्बल प्रदान करेगा।

राजेन्द्रनगर, पटना
फरवरी 4, 1975

—*विश्वनाथप्रसाद वर्मा*

हिन्दी अनुवाद का प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक "मॉडर्न इण्डियन पॉलिटिकल थॉट" नामक ग्रन्थ के तृतीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं राजनीतिशास्त्र के सुयोग्य विद्वान डॉ. सत्यनारायण दुबे। अनुवाद को सुबोध, पठनीय एवं प्रामाणिक बनाने का इन्होंने पूरा यत्न किया है। प्रकाशन-स्थल से दूर रहने के कारण मैं स्वयं, जितना ध्यान अनुवाद की ओर आवश्यक था, उतना नहीं प्रदान कर सका हूँ, जिसका मुझे खेद है। समीक्षकों से प्रार्थना है कि यदि अनुवाद में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो उनकी ओर रचनात्मक सुझाव देने की कृपा करें। इसके लिए लेखक और अनुवादक दोनों ही आभारी रहेंगे।

27 मार्च, 1971 —*विश्वनाथप्रसाद वर्मा*

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

भाग 1
भारत में पुनर्जागरण

भाग 2
भारतीय मितवादी तथा अतिवादी

अध्याय पृष्ठ

भाग 3
महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

भाग 4
आधुनिक भारत में धर्म तथा राजनीति

भाग 5
अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

अध्याय पृष्ठ

भाग 6

अस्मद्कालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की कुछ समस्याएँ

परिशिष्ट

भाग 1

भारत में पुनर्जागरण

1

भारत में पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद

आधुनिक एशिया का प्रवुद्धीकरण, उसमें नवजीवन का संचार तथा उसका द्रुत पुनरुत्थान पिछले सौ वर्ष के विश्व इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है। कुस्तुन्तुनियाँ और काहिरा से लेकर कलकत्ता, पीकिंग और टोक्यो तक सर्वत्र हमें प्राचीन प्राच्य की आत्मा के मुक्तीकरण का दृश्य देखने को मिलता है। सुदूर अतीत में प्राच्य ने चीन, भारत, वावुल तथा मिस्र की शक्तिशाली सभ्यताओं को जन्म दिया था। प्राच्य में ही प्रथम साम्राज्यों तथा विश्व के धर्मों का उदय हुआ था। सभ्यता के प्रकाश की किरण सर्वप्रथम एशिया में ही प्रस्फुटित हुई थी। किन्तु जव सोलहवीं शताव्दी में यूरोप के राष्ट्रों ने विज्ञान तथा औद्योगिकी (टेक्नॉलौजी) का विकास आरम्भ किया तो उस समय से एशिया के लिए यूरोप के समकक्ष खड़ा रह सकना असम्भव हो गया। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताव्दियों में यूरोपीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ, वड़े पैमाने पर पण्य का उत्पादन होने लगा और वाणिज्य का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। उस समय से एशिया यूरोपीय साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का क्रीड़ांगन बन गया। औद्योगिक क्रांति के आगमन से पाश्चात्य देशों की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति में और भी अधिक वृद्धि हो गयी। अठाहरवीं शताव्दी में तथा उन्नीसवीं शताव्दी के प्रारम्भिक काल में एशियायी देशों में सर्वत्र आर्थिक अध:पतन, राजनीतिक जर्जरता[1], सामाजिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक सड़ाँध के दृश्य दिखायी देने लगे। विश्व के इतिहास में एशिया की गणना अधीन कोटि में होने लगी। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना व्यवस्थित ढंग से दक्षिण के आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों (1740-1763), प्लासी की लड़ाई (जून 23, 1757) तथा वक्सर के युद्ध (अक्टूवर 23, 1764) और शाह आलम द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी अधिकारों को दिये जाने (अगस्त 1, 1765) के साथ-साथ आरम्भ हुई। वलशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इस देश में कूटनीति, शासनपटुता तथा उच्च प्रकार के सैनिक शस्त्रास्त्र की सम्पूर्ण शक्तियों के साथ प्रवेश किया, और इसलिए उसने भारतीय राजनीति में प्रलय मचा दी। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे भारत का अधिकांश भाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रादेशिक स्वामित्व के अन्तर्गत चला गया। क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्ज, वैलेजली, लॉर्ड हेस्टिंग्ज तथा डलहोजी मुख्य नायक थे जिन्होंने साम्राज्यवादी आधिपत्य की स्थापना के इस कार्य को सम्पादित किया।

किन्तु उन्नीसवीं शताव्दी के मध्य से एशिया का मन तथा आत्मा एक वार पुन: निश्चित रूप से जाग गये हैं। आज एशिया भयंकर शक्ति से स्पन्दित है। जिन प्रमुख नेताओं तथा महान् विभूतियों को एशियायी कुम्भकरण के इस भयंकर जागरण का श्रेय है उसमें सुनयात सेन, तिलक, गान्धी और कमाल पाशा का स्थान विशेषत: उच्च तथा अद्भुत है। आज अखिल एशिया में राष्ट्रवाद की शक्तियाँ उत्तरोत्तर वलवती हो रही हैं, और साथ ही साथ आर्थिक तथा सामाजिक पुर्नरचना की माँग भी जोर पकड़ रही है। आधुनिक भारत में नयी राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति उद्दाम वेग के साथ उमड़ रही है। यह निश्चित करना कठिन है कि भारत में आधुनिक युग वास्तव में

1 किन्तु कहीं-कहीं राजनीतिक एकीकरण के उदाहरण भी थे। पश्चिमी भारत में मराठों की शक्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेकिन पानीपत के युद्ध (1761) ने उनको भारी आघात पहुँचाया।

कब आरम्भ होता है। कभी-कभी मान लिया जाता है कि इस देश में आधुनिक युग, कम से कम अपने आद्य रूप में, सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो जाता है। उस युग में देश में एकेश्वरवाद तथा भक्ति-मार्ग की गहरी छाप पड़ रही थी, और भक्ति-मार्गियों ने आध्यात्मिक तथा सामाजिक एकता का पाठ पढ़ाया था। तुर्क आक्रमणकारियों ने देश में आग्नेयास्त्रों का चलन आरम्भ किया। कुछ मुगल बादशाह धार्मिक सहिष्णुता के प्रबुद्ध समर्थक थे, और उन्होंने ऐसी प्रशासन-व्यवस्था स्थापित की जो समकालीन पाश्चात्य राजाओं की प्रशासन-व्यवस्था से अधिक प्रगतिशील थी। वास्को डी गामा 1498 में भारतीय तट पर उतरा, और तब से भारत के कुछ प्रदेशों के द्वार पश्चिमी व्यापारियों, उपनिवेशवादियों और आक्रमणकारियों के लिए खुल गये। इस सबसे स्पष्ट है कि सोलहवीं शताब्दी में भारत में कुछ ऐसे तत्वों का प्रादुर्भाव हो चुका था जिनकी प्रकृति आधुनिक थी। किन्तु आधुनिक सैनिक औद्योगिकी (टेक्नॉलौजी) और पाश्चात्य बौद्धिक तथा वैज्ञानिक चिन्तनधाराओं के उच्च पहलुओं से भारत का सीधा सम्पर्क अठाहरवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जाकर हुआ। यह सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान के प्रचार से देश में बौद्धिक अनुसन्धान की नयी भावना उत्पन्न हुई जिसका प्रयोग धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए किया गया।

भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारण था। जिस प्रकार इटली के पुनर्जागरण तथा जर्मनी के धर्म-सुधार आन्दोलन ने यूरोपीय राष्ट्रवाद[2] के उदय के लिए बौद्धिक आधार का काम किया था, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त तथा आत्म-निर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्रों में हुई, और राजनीतिक आत्म-चेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ। यूरोपीय पुनर्जागरण, जिसका उदाहरणात्मक रूप हमें पारसील्सुस, बेकन और मोंटेन की रचनाओं में मिलता है, मुख्यतः बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक था। उसने ईश्वर की अनुकम्पा पर विनम्रता तथा श्रद्धापूर्वक भरोसा करने के स्थान पर मनुष्य को अपनी गतिशील शक्ति की नयी चेतना प्रदान की। मध्य युग मूल पाप के सिद्धान्त के बोझ से दबा हुआ था, उसके विपरीत पुनर्जागरण ने मनुष्य को उठाकर उच्च प्रास्थिति तथा गरिमा के स्तर पर प्रतिष्ठित किया। पुनर्जागरण काल से ब्रह्माण्ड विद्या की समस्याओं के सम्बन्ध में भी नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आरम्भ हुआ। किन्तु भारतीय पुनर्जागरण के मूल में तत्वतः नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का प्राधान्य था।[3] सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के यूरोप में इस बात पर बल नहीं दिया गया कि प्लेटो, अरस्तू अथवा सिसेरो के तात्विक निष्कर्षों को ज्यों का त्यों अंगीकार कर लिया जाय, अपितु पुनर्जागरण की तात्विक प्रवृत्ति यह थी कि यूनानियों में उन्मुक्त तथा अबाध बौद्धिक परीक्षण की जो भावना थी उसे पुनर्जीवित किया जाय।[4] पैट्रार्क (1304-1374) तथा बोकेकियो (1313-1375) ने मनुष्य जीवन का महत्त्व समझाया और जटिल मानवीय अस्तित्व के अभिप्राय की व्याख्या की। इरास्मस (1466-1536) ने मानवतावादी दृष्टिकोण का निरूपण किया। फिसिना तथा मिरांडोला बौद्धिक अभिजाततन्त्र के समर्थक थे। इसके विपरीत भारतीय पुनर्जागरण में अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृत्ति अधिक बलवती थी। भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन के कुछ नेताओं ने खुले रूप में इस बात का समर्थन किया कि हमें जानबूझकर वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर अपने वर्तमान जीवन को ढालना चाहिए। उन्होंने उन भारतीयों की निन्दा की जो हक्सले, डार्विन, मिल और स्पेंसर के विचारों से प्रभावित थे तथा जिनका

---

2 पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार के प्रभाव के कारण मध्य युग के सर्वभौमता के आदर्श का ह्रास हुआ और राष्ट्रवाद की विजय हुई।

3 इतालवी पुनर्जागरण के पादुआ सम्प्रदाय (Padua School) ने, जिसके नेता पौम्पोनात्सी और क्रैमोनिनी थे, मनुष्य के नैतिक मूल्य पर बल दिया था।

4 दान्ते, पैट्रार्क तथा बोकेकियो को प्राचीन लोगों की प्रतिभा से प्रेरणा मिली थी। दान्ते वर्जिल से विशेषतः प्रभावित हुआ था। रोमन विधिशास्त्र के अध्ययन का पुनः आरम्भ होना भी आने वाले पुनर्जागरण का चिह्न था।

जीवन-दर्शन आध्यात्मिकता तथा राष्ट्र-प्रेम से पूर्णत: शून्य हो गया था। अतीत को पुनर्जीवित करने की यह भावना आक्रामक तथा अहंकारपूर्ण विदेशी सभ्यता की महान् चुनौती के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई थी। चूंकि यह सभ्यता राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से बलशाली थी, इसलिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना और भी अधिक स्वाभाविक था। पश्चिम की यान्त्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक तथा पुण्योन्मुखी संस्कृतियों के बीच इस संघर्ष से नये भारत का उदय हुआ।[5] कुछ सीमा तक पुरानी संस्कृतियाँ सामन्ती व्यवस्था की मरणोन्मुखी आर्थिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती थीं, और उसके विपरीत ब्रिटिश शक्ति व्यापारिक उत्पादन तथा वाणिज्य पर आधारित पूंजीवादी अर्थतन्त्र की प्रतिनिधि थी।

विदेशी राजनीतिक शक्ति के आघात के विरुद्ध बचाव की व्यवस्था के रूप में देश की प्राचीन संस्कृतियाँ पुन: सचेत तथा सचेष्ट हो उठीं तथा अपने अस्तित्व को पुन: आग्रहपूर्वक जताने लगीं। प्राचीन ग्रन्थों का नये मानवतावादी तथा सर्वराष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया जाने लगा। प्राय: प्राचीन धर्मशास्त्रों में आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का बीज ढूंढ़ निकालने का भी प्रयत्न किया गया। चूंकि विदेशी साम्राज्यवाद ने अत्यन्त क्रूर और विनाशकारी तरीकों से काम लिया था, और भारत की मैसूर, मराठा, सिक्ख आदि बड़ी-बड़ी शक्तियाँ धीरे-धीरे भूमिसात हो गयी थीं अत: देश भयंकर विषमावस्था में फँस गया। ऐसी स्थिति में देशवासियों के सामने धार्मिक तथा आध्यात्मिक सान्त्वना को छोड़कर और कोई चारा नहीं रह गया था। परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार मध्य युग में इस्लाम तथा हिन्दू शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया ने भक्ति-मार्ग तथा नानक (1469-1539), कबीर (1440-1518), चैतन्य, तुलसीदास (1532-1623) और सूरदास के सम्प्रदायों को जन्म दिया था वैसे ही ब्रिटेन की प्रचण्ड राजनीतिक शक्ति तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण आन्दोलन आदि का उदय हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार ने एक ऐसा नया बुद्धिजीवी वर्ग उत्पन्न कर दिया था जिसकी देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में कहीं कोई जड़ें नहीं थीं। उनमें से कुछ ने या तो ईसाइयत को अंगीकार करके सन्तोष किया, या बुद्धिवाद और प्राकृतिक धर्म के सामान्य जीवन-दर्शन के अनुयायी बन गये। किन्तु इस बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ लोगों ने प्राचीन धर्मशास्त्रों की शरण ली और उत्साह के आवेश में आकर अतिरंजित ढंग से उनका गुणगान किया।

इस पुनर्जाग्रत नवीन भारत के निर्माण में जिन महान् शक्तियों ने योग दिया उनमें ब्रह्म समाज[6] का स्थान अग्रगण्य है। इस संस्था ने बंगाल में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्य किया तथा अनेक प्रकार से दीन-दुखियों की सेवा-सहायता की। देश के अन्य भागों में भी ब्रह्म समाज का प्रभाव पड़ा। राजा राममोहन राय (1772-1833), देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817-1905), तथा केशवचन्द्र सेन (1838-1884) ब्रह्म समाज के मुख्य नेता थे। यह आन्दोलन कट्टर एकेश्वरवाद, बौद्धिक हेतुवाद, उपनिषदों के अद्वैतवाद तथा ईसाई भक्तिवाद का समन्वय था। राजा राममोहन राय, उन विद्वानों में से थे जिन्होंने पहले-पहले तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन प्रारम्भ किया था, यही कारण था कि बेंथम तक ने उन्हें 'मानव-सेवा के क्षेत्र में कार्य करने वाले एक प्रशंसित और प्रिय सहयोगी' कहकर अभिनन्दित किया था। राजा 1820 के बाद के यूरोपीय राष्ट्रीय आन्दोलनों से परिचित थे, और उन्हें उनकी राजनीतिक मुक्ति की आकांक्षाओं से हार्दिक सहानुभूति थी। ब्रह्म समाज ने सामाजिक गतिहीनता का विरोध किया है, और इस संस्था के लिए यह श्रेय

---

5 जे. एन. फार्कुहार ने अत्यधिक अतिरंजित ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईसाइयत के एकेश्वरवाद, दैवी धार्मिकता, ईश्वर के पितृत्व तथा आध्यात्मिक आराधना आदि धारणाओं का आधुनिक भारतीय चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। देखिये जे. एन. फार्कुहार, *Modern Religious Movements in India*, पृष्ठ 430-444। अलबर्ट श्वाइट्जर का कथन है कि यूरोप तथा ईसाइयत के 'जीवन तथा विश्व को स्वीकार करने' के सन्देश का तथा प्रेम के आदर्श का आधुनिक भारतीय चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। देखिये अलबर्ट श्वाइट्जर, *Indian Thought and Its Development*, पृष्ठ 209।

6 ब्रह्म समाज की स्थापना 23 जनवरी, 1830 को हुई थी, यद्यपि उसने धर्म प्रचार का काम 1828 में ही आरम्भ कर दिया था।

की बात है कि जगदीशचन्द्र बोस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, ब्रजेन्द्रनाथ सील और विपिनचन्द्र पाल पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था।

आर्य समाज भारत का अन्य शक्तिशाली धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन रहा है। इसकी स्थापना 1875 में हुई थी। इस समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित, प्रथम श्रेणी के नैयायिक और धार्मिक एकेश्वरवाद के महान् उपदेष्टा थे। उन्होंने घोषणा की कि सब मनुष्यों को वेदाध्ययन का जन्मसिद्ध अधिकार है। यद्यपि आर्य समाज विशुद्ध वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का समर्थक रहा है, फिर भी उसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की, विशेषकर पंजाब में, महान् सेवा की है। उसने उत्तरी भारत की हिन्दू जनता में गहरी जड़ें जमा ली थीं। उसने हिन्दुओं में एक नयी आक्रामक तथा लड़ाकू भावना उत्पन्न की। समाज-सुधार का भी उसने समर्थन किया। हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने डी. ए. वी. कालिज लाहौर[7] तथा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करके शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। आर्य समाज के बड़े नेता लाला लाजपत राय आधुनिक भारतीय राजनीति की अग्रणी विभूतियों में से थे, और अनेक वर्षों तक उनका तिलक तथा गोखले के साथ घनिष्ठ साहचर्य रहा था।

यूरोप के भारत-विद्या-विशारदों तथा दार्शनिकों ने भी प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके भारतीयों की आत्मविश्वास की भावना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। विल्किन्स, जोन्स, कोलब्रुक (1765-1837) तथा एच. एच. विल्सन महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद के लिए उल्लेखनीय हैं। शोपेनहावर ने उपनिषदों को ऐंक्वितिल डू पीरों के दोषपूर्ण लैटिन अनुवाद[8] के माध्यम से पढ़ा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों का अध्ययन सबसे अधिक लाभदायक तथा आत्मा को प्रसन्नता देने वाला और उदात्त बनाने वाला है। रौथ, बौहट-लिंग्क, लासेन (1800-1876), ई बर्नोफ (1807-1852) तथा औल्डेनबर्ग भारत-विद्या के प्रकाण्ड पंडित थे।[9] ई. सेनार्ट, एच. याकोबी, हिल्लेब्रांड्ट, आर. गार्वे, वैबर, लुडविग, मोनियर-विलियम्स, हैनरी एस. लीवी, मैकडोनल, ह्विटने, ब्लूमफील्ड आदि भी संस्कृत के प्रख्यात विद्वान थे। पश्चिम के अनेक प्राच्यशास्त्रियों तथा भारत-विद्या-विशारदों ने तो प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का भाषा विज्ञान, तुलनात्मक इतिहास तथा भाषा जीवाश्म विज्ञान के आधार पर विवेचन करके ही सन्तोष कर लिया, किन्तु शोपेनहावर, श्लीगल[10], मैक्स मूलर, डौयसन आदि विचारकों ने प्राचीन भारत की बड़ी प्रशंसा की। इस देश में उनकी प्रशंसात्मक टिप्पणियों का प्राचीन धर्मशास्त्रों के महत्व तथा उनमें विद्यमान बहुमूल्य ज्ञान के प्रति लोगों की श्रद्धा को अधिक दृढ़ बनाने के लिए व्यापक रूप से प्रयोग किया गया। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के अध्ययन में जो रुचि दिखलायी उसके फलस्वरूप तुलनात्मक पुराण-विद्या तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान नाम के नये शास्त्रों का जन्म हुआ। ल अवे दुबोइ, प्रिंसप तथा कनिंघम ने भारतीय मानव-जाति-विज्ञान, कला-इतिहास, तथा भारतीय पुरातत्व आदि शास्त्रों की स्थापना के कार्य में नेतृत्व किया। यूरोपीय विद्वानों ने वेदों की प्राचीनता, तुलनात्मक धर्मों[11] तथा यूरोपीय भाषा-भाषियों के आदि निवास स्थान से सम्बन्धित समस्याओं में भी रुचि दिखलायी थी और इन विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थ रचे। आर. एल. मित्र

7 डी. ए. वी. कालिज की स्थापना का मुख्य श्रेय हंसराज, गुरुदत्त विद्यार्थी (1864-90) तथा लाला लाजपत राय को था।

8 विल्किन्स ने 1785 में अंग्रेजी में गीता का अनुवाद किया और जोन्स ने 1790 में अभिज्ञान शाकुन्तलम् का भाषान्तर प्रकाशित किया। विलियम जोन्स (1746-1794) ने 1784 में एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल की स्थापना की। 1792 में वाराणसी में एक संस्कृत कालिज स्थापित किया गया। 1821 में कलकत्ता संस्कृत कालिज की नींव डाली गयी।

9 रुडोल्फ रौथ ने 1846 में *The Literature and the History of the Vedas* प्रकाशित की। 1852 में रौथ और बोहैटलिंग्क ने आठ जिल्दों में प्रसिद्ध तथा युगपरिवर्तनकारी ग्रन्थ *Worterbuch* का प्रकाशन आरम्भ किया। मैक्समूलर ने 1849-75 में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का प्रकाशन किया।

10 हैमिल्टन नाम के एक अंग्रेज ने फ्रेडरिख श्लीगल को संस्कृत सिखायी थी।

11 पचास जिल्दों में प्रकाशित *The Sacred Books of the East* नामक ग्रन्थमाला बौद्धिक परिश्रम का स्मारक है।

(1824-1891), हरप्रसाद शास्त्री, आर. जी. भंडारकर, रमेश दत्त[12] तथा बाल गंगाधर तिलक ने भी अध्ययन के क्षेत्रों में योग दिया।

यूरोपीय भारत-विद्या-विशारदों के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र भाषाओं से सम्बन्धित था और उनकी पद्धति वैज्ञानिक थी। इसके विपरीत थियोसोफीकल सोसाइटी ने, जिसकी स्थापना 1875 में मैडम ब्लैवट्स्की (1831-1891) और कर्नल औल्काट ने की थी, पढ़ने वाली जनता का ध्यान प्राचीन चिन्तन के उन पहलुओं की ओर आकृष्ट किया जिनका सम्बन्ध लोकोत्तर जीवन, अधः मनोमय जगत, मृत्यु तथा मरणोपरान्त जीवन की समस्याओं से था।[13] इससे कुछ लोगों के मन में जीवन के उन मानसिक स्तरों के प्रति उत्कण्ठा जाग्रत हुई जिनका वर्णन प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों में पाया जाता था। थियोसोफी ने हिन्दू योग के विचारों और धारणाओं का वैज्ञानिक विकास की पदावली में व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया। इस थियोसोफी आन्दोलन के नेताओं में एक सबसे बड़ा नाम श्रीमती एनी वेसेंट का है। औल्काट और ब्लैवट्स्की पर बौद्धों के आचारवाद का प्रभाव पड़ा था।[14] इसके विपरीत एनी वेसेंट को हिन्दू धर्म से गहरी प्रेरणा मिली थी, और उन्होंने पौराणिक हिन्दू धर्म तथा मूर्ति-पूजा की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने 1893 में भारत भूमि पर पदार्पण किया। हिन्दुओं के धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी भक्ति वास्तविक, गहन तथा अद्भुत थी। उन्होंने हिन्दू संस्कृति के हर रूप और पहलू का समर्थन किया। 1913 में वे भारतीय राजनीति में कूद पड़ीं और उन्होंने अनेक वर्षों तक भारतीय नेताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रहकर कार्य किया।

रामकृष्ण परमहंस के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने एक अन्य ऐसा आन्दोलन चलाया जिसने हिन्दुत्व के व्यापक तथा समग्र रूप का पक्षपोषण किया। सभी स्वीकार करते हैं कि रामकृष्ण की आध्यात्मिक अनुभूति अत्यन्त गहरी और धार्मिक दृष्टि बहुत ही व्यापक थी। बंगाल के आध्यात्मिक तथा नैतिक पुनर्निर्माण पर उनका भारी प्रभाव पड़ा है।[15] स्वामी विवेकानन्द बड़े मेधावी तथा महान् वक्ता थे। वेदान्त के वाङ्मय तथा पाश्चात्य दर्शन दोनों में ही उनकी अद्भुत पहुँच थी। 1893 में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में उन्होंने जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की उससे अमेरिका में और अंशतः यूरोप में हिन्दुत्व के प्रचार का मार्ग प्रशस्त हुआ। यद्यपि वेदान्ती होने के नाते विवेकानन्द विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को मानने वाले थे, फिर भी उनमें उत्कृष्ट देश-भक्ति थी, और उन्होंने भारतीयों को आत्मनिर्भरता, शक्ति, और सबसे अधिक निर्भीकता का उपदेश दिया। यद्यपि अतिशय कार्य करने के कारण उनकी अल्पायु में ही मृत्यु हो गयी, फिर भी उन्हें बंगाली राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक जनक माना जाता है, और यह उचित ही है। बंगाली राष्ट्रवाद के नायक तथा संदेशवाहक के रूप में विवेकानन्द की भूमिका की सराहना लाला लाजपत राय तथा सुभाषचन्द्र बोस दोनों ने की है। 1892 में स्वामीजी तिलक के यहाँ अतिथि बनकर ठहरे थे, और दोनों में एक दूसरे के प्रति गहरा सम्मान तथा प्रेम था।

उत्तर भारत तथा मद्रास प्रान्त में पुनर्जागरण का रूप मुख्यतः आध्यात्मिक तथा धार्मिक था। मद्रास में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने वाली महान् विभूतियों में वीर राघवाचार्य, सुब्बाराव पुतूलू, रंगइया नाइडू तथा जी. सुब्रमण्य अय्यर के नाम उल्लेखनीय हैं। थियोसोफी का भारतीय मुख्य स्थान मद्रास में था। किन्तु पश्चिमी भारत में पुनर्जागरण प्रधानतः सामाजिक तथा शैक्षिक

---

12 रमेशचन्द्र दत्त (1848-1909) 1869 में आई. सी. एस. की प्रतियोगी परीक्षा में सम्मिलित हुए और सफलता प्राप्त की। उन्होंने *Economic History of India* (दो जिल्दों में) के अतिरिक्त *The Civilization of Ancient India* (3 जिल्दों में) नामक ग्रन्थ भी लिखा। उन्होंने ऋग्वेद, महाभारत और रामायण का अनुवाद भी किया। उन्होंने बंगला में 'बंगविजेता' (1874), 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' (1877), 'राजपूत जीवन-सन्धि' (1878), 'समाज' (1895) आदि उपन्यास भी लिखे।

13 थियोसोफीकल सोसाइटी के संस्थापकों तथा स्वामी दयानन्द के बीच कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था। औल्काट (1832-1907) तथा ब्लैवट्स्की 1879 में भारत आये। किन्तु इन दोनों नेताओं तथा कट्टर वेदवादी दयानन्द के बीच सहयोग सम्भव नहीं हो सका।

14 1880 में औल्काट और ब्लैवट्स्की ने लंका में बौद्धों के पंचशील की दीक्षा ली थी।

15 बंगाल में राज नारायण बोस ने 1861 में सोसाइटी ऑव द प्रोमोशन ऑव नेशनल ग्लोरी नामक संस्था की स्थापना की थी।

था।[16] अंग्रेजों की राजनीतिक शक्ति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष मराठों के लिए, जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा अठारहवीं शताब्दी में सुदृढ़ राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली थी, भारी चुनौती थी। 1761 के पानीपत के तृतीय युद्ध के बावजूद मराठा राजनीतिज्ञों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। किन्तु अंग्रेजों के हाथों लगातार पराजित होने के कारण महाराष्ट्र की राजनीतिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी। 1818 में पेशवाई का अन्त हो गया। 1848 में अंग्रेजों ने शिवाजी के वंश की सतारा शाखा पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। 1857 में नाना साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई आदि बड़े मराठा नेताओं ने कुछ अन्य भारतीय नेताओं के सहयोग से अंग्रेजों की शक्ति को उखाड़ फेंकने का जो अन्तिम किन्तु विलम्बित प्रयत्न किया वह पूर्णतः विफल रहा। फिर भी यह प्रयत्न इस बात का असंदिग्ध द्योतक था कि महाराष्ट्र तथा उत्तर भारत में राजनीतिक चेतना अभी भी सक्रिय थी।

ब्रिटेन ने पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत और फिर अपनी रानी के प्रत्यक्ष प्रभुत्व के अधीन भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता की स्थापना की। उसके साथ-साथ देश में ईसाइयत का धार्मिक प्रचार व्यापक पैमाने पर किया गया।[17] किन्तु ईसाई धर्म-प्रचारक महाराष्ट्र में अपने पैर न जमा सके। विष्णु बोआ ब्रह्मचारी उन सर्वप्रथम व्यक्तियों में से थे जिन्होंने ईसाई धर्म प्रचारकों के साथ शास्त्रार्थ किया। यद्यपि लोकमान्य तिलक के एक दूर के सम्बन्धी नारायण वामन तिलक ने ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था, फिर भी महाराष्ट्र के गम्भीर हिन्दू जीवन पर ईसाइयत का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा।

ब्रिटेन की राजनीतिक सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप भारत में पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रवेश हुआ, और शिक्षा के क्षेत्र में मैकॉले के 'पाश्चात्य' सम्प्रदाय की विजय हुई। यह कहना नितान्त अनुदार ही नहीं अपितु असत्य होगा कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रारम्भ केवल ऐसे वर्ग को उत्पन्न करने के लिए किया था जो बाह्य रूप में भारतीय हो किन्तु संस्कृति तथा मनोवृत्ति से पूर्णतः पाश्चात्य रंग में रंगा हो, क्योंकि उन्हें अपने साम्राज्यवाद की नींव की रक्षा के लिए एक ऐसे दब्बू वर्ग की आवश्यकता थी। मैकॉले ने भारतीय सभ्यता की उपलब्धियों को घटिया बतलाकर भूल की, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह हृदय से चाहता था कि भारत के लोग पाश्चात्य विज्ञान और चिन्तन से भलीभाँति परिचित हों। 1857 में बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी।[18] 1859 में आर. जी. भण्डारकर तथा महादेव गोविन्द रानाडे ने मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की। लगभग इसी समय पूना में दक्खिन कालिज स्थापित किया गया। पाश्चात्य शिक्षा ने भारत में एक नये प्रकार के बौद्धिक और राजनीतिक जीवन की नींव डाली। यह बात उल्लेखनीय है कि आधुनिक महाराष्ट्र के निर्माताओं में यदि सब नहीं तो अधिकतर अवश्य ऐसे रहे हैं जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा पायी थी। भण्डारकर, रानाडे, चिपलूणकर, तिलक, आगरकर, गोखले आदि सभी के पास उच्च शैक्षिक उपाधियाँ थीं। बंगाल में टैगोर परिवार के सदस्य, अरविन्द, विवेकानन्द, जे. सी. बोस और पी. सी. राय अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। यद्यपि गाँधीजी ने पाश्चात्य शिक्षा की उच्च स्वर में निन्दा की, किन्तु उनके पास भी लन्दन की विधि-उपाधि थी।

महाराष्ट्र के सामाजिक तथा बौद्धिक आन्दोलन की अभिव्यक्ति नये समुदायों तथा समाजों की स्थापना में हुई। जोतीराव फुले (1827-1895) ने सत्य शोधक समाज की स्थापना की। इस

---

16 भारत में आधुनिक चेतना के निर्माण में निम्न संस्थाओं का योगदान उल्लेखनीय है :
1. ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन आव कैलकटा जिसकी स्थापना 1851 में हुई थी।
2. द पूना सार्वजनिक सभा (1878)
3. द इण्डियन एसोसिएशन आव कैलकटा (1876)
4. द महाजन सभा आव मैड्रास (1885)
5. द बौम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन (1885 में स्थापित)।

17 1833 के चार्टर एक्ट के अनुसार कलकत्ता का बिशप समस्त भारत का बिशप बना दिया गया।

18 मैकॉले के लेख (फरवरी 2, 1835) तथा चार्ल्स वुड के 9 जुलाई, 1854 के प्रेषण ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की नींव डाली।

समाज की उत्पत्ति माली तथा मराठा जातियों के सुधार के लिए हुई थी, किन्तु बाद में इसने स्पष्टत: ब्राह्मण-विरोधी दिशा अपना ली। फिर भी यह कहा जाता है कि फुले ने कोल्हापुर मानहानि के अभियोग में तिलक के लिए वैयक्तिक जमानत की व्यवस्था की थी। फुले की आलोचनाओं के विरुद्ध ही चिपलूणकर ने प्रसिद्ध निबन्धमाला में कटु भर्त्सनात्मक लेख लिखे थे। महाराष्ट्र के नैतिक तथा सामाजिक जीवन में इनसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रार्थना समाज था। 1849 में दादोबा पाण्डुरंग (1823-1898) ने ब्रह्म समाज की एक शाखा के रूप में परमहंस सभा की स्थापना की थी, किन्तु वह महत्वहीन सिद्ध हुई और शीघ्र ही निष्क्रिय हो गयी। 1867 में केशवचन्द्र सेन बम्बई गये और प्रार्थना समाज की स्थापना में पहल की। आर. जी. भण्डारकर (1837-1927) तथा महादेव गोविन्द रानाडे प्रार्थना समाज के दो बड़े नेता थे। बाद में एन. जी. चन्दावरकर भी उनके साथ समाज में सम्मिलित हो गये। समाज ने श्रद्धा तथा शान्तिपूर्ण चिन्तन के स्थान पर सामाजिक कार्य को अधिक महत्व दिया। उसकी दिशा सुधारवादी थी, और उन्होंने विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा अन्तर्जातीय खानपान का समर्थन किया। उसने समाज के अधिकारहीन तथा दरिद्र वर्गों के उद्धार को भी अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया। प्रार्थना समाज पर ईसाइयत के आस्तिकवाद का भी कुछ प्रभाव था। जहाँ तक सामाजिक सम्बन्धों की बात थी ब्रह्म समाज की तुलना में उसकी जड़ें हिन्दुत्व में अधिक गहरी थीं। रानाडे ने स्वयं सदैव इस बात को बल देकर कहा कि समाज के सदस्यों ने अपने को हिन्दू समाज से पृथक् करके नया सम्प्रदाय बनाने का कभी इरादा नहीं किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के महाराष्ट्र में दादोबा पाण्डुरंग, बालशास्त्री जम्बेकर, नाना संकरसेत, विष्णुशास्त्री, बम्बई के डा. भाओदाजी और गोपाल हरि देशमुख (1823-1892) आदि अनेक महान् व्यक्ति थे जो पूना के 'हितवादी' कहलाते थे। आर. जी. भण्डारकर भारत-विद्या-विशारद के रूप में सम्पूर्ण देश में विख्यात हो गये और संस्कृत के विद्वान के रूप में तो उनका नाम संसार भर में प्रसिद्ध हो गया।[19] सामाजिक सुधार में उनकी गहरी रुचि थी। के. एल. नुल्कर अन्य महत्वशाली व्यक्ति थे। किन्तु रानाडे ने सबसे अधिक श्रेष्ठता तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की। कुछ अर्थ में रानाडे को महाराष्ट्र के जागरण का जनक माना जाता है। उनका व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली था कि वे बम्बई प्रान्त के सर्वाधिक महत्वशाली राजनीतिक नेताओं के गुरु बन गये। यहाँ तक कि गोखले भी उन्हें अपना गुरु मानते थे। महादेव गोविन्द रानाडे ने 1865 में एम. ए. की उपाधि प्राप्त की और दूसरे वर्ष विधि की उपाधि प्राप्त कर ली। 1871 में वे पूना में अधीन न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए और 1893 में उन्हें पदोन्नत करके पूना उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर दिया गया। रानाडे की मेधाशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा गम्भीर थी। उनके 'एसेज ऑन इंडियन इकौनामिक्स' (भारतीय अर्थशास्त्र पर निबन्ध) उच्चकोटि की सूझ-बूझ के द्योतक हैं। उनका आग्रह था कि भारत की आर्थिक समस्याओं को भारतीय दृष्टिकोण से देखने और समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वे एडम स्मिथ, रिकार्डो, मिल आदि के आर्थिक सिद्धान्तों को बिना समीक्षा किये ज्यों का त्यों अंगीकार कर लेने के विरुद्ध थे। उनकी 'राइज ऑव मराठा पावर' (मराठा शक्ति का उत्कर्ष) नामक पुस्तक यद्यपि अपूर्ण है, फिर भी उसमें उन्होंने मराठा संघ के मूल में निहित राष्ट्रीय भावनाओं का जिस ढंग से विवेचन किया है उसको देखते हुए उसका विशेष महत्व है। उन्होंने धार्मिक देव-विद्या के सम्बन्ध में भी कुछ महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे। उनकी अनेक क्षेत्रों में व्यापक रुचि थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव डालने वाले नेताओं के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। ब्रिटिश सरकार की सेवा में एक न्यायाधीश होने के नाते वे कांग्रेस के कार्यकलाप में खुलकर सम्मिलित नहीं हो सकते थे, किन्तु पर्दे के पीछे रहकर उन्होंने महत्वपूर्ण काम किया। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार उन पर सन्देह करने लगी और उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय का उप-कुलपति कभी नियुक्त नहीं किया गया, यद्यपि तेलंग, भण्डार-

---

19 *Collected Work of R. G. Bhandarkar* (4 जिल्दें); एस. एन. कर्नाटकी द्वारा रचित *Life of R.G. Bhandarkar.*

कर आदि को उप-कुलपति बना दिया गया था। उन्होंने अनेक संस्थाओं तथा निगमित संघों की या तो स्वयं स्थापना की या उनसे सम्बन्धित रहे। इनमें औद्योगिक सम्मेलन (द इंडस्ट्रियल कॉन-फरेंस) सार्वजनिक पुस्तकालय (द जनरल लाइब्रेरी), महिला हाई स्कूल (द फीमेल हाई स्कूल) तथा सबसे महत्वपूर्ण प्रार्थना समाज और सार्वजनिक सभा थे।[20] उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ-साथ एक सामाजिक सम्मेलन करने की प्रथा चलायी और स्वयं नियमित रूप से उसके सम्मेलनों में सम्मिलित होते रहे। 1901 में रानाडे का देहान्त हो गया। गोपाल कृष्ण गोखले महाराष्ट्र तथा देश के लिए उनकी सबसे बड़ी विरासत थे। रानाडे की मृत्यु के उपरान्त तिलक ने जनवरी 1901 में 'केसरी' में एक लेख लिखा, और उसमें उन्होंने मेधाशक्ति की विशालता की दृष्टि से रानाडे की तुलना हेमाद्री और माधवाचार्य से की। तिलक के मतानुसार ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद रानाडे पहले नेता थे जिन्होंने महाराष्ट्र के शिथिल शरीर में नयी चेतना तथा शक्ति फूंक दी। नाना फड़नवीस की भाँति रानाडे ने भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति महाराष्ट्र की मुक्ति और उत्थान में लगा दी। यद्यपि उन्होंने स्वयं सार्वजनिक सभा की स्थापना नहीं की थी, फिर भी 1871 से, जब वह पूना में न्यायाधीश होकर गये, 1893 तक उसके सभी कार्यकलापों में प्रमुख सूत्रधार का कार्य करते रहे। सार्वजनिक सभा के संस्थापक गणेश वासुदेव जोशी थे। सार्वजनिक कार्यों में अधिक रुचि दिखलाने के कारण वे प्रायः 'सार्वजनिक काका' के नाम से प्रसिद्ध थे। यद्यपि सभा की स्थापना पूना के पर्वतीय संस्थान की दशा सुधारने के विशेष उद्देश्य से की गयी थी, किन्तु कालान्तर में वह महाराष्ट्र की अग्रणी राजनीतिक संस्था बन गयी। 1872 में उसने भारतीय मामलों की संसदीय समिति के समक्ष एक प्रतिनिधि भेजने का निर्णय किया, किन्तु योजना क्रियान्वित न हो सकी। 1878-79 के दुर्भिक्ष में रानाडे की प्रेरणा से तथा उनके मौन नेतृत्व में सभा ने महाराष्ट्र की दुःखी कृषक जनता के कष्टों को दूर करने के लिए महान् कार्य किया। उल्लेखनीय बात यह है कि 1905 के स्वदेशी आन्दोलन से लगभग चौथाई शताब्दी पहले सार्वजनिक सभा ने महाराष्ट्र में स्वदेशी का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। तिलक स्वयं स्वदेशी के सर्वप्रथम समर्थकों और पक्षपोषकों में थे। 1876 में महाराष्ट्र में एक प्रसिद्ध राज-नीतिक घटना घटी। वासुदेव बलवन्त फड़के ने, जो रानाडे की भाँति सरकारी नौकर थे, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उन्होंने कुछ अनुयायी एकत्र कर लिये और उनकी सशस्त्र सहायता से ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने का निष्फल प्रयत्न किया। फड़के का विद्रोह कुचल दिया गया और वे स्वयं निर्वासित कर दिये गये। सर रिचार्ड टैम्पल की सरकार को सन्देह था कि इस षड्यन्त्र के पीछे रानाडे ही मुख्य नायक थे, किन्तु कुछ समय उपरान्त सरकार का सन्देह दूर हो गया।

विष्णु कृष्ण चिपलूणकर (1850-1882) और बंकिमचन्द्र चटर्जी ने आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावनाओं को उभाड़ने में महत्वपूर्ण योग दिया। बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838-1898) बंगाल के पुनर्जागरण आन्दोलन के एक प्रमुख नायक थे।[21] उन्होंने 1872 में 'वंग-दर्शन' की स्थापना की। 1882 में उन्होंने 1772-75 के सन्यासी विद्रोह पर आधारित अपना ऐतिहासिक उपन्यास 'आनन्द मठ' प्रकाशित किया। श्री अरविन्द के शब्दों में बंकिमचन्द्र एक महान् ऋषि, बंगला साहित्य तथा बंगला भाषा के स्रष्टा और बंगाल की राजनीतिक एकता के संस्थापक थे। चिपलूणकर सरकारी नौकर थे। किन्तु उनके खुरखुरे तथा व्यक्तिवादी स्वभाव के कारण सरकारी अधिकारियों से उनकी पट न सकी, और शिक्षा-विभाग की अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। वह महान लेखक थे और अपने को 'मराठी भाषा का शिवाजी' कहा करते थे। उनके दहकते हुए शब्द तथा आलोचनात्मक भावना हमें रूसी लेखक बैलिंस्की तथा चैर्नाशेवस्की का स्मरण दिलाती है। उन्होंने रानाडे, गोपाल हरि देशमुख[22] और स्वामी दयानन्द की जिस भाषा और शैली में आलोचना की उससे हमें मिल्टन,

---

20 सार्वजनिक सभा की स्थापना 'काका' जोशी ने की थी।

21 बंकिम के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'दुर्गेशनन्दिनी' (1864), 'कपालकुण्डला', 'मृणालिनी', 'देवी चौधरानी', 'कृष्णकान्तेर दानपत्र' तथा प्रसिद्ध 'आनन्दमठ'। उन्होंने 'कृष्णचरित्र' (1886) की भी रचना की।

22 गोपाल हरि देशमुख ने मराठी में 'आगमप्रकाश' तथा 'निबन्ध संग्रह' की रचना की।

वर्क और मैकॉले का स्मरण हो आता है। उन्होंने 'काव्येतिहास संग्रह' तथा 'निबन्ध-माला' के रूप में अपनी साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने संस्कृत के कवियों पर भी आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। कभी-कभी उन्हें मराठी साहित्य का वृहस्पति माना जाता है। उनमें अंग्रेजी शिक्षा के गुणों को समझ लेने की भी दूरदर्शिता थी। उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा की तुलना 'सिंहनी के दूध' से की, क्योंकि उनके मतानुसार उससे शक्ति और स्वतन्त्रता की भावनाओं को प्रेरणा मिलती थी। चूंकि उन्हें महाराष्ट्र की संस्थाओं, परम्पराओं और संस्कृति से गहरा प्रेम था, इसलिए उन्होंने पश्चिम का जानबूझकर तथा अविकल रूप से अनुकरण करने पर अतिशय वल देने वालों का विरोध किया, 1880 में जव चिपलूणकर तथा तिलक ने न्यू इंगलिश स्कूल प्रारम्भ किया तो चिपलूणकर उसके प्रधान अध्यापक वन गये। किन्तु वाद में उन्होंने प्रधानाचार्य का पद त्याग दिया और एक साधारण शिक्षक के रूप में कार्य करते रहे। उनका मुख्य उद्देश्य जनता को शिक्षित करना था, इसलिए उन्होंने 'केसरी' तथा 'मरहठा' नामक महाराष्ट्र के दो प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रों की स्थापना में प्रमुख भाग लिया। इन पत्रों के प्रकाशन के लिए उन्होंने आर्यभूपण प्रेस स्थापित किया और ललित कलाओं को प्रोत्साहन देने के हेतु चित्रशाला प्रेस स्थापित किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि लेखक, पत्रकार, शिक्षक तथा दो प्रेसों के संस्थापक के रूप में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर महाराष्ट्र की एक अत्यन्त महत्वशाली विभूति थे, और उन्होंने महाराष्ट्र की जनता की अन्तर्हित देश-भक्ति की भावना को जागृत अनुभूति के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। वह निःस्वार्थी देश-भक्त थे, और महाराष्ट्र में उनका वही स्थान था जो वंगाल में वंकिमचन्द्र चटर्जी का।

हिन्दी भापा तथा साहित्य के विकास ने भी आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद के उत्कर्ष में एक आधारभूत तत्व का काम किया है।[23] हिन्दी गद्य के विकास ने राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति की भावनाओं के संचार में शक्तिशाली वाहन के रूप में योग दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में भागवत पुराण के आधार पर 'प्रेमसागर' की रचना करने वाले लल्लूलाल, 'नासिकेतोपाख्यान' के रचयिता आरा के सदल मिश्र, राजा शिवप्रसाद (1832-95), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-85), स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने हिन्दी में 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखा तथा अन्य अनेक ऐसे लेखक हुए जिन्होंने हिन्दी गद्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। हरिश्चन्द्र ने अपनी अनेक रचनाओं में भारत-दुर्दशा का चित्रण किया।

भारत में विदेशी किन्तु प्रवुद्ध साम्राज्यवाद की राजनीतिक सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप पश्चिम की राजनीतिक संस्थाओं का सूत्रपात हुआ; उदाहरण के लिए, कार्यकारी परिपद, विधि विपयों का सदस्य, विधि आयोग, सर्वोच्च न्यायालय इत्यादि। ब्रिटेन की पार्लियामेंट भारत की सर्वोपरि शासक तथा अधीक्षक थी। नियन्त्रणकारी निकायों की भी स्थापना की गयी, जैसे—वोर्ड आव कण्ट्रोल (नियंत्रण परिषद) और आगे चलकर इण्डिया काउन्सिल (1858-1947)। भारतीय राष्ट्रवाद तथा भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उदय पश्चिम की पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं के प्रसंग में ही हुआ। भारत के राष्ट्रवादियों की एक माँग यह थी कि सार्वजनिक सेवाओं में अधिक से अधिक भारतीयों को प्रविष्ट किया जाय, और इसके लिए 1833 के अधिकार पत्र (चार्टर एक्ट) की दुहाई दी गयी। रानी विक्टोरिया की 1858 की घोपणा में विधि के समक्ष समता, प्रतिभा के अनुसार नौकरी, धार्मिक सहिष्णुता तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का राज्य की नीति के रूप में प्रतिपादन किया गया। किन्तु लिटन (1876-80) तथा कर्जन (1899-1905) के अनुदार कार्यों ने देश में नस्लगत तनाव उत्पन्न किया और साम्राज्यवाद का कुत्सित रूप उघड़कर सामने आ गया। अतः इस बात की माँग उत्तरोत्तर वढ़ती गयी कि देश में ब्रिटेन की तरह की प्रतिनिधि राजनीति संस्थाओं को स्थापित किया जाय। उस समय इंगलैण्ड तथा भारत में जो राजनीतिक संस्थाएं पनप रही थीं उनकी पृष्ठभूमि में राजा राममोहन राय, दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ वनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले तथा अन्य प्रारम्भिक नेताओं एवं विचारकों के विचारों का उदय हुआ।

---

23 हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए निम्न ग्रन्थ पठनीय हैं—'मिश्रवन्धु विनोद' (4 जिल्दें), श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी भापा और साहित्य', रामचन्द्र शुक्ल रचित 'हिन्दी-साहित्य' और एफ. ई. के का *A History of Hindi Literature*.

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना आधुनिक भारत के राष्ट्रवाद तथा स्वतन्त्रता के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण घटना थी।[24] कांग्रेस की उत्पत्ति लार्ड डफरिन की एक विचारपूर्ण योजना के अंग के रूप में हुई। वह भारतीय जनता को अपनी वास्तविक इच्छाओं की अधिकृत रूप से अभिव्यक्ति करने का अवसर देना चाहता था। उसने अपने विचार भारत सरकार के एक भूतपूर्व सचिव ए. ओ. ह्यूम (1829-1912) के समक्ष रखे, और वही ह्यूम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एक प्रमुख संस्थापक बना।[25] प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस केवल एक वाद-विवाद सभा थी, जहाँ अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटिश राजनीतिक नेताओं की शैली में शानदार भाषण दिये जाते थे।[26] किन्तु 1905-1907 में उसका लगभग कायान्तरण हो गया और वह दादाभाई नौरोजी, विपिनचन्द्र पाल तथा बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में स्वराज अथवा स्वशासन की माँग करने लगे।[27] 1907 में सूरत की फूट हुई। तब से कांग्रेस का महत्व घटने लगा और 1908 से 1915 तक उस पर मितवादी (नरमदली) नेताओं का आधिपत्य रहा। 1916 में लखनऊ के अधिवेशन में मितवादियों तथा राष्ट्रवादियों का पुनः मेल हो गया और कांग्रेस पुनः राजनीतिक दृष्टि से मुखर हो उठी। 1920 में गान्धीजी का राजनीतिक उदय हुआ। तब से कांग्रेस की जड़ें देश में गहरी जमने लगीं। यद्यपि उसके नेतृत्व तथा वित्तीय शक्ति का स्रोत मुख्यतः मध्य वर्ग ही था, फिर भी वह धीरे-धीरे एक जन-राजनीतिक संगठन का आकार प्राप्त करने लगी। प्रारम्भ में सैद्धान्तिक विचार मुख्यतः राष्ट्रीयता की समस्याओं के चतुर्दिक ही केन्द्रित थे, इसलिए उनकी प्रगति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की वृद्धि से ही सम्बन्धित थी।

इंगलिश तथा फ्रांसीसी, डच आदि कम्पनियाँ जिन्होंने सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में ही भारत में व्यापारिक कार्यवाहियाँ आरम्भ कर दी थीं, वास्तव में प्रारम्भिक यूरोपीय पूंजीवाद के उदय के साथ ही इस देश में प्रविष्ट हुईं।[28] इंगलिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के व्यापारिक अखाड़े में उतरी। कुछ सीमा तक इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के समारम्भ को भी बंगाल के धन की लूट और शोषण से भौतिक बल मिला। कम्पनी तथा उसके गुमाश्ते ही मुख्यतः मुर्शिदाबाद, ढाका तथा अन्य स्थानों में निर्मित वस्त्रों के देशी व्यापार के विनाश के लिए उत्तरदायी थे। वाणिज्य तथा पूंजीवाद के विकास ने भारत में एक प्रचंड ध्वंसात्मक शक्ति का कार्य किया। परिणामस्वरूप देश के जीवन की कृषिप्रधान आर्थिक बुनियादें, जिन्होंने इतने दीर्घकाल तक भारत की सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान कर रखी थी, हिल गयीं। इसके अतिरिक्त नगरों की वृद्धि ने आर्थिक लाभ-हानि की गणना पर आधारित आधुनिक, आलोचनात्मक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया। मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई आधुनिक व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य के अग्रगामी केन्द्र बन गये।[29]

भारत में पुनर्जागरण की प्रक्रिया को एक नये मध्य वर्ग के उदय से भी बल तथा प्रोत्साहन

---

24 समाचारपत्रों के उदय ने भारत में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया। 1859 से पहले भारत में लगभग पाँच सौ समाचारपत्र थे। भारतीय पत्रकारिता के स्थापकों के रूप में सैरामपुर के मिशनरियों का महत्वपूर्ण स्थान था। 1818 में 'संसार दर्पण' नाम का देशी भाषा का प्रथम समाचारपत्र स्थापित किया गया।

25 विलियम वैडरबर्न *Allen Octavian Hume.*

26 1889 में इंगलैण्ड में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की एक ब्रिटिश समिति संगठित की गयी। 1890 में 'इण्डिया' नाम की पत्रिका स्थापित की गयी। उसका प्रकाशन 1920 तक चलता रहा। असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ होने पर उसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

27 इससे पहले के काल में भी कांग्रेस ने जनता की कुछ माँगों का समर्थन किया था जैसे—भूमिकर में कटौती, सिंचाई की व्यवस्था इत्यादि ; यद्यपि उस समय उसकी मुख्य माँगें मध्य वर्ग के ही हितों से सम्बन्ध रखती थीं, जैसे सेवाओं का भारतीयकरण, संरक्षण-शुल्क इत्यादि।

28 अठारहवीं शताब्दी में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलैण्ड और भारत के बीच जो संघर्ष हुआ उसके सम्बन्ध में मार्क्सवादी लेखकों का कहना है कि वह पतनशील सामन्तवादी प्रतिक्रियात्मक तत्वों तथा उदीयमान ब्रिटिश वाणिज्यवादी पूंजीवाद के बीच संघर्ष था और वह वाणिज्यवादी पूंजीवाद 'उच्चस्तर' ऐतिहासिक शक्ति का प्रतीक था। यह व्याख्या एक काल्पनिक अभिधारणा मात्र है। उसको पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता।

29 1813 के चार्टर एक्ट ने भारत के साथ व्यापार का द्वार सभी अंग्रेज व्यापारियों के लिए खुला छोड़ दिया।

मिला। भारत में मुगल शासन के आर्थिक पोषक तथा समर्थक जागीरदार एवं अन्य भूस्वामी थे। सामन्ती व्यवस्था ने मुगल शासन के आर्थिक आधार का काम किया। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना से तथा व्यापार और वाणिज्य के पूँजीवादी आधार पर संगठित होने के कारण भारत में एक नये मध्य वर्ग का जन्म हुआ। यह वर्ग निरन्तर धनी होता गया। किन्तु इसके धनी होने का कारण व्यापारिक लाभ तथा व्याज था, न कि भू-राजस्व। इस वणिक वर्ग ने ही सामाजिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों का वित्तीय उत्तरदायित्व वहन किया। नगरों के बनिया वर्ग ने ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उदारतापूर्वक धन दिया और आज वह समाजवादी तथा साम्यवादी आन्दोलनों को चन्दा देता है। बीसवीं शताब्दी में भारत में औद्योगिक पूँजीवाद का भी विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापार, वाणिज्य, सट्टा, साहूकारी तथा उद्योग से जो चल सम्पत्ति उत्पादित हुई उसने सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों के भौतिक आधार को स्थापित करने में मुख्य शक्ति का काम किया।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के आगमन का सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। बड़ी धीमी गति से ऐसे कानून बनवाने की दिशा में प्रयत्न किये गये जिनका उद्देश्य स्त्रियों की स्थिति को उठाना तथा विवाह-पद्धति में कुछ आंशिक सुधार करना था। केशवचन्द्र सेन, दयानन्द, मालबारी, विद्यासागर, तेलंग तथा रानाडे समाज-सुधार का खुलकर समर्थन तथा नेतृत्व करने वाले थे। समाज-सुधार के लिए कानून बनाने के क्षेत्र में विदेशी शासक अहस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करना चाहते थे। वे देश के सामाजिक ढाँचे में हस्तक्षेप करने के पक्ष में नहीं थे। अंग्रेजों की सामाजिक अहस्तक्षेप की इस नीति का दो प्रकार से विवेचन किया जा सकता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार अंग्रेजों की नीति थी कि भारत में मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था को कायम रखा जाय क्योंकि इससे उनके राजनीतिक आधिपत्य की नींव मजबूत होगी। कदाचित् उन्हें भय था कि अन्ततोगत्वा सामाजिक मुक्ति से विदेशी आधिपत्य से राजनीतिक मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त होगा। किन्तु यह विचार कटु प्रतीत होता है। इस कथन में तो सत्यांश हो सकता है कि भारतीय समाज के ब्राह्मण पुरोहित तथा जमींदार आदि कुछ तत्व परम्परागत मध्ययुगीन दृष्टिकोण के पोषक थे। किन्तु यह कहना अति उग्र होगा कि अंग्रेजों ने स्त्रियों तथा दलित वर्गों के उद्धार के लिए कानून इस भय से नहीं बनाये कि उनके उत्थान से ऐसी प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जायगी जो अन्त में ब्रिटेन के राजनीतिक आधिपत्य को नष्ट कर देगी। अंग्रेजों की नीति का दूसरा निर्वचन यह है कि उनकी अभिरुचि मुख्यत: राजनीतिक शासन तथा आर्थिक लाभ में ही थी। उन्होंने सामाजिक अहस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करके सन्तोष इसलिए कर लिया कि सामाजिक समस्याएँ उनके लिए तत्वत: अप्रासंगिक थीं। यह कहना भी सम्भव है कि उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में तटस्थता की नीति का अनुसरण इसलिए किया कि वे उन सामाजिक तत्वों को अप्रसन्न करने से डरते थे जिन पर उनके सामाजिक कानूनों का विपरीत प्रभाव पड़ता। फिर भी यह सत्य है कि भारत में ब्रिटिश शक्ति की वृद्धि के साथ-साथ कुछ अंशों में महत्वपूर्ण सामाजिक कानूनों का भी निर्माण किया गया।[30]

आधुनिक भारत के राष्ट्रवादी तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलनों की प्रकृति समन्वयात्मक रही है। मध्य वर्ग के लोगों तथा बुद्धिजीवियों का, जिन्होंने आधुनिक भारत की राजनीति में मुख्य भूमिका अदा की है, पोषण प्रधानत: पाश्चात्य राजनीतिक साहित्य से हुआ है। मत्सीनी उन प्रमुख विभूतियों में था जिनके आदर्श तथा शिक्षाओं ने भारतीय तरुणों के उत्साह को प्रज्ज्वलित किया है।[31] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाला लाजपत राय तथा वी. डी. सावरकर ने मत्सीनी की जीवनी क्रमश: अंग्रेजी, उर्दू तथा मराठी में लिखी। बर्क के विचार वायुमण्डल में थे। भारतीय मितवादी (नरमदली)

---

30 1843 में एक अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार दासता को अवैध घोषित कर दिया गया। 1856 में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक अधिनियम पारित हुआ जिसने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह को वैधता प्रदान कर दी। The Age of Consent Act (स्वीकृति आयु अधिनियम), 1891 में पारित किया गया।

31 वी. सी. पाल 'Birth of our New Nationalism', *Memories of My Life and Times*, जिल्द 1, पृष्ठ 245-249।

निरन्तर ग्लैडस्टन, कौब्डन, ब्राइट, मिल, स्पेंसर तथा मोर्ले को उद्धृत किया करते थे।[32] गान्धी जी पर टॉल्सटॉय, रस्किन, एडवर्ड कार्पेंटर तथा सुकरात का प्रभाव पड़ा था। बर्गसाँ, हेगेल तथा नीत्शे ने कुछ अर्थ में अरविन्द तथा इकबाल को प्रभावित किया है। 1920 के बाद मार्क्स, लेनिन, मुसौलिनी तथा हिटलर ने भारतीय साम्यवादियों, समाजवादियों तथा फॉरवर्ड ब्लॉक के अनुयायियों को प्रेरणा दी है। अमरीकी, फ्रांसीसी तथा रूसी क्रान्तियों ने भारत के राजनीतिक विचारकों तथा नेताओं के मन और आत्मा के निर्माण में असंदिग्ध रूप से योग दिया है।

तथापि भारतीय राष्ट्रवाद तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलन का इस ढंग से निर्वचन करना नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि वह पूर्णतः पाश्चात्य आदर्शों तथा पद्धतियों के साँचे में ढला था। रामदास, शिवाजी, माधौजी सिन्धिया, रणजीतसिंह तथा 1857 के नेताओं ने देशभक्ति की भावना तथा उमंग की जो अग्नि प्रज्ज्वलित की थी उसकी भूमिका को कम महत्व देना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत होगा। यह सत्य है कि इन महापुरुषों का राष्ट्रवाद शुद्ध ऐहिक तथा अखिल भारतीय आन्दोलन नहीं था; तथापि उनके आदर्शवाद तथा वीरतापूर्ण बलिदान ने देशभक्ति के आदर्श का पोषण किया और उसी को परवर्ती विचारकों तथा नेताओं ने अधिक व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया। इसलिए 1885 के बाद के राजनीतिक आन्दोलनों को पहले के ऐतिहासिक संघर्षों से पूर्णतः पृथक मानना भारी भूल होगी। इतिहास एक गतिशील तथा सुसम्बद्ध प्रवाह है। इसीलिए यद्यपि मराठे 1818 में परास्त हो गये थे और 1849 में सिक्खों को अंग्रेजों के सामने समर्पण करना पड़ा था, फिर भी देशभक्ति की जो ज्वाला उन्होंने जलायी थी वह राष्ट्र के हृदय में छिपी पड़ी रही और धधकती रही। अतः यह कहना सत्य है कि 28 दिसम्बर, 1885 के दिन जब अंग्रेजों के आशीर्वाद से बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत विद्यालय के सभा-भवन में भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस की पहली बैठक हुई तो उस समय राष्ट्र ने सहसा किसी नितान्त नये मार्ग पर चलना आरम्भ नहीं कर दिया। ऐतिहासिक न्याय नयी चुनौतियों से संघर्ष के द्वारा निरन्तर बदलता रहता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूपान्तरों के मूल में विद्यमान अविच्छिन्नता को हमें आँख से ओझल नहीं करना चाहिए।[33] विशेषकर महाराष्ट्र में पेशवा बाजीराव प्रथम द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-पद-पादशाही के आदर्श देशभक्त युवकों तथा कार्यकर्ताओं को निरन्तर नवीन प्रेरणा देते रहे। इसलिए यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि आधुनिक भारतीय राजनीति दो शक्तिशाली प्रवृत्तियों का गतिशील समन्वय है। पहली प्रवृत्ति देश को पाश्चात्य ढाँचे में ढालने की है और दूसरी ऐतिहासिक प्रवाह की अविच्छिन्नता को कायम रखने पर बल देती है।

---

32 जॉन ब्राइट (1811-1889) भारतवासियों के अधिकारों का समर्थक था। वह अनेक वर्ष तक ब्रिटिश पार्लमेंट का सदस्य रहा।

33 फार्कुहार तथा जकारिया ने आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर पाश्चात्य प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर बतलाया है।

2
ब्रह्म समाज

प्रकरण 1
राममोहन राय

1. प्रस्तावना

राजा राममोहन राय (1772-1833)[1] जिन्हें भारतीय इतिहास में, विशेषकर बंगाल में, आधुनिक युग का अग्रदूत माना जाता है, हेगेल (1770-1831) के समकालीन थे, और जब फ्रांस की राज्यक्रान्ति प्रारम्भ हुई उस समय उनकी आयु 17 वर्ष की थी। उनके पिताजी वैष्णव तथा माताजी शाक्त थीं। राय ने पटना में फारसी तथा अरबी का अध्ययन किया था। इस्लामी तत्व ज्ञान (तत्व मीमांसा) तथा समाजशास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने हिन्दू धर्म के कुछ अनुष्ठानों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना लिया था। वाराणसी में उन्होंने संस्कृत में भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया। धार्मिक सत्य के लिए उनके मन में गहरी जिज्ञासा थी ; और उन्होंने तिब्बत के लामा बौद्ध सम्प्रदाय का अध्ययन भी आरम्भ किया। उनकी बुद्धि विवेचनात्मक तथा मेधा विशाल थी, और धर्मों के तो वे ज्ञानकोष थे। जिस पद्धति से उन्होंने धर्मदर्शन के विज्ञान का अध्ययन किया उस पर बुद्धिवादी दृष्टिकोण तथा उनके अपने श्रेष्ठ तथा उदात्त व्यक्तित्व की छाप थी। इसलिए हिन्दू धर्मदर्शन तथा पराभौतिकी तत्वशास्त्र के अध्ययन से उनके मन में परम्परागत हिन्दुत्व के लिए भक्तिमूलक श्रद्धा की भी भावना उत्पन्न नहीं हुई।[2] अपनी विवेचनात्मक बौद्धिकता तथा सामाजिक हेतुवाद के कारण वे बंगाली पुनर्जागरण के पथ-प्रदर्शन बन गये। बंगाल का पुनर्जागरण सचमुच एक सर्जनात्मक तथा जटिल आन्दोलन था, और उसमें राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र गुप्त (1809-58), मधुसूदन दत्त,[3] अक्षयकुमार दत्त (1820-86), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1820-1891), रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, हेमचन्द्र बनर्जी, बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838-1894), रवीन्द्रनाथ टैगोर, योगी अरविन्द तथा अन्य अनेक व्यक्ति सम्मिलित थे। किन्तु बंगाली पुनर्जागरण के सबसे पहले अधिवक्ता राजा राममोहन राय थे, और धार्मिक तथा सामाजिक नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विशाल और प्राय: असाधारण था।

1803 में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त राममोहन मुर्शिदाबाद गये। 1809 में उन्हें शिरिश्तेदार के पद पर नियुक्त कर दिया गया। किन्तु 1814 में उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा से त्यागपत्र दे दिया। 1815 में वे कलकत्ता पहुँचे और 'आत्मीय सभा' की स्थापना की। कलकत्ता में उनका एकेश्वरवादी सम्प्रदाय के ईसाई मिशनरियों से सम्पर्क हुआ। 1818 में उन्होंने सती-प्रथा

---

1 राजा राममोहन राय का जन्म 1772 में हुआ था, और 27 सितम्बर, 1833 को ब्रिस्टल में उनका शरीरान्त हुआ।

2 दिल्ली के सुखानन्द स्वामी ने 1857 में देवेन्द्रनाथ टैगोर से कहा था कि मैं तथा राममोहन राय दोनों हरिहरानन्द तीर्थस्वामी के शिष्य हैं। (देवेन्द्रनाथ टैगोर की *Autobiography*, पृष्ठ 213)

3 माइकेल मधुसूदन दत्त के 'शर्मिष्ठा' (1858), 'तिलोत्तमा' (1860) तथा 'मेघनाद-वध' (1861) आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

के उन्मूलन के लिए विख्यात आन्दोलन आरम्भ किया, और 1829 में तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने विनियम 17 के अन्तर्गत सती-प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। इस दृष्टि से 1829 के वर्ष को भारत के सामाजिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण युगपरिवर्तनकारी वर्ष माना जा सकता है। निस्सन्देह राममोहन राय ने हिन्दू स्त्रियों को सती की कुत्सित प्रथा से मुक्त करने के लिए धर्मयुद्ध चलाकर अमर कीर्ति प्राप्त कर ली।[4]

1827 में राममोहन ने ब्रिटिश इण्डिया यूनीटेरियन एसोसिएशन (ब्रिटिश भारतीय एकेश्वरवादी संघ) की स्थापना की और 20 अगस्त, 1828 को ब्रह्म समाज की नींव डाली। औपचारिक रूप से ब्रह्म समाज का उद्घाटन 23 जनवरी, 1830 को हुआ।

15 नवम्बर, 1830 को राममोहन राय ने जहाज द्वारा इंगलैंड के लिए प्रस्थान किया। उन्हें भय था कि कहीं परम्परावादी ब्राह्मणों के प्रचार के प्रभाव से सती-विरोधी अधिनियम रद्द न कर दिया जाय; इसलिए उनके प्रचार को निष्फल करने के लिए वे इंगलैंड पहुँचना चाहते थे। इंगलैंड में विशिष्ट व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई, और बेंथम ने मानवता की सेवा में सहयोग देने वाला कहकर उनका स्वागत किया। उन्होंने दास-प्रथा के विरोधी तथा जन-शिक्षा के समर्थक लार्ड ब्राउघम से भी मित्रता कर ली। जब वह इंगलैंड में थे उसी समय प्रथम 'सुधार अधिनियम' (रिफौर्म एक्ट) पारित हुआ। उन्होंने उसका स्वागत किया और कहा कि यह उत्पीड़न, अन्याय तथा अत्याचार पर स्वतन्त्रता, न्याय तथा सम्यक्ता की विजय है।

राममोहन ने सामाजिक कुरीतियों तथा अन्याय की कटु भर्त्सना की और परम्परावाद का खुलकर विरोध किया।[5] किन्तु उनका विश्वास था कि सामाजिक बुराइयों का अन्त करने का उग्र तरीका बुद्धिवाद का प्रचार करना है। इस प्रकार उनकी तुलना फ्रांस के ज्ञानकोष के सह-रचयिता दिदरो से की जा सकती है। किन्तु राममोहन अनेक ज्ञानकोशरचयिताओं की भाँति भौतिकवादी नहीं थे। उन्होंने नैतिक इन्द्रिय परायणता के सिद्धान्त का भी खण्डन किया और नैतिक अन्त: प्रज्ञावाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया।

2. राय के चिन्तन का तत्वमीमांसात्मक आधार

राममोहन राय ने वाक्पटुता से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि विश्व में एक सर्वशक्तिमान सत्ता है जो उदार तथा मंगलकारी है। उन्होंने उपनिषदों के आध्यात्मिक एकत्ववाद के तात्विक सिद्धान्त को स्वीकार किया, किन्तु साथ ही साथ वे एकेश्वरवादी भी थे। ईश्वरत्व की एकता उनके दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त था। राममोहन राय को न्यू टेस्टामेंट की सरल तथा उदात्त नैतिक शिक्षाओं से गहरी प्रेरणा मिली थी, किन्तु उन्होंने त्रिमूर्ति के सिद्धान्त को कभी अंगीकार नहीं किया। कुरान के तौहीद (ईश्वर की एकता) की धारणा के प्रभाव के स्वरूप राममोहन ने हिन्दुओं के बहुदेववादी विचारों का खण्डन किया।[6] परम्परागत मूर्तिपूजा के साथ

---

4 राममोहन राय की *The Abstract of the Arguments Regarding the Burning of Widows Considered as a Religious Rite* तथा *The Modern Encroachments on the Ancient Right of Females According to the Hindu Law of Inheritance* पुस्तिकाओं से प्रकट होता है कि वे हिन्दू स्त्रियों के अधिकारों के महान समर्थक थे।

5 राममोहन राय पुरुषों के बहुविवाह के विरुद्ध थे और उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया। वे अन्तर्जातीय विवाह के भी पक्षपाती थे।

6 देखिये बृजेन्द्रनाथ सील, "Ram Mohan Roy : The Universal Man," *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume* भाग 2, पृष्ठ 99। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वे 30 वर्ष के थे उस समय उन्होंने बुद्धिवादियों (Rationalists) तथा स्वतन्त्र विचारकों (Free-thinkers) की रचनाओं का अध्ययन किया। यह तो निश्चय है कि उन्होंने मुवाहिदियों, सूफियों और मुतजिलों की रचनाओं का मनन किया था और शायद वे ह्यूम, वोल्टेयर और वोल्नी की रचनाओं से भी परिचित थे। स्वतन्त्रता के एक दुर्धर्ष समर्थक की भाँति जो वे स्वयं थे उन्होंने विश्व के सभी तथाकथित ऐतिहासिक धर्मग्रन्थों तथा धर्मों के विरुद्ध संघर्ष किया और अपनी अरबी-फारसी में लिखित तौहफ़ात-उल-मुवाहिदीन (आस्तिकों के लिए भेंट) नामक पुस्तिका में विद्रोह का शंखनाद किया। उन्होंने वोल्तेयर (तथा वोल्नी) की भाँति मनुष्य जाति को चार वर्गों में विभक्त किया—जो धोखा देते हैं, जो धोखा खाते हैं, जो धोखा देते हैं और धोखा खाते हैं और जो न धोखा देते हैं और न खाते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अन्धविश्वास उसकी व्यापकता के कारणों का जो विश्लेषण किया है उससे प्रतीत होता है कि उन पर लॉक तथा ह्यूम का प्रभाव था, क्योंकि अपने विश्लेषण में उन्होंने ऐतिहासिक तत्वों की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक तत्वों को अधिक महत्व दिया है।

जिन घृणित और कुत्सित प्रथाओं का सम्बन्ध था उन्होंने उनके मन को भारी आघात पहुँचाया, और वे उन्हें समाज-विरोधी मानने लगे। उनके चिन्तन में प्राकृतिक धर्म के तत्व भी देखने को मिलते हैं। उन्हें आत्मा के अमरत्व में भी विश्वास था। वे साम्प्रदायिकता, अन्ध-विश्वास तथा मूर्तिपूजा के घोर शत्रु और एकेश्वरवाद के उत्साही समर्थक थे। धार्मिक सत्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार तथा सहिष्णु था। किन्तु राममोहन को तत्वज्ञान की बारीकियों का समुचित प्रशिक्षण नहीं मिला था, इसलिए वे एकेश्वरवाद तथा एकत्ववाद का भेद न समझ सके। यदि वे उपनिषदों से बौद्धिक समर्थन चाहते थे तो वे निश्चय ही एकत्ववाद की दिशा में अग्रसर हो रहे थे। किन्तु राममोहन के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों ने स्वयं वैयक्तिक परमेश्वर तथा निराकार ब्रह्म के भेद को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया है। फिर भी राय ने हिन्दुओं के इस परम्परागत विश्वास का खण्डन नहीं किया कि वेदों की रचना सृष्टि की रचना के ही साथ हुई थी।

स्पिनोजा की भाँति राममोहन भी द्रव्य की संकल्पना में विश्वास करते थे ; और रामानुज की भाँति उन्होंने द्रव्य को सगुण माना। उन्होंने एक सर्वशक्तिमान तथा अनन्त शिवत्व से पूर्ण सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने कहा, "द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए गुण अथवा गुणों पर उतना ही निर्भर होता है जितना कि गुण किसी द्रव्य पर। बिना गुणों के द्रव्य की कल्पना तक करना असम्भव है।" प्लेटो की भाँति राय ने सर्वोच्च सत्ता के शाश्वत तथा अनन्त गुणों के चिन्तन के महात्म्य को स्वीकार किया। अपनी अधिक परिपक्व अवस्था में उन्होंने एक ऐसी आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिपादन किया जिसका शंकर के वेदान्त से बहुत कुछ साम्य है।[7]

3. राममोहन राय के राजनीतिक विचार

(क) वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त—लॉक, ग्रोशस तथा टौमस पेन की भाँति राममोहन ने प्राकृतिक अधिकारों की पवित्रता को स्वीकार किया। उन्हें जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति धारण करने के प्राकृतिक अधिकारों[8] में ही विश्वास नहीं था, अपितु उन्होंने व्यक्ति के नैतिक अधिकारों का भी समर्थन किया। किन्तु उन्होंने अपने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को प्रचलित भारतीय लोकसंग्रह के आदर्श के ढाँचे के अन्तर्गत ही रखा। अत: अधिकारों तथा स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी उन्होंने आग्रह किया कि राज्य को समाज-सुधार तथा शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए कानून बनाने चाहिए। इस प्रकार उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के साथ सामाजिक उपयोगिता तथा मानव कल्याण की धारणाओं का संयोग कर दिया।

वोल्तेयर, मौंतेस्क्यू तथा रूसो की भाँति राममोहन को स्वतन्त्रता के आदर्श से उत्कट प्रेम था। उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बहुत बल दिया, और निजी बातचीत में वे प्राय: राष्ट्रीय मुक्ति के आदर्श की भी चर्चा किया करते थे। स्वतन्त्रता मनुष्य का अमूल्य धन है, इसलिए राममोहन वैयक्तिक स्वतन्त्रता के महान् समर्थक थे। किन्तु स्वतन्त्रता राष्ट्र के लिए भी आवश्यक होती है। 11 अगस्त, 1821 को राममोहन ने 'कलकत्ता जर्नल' नामक पत्रिका के संपादक जे. एस. बकिंघम को एक पत्र लिखा और विश्वास प्रकट किया कि अन्ततोगत्वा यूरोपीय राष्ट्र तथा एशियाई उपनिवेश निश्चय ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे। उन्हें यूनानियों तथा नेपिलसवासियों की स्वतन्त्रता की माँग से सहानुभूति थी। इसलिए जब 1820 में नेपल्स में स्वेच्छाचारी शासन की पुन: स्थापना हो गयी तो राममोहन को बहुत क्षोभ हुआ। जब वह यूरोप जा रहे थे तो मार्ग में उन्होंने एक फ्रांसीसी स्टीमर देखा और कहा कि 'यदि मैं स्वतन्त्र फ्रांसीसी राष्ट्र के जहाज में इंगलैंड जा सकता तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती।' कहा जाता है कि वे वास्तव में उस स्टीमर तक गये और फ्रांस के झण्डे का अभिवादन किया। यद्यपि उस समय फ्रांस पुन: स्थापित बोर्बां राजतंत्र के अन्तर्गत था, फिर भी राय को महान् फ्रांसीसी क्रांति के स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के आदर्शों का चिन्तन करके भारी उल्लास होता था। फ्रांस की 1830 की क्रान्ति से उनके हृदय को बड़ी प्रसन्नता हुई, और चार्ल्स दशम के शासन के उन्मूलन से

---

7 सीतानाथ तत्वभूषण *The Philosophy of Brahmoism* (हिगिनबौथम एण्ड कम्पनी, मद्रास), पृष्ठ 6-7।

8 राममोहन राय सम्पत्ति के परम्परागत अधिकार के भी समर्थक थे। व्यक्तिवादियों की भाँति उनका विश्वास था कि सरकार को चाहिए कि वह संविदाओं को वैधता प्रदान करे।

राय को विशेष सन्तोष हुआ। 1821 में जब राजा फर्नीनांड को विवश होकर एक संविधान देना पड़ा तो उसके उपलक्ष में उन्होंने एक सार्वजनिक भोज दिया।

राममोहन सृजनात्मक आत्मा की अविचल स्वतन्त्रता के मूल्य को भली-भाँति समझते थे। वे चाहते थे कि देश की जनता में प्रबल तथा दुर्दम्य आत्मविश्वास जागृत हो। साथ ही साथ उन्होंने अन्धविश्वास तथा अविवेक का घोर विरोध किया। वे अंग्रेज जाति की सराहना किया करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि अंग्रेज स्वयं ही नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं करते, अपितु वे अपने अधीन देशों में भी स्वतन्त्रता, सामाजिक सुख तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता को राममोहन की देन का मूल्यांकन करते हुए विपिनचन्द्र पाल लिखते हैं, "राजा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया। उनके लोग इस स्वतन्त्रता को खो बैठे थे, इस बात से उनको गहरा दुःख हुआ। उनके लिए यह सहन करना कठिन था कि विदेशी जाति उनके देश पर आधिपत्य जमा ले। इसीलिए 20 वर्ष से कम की आयु में ही वे देश छोड़कर तिब्बत की यात्रा करने चले गये। बाद में जब ब्रिटिश जाति की संस्कृति तथा चरित्र से उनका घनिष्ठ परिचय हुआ तो उन्हें लगा कि अंग्रेज अधिक बुद्धिमान तथा आचरण में अधिक दृढ़ तथा संयत हैं, इसलिए राजा का झुकाव उनके पक्ष में हो गया, और वे विश्वास करने लगे कि यद्यपि अंग्रेजी शासन विदेशी है, फिर भी उसके अंतर्गत देशवासियों का उद्धार अधिक तीव्र गति तथा निश्चय के साथ होगा।" किन्तु वे इस विचार को कभी सहन नहीं कर सकते थे कि भारतीय जनता के उद्धार के लिए देश का अनन्त काल तक ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत रहना आवश्यक है। मि. आर्नोट जो इंगलैंड में राजा का सचिव था यह लिखकर छोड़ गया है कि उनकी राय में इंगलैंड के लिए भारत में अपना सांस्कृतिक तथा मानवतावादी कार्य पूरा करने के हेतु अधिक से अधिक 40 वर्ष का समय पर्याप्त है। उनका विश्वास था कि इस अवधि में अंग्रेजी शासन भारतीय मस्तिष्क का आधुनिक विश्व-संस्कृति से जीवित संपर्क स्थापित करने तथा देश में ऐसी लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली की नींव डालने में सफल हो जायगा जिससे भारत संसार के अन्य सभ्य देशों के स्तर पर पहुँच सके। इंगलैंड की लोक सभा (हाउस ऑव कामन्स) की प्रवर समिति के समक्ष उन्होंने जो विस्तृत साक्ष्य प्रस्तुत किया उसमें उन्होंने सुधार की वह दिशा इंगित कर दी थी जो इंगलैंड को भारत में अपना नैतिक कार्य पूरा करने में सहायता दे सकेगी।"[9]

राममोहन यह भी स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश शासन से भारत को महान् लाभ हुए हैं। उन्हें आशा थी कि ब्रिटेन से सम्बन्ध भविष्य में भी लाभदायक सिद्ध होगा। एक प्रबुद्ध राष्ट्र द्वारा शासित होने तथा उसके सम्पर्क में आने से होने वाले लाभों को वे भली-भाँति समझते थे। उन्होंने पण्डित शिवप्रसाद शर्मा के नाम से एक लेख लिखा जो 'ब्राह्मनिकल मेगजीन' नामक पत्रिका में 15 नवम्बर, 1823 को प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने लिखा : "हम अपनी गम्भीर भक्ति-भावना से अन्य वस्तुओं के साथ-साथ ईश्वर को भारत में अंग्रेजी शासन के वरदान के लिए प्राय: विनम्र धन्यवाद अर्पित किया करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह शासन आगे आने वाली अनेक शताब्दियों तक अपना कृपापूर्ण कार्य करता रहे।"[10] यह कुछ आश्चर्य की सी बात है कि जिस व्यक्ति का देश के कुछ प्रशंसा करने वाले लोग आधुनिक भारत का निर्माता मानकर अभिनन्दन करते हैं, और जिसे यूनान तथा नेपिल्स की राजनीतिक स्वाधीनता में गहरी अभिरुचि थी वही व्यक्ति भारत में ब्रिटिश शासन के शताब्दियों तक कायम रहने के लिए प्रार्थना करे। इसमें सन्देह नहीं कि राममोहन राय को अपने देश से प्रेम था, वे धर्मशास्त्रों के गम्भीर विद्वान और शक्तिशाली समाज-सुधारक थे, किन्तु वे शहीद नहीं थे। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस समय मराठे

---

9 विपिनचन्द्र पाल, "Ram Mohan as Reconstructor of Indian Life and Society," *Calcutta Municipal Gazette* के दिसम्बर 22, 1928 के अंक में प्रकाशित तथा *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume*, भाग 2 में (पृष्ठ 203-05) पुनर्मुद्रित।

10 *Works of Ram Mohan Roy* (ब्रह्म समाज, कलकत्ता, 1928) जिल्द 1, पृ. 222। यह लेख राम-मोहन राय का ही था इसके प्रमाण के लिए देखिए यू. एन. बाल, *Ram Mohan Roy* (117 बो बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता, 1933), पृ. 134।

(1818) और सिक्ख स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे थे—उनका संघर्ष कितना ही स्थानीय तथा सीमित क्यों न रहा हो—उसी समय यह 'आधुनिक भारत का जनक' ब्रिटिश शासन के गुणगान कर रहा था। राममोहन बौद्धिक तथा सामाजिक मुक्ति के समर्थक थे और राजनीतिक स्वतन्त्रता में भी उनका विश्वास था, किन्तु उन्हें स्वराज का पैगम्बर नहीं कहा जा सकता। आधुनिक भारत में राजनीतिक स्वाधीनता के आदर्श की जड़ें रोपने वाले वास्तव में फडके, चाफेकर, लोकमान्य तिलक आदि महाराष्ट्री नेता थे जिनकी विचारधारा सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के स्वाधीनता के सैनिकों की विचारधारा का अविच्छिन्न प्रवाह थी। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम पर यूरोप के विचारों और आन्दोलनों का जो गम्भीर प्रभाव पड़ा उसका हम कम मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं। फिर भी यदि हम राजनीतिक स्वतन्त्रता की जड़ें भारत में ढूंढ़ना चाहें तो वे हमें केवल राजा राम-मोहन राय की रचनाओं में नहीं मिलेंगी, अपितु उनके लिए हमें शिवाजी के राज्यतन्त्र में निहित स्वराज के आदर्श की भूमिका को समझना होगा। कालान्तर में स्वराज की पुरानी धारणा में भारी रूपान्तर हो गया, और दादाभाई नौरोजी, विपिनचन्द्र पाल तथा चित्तरंजन दास ने अपने लेखों तथा भाषणों द्वारा उसे महत्वपूर्ण विस्तार प्रदान कर दिया। किन्तु जड़ें वहीं थीं। राजा राममोहन राय ने बौद्धिक तथा सामाजिक मुक्ति के जिन आदर्शों को प्रतिपादित किया और लोक-प्रिय बनाया उनके महत्व को हम स्वीकार करते हैं, किन्तु हम राजा के उन उत्साही प्रशंसकों से सहमत नहीं हैं जो उन्हें राजनीतिक स्वाधीनता का सन्देशवाहक मानते हैं।

(ख) **प्रेस की स्वतन्त्रता**—राममोहन प्रेस की स्वतन्त्रता[11] के प्रारम्भिक समर्थकों में थे, और मिल्टन की भाँति उन्होंने लिखित अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का समर्थन किया। 1823 में राममोहन ने द्वारकानाथ ठाकुर, हरचन्द्र घोष, गौरीशंकर बनर्जी, प्रसन्नकुमार टैगोर तथा चन्द्रकुमार टैगोर के साथ मिलकर प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए सर्वोच्च न्यायालय को एक याचिका भेजी। अधिकारों के इस आन्दोलन के पीछे राममोहन का मुख्य हाथ था। जब याचिका अस्वीकृत कर दी गयी तो सपरिषद राजा (किंग इन कौंसिल) के यहाँ अपील की गयी। अपील में तत्कालीन शासन-तन्त्र पर राममोहन के विचारों का समावेश था। अपील में कहा गया था, "जब शक्तिधारी लोग, जो प्रेस की स्वतन्त्रता के इसलिए शत्रु होते हैं कि वह उनके आचरण पर अप्रिय अंकुश का काम करता है, उससे होने वाले किसी वास्तविक अनिष्ट का पता नहीं लगा पाते तो वे संसार को इस भुलावे में डालने का प्रयत्न करते हैं कि वह किसी संकट के काल में सरकार के विरुद्ध संगठन का साधन बन सकता है। किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि असाधारण संकट के समय जिन प्रतिबन्धों को लगाने का अधिकार दिया जा सकता है, उनका शान्तिकाल में प्रयोग कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। महामहिम! जैसा कि आप जानते हैं, स्वतन्त्र प्रेस ने संसार के किसी भाग में कभी क्रान्ति को जन्म नहीं दिया है। कारण यह है कि लोग स्थानीय अधिकारियों के आचरण से उत्पन्न होने वाली शिकायतों को सर्वोच्च सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते और उन्हें दूर करवा सकते हैं। अतः क्रान्ति को उभारने वाले असन्तोष का आधार ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत जब प्रेस की स्वतन्त्रता नहीं रही और फलस्वरूप शिकायतों का न अभिवेदन किया जा सका और न उन्हें दूर करवाया जा सका तो उस समय संसार के सभी भागों में अगणित क्रान्तियाँ हुई हैं और यदि उन्हें सरकार की शस्त्र-शक्ति से रोक भी दिया गया तो जनता सदैव विद्रोह करने के लिए तत्पर बनी रही........।"

(ग) **भारत की न्यायिक व्यवस्था**—राममोहन ब्रिटेन की लोक सभा की प्रवर समिति के सम्मुख उस समय उपस्थित हुए जबकि 1833 के अधिकार-पत्र अधिनियम (चार्टर एक्ट) पर विवाद हो रहा था।[12] उन्होंने अनुरोध किया कि भारत में सेवा करने वाले दण्डनायकों (मजिस्ट्रेटों) के

---

11 राममोहन राय पत्रकार भी थे। उन्होंने 1821 में 'संवाद कौमुदी' नामक बंगला पत्रिका तथा 'मिराट्-उल्-अखबार' नाम की फारसी पत्रिका प्रारम्भ की थी। उन्होंने *Brahmanical Magazine* नाम की पत्रिका भी प्रारम्भ की थी।

12 राममोहन राय ने जो साक्ष्य दिया वह उनके "The Judicial and Revenue Systems of India" तथा "The Indian Peasantry" नामक दो लेखों के रूप में विद्यमान है।

न्यायिक तथा प्रशासकीय कार्यों को पृथक कर दिया जाय। जे. सी. घोष लिखते हैं, "उन्होंने नियन्त्रण परिषद (बोर्ड आव कन्ट्रोल) की प्रार्थना पर लोक सभा की प्रवर समिति के समक्ष भारत की न्यायिक तथा राजस्व प्रणालियों के कार्य-संचालन, देशवासियों के सामान्य चरित्र तथा दशा और भारत से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण मामलों पर अपना प्रसिद्ध साक्ष्य प्रस्तुत किया। उसे उन्होंने 'एन एक्स-पोजीशन आव रेवेन्यू एण्ड जुडीशियल एडमिनिस्ट्रेशन आव इण्डिया' (भारत की राजस्व तथा न्यायिक प्रणालियों की एक व्याख्या) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित भी करवाया। इसमें भारत के प्रशासन से सम्बन्धित कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं का समावेश है। उदाहरण के लिए—न्यायालयों का सुधार, देश के न्यायालयों का यूरोपीय लोगों पर क्षेत्राधिकार, जूरी प्रथा, कार्यकारी तथा न्यायिक पदों का पृथक्करण, विधि का संहिताकरण, विधि-निर्माण में जनता से परामर्श करना, देशी लोकसेना की स्थापना, देशवासियों को अधिक नौकरियाँ देना, असैनिक अधिकारियों की आयु तथा शिक्षा, रैयत की दशा का सुधार तथा उसकी रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण तथा स्थायी भूमि-प्रबन्ध....।"[13] राममोहन असैनिक सेवाओं में अपरिपक्व व्यक्तियों की नियुक्ति के विरुद्ध थे। इसलिए उनका सुझाव था कि प्रसंविदाबद्ध (कवेनेण्टेड) सेवाओं में नियुक्ति के लिए न्यूनतम 22 वर्ष की आयु की सीमा होनी चाहिए। प्रवर समिति के सम्मुख अपने साक्ष्य में उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया कि न्याय-अधिकारियों तथा जनता के बीच संचार का माध्यम कोई एक ऐसी भाषा नहीं थी जिसे दोनों ही बोल तथा समझ सकते, इससे भी उचित न्याय करने में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त, न्यायालयों की कार्यवाही की रिपोर्ट प्रकाशित करने के लिए सार्वजनिक समाचार पत्रों का भी अभाव था। उन्होंने यह भी कहा कि भारत के लोग पंचायत के रूप में जूरी द्वारा न्याय के सिद्धान्त से भलीभाँति परिचित थे। उनकी दृष्टि में जूरी प्रथा पंचायत से कुछ ही भिन्न थी। उनका सुझाव था कि सेवानिवृत्त न्यायिक अधिकारियों तथा अपने काम से अवकाश ले लेने वाले वकीलों को जूरियों का सदस्य चुना जा सकता है। वे इस पक्ष में थे कि एक भारतीय आपराधिक विधि संहिता तैयार की जाय, और वह ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित हो जो देश की जनता के विभिन्न वर्गों में आम तौर पर प्रचलित हों और जिन्हें वे सब स्वीकार कर लें। वह संहिता सरल, शुद्ध तथा स्पष्ट हो। न्यायिक प्रशासन को स्थायी आधार पर खड़ा करने के लिए विभिन्न सुझाव देने में उन्होंने शासकों और शासितों के हितों का ही केवल ध्यान रखा।

राममोहन अधिकार के पक्षपोषक थे। 1827 में एक जूरी अधिनियम पारित किया गया था। इस अधिनियम ने न्याय-व्यवस्था में भेदभाव उत्पन्न कर दिया, क्योंकि जब किसी ईसाई पर अभियोग चलाया जाता तो हिन्दू और मुसलमान जूरी में नहीं बैठ सकते थे। 17 अगस्त, 1829 को इस अधिनियम के विरुद्ध पार्लमेंट के दोनों सदनों में प्रस्तुत किये जाने के लिए एक याचिका तैयार की गयी। उस पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों, दोनों ने ही हस्ताक्षर किये। राममोहन का इस याचिका-आन्दोलन से सम्बन्ध था। उन्होंने याचिका के साथ एक पत्र मि. क्रौफर्ड को लिखकर भेजा और उसमें विरोध के आधारों का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया, "नियन्त्रण परिषद (बोर्ड आव कन्ट्रोल) के भूतपूर्व अध्यक्ष मि. विन ने अपने प्रसिद्ध जूरी विधेयक द्वारा देश की न्यायिक व्यवस्था में धार्मिक भेदभाव को समाविष्ट करके सामान्य देशवासियों में असन्तोष का आधार ही नहीं उत्पन्न कर दिया है, बल्कि राजनीतिक सिद्धान्तों से परिचित हर व्यक्ति के हृदय में भारी आशंका जागृत कर दी है। इस विधेयक के अनुसार हिन्दू और मुसलमान देशवासियों के न्यायिक परीक्षण में यूरोपीय तथा देशी दोनों ही प्रकार के ईसाई जूरी-सदस्यों के रूप में भाग ले सकेंगे। किन्तु ईसाइयों के, जिनमें धर्म-परिवर्तित देशी लोग भी सम्मिलित हैं, न्याय परीक्षण में हिन्दुओं और मुसलमानों को, चाहे वे समाज के कितने ही प्रतिष्ठित सदस्य क्यों न हों, जूरी सदस्यों के रूप में बैठने का अधिकार न होगा। इस प्रकार न्यायिक मामलों में हिन्दू और मुसलमान ईसाइयों के अधीन रहेंगे, और ईसाई हिन्दुओं तथा मुसलमानों की अधीनता के अपमान से मुक्त होंगे। विधेयक हिन्दुओं और मुसलमानों को हिन्दुओं

---

13 जोगेन्द्र चन्द्र घोष, Introduction to *The English Works of Raja Ram Mohan Roy*, (श्री कान्त राय द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1901)।

और मुसलमानों के भी मुकद्दमों में महाजूरी (ग्रांड जूरी) में बैठने के अधिकार से वंचित करता है। मि. विन के पिछले जूरी विधेयक का सारांश यह है जिसकी हम कटु शिकायत कर रहे हैं।"[14] उस पत्र में उन्होंने भारत तथा ब्रिटिश साम्राज्य के बीच सम्बन्धों के वास्तविक तथा सम्भावित लाभों के विषय में अपने विचार व्यक्त किये थे। ब्रिटिश पार्लमिंट के लिए भेजी गयी यह याचिका 5 जून, 1829 को लोक सभा के समक्ष प्रस्तुत की गयी।

(घ) भारत में यूरोपवासियों के बसने का प्रश्न—1832 में ब्रिटेन की लोक सभा की प्रवर समिति ने भारत में यूरोपीय लोगों के बसने के प्रश्न पर राममोहन की राय माँगी।[15] 1813 के अधिकार अधिनियम (चार्टर एक्ट) ने यूरोपीयों को भारत में भूमि खरीदकर अथवा पट्टे पर लेकर बसने के अधिकार से वंचित कर दिया था। इसके विपरीत, राममोहन ने सिफारिश की कि शिक्षित तथा 'चरित्र और पूंजी वाले' यूरोपीयों को भारत में स्थायी रूप से बसने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।[16] 1833 के अधिकार अधिनियम के द्वारा सभी विद्यमान प्रतिबन्ध हटा दिये गये।

(ङ) मानवतावाद तथा सार्वभौम धर्म—स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के समर्थक होने के नाते राममोहन महान मानवतावादी थे और सहयोग, सहिष्णुता तथा साहचर्य में विश्वास करते थे। वे चाहते थे कि परम्परागत बन्धन जिन्होंने मनुष्य के मन और आत्मा को बन्दी बना रखा था, खोल दिये जायँ और मनुष्य को सहिष्णुता, सहानुभूति तथा बुद्धि पर आधारित समाज का निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय।[17] वे विश्व-नागरिकता के प्रतिपादक तथा भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता के समर्थक थे। राममोहन ने तुलनात्मक धर्म के अध्ययन से आरम्भ किया था, किन्तु, बाद में, वे एक सार्वभौम धर्म की आवश्यकता की कल्पना करने लगे। किन्तु सार्वभौम धर्म का विचार भी उनके चिन्तन का अन्तिम साकार रूप नहीं था। अन्त में, उन्होंने आध्यात्मिक संश्लेषण की एक आधारभूत योजना निरूपित की और एक परमेश्वर की आराधना पर आधारित धार्मिक अनुभव की एकता पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने कबीर, नानक, दादू, तुकाराम तथा अन्य सन्तों के सामाजिक तथा धार्मिक समन्वय की परम्पराओं को आगे बढ़ाया।

राममोहन बन्धनमुक्त हो चुके थे, इसलिए उन्हें सार्वभौमता में विश्वास था, और वे मानव जाति को एक परिवार तथा विभिन्न राष्ट्रों और जातियों को उसकी शाखाएँ मानते थे। 1832 में उन्होंने फ्रांस के परराष्ट्र मन्त्री को एक पत्र लिखा और राजनीतिक तथा व्यापारिक विवादों के निपटारे के लिए एक कांग्रेस स्थापित करने का सुझाव दिया। सम्भवतः राममोहन को पवित्र संघ (होली एलाएंस), चतुस्संघ (क्वाड्रूप्ल एलाएंस) तथा यूरोपीय संघ की जानकारी थी और वे उनके कार्यकलाप को अधिक विस्तार देने की कल्पना किया करते थे। वे महान मानवतावादी तथा सार्वभौमतावादी थे और डेविड ह्यूम की भाँति सार्वभौम सहानुभूति के सिद्धान्त को मानते थे। वे सच्चे हृदय से व्यापक सहिष्णुता तथा मानव-प्रेम के पंथ के अनुयायी थे। बैंथम राममोहन के सार्वभौमतावाद और मानवतावाद की प्रशंसा किया करता था। एक पत्र में उसने उनको लिखा था : "............आपके कार्यकलाप से परिचय मुझे आपकी एक पुस्तक के द्वारा हुआ है। उसकी शैली ऐसी है कि यदि उसके साथ एक हिन्दू का नाम न जुड़ा होता तो मैं निश्चय ही यह समझता कि यह एक उच्चकोटि के शिक्षित और दीक्षित अंग्रेज द्वारा लिखी गयी है।...." उसी पत्र में जेम्स मिल की 'द हिस्ट्री आव इण्डिया' (भारत का इतिहास) नामक महान रचना की प्रशंसा करते हुए उसने

---

14 *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume*, भाग 2 में पृष्ठ 33 पर उद्धृत।

15 राममोहन राय, *Remarks on Settlement in India by Europeans* [1813]।

16 देखिये रोमैं रोलां, *The Life of Ramkrishna* पृष्ठ 107 : "राममोहन राय यह तो कभी चाहते ही नहीं थे कि इंगलैण्ड को भारत से निकाल दिया जाय, अपितु उनकी इच्छा थी कि वह वहाँ इस प्रकार जम जाय कि उसका रक्त, उसका सोना और उसके विचार भारतवासियों के साथ घुलमिल जायं।" राममोहन ने भारत में यूरोपवासियों के बसने का जो समर्थन किया उसके कारण सामान्य थे। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उसका समर्थन उन्होंने अपनी मध्यवर्गीय भावनाओं के कारण किया था।

17 राममोहन राय ने ईश्वर के नैतिक व्यक्तित्व की धारणा के आधार पर सार्वभौम प्रेम के नैतिक आदर्श की स्थापना की।

राय से उनकी शैली के बारे में कहा : "यद्यपि जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है मेरी इच्छा होती है कि मैं हृदय से और ईमानदारी के साथ कह सकता कि वह आपकी शैली के समतुल्य है।"

4. राममोहन राय के शैक्षिक विचार

राममोहन क्लासीकल भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे, और उनकीअद्वितीय विशिष्टता यह थी कि वे ग्रीक, हीब्रू, संस्कृत, अरबी और फारसी से परिचित थे। उनकी मेधा उत्तुंग तथा प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने उपनिषदों, पुराने टेस्टामेंट तथा कुरान का मूल भाषाओं में अध्ययन किया था। पंडापंथ से पूर्णतः मुक्त होने तथा अपने ज्ञान की विशदता के कारण वे वास्तव में एक अद्भुत विभूति थे। वे इतने दूरदर्शी थे कि उन्होंने आधुनिक जगत में अंग्रेजी भाषा के महत्व को पहले से ही भली-भाँति समझ लिया था। 1816-17 में उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। कलकत्ता में वह पहला अंग्रेजी स्कूल था जिसका व्यय पूर्णतः भारतीयों द्वारा ही वहन किया जाता था। उन्हीं की प्रेरणा से 1822-23 में हिन्दू कॉलिज की स्थापना हुई। प्रारम्भ में उसका नाम महापाठशाला अथवा एंग्लो-इण्डियन कॉलिज था। वे शिक्षा के प्राच्य सम्प्रदाय के बजाय पाश्चात्य सम्प्रदाय में विश्वास करते थे। वे संस्कृत विद्या की साहित्यिक बारीकियों और सत्यान्वेषण की पद्धतियों को भली-भाँति समझते थे, फिर भी उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत में पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान का समावेश हो। 11 दिसम्बर, 1823 को उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में लार्ड एम्हर्स्ट को जो पत्र लिखा उसमें उन्होंने कहा : "यदि ब्रिटिश राष्ट्र को वास्तविक ज्ञान से वंचित रखने का इरादा रहा होता तो यूरोप के मध्ययुगीन धर्मशास्त्रियों की शिक्षा-पद्धति के स्थान पर बेकन के दर्शन को प्रतिष्ठित न किया जाता क्योंकि मध्ययुगीन पद्धति अज्ञान को चिरस्थायी रूप से कायम रखने का सर्वोत्तम साधन थी। इसी प्रकार यदि ब्रिटिश पार्लमेंट की नीति भारत को अज्ञान के अन्धकार में डाले रखने की हो तो उसके लिए संस्कृत-शिक्षा-प्रणाली सबसे अच्छी प्रणाली सिद्ध होगी। किन्तु सरकार का उद्देश्य देशी जनता की उन्नति करना है इसलिए वह अधिक प्रबुद्ध तथा उदार शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन देगी और गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन-शास्त्र, शरीर-रचना-शास्त्र तथा अन्य लाभदायक विज्ञानों के पढ़ाने की व्यवस्था करेगी।[18]

5. राममोहन राय के आर्थिक विचार

(क) भारत की राजस्व प्रणाली तथा भारतीय किसान—लार्ड कॉर्नवालिस द्वारा बंगाल में स्थापित स्थायी भूमि-प्रबन्ध से उत्पन्न बुराइयों ने जो विनाशकारी कार्य किया था उसे राममोहन भली-भाँति समझते थे। किन्तु राजा के आर्थिक विचारों का इस ढंग से निर्वचन करना अनुचित होगा कि वे या तो पूर्णतः सामन्तवाद से प्रभावित थे या उदीयमान पूँजीवाद से। उन्हें वास्तव में जनता के हितों का ध्यान था। वे उन गरीब किसानों की मुक्ति चाहते थे जो जमींदारों और उनके गुमाश्तों की लूट के शिकार थे। किन्तु वे यह भी चाहते थे कि सरकार जमींदारों से अपनी माँगें कम करदे।

(ख) स्त्री-उत्तराधिकार विधि—राजा राममोहन राय हिन्दू स्त्रियों को उत्तराधिकार का अधिकार देने के पक्ष में थे। उत्तराधिकार की आधुनिक विधि से स्त्रियों के साथ जो अन्याय होता था उसकी राममोहन ने कटु आलोचना की। उन्होंने 1822 में एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'माडर्न एनक्रोचमैंट ऑन एनशेंट राइट्स आव फीमेल्स एकौर्डिंग टु द हिन्दू लॉ आव इनहेरिटेंस' (हिन्दू उत्तराधिकार विधि पर आधारित स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों का आधुनिक अतिक्रमण) इस लेख में उन्होंने याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, विष्णु, वृहस्पति, व्यास आदि विद्वान धर्मशास्त्रियों को उद्धृत किया और बतलाया कि प्राचीन धर्मशास्त्रियों के मतानुसार पति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति में स्त्री को अपने पुत्र के समान भाग मिलता था, और पुत्री को एक चौथाई।[19]

6. निष्कर्ष

राममोहन अद्भुत व्यक्ति थे। उनकी दूरदर्शिता तथा कल्पना-शक्ति महान थी। वे एक ऐसी आत्मा थे जिसने अपने को दूसरों के लिए अर्पित कर रखा था। उनके मन में मनुष्य तथा

---

18 *The English Works of Raja Ram Mohan Roy*, जिल्द 3, पृष्ठ 327। 1828 में भारत में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी को सरकारी भाषा बना दिया गया था।

19 देखिये राममोहन राय के हिन्दू स्त्रियों के अधिकार तथा हिन्दुओं के पैत्रिक सम्पत्ति पर अधिकार पर निबन्ध।

ईश्वर के लिए अगाध प्रेम था। वे निर्भीक, सच्चे तथा ईमानदार थे और अपने विश्वासों को दूसरों के समक्ष व्यक्त करने का उनमें दुर्दम्य साहस था। उन्हें स्त्रियों के उद्धार में रुचि थी। आधुनिक भारत में स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन करने वाले वे सबसे पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने स्त्रियों की पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह किया। वे समाज सुधारक भी थे। उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। स्विट्जरलैण्ड के अर्थशास्त्री सिसमोंदी ने उनका नैतिकता तथा [illegible] एकता के शिक्षक के रूप में अभिनन्दन किया।[20] स्वर्गीय ब्रजेन्द्रनाथ सील ने बड़ी पटुता के साथ उनकी बहुमुखी उपलब्धियों का सारांश इस प्रकार व्यक्त किया है : "·····भारतीय सभ्यता के इतिहास ने उन्हें अनेक अन्य आधारभूत महत्व की चीजें सिखलायीं : उदाहरण के लिए, राज्य की नीति के क्षेत्र में विधायी तथा कार्यकारी कार्यों के बीच मौलिक पृथक्करण;[21] विधि-शास्त्र के क्षेत्र में यह सिद्धान्त कि विधि की उत्पत्ति प्रभु के समादेश के साथ-साथ परम्परा तथा आचार से होती है, और प्राय: वह बाद में ऐसे समादेश द्वारा अनुसमर्थित तथा स्वीकृत कर दी जाती है ; और न्याय तथा राजस्व प्रशासन के क्षेत्र में गाँव तथा पंचायत का केन्द्रीय स्थान[22] तथा भूमि पर प्रजा का स्वामित्व। किन्तु उन्होंने भारतीय राज्यतन्त्र के इन प्राचीन तथा मध्ययुगीन तत्वों को आधुनिक अर्थ तथा उद्देश्य प्रदान किया। उन्होंने इन तत्वों का प्रतिनिधि शासन, जूरी द्वारा अभियोग-परीक्षण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता के साथ संयोग कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दुओं की विवाह, उत्तराधिकार, धार्मिक आराधना, स्त्रियों की परिस्थिति, स्त्री-धन तथा वर्णाश्रम धर्म आदि से सम्बन्धित वैयक्तिक विधि में न्याय तथा औचित्य के अत्यधिक उदार सिद्धान्तों का समावेश करके उसको संशोधित तथा पूर्ण कर दिया। इन उदार सिद्धान्तों का उन्होंने प्राचीन धर्मशास्त्रों में समर्थन और अनुमोदन ढूँढ़ निकाला, और इस प्रकार वे सार्वभौम मानवता की पृष्ठभूमि में पश्चिम तथा पूर्व के सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं के बीच समन्वय स्थापित करने में सफल हुए। किन्तु वे एशिया की भूमि में नये राजतन्त्र के विधि-शास्त्र को ही प्रतिरोपित नहीं करना चाहते थे, अपितु वे पश्चिम की आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता का भी बीजारोपण करने के पक्ष में थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारत में वास्तविक तथा उपयोगी ज्ञान, विशेषकर विज्ञान तथा उद्योग में विज्ञान के प्रयोग पर आधारित सार्वजनिक शिक्षा-प्रणाली की स्थापना में सहायता दी। इसी प्रकार उन्होंने अपने को फिजियोक्रेट सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों की इस भ्रान्ति से दूर रखा कि कृषि तथा व्यापारिक निर्माण के बीच तात्विक अन्तर्विरोध होता है। वे भारतीय सभ्यता के रैयतवाड़ी, कृषि प्रधान तथा देहाती आधार को अक्षुण्ण रखने के पक्ष में थे। साथ ही साथ वे यह भी चाहते थे कि भारत की भूमि पर आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग खड़े किये जायँ जिससे देश की जनता के रहन-सहन के स्तर में और उसके साथ-साथ उसके स्वास्थ्य तथा शरीर-गठन में सुधार हो। और अन्त में उन्होंने भारत के भावी राजनीतिक इतिहास के बारे में भविष्यवाणी करदी थी कि आगे ग्रेट ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध औपनिवेशिक आधार पर स्थापित होंगे। सत्य तो यह है कि अपने आदर्श को शीघ्र पूरा करने के लिए वे इस बात का भी स्वागत करने को तैयार थे कि देश के कुछ भागों में अस्थायी तौर पर कुछ उच्चकोटि की यूरोपीय बस्तियाँ भी स्थापित करदी जायँ। और अन्त में मानवता के इस सन्देशवाहक ने मृत्यु-शैया पर पड़े हुए एक ऐसे स्वतन्त्र, शक्तिशाली तथा प्रबुद्ध भारत की कल्पना की जो एशिया की जातियों को सभ्य तथा प्रबुद्ध बनायगा, और सुदूर पूर्व तथा सुदूर पश्चिम के बीच सुनहरी कड़ी का काम करेगा। उनकी यह कल्पना मानव-जाति के भावी इतिहास के सम्बन्ध में जितनी भविष्यवाणी थी उतनी ही वह भारत के प्राचीन आदर्शों की प्रतीक भी थी।[23]

---

20 सिसमोंदी का लेख *Revenue Encyclopedique* (1824) में छपा है।

21 विधानांग तथा कार्यपालिका के पृथक्करण की धारणा उदारवादी परम्परा का, जिसे राममोहन ने आत्मसात कर लिया था, अंग थी। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे प्रतीत हो कि उन्होंने मौंतेस्का की प्रसिद्ध रचना *Spirit of the Laws* का अध्ययन किया था।

22 राममोहन ने पंचायतों को, जो नष्टप्राय हो रही थीं, पुनर्जीवित करने का समर्थन किया जैसा कि एक शताब्दी उपरान्त गान्धी तथा चितरंजन दास ने किया।

23 ब्रजेन्द्रनाथ सील, "Ram Mohan Roy : The Universal Man," *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume*, भाग 2, पृष्ठ 108-09।

राममोहन आधुनिक मानव थे, और तत्वत: वे नये भारत की पुनर्जाग्रत आत्मा के प्रतीक थे। जब से भारत में विदेशी विजेता आये तव से देश में सांस्कृतिक समन्वय की समस्या चली आयी थी। नानक, कबीर, चैतन्य और जायसी समन्वय के प्रतिपादक थे। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ-साथ सांस्कृतिक संघर्ष की समस्या ने और भी अधिक उग्र रूप धारण कर लिया। राममोहन (1772-1833) तथा रणजीतसिंह (1780-1839) दोनों समसामयिक थे। किन्तु वे भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के दो भिन्न स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करते थे। अपने दुर्दमनीय शूरत्व के बावजूद रणजीतसिंह पुराने जगत के व्यक्ति थे। उनमें प्राचीन भारतीय पराक्रम अधिकाधिक सीमा तक व्यक्त हुआ था। किन्तु राममोहन ने अपने युग के गम्भीरतर नैतिक और आध्यात्मिक तत्वों को भली-भाँति समझा।[24] उन्होंने पूर्वी भारत में व्याप्त अज्ञान, अन्धविश्वास तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अध:पतन के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने एकेश्वरवाद तथा समाज-सुधार के समन्वय के द्वारा अधिक गहरी एकता स्थापित करने पर बल दिया। वे धार्मिक सहिष्णुता तथा सांस्कृतिक परिपालन की भावना के आदर्श उदाहरण थे। अत: यद्यपि परम्परावादी क्षेत्रों में उनकी कटु भर्त्सना की गयी, किन्तु उनका आधुनिक भारत के एक प्रमुख निर्माता तथा भारतीय सभ्यता के विकास की एक कड़ी के रूप में अभिनन्दन किया गया है।

राममोहन राय की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे सार्वभौमता के सन्देशवाहक, स्वतन्त्रता के सभी पक्षों के व्यग्र तथा उत्साही समर्थक और प्रेस की स्वतन्त्रता तथा रैयत के अधिकारों के लिए राजनीतिक आन्दोलनकर्ता थे। अत: वे भारत में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के विकास के नेता हैं। वे तुलनात्मक धर्म के प्रकाण्ड पण्डित और बँगला गद्य-साहित्य तथा बँगला पत्रकारिता के संस्थापक थे।

प्रकरण 2

देवेन्द्रनाथ ठाकुर

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817-1905)[25] सामाजिक दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी अधिक थे। यद्यपि हिन्दू कॉलिज में अपनी तरुणाई के दिनों में उन्होंने लॉक, ह्यूम आदि के अनुभवाश्रित दर्शन का अध्ययन किया था, फिर भी उनकी जन्मजात रुझान रहस्यवादी चिन्तन की ओर अधिक थी। किन्तु वे फेनेलों, फिख्टे और विक्टर कूजाँ की शिक्षाओं की सराहना करते थे। 1841 में देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज में सम्मिलित हो गये[26] वे 1851 में स्थापित 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन' के सचिव भी थे।[27]

1838 में देवेन्द्रनाथ ने सर्वोच्च तथा निर्विकार सत्ता से सम्बन्धित ज्ञान के प्रसार के लिए 'तत्वबोधिनी सभा' की[28] स्थापना की। यह सभा बीस वर्ष तक कार्य करती रही और 1859 में उसे ब्रह्म समाज के साथ संयुक्त कर दिया गया।

यद्यपि देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज के नेता थे, किन्तु वे नैयायिक नहीं थे। काल्विन, नौक्स और ज्विगली की भाँति उनमें प्रचारक का उत्साह नहीं था। धार्मिक प्रचार की अपेक्षा उनकी रुचि व्यक्तिगत आत्मा को प्रदीप्त करने में अधिक थी।

देवेन्द्रनाथ ने मीमांसा के इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से इनकार किया कि वेद अपौरुषेय हैं और इसलिए निरपेक्षता प्रामाणिक हैं। उनकी श्रद्धालु तथा रहस्यवादी आत्मा को वैदिक कर्म-

---

24 इंगलैण्ड में राममोहन राय ने एक बार यूटोपीयन समाजवादी रॉबर्ट ओविन से बातचीत की थी। बातचीत के दौरान प्रकट हुआ था कि राय समाजवादी विचारों से भी परिचित थे। देखिये यू. एन. बाल, *Ram Mohan Roy*, पृष्ठ 334।

25 देवेन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म मई 1817 में हुआ था और 19 जनवरी, 1905 को उनका देहान्त हुआ।

26 देवेन्द्रनाथ ठाकुर, *Autobiography* (मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1914) अंग्रेजी में सत्येन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अनूदित।

27 राजा राधाकान्त देव ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के प्रथम अध्यक्ष थे।

28 सभा एक पत्रिका का भी प्रकाशन करती थी जिसका नाम 'तत्वबोधिनी पत्रिका' था। उसके सम्पादक अक्षय कुमार दत्त (1820-1886) थे। 1844 में देवेन्द्रनाथ ने एक तत्वबोधिनी पाठशाला भी स्थापित की थी।

काण्ड तथा देव विद्या से सन्तोष नहीं मिला। इसके विपरीत, उपनिषदों की गूढ़ शिक्षाओं से उनका मन आह्लाद से ओतप्रोत हो जाता था। उन पर माण्डूक्य उपनिषद के आत्मप्रत्यय की संकल्पना का गहरा प्रभाव पड़ा।[29] ईशोपनिषद में प्रतिपादित ब्रह्म की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त ने भी उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। किन्तु वे उपनिषदों की शिक्षाओं को समग्रत: अंगीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उनमें से उन्होंने कुछ ऐसे अंश चुन लिये जो उनकी अपनी रुचि के अनुकूल थे।[30] उन्होंने अवतारवाद के लोकप्रिय सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया। वे विश्व को माया मात्र मानने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण था कि उन्हें शंकर के निरपेक्ष अद्वैतवाद की कठोरता के बजाय रामानुज की शिक्षाओं में अधिक आत्मीयता की अनुभूति हुई। उन्होंने मोक्ष के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया, किन्तु उनके अनुसार मोक्ष का अर्थ था आध्यात्मिक व्यक्तित्व की विशदता, न कि उसका अनन्त द्रव्य की समग्रता में विलीन हो जाना।

राममोहन की भाँति देवेन्द्रनाथ को भी बहुदेववादी पंथों तथा उनके देवमण्डल से सन्तोष नहीं मिला। उन्होंने अपने हृदय तथा अन्त:करण में सत्य के लिए अति गम्भीर तथा लगातार खोज की। वे कठोर एकत्ववादी थे और अनन्त निर्विकार और अविनाशी परमेश्वर की उपासना का महत्व बार-बार समझाया करते थे।[31] उनका विश्वास था कि परमेश्वर की आराधना उसको प्रसन्न करने वाले कार्यों तथा प्रेम के द्वारा ही की जा सकती है। किन्तु ठाकुर की कुछ रचनाओं में अन्त:-प्रज्ञामूलक द्वैतवादी आस्तिकता की झलक भी मिलती है। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज की मुख्य शिक्षाओं की व्याख्या निम्न प्रकार से की है :

1. आदि में कुछ नहीं था। केवल परब्रह्म की ही सत्ता थी। उसी ने सारे विश्व की सृष्टि की।
2. केवल वही ईश्वर, सत्य, अनन्त ज्ञान, शुभ और शक्ति का आगार, शाश्वत तथा सर्वव्यापी एकल तथा अद्वितीय (एकमेवाद्वितीयम्) है।
3. उसकी आराधना से ही हमें इहलोक तथा परलोक में मुक्ति मिल सकती है।
4. उससे प्रेम करना तथा उसका प्रिय करना, यही उसकी आराधना है।[32]

राममोहन को आशा थी कि ब्रह्म समाज का क्षेत्र सार्वभौम होगा और उसके द्वार समस्त मानव जाति के लिए खुले होंगे। इसके विपरीत देवेन्द्रनाथ अपने युग की सीमाओं को समझते थे, इसलिए वे चाहते थे कि वह केवल हिन्दुओं में अपने कार्यकलाप को केन्द्रित रखें, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि सब जातियों और नस्लों के लोग ब्रह्म समाजी शिक्षाओं के अनुसार ईश्वर की उपासना कर सकते हैं। वे जाति प्रथा की कठोरता को कम करने के पक्ष में थे। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज से ईसाई प्रभावों को दूर करने का प्रयत्न करके अपनी राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया। उन्होंने नये टेस्टामेंट से प्रेरणा नहीं ग्रहण की, उनकी प्रेरणा के स्रोत ईश, केन, कठ तथा माण्डूक्य उपनिषद थे। जब केशवचन्द सेन ने 'समाज' से पृथक होकर 'भारतीय ब्रह्म समाज' की नींव डाली तो देवेन्द्रनाथ ने मुख्य सम्प्रदाय का नाम आदि ब्रह्म समाज रख दिया।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक दार्शनिक तथा रहस्यवादी थे। उनका क्षेत्र चिन्तन था, न कि समाज सेवा। 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में वे शिमला की पहाड़ियों में ध्यानमग्न थे।[33] फिर उन्होंने कुछ वर्ष तक ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के सचिव के रूप में काम किया। इस संस्था का उद्देश्य भारतीयों की वैयक्तिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता का परिवर्धन करना था।

देवेन्द्रनाथ एक महान आध्यात्मिक मानवतावादी थे, उन्हें मनुष्य से प्रेम था और उन्होंने धर्म, आत्मसंयम, प्रेम, उदारता तथा न्याय का उपदेश दिया। उनका विश्वास था कि जो जिज्ञासु ईश्वर के धाम को प्राप्त करना चाहता है और उस दिशा में प्रयत्न करता है उसके सामने प्रगति की असीमता का द्वार खुल जाता है। किन्तु इसके हेतु अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का परित्याग करने की

---

29 माण्डूक्य उपनिषद, श्लोक संख्या 7।
30 देवेन्द्रनाथ ठाकुर, 'ब्रह्म धर्म व्याख्यान'।
31 वही।
32 *Brahmo Dharma Grantha* का परिशिष्ट, *Autobiography* में उद्धृत।
33 *Autobiography*, पृष्ठ 223-47।

आवश्यकता नहीं है; व्यक्ति निर्लिप्त भाव से उनका पालन कर सकता है। "संसार में रहकर और गृहस्थ का जीवन बिताते हुए हृदय की सभी वासनाओं का बहिष्कार करना चाहिए।" आत्मा की वृद्धिमान पवित्रता ही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर मनुष्य को परम ज्योतिर्मय ब्रह्म का दर्शन हो सकता है। "मनुष्य की आत्मा का जीवन, उसकी पवित्रता, उसका ज्ञान और उसका प्रेम सब कुछ परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है।" उनका कथन है, "जो मनुष्य जाति का श्रेय चाहता है उसे दूसरों को आत्मवत ही देखना चाहिए। अपने पड़ोसी से प्रेम करना तुम्हारा कर्तव्य है, क्योंकि जब तुम्हारा पड़ोसी तुमसे प्रेम करता है तो तुम्हें आनन्द मिलता है; और घृणा द्वारा दूसरों को कष्ट मत पहुँचाओ क्योंकि जब तुमसे कोई घृणा करता है तो तुम्हें भी कष्ट होता है। अतः दूसरों के साथ हर विषय में अपने से तुलना करके ही आचरण करो; क्योंकि आनन्द और कष्ट जिस प्रकार तुम्हें प्रभावित करते हैं वैसे ही वे दूसरों को भी प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार के आचरण से मंगल की प्राप्ति की जा सकती है। जो ईश्वर की आराधना करता और उससे प्रेम करता है, वह सन्त है। ऐसे मनुष्य को दूसरों का छिद्रान्वेषण करने में आनन्द नहीं आता, क्योंकि हर मनुष्य उसका प्रेमपात्र होता है। दूसरों के दुर्गुणों को देखकर उसे कष्ट होता है, और वह प्रेमपूर्वक उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। वह मनुष्य से मनुष्य के रूप में प्रेम करता है; और उस प्रेम के कारण ही उसे दूसरों के गुणों को देखकर प्रसन्नता और अवगुणों से दुःख होता है। इसलिए वह दूसरों के दुर्गुणों का ढिंढोरा पीटकर प्रसन्न नहीं हो सकता। अन्तरात्मा की तुष्टि अथवा शुभ अन्तःकरण धर्माचरण का निश्चित फल है। अन्तःकरण की इस स्वीकृति में भी ईश्वर की स्वीकृति की अनुभूति होती है। अन्तरात्मा के सन्तुष्ट हो जाने पर सभी कष्ट दूर हो जाते हैं। धर्माचरण के बिना अन्तरात्मा को कभी सन्तोष नहीं मिल सकता। सांसारिक सुखों के भोग से मन को आनन्द मिल सकता है, किन्तु अन्तःकरण के विकारग्रस्त होने पर सांसारिक सुखों का अतिरेक भी निरर्थक हो जाता है। अतः धर्माचरण के द्वारा तुम अपने अन्तःकरण को शुद्ध रखो, और उन सब वस्तुओं का परित्याग कर दो जिनसे आत्मा की तुष्टि में बाधा पड़ती हो।"[34] आत्मा के प्रदीपन तथा शुद्धीकरण से परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। ईश्वर की प्राप्ति का माध्यम होने में ही मनुष्य के जीवन की महान सार्थकता है। परमेश्वर मनुष्य के हृदय में विराजमान है, वह अन्तर्यामी है। इस प्रकार, आत्मा के प्रति श्रद्धाभाव पर बल देकर और उत्कृष्ट नैतिक गुणों से विभूषित वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत करके देवेन्द्रनाथ ने भारतीय चिन्तन में भक्तिमूलक आध्यात्मिक मानवतावाद के दर्शन को समाविष्ट करा दिया। भारतीय चिन्तन को यह उनकी विशिष्ट देन है। उन्होंने परमेश्वर की आध्यात्मिक उपासना के प्राचीन सन्देश का आधुनिक बुद्धिवाद तथा प्रबुद्धता की मानवतावादी प्रवृत्तियों के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया और यही चीज आगे चलकर नैतिकतोन्मुखी सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन के निर्माण की भूमिका बन गयी।

प्रकरण 3

केशवचन्द्र सेन

1. प्रस्तावना

ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन (1838-1884) उत्प्रेरित वक्ता तथा लेखक थे।[35] वे कदाचित 20 वर्ष के भी न होने पाये थे कि ब्रह्म समाज आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। उनका मार्ग समन्वय तथा समझौते का मार्ग था। वे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के ही सांस्कृतिक महत्व को समझते थे। उन्होंने रीड, हेमिल्टन तथा विक्टर कूज़ाँ की रचनाओं का अध्ययन किया था और उनके व्यक्तित्व में पूर्व तथा पश्चिम का समन्वय था। अतः विश्व के धर्मों के अध्ययन में उन्होंने उदार दृष्टिकोण से काम लिया। कैथोलिकों की भाँति उन्होंने पश्चात्ताप की विधि की आध्यात्मिक उपादेयता पर बल दिया; और वे ब्रह्म समाज

---

34 "Farewell Offering of Devendra Nath Tagore," *Autobiography*, पृष्ठ 292-93।

35 केशवचन्द्र सेन का जन्म 19 नवम्बर, 1838 को हुआ था और 8 जनवरी, 1884 को अल्पायु में ही उनका देहान्त हो गया। पी. सी. मजूमदार, *The Life and Teachings of Keshav Chandra Sen*, प्रथम संस्करण (कलकत्ता, 1882), तृतीय संस्करण (नव विधान ट्रस्ट कलकत्ता, 1931)।

के सिद्धान्तों में पाप तथा कष्ट सहन की धारणाओं का समावेश करना चाहते थे। राममोहन राय तथा दयानन्द सरस्वती की भाँति सेन के मन में भी समाज-सुधार के लिए ज्वलन्त उत्साह था।

11 नवम्बर, 1866 को केवल 28 वर्ष की आयु में केशव ने कलकत्ता समाज अथवा आदि ब्रह्म समाज से पृथक भारतीय ब्रह्म समाज (ब्रह्म समाज आव इण्डिया) की स्थापना की। 25 जनवरी, 1880 को उन्होंने नव विधान की घोषणा की,[36] और 15 मार्च, 1881 को नव विधान के सन्देशवाहकों को दीक्षित किया गया। जिस प्रकार राममोहन राय के ब्रह्म समाज के विरोध में केशव ने भारतीय ब्रह्म समाज स्थापित किया और नव विधान की घोषणा की वैसे ही केशव की धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध 1878 में साधारण ब्रह्म समाज का संगठन किया गया। साधारण शब्द इस बात का प्रतीक था कि समाज के शासन की धर्म तांत्रिक पद्धति का अधिक समतावादी लोकतांत्रिक प्रणाली की ओर संक्रमण हो रहा था। पृथक होने वाले इस गुट में आनन्द मोहन बोस, शिवचन्द्र देव, उमेशचन्द्र दत्त, तथा शिवनाथ शास्त्री प्रमुख व्यक्ति थे।[37] इस पृथक्करण का तात्कालिक कारण केशव की पुत्री का कूच विहार के महाराजा के साथ विवाह था। यह विवाह अंतर्जातीय था, और उसमें मूर्ति-पूजा के ढंग के कुछ अनुष्ठानों का भी प्रयोग किया गया था। 22 मार्च, 1878 को ब्रह्म समाज के सदस्यों की एक बड़ी सभा ने केशवचन्द्र के धार्मिक नेतृत्व में अविश्वास प्रकट किया।

1870 में केशवचन्द्र इंगलैण्ड गये और मार्च 21, 1870 से 7 सितम्बर, 1870 तक वहाँ रहे। वहाँ उन्होंने अपनी भव्य वक्तृता द्वारा लोगों पर गहरा प्रभाव डाला। विक्टोरिया ने उनसे स्वयं भेंट करके उन्हें अनुग्रहीत किया। शास्त्री लिखते हैं: "उन्होंने तत्कालीन प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन के साथ कलेवा किया। उन्होंने दो व्याख्यान दिये, एक भारत के प्रति इगलैण्ड के कर्तव्यों पर और दूसरा 'ईसा तथा ईसाइयत' पर। पहला व्याख्यान लार्ड लौरेंस की अध्यक्षता में रेवरेंड चार्ल्स सर्जन के मेट्रोपौलिटन टैवरनेकल में हुआ। उसमें उन्होंने भारत के आंग्ल-भारतीय शासकों के कुछ दोषों पर प्रकाश डाला, जिससे वहाँ का आंग्ल-भारतीय समुदाय बहुत अप्रसन्न हुआ। दूसरा व्याख्यान सैंट जेम्स हॉल में 28 मई को हुआ, उसकी श्रोताओं ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसमें भी सेन ने ईसा मसीह के ध्येय पर अपने विचार व्यक्त किये और इंजीलों के ईसा तथा ईसाई चर्च के ईसा में अन्तर बतलाया और कहा कि चर्च के ईसा की तुलना में इंजीलों के ईसा कहीं श्रेष्ठ हैं।"

केशवचन्द्र का जीवन उच्च आदर्शों तथा शुभ संकल्पों से अनुप्राणित था। उन्होंने पवित्रता तथा धर्मपरायणता का उपदेश दिया। उन्होंने बंगाल के सामाजिक तथा नैतिक पुनरुत्थान को महान प्रेरणा तथा गति प्रदान की, और स्त्रियों के उद्धार में उनका स्थान अग्रगण्य व्यक्तियों में था।

2. केशवचन्द्र के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार

केशवचन्द्र धार्मिक ऐक्य में विश्वास करते तथा सब धर्मों के अच्छे तत्त्वों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहते थे। अपने श्लोक-संग्रह (1866) में उन्होंने बाइबिल, जैंद अवेस्ता तथा कुरान के उद्धरण सम्मिलित किये। केशव पर ईसाइयत का राममोहन से भी अधिक प्रभाव पड़ा।[38] राममोहन को केवल ईसाइयत के एकेश्वरवाद तथा आचार-शास्त्र ने प्रभावित किया था, किन्तु केशव ने नव विधान की घोषणा के बाद अपने धर्म संघ में ईसाइयों की बपतिस्मा तथा प्रभु की व्यालू (लार्ड्स सपर) आदि अनुष्ठानों को भी समाविष्ट कर लिया।[39]

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में, सम्भवतः रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव के कारण (उनसे

---

36 नव विधान धर्मो के समन्वय का द्योतक था। केशवचन्द्र सेन के समाज में प्रतापचन्द्र मजूमदार का महत्वपूर्ण स्थान था। *The Indian Mirror* इस समाज का साहित्यिक मुखपत्र था।

37 आगे चलकर के. जी. गुप्त, शशिपद बनर्जी और डा. पी. के. रे आदि भी उसमें सम्मिलित हो गये।

38 केशवचन्द सेन का 'श्लोक-संग्रह'। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, "Keshav Chandra Sen," *Speeches of Surendra Nath Banerjee* (1876-84) जिल्द 2 (एम. के. लाहिडी एण्ड कम्पनी कलकत्ता, 1891), पृष्ठ 30-36। बनर्जी सेन को उन शक्तियों का मूर्तरूप मानते थे जिनका अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारत में प्रवेश हो चुका था।

39 मणिलाल सी. पारिख, *Brahmarishi Keshav Chandra Sen* (ओरियंटल क्राइस्ट हाउस, राजकोट, 1926)। केशवचन्द्र के व्याख्यान, "India asks, who is Christ ?" "Jesus Christ, Europe and Asia" (1866) और "Am I an Inspired Prophet ?" (1879)।

केशव की भेंट 1875 में हुई थी), केशव ने अपने कुछ ईसाइयत की ओर झुकाने वाले पूर्वाग्रहों को त्याग दिया, और हिन्दू योग की आत्मगत वेदान्ती विधियों की ओर अधिक झुक गये ।[40]

केशव को हैमिल्टन आदि स्कॉटिश सम्प्रदाय के नैतिक दार्शनिकों का भी ज्ञान था । उनके विचार उन जर्मन तत्वज्ञानियों तथा समाजशास्त्रियों के दर्शन के समान थे जिन्होंने आदि शक्ति की धारणा का प्रतिपादन किया था । केशव ईश्वर को सृजनात्मक शक्ति भी कहा करते थे,[41] और ईश्वर-शक्ति शब्द का प्रयोग किया करते थे ।[42] उन्होंने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में प्रयोजनवादी तर्क को भी स्वीकार किया । उनका कहना था कि विश्व की डिजाइन, उसकी उच्चकोटि की समरूपता, निरन्तर चल रही अनुकूलन की प्रक्रिया तथा पद्धति सभी ऐसे लक्षण हैं जो विश्व के रचयिता की सत्ता का विश्वास दिलाते हैं ।[43] उन्होंने दैवी इच्छा का पालन करने का भी उपदेश दिया ।[44]

3. केशवचन्द्र सेन के सामाजिक विचार

इंगलैण्ड से लौटने के बाद केशवचन्द्र सेन ने भारत के सामाजिक तथा नैतिक सुधार के लिए इण्डियन रिफॉर्म एसोसिएशन (भारतीय सुधार संघ) नाम की संस्था स्थापित की । संघ की पाँच प्रकार की कार्यवाहियों से सम्बन्धित पाँच शाखाएँ थीं—(1) स्त्री-सुधार, (2) शिक्षा, (3) सस्ता साहित्य, (4) मद्य निषेध, तथा (5) दान ।

देवेन्द्रनाथ उपनिषदों के 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' (सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है) के सिद्धान्त से ओत-प्रोत थे और आत्मा के प्रदीपन को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते थे, किन्तु इसके विपरीत केशव पर ईसाई सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव था । एक अर्थ में वे लौटकर राममोहन की समाज-सुधार की परम्परा में ही फिर पहुँच गये । किन्तु राममोहन उद्वेगशून्य तथा आलोचनात्मक प्रवृत्ति के बुद्धिवादी थे, इसके विपरीत केशव में गहरी भक्ति भावना थी ।[45] विजय कृष्ण गोस्वामी के सहयोग से उन्होंने नव विधान समाज में वैष्णवों के वाद्य यन्त्रों को भी समाविष्ट कर लिया । उनके व्यक्तित्व में रहस्य-वाद, भक्ति भावना तथा सामाजिक सुधार और मुक्ति के लिए आवेशपूर्ण उत्साह का समवन्य था ।

केशवचन्द्र सुधारक थे । उन्हें हिन्दू समाज की अवनति, अध:पतन और भ्रष्टता को देखकर भारी दुःख होता था । उनका विश्वास था कि समाज की इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व उस पुरोहित वर्ग की कुटिल चालों पर था जो जनता को अज्ञान तथा अन्धविश्वास में डाले रहने के लिए दीर्घ काल से प्रयत्न करता आया था और जिसने अगणित देवी-देवताओं से सम्पर्क में होने का दावा करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था । केशव ने जाति-प्रथा की भर्त्सना की और स्त्रियों की उच्च शिक्षा का समर्थन किया । उनके निरन्तर प्रयत्नों के कारण ही 1872 का अधिनियम 3, जिसने ब्रह्म समाजी पद्धति के विवाहों को वैध मान लिया, पारित हो सका था ।

4. केशवचन्द्र के राजनीतिक विचार

केशवचन्द्र सेन का विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश शासन अत्यन्त गम्भीर सामाजिक तथा नैतिक संकट की घड़ी में उदित हुआ था । विदेशी आक्रमणकारियों के आने के साथ-साथ भारत के अध.पतन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी वह अविकल रूप से चलती आयी थी और वातावरण में घोर निराशा छा गयी थी । समय भारी संकट का था । अंग्रेज भारत के राजनीतिक मंच पर एक निर्णायक घड़ी में प्रकट हुए, क्योंकि व्यक्तिगत अंग्रेजों की कर्म तथा आकर्मण्यता सम्बन्धी भूलों के

---

40 केशवचन्द्र सेन, *Yoga, Objective and Subjective*, *Brahmagitoapnishad* और 'सेवकेर निवेदन' । रोमैं रोलाँ, *Life of Ram Krishna* (अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, चतुर्थ संस्करण, 1936) पृष्ठ 268-89 । जी. सी. बनर्जी ने अपना पुस्तक *Keshav Chandra and Ram Krishna* (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1931) में बड़े आवेश के साथ इस मत का खण्डन किया है कि केशव पर रामकृष्ण का प्रभाव पड़ा था ।

41 केशवचन्द्र सेन को *Jivana Veda or the Scripture of Life* उनकी आध्यात्मिक आत्मकथा है ।

42 केशवचन्द्र सेन, "God-Vision in the Nineteenth Century," *Lectures in India*" पृष्ठ 390 : "मै इस रहस्यात्मक आदि शक्ति को जो सभी गोण शक्तियो में निहित है बिना संकोच के ईश्वर-शक्ति का नाम देता हूँ ।"

43 *Lectures in India* (1954 का संस्करण) पृष्ठ 40 ।

44 केशवचन्द्र सेन, 'ब्रह्मधर्मेर अनुष्ठान धर्म साधना' ।

45 केशवचन्द्र का व्याख्यान "Behold the Light of Heaven in India" (1875) ।

बावजूद ब्रिटेन द्वारा देश की विजय अनेक बौद्धिक तथा नैतिक उपलब्धियों की भूमिका सिद्ध हुई थी। इसीलिए केशवचन्द्र ने अपने 'इंगलैण्ड तथा भारत' शीर्षक व्याख्यान में कहा कि अंग्रेजों के साथ सम्पर्क एक दैवी विधान है। उनके शब्द थे : "तथापि भारत के साथ इंगलैण्ड का सम्पर्क विधि का विधान था, कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यदि हम सतह के नीचे देखने का प्रयत्न करें तो हमें निश्चय ही सर्वत्र ईश्वर की विवेकपूर्ण तथा कल्याणकारी व्यवस्था ही दृष्टिगोचर होगी। मैं श्रद्धापूर्वक विश्वास करता हूँ कि इस देश की सहायता करने के निश्चित उद्देश्य से ही अंग्रेजों को यहाँ आने तथा शासन करने का आदेश दिया गया था। वह दैवी उद्देश्य अविचल रूप से पूरा किया गया है, बावजूद उन मानवीय भूलों और दुराचार के जो हमें प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जैसे ही अंग्रेजी मन की प्रकृति का भारतीय मन से सम्पर्क हुआ वैसे ही एक महान क्रान्ति फूट पड़ी। देशी समाज केन्द्र तक हिल गया ; भारतीय जीवन के सभी क्षेत्र आन्दोलित हो गये, मानो किसी रहस्यमयी शक्ति ने उन्हें झकझोर दिया हो। फलस्वरूप राजनीतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में द्रुत गति से एक के बाद एक अनेक सुधार किये गये।"[46] केशव के मतानुसार भारत में अंग्रेजी शासक ईश्वर के दूतों के सदृश थे जिन्होंने देश को अज्ञान तथा अन्धविश्वास से मुक्त कर दिया था। इसीलिए उन्होंने ब्रिटेन के प्रति भक्ति का समर्थन किया। अपने 'न्यू डिस्पेंसेशन न्यूज-पेपर' के पहले ही अंक में केशव ने मनुस्मृति का स्मरण दिलाने वाली भाषा में घोषणा की कि लौकिक प्रभु ईश्वर का प्रतिनिधि होता है, और इसलिए भक्ति तथा श्रद्धांजलि का अधिकारी होता है। उन्होंने कहा कि राजद्रोह राजनीतिक अपराध ही नहीं है, वरन ईश्वर के विरुद्ध पाप है। राज-द्रोह इतिहास में ईश्वर की सत्ता से इनकार करने के समान है। केशव भावुक तो थे ही, इसलिए यहाँ तक कह गये कि "हम अपनी रानी को अपनी माता के सदृश प्रेम करते हैं।" सम्भवत: केशव की इस धारणा ने कि ब्रिटिश सम्पर्क के मूल में ईश्वरीय प्रयोजन तथा आदेश है रानाडे को प्रभा-वित किया, और रानाडे से इस विचार को फीरोजशाह मेहता, गोखले आदि ने ग्रहण कर लिया।

हेगेल की भाँति केशवचन्द्र ने यह भी स्वीकार किया कि महापुरुष अपने युग की शक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। वे अपने विचारों को ठोस वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिए जीवन धारणा करते तथा मरते हैं। वे तब तक सन्तोष करके नहीं बैठते जब तक कि उनके चित्तगत विचार वस्तु-गत ठोस वास्तविकता का रूप धारण नहीं कर लेते। भगवद्गीता में प्रतिपादित विभूति के प्रत्यय-स्मरण कराने वाले शब्दों में केशव ने महापुरुषों को 'शाश्वत ज्योति की विशिष्ट रूप से देदीप्यमान अभिव्यक्ति' बतलाया। महापुरुष प्रकृति के अर्थतन्त्र की किसी माँग को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं और ब्रह्माण्ड के शासन के नैतिक बल को व्यक्त करते हैं। अपने प्रारम्भिक जीवन में केशव ने इमर्सन तथा कार्लाइल की रचनाओं को पढ़ा था, और सम्भव है कि वे कार्लाइल के अतिमानव के सिद्धान्त से परिचित थे। उन्होंने लिखा : "वे (महापुरुष) समाज की संक्रमण की दशा के द्योतक होते हैं और राष्ट्रों के जीवन में मोड़ बिन्दु का काम करते हैं। उनके जीवन के साथ पहले का युग समाप्त होता और नया युग जन्म लेता है। विधि के स्थापित अर्थतन्त्र में वे मनुष्य जाति की अति आवश्यक माँगों की पूर्ति के लिए विशिष्ट विधानों का काम करते हैं। इसलिए उनका अवतार आकस्मिक घटना नहीं होता बल्कि एक व्यवस्थित और शाश्वत नियामक का परिणाम हुआ करता है। उनका जन्म एक गहरी और दुर्दमनीय नैतिक आवश्यकता का फल होता है। जहाँ कहीं और जब कहीं असाधारण परिस्थितियाँ एक महापुरुष की माँग करती हैं तभी उस माँग का दबाव उसे बलात घसीट लाता है। ईश्वर के नैतिक शासन में अभाव की अनुभूति होते ही आवश्यक वस्तु की प्राप्ति हो जाती है।[47] महापुरुष किसी सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उदित होता है। वह राष्ट्रों को शान्ति और मुक्ति का सन्देश देता है और महापुरुष की विशिष्ट होतव्यता "किसी एक विचार के लिए जीना तथा मरना"[48] हुआ करती है। केशव ने बतलाया कि महापुरुषों के

---

46 केशवचन्द्र सेन, "England in India" (फरवरी 1870 में दिया गया एक भाषण) *Lectures in India*, पृष्ठ 127।
47 *Lectures in India*, पृष्ठ 51।
48 वही, पृष्ठ 55।

चार तात्विक चारित्रिक गुण होते हैं—स्वार्थ का अभाव, सच्चाई, बुद्धि की मौलिकता तथा अति-मानवीय शक्ति।[49]

केशवचन्द्र को स्वतन्त्रता से जन्मजात प्रेम था और अपने 'जीवन वेद' में उन्होंने स्वतन्त्रता के गौरव का पटुतापूर्वक बखान किया है। वे पराधीनता को पाप तथा ईश्वर के प्रति शत्रुता समझते थे। उनका कहना था कि स्वतन्त्रता "वैसी ही शाश्वत है जैसी कि चट्टानें।" 1880 में उन्होंने जिस नव विधान की घोषणा की उसकी उत्पत्ति स्वतन्त्रता की खोज से ही हुई थी। उनका कथन था कि स्वतन्त्रता ही पूर्वाग्रह तथा अज्ञान का प्रतिकार कर सकती है। दासता, चाहे मनुष्यों की हो और चाहे ग्रन्थों की, हर दशा में पाप है। इसलिए केशव ने मूर्तिपूजा तथा जाति-प्रथा का विरोध किया और ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास रखने का उपदेश दिया। किन्तु उनका कहना था कि स्वतन्त्रता का अर्थ घमण्ड, मिथ्याभिमान और स्वेच्छाचार नहीं है। अतः ईश्वर का भक्त होने के नाते उन्होंने ईश्वर-निर्भरता को पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति का एकमात्र साधन माना।[50]

केशव सामाजिक स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक थे।[51] उनके विचार में वह युग प्रबुद्धता का युग था जब समीक्षात्मक बुद्धि की कसौटी को जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया जा रहा था। उनके 'सुलभ समाचार' का प्रकाशन सार्वजनिक शिक्षा को लोकप्रिय बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण आगे का कदम था।[52] वे समकालीन युग की प्रवृत्तियों को समझते थे। उन्होंने अपने 'भावी धर्म संघ' शीर्षक व्याख्यान में कहा : "स्वतन्त्रता का प्रेम वर्तमान युग का मुख्य लक्षण है। यह बात एकदम स्पष्ट हो जायगी यदि हम अपने को बधाई देने की शेखीभरी प्रवृत्ति पर ध्यान दें जिसके वशीभूत होकर लोग कहा करते हैं कि हम उन्नीसवीं शताब्दी में रह रहे हैं। स्वतन्त्रता की आकांक्षा और हर प्रकार की दासता से घृणा वर्तमान युग की भावना में इस पूर्णता के साथ व्याप्त है कि उनकी अभिव्यक्ति इस शताब्दी के नाम में ही हो रही है, और इसीलिए यह शताब्दी प्रधानतः तथा निश्चय रूप से स्वतन्त्रता के युग के रूप में प्रसिद्ध हो गयी है। स्वतन्त्रता का यह प्रेम चिन्तन तथा आचरण हर क्षेत्र में व्यक्त हो रहा है। राजनीति में लोग ऐसी शासन-प्रणाली की आकांक्षा करने लगे हैं जिसके अन्तर्गत समाज के हर अंग को समुचित और पूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, सम्पूर्ण सभ्य विश्व में आवाज उठायी जा रही है कि जनता को ज्ञान का प्रकाश दो और उसे अज्ञान के बन्धन से मुक्त करो। सामाजिक जीवन में परम्परा, रूढ़ि और परिपाटी के बन्धनों को तोड़ने के लिए सच्चे हृदय से संघर्ष किया जा रहा है। धर्म के क्षेत्र में आत्मा को आत्म-निर्णय का अधिकार देने की बलवती इच्छा का प्रभाव दिखायी दे रहा है। स्वतन्त्रता के प्रेम ने पुराने सिद्धान्तों और मतवादों में लोगों की आस्था को विचलित कर दिया है, और सत्ता के प्रति उनके सम्मान की भावना को झकझोर दिया है। उसने मनुष्यों में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया है कि अत्यधिक निर्भीक और स्वतन्त्र अनुसन्धान से कम कोई चीज उन्हें सत्य तक पहुँचने में सहायता नहीं दे सकती।"[53] स्वतन्त्रता का सही मूल्यांकन व्यक्ति तथा राष्ट्र को अनुप्राणित कर सकता है। केशव स्वतन्त्रता को लगभग एक आध्यात्मिक मूल्य मानते थे और उनकी माँग थी कि भारत की प्राचीन आध्यात्मिक विरासत की कपटपूर्ण भौतिकवाद तथा उपयोगितावादी वास्तववाद से रक्षा करनी है। अतः देश को केशव का सन्देश था : "राष्ट्र की दासताग्रस्त आत्मा को स्वतन्त्रतापूर्वक उठकर तथा सचेष्ट होकर उच्चतर जीवन के पवित्र कार्यकलाप में संलग्न हो जाना चाहिए।"[54]

केशव उन सांविधानिक तथा सामाजिक प्रयोगों से परिचित थे जो उस समय यूरोप में किये

---

49 केशवचन्द्र सेन, "Great Men", *Lectures in India*, पृष्ठ 55-58।

50 पी. सी. मजूमदार की पुस्तक *Life and Teaching of Keshav Chandra Sen* में 'जीवन वेद' के उद्धरणों के अनुवाद, पृष्ठ 327-66।

51 केशवचन्द्र सेन की प्रारम्भिक पुस्तक *Young Bengal, This is for You.*

52 सीतानाथ तत्वभूषण, *The Philosophy of Brahmoism*, पृष्ठ 30।

53 केशवचन्द्र सेन, "The Future Church" (23 जनवरी, 1869 को दिया गया एक भाषण)। *Lectures in India*, पृष्ठ 99।

54 *Lectures in India*, पृष्ठ 39।

जा रहे थे। यद्यपि उन्होंने उन बातों का भारत के लिए खुलकर समर्थन नहीं किया फिर भी अपने भाषणों में उन्होंने उनका समय-समय पर जो उल्लेख किया उसी से उन बातों के उत्साहपूर्ण स्वागत के लिए धीरे-धीरे भावना उत्पन्न हुई, चाहे उस समय वह कितनी ही धुँधली क्यों न रही हो। अपने 'यूरोप को एशिया का सन्देश' शीर्षक व्याख्यान में उन्होंने घोषणा की : "पश्चिम के उन्नत राष्ट्रों में आधुनिक राजनीति की प्रवृत्ति किसी को वहिष्कृत करने की नहीं, वल्कि सबको सम्मिलित करने की है, किसी वर्ग को नष्ट अथवा उपेक्षित करने की नहीं वरन सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करने की है। शासन का सर्वोच्च रूप अत्यधिक व्यापक और पूर्ण प्रतिनिधित्व का पर्याय वन गया है। आप निरन्तर मताधिकार का विस्तार करते जा रहे हैं। आज आप हजारों को मताधिकार में सम्मिलित करते हैं, कल दसियों हजार को और अगले दिन दसियों लाख को, जव तक कि जनता के निम्नतम और दीनतम अंग सम्मिलित नहीं हो जाते। यदि आपके यहाँ सुशासन का प्रतिविम्व भी है, यदि आप वास्तविक राजनीतिक समृद्धि की परवाह करते हैं तो निश्चय ही आप निम्नतर वर्गों की अवहेलना नहीं कर सकते; आप उनकी दरिद्रता के कारण उन्हें मिटा नहीं सकते, उनके अज्ञान के कारण आप उन्हें कुचलकर धूल में नहीं मिला सकते। सर्वत्र न्याय के लिए पुकार हो रही है—दुर्वलों तथा शक्तिहीनों के लिए न्याय, श्रमिक वर्ग के लिए न्याय। उस पुकार को न सुनने का अर्थ होगा विनाश को निमन्त्रण देना।"[55]

केशव का हृदय उदार तथा विशाल था और उन्हें ईश्वर के सभी प्राणियों से प्रेम था। अपने 'जीवन वेद' में उन्होंने कहा : "……मेरा स्वभाव गरीव जाति के लोगों का स्वभाव है, मेरा शरीर गरीव आदमी का शरीर है।"[56] किन्तु वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि धनी लोग मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते और धर्म केवल झोंपड़ियों तथा कुटियों में ही फलता-फूलता है। उनके नव विधान में धनी और दरिद्र दोनों का ही सम्मान करने का उपदेश दिया गया था, क्योंकि उनके मतानुसार ईश्वर धनिकों के प्रासादों तथा गरीवों की झोंपड़ियों में समान रूप में निवास करता रहता है।

केशवचन्द्र ने अपने समन्वयात्मक सार्वभौमवाद के अनुरूप राज्य के सम्वन्ध में एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो प्रत्ययवाद के वहुत निकट था। उन्होंने कहा कि राज्य एक जटिल ढाँचा तथा विभिन्न प्रकार के अंगों की अवयवी एकता है। उसका उद्देश्य एक सार्वलौकिक साध्य की सामंजस्यपूर्ण प्राप्ति है। धनी कुलीनों तथा पूँजीपतियों और दरिद्र किसानों तथा श्रमिकों के मेल से राज्य के अवयवी समग्र का निर्माण होता है। किसी एक वर्ग को वहिष्कृत करने से राज्य प्रभावहीन हो जायगा। केशव के शब्दों में 'दृढ़ीकृत साहचर्य की पूर्णता'[57] ही राज्य है। अतः राज्य-व्यवस्था में पृथकत्व, साम्प्रदायिक संकीर्णता तथा पारस्परिक घृणा की नीति के लिए स्थान नहीं हो सकता। किन्तु राज्य के सम्बन्ध में अवयवी, वल्कि लगभग प्रत्ययवादी सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी केशव राजकीय निरंकुशवाद के पक्षपोषक नहीं थे। अन्तरराष्ट्रीय मैत्री के आदर्श से वे अनुप्राणित थे, और उन्होंने उच्च स्वर में घोषणा की : "सभ्य जगत में 'शक्ति का सन्तुलन' क्या ही आश्चर्यजनक वस्तु है।"[58] उनके अनुसार धर्म की सच्ची भावना की माँग थी कि 'अन्तरराष्ट्रीय मैत्री'[59] के वन्धनों को सुदृढ़ वनाया जाय।

5. निष्कर्ष

यद्यपि केशव पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे, फिर भी उन्होंने अपने भाषणों, प्रवचनों, उपदेशों तथा ग्रन्थों के द्वारा वंगाल की सामाजिक तथा नैतिक मुक्ति में महत्वपूर्ण योग दिया। उनकी वुद्धि व्यापक तथा उदार थी, इसीलिए उन्होंने समन्वय का पक्ष लिया। उन्होंने अनुभव किया कि अपने अनुसन्धानों द्वारा विज्ञान एकता के आदर्श की स्वीकृति के लिए आधार

---

55 "Asia's Message to Europe," *Lectures in India*, पृष्ठ 507।
56 *Jivan Veda*, पी. सी. मजूमदार, *Life and Teaching*, पृष्ठ 353।
57 केशवचन्द्र सेन, "Asia's Massage to Europe," *Lectures on India*, पृष्ठ 506।
58 वही।
59 वही।

तैयार कर रहा है, और सब धार्मिक प्रयत्नों का भी यही उद्देश्य है।[60] वे एशिया तथा पश्चिम की आत्मा का समन्वय चाहते थे, क्योंकि उनके विचार में प्रेम तथा शान्ति का एक सार्वभौम धर्म संघ ही पीड़ित मानवता को मुक्ति दिला सकता था। उन्होंने भारतीय जीवन में ईसाई मूल्यों को समाविष्ट करने पर बल दिया। वे धार्मिक सार्वभौमवाद के सन्देशवाहक थे[61] और सभी धर्मों को दैवी सत्य का उद्घाटन मानते थे। प्रारम्भ में वे एक प्रकार के सैद्धान्तिक धार्मिक सार्वभौमवाद के समर्थक थे जिसमें उन्होंने विभिन्न धर्मों के सर्वोत्तम तत्वों को सम्मिलित कर लिया था, जैसे उपनिषदों का एकेश्वरवाद, इस्लाम का समता का आदर्श और ईसाइयत की मनुष्य के पुत्रत्व और ईश्वर के पितृत्व की धारणा। किन्तु आध्यात्मिक अनुभव के परिपक्व होने के साथ-साथ वे सैद्धान्तिक सार्वभौमवाद से एक कदम आगे बढ़ गये। उन्होंने कहा, "हमारी मान्यता यह नहीं है कि हर धर्म में सत्य है, बल्कि हमारे विचार में तो हर धर्म सत्य है।" अपने नव विधान में उन्होंने विभिन्न धर्मों के तत्वज्ञान और देवशास्त्र को ही समाविष्ट नहीं कर लिया बल्कि उनके वास्तविक इतिहास और प्रतीकवाद के भी अधिकांश को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार, केशवचन्द्र ठोस धार्मिक समन्वय और सार्वभौमवाद के सन्देशवाहक बन गये। उन्होंने परोक्ष रूप से आधारभूत धार्मिक सत्यों की स्वीकृति पर आधारित अन्योन्याश्रित अवयवी मानव मैत्री के आदर्श का भी समर्थन किया।

केशवचन्द्र की उत्कट अभिलाषा थी कि लोगों की धार्मिक भावना को तेजी से सजीव और सचेत किया जाय, इसलिए वे अपने व्यापक सुधार के कार्यक्रम को धार्मिक पुनर्जागरण पर आधारित रखना चाहते थे। उन्होंने समाज-सुधार का समर्थन किया और वे स्वतन्त्रता के महान पक्षपोषक थे। उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया कि राष्ट्रों के विकास के लिए महान प्रयास तथा निरन्तर तैयारी की आवश्यकता होती है।

चितरंजनदास के शब्दों में, "केशव उत्कट राष्ट्रवादी, उत्कट समाज-सुधारक और उत्कट ईश्वर-भक्त थे।" आस्तिकता के आदर्शों और धार्मिक सार्वभौमवाद के भक्त होने के साथ-साथ वे स्वतन्त्रता के मूल्य को भी भलीभाँति समझते थे। उन्होंने 1870 में इंगलैण्ड में अपने भाषणों में अपनी जनता के लिए न्याय की माँग की और अंग्रेजों से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि वे भारत के न्यासधारी (ट्रस्टी) थे। उनके शब्द थे : "भारत तुम्हारे अधिकार में धरोहर के रूप में है।"[62] वे भारत की सम्पत्ति का इंगलैण्ड के लिए तथा उसकी शक्ति और धन की वृद्धि के हेतु प्रयोग करने के विरुद्ध थे। उन्होंने अंग्रेज श्रोताओं को स्मरण दिलाया कि एक ईश्वर है जिसके समक्ष तुम्हें अपने पापों का हिसाब चुकाना पड़ेगा। भारत में ब्रिटिश शासन का औचित्य केवल "भारत की भलाई और कल्याण का हो सकता है। भारत पर मैनचेस्टर की भलाई के लिए अधिकार नहीं रखा जा सकता।"[63] अतः कहा जा सकता है कि केशवचन्द्र सेन के विचारों ने भारतीय राष्ट्रवाद के राजनीतिक दर्शन को बल प्रदान किया।

प्रकरण 4
ब्रह्म समाज का दाय

ब्रह्म समाज कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं था, किन्तु उसके बुद्धिवाद, उसके सार्वभौमवाद, उसके मानव धर्म के विचार तथा उसके पूर्व तथा पश्चिम के समन्वय के आदर्श ने भावी राष्ट्रीय आन्दोलनों की बौद्धिक नींव तैयार कर दी। ब्रह्म समाज गम्भीर व्यक्तिवादी विरोध आन्दोलन था, वह पतन की ओर ले जाने वाली और बर्बर बनाने वाली रूढ़ियों के विरुद्ध वैयक्तिक बुद्धि, हृदय तथा अन्तःकरण के उदय का द्योतक था। अतः उसकी तुलना यूरोप के बुद्धिवादी जागरण तथा स्वतन्त्र चिन्तन के आन्दोलनों से की जा सकती है।

---

60 1870 में फिसबरी चैपल में किये गये अपने एक भाषण में केशव ने इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली तथा अन्य राष्ट्रों से कहा है कि "युद्ध के मानव की हत्या कर दीजिए और शान्ति तथा सद्भावना का परिवर्धन कीजिए।"

61 टी. एल. वासवानी, "A Prophet of Harmony," *My Motherland*, पृष्ठ 96-103।

62 चितरंजन दास की *Speeches* में उद्धृत, पृष्ठ 212-13।

63 वही।

किन्तु समाज स्वयं हिन्दू समाज में अपनी जड़ें न जमा सका। उसने सब धर्मों की अच्छी लगने वाली चीजों को ग्रहण करने की नीति अपनायी, उसका दृष्टिकोण कठोर एकेश्वरवादी था। उसने हिन्दुओं के बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा की शत्रुतापूर्ण भर्त्सना की, और उसने यदाकदा ईसाई विचारों के साथ रिआयतें दीं। इन सब बातों ने उसे करोड़ों हिन्दुओं की दृष्टि में एक घृणा की वस्तु बना दिया। हिन्दू मानस से अवचेतन में सदैव यह भावना रही है कि धर्मोपदेश का विशेषाधिकार केवल संसार-त्यागी तपस्वियों तथा भिक्षुओं को ही होता है न कि पुण्यात्मा गृहस्थों को। इसीलिए राममोहन राय और केशवचन्द्र से हिन्दुओं के हृदय की भावनाओं और अनुभूतियों को उतना प्रभावित न कर सके जितना कि दयानन्द, रामकृष्ण और विवेकानन्द ने किया।

ब्रह्म समाज ने बंगाल और देश को अनेक अग्रणी विद्वान, देशभक्त तथा नेता प्रदान किये। विपिनचन्द्र पाल तथा चितरंजन दास ने, जो आगे चलकर परम्परावादी हिन्दुत्व के अनुयायी बन गये, ब्रह्म समाज से ही बौद्धिक नवीनता की भावना प्राप्त की थी। आनन्द मोहन बोस (1846-1905) जो 1898 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर पहुँच गये, ब्रह्म समाज के अनुयायी थे। जगदीशचन्द्र बोस, प्रतापचन्द्र मजूमदार, ब्रजेन्द्रनाथ सील, सरलादेवी चौधरानी, रामानन्द चटर्जी, कृष्णकुमार मित्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा लार्ड सिनहा को भी ब्रह्म समाज की शिक्षाओं से प्रेरणा मिली थी।[64] उनमें से कुछ तो आगे चलकर समाज से पृथक हो गये,[65] किन्तु कुछ उसके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते रहे। अपने कॉलिज के दिनों में विवेकानन्द भी समाज की बैठकों में जाया करते थे और कुछ समय तक वे साधारण ब्रह्म समाज के सदस्य भी रहे। अतः स्पष्ट है कि पुनर्जागरण तथा बुद्धिवाद के प्रसार में समाज का महत्वपूर्ण योगदान था।[66]

---

64 'धर्मजिज्ञासा' के लेखक नगेन्द्रनाथ चटर्जी 'साधारण ब्रह्म समाज' की मुख्य विभूतियों में थे।

65 सत्यानन्द अग्निहोत्री (जन्म 1850) भी जिन्होंने 1870 में लाहौर में देव समाज की स्थापना की थी ब्रह्म समाज की शिक्षाओं से प्रभावित हुए थे।

66 विपिनचन्द्र पाल ने अपनी पुस्तक *Beginning of Freedom Movement in India* में पृष्ठ 52 पर लिखा है कि बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'श्रीकृष्ण चरित्र', 'गीता भाष्य' तथा 'अनुशीलन धर्म' पर ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।

3
दयानन्द सरस्वती

1. प्रस्तावना

स्वामी दयानन्द (1824-1883), 1824 में काठियावाड़ (गुजरात) के मोर्वी नामक नगर में उत्पन्न हुए थे। वे सामवेदी ब्राह्मण थे। इक्कीस वर्ष की आयु में वे वैवाहिक जीवन के बन्धनों से बचने के लिए घर छोड़कर भाग गये। 1845 से 1860 तक वे ज्ञान, प्रकाश तथा अमरत्व की खोज में विभिन्न स्थानों में घूमते रहे। 1860 में उन्होंने मथुरा में स्वामी विरजानन्द सरस्वती के चरणों में बैठकर पाणिनि तथा पतंजलि का अध्ययन आरम्भ किया। वहाँ उन्होंने ढाई वर्ष तक अध्ययन किया। 1864 में उन्होंने सार्वजनिक रूप से उपदेश देना आरम्भ कर दिया। 17 नवम्बर, 1869 को उन्होंने काशी में हिन्दू देवशास्त्र और परम्परावाद के नेताओं से शास्त्रार्थ किया। 10 अप्रैल, 1875 को बम्बई में प्रथम आर्य समाज की स्थापना की गयी और 1877 में लाहौर में आर्य समाज के संविधान को अन्तिम रूप दिया गया। उदयपुर के महाराणा उनके शिष्य बन गये। 30 अक्टूबर, 1883 को सम्भवत: विष दिये जाने के कारण उनका शरीरान्त हो गया। भारत के वर्तमान पुनर्जागरण आन्दोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महती जीवनदायिनी शक्ति का काम किया है। स्वभाव से वे अन्याय के विरुद्ध जन्मजाति संघर्ष करने वाले थे। उनका कथन था : "संसार अज्ञान तथा अन्धविश्वास की शृंखला में जकड़ा हुआ है। मैं उस शृंखला को तोड़ने तथा दासों को मुक्त करने के लिए आया हूँ।" वे महान विद्रोही थे। उन्होंने धार्मिक अन्त:करण के क्षेत्र में अपने शैव पिता के सत्तामूलक परम्परावादी आदेशों के सामने समर्पण करने से इनकार कर दिया। और न उन्होंने हिन्दू परम्परावाद के नेताओं के प्रलोभनों तथा कोप के सामने ही समर्पण किया। वे ईसाई धर्म की बुराइयों की निरन्तर निन्दा करते रहे, यद्यपि उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने विजयोत्कर्ष के शिखर पर था। परमार्थ सत्य की खोज में वे व्यक्ति को सर्वोच्च तथा पवित्र मानते थे, और वे महान नैतिक आदर्शवादी थे। वे तपस्वी, कट्टर, सदाचारी तथा जिसे सत्य समझते थे उसके लिए वीरतापूर्वक संघर्ष करने वाले थे। उनकी घोषणा थी : "मेरा उद्देश्य मन, वचन तथा कर्म से सत्य का अनुसरण करना है।" और इसी को उन्होंने आर्य समाज का चौथा नियम निर्धारित किया : "हमें सदैव सत्य को स्वीकार करने तथा असत्य का परित्याग करने के लिए उद्यत रहना चाहिए।" उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व व्यापक वैदिक आदर्शवाद से अभिभूत था। जिन अगणित सामाजिक, शैक्षिक और धार्मिक कार्यों की ओर दयानन्द ने अपना ध्यान लगाया उनके लिए अक्षय शक्ति तथा सामर्थ्य की आवश्यकता थी, और हम देखते हैं कि उन्होंने अपने जीवन के मुख्य कार्य के लिए अपने को तैयार करने में चालीस वर्ष लगा दिये। अत: वे अगाध भक्ति, संस्कृत और हिन्दी की अद्वितीय वाक्पटुता तथा दुर्दमनीय और अथक शक्ति लेकर भारत के हिन्दू समाज के पुनरोद्धार के कार्य में जुट पड़े। ईश्वर-भक्ति में अर्पित अपने पवित्र तथा निष्कलंक जीवन द्वारा उन्होंने सृजनात्मक शक्ति का अद्भुत भण्डार एकत्र कर रखा था, और उसका प्रयोग उन्होंने देश के उत्थान के लिए किया। वे योगी थे, इसलिए मृत्यु के आतंक से पूर्णत: मुक्त हो चुके थे। उन्होंने निकटस्थ मृत्यु के मुकाबले जिस अविचलता तथा ईश्वरार्पण की भावना का परिचय दिया उससे प्रकट होता

है कि अपने जीवन भर वे कितनी महत्वपूर्ण आन्तरिक विजयें प्राप्त करते आये थे। महान शारीरिक बल में वे महावीर हर्क्युलिस के सदृश थे, और व्याकरण, दर्शन, धर्म, हिन्दुओं के धर्मशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय साहित्य आदि विषयों में उनका पांडित्य तो ज्ञानकोष के समतुल्य था, जो हमें शंकर, रामानुज तथा सायणाचार्य का स्मरण दिलाता है।

दयानन्द वेदों के प्रकाण्ड पण्डित, उत्कृष्ट नैयायिक तथा समाज-सुधारक थे। यद्यपि उन्होंने राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में कोई व्यवस्थित रचना नहीं प्रणीत की है, फिर भी वे भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम, उन्होंने भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता की नींव तैयार की। उन्होंने हिन्दी में वेदभाष्य लिखे, दलितों तथा स्त्रियों के उद्धार के लिए धर्म युद्ध चलाया तथा शिक्षा पर अत्यधिक वल दिया—इन सव वातों ने भारतीय जनता को नयी शक्ति तथा वल प्रदान किया। सामाजिक न्याय के समर्थक के रूप में उन्होंने आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की पुनःस्थापना का उपदेश दिया। जिन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत में दृढ़ता से जमा हुआ था, उस समय उन्होंने स्वराज्य का गौरवगान किया। दूसरे, दयानन्द ने आर्य समाज के रूप में एक शक्तिशाली संस्था की नींव डाली जिसने उत्तर भारत में महत्वपूर्ण शैक्षिक तथा सामाजिक कार्य किया। आर्य समाज ने देश के स्वतन्त्रता संग्राम के लिए अनेक योद्धा प्रदान किये। यद्यपि आर्य समाज राजनीतिक संस्था नहीं था, फिर भी उसने देशभक्ति की भावनाओं को फैलाया और समस्त उत्तर भारत में सामर्थ्य, शक्ति तथा स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाया। इसलिए दयानन्द और आर्य समाज का भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। रोमैं रोलाँ लिखते हैं: "………वे जनता के महान उद्धारक थे—वस्तुतः भारत में राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जनन तथा पुनर्जागरण की वेला में तुरन्त तथा तत्काल कार्य की प्रेरणा के वे सर्वाधिक शक्तिशाली स्रोत थे। चाहे उनकी इच्छा रही हो अथवा न रही हो,[1] उनके आर्य समाज ने 1905 में बंगाल के विद्रोह का मार्ग प्रशस्त किया। वे पुनर्निर्माण तथा राष्ट्रीय पुनःसंगठन के अत्यधिक उत्साही सन्देशवाहक थे। मुझे ऐसा लगता है कि जव सारा देश सो रहा था तव वे अकेले ही थे जिन्होंने जाग-जागकर सवकी रक्षा की।"[2] रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध अपने आलोचनात्मक तथा जिज्ञासु मानस की शक्ति का प्रयोग करके उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से भारत की राजनीतिक, आर्थिक मुक्ति के शक्तिशाली आन्दोलन के लिए भूमिका तैयार कर दी। यही कारण था कि उनके श्रद्धानन्द और लाजपत राय सरीखे शिष्य अपने आपको देश की वलिवेदी पर अर्पित करके शहीद बन गये।[3] उनका स्वदेश का प्रेम[4] जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया और उसके जवरदस्त राजनीतिक परिणाम हुए। वे वैदिक शिक्षा-प्रणाली अर्थात गुरुकुल प्रणाली को भी पुनर्जीवित करना चाहते थे।

2. दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन के दार्शनिक आधार

दयानन्द निर्भीक सन्देशवाहक तथा उच्चकोटि के समाज-सुधारक होने के साथ-साथ रहस्यवादी भी थे। उनका विश्वास था कि असम्प्रज्ञात (निर्वीज) समाधि की उच्चतम अवस्था में आत्मा ब्रह्माण्डातीत तथा सर्वव्यापी परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। वे कांट तथा स्पेंसर की भाँति संशयवादी (अज्ञेयतावादी) नहीं थे। उन्होंने सिखाया कि ईश्वर में अविकल और अनन्य आस्था होनी चाहिए और वह पवित्र जीवन के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। परमार्थ सत्ता कोई तात्विक अज्ञेय नहीं है, वल्कि दिव्य दृष्टि के द्वारा उसकी अनुभूति तथा दर्शन किया जा सकता है। इसीलिए दयानन्द ने

---

1 उन्होंने सार्वजनिक रूप से इसका निषेध किया ; उन्होने सदैव गैर-राजनीतिक और गैर-ब्रिटिश-विरोधी होने का दावा किया। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसका भिन्न अर्थ लगाया। आर्य समाज को अपने सदस्यों के कार्यकलाप के साथ समझौता करना पड़ा।

2 वही।

3 दयानन्द सरस्वती के शिष्य तथा मित्र श्यामजी कृष्ण वर्मा थे (अक्टूबर 4, 1857—मार्च 31, 1930)। 1897 के वाद श्यामजी अधिकतर यूरोप में ही रहे। वे *Indian Sociologist* नामक पत्र के, जो 1905 में स्थापित किया गया था, सम्पादक थे। उन्होंने हिंसात्मक क्रान्ति तथा आतंक का सन्देश दिया।

4 कहा जाता है कि दयानन्द मोटा देशी वस्त्र पहना करते थे।

योग पर विशेष बल दिया। वे भक्त तथा आस्तिक और कट्टर एकेश्वरवादी थे। अद्वैत वेदान्तियों ने तत्वज्ञान के निर्गुण और निराकार ब्रह्म तथा देवशास्त्र के सगुण और साकार ईश्वर में जो भेद किया था, उसका दयानन्द ने खण्डन किया। दयानन्द के परमेश्वर में वेदान्तियों के ब्रह्म तथा ईश्वर का सम्पूर्ण सार तथा उपाधियाँ विद्यमान हैं। दयानन्द तथा रामानुज के अनुसार ईश्वर निर्गुण ब्रह्म नहीं है, बल्कि वह सभी मंगलमय गुणों का भण्डार है। इसीलिए दयानन्द का उपदेश था कि नैतिक जीवन की उपलब्धि का एक मार्ग ईश्वर के गुणों का चिन्तन भी है। अपने चरित्र के इस रहस्यात्मक पक्ष के कारण वे यूरोपीय दार्शनिकों के अभिभावी बुद्धिवाद की तुलना में एक भिन्न कोटि में जा बैठते हैं। ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से दयानन्द नैयायिक दार्शनिकों की भाँति यथार्थवादी हैं। तत्वज्ञान की दृष्टि से वे ईश्वर तथा आत्मा को आध्यात्मिक द्रव्य मानते हैं। दयानन्द के अनुसार तीन प्रकार के शाश्वत द्रव्य हैं। ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीन तत्व अनादि तथा अनन्त हैं। वे सांख्यों की भाँति प्रकृति को स्वतन्त्र तथा शाश्वत मानते थे, किन्तु उनका तर्क था कि पदार्थ को व्यवस्थित करने के लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर भी आवश्यक है। इस प्रकार वे ईश्वर की सत्ता के पक्ष में ब्रह्माण्ड शास्त्रीय तर्क को स्वीकार करते थे। उनका यह भी कथन था कि विश्व के मूल में अन्तर्निहित जो अन्त्य हेतु और उद्देश्य स्पष्ट दिखायी देते हैं वे भी ईश्वरवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। ऋग्वेद के प्रमाण के आधार पर (यथापूर्वमकल्पयत्) दयानन्द भी (अरस्तू की भाँति) विश्वास करते थे कि सृष्टि और प्रलय का क्रम चक्रवत चला करता है। उन्होंने सामियों (सेमेटिक जातियों) की इस धारणा का खण्डन किया कि ब्रह्माण्ड की एक ही बार सृष्टि हुई है। उनका कहना था एकल सृष्टि का सिद्धान्त नैतिक भेदों का सही कारण नहीं बतलाता, अतः वह तार्किक बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। दयानन्द ने वेदान्तियों के उन सिद्धान्तों को अस्वीकार किया जो जीव को ब्रह्म का ही सार अथवा उससे केवल आंशिक रूप में भिन्न मानते हैं। उनका मत था कि जीव और आत्मा का भेद शाश्वत है और मुक्ति की अवस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है क्योंकि उसमें "आन्तरिक अंगों की शक्तियाँ" होती हैं। वे मुक्ति से प्रत्यावर्तन के सिद्धान्त में भी विश्वास करते थे; परलोक शास्त्र सम्बन्धी चिन्तन को यह उनकी नयी देन थी। उनके त्रैतवाद का, जिसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाता है, समर्थन करना कठिन है। किन्तु उन्होंने शंकर के मायावाद के सिद्धान्त का जो खण्डन किया है उसमें बड़ा बल है। यह बात उल्लेखनीय है कि **शांकर** अद्वैतवाद का, जिसकी यूरोप में इतनी प्रशंसा की जाती है (उदाहरण के लिए, डौइसेन द्वारा), रामानुज और माधव ने भी खण्डन किया है। हम देखते हैं कि आधुनिक यूरोप तथा अमेरिका में भी हेगेल के प्रत्ययवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया बढ़ रही है और यथार्थवाद का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया जा रहा है। आधुनिक एकत्ववाद में भी पुराने प्रत्ययवादी दर्शनों की दृश्य जगत का निषेध करने वाली प्रवृत्तियों को बहिष्कृत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, और वस्तुवाचक गतिशील एकत्ववाद पर बल दिया जा रहा है। इन आधुनिक प्रवृत्तियों का दयानन्द द्वारा किये गये मायावाद के खण्डन की पुष्टि करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

दयानन्द पूर्ण वेदवाद के सन्देशवाहक थे। उन्होंने घोषणा की कि चार वैदिक संहिताएँ अपौरुषेय हैं। वे जीवन की समस्याओं का वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर समाधान करना चाहते थे। उनका कथन था कि वेद शाश्वत, शुद्ध तथा आदि ज्ञान के स्रोत हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में ही वह ज्ञान मनुष्य जाति को प्रदान कर दिया गया था। उनका दावा था कि वैदिक ज्ञान की पुरातन संहिताओं में स्वयं ईश्वर की ही वाणी निहित है, और इसीलिए वेदों में उनकी आस्था चट्टानवत दृढ़ तथा अडिग थी।[5] हमें ऐसा लगता है कि वैदिक संहिताओं के युग से आज तक संसार में वेद का दयानन्द से बड़ा समर्थक उत्पन्न नहीं हुआ है। 1864 के बाद उन्होंने सन्त पाल तथा लूथर की संयुक्त शक्ति तथा उत्साह के साथ अपना सम्पूर्ण जीवन वेद की वेदी पर अर्पित कर दिया। दयानन्द ने असंदिग्ध रूप से घोषणा की कि वेदों में आध्यात्मिक तात्विक ज्ञान तथा वैज्ञानिक भौतिक ज्ञान

---

5 श्री अरविन्द, *Bankim-Tilak-Dayanand*. इस पुस्तक में अरविन्द ने स्वीकार किया है कि दयानन्द के वेदवाद में राष्ट्रीय भावना निहित थी।

का रहस्य दोनों का ही समावेश है । मैं दयानन्द के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हूँ कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं । किन्तु मैं यह मानता हूँ कि वेदों में रहस्यवाद, दर्शन तथा सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार निहित हैं । दयानन्द के वैदिक अनुसन्धानों का प्रामाणिकता के सम्बन्ध में बिना शर्त के कोई मत व्यक्त कर देना कठिन है । अरविन्द भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक मन्त्रों में अतिप्राकृतिक गूढ़ रहस्य विद्यमान हैं । विदेशी समीक्षकों ने भी माना है कि वेदों में दार्शनिक तथा नैतिक ज्ञान निहित है । तिलक का मत है कि नासदीय सूक्त में एकत्ववादी प्रत्ययवाद के आदि सिद्धान्तों का उत्कृष्ट रूप में निरूपण किया गया है । पूर्वोक्त मत दयानन्द के वेद विषयक विचारों की सत्यता के द्योतक हैं ; यद्यपि मैं उनके इस मत से कदापि सहमत नहीं हूँ कि वेदों में वैज्ञानिक ज्ञान सहित समस्त ज्ञान के बीज विद्यमान हैं ।

3. दयानन्द का सामाजिक दर्शन

दयानन्द वैदिक वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे किन्तु उन्होंने भारत में व्यवहृत जाति-प्रथा से सम्बन्धित अन्याय की कटु आलोचना की । जन्म को जाति की कसौटी मानने के भयंकर दुष्परिणाम हुए थे । इसलिए दयानन्द इस पक्ष में थे कि मनुष्य का वर्ण उसकी मानसिक प्रवृत्तियों, गुणों तथा कर्मों के अनुसार निर्धारित किया जाय । वस्तुतः दयानन्द का यह विचार क्रान्तिकारी था ।[6] इसने जन्म पर आधारित श्रेष्ठता की धारणा पर घातक चोट की । इसके विपरीत वर्ण के सम्बन्ध में उनकी कसौटी सचमुच लोकतांत्रिक थी । दयानन्द का मत था कि मनोवैज्ञानिक तथा व्यावसायिक कसौटी पर आधारित वर्ण का सिद्धान्त अनेक सामाजिक तथा व्यावसायिक संघर्षों का समाधान कर सकता है । वर्ण धारण करने की कसौटी जन्म नहीं, वल्कि किसी विशिष्ट कार्य को करने की मानसिक क्षमता है । इस प्रकार भारत के सामाजिक जीवन में दयानन्द का लोकतान्त्रिक आदर्शवाद जन्म के स्थान पर योग्यता को महत्व देने में व्यक्त हुआ । व्यावसायिक स्तरों के आधार पर संगठित सामाजिक व्यवस्था का समर्थन प्लेटो और अरविन्द ने भी किया है । यदि चार आश्रमों के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाय तो प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति के अतिशय प्रदर्शन पर सुनिर्दिष्ट ढंग का अंकुश लगाया जा सकता है; क्योंकि पचास वर्ष की आयु में लोग आर्थिक क्रियाकलाप से निवृत्त होकर सरल जीवन विताने लगेंगे और चिन्तन में लग जायेंगे । किन्तु आधुनिक भारत में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त के रूप में वर्ण व्यवस्था से कोई लाभ हो सकता है, इस बात में मुझे भारी सन्देह है । कारण यह है कि यह व्यवस्था शताब्दियों पुरानी ऐतिहासिक अनुदारता तथा परम्परावाद से ओतप्रोत है । व्यवहार में चार वर्णों को भ्रष्ट होकर चार जातियों का रूप ले लेने से रोकना कठिन होगा । अतः यद्यपि मैं दयानन्द के आश्रम सिद्धान्त से सहमत हूँ, किन्तु उनके वर्ण सिद्धान्त से मेरा गहरा मतभेद है ।

दयानन्द का निश्चित और असंदिग्ध मत था कि मनुष्य अपने विकास के अनुकूल साधनों और विधियों के चयन में स्वतन्त्र है, किन्तु समाज से सम्बन्धित कार्यों के विषय में वह पराधीन है । यह भेद हमें मिल के आत्मसम्बन्धी तथा परसम्बन्धी कार्यों के अन्तर का स्मरण दिलाता है ।[7] दयानन्द ने आर्य समाज के नवें और दसवें नियम इस प्रकार निर्धारित किये : "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए" तथा "प्रत्येक को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और विकास को ध्यान में रखना चाहिए जिससे अन्त में वह सार्वलौकिक कल्याण का परिवर्धन कर सके ; अथवा, दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक हित के परिवर्धन के लिए अपने को अनुशासित और विकसित कर सके ।"

दयानन्द ने युगों से सुप्त पड़ी हुई भारत की आत्मा के बाहरी उभाड़ की प्रक्रिया को बड़ी उत्तेजना प्रदान की । उनके व्यक्तित्व की बहुमुखी प्रतिमा हमें मनुष्य की विभिन्न शक्तियों तथा गुणों की तेजोमय पूर्णता के प्राचीन आदर्श का पुनः स्मरण दिलाती है। यूनानियों ने बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक

---

6 महात्मा गान्धी ने लिखा है : "स्वामी दयानन्द हमारे लिए विरासत में जो मूल्यवान वस्तुएँ छोड़ गये हैं उनमें अस्पृश्यता के विरुद्ध उनकी स्पष्ट घोषणा निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है ।" (हरविलास शारदा, सम्पादक, *Dayananda Commemoration Volume*)

7 दयानन्द ने इस सम्बन्ध में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे ये हैं : (1) हितकारी, तथा (2) सामाजिक सर्वहितकारी ।

तथा शारीरिक श्रेष्ठता पर बल दिया था ; इसके विपरीत प्राचीन भारतीय शक्ति और धी की कामना करते थे, किन्तु साथ ही साथ वे ऋत—नैतिक तथा आध्यात्मिक सर्वशक्तिमत्तापूर्ण सर्वव्यापी ब्रह्माण्ड तत्व—के भी पुजारी थे। वेदों का दृष्टिकोण था कि मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास उच्चतम आध्यात्मिक उत्प्रेरणा से अनुप्राणित होना चाहिए। दयानन्द ने प्राचीन वैदिक भावना को पुनःस्थापित तथा पुनर्जीवित करने के लिए अथक श्रम किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोरी शक्तिपूजा करने के भयंकर दुष्परिणाम होते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि पारलौकिक आध्यात्मिक आनन्द के जगमगाते शिखरों में विलीन रहने के भी प्रभाव सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अनिष्टकारक होते हैं। बौद्धों तथा वेदान्तियों का काल्पनिक तत्वज्ञान मुसलिम आक्रमणकारियों से देश की स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सका। दयानन्द ने आत्मा के प्रदीपन तथा सामाजिक दृढ़ता दोनों को ही आवश्यक बतलाया। वे समकालीन भारत की जर्जरित हो रही सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के स्थान पर वैदिक संस्कृति की शक्तिशाली तथा शुद्ध भावना को पुनः जीवित करना चाहते थे।

4. दयानन्द तथा भारतीय राष्ट्रवाद

दयानन्द पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी क्रमबद्ध ग्रन्थ की रचना नहीं की है। किन्तु अपनी रचनाओं में और कभी-कभी निजी वार्तालाप के दौरान उन्होंने राजनीतिक विचार व्यक्त किये। उनके 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' दोनों ही प्रसिद्ध ग्रन्थों में एक-एक अध्याय ऐसा है जिसमें राजनीतिक विचारों की मीमांसा की गयी है। दयानन्द पर मनुस्मृति के राजनीतिक विचारों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा था। उनके सार्वजनिक जीवन-काल (1864-83) में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लौह शासन में था। 1845 में जिस समय उन्होंने घर छोड़ा, पंजाब, सिन्ध और मध्य भारत के कुछ भाग स्वतन्त्र थे ; किन्तु 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की विफलता के फलस्वरूप अंग्रेजी शासन सर्वत्र सुदृढ़ हो गया। इसके अतिरिक्त ईसाई सभ्यता देश की पुरानी संस्कृति पर प्रहार कर रही थी और ईसाई धर्मप्रचारक अपना काम फैला रहे थे। केशवचन्द्र जैसे प्रसिद्ध ब्रह्म समाजी और समाज-सुधारक पर भी ईसाइयत का प्रभाव था जिसकी अभिव्यक्ति उनके 'नव विधान' में हुई थी। ऐसे समय में दयानन्द हिन्दू पुनरुत्थानवाद के आक्रामक समर्थक के रूप में प्रकट हुए। "ऐसा लगता है कि आर्य समाज को ईसाइयत के प्रसार से भय है। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि दयानन्द को भय था, क्योंकि वे समझते थे कि किसी विदेशी पंथ को अंगीकार कर लेने से राष्ट्रीय भावना, जिसका वे पोषण करना चाहते थे, संकट में पड़ जायगी।"[8] उनके पुनरुत्थानवाद के कारण कभी-कभी उन्हें प्रतिक्रियावादी कह दिया गया है, और मान लिया जाता है कि उनका आग्रहपूर्ण वेदवाद प्रगति-विरोधी नारा था। किन्तु जिस महान शक्ति तथा उत्साह से दयानन्द का व्यक्तित्व बना था वह निष्क्रियता के कार्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। वे कर्मवादी थे, न कि कोरे कल्पनाशील विचारक। और उनके वेदवाद का उद्देश्य देश की शक्ति की अभिव्यक्ति को अनुप्रेरित करना था। वस्तुतः वे 'लड़ाकू हिन्दुस्तान' के आक्रामक समर्थक थे। किन्तु जिस लड़ाकूपन का परिचय दयानन्द और आर्यसमाज ने दिया वह अंशतः इस्लाम और ईसाइयत इन दो सामी (सेमेटिक) धार्मिक समुदायों के मदोन्मत्त रवैये के विरुद्ध सन्तुलन कायम रखने का एक साधन था। इतिहास के महान आन्दोलन प्रायः अतीतमुखी हुआ करते हैं। यूरोप के पुनर्जागरण तथा धर्म-सुधार आन्दोलन ने क्रमशः अरस्तू और बाइबिल की ओर देखा और फ्रांस की क्रान्ति ने यूनान तथा रोम के गणतन्त्रवाद से प्रेरणा ली। उसी प्रकार, दयानन्द का वैदिक आदर्शवाद कर्म की प्रेरणा देने के लिए था। रानाडे, विवेकानन्द और गान्धी की भाँति दयानन्द भी अनुभव करते थे कि धर्म ने ही भारत की महान विपत्तियों के समय रक्षा की है। भारतीय मनीषियों ने सदैव ही इस बात पर बल दिया है कि आन्तरिक महत्ता बाह्य प्रमुखता की अपरिहार्य शर्त है। इसीलिए अनेक विदेशी प्रभावों और आक्रमणों के बावजूद भारतीय दार्शनिकों ने आन्त-

---

8 मि. ब्लंट : Census Report (1911), लाला लाजपत राय द्वारा अपनी पुस्तक *Arya Samaj* में उद्धृत, पृष्ठ 168।

रिक ज्योति को जलाते रहने की प्रेरणा दी है। दयानन्द ने वेदों के पुरातन धार्मिक आदर्शवाद को पुनर्जीवित करने का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। किन्तु इस प्रकार के आदर्शवाद के लिए यह अपरिहार्य था कि वह पुराने देवी-देवताओं को निर्जीव पूजा बन्द करने के लिए आवाज उठाता और पराधीन जीवन के कठोर परिश्रम में भद्दी तल्लीनता का विरोध करता। अतः दयानन्द ने विवेकशून्य अन्धविश्वासों तथा परम्परावाद के विरुद्ध वीरतापूर्वक संघर्ष किया और विवेक एवं सत्य के जीवन की पूजा करने पर वल दिया। वैदिक पुनरुत्थानवाद, बुद्धिवाद तथा समाज-सुधारवाद का मूल्यांकन करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते हैं : "आधुनिक भारत के महानतम पथ-निर्माता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देश की पतनावस्था से उत्पन्न पंथों और परिपाटियों की व्याकुल करने वाली उलझनों को साफ करके एक मार्ग वना दिया जिस पर चलकर हिन्दू ईश्वरभक्ति और मानवसेवा के सरल तथा विवेकपूर्ण जीवन को प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने निर्मल दृष्टि से सत्य का दर्शन करके तथा दृढ़ संकल्प और साहस के साथ हमारे आत्मसम्मान तथा सशक्त वौद्धिक जागरण के लिए कार्य किया। वे ऐसा वौद्धिक जागरण चाहते थे जो आधुनिक युग की प्रगतिशील भावना के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके और साथ ही साथ देश के उस गौरवशाली अतीत के साथ अटूट सम्वन्ध कायम रख सके जिसमें भारत ने अपने व्यक्तित्व को कार्य तथा चिन्तन की स्वतन्त्रता में और आध्यात्मिक साक्षात्कार के निर्मल प्रकाश के रूप में व्यक्त किया था।"

दयानन्द भारतीय चरित्र की दुर्वलताओं को देश के पतन के लिए उत्तरदायी मानते थे। अतः उन्होंने उदासीनता, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य तथा भाग्यार्पण के स्थान पर शक्ति की सर्वोच्चता, पराक्रम, उत्साह तथा उत्तरदायित्व की सक्रिय भावना की शिक्षा दी। अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि भारत के पतन के मुख्य कारण हैं : "पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, वाल-विवाह जिसमें पुरुष और स्त्री को अपना जीवन-साथी चुनने का अधिकार नहीं होता, इन्द्रियपरायणता, असत्यता तथा अन्य वुरी आदतें, वेदाध्ययन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ।" कर्म की सफलता के लिए आदर्श का होना आवश्यक है। रूसो तथा मार्क्स ने क्रमशः फ्रांसीसी तथा रूसी क्रान्तियों के लिए दार्शनिक आधार तथा पृष्ठभूमि तैयार की थी। उसी प्रकार दयानन्द विश्व में वैदिक आर्यो के आदर्श की विजय चाहते थे। उनका कथन था : "जो पक्षपातरहित है, जो न्याय तथा समता की शिक्षा देता है, जो मन, वचन तथा कर्म की सत्यता सिखाता है, और संक्षेप में, जो वेदों में निहित ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है, उसी को मैं धर्म कहता हूँ।" अतः दयानन्द ने व्यक्ति के नैतिक शुद्धीकरण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर वल दिया। वे चाहते थे कि उनका क्रियाशील तथा शक्तिशाली आध्यात्मवाद का कार्यक्रम भारत में तथा सम्पूर्ण विश्व में फैले ; उनके वैदिक पुनर्जागरण के आदर्श ने भारतीयों के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान पर वल दिया।[9] समकालीन भारतीयों का सामाजिक एकता और नैतिक जीवन के क्षेत्र में जो पतन हो रहा था उसे दयानन्द ने भलीभाँति देख लिया था। उनके विचार में भारत के राजनीतिक अधःपतन के मूल में सामाजिक चरित्र का अभाव ही मुख्य था। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारत के अंग्रेज शासकों की "सामाजिक क्षमता अधिक श्रेष्ठ है, सामाजिक संस्थाएँ अधिक अच्छी हैं और उनमें आत्मोत्सर्ग, सार्वजनिक हित की भावना, साहस, सत्ता के प्रति आज्ञापालन का भाव और देशभक्ति है;" और इसलिए उन्होंने भारतीयों को अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक चरित्र को सुधारने की वलवती प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप दयानन्द की योजना में सामाजिक तथा राष्ट्रीय पुनरुद्धार तथा मुक्ति के लिए चरित्र की शुद्धता अपरिहार्य थी ; उसके विना काम चल ही नहीं सकता था।

दयानन्द अत्यधिक निर्भीक थे, और उन्होंने सदैव इस वात पर वल दिया कि मनुष्य को अपने में

---

9 देखिये जकारिया, *Renascent India*, पृष्ठ 38 : "भारत की दुःखद फूट को दूर करने के लिए तथा सामाजिक दृष्टि से देश को एकतावद्ध करने के लिए दयानन्द जातियों तथा वर्गों के भेदभाव को नष्ट करना चाहते थे ; उसे धार्मिक एकता प्रदान करने के लिए वे अन्य सव धर्मों के स्थान पर आर्य धर्म की स्थापना करना चाहते थे ; उसे राजनीतिक दृष्टि से एक करने के लिए वे उसे विदेशी शासन से मुक्ति दिलाना चाहते थे। आधुनिक हिन्दू समाज में संगठन की जो प्रवृत्ति देखने को मिलती है उसका मुख्य श्रेय दयानन्द को ही है।"

निर्भीकता का एक नैतिक गुण के रूप में विकास करना चाहिए। केवल निर्भीकता, राजनीतिक रूप धारण कर लेने पर, एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो उत्पीड़न तथा निरंकुश साम्राज्यवाद का सामना कर सकती है। अतः निर्भीकता ही मानव अधिकारों की प्राप्ति का आधार है। दयानन्द की कल्पना का मनुष्य रूसो का रोमांसप्रिय व्यक्ति नहीं है जो प्रकृति के परमानन्द का उपभोग करता रहता है; उनका आदर्श ऐसा निर्भीक व्यक्ति है जो न्याय तथा सत्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहता है और अत्याचार के सर्वाधिक शक्तिशाली दुर्गों के सामने भी नतमस्तक नहीं होता। उनके शब्द हैं : "केवल वही व्यक्ति मनुष्य कहलाने का अधिकारी है जो स्वभाव से चिन्तनशील है, जिसके मन में दूसरों के लिए वैसी ही करुणा और सहानुभूति है जैसी कि स्वयं अपने लिए, जो अन्यायी से नहीं डरता, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, किन्तु दुर्बल से दुर्बल पुण्यात्मा व्यक्ति से भय खाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे मनुष्य को चाहिए कि धर्मपरायण लोगों के परित्राण के लिए अधिक से अधिक प्रयत्नशील रहे, एवं उनके कल्याण का अभिवर्धन करे तथा उनके प्रति सदैव यथायोग्य आचरण करे, चाहे वे अत्यधिक दुर्बल तथा भौतिक साधनों से हीन क्यों न हों। दूसरी ओर ऐसे मनुष्य को सदैव दुष्टों का नाश, दमन और विरोध करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए, चाहे वे विश्व भर के प्रभु और महान प्रभाव तथा शक्ति वाले व्यक्ति ही क्यों न हों। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यथा सामर्थ्य अन्यायियों की शक्ति का उन्मूलन करने तथा न्यायशील व्यक्तियों की शक्ति को दृढ़ करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसे कितना ही भयंकर कष्ट क्यों न भुगतना पड़े, अपने मानवोचित कर्तव्य के पालन में उसे चाहे मृत्यु का कडुआ घूंट ही क्यों न पीना पड़े, किन्तु उसे विचलित नहीं होना चाहिए।" मनुष्यत्व का यह वीरत्वप्रधान आदर्श परोक्ष रूप से सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयों के विरोध का समर्थक बन जाता है।

दयानन्द का स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग था, और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके लिए तड़पा करता था। आत्मा की मुक्ति की खोज में ही उन्होंने अपने पिता का घर छोड़ा था। स्वतन्त्रता के हेतु ही उन्होंने विवाहित जीवन का भार उठाने से इनकार कर दिया था और संन्यास ले लिया था। उनका विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा कार्य करने में स्वतन्त्र है, किन्तु फल की प्राप्ति में वह ईश्वर के अधीन है। दयानन्द ने मनुष्य के मानस की बौद्धिक स्वतन्त्रता की घोषणा की और तदर्थ उन्होंने सब धर्मों के पवित्र साहित्य की स्वतन्त्र तथा ओजपूर्ण आलोचना की, और इस विषय में उन्होंने बौद्धों के शून्यवाद तथा वेदान्तियों के प्रत्ययवादी एकत्ववाद के साथ भी रियायत नहीं की। चूंकि दयानन्द का वैदिक पुनरुत्थानवाद सामी संस्कृतियों और सभ्यताओं की चुनौती के विरुद्ध एक सन्तुलनात्मक साधन था,[10] इसलिए वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्षपोषक बन गया। स्वामीजी आर्य वैदिक संस्कृति को आद्य रूप में प्रतिष्ठित करने के पक्ष में थे।[11] उनके आन्दोलन के वातावरण सम्बन्धी सन्दर्भ तथा उसके ऐतिहासिक प्रभाव का विश्लेषण करते हुए नेहरू ने लिखा है : "आर्य समाज इस्लाम तथा ईसाइयत के प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया था। आन्तरिक रूप में वह संगठनात्मक तथा सुधारात्मक आन्दोलन था और बाह्य आक्रमणों से बचाव के लिए यह एक रक्षात्मक संगठन था।"[12] कभी-कभी कहा जाता है कि अन्य धर्मों पर दयानन्द ने जो आक्रमण किया उसमें दुर्भाव तथा घृणा की भावना निहित थी। यह सत्य है कि बाइबिल तथा कुरान की आलोचनात्मक तथा बौद्धिक परीक्षा करके दयानन्द ने इन ग्रन्थों के अनुयायियों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचायी है, किन्तु उन्होंने हिन्दुओं तथा बौद्धों के धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी उसी बौद्धिक पद्धति से काम लिया। उन्होंने स्वयं लिखा है : "यद्यपि मैं आर्यावर्त में उत्पन्न हुआ था और वहीं अब भी रह रहा हूँ... फिर भी मैं इस देश में

---

10 दयानन्द चाहते थे कि धार्मिक नेता धर्म विद्या के सामान्य आधारों को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करें। 1877 में दयानन्द, सर सैयद अहमदखां तथा केशवचन्द्र सेन की दिल्ली में एक बैठक हुई किन्तु कोई सर्वसम्मत फार्मूला न निकल सका। 1872 में भी दयानन्द, देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र सेन की मीटिंग हुई किन्तु दयानन्द वेदों की निश्चित शिक्षाओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं हुए।

11 1882 में दयानन्द ने 'गौरक्षिणी सभा' नामक एक संस्था की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य गौरक्षा था। अपनी छोटी-सी पुस्तक 'गोकरुणानिधि' में उन्होंने गाय के प्रति दया का व्यवहार करने और उसकी रक्षा करने का उपदेश दिया।

12 जवाहरलाल नेहरू : *The Discovery of India*, पृष्ठ 378-79।

प्रचलित धर्मों की असत्यता का समर्थन नहीं करता, वल्कि उनका पूर्णतः भण्डाफोड़ करता हूँ····उसी प्रकार मैं अन्य धर्मों तथा उनके अनुयायियों के साथ व्यवहार करता हूँ। जहाँ तक मनुष्य जाति के उत्थान का सम्वन्ध है मैं विदेशियों के साथ वैसा ही आचरण करता हूँ जैसा कि अपने देशवासियों के साथ। सव मनुष्यों के लिए ऐसा ही करना उचित है।" मानसिक स्वतन्त्रता के पक्ष में दयानन्द के योगदान का मूल्यांकन करते हुए जायसवाल लिखते हैं : "संन्यासी दयानन्द ने हिन्दुओं की आत्मा को उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रदान की जिस प्रकार लूथर ने यूरोपीय आत्मा को प्रदान की थी और उन्होंने उस स्वतन्त्रता का निर्माण भीतर से, अर्थात हिन्दू साहित्य के आधार पर ही किया। दयानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के महानतम भारतीय ही नहीं थे····उन्नीसवीं शताब्दी में एकेश्वरवाद का ऐसा शक्तिशाली शिक्षक, मानव एकता का ऐसा उपदेष्टा, आध्यात्मिकता के पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाला ऐसा सफल योद्धा अन्यत्र नहीं था।"[13]

दयानन्द ने राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लिया, किन्तु भारत के लिए उनके मन में गहरा अनुराग और उत्कट प्रेम था। वे भारत को आर्यावर्त कहा करते थे। उनके विचार में यह देश पारसमणि का देश तथा स्वर्णभूमि था। भारत में अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन तथा निर्भय शासन के अभाव को देखकर वे वहुत दुःखी हुआ करते थे। अतः अपनी रचनाओं में उन्होंने देश की राजनीतिक दासता पर शोक प्रकट किया है, और वैदिक मन्त्रों के भाष्यों में भी उन्होंने भारत की स्वाधीनता के लिए ईश्वरीय सहायता की प्रार्थना की है।[14] उन्हें प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज की क्षीण देशभक्ति पर खेद था।[15] ब्रह्म समाज के सम्वन्ध में स्वामीजी ने लिखा है : "यद्यपि इन लोगों का जन्म आर्यावर्त में हुआ है, इन्होंने उसी का अन्न खाया है और आज भी खा रहे हैं, फिर भी इन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर दिया है, और उसके स्थान पर विदेशी धर्मों की ओर अधिक उन्मुख हैं; ये अपने को विद्वान मानते हैं किन्तु देशी संस्कृत विद्या के ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं; अपने अंग्रेजी के ज्ञान के घमण्ड में वे एक नया धर्म स्थापित करने में जल्दवाजी कर वैठे हैं।"[16] अतः वेलेंटाइन शिरोल जैसे सहानुभूतिशून्य आलोचक के इस कथन में कुछ सत्यांश है : "····दयानन्द की शिक्षाओं की मुख्य प्रवृत्ति हिन्दुत्व का सुधार करने की उतनी नहीं है जितनी कि उसे उन विदेशी प्रभावों के विरुद्ध प्रतिरोध के लिए संगठित करने की है, जो उनके विचार में उसका (हिन्दुत्व का) विराष्ट्रीयकरण कर रहे थे।" उन्होंने ज्वलन्त शव्दों में स्वराज्य का गौरवगान किया है। राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक के रूप में उनका स्थान इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा लेकर स्वराज्य का शक्तिशाली नारा लगाया। उन्होंने दुर्योधन की भर्त्सना की, क्योंकि वह महाभारत के उस युद्ध के लिए उत्तरदायी था जिसके कारण आर्यावर्त का अधःपतन आरम्भ हुआ। कौरवों, पाण्डवों तथा यादवों का विनाश उनकी पारस्परिक फूट के कारण ही हुआ। दयानन्द उन्नीसवीं शताव्दी के इस प्रसिद्ध नारे के अनुयायी थे—सुशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के छठे समुल्लास में लिखा है : "विदेशी शासन जनता को पूर्णरूप से सुखी कभी नहीं वना सकता, चाहे वह धार्मिक दुर्भाव से मुक्त हो, देशवासियों तथा विदेशियों के साथ पक्षपातरहित हो और दयालु, कल्याणकारी तथा न्यायशील हो।" दयानन्द के ऐतिहासिक दर्शन के अनुसार प्राचीन काल में समस्त विश्व में आर्यों का चक्रवर्ती राजतंत्रीय साम्राज्यवाद फैला हुआ था।[17] ह्रासोन्मुख तथा भूमिसात राष्ट्र के समक्ष उन्होंने चक्रवर्ती साम्राज्य[18] तथा स्वराज्य

---

13 के. पी. जायसवाल का *Dayananda Commemoration Volume* में प्रकाशित लेख, पृष्ठ 162-63।

14 दयानन्द, 'आर्याभिविनय'।

15 1878 में आर्य समाज तथा थियोसोफीकल सोसाइटी द्वारा सम्मिलित कार्यवाही करने की योजना पर भी विचार-विमर्श हुआ; किन्तु कोई समझौता न हो सका। दोनों संस्थाओं के वीच 1879-1881 के मध्य अस्थायी एकता भी स्थापित हो गयी थी।

16 *The Light of Truth* (मद्रास संस्करण) पृष्ठ 432।

17 दयानन्द के अनुसार विश्व की सृष्टि से लेकर 3000 ई. पू. तक सारे संसार में आर्यों का एकछत्र सार्वभौम अधिराजत्व फैला हुआ था। अन्य देशों में केवल मांडलिक अथवा छोटे-छोटे राज्य थे।

18 दयानन्द का चक्रवर्ती साम्राज्य पश्चिमी आधिपत्यमूलक साम्राज्यवाद का हिन्दू रूपान्तर नहीं था, अपितु उनके अनुसार वह ईश्वरीय नियम के पालन पर आधारित होगा और वास्तविक न्याय करना उसका मुख्य उद्देश्य होगा

का नारा प्रस्तुत किया। दयानन्द के शरीरान्त के उपरान्त आर्य समाज ने वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता के पक्ष में प्रचार जारी रखा। उसने वेदों में अन्तर्निहित शक्ति, शुद्धता, स्वतन्त्रता, तथा आत्म-निर्भरता का सन्देश जिस तीव्रता और उग्रता के साथ घर-घर में फैलाया उससे जनता में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में आक्रामक चेतना जाग्रत हुई। परिणामतः यद्यपि आर्य समाज राजनीतिक संस्था नहीं था और एक संस्था के रूप में उसने बड़ी सावधानी के साथ अपने को क्रान्तिकारी तथा राजद्रोहात्मक कार्यवाहियों से दूर रखा, फिर भी भारतीयों के मन में देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवाद की भावना को जाग्रत करने में उसने अग्रदूत का काम किया। स्वामी श्रद्धानन्द (भूतपूर्व मुंशीराम) तथा रामदेव ने अपने 'द आर्य समाज एंड इट्स डिट्रैक्टर्स' (आर्य समाज तथा उसके निन्दक) नामक ग्रन्थ में लिखा है : "इसलिए जब आर्य समाज प्राचीन भारत का गौरवगान करता है तो उससे राष्ट्रवाद का पोषण करने वाले तत्वों को उत्तेजना मिलती है और उस तरुण राष्ट्रवादी का सुसुप्त राष्ट्रीय अहंकार जाग उठता है तथा आकांक्षाएँ प्रज्ज्वलित हो उठती हैं जिसके कानों में निरन्तर यह शोक-पूर्ण मन्त्र फूँका गया था कि भारत का इतिहास सतत अपमान, अधःपतन, विदेशियों की पराधीनता तथा वाह्य शोषण की शोचनीय गाथा है। और हम क्यों करते हैं भारत की गौरवगाथा का गान? इसलिए कि भारत ईश्वरप्रदत्त ज्ञान के व्याख्याताओं का देश है, वह पवित्र भूमि है जहाँ वैदिक संस्थाएँ समुन्नत हुई और अपने सर्वोत्तम फल प्रस्तुत किये, वह धर्मक्षेत्र है जहाँ वैदिक दर्शन तथा तत्वज्ञान विकास के चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए, और वह पवित्रीकृत वसुन्धरा है जहाँ ऐसे आदर्श पुरुष निवास करते थे जिन्होंने स्वयं अपने आचरण में वेदों की नैतिक शिक्षाओं की उच्चतम धारणाओं को साक्षात्कार किया। अतः देशभक्ति, जो वेदभक्ति की दासी है, एक उच्च, प्रेरणादायक, शक्तिदायिनी, एकीकरण करने वाली, शान्तिदायक, सन्तोषप्रद तथा स्फूर्तिदायक वस्तु है।"

दयानन्द ने वैदिक संस्कृति की सर्वोच्चता तथा स्वराज्य का ही उपदेश नहीं दिया, अपितु उन्होंने देशी भाषाओं के आन्दोलन को प्रोत्साहन देकर भी राष्ट्रवाद के उत्थान में योग दिया।[19] यद्यपि वे वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा संस्कृत के विद्वान एवं जन्म से गुजराती थे, फिर भी उन्होंने अपना 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा। वह दिन भारत के बौद्धिक इतिहास में वस्तुतः महान था जब वे वेदों का भाष्य हिन्दी में लिखने बैठे। वेदों के जिस ज्ञान पर अब तक पुरोहित वर्ग का एकाधिपत्य रहा था उसे हिन्दी में उपलब्ध बनाकर उन्होंने भारत की राजनीति में एक महत्वपूर्ण शक्ति को मुक्त कर दिया, क्योंकि इससे देश के अब्राह्मण वर्गों में बौद्धिक आत्मविश्वास की एक नयी भावना जागृत हुई। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों ने हिन्दी के माध्यम से ही अपना उपदेश देने का कार्य जारी रखा। जिस प्रकार पुनर्जागरण के समय से इतालवी, जर्मन और फ्रांसीसी भाषाओं के विकास से यूरोप में राष्ट्रवाद के उत्थान को उत्तेजना मिली, उसी प्रकार दयानन्द तथा उनके शिष्यों की रचनाओं तथा उपदेशों से भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में भारी प्रेरणा मिली। दयानन्द को पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा नहीं मिली थी और वे संस्कृत विद्या की उपज थे, किन्तु उनके राष्ट्रवाद ने पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त भारतीयों को भी प्रभावित किया। और चूँकि वे ऋषि तथा संन्यासी थे, इसलिए जनता पर उनका विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने हिन्दी में उपदेश तथा व्याख्यान दिये, इससे उनकी वाणी भारतीय जनता तक सरलता से पहुँच सकी, और जनता की दृष्टि में वे दूसरे शंकर प्रतीत हुए।

5. दयानन्द का राजनीतिक दर्शन

(क) प्रबुद्ध राजतंत्र—दयानन्द के राजनीतिक दर्शन में मनुस्मृति तथा वेदों के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है। मनुस्मृति से उन्होंने राजतंत्र का सिद्धान्त ग्रहण किया। मनु ने सिखाया था कि राजा को पूर्णतः धर्म के अधीन होना चाहिए। उन्होंने ऐसे दिग्विजयी एकराट के आदर्श का समर्थन किया था जो धर्मानुसार तथा मंत्रियों के सहयोग से शासन करता है। मनुस्मृति का यह आदर्श अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक राजत्व के उस आदर्श से मिलता-जुलता है जिसका व्याव-

---

19 कुछ लेखकों का कहना है कि दयानन्द केशवचन्द्र सेन तथा ब्रह्म समाजी नेताओं के प्रभाव के कारण 1872 के बाद अपने सार्वजनिक भाषणों में हिन्दी का प्रयोग करने लगे थे।

हारिक रूप हमें आस्ट्रिया के जौजफ द्वितीय तथा एशिया के फ्रैडरिख द्वितीय के आचरण में उपलब्ध होता है। वेदों में सभाओं तथा राजाओं के निर्वाचन का उल्लेख है। दयानन्द ने निर्वाचन प्रणाली का समर्थन किया। उनका कथन था कि सभा के सदस्यों में जो सर्वाधिक बुद्धिमान तथा चतुर हो उसी को राजा अथवा अध्यक्ष चुन लिया जाय।

दयानन्द ने वेदों को वैज्ञानिक तथा तत्वशास्त्रीय ज्ञान का स्रोत स्वीकार किया। वैदिक संस्कृति की यह आद्य मान्यता है कि राजनीतिक सत्ता (क्षत्र) को आध्यात्मिक तथा नैतिक सत्ता (ब्रह्म) की सहायता से कार्य करना चाहिए। इसीलिए दयानन्द ने नैतिक पुनरुत्थान को प्राथमिकता दी। उनका आग्रह था कि राजनीतिक कारणों को नैतिक कारणों से पृथक करने की अनुमति कभी नहीं दी जा सकती। उन्होंने सदैव इस बात का अनुरोध किया कि राजनीतिक शासकों को आध्यात्मिक नेताओं के निर्देशन में कार्य करना चाहिए। अतः यह कहा जा सकता है कि दयानन्द ने धर्मनिरपेक्ष तथा भौतिकवादी मान्यताओं पर आधारित राष्ट्रवाद को सदैव ही सन्देह की दृष्टि से देखा। चूंकि वे संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति 'परोपकाराय सतां विभूतयः' के मानने वाले थे, इसलिए मानव कल्याण की भावना से शून्य राजनीतिक उद्देश्यों को वे सदैव ही बुरा मानते थे।

(ख) लोकतंत्र का सिद्धान्त तथा व्यावहारिक रूप—दयानन्द लोकतंत्रवादी थे। लोकतंत्र के आदर्श के प्रति उनका अनुराग दो बातों से सिद्ध होता है। प्रथम, जिस आर्य समाज की उन्होंने स्थापना की उसका संगठन चुनाव पर आधारित था। नीचे से ऊपर तक के वे सभी व्यक्ति चुने जाते थे, जो पदाधिकारियों अथवा किसी परिषद के सदस्यों के रूप में कार्य करते। निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाना हिन्दू धार्मिक व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी कदम था। हिन्दू समाज में ब्राह्मण वर्ग की सत्ता परम्परागत भावनाओं पर आधारित है। किन्तु आर्य समाज में जो एक सामाजिक-धार्मिक संस्था थी उसकी सत्ता चुनाव पर निर्भर थी। दूसरे, जिस आदर्श राज्यतंत्र की रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत की उसकी सरकार के सभी स्वीकृत और विधिक अंगों के निर्माण के लिए उन्होंने निर्वाचन के लोकतांत्रिक सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने 'धर्मार्यसभा', 'विद्यार्यसभा' तथा 'राजार्यसभा' नामक तीन निकायों के संगठन तथा कार्य निश्चित कर दिये। इन निकायों को नियंत्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त का पालन करना था। दयानन्द लिखते हैं : "इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति को स्वतंत्र राज्य का अधिकार नहीं देना चाहिए किन्तु राका जो सभापति, तदाधीन सभा, समाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे। ....जब (मनुष्य) दुष्टाचारी होते हैं तो सब (राज्य) नष्टभ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पतिरूप मानकर सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग बरतें, सबके हितकारक कामों में सम्मति करें; सर्वहित करने के लिए परतंत्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात जो-जो निज के काम हैं उन-उनमें स्वतन्त्र रहें।"[20]

(ग) ग्राम-प्रशासन—दयानन्द ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की उसका सार लोकतांत्रिक आदर्शवाद है, यद्यपि कभी-कभी उसका बाहरी ढाँचा राजतंत्रात्मक भी हो सकता है। उनका अनुरोध एक ऐसे विशाल राज्य का निर्माण करना है जिसकी इकाई गाँव हो। आश्चर्य की बात है कि गान्धीजी से भी पहले दयानन्द ने गाँवों की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के पतन पर खेद प्रकट किया था और मनुस्मृति के आधार पर गाँवों को प्रशासनतन्त्र का अभिन्न अंग बनाने के विचार का समर्थन किया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लिखा है : "इसलिए वह दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्य-स्थान रखे जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर राज्य के सब कार्यों को पूर्ण करे। एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष रखे, उन्हीं दस ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवाँ पुरुष रखे (अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दस ग्रामों में एक थाना और

20 'सत्यार्थ प्रकाश' (सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली-7), पृष्ठ 125-26।

दो थानों में एक बड़ा थाना, और उन पाँच थानों में एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया जाता है, यह मनु द्वारा प्रतिपादित प्राचीन राज्य पद्धति से लिया गया है) । इसी प्रकार प्रवन्ध करे और आज्ञा दे कि वह एक-एक ग्राम का पति ग्राम में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन-उनको गुप्तता से दस ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दस ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दस ग्रामों की वर्तमान स्थिति नित्यप्रति जता दे ; और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शत ग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे, वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों की वर्तमान स्थिति को प्रतिदिन जताया करें । अर्थात् बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र-सहस्र के दस अधिपति दस सहस्र के अधिपति को और वह दस सहस्र का अधिपति लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन की वर्तमान स्थिति जताया करें । और वे सब राजसभा महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जताया करें । और प्रत्येक दस-दस सहस्र ग्रामों पर दो सभापति हों, जिनमें से एक राजसभा में अध्यक्षता करे और दूसरा आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखता रहे ।"[21]

(घ) **अहिंसा की निरपेक्षता का संशोधन**—यद्यपि दयानन्द रहस्यवादी तथा संन्यासी थे और मनुस्मृति के आधार पर उन्होंने इस बात का पक्ष लिया था कि राजनीतिक मामलों में वेदों में पारंगत ऋषियों का नैतिक अंकुश होना चाहिए, फिर भी वे शान्तिवादी नहीं थे । उन्होंने निरपेक्ष रूप से अहिंसा के सिद्धान्त का अनुगमन करने का उपदेश नहीं दिया । उन्होंने अपराधियों को दण्ड देने की अनुमति दी । यदि राज्य के अधिकारी किसी डाकू को मृत्यु दण्ड दे देते तो वे उस पर आँसू नहीं बहाते । कुछ वेद-मंत्रों में ईश्वर से न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करने वालों को परास्त करने में सहायता देने की प्रार्थना की गयी है । यद्यपि दयानन्द ने 'उचित हिंसा' के सिद्धान्त का समर्थन किया और सिद्धान्त रूप में निरपेक्ष अहिंसा के आदर्श को कभी स्वीकार नहीं किया, किन्तु संन्यासी होने के नाते निजी जीवन में वे अहिंसा के अनुयायी थे । अनेक बार उन्होंने उन दुष्टों को क्षमा कर दिया जिन्होंने उन्हें शारीरिक चोट पहुँचाने का प्रयत्न किया था । कहा जाता है कि उन्होंने उस व्यक्ति को क्षमा करके, जिसने उन्हें घातक विष पिला दिया था, उच्चतम प्रकार की क्षमाशीलता का परिचय दिया । किन्तु दयानन्द यथार्थवादी थे, इसलिए समझते थे कि निरपेक्ष अहिंसा के आधार पर किसी भी प्रकार के राज्यतंत्र का निर्माण नहीं किया जा सकता ।

(ङ) **ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता**—दयानन्द ने राष्ट्रीय देशभक्ति का पक्ष पोषण किया, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपने निजी जीवन में वे अराजकतावादी थे और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आधीनता स्वीकार नहीं करते थे । किन्तु उन्होंने राज्य का नाश करने की कल्पना कभी नहीं की । और न उन्होंने बाध्यकारी सत्ता से शून्य राजनीतिक व्यवस्था का ही स्वप्न देखा । किन्तु संन्यासी के नाते अपने वैयक्तिक जीवन में उन्होंने ईश्वर को ही प्रभु माना । उनके इस विचार का मध्ययुगीन यूरोप के प्राकृतिक विधि सम्प्रदाय की उस धारणा से दूर का साम्य था जिसके अनुसार प्राकृतिक विधि को राज्यारूढ़ राजा की सत्ता से ऊँचा माना जाता था । यदि ईश्वरीय विधि और राजनीतिक सत्ताधारी की विधि में से किसी एक को पालन करने का निर्णय करना पड़े तो दयानन्द बिना किसी शर्त के ईश्वरीय विधि का अनुगमन करेंगे, क्योंकि वे ईश्वर के सार्वभौम प्रभुत्व को स्वीकार करते थे और उसके प्रति भक्ति को स्पष्टतः सर्वोच्च मानते थे । उनके शब्द हैं : "और यह समझें कि 'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम' । हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं, वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे ।"[22]

(च) **वैदिक सार्वभौमवाद**—दयानन्द भारत में वैदिक संस्कृति तथा जीवन-प्रणाली का अक्षरशः पुनरुद्धार करने में विश्वास करते थे । किन्तु उनकी दृष्टि अपने देश के भौगोलिक

---

21 मनुस्मृति पर आधारित (7, 101-17) । मनुस्मृति के इन श्लोकों का अनुवाद करते समय दयानन्द ने सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा का आदर्श अपनी ओर से जोड़ दिया है ।

22 'सत्यार्थ प्रकाश' अध्याय 6 ।

क्षितिज तक ही सीमित नहीं थी। उनका दावा था कि यद्यपि मैंने आर्यावर्त में जन्म लिया है और वहीं निवास कर रहा हूँ, किन्तु मेरा उद्देश्य मानवमात्र की मुक्ति करना है। उन्हें किसी का भी वन्धन में रहना प्रिय नहीं था। अतः हमें दयानन्द की शिक्षाओं में मानवतावादी सार्वभौमवाद के अंश भी देखने को मिलते हैं। उन्होंने लिखा है : "समाज का प्राथमिक उद्देश्य मनुष्य जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक दशा को सुधारकर समस्त विश्व का कल्याण करना है। मैं उस धर्म को स्वीकार करता हूँ जो सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित है और जिसमें वह सव समाविष्ट है जिसको मनुष्य जाति सत्य समझकर सदैव से मानती आयी है और जिसका वह आगे के युगों में भी पालन करती रहेगी। इसी को मैं धर्म कहता हूँ—सनातन नित्यधर्म जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। मैं उसी को मानने योग्य मानता हूँ जो सव मनुष्यों के द्वारा और सव युगों में विश्वास करने योग्य हो।" ('सत्यार्थ प्रकाश')। दयानन्द ने आर्य समाज के अतिरिक्त परोप-कारिणी सभा नामक एक अन्य संस्था भी स्थापित की। उसका प्रवन्ध तेईस न्यासधारियों की एक समिति के हाथों में था। उसके तीन मुख्य काम थे : (1) वेदों तथा वेदांगों के ज्ञान का प्रसार करना ; (2) विश्व के सव भागों में धर्मप्रचारक भेजना तथा प्रचार केन्द्र स्थापित करना जो लोगों को वैदिक धर्म की शिक्षा दें और सत्य पर दृढ़ रहने तथा असत्य का परित्याग करने का उपदेश दें ; और (3) अनाथों तथा दरिद्र भारतवासियों को संरक्षण तथा शिक्षा देना। दयानन्द ने अनुभव किया कि भारतीय समाज के दलित तथा गिरे हुए वर्गों का उद्धार करना सर्वोच्च तथा तात्कालिक आवश्यकता का विषय है। किन्तु साथ ही साथ उनकी तीव्र इच्छा थी कि संसार में शुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय। वे विश्ववन्धुत्व के आदर्श के महान समर्थक थे। किन्तु उनके अन्तर-राष्ट्रवाद में विश्व के राष्ट्रों के राजनीतिक संघ की कोई कल्पना नहीं थी। उनका विश्ववन्धुत्व एक ऐसे उपदेशक और सन्देशवाहक का रोमांटिक अन्तरराष्ट्रवाद था जो उस दिन का स्वप्न देखा करता था जव सम्पूर्ण विश्व वैदिक शिक्षाओं का अनुयायी वन जायगा।

6. निष्कर्ष

दयानन्द ने भौतिक जगत की स्वतंत्र सत्ता पर जो दार्शनिक वल दिया उसका महान राष्ट्रीय महत्व है। वे प्रकृति को माया अथवा भ्रान्ति नहीं मानते। उनके मतानुसार उसकी अपनी वास्तविक सत्ता है। अतः सामाजिक तथा राजनीतिक कर्म और भौतिक समृद्धि का अपना मूल्य और महत्व है। दयानन्द की समाज-सुधार तथा पुनःस्थापना के कार्यक्रम की योजना भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक प्रगति की पूर्वगामी सिद्ध हुई। उनके इस सन्देश का भी महान राष्ट्रीय मूल्य है कि सभी को (अछूतों तथा विश्व भर के लोगों को भी) वेदों का ज्ञान प्राप्त करने तथा वेदाध्ययन का समान अधिकार है। दयानन्द भारतीय राष्ट्र के एक महान निर्माता थे और उनका आधुनिक भारत के एक निर्माता के रूप में सदैव सम्मान किया जायगा। उन्होंने हिन्दुओं में अभिक्रम आस्था, नैतिक तथा सामाजिक उत्तर-दायित्व की भावना तथा आत्मविश्वास कूटकूट कर भर दिया था। अनेक दशाब्दियों के विदेशी आधि-पत्य के कारण हिन्दू जनता आत्मविश्वास तथा सामाजिक आदर्शवाद खो वैठी थी। दयानन्द ने निर्भय होकर वैदिक ज्ञान की सर्वोच्चता का डंका वजाया। उस युग में वैदिक तथा प्राचीन संस्कृति के ज्ञान के पक्षपोषण के आश्चर्यजनक परिणाम हुए। हिन्दुओं ने अपने अधिकारों के विषय में आग्रह करना सीख लिया।[23] उन्हें अपने जीवन को ढालने के लिए एक नयी दृष्टि तथा नया आदर्श मिल गया। पंजाव में दयानन्द का प्रचण्ड प्रभाव पड़ा। कदाचित यह अतिशयोक्ति न होगी कि वे पंजाव के राष्ट्र-वाद के जनक थे। उत्तर प्रदेश में भी उनका प्रभाव उल्लेखनीय था। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके आर्य समाजी अनुयायियों ने उनके जीवन के महान कार्य को जारी रखा।

दयानन्द ने परोक्ष रूप से भी स्वतंत्र राजनीतिक जीवन की नींव डाली। उन्होंने चरित्र-निर्माण, नैतिक शिक्षा, शुद्धता तथा ब्रह्मचर्य पर विशेष वल दिया। इन मान्यताओं को उन्होंने स्वयं अपने जीवन में साक्षात कर लिया था, इसलिये उनकी शिक्षाओं ने जनता की कल्पना को प्रज्ज्वलित

---

23 जे. रेम्जे मैकडोनल्ड ने अपनी पुस्तक *The Government of India* में पृष्ठ 237-39 पर आर्य समाज का एक आक्रामक, तेजयुक्त, पुरुषार्थपूर्ण और प्रचारवादी सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख किया है।

किया। समस्त उत्तर भारत में जनता के जीवन तथा विचारों पर दयानन्द के व्यक्तित्व और चरित्र की अमिट छाप पड़ी है।

दयानन्द ने वैदिक स्वराज्य का गुणगान किया। यद्यपि वे देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे, किन्तु उस समय वे खुलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भर्त्सना न कर सके। अतः उन्होंने स्वराज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके ही सन्तोष कर लिया। वेदों में स्वराज्य की जो धारणा मिलती है उसका अभिप्राय है शान्ति, समृद्धि, स्वतन्त्रता तथा प्रचुरता का साम्राज्य। ऐसा स्वराज्य पारस्परिक सहयोग तथा अवयवी एकता की भावना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। स्वराज्य के सिद्धान्त की शिक्षा देकर दयानन्द ने भावी स्वतन्त्रता की नींव तैयार करदी। उन्होंने देश की जनता को एक ऐसा आदर्श प्रदान कर दिया जिसके चतुर्दिक वे अपने को संगठित कर सकते तथा जिसके साक्षात्कार के लिए वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को जुटा सकते थे।

दयानन्द के सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक सम्प्रदाय उन्हें हिन्दू समाज की एकता का प्रवर्तक तथा सम्भवतः मुसलिम धर्म विद्या और ईसाई प्रभुत्व का विरोधी मानता है। दूसरे सम्प्रदाय का मत है कि वे वैदिक सार्वभौमवादी थे और विश्व में वैदिक ज्ञान का पक्षपोषण करना चाहते थे; हिन्दू समाज के तात्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्वार्थों से उन्हें प्रयोजन नहीं था। दयानन्द के कुछ तात्कालिक शिष्य आर्य समाज को हिन्दू समुदाय से पृथक तक मानने को तैयार थे। स्वामीजी वैदिक धर्म की पुनःस्थापना करना चाहते थे। वे जन्म से हिन्दू थे, हिन्दुओं के बीच में रहते थे, एक हिन्दू संन्यासी के शिष्य थे, और उनके आर्य समाज आन्दोलन को हिन्दुओं ने आथिक सहायता दी थी। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि वे मुसलिम समाज के राजनीतिक तथा आर्थिक हितों के विरोधी थे। उनका विरोध तो विश्व के धर्मशास्त्रों की उन शिक्षाओं से था जिन्हें वे बुद्धिविरोधी समझते थे यह वस्तुतः सत्य है कि दयानन्द के व्यक्तित्व तथा शिक्षाओं ने जिस शक्ति तथा उत्साह को उत्पन्न किया उससे हिन्दू एकता के आन्दोलन को भारी बल मिला, किन्तु उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि भारत में बसने वाले अन्य सम्प्रदायों के हितों का विरोध करके हिन्दुओं की एकता को सुदृढ़ किया जाय।

यह सत्य है कि दयानन्द का आदर्श वैसा अखिल भारतीय राष्ट्रवाद नहीं था जैसा हम उसे आज समझते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रों को अपना आधार बनाया और उनका प्रभाव भी हिन्दुओं तक ही सीमित था। ऐसे उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलमान दयानन्द को शत्रुता की भावना से देखते थे। किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि भारतीय राष्ट्रवाद का प्रमुख तत्व हिन्दू राष्ट्रवाद ही रहा है जिसे दयानन्द के जीवन तथा शिक्षाओं से गहरी प्रेरणा मिली थी। राष्ट्रवाद की सदैव माँग हुआ करती है कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के साहचर्यमूलक बन्धन सुदृढ़ हों। इसलिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अपने स्थानीय तथा स्वार्थमूलक लगाव तथा पसन्द से ऊपर उठना सीखे। अतः यदि मान भी लिया जाय कि दयानन्द हिन्दू एकता के समर्थक थे तो भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को बल दिया क्योंकि यदि हिन्दू, जिनका भारत में भारी बहुमत था, संगठित हो जाते तो वे निश्चय ही ब्रिटिश राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे सकते थे।[24]

दयानन्द ने स्वाधीनता की नैतिक तथा बौद्धिक नींव तैयार की। उन्होंने गाँवों तथा केन्द्रीय शासन के बीच अभिन्न और अवयवी सम्बन्धों पर जो बल दिया वह राजनीतिक सिद्धान्त को उनकी एक देन है। उन्होंने स्वराज्य के वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित किया। किन्तु उनका कट्टर वेदवाद आधुनिक बुद्धि को स्वीकार्य नहीं हो सकता। वे महान देशभक्त थे। किन्तु 'सत्यार्थ प्रकाश' में उनका यह कथन कि वेदों, मनुस्मृति और महाभारत में वर्णित राजनीतिक आदर्श अविकल तथा पूर्ण है, प्राचीन हिन्दू राजनीतिशास्त्र की गहराई तथा व्यापकता के सम्बन्ध में एक अतिशयोक्ति है। मेरा विश्वास है कि पश्चिम तथा पूर्व दोनों के ज्ञान के आधार पर ही एक समन्वित तथा व्यापक राजनीति दर्शन की

---

24 जे. एन. फार्कुहार *Modern Religious Movement in India* में पृष्ठ 358 पर लिखता है : "यही नहीं कि पुरुत्थानवादियों और अराजकतावादियों के सामान्य दृष्टिकोण में साम्य है। यह उतना ही स्पष्ट है जितना सूर्य का प्रकाश, कि अराजकतावाद का धार्मिक पहलू हिन्दुत्व के उस पुनरुत्थान का ही प्रसार था जो दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द और थियोसोफिस्टों के प्रयत्नों के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ था।

रचना करना सम्भव है। अपने उग्र वेदवाद के कारण दयानन्द पाश्चात्य सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिकों की रचनाओं में उपलब्ध सत्य के महत्व को न समझ सके।

दयानन्द ने लोकतांत्रिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के पक्ष को तीन प्रकार से बल प्रदान किया है। प्रथम, सामाजिक विचारक के रूप में उन्होंने जन्म के स्थान पर गुण, कर्म और स्वभाव को जीवन में मनुष्य की स्थिति की कसौटी माना। दूसरे, उन्होंने आर्य समाज के संगठनात्मक ढाँचे को प्रतिनिधियों के चुनाव के लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर स्थापित किया। तीसरे, उन्होंने अपने आदर्श राज्यतंत्र के लिए भी निर्वाचन के लोकतांत्रिक सिद्धान्त को स्वीकार किया। अत: पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक सिद्धान्ती न होने पर भी वे भारतीय राजनीति दर्शन के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हैं। सन्त पाल, लूथर तथा काल्विन भी राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे मतों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन्होंने परवर्ती चिन्तन, व्यवहार तथा आन्दोलनों पर गम्भीर प्रभाव डाला, इसलिए उन्हें यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान दिया जाता है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक पुनरुद्धार तथा सामाजिक सुधार के लिए शक्तिशाली आन्दोलन ही नहीं प्रारम्भ किया बल्कि उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने भारतीय राजनीतिक आन्दोलन को अनेक महान नेता तथा अनुयायी प्रदान किये हैं। उन्होंने धर्मशास्त्रीय तथा सामाजिक विषयों में बुद्धिवाद तथा स्वतन्त्रता का पक्षपोषण किया। यह सत्य है कि उनका बुद्धिवाद मनुष्य की बुद्धि को धर्मशास्त्रों के बन्धनों से पूर्णत: मुक्त करने की घोषणा नहीं करता, किन्तु उनकी यह घोषणा कि धार्मिक मामलों में निर्णय का अधिकार बुद्धि को है न कि अन्धविश्वासमूलक श्रद्धा को, एक महत्वपूर्ण अग्र कदम था। अत: वे भारत में स्वतन्त्रता के एक महान सन्देशवाहक बन गये। सामाजिक चिन्तन तथा धर्मविद्या के क्षेत्र में आंशिक बौद्धिक स्वतन्त्रता का उदय राजनीतिक जीवन की स्वतन्त्रता की नींव बन गया। इसलिए भारत के राजनीतिक दर्शन तथा संस्कृति के इतिहास में दयानन्द को सदैव ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा।

4

एनी बेसेंट तथा भगवान्दास

प्रकरण 1

एनी बेसेंट

1. प्रस्तावना

डा. एनी बेसेंट (1847-1933) जन्म से आइरिश थीं और एक समय ब्रिटेन के समाजवादियों में उनकी गणना होती थी। आधुनिक भारत के धार्मिक तथा राजनीतिक इतिहास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है[1] और आधुनिक हिन्दू धार्मिक पुनरुत्थान में उनकी भूमिका बहुत ही सम्मानपूर्ण है। उनके जीवन में अज्ञेयवाद का भी एक दौर आया था, किन्तु बाद में मैडम ब्लैवट्स्की (1831-1891) के प्रभाव से वे सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी ईश्वर में विश्वास करने लगीं। उनकी 'आत्मकथा' से प्रकट होता है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्हें मानसिक द्वन्द्वों से उत्पन्न भयंकर पीड़ा और व्यथा भोगनी पड़ी थी, किन्तु बाद में जब वे आस्तिक हो गयीं तो उन्होंने दृढ़ आत्मविश्वास और शक्ति प्राप्त कर ली। उग्रवादी राजनीति तथा आयरलैण्ड के स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन की दीक्षा उन्होंने सर चार्ल्स ब्रैडलॉ से ली थी और थियोसोफी की शिक्षा उन्होंने मैडम ब्लैवट्स्की से ग्रहण की। थियोसोफीकल सोसाइटी की स्थापना ब्लैवट्स्की और औल्काट ने 1875 में की थी। उसके 14 वर्ष उपरान्त 10 मई, 1889 को एनी बेसेंट थियोसोफीकल सोसाइटी की सदस्या बन गयीं। ब्लैवट्स्की की 1891 में मृत्यु हो गयी। उसके बाद बेसेंट ने अपने को पूर्णत: थियोसोफी के प्रचार के लिए अर्पित कर दिया। अपनी अद्वितीय वाक्पटुता और हिन्दुत्व के आदर्शों के लिए उत्साह के कारण वे बहुत लोकप्रिय बन गयीं और कुछ क्षेत्रों में तो उनका अत्यधिक आकर्षक तथा देवदूत तुल्य विभूति के रूप में सम्मान होने लगा।

बेसेंट 1893 में 46 वर्ष की आयु में भारत आयीं और सामाजिक, धार्मिक तथा शैक्षिक कार्यों में जुट गयीं। 1898 में सेंट्रल हिन्दू कॉलिज तथा सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना में उनका हाथ रहा। उनका अनुरोध था कि स्कूलों में धार्मिक शिक्षा का नियमित पाठ्यक्रम पढ़ाया जाय। 1907 में औल्काट की मृत्यु के बाद वे थियोसोफीकल सोसाइटी की अध्यक्षा चुन ली गयीं। 1914 में उन्होंने अपने आदर्शों के प्रचार के लिए 'द कॉमन वील'(जनवरी 2, 1914) और 'न्यू इण्डिया' नामक समाचार पत्रों की स्थापना की। 1917 में उनकी नजरबन्दी से देश में व्यापक असन्तोष फैला और उन्होंने जनता का इतना अधिक विश्वास प्राप्त कर लिया कि उसी वर्ष कलकत्ता में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा बना दी गयीं। 1925 में उन्होंने अपने भारतीय कॉमनवैल्थ अधिनियम (कॉमनवैल्थ आव इण्डिया बिल) के लिए आन्दोलन चलाया। 1925-26 में इंगलैण्ड की पार्लमिंट में उसका पाठन हुआ।

बेसेंट प्रभावशाली प्रचारक[2] तथा ओजस्विनी लेखिका थीं। उन्होंने शिक्षा, धर्मशास्त्र तथा राजनीति पर अनेक ग्रन्थ लिखे। उनकी 'द इण्डियन आइडीयल्स' (भारतीय आदर्श) नामक पुस्तक

---

1 एनी बेसेंट का जन्म 1847 में हुआ था और 20 सितम्बर, 1933 को अड्यार (मद्रास) में उनका देहान्त हुआ। 1874 में उनकी चार्ल्स ब्रैडलॉ से भेंट हुई और वे उनकी नेशनल सेक्यूलरिस्ट सोसाइटी की सदस्या बन गयीं।

2 एनी बेसेंट ने 1895 और 1908 में थियोसोफी के प्रचार कार्य के लिए आस्ट्रेलिया की भी यात्रा की।

भारतीय समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है, उसमें कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये कमला व्याख्यानमाला का संग्रह है। उनकी धर्म पर, विशेषकर लोकप्रिय हिन्दू धर्म तथा थियोसोफी पर, पुस्तकें अब भी ध्यान से पढ़ी जाती हैं। भारतीय राष्ट्रवाद तथा राजनीति पर उन्होंने दो मुख्य ग्रन्थ लिखे—'इण्डिया, ए नेशन' (भारत, एक राष्ट्र) और 'हाउ इण्डिया रॉट हर फ्रीडम' (भारत ने अपनी स्वतन्त्रता का निर्माण कैसे किया)।-उन्होंने और भी अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें राष्ट्रवाद को धार्मिक दिशा देने की सिफारिश की। अपनी रचनाओं में उन्होंने हिन्दुत्व का गौरवगान किया और भारतीय सभ्यता को आधुनिक युग की बरसाती सभ्यताओं से अधिक श्रेष्ठ मानकर अभिनन्दित किया।

2. एनी वेसेंट के चिन्तन का दार्शनिक आधार

एनी वेसेंट का विश्वास था कि विश्व पर एक अदृश्य और रहस्यमय देवदूतों का मण्डल[3] शासन करता है। उनका यहाँ तक दावा था कि विश्व की रक्षा करने वाले बड़े-बड़े महात्मा मेरा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

भगिनी निवेदिता की भाँति वेसेंट भी हिन्दू दर्शनों तथा पंथों के सभी रूपों और पक्षों का पुनरुद्धार करना चाहती थीं। उनका दृष्टिकोण उदार था, न कि आलोचनात्मक, अतः उन्होंने हिन्दुत्व के सभी तत्वों को अक्षरशः और निरपेक्ष रूप से स्वीकार कर लिया। हिन्दू सर्वेश्वरवाद ने उन्हें विशेषतः आकृष्ट किया[4]; और वे अद्वैत वेदान्त को हिन्दुत्व तथा इस्लाम के बीच की कड़ी मानती थीं।[5] इस प्रकार उनका मार्ग रामकृष्ण और विवेकानन्द के जैसा था; दयानन्द की आलोचनात्मक और बुद्धिवादी भावना तथा ध्वंसात्मक आवेश के साथ उनका कोई साम्य नहीं था। उन्होंने 'अंग्रेजियत में रँगे हुए भारतीयों के वर्णसंकर तथा निष्फल आदर्शों' का परित्याग करने का भी समर्थन किया। किन्तु हिन्दुत्व के सभी पहलुओं में दृढ़ता से विश्वास करने पर भी उन्होंने बढ़ते हुए ऐहिकवाद तथा भौतिकवाद को ध्यान में रखते हुए हिन्दुत्व के दिव्य तथा पारलौकिक तत्वों को अधिक महत्व दिया। पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने उन्हें अत्यधिक मोहित किया था, और उनका विश्वास था कि अपने पूर्व जन्मों में वे हिन्दू थीं।[6] उनका भगवद्गीता का अनुवाद तथा 'हिंट्स ऑन द स्टडी आव द् भगवद्गीता' (भगवद्गीता के अध्ययन के लिए संकेत) शीर्षक पुस्तक हिन्दू धर्म तथा दर्शन में उनकी गम्भीर आस्था का प्रमाण है। नैतिकता के सम्बन्ध में उन्हें अन्तःप्रज्ञावादी और उपयोगितावादी दृष्टिकोण पसन्द नहीं था; इसके विपरीत उनका अनुरोध था कि धर्म को ही सदाचार का आधार बनाया जाय,[7] और इसीलिए वे धार्मिक शिक्षा को आवश्यक मानती थीं।

3. वेसेंट का इतिहास दर्शन

वेसेंट ने एक अज्ञेयवादी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया, किन्तु मैडम ब्लैवट्स्की के 'द सीक्रेट डॉक्ट्रिन' (गुप्त सिद्धान्त) के प्रभाव से अत्यधिक धार्मिक व्यक्ति बन गयीं। वे हिन्दुओं के अवतार के सिद्धान्त को मानती थीं, जिसका अभिप्राय है कि हर ब्रह्माण्ड का ईश्वर विकास की किसी संकट की घड़ी में भौतिक रूप में प्रकट होता है।

थियोसोफी की शिक्षाओं की प्रतिपादक होने के नाते वे आध्यात्मिक तथा जातिगत दोनों ही प्रकार के विकास में विश्वास करती थीं। उन्होंने स्वीकार किया कि अब तक अपने उपविभागों सहित पाँच मुख्य जातियों का विकास हो चुका है। मुख्य जातियाँ इस प्रकार हैं:

(1) अवलेह की भाँति के आकृतिविहीन प्राणियों की आदि जाति।
(2) कुछ अधिक निश्चित आकृति वाले प्राणियों की आदि जाति।
(3) लैमूरी नाम की तीसरी आदि जाति जिसके अवशेष नीग्रो लोग तथा अन्य नीग्रोई (नीग्रौइड) जातियाँ हैं।

---

3 एनी वेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 47। हेगेल की भाँति वे भी मानती थीं कि विकास के दैवी उद्देश्य को पूरा करने के लिए मनुष्य की इच्छाओं और वासनाओं का भी प्रयोग किया जाता है।
4 एनी वेसेंट, *The Indian Ideals*, पृष्ठ 78।
5 वही, पृष्ठ 84।
6 कहा जाता है कि उससे भी पहले के एक जीवन में वेसेंट ज्ुर्दानो ब्रूनो थीं।
7 एनी वेसेंट, *For India's Uplift*, पृष्ठ 43।

(4) अटलांटिकी (अटलांटियन) कही जाने वाली चौथी आदि जाति जिसमें टोल्टी, अक्कादी और मंगोल इत्यादि जातियाँ सम्मिलित हैं ।

(5) आर्य नामक पाँचवीं आदि जाति जिसकी अब पाँच उपजातियाँ हैं : (1) भारत के आर्य,[8] (2) भूमध्य सागरीय आर्य (अरब तथा मिस्री), (3) ईरानी, (4) कैल्ट, और (5) ट्यूटन जातियाँ ।[9]

थियोसोफी के सिद्धान्तों के अनुसार दो और आदि जातियाँ होंगी और इस प्रकार उनकी संख्या सात हो जायगी । इसके अतिरिक्त आर्य जाति की दो और उपजातियाँ विकसित होंगी । बेसेंट मध्य एशिया को आर्य जाति की जन्मभूमि मानती थीं ।

4. बेसेंट के राजनीतिक विचार

(क) **स्वतन्त्रता**—बेसेंट के जीवन तथा शिक्षाओं में स्वतन्त्रता की उत्कृष्ट आकांक्षा सर्वत्र देखने को मिलती है । उन्हें अन्तःकरण की स्वतन्त्रता की तीव्र चाह थी, इसीलिए वे इंगलैण्ड के चर्च के बन्धनों को तोड़कर चार्ल्स ब्रैडलॉ के स्वतंत्र चिन्तन आन्दोलन (फ्री थॉट मूवमेंट) में सम्मिलित हो गयी थीं । उनका यह भी दावा था कि जब वे इंगलैण्ड में थीं तभी उन्होंने 1877 में भारत के लिए स्वराज्य आन्दोलन (होम रूल मूवमेंट) प्रारम्भ कर दिया था । उनका कथन है : "मेरी माँग है कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे उसके विचार कुछ भी हों, अपने स्वतंत्र चिन्तन के परिणामों को सच्चाई और स्पष्टता के साथ व्यक्त करने का अधिकार हो । और इसके लिए उसे न अपने नागरिक अधिकारों से वंचित होना पड़े, न उसकी सामाजिक स्थिति नष्ट हो और न उसकी पारिवारिक शान्ति भंग हो ।···· स्वतन्त्रता अमर और शाश्वत है, उसकी विजय निश्चित है, विलम्ब कितना ही हो जाय । ····और भविष्य में भी विजय उसी की होगी ; शर्त यह है कि हम, जो उसके पुजारी हैं, अपने तथा एक दूसरे के प्रति सत्यता का आचरण कर सकें । किन्तु जिन्हें उससे प्रेम है उन्हें चाहिए कि जैसे वे उसकी पूजा करते हैं वैसे ही उसके लिए कार्य भी करें क्योंकि परिश्रम ही स्वतन्त्रता देवी की प्रार्थना है और भक्ति ही उसका एकमात्र गुणमान है ।"[10] अतः यद्यपि बेसेंट अरविन्द की भाँति स्वतन्त्रता को आत्मा का शाश्वत गुण मानती थीं, फिर भी उनका कहना था कि स्वतन्त्रता एक बहुमूल्य विरासत है और उसे महान उद्यम तथा अनुशासन से ही प्राप्त किया जा सकता है । बेसेंट के अनुसार स्वतन्त्रता स्वेच्छाचार तथा उच्छृंखलता से सर्वाधिक दूर है । वह तो तभी उपलब्ध हो सकती है जब मनुष्य अपनी नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का संरक्षण करके भावात्मक पूर्णता को प्राप्त कर ले । अतः वाह्य क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पहले आत्मा की आन्तरिक स्वाधीनता आवश्यक है । व्यावहारिक अहं की वासनाओं का दमन करके ही स्वतन्त्रता के साक्षात्कार के लिए आवश्यक चरित्र तथा अनुशासन प्राप्त किया जा सकता है । बेसेंट लिखती हैं : "स्वतन्त्रता एक अलौकिक देवी है ; वह शक्तिशाली, कृपालु तथा कठोर है । वह भीड़ों के चीत्कार से, उच्छृंखल वासनाओं के तर्कों से अथवा वर्ग के प्रति वर्ग की घृणा से किसी राष्ट्र में अवतरित नही हो सकती । स्वतन्त्रता पृथ्वी पर वाह्य जीवन में तब तक कभी अवतरित नहीं होगी जब तक कि वह पहले आकर मनुष्यों के हृदयों में विराजमान नहीं हो जाती, जब तक उच्च प्रकृति वासनाओं एवं प्रबल इच्छाओं की निम्न प्रकृति पर, अपना स्वार्थ पूरा करने तथा दूसरों को कुचल डालने की इच्छा पर, आधिपत्य स्थापित नहीं कर लेती । स्वतंत्र राष्ट्र की स्थापना तभी हो सकती है जब ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति हों जो स्वतंत्र पुरुषों और स्त्रियों का प्रयोग करके उसका निर्माण करने की क्षमता रखते हों । किन्तु कोई स्त्री अथवा पुरुष तब तक स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता जब तक वह वासनाओं, दुर्व्यसनों, मद्यपान अथवा अन्य किसी ऐसे दुर्गुण के वशीभूत है जिस पर वह काबू नहीं पा सकता । आत्मनिग्रह ही केवल वह नींव है जिस पर स्वतन्त्रता का निर्माण किया जा सकता है । उसके बिना आपको अराजकता उपलब्ध हो सकती है, स्वतन्त्रता नहीं, और वर्तमान अराजकता में जो भी वृद्धि होती है उसका मूल्य हमें अपना सुख देकर चुकाना पड़ेगा । किन्तु जब स्वतन्त्रता आयेगी तो वह ऐसे

---

8 एनी बेसेंट भारत को सम्पूर्ण आर्य जाति की मातृभूमि मानती थीं ।

9 एनी बेसेंट, *Civilization's Deadlocks and the Kings*, पृष्ठ 20 ।

10 एनी बेसेंट, *Civil and Religious Liberty*, 1883 ।

राष्ट्र में अवतरित होगी जिसके हर स्त्री और पुरुष ने आत्मनिग्रह और आत्मशासन सीख लिया है। और केवल तभी राजनीतिक स्वतन्त्रता का निर्माण किया जा सकेगा। चूँकि राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्ति की स्वतन्त्रता का फल है, न कि झगड़ालू वासनाओं की उपज, इसलिए उसका निर्माण वे स्त्री और पुरुष ही कर सकते हैं जो स्वयं स्वाधीन, बलवान एव सदाचारी हैं, जिनका अपनी प्रकृति पर शासन है, जिन्होंने अपनी प्रकृति को श्रेष्ठतम आदर्शों के लिए प्रशिक्षित कर लिया है।[11] स्वतन्त्रता का साक्षात्कार करने के लिए धर्मानुकूल आचरण करना आवश्यक है, और धर्म का आधार सब जीवित प्राणियों तथा परब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिए वेसेंट ने मनुष्य विषयक इस धारणा का परित्याग करने की अपील की कि वह स्वभावतः एकाकी व्यक्ति है और अकेलेपन की दशा में सब प्रकार के अधिकारों से युक्त था।[12] 1914 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन के अवसर पर अपने भाषण में उन्होंने स्वतन्त्रता के समर्थन में मिल्टन तथा मिल का उल्लेख किया। 1915 में बम्बई अधिवेशन में उन्होंने 1818 के विनियम 3 को 'पुरानी बोर्बों बर्बरता का निर्लज्जतापूर्ण पुनरुद्धार' बतलाया और उसकी भर्त्सना की।

(ख) **अभिजाततंत्रीय समाजवाद**—वेसेंट ने एक समाजवादी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया था।[13] उन्होंने व्यक्तिवाद की युयुत्सु प्रवृत्ति का विरोध किया और साहचर्यमूलक सहयोग का उपदेश दिया। किन्तु उनकी सामूहिक संवेगों के उभाड़ से सहानुभूति नहीं थी, और न वे उस सिद्धान्तवादी समता के आदर्श से सहमत थीं जिसका सम्बन्ध प्रायः समाजवाद के साथ जोड़ा जाता है।[14] वे सार्वजनिक सम्पत्ति पर आधारित ऐसा समाजवाद चाहती थीं जिसमें 'व्यक्तियों की योग्यताओं तथा कार्यों का बुद्धिमत्ता से सम्पादित, परस्पर लाभप्रद तथा आनन्ददायक सामंजस्य' हो। जनता के समाजवाद के स्थान पर उन्होंने ऐसी व्यवस्था का समर्थन किया जिसमें वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध लोगों को शासनतंत्र का नियमन करने का अधिकार हो। अतः प्रभुत्व की समस्या के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण प्लेटो के सदृश था। प्लेटो की भाँति वे भी चाहती थीं कि शासन का अधिकार उन लोगों के हाथों में हो जो नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से प्रशिक्षित और अनुशासनबद्ध हों। वे समाज के संस्कारविहीन सदस्यों के हाथों में शासनतंत्र सौंपने के विरुद्ध थीं। उन्होंने लिखा है : "हमें चाहिए कि राज्य को वह ज्ञान वापस दे दें जिसका उसके पास अभाव हो गया है, और राज्य को इस खतरे से बचायें कि कहीं ज्ञानशून्य निर्वाचकगण अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्थाओं को न उलट दें, और सम्भवतः हमें युद्ध में अथवा उससे भी अधिक गर्हित अपमान की भट्टी में न झोंक दें। ये निर्वाचकगण वस्तुतः ऐसे व्यक्ति को चुनने के लिए झगड़ते हैं जो उनकी खानों, उनकी नालियों और उनके स्थानीय मामलों की, जिन्हें वे स्वयं भलीभाँति समझते हैं, देखभाल कर सकें। ये सामान्य सिद्धान्त हैं जिनका परिवर्धन किया जा सकता है और जिन्हें आधुनिक परिस्थितियों में लागू किया जा सकता है। मतदाताओं द्वारा नियन्त्रित और संख्या द्वारा निर्देशित लोकतान्त्रिक समाजवाद कभी सफल नहीं हो सकता। कर्तव्य की भावना से नियन्त्रित और ज्ञान द्वारा निर्देशित वास्तविक अर्थ में अभिजाततन्त्रीय समाजवाद[15] सभ्यता के विकास में एक महत्वपूर्ण उन्नति की ओर ले जाने वाला कदम होगा।" किन्तु जो अभिजाततन्त्र वेसेंट के मन में है वह धनिकतन्त्रीय अभिजाततन्त्र नहीं है ; वस्तुतः वह ज्ञान और नैतिक बल का अभिजाततन्त्र है जिसमें शासन-सत्ता धर्मपरायण तथा प्रज्ञावान लोगों के हाथों में होगी।

(ग) **प्रातिनिधिक लोकतन्त्र की मीमांसा**—वेसेंट का राजनीति दर्शन प्लेटोवादी था, क्योंकि उन्हें संख्या के प्रभुत्व में नहीं बल्कि ज्ञान की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास था। जब डाक्टर और वकील

---

11 एनी वेसेंट, *The Changing World*, 1909।

12 एनी वेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 277-78।

13 जिन दिनों एनी वेसेंट समाजवादी थीं उन दिनों उन्होंने *Our Corner* नामक पत्रिका में "The Redistribution of Power in Society," "The Evolution of Society", "Modern Socialism," आदि विषयों पर एक लेखमाला प्रकाशित की थी।

14 एनी वेसेंट, *Lectures on Political Science*, पृष्ठ 133।

15 वेसेंट ने 30 जुलाई, 1931 को *New India* में एक लेख प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि करों का न्यायसंगत आधार पर पुनर्वितरण किया जाय जिससे समाज के धनी वर्ग हलका कर देकर ही न छूट जायें।

बनने के लिए विशिष्ट क्षमता की आवश्यकता होती है तो कोई कारण नहीं है कि उस मतदाता के सम्बन्ध में, जो राष्ट्र के मामलों का प्रबन्ध करने वाले व्यक्तियों को चुनता है, विशेष दक्षता के सिद्धान्त की अवहेलना की जाय।[16] वे इस बात को भलीभाँति समझती थीं और इसका उन्हें दुःख था कि पश्चिम के अनेक देश बाह्य लोकतान्त्रिक ढाँचे की आड़ में अराजकता, अज्ञान तथा संगठित शक्ति का अखाड़ा बने हुए थे। अतः उन्होंने लोकतन्त्र की उस परिपाटी की आलोचना की जिसके अन्तर्गत खोपड़ियाँ गिनी जाती हैं,[17] और यह नहीं देखा जाता कि उन खोपड़ियों में है क्या। बल्कि उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि पश्चिम के लोकतान्त्रिक देशों में 'बहुशिरवाले अज्ञान' का आधिपत्य है।[18] वे इस पक्ष में थीं कि आध्यात्मिक तथा नैतिक ज्ञान को दण्ड धारण करने का अधिकार दिया जाय, और बुद्धिमानों को शक्ति के सिंहासन पर आसीन किया जाय।[19] बहुसंख्यावाद तथा बहुसंख्यकों के आधिपत्य का एक ही परिणाम हो सकता है—शक्ति का पारस्परिक संघर्ष और तज्जनित अराजकता तथा गड़बड़ी और कुटिल तिकड़मपन्थियों की विजय। इस सबका एकमात्र उपचार यह है कि बुद्धिमानों को शासन का काम सौंप दिया जाय। जो स्वार्थरहित हैं, सार्वजनिक हित का परिवर्धन करने के लिए दृढ़ता से कृतसंकल्प हैं और बुद्धिमान हैं उन्हीं को शासन का भार अपने ऊपर लेना चाहिए। उनके लिए शासकीय पद स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं अपितु सामाजिक सेवा का अवसर होता है। वे लिखती हैं : "हमारे बन्धुत्व के आदर्श को शासन के क्षेत्र में चरितार्थ करने का अर्थ है कि शक्ति पर बुद्धिमानों का अधिकार हो, न कि मूर्खों का ; कानून बनाने का काम उन लोगों के हाथों में हो जो उद्योग की जटिल समस्याओं को समझते हैं, न कि उनके हाथों में जो केवल गृहस्थी की अथवा अधिक से अधिक नगर की आवश्यकताओं से परिचित हैं। सामान्य जनों को सुख का अधिकार है, किन्तु उसे वे अपने लिए शारीरिक शक्ति, विधिक हिंसा और प्रतिस्पर्धा के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। उचित यह है कि ज्ञानवान और समझदार लोग सुख-प्राप्ति के मार्ग पर उनका पथ-प्रदर्शन करें और उस तक पहुँचने में उनकी सहायता करें। श्रमिकों की इस समस्या का हल तभी हो सकता है जब श्रमिक संगठन स्वार्थी होने के बजाय स्वार्थरहित हों। यह समस्या क्या है ? हममें से प्रत्येक, जो उसका अध्ययन करता है, उसको सुलझाने का प्रयत्न करे।....किन्तु आप इसे तब तक हल नहीं कर सकते जब तक आप वर्तमान शासन करने अथवा शासन न करने की प्रणाली की निरर्थकता और निस्सारता को हृदयंगम नहीं कर लेते और इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर लेते कि सर्वश्रेष्ठ ही शासन करें।[20] शासन की समस्याओं के क्षेत्र में भी थियोसोफी के सामने बड़ा काम है। उस सबका विरोध करो जिसका उद्देश्य ऊँचे को गिराकर नीचे के बराबर करना है, और उस सबकी सहायता करो जो नीचे को उठाकर ऊँचे के बराबर पहुँचाना चाहता है। ऐसा अवसर मत आने दो कि अज्ञानी तथा मूर्ख युगों की उस संस्कृति और शिष्टता को जिसे परिश्रम और कष्ट तथा अनेक पीढ़ियों के दीर्घ संघर्ष से अर्जित किया गया है, अभिभूत करके विनाश के एक ढेर में परिवर्तित कर दें, जैसा कि अनेक बार पहले हो चुका है।.... शासन की इन समस्याओं के हल करने में एक महान आदर्श की शक्ति जुटा दो।"[21] किन्तु बीसवीं शताब्दी में भारत तथा एशिया में स्वशासन, संविधानवाद तथा लोकतन्त्र की जो प्रगति हुई है उसके सन्दर्भ में बेसेंट का नैतिक अभिजाततन्त्र का आदर्श पुरातन तथा युग की भावना के प्रतिकूल प्रतीत हो सकता है। साधारण मनुष्य को यह समझा देना कठिन होगा कि वह अयोग्य है। यह असम्भव है कि भारत का विशाल जनसमुदाय स्वेच्छा से वयस्क मताधिकार का परित्याग कर दे। भारतीय राष्ट्रवादियों को ऐसा लगेगा कि बेसेंट का शिक्षा तथा नैतिक अभिजाततन्त्र का सिद्धान्त ब्रिटिश

---

16 21 अप्रैल, 1922 की *New India* में बेसेंट का लेख।

17 *Shall India Live or Die* ? पृष्ठ 112।

18 एनी बेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 275-78।

19 वही, पृष्ठ 215।

20 एनी बेसेंट ने 1925 में जो कॉमनवैल्थ आव इण्डिया बिल प्रस्तुत किया उसमें "क्रमिक मताधिकार" पर आधारित बुद्धिमानों के अभिजाततन्त्र का प्राविधान था।

21 बेसेंट, *The Ideals of Theosophy*, 1912।

सरकार की मताधिकार को सीमित करने की उस नीति का प्रच्छन्न पक्षपोषण था जिसको वह 1909 के भारत परिषद अधिनियम (इण्डियन कौंसिल्स एक्ट) और 1919 के भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेण्ट आव इण्डिया एक्ट) के रूप में क्रियान्वित कर चुकी थीं। किन्तु एनी वेसेंट शासन के प्लेटोवादी आदर्शों की प्रतिपादक होते हुए भी गाँव पंचायत की दृढ़ समर्थक थीं ; उसे वे पूर्व का सच्चा लोकतन्त्र मानती थीं[22] और उसके पुनर्निर्माण पर उन्होंने विशेष वल दिया।[23]

(घ) **राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक सिद्धान्त**—एनी वेसेंट के मन में भारत के लिए गहरा तथा स्थायी प्रेम था। 1930 में उन्होंने एक कविता लिखी जिसमें भारत को उठ खड़े होने के लिए ललकारा :

> "हे भारत ! हे पूर्ण राष्ट्र !
> हे भारत भविष्य के !
> कितनी देर और है जव तुम अपना पद प्राप्त करोगे ?
> कितनी देर और है जव दास स्वतन्त्र जीवन वितायेंगे ?
> कितनी देर और है जव तुम्हारी आत्मा तुम्हारे सम्पूर्ण सागर में विलीन हो जायगी ?"[24]

वेसेंट ने राष्ट्रवाद के उस भौतिक सिद्धान्त का खण्डन किया जो उसे पूँजीवाद की एक गौण और विकृत उपज मानता है। वे राष्ट्र को एक गम्भीर आन्तरिक जीवन से स्पन्दित आध्यात्मिक सत्ता मानती थीं। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ें भारत के प्राचीन साहित्य और उस साहित्य में साकार हुए अतीत में ढूँढ़ निकाली थीं।[25] कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में वेसेंट ने कहा : "राष्ट्र क्या है ? वह ईश्वरीय अग्नि की एक चिनगारी है, ईश्वरीय जीवन का एक अंश है, जिसे विश्व में निःश्वसित कर दिया गया है और जो अपने चतुर्दिक व्यक्तियों—पुरुषों, स्त्रियों और वालकों—के पुंज को एकत्र करके उन्हें एक समग्र के रूप में परस्पर आवद्ध कर देता है। उसके गुण, उसकी शक्ति, एक शब्द में उसकी जाति उसमें पिण्डीभूत हुए ईश्वरीय अंश पर निर्भर होती है। राष्ट्र का जादू उसकी एकता की भावना है, और राष्ट्र का प्रयोजन अपनी जातीय विशेषताओं के अनुरूप विशिष्ट पद्धति से विश्व की सेवा करना है। इसी को मत्सीनी ने उसका 'विशेष ध्येय' कहा है ; यह वह कर्तव्य है जो ईश्वर उसके जन्म के समय ही उसको सौंप देता है। अतः भारत का कर्तव्य धर्म के विचार को फैलाना था, और ईरान का शुद्धता, मिस्र का विज्ञान, यूनान का सौन्दर्य और रोम का विधि का प्रचार करना था। किन्तु कोई राष्ट्र मानवता की पूर्ण रूप से सेवा तभी कर सकता है जव उसकी वृद्धि उसकी अपनी विशेषताओं के अनुरूप हो, जब अपने विकास में वह आत्म-निर्धारित हो। वह 'स्व' हो, 'पर' नहीं। जव कोई राष्ट्र अपना ध्येय पूरा करने से पहले ही विकृत अथवा दलित हो जाता है तो उससे समस्त विश्व की हानि होती है।" वेसेंट राष्ट्र को दैवी अभिव्यक्ति का साधन मानती थीं। इस प्रकार फिख्टे, हेगेल और अरविन्द की भाँति वेसेंट ने भी राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

वेसेंट के अनुसार राष्ट्र एक आध्यात्मिक सत्ता है, और ईश्वर की एक अद्‌भुत अभिव्यक्ति है। प्रत्येक राष्ट्र ईश्वर के किसी तात्विक सत्य को व्यक्त करता है। इस अनूठी वाह्य अभिव्यक्ति का प्रतीक राष्ट्र की जनता का जातीय चरित्र होता है। वेसेंट ने लिखा है : "वह क्या चीज है जिससे राष्ट्र का निर्माण होता है ? वह चीज ईश्वर का अंश है जैसा कि अन्य व्यक्ति के सम्वन्ध में होता है ; वह एक जीवात्मा है और उसके जन्मजात गुण होते हैं जो धीरे-धीरे प्रकट होकर उसके चरित्र का निर्माण करते हैं। भारतीय और अंग्रेज की तुलना कीजिए तो आपको उनके राष्ट्रीय चरित्र का अन्तर स्पष्ट दीख जायगा : भारतीय—आध्यात्मिक, विनीत, शिष्ट, तीक्ष्णतः वौद्धिक, दर्शन तथा काव्य में प्रवृत्त, अपने पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व की तीव्र भावना से युक्त ; और अंग्रेज—थोड़ा-सा उजड्ड और उग्र, मानसिक दृष्टि से वलिष्ठ, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक, लोकभावना से

---

22 *Shall India Live or Die ?* पृष्ठ 134।
23 वही, पृष्ठ 112।
24 एनी वेसेंट, "O India ! Awake ! Arise !" *New India*, 1 मई, 1930।
25 एनी वेसेंट, *How India Wrought Her Freedom*, पृष्ठ 11।

युक्त। जलवायु, वातावरण, सामाजिक रूढ़ियाँ आदि सभी शारीरिक विशेषताओं को प्रभावित करती हैं और उनके द्वारा चरित्र को भी। प्रत्येक राष्ट्र स्पष्टत: एक व्यक्ति है और उसका अपना विशिष्ट चरित्र है। उसका चरित्र उसके मूल में अन्तर्निहित आत्मा की प्रकृति पर निर्भर होता है, और निर्भर होता है उसके उस क्रमिक विकास पर जो उसे समग्र मानव जाति के एक अंश के रूप में अपनी भूमिका अदा करने के योग्य बनाता है। भारत आज भी जीवित है, जब कि वे सब सभ्यताएँ नष्ट हो चुकी हैं जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व उसकी समकालीन थीं। इसका कारण यह है कि उसके शरीर में आज भी वही आत्मा निवास करती है जो उस समय करती थी।"[26] इस प्रकार हम देखते हैं कि बेसेंट के अनुसार राष्ट्र एक व्यक्ति, एक आध्यात्मिक सत्ता है। हेगेल, अरविन्द तथा विपिनचन्द्र पाल की भाँति बेसेंट भी राष्ट्र को परब्रह्म की अभिव्यक्ति मानती हैं। उनका मत है कि यदि किसी राष्ट्र की सरकार, भूमि आदि नष्ट हो जाय तो भी अपने धर्म के सहारे वह जीवित रह सकता है, जैसा कि यहूदियों के सम्बन्ध में हुआ।[27] जब किसी राष्ट्र के साथ निश्चित भूमि और सरकार का संयोग हो जाता है तो वह राज्य का रूप धारण कर लेता है।[28]

बेसेंट यह मानने को तैयार नहीं थीं कि भारत को राष्ट्र बनने का पाठ पश्चिम ने सिखाया था। वह अतीत से ही एक राष्ट्र था। उसके सम्पूर्ण साहित्य, दर्शन और कलाओं में जीवन्त राष्ट्रीय भावना की गहरी तथा व्यापक तरंग विद्यमान रही है। विश्व में अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ किन्तु कालान्तर में वे भूमिसात हो गयीं। किन्तु भारत अपने राष्ट्रवाद के धार्मिक स्रोतों के प्रति वफादार बना रहा, इसलिए उसकी प्राणशक्ति अक्षुण्ण रही, और वह अपनी खोयी हुई शक्ति को पुन: प्राप्त करने के योग्य बना रहा। यह कहना 'मूर्खतापूर्ण' तथा 'बेहूदा' है कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय ब्रिटिश शासन का परिणाम है।[29] इस कथन में गहराई नहीं है कि राष्ट्रत्व नस्ल की एकता और भाषा की एकता पर निर्भर होता है। राष्ट्रत्व एक आध्यात्मिक वस्तु है। राष्ट्र की प्राणशक्ति और पूर्णता का सार आकांक्षाओं की एकता में है, न कि मत की एकता में।[30] जहाँ एक विशाल जन-समुदाय उत्कृष्ट सार्वजनिक उद्देश्य से अनुप्रेरित होता है, वहाँ राष्ट्रीय एकता अनिवार्यत: आ जाती है। बेसेंट लिखती हैं : "व्यक्ति की भाँति राष्ट्र भी एक ऐसे जटिल शरीर के निर्माण की प्रक्रिया है जिसमें एक श्रेष्ठ प्रकार का जीवन—ईश्वरीय जीवन—निवास करता है। जिस प्रकार आप में से प्रत्येक एक जीवात्मा है जो आपके चरित्र को ढालता, आपकी भवितव्यता को निर्धारित करता तथा आपके विकास को अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार राष्ट्र एक जीवात्मा है : राष्ट्र एक उच्चतर कोटि का व्यक्ति है। राष्ट्र की आत्मा ईश्वर का अंश है, वह सीधी ईश्वर से आती है, और उस अंश में जो विशिष्ट गुण पिंडीभूत होते हैं उन्हीं के अनुरूप उनसे निर्मित राष्ट्र की चारित्रिक विशेषताएँ हुआ करती हैं। जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति एकसे नहीं होते, वैसे ही कोई दो राष्ट्र एकसे नहीं होते। सब राष्ट्रों की समग्रता से मानवता का निर्माण होता है—उस मानवता का जो स्वयं ईश्वर का मानवीय प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक का अपना व्यक्तित्व है। भारत के राष्ट्रीय जीवन का वैभव उसका साहित्य, उसका इतिहास, उसका धर्म और विज्ञान है, और ये सब इतने अधिक विकसित इसलिए हैं कि भारत इतना प्राचीन राष्ट्र है। किसी राष्ट्र के प्रारम्भिक जीवन में उस राष्ट्र के घटक स्वरूप व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधने के लिए धर्म अत्यन्त आवश्यक होता है। भारत मानो हिन्दुत्व के गर्भ में अवतरित हुआ था, और उसी धर्म ने उसके शरीर को दीर्घ काल तक ढाला था। धर्म परस्पर बाँधने वाली शक्ति है, और धर्म ने जितने दीर्घकाल तक भारत को बाँधकर रखा है, उतना अन्य किसी राष्ट्र को नहीं, क्योंकि वह संसार का सबसे पुरातन राष्ट्र है।"[31] बेसेंट का विश्वास था कि भारत की आध्यात्मिकता ही विश्व का परित्राण करेगी। उनके अनुसार देश की यही होतव्यता थी। इस प्रकार, विवेकानन्द और अरविन्द की भाँति बेसेंट का भी विश्वास था कि विश्व के लिए भारत का एक आध्यात्मिक ध्येय—मिशन—है।

---

26 एनी बेसेंट, *Lectures on Political Science*, 1918।
27 वही, पृष्ठ 33।
28 वही, पृष्ठ 69।
29 एनी बेसेंट, *Shall India Live or Die?* 1925, पृष्ठ 38।
30 एनी बेसेंट, *New India*, 16 अप्रेल, 1918।
31 21 फरवरी, 1917 के *New India* में एनी बेसेंट का लेख।

बेसेंट का विश्वास था कि धार्मिक समन्वय राजनीतिक पुनरुत्थान के कार्य में एक शक्तिशाली तत्व का काम दे सकता है। धर्म एकता तथा पारस्परिक निर्भरता का पाठ पढ़ाता है। विश्व के बड़े धर्मों ने मानव चेतना के नैतिक विकास में योग दिया है और सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध किया है। बेसेंट का विश्वास था कि यदि शक्ति के धार्मिक स्रोतों का निर्दिष्ट दिशा में प्रयोग किया जा सके तो भारत विश्व के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम कर सकता है। उन्होंने लिखा है : "मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म के आधार पर ही सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण किया जा सकता है।....यदि प्राचीन दर्शनों और धर्मों ने भारतीयों के हृदय में अपने साम्राज्य की पुनः स्थापना न कर ली होती तो मानव कर्तव्य के साथ-साथ मानव गरिमा का पाठ पढ़ाने वाला धर्म का तथा भारत के आत्मसम्मान का ऐसा उत्कर्ष कभी न हुआ होता जैसा कि आज हुआ है। जिन गुणों का उपदेश धर्म देता है और जो सबके सब इस पवित्र भूमि में विद्यमान हैं, उन्हीं की हमें राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यकता है। क्या हिन्दू धर्म यह नहीं सिखाता कि हमें सम्पूर्ण विश्व में एक परमात्मा के ही दर्शन करने चाहिए ? क्या हम यह नहीं जानते कि इस सर्वाधिक पुरातन धर्म का केन्द्रीय तत्व यह है कि परमात्मा प्रत्येक जाति और वर्ग के लोगों में समान रूप से निवास करता है ? क्या जरथुस्त्र के धर्म से हम राष्ट्रीय शुद्धता की आवश्यकता का और बौद्ध तथा जैन धर्मों से ज्ञान तथा सम्यक् चिन्तन की आवश्यकता का पाठ नहीं सीखते ? क्या इस्लाम हमें सच्चे लोकतन्त्र का पाठ नहीं सिखाता—लोकतन्त्र का जो हमें सब धर्मों से अधिक महान् पैगम्बर की शिक्षाओं और जीवन में समाविष्ट मिलता है ? और क्या हम इन सबमें सिक्खों के साहस का संयोग करके महान् राष्ट्रीय जीवन के गुणों को पूर्ण नहीं बना सकते ? और क्या हम अनुभव नहीं करते कि ईसाइयत हमें अपनी शिक्षा के रूप में बलिदान का महान रत्न प्रदान करती है ? इस प्रकार इन धर्मों के अनुयायी विश्व के सब धर्मों को एक ही प्रकाश की किरणें समझते हुए भारत की शुभ्र ज्योति को एक राष्ट्र का रूप देने के लिए परस्पर मिलेंगे ; न कुछ छूटेगा और न कुछ बहिष्कृत किया जायगा ; सब एक दूसरे से सीखते हुए और परस्पर प्रशंसा तथा सेवा करते हुए राष्ट्र के निर्माण में योग देंगे।"[32]

भारत के भविष्य के सम्बन्ध में बेसेंट का आदर्श बहुत उज्ज्वल तथा गौरवपूर्ण था। उनका स्वप्न था कि भविष्य में भारत और ब्रिटेन मिलकर एक राष्ट्रमण्डल का निर्माण करेंगे।[33] उन्होंने एक विश्व राष्ट्रमण्डल की भी कल्पना की थी। उनका मानव बन्धुत्व में विश्वास था। 1917 में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने गर्जना की थी : "यह देखने के लिए कि भारत स्वतन्त्र हो, वह राष्ट्रों के बीच में अपना मस्तक ऊँचा कर सके, उसके पुत्रों और पुत्रियों का सर्वत्र सम्मान हो, वह अपने शक्तिशाली अतीत के योग्य बने और उससे भी अधिक शक्तिशाली भविष्य के निर्माण में संलग्न हो—क्या यह आदर्श इस योग्य नहीं है कि उसके लिए कार्य किया जाय, उसके लिए कष्ट सहे जायँ और उसके लिए जीवन धारण किया जाय तथा मृत्यु का आलिंगन किया जाय ? क्या विश्व में ऐसा भी कोई देश है जिसकी आध्यात्मिकता के लिए हमारे मन में उतना प्रेम जाग्रत होता हो, जिसके साहित्य के लिए इतनी प्रशंसा और शूरत्व के लिए इतनी श्रद्धा उत्पन्न होती हो जितनी राष्ट्रों की इस गौरवमयी जननी भारत माता के लिए, जिसकी कोख से वे जातियाँ उत्पन्न हुईं जो आज यूरोप तथा अमेरिका से विश्व का नेतृत्व कर रही हैं ? और क्या ऐसा भी कोई देश है जिसने इतने कष्ट सहे हों जितने भारत ने सहे हैं, विशेषकर जब से कुरुक्षेत्र में उसकी तलवार टूट गयी और यूरोप तथा एशिया की जातियों ने उनकी सीमाओं को पदाक्रान्त किया, उसके नगरों को उजाड़ा और उसके राजाओं को मुकुट विहीन कर दिया ? वे जीतने आयी थीं, किन्तु यहाँ रहकर यहीं के जीवन में घुल-मिल गयीं। अन्त में, उन मिश्रित जातियों को दैवी विश्वकर्मा ने एक राष्ट्र के रूप में ढाल दिया है। इस राष्ट्र में उसके अपने गुण ही विद्यमान नहीं हैं, बल्कि उसने उन गुणों को भी आत्मसात कर लिया है जिन्हें उसके शत्रु अपने साथ लाये थे, और जिन दुर्गुणों को लेकर वे आये थे उन्हें धीरे-धीरे दूर कर दिया गया है। राष्ट्रों के बीच भारत सूली पर चढ़ाया हुआ राष्ट्र है, किन्तु सहस्रों वर्षों के बाद आज वह पुनर्जीवन की वेला में अमर, गौरवशाली और चिर तरुण होकर उठ खड़ा हुआ है।

32 27 सितम्बर, 1917 की *New India* में बेसेंट का लेख।
33 एनी बेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 314-15।

और शीघ्र ही हम भारत को गर्वीला, आत्मविश्वासी, शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र देखेंगे, वह एशिया का वैभव और विश्व का प्रकाश तथा वरदान बनेगा।" बेसेंट का विश्वास था कि भारत विश्व का त्राणकर्ता बनेगा। युग-युग से भारत न्याय, कर्तव्य, क्षमता तथा सम्यक् व्यवस्था का समर्थक रहा था। अतः आवश्यक है कि वह पहले अपनी होतव्यता को प्राप्त करे और तब मानवता के मन्दिर में अपनी उचित भूमिका अदा करे। बेसेंट के अनुसार यही ईश्वर की योजना थी और इसको पूर्ण करने के लिए महात्मा[34] तथा गुरु लोग कार्य कर रहे थे।

(ङ) **बन्धुत्व पर आधारित राष्ट्रमण्डल**—राष्ट्रवाद आध्यात्मिक तत्व है। वह जनता की अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है। राष्ट्र ईश्वर का साक्षात रूप है। किन्तु राष्ट्रवाद केवल एक प्रक्रिया है, सामाजिक विकास की अवस्था है, न कि उसकी परिणति। वह पूर्णत्व को तभी प्राप्त हो सकता है जब विश्वबन्धुत्व का आदर्श पूरा हो जाय। मत्सीनी, गान्धी और अरविन्द की भाँति बेसेंट ने भी अपनी सम्पूर्ण वाक्पटुता का प्रयोग करके राष्ट्र का गुणगान किया, किन्तु उसे व्यक्तित्व के विकास की केवल एक अवस्था माना। उससे उच्चतर अवस्था विश्व नागरिकता का राज्य है। बेसेंट ने लिखा है : "योजना की दूसरी अवस्था सब राष्ट्रों के स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डल की स्थापना है; उस राष्ट्र-मण्डल में भारत का समान स्थान और भूमिका होगी। यही कारण है कि अंग्रेज यहाँ आये और दूसरों को यहाँ से जाना पड़ा। ब्रिटिश राष्ट्र ही एक ऐसा राष्ट्र है जो अपने द्वीप में अपनी संस्थाओं के विषय में स्वतन्त्र है, यद्यपि अपने द्वीप से बाहर अपने व्यवहार में वह स्वतन्त्र नहीं है। उसे चुना गया कि वह यहाँ आये और भारतीय राष्ट्र से मिलकर एक विश्व साम्राज्य की स्थापना करे[35] ऐसे साम्राज्य की जो वस्तुतः विश्व राष्ट्रमण्डल हो, शान्ति और प्रेम से शासन करने वाला विश्व संघ हो, न कि शक्ति से शासन करने वाला विश्व साम्राज्य। यही आदर्श है जिसके लिए हम सब कार्य कर रहे हैं। इसी के लिए मनु कार्य कर रहे हैं और वे अपने श्रेष्ठ पुत्रों से पूर्व तथा पश्चिम को परस्पर सम्बद्ध करने के कार्य में सहयोग चाहते हैं :....उनका उद्देश्य है कि भारत के महान आध्यात्मिक आदर्शों और ब्रिटेन की महान भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति को समन्वित करके पूर्व तथा पश्चिम को भावी पीढ़ियों की सहायता के हेतु सामंजस्यपूर्ण सहयोग के सूत्रों से आबद्ध कर दिया जाय। भारत और ब्रिटेन इस राष्ट्रमण्डल के दो मुख्य घटक होंगे,[36] और यह राष्ट्रमण्डल भविष्य के विश्व राष्ट्रमण्डल का आदर्श बनने वाला है। यह छोटे पैमाने पर अन्तरराष्ट्रवाद का आदर्श है। इस आदर्श की स्थापना के लिए वैवस्वत मनु प्रयत्न कर रहे हैं, यद्यपि इस कार्य में उन्हें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है, जैसे मनुष्यों की इच्छाओं का पारस्परिक संघर्ष, अज्ञानियों के प्रयत्न और इनसे भी अधिक खतर-नाक अन्धकार की शक्तियाँ जो सदैव प्रकाश के बन्धुओं का विरोध किया करती हैं।[37]

बेसेंट का विश्वास था कि इस योजना में ब्रिटेन अपनी भूमिका अदा करेगा और इस प्रकार न्याय की सर्वोच्चता की रक्षा करेगा। वे लिखती हैं : "ब्रिटेन को जो अवसर मिला है वह उसी के लिए है, क्योंकि संसार भर में ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र हैं जो उसी से उत्पन्न हुए हैं और जिन्हें आप स्व-शासित उपनिवेश (डोमीनियन) कहते हैं और अन्य अनेक ऐसे देश हैं जिन्हें उसने उन्हीं की जनता की सहायता से प्राप्त किया है और जो आधीन राज्य कहलाते हैं; ये सब एक संघ के रूप में संगठित होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि विश्व में प्रथम बार ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र, जैसा कि आज आप निश्चित रूप से हैं, शक्ति का आश्रय न लेकर न्याय करने का प्रयत्न करे, यदि वह राष्ट्र दूसरों पर अत्याचार करने के बजाय उनके लिए स्वतन्त्रता के फाटक खोल दे और उन सब राष्ट्रों से, जिनसे मिलकर यह साम्राज्य बना है, कहे : 'आओ और हमारे साथ मिलकर एक साम्राज्य नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र राष्ट्रों का राष्ट्रमण्डल बनाइये, गोरों का राष्ट्रमण्डल नहीं अपितु ऐसा राष्ट्रमण्डल

---

34 एनी बेसेंट का विश्वास था कि महात्मा और ऋषि मानव जाति के विश्वास की प्रक्रिया का निर्देशन कर रहे हैं।

35 1808 में एनी बेसेंट ने कहा था कि भारत, जिसके नागरिक अपनी वासनाओं पर विजय पा लेंगे, ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र बनेगा। उनका विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र उद्दण्ड पश्चिम से हटकर वफादार पूर्व में स्थापित होगा।

36 बेसेंट ग्रेट ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए बहुत लालायित थीं, इसीलिए कभी-कभी उनके सम्बन्ध में लोगों में गलतफहमी पैदा हो गयी थी।

37 एनी बेसेंट, *The Great Plan*, 1920।

जिसमें प्रत्येक जाति, प्रत्येक रंग, प्रत्येक वंश, प्रत्येक धर्म, परम्परा तथा रीति-रिवाज के लोग स्वेच्छा से सम्मिलित हों,' तो सोचिये, इस सबका क्या अभिप्राय है। ओह ! यदि ब्रिटेन ऐसा कर सके तो इस महान योजना में उसकी भूमिका पूरी हो जायगी। उसका यही स्थान है; उसके लिए यही अवसर है।" बेसेंट का दृढ़ विश्वास था कि पूर्व तथा पश्चिम, एशिया और यूरोप बराबरी की हैसियत से साथ-साथ आगे बढ़ेंगे और मनुष्य जाति की सहायता करेंगे।

बेसेंट के सार्वभौमवाद के आदर्श का आधार उनका यह सिद्धान्त था कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा मानवता, इन सबकी प्रकृति अवयवी है। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, बेसेंट आध्यात्म तत्व (परमात्मा) को सर्वव्यापी मानती थीं। अपनी इस धारणा का उन्होंने ब्लूंट्श्ली और हरबर्ट स्पेंसर के अवयवीत्व के प्रत्यय के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने व्यक्तियों की सात कक्षाएँ निर्धारित कीं :

1. कोषिकीय प्राणी।
2. कोषिकाएँ ऊतकों में संघटित।
3. ऊतक अंगों में संघटित।
4. अंग शरीरों में संघटित।
5. शरीर समुदायों में संघटित।
6. समुदाय राष्ट्रों में संघटित।
7. राष्ट्र मानवता में संघटित।

अपने राजनीति विज्ञान पर भाषणों (लेक्चर्स ऑन पोलिटिकल साइन्स) में एनी बेसेंट ने जैविक व्यक्तियों को आठ प्रवर्गों में विभक्त किया : (1) सरल कोषिका, (2) अवयवी का निर्माण करने वाला कोषिका-समूह, (3) मनुष्य की अवस्था तक सरल अथवा जटिल अवयवी, (4) परिवार बनाने वाला मनुष्य-समूह, (5) जनजाति का निर्माण करने वाला परिवार-समूह, (6) राष्ट्र का निर्माण करने वाला जनजाति-समूह, (7) साम्राज्य अथवा राष्ट्रमण्डल का निर्माण करने वाला राष्ट्र-समूह, और (8) मनुष्य जाति का निर्माण करने वाला राष्ट्रमण्डलों अथवा साम्राज्यों का समूह। ईश्वर अपने को प्रत्येक उत्तरोत्तर अवस्था में व्यक्त करता है।

5. गान्धीजी के सत्याग्रह की मीमांसा

1913 से 1919 तक एनी बेसेंट का भारतीय राजनीतिक जीवन की अग्रणी विभूतियों में स्थान था। सितम्बर 1916 में उन्होंने होम रूल लीग (स्वराज्य संघ) की स्थापना की और स्वराज्य के आदर्श को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत प्रचार किया। किन्तु 1919 के बाद वे अकेली पड़ गयीं। बाल गंगाधर तिलक के साथ उनका कुछ विवाद हो गया। जब गान्धीजी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो वे भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से और भी अधिक पृथक हो गयीं; और यह बड़े दुःख की बात है कि जिनका किसी समय इतना अधिक आदर-सम्मान था उन्हें कुछ क्षेत्रों में सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा।[38] बेसेंट और गान्धी दोनों ही बड़े श्रद्धालु तथा गम्भीर धार्मिक व्यक्ति थे। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में दोनों का ही दृष्टिकोण धार्मिक था, किन्तु उनके दार्शनिक दिशाओं के व्यावहारिक अर्थ बहुत भिन्न थे। बेसेंट का आग्रह था कि भारत और ब्रिटेन का सम्बन्ध मनु के विधान का फल है। आध्यात्मिक देवमण्डल की इच्छा थी कि भारत का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ गठबन्धन हो। अतः यद्यपि उन्होंने स्वराज्य का ओजस्वी भाषा का समर्थन किया, फिर भी भारतीय राष्ट्रवादी उन्हें हृदय से साम्राज्यवादी समझते थे। गान्धीजी को जनता के उत्साह की लहर ने ख्याति और लोकप्रियता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया, क्योंकि उनकी कार्यप्रणाली से जनता

---

38 एम. एन. राय अपनी *Transition in India* नामक पुस्तक में लिखते हैं : "वस्तुतः एनी बेसेंट जन्म से आयरिश होने के बावजूद ब्रिटिश मध्य वर्ग के हितों की, जिनसे उनका सम्बन्ध था, प्रच्छन्न समर्थक थीं। वे सदैव ही ब्रिटिश साम्राज्य की समर्थक रही थीं। उसे वे राष्ट्र संघ (लीग आव नेशन्स) का आधार मानती थीं। जब राजनीतिक क्षितिज पर अपशकुन के बादल घुमड़ने लगे तो साम्राज्यवादी मध्य वर्ग के कल्याण की चिन्ता ने उन्हें बेचैन कर दिया।

के विदेशी साम्राज्यवाद के संस्कृतिनाशक प्रभावों के विरुद्ध अन्तर्निहित असन्तोष को उभाड़ने और संगठित करने में अभूतपूर्व सहायता मिली। किन्तु बेसेंट ने असहयोग आन्दोलन की अत्यन्त असंयत भाषा में भर्त्सना की और उसको क्रान्तिकारी, अराजकतावादी तथा घृणा और हिंसा को उभाड़ने वाला बतलाया। उन्होंने गान्धीजी का यह कहकर मखौल उड़ाया कि वे अस्पष्ट, स्वप्न देखने वाले और रहस्यवादी राजनीतिज्ञ हैं और उनमें यथार्थवाद का अभाव है। उन्हें इस बात में सन्देह था कि गान्धीजी सच्चे हृदय से पश्चात्ताप, उपवास, तपस्या आदि में विश्वास करते थे। बेसेंट ने देश को आग्रहपूर्वक चेतावनी दी कि यदि गान्धीवादी प्रणाली को अपनाया गया तो देश पुनः अराजकता के खड्ड में जा गिरेगा।

उन्होंने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन के विरुद्ध तीन आरोप लगाये :

(1) सिद्धान्ततः यह क्रान्तिकारी है। गान्धीजी सरकार को पंगु, शक्तिहीन तथा शासन के अयोग्य बना देना चाहते हैं। वे सरकार के सदस्यों की हत्या करने की सलाह नहीं देते, इससे यह तथ्य भूठा नहीं पड़ जाता कि वे क्रान्ति लाने का प्रयत्न कर रहे हैं, क्योंकि आप सरकार को मशीनगन से मारें अथवा शक्तिहीन करके, दोनों का परिणाम एक ही है—अर्थात आप सरकार को उलट देते हैं। प्रारम्भ में गान्धीजी ने सरकार के स्थान पर और कुछ स्थापित करने का प्रस्ताव नहीं किया, किन्तु अब वे एक कदम आगे बढ़ गये हैं और जनता से कहते हैं कि "वह अपने न्यायालय में जाय, व्यवस्था कायम रखने के लिए अपनी पुलिस का निर्माण करले और कदाचित उसके व्यय के लिए कर भी देने लगे।"

(2) डॉ. बेसेंट का विचार था कि असहयोग आन्दोलन भारतीयों तथा अंग्रेजों के बीच जातीय वैमनस्य उत्पन्न करता है। यद्यपि इस बात से इनकार किया जा रहा है, फिर भी इसका उद्देश्य पारस्परिक घृणा उभाड़ना है, और उससे हिंसा का फूट पड़ना अनिवार्य है। "असहयोग सरकार तथा जनता के बीच घृणा उभाड़ता है और जनता को सरकार का, जिसे गान्धीजी दुष्ट तथा क्रूर कहते हैं, शत्रु बनाता है। इसके अतिरिक्त वह जातीय घृणा भी प्रज्ज्वलित करता है। इसकी लोकप्रियता का कारण यह है कि पंजाब में किये गये अत्याचारों के कारण अगणित भारतीयों के मन *में सरकार के विरुद्ध भारी क्रोध है। साम्राज्यीय सरकार ने भारत सरकार को आदेश दिया है कि* वह दोषी अधिकारियों के विरुद्ध उचित कार्यवाही करे, किन्तु भारत सरकार ने इस विषय में निष्क्रियता का परिचय दिया है, परिणामतः सरकार के मुकाबले में जनता अपने को असहाय अनुभव करती है। लोग असहयोग को अपने क्रोध का प्रदर्शन करने का एक मार्ग समझते हैं, इसलिए उत्सुकता के साथ उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। जातीय घृणा को उभाड़ना, यदि वह सम्भव हो सके, तात्कालिक दृष्टि से सरकार के प्रति घृणा से भी अधिक खतरनाक है। हमारे सामने चार शस्त्रधारी मुसलमानों द्वारा एक निःशस्त्र अंग्रेज की हत्या का उदाहरण आ ही चुका है। जिन दो हत्यारों को गिरफ्तार कर लिया गया है उनका कहना है कि हमने खिलाफत सम्बन्धी भाषणों से उत्तेजित होकर यह हत्या की है। यह परिणाम तो पहले से ही दिखायी देता था, और यदि असहयोग को एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो यह एक हत्या इस प्रकार की अनेक हत्याओं की पूर्वगामी सिद्ध होगी। यह कोई बहाना नहीं है कि हत्यारे बुरे चरित्र के व्यक्ति थे; अज्ञानी धर्मान्धों *में ही हिंसा करने वाले मिलते हैं, न कि उच्च आदर्शों वाले व्यक्तियों में। गान्धीजी का यह कहना* सत्य हो सकता है कि जिस सरकार की वे भर्त्सना करते हैं उसके लिए उनके मन में घृणा नहीं है, केवल 'प्रेम का अभाव' है; वे सरकार को शक्तिहीन करदें और फिर भी वे घृणा से मुक्त रहें, किन्तु जो उनके अनुयायी हैं उनमें न तो उनकी जैसी सहनशीलता है और न आत्मसंयम।"

(3) बेसेंट के मतानुसार गान्धीजी का असहयोग आन्दोलन समाजविरोधी शक्ति था। उसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके समाज की नींव को आघात पहुँचाना था। "असहयोग समाज की बुनियादों पर प्रहार करता है; समाज का आधार सहयोग है, और निरन्तर सहयोग के द्वारा ही उसका अस्तित्व कायम रह सकता है। असहयोग हमें पीछे ले जाकर अराजकता की अवस्था में पटक देता है, मनुष्यों को परस्पर बाँधने वाले सूत्रों को बलात भंग कर देता

है। उसकी परिणति अनिवार्यतः दंगों और रक्तपात में होगी, जिसका एक ही फल हो सकता है—दमन तथा हमारी नागरिक दशा में सुधार की हर योजना का स्थगन।"[39]

'न्यू इण्डिया' के 10 जनवरी, 1929 के अंक में प्रकाशित अपने लेख में डॉ. बेसेंट ने भारतीय राजनीति पर महात्मा गान्धी के विनाशकारी प्रभाव का रोना रोया और "असहयोग तथा सविनय अवज्ञा के दुःसाहसपूर्ण तथा निरंकुश आन्दोलनों" की कटु भर्त्सना की।

6. निष्कर्ष

डॉ. बेसेंट अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की एक महान विभूति थीं। उनमें न्याय तथा सत्य के उद्धार के लिए संघर्ष करने वाले विद्रोही की आत्मा विराजमान थी। जब वे नास्तिक और स्वतन्त्र विचारों की थीं तब उनकी आत्मा को प्राचीन धर्मशास्त्रों तथा दर्शन से शान्ति मिली। उनमें दुर्दमनीय आदर्शवाद था ; उन्होंने समाजवाद, मजदूर आन्दोलनों, थियोसोफी तथा कॉमनवैल्थ ऑव इण्डिया बिल आदि के समर्थन में जो कार्य किये उन सबमें वह आदर्शवाद व्यक्त हुआ। 1913 से 1919 तक वे भारतीय राजनीति में सक्रिय रहीं और भारत तथा ब्रिटेन में स्वराज्य (होम रूल) के आदर्श को लोकप्रिय बनाने के लिए महत्वपूर्ण प्रारम्भिक कार्य किया। 1915 के कांग्रेस के उस समझौते में भी उनका योगदान था जिसके फलस्वरूप अतिवादी (उग्रदली) तथा मितवादी (नरमदली) पुनः परस्पर मिल गये। जब, असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो भारतीय राजनीति में उनका प्रभाव घटने लगा। उन्होंने धर्म, दर्शन तथा भारतीय राजनीति के विषय में ब्रह्म साहित्य की रचना की जिससे उनकी तीव्र बुद्धि और व्यापक ज्ञान का पता लगता है। जिस समय भारत स्वराज्य तथा होम रूल के लिए संघर्ष कर रहा था, जब राष्ट्रवाद के विरुद्ध संगठित शक्तियाँ कहीं अधिक प्रचण्ड थीं और जब अनेक भविष्यवक्ता भारत के राष्ट्र होने के दावे को ही चुनौती दे रहे थे, उस समय राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में धार्मिक और आध्यात्मिक मार्ग अपनाकर बेसेंट ने भारतीय राजनीति की सराहनीय सेवा की। 'भली वृद्ध एनी' भारत माता के मन्दिर की श्रद्धालु पुजारिन थीं। 1905-1908 के बंग-भंग विरोधी आन्दोलन के समय उन्होंने बंगाल के अतिवादियों की स्वातन्त्र्य की माँग का विरोध किया, किन्तु 1913 में उन्होंने भारत के पक्ष का समर्थन किया। भारत के लिए स्वराज्य के आदर्श को लोकप्रिय बनाने के कारण बेसेंट का भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में सदैव गौरवपूर्ण स्थान रहेगा। उनका प्रायः हेगेलवादी सिद्धान्त—कि राष्ट्र एक आध्यात्मिक सत्ता है—भारतीय समाज के पुरातनपोषी सन्दर्भ में बहुत ही उपयुक्त था। वे पश्चिमी राजनीति की भौतिकवादी और धर्मनिरपेक्ष प्रकृति के विरुद्ध थीं।

बेसेंट ने समन्वय, सहिष्णुता तथा सार्वभौम सामंजस्य के आदर्शों का उपदेश दिया।[40] उन्होंने धार्मिक घृणा तथा साम्प्रदायिक मतवाद का उन्मूलन करने की प्रेरणा दी। उन्हें पूर्व तथा पश्चिम के मिलन में विश्वास था। उन्होंने आध्यात्मिक बन्धुत्व के आदर्श का प्रतिपादन किया। मानव एकता तथा अन्तरराष्ट्रवाद की आधुनिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में बेसेंट का विश्व नागरिकता के राष्ट्रमण्डल का आदर्श, और आत्मत्याग, समर्पण और अनन्य सेवा का पाठ सिखाने वाला देशभक्ति और धर्म के एकीकरण का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन को उनकी महत्वपूर्ण देन है।

अपने 'राजनीति विज्ञान पर भाषण' में उन्होंने सर्वव्यापी आध्यात्मिक सत्ता के प्रत्ययवादी सिद्धान्त तथा ब्लूंट्श्ली द्वारा प्रतिपादित अवयवीत्व की धारणा का समन्वय करने का प्रयत्न किया। वे राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के हॉब्सवादी सिद्धान्त की कटु आलोचक थीं। अपनी प्रत्ययवादी मान्यताओं के प्रति ईमानदारी के कारण तथा टॉमस एक्विनास और ग्रीन का अनुसरण करते हुए उन्होंने स्वीकार किया कि राज्य तथा राष्ट्र का औचित्य 'सार्वजनिक साध्य' की सिद्धि में ही है। किन्तु ब्लूंटश्ली की परम्परा के अनुसार उन्होंने राज्य को 'बहुमानवीय अवयवी'[41] की संज्ञा दी। इस प्रकार बेसेंट ने आध्यात्मिक प्रत्ययवाद, सार्वजनिक शुभ के प्रयोजनवादी सिद्धान्त तथा सामाजिक अवयवीत्व की धारणा को एक सूत्र में पिरो दिया।

---

39 एनी बेसेंट, *Builder of New India* में पृष्ठ 115-16 पर उद्धृत।
40 देखिये थियोसोफीकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित *The Universal Text-book of Religion and Morals*.
41 *Lectures on Political Science*, पृष्ठ 51।

प्रकरण 2
भगवान्दास

1. प्रस्तावना

डा. भगवान्दास (1869-1959) थियोसोफिस्ट थे । काशी तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानार्थ डाक्टरेट की उपाधियाँ प्रदान की थीं और भारत के राष्ट्रपति ने उन्हें 'भारत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया था। उन्होंने धर्म, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है । उन्होंने अपना सम्पूर्ण दीर्घ जीवन बौद्धिक कार्यों में लगा दिया और इस प्रकार अरस्तू के उस आदर्श को चरितार्थ किया कि अवकाश का प्रयोग बौद्धिक गुणों के विकास के लिए करना चाहिए । वे हिन्दू धर्मशास्त्रों के सूक्ष्म निर्वचनकर्ता थे,[42] और मनुस्मृति की परम्पराओं तथा आदर्शों में उनकी गहरी जड़ें थीं । वे बेसेंट तथा विवेकानन्द की भाँति निर्भीक पुनरुत्थानवादी थे और उन्होंने हृदय से इस बात का समर्थन किया कि भावी भारत को प्राचीन भारत की आत्मा का सार सुरक्षित रखना चाहिए।

1922 में भगवान्दास ने भारत के लिए 'आध्यात्मिक राजनीतिक स्वराज' की योजना तैयार की । उन्होंने अनुरोध किया कि चुनाव में कनवैसिंग नहीं होना चाहिए और न विधायकों को स्वयं निर्वाचन के लिए खड़ा होना चाहिए । निर्वाचकों का काम है कि देशभक्त व्यक्तियों को ढूँढ़ निकालें। निर्वाचन के लिए छाँटे हुए लोगों की आयु चालीस वर्ष से अधिक हो और उन्हें गृहस्थ जीवन का अनुभव हो । उन्हें वेतन न दिया जाय । उत्तरदायी शासन तथा स्वशासन का सार यह है कि कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी हो ।[43] 1923 में भगवान्दास और चित्तरंजनदास ने 'स्वराज की योजना' की रूपरेखा तैयार की । उसमें कहा गया कि भारत के लिए एक सर्वोच्च विधायिका अथवा अखिल भारतीय पंचायत हो । गाँवों, शहरों, जिलों और प्रान्तों की पंचायतें मध्य और निम्न स्तरों पर अखिल भारतीय पंचायत का ही प्रतिरूप हों और उसके अभिकर्ताओं के रूप में कार्य करें।

2. भगवान्दास के चिन्तन का तात्विक शास्त्रीय आधार

भगवान्दास समन्वयात्मक निरपेक्ष एकत्ववाद के सिद्धान्त को मानने वाले थे। वे परम तत्व के विषय में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे[44] और उनका परमात्मा अथवा आध्यात्मिक, सर्वव्यापी, पूर्ण परब्रह्म में विश्वास था । भगवान्दास ने परमात्मा को 'अहम् एतत न' कहा है । वे लिखते हैं : "यह कहने की अपेक्षा कि 'सत् अवस्तु है' (जैसा कि हेगेल ने कहा है) यह कहना अधिक सरलता से समझ में आने योग्य है कि 'सत् असत् नहीं है, अवस्तु नहीं है अथवा कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है;' इससे भी अच्छा यह है कि 'अहम् अहम्-का-अभाव नहीं हैं', इससे भी अच्छा यह है कि 'मैं मैं-का-अभाव नहीं है,' उससे भी अच्छा 'मैं मैं-का-अभाव नहीं(हूँ)', और अन्त में सबसे अच्छा यह है कि 'मैं यह-नहीं हूँ । अथवा संस्कृत के क्रम से मैं (हूँ) यह-नहीं' (अहम्+एतत+न) । विश्व किसी काल-सापेक्ष अनन्त और अद्वैत ईश्वर की सृष्टि नहीं है । और न विश्व ईश्वरत्व का रूपान्तर ही है । इस प्रकार दास एकत्ववादी हैं, किन्तु शंकर की भाँति वे विश्व को माया नहीं मानते । ब्लैवट्स्की द्वारा 'आइसिस अनवेल्ड' और 'द सीक्रेट डौक्ट्रिन' नामक ग्रन्थों में प्रतिपादित थियोसोफी के ब्रह्माण्डशास्त्र का डा. दास पर प्रभाव था, इसलिए उनका विश्वास था कि ईश्वर की सत्ता में विश्व भी सम्मिलित है । फिर भी भारतीय दर्शन की भाषा में उन्होंने कहा है कि 'मूल प्रकृति' 'प्रत्यगात्मा' से अभिन्न है ।[45] उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि विश्व में एक सार्वभौम प्रयोजन है ; यह धारणा 'परमात्मा का पदार्थ में अव-

---

42 भगवान्दास, *Hindu Religion and Ethics and Sanatan Vaidik Dharma.*

43 इस आदर्श का अनुकूल दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के लिए देखिये *The Besant Spirit*, भाग 3, पृष्ठ 71 ।

44 भगवान्दास, *Contemporary Indian Philosophy* में "Atma-Vidya or the Science of the Self" शीर्षक लेख ।

45 शाब्दिक स्पष्टीकरण के लिए भगवान्दास कभी-कभी मूल प्रकृति तथा शक्ति शब्दों का प्रयोग करते हैं और आत्मा, पदार्थ तथा शक्ति इन तीन वादि तत्वों का उल्लेख करते हैं ।

रोह और उसमें से आरोह'[46] के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए जो कुछ घटित होता है उनमें ईश्वरीय योजना की क्रियान्विति ही हुआ करती है। यह योजना अपने को विकास और प्रत्यावर्तन की तालबद्ध प्रक्रिया में व्यक्त करती है। दास लिखते हैं : "ब्रह्म में स्व-पररूपता एवं स्व-स्थापना के अनन्त शाश्वत आभासपूर्ण असीम लयबद्ध प्रवाहों की गति और स्पन्दन विद्यमान हैं। उसकी ये स्व-पररूपता तथा स्व-स्थापना दोनों ही मैं के अभाव की एक क्रमरहित, समयातीत, प्रसारातीत, धारणातीत एकरूप चेतना में आबद्ध हैं।"

भगवान्दास संवेगात्मक सन्तुलन और मानसिक एकीकरण के समर्थक थे। उनके अनुसार कामुकता, लोभ और मोहजनित लगाव 'प्रेम-संवेगों' की विकृति हैं, और घृणा, अहंकार तथा ईर्ष्या 'घृणा-संवेगों' के विकृत रूप हैं। इन छह मानसिक विकृतियों की सामाजिक अभिव्यक्ति इन्द्रिय-परायणता, धनपरायणता, आतंकवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद के रूप में होती है। दास ने बतलाया कि इन सब रोगों की एकमात्र चिकित्सा यह है कि मनुष्य अपने में समुचित उदार संवेगों का विकास करे। इस चिकित्सा में उनकी आस्था इसलिए थी कि वे प्राचीन भारत की योग प्रणाली में निर्धारित मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक अनुशासन को स्वीकार करते थे, और योग संवेगात्मक एकीकरण का विज्ञान है। उनका कहना था कि सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रवर्तन करने वाले मनु थे। उनका यह भी मत था कि समाजशास्त्र तथा राजनीति को तात्विक मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए।

3. भगवान्दास के समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक विचार

भगवान्दास महाभारत में भीष्म[47] द्वारा प्रतिपादित राजधर्म की शिक्षाओं को पुनर्जीवित करने में विश्वास करते थे। उन्हें वर्णव्यवस्था के प्रवर्तकों के सामाजिक संगठन के सिद्धान्त की श्रेष्ठता में भी गहरी आस्था थी। उनका कहना था कि वर्णव्यवस्था अवयवी व्यावसायिक समाजवाद है। वे इस प्राचीन समाजवाद को आधुनिक यूरोप के यांत्रिक तथा कृत्रिम समाजवाद से श्रेष्ठ मानते थे। उनके विचार में यूरोपीय समाजवाद धनोपार्जन् की क्षमता को उत्तेजित करता और कृत्रिम समतावाद का समर्थन करता है।[48] इसके विपरीत प्राचीन व्यवस्था समन्वित स्वार्थवाद और परार्थवाद का समन्वय करती है।[49] भगवान्दास ने हिन्दू धर्मशास्त्रों पर आधारित जिस प्राचीन समाजवाद का प्रतिपादन किया उसका मुख्य सिद्धान्त है कि इतिहास की भौतिक धारणा के स्थान पर 'आध्यात्मिक भौतिकवादी निर्वचन' को प्रतिष्ठित किया जाय। वे चाहते थे कि वर्गशान्ति और वर्गसन्तुलन के सामाजिक सिद्धान्त हमारे मार्गदर्शक होने चाहिए। उनका आदर्श था : 'न्यायोचित ढंग से समन्वित स्वाभाविक व्यावसायिक वर्गों का समाज'। ऐसे सामाजिक संगठन में स्वतन्त्रता का अर्थ होगा कर्तव्यों का पालन, न कि अधिकारों का उपभोग। वे इस पक्ष में थे कि श्रम का विभाजन पुरस्कारों और श्रम की प्रेरक वस्तुओं का वितरण 'सामयिकता' के आधार पर होना चाहिए। इसके विपरीत, आधुनिक साम्यवाद में यांत्रिक तत्व की प्रमुखता रहती है। एक अवयवी सामाजिक दर्शन व्यक्ति की विशिष्टता और सामाजिक एकता दोनों का एक साथ परिवर्धन का समर्थन करेगा।[50] भारतीय परम्परा के 'प्राचीन काल-परीक्षित वैज्ञानिक समाजवाद' ने सम्पत्ति तथा परिवार के निराकरण की कभी अनुमति नहीं दी ; उसका विश्वास इन दोनों के शुद्धीकरण में था।[51] भगवान्दास का कथन था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार व्यावसायिक वर्गों को श्रेणियों में संगठित किया जाय, और

---

46 भगवान्दास, *Krishna*, पृष्ठ 10।

47 वही, पृष्ठ 268।

48 भगवान्दास, *The Science of Social Organization, Ancient vs. Modern Scientific Socialism*, मद्रास, 1934।

49 भगवान्दास, *Social Reconstruction with Special Reference to Indian Problems*, पृष्ठ 58।

50 भगवान्दास, *World Order and World Religion*, पृष्ठ xx। उन्होंने 'बुद्धिवादी मानवतावादी व्यक्तिवादी समाजवाद' का समर्थन किया है और कहा है कि ऐसी व्यवस्था ही आधुनिक रोगों तथा संघर्षरत राजनीतिक विचारधाराओं का उपचार है।

51 भगवान्दास, *Ancient vs. Modern Scientific Socialism*, पृष्ठ ix।

उन श्रेणियों के अध्यक्ष चारों वर्गों में से ज्ञान और अनुभव के आधार पर निर्वाचित किये जायँ।[52] सामाजिक विकास की रूपरेखा निर्धारित करते हुए वे लिखते हैं : "सुदूर अतीत में असभ्य जनजातियों के प्रवृत्यात्मक सामूहिक जीवन तथा आदिम साम्यवाद से विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई ; उसके उपरान्त वर्तमान के अत्यधिक प्रतियोगितामूलक, पृथक्कारी तथा स्वार्थवादी व्यक्तिवाद का दौर आया। अब इसमें से निकलकर पीछे की ओर मुड़ना और उच्चतर स्तर पर विचारपूर्ण चेतनामूलक, वैज्ञानिक आधार पर नियोजित सहयोगी समाजवाद की स्थापना करना है। आज पश्चिम में जिस अस्वाभाविक यांत्रिक, समतामूलक और सत्तावादी, इसलिए अनिवार्यत: अस्थिर साम्यवाद का परीक्षण किया जा रहा है, वह समस्या का हल नहीं है ; बल्कि समाजवाद स्वाभाविक हो, मनोवैज्ञानिक नियमों और तथ्यों पर आधारित हो, व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और व्यवसायों के आधार पर संगठित वैयक्तिक-सामाजिक संगठन का समाजवाद हो जिसमें जीवन-निर्वाह के साधनों तथा जीवन के पुरस्कारों का न्यायसंगत वितरण हो।····यही मानव प्रगति का वांछनीय मार्ग प्रतीत होता है।" यद्यपि भगवान्दास वर्णव्यवस्था को प्राचीन समाजवाद के नाम से पुनर्जीवित करना चाहते थे, किन्तु उससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि उन्होंने आधुनिक जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत किये गये अन्यायों का कभी समर्थन किया। उनका अनुरोध था कि जाति-व्यवस्था की जटिलता को बहुत कुछ शिथिल किया जाना चाहिए।[53] किन्तु वे वर्गविहीनता के स्थान पर व्यावसायिक वर्गों के समर्थक थे।

डा. भगवान्दास ने सभी धर्मों की तात्विक एकता का समर्थन किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि तत्वत: सभी धर्म एक हैं। इस प्रकार वे विश्व धर्म—थियोसोफी तथा अन्तर्राष्ट्रवादी संस्कृति—के आदर्श के अनुयायी थे।[54] उनके विचार में युद्ध गहराई में पड़े हुए रोगों की बाह्य अभिव्यक्ति हैं इसलिए उनके उपचार के लिए एक बौद्धिक विश्वधर्म की आवश्यकता है, और वही स्थिर तथा सामंजस्यपूर्ण विश्व-व्यवस्था का आधार बन सकता है।[55] भगवान्दास एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के पथ-प्रदर्शक थे। उनका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति में सब धर्मों और संस्कृतियों के सामान्य और आधारभूत तत्वों का समावेश होना चाहिए।[56] अरविन्द की भाँति उन्होंने भी वेदान्त तथा विज्ञान के समन्वय की कल्पना की थी। उनकी इच्छा थी कि पूर्व तथा पश्चिम का मिलन हो। इसलिए उन्होंने संघर्षों के स्थान पर शान्ति का पक्षपोषण किया।[57] वे स्थानीय पंचों और साम्प्रदायिक मतवादों से कट्टरता के साथ चिपटे रहने के भी विरुद्ध थे। राष्ट्र संघ (लीग आव नेशन्स) राजनीतिक तथा आर्थिक स्तरों पर मानव बन्धुत्व को साक्षात्कार करने का एक प्रयत्न था। भगवान्दास ने सच्चे हृदय से इस बात का समर्थन किया कि इस भौतिक राष्ट्रसंघ के एक अपरिहार्य पूरक के रूप में एक 'सब धर्मों के आध्यात्मिक संघ'[58] का भी संगठन किया जाना चाहिए।

सभ्यता के सम्बन्ध में भी अलबर्ट श्वाइट्जर, गान्धी तथा अरविन्द की भाँति भगवान्दास का भी दृष्टिकोण नैतिकतावादी था।[59] वे नैतिक मान्यताओं को पुनर्जीवित करने के पक्ष में थे। वे लिखते हैं : "सभ्यता अपने नाम को तभी सार्थक कर सकती है जब उसमें सद्भावना, बल्कि प्रेमपूर्ण सक्रिय सहानुभूति, आत्मसंयम, मिताचार, साहस, सहनशीलता और कर्तव्य की उत्कृष्ट भावना व्याप्त हो; जबकि इन गुणों का इन्द्रियपरायणता, अहंकार, घृणा, लोभ, ईर्ष्या तथा स्वार्थमूलक भय पर आधिपत्य हो। हृदय के पूर्वोक्त गुण ही उस सच्चे समाजवाद के सतयुग की स्थापना कर सकते

52 *Contemporary Indian Philosophy* में भगवान्दास का लेख, पृष्ठ 222।

53 भगवान्दास, *Social Reconstruction*, पृष्ठ 78। भगवान्दास का विचार था कि भारत का पराभव मुख्यत: इसलिए हुआ है कि समाज व्यवस्था स्वाभाविक व्यावसायिक प्रवृत्तियों पर आधारित न रहकर वंशानुक्रम पर आधारित हो गयी है। देखिये उनकी *World Order and World Religion*, पृष्ठ 199।

54 भगवान्दास, *The Essential Unity of All Religions*.

55 भगवान्दास, 'World War and Its Only Cure,' *World Order and World Religion*.

56 भगवान्दास के अनुसार मानवतावाद, अन्तर्राष्ट्रवाद, अन्तरधर्मवाद सब एक दूसरे के पहलू हैं।

57 भगवान्दास, *The Science of Peace*, मद्रास, 1948 (तृतीय संस्करण)।

58 भगवान्दास, "Spiritual Purity, the Basis of Material Prosperity," *Dayanand Commemoration Volume* (अजमेर 1933) पृष्ठ 73-103।

59 भगवान्दास, *Krishna*, पृष्ठ 21।

हैं जिसकी मनुष्य युग-युग से कामना करता आया है। ऐसा समाजवाद एक और कृत्रिम तथा बलात् थोपे गये साम्यवाद से भिन्न होगा। दूसरी ओर वह उस उत्पीड़नकारी व्यक्तिवाद के दुर्गुणों से मुक्त होगा जिसकी अभिव्यक्ति हृदयहीन पूँजीवाद और क्रूर सैनिकवाद के रूप में होती है और जिसके अन्तर्गत बहुसंख्यक मनुष्य इसलिए कष्ट भोग रहे हैं कि समाज उपर्युक्त अवगुणों से व्याप्त हो गया है।....सर्वप्रथम मनुष्य का हृदय उदारता, सहानुभूति के धार्मिक संवेग से ओतप्रोत होना चाहिए। सच्चा समाजवाद प्राणिमात्र की एकता की भावना पर ही आधारित किया जा सकता है, जिसका अर्थ है परमात्मा का साक्षात्कार करना।"[60]

भगवान्दास व्यक्ति को प्राथमिकता देते हैं, और इसे वे भारतीय परम्परा के अनुकूल मानते हैं।[61] उन्होंने लिखा है: "भारत का प्राचीन परम्परागत उत्तर...है कि राज्य मनुष्य के लिए है, सरकार की स्थापना जनता अर्थात समाज द्वारा की जाती है, सरकार का मौलिक कार्य कानून तथा व्यवस्था कायम रखना है, और सार्वजनिक कल्याण का परिवर्धन करना उसका सेवा कार्य है, और उसका मौलिक कार्य सेवा कार्य के अधीन होता है।"[62] राज्य के दो मुख्य काम हैं: (1) दुष्ट-निग्रह, और (2) शिष्ट-संग्रह। क्षत्रियों की श्रेणी दुष्ट-निग्रह का मौलिक कार्य करेगी। ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की श्रमिक श्रेणियाँ राज्य के सेवा कार्य का सम्पादन करेंगी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्दास की पुनरुत्थानवादी योजना में व्यक्ति को अपना व्यवसाय चुनने का बहुत कम अवसर मिल सकेगा। प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनुसार व्यक्ति को दार्शनिक विचारों के विषय में स्वतन्त्रता थी, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के प्रबल आधिपत्य के कारण उसे सामाजिक तथा राजनीतिक मामलों में स्वतन्त्रता का प्रयोग करने की बहुत कम सुविधा थी। किन्तु यदि व्यक्ति को प्राथमिकता मिलनी है तो वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरों पर भी मिलनी चाहिए। इस विषय में भगवान्दास के प्राचीन साम्यवाद के पास देने को कुछ भी नहीं है।

भगवान्दास पर पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की अगस्तीनी (सन्त अगस्ताइन) की धारणा का गम्भीर प्रभाव था। उन्होंने लिखा है: "धर्मशास्त्रों में पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की चर्चा है। स्पष्ट है कि यह राज्य स्वराज्य ही है जिसमें उच्चतर आत्मा[63] शासन करती और कानून बनाती है। उच्चतर आत्मा उन जीवों में निवास करती है जो अन्य प्राणियों के साथ एकात्म्य का अनुभव करते हैं और इसलिए जो त्यागी, बुद्धिमान, परोपकारी तथा अनुभवी हैं।[64] इसी सरल तथ्य में मनुष्य की सभी समस्याओं की कुंजी निहित है। यदि उच्चतर आत्मा परिवार के विषय में सोचने लगे तो गृहस्थ जीवन सुखी होगा।....यदि वह आर्थिक क्षेत्र पर शासन करने लगे तो आवश्यकता और आराम की वस्तुओं का वितरण न्यायसंगत होगा, क्योंकि धन का संग्रह स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नहीं बल्कि अपने को न्यासधारी (ट्रस्टी) समझने वाले स्वामियों के माध्यम से सार्वजनिक कल्याण के लिए किया जायगा।....यदि वह राजनीति का नियमन करने लगे तो कोई भी व्यक्ति

---

60 भगवान्दास, *The Essential Unity of All Religions*, पृष्ठ 550।

61 भगवान्दास, *Ancient vs. Modern Socialism*, पृष्ठ 50। दास का कथन है कि साम्यवादी नियोजन का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें 'वैयक्तिक जीवन को व्यवस्थित ढंग से नियोजित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता।'

62 भगवान्दास, "Indian Culture," *Indian Congress for Cultural Freedom* (बम्बई, द कबड प्रेस, 1951) पृष्ठ 113-19।

63 भगवान्दास के अनुसार स्व अर्थात् उच्च आत्मा के द्वारा समाज का शासन ही स्वराज है। इसका अभिप्राय हुआ "सर्वोत्तम, सर्वाधिक बुद्धिमान और सर्वाधिक परोपकारी व्यक्तियों" का शासन। भगवान्दासतथा चितरंजन-दास द्वारा रचित *Outline Scheme of Swaraj* में भगवान्दास का लिखा हुआ परिशिष्ट, पांचवां संस्करण (सी. डब्ल्यू. डेनियल कम्पनी, लन्दन, 1930) पृष्ठ 30।

64 सर्वभूतेषु च आत्मानम्।
सर्वभूतानि च आत्मनि॥
समम् पश्यन्, च आत्म-यज।
स्व-राज्यम् अधिगच्छति॥

(जो आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है, जो सबको समभाव से देखता और जिसका जीवन एक यज्ञ है, वह वास्तविक स्वराज्य को प्राप्त होता है।)

पार्टी के लिए कार्य न करेगा, सभी राज्य की सेवा करेंगे, क्योंकि सभी मामलों का प्रबन्ध न्यायोचित, सच्चा, उदार तथा सम्यक् हितों का संवर्धन और संरक्षण करने वाला होगा। ऐसी स्थिति में पार्टियों की आवश्यकता ही न रहेगी और न परस्पर झगड़ने वाले धार्मिक पंथों अथवा आपस में टकराने वाले आर्थिक हितों के आधार पर पार्टियाँ बनेंगी।[65] जहाँ कहीं उच्चतर आत्मा—बुद्धिमान, स्वार्थ-हीन, परोपकारी, विश्वसित, सम्मानित, जनता के चुने हुए तथा निर्वाचित और जनता के श्रेष्ठतम गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरुषों और स्त्रियों में पिण्डीभूत उच्चतर आत्मा—राज्य करती, शासन करती, कानून बनाती, निर्देशन करती, पथप्रदर्शन करती तथा सलाह देती है, वहीं ईश्वर का राज्य है, क्योंकि वहीं धर्म का राज्य, शासन और प्रभाव है। मनुष्य जाति की सामूहिक तथा वैयक्तिक बुद्धि में स्वराज (जनता के उच्चतर स्व का राज) का यह अर्थ बैठा देना, स्त्रियों, पुरुषों, युवकों तथा वृद्धों सबके हृदयों को इस महान सत्य से भर देना—स्वराज को प्राप्त करने और फिर उसका संरक्षण करने का यही एक तरीका है।"[66]

4. निष्कर्ष

भगवान्दास तुलनात्मक धर्मों के पंडित तथा धार्मिक स्तर पर समन्वय के समर्थक थे। उनकी रचनाएँ विश्व के विभिन्न धर्मशास्त्रों के उद्धरणों से भरी पड़ी हैं। किन्तु उनकी शैली बिखरी हुई है, क्योंकि उन्हें अपनी बात को समझाने के लिए अनावश्यक विशेषणों का संग्रह करने का शौक था। यदि दादाभाई नौरोजी की रचनाएँ इसलिए नीरस होती थीं कि उनमें ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के भाषणों और लेखों तथा सरकारी रिपोर्टों के अनन्त उद्धरणों की भरमार रहती थी, तो भगवान्दास की रचनाएँ धर्मशास्त्रों के अगणित उद्धरणों के कारण शिथिल तथा जटिल हो जाती थीं। किन्तु वे उनके धर्मशास्त्रीय पाण्डित्य की द्योतक अवश्य हैं।

भगवान्दास ने प्राचीन समाजवाद तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओं का प्रतिपादन करके प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित व्यावसायिक 'चातुर्वर्ण्य' व्यवस्था का ही समर्थन किया है। वे वर्गहीनता के स्थान पर व्यावसायिक वर्गों की स्थापना करना चाहते हैं। इस प्रकार, भगवान्दास का दावा है कि उन्होंने हमारे सामने व्यावसायिक अवयवी हिन्दू समाजवाद का सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया है। किन्तु आधुनिक मानवता सामाजिक न्याय तथा समानता की खोज में मनु से बहुत आगे बढ़ गयी है। आधुनिक बौद्धिक जगत धर्मशास्त्रों तथा प्राचीन पितरों के उपदेश का अनुसरण करने के लिए सहमत नहीं होगा। भगवान्दास ने दयानन्द और विवेकानन्द की भाँति वर्तमान जाति प्रथा को वर्णव्यवस्था के वैदिक आदर्शों के समरूप बनाने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे समय को देखते हुए पुराने पड़ गये हैं। वे इन लेखकों की इतिहासवादी तथा पुरातनपोषी प्रवृत्तियों के द्योतक हैं; आज के भारत के सामाजिक संदर्भ में उनका विशेष महत्व नहीं है। मनुस्मृति में जो सामाजिक विष दिखायी देता है उसका आधुनिक अवयवी समाज के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। वर्तमान भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का मनुस्मृति में व्याप्त घोर सामाजिक अन्याय के सिद्धान्त के साथ सामंजस्य नहीं किया जा सकता। भावी भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धान्त और राज्यनीति का निर्देशन शाश्वत पितरों की आद्य बुद्धि के आधार पर नहीं किया जा सकता, उसके लिए तो हमें जीवित पीढ़ियों के संयुक्त मानसिक तथा नैतिक साधनों का सहारा लेना पड़ेगा।

भगवान्दास वर्तमान युग की परिग्रह तथा सट्टेबाजी की उन्मादपूर्ण दौड़ के विरुद्ध थे और चाहते थे कि सम्पत्ति का प्रयोग सम्यक् उद्देश्यों के लिए किया जाय। उन्होंने हिन्दुओं के सरलता, संयम तथा वासना-निग्रह के आदर्शों का समर्थन किया। उन्होंने हमें परिवार प्रथा के विघटन के विरुद्ध समय रहते ही सचेत कर दिया। उनके विचार में परिवार नैतिकता की प्रयोगशाला है। किन्तु दास के रचनात्मक सुझाव कोरे उपदेश हैं। उनमें मौलिकता नहीं है; वे भारतीय सामाजिक चिन्तन की पुरानी धारणाओं का पिष्टपेषण मात्र हैं।

---

65 बेसेंट की भाँति भगवान्दास भी प्लेटो के इस सिद्धान्त के अनुयायी थे कि शासन सर्वश्रेष्ठ लोगों के ही हाथों में होना चाहिए।

66 भगवान्दास, *The Essential Unity of All Religions*, पृष्ठ 551-52।

5

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

1. प्रस्तावना

कवि, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, देशभक्त,[1] मानवतावादी तथा अन्तरराष्ट्रवादी रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) भारत की आत्मा के अधिवक्ता थे। एक अर्थ में प्राचीन भारतीय प्रज्ञा के सारतत्व के रूप में वे कालिदास, चण्डीदास और तुलसीदास की परम्परा में थे। उनकी वाणी तथा लेखनी, दोनों में ही अदभुत मोहिनी शक्ति थी, और उनकी साहित्यिक प्रतिभा अभिभूत करने वाली थी। अनेक दशकों तक बंगाल में उनकी व्यापक रूप से प्रशंसा होती रही। उन्होंने बंग माता को 'ईश्वरीय अनुकम्पा का अवतार' मानकर अभिनन्दित किया। पश्चिम में उनका भारत के सांस्कृतिक दूत तथा उसके उच्च आदर्शवादी रहस्यवाद के माने हुए काव्यात्मक व्याख्याता के रूप में अभिनन्दन किया गया। यदि विवेकानन्द अमेरिका के लिए भारत के दार्शनिक सन्देशवाहक थे, तो टैगोर बाहरी जगत में उसके सन्देश को पहुँचाने के लिए संवेगात्मक तथा काव्यात्मक साधन सिद्ध हुए। उनकी रचनाओं ने न केवल बंगाल और भारत के साहित्य को, अपितु विश्वसाहित्य को समृद्ध बनाया है। उनकी शैली की गरिमायुक्त सरलता, जाज्वल्यमान कल्पना तथा वस्तुओं को परखने की अन्तःप्रज्ञात्मक क्षमता ने उन्हें प्रायः अद्वितीय साहित्यिक स्थान प्रदान किया है। एक आध्यात्मिक कवि के रूप में वे मानवता के भविष्यद्रष्टा थे और उनकी साहित्यिक रचनाओं में हमें ऋषियों की-सी दूरगामी दृष्टि देखने को मिलती है। संशयवादी तथा भौतिकवादी जगत के समक्ष उन्होंने पूर्व के प्रामाणिक नैतिक तथा आध्यात्मिक सन्देश को अनावृत करके रख दिया है। उनके काव्यगीतों की मोहिनी आराध्य तथा सार्वभौम है। अतः उन्हें विश्व-गायक माना जाता है।

रवीन्द्रनाथ भारतीय पुनर्जागरण और स्वतन्त्रता के कवि थे; उन्होंने आधुनिक भारत के आदर्शों, इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा लालसाओं को स्पष्टता प्रदान की। उन्हें भारत के अतीत पर गर्व था। वे कहा करते थे कि भारत के गगनमण्डल में ही ऊषा की प्रथम रश्मि प्रस्फुटित हुई थी और इसी देश के गृहों तथा वनों में जीवन के श्रेष्ठतम आदर्शों का निरूपण किया गया था। विख्यात राष्ट्रगीत 'जन गण मन' की रचना उन्होंने की थी। उन्होंने बक्सर जेल के राजनीतिक बन्दियों और पीड़ितों का अभिनन्दन किया था। जलियाँवाला बाग में किये गये राक्षसी अत्याचारों ने उनके प्रसुप्त क्रोध को प्रज्ज्वलित कर दिया और परिणामतः उन्होंने 27 मई, 1919 को भारत सरकार द्वारा प्रदत्त 'नाइट' की उपाधि को वापस कर दिया। तत्कालीन वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड को उन्होंने जो पत्र लिखा, वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रलेख है।

टैगोर को सांस्कृतिक समन्वय तथा अन्तरराष्ट्रीय एकता में विश्वास था, और वे आक्रामक राष्ट्रभक्ति की भर्त्सना किया करते थे। किन्तु वे भारतीय राष्ट्रवाद के एक बौद्धिक नेता भी बन गये थे। बंकिमचन्द्र के बाद उन्होंने बंगाल के साहित्यिक पुनर्जागरण आन्दोलन को बल दिया। यह साहित्यिक पुनर्जागरण राजनीतिक उथल-पुथल तथा चेतना की बौद्धिक पृष्ठभूमि सिद्ध हुआ।

---

1 स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में टैगोर राजद्रोह के अपराध में अभियुक्त होते-होते बचे।

टैगोर की उत्प्रेरित तथा स्फूर्तिदायक कविता और गद्य एक गिरी हुई जाति के पुनरुद्धार का साहित्यिक माध्यम बन गयी क्योंकि उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के कतिपय श्रेष्ठतम आदर्श समाविष्ट थे। उनके गीतों तथा सन्देशों ने सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी। इसलिए यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्रता के घमासान राजनीतिक युद्ध में भाग नहीं लिया, फिर भी वे भारतीय स्वतन्त्रता के ऋषि के रूप में सर्वत्र पूजे जाते थे।

रवीन्द्रनाथ आधुनिक एशिया की एक अग्रणी विभूति थे। कवि तथा साहित्यकार के रूप में उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करली थी, और कुछ लोग उन्हें बंगला साहित्य का गेटे कहकर अभिनन्दित करते हैं। किन्तु वे कवि और लेखक से भी कुछ अधिक थे। पश्चिम में वे भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नेता माने जाते थे। शिक्षा के क्षेत्र में उनके प्रयोगों से आकृष्ट होकर यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान उनकी विश्वभारती में आ गये। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक भारत के एक महान सांस्कृतिक नेता का महत्व और पद प्राप्त कर लिया।

2. टैगोर के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार

रवीन्द्रनाथ माण्डूक्य उपनिषद के 'सत्यम्, शिवम् और अद्वैतम्' की धारणा के अनुयायी थे। वे एकेश्वरवादी भी थे, किन्तु उनमें हिब्रू एकेश्वरवादियों की सी कट्टरता नहीं थी। उन्हें अपने पिता तथा ब्रह्म समाज के वातावरण से जो एकेश्वरवादी आस्था विरासत में मिली थी वह सर्वेश्वरवादी एकत्ववाद के तत्वों के संयोग से अधिक पुष्ट हो गयी थी। कुछ अंशों में वे सौन्दर्यात्मक अखण्डात्मक एकत्ववादी थे, और उन्हें परमात्मा की उच्चतम स्रजनशीलता में विश्वास था। वे यह भी मानते थे कि परमात्मा[2] प्रेम की पूर्णता है। अपनी परवर्ती रचनाओं में उन्होंने परमात्मा को परम पुरुष माना; और परम पुरुष की धारणा में उनकी गहरी आस्था हो गयी। इस प्रकार उन्होंने आध्यात्मिक सत् की धारणा में गहरा सगुणात्मक पुट लगा दिया। उन्होंने एक शाश्वत परम आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार किया, किन्तु उन पर उपनिषदों की दैवी सर्वव्यापकता की धारणा और वैष्णवों के सगुण परमात्मा की धारणा का भी प्रभाव था। उनका यह भी दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर का साक्षात्कार अन्तःप्रज्ञामूलक प्रत्यक्षानुभूति से ही होता है, और यह प्रत्यक्षानुभूति हेतुविद्या की वाक्यात्मक तार्किक प्रक्रिया और प्रत्ययात्मक व्यवस्था से परे होती है। कभी-कभी टैगोर ने परम सत् को निराकार, वाक्रहित, रंगरहित निरपेक्ष सत्ता माना है। किन्तु अनेक स्थलों पर उन्होने उसका ऐसे साकार सार्वभौम सत् के रूप में भी उल्लेख किया है जिसकी आराधना की जा सकती है और जिससे प्रेम किया जा सकता है,[3] क्योंकि परम सत् मन और व्यक्ति है न कि केवल नियम अथवा निर्वैयक्तिक द्रव्य। इस प्रकार भारतीय चिन्तन के अन्य सम्प्रदायों की भाँति टैगोर में भी हमें एक ही साथ सर्वेश्वरवादी सर्वव्यापकता और एकेश्वरवाद की स्वीकृति देखने को मिलती है। वे प्रकृति और इतिहास को शाश्वत आत्मा की असीम सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण मानते हैं। उनके विचार में परम आध्यात्मिक नित्य, सत्ता तथा उसकी निरन्तर सृजनात्मकता इन दोनों धारणाओं को एक साथ स्वीकार कर लेने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है।

टैगोर पृथ्वी पर दैवी प्रेम के सन्देशवाहक थे। 'गीतांजलि' में उन्होंने ईश्वरीय प्रेम की व्यापकता का गान किया है, और अपने बन्धुओं को आमंत्रित किया है कि वे इस प्रेम सागर का रसास्वादन करें। प्रेम न तो परिज्ञान का विरोधी है और न उसके बाहर है। वह तो चेतना की उच्चतम अवस्था है। सर्वानुभव ब्रह्म का प्रेम के द्वारा ही साक्षात्कार किया जा सकता है। दान्ते की भाँति टैगोर का भी विश्वास है कि पाप, दुष्कर्म और अपराध इसलिए होते हैं कि हम ईश्वरीय प्रेम के रहस्य को पहचानने में भूल करते हैं। वैयक्तिक आत्मा तथा विश्वात्मा के बीच विरोध की धारणा

---

2 रवीन्द्रनाथ ने कभी-कभी ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का स्रजनहार माना है, किन्तु साथ ही साथ उन्हें नैतिक पुरुष के रूप में आत्मा की सत्ता में भी विश्वास है।

3 अपनी *The Religion of Man* नामक पुस्तक में (पृ. 24) टैगोर लिखते हैं कि परमात्मा को समग्र वस्तुओं में व्याप्त है वही मानव विश्व का ईश्वर है। अलबर्ट श्वाइट्जर का कहना है कि टैगोर एकत्ववाद और द्वैतवाद के बीच ऐसे विचरण करते हैं मानो दोनों के बीच कोई खाई ही न हो। देखिये *Indian Thought and Its Development*, पृष्ठ 244।

से उत्पन्न मिथ्या अहम् ही पाप और दुष्कर्म का कारण है। यदि हम प्रेम की सर्वोपरिता को स्वीकार करलें तो आत्मा की सम्पूर्ण व्यथा का शमन हो जायगा। इस प्रकार प्रेम भावात्मक स्वतन्त्रता है। इसलिए वे लोगों को अहंकार, ईर्ष्या, क्रोध, काम आदि पापवृत्तियों के विरुद्ध चेतावनी देते हैं, और सर्वव्यापी तथा सर्वत्र छलकते हुए ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति से हर्षोत्फुल्ल हो उठते हैं। किन्तु उनके अनुसार कष्ट, वेदना, पीड़ा और दुःख का भी ईश्वरीय व्यवस्था में स्थान है। वे न्यायशील परमात्मा का विधान हैं और वे मनुष्य की आत्मा को शुद्ध और पवित्र करने के लिए होते हैं।

पेनेटियस तथा सिसेरो की भाँति रवीन्द्रनाथ का भी विश्वास था कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया दैवी सत्ता से व्याप्त है। विश्व परमात्मा की लीला है। इस प्रकार टैगोर ने विश्व तथा जीवन की स्वीकृति के दर्शन को अंगीकार किया, क्योंकि ईश्वरीय लीला से बच निकलने का कोई नैतिक औचित्य नहीं है। सरसराती हुई पत्तियाँ, वेगवती सरिताएँ, तारादीप्त रात्रि और मध्याह्न का झुलसाने वाला ताप—ये सब ईश्वर की विद्यमानता को प्रकट करते हैं। भौतिक शक्तियों के निर्धारित जगत के मूल में ईश्वरीय शक्ति स्पन्दित हो रही है। तथापि, यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि गति तथा उष्मागतिकी के प्राकृतिक नियम की, जिनका विज्ञान अध्ययन करता है, सृजनात्मक आत्मा के सामंजस्य तथा एकता को व्यक्त करते हैं। टैगोर के अनुसार विश्व में बुद्धि की उतनी अभिव्यक्ति नहीं है[4] जितनी कि सृजनात्मक संकल्प की; और सम्पूर्ण जगत ईश्वरीय शक्ति की प्रचुरता से ओतप्रोत दिखायी देता है। विश्व का बाहुल्य तथा निरन्तर वृद्धिमान विविधता ईश्वर की अतिशय सृजनात्मकता का प्रमाण है। अतः सृष्टि परमात्मा के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। आँधी तथा महासागर, सूर्य तथा शशि, पर्वत तथा पृथ्वी सब कुछ ईश्वरीय आनन्द का विस्फोट हैं। इसलिए टैगोर की दृष्टि में प्रकृति भौतिक तथा जड़ शक्तियों का यान्त्रिक संयोजन तथा एकत्रीकरण मात्र नहीं है। अतः अमूर्त शक्तियों का अध्ययन करने वाला विज्ञान केवल विश्व के गहन रहस्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। विश्व एक आत्मा और शाश्वत स्वरसाम्य की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसमें प्रभु का निवास है। इसलिए गेटे की भाँति टैगोर भी प्रकृति के साथ सौन्दर्यात्मक आदान-प्रदान में मग्न हो जाया करते थे। उन्हें वृक्षों की बन्धु-मण्डली में मैत्री की अनुभूति होती थी और वे वनों, सरिताओं, चट्टानों तथा चीलों के मधुर रव से उल्लसित हो उठते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राकृतिक तथा ऐन्द्रिक वस्तुओं का तिरस्कार अथवा निषेध नहीं किया बल्कि उन्हें एक नया दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया। उनकी रचनाओं के महान आकर्षण का यही मुख्य कारण है। उनका कहना था कि यह विश्वास कि विश्व में आत्मा है, मानव संस्कृति को पूर्व की एक विशेष देन है।[5]

रवीन्द्रनाथ सार्वभौम सामंजस्य के कवि थे। उनका दैवी सामंजस्य में विश्वास था। इसका अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य को इस बात की अनुभूति हो जाय कि विश्व में एक उच्च सामंजस्यकारी शक्ति है तो अन्तर्विरोधों से उत्पन्न कटुता और अन्तर्निषेधजनित कलह तथा कर्कशता का शमन हो सकता है। उनकी कवित्वपूर्ण आत्मा कुरूपता, अव्यवस्था, तथा घृणा के प्रति विद्रोह किया करती थी, क्योंकि वे समझते थे कि सार्थक, आनन्दमय, सम्बद्धता ही विश्व की गूढ़ प्रकृति है, जिसका दर्शन उन्हीं कलाप्रिय नेत्रों को हो सकता है जो सर्जनशील परमात्मा के सत्य तथा सौन्दर्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं। कलाकार की दृष्टि वैज्ञानिक तथा तर्कशास्त्रवेत्ता की तार्किक तथा प्रत्ययात्मक प्रक्रियाओं से गुणात्मक रूप में भिन्न हुआ करती है। टैगोर को सामंजस्य की तलाश थी न कि तार्किक प्रस्तावना की। वे सामंजस्य को व्यक्तित्व का सार मानते थे। उन्होंने सदैव सामंजस्य का ही उपदेश दिया। उनका विश्वास था कि ईश्वर के अनुभवातीत राज्य तथा मनुष्य के ऐहिक जगत में

---

4 कहीं-कहीं पर टैगोर ने लिखा है कि सार्वभौम बुद्धि सृजनात्मक प्रत्यय को शाश्वत लय का निदेशन और पथ-प्रदर्शन करती है—*Personality*, पृष्ठ 54।

5 अलवर्ट श्वाइट्जर का कथन है कि टैगोर का 'वस्तुओं में आत्मा' का सिद्धान्त उपनिषदों की शिक्षाओं से नहीं मिलता है, अपितु उस पर आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान का प्रभाव है। देखिये *Indian Thought and Its Development*, पृष्ठ 248।

सामंजस्य है। वे मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भी सामंजस्य[6] के समर्थक थे, क्योंकि परमात्मा के अन्तर्यामीपन का बाह्य जगत तथा मनुष्य के अन्तःकरण दोनों में साक्षात्कार करना है। शाश्वत आत्मा अपने को प्रकृति की शक्तियों तथा मनुष्य की चेतना, दोनों में ही व्यक्त करती है। अतः प्रकृति को ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का साधन बनाया जा सकता है। उन्हें प्रकृति की वस्तुओं तथा शक्तियों के साथ आदान-प्रदान करने में आनन्द आता था। वे प्रकृति पर विजय पाने के पाशविक मार्ग का अनुमोदन करने के लिए कभी तैयार नहीं थे। वे वस्तुगत जगत को सृजनात्मक आत्मा के अलौकिक आनन्द तथा उल्लास से ओतप्रोत कर देना चाहते थे। उनका कहना था कि प्रकृति के साथ हमारे सम्बन्ध अवयवी सहानुभूति तथा आनन्दमय अनुभव से व्याप्त होने चाहिए। इस प्रकार वे प्रकृति के साथ तालमेल चाहते थे। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने सामाजिक संघर्षों के मार्क्सवादी पंथ का खण्डन किया। उन्होंने इतिहास का हिंसा, युद्ध तथा अस्तित्व के लिए अन्धाधुन्ध संघर्ष के शब्दों में निर्वचन करना कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सामाजिक कल्याण को हृदयंगम करने का उपदेश दिया। वे चाहते थे कि सभी सामाजिक समूहों का एक स्वायत्त संघ स्थापित होना चाहिए। उन्होंने नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों के बीच भी सामंजस्य का समर्थन किया। इस प्रकार टैगोर ने अनन्त संघर्षों के नित नवीन साहसिक कार्यों तथा विजयों के आधुनिक फौस्टवादी पंथ के स्थान पर सामंजस्य, समन्वय, प्रेम तथा आध्यात्मिक तालमेल का समर्थन किया। उनका कहना था कि अन्तर्विरोध, अव्यवस्था तथा संघर्ष की तुलना में सामंजस्य का आदर्श विश्व में निहित सौन्दर्य तथा व्यवस्था को प्रकट करता है। सामंजस्य की लय मनुष्य को निष्क्रियता, हृदयहीनता, निराशा तथा दुःखवाद से मुक्ति देती है। उनके अनुसार तथ्यों का नाम सत्य नहीं है, बल्कि तथ्यों का सामंजस्य[7] सत्य है, और सौन्दर्य तथा प्रेम सामंजस्य की अभिव्यक्ति हैं।

दयानन्द तथा गान्धी की भाँति टैगोर का भी विश्वास था कि विश्व में नैतिक शासन के सर्वव्यापी ब्रह्माण्डीय नियम हैं। इसलिए उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि संसार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु अथवा प्राणी को चोट पहुँचाना ईश्वर की कल्याणकारी अनुकम्पा के विरुद्ध अपराध है। अतः साम्राज्यवाद, निरंकुशता, शोषण, क्रूरता और बर्बरता को कल नहीं तो परसों अवश्य दण्ड भोगना पड़ेगा क्योंकि ईश्वर के न्याय की रक्षा अवश्य होनी है। घमण्ड, लोभ तथा उद्दण्डता को अन्ततोगत्वा दण्डित होना ही है।

बाल्यकाल में टैगोर का ब्रह्म समाज के बुद्धिवादी वातावरण में पालन-पोषण हुआ था, इसलिए निराधार मतवादों तथा अन्धविश्वासों के प्रति उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक बन गया था और इसलिए उन्हें बुद्धि तथा बुद्धि के प्रदीपन में विश्वास था। किन्तु वे कल्पनाशील भी थे, इसलिए उनकी पुण्यशीलता, उत्साह, प्रेम तथा भावनाओं में भी आस्था थी। साथ ही साथ उन्होंने लाइबनित्स के इस मत को भी अंगीकार कर लिया था कि विचार मन में जन्मजात हुआ करते हैं, और वे इन्द्रियानुभूति के बजाय अन्तःप्रज्ञा को नैतिकता का आधार मानते थे। जहाँ तक परमार्थ (वास्तविक सत्ता) का सम्बन्ध था, उनका विश्वास था कि बुद्धि उसकी गहराई तक पहुँचने में असमर्थ है।[8] मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के द्वारा ही परमार्थ तक पहुँच सकता है।

टैगोर का विश्वास था कि कला का जन्म मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति से होता है।[9] वे 'भूमा' (पूर्णता) के आराधक थे। विश्व आदि शक्ति की लीला है, और जीव तथा प्राणी प्राणदा आध्यात्मिक सृजनात्मक शक्ति के प्रतिबिम्ब हैं। इस आदि शक्ति की मानवीय स्तर पर भी अभिव्यक्ति होती है, और वही सृजनात्मक इच्छा सभी अभिव्यक्तियों की स्रोत है। कला शाश्वत आत्मा की स्वतन्त्रता और सृजनात्मक एकता को प्रकट करने का साधन है। वह आनन्द की अभिव्यक्ति भी है। उसका

---

6 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 15 : "हमारे तथा इस विश्व के बीच जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों, मन तथा जीवन के अनुभवों से होता है, गहरा एकात्म्य है।"

7 *Creative Unity*, पृष्ठ 32।

8 टैगोर, *Stray Birds*, पृष्ठ 51 : "कोरा तर्कपूर्ण मन उस चाकू के समान है जिसमें केवल फलक ही फलक हैं। वह प्रयोग करने वाले हाथ को लहूलुहान कर देता है।"

9 *Personality*, अध्याय 1, "*What is Art ?*"

मुख्य उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है न कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना। उन्होंने लिखा है : "अनन्त में एक प्रकार का कल्पनोत्पादक आनन्द निहित है, उसी की प्रेरणा से हमें कल्पना करने में आनन्द मिलता है। ब्रह्माण्ड की गति की लय हमारे मन में संवेग उत्पन्न करती है और वह संवेग सृजनात्मक होता है।"[10] इस प्रकार सृजनात्मकता अतिरिक्त शक्ति की क्रीड़ा से सम्बद्ध है। जब तक मनुष्य की शक्तियाँ पृथ्वी से निर्वाह-सामग्री प्राप्त करने में व्यय होती रहती हैं तब तक उसे अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के उन्मुक्त प्रयोग के लिए स्वच्छन्दता तथा अवकाश नहीं मिल पाता। किन्तु कुछ व्यक्तियों में न्यूनतम प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद इतनी शक्ति बच रहती है कि वे सृजनात्मक क्रीड़ा का आनन्द ले सकते हैं, और नवीनता की सभी कृतियाँ इस अतिरिक्त शक्ति से ही सम्बन्धित होती हैं। कला में गहरा आत्मगत तत्व होता है, क्योंकि कलाकार देश और काल के तात्कालिक सन्दर्भ में से आनन्द की वस्तुएँ निचोड़ लेता है, और उन्हें अनन्त के शाश्वत आनन्द का प्रकटीकरण मानता है। अतः कला फोटोग्राफी की भाँति प्रकृति का यथार्थ पुनरांकन नहीं है, बल्कि वह प्रकृति को आदर्श रूप देना तथा अनन्त सौन्दर्य को वैयक्तिकता प्रदान करना है। सृजनात्मक मानवीय कल्पना जिन वस्तुओं और पदार्थों का चित्रण करती उनके भीतर वह पहले स्वयं प्रविष्ट हो जाती है। कला मानव संवेगों की सार्वभौमता पर निर्भर होती है, और 'अतिरिक्त' शक्ति पर आधारित सौन्दर्यानुभूति की क्षमता इस बात की द्योतक है कि कलाकृतियाँ आत्मा से प्रसूत होती हैं।

3. टैगोर का आध्यात्मिक मानवतावाद

टैगोर मानवतावादी थे क्योंकि वे प्रेम, साहचर्य तथा सहयोग के सन्देशवाहक थे। कवि तथा शिष्ट साहित्य के पण्डित होने के नाते वे संकीर्ण विभाजक रेखाओं के प्रति उदासीन थे, और उन्होंने एक सम्पूर्ण मानवता को एक अवयवी समग्र मानकर उसी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने संगठित मानव को एकता तथा सामंजस्य का सन्देश दिया, और विलाप, करुणा, दुःख, अपव्यय तथा एकाकीपन के उस पार शान्ति तथा प्रेम का दर्शन किया। उनका विश्वास था कि मनुष्य का महान उत्सव प्रगति कर रहा है। उनके मानवतावाद का पोषण आध्यात्मिकता की जड़ों में हुआ था,[11] जिसने यह सिखाया कि मनुष्य को अनन्त के पर्यवेक्ष्य में समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। परम पुरुष —अन्तर्यामी—मानव व्यक्तित्व में निवास करता है। ससीमता असीम तथा अनन्त की बहुल अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। फ्योरबाख भी मानवतावादी था, किन्तु उसके मानवतावाद की जड़ें भौतिकवाद में थीं। इसके विपरीत टैगोर पुनर्जागरण युग के मानवतावादियों की भाँति ईश्वर में विश्वास करते थे, इसलिए सार्वभौम मानव में भी उनकी आस्था थी।[12] व्यक्तिगत मनुष्य सर्जनशील परमात्मा के प्रतिरूप हैं। मनुष्य ईश्वर का अद्भुत प्रतिरूपण मात्र है।[13] मनुष्य का शरीर ईश्वर के सृजनात्मक परीक्षणों की प्रयोगशाला है। ईश्वर की आराधना तीर्थ स्थानों के मन्दिरों तथा विशाल नगरों के गिरजाघरों में ही नहीं होती, भूमि जोतकर तथा पत्थर तोड़कर भी परमात्मा की पूजा की जा सकती है। परमात्मा मनुष्य तथा बाह्य वस्तु जगत दोनों के माध्यम से अपनी अनन्त सर्जनशीलता को व्यक्त करता है[14]। किन्तु मनुष्य की आत्मा बाह्य जगत की वस्तुओं की तुलना में अनन्त की गुणात्मक दृष्टि से उच्चतर अभिव्यक्ति है। इसीलिए टैगोर मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाना चाहते थे[15]। शासन तथा संगठित शक्ति के अन्य केन्द्रों ने मनुष्य की आत्मा को बहुत काल से कुचल रखा है[16]।

---

10 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *Creative Unity* (मैकमिलन एण्ड कं., लन्दन, 1920) पृष्ठ 10।

11 हिन्दुओं की नर और नारायण की पुरानी धारणा आध्यात्मिक मानववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है।

12 टैगोर रज्जब और रैदास को मानव धर्म के आदर्श का प्रवर्तक मानते थे। *The Religion of Man*, पृष्ठ 112।

13 इस विचार की 'नर हरि' शब्द में निहित भाव से तुलना कीजिए।

14 टैगोर, *Stray Birds*, पृष्ठ 56 : "ईश्वर मनुष्य के हाथों से अपने ही पुष्पों को भेंट के रूप में वापस पाने की प्रतीक्षा करता है।"

15 कभी-कभी कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ "अनुभवातीत मानवतावाद" के प्रवर्तक हैं। अपनी *Religion of Man* नामक पुस्तक में वे लिखते हैं : "मनुष्य के असीम व्यक्तित्व में विश्व समाविष्ट है।"

16 यद्यपि टैगोर आध्यात्मिक समानता और नैतिक समत्व में विश्वास करते थे, फिर भी उन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक समानता के सिद्धान्तों पर बल नहीं दिया। आर्थिक समानता का सिद्धान्त कवि की संवेदनशील आत्मा को अवश्य आघात पहुँचाता।

अब उसे आनन्द तथा सौन्दर्य की अनुभूति के द्वारा मुक्त करना है। जब हमें वैयक्तिक मनुष्य के अस्तित्व और वास्तविकता की गहरी चेतना होगी तभी हम व्यवस्था तथा क्षमता के नाम पर किये गये सामाजिक अत्याचारों तथा निष्प्राण कर देने वाली दासता की विशालता को भलीभाँति समझ सकेंगे। टैगोर मानव आत्मा की स्वतन्त्रता चाहते थे और वह बौद्धिक तथा नैतिक प्रदीपन पर निर्भर होती है। मनुष्य के अन्तःकरण में ससीम तथा असीम के बीच जो तनाव पाया जाता है, वह इस बात का द्योतक है कि उसमें पूर्णत्व को प्राप्त करने की लालसा सदैव विद्यमान रहती है। टैगोर ने पुनः इस बात पर बल दिया कि गणितशास्त्रीय विश्लेषण तथा प्रत्ययात्मक संरचनाओं को छोड़कर मनुष्य की तिरस्कृत आत्मा को ही आदर्श माना जाय। मनुष्य जीवन के साथ हमारा व्यवहार सच्चाई तथा भक्ति भावना से युक्त होना चाहिए, हम उसे एक भ्रान्ति अथवा माया न समझें। मानवतावाद ही हमें पृथकत्व तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से बचा सकता है और वही हमें विज्ञान तथा पुरोहितों के दर्शन से मुक्ति दिला सकता है। मनुष्य जटिल विविधताओं और बाहुल्य का साकार रूप है, और हम उसकी गहराई को तब तक नहीं नाप सकते जब तक कि हम निरपेक्ष सिद्धान्तों और मतवादों की दुनिया से मुक्ति नहीं पा लेते।

टैगोर का सत्य के सम्बन्ध में भी मानवतावादी दृष्टिकोण था। मनुष्य के विषय में केवल परमार्थ (परम सत्ता) ही सत्य है। वे मनुष्य को सर्वशक्तिमान परमात्मा की सृजनात्मक प्रक्रिया की परिणति मानते थे,[17] क्योंकि उनके मतानुसार मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति का मूल आध्यात्मिक है, और अतिरिक्त शक्ति ही उसके व्यक्तित्व का सार है। अतः मनुष्य का आन्तरिक जीवन अनन्त के हृदय का अभिन्न अवयवी अंग है। टैगोर को महायान सम्प्रदाय की धर्मकाय की धारणा में आध्यात्मिक मानवतावाद का बीज उपलब्ध हुआ था—धर्मकाय सिद्धान्त के अनुसार बुद्ध का व्यक्तित्व असीम ज्ञान तथा करुणामूलक प्रेम का मूर्त रूप है। मानव इतिहास में प्रथम बार एक मनुष्य ने अपने को अनन्त की साकार अभिव्यक्ति अनुभव किया था। किन्तु जिस शक्ति ने बुद्ध का निर्माण किया था वह प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान होती है। टैगोर लिखते हैं : "सत्य, जिसका सार्वभौम सत्ता के साथ एकात्म्य है, तत्वतः मानवीय होना चाहिए, अन्यथा जिसको हम लोग सत्य समझते हैं, कभी सत्य नहीं कहा जा सकता—कम से कम वैज्ञानिक सत्य तो सत्य कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी प्राप्ति तर्क की प्रक्रिया द्वारा होती है, और तर्क की प्रक्रिया चिन्तन का एक साधन है, और चिन्तन एक मानवीय वस्तु है।....सत्य को पहचानने की प्रक्रिया में एक अनन्त संघर्ष छिपा रहता है। इस संघर्ष में एक ओर सार्वभौम मानव मन होता है, और दूसरी ओर व्यक्ति की सीमाओं में बँधा हुआ वही सार्वभौम मन। दोनों के बीच समझौते की प्रक्रिया निरन्तर चला करती है और वह हमें विज्ञान, दर्शन तथा नीतिशास्त्र के क्षेत्रों में दिखायी देती है। कुछ भी हो, यदि कहीं कोई ऐसा सत्य है जिसका मानवता से कतई कोई सम्वन्ध नहीं है तो हमारे लिए उसका कतई कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।....मेरा धर्म है : अति-वैयक्तिक मनुष्य अर्थात सार्वभौम मानव आत्मा तथा मेरे अपने व्यक्तिगत जीवन के बीच समझौता समन्वय। मेरी हिवर्ट व्याख्यानमाला का यही विषय है जिसको मैंने मानव धर्म का नाम दिया है।"[18] अपनी 'जीवन देवता' शीर्षक कविता में टैगोर ने बतलाया है कि 'अनन्त' को भी इस बात की आवश्यकता है कि ससीम मानव प्राणी उसके साथ प्रेम तथा सहयोग का आचरण करें।

उन्होंने गाया है :

"तुम जो मेरे जीवन की अन्तस्तम आत्मा हो,
क्या तुम प्रसन्न हो, मेरे जीवन के प्रभु ?
क्योंकि मैंने तुम्हें अपना उस सुख-दुःख से भरा प्याला अर्पित कर दिया है
जो मेरे हृदय के कुचले हुए घावों को निचोड़ने से मिल सका,
मैंने रंगों और गीतों की लय के ताने-बाने से तुम्हारी सेज के लिए चादर बुनी,
और अपनी आकांक्षाओं के पिघले सोने से
तुम्हारे व्यतीतमान क्षणों के लिए खिलौने बनाये।

---

17 टैगोर, *Stray Birds*, पृष्ठ 51 : "ईश्वर मनुष्य के दीपकों को अपने तारों से अधिक प्यार करता है।"
18 टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 233. 235। वैदिक पुरुष सूक्त में परम पुरुष का सिद्धान्त निहित है।

मैं नहीं जानता तुमने मुझे अपना साथी क्यों चुना,
मेरे जीवन के प्रभु !
क्या तुमने मेरे दिनों और मेरी रातों को एकत्र किया,
मेरे कर्मों और स्वप्नों को अपनी कला की रससिद्धि के लिए,
और अपने संगीत की माला में पिरोया मेरे शरद और वसन्त के गानों को,
और अपने मुकुट के लिए बटोरा मेरे परिपक्व क्षणों के पुष्पों को ?
मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे नेत्र मेरे हृदय के अँधेरे कोने को ताक रहे हैं,
मेरे जीवन के प्रभु,
मुझे सन्देह है कि तुमने मेरी असफलताओं और भूलों को क्षमा किया है ।
क्योंकि अनेक दिन मैंने तुम्हारी सेवा नहीं की और अनेक रातों तुम्हें भूला रहा;
वे पुष्प निरर्थक थे जो छाया में मुरछा गये और जो तुम्हें अर्पित नहीं किये गये,
प्राय: मेरी वीणा के थके तार
शिथिल पड़ गये तुम्हारे स्वरों के तान पर
और प्राय: व्यर्थ गँवाये क्षणों को नष्ट देखकर
मेरी एकाकी संध्याएँ आँसुओं से आप्लावित हो गयीं ।"

इस कविता में अनन्त शाश्वत सृजनात्मकता को ही जीवन देवता कहा गया, उसे अपने को मनुष्य के समक्ष निरन्तर प्रकट करते रहने में आनन्द आता है । मनुष्य भी अपनी अगणित कला-कृतियों के द्वारा परम पुरुष को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है । अत: मानवता की आत्मा में अनन्त की अभिव्यक्ति ही सबसे बड़ा सत्य है । इस प्रकार सत्य के दो पक्ष पूर्णता को प्राप्त होते हैं—अगणित वस्तुओं के रूप में परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति, और ससीम का उठकर परमात्मा के आनन्द और एकता में विलीन हो जाना ।

रवीन्द्रनाथ सार्वभौम मानव के सन्देशवाहक हैं ।[19] वे एक अनन्त सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और अनन्त सृजनात्मकता के साथ उसे एक रूप मानते हैं ।[20] अनन्त परम पुरुष जब अपने को व्यक्तियों के रूप में प्रकट करता है तो वही ससीम प्रतीत होने लगता है । अत: अपनी सृजनात्मक सेवा द्वारा परम पुरुष को व्यक्त करना ही मनुष्य का धर्म है । इस सृजनात्मकता की स्पन्दनशील आध्यात्मिक गतिशीलता ही विश्व के सम्पूर्ण वैभव, रमणीयता, सुगन्ध तथा लालित्य का स्रोत है । इस आत्मा की विद्यमानता के आनन्द का रसास्वादन करना ही व्यावहारिक प्राणी की गरिमा तथा परम धर्म है ।[21] परमात्मा ही सृजन की प्रक्रियाओं का अधिष्ठातृ देवता है और उसे सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली वस्तुओं में तथा सेवा और कला तथा साहित्य की कृतियों में रस मिलता है । किन्तु टैगोर का उच्चतम आदर्श आदि शक्ति के दार्शनिक साक्षात्कार का अभिजाततंत्रीय सिद्धान्त नहीं है । उनका आदर्श लोकतांत्रिक है, जिसका अभिप्राय है कि मजदूर, किसान तथा जुलाहा भी परमात्मा की अनुकम्पा का निरन्तर साक्षात्कार तथा अनुभव करते रहतु हैं क्योंकि ईश्वर धर्मशास्त्रियों की नीरस तार्किक कल्पनाओं और शास्त्रार्थों के बीच प्रकट होने की कृपा नहीं कर सकता । टैगोर के मन में विनम्र हृदय वाले प्राणियों के लिए स्पष्ट पक्षपात है और उनका सृजनात्मक उत्साह निम्नतम कोटि के कार्यों में व्यक्त होता है । भूमि जोतना, सड़क बनाना, लिखना आदि भी उतने ही पवित्र कार्य हैं जितना कि परमात्मा का चिन्तन । टैगोर पर दरबारों की तड़क-भड़क और प्रासादों के ठाठ-बाट का प्रभाव नहीं पड़ता था । वे महायुद्ध के लिए

---

19 टैगोर की मानव सम्बन्धी धारणा तथा अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अति मानव की धारणा के बीच कुछ अन्तर है । टैगोर अनुभवग्राह्य मानव मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं । यद्यपि वे ब्रह्माण्डीय सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक एकता के सन्देशवाहक हैं फिर भी उनके मूल्यों में प्रेम, सामंजस्य और शान्ति का उच्च स्थान है । अरविन्द का आग्रह है कि मनुष्य को मानव मूल्यों से भी परे पहुँचकर दैवी मूल्यों का साक्षात्कार करना चाहिए । टैगोर के मानवतावाद में अनुभवगम्य तथा स्थूल तत्वों पर अधिक बल है ।

20 पूर्ण स्वतन्त्रता के साक्षात्कार की चार अवस्थाएं हैं—व्यक्तित्व की पूर्णता, व्यक्तित्व से ऊपर उठकर समाज के साथ एकात्म्य समाज से ऊपर उठकर विश्व के साथ एकात्म्य और विश्व से परे अनन्त में विलीन होना ।

21 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *The Religion of Man* में पृष्ठ 15 पर लिखते हैं कि मनुष्य का बहुकोशिकायुक्त शरीर नाशवान है । किन्तु बहुव्यक्तित्वपूर्ण मानवता अमर है ।

भालों की खड़खड़ाहट का उद्दण्डतापूर्ण प्रदर्शन देखकर भयभीत होने वाले नहीं थे। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध करने का साहस ही परम पुरुष के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है।[22] अतः उन्हें उदारता तथा विवेक की उस महानता की खोज थी जो जीवन की सरल वस्तुओं में आराम पाने से उपलब्ध होती है। वे जनजाति के टूटे-फूटे मन्दिर के पवित्र स्थान में मोक्ष की खोज करना चाहते थे, वे एकाकी तथा समाज के बहिष्कृत व्यक्ति के जर्जरित शरीर के पवित्रीकरण में ही अनन्त की पूजा करना चाहते थे।[23]

मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में टैगोर की धारणा आध्यात्मिक है। जो व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपनाना चाहता है वह व्यक्तित्व विषयक भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को स्वीकार नहीं कर सकता। व्यक्तित्व भौतिक तथा मानसिक शक्तियों का पुंज मात्र नहीं है, वह उससे भी परे की वस्तु है। वह एकता का आध्यात्मिक सिद्धान्त है। वह एकीकरण का अनुभवातीत सिद्धान्त है जो मनुष्य के विविध अनुभवों को एक व्यवस्था के रूप में बाँधता और बाँधकर रखता है। उसकी प्रकृति मुख्यतः संवेगात्मक तथा निर्णयात्मक है, न कि बोधात्मक। दूसरे शब्दों में, जानना व्यक्तित्व का मुख्य गुण नहीं है; उसके मुख्य गुण हैं संवेग तथा निर्णय अथवा संकल्प की शक्ति। टैगोर का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त व्यक्तिगत मानव प्राणी को बहुत ऊँचा उठा देता है।[24] उन्हें सार्वभौम प्रत्ययों तथा धारणाओं की अमूर्तता से प्रयोजन नहीं है। बल्कि इसके विपरीत उनका उद्देश्य परमात्मा की प्रतिकृतिस्वरूप व्यक्ति की सृजनात्मकता का सौन्दर्यात्मक बोध है। व्यक्तिगत मानव प्राणी सारभूत सत्ता हैं और वे अपनी दैवी सृजनात्मकता को व्यक्त करना चाहते हैं। उनकी भावनाएँ, अनुभव तथा विचार पवित्र वस्तु हैं; राजनीतिक सत्ता पवित्रता का दावा नहीं कर सकती। राजनीतिक सत्ता के दैवत्व का सिद्धान्त मिथ्या तथा मूर्खतापूर्ण है।

रवीन्द्रनाथ मनुष्य के अन्तःकरण की पवित्रता को स्वीकार करते हैं। वे नैतिक अन्तःप्रज्ञा-वादी थे, उनके अनुसार मानव अन्तःकरण नैतिक कार्य का आदर्श तथा कसौटी प्रस्तुत करता है। धर्मशास्त्र तथा परम्पराएँ नैतिक मापदण्ड का एकमात्र स्रोत नहीं हैं। सम्भवतः अन्तःकरण के कानून की सर्वोच्चता का सिद्धान्त रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उपदेशों तथा रचनाओं से ग्रहण किया था। अपनी कविताओं तथा गद्यात्मक रचनाओं में टैगोर ने मानव अन्तःकरण तथा अनुभवों के महत्व को पवित्रता प्रदान की है, और उनका कहना है कि हमारे अनुभवों की तात्कालिक तथा निश्चित वास्तविकता अनन्त सत्ता की वास्तविकता का प्रमाण है।

बौद्ध धर्म की शिक्षाओं, वेदान्ती प्रत्ययवाद तथा वैष्णव धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय परम्पराओं में पारलौकिक नैतिकता, भिक्षुकोचित तपश्चर्या तथा त्याग का बहुत गुणगान किया गया था। अनेक सम्प्रदायों में सामाजिक कर्म के विरुद्ध दार्शनिक विद्रोह को ही नैतिकता का सार माना गया था। किन्तु रवीन्द्रनाथ ने मनुष्य के संवेगों की हत्या करने की और मानव स्वभाव के सौन्दर्यात्मक तथा सामाजिक पक्ष का दमन करने की कभी अनुमति नहीं दी। उन्होंने पर्वत-गुहाओं के अँधेरे कक्षों में और वनों के आश्रमों में बैठकर आत्मा के वैभव को ढूंढने से इनकार किया। वे मनुष्य के समन्वित विकास के कवि थे, जिसका अभिप्राय है कि मनुष्य के व्यक्तित्व और शक्तियों का सर्वांगीण पुरुषोचित तथा ओजपूर्ण विकास हो। वे जीवन को उसके सभी रूपों के साथ अंगीकार करना चाहते थे—जैसे आनन्द, दुःख, आदर्श, प्रेम, शोकपूर्ण घटनाएँ तथा विषम परिस्थितियाँ इत्यादि। वे उस निषेधवृत्ति के विरुद्ध थे जिसका सम्बन्ध उन साधुओं और संन्यासियों के पंथों के साथ जोड़ा जाता है जो एकान्त में बैठकर अनन्त के आनन्द का चिन्तन किया करते हैं। संन्यासियों से उनका कहना है: "अपने ध्यान को त्यागकर बाहर निकलो और अपने पुण्यों तथा सुगन्धि पदार्थों को एक ओर छोड़ दो। क्या हानि है यदि तुम्हारे वस्त्र फट जायँ अथवा मैले हो जायँ। उससे मिलो और

---

22 *The Religion of Man*, पृष्ठ 120।

23 टैगोर का कहना है कि सरल ग्रामीण जानता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता क्या है—"आत्मा के एकाकीपन से स्वतन्त्रता, वस्तुओं के एकाकीपन से स्वतन्त्रता।" *The Religion of Man*, पृष्ठ 186।

24 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *Fruit Gathering*: "मुझे अनेक के जुए के नीचे अपना हृदय कभी नहीं झुकाना चाहिए।"

उसके साथ-साथ खड़े होकर परिश्रम करो तथा पसीना बहाओ।"[25] रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता के उदात्त जीवन को देखा था जिन्होंने गृहस्थ होते हुए भी अपने जीवन में दैवी आनन्द की अनन्तता का साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया था। वेदान्तियों के संन्यासवाद के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा राममोहन राय ने ही खड़ा कर दिया था। रवीन्द्रनाथ पर ब्रह्म समाज के प्रत्यक्षवाद (वस्तुनिष्ठावाद) का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसीलिए उन्होंने सिखाया कि सामाजिक कर्तव्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। वे दार्शनिक चिन्तन, भक्तिपूर्ण आराधना तथा रचनात्मक कर्म—इन तीनों का समन्वय करना चाहते थे। उनका कहना था कि जो व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा दायित्व की अवहेलना करके शुद्ध जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करना चाहता है वह सामाजिक साहचर्य तथा एकता के आदर्शों के साथ विश्वासघात करता है।[26] त्याग तथा कट्टर शुद्धाचारिता विरोधमूलक आन्दोलन हैं, उन्हें सामान्य जीवन का आदर्श नहीं माना जा सकता। ईश्वर जैसे भव्य मन्दिरों और गिरजाघरों का है वैसे ही टूटे-फूटे घरों का भी है।[27] इसलिए उन्होंने सामाजिक पारस्परिक सहयोग को विशेष महत्व दिया, जिसका अभिप्राय है कि सहानुभूति का प्रसार ही तात्विक वस्तु है। निम्न, परित्यक्त, अपमानित तथा नष्ट हुए व्यक्तियों के प्रति करुणामूलक सहानुभूति मानवतावादी आचारशास्त्र का भावात्मक लक्षण है। अतः मानवतावादी होने के नाते टैगोर ने पड़ोसियों के कष्टों के प्रति आँख बन्द कर लेना उचित नहीं समझा और न उन्होंने कभी ऐसा किया।

4. टैगोर का इतिहास दर्शन

(क) इतिहास की सामाजिक व्याख्या—टैगोर ने इतिहास की सामाजिक व्याख्या स्वीकार की। उनके अनुसार मनुष्य सामाजिक, संवेदनशील तथा कल्पनाशील प्राणी है, न कि यांत्रिक वस्तु अथवा राजनीतिक प्राणी। काम्त, दूर्खाइम तथा लॉरेंस वान स्टाइन की भाँति टैगोर ने भी समाज को ही प्राथमिकता दी। उनका कहना था कि राजनीति समाज का केवल एक विशेषीकृत तथा व्यवसायीकृत पक्ष है। भारत का इतिहास जातीय तथा सामाजिक समन्वय की चिर प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। प्राचीन भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक रखा गया था। घर तथा आश्रम मनुष्य की शक्तियों के संगठन के दो मुख्य केन्द्र थे। लोग राज्य की लगभग उपेक्षा करते हुए जीवन बिताते थे। अपने 'स्वदेशी समाज' में टैगोर ने लिखा है: "हमारे देश में राजा था जो अपेक्षाकृत स्वतंत्र हुआ करता था, और नागरिक दायित्व का भार जनता पर था। राजा प्रायः युद्ध और आखेट में संलग्न रहता था। वह अपना समय राजकाज में व्यय करता अथवा निजी आमोद-प्रमोद में, इस विषय में वह केवल धर्म के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता था। किन्तु जनता की दृष्टि में उसका (जनता का अपना) सामाजिक कल्याण राजा के कामों पर निर्भर नहीं था।" टैगोर का केवल राजनीतिक दायित्व में विश्वास नहीं था। टैगोर को प्राचीन भारत के निम्नलिखित आदर्शों की पुनः स्थापना में ही देश के कल्याण की आशा दिखायी देती थी: सरल जीवन, सरल तथा शुद्ध दृष्टि तथा आध्यात्मिक अनन्त के आदेशों का अनुगमन। उनका कहना था कि भारतीयों को पहले अपना आन्तरिक सुधार कर लेना चाहिए, तभी उनकी माँगों का विदेशी प्रभुओं पर कोई प्रभाव पड़ सकता है। जो देश और जनता अपने घर में कुछ निकृष्टतम प्रकार के सामाजिक अन्याय और अत्याचार करते हैं, उनके पास साम्राज्यवादियों की उद्दण्डता का विरोध करने के लिए नैतिक अन्तःकरण नहीं हो सकता।

टैगोर ने सामाजिक एकता और सुदृढ़ता पर बल दिया। उनके संवेदनशील कवि हृदय को उस पाशविक बल, क्रूरता तथा यांत्रिक संगठित दुर्धर्षता को देखकर भारी आघात पहुँचता था जो राज्य का एक सामान्य लक्षण बन गये हैं। फिर भी उन्होंने कभी राज्य का पूर्णतः उन्मूलन करने के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मैक्स स्टर्नर और माइकेल बकूनिन के अराजकतावादी

---

25 रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'गीतांजलि' 11।

26 रवीद्रनाथ टैगोर, *The Gardener*, पृष्ठ 78: "मैं अपना घर-द्वार छोड़कर वन की शरण कभी नहीं लूंगा।"

27 रवीन्द्रनाथ के अनुसार 'विश्वप्रज्ञानघन' का साक्षात्कार प्रकृति में ही नहीं अपितु परिवार तथा समाज में भी करना है। तीन क्षेत्र हैं जिनके द्वारा चेतना का प्रसार तथा परिवर्धन सम्भव है: (अ) कला तथा विज्ञान, (आ) परिवार, समाज तथा राजनीति, और (इ) धर्म।"

सिद्धान्तों का कभी अनुगमन नहीं किया। किन्तु उनका सदैव इस बात पर बल था कि व्यक्ति को अपनी शक्तियों तथा क्षमताओं का विकास करना चाहिए। कुछ पाश्चात्य सामाजिक विचारों की भाँति टैगोर का भी विश्वास था कि राज्य का मुख्य काम बाधाओं का निवारण करना नहीं है बल्कि जनता को इस योग्य बनाना है कि वह स्वयं अपनी बाधाओं को दूर करने में समर्थ हो सके। यदि लोग अपने कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन करें तो उनकी क्षमता तथा अभिक्रम की शक्ति पुष्ट होती है अन्यथा उसका अपक्षय हो जाता है।

(ख) भारतीय इतिहास का दर्शन—टैगोर ने भारतीय इतिहास के दर्शन पर भी विचार प्रकट किये हैं। भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण उदार तथा विशद है क्योंकि उसका पोषण वनों में वायु की स्वच्छन्द क्रीड़ा के बीच हुआ था। आश्रम भारतीय संस्कृति की सर्वव्यापी भावना के प्रतिनिधि थे। उनके जीवन में जीवित प्राणियों तथा बाह्य प्रकृति के बीच बन्धुत्व तथा सामंजस्य की अनुभूति व्याप्त रहती थी। भारतीय संस्कृति ने अपने को सामाजिक समन्वय के सिद्धान्त तथा आचरण में व्यक्त किया। उसने शासकीय उतार-चढ़ाव और उत्थान-पतन को अतिशय महत्व नहीं दिया। उसकी प्रकृति सामाजिक है। इसके विपरीत यूनानी सभ्यता का दृष्टिकोण संकीर्ण था, क्योंकि उसका निर्माण दीवारों से घिरे हुए नगरों के बीच हुआ था। यूरोपीय सभ्यता में राजनीतिक शक्ति को अतिशय महत्व दिया गया है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का प्रधान लक्षण है : अनेक में एक की खोज अर्थात् विविधता में एकता का दर्शन करना।[28] टैगोर लिखते हैं : "भारत सभ्य विश्व के समक्ष अनेकता में एकता के आदर्श का मूर्तरूप बनकर खड़ा हुआ है। विश्व में तथा अपने भीतर 'एक' को देखना, अनेक के बीच एक को प्रतिष्ठित करना, ज्ञान के द्वारा उसकी खोज करना, कर्म द्वारा उसकी स्थापना करना, प्रेम में उसका साक्षात्कार करना और जीवन में उसकी घोषणा करना—यह है जिसे भारत संकटों और कठिनाइयों का सामना करते हुए, अच्छे और बुरे दिनों में, शताब्दियों से करता आया है। जब हम उसके इतिहास में इस केन्द्रीय तथा शाश्वत तत्व को ढूंढ़ निकालेंगे तो हमारे अतीत को हमारे वर्तमान से पृथक करने वाली खाई पट जायगी।[29] हमें भारत के सम्पूर्ण इतिहास में समन्वय की प्रक्रिया की ही खोज करनी है। भारतीय आर्य अपने साथ सरल काव्य की मोहिनी लाये। द्रविड़ों ने अपनी संवेगात्मक तथा कल्पनाशील प्रकृति के द्वारा संगति तथा रचनात्मक कलाओं के विकास में योग दिया। बौद्ध धर्म ने गम्भीर नैतिक आदर्शवाद का पुट जोड़ दिया। इस प्रकार भारतीय इतिहास में विभिन्न जातियों की विविध विशेषताओं तथा उनके सांस्कृतिक आदर्शों की अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया निरन्तर होती चली आयी है। जातीय तथा सांस्कृतिक समन्वय इस देश की बड़ी समस्या रहा है।[30] समन्वय की खोज आदि आध्यात्मिक सत्ता की तलाश की प्रतीक है—यह अगणित प्रकार की विविधता के बीच एकता के चिर प्रयत्न का प्रमाण है।

टैगोर ने भारत की आध्यात्मिक विरासत के अतुल मूल्य को स्वीकार किया। उन्होंने पश्चिम के अन्धानुकरण में निहित विराष्ट्रीयकरण की प्रवृत्तियों का विरोध किया। भारत ने सदैव ही सत्यं, शिवं तथा शाश्वत आत्मा को ऊँचा रखा था, अब उनका परित्याग कर देना उपहासास्पद होगा।[31] भारत की भूमि में पश्चिम की निर्जीव भौतिकवादी आर्थिक सभ्यता का प्रतिरोपण करना निरर्थक है। किन्तु टैगोर ने पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृतियों के समन्वय के आदर्श को भी स्वीकार किया। उनका कहना था कि पश्चिम का वैज्ञानिक अनुसन्धान और साहस की भावना और सामाजिक

28 ठैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 30 : "जो शाश्वत है वह सीमाओं की बाधाओं के द्वारा अपने को साक्षात्कृत करता है।"

29 "The Message of India's History," *The Vishvabharati Quarterly*, Vol. XXII, 1956 में प्रकाशित, पृष्ठ 113।

30 देखिये टैगोर, *Nationalism*, पृष्ठ 4-5 : "किन्तु भारत में हमारी समस्याएं केवल आन्तरिक रही हैं, इसलिए हमारा इतिहास सतत सामाजिक तालमेल का इतिहास रहा है, प्रतिरक्षा अथवा आक्रमण के लिए शक्ति संगठित करने का इतिहास नहीं रहा।"

31 देखिए टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 30 : "इस एकता की चेतना आध्यात्मिक है, और इसके प्रति निष्ठावान रहना ही हमारा धर्म है। वह हमारे इतिहास में अधिकतर तथा पूर्ण प्रदीपन के रूप में व्यक्त होने की प्रतीक्षा किया करती है।"

आदर्शवाद श्रेष्ठ आदर्श हैं, और भारतीय उन्हें सीख सकते हैं। पश्चिम के बुद्धिवाद और उसकी साहित्यिक तथा कलात्मक उपलब्धियों में भी महान वैभव और श्री निहित है। किन्तु पश्चिम के उस भयंकर आर्थिक प्रतियोगिता के उन्माद को ज्यों का त्यों समग्र रूप में अंगीकार कर लेने का कोई बुद्धिसंगत आधार नहीं है, उसने तो पश्चिम को ही संघर्ष, हिंसा तथा अनवरत सैनिक तैयारियों का खूनी अखाड़ा बना दिया है।[32]

टैगोर का कहना था कि सामाजिक तथा जातीय समन्वय ही भारत की होतव्यता है। वे सार्वभौम आर्यवाद अथवा आक्रामक ब्राह्मणवाद का सन्देश लेकर नहीं आये थे। भारतीय सभ्यता में एकीकरण और समायोजन की जो ऐतिहासिक प्रक्रिया चिरकाल से चली आयी थी उसकी विषय-वस्तु को टैगोर ने सैद्धान्तिक धरातल पर बहुत ही स्पष्ट ढंग से निरूपित कर दिया। उन्होंने लिखा है :

हे संगीत के हृदय, इस पवित्र तीर्थस्थान में जाग्रत हो जा,
इस भारत भूमि में, विशाल मानवता के इस तट पर।
यहाँ मैं भुजाएँ पसारे खड़ा हूँ दैवी मानव का अभिनन्दन करने के लिए,
और आनन्ददायी प्रशस्ति द्वारा उसका गुणगान करने के लिए।
इन पहाड़ियों में जो गम्भीर ध्यान में मग्न हैं,
इन मैदानों में जो अपने वक्षस्थल पर सरिताओं की मालाएँ धारण किये हैं,
यहाँ तुम्हें उस भूमि का दर्शन होगा जो चिर पवित्र है,
इस भारत भूमि में, विशाल मानवता के इस तट पर।
न जाने कहाँ से और किसके आह्वान पर,
मनुष्यों की ये कोटि-कोटि सरिताएँ,
आतुरता से दौड़ती हुई आयी हैं अपने को इस महासागर में विलीन करने हेतु।
आर्य, अनार्य, द्रविड़ और चीनी,
सिथियन, हूण, पठान और मुगल सब एक शरीर में घुलमिल गये हैं।
अब पश्चिमी जातियों ने इसके द्वार खोले हैं, और वे सब अपनी-अपनी भेंट लेकर आयी हैं
वे देंगी और पायेंगी, एक करेंगी और एक होंगी, वे लौटकर नहीं जायेंगी।
इस भारत भूमि में, विशाल मानवता के इस तट पर।
आओ आर्य, अनार्य, हिन्दू, मुसलमान, सब आओ,
हे पादरियो, हे ईसाइयो, आओ, सब के सब आओ।
आओ ब्राह्मणों, सब मनुष्यों की बाँह पकड़कर अपने हृदय को पवित्र करलो।
तुम सब आओ जो वर्जन और पृथक करते थे; असम्मान सब धो डालो।
आओ, माँ के अभिषेक में सम्मिलित हो जाओ, इसके पवित्र कमण्डल को भर दो
उस जल से जो सबके स्पर्श से पवित्र हो चुका है,
इस भारत भूमि में, विशाल मानवता के इस तट पर।

(ग) प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता का दर्शन—रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार सभ्यता का सार मानवता का प्रेम है, न कि भौतिक शक्ति का संचय। अपने प्रारम्भिक दिनों में वे पश्चिम तथा ईसाइयत से प्रभावित हुए थे।[33] उनका मानस विशद, उदार तथा व्यापक था। वे एक ऐसी सार्वभौम मानवतावादी संस्कृति का विकास चाहते थे जिसे चीनियों, हिन्दुओं, यहूदियों और ईसाइयों ने अपने-अपने योगदान से समृद्ध किया हो। वे यह भी मानते थे कि पश्चिम के विज्ञान ने चूँकि प्रकृति के नियमों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया है इसलिए उसमें मनुष्य को मुक्त करने की शक्ति

---

32 टैगोर ने ऐतिहासिक प्रगति के नैतिक नियम का समर्थन किया। पश्चिमी राष्ट्रों में नैतिक मूल्यों के प्रति जो सन्देह की प्रवृत्ति बढ़ रही है उस पर उन्हें बड़ा दुःख था। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध को वे दण्डात्मक युद्ध कहा करते थे।

33 अपने प्रारम्भिक जीवन में टैगोर ने लिखा था : "*यूरोप का दीपक अभी भी जल रहा है, हमें चाहिए कि अपना पुराना बुझा हुआ दीपक उसकी ज्योति से जला लें और काल के मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दें। अंग्रेजों के साथ हमारे सम्बन्ध का जो उद्देश्य है उसे पूरा करना हमारा कर्तव्य है।*"

विद्यमान है। पाश्चात्य मानवता की सृजनात्मक प्रकृतियों तथा पश्चिम की संस्कृति में विश्वनागरिकतावाद, बुद्धिवाद, मानवतावाद तथा अनुसन्धान की जो प्रचण्ड भावना देखने को मिलती है उसका टैगोर पर बहुत प्रभाव पड़ा था। इसके विपरीत पश्चिमी मानव की असीम साम्राज्यवादी उग्रता और हिंसात्मक क्रूरता ने टैगोर की काव्यात्मक संवेदनशीलता तथा मानवता को विशेष आघात पहुँचाया था। अपनी अस्सीवीं जन्मगाँठ के अवसर पर एक भाषण में उन्होंने कहा था : "एक दिन मैंने अंग्रेजों को यौवन की शक्ति से पूर्ण, जरूरतमन्दों की सहायता करने के लिए सदैव उद्यत एक स्वस्थ राष्ट्र के रूप में देखा था, किन्तु आज मैं देख रहा हूँ कि वे समय से पहले ही वृद्ध हो चुके हैं और उस महामारी के दुष्प्रभाव से जर्जरित हैं जिसने प्रच्छन्न रूप से उनके राष्ट्र की समृद्धि और कल्याण को लूट लिया है। अब हमारे लिए अपने मन में सभ्यता के उस मखौल के प्रति सम्मान का भाव बनाये रखना सम्भव नहीं है जो शक्ति के बल पर शासन करने में विश्वास करता तथा जिसे स्वतन्त्रता में तनिक भी आस्था नहीं है। अंग्रेजों ने हमें अपनी सभ्यता की सर्वोत्तम उपलब्धियों से वंचित रखकर और हमारे साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित न करके हमारी प्रगति के सब मार्गों को प्रभावपूर्वक बन्द कर दिया है।" पश्चिम के साम्राज्यवादियों ने पूर्वी देशों की जनता को पुंसत्वहीन बना दिया था और उनकी बुद्धि को कुण्ठित कर दिया था, इसके अतिरिक्त उनकी नीति में आध्यात्मिक सामंजस्यकारी शक्ति का नितान्त अभाव था। टैगोर ने इस सबके लिए भी पश्चिमी राष्ट्रों की कटु आलोचना की। अन्त में, जब उनकी आत्मा तीव्र वेदना से पीड़ित हो उठी तो उन्होंने सहायता के लिए पूर्व के उन ऋषियों की ही शरण ली जिन्होंने अन्धकार, भय तथा मृत्यु के स्थान पर स्वतन्त्रता, शान्ति, प्रकाश तथा अमरत्व का स्वप्न देखा था। उनकी दृष्टि में भारत पूर्व के लोगों की प्रेम, सौन्दर्य, सत्य तथा पवित्रता की इस आकांक्षा का प्रतिनिधि था।

टैगोर के अनुसार पूर्व के नैतिक तथा आध्यात्मिक दर्शन में भविष्य का सन्देश निहित था। इसके विपरीत पश्चिम के साम्राज्यवादी परजीवी जन्तुओं की भाँति एशिया तथा अफ्रीका की जातियों का रक्त चूस रहे थे और इससे विजयी राष्ट्रों का ही नैतिक अधःपतन हो रहा था। आदर्श हल यह होगा कि परलोक और आध्यात्मिकता का सन्देशवाहक भारत और ठोस पृथ्वी पर निर्माण करने वाला पश्चिम—ये दोनों परस्पर मिलें और मैत्री के सम्बन्ध स्थापित कर आगे बढ़ें।[34] केवल इसी प्रकार अमर आत्मा की सब सन्तानें परस्पर आध्यात्मिकता के आलिंगन में आबद्ध हो सकती हैं।[35]

5. टैगोर के राजनीतिक चिन्तन के समाजशास्त्रीय आधार

टैगोर इस सीमा तक समाजवादी थे कि वे राज्य की तुलना में समाज को अधिक प्राथमिकता देते थे। इसलिए समाज की निषेधात्मक आलोचना के बजाय उन्होंने रचनात्मक सामाजिक प्रयत्नों पर बल दिया। वे समाज को आध्यात्मिक अवयवी मानते थे। मनुष्य में दो प्रकार की जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं। उसमें अपने सुख और अपने उत्कर्ष की इच्छाएँ होती हैं। उनकी पूर्ति आत्मकेन्द्रित, आर्थिक तथा शारीरिक क्रियाकलाप से होती है। किन्तु मनुष्य में सामूहिक कल्याण और सामाजिक उपकार की इच्छाएँ भी अन्तर्निहित होती हैं। जाति के परिरक्षण के लिए आवश्यक उपकार की प्रवृत्ति कुछ अंशों में सभी प्राणियों में अन्तर्निहित हुआ करती है। इस प्रकार मनुष्य में दो प्रकार की इच्छाएँ पायी जाती हैं। टैगोर लिखते हैं : "हमारा एक वृहत्तर शरीर भी है; वह समाज शरीर है। समाज एक अवयवी है; उसके अंगों के रूप में हमारी अपनी वैयक्तिक इच्छाएँ होती हैं। हम अपना आनन्द तथा स्वच्छन्दता चाहते हैं। हम दूसरों की अपेक्षा प्राप्त अधिक करना चाहते हैं और देना कम चाहते हैं। यही छीना-झपटी तथा झगड़ों की जड़ है। किन्तु हमारे अन्दर एक अन्य इच्छा भी है, वह हमारे सामाजिक व्यक्तित्व की गहराई में सक्रिय रहती है। यह सम्पूर्ण समाज के कल्याण की इच्छा है। वह तात्कालिक तथा वैयक्तिक सीमाओं को लाँघ जाती है और अनन्त के पक्ष में जा खड़ी होती है।"[36] सामाजिक व्यवस्था में वृद्धि की भावना व्याप्त होती है और वह भावनाओं के आदान-प्रदान द्वारा

---

34 अपनी पुस्तक *Nationalism* में टैगोर ने लिखा है कि मैत्री का आदर्श जापानी संस्कृति का मूल है।
35 रवीन्द्रनाथ, *The Religion of Man*, पृष्ठ 134-35 : "प्रच्छन्न मानवता की सतत खोज ही उनकी सभ्यता है।"
36 टैगोर, "The Problem of Self," *Sadhana*. पृष्ठ 83।

जीवित बनी रहती है। मनुष्य की नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक चेतना का मूल समाज में ही होता है। अतः समाज एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को अपने अहं से ऊपर उठने में सहायता देता है। समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों की तुष्टि करता है, क्योंकि वह अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों का एक सूक्ष्म ताना-बाना है। टैगोर लिखते हैं : "समाज का अपने से बाहर कोई प्रयोजन नहीं है। वह स्वयं अपने में साध्य है। वह मनुष्य की सामाजिकता की स्वतः और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। वह मानवीय सम्बन्धों का स्वाभाविक नियमन है, जिससे मनुष्य पारस्परिक सहयोग से जीवन के आदर्शों का विकास कर सकें। उसका राजनीतिक पक्ष भी है, किन्तु वह केवल एक विशेष प्रयोजन के लिए है। वह आत्म-परीक्षण के लिए है। वह केवल शक्ति का पक्ष है, मानवीय आदर्शों का नहीं। और प्रारम्भिक काल में उसका समाज में पृथक-स्थान था, तथा वह पेशेवर लोगों तक सीमित था।"[37] समाज एक जीवन्त अवयवी है और कालान्तर में वह अपनी आधारभूत प्रवृत्तियों को विकसित कर लेता है और एक अर्थ में ही उसकी 'भावना' बन जाती हैं। अतः समाज ईश्वर की अभिव्यक्ति है।[38] उसका उद्देश्य मनुष्य को उसकी दैवी प्रकृति का स्मरण कराना है; साथ ही साथ वह आह्वान करता है कि मनुष्य अपने बौद्धिक प्रदीपन तथा विस्तृत सहानुभूति को व्यक्त करे। सामाजिक आदान-प्रदान के विस्तृत जीवन में मनुष्य अभिभूतकारी एकता के रहस्य का अनुभव करता है।" मनुष्य को इस प्रकार के साक्षात्कार का अवसर और सुविधा मनुष्यों के समाज में ही उपलब्ध हो सकती है। वह उसकी सामूहिक सृष्टि है, और उसके द्वारा उसका सामाजिक व्यक्तित्व सत्य तथा सौन्दर्य में अपने को प्राप्त कर सकता है। यदि समाज ने केवल अपनी उपयोगिता को ही व्यक्त किया होता, तो वह एक अँधेरे नक्षत्र की भाँति अस्पष्ट तथा अदृश्य बना रहता। किन्तु, जब तक वह भ्रष्ट नहीं हो जाता तब तक वह अपने सामूहिक कार्यकलाप द्वारा सत्य का सन्देश देता रहता है; यह सत्य ही उसकी आत्मा है और उस आत्मा का अपना व्यक्तित्व होता है। सामाजिक आदान-प्रदान के इस बृहत जीवन में मनुष्य को एकता के रहस्य की अनुभूति होती है, जैसी कि संगीत में। उस एकता की अनुभूति से ही मनुष्य को ईश्वर का भान हुआ। इसलिए हर धर्म जनजातीय ईश्वर की धारणा को लेकर प्रारम्भ हुआ।[39]

रवीन्द्रनाथ को समाज के कार्यात्मक सिद्धान्त में भी विश्वास था। वे समाज को व्यर्थ के सामाजिक स्तरों में विभक्त और संगठित करने की प्रक्रिया के विरुद्ध थे, क्योंकि उनके विचार में इस प्रकार का स्तरीकरण सामाजिक अत्याचारों को स्थायित्व प्रदान करता है। वे अपने समय में प्रचलित सामाजिक नैतिकता की गड़बड़ी और अव्यवस्था को भलीभाँति समझते थे। पाश्चात्य सभ्यता के आघात के लिए कारण पुरातन मूल्य अपदस्थ हो रहे थे। ऐसी निराशा तथा उद्विग्नता की वेला में टैगोर ने सिखाया कि व्यक्ति समूह, संघ और समुदाय के जीवन में भागीदार बनकर ही अपने जीवन के प्रयोजन को पूरा कर सकता है। टैगोर ने समाज के प्रति परमाणवीय तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परित्याग करने पर बल दिया और सिखाया कि सामाजिक ढाँचा तत्वतः अवयवी है। किन्तु सामाजिक अवयवी एक जीवन्त समग्र तभी बन सकता है जब समाज के सदस्य पारस्परिक कर्तव्यपालन के सूत्रों में बँधे हों और सब अंगों और वर्गों के साथ समानता का व्यवहार करें। इस प्रकार टैगोर प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को सांस्कृतिक परिवेश एवं प्रयोजनमूलक सामाजिक पारस्परिकता और समूह तथा साहचर्यात्मक जीवन की कार्यात्मक अन्तरनिर्भरता की पृष्ठभूमि में देखना चाहते थे।

टैगोर अपने समय के परजीवी आर्थिक वर्गों के विरोधी थे। यद्यपि उनका जन्म स्वयं एक जमींदार परिवार में हुआ था, किन्तु उस वर्ग की नैतिकता के सम्बन्ध में उनका भ्रम दूर हो गया था और उसमें उनकी आस्था जाती रही थी। जमींदार लोग पाश्चात्य साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के हितों के संरक्षक थे; उनमें उन नागरिकता तथा देशभक्ति के गुणों का नितान्त अभाव था जिनके कारण किसी समय सामन्त वर्ग का शूरत्व गौरव और प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता था। उनका उद्देश्य

---

37 *Nationalism*, पृष्ठ 9।

38 टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 143 : "किसी कारणवश मनुष्य ने अनुभव किया है कि एकता (समाज) की यह व्यापक भावना स्वभाव से ईश्वरीय है।"

39 *Creative Unity*, पृष्ठ 21-22।

धन-संचय था न कि सामाजिक सेवा तथा न्याय। टैगोर का विश्वास था कि नये समाज के निर्माण के लिए नेतृत्व न तो साहूकारों और उद्योगपतियों से मिल सकेगा और न जमींदारों से; वह तो बुद्धि-जीवी मध्यवर्ग से ही उपलब्ध होगा। अपनी साहित्यिक रचनाओं में उन्होंने बंगाल के जमींदार वर्ग की शिथिलता तथा निर्जीवता का दिग्दर्शन कराया है और बुद्धिजीवी मध्यवर्ग में विश्वास प्रकट किया है।

प्रारम्भ में जाति-व्यवस्था व्यावसायिक सामाजिक संगठन के सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक मेल-मिलाप का माध्यम थी। उन दिनों वह भारतीय आर्यों तथा देशज जनता की पारस्परिक शत्रुता को दूर करने का साधन सिद्ध हुई। किन्तु कालान्तर में विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। ब्राह्मण, जिनका कर्तव्य दर्शन, संस्कृति, कला और धर्म की रक्षा करना था, एकाधिकारी पुरोहित वर्ग बन गये और शूद्रों पर अत्याचार करने लगे। इस प्रकार सामाजिक परतन्त्रता की प्रणाली आरम्भ हुई जिसने मनुष्यत्व की भावना कुचल दी, और जिन वर्गों के हाथों में शक्ति थी उनको देवतुल्य घोषित कर दिया। वर्तमान जाति-प्रथा एक जड़ निष्प्राण व्यवस्था है जो व्यक्ति को कुचल देती है। वह अनुदारता तथा निष्क्रियता को भी जन्म देती है और गतिशीलता तथा अभिक्रम भावना को दबा देती है। अतः रानाडे और आगरकर की भाँति रवीन्द्रनाथ ने भी बतलाया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपभोग की क्षमता सामाजिक उदारवाद तथा मुक्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। वे जाति-प्रथा के हानिकारक परिणामों के पूर्णत: विरुद्ध थे। उन्होंने लिखा है : "उदाहरण के लिए, भारत में जाति का विचार समष्टि का विचार है। यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति से मिलें जो इस समष्टि के विचार के प्रभाव में है तो हम पायेंगे कि अब वह एक शुद्ध व्यक्ति नहीं है; उसका अन्त:करण मानव प्राणियों के मूल्य को आँकने में पूर्णतः जाग्रत नहीं है। वह सम्पूर्ण समाज की भावना को व्यक्त करने का एक न्यूनाधिक निष्क्रिय माध्यम है। यह स्पष्ट है कि जाति का विचार सृजनात्मक नहीं है; वह केवल संस्थात्मक है। वह किसी यांत्रिक व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में तालमेल बिठलाने का प्रयत्न करता है। वह व्यक्ति के निषेधात्मक पक्ष अर्थात उसकी पृथकता को महत्व देता है। वह व्यक्ति में निहित निखिल सत्य को आघात पहुँचाता है।"[40] अपनी 'जाबाल सत्यकाम' शीर्षक कविता में उन्होंने वंशानुगत अधिकारों के विरुद्ध उपदेश दिया और इस बात का समर्थन किया कि समाज के निम्नतम वर्गों को शिक्षा की समान सुविधाएँ दी जानी चाहिए। उन्होंने बहि-ष्करण के उस निष्ठुर नियम की भर्त्सना की जो अनमनीय और रूढ़िबद्ध समाज का लक्षण है। उनका कहना था कि जाति-प्रथा वंशानुक्रम के नियम को अतिशय महत्व देती है और उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) तथा सामाजिक तरलता के नियम की अवहेलना करती है। इसलिए उन्होंने जाति-प्रथा के उन्मूलन का समर्थन किया। अस्पृश्यता की विकृत प्रथा ने उनके कवि हृदय की सम्पूर्ण व्यथा को मुखरित कर दिया। उन्होंने लिखा है :

> ओ मेरी भाग्यहीन माँ! जिनको तुमने अपमानित किया है वे तुम्हें नीचे
> घसीटकर अपने ही स्तर पर पटक देंगे।
> जिनको तुमने मानवता के अधिकारों से वंचित किया है वे तुम्हें घसीट
> कर अपनी ही स्थिति में ले आयेंगे।
> प्रतिदिन मनुष्य के स्पर्श से बचकर तुमने मनुष्य में निहित
> देवत्व का अपमान किया है।
> इसलिए तुम पर स्वर्ग का शाप पड़ा है और तुम्हें दुर्भिक्ष के द्वार पर
> विवश होकर हर किसी के साथ भोजन करना पड़ा है।
> तुम नहीं देख पा रही हो कि तुम्हारे द्वार पर खड़ा हुआ
> मृत्यु का दूत तुम्हारी जाति के अहंकार को अभिशप्त कर रहा है।
> यदि तुमने सबके आलिंगन से बचना चाहा और अपने को अहंकार की मोटी दीवारों में बन्द
> कर लिया तो तुम्हें उस मृत्यु का आलिंगन करना पड़ेगा जो तुम सबको एक समान
> कर देगी।

---

40 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *Creative Unity*, पृष्ठ 96।

जब 1932 में रेम्जे मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की तो टैगोर ने अपने देशवासियों को सलाह दी कि वे उसकी उपेक्षा करें और अपनी सारी शक्तियों को विवेकशून्य साम्प्रदायिक और वर्गगत भेदभाव का उन्मूलन करने में केन्द्रित कर दें। इस प्रकार उनका विश्वास था कि यदि बुद्धिजीवी अपनी शक्तियों को सही दिशा में जुटा दें तो देश की प्रचलित सामाजिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

6. टैगोर के राजनीतिक विचार

(क) अधिकारों का सिद्धान्त—टैगोर अधिकारों का सन्देश देने आये थे।[41] किन्तु उनके विचार में अधिकार किसी व्यक्ति की अपनी निजी सम्पत्ति नहीं है, वे सामाजिक कल्याण की वृद्धि में निष्काम योगदान देने से ही उत्पन्न होते हैं। उन्होंने लिखा है: "........सच्ची मानव प्रगति सहानुभूति के क्षेत्र के विस्तार के साथ ही होती है। हमारे सम्पूर्ण काव्य, दर्शन, विज्ञान, कला और धर्म हमें इस बात में सहायता देते हैं कि हम अपनी चेतना के लक्ष्य को अधिक उच्च तथा विशाल क्षेत्रों की ओर विस्तृत करें। मनुष्य बृहत्तर स्थान पर कब्जा करके अधिकारों को अर्जित नहीं करता और न वाह्य आचरण के द्वारा; उसके अधिकारों का क्षेत्र उतना ही विस्तृत होता है जितना कि वह स्वयं वास्तविक है, और उसकी वास्तविकता उसकी चेतना के प्रसार से नापी जाती है।"[42] यदि *मनुष्य अपने जैसे ईश्वर के प्राणियों के साथ अपनी एकता का साक्षात्कार कर लेता है तो उसे अपने* दावों के लिए युद्ध नहीं करना पड़ता बल्कि 'आत्मा का शाश्वत अधिकार' ही उसकी स्थिति का आधार बन जाता है। टैगोर ने उन लोगों की भर्त्सना की जो जातीय अहंकार और शक्तिमद के वशीभूत होकर मानव गरिमा का अपमान करते हैं; उन्होंने ईश्वर के नैतिक आदेशों का पक्ष लिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि वे निश्चय ही सम्यकता, न्याय तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे। यदि लोभ, भोगवृत्तियों की लालसा और निरंकुश शक्ति निरन्तर बलवती होती जाय तो फिर ईश्वर भी मौन होकर नहीं बैठ सकता।

विवेकानन्द की भाँति टैगोर ने भी इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि अधिकारों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति तथा समूह दोनों को ही शक्ति का अर्जन करना चाहिए। दासताजनित अपमान को स्वीकार कर लेने से मनुष्य के हृदय में विराजमान दैवी प्रकाश की ज्योति क्षीण हो जाती है। ऐसी स्वीकृति का अर्थ होता है असत्य और अन्याय के सामने समर्पण करना। दौर्बल्य मानव आत्मा के साथ विश्वासघात है। इसलिए टैगोर हृदय से चाहते थे कि भारत के दलित तथा अकिंचन लोग अपने पुनरुद्धार के लिए नैतिक शक्ति का अर्जन करें, और निरंकुश उग्रता तथा साम्राज्यवादी शक्ति के अहंकार के सामने झुकने से इनकार कर दें। वे ग्रामोद्धार के पक्षपाती थे और इसलिए चाहते थे कि किसान अपने अधिकारों के सम्बन्ध में सचेत हों।[43] 1904 में 'बंगदर्शन' में प्रकाशित अपने 'स्वदेशी समाज' शीर्षक लेख में उन्होंने गाँवों के पुनस्संगठन का समर्थन किया। उनका सुझाव था कि थोड़े-से गाँवों की मंडली अपने मंडप में ग्राम कल्याण तथा पुनर्वास की योजना बनाये। वे चाहते थे कि जिलों और गाँवों में प्रान्तीय प्रतिनिधि-सभाओं की शाखाएँ खोली जायँ। उन्होंने कुटीर उद्योगों का समर्थन किया और ग्रामीण जनता को सलाह दी कि वह अपने में *अभिक्रम की योग्यता तथा सहयोग* की भावना का विकास करे। 1908 में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा: "रैयत को शक्तिशाली होना चाहिए जिससे किसी को उस पर अत्याचार करने का प्रलोभन ही न हो सके। क्या जमींदार दुकानदार हैं जो अपने तुच्छ लाभ का ही हिसाब लगाते रहें? उनका वंशानुगत विशेषाधिकार दान देना है, यदि वे अपने इस अधिकार का प्रयोग नहीं करते तो उनकी बची-खुची शक्ति भी उनके हाथ से निकल जायगी।" इस प्रकार हम देखते हैं कि टैगोर के अनुसार जमींदारों

---

41 रवीन्द्रनाथ टैगोर ने *The Call of Truth* नामक पुस्तक में लिखा है: "मनुष्य को अपने अधिकारों के सम्बन्ध में भीख नहीं माँगनी है, उसे चाहिए कि वह अपने लिए उनका स्वयं सर्जन करे।" वे बौद्धिक विवाद के अधिकार को आधारभूत मानते थे।

42 *Sadhana*, पृष्ठ 18-19।

43 1904 में अलबर्ट हॉल कलकत्ता में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि समाज का पुनर्निर्माण पुराने आदर्शों और नमूनों के आधार पर किया जाय।

का काम रैयत के कल्याण की व्यवस्था करना था न कि उसका उत्पीड़न करना। मनुष्य के लिए अपने अधिकारों को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है—रचनात्मक कार्य में संलग्न रहना और उससे उत्पन्न कष्टों को सहना[44] तथा धीरजपूर्वक आत्मत्याग करना। यह मार्ग लम्बा और कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए समाज रूपी शरीर के अगणित छिद्रों को भी बन्द करना है। टैगोर ने अपने देशवासियों को यह भी सलाह दी कि वे ह्वाइट हॉल के अहंकारी साम्राज्यवादियों के उन टुकड़ों को अंगीकार न करें जिन्हें वे कभी-कभी हमारे सामने कंजूसी और घृणा के साथ फेंक दिया करते हैं; बल्कि उन्हें चाहिए कि अपनी सुदृढ़ शक्ति की नींव डालें।

सर सैयद अहमदखाँ की भाँति टैगोर को भी इस बात का दुःख था कि भारत में अंग्रेजी शासन यांत्रिक था और उसमें वैयक्तिक पुट की कमी थी; शासकों और शासितों के बीच न तो उदारतापूर्ण आदान-प्रदान था और न सामाजिक सहानुभूति के सम्बन्ध थे। यद्यपि भारत के मुगल शासन में अनेक दोष थे ; फिर भी उसके अन्तर्गत शासक वर्ग तथा प्रजा के बीच सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु अंग्रेजों ने अपने तथा भारतीय जनता के बीच सदैव दूरी बनाये रखने का प्रयत्न किया था। इसका कारण कुछ तो उनका भय था, किन्तु उनका जातीय अहंकार और अभद्र व्यवहार भी इसके लिए उत्तरदायी थे। रवीन्द्रनाथ की संवेदनशील आत्मा ने इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह किया, और इंगलैण्ड के वैयक्तिक सम्बन्धों से शून्य शासन के प्रति भारी रोष व्यक्त किया। यही कारण था कि वे भारत के राजनीतिक स्वतन्त्रता के अधिकार के समर्थक थे। उन्होंने इस बात को बड़ी तीक्ष्णता के साथ व्यक्त किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में जनता का नैतिक बल क्षीण होता है और आत्मा संकुचित हो जाती है। केवल आत्मनिर्णय मानवता के अधिकारों की रक्षा कर सकता है। अतः टैगोर ने भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। 1922 में 'बंगाली पत्रिका' में प्रकाशित अपने एक पत्र में उन्होंने अहिंसा की शक्ति में आस्था प्रकट की, किन्तु शर्त यह रखी कि वह स्वतः प्रसूत हो। 1923 में उन्होंने कहा कि जिन्हें परिषदों में आस्था है उन्हें उनमें प्रवेश करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किन्तु उन्हें चित्तरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू के इन विचारों से सहानुभूति नहीं थी कि स्वराज्य दल के सदस्यों को परिषदों में 1919 के भारत शासन अधिनियम को छिन्न-भिन्न करने के उद्देश्य से ही जाना चाहिए। 1930 में उन्होंने महात्मा गान्धी के गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के विचार का समर्थन किया।

(ख) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त—टैगोर ने स्वीकार किया कि प्रकृति तथा इतिहास में आवश्यकता और नियतिवाद के नियम कार्य करते हैं। मनुष्य समाज के बन्धनों में बँधा होता है। किन्तु यदि एक ओर वस्तु जगत पराधीनता का क्षेत्र है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक जगत में मनुष्य स्वतन्त्रता और स्वच्छंदता को भी उपलब्ध कर सकता है। यह स्वतंत्र आध्यात्मिक जगत सृजनात्मक बाहुल्य का प्रांगण है।[45] आत्मा की शक्तियों से प्रसूत यह अतिरिक्त सृजनात्मकता ही स्वतन्त्रता का स्रोत है, और उसकी जड़ें आध्यात्मिक हैं। अतः टैगोर के अनुसार मनुष्य के लिए आवश्यकता के बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्रता के जगत में प्रवेश करना सम्भव है।

स्वतन्त्रता तथा स्वतःता के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के नाते[46] टैगोर ने चिन्तन और कर्म की स्वतन्त्रता तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। उनकी संवेदनशील कवि आत्मा ने

---

44 अपनी राजनीतिक रचनाओं के प्रारम्भिक काल में टैगोर 'नेतृत्व' के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। 'स्वदेशी समाज' में उन्होंने लिखा है : "सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम किसी दृढ़ व्यक्ति को नेता बना लें और उसे अपना प्रतिनिधि मानकर उसके चतुर्दिक एकत्र हो जायं। उसके शासन को स्वीकार करने से हमारे आत्म-सम्मान को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचेगी, क्योंकि वह स्वतन्त्रता का ही प्रतीक होगा।" व्यक्तिवादी लोकतंत्र के कुछ समर्थक टैगोर के इस नेतृत्व-सिद्धान्त को बुरा मानेंगे। 'जन गण मन' मे भी नेता (राजा) का गुणगान किया गया है। किन्तु अपनी परवर्ती रचनाओं में टैगोर सम्भवतः राजत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते।

45 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *Lover's Gift and Grossing*, पृष्ठ 91 : "मेरी दृष्टि में अदृष्ट मार्गों पर विचरण करने वैसे ही स्वतंत्र हैं जैसे वन के पक्षी।"

46 देखिये 'आह्वान' तथा 'शंख' शीर्षक कविताएं। 'कर्तार इच्छया कर्म' शीर्षक लेख में टैगोर ने साम्प्रदायिकता तथा अनुष्ठानवादियों की आलोचना की है और समाज तथा राजनीतिक संगठन दोनों में ही स्वतन्त्रता की मांग की है।

सभी रूपों में शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्हें मानव आत्मा की स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता से प्रेम था। उनके अनुसार यांत्रिक रूढ़ियों और संकीर्ण सामाजिक पंथों के कुप्रभाव का शमन करने की एकमात्र औषधि स्वतन्त्रता है। केवल वही मृत्यु, लज्जा और बन्धनों के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति प्रदान कर सकती है।[47] अतः उन्होंने धर्म संघ, राज्य आदि उन सब संगठित संस्थाओं के दावों के विरुद्ध विद्रोह किया जो व्यक्ति की शक्तियों को कुचल देती हैं। राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह व्यक्ति के हितों की रक्षा करे, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है। इस प्रकार टैगोर ने बाध्यता तथा वाह्य आधिपत्य के विरुद्ध मानव आत्मा की नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को पवित्र माना।[48]

विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति टैगोर भी स्वतन्त्रता के आध्यात्मिक सिद्धान्त को मानते थे। उनके अनुसार आत्म-साक्षात्कार के द्वारा आत्मा को प्रदीप्त करना ही स्वतन्त्रता का सार है। वास्तव में सार्वभौमता की प्राप्ति ही स्वतन्त्रता है। इसलिए प्रेम स्वतन्त्रता तक पहुँचने का सही मार्ग है। अलगाव तथा पृथकत्व से विश्व के अर्थतंत्र का तालमेल बिगड़ जाता है। सहानुभूतिपूर्ण सहयोग, करुणा तथा विश्वासमूलक मेल-मिलाप से मनुष्य की शक्तियों का विकास होता और उसके परिणाम-स्वरूप स्वतन्त्रता का वरदान उपलब्ध होता है। अहंकार का जीवन पृथकत्व तथा नीरसता का जीवन है, उसे निश्चय ही स्वतन्त्रता का जीवन नहीं कहा जा सकता। सहानुभूति तथा समझदारी की भावना से ही आध्यात्मिक एकता की अन्तर्निहित शक्तियों का प्रस्फुटन होता है। स्वतन्त्रता की उपलब्धि के दो ही साधन हैं—सब प्राणियों की व्यापक अन्तरनिर्भरता को समझ लेना और परमात्मा की शाश्वत सृजनात्मकता का निष्काम भाव से साक्षात्कार कर लेना। 'गीतांजलि' में टैगोर लिखते हैं:

> जहाँ मन में निर्भयता है और मस्तक ऊँचा है;
> जहाँ ज्ञान पर प्रतिबन्ध नहीं है;
> जहाँ संसार संकीर्ण घरेलू दीवारों से विभक्त होकर खण्ड-खण्ड नहीं हुआ है;
> जहाँ शब्दों का निस्सरण केवल सत्य के गहरे स्रोत से होता है;
> जहाँ अथक उद्यम पूर्णता के आलिंगन के लिए भुजाएँ पसारता है;
> जहाँ बुद्धि की निर्मल जलधारा निर्जीव टेव के सूखे मरुस्थल की सिकता में लुप्त नहीं हो गयी है;
> जहाँ तुम मन को निरन्तर विस्तीर्ण होने वाले चिन्तन और कर्म की ओर प्रेरित करते हो;
> हे परमपिता! उस स्वतन्त्रता के दिव्यलोक में मेरा देश जाग्रत हो।[49]

ईसाइयत के प्रारम्भिक दार्शनिकों, एक्टन तथा उदारवादियों की भाँति टैगोर ने भी राजनीतिक शक्ति की विनाशकारी लीला की भर्त्सना की। वे व्यक्तित्व का सन्देश लेकर आये थे, न कि आधिपत्य का। उनका दृढ़ विश्वास था कि परमात्मा का शाश्वत नियम शक्ति के ठेकेदारों को अवश्य ही नीचा दिखायगा। शक्ति एक शाश्वत महामारी है। शक्ति का धारणकर्ता तथा जिसके विरुद्ध उसका प्रयोग किया जाता है, दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं और इससे स्वतः ईश्वर के क्रोध को निमंत्रण मिलता है। ईश्वर अथवा दिव्य माता का अदृश्य हाथ निश्चय ही यांत्रिक शक्ति तथा कूटनीतिक चतुराई के ठेकेदारों को धूल में मिला देगा।[50] आत्मा पीड़ितों के आँसुओं की पुकार को अवश्य ही सुनती है। टैगोर ने लिखा है: "शक्ति को शक्तिशालियों के आक्रमणों के विरुद्ध ही सुरक्षित नहीं

---

47 रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'गीतांजलि', 28। 'सत्य का आह्वान' में टैगोर लिखते हैं, "जो अपने भीतर स्वराज प्राप्त करने में सफल नहीं हुए हैं, वे उसे बाहरी जगत में भी खो बैठेंगे।"

48 अपने लेख "Society and State" में टैगोर ने लिखा है कि भारत ने सदैव समाज का पोषण किया और इसलिए कर्तव्यपालन पर सबसे अधिक बल दिया गया। इंगलैण्ड में राजनीतिक स्वतन्त्रता को अधिक मूल्यवान माना गया है, इसके विपरीत भारत में स्वतन्त्रता को उच्च स्थान प्रदान किया गया है।

49 'गीतांजलि' 35।

50 रवीन्द्रनाथ टैगोर, "The Mother's Prayer" *The Fugitive*, पृष्ठ 95-110। यहां पर टैगोर ने दुर्योधन को शक्ति-पूजा के प्रवर्तक के रूप में चित्रित किया है। दुर्योधन कहता है, "केवल मूर्ख न्याय का स्वप्न देखा करते हैं, सफलता उनका वरण नहीं करती; किन्तु जो शासन करने के लिए उत्पन्न होते हैं वे निर्मम तथा सिद्धान्तहीन शक्ति का भरोसा करते हैं।" पृष्ठ 99। टैगोर स्वयं इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं और नैतिक प्रणाली की सर्वोपरिता का उपदेश देते हैं।

बनाना है, दुर्बलों से भी उसकी रक्षा करनी होगी। दुर्बलों के मुकाबले में ही इस बात का खतरा है कि वह अपना सन्तुलन खो बैठे। शक्तिशालियों के लिए दुर्बल उतना ही बड़ा खतरा है जितना कि गीली बालू हाथी के लिए। वे प्रगति में सहायक नहीं होते क्योंकि वे प्रतिरोध नहीं करते हैं; वे केवल नीचे की ओर घसीटते हैं। जिन लोगों को दूसरों के विरुद्ध निरंकुश शक्ति का प्रयोग करने की आदत पड़ जाती है वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि ऐसा करके वे एक ऐसी अदृश्य शक्ति को जन्म दे रहे हैं जो किसी दिन उनकी शक्ति को चकनाचूर कर देगी। पददलितों के मूक रोष को नैतिक सन्तुलन के सार्वभौम नियम से प्रचण्ड सहायता मिलती है। वायु जो इतनी पतली और सारहीन होती है, ऐसी आँधियाँ उत्पन्न कर देती है जिनका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। इतिहास ने इस बात को बार-बार सिद्ध कर दिया है; और वर्तमान समय में तिरस्कृत मानवता के विद्रोह से उत्पन्न तूफान खुलकर वायु-मण्डल में एकत्र हो रहे हैं।"[51] जिन सभ्यताओं ने हृदयहीनता का आचरण किया और दुर्बल जातियों को दास बनाकर रखा अथवा मानव मूल्य और गरिमा के श्रेयस्कर सिद्धान्त की अवहेलना की उन्हें अन्त में अपनी मृत्यु के रूप में अपने आचरण का अनिवार्य मूल्य चुकाना पड़ा। एक नैतिक कानून है जो सभ्यताओं को शासित करता है। प्रेम और न्याय ही ऐतिहासिक दीर्घजीवन के एकमात्र अधि-कारपत्र हैं, उन्हीं का अनुगमन करके सभ्यताएँ दीर्घकाल तक जीवित रह सकती हैं।

टैगोर ने भारत के व्यापक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के आदर्श को स्वीकार किया। उन्हें न तो फीरोजशाह और गोखले के आदर्शों से सहानुभूति थी और न वे तिलक के आदर्शों से सहमत थे। मितवादियों की भूल यह थी कि उनकी जड़ें देश की सांस्कृतिक परम्पराओं में गहरी नहीं थीं। अतिवादियों की नीति में दोष यह था कि उन्होंने केवल राजनीतिक कार्यवाही की पद्धति पर ही अपनी शक्तियाँ केन्द्रित कर दीं, और देश को निर्जीव कर देने वाली सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों की ओर ध्यान नहीं दिया।[52] टैगोर के विचार में सामाजिक प्रबुद्धता और सांस्कृतिक अविच्छिन्नता दोनों का ही पोषण करना आवश्यक था। इसके लिए सामाजिक तथा नैतिक पुनर्जागरण की आवश्यकता थी, अर्थात् मूल्यों तथा निर्देशक सिद्धान्तों को अधिक गहराई के साथ आत्मसात करना और अपनी आत्मा को शुद्ध करना, दोनों ही अपरिहार्य थे।

टैगोर भारत तथा एशिया की राजनीतिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे। उन्होंने भारत के लिए स्वराज्य का वाक्पटुता के साथ पक्षपोषण किया। उन्हें ऐसी सम्भावना लगती थी कि स्वराज्य से देश में नैतिक और बौद्धिक प्रकाश फैलेगा तथा ग्रेट ब्रिटेन अपनी राजनीतिक होतव्यता को पूरा कर सकेगा। यह सत्य था कि ब्रिटेन में लोकतन्त्र शताब्दियों के परीक्षणों, प्रयोगों, संघर्षों और दुःखों के बाद प्रगति कर पाया था। उसने एक महान साहसिक कार्य में अग्रगन्ता की जो भूमिका अदा की थी उसका उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ा था। किन्तु भारत भी उस मार्ग पर चलना आरम्भ कर सकता था। वह ब्रिटेन की सफलताओं और विफलताओं से बहुत कुछ सीख सकता था। स्वराज्य ही देश के राजनीतिक रोगों की एकमात्र औषधि थी। 1916 में टैगोर ने टोक्यो विश्वविद्यालय में अपने भाषण में चीन, भारत और सिआम (थाईदेश) की स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर बल दिया था। 1919 में उन्होंने भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड को जलियाँवाला बाग के राक्षसी हत्याकाण्ड के विरुद्ध एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने कहा : "पंजाब के कुछ स्थानीय उपद्रवों का दमन करने के लिए सरकार ने जो कार्यवाहियाँ की हैं उनकी राक्षसी क्रूरता ने हमारे मन को बर्ब-रतापूर्वक झकझोर दिया है और हमें स्पष्ट कर दिया है कि अंग्रेजों की प्रजा के रूप में हमारी स्थिति अत्यधिक विवशता और असहायता की है। हमारा विश्वास है कि अभागी जनता को जो दण्ड दिया गया है और जिस ढंग से दिया गया है वह उसके अपराध के अनुपात में इतना क्रूर है कि सभ्य शासन के प्राचीन अथवा अर्वाचीन इतिहास में उसका जैसा अन्य उदाहरण मिलना असम्भव

---

51 *Creative Unity*, पृष्ठ 127।

52 देखिये टैगोर, *Nationalism*, पृष्ठ 122। "हम अपनी वर्तमान विवशता के अपनी सामाजिक कमियों को दोष देने का कभी स्वप्न भी नहीं देखते।...हम सोचते हैं कि हमारा काम दासता की बालू पर स्वतन्त्रता का चमत्कार खड़ा करना है। वस्तुतः हम अपने ऐतिहासिक प्रवाह के सही मार्ग में बाँध खड़ा कर देना चाहते हैं और दूसरी जातियों के इतिहास के स्रोत से शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं।"

है, कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़कर जब हम यह सोचते हैं कि जिस जनता के साथ यह व्यवहार किया गया वह निःशस्त्र और साधनहीन थी और जिस शक्ति ने यह सब कुछ किया उसके पास मानव-संहार के लिए अत्यधिक भयंकर और सक्षम संगठन है, तो हमें दृढ़ता के साथ कहना पड़ता है कि इस कुकृत्य की कोई राजनीतिक आवश्यकता नहीं थी, और नैतिक औचित्य तो और भी कम था। यद्यपि सरकार ने सभी समाचार पत्रों तथा संचार साधनों को गला घोंटकर चुप कर दिया है, फिर भी पंजाब में हमारे भाइयों को जो अपमान और यातनाएँ भोगनी पड़ी हैं उनका थोड़ा-बहुत विवरण खामोशी के उस पर्दे में से छनकर भारत के कोने-कोने में पहुँचा है। उससे हमारी सम्पूर्ण जनता के हृदय में क्रोध की जो वेदना उत्पन्न हुई है उसकी हमारे शासकों ने उपेक्षा कर दी है; सम्भवतः वे अपने को इस बात पर बधाई दे रहे हैं कि उन्होंने जनता को अच्छा-खासा सबक सिखा दिया है। इस क्रूरता और हृदयहीनता की अनेक आंग्ल-भारतीय (ऐंग्लो-इण्डियन) समाचार पत्रों ने प्रशंसा की है और वे पाशविकता की इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि उन्होंने हमारी यातनाओं का उपहास किया है। किन्तु सत्ताधारियों ने उनकी इस क्रूर धृष्टता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, जबकि उन्हीं सत्ताधारियों ने वेदना की हर चिल्लाहट को और पीड़ितों का प्रतिनिधित्व करने वाले पत्र-पत्रिकाओं के निर्णय की हर अभिव्यक्ति को निष्ठुरतापूर्ण सावधानी के साथ कुचल डाला है। हम यह देख रहे हैं कि हमारी प्रार्थनाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं और प्रतिशोध के आवेश ने हमारी सरकार की राजनीतिज्ञोचित दृष्टि को अन्धा कर दिया है। यदि सरकार चाहती तो वह अपनी भौतिक शक्ति तथा परम्पराओं के अनुरूप सरलता से उदारता का परिचय दे सकती थी। ऐसी स्थिति में मैं अपने देश के लिए कम से कम यही कर सकता हूँ कि अपने करोड़ों देशवासियों के विरोध को व्यक्त कर दूँ और उसके जो भी परिणाम हों उन्हें अपने ऊपर ले लूँ; मेरे देशवासी स्वयं आप तक अपनी आवाज नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि आतंक की वेदना ने उन्हें सहसा मूक कर दिया है। वह समय आ गया है जब हमारे सम्मान के पदक अपमान और तिरस्कार की इस असंगत पृष्ठभूमि में हमारी लज्जा को और भी अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं सब विशिष्ट उपाधियों से वंचित होकर अपने उन देशवासियों की पंक्ति में खड़ा होना चाहता हूँ जो अपनी तथाकथित अकिंचनता के कारण उस अधोगति को सहन करने के लिए विवश किये जा सकते हैं जो मानव प्राणियों के लिए सर्वथा अनुचित है।" 1932 में जब अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन महात्मा गान्धी के नेतृत्व में पूरे जोर के साथ चल रहा था, उस समय टैगोर ने इस बात का समर्थन किया कि भारतीय जनता के मूल दावों को स्वीकार कर लिया जाय और भारत को स्वाधीनता का सार तुरन्त प्रदान कर दिया जाय। उन्हें ब्रिटेन तथा भारत के बीच सहयोग[53] में विश्वास था, किन्तु वे चाहते थे कि यह सहयोग मैत्री और विश्वास पर आधारित होना चाहिए। इसका अर्थ था कि भारतीय जनता का समानता तथा आत्मनिर्णय का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय।[54]

टैगोर के राजनीति दर्शन को एक महत्वपूर्ण देन उनका स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। उन्होंने स्वतन्त्रता का गुणगान किया और प्रेम, पवित्रता, कल्पना तथा सृजनात्मकता का सन्देश दिया तथा सब प्रकार के प्रतिबन्धों और यान्त्रिक नियमन का विरोध किया। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ पृथकत्ववादी स्वाधीनता नहीं है; बल्कि पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का आनन्दपूर्ण सामंजस्य ही स्वतन्त्रता है। उन्होंने पटुतापूर्ण तथा प्रभावकारी शब्दों में मनुष्य की स्वतःता तथा वैयक्तिकता की प्रशंसा की है। वे उस यान्त्रिक भौतिकवादी सभ्यता के घोर शत्रु थे जो व्यक्तियों को सुयोग्यता तथा संगठन के रक्तपिपासु आदर्शों की वेदी पर चढ़ा देना चाहती है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में इस प्रकार का आग्रह हमारे गणतन्त्र की नींव को सुदृढ़ कर सकता है।

---

53 टैगोर का 'लंदन टाइम्स' को पत्र, मई 1932।

54 डा. तारकनाथदास का यह मत निराधार है कि टैगोर लोकतन्त्रवादी नहीं थे और जनता के कल्याण के लिए सर्वाधिक बुद्धिमान तथा सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का शासन चाहते थे। डा. तारकनाथदास ने अपनी पुस्तक *Rabindra Nath Tagore : His Religious, Social and Political Ideals* (सरस्वती पुस्तकालय, कलकत्ता, 1932) में पृष्ठ 32 पर टैगोर के आदर्श की तुलना प्लेटो के विधायक तथा अरस्तू के अभिजाततन्त्र से की है। किन्तु उनकी यह तुलना अनुचित है।

(ग) **राष्ट्रवाद की समालोचना**—रवीन्द्र के हृदय में भारत के लिए गहरा, हार्दिक तथा उत्कट प्रेम था। उन्हें अपनी जन्मभूमि से, अपने पूर्वजों की शक्ति तथा स्फूर्तिदायिनी वसुन्धरा से, गहरा अनुराग था। 1905-06 में उनकी देशभक्तिपूर्ण वाणी सम्पूर्ण बंगाल में व्याप्त हो गयी। उन्होंने भारत माता को 'विश्व-मोहिनी'[55] कहकर अभिनन्दित किया। किन्तु उनकी संवेदनशील आत्मा की क्रान्तिकारी तथा अराजकतावादी कार्यों से सहानुभूति नहीं हो सकती थी। 1907 के बाद टैगोर ने अपने को साहित्यिक तथा शैक्षिक कार्यों तक ही सीमित रखा। यदाकदा उन्होंने राजनीतिक समस्याओं पर भी अपने विचार व्यक्त किये किन्तु राजनीति में सक्रिय भाग लेना बन्द कर दिया। अपनी गहरी देशभक्ति के बावजूद वे उस अवैयक्तिक राजनीतिक राष्ट्रवाद को अंगीकार न कर सके जिसका स्वरूप यूरोप तथा जापान में देखने को मिलता था।

टैगोर को मनुष्य के आध्यात्मिक साहचर्य में विश्वास था। उन्होंने 'मानव जाति के महान संघ' की कल्पना की थी। इसलिए वे राष्ट्रीय राज्य के आदेशों का पालन करने के लिए तैयार नहीं थे। राष्ट्रवाद पृथकत्व का पोषण करता है और आक्रामक उग्रता विश्व की सभ्यता के लिए एक खतरा है। राष्ट्रीय अहंकार संकीर्ण कल्पना तथा आध्यात्मिक संवेदनशीलता के अभाव का परिणाम है। वह शासितों की इच्छा और सम्मति को महत्व न देकर साम्राज्यवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद को जन्म देता है। साम्राज्यवादी शक्ति की मदोन्मत्तता के परिणामस्वरूप उपनिवेशी जगत में बर्बरता के भयंकर कृत्य किये जाते हैं। इसीलिए टैगोर जनता के पक्षधर थे, न कि राष्ट्र के। उन्हें भारत की जनता की आत्मा के पुनरुद्धार में विश्वास था। भारत एक अमर आध्यात्मिक शक्ति था और है। किन्तु वे राष्ट्र को देवता मानकर पूजने के विरुद्ध थे। वे समझते थे कि राष्ट्रवाद का धर्म संवेदना हर लेने वाली औषधि की भाँति खतरनाक है। वह मनुष्य की चिन्तन की शक्तियों को कुण्ठित कर देता है, और उसे उन सत्ताधारियों का विनम्र दास बना देता है जो दूरस्थ उपनिवेशों से लाभ बटोरने के उद्देश्य से उत्पादन की दैत्याकार व्यवस्था की रचना करते हैं। संगठित राष्ट्रवाद मनुष्य की आध्यात्मिक संवेदन-शक्ति पर तुषारपात कर देता है। परिणामतः वह जीवन के वास्तविक उद्देश्य अर्थात प्रेम, नैतिक स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक सामंजस्य के महान आदर्शों के प्रति अन्धा हो जाता है। राष्ट्रवाद आधुनिक पूंजीवादी साम्राज्यवादी राज्यों का युद्धघोष है। ये राज्य मनुष्यों की संवेदन-शक्तियों को क्षीण और कुण्ठित कर देते हैं जिससे वे स्वेच्छा से शासक वर्गों द्वारा रचे हुए युद्धों में अपने आपको झोंकने के लिए तत्पर रहें। अतः टैगोर ने राष्ट्र-पूजा के स्थान पर ईश्वरीय राज्य की नागरिकता के धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने राष्ट्रवाद को संगठित सामुदायिकता और यांत्रिक लोलुपता बतलाया और उसकी भर्त्सना की। और इसीलिए उन्होंने सार्वभौम मानवतावाद की शक्तियों को उन्मुक्त करने के लिए प्रचार किया। उनका कहना था कि अन्तर्निहित मानवीय शक्तियों के बन्धन तोड़ना आवश्यक है।[56]

टैगोर ने आक्रामक वाणिज्यवाद और उग्र विजयलोलुपता की, जिसे पश्चिम के देशों में अपना धर्म बना रखा था, घोर निन्दा की। पाश्चात्य राष्ट्रों के बाह्य राजनीतिक सम्बन्ध विश्वासघात, भयंकर ईर्ष्या तथा रोगमूलक भय पर आधारित थे, और प्रेम का स्थान सन्देह तथा अस्त्र-शस्त्रों ने ले लिया था। 1919 में जब पंजाब हत्याकाण्ड पर विवाद चल रहा था, उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने जिस हृदयहीनता का परिचय दिया उससे टैगोर की आत्मा को भारी वेदना हुई। अपनी इस वेदना को व्यक्त करते हुए उन्होंने सी. एफ. एंड्रूज को एक पत्र में लिखा था : "उन्होंने बर्बर क्रूरता को निर्लज्जतापूर्वक क्षमा कर दिया है। उनके भाषणों से यह बात स्पष्ट है और उनके समाचारपत्रों में भी इस बात की प्रतिध्वनि मिलती है। उनका यह रवैया गर्हित और भयावह है। आंग्ल-भारतीय शासन के अन्तर्गत हमारी जो अपमानजनक स्थिति है उसकी अनुभूति पिछले पचास

---

55 विपिनचन्द्र पाल ने "Sir Rabindranath Tagore", *Indian Nationalism*, में पृष्ट 18-19 पर लिखा है कि बंगाल के विभाजन के उपरान्त राखी उत्सव का विचार टैगोर ने ही दिया था। टैगोर ने ही 1906 में प्रथम बार कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षाओं का बहिष्कार करने का प्रस्ताव किया था।

56 अपने लेख 'शिक्षार मिलन' में टैगोर ने लिखा है कि सांस्कृतिक शिक्षा के द्वारा राष्ट्रवाद से सम्बन्धित अहंकार पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

अथवा उससे भी अधिक वर्षों से दिनप्रतिदिन अधिक कटु होती आयी है। फिर भी हमें एक बात से सान्त्वना थी, हमें विश्वास था कि अंग्रेज जाति न्यायप्रिय है, उसकी आत्मा को शक्ति के विष की घातक मात्रा ने दूषित नहीं कर दिया है, क्योंकि इतनी मात्रा उस अधीन देश में ही उपलब्ध हो सकती थी जहाँ की जनता का पुंसत्व कुचलकर उसे पूर्णतः असहाय बना दिया गया हो। किन्तु विष हमारी प्रत्याशा से कहीं अधिक गहरा पैठ गया था और ब्रिटिश राष्ट्र के मर्मांगों पर आक्रमण कर चुका है।" टैगोर ने पश्चिमी जातियों की साहसी प्रवृत्ति और वैज्ञानिक उत्सुकता की सराहना की थी और वे पश्चिम के स्वतन्त्रता, विधि तथा कार्यकुशलता के आदर्शों के भी प्रशंसक थे। यह सत्य है कि पश्चिम ने सामाजिक और नागरिक दायित्व तथा चेतना का अधिक ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया था। किन्तु पश्चिम में राष्ट्रवाद के नाम पर जिस संगठित लुटेरेपन का आचरण किया जा रहा था, उसकी टैगोर ने कटु आलोचना की थी। पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों की मानवभक्षी सभ्यता जो एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों का रक्त चूस रही थी, विश्व के लिए एक भारी खतरा थी। उसकी राक्षसी क्रूरता तथा रक्तपिपासु प्रेत की-सी लूट की लालसा ने उसकी नैतिक चेतना को भ्रष्ट कर दिया था, और इसलिए वह पूर्व के लिए भयंकर खतरा बन गयी थी।[57] टैगोर लिखते हैं: "राजनीतिक सभ्यता जिसका उद्‌भव यूरोप की आत्मा से हुआ और जिसने सारे विश्व को बाहुल्य से उगने वाले खरपतवार की भाँति पदाक्रान्त कर रखा है, बहिष्करण की प्रवृत्ति पर आधारित है।........जब इस सभ्यता का उत्कर्ष हुआ और उसने विश्व के महाद्वीपों को निगलने के लिए अपने भूखे जबड़े खोले उससे पहले भी संसार में युद्ध और लूटमार होती थी, राजतन्त्रों का परिवर्तन होता था और फलस्वरूप विपदाएँ आती थीं। किन्तु ऐसी भयावह और असाध्य लोलुपता का दृश्य, राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का ऐसा समग्र भक्षण पृथ्वी के बड़े-बड़े खण्डों को काट-काटकर मलीदा बनाने की ऐसी विशालकाय मशीनें, और ऐसी भयंकर ईर्ष्याओं—डरावने दाँतों और पंजों वाली एक दूसरे के मर्मांगों को फाड़ खाने के लिए उद्यत ईर्ष्याओं—का नंगा नाच कभी नहीं देखा गया था। यह राजनीतिक सभ्यता वैज्ञानिक है, मानवीय नहीं। नैतिक आदर्शों का सार्वजनिक रूप से इस प्रकार जो उन्मूलन किया जा रहा है उसकी समाज के हर व्यक्ति पर प्रतिक्रिया होती है, उससे धीरे-धीरे दौर्बल्य उत्पन्न होता है जो दिखायी नहीं देता। और अन्त में मानव स्वभाव की सभी पवित्र चीजों के प्रति हृदयहीन अविश्वास का भाव उत्पन्न होता है जो सठिया जाने का सच्चा लक्षण है। किन्तु शक्ति के गगनचुंबी प्रासादों व खण्डहरों और लोभ की टूटी-फूटी मशीनों को पुनः खड़ा कर देना ईश्वर की भी सामर्थ्य से परे है, क्योंकि वे जीवन के लिए नहीं थीं, वे सम्पूर्ण जीवन का ही निषेध करने वाली थीं।....वे उस विद्रोह के भग्नावशेष हैं जिसने अपने को अनन्त से टकराकर चकनाचूर कर लिया।"[58] टैगोर ने अनुभव किया कि पाश्चात्य राष्ट्रों के राजनीतिक आचरण पर अब रूसो और बर्क के आदर्शवाद का प्रभाव शेष नहीं रह गया था। उन्होंने अपनी मनुष्यता को विज्ञान की वेदी पर बलिदान कर दिया था, और राजनीतिक क्षमता की खोज में अपनी सामाजिक संवेदन शक्ति का परित्याग कर दिया था। इसीलिए वे पूर्व के राष्ट्रों पर दासता लादने में व्यस्त थे। अतः पाश्चात्य राष्ट्रवाद सामाजिक सहयोग और आध्यात्मिक आदर्शवाद के किसी सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह केवल एक राजनीतिक संगठन है जिसका उद्देश्य अन्य राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करना है। टैगोर ने चेतावनी दी कि यह यान्त्रिक सभ्यता जो एशिया और अफ्रीका से अनुचित लाभ बटोरने में व्यस्त है, धीरे-धीरे विनाश के खड्ड की ओर लुढ़कती जा रही है।

टैगोर ने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन की आलोचना की थी। उन्हें भय था कि इससे ऐसे स्थानीय, संकीर्ण तथा सीमित दृष्टिकोण की उत्पत्ति होगी जो विश्वराज्यीय सार्वभौमवाद का विरोधी है, जबकि सार्वभौमवाद भारतीय इतिहास की मुख्य धारा रही है। 1921-22 में उन्होंने विदेशी वस्त्रों को जलाने के कार्यक्रम का विरोध किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि वह जानबूझकर घृणा उत्पन्न करता है।

---

57 टैगोर पाश्चात्य सभ्यता को मनुष्य के लिए सबसे अधिक घातक मानते थे। देखिये *Nationalism*, पृष्ठ 56।
58 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *Nationalism*, पृष्ठ 59-61।

(घ) सोवियत साम्यवाद पर टैगोर के विचार—टैगोर ने 1930 में इंगलैण्ड में हिबर्ट व्याख्यानमाला के अन्तर्गत व्याख्यान देने के उपरान्त सोवियत संघ की यात्रा की। 1901 से उन्होंने अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग आरम्भ कर दिये थे। हैल्वेशियस की भाँति उनका भी विश्वास था कि शिक्षा समाज के पुनर्निर्माण का एक शक्तिशाली साधन है। इसलिए यद्यपि उन्होंने रूस की अधिनायकी क्रूरता की आलोचना की फिर भी वे उसकी शैक्षिक पुनर्निर्माण की विशाल योजनाओं और प्रायोजनाओं के विषय में बड़े आशावान थे। रूस में उन्होंने केवल दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक समस्याओं पर भाषण दिये,[59] और राजनीति का स्पर्श नहीं किया। उनके विचार और धारणाएँ 'रसियार पत्र' में संग्रहीत हैं। उसमें उन्होंने लिखा था : "पिछले वर्षों में रूस ने एक अधिनायक का सुदृढ़ शासन देखा है। किन्तु अपने को स्थायी बनाने के लिए उसने जार का मार्ग नहीं अपनाया है, अर्थात उसने जनता के मन को अज्ञान और धार्मिक अन्धविश्वास द्वारा वश में रखने तथा कज्जाकी कीड़ों के द्वारा उसके पुंसत्व को नष्ट करने की नीति नहीं अपनायी है। मेरा यह विश्वास नहीं है कि रूस के वर्तमान शासन में दण्डनायक का डण्डा निष्क्रिय है, किन्तु साथ ही साथ शिक्षा का प्रसार असाधारण उत्साह के साथ किया जा रहा है। कारण यह है कि वहाँ व्यक्तिगत अथवा दलगत शक्ति के तथा धन के लोभ का अभाव है। वहाँ इस बात का दुर्दमनीय संकल्प दिखायी देता है कि जनता की एक विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्त में आस्था उत्पन्न कर दी जाय और नस्ल, रंग और वर्ग आदि के भेदभाव के बिना हर व्यक्ति को मनुष्य बना दिया जाय। अभी यह कहने का समय नहीं है कि रूस का आर्थिक सिद्धान्त उचित है अथवा नहीं " किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वहाँ की जनता ने इतनी निर्भीकता से और इतने विशाल पैमाने पर स्वतन्त्रता का उपभोग कभी नहीं किया था। उन्होंने प्रारम्भ में ही उस प्रबल लोभ का बहिष्कार कर दिया जो इस आर्थिक सिद्धान्त को जोखिम में डाल देता। चूँकि वहाँ एक के बाद एक प्रयोग किये जा रहे हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तिम रूप क्या होगा। किन्तु यह निश्चित है कि जिस शिक्षा का रसास्वादन रूसी जनता इतनी स्वतन्त्रता और प्रचुरता के साथ कर रही है उसने फिलहाल उसकी मानवता को उन्नति और प्रतिष्ठा प्रदान की है।"

रूसी दार्शनिक बर्डीएव की भाँति टैगोर ने भी स्वीकार किया कि आधुनिक पूंजीवाद की शोषण, विषमता और संग्रह की प्रवृत्तियाँ ही साम्यवाद की वृद्धि के लिए मुख्यत: उत्तरदायी हैं। किन्तु उन्हें आशा थी कि अन्त में स्वच्छन्द पारस्परिकता तथा मुक्त सहयोग के सिद्धान्तों की विजय होगी। उन्होंने लिखा था : "बोलशेविकवाद का जन्म आधुनिक सभ्यता की इस अमानवीय पृष्ठभूमि में होता है। वह उस तूफान की तरह है जो वायुमण्डल में दबाव कम होने पर अपनी पूर्ण प्रचण्डता के साथ विद्युत-रूपी दाँत चमकाते हुए चारों ओर से झपटता है। यह अस्वाभाविक क्रान्ति इसलिए फूट पड़ी है कि मानव समाज अपना सामंजस्य खो बैठा है। चूँकि समाज के प्रति व्यक्ति की घृणा बढ़ रही थी, इसलिए व्यक्ति को समष्टि के नाम पर बलिदान करने की इस आत्मघाती योजना का प्रादुर्भाव हुआ है। यह उसी प्रकार है जैसे तट पर ज्वालामुखी से संतप्त होने पर मनुष्य चिल्लाने लगता है कि समुद्र ही हमारा एकमात्र मित्र है। इस तटविहीन सागर की वास्तविक प्रकृति का पता लग जाने पर ही वह तट पर पुन: लौट आने के लिए आतुर होता है। मनुष्य सदैव के लिए व्यक्ति-विहीन समष्टि की अवास्तविकता को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। समाज में विद्यमान लोभ के गढ़ों को जीतना है, उनका निग्रह करना है, किन्तु यदि व्यक्ति सदैव के लिए बहिष्कृत कर दिया गया तो फिर समाज का परित्राण कौन करेगा ? यह असम्भव नहीं है कि इस युग में बोलशेविकवाद ही उपचार हो, किन्तु डाक्टरी उपचार शाश्वत नहीं हो सकता। मेरी प्रार्थना है कि हमारे गाँवों में धन के उत्पादन तथा निमंत्रण में सहयोग के सिद्धान्त की विजय हो, क्योंकि यह सहयोगियों की इच्छा और राय की अवहेलना न करके मनुष्य के स्वभाव को मान्यता देता है। मनुष्य के स्वभाव से शत्रुता करके कभी कुछ सफल नहीं होता "

टैगोर ने सम्पत्ति के विषय में समष्टिवादी सिद्धान्त को कभी अंगीकार नहीं किया। निस्सन्देह

---

59 अक्टूबर 1930 में रवीन्द्रनाथ ने मास्को में घोषणा की थी कि मनुष्य जाति की सभी समस्याएँ शिक्षा द्वारा हल की जा सकती हैं। उनका कहना था कि भारत में शिक्षा की दयनीय दशा ही मनुष्य जाति की दरिद्रता, महामारियों, औद्योगिक पिछड़ेपन तथा पारस्परिक झगड़ों के लिए जिम्मेदार है।

वे सम्पत्ति के केन्द्रीकरण के विनाशकारी परिणामों से भलीभाँति परिचित थे। फिर भी हेगेल तथा ग्रीन की भाँति टैगोर ने स्वीकार किया कि सम्पत्ति मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसके रूप में हमारी रुचि, कल्पना तथा रचनात्मक शक्तियाँ साकार होती हैं। किन्तु टैगोर चाहते थे कि सम्पत्ति मनुष्य में अन्तर्निहित सार्वभौम अहं की अभिव्यक्ति बने न कि हमारी लोलुपतापूर्ण संग्रहवृत्ति की। अतः उन्होंने मनोवैज्ञानिक तथा सौन्दर्यात्मक आधार पर निजी सम्पत्ति का समर्थन किया, परिणामस्वरूप वे सम्पत्ति के समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते हैं। उनका सुझाव था कि श्रमिकों को सहयोगमूलक प्रयत्नों के द्वारा अपनी दशा को सुधारना चाहिए। उन्होंने राज्य पर अत्यधिक निर्भर होने के विचार का उपहास किया। फिर भी जहाँ तक पूँजी के केन्द्रीकरण और धन के असमान वितरण के विघटनकारी और भ्रष्टकारी प्रभावों का विरोध करने का सम्बन्ध था, वे किसी समाजवादी से पीछे नहीं थे।

(ङ) **फासीवाद**—मई 1926 में रवीन्द्रनाथ ने इटली के लिए प्रस्थान किया। जब तक वे वहाँ रहे तब तक मुसौलिनी के कार्यकलाप का उन पर प्रभाव पड़ा। इटली के नेताओं ने भारतीय कवि का भारी आतिथ्य-सत्कार किया। इटली में उन्होंने उदार प्रत्ययवादी नव-हेगेलवादी दार्शनिक क्रोचे से भी भेंट की। उन्होंने मुसौलिनी तथा उसके उत्साहपूर्ण आतिथ्य की सराहना की, किन्तु उन्होंने फासीवाद के राजनीतिक तथा आर्थिक दर्शन को न तो स्वीकार किया और न कभी उसकी प्रशंसा की। इस विषय में उन्होंने 'मैनचेस्टर गार्जियन' को कुछ पत्र लिखकर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था।

(च) **अन्तरराष्ट्रवाद**—टैगोर अन्तरराष्ट्रवादी थे। जब विश्व में राष्ट्रीय अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष चल रहा था, उस समय उन्होंने राष्ट्रों की पारस्परिक मैत्री तथा एकता का समर्थन किया। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि जातीय अहंकार की इस बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा का अन्त न किया गया तो यह मनुष्य जाति के लिए आत्मघाती सिद्ध होगी। अतः आवश्यक है कि मानव धर्म की मानव एकता के रूप में अभिव्यक्ति हो। किन्तु अरविन्द की भाँति वे भी मानव जाति की यांत्रिक एकता से सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। वे विश्व को मनुष्य की आत्मा का मन्दिर समझते थे, न कि राजनीतिक शक्ति का भण्डार। अतः उन्होंने सब जातियों के वास्तविक हार्दिक मिलन के आदर्श को स्वीकार किया। उनका कहना था कि राष्ट्रों के व्यक्तित्व का मुक्त तथा अबाध विकास ही सच्ची सार्वभौमता का अन्त्य आधार बन सकता है। 25 मई, 1930 को ऑक्सफर्ड में अपने भाषण में उन्होंने कहा : "हमें यह विश्वास बनाये रखना चाहिए कि हमारी आध्यात्मिक एकता के आदर्श का स्रोत वस्तुगत है, यद्यपि हम उसे गणित के किसी तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते। हम अपने आचरण द्वारा घोषणा करें कि यह आदर्श हमें साक्षात्कार करने के लिए पहले से ही दिया जा चुका है। यह वैसे ही है जैसे कोई गीत जिसे हम जानते हैं, केवल उसे सीख लेना और गाना शेष रह जाता है, अथवा जैसे प्रातः की बेला जो आ चुकी है, हमें केवल पर्दे उठाकर और खिड़कियाँ खोलकर उसका स्वागत करना है।" राष्ट्रों की बन्द दीवारों को ध्वंस किया जाना है और जातीय समन्वय तथा सांस्कृतिक सहयोग की नींव डाली जानी है। उन सब तत्वों का उन्मूलन किया जाना है जो जातियों के बीच अवरोध उत्पन्न करते हैं, और उनके स्थान पर अन्तरनिर्भरता तथा भ्रातृत्व की भावना को प्रतिष्ठित करना है। यदि हम गहराई में जाकर देखें तो सभ्यता वास्तव में इन्द्रियातीत मानवता की अभिव्यक्ति है। अपने विवादों के निपटारे के लिए तलवार का सहारा लेना मानव बुद्धि की शक्तियों के दिवालियापन को स्वीकार कर लेना है अतः आवश्यकता आध्यात्मिक भावनाओं के उत्फलन की है, तभी मानव जाति का संघ सम्भव हो सकेगा। यह तभी सम्भव है जब जंगल और हिंसक पशु के आक्रामक कानून के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीय विधि तथा सामूहिक सुरक्षा के शासन की स्थापना हो। हमें सन्देह, भय, अविश्वास, लोलुपता तथा राष्ट्रीय स्वार्थपरता से ऊपर उठकर सद्भावना, राष्ट्रीय मैत्री, जातियों और संस्कृतियों के हार्दिक मेलमिलाप को अपने आचरण में समाविष्ट करना चाहिए। तात्विक वस्तु उदारता तथा सहयोग की भावना है। बोलपुर के विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना पूर्व तथा पश्चिम के बीच सांस्कृतिक समन्वय तथा सहयोग को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से की गयी थी। कवि तथा सन्देशवाहक के रूप में टैगोर ने बन्धुत्व, मैत्री तथा मानवता के भारतीय आदर्शों का सन्देश दिया। इस प्रकार वे चाहते थे कि संगठन, कार्य-कुशलता, शोषण और आक्रामकता के स्थान पर

सामाजिक सहयोग, अन्तरराष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता तथा आध्यात्मिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हो।[60]

7. टैगोर तथा गान्धी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मोहनदास करमचन्द गान्धी आधुनिक भारतीय चिन्तन की दो महान विभूति हुए हैं। दोनों को ही प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से प्रेरणा मिली थी। किन्तु टैगोर को उपनिषदों तथा कबीर की रचनाओं में प्रतिपादित सर्वेश्वरवादी सर्वव्यापकता के सिद्धान्त ने अधिक अनुप्राणित किया था; जब कि गान्धी आध्यात्मिक एकत्ववादी होने पर भी गीता और तुलसीदास के आस्तिकवाद में विश्वास करते थे। टैगोर तथा गान्धी दोनों को नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों की सर्वश्रेष्ठता में आस्था थी, और दोनों ने हिंसा, बल तथा शोषण की भर्त्सना की। भारतीय राज्यतंत्र तथा अर्थतंत्र के सम्बन्ध में दोनों ने प्रधानतः कृषिक मार्ग का ही समर्थन किया। अतः टैगोर उस औद्योगिक केन्द्रवाद के विरुद्ध थे जिसका प्रतीक कलकत्ता की महानगरी थी, और उनकी आत्मा को बोलपुर के देहाती वातावरण में आत्मीयता की अनुभूति होती थी। गान्धीजी ने खादी तथा कृषिप्रधान राज्य-व्यवस्था का सन्देश दिया।[61]

किन्तु जीवन तथा संस्कृति के दर्शन के सम्बन्ध में उन दोनों में उल्लेखनीय अन्तर भी हैं। टैगोर कवि थे, अतः जीवन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सौन्दर्यात्मक था। उन्हें सामंजस्य की यूनानी धारणा से प्रेरणा मिली थी। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य तथा संस्कृति के जीवनदायी तत्वों को अंगीकार कर लिया। उन्हें शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ और शेली की आत्माओं के साथ आत्मीयता का अनुभव होता था। गान्धी नैतिक शुद्धाचारवादी थे। वे प्रायः पाश्चात्य सभ्यता की रिक्तता, बाह्यता, औपचारिकता तथा रूढ़िवाद के विरुद्ध उबल पड़ते थे। टॉलसटॉय ने सभ्यता की जो समालोचना की थी उससे वे सहमत थे। गान्धीजी की अपेक्षा टैगोर को पाश्चात्य सभ्यता के मूल्यों से अधिक सहानुभूति थी। गान्धीजी दरिद्रता के जीवन को आदर्श मानते थे। ईसा मसीह तथा सन्त फ्रांसिस की भाँति गान्धीजी को विश्वास था कि दरिद्रता ईश्वरीय राज्य में प्रवेश पाने का पारपत्र है। टैगोर ने भी कभी-कभी प्रेरणा के क्षणों में भारत की धूल-मिट्टी तथा गाँवों की कच्ची मिट्टी की झोंपड़ियों के गीत गाये, किन्तु कवि तथा नाटककार के रूप में वे मनुष्य जीवन के सभी पक्षों के सन्तुलित विकास में विश्वास करते थे। वे सामाजिक आवश्यकता के रूप में कुछ मात्रा में धन को स्वीकार करने के पक्ष में थे।[62] टैगोर तथा गान्धी दोनों ने ही आध्यात्मिक मानवतावादी दृष्टिकोण को महत्व दिया। किन्तु, यदि गान्धी ने न्याय के लिए शहीद की भाँति जीवन भर कष्ट सहने का सन्देश दिया, तो टैगोर सहनशीलता तथा मिताचार पर आधारित संयत जीवन के पक्षपाती थे।[63]

8. निष्कर्ष

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक सार्वभौम विभूति थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी, समन्वयात्मक तथा मौलिक थी। सम्भवतः उन पर ईसाइयों की ईश्वर के पितृत्व की धारणा का प्रभाव था, और प्रारम्भिक दिनों में उन्हें शेली, कीट्स तथा ब्राउनिंग से प्रेरणा मिली थी। किन्तु उनकी बौद्धिक सृजनात्मकता तथा संवेगात्मक गठन की जड़ें उपनिषदों, कालिदास के उत्तुंग काव्य, वैष्णवों के भजनों, कबीर की गरिमापूर्ण कविताओं और ब्रह्म समाज के वातावरण में थीं। समग्र रूप से देखने पर टैगोर गम्भीर मौलिकता और सृजनात्मक उपलब्धियों के लेखक ठहरते हैं। वे महान देशभक्त थे। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन के दिनों में उनकी वाणी ओज से गूँज उठी, और बाद में वे राष्ट्रीय कवि के रूप में पूजे जाने लगे। उन्होंने समाज-सुधार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का पक्षपोषण किया। वे

---

60 टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 17। "गहराई में हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से परे शाश्वत आत्मा निवास करती है।"

61 अपने 'The Call of Truth' तथा 'The Striving for Swaraj' आदि लेखों में टैगोर ने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन और खादी पर सर्वाधिक बल देने की नीति का विरोध किया।

62 टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 179 : "मैं उन लोगों को जानता हूँ जो दरिद्रता के आध्यात्मिक मूल्य का गुणगान करके सरल जीवन का उपदेश देते हैं। मैं कल्पना नहीं कर सकता कि दरिद्रता में भी कोई गुण हो सकता है, विशेषकर जबकि रूप केवल निषेधात्मक हो।"

63 टैगोर के मानवतावाद की तीन आधारभूत धारणाएं हैं : (1) मानवधर्म, (2) सत्य तथा विश्व का मानवतावादी निरूपण, और (3) व्यक्ति की विशिष्टता पर आग्रह।

राजनीतिज्ञ नहीं थे, वल्कि राजनीतिक संदेशवाहक थे जिन्होंने एकता, सामंजस्य, शान्ति तथा सहयोग का उपदेश दिया ।

टैगोर ने आधुनिक भारत को विश्व-एवं-जीवन-स्वीकृति का दर्शन दिया है । उन्होंने नैतिकता को परम्पराओं तथा धर्मशास्त्रीय विधानों से मुक्त करने का प्रयत्न किया है । उनके दर्शन के अनुसार जाति-धर्म के प्रति भक्ति नैतिक आचरण का मूल नहीं है, उसका आधार ईश्वरीय सामंजस्य और प्रेम की पहचान है । अपनी अन्तःप्रज्ञात्मक सिद्धियों और जीवन की अनुभूतियों के आधार पर उन्होंने विश्व के सम्बन्ध में एक नैतिक दर्शन का विकास किया है जिसकी अतिरिक्त पुष्टि उपनिषदों से होती है । इस प्रकार उन्होंने समाज-सुधार, मानसिक मुक्ति, परोद्धार तथा परोपकार के कार्यों का समर्थन करने वाले दार्शनिक आदर्शवाद का निरूपण किया । इसलिए टैगोर के दर्शन से मनुष्य के लौकिक क्रिया-कलाप को नैतिक महत्व मिलता है ।

टैगोर का राजनीति दर्शन गम्भीर आध्यात्मिक मानवतावाद से प्रसूत है । वह इन्द्रियातीत-वाद, कांट के नियम-निष्ठावाद (फौर्मेलिज्म) और बुद्धिवाद के स्थान पर मानव प्राणी के, जो परम शाश्वत सृजनात्मकता की प्रतिक्रिया है, सृजनात्मक प्रयोगों और कलात्मक आह्लाद को अधिक महत्व देता है । उन्होंने शक्ति की भर्त्सना की, राष्ट्रवाद का खण्डन किया और सहयोग तथा भ्रातृत्व पर आधारित अवयवी सामाजिक जीवन पर बल दिया, इस सबका स्रोत आधारभूत मानवतावाद ही है । सब प्रकार के तनावों और द्वन्द्वों से विक्षिप्त और परितप्त जगत को टैगोर ने मानव प्रेम का सन्देश दिया है ।

किन्तु टैगोर के राजनीति दर्शन में कुछ कमजोरियाँ भी हैं । उनका इतिहास की सामाजिक व्याख्या में विश्वास है । हौबहाऊस, एलवुड, मैकाइवर प्रभृति आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी सामा-जिक आयाम को ही अधिक महत्व दिया है । किन्तु राजनीतिक तत्व को न्यून मानना भी उचित नहीं प्रतीत होता । यह सत्य है कि चूंकि राजनीति का सम्बन्ध आधिपत्य से रहा है, इसलिए टैगोर को राजनीतिक तत्व घृणास्पद दिखायी दिया । किन्तु, जैसा कि पेन और वैंथम ने वतलाया था, राजनीतिक तत्व मानव इतिहास में एक आवश्यक बुराई रहा है । वह सतत विद्यमान रहने वाला तत्व है । भार-तीय इतिहास के मध्य युग में तथा आधुनिक युग के प्रारम्भ में लोगों के लिए राजवंशों के भाग्य के उतार-चढ़ाव की चिन्ता न करते हुए अपने गाँवों में जीवन विताना सम्भव था । किन्तु लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत तथा औद्योगिक प्रगति के सन्दर्भ में राजनीतिक तत्व भारतीय जीवन में दिन प्रतिदिन अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है ।

रहस्यवादी कवि तथा स्वच्छदन्ता के पुजारी होने के नाते टैगोर ने आधुनिक राष्ट्रवाद की वर्बर प्रकृति को निर्ममतापूर्वक नग्न कर दिया । किन्तु उनकी आलोचना उनकी काव्यात्मक चित्त-वृत्तियों की द्योतक हैं, वह राष्ट्रवाद के दर्शन तथा समाजशास्त्र के साथ न्याय नहीं करती । राष्ट्रवाद को सदैव साम्राज्यवादी लुटेरेपन, संगठित लोलुपता तथा अपराध से अभिन्न मानना उचित नहीं है । उसका उज्ज्वल पक्ष भी है । उसने मनुष्य को सामन्ती व्यवस्था के वन्धनों से मुक्त किया है । उसने मानव को निरंकुश साम्राज्यवाद के अत्याचारों से मुक्ति प्रदान की है । इसके अतिरिक्त वह संवेगात्मक उदात्तीकरण का भी साधन वन सकता है । वह मनुष्य को जाति, जनजाति तथा स्थान की सीमाओं से ऊपर उठने के योग्य बनाता है । राष्ट्र के विविध, वहुरंगी तथा वहुमुखी विकास के विना विश्वराज्य-वाद तथा सार्वभौमवाद के आदर्श भी थोथे तथा काल्पनिक हैं । अतः मैं यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि टैगोर ने राष्ट्रवाद को चेतना हरने वाला तथा खतरनाक विप वतलाकर अतिशयोक्ति की है ।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि टैगोर के व्यक्तिवाद तथा समाज की अवयवी धारणा के बीच अन्तर्विरोध है । रवीन्द्रनाथ ने व्यक्ति के अनन्य मूल्य का वहुत गुणगान किया है । वे 'साधना' में लिखते हैं : "मैं निरपेक्षतः अनन्य हूँ, मैं मैं हूँ, मैं अद्वितीय हूँ । सम्पूर्ण विश्व का भार भी मेरे इस व्यक्तित्व को कुचल नहीं सकता ।" यह कथन एक प्रकार के अस्तित्ववादी ढंग के व्यक्तित्ववाद का प्रवर्तन करता है । यह कवि के गहरे मानवतावाद के समरूप है । किन्तु मानवतावादी व्यक्तित्ववाद का समर्थन करने के साथ-साथ टैगोर ने कहा कि विश्व-सचेत आत्मा के लिए परिवार, समाज तथा राजनीति के

द्वारा भी अपना साक्षात्कार करना सम्भव है। उनकी यह प्रस्थापना सामाजिक व्यवस्था की अवयवी धारणा से निस्सृत है और कुछ अंश में फिख्टे तथा हेगेल की प्रस्थापना के सदृश है, किन्तु इसका उनके उस गम्भीरतः नैतिक और सौन्दर्यात्मिक व्यक्तिवाद के साथ अन्तर्विरोध है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में निरन्तर किया है।

राजनीति के सम्बन्ध में टैगोर का मार्ग नैतिक था। उन्होंने साम्राज्यवादी उद्दण्डता की बर्बर अभिव्यक्तियों का तथा नस्लगत आक्रामकता की कटु निन्दा की। वे मैकेविलियाई शासन-कला के हर रूप में विरोधी थे। उन्होंने राजनीतिक कार्य को लाभदायिकता तथा अवसरवादिता के सम-तुल्य मानने से इनकार किया। मनुष्य की आत्मा पथरा गयी है, यही इस युग का सबसे अधिक लुभाने वाला पाप है। विज्ञान की शक्ति इसका उपचार करने में असमर्थ सिद्ध हुई है। इसलिए टैगोर ने नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना का समर्थन किया। उनका कहना था कि सच्चे हृदय से न्याय, शुद्धता, स्वतन्त्रता आदि गुणों के अनुसार आचरण से ही राष्ट्र शक्तिशाली बन सकेंगे। नैतिक सिद्धान्तों की अवहेलना के दुष्परिणाम अन्त में अधिक उग्रता के साथ पापी के ही सिर पर पड़ते हैं। इतिहास नैतिक नियमों की क्रियान्विति है, इसलिए नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करने से व्यक्ति तथा समूह दोनों की आन्त-रिक शक्ति को आघात पहुँचाता है। अतः टैगोर ने विदेशी साम्राज्यवादियों तथा भारतीय अराजकता-वादियों को नैतिक नियम की अवहेलना करने के विरुद्ध गम्भीर तथा भावुकतापूर्ण शब्दों में चेतावनी दी। इस प्रकार प्लेटो, बर्क तथा गान्धी की भाँति टैगोर ने भी यह मानने से इनकार किया कि राजनीति अनैतिकता का क्षेत्र है। वे संवेदनपूर्ण, संज्ञानान्वेषी कलाकार थे, इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय अहंकार और शेखी बघारने की प्रवृत्ति के स्थान पर सामंजस्य, सौन्दर्य तथा आत्मनिर्णय से उत्पन्न सृजना-त्मक वैभव का गौरवगान किया।

6

स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ

प्रकरण 1

स्वामी विवेकानन्द

1. प्रस्तावना

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902)[1] एक अध्यात्मवादी और महान सर्जनात्मक विभूति थे; भारत के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुद्धार के लिए उन्होंने एक अनुप्रेरित कार्यकर्ता के रूप में अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया। यदि राममोहन, केशवचन्द्र सेन और गोखले का विश्वास था कि इंगलैण्ड का भारत में एक विशेष ध्येय है, तो दयानन्द और गान्धी की भाँति विवेकानन्द की आस्था थी कि भारत का पश्चिम के लिए एक विशिष्ट सन्देश है। अपने आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विकास के दौरान उन्होंने सहसा सहज आस्था का परित्याग करके संशयवादी अनीश्वरवाद को अंगीकार कर लिया, और कहा जाता है कि बाद में उन्होंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचकर परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया—निर्विकल्प समाधि एक प्रकार की परा-चेतना की अवस्था मानी जाती है। दे कार्ते के बाद का आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन द्वन्द्वात्मक तत्व-शास्त्र तथा ज्ञानशास्त्र के सूक्ष्म प्रश्नों का समाधान करने में लगा हुआ है। भारत में भी इस प्रकार के विचारक तथा मनीषी हुए थे, नव्य नैयायिक इसके सबसे बड़े नमूने हैं। किन्तु भारत में दर्शन का अर्थ है सत्य का साक्षात दर्शन, इसलिए इस देश में कोई व्यक्ति तब तक दार्शनिक होने का दावा नहीं कर सकता था जब तक कि उसने अपने सिद्धान्तों के सत्य का आन्तरिक तथा अन्त:प्रज्ञात्मक साक्षात्कार न कर लिया हो। इन्द्रियगम्य ब्रह्माण्ड (दृश्य जगत) के क्षेत्र में अनुसन्धान करना विज्ञान का काम है, किन्तु दार्शनिक की दृष्टि उसमें अन्तर्निहित वास्तविकता की खोज करती है। स्वामी विवेकानन्द दार्शनिक शब्द के इसी अर्थ में दार्शनिक थे। अपनी गहरी निश्छलता के कारण ही वे अपना जीवन उस सत्य के अनुसार बिता सके जिसका उन्होंने दर्शन कर लिया था। कभी-कभी वे शान्त और गम्भीर संन्यासी के रूप में आकर शान्तिदायी और उदात्तकारी वेदान्त मार्ग का प्रचार करने लगते थे। किन्तु वे सदैव दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों में मग्न नहीं रहते थे। उनके स्वभाव में ब्रह्म-साक्षात्कार की गहरी आकांक्षा दिखायी देती थी, किन्तु साथ ही साथ उनके मन में पापियों, दु:खियों तथा पीड़ितों के उद्धार के लिए ज्वलन्त उत्साह भी विद्यमान था। वे महान देशभक्त थे, इसलिए देश की अधोगति को देखकर वे प्राय: बहुत दु:खी हुआ करते थे और कभी-कभी उनकी इच्छा होती थी कि एक मूर्तिभंजक के उत्साह और निष्ठुरता से कार्य करें तथा समाज की बुराइयों पर वज्र की तरह टूट पड़ें। उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि जाति-प्रथा के नियमों की जटिलता को

---

1 विवेकानन्द का प्रारम्भिक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनका जन्म 9 जनवरी, 1863 को हुआ था और 4 जुलाई, 1902 को उनका देहान्त हुआ। सितम्बर 1893 में उन्होंने शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में हिन्दू धर्म का बड़ी पटुता के साथ समर्थन किया जिसके फलस्वरूप सहसा विश्वभर में उनकी ख्याति फैल गयी। उन्होंने दो बार पश्चिम की यात्रा की। प्रथम बार वे जुलाई 1893 से अप्रैल 1897 तक पश्चिमी देशों में रहे, किन्तु दूसरी बार उनकी यात्रा संक्षिप्त थी—केवल जुलाई 1899 से दिसम्बर 1900 तक : 1900 में वे पेरिस के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए और अनेक बार विचार-विमर्श में प्रतिष्ठार्वपूक भाग लिया।

उदार बनाया जाय । जीवन भर उनकी मानसिक वृत्तियाँ स्टॉइक दार्शनिकों की-सी रहीं, किन्तु उन्होंने पतितों, पापियों, दलितों तथा दारिद्र के मारे हुओं की दशा सुधारने के लिए धर्मयुद्ध का कभी परित्याग नहीं किया ।

विवेकानन्द वेदान्त सम्प्रदाय के तत्वज्ञानी थे । वे आधुनिक युग में वेदान्त दर्शन के एक महान निर्वचनकर्ता हुए हैं । वे इस काल के प्रथम महान हिन्दू थे जिन्होंने हिन्दू धर्म और दर्शन के सार्वभौम प्रचार के स्वप्न को पूरा करने का निरन्तर प्रयत्न किया । वे उस अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे जिसमें हम हॉब्स, रूसो, ग्रीन अथवा बोसांक्वे को समझते हैं ; क्योंकि उन्होंने इन दार्शनिकों की भाँति राजनीतिक चिन्तन का कोई सम्प्रदाय कायम नहीं किया । उन्होंने राजनीति दर्शन के आधारभूत प्रत्ययों का विश्लेषणात्मक अध्ययन नही किया और न उन्होंने राजनीतिक प्रक्रिया तथा व्यवहार की प्रेरक शक्तियों की गहराई में पैठने का प्रयत्न किया । किन्तु आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उनका स्थान है । इसके दो कारण हैं : प्रथम, उनकी शिक्षाओं तथा व्यक्तित्व का बंगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा । वे महान देशभक्त थे और मातृभूमि के लिए उनके मन में ज्वलन्त प्रेम था । वे देश की एकता का स्वप्न देखा करते थे । उनकी वीर आत्मा सदैव स्वतन्त्रता के लिए लालायित रहती थी । यद्यपि प्रधानतः उन्होंने आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की धारणा का ही सन्देश दिया, किन्तु उनके इस सन्देश का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक आदि अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता के विचार भी लोकप्रिय हुए ।[2] बंगाल के अनेक आतंकवादियों तथा राष्ट्रवादियों ने उनकी 'संन्यासी का गीत'[3] शीर्षक कविता से स्वतन्त्रता के मूल्य तथा पवित्रता का पाठ सीखा । इस कविता में विवेकानन्द ने उन्मुक्त स्वर में स्वतन्त्रता का गुणगान किया है :

> अपनी बेड़ियों को तोड़ डाल ! उन बेड़ियों को जिन्होंने तुझे बाँधकर डाल रखा है ।
> वे दीप्तिमान सोने की हों, अथवा काली निम्नकोटि की धातु की ;
> प्रेम, घृणा, शुभ, अशुभ—द्वैधता के सभी जंजालों को तोड़ डाल ।
> तू समझ ले कि दास दास है, उसे प्रेमपूर्वक पुचकारा जाय, अथवा कोड़ों से पीटा जाय वह स्वतंत्र नहीं है;
> क्योंकि बेड़ियाँ सोने की ही क्यों न हों, बाँधने के लिए कम मजबूत नहीं होतीं;
> इसलिए हे वीर संन्यासी ! उन्हें उतार फेंक और बोल—'ओम् तत् सत् ओम्' !
>
> × × × ×
>
> तू कहाँ ढूँढ़ रहा है ? तुझे वह स्वतन्त्रता न यह लोक दे सकता है और न वह ।
> व्यर्थ में तू ढूँढ़ रहा है ग्रन्थों और मन्दिरों में ।
> तेरा अपना ही तो हाथ है जो उस रज्जु को पकड़े हुए है जो तुझे घसीट रहा है ।
> इसलिए तू विलाप करना छोड़ दे ।
> रज्जु को हाथ से जाने दे, हे वीर संन्यासी । और बोल—'ओम् तत् सत् ओम्' !

विवेकानन्द ने कर्मयोग का सन्देश दिया । राजनीतिक जीवन में इस सन्देश का भी पूर्णतः भिन्न अर्थ लगाया गया । आगे की पीढ़ियों ने इसका अर्थ यह समझा कि मातृभूमि की निष्काम सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा भी कर्मयोग का उदाहरण है । विवेकानन्द ने स्पष्ट रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नैतिक आधार को चुनौती नहीं दी । किन्तु उनका सम्पूर्ण जीवन और व्यक्तित्व भारतीय चीजों के प्रति प्रेम और सम्मान का जीवन्त उदाहरण था, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से वे विदेशी

---

2 देखिए एम. एन. राय, *India in Transition*, पृ. 193 : "विवेकानन्द का राष्ट्रवाद आध्यात्मिक साम्राज्यवाद था । उन्होंने तरुण भारत को प्रेरित किया कि वह भारत के आध्यात्मिक उद्देश्य (मिशन) में विश्वास रखे । उनके दर्शन के आधार पर आगे चलकर उन तरुण बुद्धिजीवियों के परम्परानिष्ठ राष्ट्रवाद का निर्माण हुआ जो अपने वर्गों से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे और जिन्होंने अपने को गुप्त समुदायों के रूप में संगठित किया तथा ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए हिंसा और आतंक का समर्थन किया ।···आध्यात्मिक श्रेष्ठता के द्वारा विश्व को विजय करने के इस रोमांसपूर्ण स्वप्न ने उन तरुण बुद्धिजीवियों में भी नयी चेतना जाग्रत करदी जिनकी दयनीय आर्थिक स्थिति ने उन्हें व्याकुल कर रखा था ।"

3 *Complete Works*, जिल्द 4, पृ. 327-30 ।

आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह के स्पष्ट प्रतीक बन गये ।[4] दूसरे, विवेकानन्द ने हमें भारतीय समाज के विकास के सम्बन्ध में कुछ नये विचार दिये हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने उस समय की कुछ ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए भी पटुता से अपने विचार व्यक्त किये जिनका तत्काल हल करना आवश्यक हो गया था । अतः आधुनिक भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन के विकास को व्यवस्थित ढंग से समझने के लिए आवश्यक है कि विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन तथा विवेचन किया जाय ।

2. विवेकानन्द के राजनीतिक चिन्तन के दार्शनिक आधार

विवेकानन्द के दर्शन के तीन मुख्य स्रोत हैं । प्रथम, वेदों तथा वेदान्त की महान परम्परा । शंकराचार्य विश्व के एक महानतम तत्वज्ञानी माने गये हैं, उन्हें अपने चिन्तन के लिए प्रेरणा इन्हीं ग्रन्थों से मिली थी । रामानुज, माधव, वल्लभ तथा निम्बार्क के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है । विवेकानन्द की मेधा विशाल थी । कहा जाता है कि उन्होंने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका'[5] के ग्यारह खण्डों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था । उन्हें अपने देश के साहित्य का ही गम्भीर ज्ञान नहीं था, बल्कि पश्चिम के प्लैटो से स्पेंसर तक के तत्वशास्त्रीय साहित्य में भी उनकी अद्भुत गति थी । पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी उनका परिचय था । वे अद्वैत वेदान्त के सन्देशवाहक थे, और अद्वैत सम्प्रदाय के भाष्यकारों की परम्परा में उनका स्थान है । यद्यपि वे अद्वैतवादी तथा मायावादी थे, किन्तु उनकी बुद्धि समन्वयकारी थी । इसलिए उनकी व्याख्या की अपनी विशेषताएँ हैं । अतः यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि उनकी वेदान्त सम्बन्धी रचनाएँ शंकर के सम्प्रदाय का केवल अंग्रेजी अथवा आधुनिक संस्करण हैं । उनमें चीजों की तह तक पहुँचने की मौलिक प्रतिभा थी, जो उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखायी देती है । विवेकानन्द के दर्शन का दूसरा शक्तिशाली स्रोत उनका रामकृष्ण (1836-1886) के साथ सम्पर्क था । रामकृष्ण आधुनिक भारत के एक महानतम सन्त तथा रहस्यवादी हुए हैं ।[6] रहस्यवाद ने कभी-कभी दर्शन की सहायता की है । हम जानते हैं कि पाइथागोरस और प्लैटो, इन दो यूनानी विचारकों के दर्शन को यूनान के रहस्यवादी सम्प्रदायों ने बहुत कुछ प्रेरणा दी थी । रामकृष्ण को रहस्यवादी अनुभूतियाँ उसी प्रकार से उपलब्ध हुई थीं जिस प्रकार बुद्ध को । दोनों ने ही अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए घोर निग्रह और तपस्या का मार्ग अपनाया था, और दोनों ने ही सत्य का दर्शन करने के लिए अनेक दिन और रात्रियाँ व्याकुलता से बितायी थीं । रामकृष्ण के उपदेशों और प्रवचनों की शैली में हमें सन्देशवाहकों की-सी सरलता तथा स्पष्टता देखने को मिलती है, किन्तु विवेकानन्द में दार्शनिक तथा धार्मिक उपदेशक दोनों का सम्मिश्रण था । इसलिए उन्होंने उन्हीं अनेक सत्यों को दर्शन की भाषा और आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया । विवेकानन्द के दर्शन का तीसरा स्रोत उनके अपने जीवन का अनुभव था । उन्होंने विस्तृत जगत का भ्रमण किया, और इस प्रकार उन्हें जो अनुभव हुआ उसका उन्होंने अपनी प्रौढ़ तथा कुशाग्र बुद्धि से निर्वचन और व्याख्या की । इस प्रकार जिन अनेक सत्यों का उन्होंने उपदेश दिया उनकी उपलब्धि उन्हें अपने अनुभवों का मनन करने से ही हुई थी । इसलिए उनके दर्शन की जड़ें जीवन में हैं । उनका दर्शन केवल तात्विक और प्रत्ययात्मक नहीं है, बल्कि वास्तविक जीवन से भी उसका सम्बन्ध है । आधुनिक यूरोपीय तथा अमेरिकी दर्शन का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसका जीवन से सम्पर्क टूट गया है । वह भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के घने जंगल में विलुप्त-सा होता जा रहा है । तर्क का ऐसा धुंधला प्रतीकवाद जिसका जीवन से संस्पर्श नहीं है, निरर्थक तथा निष्फल है । किन्तु विवेकानन्द का दर्शन जीवनदायी तथा गतिशील है ।

विवेकानन्द के दर्शन का पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिए हमें उनके सम्पूर्ण ग्रन्थों का अवगाहन करना पड़ेगा । उनकी रचनाओं के शुद्ध दार्शनिक अंश निम्न हैं : (1) ज्ञानयोग, (2) पातंजलि सूत्रों पर भाष्य, तथा (3) वेदान्त दर्शन पर भारत और पश्चिम में दिये गये विभिन्न व्याख्यान ।

---

4 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, "The Relations of Tilak and Vivekanand," *The Vedanta Kesari*, नवम्बर 1958, पृष्ठ 290-92 ।

5 *The Life of Swami Vivekananda* by his Eastern and Western Disciples (अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, 2 जिल्दें) जिल्द 2, पृ. 893 ।

6 विवेकानन्द की रामकृष्ण से भेंट 1880 में हुई थी ।

उनका राजनीति दर्शन उनकी तीन रचनाओं में सन्निहित है : 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक व्याख्यान,' 'पूर्व तथा पश्चिम' और 'आधुनिक भारत' ।

विवेकानन्द के दर्शन का सार ब्रह्म अथवा सच्चिदानन्द की धारणा है । ब्रह्म का अर्थ है परम सत् और सच्चिदानन्द से अभिप्राय है परम शुद्ध सत्, ज्ञान तथा आनन्द । सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं, वे स्वयं ब्रह्म हैं । वे तीन पृथक वस्तुएँ अथवा सत्ताएँ नहीं हैं, वास्तव में वे तीन होते हुए भी एक हैं । ब्रह्म परम सत् (सर्वोच्च सत्ता) और परम सत्य है । वह आध्यात्मिक अनुभूतियों के रूप में ही अपने को व्यक्त करता है । विवेकानन्द ने जिस वेदान्त के ब्रह्म को स्वीकार किया वह न तो हेगेल का स्थूल परमतत्व है, न माध्यमिकों का शून्य और न योगाचारियों का अलयविज्ञान । उसका अश्वघोष के तथत से कुछ साम्य है । किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि अश्वघोष ने तथत की रहस्यात्मक अनुभूति पर बल नहीं दिया है ।

स्वामी विवेकानन्द माया के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । अतः उनके अनुसार काल, प्रसर तथा कार्य-कारण नियम की सार्थकता दृश्य जगत तक ही सीमित है । अपने 'ज्ञानयोग' में उन्होंने मायावाद का अनुप्रेरित तथा अलंकृत भाषा में समर्थन किया है । उनका कहना है कि माया कोई सिद्धान्त नहीं है, बल्कि तथ्य है ।[7] किन्तु अनेक आलोचक माया के सिद्धान्त को अद्वैत दर्शन का सबसे दुर्बल पक्ष मानते हैं । शुद्ध तर्क और विज्ञान के आधार पर माया के सिद्धान्त का मण्डन करना असम्भव प्रतीत होता है । विवेकानन्द ने माया के सिद्धान्त का जो मण्डन किया वह भी बहुत कुछ वाक्चातुर्य पर आधारित है । उनका कहना है : "अनन्त सान्त क्यों बना, इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है क्योंकि इसमें अन्तर्विरोध है ।"[8] उन्होंने माया का जो मण्डन किया उसमें साहित्यिक शब्दजाल की भरमार है, किन्तु वह विश्व की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है । व्यक्तिगत मृत्यु और विनाश की दृष्टि से विश्व माया है, मृगमरीचिका है, किन्तु व्यक्तियों की मृत्यु के बावजूद विश्व की प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती है ।

परम ज्ञान की अवस्था में परम सत् का जिस रूप में दर्शन होता है, वही ब्रह्म है । धार्मिक आराधना के स्तर पर वही सत् ईश्वर है । विवेकानन्द ने लिखा है : "अद्वैत दर्शन में सम्पूर्ण विश्व एक ही सत्ता है, उसी को ब्रह्म कहते हैं । वही सत्ता जब विश्व के मूल में प्रकट होती है तो उसी को ईश्वर कहा जाता है । वही सत्ता जब इस लघु विश्व अर्थात शरीर के मूल में प्रकट होती है तो आत्मा कहलाती है ।....सार्वभौम आत्मा जो प्रकृति के सार्वभौम विकारों से परे है वही ईश्वर—परमेश्वर—है । ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता तथा हर्ता है । वह इस विश्व तथा इसकी होतव्यता का वैयक्तिक शासक और अधिष्ठाता है ।[9] विवेकानन्द तथा रामकृष्ण पर तांत्रिक सम्प्रदाय का भी प्रभाव था । तांत्रिक लोग ब्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति को भी ईश्वरीय मानते हैं और उसे परम माता, जगदम्बा, कहते हैं ।[10]

विवेकानन्द के अनुसार जीव तत्वतः ब्रह्म ही है । कुछ अंश में विवेकानन्द पर सांख्य दर्शन का भी प्रभाव था । जीवों की अनेकता का सिद्धान्त उन्होंने सांख्य से लिया, किन्तु सच्चे अद्वैतवादी की भाँति उनका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा सब जीव ब्रह्म ही हैं । भौतिक तथा मानसिक बन्धनों में बँधे हुए आत्मा को जीव कहते हैं । विवेकानन्द का दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा स्वभावतः

---

7 स्वामी विवेकानन्द, "Maya and Illusion," *The Complete Works of Swami Vivekananda* (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 2, 1945), पृ. 97 ।

8 "The Absolute and Manifestation,' *The Complete Works of Swami Vivekananda*, भाग 2, पृष्ठ 132 ।

9 रामकृष्ण तथा विवेकानन्द दोनों का ही कहना था कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत के सिद्धान्त परस्पर विरोधी दार्शनिक पंथ नहीं हैं, वे तो उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति के बौद्धिक कथन मात्र हैं । वे विभिन्न स्तरों के द्योतक हैं, न कि निरपेक्ष पृथक सत्ताओं के ।

10 राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ, दयानन्द आदि सुधारकों के विपरीत विवेकानन्द ने हिन्दुत्व का उसके सभी पक्षों और विकास की सभी कलाओं के समेत समर्थन किया । वे यह नहीं चाहते थे कि किसी एक धर्मशास्त्र को अंगीकार कर लिया जाय और शेष को छोड़ दिया जाय । इसलिए वेदान्त के प्रमुख उपदेशक होते हुए भी उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिन्दुओं के सभी प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय ।

शुद्ध तथा शुभ है। किन्तु प्रकृति के संसर्ग से उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। विवेकानन्द को ईसाइयों की इस धारणा पर भारी आश्चर्य होता था कि आत्मा स्वभावत: पापी है। वे आत्मा को पापी मानने को ही महान पाप मानते थे। उन्होंने कहा कि मनुष्य के कर्मों से जो प्रभाव और प्रवृत्तियाँ (संस्कार) उत्पन्न होती हैं उनका समग्र ही उसका चरित्र है। इस प्रकार मनुष्य का कर्म ही उसका चरित्र है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, इसलिए यदि आन्तरिक और वाह्य प्रकृति को नियन्त्रित करने का सतत प्रयत्न किया जाय तो मनुष्य अवश्य ही ईश्वरत्व की प्राप्ति कर सकता है।[11] उनका कहना था कि सृष्टि में मनुष्य उच्चतम प्राणी है, क्योंकि केवल वही स्वतन्त्रता प्राप्त करने योग्य है।[12]

विवेकानन्द कपिल को भारत के बुद्धिवादी दर्शन का जनक मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि यूनानी दर्शन के विकास पर सांख्य का प्रभाव था। उन्होंने गुणों का अर्थ शक्तियाँ लगाया है, और इस प्रकार सांख्य की कुछ अंशों में वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने परमाणवीय सिद्धान्त का इस आधार पर खण्डन किया कि यदि बिना आकार के परमाणुओं को अनन्त गुना कर दिया जाय तो भी वे विश्व का निर्माण नहीं कर सकेंगे।[13] उन्होंने लिखा है : "परमाणु का विद्युत-चुम्बकीय *ऊर्जा में विलयन होना वेदान्त के इस दावे का समर्थन करता है कि ब्रह्माण्ड का आधार सूक्ष्म ऊर्जा है* न कि अगणित परमाणु। अन्य अनेक चीजों की भाँति (उदाहरण के लिए एकलवाद) यहाँ भी विज्ञान वेदान्त के दावे की पुष्टि करता है।" क्लार्क-मैक्सवेल तथा हाइनरिख हर्ट्‌त्स के विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा के सिद्धान्त का अनेक प्रकार से निर्वचन किया गया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व में निरन्तर गति की धारणा की पुष्टि करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत विवेकानन्द का विश्वास था कि इस सिद्धान्त से वेदान्त की उस प्रस्थापना की पुष्टि होती है कि विश्व में एकात्मक सर्वव्यापी ऊर्जा ही प्रधान है।[14]

3. विवेकानन्द के चिन्तन में इतिहास दर्शन

स्वामी विवेकानन्द ने इतिहास का कोई सुव्यवस्थित सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। किन्तु इस विषय में उनके कुछ स्फुट विचार हैं जिन्हें एकत्र करके एक सूत्र में बाँधा जा सकता है। यद्यपि वे रहस्यवादी और वेदान्ती थे तथा ब्रह्म को परम सत् मानते थे, फिर भी उन्होंने विश्व के विकास के सम्बन्ध में कुछ विचार-विमर्श किया है। उनकी धारणा थी कि विश्व का इतिहास चार सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है जिनका स्थूल रूप हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार सामाजिक वर्णो में मिलता है। आध्यात्मिक सिद्धान्त भारतीय इतिहास में पिण्डीभूत हुआ; रोमन प्रसार तथा साम्राज्यवाद का इतिहास सैनिक (क्षत्रिय) तत्व का द्योतक था, ब्रिटिश वाणिज्यवादी अभिजाततन्त्र का युग वैश्य तत्व के साक्षात उत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करता है;[15] और अमेरिकी लोकतन्त्र भविष्य

---

11 विवेकानन्द का मत था कि अद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा का विकास नहीं होता, केवल प्रकृति का विकास होता है। *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5, पृष्ठ 208-09।

12 "The Atman : Its Bondage and Freedom," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, भाग 2, पृष्ठ 258।

13 "The Atman," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, भाग 2, पृ. 240-41।

14 विवेकानन्द ने निम्न ढंग से वेदान्त तथा विज्ञान का सामंजस्य स्पष्ट किया :
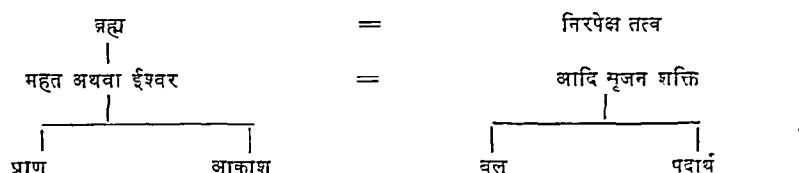
15 विवेकानन्द के अनुसार प्राचीन काल के ट्रॉय तथा कार्थेज और मध्य युग का वेनिस भी कुछ सीमा तक वैश्य तत्व के प्रतिनिधि थे।

के शूद्रतन्त्र का प्रतिनिधि है ।[16] विवेकानन्द का विचार था कि पूर्व सामान्यत: कष्ट-सहन के आदर्श का प्रतीक है और पश्चिम कर्म तथा संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिनिधि है ।[17]

विवेकानन्द मंगोल जाति की शक्ति तथा स्फूर्ति की प्रशंसा किया करते थे । उनके शब्द हैं : "तातार मनुष्य जाति की मदिरा है । वह हर रक्त को शक्ति तथा बल प्रदान करता है ।"[18] उनका यह दृष्टिकोण उन लोगों के मत के विरुद्ध है जो कोहकाफ अथवा नॉर्डिक जाति की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करते हैं । उन्होंने चंगेजखाँ को इस बात का श्रेय दिया है कि वह राजनीतिक एकता के आदर्श का पोषक था । उनका कहना है कि सिकन्दर, चंगेजखाँ और नैपोलियन विश्व के एकीकरण के आदर्श से अनुप्राणित थे ।[19] विवेकानन्द ने अपनी चीन तथा जापान की यात्राओं के दौरान अनेक मन्दिरों के दर्शन किये जहाँ उन्होंने पुरानी बँगला लिपि में संस्कृत की अनेक पाण्डुलिपियाँ देखीं । उन्होंने जापानी मन्दिर देखे जिनकी दीवारों पर पुराने बँगला अक्षरों में संस्कृत के मन्त्र उत्कीर्ण थे । इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मध्य युग में चीन तथा बंगाल के बीच घनिष्ठ आदान-प्रदान रहा होगा ।[20] उन्हें वैदिक तथा रोमन कैथोलिक कर्मकाण्डों के बीच साम्य दिखायी दिया ।[21] उनका विश्वास था कि रोमन कैथोलिकों के अनुष्ठान बौद्ध धर्म के द्वारा वैदिक धर्म से लिये गये होंगे[22]—और बौद्ध धर्म हिन्दुत्व की ही एक शाखा था ।

विवेकानन्द का विश्वास था कि ईसा मसीह ऐतिहासिक व्यक्ति थे । किन्तु वे ईसा मसीह के स्थूल व्यक्तित्व को ईश्वरीय अवतार मानते थे । उनके मतानुसार यह भी सम्भव है कि सिकन्दरिया में भारतीय तथा मिस्री धर्मों का सम्मिश्रण हुआ हो, और फिर उन्होंने ईसाइयत के विकास को प्रभावित किया हो ।[23]

विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त संन्यासियों एवं चिन्तनशील दार्शनिकों का दर्शनमात्र नहीं था, वलिक सभ्यता के विकास में भी उसका महत्वपूर्ण योग था । उन्होंने माना कि भारतीय चिन्तन ने पाइथागोरस, सुकरात, प्लैटो और पोरफीरी, आयंब्लीकस आदि नव-प्लैटोवादियों को भी प्रभावित किया था । मध्ययुग में भारतीय चिन्तन का स्पेन में प्रवेश हुआ । मूर लोगों ने स्पेन पर प्रभाव डाला, और अरबों के विज्ञान ने यूरोपीय संस्कृति के निर्माण में योग दिया ।[24] आधुनिक युग में भारतीय विचारधारा यूरोप को, विशेषकर जर्मनी को, प्रभावित कर रही है ।[25]

विवेकानन्द का विश्वास था कि प्राचीन भारत में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच द्वन्द्वात्मक संघर्ष चला था । ब्राह्मण इस पक्ष में थे कि संस्कृति के क्षेत्र में जो मानक, प्रामाणिक और अनन्य मूल्य हैं उन्हीं को अंगीकार किया जाय । वे अपने को परम्परागत तथा रूढ़िगत संस्कृति का संरक्षक मानते थे । अत: वे पुरातनपोषी ऐतिहासिक दृष्टिकोण के प्रतिनिधि थे और रूढ़ियों, परम्पराओं, परिपाटियों तथा आचरण के संस्थाबद्ध आदर्शों के समर्थक थे । इसके विपरीत क्षत्रिय लोग उग्र उदारवाद के पोषक थे । वे राष्ट्र की उदीयमान बन्धननाशक प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि थे, और अपने विचारों में विद्रोही तथा भावुक थे । राम और कृष्ण का भी सम्बन्ध क्षत्रिय अभिजात वर्ग से था । बुद्ध ने क्षत्रियों के विद्रोह का समर्थन किया । इसके विपरीत कुमारिल, शंकर तथा रामानुज ने पुरोहित वर्ग की शक्ति की पुन: स्थापना करने का प्रयत्न किया, किन्तु उस कार्य में वे असफल रहे ।[26] मेरा भी विचार है कि भारत में ऐतिहासिक परिवर्तनों और रूपान्तरों के मूल में जो द्वन्द्वात्मक

16 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 685 ।
17 वही, पृष्ठ 790 ।
18 वही, पृष्ठ 838 ।
19 वही, पृष्ठ 705 ।
20 वही, जिल्द 1, पृष्ठ 352 ।
21 वही, जिल्द 2, पृष्ठ 710 ।
22 वही, पृष्ठ 547 ।
23 वही, पृष्ठ 838 ।
24 वही, पृष्ठ 651 ।
25 वही, पृष्ठ 687 ।
26 "Modern India," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृष्ठ 380 ।

प्रक्रिया देखने को मिलती है उसके पीछे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की पारस्परिक सामाजिक शत्रुता तथा संघर्ष सम्भवतः प्रेरक तत्व थे। इस प्रकार भारतीय इतिहास की व्याख्या करना कुछ सीमा तक समीचीन प्रतीत हो सकता है। किन्तु सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास के रहस्यों की केवल इसी एक तत्व के आधार पर व्याख्या करना अनुपयुक्त होगा। आधुनिक सामाजिक विज्ञानों ने हमें सिखाया है कि सामाजिक विकास और परिवर्तनों के मूल में अनेक तत्व काम किया करते हैं, अतः भारत के इतिहास को समुचित ढंग से समझने के लिए हमें राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अनेक सक्रिय तत्वों का अध्ययन तथा विश्लेषण करना पड़ेगा।

हेगेल की भाँति विवेकानन्द को भी राष्ट्र के ध्येय में विश्वास था।[27] उनका विचार था कि भारतीय संस्कृति की नींव आध्यात्मिक है इसलिए पश्चिम के लिए उसका विशेष ध्येय, सन्देश है।[28] पश्चिम के लोग भौतिक, शारीरिक तथा व्यापारिक सन्तोष और सफलताओं में आवश्यकता से अधिक व्यस्त हैं। इसलिए पश्चिमी संस्कृति में उन गम्भीर धार्मिक मूल्यों को समाविष्ट करना आवश्यक है जिसका पोषण और समर्थन पूर्व के ऋषियों-मुनियों ने किया है। विवेकानन्द ने भविष्य-वाणी की थी कि अन्ततोगत्वा भारतीय विचारधारा इंगलैण्ड को विजय कर लेगी।[29]

विवेकानन्द का कथन था कि भारत की प्रतिभा प्रथमतः तथा प्रमुखतः दर्शन तथा धर्म में व्यक्त हुई है। भारतीय संस्कृति के नेताओं का प्रधान उद्देश्य उन शाश्वत सत्यों का साक्षात्कार करना रहा है जिनका प्रतिपादन धर्मग्रन्थों में किया गया है। अपने अधिक उमंग के क्षणों में वे कहा करते थे कि पश्चिम के मनुष्य को भौतिकवाद ने जिस दलदल में फँसा दिया उससे उसका उद्धार करने के लिए वेदान्त के आध्यात्मवाद की आवश्यकता है। किन्तु उन्होंने देश-देशान्तरों का पर्यटन करके जो अनुभव प्राप्त किया था उसके कारण वे विज्ञान के महत्व को भी भलीभाँति समझते थे।[30] अतः वे इस पक्ष में थे कि चिन्तन के भारतीय आदर्श और बाह्य प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित करने के पाश्चात्य आदर्श के बीच ऐक्य स्थापित किया जाय।[31]

विवेकानन्द ने कश्मीर के धार्मिक इतिहास को चार युगों में विभक्त किया : (1) अग्नि तथा नाग-पूजा, (2) बौद्ध धर्म—मूर्तिकला इस युग की कला की सबसे बड़ी विशेषता थी, (3) सूर्य-पूजा के रूप में हिन्दू धर्म, और (4) इस्लाम।[32]

4. विवेकानन्द का समाज दर्शन

विवेकानन्द को प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था में साकार हुए सामाजिक सामंजस्य तथा समन्वय के आदर्श से प्रेरणा मिली थी।[33] इसलिए उनकी हार्दिक इच्छा थी कि जाति-प्रथा को उदात्त बनाया जाय। तत्व की बात यह नहीं है कि समाज पर नीरस एकरूपता की कोई व्यवस्था थोप दी जाय, आवश्यकता इस बात की है कि हर व्यक्ति को सच्चे ब्राह्मण का पद प्राप्त करने में सहायता दी जाय।[34] किन्तु उन्होंने पुरोहित कर्म की कटु शब्दों में निन्दा की, क्योंकि उससे सामाजिक अत्याचार को कायम रखने में सहायता मिलती थी, और जनता की उपेक्षा होती थी।[35] इसलिए यद्यपि

---

27 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 1, पृष्ठ 294।

28 "India's Mission," *Sunday Times*, लन्दन 1896, *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5 में पुनर्मुद्रित (मायावती मेमोरियल संस्करण, 1936), पृष्ठ 118-24।

29 *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5, पृष्ठ 120-21 : "एक बार पुनः भारत को विश्व की विजय करनी है।"—"उसे पश्चिम की आध्यात्मिक विजय करनी है।"

30 *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 1, पृष्ठ 294।

31 वही, जिल्द 5, पृष्ठ 157।

32 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 701।

33 एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि वर्ण-व्यवस्था एक प्रकार का साम्यवाद है। उन्होंने कहा : "भारत में सामाजिक साम्यवाद विद्यमान है और वह अद्वैत अर्थात आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के प्रकाश से आलोकित है; इसके विपरीत आप यूरोपवासी सामाजिक दृष्टि से व्यक्तिवादी हैं किन्तु आपका चिन्तन द्वैतवादी है जिसे आध्यात्मिक साम्यवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार भारत की संस्थाएं सामाजिक हैं और वे व्यक्तिवादी चिन्तन से आवृत हैं और यूरोप की संस्थाएं व्यक्तिवादी हैं तथा वे साम्यवादी विचारों से परिवेष्ठित हैं।"

34 *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5, पृष्ठ 144।

35 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 353।

विवेकानन्द भारत की सांस्कृतिक महानता के स्पष्टवादी प्रचारक थे, किन्तु साथ ही साथ उन्होंने प्रचलित सामाजिक अनुदारता के विरुद्ध विध्वंसकारी योद्धा की भाँति संघर्ष किया।

विवेकानन्द ने परम्परावादी ब्राह्मणों के पुरातन अधिकारवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया।[36] यह सिद्धान्त शूद्रों अर्थात देश की बहुसंख्यक जनता को वैदिक ज्ञान के लाभ से वंचित करता है। शंकर ने भी इस लोकतन्त्र-विरोधी मतवाद को स्वीकार किया था। किन्तु विवेकानन्द ने निर्भीकता से आध्यात्मिक समता के आदर्श का पक्षपोषण किया। उनका कथन था कि सभी मनुष्य समान हैं, और सभी को आध्यात्मिक अनुभूति तथा परम ज्ञान का अधिकार है। उनका लोकतांत्रिक आध्यात्मवाद वास्तव में एक क्रान्तिकारी आदर्श था। उपनिषदों तक ने किसी न किसी रूप में अधिकारवाद का समर्थन किया है, जो एक प्रकार से आध्यात्मिक अभिजाततंत्र का पक्षपोषण है। किन्तु विवेकानन्द चाहते थे कि परम सत्य का बिना किसी शर्त के व्यापक प्रचार किया जाय। उन्होंने कहा है : "इस प्रकार तुम जनता को सबसे बड़ा वरदान दोगे, उसके बन्धनों को तोड़ोगे और सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार करोगे।"[37]

विवेकानन्द ने अस्पृश्यता की भर्त्सना की। उन्होंने रसोईघर और पतीली-कढ़ाई के निरर्थक पंथ का मखौल उड़ाया। इसकी अपेक्षा वे चाहते थे कि आत्म-साक्षात्कार, आत्म-निग्रह और लोक-संग्रह की धार्मिक भावना जाग्रत की जाय।

आधुनिक विश्व में विभिन्न समूहों तथा वर्गों के अधिकारों के समर्थकों के बीच निरन्तर संघर्ष चल रहा है। फलस्वरूप समाज धीरे-धीरे अधिकारों के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की सफलता के लिए युद्ध का अखाड़ा बनता जा रहा है। किन्तु विवेकानन्द ने कर्तव्यों को महत्व दिया। वे चाहते थे कि सभी व्यक्ति और समूह अपने कर्तव्यों और दायित्वों के पालन में ईमानदार हों। मानव प्राणी का गौरव इस बात में नहीं है कि वह अपने तथा अपने अधिकारों के लिए आग्रह करे, उसकी गरिमा इस बात में है कि वह सार्वभौम शुभ की सिद्धि के हेतु अपना उत्सर्ग कर दे।[38] इसलिए यद्यपि स्वामी विवेकानन्द स्वयं भिक्षु और संन्यासी थे, किन्तु उन्होंने निष्काम भाव से अपना कर्तव्य करने वाले गृहस्थ को सर्वोच्च स्थान दिया।[39]

सामाजिक परिवर्तनों के विषय में अरस्तू की भाँति विवेकानन्द भी मिताचार में विश्वास करते थे।[40] सामाजिक परिपाटियाँ समाज की आत्म-परिरक्षण की व्यवस्था का परिणाम हुआ करती हैं। किन्तु यदि परिपाटियाँ स्थायी रूप से कायम रहें तो समाज के अधःपतन का भय उपस्थित हो जाता है। लेकिन पुराने सामाजिक नियमों को हटाने का तरीका यह नहीं है कि उन्हें हिंसा द्वारा नष्ट किया जाय। सही ढंग यह है कि जिन कारणों ने उन नियमों और परिपाटियों को जन्म दिया था उनका धीरे-धीरे उन्मूलन किया जाय। इस प्रकार विशिष्ट सामाजिक परिपाटियाँ स्वतः विलुप्त हो जायँगी। केवल उनकी भर्त्सना और निन्दा करने से अनावश्यक सामाजिक तनाव और शत्रुता उत्पन्न होती है और लाभ कुछ नहीं होता।[41] हिन्दू समाज अपनी जीवन-शक्ति बनाये रखने में इसलिए सफल हुआ था कि उसमें परिपाचन की सामर्थ्य थी।[42] यदाकदा वह आक्रामक हो गया था,[43] किन्तु उसका बुनियादी रवैया यही था कि जिन शक्तियों के साथ सम्पर्क हो उनके सर्वोत्तम तत्वों से आत्मसात कर लिया जाय।

36 "The Evils of Adhikarvada," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5, पृष्ठ 190-92।

37 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 58।

38 वी. पी. वर्मा, "Vivekananda and Marx as Sociologists," *The Vedanta Kesari*, जिल्द 45, जनवरी 1959, पृष्ठ 374-81।

39 विवेकानन्द, *Karma Yoga*, अध्याय 2 : "Each is Great in His Own Place," *The Complete Works of Swami Vivekananda* (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 1, 1940) पृष्ठ 34-49।

40 बी. सी. पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 40 : "जिस नवीन वेदान्त का सम्बन्ध बहुत कुछ स्वामी विवेकानन्द के साथ जोड़ा जाता है उसके प्रभाव के कारण पुराने सामाजिक विचारों को उदार बनाने की धीमी और शान्त प्रक्रिया कार्य करती आयी है।"

41 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 752।

42 वही, पृष्ठ 790।

43 वी. पी. वर्मा, "Vivekananda : the Hero Prophet of the Modern World," *Patna College Magazine*, सितम्बर 1946, पृष्ठ 7-15।

उसके दीर्घजीवी होने का रहस्य उसकी परिपाचन की उदार तथा रचनात्मक क्षमता ही थी ।[44] अतः विवेकानन्द ने उग्र क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा अवयवी ढंग के और धीमे सुधार का समर्थन किया ।[45] उन्होंने सामाजिक जीवन में यूरोप का अनुकरण करने की कटु आलोचना की । उन्होंने लिखा है : "हमें अपनी प्रकृति के अनुसार ही विकसित होना चाहिए। विदेशियों ने जो जीवन-प्रणाली हमारे ऊपर थोप दी है उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना व्यर्थ है : ऐसा करना असम्भव भी है । परमात्मा को धन्यवाद है कि यह असम्भव है; हमें तोड़-मरोड़कर अन्य राष्ट्रों की आकृति का नहीं बनाया जा सकता । मैं अन्य जातियों की संस्थाओं की निन्दा नहीं करता; वे उनके लिए अच्छी हैं, किन्तु हमारे लिए अच्छी नहीं हैं। उनकी विद्याएँ, उनकी संस्थाएँ तथा परम्पराएँ भिन्न हैं और उन सबके अनुरूप ही उनकी वर्तमान जीवन-प्रणाली है । हमारी अपनी परम्पराएँ हैं और हजारों वर्षों के कर्म हमारे साथ हैं; इसलिए स्वभावतः हम अपनी ही प्रकृति का अनुसरण कर सकते हैं, अपनी ही लकीर पर चल सकते हैं, और हम वहीं करेंगे । हम पाश्चात्य नहीं बन सकते, इसलिए पश्चिम का अनुकरण करना निरर्थक है । यदि मान भी लिया जाय कि आप पश्चिम की नकल कर सकते हैं; तो आप उसी क्षण मर जायेंगे, आपमें जीवन शेष नहीं रह जायगा । एक सरिता का उस समय उद्गम हुआ, जब काल का भी प्रारम्भ नहीं हुआ था और मानव इतिहास के करोड़ों युगों को पार करती हुई बहती चली आयी है; क्या आप उस सरिता को पकड़कर उसके उद्गम हिमालय के किसी हिमनद की ओर मोड़ देना चाहते हैं ? चाहे वह भी सम्भव हो सके, किन्तु आपके लिए अपना यूरोपीयकरण करना असम्भव है । जब आप देखते हैं कि यूरोपवासियों के लिए अपनी कुछ शताब्दियों पुरानी संस्कृति को छोड़ देना सम्भव नहीं है तो फिर आप अपनी बीसियों शताब्दी पुरानी जगमगाती हुई संस्कृति का परित्याग कैसे कर सकते हैं ? यह नहीं हो सकता । अतः भारत का यूरोपीयकरण करना असम्भव तथा मूर्खतापूर्ण काम है ।[46]

5. विवेकानन्द का राजनीति दर्शन

हेगेल की भाँति विवेकानन्द का भी विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्व की अभिव्यक्ति है । उदाहरण के लिए, धर्म भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण नियामक सिद्धान्त रहा है। विवेकानन्द लिखते हैं : "जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है वैसे ही हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्व हुआ करता है, अन्य सब तत्व उसी में केन्द्रित होते हैं । प्रत्येक राष्ट्र का अपना तत्व है, अन्य सब वस्तुएँ गौण होती हैं । भारत का तत्व धर्म है । समाज-सुधार तथा अन्य सब कुछ गौण हैं ।"[47] इसलिए उन्होंने राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करने के लिए कार्य किया । आगे चलकर उसी सिद्धान्त का विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द ने समर्थन और पक्ष-पोषण किया । विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिए किया कि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड बनेगा ।[48] उनका कहना था कि राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है । अतीत की उपेक्षा करना राष्ट्र के जीवन का ही निषेध करने के समान है । उसका अर्थ तो वास्तव में उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है । इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ़ नींव पर ही करना होगा । विवेकानन्द कहा करते थे कि अतीत में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति मुख्यतः धर्म के क्षेत्र में ही हुई थी । धर्म ने भारत में एकता तथा स्थिरता को बनाये रखने के लिए एक सृजनात्मक शक्ति का काम किया था; यहाँ तक कि जब कभी राजनीतिक

---

44 विवेकानन्द का कथन : "(भारत की) सामाजिक व्यवस्था अनन्त सार्वभौम मातृत्व का प्रतिबिम्ब मात्र है ।" "Modern India," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृष्ठ 413 ।

45 वही जिल्द 1, पृष्ठ 294 ।

46 स्वामी विवेकानन्द, *On India and Her Problems*, पृष्ठ 102-03 ।

47 *The Complete Works of Swami Vivekananda* (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 1, 1936), पृ. 140 ।

48 वही, पृ. 554

सत्ता शिथिल और दुर्बल हो गयी तो धर्म ने उसकी भी पुनः स्थापना में योग दिया। इसलिए विवेकानन्द ने घोषणा की कि राष्ट्रीय जीवन का धार्मिक आदर्शों के आधार पर संगठन किया जाना चाहिए।[49] उनके विचार में आध्यात्मिकता अथवा धर्म का अर्थ शाश्वत तत्व का साक्षात्कार करना था; सामाजिक मतवादों, धर्मसंघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरानी रूढ़ियों को धर्म नहीं समझना चाहिए। वे कहा करते थे कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसलिए सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किये जाने चाहिए तभी देश की बहुसंख्यक जनता उन्हें अंगीकार कर सकेगी।[50] अतः राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन को विवेकानन्द की प्रथम महत्वपूर्ण देन माना जा सकता है।[51] बंकिम की भाँति विवेकानन्द भी भारत माता को एक आराध्य देवी मानते थे, और उसकी देदीप्यमान प्रतिभा की कल्पना और स्मरण से उनकी आत्मा जगमगा उठती थी। यह कल्पना कि भारत दैवी माता की दृश्यमान विभूति है, बंगाल के राष्ट्रवादियों और आतंकवादियों की रचनाओं तथा भाषणों में आधारभूत धारणा रही है।

राजनीतिक सिद्धान्त का विवेकानन्द की दूसरी महत्वपूर्ण देन उनकी स्वतन्त्रता की धारणा है। उनका स्वतन्त्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उनका कहना था कि सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्यतः स्वतन्त्रता की ही खोज कर रहा है।[52] वे स्वतन्त्रता के प्रकाश को वृद्धि की एकमात्र शर्त मानते थे।[53] उनके शब्द हैं : "शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरों को उसकी ओर अग्रसर होने में सहायता देना मनुष्य का सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो सामाजिक नियम इस स्वतन्त्रता के विकास में बाधा डालते हैं वे हानिकारक हैं, और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाय जिनके द्वारा मनुष्य स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ता है....।"[54] विवेकानन्द आध्यात्मिक स्वतन्त्रता अथवा माया के बन्धनों और प्रलोभनों से मुक्ति के ही समर्थक नहीं थे, बल्कि वे मनुष्य के लिए भौतिक अथवा बाह्य स्वतन्त्रता भी चाहते थे। वे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को मानते थे। उनका कथन है : "स्वतन्त्रता का निश्चय ही यह अर्थ नहीं है कि यदि मैं और आप किसी की सम्पत्ति को हड़पना चाहें तो हमें ऐसा करने से न रोका जाय; किन्तु प्राकृतिक अधिकार का अर्थ यह है कि हमें अपने शरीर, बुद्धि और धन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने दिया जाय और हम दूसरों को कोई हानि न पहुँचाएँ, और समाज के सभी सदस्यों को धन, शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार हो।"[55] विवेकानन्द के मतानुसार स्वतन्त्रता उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त था, उपनिषद्कारों ने शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आदि स्वतन्त्रता के सभी पक्षों का डटकर समर्थन किया था। विवेकानन्द को यह भी आशा थी कि जिस स्वतन्त्रता का उदय अमेरिका में 4 जुलाई, 1776 को हुआ था वह किसी दिन समस्त विश्व में प्रतिष्ठित हो जायगी। अपनी 'चार जुलाई के प्रति' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है :

तुमको कोटिशः अभिवादन, हे प्रकाश के प्रभु !
आज तुम्हारा नव स्वागत,
हे दिवाकर ! आज तुम स्वतन्त्रता से विश्व को प्रदीप्त कर रहे हो।
× × ×
हे प्रभो ! अपने अनवरोध्य मार्ग पर निरन्तर बढ़ते जाओ !

---

49 विवेकानन्द ने कहा था कि सभ्यता आन्तरिक ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति हुआ करती है।

50 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 698।

51 विवेकानन्द वेदान्त को विश्व तथा विश्व धर्म की बुद्धिसंगत व्याख्या मानते थे। उनकी धारणा थी कि वेदान्त सामाजिक दृष्टि से भी उपयोगी है। वह एकत्व में, सभी जीवित प्राणियों के एकत्व तथा मनुष्य के देवत्व में आस्था उत्पन्न करता है। वह निष्काम कर्म की शिक्षा देता है। वह सभी धर्मों और पंथों के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकता है। अतः वेदान्त सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता है।

52 विवेकानन्द ने लन्दन में एक व्याख्यान में कहा था : "यह विश्व क्या है ? स्वतन्त्रता में इसका उदय होता है, और स्वतन्त्रता पर ही वह अवलम्बित है।"

53 विवेकानन्द, "स्वतन्त्रता आध्यात्मिक प्रगति की एकमात्र शर्त है।"

54 *The Life of Swami Vivekananda*, भाग 2, पृष्ठ 753।

55 वही, पृष्ठ 752।

जब तक कि तुम्हारे मध्याह्न का प्रकाश विश्व भर में न फैल जाय,
जब तक हर देश प्रकाश को प्रतिबिम्बित न करने लगे,
जब तक कि पुरुष और स्त्रियाँ मस्तक ऊँचा करके,
अपनी बेड़ियों को टूटा हुआ न देख लें,
और जब तक कि यौवन के आह्लाद में उनका जीवन नया न हो जाय।

विवेकानन्द की तीसरी देन उनका शक्ति और निर्भयता का सन्देश है। राजनीति शास्त्र की पदावली में हम उसे प्रतिरोध का सिद्धान्त कह सकते हैं।[56] विवेकानन्द उत्कट देशभक्त थे और उनके हृदय में देश के लिए अगाध प्रेम था। वे संवेगात्मक देशभक्ति के मूर्तरूप थे। उन्होंने अपने देश, उसकी जनता तथा उसके आदर्शों के साथ अपनी चेतना का तादात्म्य स्थापित करने का सत्कारपूर्ण उद्योग किया। किन्तु उन्होंने खुलकर देश की राजनीतिक मुक्ति का समर्थन नहीं किया। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। इसके दो कारण थे। प्रथम, वे संन्यासी थे और राजनीतिक तथा कानूनी वादविवाद में नहीं उलझना चाहते थे। 1894 के सितम्बर में उन्होंने लिखा था : "मैं न राजनीतिज्ञ हूँ और न राजनीतिक आन्दोलनकर्ता। मुझे केवल आत्मा की चिन्ता है.... इसलिए आप कलकत्ता की जनता को चेतावनी दे दीजिए कि मेरी किसी रचना अथवा कथन को व्यर्थ में राजनीतिक महत्व न दिया जाय.... । मैंने सामान्य तौर पर ईसाई सरकारों की निष्कपट आलोचना में कुछ कटु शब्द कह दिये हैं, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि मैं राजनीति की परवा करता हूँ अथवा उससे मेरा सम्बन्ध है।"[57] दूसरे, उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति भारत में दृढ़ता से जमी हुई थी। यदि विवेकानन्द खुलकर राजनीतिक स्वायत्तता का समर्थन करते तो उन्हें निश्चय ही कारागार में डाल दिया गया होता। इसका परिणाम यह होता कि उनकी शक्ति व्यर्थ में नष्ट होती, और देशवासियों के धार्मिक तथा नैतिक पुनरुद्धार का जो काम उन्हें सबसे अधिक प्रिय था उसमें विघ्न पड़ता। किन्तु यद्यपि विवेकानन्द ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मुकाबले में भारतीय राष्ट्रवाद के विरोधी सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया, तो भी देश की दरिद्र तथा पददलित जनता की मुक्ति के कार्य में उनकी गहरी रुचि और लगन थी।[58] राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय की बात करने की अपेक्षा उन्होंने उससे भी अधिक बुनियादी आदर्श—शक्ति—का सन्देश दिया। बिना शक्ति के न हम अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को कायम रख सकते हैं और न अपने अधिकारों की रक्षा करने में ही समर्थ हो सकते हैं। कोई व्यक्ति सतत प्रयत्नों और निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा ही जीवन के संघर्ष में सफलता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का चरित्र बाधाओं का प्रतिरोध करने से ही विकसित होता है। एक सैद्धान्तिक तथा शिक्षक के रूप में विवेकानन्द ने देश को निर्भयता तथा शक्ति के दो महान आदर्श प्रदान किये हैं। उनकी मुख्य विरासत यह है कि उन्होंने धर्म तथा जीवन का समन्वय किया, और कभी-कभी धर्म की राष्ट्रीय तथा व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या की। उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा : "शक्ति ही धर्म है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने घोषणा की : "मेरे धर्म का सार शक्ति है। जो धर्म हृदय में शक्ति का संचार नहीं करता वह मेरी दृष्टि में धर्म नहीं है, चाहे वह उपनिषदों का धर्म हो और चाहे गीता अथवा भागवत का। शक्ति धर्म से भी बड़ी वस्तु है और शक्ति से बढ़कर कुछ नहीं।"[59] राजनीतिक दृष्टि से पददलित राष्ट्र को शक्ति और निर्भयता का सन्देश

---

56 विदेशी आक्रमणकारियों ने क्षीर-भवानी देवी के मन्दिरों को जो अपवित्र किया था उसके विषय में सोचकर स्वामी विवेकानन्द बहुत दुःखी हुआ करते थे। उन्होंने कहा था, "यदि मै वहाँ होता तो ऐसा कभी न होने देता। मैं माता की रक्षा करने में अपने प्राणों की बाजी लगा देता।" *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 726।

57 वही, पृष्ठ 407।

58 एक बार एक साक्षात्कार में उन्होंने घोषणा की थी : "जब तक मेरे देश का एक कुत्ता भी भूखा रहता है तब तक उसको भोजन देना और उसकी देखभाल करना ही मेरा धर्म है, इसके अतिरिक्त और जो कुछ है वह अधर्म है अथवा ऋण धर्म है।" (*The Life of Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 782)। एक अन्य साक्षात्कार में उन्होंने कहा था कि जो लोग भूख से मर रहे हैं, उनकी रक्षा करना ही वेदान्त धर्म का सार है। यहाँ हम देखते हैं कि विवेकानन्द ने वेद तथा वेदान्त के इस सूत्र को अक्षरशः ग्रहण कर लिया था कि ज्ञानी के लिए सभी आत्माएं उसकी अपनी आत्मा हैं।

59 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द, 2, पृष्ठ 699।

देना वास्तव में एक महान राजनीतिक महत्व का सन्देश देने के समान है, क्योंकि 'मनुष्य-निर्माण' के पुरुषोचित सन्देश का ठोस राष्ट्रीय अभिप्राय है। विवेकानन्द ने निर्भयता के सिद्धान्त को दार्शनिक वेदान्त के आधार पर उचित ठहराया। उन्होंने बार-बार इस बात को दुहराया कि आत्मा ही परम सत् है और इसलिए वह सभी प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों और क्रूरता से परे है। उनकी दुर्दमनीय आत्मा को मनुष्य की आत्मा पर थोपे गये सभी प्रकार के प्रतिबन्धों से घृणा थी। इसलिए वे भारतीय जनता को आत्मा के अपार बल और शक्ति की शिक्षा देना चाहते थे। उनका कहना था कि आत्मा का लक्षण सिंह के समान है। वे चाहते थे कि मनुष्य में भी सिंह की-सी भावना का विकास हो। उन्होंने कहा कि हिन्दुत्व को आक्रामक बनना है। इस प्रकार विवेकानन्द ने चरित्र-निर्माण के लिए वेदान्त की शिक्षाओं का प्रयोग किया। अभयं वेदों तथा वेदान्त का सार है। गीता का क्रान्तिकारी सन्देश भी पुरुषत्व तथा शक्ति को ही महत्व देता है। विवेकानन्द ने कहा : "....राष्ट्र को शक्ति शिक्षा के द्वारा ही मिल सकती है।"[60] उनके विचार में शक्ति के सन्देश का ओजपूर्ण समर्थन करना राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का सबसे अच्छा मार्ग था। आत्मबल के आधार पर निर्भय होकर खड़ा होना अत्याचार तथा उत्पीड़न का सर्वोत्तम प्रतीकार था।[61] उन्होंने उस समय भारत में प्रचलित अत्याचारपूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करने की नकारात्मक नीति नहीं अपनायी, बल्कि शक्ति के संग्रह पर भावात्मक बल दिया। अगस्त 1898 में उन्होंने 'जाग्रत भारत के प्रति' शीर्षक कविता में लिखा :

> एक बार पुन: जाग! यह तुम्हारी मृत्यु नहीं थी, यह तो केवल निद्रा थी, तुम्हें नवजीवन देने के लिए और तुम्हारे कमल-नेत्रों को विश्राम देने हेतु जिससे वे नये दृश्यों को देखने का साहस कर सकें। विश्व तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। हे सत्य ! तुम्हारे लिए मृत्यु नहीं है।
>
> तुम अपना चलना जारी रखो, तुम्हारे कदम इतने कोमल हों कि उनसे सड़क के किनारे नीचे पड़ी हुई धूल का भी शान्तिमय विश्राम भंग न हो। किन्तु वे दृढ़, अडिग, आनन्दमय, वीरतापूर्ण तथा स्वतन्त्र हों। जगाने वाले, निरन्तर आगे बढ़ता जा। बोल, एक बार पुनः बोल अपने प्राणोत्तेजक शब्द !
>
> × × × ×
>
> और फिर चलना आरम्भ कर दे, अपनी उस जन्मभूमि से जहाँ मेघाच्छादित हिम तुम्हें आशीर्वाद देती है और तुममें शक्ति का संचार करती है जिससे कि तुम नये विस्मयकारी कार्य कर सको। आकाश गंगा तुम्हारे स्वर को अपने शाश्वत संगीत के साथ एकलय कर दे, और देवदार की छाया तुम्हें अनन्त शान्ति प्रदान करे।
>
> और इन सबसे अधिक हिमालय की पुत्री उमा जो कोमल और पवित्र है, माता जो सर्वत्र शक्ति और जीवन के रूप में व्याप्त है, जो सारे कार्य करती है, जो एक से विश्व की रचना करती है, जिसकी अनुकम्पा से सत्य के द्वार खुल जाते हैं और सबमें एक के दर्शन होने लगते हैं, वह उमा तुम्हें अथक शक्ति प्रदान करे—और अनन्त प्रेम ही अथक शक्ति है।

राष्ट्र व्यक्तियों से ही बनता है। इसलिए विवेकानन्द का अनुरोध था कि सब व्यक्तियों को अपने में पुरुषत्व, मानव गरिमा तथा सम्मान की भावना आदि श्रेष्ठ गुणों का विकास करना चाहिए। किन्तु इन वैयक्तिक गुणों की पूर्ति अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम की भावात्मक भावना से होनी चाहिए। नि:स्वार्थ सेवा की गम्भीर भावना के बिना राष्ट्रीय एकता और भ्रातृत्व की बात करना कोरी बकवास है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अहं का देश और राष्ट्र की आत्मा के साथ तादात्म्य कर दे। विवेकानन्द का मार्ग पश्चिम के उन समाजशास्त्रियों की तुलना में अधिक रचनात्मक है जो केवल राष्ट्रवाद के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी तथा सामाजिक दृष्टिकोणों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया है, किन्तु साथ ही साथ व्यक्तियों के नैतिक विकास के साथ उनका अधिक लगाव है। यह सत्य है कि राष्ट्र एक समुदाय है। किन्तु हम राष्ट्र की अवयवी

---

60 वही, पृ. 796।

61 विवेकानन्द का व्याख्यान "My Plan of Campaign" : "संकल्प अन्य प्रत्येक वस्तु से अधिक शक्तिशाली होता है। संकल्प के समक्ष प्रत्येक वस्तु घुटने टेक देती है क्योंकि वह ईश्वर से प्राप्त होता है।...शुद्ध और दृढ़ संकल्प सर्वशक्तिमान होता है।"

प्रकृति का कितना ही गुणगान क्यों न करें, वास्तव में व्यक्ति ही राष्ट्रीय ढांचे के घटक होते हैं, इसलिए जब तक व्यक्ति स्वस्थ, नैतिक तथा दयालु नहीं होते तब तक राष्ट्र की महानता तथा समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है। अतीत में भारत के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण समाजसेवा तथा व्यक्ति की मुक्ति के आदर्शों की नींव पर किया गया था। इन श्रेष्ठ आदर्शों को पुन: प्रतिष्ठित करना और शक्तिशाली बनाना है।[62] इसलिए सेवा तथा त्याग को भारतीय राष्ट्र के पुनरुद्धार का तात्विक आधार बनाना आवश्यक है।[63] इस प्रकार विवेकानन्द इस पक्ष में थे कि राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का आधार नैतिक हो। उन्होंने उत्प्रेरित शब्दों में भारतीयों को ललकारा : "हे वीर ! निर्भीक बनो, साहस धारण करो, इस बात पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो और गर्व के साथ घोषणा करो, 'मैं भारतीय हूँ और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है।' बोलो, 'ज्ञानहीन भारतीय, दरिद्र तथा अकिंचन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, अछूत भारतीय, मेरा भाई है।' तुम भी अपनी कमर में एक लंगोटी बांधकर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोषणा करो, 'भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारतीय समाज मेरे बाल्यकाल का पालना है, मेरे यौवन का आनन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग, और मेरी वृद्धावस्था की वाराणसी है।' मेरे बन्धु बोलो, 'भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है', और दिन-रात जपो और प्रार्थना करो, 'हे गौरीश्वर, हे जगज्जननी, मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। हे शक्ति की माँ, मेरे दौर्बल्य को हर लो, मेरी पौरुषहीनता को हर लो—और मुझे मनुष्य बना दो' !"

विवेकानन्द प्रधानत: भिक्षु, धर्मोपदेशक तथा संन्यासी थे किन्तु उनके हृदय में जनता के लिए प्रगाढ़ प्रेम था।[64] वे जनता की दशा देखकर सचमुच रोया करते थे।[65] अपने उपदेशों तथा लेखों के द्वारा वे जनता की आकांक्षाओं तथा तीव्र वेदनाओं को वाणी देना चाहते थे। उनका कहना था कि दरिद्रों की दशा सुधारने के लिए उन्हें शिक्षा तथा धर्म का सन्देश देना आवश्यक है। उनके शब्द हैं : "राष्ट्र के रूप में हम अपना व्यक्तित्व खो बैठे हैं, और यही इस देश में सब दुष्कर्मों की जड़ है। हमें देश को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस देना है, और जनता का उत्थान करना है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी ने उसको अपने पैरों से कुचला है। किन्तु अब उसके उत्थान की शक्ति भी भीतर से ही आनी चाहिए, अर्थात परम्परानिष्ठ हिन्दू समाज में से। प्रत्येक देश में जो बुराइयाँ देखने को मिलती हैं वे धर्म के कारण नहीं हैं, बल्कि धर्मद्रोह के कारण हैं। इसलिए दोष धर्म का नहीं है, मनुष्यों का है।"[66] अत: विवेकानन्द ने पुकार लगायी कि जनता का उत्थान किये बिना राजनीतिक मुक्तीकरण सम्भव नहीं है।[67] जब जनता दु:खों और विपदाओं में पड़ी कराह रही हो और घोर नैराश्य में डूबी हुई हो ऐसे समय में निजी मुक्ति की बात सोचना निरर्थक है।[68] उन्होंने उस समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भी आलोचना की, क्योंकि उनकी निगाह में यह जनता की दशा सुधारने के लिए कोई भावात्मक और रचनात्मक कार्य नहीं कर रही थी। एक बार अश्विनीकुमार दत्त ने एक भेंट में उनसे पूछा : "किन्तु क्या आपको जो कुछ कांग्रेस कर रही है उसमें विश्वास नहीं है ?" विवेकानन्द ने उत्तर दिया : "नहीं, मुझे विश्वास नहीं है। किन्तु निश्चय ही न कुछ से कुछ अच्छा है, और सोते हुए राष्ट्र को जगाने के लिए उसे सब ओर से धक्का लगाना अच्छा है। क्या आप मुझे बतला सकते हैं कि कांग्रेस जनता के लिए क्या करती आयी है ? क्या आपका विचार है कि केवल कुछ

---

62 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 713।

63 वही, पृष्ठ 306।

64 देखिये विवेकानन्द : "विश्व में एक ही ईश्वर है, एक ही ऐसा ईश्वर है जिसमें मुझे आस्था है, वह ईश्वर सब जातियों के दीन तथा दरिद्र लोग हैं।" विवेकानन्द ने ही भारत को दरिद्रनारायण की धारणा प्रदान की।

65 एक बार विवेकानन्द ने कहा था : "स्मरण रखिये कि राष्ट्र झोंपड़ियों में रहता है।"

66 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 1, पृष्ठ 306-07।

67 एक बार विवेकानन्द ने घोषणा की थी : "तुम सब लोग जो दीन और दरिद्र हो, जो पतित और पददलित हो, आओ !......जब तक उनका उद्धार नहीं होता तब तक महान भारत माता का कभी उद्धार नहीं हो सकता।"

68 "Our Duty to the Masses," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृष्ठ 107-09।

प्रस्ताव पास करने से स्वतन्त्रता मिल जायगी ? मेरा उसमें विश्वास नहीं है । सबसे पहले जनता को जगाना होगा । उसे भरपेट भोजन मिलने दीजिए, फिर वह अपना उद्धार स्वयं कर लेगी । यदि काँग्रेस उसके लिए कुछ करती है तो मेरी सहानुभूति काँग्रेस के साथ है ।"[69]

6. निष्कर्ष

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त भारतीय राष्ट्रवाद के आधारभूत तत्वों के अध्ययन का महत्व बहुत बढ़ गया है । विवेकानन्द की रचनाओं तथा भाषणों ने बंगाल के राष्ट्रवाद की नैतिक नींव को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टि से सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया है । उन्होंने सम्पूर्ण देश पर भी प्रभाव डाला है । जिस समय राष्ट्र उदासीनता, निष्क्रियता और निराशा में डूबा हुआ था, उस समय विवेकानन्द ने शक्ति तथा निर्भयता के सन्देश की गर्जना की । उन्होंने लोगों को शक्तिशाली बनने की प्रेरणा दी । शक्ति ही विवेकानन्द की भारतीय राष्ट्र को वसीयत है । जब भारत का बौद्धिक वर्ग पश्चिम का अनुकरण करने में व्यस्त था, उस समय उन्होंने निर्भीकतापूर्वक घोषणा की कि पश्चिम को भारत से बहुत कुछ सीखना है । विवेकानन्द की रचनाओं तथा उनके सन्देश को ध्यान में रखे बिना भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के जन्म तथा विकास को और 1904 तथा 1907 के बीच राजनीतिक साहित्य के स्वर में जो परिवर्तन हुआ उसे समझना सम्भव नहीं है ।

विवेकानन्द का मत था कि भारत में दृढ़ और स्थायी राष्ट्रवाद का निर्माण धर्म के आधार पर ही किया जा सकता है । किन्तु उन पर पंथवादी संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकता । उनकी दृष्टि में नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के शाश्वत नियम ही धर्म हैं । उन्होंने अपनी निर्भीक दृष्टि द्वारा पहले से ही देख लिया था कि लूट का बँटवारा करने में संलग्न यांत्रिक राष्ट्रवाद स्थायी नहीं हो सकता । राष्ट्र के अवयवी विकास के लिए आवश्यक है कि लोगों में उदारता, ब्रह्मचर्य, प्रेम, त्याग तथा निग्रह के गुण विद्यमान हों । विवेकानन्द की-सी सार्वभौम सहिष्णुता वाला व्यक्ति किसी धार्मिक पन्थ अथवा सम्प्रदाय के विरुद्ध अत्याचार की अनुमति नहीं दे सकता था । उन्हें व्यक्तिगत विकास में विश्वास था, वे इस पक्ष में नहीं थे कि किसी पर धार्मिक विश्वास अथवा सामाजिक परिपाटियाँ बलात् थोपी जायँ । अतः विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का धार्मिक आधार अरविन्द और विपिनचन्द्र पाल की राष्ट्रवादी धारणा के समतुल्य था ।

विवेकानन्द सार्वभौमवाद के समर्थक थे । उनके लिए देशभक्ति एक शुद्ध और पवित्र आदर्श था, किन्तु उन्होंने मनुष्य के देवत्व का भी सन्देश दिया । उनके सन्देश के महान प्रभाव का यही रहस्य था । उनका कथन था कि धर्म, रंग, लिंग आदि के मूल में वास्तविक मानव अन्तर्निहित है । टैगोर की भाँति विवेकानन्द को भी सार्वभौम मानव में विश्वास था । उनके अनुसार सार्वभौम बन्धुत्व का साक्षात्कार करने के लिए सार्वमानव की गम्भीर कल्पना आवश्यक थी । जिस युग में विश्व संशयवाद, नाशवान और भौतिकवाद से पीड़ित था उस समय अद्वैत वेदान्ती के रूप में विवेकानन्द ने सार्वभौम धार्मिक भावना को पुनर्जीवित करने का सन्देश दिया । उनकी दृष्टि में भारत का जागरण तथा मुक्ति सार्वभौम प्रेम तथा बन्धुत्व के साक्षात्कार की एक सीढ़ी थी ।

प्रकरण 2

स्वामी रामतीर्थ

1. प्रस्तावना

स्वामी रामतीर्थ (1873-1906) आधुनिक युग में वेदान्त दर्शन के एक अत्यधिक महत्वशाली प्रतिपादक हुए हैं । पंजाब के एक ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था । उनका परिवार अपने को गोस्वामी तुलसीदास का वंशज मानता था । रामतीर्थ अत्यन्त दरिद्र विद्यार्थी थे, किन्तु अपने लगभग अतिमानवीय परिश्रम के फलस्वरूप वे लाहौर के फौर्मन क्रिश्चियन कॉलेज में गणित के प्रोफेसर के पद पर पहुँच गये । वे गणित के यशस्वी शिक्षक थे । वे उर्दू तथा फारसी के भी विद्वान थे और इन भाषाओं में कविता कर सकते थे । वे कृष्ण के महान भक्त थे । विवेकानन्द की प्रेरणा से

---

69 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 698-99 ।

गणित के प्राचार्य गोस्वामी तीर्थराम ने सांसारिक बन्धन और स्नेह का परित्याग कर दिया और स्वामी रामतीर्थ के नाम से संन्यासी के वस्त्र धारण कर लिये। उन्होंने जापान तथा अमेरिका में लगभग तीन वर्ष (1902-1904) तक व्याख्यान दिये। वे निःस्वार्थता, परम वैराग्य तथा अपरिग्रह के वेदान्ती आदर्श के जीवन्त मूर्तिमान उदाहरण थे। संयुक्त राज्य अमेरिका में उनका एक दूसरे ईसा मसीह के रूप में अभिनन्दन किया गया। उनके शिष्यों तथा प्रशंसकों का विश्वास था कि उन्होंने ज्ञानमुक्त का परम पद प्राप्त कर लिया था। वे निम्न प्रकृति के सभी प्रलोभनों से मुक्त हो चुके थे, और उनके शिष्यों की दृष्टि में वे भगवद्‌गीता में प्रतिपादित त्रिगुणातीत के आदर्श के मूर्त रूप थे। कहा जाता है कि वे माया के सभी प्रलोभनों और सीमाओं को पार कर चुके थे। वे वेदान्त में वर्णित ईश्वर-चेतना के अतिरेक की साक्षात मूर्ति थे। किन्तु गम्भीर साधुता के साथ-साथ रामतीर्थ में अपने देश के पुनरुद्धार की उत्कट और ज्वलन्त आकांक्षा थी। भारत लौटने पर उन्होंने उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में उपदेश दिया और कहा कि वेदान्त का मार्ग ही राष्ट्रीय मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। 1906 में दीपावली के दिन वे टेहरी के निकट गंगा में डूब गये, और इस प्रकार उनके जीवन का दुःखद अन्त हुआ।[70]

रामतीर्थ कवि, गणितज्ञ, रहस्यवादी, वेदान्ती और सन्देशवाहक थे। उन्हें गणित के आधार पर वेदान्त की प्रस्थापनाओं को सिद्ध करने में आनन्द आता था। विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति रामतीर्थ का भी मत था कि वेदान्त में दर्शन, धर्म तथा विज्ञान का समन्वय है, और उसके सिद्धान्तों को व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध किया जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की भाँति रामतीर्थ को भी प्रकृति से गहरा अनुराग था। उन्हें हिमालय के उतुंग शृंगों, गंगा की उफनती हुई उद्दाम धाराओं और उत्तर भारत के वनों एवं कुंजों की संगति में असीम आनन्द की अनुभूति होती थी। उनकी आत्मा राजनीति के कुचक्रों और जटिलताओं से अधिकाधिक दूर थी। राजनीति दर्शन के प्रश्नों जैसे विधि के सम्प्रदाय, राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त, प्रभुत्व के स्तर आदि से उनकी आत्मा नितान्त अपरिचित थी। उन्हें केवल एक ही वस्तु से प्रयोजन था—आध्यात्मिक सत्ता की प्रभूत वास्तविकता। फिर भी मैंने रामतीर्थ को आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में समाविष्ट कर लिया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम : यद्यपि रामतीर्थ राजनीतिक विचारक और कार्यकर्ता नहीं थे, फिर भी उनके हृदय में मातृभूमि के लिए उत्कट प्रेम तथा उत्साह था। अपनी सबसे प्रारम्भिक रचना 'अलिफ' में भी उन्होंने भारत को दास-मनोवृत्ति से स्वतन्त्र करने की बात कही है।[71] अमेरिका में प्रवास के दौरान भी उन्होंने अपने देशभक्ति के उद्‌गार व्यक्त किये और वहाँ उन्होंने 'भारतीयों की ओर से अमरीकियों से अपील'[72] शीर्षक एक पुस्तिका प्रकाशित की। स्वदेश लौटने पर भी वे देशभक्ति का यह सन्देश सर्वत्र सुनाते रहे।[73] दूसरे : एक समय था जब पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार की हिन्दीभाषी तरुण पीढ़ी के मन पर रामतीर्थ का गम्भीर प्रभाव था। 'नकद धर्म', 'ब्रह्मचर्य' आदि पर उनके व्याख्यानों ने तरुणों को बहुत प्रभावित किया। उनकी निःस्वार्थता, उनके असाधारण ज्ञान तथा चुम्बकीय आत्मबल ने विद्यार्थी वर्ग को बहुत प्रेरणा दी। उन्होंने देशभक्ति की अनेक उत्प्रेरित कविताएँ लिखीं। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है :

"ईश्वर हमारे प्राचीन भारत को आशीर्वाद दो,

---

70 स्वामी रामतीर्थ के जीवन की जानकारी के लिए रामतीर्थ पब्लीकेशन लीग द्वारा प्रकाशित निम्न ग्रन्थों का अवलोकन कीजिए : नारायण स्वामी, 'स्वामी रामतीर्थ महाराज का जीवन चरित्र,' पृष्ठ 652 ; ब्रजनाथ शर्मा, *Swami Ramtirtha : His Life and Legacy*, मार्च 1936, पृष्ठ 720; पूरनसिंह, *The Story of Swami Rama*, अप्रैल 1935, पृष्ठ 291।

71 पूरनसिंह, *The Story of Swami Rama*, पृष्ठ 225।

72 रामतीर्थ "An Appeal to the Americans on behalf of India," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 7, पृष्ठ 119-87।

73 रामतीर्थ ने धार्मिक दर्शन, विज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा औद्योगिक कलाओं के अध्ययन के लिए 'जीवन संस्था' नाम का एक संस्थान स्थापित करने का विचार किया था। देखिये *In Woods of God-Realization*, जिल्द 7, पृष्ठ 69। इससे स्पष्ट है कि देश की समकालीन सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति रामतीर्थ का दृष्टिकोण यथार्थवादी था।

प्राचीन भारत, एक समय का गौरवशाली भारत,
सागर द्वीपों से समुद्र तक,
कश्मीर से कन्याकुमारी तक,
सर्वत्र पूर्ण शान्ति का साम्राज्य हो,
ईश्वर हमारे भारत को आशीर्वाद दो।
उसकी सब आत्माएँ प्रेम-बन्धन में बँधें,
और वे अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करें
शाश्वत सत्य के ज्ञान से भर दो उन्हें,
और उनके पुण्य नित नूतन होकर चमकें,
देश तुम्हारे वरद हस्त की प्रार्थना करता है,
उसकी सुनो, एक बार पुनः
उसमें राष्ट्रीय भावना उँड़ेल दो
उसका यश सागर तट से सागर तट तक फैले,
ईश्वर एक बार शक्तिशाली भारत को आशीर्वाद दो।"

उस समय जब देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्यायों और अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष की अग्नि-परीक्षा में होकर गुजर रहा था, रामतीर्थ के जीवन की साधुता, पवित्रता, विद्वत्ता तथा वैराग्य ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी गहरी प्रेरणा दी। इसलिए यद्यपि रामतीर्थ ने सम्भवतः ऐसा कुछ नहीं लिखा है जिसे सही अर्थ में राजनीति दर्शन की कोटि में रखा जा सके, फिर भी भारतीय राष्ट्रवाद के नैतिक तथा सांस्कृतिक स्रोतों की विवेचना करते समय उनके सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

2. रामतीर्थ के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार

विवेकानन्द की भाँति रामतीर्थ भी अद्वैत सम्प्रदाय के वेदान्ती थे।[74] जबकि विवेकानन्द अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक आस्तिक भक्तिमार्गी हिन्दू धर्म के अनुष्ठानों और कर्मकाण्ड का पालन करते रहे, रामतीर्थ परम सत्य के ध्यान और चिन्तन में ही पूर्णतः मग्न रहते थे। उसके मन में सदैव आत्मा की गम्भीर, निश्चल, मौन शान्ति में डूबे रहने की उत्कट लालसा रहती थी। इसी स्थिति को उपनिषद में 'यतो वाचो निर्वतन्ते' कहा है। उनकी शिक्षाओं का प्रधान तत्व है मानव आत्मा तथा अनुभवातीत परब्रह्म की आध्यात्मिक एकता, और इसी को उन्होंने बार-बार दुहराया। उनके अनुसार वेदान्त दर्शन का उच्चतम सिद्धान्त है कि एक आदि आध्यात्मिक सत्ता ही एकमात्र सत् है। उनके विचार में वेदान्त न तो बर्कले और फिख्टे का आत्मगत प्रत्ययवाद है और न प्लेटो तथा कांट का वस्तुगत प्रत्ययवाद। रामतीर्थ ने हेगेल और शैलिंग के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का भी उल्लेख किया है। किन्तु हेगेल ने निरपेक्ष तत्व (सार्वभौम आत्मा) की बौद्धिक प्रकृति को महत्व दिया है, इसके विपरीत रामतीर्थ के अनुसार परम सत् संकल्प, चित् और आनन्द है।[75]

रामतीर्थ ने ह्यूम के संशयवाद का खण्डन किया; उनका विश्वास था कि मनुष्य अपने अन्तःकरण की निस्तब्धता में परम सत् का साक्षात्कार कर सकता है। वे यह भी मानते हैं कि मानव अहम् एक सार वस्तु है, उसका अस्तित्व है और उसका अन्तस्तम सार परम सत् है। परब्रह्म ही मनुष्य के हृदय में विराजमान है। इसलिए मानव कर्म को ईश्वरीय दिशा की ओर प्रेरित करता है। विवेकानन्द की भाँति रामतीर्थ ने भी सिखाया कि मनुष्य की आत्मा का स्वरूप दैवी है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसी आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिरूपण है, उसी की प्रतिकृति है।[76] उन्होंने सांसारिक

---

74 रामतीर्थ के दर्शन की जानकारी के लिए मैंने रामतीर्थ पब्लीकेशन लीग लखनऊ द्वारा प्रकाशित *In Woods of God-Realization or the Complete Works of Swami Ramtirtha*, का अवलोकन किया है। अब लीग अपना कार्यालय लखनऊ से उठाकर वाराणसी ले गया है।

75 "Idealism and Realism Reconciled," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 6, पृष्ठ 1-46।

76 रामतीर्थ स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का सूक्ष्म अमीबा से विकास हुआ है और उसमें देवत्व तक पहुँचने की क्षमता विद्यमान है। *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृष्ठ 53-76।

वासनाओं, प्रलोभनों और भोगों से चिपटे रहने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की। बुद्ध की भाँति रामतीर्थ का विश्वास था कि मोह अथवा तृष्णा ही संसार के सब दुःखों की जड़ हैं। इसलिए उन्होंने संन्यास (त्याग) को ही सर्वश्रेष्ठ माना।

एक वेदान्ती होने के नाते रामतीर्थ मानते हैं कि विश्व प्रतीति मात्र है; उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, उसका केवल आभास होता है। इसलिए उनका हार्दिक आग्रह था कि मनुष्य को सांसारिक भय तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध आचरण के द्वारा मनुष्य दैवी शक्ति उपलब्ध कर सकता है, और उसी को रूपान्तरित जीवन का आधार बनाया जा सकता है। शुद्धता ही दैवी ज्ञान का मार्ग है। कभी-कभी रामतीर्थ परमात्मा को 'राम' कहकर पुकारते थे; और 'राम' का अर्थ है विश्व में रमण करने वाली सत्ता। उन्होंने यह भी घोषणा की कि मेरा परम सत् के साथ तादात्म्य हो चुका है। रामतीर्थ को मनुष्य की आत्मा के ईश्वरत्व में अडिग आस्था थी, और उनका आत्म-विश्वास इतना अगाध था कि वे समझते थे कि मैंने उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियों को उपलब्ध कर लिया है। उनकी इस अतिरंजित आत्मपरकता ने उनके अनेक प्रशंसकों को अप्रसन्न कर दिया था, सिक्ख लेखक पूरनसिंह उनमें से एक थे।

ईश्वर-चेतना प्राप्त करने के लिए परम वैराग्य की आवश्यकता होती है। धर्म का आचरण वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी आत्मा सबल हो और जिसने इन्द्रियों के प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली हो। परमात्मा का दर्शन इन्द्रियों के सम्पूर्ण सुखों के परित्याग का ही फल है। मनुष्य को वाह्य व्यापार में अपनी शक्तियों का अपव्यय नहीं करना चाहिए। सम्पूर्ण शक्ति को मुक्ति के प्रयत्नों में केन्द्रित कर देना होगा। रामतीर्थ ने सर्वत्र लोगों को जागने, उठने तथा वास्तविक दैवी पवित्रता और शक्ति के रहस्य को पहचानने की प्रेरणा दी। उनका आग्रह था कि हमें अपने कर्म के सभी मुख्य प्रेरणा-स्रोतों को ईश्वर की लय में मिला देना चाहिए।

3. रामतीर्थ का सामाजिक दर्शन

(क) आधुनिक सभ्यता की आलोचना—रामतीर्थ की आत्मा सदैव सार्वभौम चेतना (पर-ब्रह्म) के लिए तड़पा करती थी। उनकी आत्मा संवेगात्मक तथा काव्यप्रधान थी। उन्हें हिमालय के एकान्त से प्रेम था। वे सदैव संन्यासी रहे। इसलिए वे आधुनिक सभ्यता के आलोचक थे। उन्हें आधुनिक सभ्यता में तीन मुख्य दोष दिखायी देते थे।[77] वे कहा करते थे कि कृत्रिमता आधुनिक युग का सबसे बड़ा अभिशाप है। वर्तमान सभ्यता में जनता को प्रसन्न करने तथा भीड़ का सम्मानपात्र बनने पर अधिक बल दिया जाता है। वाह्य नाम और रूप का अधिक आश्रय लिया जाता है। आध्यात्मिक विधि के प्रभुत्वसम्मत प्रताप की उपेक्षा की जाती है; बहुसंख्यक लोग दूसरों की राय की कृपा पर जीते हैं तथा तड़क-भड़क और कृत्रिमता की मोहिनी में फँसे रहते हैं। अपनी 'सभ्यता' शीर्षक कविता में रामतीर्थ ने लिखा है:

> "तुम दासों की रुचि को तुष्ट करने, फैशन के दासों और
> सम्मानित धूर्तों को प्रसन्न करने के लिए कुकर्म करते हो-।
> तुम अनुकरण पर आधारित रूढ़ियों का पालन करते हो
> और परम्पराओं तथा कृत्रिम रूपों के पीछे दौड़ते हो।"[78]

रामतीर्थ के अनुसार आधुनिक सभ्यता की दूसरी दुर्बलता धनलोलुपता है।[79] सम्पत्ति की लालसा के वशीभूत होकर लोग दिन-रात इधर-उधर दौड़ते हैं। अतः रामतीर्थ लिखते हैं:

> "तुम्हारे व्यापारिक स्वार्थों ने तुम्हारे प्रेम पर विजय पा ली है,
> सांसारिक धन-वैभव ईश्वरत्व पर आक्रमण कर रहा है,
> तुम न हँसने के लिए स्वतन्त्र हो, न रोने के लिए,
> न प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र हो और न सोने के लिए।"[80]

---

77 "Civilization", *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृष्ठ 124-34।
78 स्वामी रामतीर्थ की "To Civilization" शीर्षक कविता।
79 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृष्ठ 127-36।
80 रामतीर्थ की कविता "To the So-called Civilized."

आधुनिक सभ्यता में धन की लालसा का ही सर्वत्र शासन है; उसी के बाधाकारी आदेश से लोग इधर-उधर नाचते फिरते हैं; लोग स्वयं अपनी सम्पत्ति के दास बन गये हैं। विक्रय वस्तुओं की उन्मादपूर्ण आकांक्षा ने जीवन के काव्य तथा संगीत के आनन्द को लगभग बहिष्कृत कर दिया है, और जीवन नीरस उलझनों और तनावों का प्रदर्शनमात्र बन गया है। इसलिए रामतीर्थ सोचते थे कि अब 'चिन्ता और लगाव' की मृत्यु की घण्टी बजना आवश्यक है, क्योंकि "अनुचित धन तुम्हें दुःखी बनाता है।"

आधुनिक सभ्यता की तीसरी दुर्बलता जनता में फैली हुई मानसिक बीमारियाँ हैं। आज के सभी राष्ट्र ईर्ष्या और भय से ग्रस्त हैं। रामतीर्थ का आग्रह है कि मनुष्य को अपनी सब व्यर्थ की आदतें छोड़ देनी चाहिए। उनका हार्दिक अनुरोध है कि आधुनिक सभ्यता में मिताचार और समझदारी का समावेश किया जाय। भौतिकवादी अन्धविश्वासों और वाणिज्यवादी आदर्शों की पूजा का अन्त तभी हो सकता है जब जीवन को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ा जाय। आत्मा की सर्वशक्तिमान ज्योति ही पीड़ा, ईर्ष्या, दौर्बल्य, मृत्यु तथा अहंकार के सर्वव्यापी साम्राज्य का अन्त कर सकती है।

(ख) राजनीतिक शक्ति के स्रोत के रूप में धर्म का महत्व—रामतीर्थ की आत्मा में प्राचीन भारत के गौरव और महानता को पुनर्जीवित करने की आकांक्षा व्याप्त थी। वे कहा करते थे कि जब प्राचीन भारतीय अपना जीवन प्रेम, आत्मोत्सर्ग और निर्भीकता आदि वेदान्ती आदर्शों के अनुकूल व्यतीत करते थे तब देश स्वतन्त्र था। मिस्री, असुर और मीड आदि जातियाँ भारतीय सीमाओं पर अधिकार इसलिए नहीं कर पायीं कि उस युग में भारतीय अपना जीवन वास्तविक धर्म के अनुसार बिताते थे। देश के राजनीतिक अधःपतन का मुख्य कारण यह था कि लोगों ने भ्रातृत्व, सहयोग, मैत्री आदि सच्चे धार्मिक आदर्शों की उपेक्षा कर दी थी। अपने एक अत्यन्त ओजस्वी भाषण में रामतीर्थ ने कहा था : "एक समय था जब फिनीशी लोग बड़े शक्तिशाली थे किन्तु वे भारत पर आक्रमण करने और उसको जीतने में असफल रहे, मिस्री भी उत्कर्ष के शिखर पर थे किन्तु वे भी भारत को अपने अधीन न कर सके। एक समय ईरान भी सर्वशक्तिमान था किन्तु उसका भारत की ओर शत्रुतापूर्ण दृष्टि से देखने का भी साहस नहीं हुआ। रोमन लोगों का झण्डा लगभग सम्पूर्ण विश्व में फहराता था और उस समय तक विदित समस्त पृथ्वी पर उनका आधिपत्य था। किन्तु रोमन सम्राटों को भारत को अपने अधीन करने का साहस नहीं हुआ। यूनानियों का जब उत्कर्ष हुआ तो वे शताब्दियों तक भारत पर कुदृष्टि नहीं डाल सके। फिर सिकन्दर नाम का एक व्यक्ति हुआ जिसे गलती से सिकन्दर महान कहा जाता है, भारत आने से पहले उसने, जितना जगत उसे ज्ञात था, उस सबको विजय कर लिया था। उस शक्तिशाली सिकन्दर को ईरानियों की सम्पूर्ण सेना मिल गयी थी और मिस्र की सेनाएँ भी उसके पक्ष में थीं। वही सिकन्दर भारत में प्रवेश करता है और पौरुष नाम के छोटे-से भारतीय राजा से उसकी मुठभेड़ हो जाती है और यह भयभीत हो जाता है। इस भारतीय राजा ने सिकन्दर महान को नीचा दिखा दिया, और उसकी सब सेनाओं को वापस लौटना पड़ा। सभी सेनाएँ परास्त हुईं और सिकन्दर महान पीछे लौटने पर बाध्य हुआ। यह सब कैसे हुआ ? उन दिनों भारत की जनता में वेदान्त का प्रचार था। क्या तुम्हें इसका प्रमाण चाहिए ? यदि प्रमाण चाहते हो तो उस समय के यूनानी भारत का जो विवरण छोड़ गये हैं उसे पढ़ो, उस समय के सिकन्दर के साथी यूनानियों ने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसे इतिहास में पढ़ो। उस सबसे तुम्हें पता लग जायगा कि उस समय जनता में व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार था और देश शक्तिशाली था। सिकन्दर महान को वापस जाना पड़ा था। फिर एक समय आया जब महमूद गजनवी नामक एक साधारण लुटेरे ने सत्रह बार भारत को लूटा, सत्रह बार वह भारत से, जितना धन मिल सका, लूटकर ले गया। उन दिनों की जनता का विवरण पढ़ो, तुम्हें पता लगेगा कि जनता का धर्म वेदान्त से बिलकुल उलटा था। वेदान्त का प्रचार था, किन्तु केवल कुछ चुने हुए लोगों में। जनता ने उसका परित्याग कर दिया था, और इसीलिए भारत का अधःपतन हुआ।"[81]

---

81 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 6, पृष्ठ 87-89।

रामतीर्थ का कहना था कि भारत का पतन धर्म के कारण नहीं, वल्कि सद्धर्म के अभाव के कारण हुआ था। इसीलिए उन्होंने वेदान्त की भावना को पुनर्जीवित करने का उत्साह के साथ समर्थन किया। उनकी इच्छा थी कि वेदान्त को राष्ट्रीय जीवन का आधार वनाया जाय। उनके विचार में व्यक्तियों तथा समूहों दोनों की सफलता सात आधारभूत सिद्धान्तों का अनुगमन करने पर निर्भर होती है : निर्भयता, उद्यम, आत्म-त्याग, आत्म-विस्मरण, सार्वभौम प्रेम, प्रसन्नता और आत्मविश्वास।[82]

(ग) **जनसंख्या की समस्या का नैतिक हल**—रामतीर्थ इस अर्थ में आर्थिक यथार्थवादी और समाज-सुधारक थे कि वे देश की वढ़ती हुई जनसंख्या से चिन्तित थे। उन्होंने जनसंख्या की समस्या का नैतिक हल प्रस्तुत किया। उन्होंने भारत के तरुणों को सलाह दी कि यदि देश को सर्वनाश से वचाना है तो ब्रह्मचर्य का पालन करो। देश की उदीयमान पीढ़ियों को रामतीर्थ ने इन शब्दों में कड़ककर ललकारा : "शुद्धता ! शुद्धता ! तुम्हें वाध्य होकर शुद्धता प्राप्त करनी है।" उनका कहना था कि यदि देश के लोगों ने श्रेष्ठ आदर्शों का अनुसरण न किया और नेक सलाह न मानी तो प्रकृति के नियम निश्चय ही अपना काम करेंगे और देश का नाश अनिवार्य हो जायगा। रामतीर्थ ने वड़े आवेश से कहा कि यदि भारतवासी अपने जीवन में महान नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का पालन नहीं करते तो प्रकृति क्रुद्ध होकर उनका सर्वनाश कर देगी।[83] इस प्रकार रामतीर्थ ने वेदान्त के आध्यात्मिक प्रत्ययवाद की इस ढंग से व्याख्या की कि वह देश के लिए प्राणदायिनी शक्ति का सन्देश वन गया। उनका आग्रह था कि तमोगुण की सभी शक्तियों और उनसे उत्पन्न वाधाओं पर विजय प्राप्त की जाय, और प्रमाद, निष्क्रियता तथा आलस्य का तत्काल परित्याग किया जाय। उनका विश्वास था कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही देश अपनी पुरातन महत्ता और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने दृढ़ता के साथ घोषणा की कि यदि प्राचीन वैदिक और औपनिपदिक आर्यो के आदर्शों की रक्षा करनी है, यदि मनुष्य को पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य स्थापित करना है अर्थात यदि नैतिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों का नैतिक आधार तैयार करना है, तो व्यक्तिगत शुद्धता तथा स्वच्छता से कार्य प्रारम्भ करना होगा। ईश्वर-चेतना के आकांक्षियों को आचरण के उच्चतम स्तर पर पहुँच कर सभी निम्न तथा पाशविक वासनाओं, इच्छाओं तथा अहंकार का परित्याग करना होगा। स्पष्ट है कि रामतीर्थ का यह उच्च सन्देश थोड़े-से व्यक्तियों के लिए ही था। देश की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के हल के लिए उन्होंने आत्मसंयम का अधिक नरम मार्ग निर्धारित किया। उन्होंने कहा कि देश के सीमित साधनों को देखते हुए आवश्यक है कि खाने वालों की संख्या कम की जाय। समाज तथा राष्ट्र के उत्थान के लिए व्यक्तियों की शक्ति का परिरक्षण करना होगा। रामतीर्थ का विश्वास था कि जो लोग भीष्म तथा शंकर का गौरवगान करते हैं वे अपने को अनियन्त्रित सन्तानोत्पत्ति से उत्पन्न अनिवार्य सर्वनाश से वचाने के लिए स्वेच्छा से अपने ऊपर संयम का अंकुश लगाने में समर्थ होंगे। उन्होंने लिखा है : "एक समय था जव भारत के आर्य उपनिवेशियों के लिए अधिक सन्तान एक वरदान थी। किन्तु वे दिन अव चले गये हैं, परिस्थितियाँ एकदम विपरीत हो गयी हैं, और अव जनसंख्या देश के साधनों को देखते हुए कहीं अधिक वढ़ गयी है। अतः वड़ा परिवार अभिशाप वन गया है। हमें देश से उस घातक आदर्श का उन्मूलन कर देना चाहिए जो इतने दीर्घ काल से हमें सिखाता आया है : 'विवाह करो, अज्ञानपूर्वक अन्धाधुन्ध अपनी संख्या वढ़ाते जाओ, दासता में जीवन् विताओ और उसी में मरो।·····' नवयुवको, इस सवको वन्द करो। भारत के भविष्य के लिए उत्तरदायी तरुणो, इसे वन्द करो। मैं नैतिकता के नाम पर, भारत के नाम पर, तुम्हारे लिए और तुम्हारे वंशजों के लिए प्रार्थना करता हूँ कि इन अज्ञानतापूर्ण विवाहों को वन्द करो। इससे जनता का चरित्र शुद्ध होगा, और जनसंख्या की समस्या भी कुछ सीमा तक हल होगी।"[84] रामतीर्थ ने सिखाया कि भारत के नवयुवकों को वेदान्त के उन आदर्शों के आधार

---

82 रामतीर्थ का व्याख्यान "The Secret of Success" पूरनसिंह द्वारा *The Story of Swami Rama* में पृष्ठ 123-30 पर उद्धृत।

83 रामतीर्थ, "The Problem of India," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 7, पृष्ठ 28-37।

84 वही, पृष्ठ 32-34। रामतीर्थ का कहना था कि रोम तथा यूनान के पतन के मूल में जनसंख्या की ही समस्या थी। वही, पृष्ठ 29।

पर अपने चरित्र का निर्माण करना चाहिए जो शुद्धता तथा शक्ति का उपदेश देते हैं। उन्होंने चेतावना दी कि यदि भारत के युवक संयम का जीवन बिताने के लिए तैयार नहीं हैं तो उन्हें अनिवार्य विनाश का सामना करना पड़ेगा। शुद्धता व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय शक्ति का आधार है। यदि शुद्ध जीवन से प्राप्त पौरुष का परिरक्षण किया जाय तो विश्व जो भी बाधाएँ हमारे मार्ग में प्रस्तुत करता है वे सब चकनाचूर हो जायेंगी। ब्रह्मचर्य के पालन से ही पुरुषत्व के विकास के लिए आवश्यक चरित्र का निर्माण हो सकता है।

सामाजिक स्तर पर रामतीर्थ का वेदान्त निष्क्रियता का सन्देश नहीं था, बल्कि देश तथा ईश्वर की सेवा के लिए निष्काम कर्म का उपदेश था। रामतीर्थ ने अनुभव किया कि हम अपने जीवन में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट करके ही देश को निराशा तथा भ्रान्ति के दलदल से बचा सकते हैं।

4. रामतीर्थ का राजनीति दर्शन

(क) गतिशील आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त—1893 में दादाभाई नौरोजी, जो उस वर्ष भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के अध्यक्ष थे, लाहौर गये। उनके आगमन के उपलक्ष में नगर में भव्य उत्सव मनाये गये। उस समय रामतीर्थ विद्यार्थी थे, उन्हें उन उत्सवों को स्वयं देखने का अवसर मिला था। किन्तु वे अपने अध्ययन में इतने मग्न थे कि उन पर तमाशों और समारोहों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा : "25 दिसम्बर, 1893। आज ब्रिटिश संसद के सदस्य दादाभाई नौरोजी 3 बजे की गाड़ी से आये। नगर निवासियों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। लोगों में असीम उत्साह था। कांग्रेस वालों ने तो मानो उन्हें ब्रह्मा और विष्णु का पद दे दिया था। नगर में विभिन्न स्थानों पर सुनहरी मेहराबें बनायी गयी थीं। जुलूस में हजारों लोग सम्मिलित हैं। वे सब बड़े प्रसन्न हैं; उनकी प्रसन्नता उमड़ी पड़ रही है। किन्तु मुझ पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। यह सब हर्षोल्लास किसलिए ? मैं अपनी इस मनःस्थिति के लिए ईश्वर का आभारी हूँ।"[85] वे 1893 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए किन्तु वक्ताओं के आलंकारिक भाषणों का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने लिखा है : "मैं केवल कांग्रेस में आये हुए वक्ताओं और व्याख्यानदाताओं के भाषण सुनने के लिए गया था जिससे उनकी वक्तृत्व कला के सम्बन्ध में स्वयं अपनी राय बना सकूँ। उस दिन मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि मैं जनता की भाँति दादाभाई का स्वागत करने के खोखले आनन्द में नहीं बह गया, और आज मैं कहता हूँ कि काँग्रेसी वक्ताओं के आलंकारिक भाषणों से मुझे कोई आनन्द अथवा प्रेरणा नहीं मिली; वे सब खोखले हैं।"[86] किन्तु इस सबसे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि रामतीर्थ में देशभक्ति का उत्साह नहीं था। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन्हें तड़क-भड़क, दिखावे और उत्सवों में आनन्द नहीं आता था। विद्यार्थी तथा अध्यापक के रूप में वे कठिन तथा सतत परिश्रम में विश्वास करते थे। उनमें देशभक्ति की भावना थी, यह निश्चित है। 21 अक्टूबर, 1895 को उन्होंने सियालकोट से अपने एक पत्र में लिखा था : "मैंने देशभक्ति पर भी भाषण दिया।"[87]

जिन दिनों रामतीर्थ अमेरिका में (1902-1904) उपदेश कर रहे थे उन्हीं दिनों तिलक के राजनीतिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ भारतीयों ने उनसे भारत के लिए कुछ करने का आग्रह किया।[88] उनमें से एक महाशय वी. जी. जोशी थे जो सैन फ्रांसिसको में रामतीर्थ के सचिव के रूप में कार्य कर रहे थे किन्तु रामतीर्थ ने तिलक सम्प्रदाय का कभी सक्रिय समर्थन नहीं किया। फिर भी स्वदेश लौटने पर वे देश के नैतिक पुनरुत्थान की कार्यप्रणाली पर सामान्य तौर पर प्रवचन करते रहे। एक अवसर पर उन्होंने कहा : "राम योग की गम्भीर समाधि में लीन हो गया था, और उसी निर्विकल्प समाधि की अवस्था में संकल्प उत्पन्न हुआ : 'भारत स्वतन्त्र हो—भारत स्वतन्त्र

---

85 पूरनसिंह की पुस्तक *The story of Swami Rama* में पृष्ठ 69-70 पर उद्धृत।
86 वही, पृष्ठ 70।
87 वही, पृष्ठ 74।
88 देखिये रामतीर्थ की *"An Appeal to Americans," God-Realization,* जिल्द 7, पृष्ट 127।

होगा।' सभी राजनीतिक कार्यकर्ता राम के उपकरणों के रूप में काम करेंगे, वे मेरे हाथ तथा पाँव हैं। राम उन सबके पीछे है।"[89]

रामतीर्थ शुद्ध राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे। एक बार अपने प्रेरणा के क्षणों में उन्होंने लिखा था : "भारतभूमि मेरा शरीर है। कन्याकुमारी मेरे पैर हैं और हिमालय मेरा सिर। मेरे केशों में से गंगा बहती है, और मेरा सिर ब्रह्मपुत्र तथा सिन्धु का उद्गम है। विन्ध्याचल की शृंखलाएँ मेरी कटि की मेखला है। चोलमण्डल मेरी बायीं और मलाबार मेरी दायीं टाँग है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ, पूर्व तथा पश्चिम मेरी भुजाएँ हैं, और मैं उन्हें मानवता का आलिंगन करने के लिए सीधी रेखा में पसारे हुए हूँ। मेरा प्रेम सार्वभौम है। हा! हा! यह है मेरे शरीर की मुद्रा। वह खड़ा हुआ अनन्त अन्तरिक्ष में टकटकी लगाये देख रहा है; किन्तु मेरी अन्तरात्मा सबकी आत्मा है। जब मैं चलता हूँ तो मुझे लगता है कि भारत चल रहा है। जब मैं बोलता हूँ तो मुझे लगता है कि भारत बोल रहा है। जब मैं निःश्वास लेता हूँ तो मुझे लगता है कि भारत निःश्वास ले रहा है। मैं भारत हूँ। मैं शंकर हूँ। मैं शिव हूँ। देशभक्ति की यही उच्चतम अनुभूति है, और यही व्यावहारिक वेदान्त है।"[90] उनका राष्ट्रवाद राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों पर आधारित नहीं था; देश के सभी निवासियों के साथ आध्यात्मिक एकता की भावना ही उसका आधार थी। वेदान्ती तत्वज्ञान की भावना से प्रेरित होकर एक बार उन्होंने कहा था : "सम्पूर्ण भारत उसके प्रत्येक पुत्र में पिण्डीभूत है।"[91] उनके विचार में भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए धार्मिक पंथों की संकुचित करने वाली संकीर्णता और कट्टरता का अन्त करना अति आवश्यक था, उन्होंने परम्परावाद की भर्त्सना की और सद्धर्म के फलने-फूलने की कामना की। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में विवेकानन्द की भाँति उनका भी दृष्टिकोण धार्मिक था। उनका विश्वास था कि व्यावहारिक वेदान्त दृढ़ तथा जीवनदायक राष्ट्रीय शक्ति का आधार बन सकता है। वे कहा करते थे कि सच्ची, वास्तविक आध्यात्मिकता ही वेदान्त का सार है, और केवल उसी के सहारे भारत एक राष्ट्र के रूप में समृद्ध हो सकता है। रामतीर्थ ने झूठे पन्थों, थोथे मतवादों और औपचारिक अनुष्ठानों का खण्डन किया और वेदान्त के सच्चे धर्म का समर्थन किया। उनके विचार में धर्म की प्रभावशाली सामाजिक शक्ति के द्वारा ही भारत की जनता का उत्थान हो सकता था। उनकी दृष्टि में उस समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस प्रचण्ड सामाजिक शक्ति के प्रति पर्याप्त ध्यान नहीं दे रही थी। उन्होंने लिखा : "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अथवा सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार का उद्देश्य लेकर चलने वाली अन्य कोई संस्था जनता को इसलिए प्रभावित नहीं कर सकती, इसलिए उसकी आत्मा को प्रेरित नहीं कर सकती कि वह उस जनता के पास धर्म के मार्ग से ही नहीं पहुँचती। ऐसी स्थिति में देश में सब प्रकार का सुधार लाने का वेदान्त की शिक्षाओं से अधिक प्रभावकारी अन्य कोई तरीका नहीं हो सकता। कारण यह है कि वेदान्त में राजनीतिक, पारिवारिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्वतन्त्रता और प्रेम का समावेश है, उसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता और शान्ति, शक्ति तथा धैर्य, शूरत्व तथा प्रेम का सामंजस्य है; और यह सब कुछ धर्म के नाम पर।"[92]

रामतीर्थ राष्ट्रीयता की क्रियाशील भावना के पक्षपोषक थे।[93] उनका कहना था कि राष्ट्रीयता की क्रियाशील भावना को उत्पन्न करने का अभिप्राय है कि भारत माता के साथ संवेगात्मक आदान-प्रदान किया जाय, और भारत माता का अर्थ है देश के वे अगणित निवासी जो विभिन्न पन्थों और धर्मों के अनुयायी हैं। अपनी एक कविता में उन्होंने भारतवासियों से भावुकतापूर्ण अपील की है :

"चाहे हमें सूखे टुकड़े खाने पड़ें,
हम भारत के लिए अपना बलिदान कर देंगे।

---

89 पूरनसिंह की पुस्तक *The Story of Swami Rama* में पृ. 269 पर उद्धृत।
90 रामतीर्थ, "The Future of India," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 2, पृ. 60।
91 वही, पृ. 12।
92 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 7, पृ. 162।
93 वही, पृ. 12।

चाहे हमें भुने चने चबाने पड़ें,
हम भारत के गौरव की रक्षा करेंगे।
चाहे हमें जीवन भर नग्न रहना पड़े,
हम भारत के लिए अपने प्राण दे देंगे।
हम फाँसी के फन्दे का आलिंगन करेंगे, किन्तु हम
(भारत की उन्नति के मार्ग के) काँटों को जलाकर भस्म कर देंगे।
चाहे हमें हर द्वार पर दुतकार खानी पड़े,
हम आनन्द को हृदय में स्थान देंगे।
चाहे हमें सब सांसारिक बन्धन तोड़ने पड़ें,
हम अपने हृदयों का एक आत्मा से तादात्म्य कर देंगे,
तुम सदैव इन्द्रिय-विषयों से विमुख रहेंगे,
हम सब पाप का नाश कर देंगे।

रामतीर्थ भारत माता की आराध्य देवी के रूप में स्तुति किया करते थे। उन्हें उसकी सभी विभूतियों से प्रेम था। वे चाहते थे कि दरिद्र, भूखे हिन्दुस्तानी, हिन्दू को नारायण का साक्षात जीवित रूप समझा जाय।[94] वे दरिद्रों को पवित्र दैवी विभूति मानते थे। उनकी इच्छा थी कि भारतीय "जातियों के कठोर नियमों को शिथिल करें" और उग्र वर्ग-भेदों को राष्ट्रीय भ्रातृ-भावना के अधीन कर दें।[95] उनका विचार था कि राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता की भावना को जाग्रत करने के लिए स्त्रियों, बालकों तथा श्रमिकों को शिक्षित करना आवश्यक है। राष्ट्रवाद की माँग है कि "जनता में प्रेम और एकता उत्पन्न हो।"[96] रामतीर्थ ने श्रमिक वर्गों की शिक्षा को महत्व दिया, इससे उनके राजनीतिक यथार्थवाद का परिचय मिलता है।[97] इसके अतिरिक्त वे जीवित देशी भाषाओं की एकता[98] तथा राष्ट्रीय त्योहारों[99] की एकता के भी समर्थक थे।

रामतीर्थ ने समाज के पिछड़े हुए तथा दलित वर्गों के उद्धार की आवश्यकता की ओर भी देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने 'श्रम के अभिजाततन्त्र' के आदर्श का प्रतिपादन किया।[100] उनका विचार था कि सम्पूर्ण शारीरिक श्रम को एक ही वर्ग अर्थात शूद्रों पर छोड़ देना, जैसा कि देश में होता आया था, अव्यावहारिक था। प्रत्येक व्यक्ति को अहंकारमूलक स्वार्थ का परित्याग करने की भावना की वृद्धि करनी चाहिए, किन्तु साथ ही साथ शारीरिक परिश्रम का अभ्यास डालना भी आवश्यक है। अतः रामतीर्थ का उपदेश था : "संन्यास की भावना का परिग्रह के हाथों से संयोग किया जाना चाहिए।"[101]

(ख) **राष्ट्रवाद से सार्वभौमवाद की ओर**—महान देशभक्त होने पर भी रामतीर्थ महान सार्वभौमवादी थे। वे किसी एक देश अथवा पंथ से बँधकर रहने के लिए तैयार नहीं थे। उनका दावा था कि मैं केवल भारतीय अथवा हिन्दू नहीं हूँ, मैं अमरीकी और ईसाई भी हूँ। केवल आत्मा ही सत्य है, अतः मानवकृत सभी अन्तर तथा भेदभाव महत्वहीन हैं। इस उच्च अनुभवातीत आत्मा की दृष्टि से हर व्यक्ति वही आध्यात्मिक सत्ता है। वेदान्त के तत्वज्ञान तथा आध्यात्मिक सर्वव्यापकता के आधार पर रामतीर्थ ने मानव-भ्रातृत्व का सन्देश दिया। उन्होंने कहा : "संसार में जितना कष्ट है, विश्व में जितना दुःख और वेदना है, उस सबका एकमात्र कारण यह है कि तुमने मानव-बन्धुत्व के अपितु प्रत्येक की और सबकी एकता के इस सबसे पवित्र धर्म, सबसे पवित्र सत्य, धर्मों

---

94 वही, पृ. 12।
95 वही, पृ. 13।
96 पूरनसिंह द्वारा *The Story of Swami Rama* में पृ. 239 पर उद्धृत।
97 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृ. 159।
98 वही, पृ. 110।
99 वही, पृ. 109।
100 वही, पृ. 19।
101 वही।

के धर्म का उल्लंघन करने का प्रयत्न किया है।"[102] किन्तु रामतीर्थ का विश्वास था कि मानव-बन्धुत्व के लिए आवश्यक है कि उससे पहले राष्ट्र का विकास हो। राष्ट्रीय एकता ईश्वर के साथ सार्वभौम एकमा की दिशा में पहला कदम है। अतः रामतीर्थ ने कहा : "मनुष्य को ईश्वर के साथ अपनी एकता की अनुभूति तब तक नहीं हो सकती जब तक सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ एकता की भावना उसकी रग-रग में स्पन्दित नहीं होने लगती।"[103]

(ग) स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवाद का सिद्धान्त—रामतीर्थ स्वतन्त्रता के उग्र प्रेमी थे। उन्होंने तात्विक तथा समाजशास्त्रीय दोनों ही स्तरों पर स्वतन्त्रता का समर्थन किया। तात्विक दृष्टिकोण से आत्मा स्वतन्त्र है, "वह स्वयं स्वतन्त्रता है।"[104] उन्होंने कहा : "वेदान्त का अर्थ है स्वतन्त्रता, स्वाधीनता।" वे स्वतन्त्रता को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार तथा उसकी आन्तरिक प्रकृति मानते थे। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है :

"मेरी दृष्टि में हर कोई स्वतन्त्र है।
मुझे बन्धन, सीमा अथवा दोष नहीं दिखायी देता।
मैं तथा अन्य सब स्वतन्त्र हैं।
मैं तुम और वह सब ईश्वर हैं।"[105]

एक बार रामतीर्थ ने हेगेल के शब्दों में स्वतन्त्रता की परिभाषा की। उन्होंने कहा : "आवश्यकता की सही अनुभूति ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।"[106] स्वतन्त्रता का अर्थ शाश्वत दैवी नियमों की क्रियान्विति से मुक्ति नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य सीमित स्थानीय अहं के भोग-विलास में मौज उड़ाये। इसके विपरीत उसका अभिप्राय है सार्वभौम आत्मा के नियमों तथा आदर्शों का पालन करना। इसलिए रामतीर्थ ने बतलाया कि स्वतन्त्रता तथा आवश्यकता में अन्तर्विरोध नहीं है। आत्मा के नियमों अथवा ईश्वरीय विधान को स्वेच्छा से स्वीकार करना ही स्वाधीनता है।

रामतीर्थ की इच्छा थी कि वेदान्त की शिक्षाओं को ठोस व्यावहारिक रूप दिया जाय। वेदान्त को अनुभवातीत विषयों तक ही सीमित रखना उचित नहीं है। पार्थिव जगत में वेदान्त को कार्यान्वित करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों को विश्व भर में लागू किया जाय। इसलिए रामतीर्थ लिखते हैं : "भौतिक स्तर पर वेदान्त का अर्थ है पूर्ण लोकतन्त्र, समता, बाह्य सत्ता के भार को उतार फेंकना, संग्रह की मिथ्या भावना का परित्याग, सब विशेषाधिकारों को फेंक देना, श्रेष्ठता के घमण्ड का बहिष्कार करना और हीनताजन्य संकोच से छुटकारा पाना।"[107]

समाजशास्त्रीय स्तर पर रामतीर्थ 'चिन्तन की स्वतन्त्रता' तथा 'कार्य की स्वतन्त्रता' के समर्थक थे।[108] उन्होंने कहा : "प्रत्येक व्यक्ति को समान स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जिससे वह समाज में अपने अनुरूप स्थिति प्राप्त कर सके।" स्वतन्त्रता के समर्थक होने के नाते रामतीर्थ का अनुभव था कि किसी पंथ, मतवाद अथवा पैगम्बर के प्रति भक्ति से स्वतन्त्रता का, जो कि आत्मा का सार है, ह्रास होता है। उन्होंने घोषणा की : "पहले के पैगम्बरों की भाँति राम न तुम्हें दास बनायगा और न तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा।"[109] पश्चिमी जगत में कुछ समय तक धर्म तथा विज्ञान के बीच अधर्म युद्ध चला था। रामतीर्थ ने उस पर खेद प्रकट किया। वे कहा करते थे कि यूरोप में ईसाइयत का नहीं बल्कि चर्चियत का आधिपत्य है।[110]

---

102 स्वामी रामतीर्थ, "The Brotherhood of Man," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 4, पृ. 290।
103 स्वामी रामतीर्थ, "National Dharma," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 7, पृ. 12।
104 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 6 (1942 संस्करण) पृ. 71।
105 रामतीर्थ की "Transcendentalism" शीर्षक कविता।
106 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृ. 164।
107 स्वामी रामतीर्थ, "Forest Talks No. 11," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृ. 136-37।
108 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 6, पृ. 70।
109 वही, पृ. 72।
110 वही, पृ. 78।

रामतीर्थ इस पक्ष में थे कि मतों की सत्यता की जाँच के लिए बुद्धि की कसौटी से काम लेना चाहिए। उनका कहना था कि सत्य का आधार उसकी अपनी शक्ति है, वह बहुसंख्यकों की स्वीकृति पर निर्भर नहीं होता। जॉन स्टुअर्ट मिल की भाँति रामतीर्थ ने भी बतलाया कि "बहुमत सत्य का प्रमाण नहीं होता।"[111]

रामतीर्थ एक महान वेदान्ती थे, किन्तु वे पुराने धर्मशास्त्रों के मतवादों से नहीं बँधे थे। उन्होंने वेदान्त के विषय में शंकर तक को अन्तिम प्रमाण स्वीकार नहीं किया। उनका आग्रह था कि स्वतन्त्र तथा मुक्त चिन्तन की सत्ता की पुनः स्थापना की जाय।[112] संस्कृत विद्या के पाण्डित्य प्रदर्शन से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। उस समय भारतीयों में संस्कृत शास्त्रों की हर बात की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति पायी जाती थी। रामतीर्थ ने इस प्रवृत्ति का मखौल उड़ाया और स्वतंत्र चिन्तन का समर्थन किया।[113]

वेदान्ती होने के नाते रामतीर्थ व्यक्तिवादी थे। वे चाहते थे कि सभी लोगों को आत्मा की स्वतन्त्र चेतना की अनुभूति हो। इसलिए उन्होंने कहा : "सम्पूर्ण समाज, सब राष्ट्रों तथा अन्य प्रत्येक वस्तु के आक्रमण से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करो।"[114] वे इस बात से सहमत थे कि वेदान्त तथा समाजवाद दोनों ही सम्पत्ति के मोह का परित्याग करने का उपदेश देते हैं। उनका विचार था कि समाजवाद के समता, भ्रातृत्व और प्रेम के आदर्शों को ठोस आधार प्रदान करने के लिए वेदान्त की आत्मा अथवा सार्वभौम एकत्व की धारणा की स्वीकृति आवश्यक है। इसीलिए उन्होंने अपने वेदान्त-समाजवाद के दर्शन का निरूपण किया।[115] किन्तु साथ ही साथ वे सदैव आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के साक्षात्कार की आवश्यकता पर बल देते रहे। उनका कथन है : "सर्वप्रथम जहाँ तक समाजवाद नाम का सम्बन्ध है, मैं उसे व्यक्तिवाद कहना ही पसन्द करता हूँ। 'समाजवाद' शब्द समाज के प्रभुत्व के विचार को प्रधानता देता है, किन्तु राम के मत में सत्य की सही भावना यह है कि सम्पूर्ण विश्व के मुकाबले में व्यक्ति को सर्वोच्चता प्रदान की जाय।"[116]

(घ) ईश्वरीय विधान का सिद्धान्त—रामतीर्थ का विश्वास था कि विश्व एक नैतिक और आध्यात्मिक शासन (एतस्य का अक्षरस्य प्रशासने) के अधीन है। वे यह भी मानते थे कि नैतिक तथा आध्यात्मिक नियम अटल तथा निष्ठुर रूप से कार्य करते हैं, उनमें उच्चकोटि की अमोघता पायी जाती है अर्थात उन्हें कोई निष्फल नहीं कर सकता। इसलिए जो भी व्यक्ति, समूह अथवा राष्ट्र उनका उल्लंघन करता है वह विनाश को प्राप्त होता है। कोई भी एकता के आध्यात्मिक नियम का सहज अतिक्रमण नहीं कर सकता। सरकार भी इस दैवी नियम से बँधी हुई है। रामतीर्थ लिखते हैं : "वे सरकारें भी अपने विनाश का मार्ग तैयार करती हैं जिनके तथाकथित कानून त्रिशूल के दैवी नियम के अनुकूल नहीं होते। शाइलॉक की भाँति व्यक्तिगत अधिकारों का गीत गाना, इसको अथवा उसको अपना समझना, परिग्रह की भावना का अनुभव करना, यह कहना कि कानून ने मुझे यह दिया है—इस सब से उस सच्चे ईश्वरीय कानून का उल्लंघन होता है जिसके अनुसार मनुष्य का एकमात्र हक (अधिकार) हक (ईश्वर) है, और शेष प्रत्येक वस्तु अनुचित है। यदि अन्य कोई इस नियम को स्वीकार नहीं करता तो कम से कम संन्यासी को तो इसे अपने जीवन में उतारना ही चाहिए।"[117]

---

111 वही।
112 *In Woods of God-Realization*, जिल्द 5, पृष्ठ 87-89।
113 रामतीर्थ, "The Present Needs of India," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 7, पृ. 3-5।
114 पूरणसिंह द्वारा *The Story of Rama* में पृ. 237 पर उद्धृत।
115 स्वामी रामतीर्थ, "Vedanta and Socialism," *In Woods of God-Realization*, जिल्द 6, पृ. 137।
116 वही, पृ. 167।
117 स्वामी रामतीर्थ "The Law of Life Eternal," *In Woods of God-Realization*, (वही संस्करण) जिल्द 3, पृ. 15।

5. निष्कर्ष

स्वामी रामतीर्थ वेदान्त के महान शिक्षक तथा ऋषि थे। यद्यपि वे राजनीति दर्शन की पारिभाषिक पदावली में प्रशिक्षित नहीं थे, किन्तु पश्चिम तथा पूर्व के दार्शनिक साहित्य पर, विशेषकर प्रत्ययवादी सम्प्रदाय के साहित्य पर, उनका अच्छा अधिकार था। उनका विचार था कि यदि वेदान्ती प्रत्ययवाद का सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से निर्वचन किया जाय तो उसका अर्थ होता है कि मनुष्य अपने संकुचित अहं की तुच्छ इच्छाओं तथा भोगों में लिप्त होने की प्रवृत्ति का दमन करें और उत्तरोत्तर सार्वभौम चेतना (ब्रह्म) की ओर उठता जाय। रामतीर्थ ने राष्ट्रवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह भी सार्वभौम-चेतना (ब्रह्म) की ओर प्रगति की एक अवस्था है। उन्होंने भारत माता की सक्रिय आराधना करने का उपदेश दिया और बतलाया कि उसकी आराधना का एकमात्र साधन उसकी सभी सन्तानों की पवित्रता का साक्षात्कार है। रामतीर्थ की यह धारणा कि राष्ट्रवाद देशवासियों के साथ तादात्म्य की सक्रिय भावना है, राजनीतिक चिन्तन में एक उल्लेखनीय और अद्‌भुत योगदान है। राष्ट्रवाद का सोलहवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में उदय हुआ था। उस समय अपने देश के व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से इटली के पोप के मुकाबले में अपने राजा का गौरवगान करना ही राष्ट्रवाद का सार था। केवल फ्रांसीसी क्रान्ति के समय से राष्ट्रवाद में लोकतंत्र का पुट दिया जाने लगा है। लेकिन उसके बाद भी उसका रूप अमूर्त तथा अवैयक्तिक ही बना रहा। किन्तु रामतीर्थ की दृष्टि में देशवासियों के प्रति हार्दिक प्रेम का पंथ ही सच्चा राष्ट्रवाद है। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीयता की सक्रिय धारणा का समर्थन किया। पश्चिम के सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य में इस धारणा के समानान्तर विचार कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि रामतीर्थ ने अपने इस प्रत्यय की सविस्तार व्याख्या नहीं की है, किन्तु यह कथन ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह वेदान्त की उस व्याख्या से कोसों दूर है जो ब्रह्माण्ड की वास्तविकता को अस्वीकार करती तथा माया के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। रामतीर्थ का सक्रिय आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का आदर्श अधिक व्यापक सार्वभौम बन्धुत्व के आदर्श का समर्थक है, न कि उसका विरोधी।

भारत लोकतन्त्र तथा सामाजिक-आर्थिक न्याय के महान आदर्श के मार्ग पर चल पड़ा है। इन आदर्शों को वास्तविक रूप देने के लिए आवश्यक है कि जनता नैतिक उत्साह से अनुप्राणित हो। नैतिक पुनर्जागरण के बिना देशवासियों की राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति असम्भव है। देश के ऐतिहासिक विकास की इस महत्वपूर्ण तथा संकटापन्न अवस्था में रामतीर्थ के उपदेश तथा भावना राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हो सकते हैं। उनसे युवकों के चरित्र तथा नैतिक भावना को बल मिल सकता है। वे स्वतन्त्रता, समता, न्याय तथा निर्भीकता की मान्यताओं को शक्ति प्रदान कर सकते हैं। अतः स्वामी रामतीर्थ की 'इन वुड्स आव गॉड-रिएलाइजेशन' पुस्तक के आठ खण्डों में संग्रहीत रचनाएँ औपचारिक एवं पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक न होते हुए भी नैतिकता-उन्मुख लोकतांत्रिक राजनीति दर्शन का आधार बन सकती हैं।

भारतीय मितवादी तथा अतिवादी

7

दादाभाई नौरोजी

1. प्रस्तावना

'भारत के महावृद्ध' नाम से विख्यात दादाभाई नौरोजी (1824-1927) भारतीय राष्ट्रवाद के एक अग्रणी जनक थे। उनका जन्म 4 सितम्बर, 1825 को हुआ था और 30 जून, 1917 को उनकी इहलीला समाप्त हुई। उन्होंने अपने जीवन में विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त किये थे। उन पर 'दासता उन्मूलन' आन्दोलन के अग्रगन्ता विलबरफोर्स, टॉमस क्लार्कसन तथा जैकेरी मैकॉले का प्रभाव पड़ा था। 1853 में उन्होंने कुछ अन्य सदस्यों के सहयोग से बम्बई संघ (बौम्बे एसोशियेशन) की स्थापना की। 1854 में वे एल्फिस्टन कॉलिज बम्बई में गणित तथा प्राकृतिक दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1867 में उन्होंने तथा उनके कुछ मित्रों ने मिलकर लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोशियेशन की स्थापना की और 1869 में उसकी बम्बई शाखा की नींव डाली। 1873 में दादाभाई ने भारतीय वित्त की फॉसिट प्रवर समिति के समक्ष साक्ष्य दिया। 1874 में उन्होंने बड़ौदा के दीवान पद पर काम किया।[1] 1875 में वे बम्बई नगर महापालिका के सदस्य बने। 1885 में उन्हें बम्बई प्रान्तीय विधान परिषद का सदस्य नामांकित किया गया। अपने महान अध्यवसाय तथा लगन के फलस्वरूप 1892 में वे भारत के पक्ष का प्रतिनिधित्व करने के लिए केन्द्रीय फिन्सबरी निर्वाचन-क्षेत्र से ब्रिटिश लोक सभा (हाउस ऑव कॉमन्स) के सदस्य चुने गये। वे 1892 से 1895 तक ब्रिटिश संसद के सदस्य रहे। इंगलैण्ड में अपने दीर्घ प्रवास के दौरान उन्होंने ग्लैड्स्टन, ब्रैडलॉ, ब्राइट और ड्यूक आर्गिल से सार्थक मैत्री स्थापित की। दादाभाई तथा चार्ल्स ब्रैडलॉ के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप लोक सभा में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें सिफारिश की गयी कि सभी प्रकार की साम्राज्यीय सेवाओं के लिए इंगलैण्ड तथा भारत में साथ-साथ परीक्षाएँ ली जायँ। 1897 में दादाभाई भारतीय व्यय के वैल्बी आयोग के समक्ष उपस्थित हुए और आयोग को अनेक टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि 1857 के विद्रोह को दबाने का व्यय तथा अबीसीनिया के अभियान और चितराल सहित सीमान्त युद्धों का सम्पूर्ण व्यय भारत के मत्थे मढ़ दिया गया था। उन्होंने अविचल लगन तथा महान साहस के साथ लगभग साठ वर्ष तक भारतमाता के पुनरुद्धार के लिए अथक प्रयत्न किया। सभी वर्गों के भारतीयों ने उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और उनका आदर किया। वे आत्मत्याग की मूर्ति थे और फारसी धर्म के श्रेष्ठतम आदर्शों के प्रतिनिधि थे। उन्हें भारतीय अर्थतन्त्र तथा वित्त का अद्वितीय ज्ञान था। उनकी रचनाएँ प्रसादगुण, तथ्यों की अधिकारपूर्ण विवेचना और वस्तुगत बौद्धिक दृष्टिकोण से युक्त हैं। दादाभाई ने स्कूल के अध्यापक, प्रोफेसर, व्यवसायी, प्रशासक, ब्रिटिश संसद के सदस्य और तीन बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति के रूप में देश की सेवा की। जीवन के इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने कष्टसहन, आत्मत्याग, अनुरागपूर्ण देशभक्ति और निष्कलंक ईमानदारी का गौरवपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया। वे सचमुच भारतीय राष्ट्रवाद के पथ-अन्वेषक थे।

---

1 आर. पी. मसानी, *Dadabhai Naoroji : The Grand Old Man of India*, महात्मा गांधी द्वारा लिखित प्राक्कथन सहित (जॉर्ज एलैन एण्ड कं., 1939)।

दादाभाई का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में प्रमुख स्थान था। वे तीन बार काँग्रेस के सभापति चुने गये, 1886 में कलकत्ता में, 1893 में लाहौर में और 1906 में कलकत्ता में। 1906 में कलकत्ता के अधिवेशन में उन्होंने अध्यक्षीय आसन से घोषणा की कि भारत के राजनीतिक प्रयत्नों का उद्देश्य 'स्वराज' है। स्पष्ट है कि उनके विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया था और वे उदारवाद से उग्रवाद की ओर बढ़ गये थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की न्यायप्रियता और ईमानदारी के सम्बन्ध में उन्हें प्रारम्भ में जो कुछ भ्रम था वह दूर हो गया था और वे अतिवाद की ओर झुकने लगे थे।

भारत के सार्वजनिक जीवन में दादाभाई का लगभग आधी शताब्दी तक विशिष्ट स्थान था। वे भारत में पाश्चात्य शिक्षा की एक सर्वश्रेष्ठ उपज थे। अनेक क्षेत्रों में वे मौलिक विचारक तथा पथ-अन्वेषक थे। यद्यपि सामाजिक तथा आर्थिक दर्शन के क्षेत्र में उनका अध्ययन गम्भीर नहीं था और न उनमें बैंथम, एडम स्मिथ अथवा टी. एच. ग्रीन की-सी मौलिकता थी, किन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उस समय तक भारत में उत्पादन, सम्पत्ति, पूँजी, राष्ट्रीय आय, राजनीतिक दायित्व आदि समस्याओं के सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन का नितान्त अभाव था। उस समय के भारत के सन्दर्भ में दादाभाई ने आर्थिक दर्शन पर अपनी 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' नामक प्रामाणिक पुस्तक लिखकर निर्भीक सैद्धान्तिक सूझबूझ का परिचय दिया। इस पुस्तक में दादाभाई के तीस वर्ष से भी अधिक काल के भाषणों, वक्तव्यों और पत्रों का संग्रह है। यद्यपि इसमें पुनरावृत्ति बहुत है और सम्पूर्ण विषयवस्तु को एक सूत्र में पिरोने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्था का अभाव है, फिर भी उसमें ऐसे व्यक्ति की सत्यनिष्ठा झलकती है जिसने भारत के आर्थिक उद्धार के लिए दीर्घकाल तक अडिग और अथक कार्य करके सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।

2. दादाभाई नौरोजी का आर्थिक दर्शन

दादाभाई ने भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के सिद्धान्त का निर्माण किया।[2] उन्होंने बतलाया कि भारतीय अर्थतन्त्र भारी 'निर्गम' (देश के धन का बाहर जाना) का शिकार है। भारत के आर्थिक साधनों के निर्गम के परिणामस्वरूप जनता का भयंकर और विशाल पैमाने पर शोषण हो रहा है। देश का निरन्तर बढ़ता हुआ शोषण हृदय-विदारक दृश्य है। इस प्रकार दादाभाई ने भारतीयों की देश की भयंकर दरिद्रता के प्रति आँखें खोल दीं। उन्होंने देशवासियों को आर्थिक निर्गम, दुर्भिक्षों, महामारियों और भुखमरी के विनाशकारी परिणामों के प्रति सचेत कर दिया। दादाभाई का 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' जिसमें उन्होंने 'निर्गम' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, भारतीय अर्थशास्त्र तथा भारतीय राष्ट्रवाद के क्षेत्र में एक श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है। भारतीय वित्त की समस्याओं के सम्बन्ध में सांख्यिकी की पद्धतियों को लागू करने के मामले में दादाभाई ने पथ-अन्वेषक का काम किया। उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। उन्हें ऐसे विचारों और आलंकारिक कल्पनाओं में रुचि नहीं थी जिनका स्थूल जगत से कोई सम्बन्ध न हो और न उन्हें सामान्यीकरणों से ही प्रेम था; वे सदैव ब्योरों, तथ्यों और आँकड़ों के भूखे रहते थे। उन्होंने भारत के आर्थिक विनाश को परिकल्पना और अनुमान के आधार पर प्रकट करने का प्रयत्न नहीं किया, उन्होंने अपनी प्रस्थापनाओं को ठोस तथ्यों पर आधारित किया। इस प्रकार वे आनुभविक पद्धति का अनुसरण करने वाले अर्थशास्त्री थे, न कि कल्पनाशील तत्वज्ञानी। उन्होंने भारत की अन्य व्यावहारिक राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के विवेचन में भी वस्तुगत प्रणाली का प्रयोग किया।

दादाभाई ने ब्रिटिश शासकों की 'अप्राकृतिक' वित्तीय तथा आर्थिक नीति पर खेद प्रकट किया। उन्होंने अंग्रेजों की नीति को अप्राकृतिक इसलिए बतलाया कि उन्होने देश पर सार्वजनिक ऋण का भारी बोझ लाद रखा था, और यह बोझ वास्तव में विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा थोपा गया

---

2 दादाभाई नौरोजी, *Poverty and Un-British Rule in India* (लन्दन, 1901); दादाभाई नौरोजी, *Speeches and Writings* (जी. ए. नटेसन एण्ड कं., मद्रास, 1917); दादाभाई नौरोजी, *Essays, Speeches, Addresses and Writings*, सी. एल. पारिख द्वारा सम्पादित (कैक्सटन प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई, 1887)।

राजनीतिक बोझ था। अंग्रेजों ने भारत के शासन के लिए इंगलैण्ड तथा भारत दोनों ही स्थानों में एक भारी-भरकम प्रशासकीय ढाँचे का निर्माण किया था, इस ढाँचे का व्यय भी भारत पर एक भारी आर्थिक बोझ था। इस प्रकार देशवासी अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा जीविका के साधनों से वंचित कर दिये गये थे। दादाभाई ने बतलाया कि देश के जीवन-रक्त को ही सुखा देने वाली यह सतत प्रक्रिया अत्यन्त दुःखदायी और हृदय-विदारक दृश्य है। इसलिए देश की आर्थिक समृद्धि के अभिवर्धन का एकमात्र मार्ग यह है कि देश के साधनों के इस विनाशकारी निर्गम को रोका जाय। दादाभाई ने लिखा: "जब तक इस घातक निर्गम को समुचित रूप से नहीं रोका जाता और भारतवासियों को अपने देश में पुनः अपने प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग नहीं करने दिया जाता तब तक इस देश के भौतिक उद्धार की कोई आशा नहीं है।"[3] राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धान्त की दृष्टि से यह आश्चर्य की बात है कि दादाभाई ने आर्थिक क्षेत्र में भारतीयों के प्राकृतिक अधिकारों की पुनः स्थापना की माँग की। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो समस्या नागरिक शासन (सिविल गवर्नमेंट) में लॉक के सामने और स्वाधीनता की घोषणा में जैफर्सन के सामने थी उसी समस्या से दादाभाई चिन्तित थे। उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में भारत के राजनीतिक तथा आर्थिक साहित्य में प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के उल्लेख से यह बात सिद्ध होती है कि यद्यपि यूरोप में ह्यूम, वाइको और बैंथम ने इस धारणा की कटु आलोचना बल्कि भर्त्सना की थी, फिर भी भारत में उसे मान्य समझा जाता था।

उस समय के अंग्रेज अर्थशास्त्री प्रायः यह तर्क दिया करते थे कि आर्थिक आवश्यकता के लौह नियम मुख्यतः भारत के धन के निर्गम तथा तज्जनित दरिद्रता के लिए जिम्मेदार हैं। दादाभाई ने इस तर्क का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि इस देश के धन का निर्गम आर्थिक नियमों के प्राकृतिक रूप से कार्य करने के कारण नहीं होता, बल्कि उन नियमों में जानबूझकर हस्तक्षेप करने के कारण होता है। उन्होंने लिखा: "प्रायः जनसंख्यातिरेक का घिसा-पिटा तर्क किया जाता है। वे कहते हैं, और इतना सच कहते हैं कि ब्रिटेन द्वारा स्थापित शान्ति से जनसंख्या में वृद्धि हुई है, किन्तु ब्रिटेन द्वारा देश के धन की लूट से जो विनाश हुआ है उसे वे भूल जाते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक नियम निर्दयतापूर्वक कार्य करते हैं, किन्तु वे भूल गये कि भारत में आर्थिक नियमों का प्राकृतिक परिचालन नाम की कोई वस्तु नहीं है। भारत का विनाश आर्थिक नियमों के निर्दयतापूर्वक कार्य करने के कारण नहीं हो रहा है। उसके विनाश का मुख्य कारण ब्रिटिश की क्रूर तथा विचारशून्य नीति है। भारत के साधनों का भारत में ही निर्दयतापूर्वक अपव्यय किया जाता है और इसके अतिरिक्त उन साधनों को निर्दयतापूर्वक लूटखसोटकर इंगलैण्ड ले जाया जाता है। संक्षेप में, भारत का रक्त चूसा जा रहा है और इस प्रकार आर्थिक नियमों को निर्दयतापूर्वक विकृत किया जा रहा है। वस्तुतः ये सब चीजें ही देश के विनाश के लिए उत्तरदायी हैं। जब दोष आपका है तो बेचारी प्रकृति के सिर दोष क्यों मढ़ते हैं? प्राकृतिक तथा आर्थिक नियमों को पूर्णरूप से तथा न्यायपूर्वक कार्य करने दीजिए, तो भारत दूसरा इंगलैण्ड बन जायगा और तब इंगलैण्ड को स्वयं आज से कई गुना लाभ होगा।"[4]

दादाभाई नौरोजी ने अपनी 'निर्गम' की थीसिस को सिद्ध करने के लिए आँकड़े जुटाये और उस विषय पर प्रमुख लेखकों और विचारकों की रचनाओं से अनेक उद्धरण दिये। उनका कहना था कि सुदूर इंगलैण्ड से भारत का शासन बहुत ख़र्चीला पड़ रहा है और उसके परिणामस्वरूप देश की बहुत अवनति हुई है। आर्थिक साधनों के निर्गम के कारण देश में पूँजी का संचय नहीं हो पाता, और देश की दरिद्रता निरन्तर बढ़ती जा रही है।[5] भारत इसलिए गरीब हो रहा है कि प्रतिवर्ष तीन-चार करोड़ पौंड की संख्या में उसका रक्त चूसा जा रहा है। अपने 'निर्गम' सिद्धान्त में दादाभाई ने भारी रकम का उल्लेख किया जो विभिन्न रूपों में देश के बाहर जा रही थी:

---

3 दादाभाई नौरोजी का स्मृतिपत्र, "The Moral Poverty of India and Native Thoughts on the Present British Indian Policy," *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 203।

4 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 16।

5 दादाभाई नौरोजी की गणना के अनुसार 19वीं शताब्दी के छठवें और सातवें दशकों में ब्रिटिश भारत में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 20 रु. थी।

(1) ब्रिटिश अधिकारियों की पेंशनें।
(2) भारत में ब्रिटिश फौजों के खर्च के लिए इंगलैण्ड के युद्ध विभाग को भुगतान।
(3) भारत सरकार का इंगलैण्ड में व्यय।
(4) भारत में स्थित ब्रिटिश व्यावसायिक वर्गों द्वारा अपनी कमाई में से स्वदेश भेजी गयी रकमें।

दादाभाई ने लिखा : "इस 'निर्गम' में दो रकमें सम्मिलित हैं : प्रथम, यूरोपीय अधिकारियों की बचत की रकम जिसे वे इंगलैण्ड भेजते हैं, और उनकी इंगलैण्ड तथा भारत में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इंगलैण्ड में व्यय की जाने वाली रकम, पेंशनें तथा वेतन जिनका इंगलैण्ड में भुगतान किया जाता है; और इंग्लैण्ड तथा भारत में सरकारी खर्च ; और दूसरी, गैर-सरकारी यूरोपीय लोगों द्वारा भेजी गयीं इसी प्रकार की रकमें। चूँकि इस 'निर्गम' के कारण भारत में पूँजी का संचय नहीं हो पाता, इसलिए जिस धन को अंग्रेज लोग यहाँ से खसोटकर ले जाते हैं उसे पूंजी के रूप में भारत में वापस ले आते हैं और इस प्रकार व्यापार तथा प्रमुख उद्योगों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। और इसके द्वारा वे भारत का और अधिक शोषण करते तथा और अधिक धन देश से बाहर ले जाते हैं। अन्त में, सरकारी तौर पर धन का निर्गम ही सारी बुराइयों की जड़ है।"[6] वित्तीय दृष्टि से यह निर्गम एक विनाशकारी प्रक्रिया थी। देश दरिद्र हो रहा था क्योंकि उसके क्षीण आर्थिक साधनों पर उस विदेशी नौकरशाही का भारी खर्च लाद दिया गया था, जिसे विलासिता तथा तड़क-मड़क के जीवन की आदत पड़ गयी थी। इस निर्गम की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही देश पर करों का भारी बोझ लाद दिया गया था, और जनता पर ऐसी अर्थनीति थोप दी गयी थी जिसके कारण वैदेशिक व्यापार देशवासियों के हितों के प्रतिकूल पड़ता था। इस निर्गम ने अन्तर्विरोध की भयंकर स्थिति उत्पन्न कर दी थी—देश में धन और साधन विद्यमान थे, और उसी के साथ-साथ जनता आर्थिक दृष्टि से घोर दारिद्र में फँसी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्गम लगभग तीस लाख पौंड का था, किन्तु बाद में वही बढ़कर तीन करोड़ पौंड तक पहुँच गया था। इसके कारण जनता की बचाने की शक्ति लगभग पूर्णत: नष्ट हो गयी थी। यदि आर्थिक प्रक्रिया सामान्यतौर पर चलती रहती तो धन देश में बना रहता और उससे पूँजी का संचय होता। किन्तु निर्गम ने लाभ और बचत का पूँजीकरण करना असम्भव कर दिया था।

आर्थिक निर्गम के अतिरिक्त दादाभाई ने 'नैतिक निर्गम' का भी उल्लेख किया। देश में अंग्रेज अधिकारियों को नौकरी देने का अर्थ यह था कि उतनी ही संख्या में भारतीय लोग नौकरियों से वंचित रह जाते थे, इसके अतिरिक्त वे न धन बचा सकते थे और न उसे पूंजी के रूप में प्रयुक्त कर सकते थे। अंग्रेज समझते थे कि भारत तो एक अधीन देश है और हमारे द्वारा शासित होने के लिए है। वे इसे अपना घर भी नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए वे अपने सेवा काल में जो प्रशासकीय तथा व्यावसायिक अनुभव अर्जित कर लेते थे वह भी उनके जाने के साथ-साथ देश से चला जाता था। दादाभाई ने लिखा : "भारतीयों को डिप्टी-कलक्टर, अतिरिक्त कमिश्नर अथवा इंजीनियरिंग और चिकित्सा विभागों में इन्हीं स्तरों के अधीनस्थ पदों से ऊँची नौकरियाँ नहीं दी जातीं। परिणाम यह होता है कि जब राजनीति, प्रशासन, विधान, अथवा वैज्ञानिक तथा शिक्षित व्यवसायों का अनुभव रखने वाले अधिकारी अपने पदों से निवृत्त होकर चले जाते हैं तो उनके साथ तत्सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव भी इंगलैण्ड को चला जाता है।"[7] यह अनुभव का चला जाना एक प्रकार का नैतिक निर्गम था। अंग्रेजों से पहले के आक्रमणकारियों के शासन में देश नैतिक निर्गम का शिकार नहीं था। देश में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था और जो अनुभव अर्जित किया जाता था वह देश में ही बना रहता था। किन्तु अंग्रेजों की आर्थिक तथा नैतिक निर्गम की विनाशकारी नीति से देश का जीवन-

---

6 *Poverty and Un-British Rule in India.* सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भी विचार था कि इंगलैण्ड में भारत से गृह खर्च (home charges) के नाम पर जो धन जाता है उसके तथा व्यापारिक निर्गम के कारण देश की गरीबी में वृद्धि हुई। *Speeches and Writings of Surendra Nath Banerjee* (जी. ए. नटेसन एण्ड कं., मद्रास) पृ. 297।

7 वही, पृ. 56-57।

रक्त ही निचुड़कर जा रहा था और सार्वजनिक ऋण निरन्तर बढ़ रहा था। अंग्रेजों से पहले के शासक 'कसाइयों' के सदृश थे जो अनियमित रूप से जहाँ-तहाँ से माँस काट लेते थे, किन्तु अंग्रेज अपनी यांत्रिक क्षमता के बल पर तेज चाकू से देश के हृदय को काटकर ले जा रहे थे।[8] और यह विचित्र विरोधाभास था कि देश आर्थिक विनाश की इस प्रक्रिया को सभ्यता, प्रगति आदि की आकर्षक पदावली से विभूषित करके प्रस्तुत किया जा रहा था।

दादाभाई ने बतलाया कि इंगलैण्ड की साम्राज्यवादी शोषण की नीति से देश आर्थिक विनाश की निरन्तर, बल्कि लगभग चिरस्थायी प्रक्रिया का शिकार बना हुआ था। पहले के आक्रमणकारी आये थे और देश को लूटकर चले गये थे। किन्तु दादाभाई के अनुसार ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत देश के आर्थिक साधनों का जो विनाशकारी निर्गम हो रहा था उसने इंगलैण्ड को भारत के इतिहास का सबसे बुरा आक्रमणकारी सिद्ध कर दिया था, चाहे अंग्रेज जाति का इस प्रकार का इरादा भले ही न रहा हो।[9] दादाभाई ने सिद्ध किया कि इंगलैण्ड प्रतिवर्ष 3,00,00,000 पौंड अथवा 4,00,00,000 पौंड के हिसाब से भारत के साधनों की लूट कर रहा था।[10] भारत को जीवनदायी भौतिक साधनों से वंचित किया जा रहा था और उसे विवश होकर सब स्वीकार करना पड़ रहा था, यह स्थिति सचमुच ही बड़ी शोचनीय थी। आर्थिक निर्गम ने देश की उत्पादन क्षमता को नष्ट कर दिया था, और डर था कि इस आर्थिक लूट के भविष्य में भी शोचनीय परिणाम होंगे तथा देश कुचल कर मृत्यु के मुँह में चला जायगा।

पूँजी के संचय की एक दूषित प्रवृत्ति होती है। संचित पूँजी सुरसा के मुँह की भाँति फैलने लगती है। इंगलैण्ड की नीति केवल भारत की पूँजी की लूट करना ही नहीं थी, बल्कि उसने ऐसी नीति आरम्भ की जिससे उस पूँजी को देश से और अधिक धन निचोड़ने के लिए संयुक्त किया जा सके। शोषण की इस जटिल प्रक्रिया के फलस्वरूप देश का आर्थिक सर्वनाश अनिवार्य था। दादाभाई ने चेतावनी दी : "भारत के ऊपर एक नया संकट मँडरा रहा है। अभी तक भारत की भूमि के ऊपर की सम्पत्ति का इंगलैण्ड को निर्गम हुआ है; अब भूमि के नीचे की सम्पत्ति का भी अपहरण होने वाला है, और देश भूमिसात हो गया है और अपनी सहायता करने में असमर्थ है। इंगलैण्ड उसकी पूँजी छीन ले गया है। अब उसी पूँजी को देश में फिर वापस लाया जायगा ताकि उसकी सहायता से देश की उस समस्त खनिज सम्पत्ति की लूट की जा सके जिसके दोहन के लिए भारी पूँजी तथा बहुमूल्य मशीनरी की आवश्यकता होती है। भारतवासियों को केवल निम्नकोटि के शारीरिक और मानसिक मजदूरों के रूप में नौकर रख लिया जायगा। उपज का बड़ा अंश यूरोपीय लोग पहले वेतन के रूप में खा जायँगे और फिर लाभ और लाभांश के रूप में स्वदेश ले जायँगे। और भारत को अपने ग्रहों का आभारी होना पड़ेगा कि उसकी सन्तानों को नीची नौकरियों के रूप में कुछ टुकड़े मिल गये। और फिर भारत की सम्पत्ति का और भारत को बख्शी गयी नियामतों का जोर-जोर से ढोल पीटा जायगा, जैसा कि अभी रेलपथों तथा वैदेशिक व्यापार की नियामतों का नीरस गीत हमें दिन-रात सुनाया जा रहा है।"[11] अतः दादाभाई देश की पूँजी तथा साधनों के क्रूरतापूर्ण निर्गम के विरोधी थे। इस प्रकार से देश का खून चूसना न्याय की मान्यताओं तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। वह क्रूरतापूर्ण, कुचल देने वाला तथा मूर्खतापूर्ण था।

दादाभाई भारत के साधनों का विकास करने के लिए इंगलैण्ड की पूँजी का स्वागत करने के लिए तैयार थे, किन्तु उनका अनुरोध था कि भारतवासियों को इस बात में सहायता दी जाय कि वे देश के साधनों का विकास करने के लिए अपने को योग्य बना सकें। उन्होंने मैकॉले के इस विचार का समर्थन किया कि भारत को ब्रिटेन का अच्छा ग्राहक बनने में सहायता दी जाय, न कि उसे गुलाम बनाकर रखा जाय। उन्होंने लिखा है : "जब तक हर काम को यूरोपवासियों के द्वारा कराने की विनाशकारी नीति में परिवर्तन नहीं होता और जब तक देश में जान नहीं आ जाती तथा वह उद्योग

---

8 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 211।
9 वही, पृ. 225।
10 वही, पृ. 224।
11 वही, पृ. 227-28।

के मुक्त क्षेत्र में अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य नहीं हो जाता तब तक कुछ समय के लिए यह आवश्यक है कि देश के साधनों के विकास के लिए जरूरी जिन उद्योगों को भारत स्वयं नहीं चला सकता उन्हें राज्य अपने हाथों में ले ले। किन्तु शर्त यह है कि काम देशी लोगों के द्वारा ही कराया जाय और उसके लिए उन्हें प्रशिक्षित किया जाय। तब देश के जीवन में हर ओर से रक्त-संचार होने लगेगा। इसमें सन्देह नहीं कि भारत को ब्रिटिश पूंजी की आवश्यकता है। किन्तु उसे केवल ब्रिटिश पूँजी चाहिए। वह यह नहीं चाहता कि अंग्रेज उसकी पूँजी तथा उत्पादन को हड़पने के लिए देश पर आक्रमण करें।"[12]

भारत के शोषण के भयावह दृश्य को देखकर दादाभाई को दुःख होता था—भारत के उन करोड़ों निवासियों के लिए जो नमक कर, भारी लगान तथा विनाशकारी दुर्भिक्षों से पीड़ित थे, जिनका जीवन भयंकर बीमारियों, अल्पाहार अथवा भुखमरी का जीवन था। करोड़ों लोग हद दर्जे की आर्थिक बर्बादी के शिकार थे। अफीम का व्यापार तो एक बड़े राष्ट्र को विष देने के सदृश था। प्लेटो ने कहा था कि अल्पतंत्रीय नगर (नगर राज्य) एक नगर नहीं होता, वहाँ एक में दो नगर होते हैं—एक धनिकों का नगर और दूसरा दरिद्रों का नगर। दादाभाई ने भी ऐसी ही बात कही। उनका कहना था कि भारत दो हैं—एक थोड़े से धनिकों तथा शोषकों का भारत, और दूसरा करोड़ों शोषितों का भारत।[13] उन्होंने अनुरोध किया कि इंगलैण्ड को चाहिए कि भारत के दरिद्र होने की इस प्रक्रिया को निरन्तर जारी न रहने दे। भारत के अतुल धन की कहानी निराधार थी, एक भ्रममात्र थी। वस्तु स्थिति यह थी कि देश धीरे-धीरे दरिद्रता के नरक में डूबा जा रहा था। एक ओर वह जर्जरित करने वाली दरिद्रता का शिकार था और दूसरी ओर उस पर खर्चीले असैनिक तथा सैनिक प्रशासन का बोझ लाद दिया गया था। दादाभाई ने लिखा : "मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि कोई ऐसा न्याय-संगत मार्ग अपनाया जाय जिससे दोनों देशों के बीच सम्बन्ध दृढ़ हो सकें और उस सम्बन्ध से दोनों को ही लाभ हो और वह दोनों के लिए वरदान सिद्ध हो। जो सम्बन्ध दोनों देशों के लिए महत्वपूर्ण तथा लाभदायक बनाया जा सकता है उसे बिना सोचे-समझे मूर्खतापूर्वक छिन्न-भिन्न तथा नष्ट किया जा रहा है। अपने पुराने वक्तव्यों में मैंने यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है। इंगलैण्ड और भारत के सम्बन्ध दोनों देशों के लिए वरदान हैं अथवा अभिशाप, इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि 1833 के अधिनियम और 1858 की घोषणा का सम्मानपूर्वक तथा सच्चाई के साथ पालन किया जाता है अथवा उनका पालन न करके निर्लज्जता का परिचय दिया जाता है। 'न्यायोचित आचरण से ही किसी राष्ट्र का उत्थान हो सकता है'; 'अन्याय बलवान से बलवान को अधःपतन के खड्ड में गिरा देता है'।"[14]

3. दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक विचार

राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार के सिद्धान्त को उदारवाद के सभी भारतीय समर्थकों ने स्वीकार किया है। न्याय, उदारता और मानवता ही ऐसे सुनहरी बन्धन हैं जो राजनीतिक व्यवस्था की एकता को कायम रख सकते हैं। कोई राजनीतिक व्यवस्था दीर्घजीवी तभी हो सकती है जब उसके नागरिकों में इच्छा तथा आकांक्षाओं का तादात्म्य हो। दादाभाई लिखते हैं : "आप एक साम्राज्य का निर्माण अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा अथवा नाशवान पाशविक भौतिक शक्ति के बल पर कर सकते हैं, किन्तु उसका परिरक्षण केवल शाश्वत नैतिक शक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। पाशविक बल कभी न कभी छिन्न-भिन्न हो जायगा; केवल धर्म शाश्वत है।"[15] हृदय, अनुभूति और भावनाओं की एकता ही राजनीतिक शक्ति का वास्तविक आधार है। शक्ति को सत्ता का आधार मानना एक साधारण और घिसापिटा दृष्टिकोण है, किन्तु गहराई से जाँच करने पर इस प्रकार की धारणा का खोखलापन प्रकट हो जाता है। दादाभाई ने लिखा है : "यदि वे यह समझते हैं कि

12 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 229।
13 वही, पृ. 384।
14 वही, पृ. 465।
15 दादाभाई नौरोजी का 1893 की लाहौर कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण।

उनके असैनिक अधिकारियों अथवा ब्रिटेन की जनता की सुरक्षा का भारतवासियों के सन्तोष के बजाय कोई अन्य साधन हो सकता है तो वे अपने को धोखा दे रहे हैं। उनका सैन्य बल कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, भारत में उनके शासन की सुरक्षा पूर्णतः भारतवासियों के सन्तोष पर ही निर्भर है। पाशविक बल से एक साम्राज्य का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु पाशविक बल उसका परिरक्षण नहीं कर सकता, केवल नैतिक बल, न्याय तथा धर्म उसकी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं।"[16] अतः यह आवश्यक है कि अस्त्र-शस्त्रों की अपेक्षा शुभ संकल्प और पारस्परिक विश्वास को राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया जाय। किन्तु यदि इंगलैण्ड ने उत्तेजना की नीति का अनुसरण किया तो वह अनिवार्यतः साम्राज्य के विघटन का कारण सिद्ध होगी।[17]

दादाभाई अपने विचारों में इतने सच्चे और निष्कपट थे कि उन्होंने स्वीकार किया कि भारत को ब्रिटेन के शासन से अनेक लाभ हुए हैं। उनका कहना था कि 'ब्रिटेन की उन्नत मानवतावादी सभ्यता' ने भारत को बहुत कुछ दिया है,[18] और पाश्चात्य शिक्षा, प्रशिक्षित प्रशासकीय अधिकारियों तथा रेलपथ आदि यान्त्रिक उद्योगों ने भी देश को लाभ पहुँचाया है। किन्तु उन्होंने विद्यमान शासन-प्रणाली के दोषों के सम्बन्ध में भी अपने विचार निर्भीकतापूर्वक व्यक्त किये। उन्होंने लिखा है: "वर्तमान शासन-प्रणाली भारतवासियों के लिए विनाशकारी तथा निरंकुश है, और इंगलैण्ड के लिए आत्मघाती तथा उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्शों तथा परम्पराओं के प्रतिकूल है। इसके विपरीत, यदि सच्चे अर्थ में बर्तानवी मार्ग अपनाया जाय तो उससे ब्रिटेन तथा भारत दोनों को ही भारी लाभ होगा।"[19] दादाभाई ने चेतावनी दी कि निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन अधिक समय तक टिक नहीं सकता, क्योंकि बुरी शासन-प्रणाली दिवालियापन तथा विनाश की ओर ले जा रही है।[20] यह एक 'क्रूर स्वाँग' है, और इसके आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।[21] उनका कहना था कि यदि "ब्रिटिश शासन विदेशी तथा प्रजापीड़क का भारी जुआ" ही बना रहा तो "उसका नाश अवश्यम्भावी है।" 2 मई, 1867 को दादाभाई ने ईस्ट इण्डिया एसोशियेशन लन्दन की एक बैठक में 'भारत के प्रति इंगलैण्ड के कर्तव्य' शीर्षक एक लेख पढ़ा। उसमें उन्होंने बतलाया कि यदि अन्त में बीस करोड़ असन्तुष्ट भारतवासियों और एक लाख ब्रिटिश सैनिकों के बीच संघर्ष हुआ तो उसके परिणाम स्पष्ट हैं, चाहे वे सैनिक कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों। यह हो सकता है कि किसी राष्ट्र को अनेक बार हार खानी पड़े किन्तु उसकी आत्मा को नहीं कुचला जा सकता। दादाभाई सालसबरी के इस कथन को बारबार दुहराते हुए थकते न थे कि "अन्याय बलवान से बलवान का भी नाश कर देगा।" उनका कहना था कि निरंकुश शासन के कुकृत्य और अत्याचार सदैव कायम नहीं रह सकते। किन्तु दादाभाई को विश्वास था कि मन की संकीर्णता और अन्याय ब्रिटिश राष्ट्र के चरित्र के वास्तविक तत्व नहीं हैं।

दादाभाई स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश शासन ने भारत को सभ्य बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उन्हें आशा थी कि इंगलैण्ड शीघ्र ही अनुभव कर लेगा कि बढ़ती हुई आर्थिक लोलुपता की लज्जाजनक नीति संकुचित दृष्टि की ही परिचायक नहीं है, अपितु उसमें शासक देश के लिए भी खतरे के बीज विद्यमान हैं। वे चाहते थे कि भारत के आर्थिक साधनों का भारी निर्गम तुरन्त बन्द किया जाय। उनका विश्वास था कि जैसे ही निर्गम बन्द हुआ वैसे ही भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी। 13 सितम्बर, 1880 को उन्होंने भारत के राज्य अवर सचिव लुई मालेट को एक पत्र में लिखा : "शिक्षित तथा विचारशील भारतवासियों का दृढ़ विश्वास है कि पृथ्वी पर अन्य सब राष्ट्रों की तुलना में केवल ब्रिटेन ही ऐसा राष्ट्र

---

16 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 300-01।
17 *Speeches and Writings*, पृ. 165।
18 इसके अतिरिक्त देखिये दादाभाई नौरोजी की रचना, "Sir M. E. Grant Duff on India," *Speeches and Writings*, पृ. 571।
19 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. v ; *Speeches and Writings*, पृ. 236।
20 *Speeches and Writings*, पृ. 236।
21 वही, पृ. 247।

है जो कभी किसी भी स्थिति में जानबूझकर किसी जाति के साथ न अन्याय करेगा, न उसको दास बनायेगा, न उसका अपमान करेगा और न उसे दरिद्र बनायेगा; और यदि उसे विश्वास हो जाय कि अनजाने उसने किसी को क्षति पहुँचा दी है तो वह तुरन्त और बिना संकोच के तथा हर उचित मूल्य चुकाकर उस क्षति को पूरा कर देगा। इसी विश्वास के कारण विचारवान भारतवासी ब्रिटिश शासन के पक्के भक्त बने हुए हैं। वे जानते हैं कि भारत का वास्तविक पुनरुद्धार, उसकी सभ्यता तथा भौतिक, नैतिक और राजनीतिक प्रगति ब्रिटिश शासन के दीर्घकाल तक कायम रहने पर ही निर्भर है। अंग्रेज जाति के चरित्र में उच्चकोटि की सभ्यता, उत्कट स्वातन्त्र्य प्रेम, तथा आत्मा की श्रेष्ठता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय है। ऐसी जाति एक बड़े राष्ट्र को पैरों तले कुचल नहीं सकती, बल्कि वह निश्चय ही उसे उठाने के यश की लालसा से प्रेरित होकर कार्य करेगी। ब्रिटेन के कुछ महानतम व्यक्तियों ने उसकी इस लालसा को अनेक बार व्यक्त किया है। अंग्रेजों के सामने भारत में जो महान कार्य है उसके समान्तर दूसरा उदाहरण विश्व के इतिहास में मिलना दुर्लभ है। संसार में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं हुआ है जिसने विजेता के रूप में अंग्रेजों की भाँति शासितों के कल्याण को अपना कर्तव्य समझा हो अथवा उनके कल्याण की तीव्र इच्छा की अनुभूति की हो। और यदि वर्तमान निर्गम बन्द कर दिया जाय, और देश के विधान (विधिनिर्माण) के कार्य में देशवासियों के प्रतिनिधियों को अपनी राय व्यक्त करने का अवसर दे दिया जाय तो भारतवासी आशा के साथ ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ऐसे भविष्य की कल्पना कर सकते हैं जो उनके इतिहास के महानतम तथा सबसे गौरवशाली युग को भी लज्जित कर देगा।"[22]

भारत की राजनीतिक आशाओं का पूर्ण होना इंगलैण्ड के नैतिक पुनर्जागरण पर निर्भर था। दादाभाई की इच्छा और आशा थी कि इंगलैण्ड ने भारत को जो वचन दिये थे और जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हें वह ईमानदारी, सच्चाई, सम्मान तथा कर्तव्यनिष्ठा के साथ पूरा करेगा। वे कहा करते थे कि भारत और इंगलैण्ड के सम्बन्धों को धर्म, न्याय तथा उदारता के आधार पर स्थापित करना होगा। उनका विश्वास था कि यदि पूर्वोक्त वचन पूरे कर दिये जायँ तो भारत की सब समस्याएं हल हो जायँगी। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि 1833 के अधिकार अधिनियम तथा 1858 की घोषणा[23] में जिन बातों का ऐलान किया गया था उन्हें पूरा किया जाय। उन्हें आशा थी कि इंगलैण्ड अपनी न्याय, उदारता तथा स्वतन्त्रता की भावना की रक्षा करेगा। भारत की दरिद्रता तथा अध:पतन उन वचनों को पूरा न करने के ही परिणाम थे। दादाभाई का दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटेन ऐसे राजनीतिज्ञ अवश्य उत्पन्न करेगा जो अतीत के ब्रिटिश शासकों द्वारा दिये गये वचनों का पालन करेंगे और इस प्रकार मानवता के प्रति ब्रिटेन के ध्येय को पूरा करेंगे।[24] 1858 की घोषणा में ऐलान किया गया था कि भारत सरकार इन चार सिद्धान्तों का पालन करेगी : धार्मिक सहिष्णुता, स्वतन्त्रता, नौकरियाँ योग्यतानुसार, और विधि के समक्ष समानता। उसमें इस बात पर भी बल दिया गया था कि भारत में उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायगा, सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों में वृद्धि होगी, और लोक-प्रशासन सार्वजनिक कल्याण के लिए चलाया जायगा। दादाभाई इस घोषणा को भारत का महान अधिकार-पत्र समझते थे।

नैतिकता तथा संवैधानिक विधि दोनों की माँग थी कि इंगलैण्ड भारत पर भारतवासियों के कल्याण के लिए ही शासन करे। इसका अर्थ था कि भारत में फैली हुई विपन्नता, निर्गम, कष्टों तथा विनाश का अन्त किया जाय। ब्रिटेन के लोकतंत्र का उत्तरदायित्व था कि स्थिति में सुधार करे और भारत के राजनीतिक तथा आर्थिक कष्टों को कम करे। बार-बार यह रट लगाने से काम नहीं चलता था कि इंगलैण्ड ने भारत में कानून, व्यवस्था तथा शान्ति की स्थापना की थी। दादाभाई का कहना था कि ब्रिटिश शासन को भारत के लिए 'वरदान' और इंगलैण्ड के लिए 'लाभ तथा यश'

---

22 यह पत्र दादाभाई नौरोजी की पुस्तक *Poverty and Un-British Rule in India* में उद्धृत है। देखिये पृ. 201-02।

23 दादाभाई नौरोजी, "Replies to Questions put to the Public Service Commission", *Speeches and Writings*, पृ. 146।

24 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 208।

का साधन बनाने का एकमात्र उपाय यह है कि "भारत को उनके (अंग्रेजों के) नियंत्रण तथा निर्देशन के अन्तर्गत अपना प्रशासन स्वयं चलाने दिया जाय।"[25] दादाभाई ने इंगलैण्ड की लोक सभा में निर्भीकता से घोषणा की कि देश में तब तक कल्याणकारी तथा सच्ची वित्त-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती जब तक 'विदेशी आधिपत्य की बुराई' को कम करके उचित सीमाओं में बाँध नहीं दिया जाता, क्योंकि 'विदेशी शासन की बुराई' से धन, बुद्धि तथा रोजगार तीनों की हानि होती है। इससे देश के आर्थिक साधनों के अनुपात से कहीं अधिक धन खर्च होता है, प्रशासनिक अनुभव का ह्रास होता है, क्योंकि विदेशी कर्मचारी सेवा से निवृत्त होने पर देश छोड़कर चले जाते हैं, और चूँकि सभी उच्च पदों पर अंग्रेजों का एकाधिकार था, इसलिए उसी अनुपात में भारतवासियों को बेकारी का सामना करना पड़ता है।[26] जब तक भारतवासियों को लोक सेवाओं में समुचित स्थान नहीं दिया जाता तब तक उनकी साधनसम्पन्नता, अभिक्रम की शक्ति तथा महत्वपूर्ण कर्तव्यों के पालन करने की क्षमता का विकास नहीं हो सकता था। इसलिए दादाभाई ने भारत के लोगों को उच्च पदों से वंचित रखने की नीति का विरोध किया।

साम्राज्यवाद से प्रशासनिक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं और वित्तीय हानि होती है। अतीत में भारत के आर्थिक साधनों का जो अन्धाधुन्ध निर्गम हुआ था उसके परिणाम बड़े भयंकर हुए थे। उसके जारी रहने का अर्थ होता जानबूझकर देश की लूट और विनाश करना, और उससे देशवासियों की जीवन-शक्ति का भारी ह्रास होना अनिवार्य था। भारत के लोगों के शोचनीय दु:खों का अन्त करना आवश्यक था, अन्यथा भय था कि देश की दशा और भी अधिक बिगड़ जायगी। इसके अतिरिक्त यह भी आशंका थी कि राजनीतिक शक्ति के बल पर किये गये शोषण और निर्गम की इस प्रक्रिया से ब्रिटिश प्रशासकों की नैतिक शक्ति को भी आघात पहुँचेगा। निरंकुश शासन राजनीतिक शक्ति को धारण करने वालों की नैतिक संवेदन-शक्ति को क्षीण और कुंठित करके उन्हें भ्रष्ट कर देता है। निरंकुश शासकों को उपनिवेशी जनता के साथ घमंड, अहंकार तथा अत्याचार से युक्त व्यवहार करने की आदत पड़ जाती थी। अत: डर था कि जब वे लौटकर इंगलैण्ड पहुँचेंगे तो अपने देश के राजनीतिक जीवन में सामाजिक उद्दण्डता के लोकतंत्रविरोधी तत्व को समाविष्ट कर देंगे। एक भविष्यद्रष्टा की पूर्वानुभूति का परिचय देते हुए दादाभाई ने चेतावनी दी : "इंगलैण्ड ने संवैधानिक सरकार के लिए जो वीरतापूर्ण संघर्ष किये हैं उनका इतिहास बहुत ही गौरवपूर्ण है। किन्तु वही इंगलैण्ड अब भारत में ऐसे अंग्रेजों का एक वर्ग तैयार कर रहा है जो निरंकुश शासन में प्रशिक्षित तथा अभ्यस्त हैं, जिनमें असहिष्णुता, अहंकार तथा निरंकुश शासक की-सी स्वेच्छाचारिता के दुर्गुण घर करते जा रहे हैं और जिन्हें, इसके अतिरिक्त, संवैधानिकता के पाखण्ड का भी प्रशिक्षण मिल रहा है। क्या यह सम्भव है कि जब ये अंग्रेज अधिकारी निरंकुशता की आदतें और प्रशिक्षण लेकर स्वदेश वापस जायेंगे तो वे इंगलैण्ड के चरित्र और संस्थाओं को प्रभावित नहीं करेंगे? भारत में काम करने वाले अंग्रेज भारतवासियों को उठाने के बजाय स्वयं पतित होकर एशियायी निरंकुशवाद के स्तर तक पहुँच रहे हैं। क्या यह उस नियति का खेल है जो समय आने पर उन्हें दिखला देना चाहती है कि उन्होंने भारत में जो दुराचरण किया है उसका क्या फल हुआ है? अभी इंगलैण्ड पर इस नैतिक अध:पतन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। किन्तु यदि समय रहते उसने उस कुप्रभाव को फैलने से न रोका जो उसकी जनता को उत्तेजित कर रहा है तो आश्चर्य नहीं होगा कि प्रकृति उससे उस आचरण का बदला ले ले जो उसने भारत में किया है।"[27] इस प्रकार दादाभाई ने निरंकुश साम्राज्यवाद की नैतिक बुराइयों को स्पष्ट करके गहरी राजनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया।

जैफर्सन तथा टी. एच. ग्रीन की भाँति दादाभाई ने अनुरोध किया कि राजनीतिक शक्ति का आधार जनता का प्रेम, इच्छा तथा भावनाएँ होनी चाहिए। किन्तु ब्रिटेन ने भारत की जनता पर दो कठोर प्रतिबन्ध लगा रखे थे। प्रथम, उसने जनता का मुँह बन्द कर दिया था अर्थात् उसकी अभि-

---

25 वही, पृष्ठ 219।

26 दादाभाई की *Speeches and Writings* पृ. 134-35 (हाउस आव कामन्स में 14 अगस्त, 1894 को दिया गया भाषण)।

27 *Poverty and Un-British Rule in India*. पृ. 214-15।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीन ली थी, और दूसरे उसे निरस्त्र कर दिया था। इस 'मुँह बन्द करने और निरस्त्र करने' की दुहरे प्रतिबन्ध की नीति से स्पष्ट था कि ब्रिटेन की शक्ति जनता की भक्ति पर आधारित नहीं थी। इसलिए दादाभाई का आग्रह था कि जनता के सन्तोष पर ही राजनीतिक सत्ता की नींव रखी जानी चाहिए, और जनता को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय उसका विश्वास प्राप्त करना था।

4. दादाभाई नौरोजी का समाजवाद के प्रति झुकाव

दादाभाई में बुद्धि की इतनी तीक्ष्णता और दूरदर्शिता थी कि उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय समाजवाद की बढ़ती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति को भलीभाँति समझ लिया था। उन्होंने ब्रिटेन के समाजवादियों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया और हिंडमन उनका घनिष्ठ मित्र था तथा उनसे उसे सहानुभूति भी थी। 1904 में 14 अगस्त से 20 अगस्त तक एम्सटरडम में अन्तरराष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस हुई। दादाभाई उसमें सम्मिलित हुए। कांग्रेस में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध रक्त चूसने तथा निर्गम का आरोप दुहराया जिसे वे अनेक वर्षों से लगाते आये थे। हॉलबॉर्न टाउन हॉल में हुई एक सभा में उन्होंने एक प्रस्ताव रखा जिसमें माँग की गयी कि संसार भर में वृद्धों के लिए पेंशन की व्यवस्था की जाय। 'श्रमिकों के अधिकार'[28] शीर्षक एक पुस्तिका में उन्होंने औद्योगिक आयुक्तों के न्यायालय स्थापित करने का समर्थन किया। उन्होंने इस दावे का भी हार्दिक समर्थन किया कि श्रम भी एक प्रकार की सम्पत्ति है।

5. दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक विचारों में परिवर्तन

अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में दादाभाई हृदय से विश्वास करते थे कि अंग्रेजी शासन ने भारत को अनेक नियामतें दी हैं। उनको सच्ची आशा थी कि अंग्रेज भारत के साथ यह समझकर व्यवहार करेंगे कि वह उनके सुपुर्द की हुई एक पवित्र धरोहर है। इंगलैण्ड की जनता तथा विधायकों को भारतीय दृष्टिकोण से अवगत कराने के लिए उन्होंने ब्रिटिश संसद के लिए चुनाव लड़ा और कठिन संघर्ष के बाद लोक सभा में स्थान प्राप्त करने में सफल हुए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1886 के अधिवेशन में उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में ब्रिटिश शासन के प्रति भारतवासियों की 'पूर्ण भक्ति' की घोषणा की। 1893 में लाहौर में कांग्रेस के नवें अधिवेशन के अवसर पर भी उन्होंने अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में ब्रिटेन के प्रति भारत की भक्ति का ऐलान किया। उन्होंने कहा : "हमारी इच्छा है कि ब्रिटेन के साथ हमारा सम्बन्ध भविष्य में दीर्घकाल तक कायम रहे जिससे विश्व के राष्ट्रों के बीच हमारा देश भौतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त कर सके। हमें अनावश्यक रूप से तथा गैर-जिम्मेदारी के साथ अपनी दरिद्रता की शिकायत करने में आनन्द नहीं मिलता है। यदि हम ब्रिटिश शासन के शत्रु होते तो हमारे लिए सबसे अच्छा मार्ग यह होता कि हम चिल्लाते नहीं बल्कि मौन रहते और जो हानि हो रही है उसे तब तक होने देते जब तक कि उसकी परिणति महान संकट में न हो जाती, जैसा कि इन परिस्थितियों में होना अनिवार्य है। किन्तु हम इस प्रकार का संकट नहीं चाहते, इसलिए हम अपनी तथा शासकों, दोनों की खातिर चिल्लाते हैं।"[29] दादाभाई ने भारतवासियों को सलाह दी कि उन्हें अपने जीवन में ब्रिटेन के प्रति भक्ति तथा देशप्रेम दोनों का विवेकपूर्ण सामंजस्य करना चाहिए। किन्तु उन्हें ब्रिटिश शासकों से बारबार निराशा हुई, इसलिए अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि स्वराज्य का अधिकार प्राप्त किये बिना भारत राष्ट्रीय महानता को उपलब्ध नहीं कर सकता।

1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर दादाभाई ने भारतीय जनता के तीन महत्वपूर्ण अधिकारों पर बल दिया। पहला अधिकार था कि लोक सेवाओं में भारतवासियों को अधिकाधिक संख्या में नियुक्त किया जाय और सम्पूर्ण विभागीय प्रशासन उनके हाथों में सौंप दिया जाय। दूसरा अधिकार था कि भारतीयों को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय जिससे वे स्वशासी उपनिवेशों के नमूने पर अपने यहाँ भी विधान सभाएँ स्थापित कर सकें। तीसरा अधिकार था कि

28 आर. पी. मसानी, *Dadabhai Naoroji*, पृ. 430-31।
29 दादाभाई नौरोजी का 1893 की लाहौर कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

ब्रिटेन तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायसंगत हों। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए तीनसूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया :

"(1) जिस प्रकार ब्रिटेन की सभी सेवाओं, विभागों तथा ब्यौरे से सम्बन्धित प्रशासन उसी देश के निवासियों के हाथों में है, उसी प्रकार हमारा दावा है कि भारत की सभी सेवाओं, विभागों और ब्यौरे का प्रशासन स्वयं भारतवासियों के हाथों में होना चाहिए। यह केवल अधिकार की बात नहीं है, और न शिक्षित लोगों की आकांक्षाओं की बात है, यद्यपि अधिकार तथा शिक्षितों की आकांक्षाओं की दृष्टि से भी इस बात का महत्व है। इस सबसे अधिक यह एक निरपेक्ष आवश्यकता है, उस महान अनिवार्य आर्थिक बुराई का एकमात्र उपचार है जो वर्तमान निर्गम तथा दरिद्रता का आधारभूत कारण है। यह उपचार भारतीय जनता के भौतिक, बौद्धिक, राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा हर सम्भव प्रगति और कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है।

(2) जैसा कि ब्रिटेन तथा उनके उपनिवेशों में कर लगाने, कानून बनाने तथा करों को व्यय करने का अधिकार उन देशों की जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में है, वैसे ही अधिकार भारत की जनता को मिलना चाहिए।

(3) इंगलैण्ड तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायोचित हों तथा समता के आधार पर कायम किये जायें। इसका अर्थ है कि किसी असैनिक, सैनिक अथवा नाविक विभाग के व्यय के लिए भारत जितना धन जुटा सके उसी के अनुपात में उस व्यय से वेतनों, पेंशनों, उपलब्धियों आदि के रूप में होने वाले लाभ में भारतवासियों को साम्राज्य के साझीदार के रूप में भाग मिलना चाहिए; भारत साम्राज्य का साझीदार है, यह घोषणा सदैव की जाती रही है। हम किसी प्रकार का अनुग्रह नहीं चाहते हैं। हम केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश नागरिकों के रूप में हमारे जो अधिकार हैं उनका हम न अधिक वर्गीकरण करना चाहते हैं और न सविस्तार उनका विवरण देना चाहते हैं। उन सबको एक शब्द में व्यक्त किया जा सकता है—'स्वराज', जैसा कि इंगलैण्ड अथवा उसके उपनिवेशों में प्रचलित है।"[30] दादाभाई को विश्वास था कि अंग्रेज शासक अपने जीवन-काल में ही भारत में सम्मानपूर्ण स्वराज स्थापित करने की दिशा में कदम उठायेंगे। उन्होंने भारतवासियों को सलाह दी कि वे याचिकाओं तथा सभाओं द्वारा आन्दोलन चलाने के मार्ग पर दृढ़ता से डटे रहें। आन्दोलन पाशविक बल का नैतिक विकल्प है। दादाभाई ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि भारत में ब्रिटिश प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त अनुचित हैं, अतः वे चाहते थे कि कांग्रेस उनके विरुद्ध आन्दोलन करे। किन्तु उन्होंने अनुभव कर लिया था कि भारत के लिए एकमात्र उपचार स्वराज है।

सैद्धान्तिक आधार पर दादाभाई भी कॉब्डन की भाँति अनेक वर्षों तक मुक्त व्यापार के समर्थक रहे थे। किन्तु भारत में फैली हुई अप्राकृतिक अव्यवस्था, निराशा तथा दुःखों ने दादाभाई के विचारों में परिवर्तन कर दिया था और वे स्वदेशी का समर्थन करने लगे थे। किन्तु फिर भी उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों के मन तथा हृदय में स्वतन्त्रता की सच्ची पुरानी भावना और प्रवृत्ति पुनः जाग उठेगी। बर्क की भाँति उन्हें भी ब्रिटिश जनता की पुरातन तथा जन्मजात ईमानदारी में आस्था बनी रही। उन्हें आशा थी कि भारत इंगलैण्ड का अधीन देश होकर नहीं रहेगा, बल्कि एक दिन वह उसके वफादार साझीदार तथा सहयोगी का पद प्राप्त कर लेगा। उस समय भी उन्होंने भारतवासियों को सलाह दी कि वे निराश न हों और एक शब्द 'अध्यवसाय' को सदैव स्मरण रखें।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान दादाभाई ने देशवासियों से अंग्रेजों का साथ देने की अपील की। दुर्भाग्य की बात थी कि मौंटेग्यू की उत्तरदायी शासन सम्बन्धी घोषणा (20 अगस्त, 1917) के दो महीने पहले ही भारत के अधिकारों के लिए आजीवन संघर्ष करने वाले उस महान सेनानी की इहलीला समाप्त हो गयी। 1906 में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में दादाभाई ने आशा व्यक्त की थी कि अंग्रेजों के अन्तःकरण की विजय होगी और भारत को 'यथासम्भव कम से कम समय में उत्तरदायी स्वराज' प्रदान कर दिया जायगा।

---

30 दादाभाई नौरोजी का 1906 की कलकत्ता कांग्रेस में दिया गया भाषण।

6. निष्कर्ष

दादाभाई नौरोजी आधुनिक भारतीय इतिहास की एक पराक्रमी विभूति थे। वे महान गुरु तथा नेता थे। वे एक ऐसे अर्थशास्त्री थे जिन्हें लोकवित्त, वैदेशिक व्यापार तथा राष्ट्रीय आय की समस्याओं की गहरी सूझबूझ थी। वे उच्चकोटि के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारक भी थे। यद्यपि अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त-प्रवर्तक के रूप में उन्हें रिकार्डो, मिल और मार्क्स के समकक्ष स्थान नहीं दिया जा सकता किन्तु उनके अभिभावी व्यक्तित्व तथा उच्च नैतिक चरित्र ने उनके तत्कालीन भारतीय अर्थशास्त्र और राजनीति विषयक विचारों को बहुत लोकप्रिय बना दिया था। इस प्रकार उनका 'निर्गम' का सिद्धान्त भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक चिन्तन में उतना ही विस्फोटक बन गया था जितने कि मार्क्स के 'शोषण' और 'वर्ग-संघर्ष' के सिद्धान्त मार्क्सवादी तथा समाजवादी क्षेत्रों में बन गये हैं।

दादाभाई का विश्वास था कि राजनीतिक प्रगति के लिए शिक्षा का प्रसार बहुत आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा केवल व्यक्ति की आत्मा ही ज्ञान से प्रदीप्त नहीं होती, वह लोगों के मन में अधिकारों की चेतना भी उत्पन्न करती है। उन्हें विश्वास था कि शिक्षा के प्रसार और प्रशासनिक अनुभव के संचय से स्वराज की ओर प्रगति की गति तीव्र होगी। इसलिए उन्होंने 'निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा हर प्रकार की निःशुल्क शिक्षा' की माँग की।

दादाभाई के भारतीय सामाजिक विज्ञानों को दो मुख्य योगदान हैं। प्रथम, उन्होंने भारतीय राजनीति की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की।[31] दूसरे, अर्थशास्त्रीय अनुसन्धान के क्षेत्र में वैज्ञानिक वस्तुगत पद्धति का अनुसरण किया। अतः उनकी पद्धति अर्थशास्त्रीय थी न कि संवेगात्मक तथा भावुक। उन्होंने भारतीय जनता को देश के साधनों के निर्गम के प्रति सचेत किया। इस प्रकार भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वे प्रमुख विद्वान बन गये।

दूसरे, दादाभाई ने अपनी भारतीय अर्थशास्त्र तथा राजनीति सम्बन्धी रचनाओं में 'अधिकार' की धारणा को महत्व दिया।[32] उन्नीसवीं शताब्दी के छठे तथा सातवें दशकों में उन्होंने 'प्राकृतिक अधिकार' की धारणा का उल्लेख किया। 1906 में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने भारतवासियों के लिए दो प्रकार के अधिकारों के आधार पर ब्रिटिश नागरिकता का दावा किया : (1) जन्मसिद्ध अधिकार, तथा (2) प्रतिज्ञामूलक अधिकार। उनकी माँग थी कि भारतवासियों को दो अधिकार तुरन्त दे दिये जायँ : (1) लोक सेवाओं में नौकरियाँ, तथा (2) प्रतिनिधित्व। उन्होंने इस बात पर सदैव बल दिया कि भारतवासी ब्रिटिश नागरिक हैं, और इसलिए वे ब्रिटिश नागरिकता से सम्बद्ध सब अधिकारों और विशेषाधिकारों के हकदार हैं।

राजनीति के सम्बन्ध में दादाभाई की पद्धति नैतिक थी। उनका व्यक्तिगत जीवन अलौकिक पवित्रता का जीवन था। अपने राजनीतिक कार्यकलाप में भी उन्होंने वैसे ही नैतिक उत्साह से काम लिया। भारत के प्रति उनकी भक्ति गम्भीर तथा हार्दिक थी, और राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने अनन्य भक्ति तथा आत्म-त्याग से युक्त समर्पण की भावना से कार्य किया। वे शुद्ध, गम्भीर तथा अविकल देशभक्ति के साक्षात अवतार थे। उन्होंने राजनीतिक आन्दोलन का मार्ग इसलिए अपनाया कि वे उसे भारत की आर्थिक तथा सामाजिक पुनःस्थापना तथा प्रगति के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली कार्य-प्रणाली मानते थे। उनका विश्वास था कि भारत की आशा, शक्ति तथा होतव्यता केवल स्वराज्य पर निर्भर है। देश के उद्धार के लिए उनके महान कार्यों ने गोखले को प्रभावित किया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद के इस श्रद्धेय पितामह ने अपने जीवन तथा कर्म की पवित्रीकृत सत्यता के द्वारा राजनीति के नैतिकीकरण की धारणा को शक्ति प्रदान की।

---

31 इस सम्बन्ध में डिग्बी तथा आर. सी. दत्त के ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण हैं। डब्लू. डिग्बी : *Prosperous British India;* रमेशचन्द्र दत्त : *Early History of British India, India in the Victorian Age, Famines in India, England and India.*

32 दादाभाई ने बनारस कांग्रेस को सन्देश देते हुए गोखले को जो पत्र लिखा था उसमें उन्होंने कहा था कि भारतवासी उन अधिकारों को प्राप्त करें और उनका उपभोग करें जो उनके जन्मसिद्ध अधिकार थे और जिनके सम्बन्ध में अंग्रेज शासक बार-बार वचन दे चुके थे। देखिये *Speeches and Writings*, पृ. 671।

8

महादेव गोविन्द रानाडे

1. प्रस्तावना

महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901) एक विख्यात विधिवेत्ता, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, समाज-सुधारक तथा शिक्षाविद थे। अतः आधुनिक महाराष्ट्र ने जो अद्भुत विभूतियाँ उत्पन्न की हैं उनमें उनका उच्च स्थान है। उनका जन्म 18 जनवरी, 1842 को नासिक में हुआ था, और 16 जनवरी, 1901 में बम्बई में उन्होंने शरीर त्याग किया। 1862 में रानाडे 'इन्दुप्रकाश' नामक एक आंग्ल-मराठी साप्ताहिक के सम्पादक नियुक्त हुए। 1868 में वे बम्बई के एलफिस्टन कॉलिज में अंग्रेजी तथा इतिहास के प्रोफेसर नियुक्त किये गये। 1871 में बम्बई सरकार ने उन्हें न्यायाधीश बना दिया। उनकी महान प्रेरणा से 1884 में डेकन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना हुई। 1885 में रानाडे को बम्बई विधान परिषद का एक अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किया गया। जब के. टी. तेलंग की मृत्यु से बम्बई के उच्च न्यायालय में न्यायाधीश का स्थान रिक्त हुआ तो रानाडे को पदोन्नत करके उस पद पर नियुक्त कर दिया गया। 1870 में जी. वी. जोशी ने जिस पूना सार्वजनिक सभा की स्थापना की थी उसको रानाडे लगभग 25 वर्ष तक निर्देशन तथा प्रेरणा प्रदान करते रहे। अपनी प्रचण्ड मेधाशक्ति के कारण वे 'महाराष्ट्र के सुकरात' कहलाते थे।[1] रानाडे उन महान व्यक्तियों में थे जो प्रच्छन्न रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का निर्देशन तथा पथप्रदर्शन किया करते थे। बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में जो बहत्तर सदस्य सम्मिलित हुए उनमें रानाडे भी थे।[2] ए. ओ. ह्यूम तक उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।

रानाडे के सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन में अनेक धाराओं का मिश्रण था। तुकाराम, तुलसीदास, सन्त अगस्ताइन तथा ग्रीगरी प्रथम की भाँति रानाडे को भी ईश्वर के व्यापक अस्तित्व तथा असीम अनुकम्पा में अडिग आस्था थी। इसलिए वे इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या में विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि में इतिहास के गम्भीरतम आन्दोलन ईश्वरीय योजना तथा उद्देश्य की अभिव्यक्ति होते हैं। समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में रानाडे की धारणा अवयवी थी, और उनका स्वतन्त्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक समानता का, तथा स्त्रियों की पराधीनता के उन्मूलन का समर्थन किया। मनुष्य शेष जीवन से पृथक रहकर राजनीतिक स्वतन्त्रता का आनन्द नहीं ले सकता। इसलिए रानाडे ने समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति सभी क्षेत्रों में पुनर्जागरण का समर्थन किया।

---

1 महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन तथा कृतित्व के लिए देखिये : आर. जी. मानकर : *A Sketch of the Life and Works of the Late Mr. Justice M. G. Ranade* ; श्रीमती रानाडे, 'संस्मरण' (मराठी में) तथा एन. आर. फाटक कृत 'रानाडे का जीवन चरित' (मराठी में)। एम. जी. रानाडे, *Essays on Indian Economics* द्वितीय संस्करण (जी. ए. नटेसन एण्ड कं., मद्रास, 1906), महादेव गोविन्द रानाडे, *Rise of the Maratha Power* (पुनलेकर एण्ड कं., बम्बई, 1900), एम. जी. रानाडे *Philosophy of Indian Theism*। रानाडे ने *Quarterly Journal of the Sarvajanika Sabha* नामक पत्रिका प्रारम्भ की और अगले 17 वर्षों में उसके लगभग दो-तिहाई लेख स्वयं लिखे।

2 James Kellock, *M. G. Ranade*, पृष्ठ 111।

रानाडे को भारतीय उदारवाद के दर्शन का आध्यात्मिक जनक माना जाता है। उनका हार्दिक विश्वास था कि स्मिथ और रिकार्डो के उदारवाद की पद्धति सम्बन्धी मान्यताओं तथा सामान्य निष्कर्षों में संशोधन करने की आवश्यकता है। उनके कुछ अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त माल्थस और जेम्स मिल की अपेक्षा फ्रीड्रिख लिस्ट के विचारों से अधिक साम्य रखते हैं।

महाराष्ट्र के इतिहास की सामाजिक तथा धार्मिक व्याख्या पर रानाडे के विचारों की गहरी छाप है। रानाडे मराठा इतिहास के सन्त अगस्ताइन और टॉइनबी हो सकते थे। उनका विश्वास था कि अतीत में मराठा राष्ट्र को गम्भीर सामाजिक तथा धार्मिक तत्वों से प्राण या शक्ति मिली थी। उन्होंने अपनी 'राइज आव द मराठा पावर' (मराठा शक्ति का उदय) नामक अपूर्ण पुस्तक में मराठा इतिहास की प्रकृति तथा सामाजिक-आर्थिक राज्यतंत्र पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

2. रानाडे के चिन्तन के दार्शनिक आधार

रानाडे पर महाराष्ट्र के सन्तों तथा ईसाई लेखकों के आस्तिक विचारों का प्रभाव पड़ा था। किन्तु उन पर ईसाइयत का प्रभाव इतना स्पष्ट कभी नहीं था जितना कि राममोहन और केशवचन्द्र पर था। रानाडे का केशवचन्द्र से सम्पर्क था। जब केशवचन्द्र ने मार्च 1867 में प्रार्थना समाज की स्थापना की तो आर. जी. भण्डारकर के साथ रानाडे भी उसके सदस्य बन गये।[3]

रानाडे आस्तिक थे और उन्हें ईश्वर की अनुकम्पा में गम्भीर आस्था थी।[4] काण्ट की भाँति रानाडे का भी कथन था कि अन्तःकरण के नैतिक नियम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।[5] लोगों को ईश्वर की अनुभूति तथा दर्शन हुआ करता है, इससे भी ईश्वर की सत्ता तथा अनुकम्पा प्रमाणित होती है। रानाडे धार्मिक व्यक्ति थे और उनकी धार्मिकता बड़ी गम्भीर थी। उन्हें धर्म-ग्रन्थों की शिक्षाओं में भी आस्था थी। वे व्यक्ति तथा समाज दोनों के ही लिए धर्म के महत्व को स्वीकार करते थे। उन्होंने लिखा है : "सब कालों और देशों में देवदूत की दृष्टि, कवि की प्रेरणा, महान धर्मोपदेशक की वाक्पटुता, दार्शनिक की प्रज्ञा अथवा बलिदानी का आत्मोत्सर्ग लेकर जो वरद आत्माएँ जन्म लेती हैं उनकी दृष्टि, उनकी प्रेरणा, उनकी वाक्पटुता, उनकी प्रज्ञा और उनका शूरत्व वास्तव में दैवी होते हैं, ईश्वर का विशेष प्रसाद हुआ करते हैं। और ये वरद विभूतियाँ जो कुछ देखती, जो कुछ अनुभव करती और उपदेश देती हैं, वह सब एक विशेष प्रकार का उच्चतर और अधिक सच्चा दैवी प्रकाश, ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम है, और इलहाम शब्द का यही एक स्वीकार्य अर्थ है। पुस्तकों में जिस ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम का उल्लेख मिलता है वह चिन्तन मात्र है, और चूंकि वह स्वभाव से ही अस्थायी तथा स्थानीय होता है इसलिए उसका मूल्य भी सापेक्ष तथा अस्थायी हुआ करता है।[6] रानाडे ने स्वीकार किया कि ईश्वर की भक्ति तथा अन्तःकरण के शुद्धीकरण से चरित्र का ठोस नींव का निर्माण होता है। उनका विश्वास था कि अन्तःकरण के आदेशानुसार आचरण करने से मानव हृदय पवित्र होता है। उनका कहना था कि भारत का राष्ट्रीय मानस नास्तिकता से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इस देश में बौद्ध धर्म स्थायी प्रभाव न जमा सका, यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है।[7] चूंकि रानाडे को ईश्वर के सर्वशक्तिमान प्रताप में विश्वास का, इसलिए

---

3 प्रार्थना समाज की स्थापना 1867 में बम्बई में आत्माराम पाण्डुरंग के नेतृत्व में हुई थी। दादोबा तथा भास्कर पाण्डुरंग, बी. ए. मोडक, बी. एम. वागले, एन. एम. परमानन्द आदि अन्य व्यक्ति भी उसमें सम्मिलित हो गये थे। 1870 में आर. जी. भण्डारकर तथा एम. जी. रानाडे भी उसके सदस्य बन गये। आगे चलकर चन्दावरकर भी उसमें सम्मिलित हो गये।

4 रानाडे ने लिखा था : "आज सभ्य मनुष्य जो कुछ है वह इसलिए है कि उसे एक पूर्ण पुरुष के नैतिक शासन तथा आत्मा के अमरत्व में विश्वास रहा है, और थोड़े-से महान विचारकों की स्थिति कुछ भी हो, बहुसंख्यक मनुष्यों का उद्धार इस विश्वास के द्वारा ही हो सकता है।" (Note on Professor Selby's Published Notes of Lectures on Butler's Analogy and Sermons *Sarvajanika Sabha Journal* 1882)।

5 एम. जी. रानाडे के "A Theist's Confession of Faith" (1872) पर निबन्ध तथा व्याख्यान, "Review of Dadoba Pandurang's Reflections on the works of Sweden borg" (1479) तथा "Philosophy of Indian Theism" (1896)।

6 एम. जी. रानाडे, "*A Thiest's Confession of Faith.*"

7 *Miscellaneous Writings of M. G. Ranade*, पृष्ठ 69।

उन्होंने इस सत्य को भी स्वीकार किया कि इतिहास में ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है। इस प्रकार इतिहास ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति है। स्टॉइक दार्शनिकों की भाँति रानाडे को बाह्य प्रकृति के क्रियाकलाप में भी ईश्वर की सत्ता का प्रमाण दिखायी दिया। उनके मतानुसार मानव आत्मा और परब्रह्म एक ही नहीं हैं, अतः इस अंश में उनका दृष्टिकोण अति अद्वैतवादी वेदान्तियों से भिन्न है। स्पिनोजा तथा लाइब्नित्स के विपरीत रानाडे मानव आत्मा को कुछ अंशों में स्वाधीन तथा स्वतंत्र इच्छा से युक्त मानते हैं।

महाराष्ट्र के सन्तों तथा तुलसीदास की भाँति रानाडे को भी विश्वास था कि प्रार्थना में नव-जीवन स्फूर्ति प्रदान करने की शक्ति होती है। उनका हृदय गम्भीर भक्ति से ओतप्रोत था और वे उदारता तथा मानव प्रेम के साक्षात अवतार थे। वे तुकाराम की कविताओं से द्रवित हो उठते थे और उनके अभंग का प्रायः गाकर पाठ किया करते थे। सामी (सेमेटिक) धर्मों में ईश्वर की अनुभवातीत भयोत्पादक शक्ति को अधिक महत्व दिया गया है; इसके विपरीत हिन्दू धर्म सर्वेश्वरवादी सर्वव्यापकता का उपदेश देता है। अद्वैत वेदान्त बतलाता है कि व्यक्ति का मनोमय अहं तथा ब्रह्माण्ड में व्याप्त सार्वभौम आत्मा दोनों एक ही हैं। इस प्रकार भारत में धर्म आन्तरिक अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूति तथा ध्यान की वस्तु है। रानाडे पर भी भक्ति आन्दोलन का प्रभाव था। उन्होंने आस्तिकता पर अपने व्याख्यानों में इस धारणा में विश्वास प्रकट किया है कि ईश्वर एक करुणामय शक्ति है। भारत की धार्मिक विचारधाराओं को समझने में उन्हें भागवत धर्म से विशेष प्रेरणा मिली थी। उन्होंने लिखा है : "ईश्वर के मुख्यतः उज्ज्वल पक्ष का प्रेमपूर्वक ध्यान तथा चिन्तन करना हमारे राष्ट्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। सामी जातियों का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके यहाँ दूरस्थ ईश्वर की भयोत्पादक अभिव्यक्ति का ध्यान करने पर अधिक बल दिया गया है। उनका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की सत्ता का केवल दूर से धुँधला-सा आभास मिल सकता है; वह मनुष्य के अपराधों के लिए कठोर दण्ड देता है; वह ऐसा न्यायाधीश है जो दण्ड अधिक देता है, पुरस्कार कम; और जब पुरस्कार देता है तब भी अपने आराधक को भयभीत रखता है जिससे वह काँपता रहे। किन्तु हमारे यहाँ ईश्वर को न्यायाधीश, दण्डदाता तथा शासक की अपेक्षा पिता, माता, भाई तथा मित्र अधिक माना गया है। हमारे सन्तों तथा ऋषियों ने आग्रहपूर्वक कहा है कि उन्होंने अपने ईश्वर का दर्शन किया है, उन्होंने उसकी वाणी सुनी है, उसके साथ चले हैं, उससे बातचीत की है और आदान-प्रदान किया है।···योगी तथा वेदान्ती केवल अपने जाग्रत स्वप्नों की अवस्था में ईश्वर के साथ एक होने की बात कहते हैं, किन्तु नामदेव, तुकाराम, एकनाथ तथा ध्यानदेव इस प्रकार के दूर के तथा कठिन मिलन से सन्तुष्ट नहीं थे जो उनके चैतन्य जीवन के प्रत्येक क्षण विद्यमान नहीं रह सकता था। वे ईश्वर के साथ प्रतिदिन और प्रतिक्षण रहते तथा उसके साथ आदान-प्रदान करते थे, और वे कहा करते थे कि इससे उन्हें जो आनन्द मिलता है वह योग तथा वेदान्त की सभी उपलब्धियों से श्रेष्ठ है।·········ईसाई देशों में सम्पूर्ण प्रेम ईसामसीह के जीवन और मृत्यु के चतुर्दिक केन्द्रित है, किन्तु इस देश में आराधक प्रतिदिन अपने हृदय में ईश्वर की विद्यमानता का अनुभव करता है और अपनी उस गम्भीर अनुभूति पर अपना सम्पूर्ण प्रेम मुक्तभाव से उँड़ेल देता है और उसका यह प्रेमार्पण नेत्रों, कानों और स्पर्श द्वारा होने वाली अनुभूति से भी अधिक प्रामाणिक और विश्वास के योग्य होता है। सन्तों का यही गौरव है और इसे हमारी जनता ने, उच्च तथा निम्न वर्गों के लोगों ने, स्त्रियों और पुरुषों ने जीवन की सान्त्वना तथा अमूल्य निधि के रूप में संचित रखा है।"[8] किन्तु निष्ठावान आस्तिक होते हुए भी रानाडे ने अवतारवाद को, जो भागवत धर्म की सर्वप्रमुख धारणा है, स्वीकार नहीं किया। वे मोक्ष अर्थात परमानन्द और ईश्वर-साहचर्य के आदर्श को मानते थे। उनके अनुसार ईश्वर में पूर्णतः लय हो जाना मोक्ष नहीं है। इन्द्रियों की वासनाओं तथा मानसिक विकारों में ऊपर उठना और उसके फलस्वरूप ईश्वर के श्रेयस्कर सानिध्य में रहना ही मोक्ष है। आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति मोक्ष का सार है। श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना, ईश्वर तथा उसकी अनुकम्पा में विश्वास और मानव जाति के प्रति प्रेम मोक्ष के मार्ग हैं। मनुष्य इस शरीर में अथवा मृत्योपरान्त इस प्रकार

---

8 एम. जी. रानाडे, *Rise of the Maratha Power* (पुनतेकर एण्ड कं., बम्बई, 1900) पृष्ठ 165-67।

के श्रेयस्कर मोक्ष का आनन्द उठा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रानाडे की दृष्टि में आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पूर्णता ही मोक्ष है। रानाडे के अनुसार मानव आत्मा तथा ईश्वर एक ही नहीं हैं। वह ईश्वर पर निर्भर है, किन्तु कुछ अंश में स्वतन्त्र भी है।[9]

3. समाज-सुधार का दर्शन

रानाडे समाज-सुधार के समर्थक थे। वे विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे, और 1866 में जो विधवा-विवाह संघ स्थापित किया गया था उसके सदस्य थे। वे समझते थे कि राजनीतिक मुक्ति के लिए भी सामाजिक प्रगति आवश्यक है।[10] जब दयानन्द सरस्वती 1875 में पूना गये तो रानाडे ने उन्हें हार्दिक सहयोग दिया, क्योंकि स्वामीजी भी धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के कट्टर समर्थक थे। चूंकि वे बम्बई सरकार के अन्तर्गत न्यायाधीश थे और स्वभाव से विद्याप्रेमी थे, इसलिए उनका दृष्टिकोण संयत था। वे मामलों का निपटारा करने के लिए अन्त तक संघर्ष करना पसन्द नहीं करते थे। वे समाज-सुधार चाहते थे, किन्तु उसके लिए विद्रोह करने अथवा बलिदानी बनने के समर्थक नहीं थे। 1895 में पूना में इस बात पर भारी शोरगुल मचाया गया कि सामाजिक सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन के लिए तैयार किये गये पंडाल में होना चाहिए अथवा नहीं।[11] तिलक तथा महाराष्ट्र और विशेषकर पूना का अतिवादी गुट इस बात पर तुले हुए थे कि वे सामाजिक सम्मेलन के लिए कांग्रेस के पण्डाल का प्रयोग नहीं करने देंगे, चाहे सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन के समाप्त होने पर अन्तिम दिन ही क्यों न किया जाय। इस प्रश्न को लेकर भारी तूमाल खड़ा किया गया किन्तु अन्त में रानाडे पूना के अतिवादियों की धमकियों के सामने झुक गये। पूना कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने रानाडे की बुद्धिमत्ता तथा संयम की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

हेगेल, काम्त तथा स्पेंगलर की भाँति रानाडे भी समाज को एक जटिल अवयवी मानते थे। उनका विचार था कि राजनीति तथा समाज-सुधार को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। स्त्रियों पर विवेकहीन तथा मृतप्राय रूढ़ियों को थोपकर उनका दमन करना उनके साथ अभद्रता का व्यवहार ही नहीं था, बल्कि इससे भारतीय समाज विदेशियों की घृणा का पात्र भी बना हुआ था। किन्तु यदि सामाजिक कार्यकलाप के द्वारा राष्ट्र के जीवन को शक्ति प्रदान की जाती तो इसका अन्य क्षेत्रों में भी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। राजनीतिक अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की प्राप्ति के लिए बुद्धि और न्याय पर आधारित समाज-व्यवस्था की आवश्यकता थी।[12] अतः रानाडे का आग्रह था कि राष्ट्र को उसकी कुछ कुप्रथाओं से मुक्त करने के लिए तत्काल समाज का सुधार करना आवश्यक है। उनका कहना था कि स्त्री-समाज के अधिकार-वंचित वर्गों की उन्नति तथा पुनः स्थापना से देश को राजनीतिक क्षेत्र में भी बल मिलेगा। उन्होंने कहा : "चाहे राजनीति का क्षेत्र हो और चाहे समाज, धर्म, वाणिज्य, उत्पादन अथवा सौन्दर्य का, चाहे साहित्य हो और चाहे विज्ञान, कला, युद्ध अथवा शान्ति—प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से अपनी शक्तियों का विकास करना है तभी वह मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। यदि वह कुछ समय के लिए गिर जाता है, तो उसे अपनी सम्पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक शक्ति लगाकर पुनः उठना पड़ेगा। यदि आप सोचते हैं कि मनुष्य अपनी शक्ति के किसी एक तत्व का शेष अन्य तत्वों की उपेक्षा करके विकास कर सकता है, तो कदाचित आप सूर्य की गर्मी से प्रकाश को और गुलाब से सौन्दर्य तथा सुगन्ध को भी पृथक कर सकते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि राज-

---

9 एम. जी. रानाडे, 'धर्म पर व्याख्यान' (मराठी)।

10 एम. एन. राय, *India in Transition*, पृष्ठ 177 : "रानाडे तथा उनके साथियों की देशभक्ति क्रान्तिकारी थी, क्योंकि वे पुरानी धार्मिक विकृतियों और सामाजिक परिपाटियों के हानिकारक प्रभाव को समझते थे और उनके विरुद्ध उन्होंने निर्भीकतापूर्वक युद्ध की घोषणा कर दी थी। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों की शक्ति एक उच्चतर कोटि की सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है, अतः उसे तब तक नहीं हिलाया जा सकता जब तक भारत के लोग प्रगतिशील विचारों से आन्दोलित नहीं हो उठते।"

11 रानाडे ने 'सामाजिक सम्मेलन आन्दोलन' की नींव डाली थी। उन्होंने ही कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ-साथ सामाजिक सम्मेलन करने की योजना प्रारम्भ की थी। प्रथम 'सामाजिक सम्मेलन' 1887 में मद्रास में हुआ।

12 *Indian Social Reform*, भाग 2, पृष्ठ 127।

नीतिक अधिकारों के क्षेत्र में आप निम्न स्तर पर हैं, तो आप अच्छी समाज-व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते; और न आप राजनीतिक अधिकारों का उपभोग करने के योग्य हो सकते हैं, यदि आपकी समाज-व्यवस्था विवेक तथा न्याय पर आधारित नहीं है।[13] आपकी अर्थ-व्यवस्था अच्छी नहीं हो सकती, यदि आपके सामाजिक सम्बन्ध दोषयुक्त हैं। यदि आपके धार्मिक आदर्श निम्न कोटि के तथा गिरे हुए हैं तो आपको सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में भी सफलता नहीं मिल सकती। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की यह पारस्परिक निर्भरता आकस्मिक घटना नहीं अपितु प्रकृति का नियम है। समाज शरीर के सदृश है। यदि आपके शरीर के आन्तरिक अवयवों में गड़बड़ी है तो आपके हाथ तथा पाँव स्वस्थ और वलिष्ठ नहीं हो सकते। जो नियम मानव शरीर पर लागू होता है, वही उस सामूहिक मानवता के विषय में सत्य है जिसे हम समाज अथवा राज्य कहते हैं। वह दृष्टिकोण गलत है जो राजनीतिक समस्याओं को सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों से पृथक करता है। कोई व्यक्ति किसी एक क्षेत्र में अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता, यदि वह अन्य क्षेत्रों में अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता है।"[14] रानाडे के अनुसार समाज-सुधार राष्ट्रीय चरित्र की दृढ़ता और शुद्धीकरण का एक साधन था। इसीलिए उन्होंने सामाजिक विकास के परिवर्धन को महत्व दिया। वे चाहते थे कि यदि भारत में सामाजिक विकास राजनीतिक उन्नति से पहले नहीं हो सकता तो कम से कम उसके साथ-साथ अवश्य चलना चाहिए। इसीलिए रानाडे ने बन्धन, सहज विश्वास की प्रकृति, सत्ता, विचारों की कट्टरता तथा भाग्यवाद के स्थान पर स्वतन्त्रता, आस्था, बुद्धि, सहिष्णुता तथा मानव गरिमा की भावना को प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया। इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते रानाडे में यह देख लेने की अन्तर्दृष्टि थी कि अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन धर्म परिवर्तन अथवा क्रान्ति के द्वारा नहीं लाया जा सकता; उसके लिए आवश्यक है कि नये विचारों तथा आदर्शों को धीरे-धीरे ग्रहण किया जाय और सावधानी से उन्हें आत्मसात किया जाय। इसलिए समाज की प्रकृति अवयवी है, और सामाजिक सम्बन्धों का तानाबाना साझेदारी की भावना से अनुप्राणित होना चाहिए—इन दो विचारों से प्रेरित होकर रानाडे ने देशवासियों के कल्याण के लिए व्यापक कार्यक्रम का समर्थन किया। इस प्रकार रानाडे तथा के. टी. तेलंग दोनों ही सामाजिक विकास तथा सुधार के सम्बन्ध में अवयवी और इतिहासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे। रानाडे हिन्दू समाज के पाँच आधारभूत दोषों का उन्मूलन करने के पक्ष में थे :

(1) बाह्य जगत से सम्पर्क न रखने की प्रवृत्ति,
(2) अन्त:करण की पुकार न सुनने और बाह्य सत्ता के समक्ष समर्पण करने की प्रवृत्ति,
(3) सामाजिक अधीनता, सामाजिक दूरी और जातीय अहंकार को बनाये रखना,
(4) बुराइयों को स्थायी रूप से बनाये रखने के प्रयत्नों को निष्क्रिय भाव से सहन कर लेना,
(5) जीवन के ऐहिक (लौकिक) क्षेत्रों में श्रेष्ठता प्राप्त करने की अनिच्छा।

जॉन स्टुअर्ट मिल की भाँति रानाडे स्त्रियों की पराधीनता तथा तज्जन्य सामाजिक दुर्बलताओं के विरुद्ध थे। उन्होंने स्वीकार किया कि देश की दुर्बलता तथा अधोगति के मूल में सामाजिक कारण ही मुख्य थे। इसलिए उनकी दृष्टि में सामाजिक उद्धार का राजनीतिक मुक्तीकरण से अवयवी सम्बन्ध था। 1897 में अमरावती के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था : "वे आन्तरिक रीतियाँ और विचार क्या हैं जिन्होंने पिछले तीन हजार वर्षों में हमारे पतन की गति को तीव्र किया है। ये विचार संक्षेप में इस प्रकार हैं : पृथकत्व की भावना, अन्त:करण की आवाज की अपेक्षा वाह्य शक्ति के समक्ष समर्पण करना, पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच वंशानुक्रम अथवा जन्म के आधार पर काल्पनिक भेद देखना, बुराइयों अथवा पापाचार को निष्क्रिय रूप से सहन कर लेना, और ऐहिक कल्याण के प्रति सामान्य उदासीनता जो बढ़कर भाग्यवाद की सीमाओं तक पहुँच गयी है। हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के मूल में ये मुख्य विचार रहे हैं। इनका स्वाभाविक परिणाम वर्तमान पारि-

---

13 एम. एन. राय रानाडे की सत्यनिष्ठा की प्रशंसा करते हुए (*India in Transition*, पृष्ठ 188) लिखते हैं कि उनकी ये भावनाएं एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के पवित्र उद्गार थीं। फिर भी राय स्वीकार करते हैं कि रानाडे उदीयमान नैतिक तथा सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधि थे।

14 सी. वाई. चिन्तामणि, *Indian Social Reform*, भाग 2, पृष्ठ 127-28।

वारिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत स्त्री पुरुष के अधीन है और नीची जातियाँ ऊँची जातियों के अधीन हैं। यह बुराई इस सीमा तक पहुँच गयी है कि मनुष्य मानवता के प्रति स्वाभाविक सम्मान की भावना से वंचित हो गया है।"[15] रानाडे ने इस मान्यता को भी चुनौती दी कि परित्यक्त मध्ययुगीन धर्मशास्त्रों को आधुनिक युग में सामाजिक आचरण का नियमन करने का अधिकार है। उनका मानस बन्धन-मुक्त हो चुका था, इसलिए वे जीर्णशीर्ण परिपाटियों से चिपटे रहने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण था कि वे जाति-व्यवस्था की जटिलता को तोड़ डालना चाहते थे, और विधवा-विवाह तथा बालकों के लिए विवाह की आयु को बढ़ाने के पक्ष में थे। सामाजिक अधोगति को रोकने के लिए उन्होंने सामाजिक मामलों में बुद्धि के प्रयोग पर बल दिया। सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न तथा संकल्पयुक्त सहनशीलता की आवश्यकता थी, सामाजिक रूढ़ियों के अत्याचारों के सामने निष्क्रियता से समर्पण करने से काम नहीं चलने वाला था। साथ ही साथ यह भी आवश्यक था कि समाज-सुधार का बीड़ा उठाने वाला स्वयं अपने चरित्र का सुधार करे। उसे अपने परिवार तथा गाँव को नये साँचे में ढालना था।

रानाडे के विचार में सामाजिक परिवर्तन का अधिक अच्छा मार्ग यह था कि जनता को समझाया जाय कि जिसे परिवर्तन माना जाता है उसका वेदों, स्मृतियों आदि प्राचीन धर्मग्रन्थों में ही विधान है। स्वामी दयानन्द तथा आर. जी. भण्डारकर ने यही मार्ग अपनाया था। किन्तु धार्मिक ग्रन्थों की अनुशास्ति के नाम पर अपील करने के अतिरिक्त रानाडे यह भी चाहते थे कि लोगों को प्रेरित किया जाय कि वे बाल-विवाह और मद्यपान का परित्याग करने तथा विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा करें और शपथ लें, उन्हें इस प्रकार की प्रतिज्ञा और शपथ की पवित्रता तथा गम्भीरता में विश्वास था। किन्तु उनका कहना था कि यदि इतिहास और परम्परा के नाम पर समझाने से और लोगों के अन्तःकरण से हार्दिक अपील करने से आवश्यक परिणाम न निकले तो राज्य के बाध्यकारी आदेश से समर्थित कानून का भी सहारा लिया जा सकता है।[16] इस प्रकार रानाडे ने स्वीकार किया कि आवश्यक सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शास्त्रों की आप्तता (प्रामाणिकता) तथा अन्तःकरण, दोनों के ही नाम पर अपील करना आवश्यक था। किन्तु वे सामाजिक परिवर्तनों के लिए राज्य की मशीन का प्रयोग करने के भी विरुद्ध नहीं थे। परम्परावादी दल, जिसके नेता तिलक थे, रानाडे की समाज-सुधार की नीति की आलोचना करता था। उसकी आलोचना के उत्तर में रानाडे ने कहा कि समाज-सुधारक किसी नितान्त नयी अथवा विदेशी वस्तु का प्रचार नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे अतीत की ओर लौटने का ही समर्थन करते हैं।[17] रानाडे ने बतलाया कि हिन्दू समाज की सामाजिक अनुदारता तथा परम्परानिष्ठता उस मध्य युग की अधोगति का परिणाम थी जब देश को विदेशी जातियों के अतिक्रमण तथा बर्बर आक्रमणों का शिकार होना पड़ा था। किन्तु प्राचीन काल में देश की परिपाटियों तथा रीति-रिवाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता को प्रमुखता दी जाती थी। यही कारण था कि उस युग में देश ने उल्लेखनीय राजनीतिक प्रगति की। भारतवासियों ने मंगोलिया से जावा तक सांस्कृतिक उपनिवेशीकरण के क्षेत्र में जो विशाल परीक्षण किये वे इस बात के द्योतक थे। किन्तु पिछले एक हजार वर्ष में मध्ययुगीन राजनीतिक पराभवजनित बोझ तथा प्रतिबन्धों ने देश की सामाजिक प्रगति को कुचल दिया था। इसलिए समाज-सुधार की समस्याओं के सम्बन्ध में प्रबुद्ध विवेक से काम लेना आवश्यक था। रानाडे का विश्वास था कि जिस नीति का समाज-सुधारक प्रचार कर रहे थे वह वास्तव में उस सुदूर अतीत की ओर लौटने की नीति थी जब देश की सामाजिक परम्पराएँ अधिक बुद्धिसंगत थीं। किन्तु रानाडे चाहते थे कि समाज-सुधारकों को सावधानी और संयम से काम लेना चाहिए और अतीत का यथोचित सम्मान करना चाहिए।

---

15 सी. वाई. चिन्तामणि, *Indian Social Reform*, पृष्ठ 91।

16 रानाडे का भाषण, *Indian Social Reform* (सी. वाई. चिन्तामणि द्वारा सम्पादित) भाग 2, पृष्ठ 25।

17 रानाडे ने वशिष्ठ और विश्वामित्र पर एक निबन्ध लिखा और उनमें प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लचीलेपन की विवेचना की। इसके अतिरिक्त देखिये रानाडे कृत, "The Sutra and Smriti Dicta on the subject of Hindu Marriage," *Sarvajanik Sabha Journal* (1889); एम. जी. रानाडे का लेख "Vedic Authorities for Widow Marriage."

4. मराठों की शक्ति का उत्कर्ष

रानाडे ने भारतीय इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था, और वे भारतीय इतिहास का भारतीय दृष्टिकोण से निर्वचन करना चाहते थे। उनके विचार में भारत का इतिहास असम्बद्ध घटनाओं का विवरण मात्र नहीं है, बल्कि उसमें गम्भीर नैतिक सन्देश निहित है। उन्होंने भारतीय इतिहास में मराठों की भूमिका की नये ढंग से व्याख्या की है। 1900 में उन्होंने अपना 'राइज आव द मराठा पावर' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया।[18] उन्होंने इस मत का खण्डन किया कि मराठों का उत्कर्ष सैनिक तथा राजनीतिक ढंग का आकस्मिक तथा अस्थायी विस्फोट था। उन्होंने मराठा इतिहास के आध्यात्मिक तथा नैतिक आधारों का वर्णन किया। इस कार्य में उन्होंने गम्भीर बुद्धिमत्ता तथा महाराष्ट्र के प्रति उचित देशभक्ति का परिचय दिया। शिवाजी (1627-1680) के आदर्श चरित्र के लिए उनके मन में गम्भीर श्रद्धा थी, और वे उन्हें एक साम्राज्य-निर्माता तथा प्रथम श्रेणी का राजनीतिज्ञ मानते थे। रानाडे का मत था कि शिवाजी ने उन सब विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक तथा लोकतांत्रिक शक्तियों को जिनकी पहले उत्पत्ति हो चुकी थी, सामूहिक कार्य के लिए एक सूत्र में बाँधा। वे महान संगठनकर्ता थे और उन्होंने उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही निर्माण कार्य किया था। शिवाजी महान विजेता ही नहीं थे, उनका नैतिक चरित्र उच्च कोटि का था, और उनका विश्वास था कि मराठों को एकता तथा सुदृढ़ता प्रदान करने के कार्य में एक उच्च दैवी शक्ति उनका पथ-प्रदर्शन कर रही थी। वे महान देशभक्त थे और उनकी न्याय की भावना अत्यन्त तीव्र थी।[19] उनका व्यक्तिगत जीवन उच्च कोटि के आदर्शवाद से अनुप्राणित था, और उनकी नैतिक तथा आध्यात्मिक आस्थाएँ अत्यन्त गम्भीर थीं। उनमें किसी कार्य से क्या उद्देश्य पूर्ण होता है, यह समझने की अद्भुत क्षमता थी, और उनमें चमत्कारी नेता के गुण विद्यमान थे।

रानाडे ने मराठा इतिहास की मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण किया। (1) उन्होंने इस सामान्यत: प्रचलित मत का खण्डन किया कि अंग्रेजों ने भारत की सत्ता मुसलमानों के हाथों से छीनी थी। मुसलिम शक्ति का सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में ही ह्रास हो चुका था। यद्यपि मराठों की शक्ति का उदय पश्चिमी महाराष्ट्र में हुआ, किन्तु कालान्तर में भारत का अधिकांश उनके नियंत्रण में आ गया। मराठों ने लगभग आधी शताब्दी तक दिल्ली में मुगल सम्राटों को अपनी इच्छानुसार बनाया और बिगाड़ा। अत: रानाडे लिखते हैं : "......भारत में ब्रिटिश शासकों के तात्कालिक पूर्वगामी मुसलमान नहीं थे, जैसा कि प्राय: बिना सोचे-समझे मान लिया जाता है, वे वास्तव में देशी शासक थे जिन्होंने मुसलमानों के प्रभुत्व का जुआ सफलतापूर्वक उतार फेंका था। ग्राण्ट डफ के अनुसार मराठा इतिहास का वस्तुत: यही विशेष कौतुकपूर्ण लक्षण है। उन्होंने लिखा है कि मराठे "भारत की विजय में हमारे पूर्वगामी थे, उनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही थी, और अन्त में उन्हें शिवाजी भौंसले नामक दूर-दूर तक विख्यात एक साहसी मिल गया।" बंगाल तथा चोलमण्डल तट को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में जिन शासकों को अंग्रेज विजेताओं ने अपदस्थ किया वे मुसलिम सूबेदार नहीं थे, बल्कि हिन्दू शासक थे जिन्होंने अपनी स्वाधीनता की सफलतापूर्वक स्थापना कर ली थी।"[20]

(2) रानाडे का विचार था कि महाराष्ट्र का पुनर्जागरण वास्तविक राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में एक प्रारम्भिक प्रयोग था, क्योंकि वह उस सम्पूर्ण जनता का विप्लव था जो धर्म, भाषा, नस्ल तथा साहित्य के सामान्य सम्बन्धों के बन्धनों में बँधी हुई थी। वह कोई अभिजात वर्ग अथवा पूँजीपति (बुर्जुआ) वर्ग का आन्दोलन नहीं था[21] बल्कि उसे देहात में बसने वाले विशाल जनसमुदाय का

---

18 एम. जी. रानाडे, *Rise of the Maratha Power* (पुनलेकर एंड कं., बम्बई, 1900)। रानाडे इस पुस्तक को पूरा नहीं कर पाये थे। उन्होंने कुछ अन्य लेख और निबन्ध भी लिखे—"Introduction to the Satara Raja's and the Peshva's Diaries" तथा "Mints and Coins of the Maratha Period."

19 *Rise of the Maratha Power*, पृष्ठ 57-58।

20 वही, पृष्ठ 4।

21 रानाडे ने शिवाजी की प्रशासन-व्यवस्था—अष्टप्रधान तथा पेशवाओं की शासन-प्रणाली—का अन्तर समझाया। पेशवाओं की व्यवस्था अधिक प्रसारवादी थी और परिसंघीय राज्यतन्त्र प्रणाली पर आधारित थी। रानाडे ने पेशवाओं के उत्कर्ष की तुलना जर्मनी के रीख के अन्तर्गत प्रशिया के राजतन्त्र के उत्थान से की।

ठोस समर्थन प्राप्त था। मराठों का इतिहास वास्तव में सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण का इतिहास है। यद्यपि मराठों की नीति उतनी मात्रा में ठोस राजनीतिक एकता को जन्म न दे सकी जितनी कि हमें पश्चिमी यूरोप के देशों में देखने को मिलती है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसका रूप वास्तविक अर्थ में राष्ट्रीय था।[22] रानाडे लिखते हैं : "उसकी नींव जनता के हृदयों में चौड़ी और गहरी रखी जा चुकी थी। बंगाल, कर्नाटक, अवध और हैदराबाद की सूबेदारियों के विपरीत मराठा शक्ति का उदय इसलिए हुआ था कि महाराष्ट्र में उस वस्तु का प्रारम्भ हो चुका था जिसे हम राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया कहते हैं। वह किसी व्यक्तिगत साहसी के सफल उद्योग का परिणाम नहीं था। वह उस समस्त जनता का विप्लव था जो भाषा, नस्ल, धर्म तथा साहित्य के सामान्य सम्बन्धों से दृढ़तापूर्वक परस्पर बँधी हुई थी, और जो सामान्य स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन के द्वारा अपनी एकता को और भी अधिक सुदृढ़ करना चाहती थी। भारत में विदेशी मुसलिम आक्रमणों के विनाशकारी युग के बाद यह अपने ढंग का पहला प्रयोग था।"[23] अतः मराठों का इतिहास न तो कोई उपद्रवों की शृंखला है और न लुटेरेपन की प्रवृत्ति का घनीभूत रूप है, जैसा कि कुछ दुर्भावियुक्त इतिहासकारों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है; बल्कि उसका नैतिक महत्व है, और वह देश के राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में एक महान घटना थी।

(3) मराठों की शक्ति का उदय केवल एक राजनीतिक घटना नहीं थी। उससे पहले प्रचण्ड सामाजिक तथा धार्मिक जागरण हो चुका था और उसके साथ-साथ हो रहा था। उसने नागरिक अधिकारों की आकांक्षाओं को तीव्र किया, और उसके सामान्य संघटन के फलस्वरूप कला, साहित्य, राजनीति तथा धर्म के क्षेत्रों में सर्जनात्मक शक्तियाँ फूट पड़ीं। यह सांस्कृतिक उथल-पुथल तथा पुनर्निर्माण परम्परागत ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान नहीं था, बल्कि उसकी अपनी तीन महत्वपूर्ण विशेषताएँ थीं। प्रथम, अंशतः उसका स्वरूप परम्परा-विरोधी था और उसका नेतृत्व ज्ञानेश्वर,[24] नामदेव,[25] एकनाथ,[26] तुकाराम,[27] रामदास,[28] जयरामस्वामी और वामन पण्डित[29] सरीखे महान धार्मिक नेताओं ने किया। रामदास ने राष्ट्रीय ध्वज का रंग निर्धारित किया और अभिवादन की एक नयी प्रणाली प्रारम्भ की। दूसरे, यह आन्दोलन एलबर्ट्स मैग्नस एक्विनास और कूसा के निकोलस के आन्दोलनों की भाँति पाण्डित्यपंथी और तात्विक नहीं था, बल्कि उसका रूप फ्लोरिस के जोचिम, असीसी के फ्रान्सिस और टेरेसा तथा वोह्म के आन्दोलनों के सदृश श्रद्धामूलक तथा भक्तिमार्गी था। महाराष्ट्र के सन्त एकेश्वरवादी थे, किन्तु मूर्तिभंजक नहीं थे। तीसरे, इस आन्दोलन ने अंशतः सामाजिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया और आत्म-निर्भरता तथा सहिष्णुता का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के सन्तों और देवदूतों ने सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में जो योग दिया उसको रानाडे बहुत महत्वपूर्ण मानते थे।[30] रानाडे लिखते हैं : "......जो आन्दोलन

---

22 एम. एन. राय ने मराठों के उत्कर्ष की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है (*India in Transition*, पृष्ठ 152-55)। उनका कहना है कि मराठों की शक्ति देशी सामन्तवाद की प्रतीक था। अपनी सामन्ती परम्पराओं के कारण मराठा राज्यतन्त्र भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने में असफल रहा, और उसने विकृत होकर मध्ययुगीन सैनिक साम्राज्यवाद का रूप ले लिया।

23 *Rise of the Maratha Power*, पृष्ठ 6-7।

24 ज्ञानेश्वर (1275-1300) ने भगवद्गीता पर अपनी 'ज्ञानेश्वरी' नामक टीका 1290 में समाप्त करली और 1300 में उनका देहावसान हो गया। उन्होंने 'अमृतानुभव' और 'हरिपथ' की भी रचना की थी।

25 नामदेव चौदहवीं शताब्दी में हुए थे (1270-1350)। वे दर्जी का व्यवसाय करते थे। उन्होंने महाराष्ट्र तथा पंजाब में उपदेश दिये।

26 एकनाथ (लगभग 1533-1599) 'रुक्मिणी स्वयंवर' तथा 'भावार्थरामायण' के रचयिता थे। उन्होंने भागवत के एकादश स्कन्ध का मराठी में अनुवाद किया। कुछ लोगों का विश्वास है कि उनकी मृत्यु 1608 में हुई थी।

27 तुकाराम (1608-1649)। रानाडे ने तुकाराम के 'अभंग' का गम्भीर अध्ययन किया था।

28 रामदास (1605-1681) शिवाजी के प्रसिद्ध गुरु थे। उन्होंने 'दासबोध', 'आत्माराम', 'मनोबोध', 'कर्मनाष्टक' इत्यादि की रचना की थी।

29 वामन पण्डित का 1695 में देहावसान हुआ। उन्होंने भगवद्गीता पर 'यथार्थदीपिका' नामक टीका लिखी थी। उन्होंने 'कर्मतत्व' और 'नामसिद्ध' की भी रचना की थी।

30 जिस प्रकार शिवाजी को रामदास से प्रेरणा मिली उसी प्रकार पेशवा बाजीराव प्रथम ने ब्रह्मेन्द्र स्वामी से प्रेरणा ली थी।

ध्यानदेव से प्रारम्भ हुआ वह आध्यात्मिक गुणों के विकास की अविरल धारा के रूप में पिछली शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। उसने हमें देश की लोकभाषा में बहुमूल्य साहित्य प्रदान किया। उसने जातीय पृथकत्व की पुरानी भावना की कठोरता को कम करने में योग दिया। उसने शूद्रों को उठाकर आध्यात्मिक शक्ति तथा सामाजिक महत्व की स्थिति पर प्रतिष्ठित किया और लगभग ब्राह्मणों के समकक्ष स्थान प्रदान कर दिया। उसने पारिवारिक सम्बन्धों को पवित्रता प्रदान की और स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाया। उसने राष्ट्र को अधिक दयालु बनाया, और साथ ही साथ उसमें पारस्परिक सहिष्णुता के आधार पर एक सूत्र में बँधे रहने की प्रवृत्ति को उत्तेजित किया। उसने मुसलमानों के साथ मेल-मिलाप की योजना सुझायी और अंशतः उसको कार्यान्वित भी किया। उसने धार्मिक पूजापाठ, अनुष्ठानों, तीर्थयात्रा, व्रत-उपवास, विद्वत्ता तथा ध्यान-चिन्तन के महत्व को कम किया, और प्रेम तथा श्रद्धा के द्वारा आराधना करने को श्रेष्ठ ठहराया। उसने बहुदेववाद की अति को कम किया। इन सब तरीकों से उसने राष्ट्र का चिन्तन तथा कर्म की समता के स्तर को सामान्य तौर पर ऊँचा उठाया, और उसे विदेशी आधिपत्य के स्थान पर संयुक्त देशी शक्ति की पुनः-स्थापना के कार्य में नेतृत्व करने के लिए तैयार किया, भारत के अन्य किसी राष्ट्र को इस प्रकार तैयार नहीं किया गया था। महाराष्ट्र के धर्म की ये मुख्य विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। सन्त रामदास ने जब शिवाजी के पुत्र को अपने पिता के चरणचिह्नों पर चलने और उनके धर्म का प्रचार करने की सलाह दी तो उस समय उनकी दृष्टि में यही धर्म था—सहिष्णु, उदार, गम्भीरतम रूप से आध्यात्मिक और फिर भी पुराने विश्वासों के विरुद्ध नहीं।"[31] रानाडे ने बतलाया कि महाराष्ट्र के सन्तों और आचार्यों का प्रभाव वैसा ही था जैसा कि पाश्चात्य इतिहास पर यूरोपीय धर्म सुधार के नेताओं का पड़ा था। पश्चिमी यूरोप में लूथर, काल्विन, मैलंक्थन, ज्विगली और जौन नॉक्स ने पोप की सत्ता के विरुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा पवित्रता का समर्थन किया था। महाराष्ट्र के सन्तों ने भी स्वेच्छाचारी पुरोहित वर्ग के विरुद्ध विद्रोह किया और मानव प्राणी की सर्वोच्चता का शंखनाद किया। उन्होंने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया जो तत्वतः स्वतन्त्रता की खोज का आन्दोलन बन गया। सन्तों ने धार्मिक अनुष्ठानों, पुजारीपंथों, जातीय अहंकार तथा संस्कृत भाषा की सर्वोच्चता के स्थान पर सरलीकृत आराधना, सामाजिक समानता, ईश्वरीय राज्य में सबके लिए समान प्रवेश का समर्थन किया, और लोकभाषा के विकास को गति प्रदान की। इससे रानाडे की गम्भीर सूझबूझ का परिचय मिलता है कि उन्होंने महाराष्ट्र के सन्तों और उपदेशकों के सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना की।

यद्यपि रानाडे की मराठा इतिहास की व्याख्या को सर्वस्वीकृति नहीं मिली है, फिर भी मानना पड़ेगा कि उसके पीछे गम्भीर चिन्तन तथा राजनीतिक शक्ति के नैतिक आधार की छानबीन करने का सच्चा प्रयत्न छिपा हुआ है।[32]

5. रानाडे का आर्थिक दर्शन

(क) संस्थापक (क्लासीकल) सम्प्रदाय की पद्धति तथा मान्यताओं की आलोचना— रानाडे ने इस धारणा का विरोध किया कि अर्थशास्त्र के नियम अपरिवर्तनशील होते हैं, और उन्होंने अर्थशास्त्र की समस्याओं के सम्बन्ध में गतिशील, आगमनात्मक तथा सापेक्ष पद्धति का समर्थन किया। उन्हें स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो, मैककुलौ और बस्टियाट के आर्थिक चिन्तन का अच्छा ज्ञान था। उनका विचार था कि एडम स्मिथ, रिकार्डो और जॉन स्टुअर्ट मिल के समग्र विचारों को भारत की परिस्थितियों में लागू नहीं किया जा सकता है। यद्यपि उस समय भारतीय अर्थतंत्र उसी दौर से गुजर रहा था जिससे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में ब्रिटेन के अर्थतंत्र को गुजरना पड़ा

---

31 *Rise of the Maratha Power*, पृष्ठ 171-72।

32 रानाडे के दो अन्य महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध हैं : "Currencies & Mints under Maratha Rule" तथा "Introduction to the Peshwa's Diaries," *Miscellaneous Writings of M. G. Ranade*, पृष्ठ 330-80।

था, फिर भी दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर था,[33] और किसी भी आर्थिक गणना में उनको ध्यान में रखना आवश्यक था। स्मिथ, रिकार्डो और जेम्स स्टुअर्ट मिल की पद्धति काल्पनिक और उद्गमनात्मक थी। वह पर्याप्त रूप में ऐतिहासिक तथा वस्तुगत नहीं थी। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का संस्थापक सम्प्रदाय (क्लासीकल सम्प्रदाय) आर्थिक मानव की परिकल्पनात्मक धारणा पर आधारित है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य के अभिप्रेरण तथा कार्य स्वार्थ तथा प्रतिस्पर्धा से संचालित होते हैं। व्यक्ति परमाणु के सदृश स्वतंत्र और असम्बद्ध है और वह सम्पत्ति का उत्पादन करके अधिकाधिक मात्रा में अपना स्वार्थ पूरा करता है। वही अपने स्वार्थों के सम्बन्ध में सबसे अच्छा निर्णय कर सकता है। संस्थापक तथा प्रकृतिवादी (फिजियोक्रेट) सम्प्रदायों के अर्थशास्त्रियों ने राजकीय प्रबन्ध तथा हस्तक्षेप की उस नीति की आलोचना की जिसका समर्थन यूरोप के वाणिज्यवादियों और कामेरवादियों ने किया था। संस्थापक सम्प्रदाय बाजार में पूँजीपतियों तथा श्रमिकों की स्वतन्त्रता का समर्थक था। उसका कहना था कि पूँजी तथा श्रम दोनों ही जहाँ अधिक लाभ की आशा हो वहाँ जा सकते हैं। लाभ और मजदूरी दोनों में एक सामान्य स्तर प्राप्त करने की सार्वभौम प्रकृति हुआ करती है। इसी प्रकार माँग और पूर्ति के बीच स्वाभाविक रूप से पारस्परिक समंजन (तालमेल) होता रहता है। इसीलिए इस सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री राजकीय हस्तक्षेप के विरुद्ध थे और उसे व्यक्ति के प्राकृधिक अधिकारों का अनुचित अतिक्रमण मानते हैं। माल्थस ने अपनी रचनाओं में 'मजदूरी के लौह नियम' का समर्थन किया था और यह भी बतलाया था कि जनसंख्या की वृद्धि गुणोत्तर श्रेणी की दर (2, 4, 8, 16, 32) से और भौतिक साधनों की वृद्धि समान्तर (2, 4, 6, 8, 10) श्रेणी की दर से हुआ करती है, इसलिए उन दोनों की वृद्धि के अनुपात में भारी अन्तर पाया जाता है। रानाडे ने भारतीय अर्थतंत्र पर अपना भाषण डेकन कॉलिज पूना में 1892 में दिया।[34] यह वह समय था जब संस्थापक सम्प्रदाय की धारणाओं और निष्कर्षों की आलोचना चार विचार-सम्प्रदाय कर रहे थे—जर्मनी में वैगनर, श्मोलर, रोशेर और क्नीस आदि अर्थशास्त्रियों का ऐतिहासिक सम्प्रदाय; आस्ट्रिया में वीजर और बोह्म-बावर्क का सीमान्त उपयोगिता का सम्प्रदाय; मार्क्सवादी तथा समाजवादी सम्प्रदाय; और टी. एच. ग्रीन का प्रत्ययवादी सम्प्रदाय। रानाडे पर आगस्त कॉम्ट की विध्यात्मक (पॉजिटिव) पद्धति, एडम मुलर के रोमांटिक विचारों तथा फ्रीड्रिख लिस्ट के संरक्षणवाद का प्रभाव था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि संस्थापक सम्प्रदाय की पद्धति तथा सिद्धान्त तर्क दोष से युक्त हैं, विशेषकर भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में। अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में वे समाजशास्त्रीय पद्धति को अधिक अच्छा समझते थे। उनका कहना था कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है, इसलिए उसका अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति से किया जाना चाहिए। भौतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में जिस तात्विक, विश्लेषणात्मक और प्रागानुभविक पद्धति का विकास किया गया है वह अर्थशास्त्र के लिए उपयुक्त नहीं है। विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं के विकास का अध्ययन करके ही ऐसे नियम निर्धारित किये जा सकते हैं जो सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त हों। सार्वभौम अपरिवर्तनशील नियम तो केवल भौतिक विज्ञानों में देखने को मिल सकते हैं। जर्मनी के ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने अर्थशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में प्रचलित 'सार्वभौमता तथा शाश्वतवाद' की धारणा के विरुद्ध जो विद्रोह किया था, उससे रानाडे को सहानुभूति थी।[35] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्थापक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने 'आर्थिक मानव' की परिकल्पना की थी, और उसी के आर्थिक हितों को सर्वोपरि माना था; इसके विपरीत रानाडे ने सार्वजनिक कल्याण को प्रधानता दी। अर्थतन्त्र की प्रक्रिया सतत विकास करती रहती है, इसलिए यदि संस्थापक सम्प्रदाय की प्रस्थापनाएँ कुछ अंशों में समाज के स्थिर पहलुओं पर लागू भी हो सकती थीं, तो भी वे अर्थ-

तन्त्र के गतिशील पहलुओं की प्रवृत्तियों को प्रकट करने में असमर्थ थीं। रानाडे पर जर्मन अर्थशास्त्रियों के रोमांटिक सम्प्रदाय का, जिसके नेता एडम मुलर और फ्रीड्रिख लिस्ट थे, विशेष प्रभाव था। उन्होंने लिखा है : "इस विषय के प्रतिपादन में जो मताग्रह दिखायी देता है उसकी जड़ ये मान्यताएँ (संस्थापक सम्प्रदाय की) ही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वे किसी भी विद्यमान समाज के सम्बन्ध में अक्षरश: सत्य नहीं हैं। जहाँ तक ये मान्यताएँ समाज की किसी विशेष अवस्था के सम्बन्ध में लगभग सत्य हैं वहाँ तक वे उस अवस्था की अपरिवर्तनशील अर्थव्यवस्था की सही व्याख्या मानी जा सकती हैं। किन्तु वे उसको गतिशील उन्नति अथवा विराम के सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं दे सकतीं। चूँकि ये मान्यताएँ उन्नत समाजों के सम्बन्ध में भी निरपेक्षत: सत्य नहीं हैं, अत: स्पष्ट है कि हमारे जैसे समाजों के विषय में तो वे एकदम निरर्थक हैं। हमारे समाज में व्यक्तिगत मनुष्य आर्थिक मानव से एकदम उलटा है। समाज में व्यक्ति की स्थिति निर्धारित करने में स्वयं उसकी अपेक्षा परिवार तथा जाति अधिक शक्तिशाली होते हैं। धन की इच्छा के रूप में स्वार्थ का नितान्त अभाव नहीं है, किन्तु वह जीवन का एकमात्र अथवा प्रमुख उद्देश्य नहीं है। धन का अर्जन ही एकमात्र आदर्श नहीं है। लोगों में न तो मुक्त तथा असीम प्रतिस्पर्धा की इच्छा है और न उसके लिए स्वाभाविक क्षमता। कुछ पूर्वनिर्धारित समूहों के भीतर अवश्य थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता देखने को मिलती है। प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा रूढ़ियों तथा राजकीय नियमन का अधिक महत्व है, और इसी प्रकार संविदा की तुलना में प्रास्थिति (हैसियत) का अधिक निर्णायक प्रभाव है। न पूँजी चलायमान है और न श्रम, और न पूँजीपतियों तथा श्रमिकों में इतना साहस तथा बुद्धि है कि वे सरलता से स्थान परिवर्तन कर सकें। मजदूरी तथा लाभ निश्चित होते हैं, परिस्थितियों के अनुसार उनमें नमनीयता अथवा परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती।....इस प्रकार के समाज में वे प्रवृत्तियाँ जिन्हें स्वयंसिद्ध मान लिया गया है, निष्क्रिय ही नहीं हैं, बल्कि वास्तव में वे अपनी सही दिशा से भटक जाती हैं।....जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सैद्धान्तिक अर्थतन्त्र की सम्पूर्ण व्यवस्था के इस परिकल्पनात्मक स्वरूप को मिल, केर्न्स तथा अर्थशास्त्र के अन्य आचार्यों ने न्यूनाधिक स्पष्टत: स्वीकार किया है।...आप जानते हैं कि अर्थशास्त्र के जो सिद्धान्त साधारणत: पाठ्य पुस्तकों में पढ़ाये जाते हैं उन्हें उस देश में ही चुनौती दी जा रही है जहाँ उनका जन्म तथा उच्चतम विकास हुआ था। यही नहीं, वह अर्थशास्त्र व्यावहारिक जीवन में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है, इसमें भी सन्देह व्यक्त किया जा रहा है।"[36] संस्थापक सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र के निष्ठुर प्राकृतिक नियमों की आलोचना में रानाडे पर हैमिल्टन तथा कैरी की रचनाओं और स्विस अर्थशास्त्री सिसमौंदी के विचारों का प्रभाव था। रिकार्डो, माल्थस, नासाउ सीनियर, जेम्स मिल, टॉरेंस और मैककुलॉक का आर्थिक दर्शन जटिल मताग्रह पर आधारित था। जॉन स्टुअर्ट मिल, केर्न्स, वेजहॉट, लेस्ली और जीवान्स ने उनकी पद्धति तथा निष्कर्षों के विरुद्ध विद्रोह किया। ऑगस्त कॉम्त का विध्यात्मक समाजशास्त्र भी इसी प्रकार संस्थापक सम्प्रदाय की उद्गमनात्मक पद्धति के विरुद्ध प्रक्रिया थी।[37] इसके अतिरिक्त इटली में गाइओगा और लुडोविको ने भी संस्थापक सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ किया, उन्होंने अर्थतन्त्र के राजकीय नियमन का समर्थन किया, और अर्थशास्त्र के नियमों के सम्बन्ध में सापेक्षतावादी दृष्टिकोण का पक्ष-पोषण किया।

रानाडे ने ब्रिटिश संस्थापित अर्थशास्त्र की पद्धति तथा तात्विक निष्कर्षों को ही चुनौती नहीं दी, बल्कि उन्होंने यह भी बतलाया कि उसके सिद्धान्त भारत में लागू किये जाने के योग्य नहीं हैं।[38] उन्होंने भारत की आर्थिक बीमारियों का उन्मूलन करने के लिए भावात्मक उपायों को अपनाने का समर्थन किया। उन्होंने अनुरोध किया कि अपेक्षित आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार को आवश्यक कार्यवाही करनी चाहिए। वे यह मानते थे कि किसी समाज के संस्थागत तथा ऐति-

---

36 एम. जी. रानाडे, "Indian Political Economy," *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 10-12।

37 रानाडे, *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 18-19।

38 अहस्तक्षेप की नीति बुराइयों के सम्बन्ध में अपने विचारों की पुष्टि के लिए रानाडे ने एस. लग की रचना *A Modern Zoroastrian* तथा डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की *A Study in Indian Administration* को भी उद्धृत किया।

हासिक आदर्श और उसके सदस्यों के जीवनोद्देश्य एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। वे देश में विविधतापूर्ण अर्थव्यवस्था का विकास चाहते थे। रानाडे का यह भी अनुरोध था कि विदेशियों को भारत में अपनी पूँजी लगाने के लिए प्रेरित किया जाय। देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाने के लिए देशी तथा विदेशी दोनों ही प्रकार के पूँजीपतियों को प्रोत्साहन दिया जाय। वे इस पक्ष में भी थे कि बाहर के लोग आकर देश में बसें और देश के लोग बाहर जाकर अपने उपनिवेश बसायें।[39] उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि घनी जनसंख्या वाले कृषि-क्षेत्रों के लोग नये क्षेत्रों में जाकर बसें। उनका कहना था कि इससे आर्थिक तथा नैतिक दोनों ही प्रकार का कल्याण होगा। वे आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही प्रकार के प्रवजन (स्थानान्तरण, देशान्तरण) के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि सरकार औद्योगिक विकास के लिए साहसपूर्ण नीति प्रारम्भ करे। आर्थिक जीवन में राजकीय अहस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किये उनकी पुष्टि के लिए उन्होंने रूसी जार पीटर तथा कोल्बेयर की आर्थिक कार्यवाहियों का उल्लेख किया। रानाडे ने उग्र व्यक्तिवाद के मार्ग का विरोध किया और कहा कि राज्य को सम्पत्ति के पुनर्वितरण का कार्य भी करना चाहिए। उन्होंने सरकार की भूराजस्व सम्बन्धी नीति में परिवर्तन लाने का भी समर्थन किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रानाडे का आर्थिक दर्शन क्वेस्ने, स्मिथ, रिकार्डो तथा स्पेंसर के विचारों के निषेध पर आधारित है। किन्तु साथ ही साथ वे समाजवादी नीति के अनुयायी भी नहीं थे। उन्हें मार्क्स तथा कॉट्स्की के उग्र विचारों से सहानुभूति नहीं थी। वे पूँजीवादी आधार पर देश का विकास चाहते थे।

(ख) भारत की दरिद्रता के लिए उत्तरदायी तत्व—रानाडे ने भारत की भयंकर तथा घोर दरिद्रता के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया। वे प्रसिद्ध 'निर्गम' सिद्धान्त से परिचित थे जिसे दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में प्रतिपादित किया था। किन्तु वे स्वयं दादाभाई के दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। 1890 में पूना में हुए प्रथम औद्योगिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था: "कुछ लोग सोचते हैं कि जब तक हम इंगलैण्ड को भारी कर देते रहेंगे जिसमें हमारे अतिरिक्त निर्यात का लगभग बीस करोड़ चला जाता है, तब तक हमारे दुर्भाग्य का अन्त नहीं होगा और न हम अपने पाँवों पर खड़े हो सकेंगे। किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना न तो न्यायसंगत है और न पुरुषोचित। इस भार का एक अंश तो उस धन का ब्याज है जो हमें उधार दिया जाता है अथवा हमारे देश के उद्योग-धन्धों में लगाया जाता है। अतः हमें शिकायत करने के बजाय इस बात के लिए आभारी होना चाहिए कि एक ऐसा साहूकार है जो ब्याज की कम दर पर हमारी आवश्यकताएँ पूरी कर देता है। दूसरा अंश उस सामान का मूल्य है जो हमें दिया जाता है और जैसा हम स्वयं अपने यहाँ नहीं बना सकते। शेष राशि वह है जिसे प्रशासन, प्रतिरक्षा, तथा पेंशनों के भुगतान के लिए आवश्यक बतलाया जाता है। यद्यपि इस शिकायत का आधार है कि यह सब आवश्यक नहीं है, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ब्रिटेन से सम्बन्धों के कारण हम अफीम के एकाधिकार द्वारा लगभग उतना ही कर चीन से वसूल कर लेते हैं। इसलिए मैं नहीं चाहता कि आप इस कर के प्रश्न को लेकर निरर्थक विवाद में पड़ें और अपनी शक्तियों का अपव्यय करें। अच्छा हो कि आप इस प्रश्न को अपने राजनीतिज्ञों के लिए छोड़ दें।"[40]

रानाडे के अनुसार भारत की दरिद्रता के छह मुख्य कारण थे: (1) धन-उत्पादन के एकमात्र साधन के रूप में कृषि पर निर्भर रहना एक बड़ी कमी थी। उस समय भूमि के पुनर्वितरण के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाता था, रानाडे ने उसका विरोध किया और उत्पादन की वृद्धि तथा औद्योगिक विकास पर बल दिया। उन्होंने बंगाल भूमिधारण विधेयक की प्रुशिया के भूमि विधान से तुलना की और बतलाया कि बंगाल विधेयक किसानों की दृष्टि से अन्यायपूर्ण था। (2) नये उद्योगों में, विशेषकर लोहे में, लगाने के लिए पूँजी का अभाव अन्य आधारभूत कठिनाई थी। (3) ऋण की पुरानी व्यवस्था, (4) कुछ क्षेत्रों में जनसंख्यातिरेक, (5) साहस की प्रवृत्ति तथा जोखिम उठाने की भावना की कमी, और (6) परम्पराबद्ध सामाजिक व्यवस्था तथा गतिशील

---

39 अपने निबन्ध "Indian Foreign Emigration" (1893) में रानाडे ने इस बात का समर्थन किया कि विदेशी लोग आकर भारत में बसें।

40 एम. जी. रानाडे, *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 200।

अर्थतंत्र की माँग—इन दोनों के बीच असामंजस्य भारत की दरिद्रता के अन्य महत्वपूर्ण कारण थे। रानाडे का विचार था कि देश का आर्थिक कल्याण तभी हो सकेगा जबकि उद्योग, व्यापार तथा कृषि, तीनों का एक साथ विकास किया जाय।

(ग) **कृषि अर्थशास्त्र**—भारत की दरिद्रता का एक प्रमुख कारण यह था कि देश अनन्य रूप से कृषि पर निर्भर था, और कृषि की स्थिति अनिश्चित थी। किसानों की दशा सचमुच भयावह थी। वे ऋण के बोझ से कुचले जा रहे थे; और ग्रामीण उद्योग समुचित पूँजी के अभाव में नष्टप्राय हो चुके थे। सरकार भूराजस्व बढ़ाती जा रही थी, इससे किसानों में घोर निराशा तथा असन्तोष व्याप्त था। इसलिए रानाडे चाहते थे कि रैयत का ऋण के दलदल से उद्धार करने के लिए कानून बनाये जायँ और भूराजस्व व्यवस्था का तत्काल सुधार किया जाय।[41] उन्होंने इस बात का भी अनुरोध किया कि स्विट्जरलैण्ड, हंगरी, फ्रांस, बेल्जियम और इटली के नमूने पर ग्रामीण साहूकारी व्यवस्था का पुनः संगठन किया जाय।[42]

(घ) **औद्योगीकरण**—रानाडे अबन्ध-नीति के कटु आलोचक थे और उनका आदर्शवाक्य था कि 'औद्योगीकरण करो अथवा नष्ट हो जाओ,' इसलिए उन्होंने अनुरोध किया कि औद्योगीकरण के मामले में राज्य को पहल करनी चाहिए। वे इस पक्ष में थे कि सरकार लोहा, कोयला, कागज, काँच, शक्कर तथा तेल के उद्योगों के विकास के लिए निजी उद्यम चलाने वालों को ब्याज की सस्ती दर पर ऋण दे। उन्होंने इसका भी समर्थन किया कि ग्रामीण उद्योगों में भी पूँजी लगायी जाय। वे चाहते थे कि सरकार जमा बैंकों तथा वित्त बैंकों के निर्माण में सहायता दे। 1890 में उन्होंने पूना के औद्योगिक सम्मेलन में 'नैदरलैण्ड्स इण्डिया एण्ड द कल्चर सिस्टम' शीर्षक निबन्ध पढ़ा।[34] उसमें उन्होंने सुझाव दिया : "वर्तमान प्रणाली के स्थान पर इस प्रकार की व्यवस्था की जाय—सरकार जिले और नगर में जमा धन को नगरपालिकाओं और जिला परिषदों अथवा जिला सहकारी बैंकों को उधार दे दे। इन संस्थाओं को इस बात का अधिकार दे दिया जाय कि वे इस धन में से पाँच अथवा छह प्रतिशत ब्याज की दर पर ऐसे कर्मठ तथा योग्य निजी व्यक्तियों को ऋण दे सकें, जिनमें उससे लाभ उठाने की योग्यता हो। इस योजना को कार्यान्वित करने सेसरकार के पास चार अथवा पाँच करोड़ का कोष जमा हो जायगा, और उसमें प्रतिवर्ष वृद्धि होती जायगी। यह धन ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त हो सकेगा जिनसे वर्तमान योजनाओं की तुलना में प्रत्येक को कहीं अधिक लाभ होगा। प्रत्येक जिले के पास अपने साधनों का अपने ढंग से विकास करने के लिए कोष होगा, और कई जिले अपने सबके लाभ के लिए किसी बड़ी योजना को कार्यान्वित करने के लिए मिलकर कार्य कर सकते हैं। यदि इन परिषदों की शक्तियों में वृद्धि कर दी जाय तो सरकार को हानि होने की जोखिम नहीं रहेगी, परिषदें धन का प्रयोग करके बहुत लाभ उठा सकेंगी और इस प्रकार वे जनता को स्थानीय करों के बोझ से मुक्ति दे सकेंगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सरकार अपने अधिकारियों के द्वारा इस उधार के धन के वितरण पर उचित नियन्त्रण रखेगी। यदि सम्पूर्ण योजना को विवेकपूर्वक निर्देशित और संचालित किया जाय तो कुछ ही वर्षों में देश का कायाकल्प हो सकता है। सरकार अपनी आवश्यकता का सामान इन उत्पादन संस्थानों से खरीदकर इन योजनाओं में और भी अधिक सहायता दे सकती है।"[44] अपनी औद्योगीकरण की योजना में रानाडे पहले प्रमुख उद्योगों को लेना चाहते थे। वे उन क्षेत्रों में भी औद्योगिक विकास के समर्थक थे जिनके लिए देश के पास विशेष साधन और सुविधाएँ थीं। नये उद्योगों के परिवर्धन के सम्बन्ध में उनके

---

41 देखिये एम. जी. रानाडे के निबन्ध "The Agrarian Problem and its Solution" (1879), "The Law of Land Sale in British India" (1880), "Land Law Reforms and Agricultural Banks"—*Sarvajanik Sabha Journal* में प्रकाशित। उनके निबन्ध "The Organization of Rural Credit" (1891) का अवलोकन कीजिए।

42 रानाडे "The Organization of Rural Credit", *Sarvajanik Sabha Journal* (1881). *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 43-69।

43 1890 में औद्योगिक सम्मेलन को बुलाने में रानाडे की प्रमुख भूमिका थी।

44 एम. जी. रानाडे, *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 103-04।

विचार बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, वर्तमान गणतन्त्रीय सरकार के विचार भी लगभग वैसे ही हैं। रानाडे में इतनी दूरदृष्टि थी कि उन्होंने भलीभाँति समझ लिया था कि यदि देश का औद्योगीकरण न हुआ तो इस विनाशकारी प्रतिस्पर्धा के जगत में उसका जीवित रहना असम्भव हो जायगा।[45]

6. रानाडे का राजनीतिक चिन्तन

हेगेल, बोसांक्वे तथा केशवचन्द्र सेन की भाँति रानाडे का भी विश्वास था कि इतिहास में ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है। इसलिए उन्हें ईश्वरीय आदेशों में आस्था थी। वे किसी मानवीय शक्ति को ईश्वर के आदेश से ऊँचा मानने के लिए तैयार नहीं थे। भारतीय इतिहास के उतार-चढ़ाव में भी उन्हें दैवी इच्छा तथा विवेक की कार्यान्विति दिखायी देती थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत अवश्य ही उन्नति करेगा। 1893 में लाहौर के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था: "मुझे अपने धर्म के दो सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास है: हमारा यह देश सच्चे अर्थ में ईश्वर का चुना हुआ देश है; हमारी इस जाति का परित्राण विधि के विधान में है। यह सब निरर्थक नहीं था कि ईश्वर ने इस प्राचीन आर्यावर्त पर अपने सर्वोत्कृष्ट प्रसादों की वर्षा की थी।[46] इतिहास में हमें उसका हाथ स्पष्ट दिखायी देता है। अन्य सब जातियों की तुलना में हमें एक ऐसी सभ्यता, एक ऐसी धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था उत्तराधिकार में मिली है जिसे समय के विशाल मंच पर अपने आप अपना स्वतन्त्र विकास करने का अवसर दिया गया है। इस देश में कभी कोई क्रान्ति नहीं हुई, किन्तु फिर भी पुरानी स्थिति ने अपने आपको परिपालन की धीमी प्रक्रिया के द्वारा स्वतः सुधार लिया है।"[47] देश पर अनेक आक्रमण हुए। उनका तात्कालिक परिणाम विनाशकारी हुआ, किन्तु अन्ततोगत्वा उन सबका फल यह हुआ कि संस्कृति की विभिन्न धाराएँ मिलजुल गयीं और जीवन में राजनीतिक तथा प्रशासनिक समन्वय स्थापित हो गया। किन्तु रानाडे भारतीय जीवन के दोषों के भी कटु आलोचक थे। उन्होंने स्वीकार किया कि भारतवासियों ने जीवन के लौकिक क्षेत्रों में, विज्ञान तथा प्राविधि में और नगर-प्रशासन तथा नागरिक गुणों में पर्याप्त श्रेष्ठता का परिचय नहीं दिया था। अतः मैकियावेली की भाँति रानाडे ने भी राजनीतिक तथा नागरिक गुणों के विकास पर बल दिया।[48] सामाजिक तथा नागरिक चेतना की यह शिक्षा भारत के ब्रिटेन के साथ सम्पर्क से ही उपलब्ध हो सकती थी। इसलिए उन्होंने बतलाया कि भारत में ब्रिटिश शासन के पीछे ईश्वर का मुख्य उद्देश्य इस देश को राजनीतिक शिक्षा देना है।[49] अपने देश के प्रति गम्भीर प्रेम के बावजूद रानाडे यह मानते थे कि ब्रिटिश शासन से भारत को अनेक नियामतें उपलब्ध हुई हैं।[50] वे भारत में ब्रिटिश शासन को कृपालु ईश्वर के विधान का ही एक अंग मानते थे। उनका विचार था कि यद्यपि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वैयक्तिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए कम गुंजाइश थी, और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र भी सीमित था, किन्तु बहुसंख्यक जनता के लिए सम्भावनाएँ अधिक थीं और देश का भविष्य महान था; शर्त यह थी कि उपलब्ध अवसर और सुविधाओं का सदुपयोग किया जाय और लोग हृदय से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सामाजिक उद्धार के लिए कार्य करें। रानाडे के इस विचार को बाद में फीरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले ने दुहराया।

---

45 रानाडे, "Iron Industry, Pioneer Attempts", *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 170-92। इस निबन्ध में रानाडे ने आग्रह किया कि जब कोई नवीन प्रकार का उद्योग खोला जाय तो उसे राज्य की सहायता और निदेशन अवश्य मिलना चाहिए।

46 रानाडे को भारत के अतीत से गहरा प्रेम था। एक बार उन्होंने कहा था: "यदि हम चाहें तो भी अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते। और यदि हमारे लिए सम्बन्ध विच्छेद करना सम्भव हो सके तो भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए।" किन्तु वे पुनरुत्थानवादी नहीं थे। उनका विश्वास था कि यदि लोग निष्ठापूर्वक देश के कल्याण के लिए काम करें तो राष्ट्र का भविष्य उसके अतीत से भी अधिक उज्ज्वल हो सकता है।

47 कैलक की पूर्वोक्त पुस्तक में उद्धृत, पृष्ठ 118।

48 मेरा अभिप्राय *Discourses* के मैकियावेली से है न कि *Prince* के मैकियावेली से।

49 रानाडे ने इस बात का समर्थन किया था कि भारतीय राष्ट्रवादियों तथा ब्रिटिश उदार दल के बीच अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए।

50 जब रानाडे एलफिस्टन कॉलिज पूना में पढ़ते थे उस समय उन्होंने एक निबन्ध लिखा था जिसमें उन्होंने मराठा शासन की तुलना में ब्रिटिश शासन की निन्दा की थी। किन्तु बाद में उनके विचारों में परिवर्तन आ गया था।

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में रानाडे ने प्रत्ययवादी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का समन्वय किया। वे निर्मम प्रतिस्पर्धा के, जो पूंजीवादी अर्थतन्त्र का आधार है, कट्टर शत्रु थे। वे राज्य की अवयवी प्रकृति में विश्वास करते थे, इसलिए जर्मन विचारकों के आदर्शों से उन्हें सहानुभूति थी। 1896 में कलकत्ता के 'सामाजिक सम्मेलन' में उन्होंने लगभग फिख्टे और हेगेल की-सी भावना को व्यक्त करते हुए कहा: "आखिरकार राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह अपने सदस्यों को, उनके प्रत्येक जन्मजात गुण का विकास करके, अधिक श्रेष्ठ, सुखी, समृद्ध तथा पूर्ण बनाये।"[51] किन्तु उनका कहना था कि यह महान उद्देश्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक राजनीतिक समाज के सब सदस्य अपनी मुक्ति के लिए अधिकाधिक ईमानदारी तथा सचाई के साथ प्रयत्न नहीं करते। अत: आवश्यक है कि व्यक्तियों की बुद्धि को मुक्त किया जाय, उनके कर्तव्यपालन के स्तर को उठाया जाय और उनकी सभी शक्तियों का पूर्ण विकास किया जाय।[52] अपने इस भावात्मक दृष्टिकोण के कारण ही रानाडे बैंथमपंथियों से भिन्न थे। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में रानाडे के भावात्मक दृष्टिकोण का परिचय इस बात से मिलता है कि उन्होंने औद्योगीकरण, उपनिवेश, आर्थिक जीवन के नियोजित संगठन, समाज-सुधार तथा उद्योगों के संरक्षण के क्षेत्र में राज्य के अभिक्रम का समर्थन किया। इस प्रकार यद्यपि भारत की व्यावहारिक राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में रानाडे की विचारधारा उदारवादी थी, किन्तु उनका राज्य-दर्शन जर्मन प्रत्ययवादियों और फ्रीड्रिख लिस्ट के अधिक निकट था।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में रानाडे का दृष्टिकोण अंशत: न्यायिक था। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण अथवा शासन का अभाव नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है कानून की व्यवस्था के अन्तर्गत शासन। उसका निश्चय ही यह अर्थ है कि मनुष्य को असहाय की भाँति दूसरों पर निर्भर न रहना पड़े, और सत्ता तथा शक्ति को धारण करने वालों के अनुचित व्यवहार से उसकी रक्षा की जाय। इस प्रकार रानाडे का दृष्टिकोण मौंटेस्क्यू तथा संविधानवादियों से मिलता-जुलता है। उन्होंने फ्रांसीसी लेखक दुनौयर के इस मत को स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता केवल नियन्त्रण का अभाव नहीं है, बल्कि वह हर प्रकार के श्रम की क्षमता की वृद्धि करने का भावात्मक प्रयत्न है।[53] 1893 में उन्होंने कहा था: "स्वतन्त्रता का अभिप्राय है कानून बनाना, कर लगाना, दण्ड देना, तथा अधिकारियों को नियुक्त करना। स्वतन्त्र तथा परतन्त्र देश में वास्तविक अन्तर यह है कि जहाँ दण्ड देने से पहले उसके सम्बन्ध में कानून बना लिया गया हो, कर लगाने से पहले अनुमति ले ली गयी हो, और कानून बनाने से पहले मत ले लिये गये हों, वही देश स्वतन्त्र है।"[54] रानाडे के अनुसार विधि के शासन तथा संसदीय शासन-प्रणाली को स्वीकार करके ही किसी देश में स्वतन्त्रता की स्थापना की जा सकती है। न्यायाधीश होने के नाते उनका अनुभव था कि न्यायपालिका स्वतन्त्र देश का आधारस्तम्भ है। उन्होंने विकेन्द्रीकरण का भी समर्थन किया और देश में एकरूपता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की आलोचना की।[55] किन्तु उन्होंने स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी और विधिक दृष्टिकोण के साथ राज्य के कार्यों की भावात्मक धारणा का समन्वय किया। वे चाहते थे कि राज्य शिक्षा का परिवर्धन करे, और समाज-सुधार तथा सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की दिशा में प्रभावकारी कदम उठाये।

आंग्ल-भारतीय नौकरशाही की साम्राज्यवादी उद्दण्डता तथा घमण्ड से भारतवासियों की संवेदनशील आत्मा को भारी ठेस पहुँचती थी। भारत में ब्रिटिश शासक वर्ग अहंकार, घमण्ड, नीचता तथा तिरस्कार की भावना का जो प्रदर्शन किया करता था उसका रानाडे ने विरोध किया। वे उन

---

51 रानाडे ने लिखा था: सामूहिक रूप में राज्य अपने सर्वोत्तम नागरिकों की शक्ति, विवेक, दया और उदारता का प्रतिनिधित्व करता है।

52 *Indian Social Reform*, भाग 2, पृष्ठ 79।

53 रानाडे, *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 18।

54 जेम्स कैलक कृत *Mahadeo Govind Ranade: Patriot and Social Servant* (एसोशियेशन प्रेस, कलकत्ता, 1926) में उद्धृत, पृष्ठ 115।

55 रिपन की स्थानीय स्वराज्य योजना पर एम. जी. रानाडे का व्याख्यान (1884), "Local Self-Government in England and India," *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 231-61।

लोगों की जातीय अहंकार और आक्रामकता की नीति को नहीं समझ पाते थे जो मिल्टन की 'एरोपैजिटिका', गॉडविन की 'पोलिटिकल जस्टिस' (राजनीतिक न्याय) और मिल की 'लिबर्टी' की दुहाई दिया करते थे। अतः उन्होंने लिखा है : "देश की जनता का वह शिक्षित वर्ग जिसका अपना स्वतन्त्र प्रेस और समुदाय हैं तथा जिसे देश की बहुसंख्यक जनता की सहज सहानुभूति प्राप्त है, भारतीय उदारवाद का प्रतिनिधि है। इस वर्ग का विरोध करने के लिए अधिकारी वर्ग की प्रचण्ड शक्तियाँ संगठित होकर खड़ी हुई हैं, इन अधिकारियों को यहाँ रहने वाले अपने गैर-सरकारी देशवासियों के गुट का समर्थन तो प्राप्त है ही, साथ ही साथ उनके मातृदेश के निहित स्वार्थों की दुर्भावना और शक्ति भी उनकी सहायता और समर्थन के लिए सदैव तत्पर रहती है। इस समय भारत में उदारवाद और अनुदारवाद की दो शक्तियाँ काम कर रही हैं।.......यह दुर्भावना और घृणा सभी विजयी जातियों का स्वाभाविक तथा घातक अपराध है। भारत में बसने वाले ब्रिटिश लोगों ने अपने को ऊँची जाति की विशिष्ट स्थिति प्रदान कर रखी है, और वे शक्ति तथा विशेषाधिकारों के लिए चीख-पुकार करते हैं तथा विजित एवं अधीन जनता से घृणा करते हैं।[56] उनकी-सी चीख-पुकार और घृणा सभी विजयी जातियों में देखने को मिलती है। अतः उनके इस व्यवहार के रूप में वास्तव में इतिहास अपनी पुनरावृत्ति कर रहा है।" रानाडे भारत के लोक प्रशासन में सुधार करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि उसकी बुराइयों को दूर कर दिया जाय। वे अनुभव करते थे कि कोई प्रशासन व्यवस्था कल्याणकारी और सुदृढ़ तभी हो सकती है जब वह व्यावहारिक रूप में सहानुभूति, उदारता तथा संयताचार के आदर्शों पर आधारित हो। जातीय अहंकार तथा व्यक्तिगत गुणानुवाद से प्रशासन व्यवस्था की दृढ़ता के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। ईमानदारी तथा दृढ़ता के साथ कर्तव्य पर डटे रहने से ही प्रशासनिक क्षमता का नैतिक आधार कायम किया जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि कुछ तात्विक सिद्धान्तों को हृदयंगम कर लिया जाय और फिर उनका दृढ़ता के साथ तथा हर परिस्थिति में पालन किया जाय।

विवेकानन्द की भाँति रानाडे ने भी भारत के लिए उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की थी। उन्हें विश्वास था कि भारतवासियों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को पूर्णत्व की सीमा तक विकसित किया जा सकता है। उनके अनुसार देश के पुनरुद्धार और नवीनीकरण का यही एकमात्र तरीका था। 1896 में कलकत्ता के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने भारत के भविष्य का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा था : "बन्धनमुक्त पुरुषत्व, उल्लासपूर्ण आशा, कर्तव्य से कभी विमुख न होने वाला विश्वास, सबके साथ यथोचित व्यवहार करने वाली न्याय की भावना, निर्मल बुद्धि तथा पूर्ण विकसित शक्तियाँ—इन सब गुणों को धारण करके नवीनीकृत भारत विश्व के राष्ट्रों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त कर लेगा और अपनी परिस्थितियों तथा अपनी होतव्यता का स्वामी होगा। यही लक्ष्य है जहाँ हमें पहुँचना है—यही वह भूमि है जिसे नियति ने हमें देने का वचन दिया है। सुखी हैं वे जो इसको दूरदृष्टि से देख रहे हैं, उनसे भी अधिक सुखी वे हैं जिन्हें उसके लिए कार्य करने तथा मार्ग साफ करने का अवसर मिला है; और उन सबसे अधिक सुखी वे होंगे जो उसको अपनी आँखों से देखने के लिए और उस पवित्र भूमि पर चलने के लिए जीवित रहेंगे।"[57] रानाडे का कहना था कि इस स्वप्न को साक्षात्कृत करने के लिए आवश्यक है कि अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए अध्यवसाय के साथ संघर्ष किया जाय। इस महान कार्य के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय जनता के चरित्र का उन्नयन हो।[58]

7. निष्कर्ष

रानाडे का मानस एक विश्वकोष की भाँति ज्ञान का भण्डार था, और भारतीय इतिहास, समाज तथा राजनीति की समस्याओं में उनकी गहरी पैठ थी और उनको उन्होंने आलोचनात्मक

---

56 फाटक की मराठी पुस्तक 'न्यायमूर्ति रानाडे' (पृष्ठ 360) से जेम्स कैलक की पूर्वोक्त पुस्तक में पृष्ठ 117-18 पर उद्धृत।

57 गोपाल कृष्ण गोखले ने भी अपने 1905 के बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में इसको अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया था।

58 एम. जी. रानाडे, *The Telang School of Thought* (1893)।

दृष्टि से देखा था। वे उन महापुरुषों में थे जिन्होंने भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की। वे सामाजिक मामलों में प्रबुद्ध नीति का अनुसरण करना चाहते थे। उनकी बुद्धि मौलिक थी। उसकी 'एसेज इन इण्डियन इकॉनोमिक्स' तथा 'राइज आव मराठा पावर' पुस्तकें भारतीय सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में उनके गम्भीर पाण्डित्य तथा सर्जनशीलता की परिचायक हैं।

एक अर्थशास्त्री के रूप में रानाडे ने किसी नये विचार-सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। सैद्धान्तिक रूप में उन्हें रिकार्डो अथवा मार्क्स की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वे उस समय हुए जब औद्योगिक पूँजीवाद भारत में अपनी जड़ें जमा रहा था। परिस्थितियाँ इतनी परिपक्व और जटिल नहीं थीं कि गम्भीर मौलिक चिन्तन सम्भव हो सकता। अतः भारत के अन्य महत्वशाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचारकों की भाँति रानाडे का महत्व इस बात में है कि उन्होंने पाश्चात्य सामाजिक विज्ञानों की धारणाओं और प्रस्थापनाओं का मूल्यांकन किया और यह बतलाया कि उन्हें भारत की परिस्थितियों में कहाँ तक और किस रूप में लागू किया जा सकता है। उन्होंने भारतीय अर्थतन्त्र के विश्लेषण के लिए किन्हीं सुव्यवस्थित और परस्पर सम्बद्ध अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण नहीं किया। फिर भी उन्होंने भारतीय कृषि के सुधार तथा भारतीय उद्योगों के विकास के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये। तत्कालीन भारतीय नेताओं में उनकी प्रमुख स्थिति तथा उनके उच्च चरित्र के कारण उनके विचारों का व्यापक रूप से प्रचार हुआ। उन पर 'जावा की कृषि प्रणाली' का प्रभाव था और वे पाश्चात्य अर्थशास्त्र के विध्यात्मक, ऐतिहासिक, रोमांटिक आदि सम्प्रदायों के विचारों से परिचित थे। वे देश के आर्थिक सुधार के सम्बन्ध में बहुत उत्सुक थे और चाहते थे कि भारत के साथ न्याय किया जाय। किन्तु उनके मर्यादित सुझावों को आर्थिक कल्याण और राष्ट्रीय विकास आयोजन की विशद योजना मान लेना एक दूर की कल्पना है। किन्तु भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रानाडे को पथ-अन्वेषक के रूप में अवश्य सम्मान मिलना चाहिए। दादाभाई नौरोजी ने भारत की दरिद्रता के लिए उत्तरदायी तत्वों की खोज करने में विद्वानों का नेतृत्व किया, गोखले का लोकवित्त की समस्याओं पर अधिकार था और रमेशचन्द्र दत्त ने भारत का आर्थिक इतिहास लिखकर स्मरणीय कार्य किया। किन्तु अर्थशास्त्रीय सूझबूझ की गहराई की दृष्टि से रानाडे पूर्वोक्त तीनों ही विद्वानों से श्रेष्ठ थे। उनकी रचनाओं में हमें दृष्टि की अधिक परिपक्वता देखने को मिलती है।

यह सत्य है कि समय की गति और देश में उग्र क्रान्तिकारी आन्दोलन की वृद्धि के साथ-साथ रानाडे के राजनीतिक विचार पुराने पड़ गये। किन्तु इससे उनका उस सन्दर्भ में महत्व कम नहीं हो जाता जिसमें वे व्यक्त किये गये थे। अतिवादियों तथा उग्रवादियों ने रानाडे के इस विचार का मखौल उड़ाना एक फैशन बना लिया था कि अंग्रेजों का भारत में आना ईश्वरीय विधान का अंग है। किन्तु इस प्रकार के धर्मतान्त्रिक विचार सन्त पॉल, सन्त अगस्टाइन, ग्रीगरी महान, हेगेल आदि उन दार्शनिकों की रचनाओं में भी मिलते हैं जिनका विश्वास था कि इतिहास किसी आध्यात्मिक सत्ता द्वारा शासित होता है और विश्व की चीजों तथा घटनाओं का प्रयोजन जैसा प्रतीत होता है उससे अधिक गम्भीर है। रानाडे ईश्वर-भक्त थे, इसलिए उन्हें ऐतिहासिक घटनाओं के मूल में ईश्वर का हाथ दिखायी देता था। इसलिए उसको समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उसका उद्‌भव आध्यात्मिक नियतिवाद के दर्शन से हुआ था। रानाडे को ऐसा दिखायी देता था कि विश्व तथा भारत के इतिहास में ईश्वर का हाथ काम कर रहा है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारत का ऐतिहासिक विकास विभिन्न समाज-व्यवस्थाओं तथा संस्कृतियों के सर्वोत्तम तत्वों को उत्तरोत्तर आत्मसात करने की प्रक्रिया है। रानाडे ने भारत के राष्ट्रीय तथा सामाजिक विकास के कार्य में विश्वास की गम्भीरता तथा समर्पण और भक्ति की भावना का पुट जोड़ दिया। इस बात का देश के तरुण कार्यकर्ताओं के मानस तथा हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा।

रानाडे ने जीवन के हर क्षेत्र में स्वतन्त्रता पर जो बल दिया वह राजनीतिक चिन्तन का एक उत्तम योगदान है। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु है। बौद्धिक तथा सामाजिक परम्परावाद एवं अन्य सभी प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इस प्रकार रानाडे

स्वतन्त्रता के सभी पक्षों और रूपों के समर्थक थे, और चाहते थे कि जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

रानाडे एक आधुनिक ऋषि थे और उनकी मेधा विशाल तथा व्यापक थी। वे ऐसे गुरु थे जिन्होंने सामाजिक मुक्ति, आर्थिक प्रगति, सांस्कृतिक विकास तथा राष्ट्रीय एकता का उपदेश दिया। एक सन्देशवाहक के रूप में उन्होंने आत्म-त्याग तथा सतत अध्यवसाय का सन्देश दिया है। उन्होंने राष्ट्र के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के आदर्श का बिगुल बजाया। वे चाहते थे कि पूर्व के मूल्यों तथा मान्यताओं और पश्चिम की राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधारा का समन्वय किया जाय। भारतीय इतिहास तथा राजनीति में रानाडे देशभक्ति के सन्देशवाहक थे और उन्होंने स्वतन्त्रता, सामाजिक प्रगति तथा वैयक्तिक चरित्र की पुन:स्थापना का उपदेश दिया। इस प्रकार वे उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद के गुरु थे।

9
फीरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

प्रकरण 1
फीरोजशाह मेहता

1. प्रस्तावना

सर फीरोजशाह मेहता (1845-1915) बम्बई के बिना मुकुट के राजा कहलाते थे।[1] उनका जन्म 4 अगस्त, 1845 को हुआ था, और नवम्बर 1915 में उनका शरीरान्त हुआ। 1864 में उन्होंने बम्बई के एल्फिस्टन कॉलिज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1868 में उन्हें लिंकन्स इन के बैरिस्टर की उपाधि प्रदान की गयी। उन्होंने 1867 में ही अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ कर दिया था। जब वे लन्दन में विद्यार्थी थे उसी समय दादाभाई नौरोजी के प्रभाव में आ गये थे। वे उस वृद्ध नेता की दूरदर्शिता, नि:स्वार्थता, अथक अध्यवसाय तथा उदार बौद्धिकता के बड़े प्रशंसक थे। वे दादाभाई का आधुनिक युग का महानतम संसदीय नेता तथा नैतिक एवं राजनीतिक कर्तव्य-परायणता का मूर्तरूप मानते थे। दादाभाई से फीरोजशाह ने यह सीखा कि लोक प्रशासन के मूल में आर्थिक तत्वों का विशेष महत्व होता है। 1872 में वे बम्बई नगर महापालिका के सदस्य बन गये और तीन बार उसके सभापति चुने गये। बम्बई महापालिका में उन्होंने जल-निकास, प्राथमिक शिक्षा, चिकित्सा की सुविधा, पुलिस सम्बन्धी व्यय का निर्धारण, जल की पूर्ति आदि समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने इलबर्ट विधेयक आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। दादाभाई तथा रानाडे के साथ मिलकर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। 1885 में उन्होंने तेलंग तथा बद्रुद्दीन तैयबजी के साथ-साथ बौम्बे प्रेसीडेंसी एसोशियेशन की नींव डाली। यह संस्था राजनीतिक विषयों पर अपनी राय व्यक्त किया करती थी। वे विधिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे, और उन्होंने वकील, बम्बई महापालिका के सदस्य तथा बम्बई विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त की।

1886 में लार्ड री ने उन्हें बम्बई विधान परिषद का सदस्य नियुक्त किया। 1892 में उन्हें परिषद के लिए निर्वाचित कर लिया गया। वे पन्द्रह वर्ष तक बम्बई विधान परिषद के सदस्य रहे। परिषद में फीरोजशाह ने वित्तीय विवरण, कृषकों की सहायता, आयात शुल्क, पुलिस अधिनियम संशोधन, संक्रामक रोग अधिनियम आदि विषयों पर अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक तथा ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त किये। भारतीय वित्त के लिए सीमान्त युद्धों, गृह सैनिक व्यय के असमान वितरण, सैनिक व्यय में वृद्धि तथा विनिमय क्षतिपूर्ति भत्तों से जो संकट उत्पन्न हो गया था उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। तीन वर्ष (1894-1897) तक फीरोजशाह भारतीय विधान परिषद (इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल) के सदस्य रहे। वे अपनी ओजपूर्ण तथा कुशल वक्तृता और निर्भयता के लिए प्रसिद्ध थे। वे नैयायिक, कटु तथा पुरुष व्यंग्य के आचार्य और प्रतापी राजनीतिज्ञ थे।

फीरोजशाह का व्यक्तित्व दबंग था; उन्होंने अनेक वर्षों तक कांग्रेस पर अपना नियंत्रण

---

1 फीरोजशाह मेहता के जीवन सम्बन्धी ब्यौरे के लिए देखिये सी. वाई. चिन्तामणि द्वारा सम्पादित *Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta* (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1905)।

रखा। 1890 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति थे। 1892 में पूना में जो प्रान्तीय सम्मेलन हुआ उसके भी वे सभापति थे। 1889 तथा 1904 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वागत समिति के सभापति रहे। 1904 में बम्बई में अपने भाषण में उन्होंने इस बात को दुहराया कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध ईश्वरीय विधान का परिणाम था। 1907 में सूरत की फूट के अवसर पर फीरोजशाह मेहता तथा गोखले मितवादी (नरम दली) शिविर के प्रमुख नेता थे। यह उन्हीं के अभिक्रम का परिणाम था कि कांग्रेस का स्थान नागपुर को छोड़कर सूरत रखा गया था। फीरोजशाह 1910 में भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति चुने गये थे, किन्तु उन्होंने किसी अप्रकाशित कारण से अपना त्यागपत्र दे दिया था।

2. मेहता की इतिहास की व्याख्या

रानाडे की भाँति फीरोजशाह भी विश्वास करते थे कि इतिहास की प्रक्रिया ईश्वर द्वारा शासित होती है। अतः उनकी आस्था थी कि उरमुज्द अथवा प्रकाश की अन्तिम विजय निश्चित है और अहिरमन अनन्त काल तक अँधेरे के नरक में पड़ा रहेगा।[2] उनके अनुसार यह बात ईश्वरीय चमत्कार से कम नहीं थी कि ब्रिटिश शासन के माध्यम से भारत में स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक गरिमा की धारणाओं तथा वैज्ञानिक सभ्यता के लाभों का प्रवेश हुआ था। उनका कहना था कि यदि भारतवासी इंगलैण्ड के राजनीतिक इतिहास के अनुभवों को समझें और उनके अनुसार आचरण करें तो उन्हें धीरे-धीरे सारभूत लाभ प्राप्त हो सकते हैं। 1904 में बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वागत सीमति के सभापति के रूप में उन्होंने अपने भाषण में कहा : "··· मैं आपके समक्ष अपने जैसे एक निष्ठावान तथा अडिग कांग्रेसजन के विश्वास की संस्वीकृति प्रस्तुत कर रहा हूँ। मैं अपने स्वर्गीय मित्र महादेव गोविन्द रानाडे की भाँति दृढ़ तथा साहसी आशावादी हूँ। मेरा विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य के माध्यम से मानव जीवन का निर्देशन तथा संचालन करता है। इसे आप पूर्व के लोगों का भाग्यवाद कह सकते हैं, किन्तु यह भाग्यवाद सक्रिय है, निष्क्रिय नहीं, यह भाग्यवाद मानता है कि मशीनरी के मानवीय पहियों को अपना निर्धारित कार्य पूरा करने के लिए घूमता रहना चाहिए। मेरी दीनता मुझे उस निराशा से बचाती है जिसके शिकार उन जैसे अधिक उतावले लोग प्रायः हो जाया करते हैं जो हाल में निराशा का सन्देश देने लगे हैं। मुझे कवि के इन शब्दों से सदैव आशा और सान्त्वना मिलती है : 'मैंने इस संसार का निर्माण नहीं किया है, जिसने इसे बनाया है वही इसका मार्गदर्शन करेगा।' उसी कवि के इस उपदेश से मुझे धीरज भी मिलती है : 'मेरा काल में गहरा विश्वास है, और उसमें भी पूरी आस्था है जो काल का किसी पूर्ण उद्देश्य के लिए नियमन करता है।' आशा और धीरज की यह चट्टान ही मेरी अडिग भक्ति का आधार है। क्रॉमवेल की भाँति मैं ईश्वर की इच्छा को उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान में नहीं ढूंढ़ता, बल्कि उसकी खोज में उसके विधान में करता हूँ, और उसकी (क्रॉमवेल की) भाँति मैं घटनाओं के पूर्ण होने में ईश्वर की इच्छा का दर्शन करता हूँ। अतः रानाडे की तरह मैं ब्रिटिश शासन को ईश्वर का आश्चर्यजनक विधान मानता हूँ। विश्व के दूसरे छोर पर स्थित एक छोटा-सा द्वीप एक दूरस्थ और अपने से अधिकाधिक भिन्न महाद्वीप पर आधिपत्य स्थापित करले इस बात को ईश्वर की इच्छा की घोषणा न मानना मूर्खता होगी।"[3] रानाडे, मेहात तथा गोखले की यह धारणा कि इतिहास की गति में ईश्वरीय नियम कार्य करते हैं बौसे तथा हेगेल के विचारों के सदृश हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मितवादी एक ओर तो बुद्धि, विज्ञान, प्रगति, संविधानवाद तथा शिक्षा में विश्वास करते हैं और इस प्रकार दिदरो और वोल्तेयर के उत्तराधिकारी हैं, किन्तु दूसरी ओर उन्हें भारत में ब्रिटिश शासन के पीछे ईश्वर का हाथ दिखायी देता है, और इस तरह वे सन्त अगस्ताइन, बौसे और टॉइनबी की भाँति इतिहास की ईसावादी व्याख्या में विश्वास करते हैं।

उदारवादी होने के नाते फीरोजशाह ने स्वीकार किया कि इतिहास में निरन्तर वृद्धिमान प्रगति की प्रक्रिया देखी जा सकती है। उनका विश्वास था कि "सभी युगों और सभी देशों में

---

2 *Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta*, पृष्ठ 280।
3 वही, पृष्ठ 813।

विस्तीर्ण होने वाली प्रगति का नियम"[4] कार्य करता है। इस प्रकार तुर्गो और कोन्दर्से तथा फ्रांसीसी और जर्मन प्रबुद्धीकरण के दार्शनिकों की भाँति मेहता को भी प्रगति की धारणा में आस्था थी।[5] उनका कहना था कि मनुष्यों तथा संस्थाओं के पारस्परिक सुधार तथा पूर्णता के लिए किये गये परीक्षणों की श्रृंखला के परिणामस्वरूप ही प्रगति हुआ करती है। नवम्बर 1892 में पूना में हुए पाँचवें बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने भाषण में मेहता ने कहा : "मेरी समझ में यह पुरानी हीब्रू कहावत दोषपूर्ण है कि 'जो बात हो चुकी है, वही बात भविष्य में होगी।' इतिहास की कभी पुनरावृत्ति नहीं होती ; उसके सबक इसलिए मूल्यवान हैं कि वे हमारा उन परीक्षणों के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन करते हैं जिनके बिना मानव प्रगति सम्भव नहीं हो सकती; किन्तु यदि हम उनका प्रयोग यह कल्पना करने के लिए करने लगें कि जो कुछ अतीत में हो चुका है उसकी भविष्य में पुनरावृत्ति होगी, तो वे हमें मार्ग-भ्रष्ट कर देंगे।"[6] फीरोजशाह को इतिहास की प्रक्रिया के गतिशील सिद्धान्त में विश्वास था। वे यह स्वीकार नहीं करते थे कि भारतीय आर्यों का सृजनात्मक युग समाप्त हो चुका है, अथवा वह पृथ्वी पर एक व्यर्थ का बोझ है। पुराने मितवादियों की भाँति मेहता का भी विश्वास था कि देश को आधुनिक सभ्यता के मूल्यों को अंगीकार करने के लिए धीरे-धीरे तैयार किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से देख लिया था कि भारत की "राजनीतिक प्रगति के क्रमिक विकास की उज्ज्वलतम सम्भावनाएँ"[7] विद्यमान हैं।

3. फीरोजशाह मेहता के राजनीतिक विचार

टी. एच. ग्रीन तथा दादाभाई नौरोजी की भाँति फीरोजशाह मेहता का भी सिद्धान्त था कि राजनीतिक शक्ति जनता के संकल्पों, इच्छाओं, आदर्शों, प्रेम तथा आकांक्षाओं में मूलबद्ध होनी चाहिए। राजनीतिक शक्ति को अधिकाधिक कठोर उपायों का प्रयोग करके सुदृढ़ नहीं बनाया जा सकता, उसे शान्त विवेक, बुद्धिमत्ता तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ही बल मिलता है।[8] राजनीतिक शक्ति को पक्षपातजन्य कुटिलता, निराधार तथा मार्गभ्रष्ट करने वाले दुर्भावों और "उनके (कार्यपालक अधिकारियों के) वर्ग तथा स्थितिजनित दोषों से"[9] मुक्त करना होगा। यह एक सामान्य धारणा है कि शक्ति सैनिक बल पर आधारित होती है। किन्तु समाजशास्त्र सिखाता है कि समाज का मतैक्य तथा जनता के नैतिक और सामाजिक आदर्शों के प्रति सहानुभूति ही शक्ति का वास्तविक आधार है। शक्ति की कोई भी व्यवस्था सार्वजनिक कल्याण का परिवर्धन करने की इच्छा और क्षमता के बिना अपने को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती। इंगलैण्ड में राजनीतिज्ञों का एक सम्प्रदाय था जिसकी धारणा थी कि भारत को तलवार के बल पर विजय किया गया था और शक्ति की नीति के द्वारा ही उस पर अधिकार कायम रखा जा सकता था। उनके मत का खण्डन करते हुए मेहता ने कहा : "इस देश के शासन के सम्बन्ध में जो लोग शक्ति के सिद्धान्त का उपदेश देते हैं उन्हें इंगलैण्ड में फिट्ज-जेम्स जैसा पक्का और लार्ड सालसबरी जैसा कुछ ढिलमिल समर्थक मिल गया है। ये लोग न्यायपरायणता की नीति को एक प्रकार की दुर्बल भावुकता कहकर मखौल उड़ाते हैं; और ऐसा लगता है कि वे बिना दुराव के उस नीति को अनुमोदित करते तथा अपनाते हैं जिसका सारांश श्री ब्राइट ने अपनी मनोरंजक शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है : "चूँकि भारत को ईसा के सभी दस आदेशों को भंग करके विजय किया गया है, इसलिए अब इतना विलम्ब हो चुका है कि उस पर अधिकार जमाये रखने के लिए पर्वत पर दिये गये प्रवचन के सिद्धान्तों का अनुसरण करने की बात नहीं सोची जा सकती।"[10] किन्तु फीरोजशाह आधुनिक भारतीय इतिहास की इस व्याख्या को स्वीकार

---

4 फीरोजशाह मेहता का 1890 की कलकत्ता कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण।
5 *Speeches and Writings of Pherozeshah Mehta*, पृष्ठ 295।
6 वही, पृष्ठ 327।
7 वही, पृष्ठ 321।
8 वही, पृष्ठ 408।
9 वही, पृष्ठ 406।
10 *Speeches and Writings of the Hon'ble Sir Pherozeshah Mehta* (दीनशा वाचा द्वारा लिखित भूमिका सहित, सी. वाई. चिन्तामणि द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, (1905), पृष्ठ 163।

नहीं करते थे। वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारत में ब्रिटिश शासन शक्ति के बल पर कायम किया गया था। उनके अनुसार देश में ब्रिटिश शक्ति की जड़ें अधिक गहरी थीं। शक्ति का संरक्षण नैतिक सिद्धान्तों की अवहेलना करके नहीं किया जा सकता था। मेहता ने कहा : "जब अंग्रेज लोग भारतीय इतिहास की व्याख्या इस ढंग से करते हैं तो वास्तव में वे अपने साथ न्याय नहीं करते। यह सही है कि इस इतिहास के अनेक पृष्ठ भूलों तथा अपराधों से कलंकित हैं। किन्तु इंगलैण्ड ने भारत को केवल तलवार के बल पर नहीं जीता है। उसकी विजय का अधिकांश श्रेय उसके नैतिक तथा बौद्धिक गुणों को है। इन गुणों ने विजय के कार्य में ही उसका पथ-प्रदर्शन नहीं किया है, बल्कि उन्होंने विजय के हानिकारक प्रभावों को दूर करने में भी महत्वपूर्ण योग दिया है।"[11]

फीरोजशाह ने बतलाया कि अंग्रेज भारत में जिस शक्ति की नीति का प्रयोग कर रहे थे उसके तीन घातक परिणाम हो सकते थे।[12] प्रथम, उससे इंगलैण्ड पर भारी बोझ और दबाव पड़ेगा। इंगलैण्ड को रूस और फ्रान्स की प्रतिस्पर्धा तथा संघर्षों का सामना करना पड़ रहा था। यदि वह इन शक्तियों के साथ किसी उलझन में फँस गया तो पशुबल द्वारा शासित भारत उसके लिए भारी बोझ सिद्ध होगा। दूसरे, नियति निरंकुशता का बदला अवश्य ही लेती है। भारत के निरंकुश शासक स्वेच्छाचारिता, अहंकार तथा उग्र पक्षपात की भावनाओं से ओतप्रोत थे, वे इंगलैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से हानिकारक तत्व सिद्ध होंगे। सामाजिक अहंकार के वातावरण में रहने के कारण अंग्रेज अधिकारियों का सिर फिर गया है और वे शक्ति के नशे में चूर हैं ; वे जब लौटकर स्वदेश जायँगे तो ब्रिटेन के समाज पर अवश्य ही दूषित प्रभाव डालेंगे।[13] तीसरे, शक्ति की नीति को कार्यान्वित करने के लिए विशाल सेना रखनी पड़ेगी, उससे देश दरिद्र होगा और उसका पुंसत्व नष्ट होगा। जो धन भारी सेना के रखने पर व्यय होता था, यदि उसे देश के विकास के लिए प्रयुक्त किया जाता तो उससे इंगलैण्ड तथा भारत दोनों को ही भारी लाभ हो सकता था।

फीरोजशाह को अंग्रेज जाति की संस्कृति और राजनीतिज्ञता के आधारभूत सिद्धान्तों तथा मूल्यों में गहरी आस्था थी। जिस समय दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश पार्लामेण्ट के लिए चुने गये उस अवसर पर फीरोजशाह ने कहा : "आज भारत का एक निवासी उस सभा में प्रवेश कर रहा है जहाँ से किसी समय बर्क, फॉक्स और शैरीडन ने अपनी अमर ओजस्वी वक्तृत्व शक्ति के द्वारा इस देश के शासन के सम्बन्ध में न्यायपरायणता की नीति का समर्थन किया था, जहाँ खड़े होकर मैकॉले ने धुँधली किन्तु सन्देशवाहक की-सी दृष्टि से उस दिन के ऊषा-काल का दर्शन किया था जब हमें राजनीतिक मताधिकार उपलब्ध होगा और जहाँ से ब्राइट, फॉसिस्ट और ब्रेडलों ने करोड़ों मूक विदेशी जनता के पक्ष में अपनी आवाज बुलन्द की थी।"[14] यदि इस अवसर पर हम कुछ भावुकता में बह जायँ और इस दृश्य को देखकर कुछ संवेग और श्रद्धा से विचारमग्न हो जायँ तो हमें क्षमा किया जाय, क्योंकि आखिर हमारा भी पोषण ब्रिटिश इतिहास की महानतम परम्पराओं में हुआ है।" मेहता समझते थे कि इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञ नैतिक तथा राजनीतिक कर्यव्यपरायणता के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित थे। इसलिए उनका विश्वास था कि इंगलैण्ड भारत के साथ अवश्य ही न्याय करेगा। 1890 की कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था : "मुझे इंगलिश संस्कृति तथा इंगलिश सभ्यता के जीवन्त तथा शक्तिदायी सिद्धान्तों में असीम आस्था है। हो सकता है कि कभी-कभी स्थिति अन्धकारमय तथा निराशाजनक दिखायी दे। आंग्ल-भारतीयों का विरोध भयंकर तथा अडिग हो। किन्तु मुझे आंग्ल-भारतीयों में भी असीम विश्वास है, मुझे उनकी उच्च और श्रेष्ठ प्रकृति में आस्था है और अन्त में उसी की विजय होगी जैसी पहले अनेक सम्माननीय, विशिष्ट तथा गौरवपूर्ण अवसरों पर हो चुकी है।.........जब परमात्मा के अज्ञेय

---

11 वही, पृष्ठ 164।
12 वही।
13 वही, पृष्ठ 357।
14 बम्बई टाउन हॉल में जुलाई 23, 1892 को दिया गया फीरोजशाह मेहता का भाषण।

विधान के अनुसार भारत को इंगलैण्ड के संरक्षण में सुपुर्द किया गया था तो मुझे अनुभव हो रहा है कि उस समय उसके समक्ष भी पुराने इजराइलियों की भाँति यह विकल्प रखा गया होगा : "देखो मैंने तुम्हें यह वरदान दिया है, किन्तु यह अभिशाप भी है ; यदि तुमने अपने प्रभु ईश्वर के आदेशों का पालन किया जब तो यह तुम्हारे लिए एक वरदान सिद्ध होगा, किन्तु यदि तुमने अपने प्रभु ईश्वर के आदेशों का पालन न किया और अन्य ऐसे देवताओं के पीछे दौड़े जिन्हें तुम नहीं जानते हो तो यह तुम्हारे लिए एक अभिशाप होगा।" इंगलैण्ड के जीवन और समाज की सभी नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक तथा अन्य महान शक्तियाँ धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ उस विकल्प को स्वीकार करने की घोषणा कर रही हैं जिससे इंगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध स्वयं उसके लिए तथा विश्व की अगणित पीढ़ियों के लिए वरदान सिद्ध होगा। हमारी कांग्रेस केवल यह चाहती है कि हमें भी उन नियामतों में साझीदार बना लिया जाय जिनका इंगलैण्ड को मिलना उतना ही निश्चित है जितना उस अनन्त सत्ता का अस्तित्व जो धर्म और न्याय का संस्थापक है। किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य की श्रेष्ठता और सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए भी मेहता उग्र अंग्रेजों और आंग्ल-भारतीयों की व्यापारिक लाभों के लिए की गयी विजयों का मखौल उड़ाने से नहीं चूके।[15]

यद्यपि फीरोजशाह देशभक्त थे, किन्तु उन्होंने कभी भारतीय स्वतन्त्रता के आदर्श का उपदेश नहीं दिया। वे कांग्रेस के संवैधानिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखना चाहते थे, किन्तु साथ-साथ यह भी चाहते थे कि वह सदैव अंग्रेजों की भक्त बनी रहे। उनके विचार स्पष्ट, तथा राजनीतिक आदर्श संयत तथा सीमित थे। उनका विश्वास था कि राजनीति की समस्याएँ घबड़ाहट और उत्तेजना से हल नहीं की जा सकती थीं, उनको हल करने के लिए वफादार दिल तथा निर्मल बुद्धि की आवश्यकता थी। उन्हें ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति तथा ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व में विश्वास था। उन्हें इंगलैण्ड की न्यायपरायणता तथा सहानुभूति में भी आस्था थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप में फीरोजशाह ने ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व में अपना दृढ़ विश्वास तथा आशा व्यक्त की थी।[16] उन्हें ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व के सम्बन्ध में हार्दिक चिन्ता रहती थी, क्योंकि उनकी समझ में भारतीय जनता के कल्याण, सुख, समृद्धि तथा सुशासन की नींव वह साम्राज्य ही था। उन्हें यह भी विश्वास था कि भारतीय बुद्धिजीवियों की हार्दिक तथा विनीत प्रार्थना के फलस्वरूप अंग्रेज शासक प्रतिगामी नीति का परित्याग करके, बुद्धि तथा न्याय की नीति पर चलना अवश्य आरम्भ कर देंगे। उन्हें आशा थी कि किसी दिन मैकॉले का यह स्वप्न निश्चय ही पूरा होगा कि भारतीय भी गौरवपूर्ण नागरिकता के सुख और सुविधाओं का उपभोग करें। आज स्वतन्त्र भारत के वातावरण में ये विचार सम्भवत: विचित्र मालूम पड़ें, किन्तु उन्हें उन परिस्थितियों के सन्दर्भ से पृथक नहीं करना चाहिए जिनमें वे व्यक्त किये गये थे। यह मेहता का दोष नहीं था, बल्कि उन परिस्थितियों की सीमा थी। उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्तिशाली व्यवस्था देश में दृढ़ता से जमी हुई थी, अत: उस समय स्वतन्त्रता के आदर्श का प्रतिपादन करना भारी जोखिम का कारण हो सकता था।

भारत के मितवादी नेता केन्द्रीकरण के विरुद्ध थे, और वृद्धिमान स्थानीय स्वायत्तता का समर्थन करते थे। रानाडे, फीरोजशाह तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्थानीय निकायों की शक्तियों का प्रसार करने पर बल दिया। फीरोजशाह की स्थानीय स्वराज की प्रगति में गहरी रुचि थी। स्थानीय निकायों पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्ट स्पेंसर के विचारों को उद्धृत किया। उन्होंने कहा : "इस विषय के महानतम पण्डित जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्ट स्पेंसर दोनों का ही मत है कि म्यूनिसिपल निकायों के कार्यसंचालन पर या तो बाह्य नियन्त्रण हो, या आन्तरिक, दोनों प्रकार का नियन्त्रण लगाना ठीक नहीं है।"[17] मेहता चाहते थे कि स्थानीय निकायों पर पूरा-

15 *Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta*, पृष्ठ 455।

16 वही, पृष्ठ 812।

17 बम्बई विधान सभा में बम्बई जिला नगरपालिका विधेयक के द्वितीय वाचन के अवसर पर 13 फरवरी, 1901 को दिया गया फीरोजशाह मेहता का भाषण, *Speeches and Writings of Pherozeshah Metha*, पृष्ठ 637।

पूरा नियन्त्रण होना चाहिए किन्तु उनका आग्रह था कि निकायों के हाथों में भी कुछ शक्ति छोड़ दी जाय जिससे वे अनुभव कर सकें कि वे स्वयं अपने पर नियन्त्रण लगा रहे हैं, न कि कोई बाहर की सत्ता। वे सब प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त स्वाधीनता के समर्थक नहीं थे, किन्तु साथ ही साथ उनका कहना था कि स्थानीय निकायों को कुछ शक्ति तथा उत्तरदायित्व अवश्य देना होगा। भारतीय नगरों में स्थानीय निकायों के निर्वाचित सदस्य अपने को नितान्त शक्तिहीन अनुभव करते थे, यही बात वास्तव में म्यूनिसिपल प्रशासन की असन्तोपजनक स्थिति के लिए उत्तरदायी थी। अतः इस बात की आवश्यकता थी कि स्थानीय शासन की व्यवस्था इस ढंग की हो जिसमें स्थानीय प्रतिनिधियों की सचमुच साझेदारी हो। फीरोजशाह मेहता की यह भी राय थी कि कार्यकारी काम किसी परिषद अथवा उप-समिति की अपेक्षा किसी एक ही अधिकारी के सुपुर्द किये जायँ।[18]

शिक्षा की सुविधाओं का प्रसार भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त था। वे शिक्षा को सर्जनात्मक जीवन की कुंजी मानते थे। उनका कहना था कि मानस की मुक्ति नागरिक की अमूल्य सम्पत्ति है। फीरोजशाह लोक-शिक्षा के प्रसार के पक्ष में थे। उदारवादी होने के नाते वे बुद्धिवाद तथा प्रबुद्धीकरण के पक्ष में थे। उन्होंने बौद्धिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उनका कहना था कि इतिहास तथा मानव-शास्त्र नैतिकता की पाठशाला हैं।[19] उन्होंने कहा : "इसमें सन्देह नहीं है कि बुद्धिमान तथा शिक्षित जनता देश के साधनों के विकास का सबसे अच्छा माध्यम है। यूरोपीय महाद्वीप में यह विचार बहुत लोकप्रिय हो गया है। इस विचार को पहले पहल फ्रान्सीसी क्रान्ति के राजनीतिज्ञों ने प्रारम्भ किया था। जिस समय वे यूरोप के लगभग सभी मुकुटधारियों को चुनौती दे रहे थे और उनके सैनिक गुटों के विरुद्ध अपनी सेनाएँ झोंक रहे थे उस समय भी उन्होंने इस विचार को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि कौन्दर्से रौबिसपियर की योजनाएँ कुछ समय के लिए विफल रहीं, फिर भी तब से फ्रान्स, जर्मनी, इटली, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों ने विपत्तियों और कठिनाइयों के समय में भी अपनी सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था को सीधे राजकीय प्रशासन, प्रबन्ध और सहायता के अन्तर्गत पुनर्निर्माण करने में कुछ उठा नहीं रखा है।"[20] मेहता का विश्वास था कि भारतीय जीवन में सार्वजनिक तथा वैयक्तिक दायित्व और वफादारी के उच्च आदर्शों को केवल शिक्षा के माध्यम से ही प्रविष्ट किया जा सकता था।[21] किन्तु उनकी बौद्धिक प्रेरणा का मुख्य स्रोत पाश्चात्य संस्कृति थी। वे संस्कृत भाषा से परिचित नहीं थे। इसलिए उन्होंने 'बम्बई की शिक्षा-प्रणाली' नामक एक निबन्ध में संस्कृत भाषा और साहित्य की आलोचना की और कहा कि "उन्नीसवीं शताब्दी की सभ्यता के अनुरूप पुनरुद्धार के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए वे निरर्थक तथा हानिकारक हैं।"[22]

4. निष्कर्ष

अपने युग के नेताओं में फीरोजशाह मेहता का अत्यन्त उच्च स्थान था। वे शक्तिशाली विवादकर्ता तथा उत्कट और निर्भीक देशभक्त थे। अपने राजनीतिक निर्णयों में वे भावनाओं की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होते थे। उन्हें ब्रिटिश सभ्यता के मूल्यों में आस्था थी। उनका यह भी विश्वास था कि अन्ततोगत्वा भारत की उन्नति और प्रबुद्धीकरण निश्चित है। किन्तु वे ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के पक्ष में थे, और उसके प्रति हार्दिक, प्रबुद्ध तथा निष्ठायुक्त भक्ति उनके राजनीतिक चिन्तन की आधारभूत धारणा थी। उन्होंने 'धैर्य तथा अध्यवसाय' पर बल दिया। अतिवादी, उग्रवादी तथा समाजवादी चिन्तन के विकास के साथ-साथ मेहता के विचारों का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उदारवादी सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्वक समर्थन करके उन्होंने स्थानीय निकायों के लिए स्वायत्तता, सार्वजनिक शिक्षा, बुद्धिवाद, स्वतन्त्रता तथा प्रगति के आदर्शों को फैलाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रकार

---

18 *Speeches and Writings of Pherozeshah Mehta*, पृष्ठ 256।
19 वही, पृष्ठ 77।
20 वही, पृष्ठ 49।
21 वही, पृष्ठ 267।
22 वही, पृष्ठ 7।

उन्होंने ऐसे तरुण, उदीयमान तथा आशावान देश के प्रवक्ता का काम किया जहाँ प्रबुद्ध तथा शिक्षित लोगों को पूँजीपति वर्ग तथा निम्नमध्य वर्गों की आकांक्षाओं के निर्वचनकर्ता के रूप में कार्य करना था।

प्रकरण 2
सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

1. प्रस्तावना

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848-1925) को कभी-कभी भारत का बर्क कहा जाता है। उनकी आवाज शक्तिशाली तथा ओजस्वी थी और अपनी वक्तृत्व शक्ति के द्वारा वे श्रोताओं को अत्यधिक द्रवित और प्रभावित कर सकते थे।[23] उनका जन्म 1848 में कलकत्ता में हुआ था, और 4 अगस्त, 1925 को उनका देहान्त हुआ। उनके पिता बाबू दुर्गाचरण बनर्जी डाक्टरी करते थे। सुरेन्द्रनाथ ने 1868 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1868 में लन्दन गये और वहाँ यूनीवर्सिटी कॉलिज में गोल्डस्टुकर तथा हेनरी मौर्ले नामक आचार्यों के निर्देशन में अध्ययन किया। 1869 में वे इण्डियन सिविल सर्विस की प्रतियोगी परीक्षा में बैठे तथा सफल हुए, और 1871 में सिलहट के सहायक दण्डाधिकारी (असिस्टेंट मजिस्ट्रेट) नियुक्त किये गये। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादी नौकरशाही ने उन्हें आई. सी. एस. के सदस्य की हैसियत से संयुक्त दण्डाधिकारी (जॉइंट मजिस्ट्रेट) के रूप में सम्मानपूर्वक कार्य नहीं करने दिया। 1873 में उनके विरुद्ध कुछ आरोप रच लिये गये और जाँच आयोग ने उन्हें अपराधी ठहराया। इसलिए उनको पचास रुपया मासिक की पेंशन देकर नौकरी से वर्खास्त कर दिया गया। इंगलैण्ड के लोकमत के सामने अपने मामले की पैरवी करने के लिए सुरेन्द्रनाथ इंगलण्ड गये, किन्तु वहाँ भी उन्हें न्याय नहीं मिला। इण्डियन सिविल सर्विस से निकाले जाने के बाद वे 1876 में मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूशन नाम की संस्था में अंग्रेजी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1881 में वे फ्री चर्च कॉलिज नामक एक अन्य शिक्षा संस्था के अध्यापक मण्डल में सम्मिलित हो गये। 1882 में उन्होंने अपना एक निजी स्कूल खोल लिया जो धीरे-धीरे उन्नति करके एक कॉलिज बन गया, और लॉर्ड रिपन के नाम पर उसका नामकरण किया गया। इस गौरवशाली संस्था के निर्माण का श्रेय केवल बनर्जी को था।

सुरेन्द्रनाथ ने अपना राजनीतिक कार्यकलाप उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में प्रारम्भ किया। 26 जुलाई, 1876 को उन्होंने आनन्दमोहन बोस (1846-1905) और शिवनाथ शास्त्री के सहयोग से कलकत्ता में इण्डियन एसोशियेशन की स्थापना की। भारत में प्रतिनिधि शासन का आरम्भ कराने के लिए आन्दोलन करना इस संस्था का एक प्रमुख उद्देश्य था। इस प्रकार भारत में स्वराज के लिए जो खोज आरम्भ हुई उसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अग्रगन्ता तथा पथ-अन्वेषक का काम किया। तत्कालीन भारत सचिव लार्ड साल्सबरी ने इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा के लिए अधिकतम आयु तेईस से घटाकर उन्नीस कर दी थी। इसके विरुद्ध मध्य वर्ग का लोकमत तैयार करने के लिए सुरेन्द्रनाथ ने उत्तर भारत का दौरा किया। अनेक वर्ष तक वे डब्ल्यू. सी. बनर्जी (1844-1906) द्वारा संस्थापित 'बंगाली' नामक पत्र के सम्पादक रहे। इलबर्ट विधेयक के मामले में 'बंगाली' ने आंग्ल-भारतीय नौकरशाही की निर्भीकतापूर्वक आलोचना की। 1883 में न्यायालय की मानहानि के आरोप में उन्हें दो महीने के कारावास का दण्ड दिया गया। कारागार से छूटने के बाद उन्होंने उत्तर भारत का पुन: दौरा किया। जिसका 'विजय यात्रा' के रूप में स्वागत किया गया। 1876 में वे कलकत्ता महापालिका के सदस्य चुने गये और तेईस वर्ष तक (1899 तक) उस पद पर कार्य करते रहे। 1890 में सुरेन्द्रनाथ कांग्रेस के प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में आर. एन. मुधोलकर, एर्डले नॉर्टन और एलन औक्टेवियन ह्यूम के साथ भारत में शासन-सुधार के

---

23 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, *A Nation in Making; Speeches and Writings of Hon. Surendranath Banerjea* (जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास, प्रथम संस्करण); *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1876-84), रामचन्द्र पालिट द्वारा सम्पादित, जिल्द 1 और 2, द्वितीय संस्करण (एस. के. लाहिड़ी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, 1891); *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1886-90), राज जोगेश्वर मित्तर द्वारा सम्पादित (के. एन. मित्रा, कलकत्ता, 1890)।

पक्ष में लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से इंगलैण्ड का दौरा करने गये।[24] 1897 में सुरेन्द्रनाथ ने वेल्बी आयोग के समक्ष साक्ष्य दिया था। 1894, 1896, 1898 तथा 1900 में वे बंगाल विधान परिषद के सदस्य चुने गये। उन्होंने 1910 में साम्राज्यीय प्रेस सम्मेलन में भी भारत का प्रतिनिधित्व किया।

कांग्रेस के प्रारम्भिक वर्षों में सुरेन्द्रनाथ उसके स्तम्भ थे। वे 1895 में पूना तथा 1902 में अहमदाबाद में कांग्रेस के अध्यक्ष थे। यद्यपि वे मितवादी गुट के थे, किन्तु बंग-भंग के मामले में ब्रिटिश नौकरशाही ने जो नीति और कार्यप्रणाली अपनायी उससे उनका धैर्य टूट गया, अतः उस विषय में उन्होंने राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर कार्य किया।

1918 की जुलाई में बम्बई से कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उस अवसर पर मितवादी गुट कांग्रेस से पृथक हो गया। उसी वर्ष नवम्बर में उस गुट ने अपना अलग सम्मेलन किया और सुरेन्द्रनाथ को उसका सभापति चुना गया। इंगलैण्ड की पार्लमेंट की जिस संयुक्त प्रवर समिति ने 1919 के भारत शासन विधेयक पर विचार विमर्श किया उसके समक्ष सुरेन्द्रनाथ ने साक्ष्य दिया। बाद में जब 1919 का भारत शासन अधिनियम पास हो गया तो उन्होंने उसका समर्थन किया। अधिनियम के लागू होने पर वे बंगाल विधान परिषद के सदस्य चुने गये और बंगाल सरकार में मन्त्री नियुक्त हुए।

2. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के राजनीतिक विचार

सुरेन्द्रनाथ को जौजफ मत्सीनी (मैजिनी) (1805-1872) के जीवन से प्रेरणा मिली थी। मत्सीनी का आत्म-बलिदान उसके हृदय की सच्चाई तथा प्रतापवान चरित्र सचमुच ही अत्यधिक प्रेरणादायक हैं। वह आत्म-विश्वास तथा आत्म-निर्भरता को विशेष महत्व देता था। बनर्जी की कामना थी कि उनके देशवासी इटली के उस नेता तथा मुक्तिदाता की श्रेष्ठ तथा उदात्त देशभक्ति, दुःखों और कष्टों को सहने की अपार शक्ति तथा विशाल सहानुभूति आदि गुणों को सीखें और धारण करें। उन्होंने स्वयं मत्सीनी के जीवन से दो महत्वपूर्ण उपदेश ग्रहण किये। प्रथम, नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनरुत्थान ही राजनीतिक उन्नति का आधार बन सकता है। इसलिए सदाचार आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक महान कार्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होता है कि आत्मा को सदाचार के द्वारा पवित्र किया जाय, और देश के लिए दुःखों, कष्टों तथा सन्तापों को धैर्यपूर्वक सहन किया जाय। दूसरे, यह आवश्यक था कि देशवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता की गम्भीर भावना और अनुभूति व्याप्त हो। उनके अनुसार बिरादराना एकता की यह मानसिक अनुभूति राष्ट्रीयता की वास्तविक प्रगति की अपरिहार्य शर्त थी।[25]

सुरेन्द्रनाथ ने इंगलैण्ड के राजनीति दर्शन की उदारवादी शिक्षा को हृदयंगम किया था। लन्दन में विद्याध्ययन करते समय उन्होंने बर्क, मैकॉले, मिल, स्पेंसर की रचनाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ा था। यही कारण है कि उनके भाषणों और लेखों में नैतिक आदर्शवाद के दर्शन और उदारवादी व्यक्तिवाद की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। इंगलैण्ड में विद्यार्थी जीवन के दौरान उन्होंने बुद्धि, स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के आदर्शों का महत्व भलीभाँति समझ लिया था। वे बर्क के संविधानवाद और रोमांटिकवाद तथा फॉक्स, पिट और शैरीडन[26] की वाकपटुता और ओजस्वी वक्तृत्व की प्रशंसा किया करते थे। बर्क उन्हें विशेष रूप से पसन्द था और उसे वे 'ईश्वर द्वारा नियुक्त—स्वयं प्रकृति के हाथों रचा हुआ—अनुदारवादी' कहा करते थे। किन्तु उनका यह भी विश्वास था कि बर्क का अनुदारवाद दर्शन तथा देशभक्ति से उत्प्रेरित था, उसके मूल में कोई स्वार्थ की भावना नहीं थी। बर्क ने ब्रिस्टल के मतदाताओं को अपने पत्र में प्रतिनिधित्व के आदेशात्मक सिद्धान्त का जो खण्डन

---

24 लालमोहन घोष प्रथम भारतीय राजनीतिक नेता थे जो राजनीतिक ध्येय को लेकर 1879 और 1884 में इंगलैण्ड गये।

25 *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1878-1884) रामचन्द्र पालित द्वारा सम्पादित (एस. के. लाहिड़ी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता), जिल्द 1 तथा 2, जि. 1, पृष्ठ 1-24।

26 *Speeches (1886-90)*, पृ. 131।

किया था उससे बनर्जी सहमत थे और प्राय: उसके इस पत्र को उद्धृत किया करते थे।[27] वे स्वीकार करते थे कि इंगलैण्ड के इतिहास की महान शिक्षा स्वतन्त्रता की धारणा थी। सत्रहवीं शताब्दी की प्यूरिटन क्रान्ति तथा रक्तहीन क्रान्ति संवैधानिक स्वतन्त्रता की स्थापना के मार्ग में महत्वपूर्ण अवस्थाएँ थीं। मिल्टन, सिडनी, हैरिंगटन, लॉक आदि अंग्रेज लेखकों ने अपनी रचनाओं में स्वतन्त्रता की नियामतों को अमर कर दिया था। उस गौरवशाली संविधानवाद के पौधे का भारत में भी प्रतिरोपण करना आवश्यक था। भारत में संवैधानिक सुधार की आवश्यकता को लैंसडाउन, डफरिन और क्रौस ने भी स्वीकार किया था। अतः सुरेन्द्रनाथ का कहना था कि यदि यह उद्देश्य पूरा हो जाय तो भारतवासियों को सन्तोष होगा और वे ब्रिटेन के कृतज्ञ होंगे।[28]

सुरेन्द्रनाथ को मानव स्वभाव की श्रेष्ठता में विश्वास था। इसके प्रमाण के रूप में वे कहा करते थे कि बंगाल में शक्ति सम्प्रदाय की घृणित प्रथाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में वैष्णव धर्म का उदय हुआ। वे लिखते हैं : "मानव स्वभाव में एक दैवी तत्व विद्यमान है; जब हम अधःपतन के खड्ड में सिर के बल गिरने लगते हैं तो वह हमें अपनी चेतावनी भरी पुकार से सहसा रोक देता है—'बस तुम यहीं तक जाओगे, इससे आगे नहीं बढ़ोगे।' मानव स्वभाव अपनी गरिमा के कारण जिस प्रतिष्ठा के योग्य है उसकी रक्षा करने में वह सदैव सफल होता है। मानव स्वभाव विकृत हो सकता है, अपवित्र और दूषित हो सकता है, किन्तु उसकी दैवी प्रतिभा कभी नष्ट-भ्रष्ट नहीं की जा सकती, कभी मिटायी नहीं जा सकती।"[29] जब कोई व्यक्ति कर्तव्य और नैतिकता के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करने लगता है तो उसके स्वभाव की जन्मजात नैतिक प्रवृत्ति और उदात्तता उसके मार्ग में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है।

सुरेन्द्रनाथ को भारत के प्राचीन गौरव तथा विज्ञान, कला, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में उसकी शानदार उपलब्धियों के प्रति गहरा अनुराग था।[30] वे बाल्मीकि, व्यास, बुद्ध, शंकर, पाणिनि और पतंजलि के महान योगदान पर गर्व किया करते थे।[31] बनर्जी कहा करते थे कि भारत धर्मों की जन्मभूमि और पूर्व की पवित्र भूमि है। देश के तरुणों के नैतिक पुनरुद्धार का सबसे बड़ा माध्यम यह है कि भारतीय संस्कृति में निहित श्रेष्ठ आदर्शवाद को हृदयंगम किया जाय। भारत का इतिहास हमें आत्म-बलिदान के लोकोत्तर आदर्श का उपदेश देता है। उससे प्रकट होता है कि निराशा, उद्विग्नता और उत्पीड़न पर सदैव ईश्वरीय उत्साह की विजय होती आयी है। सुरेन्द्रनाथ लिखते हैं : "हमें चाहिए कि अपने पूर्वजों के चरणों में बैठें और प्राचीन भारत के मनस्वियों का सत्संग करें। इन दिनों जब सरकार का दमनचक्र चल रहा है, राजनीतिक जीवन निष्प्राण और गतिहीन हो रहा है और जबकि भविष्य इतना नैराश्यपूर्ण और अन्धकारमय दिखायी दे रहा है, इस प्रकार का सत्संग सचमुच ही बहुत आनन्ददायक होगा।....इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारत के इतिहास में आपको बहुत कुछ पुराना, वर्तमान की दृष्टि से निरर्थक तथा उपहासास्पद प्रतीत होगा और उस पर आपको हँसी आयगी, किन्तु इस प्रकार की अनुभूति से आपको अभिभूत नहीं होना चाहिए। अपने पूर्वजों की उपलब्धियों को श्रद्धापूर्वक समझने का प्रयत्न कीजिए। स्मरण रखिये कि आप अपने उन पूर्वजों की वाणी और कृतियों का अध्ययन कर रहे हैं जिनकी खातिर आज आपको याद किया जाता है और जिनके कारण यूरोप के सर्वश्रेष्ठ विद्वान भी आपके कल्याण में गम्भीर तथा हार्दिक रुचि रखते हैं। यदि आप अपने पूर्वजों की-सी बौद्धिक उच्चता प्राप्त नहीं कर सकते तो कम से कम उनकी नैतिक श्रेष्ठता का तो अनुकरण कर ही सकते हैं। नैतिक महानता का मार्ग न तो इतना सपाट है और न

---

27 1895 में पूना कांग्रेस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का अध्यक्षीय भाषण।

28 एक्जीटा में एक सभा में दिया गया सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का व्याख्यान। देखिये *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1886-1890), राज जोगेश्वर मित्तर द्वारा सम्पादित (एन. के. मित्रा, कलकत्ता, 1890), पृ. 162-63।

29 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 15 जुलाई, 1876 को कलकत्ता में विद्यार्थी संघ की एक बैठक में 'चैतन्य' पर दिया गया व्याख्यान। देखिये *Speeches*, पृ. 54।

30 *Speeches (1876-84)*, जिल्द 1, पृ. 24।

31 वही, जिल्द 2, पृ. 90।

इतना फिसलना।....देश के नैतिक पुनरुत्थान पर ही उसका बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनरुद्धार निर्भर है।"[32] उनका कहना था कि उदासीनता, निर्दयता और असावधानी पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। अतीत के गौरव तथा श्रेष्ठता पर श्रद्धापूर्वक दृष्टि लगाकर और प्रदीप्त तथा प्रबुद्ध भविष्य पर अपनी आशाएँ केन्द्रित करके सक्रिय जीवन बिताना और देशभक्ति के कर्तव्यों का पालन करना—यही देश के युवकों का पवित्र दायित्व है। भारत की महानता का निर्माण केवल नैतिक उत्थान की नींव पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार सुरेन्द्रनाथ ने नागरिक तथा राजनीतिक कर्तव्य को नैतिक जीवन की आवश्यकता माना। वे कहा करते थे कि यदि भारत को उठना है और सभ्य जातियों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त करना है तो आवश्यक है कि हम माता-पिता के आज्ञाकारी बनें, और अपने में आत्म-त्याग, सत्यता, ब्रह्मचर्य, स्वभाव की सौम्यता, वीरता आदि गुणों का विकास करें; इन्हीं गुणों का रामायण तथा महाभारत में चित्रण किया गया है और ये ही प्राचीन भारतवासियों के जीवन में साक्षात्कृत किये गये थे जैसा कि युआन च्वांग और एरियन के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। सुरेन्द्रनाथ नैतिक ऐश्वर्य, सन्तों की-सी पवित्रता, देवदूतों का-सा उत्साह, श्रेष्ठ तथा वीरतापूर्ण सहनशक्ति और गम्भीर करुणायुक्त तथा असीम प्रेम आदि उन गुणों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया करते थे जो भारतवासियों के महान आध्यात्मिक पूर्वज बुद्ध के चरित्र में साक्षात्कृत हुए थे; और साथ ही साथ उन्होंने ओजपूर्ण वाणी में सदैव इस बात का अनुरोध किया कि यदि भारतवासी राजनीतिक उदासीनता, सड़ाँध और अधःपतन से मुक्ति पाना चाहते हैं तो उन्हें इन गुणों का अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार विवेकानन्द, गान्धी और अरविन्द की भाँति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इस बात पर बल दिया कि नैतिक पुनर्जागरण ही हमारी राजनीतिक मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

सुरेन्द्रनाथ ने स्वीकार किया कि उच्चकोटि का नैतिक आदर्शवाद राजनीति को पवित्र करता है तथा उदात्त बनाता है। वे मानते थे कि जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है, इसलिए शासन देशवासियों के प्रेम और भक्ति पर आधारित होना चाहिए, और यह तभी सम्भव है जब राजनीतिक उत्तरदायित्व में उनका भी साझा हो। विश्वास से विश्वास और भरोसा उत्पन्न होता है। इसलिए यदि ब्रिटिश शासक भारतवासियों का अविश्वास करते हैं तो इससे उनकी कायरता प्रकट होती है। सावधानी अच्छी चीज है किन्तु ऐसा न हो कि वह विकृत होकर शासित जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं के प्रति सन्देहयुक्त शत्रुता का रूप धारण करले। बनर्जी ने लिखा है: "धर्म अथवा गहरी नैतिक ईमानदारी पर आधारित राजनीति ही एक ऐसी चीज है जिसकी इस देश को सबसे अधिक आवश्यकता है। उच्च नैतिक उद्देश्य से शून्य राजनीति शक्ति के लिए तुच्छ छीना-झपटी का रूप धारण कर लेती है जिसमें मनुष्य जाति को कोई आनन्द नहीं आ सकता। स्वराज (होम रूल) आन्दोलन का उदाहरण आपके सामने है। उसमें से श्री ग्लैडस्टन के व्यक्तित्व को, उनकी गहरी नैतिक ईमानदारी को और आयरलैण्ड के देश भक्तों के गम्भीर उत्साह को पृथक कर दीजिए तो वह केवल शक्ति के लिए दयनीय संघर्ष रह जाता है जिसमें मानवता के अधिक गम्भीर हितों को भुला दिया गया है। दूसरा उदाहरण अमरीका की महानता के संस्थापक पिलग्रिम फादर्स का है.... उन्होंने उस जीवन को त्याग दिया जिसमें उनके अन्तःकरण के विश्वासों का बलिदान होता था, और उसकी अपेक्षा विदेश में रहना पसन्द किया। वे उन्नति करके राजनीतिज्ञ बन गये और उन्होंने विश्व इतिहास की श्रेष्ठतम सरकार तथा सर्वाधिक स्वतंत्र जाति की स्थापना की।"[33] सिसेरो तथा बर्क की भाँति सुरेन्द्रनाथ ने भी इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक शक्ति का आधार नैतिक होना चाहिए। वे मैकियावेली की इस धारणा के आलोचक थे कि राज्य की अपनी बुद्धि होती है और वह आचरण का सर्वाधिक स्वीकार्य मानदण्ड प्रस्तुत करती है। 1895 की पूना कांग्रेस में अपने

---

32 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 24 जून, 1876 को कलकत्ता में यंग मैन्स एसोशियेशन की वार्षिक बैठक में *The Study of Indian History* पर दिया गया भाषण, *Speeches*, पृष्ठ 46।

33 *Ram Mohan Roy Centenary Commemoration Volume*, भाग 2 (2 कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता, 1935), पृष्ठ 196। यह उद्धरण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के उस भाषण से लिया गया है जो उन्होंने कलकत्ता में राममोहन राय मैमोरियल मीटिंग में 27 सितम्बर, 1888 को दिया था।

अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा : "मैं नैतिक विचार को अग्रतम स्थान देना चाहता हूँ; जो बात नैतिक दृष्टि से उचित नहीं ठहरायी जा सकती वह राजनीतिक दृष्टि से भी लाभप्रद नहीं हो सकती। नैतिकता से शून्य राजनीति को किसी भी अंश में राजनीति नहीं कहा जा सकता; वह तो निकृष्टतम प्रकार का शब्दजाल है। यह एक क्षण के लिए भी नहीं मान लेना चाहिए कि इन अर्धसभ्य जातियों में (यहाँ चितराल पर किये गये आक्रमण से अभिप्राय है) जिनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया है और जिन्हें शान्त तथा तटस्थ बनाये रखने के लिए दिया गया वचन केवल भंग करने के लिए दिया गया था, संवेदना का इतना अभाव है कि वे यह भी नहीं जानतीं कि नैतिक उत्तरदायित्व का स्वरूप बाध्यकारी होता है। वे अपने साथ किये गये अनुचित व्यवहार और अपमान को अनुभव करेंगी, वे अन्याय के सम्बन्ध में सोच-विचार करेंगी तथा कुढ़ती रहेंगी और, जैसा कि कार्लाइल ने कहा है, अन्याय 'चक्रवृद्धि व्याज के साथ बदला लेने से' कभी नहीं चूकता।[34]

भारतीय मितवादियों के राजनीति दर्शन का एक मुख्य तत्व यह था कि वे राजनीतिक शक्ति के नैतिक आधार में विश्वास करते थे। वे बल-प्रयोग तथा हिंसा के विरुद्ध थे। उन्होंने बल-प्रयोग की भर्त्सना की, क्योंकि उसे वे एक पापमूलक प्रणाली मानते थे। उनका कहना था कि बल-प्रयोग से जो घाव उत्पन्न तथा गहरे होते हैं उन्हें भरने में अनेक दशक लग जाते हैं। इसलिए उन्होंने भौतिक बल पर आधारित शासन के स्थान पर नैतिक शक्तियों के साम्राज्य का समर्थन किया। वे ग्लैड्स्टन के इस कथन से सहमत थे कि "जनता में विश्वास ही उदारवाद है; हाँ, उस विश्वास में विवेक का पुट अवश्य होना चाहिए।" इसलिए वे निरन्तर इसी बात पर बल दिया करते थे कि भारत सरकार स्वतन्त्रता, न्याय तथा दयालुता के आदर्शों से अनुप्राणित होनी चाहिए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी रोम के इतिहास का उल्लेख किया करते थे। रोम एक अपेक्षाकृत स्थायी साम्राज्य का निर्माण करने में इसलिए सफल हो सका था कि उसने सार्वराष्ट्रिक विधि, विश्वराज्यवाद तथा समानता के आदर्शों पर चलने का प्रयत्न किया था। बनर्जी का कथन था : "जो सरकार स्थायित्व चाहती है उसे जनता के प्रेम से प्राप्त होने वाली सुरक्षा से वंचित नहीं रहना चाहिए, और इस प्रकार की सुरक्षा तभी उपलब्ध हो सकती है जब जनता के वे अधिकार तथा विशेषाधिकार समय रहते ही स्वीकार कर लिये जायँ जिन्हें ईश्वर ने स्वयं अपने हाथों से लिखा है और इसलिए जिन्हें कोई मानवीय शक्ति, चाहे वह कितनी ही उच्च तथा सम्मानित क्यों न हो, छीन नहीं सकती। मकदूनियाँ के महान विजेता (सिकन्दर) ने अपने विशाल साम्राज्य के गर्वीले ढाँचे को उन लोगों की कृतज्ञता की नींव पर स्थापित करने का प्रयत्न किया था जिनकी सेनाओं को उसने परास्त कर दिया था और जिनके प्रदेशों को उसने छीन लिया था। जिस समय ईरानी साम्राज्य सिकन्दर के चरणों में लोट रहा था और जिस समय दारियस अपने घर तथा देश को छोड़कर शरणार्थी की भाँति मारा-मारा फिर रहा था उस समय उसने (सिकन्दर ने) उन भावनाओं के सामने समर्पण नहीं किया जो महान विजय के उस अवसर पर स्वाभाविक थीं, बल्कि उसने अपने नये प्रजाजनों की सद्भावना तथा प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार रोमन लोग अधीन जातियों की सद्भावना तथा विश्वास की कद्र करते थे, और उसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने हर सम्भव उपाय किया। विश्व इतिहास के सर्वाधिक सफल विजेताओं की सदैव यह निश्चित नीति रही है कि आन्तरिक विद्रोहों तथा बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए अभेद्य दीवार बनायी जाय, और इसके लिए उन्होंने विजित जनता में अपने प्रति उत्साहपूर्ण कृतज्ञता तथा प्रेम भाव जाग्रत करना ही सर्वोत्तम उपाय समझा है। भारत के अंग्रेज शासकों में भी इस प्रकार की गम्भीर भावना धीरे-धीरे उत्पन्न हो रही है।[35] मेरी कामना है कि यह भावना दिन प्रति दिन गहरी होती जाय और वह भारत सरकार की नीति पर शक्तिशाली प्रभाव डालने लगे जिससे ब्रिटेन पूर्व में अपने ध्येय को पूरा कर सके और भारत अविद्या, अज्ञान तथा अन्धविश्वास के बन्धनों से मुक्त होकर और नवजीवन प्राप्त करके एक बार पुनः विश्व के

---

34 *Speeches and Writings*, पृ. 44।

35 सुरेन्द्रनाथ ने अहमदाबाद की कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में मनरो, बैंटिक तथा एलफिन्स्टन की इसलिए प्रशंसा की कि उन्होंने भारतीय लोक प्रशासन में कल्याणकारी तरीकों को अपनाने पर बल दिया था।

राष्ट्रों के बीच अपना मस्तक ऊँचा कर सके।"[36] बनर्जी का कहना था कि लोकमत की उपेक्षा शासकों तथा शासितों के सामान्य कल्याण के लिए घातक होती है। लोकमत सरकार से भी अधिक उच्च न्यायाधिकरण है। वह सरकार का ऐसा स्वामी है जिसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसी शक्ति है जो भौतिक शक्तियों के केन्द्रीकृत संगठन से अधिक उच्च, श्रेष्ठ तथा शुद्ध है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अभिजाततन्त्रीय तथा लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं ने और पार्टी संगठनों ने जब-जब लोकमत की शक्ति के विरुद्ध आचरण किया है तब-तब उन्हें हटाकर नयी व्यवस्था स्थापित की गयी है।[37]

अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में रानाडे तथा फीरोजशाह मेहता की भांति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भी विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध ईश्वरीय विधान का फल है। उन्होंने घोषणा की कि मैं "ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय" मानता हूँ, "इतिहास के देवता का एक विधान" समझता हूँ।[38] वे 1858 की घोषणा को भारत की विजय की पताका, और उसके राजनीतिक उद्धार का सन्देश मानते थे। उन्होंने बतलाया कि भारत में इंगलैण्ड का जो ध्येय है उसे तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: "(1) उन बुराइयों का उन्मूलन करना जिनसे भारतीय समाज सन्तप्त है। (2) भारतवासियों में ऐसे चरित्र का निर्माण करना जिससे उनमें पुरुषत्व, बल तथा आत्मनिर्भरता के गुणों का विकास हो सके। (3) भारत में स्वशासन की कला का सूत्रपात करना।"[39] बनर्जी का कहना था कि ब्रिटिश साम्राज्य ने पश्चिम के प्रगतिशील राजनीतिक आदर्शों और भारत के प्राचीन आदर्शवाद के बीच सम्पर्क स्थापित कर दिया है। उन्होंने 1895 में पूना कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा: "हमें अदृश्य काल की कल्याणकारी शक्तियों का भरोसा है।·······असन्तोष हर प्रकार की प्रगति का जनक होता है। वह हमें अपनी जाति के कल्याण के हेतु सतत कर्म करते रहने की प्रेरणा देता है। इसमें सन्देह नहीं है कि भविष्य में स्वर्ण युग आने वाला है। हमारे तथा हमारी सन्तान के भाग्य में स्वर्णयुग का विधान है।··· हमें प्रतीत होता है कि यदि हमारे भाग्य में उस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग करना नहीं है जैसी कि ब्रिटिश नागरिकों को अन्यत्र उपलब्ध है तो वह हमारे पश्चात आने वाले उन लोगों को अवश्य ही विरासत में उपलब्ध होगी जो हमारा नाम लेंगे तथा कार्य करेंगे। इसी विश्वास को लेकर हम काम कर रहे हैं।···विश्वास ही वह वस्तु है जिससे कांग्रेस आन्दोलन को बल तथा दृढ़ता मिलती है। इसका अभिप्राय यह भी है कि हमें ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील स्वभाव में विश्वास है।···हम अपनी सन्तान तथा सन्तान की सन्तान के लिए जो श्रेष्ठतम विरासत छोड़ सकते हैं वह परिवर्धित अधिकारों की विरासत ही हो सकती है, ऐसे अधिकारों की विरासत जो मुक्त हुई जनता के उत्साह तथा भक्ति द्वारा रक्षित हो। हमें एक दूसरे में विश्वास तथा ब्रिटिश शासन में अडिग भक्ति के साथ इस प्रकार कार्य करना चाहिए जिससे हम अपना लक्ष्य न्यूनतम समय में प्राप्त कर लें। तभी कांग्रेस का ध्येय पूरा होगा। ··वह ध्येय भारत से ब्रिटिश शासन का उन्मूलन करके पूरा नहीं होगा। उसको पूरा करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ब्रिटिश शासन के आधार को अधिक विस्तृत किया जाय, उसकी भावना को उदार तथा स्वभाव को उदात्त बनाया जाय और उसे राष्ट्र के प्रेम की अपरिवर्तनशील नींव पर आधारित किया जाय।[40] हमारा लक्ष्य ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं है। हमारा उद्देश्य है कि जिस ब्रिटिश साम्राज्य ने शेष संसार के समक्ष स्वतन्त्र संस्थाओं के आदर्श प्रस्तुत किये हैं उसके साथ हमारा एकीकरण हो, हम उसके अभिन्न अंग के सदृश उसके

36 *Speeches*, पृष्ठ 100-01।
37 *Speeches of Surendranath Banerjea* (1886-90), पृष्ठ 19।
38 *Speeches* (*1876-84*), जिल्द 2, पृष्ठ 49।
39 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कलकत्ता में 28 अप्रैल, 1877 को भवानीपुर स्टूडेण्ट्स एसोसियेशन की बैठक में "England and India" विषय पर दिया गया भाषण—देखिये *Speeches*, पृष्ठ 68।
40 अहमदाबाद कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का यह ईश्वरीय ध्येय है कि वह "हमारे देश के एकीकरण के लिए तथा भारत में ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाने के लिए कार्य करे।"

साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध हों। किन्तु स्थायित्व का अर्थ है मेल-मिलाप, एकीकरण तथा समान अधिकार। किन्तु ब्रिटेन तथा भारत के सम्बन्धों को किसी भी प्रकार के सैनिक निरंकुशवाद के आधार पर स्थायी नहीं बनाया जा सकता। स्थायित्व तथा सैनिक निरंकुशवाद के बीच कोई संगति नहीं हो सकती। सैनिक निरंकुशवाद तो अस्थायी लक्ष्यों की प्राप्ति का अस्थायी साधन हुआ करता है। इंगलैण्ड से हमारी अपील है कि वह भारत में अपने शासन के स्वरूप को धीरे-धीरे परिवर्तित करे, उसको उदार बनाये, उसकी नींव को बदले और उसे देश तथा जनता में जिस नये वातावरण का विकास हुआ है उसके अनुकूल बनाये जिससे समय पूरा होने पर भारत स्वतन्त्र राज्यों के महान परिसंघ में अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर सके। ये सब स्वतन्त्र राज्य ब्रिटेन से उत्पन्न हुए होंगे, उनका स्वरूप ब्रिटिश होगा और उनकी संस्थाएँ ब्रिटिश ढंग की होंगी। वे राज्य इंगलैण्ड के साथ स्थायी तथा अभेद्य एकता के बन्धन में बँधकर प्रसन्न होंगे और वे मातृदेश इंगलैण्ड के लिए गौरव तथा मानव जाति के लिए सम्मान का कारण सिद्ध होंगे। तभी इंगलैण्ड पूर्व में अपने महान ध्येय को पूरा कर सकेगा।"[41] बनर्जी कहा करते थे कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की ओर को हुआ है। पश्चिम को अपना ऋण चुकाना है। वह ऋण केवल नैतिक प्रभाव का प्रसार करके नहीं चुकाया जा सकता, उसको चुकाने के लिए भारतीय जनता को राजनीतिक मताधिकार प्रदान करना आवश्यक है। इंगलैण्ड के राष्ट्रीय चरित्र की विशेषताएँ हैं—"सावधानी से सन्तुलित साहस, गम्भीरता से मिश्रित उत्साह, तथा उदारतापूर्ण प्रेम से द्रवित पक्षपात।" इंगलैण्ड के राजनीति दर्शन तथा संवैधानिक इतिहास में राजनीतिक कर्तव्य तथा स्वतन्त्रता के आदर्श निहित हैं। यह आवश्यक है कि इंगलैण्ड की स्वतन्त्र संस्थाओं की श्रेष्ठ भावना को भारत की भूमि में भी प्रतिरोपित किया जाय। किन्तु बनर्जी ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों के पक्ष में होते हुए भी शासन करने वाली नौकरशाही के कुचक्रों का भण्डाफोड़ करने से कभी नहीं चूके। उन्होंने लार्ड कर्जन द्वारा प्रतिपादित नवीन साम्राज्यवाद के आदर्श की निर्भीकतापूर्वक भर्त्सना की। उन्होंने बंग-भंग का दृढ़ता और आग्रहपूर्वक विरोध किया, इसलिए वे मि. "सरेंडर नॉट" बनर्जी (समर्पण न करने वाले बनर्जी) कहलाये। किन्तु उनमें यह समझ लेने की पर्याप्त बुद्धिमत्ता थी कि भारत में ब्रिटिश शासकों की नीति का विरोध करने तथा ब्रिटिश सभ्यता तथा संस्कृति की राजनीतिक विरासत को स्वीकर करने के बीच कोई असंगति नहीं है।

सुरेन्द्रनाथ भारतीय एकता तथा स्वशासन के उत्साही सन्देशवाहक थे।[42] उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय एकता ही स्वतन्त्रता, आशा तथा भक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने का एकमात्र साधन है। भारतवासियों को ईश्वर के समक्ष इस बात की शपथ लेनी है और वचन देना है कि वे अपनी सब विभिन्नताओं और भेदों को भुलाकर एक सामान्य मंच पर एकत्र होकर और मिलकर कार्य करेंगे। 1911 में सुरेन्द्रनाथ ने एक हिन्दू-मुसलिम सम्मेलन में भाग लिया। उस सम्मेलन में मालवीय, वैडरबर्न, हसन इमाम, रहीमतुल्ला तथा जिन्ना भी उपस्थित थे, और उसका उद्देश्य था कि भारत के दो बड़े सम्प्रदायों—हिन्दुओं तथा मुसलमानों—के बीच एकता स्थापित की जाय। सुरेन्द्रनाथ ने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय एकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया था। उन्होंने कहा : "·······मेरी पक्की धारणा और दृढ़ विश्वास है कि हर राष्ट्र की प्रगति के इतिहास में एक ऐसा समय आता है जब उसके हर नागरिक के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसका सचमुच अपना निश्चित ध्येय है जिसको उसे पूरा करना है। भारत के लिए ऐसा समय आ गया है।····ईश्वर ने आदेश जारी कर दिया है कि हर भारतीय को अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए, अन्यथा वह ईश्वर की दृष्टि में दण्ड का भागी सिद्ध होगा। इंगलैण्ड के गौरवपूर्ण इतिहास में इसी प्रकार के उत्तेजक कार्यों का एक समय आया था जब हैम्पडन ने अपने देश की मुक्ति के लिए अपना जीवन दाँव पर लगा दिया था, जब एलगरनौन सिडनी ने देश को घृणित अत्याचारी से मुक्त कराने

---

41 *Speeches and Writings of Surendranath Banerjea*, selected by himself (जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास), पृष्ठ 97-99।

42 "An Appeal to the Mohammedan Community," *Speeches (1886-90)*, पृष्ठ 82-91।

के लिए अपना सिर जल्लाद की पटिया पर रख दिया था, जब विशप लोग पितृभूमि के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए अपने दैवी कार्यों को छोड़कर आपराधिक न्यायालय में राजद्रोहियों के रूप में प्रस्तुत होने में नहीं झिझके थे।....हमारे लिए सचमुच यह आवश्यक नहीं है कि अपनी शिकायतों को दूर करवाने के लिए हिंसा का मार्ग अपनायें। जो अधिकार और सुविधाएँ अन्य देशों में अधिक कठोर उपायों द्वारा उपलब्ध हो पाती हैं वे हमें संवैधानिक तरीकों से ही प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु हमारे तरीके शान्तिमय होंगे, फिर भी हर भारतवासी को कठोर कर्तव्य का पालन करना पड़ेगा। और जो उस कर्तव्य की अवहेलना करता है वह ईश्वर तथा मनुष्य की निगाह में देशद्रोही ठहराया जायगा।"[43] बनर्जी कहा करते थे कि भारत की एकता, जिसे प्राप्त करना एक तात्कालिक और अपरिहार्य आवश्यकता है, केवल बौद्धिक आधार पर स्थापित नहीं की जा सकती, उसके लिए उच्च संवेगात्मक नींव की आवश्यकता है। भारत को भी गैरीवाल्डी और मत्सीनी जैसे बलिदानी देशभक्तों की जरूरत है। प्राचीन काल में नानक देव ने भारतीय एकता का उपदेश दिया था। अब इस समय देश की प्रगति के लिए आवश्यक है कि हम सब मिलकर एक स्वर से उस देवता का गुणगान करें जो हमारे देश के भाग्य का अधिष्ठाता है। एकता ही देश के पुनरुद्धार का राजमार्ग है। सुरेन्द्रनाथ महाकवि दान्ते की प्रशंसा किया करते थे जिसने इटली के एकीकरण के कार्य में योग दिया था, और इसी प्रकार वे उन जर्मन अध्यापकों का उल्लेख करते थे जिन्होंने जर्मनी की एकता के कार्य को आगे बढ़ाया था।[44]

दादाभाई नौरोजी, रानाडे तथा सुरेन्द्रनाथ और गोपाल कृष्ण गोखले भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता के सम्बन्ध में पूर्णत: सचेत थे। वे भलीभाँति समझते थे कि इससे राष्ट्रीय जीवन का स्रोत सूख रहा था। पूना कांग्रेस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारत के भौतिक अध:पतन को रोकने के लिए पाँच-सूत्री कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की : (1) पुराने उद्योगों का पुनरुद्धार और नये उद्योगों की स्थापना; (2) भूमि-कर निर्धारण में संयम से काम लिया जाय और कर एक लम्बी अवधि के लिए निश्चित कर दिया जाय जिससे किसानों को आये दिन के आर्थिक उत्पीड़न से मुक्ति मिल सके; (3) उन करों में छूट दी जाय जिनसे गरीब जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है; (4) उपयुक्त राजकीय नियमों के द्वारा देश के धन का 'निर्गम' तथा लूटखसोट बन्द की जाय; और (5) खर्चीले विदेशी शासक वर्ग के स्थान पर भारतवासियों की उत्तरोत्तर अधिकाधिक नियुक्ति की जाय।

राजनीति की जड़ें आर्थिक व्यवस्था में होती हैं, इस बात पर मितवादियों ने सदैव बल दिया था। भारत की विनाशकारी गरीबी का उसकी शोचनीय राजनीतिक दशा पर जो भयंकर प्रभाव पड़ रहा था, उसे दादाभाई, रानाडे और सुरेन्द्रनाथ भलीभाँति समझते थे। सुरेन्द्रनाथ का अनुरोध था कि भारतीय उद्योगों का संरक्षण किया जाय और उन्हें उन्नत करने का प्रयत्न किया जाय। उन्होंने कहा था : "किसी जाति की आर्थिक दशा का उसकी राजनीतिक प्रगति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।"[45] उन्होंने जॉन ब्राइट के इस मत का उल्लेख किया कि किसी देश की शासन-व्यवस्था तथा उसकी जनता की सामान्य दशा के पीछे उस देश की वित्तीय स्थिति प्रमुख तत्व का काम किया करती है। यही कारण था कि उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उनके विचार में वह केवल राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन नहीं था, अपितु राष्ट्र की शक्तियों को उन्मुक्त करने का एक नैतिक तथा आध्यात्मिक मार्ग था। उन्होंने कहा : "स्वदेशी आन्दोलन दुर्भिक्ष, महामारी तथा दरिद्रता से होने वाली अन्य विपदाओं से हमारी रक्षा करेगा। यदि आज आप स्वदेशी का व्रत ले लेते हैं तो समझिये कि आपकी औद्योगिक और राजनीतिक मुक्ति की गहरी और चौड़ी नींव तैयार हो गयी है। जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी बनिये। अपने विचारों, कार्यों तथा आदर्शों और आकांक्षाओं में भी स्वदेशी का व्रत लीजिए। पवित्रता तथा आत्म-बलिदान के पुराने जीवन का पुन:-निर्माण कीजिए। उस प्राचीन युग के आर्यावर्त की पुन:स्थापना कीजिए जब ऋषिगण ईश्वर का

43 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कलकत्ता में स्टूडेण्ट्स एसोशिएशन की बैठक में मार्च 16, 1878 को "Indian Unity" विषय पर दिया गया भाषण—देखिये *Speeches and Writings*, पृ. 228-29।

44 *Speeches (1976-84)*, जिल्द 2, पृ. 50।

45 पूना कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण (1895)।

साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध हों। किन्तु स्थायित्व का अर्थ है मेल-मिलाप, एकीकरण तथा समान अधिकार। किन्तु ब्रिटेन तथा भारत के सम्बन्धों को किसी भी प्रकार के सैनिक निरंकुशवाद के आधार पर स्थायी नहीं बनाया जा सकता। स्थायित्व तथा सैनिक निरंकुशवाद के बीच कोई संगति नहीं हो सकती। सैनिक निरंकुशवाद तो अस्थायी लक्ष्यों की प्राप्ति का अस्थायी साधन हुआ करता है। इंगलैण्ड से हमारी अपील है कि वह भारत में अपने शासन के स्वरूप को धीरे-धीरे परिवर्तित करे, उसको उदार बनाये, उसकी नींव को बदले और उसे देश तथा जनता में जिस नये वातावरण का विकास हुआ है उसके अनुकूल बनाये जिससे समय पूरा होने पर भारत स्वतन्त्र राज्यों के महान परिसंघ में अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर सके। ये सब स्वतन्त्र राज्य ब्रिटेन से उत्पन्न हुए होंगे, उनका स्वरूप ब्रिटिश होगा और उनकी संस्थाएँ ब्रिटिश ढंग की होंगी। वे राज्य इंगलैण्ड के साथ स्थायी तथा अभेद्य एकता के बन्धन में बँधकर प्रसन्न होंगे और वे मातृदेश इंगलैण्ड के लिए गौरव तथा मानव जाति के लिए सम्मान का कारण सिद्ध होंगे। तभी इंगलैण्ड पूर्व में अपने महान ध्येय को पूरा कर सकेगा।"[41] बनर्जी कहा करते थे कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की ओर को हुआ है। पश्चिम को अपना ऋण चुकाना है। वह ऋण केवल नैतिक प्रभाव का प्रसार करके नहीं चुकाया जा सकता, उसको चुकाने के लिए भारतीय जनता को राजनीतिक मताधिकार प्रदान करना आवश्यक है। इंगलैण्ड के राष्ट्रीय चरित्र की विशेषताएँ हैं—"सावधानी से सन्तुलित साहस, गम्भीरता से मिश्रित उत्साह, तथा उदारतापूर्ण प्रेम से द्रवित पक्षपात।" इंगलैण्ड के राजनीति दर्शन तथा संवैधानिक इतिहास में राजनीतिक कर्तव्य तथा स्वतन्त्रता के आदर्श निहित हैं। यह आवश्यक है कि इंगलैण्ड की स्वतन्त्र संस्थाओं की श्रेष्ठ भावना को भारत की भूमि में भी प्रतिरोपित किया जाय। किन्तु बनर्जी ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों के पक्ष में होते हुए भी शासन करने वाली नौकरशाही के कुचक्रों का भण्डाफोड़ करने से कभी नहीं चूके। उन्होंने लार्ड कर्जन द्वारा प्रतिपादित नवीन साम्राज्यवाद के आदर्श की निर्भीकतापूर्वक भर्त्सना की। उन्होंने बंग-भंग का दृढ़ता और आग्रहपूर्वक विरोध किया, इसलिए वे मि. "सरेंडर नॉट" बनर्जी (समर्पण न करने वाले बनर्जी) कहलाये। किन्तु उनमें यह समझ लेने की पर्याप्त बुद्धिमत्ता थी कि भारत में ब्रिटिश शासकों की नीति का विरोध करने तथा ब्रिटिश सभ्यता तथा संस्कृति की राजनीतिक विरासत को स्वीकर करने के बीच कोई असंगति नहीं है।

सुरेन्द्रनाथ भारतीय एकता तथा स्वशासन के उत्साही सन्देशवाहक थे।[42] उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय एकता ही स्वतन्त्रता, आशा तथा भक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने का एकमात्र साधन है। भारतवासियों को ईश्वर के समक्ष इस बात की शपथ लेनी है और वचन देना है कि वे अपनी सब विभिन्नताओं और भेदों को भुलाकर एक सामान्य मंच पर एकत्र होकर और मिलकर कार्य करेंगे। 1911 में सुरेन्द्रनाथ ने एक हिन्दू-मुसलिम सम्मेलन में भाग लिया। उस सम्मेलन में मालवीय, वैडरबर्न, हसन इमाम, रहीमतुल्ला तथा जिन्ना भी उपस्थित थे, और उसका उद्देश्य था कि भारत के दो बड़े सम्प्रदायों—हिन्दुओं तथा मुसलमानों—के बीच एकता स्थापित की जाय। सुरेन्द्रनाथ ने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय एकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया था। उन्होंने कहा : "·······मेरी पक्की धारणा और दृढ़ विश्वास है कि हर राष्ट्र की प्रगति के इतिहास में एक ऐसा समय आता है जब उसके हर नागरिक के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उसका सचमुच अपना निश्चित ध्येय है जिसको उसे पूरा करना है। भारत के लिए ऐसा समय आ गया है।····ईश्वर ने आदेश जारी कर दिया है कि हर भारतीय को अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए, अन्यथा वह ईश्वर की दृष्टि में दण्ड का भागी सिद्ध होगा। इंगलैण्ड के गौरवपूर्ण इतिहास में इसी प्रकार के उत्तेजक कार्यों का एक समय आया था जब हैम्पडन ने अपने देश की मुक्ति के लिए अपना जीवन दांव पर लगा दिया था, जब एलगरनौन सिडनी वे देश को घृणित अत्याचारी से मुक्त कराने

---

41 *Speeches and Writings of Surendranath Banerjea*, selected by himself (जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास), पृष्ठ 97-99।

42 "An Appeal to the Mohammedan Community," *Speeches (1886-90)*, पृष्ठ 82-91।

के लिए अपना सिर जल्लाद की पटिया पर रख दिया था, जब विशप लोग पितृभूमि के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए अपने दैवी कार्यों को छोड़कर आपराधिक न्यायालय में राजद्रोहियों के रूप में प्रस्तुत होने में नहीं झिझके थे।....हमारे लिए सचमुच यह आवश्यक नहीं है कि अपनी शिकायतों को दूर करवाने के लिए हिंसा का मार्ग अपनायें। जो अधिकार और सुविधाएँ अन्य देशों में अधिक कठोर उपायों द्वारा उपलब्ध हो पाती हैं वे हमें संवैधानिक तरीकों से ही प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु हमारे तरीके शान्तिमय होंगे, फिर भी हर भारतवासी को कठोर कर्तव्य का पालन करना पड़ेगा। और जो उस कर्तव्य की अवहेलना करता है वह ईश्वर तथा मनुष्य की निगाह में देशद्रोही ठहराया जायगा।"[43] बनर्जी कहा करते थे कि भारत की एकता, जिसे प्राप्त करना एक तात्कालिक और अपरिहार्य आवश्यकता है, केवल बौद्धिक आधार पर स्थापित नहीं की जा सकती, उसके लिए उच्च संवेगात्मक नींव की आवश्यकता है। भारत को भी गैरीवाल्डी और मत्सीनी जैसे बलिदानी देशभक्तों की जरूरत है। प्राचीन काल में नानक देव ने भारतीय एकता का उपदेश दिया था। अब इस समय देश की प्रगति के लिए आवश्यक है कि हम सब मिलकर एक स्वर से उस देवता का गुणगान करें जो हमारे देश के भाग्य का अधिष्ठाता है। एकता ही देश के पुनरुद्धार का राजमार्ग है। सुरेन्द्रनाथ महाकवि दान्ते की प्रशंसा किया करते थे जिसने इटली के एकीकरण के कार्य में योग दिया था, और इसी प्रकार वे उन जर्मन अध्यापकों का उल्लेख करते थे जिन्होंने जर्मनी की एकता के कार्य को आगे बढ़ाया था।[44]

दादाभाई नौरोजी, रानाडे तथा सुरेन्द्रनाथ और गोपाल कृष्ण गोखले भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता के सम्बन्ध में पूर्णतः सचेत थे। वे भलीभाँति समझते थे कि इससे राष्ट्रीय जीवन का स्रोत सूख रहा था। पूना कांग्रेस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारत के भौतिक अधःपतन को रोकने के लिए पाँच-सूत्री कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की : (1) पुराने उद्योगों का पुनरुद्धार और नये उद्योगों की स्थापना; (2) भूमि-कर निर्धारण में संयम से काम लिया जाय और कर एक लम्बी अवधि के लिए निश्चित कर दिया जाय जिससे किसानों को आये दिन के आर्थिक उत्पीड़न से मुक्ति मिल सके; (3) उन करों में छूट दी जाय जिनसे गरीब जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है; (4) उपयुक्त राजकीय नियमों के द्वारा देश के धन का 'निर्गम' तथा लूटखसोट बन्द की जाय; और (5) खर्चीले विदेशी शासक वर्ग के स्थान पर भारतवासियों की उत्तरोत्तर अधिकाधिक नियुक्ति की जाय।

राजनीति की जड़ें आर्थिक व्यवस्था में होती हैं, इस बात पर मितवादियों ने सदैव बल दिया था। भारत की विनाशकारी गरीबी का उसकी शोचनीय राजनीतिक दशा पर जो भयंकर प्रभाव पड़ रहा था, उसे दादाभाई, रानाडे और सुरेन्द्रनाथ भलीभाँति समझते थे। सुरेन्द्रनाथ का अनुरोध था कि भारतीय उद्योगों का संरक्षण किया जाय और उन्हें उन्नत करने का प्रयत्न किया जाय। उन्होंने कहा था : "किसी जाति की आर्थिक दशा का उसकी राजनीतिक प्रगति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।"[45] उन्होंने जॉन ब्राइट के इस मत का उल्लेख किया कि किसी देश की शासन-व्यवस्था तथा उसकी जनता की सामान्य दशा के पीछे उस देश की वित्तीय स्थिति प्रमुख तत्व का काम किया करती है। यही कारण था कि उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उनके विचार में वह केवल राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन नहीं था, अपितु राष्ट्र की शक्तियों को उन्मुक्त करने का एक नैतिक तथा आध्यात्मिक मार्ग था। उन्होंने कहा : "स्वदेशी आन्दोलन दुर्भिक्ष, महामारी तथा दरिद्रता से होने वाली अन्य विपदाओं से हमारी रक्षा करेगा। यदि आज आप स्वदेशी का व्रत ले लेते हैं तो समझिये कि आपकी औद्योगिक और राजनीतिक मुक्ति की गहरी और चौड़ी नींव तैयार हो गयी है। जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी बनिये। अपने विचारों, कार्यों तथा आदर्शों और आकांक्षाओं में भी स्वदेशी का व्रत लीजिए। पवित्रता तथा आत्म-बलिदान के पुराने जीवन का पुनः-निर्माण कीजिए। उस प्राचीन युग के आर्यावर्त की पुनःस्थापना कीजिए जब ऋषिगण ईश्वर का

43 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कलकत्ता में स्टूडेण्ट्स एसोशिएशन की बैठक में मार्च 16, 1878 को "Indian Unity" विषय पर दिया गया भाषण—देखिये *Speeches and Writings*, पृ. 228-29।

44 *Speeches (1976-84)*, जिल्द 2, पृ. 50।

45 पूना कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण (1895)।

गुणानुवाद और मनुष्य का कल्याण करते थे। समस्त एशिया नवजीवन से स्पन्दित हो रहा है। प्राची में सूर्य उदित हो चुका है। जापान उदीयमान सूर्य का अभिवादन कर चुका है।[46] अब वह सूर्य मध्याह्न के तेज के साथ भारत के गगनमण्डल से गुजरेगा।···स्वदेशी का अभिप्राय यह नहीं है कि हम विदेशी आदर्शों अथवा विदेशी विद्या, कला और उद्योगों का बहिष्कार करें। उसका तात्पर्य है कि हम उन सब चीजों को अपनी राष्ट्रीय व्यवस्था में आत्मसात् करलें, उन्हें राष्ट्रीय साँचे में ढाल लें, और राष्ट्रीय जीवन में प्रविष्ट कर लें। यह है मेरी स्वदेशी की धारणा।"[47] बनर्जी का कहना था कि स्वदेशी को राष्ट्र के बहुमुखी कार्यकलाप का केन्द्र बनाना है। यह एक ऐसा उपाय है जिसमें जनता का तत्काल भारी सहयोग मिल सकता है। इसके मूल में सच्चे देशप्रेम की प्रेरणा है, और घृणा किसी के लिए नहीं है। सुरेन्द्रनाथ की शक्ति में आस्था थी। अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' में उन्होंने बतलाया कि सबसे अधिक आवश्यकता शक्ति अर्जित करने की है। वे हिंसात्मक कार्यवाहियों की निन्दा किया करते थे। उनकी इच्छा थी कि विद्यार्थी बंग-भंग विरोधी आन्दोलन में भाग लें, किन्तु वे बल और हिंसा के प्रयोग की कभी अनुमति देने के लिए तैयार नहीं थे। वे हिंसात्मक प्रवृत्तियों को नहीं उभाड़ना चाहते थे; उन्होंने सदैव संयम और नियंत्रण से काम लेने की सलाह दी। उन्हें विकास की प्रक्रिया में विश्वास था। वे अराजकवादी ढंग के क्रान्तिकारी विप्लवों के पक्ष में नहीं थे।

सुरेन्द्रनाथ का मन तथा हृदय भारत के श्रेष्ठ तथा गौरवमय भविष्य की कल्पना से प्रदीप्त थे। उन्हें प्राचीन भारत के ऋषियों, दार्शनिकों तथा सृजनात्मक विचारों की महान उपलब्धियों पर गर्व था। उनका विश्वास था कि भारत के स्वतन्त्र होने पर ही इस मूल्यवान विरासत को मानवता की मुक्ति के लिए विश्व के समक्ष रखा जा सकता है। वे कहा करते थे कि यह काम बहुत भारी है और इसे पूरा करने के लिए दृढ़ तथा अडिग अध्यवसाय और दीर्घकालिक प्रयत्नों की आवश्यकता है। तभी देश का पुनरुद्धार तथा उन्नयन सम्भव हो सकता है। बनर्जी ने बारबार इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक अधिकार राष्ट्र की भौतिक प्रगति में सहायक होते हैं,[48] और मताधिकार से वंचित जाति राजनीतिक मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकती। राजनीतिक मताधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार तो है ही, साथ ही वह मनुष्य की श्रेष्ठ प्रकृति के प्रति श्रद्धा का प्रतीक भी है। सुरेन्द्रनाथ लिखते हैं :····"राजनीतिक हीनता से नैतिक अधःपतन होता है।····दासों का देश कभी पतंजलि, बुद्ध अथवा बाल्मीकि जैसे महापुरुषों को जन्म नहीं दे सकता था। हम स्वराज्य इसलिए चाहते हैं कि हम अपनी राजनीतिक हीनता का कलंक धो सकें, विश्व के राष्ट्रों के बीच अपना मस्तक ऊँचा कर सकें और कृपालु ईश्वर ने जो महान होतव्यता हमारे लिए निश्चित कर रखी है उसको पूरा कर सकें। हम केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए स्वराज नहीं चाहते, बल्कि समस्त मानवता के कल्याण के लिए उसकी माँग कर रहे हैं। सृष्टि की प्रातःवेला में जाह्नवी और कालिन्दी के तट पर वैदिक ऋषियों ने जिन मन्त्रों का गायन किया वे शिशु मानवता के दैवी आदर्श की ओर अग्रसर होने के प्रथम प्रयास के सूचक हैं।····हम मानव जाति के आध्यात्मिक गुरु थे।···हमारा अतीत इतिहास के धुँधले ऊषाकाल से प्रारम्भ होता है। उन दिनों जब विश्व बर्बरता के अन्धकार में डूबा हुआ था, हम मनुष्य जाति के पथ-प्रदर्शक तथा शिक्षक थे। क्या हमारा ध्येय पूरा हो चुका है? नहीं, उसे विफल कर दिया गया है, वह पूरा नहीं हुआ है। उसे पूरा करना है। उसे पूरा किया जाना चाहिए ताकि हम यूरोप का घोर भौतिकवाद से उद्धार कर सकें और उसे उस कुत्सित संस्कृति से बचा सकें जिसने इस समय उस महाद्वीप के रणक्षेत्रों को मृतकों के अम्बारों से पाट रखा है। हमारा यह विधिविहित ध्येय है कि एक बार हम पुनः विश्व के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक बनें। किन्तु हम उस ध्येय को तब तक पूरा नहीं कर सकते जब तक कि हम स्वयं मुक्त न हो जायँ, स्वयं

---

46 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1902 में अहमदाबाद कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि जापान भारत का आध्यात्मिक शिष्य है।

47 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का दिसम्बर 1906 में "Swadeshism" विषय पर दिया गया भाषण। देखिये *Speeches and Writings*, पृ. 299-300।

48 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 1902 की अहमदाबाद कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

स्वतन्त्रता न प्राप्त कर लें। उस महान ध्येय को पूर्ण करने के लिए स्वतन्त्रता अपरिहार्य साज-सज्जा है।"[49] इसीलिए बनर्जी कहा करते थे कि स्वराज का आन्दोलन केवल राजनीतिक नहीं है, बल्कि वह एक धार्मिक तथा नैतिक ध्येय है। स्वराज मनुष्य की शक्तियों के विकास और परिष्कार की श्रेष्ठतम पाठशाला है।[50] स्वराज दैवी इच्छा है। साम्राज्यवाद स्वेच्छाचारी शासन को जन्म देता है। किन्तु स्वेच्छाचारी निरंकुशता किसी राष्ट्र के जीवन में केवल अस्थायी दौर हो सकती है। स्वराज राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आवश्यक आधार है। "प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का निर्णायक होना चाहिए—यही सर्वशक्तिमान का आदेश है जिसे प्रकृति ने स्वयं अपने हाथ से और स्वयं अपनी शाश्वत पुस्तक में अंकित किया है।"[51] 1916 में सुरेन्द्रनाथ ने उस "उन्नीस के स्मृतिपत्र" पर हस्ताक्षर किये थे जिसे भारतीय विधान सभा के 19 सदस्यों ने तैयार किया था और जिसमें ऐसी सरकार की माँग की गयी थी जो भारतीय जनता को स्वीकार हो और उसके प्रति उत्तरदायी हो। सुरेन्द्रनाथ ने विश्व को यान्त्रिक भौतिकवाद के घातक दुष्परिणामों से बचाने के सम्बन्ध में भारत के ध्येय (मिशन) का जिस ओजस्वी शैली में उल्लेख किया उससे विवेकानन्द का तथा 'वन्देमातरम्' और 'कर्मयोगिन्' के दिनों के अरविन्द का स्मरण हो आता है। उन्होंने जिस उत्साह और उग्रता के साथ प्राचीन भारतवासियों की उपलब्धियों का यशोगान किया वह हमें दयानन्दऔर विवेकानन्द का स्मरण दिलाता है। यह ध्वनि हमें दादाभाई नौरोजी और फीरोजशाह मेहता के लेखों और व्याख्यानों में नहीं मिलती। भारतीय मितवादी नेताओं में केवल रानाडे यदाकदा प्राचीन भारत के गौरव का उल्लेख किया करते थे।

3. निष्कर्ष

जब सुरेन्द्रनाथ राजनीतिक नेता के रूप में सक्रिय थे उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन धीरे-धीरे पनप रहा था। उस दौर में उन्होंने निरन्तर स्वतन्त्रता और प्रगति का समर्थन किया।[52] किन्तु धीरे-धीरे उनके विचारों में परिवर्तन आने लगा। अपने पूना कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने रानाडे और फीरोज मेहता की भाँति इस विचार का अनुयायी होने की घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य इतिहास की ईश्वरीय रचना का एक तत्व है। किन्तु फीरोजशाह ने 1910 के उपरान्त कांग्रेस के कार्य से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, इसके विपरीत सुरेन्द्रनाथ प्रचण्ड उत्साह तथा भक्ति के साथ राष्ट्र की सेवा करते रहे, और ऐतिहासिक लखनऊ कांग्रेस में उन्होंने स्वराज विषयक प्रस्ताव स्वयं प्रस्तुत किया। उनके जीवन के प्रारम्भिक काल में बंग-भंग विरोधी आन्दोलन के दिनों में, विशेषकर बारीसाल सम्मेलन में विदेशी शासकों ने उन्हें दबाने तथा अपमानित करने का भी प्रयत्न किया। किन्तु वे झुकने के लिए तैयार नहीं हुए। बनर्जी सदैव संवैधानिक प्रणाली के समर्थक रहे। सांविधानिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उन्होंने सदैव गम्भीरता, संयम और सत्यनिष्ठा पर बल दिया। 1918 में बम्बई की विशेष कांग्रेस के समय से वे देश की बढ़ती हुई राजनीतिक आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति न दिखा सके। अपने स्वभाव तथा शिक्षा-दीक्षा से वे संविधानवादी थे, न कि क्रान्तिकारी। किन्तु उन्होंने वक्ता, पत्रकार, लेखक और सार्वजनिक नेता के रूप में देश की जो सेवा की उसके कारण वे आधुनिक बंगाल तथा आधुनिक भारतीय राष्ट्र के निर्माताओं में अग्रगण्य स्थान पाने के अधिकारी हैं। राजनीतिक विचारक के रूप में उन्होंने भारत के लिए स्वराज तथा संवैधानिक प्रणाली का समर्थन किया। उनका सदैव आग्रह रहा कि राजनीति में उच्च नैतिक सिद्धान्तों का ही अनुसरण करना चाहिए, इस दृष्टि से उनकी तुलना सिसेरो, बर्क और ग्लैड्स्टन से की जा सकती है, और इस तुलना में वे इनमें से किसी से हेय नहीं ठहरेंगे।

---

49 *Speeches and Writings of Surendranath Banerjea* (1916 की लखनऊ कांग्रेस में स्वराज के प्रस्ताव को प्रस्तुत करते समय दिया गया भाषण) पृष्ठ 140-41।

50 *Speeches* (*1876-84*), जिल्द 2, पृष्ठ *89*।

51 1886 की कलकत्ता कांग्रेस में दिया गया सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का व्याख्यान।

52 वर्तमान शताब्दी के द्वितीय दशक में विपिनचन्द्र पाल ने लिखा था कि केवल सुरेन्द्रनाथ ही ऐसे व्यक्ति हैं जो अखिल भारतीय नेता होने का उचित दावा कर सकते हैं। (*Indian Nationalism*, पृष्ठ 77)। उन्होंने यह भी लिखा था कि इण्डियन एसोशियेशन का दृष्टिकोण कलकत्ता के ब्रिटिश इण्डियन एसोशियेशन, पूना की सार्वजनिक सभा, बोम्बे प्रेसीडेंसी एसोशियेशन तथा मद्रास की महाजनसभा के मुकाबले में अधिक राष्ट्रीय है। वही, पृष्ठ 94।

10

गोपाल कृष्ण गोखले

1. प्रस्तावना

गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915) भारत के सर्वाधिक सम्मानित राजनीतिज्ञों में से थे। कोल्हापुर में 1866 की 9 मई को उनका जन्म हुआ था, और पूना में 1915 की 19 फरवरी को उन्होंने शरीर त्याग किया। उन्होंने 1884 में एलफिंस्टन कॉलिज में स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी। 1886 में वे डेकन एजूकेशन सोसायटी के सदस्य बने। उन्हें पूना के फर्ग्युसन कॉलिज में इतिहास तथा अर्थशास्त्र के आचार्य पद पर नियुक्त किया गया। उन्होंने अनेक वर्षों तक सार्वजनिक सभा की पत्रिका का सम्पादन किया। चार वर्ष तक वे 'सुधारक' के सम्पादक रहे। 1904 में उन्हें सी. आई. ई. की उपाधि से विभूषित किया गया। उन्होंने 1897, 1905, 1906, 1908, 1912, 1913 और 1914 में कुल मिलाकर सात बार इंगलैण्ड की यात्रा की। उनके आकर्षक व्यक्तित्व के कारण ब्रिटेन के नेताओं पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी देशभक्ति नितान्त निर्दोष थी। अपनी आत्मा की श्रेष्ठता, गम्भीर सत्यनिष्ठा तथा मातृभूमि की सेवा की हार्दिक लालसा के कारण वे भारत में तथा विदेशों में अनेक लोगों की प्रशंसा के पात्र बन गये थे। वे इतिहास तथा अर्थशास्त्र के पण्डित थे। उन्होंने बर्क की प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लेक्शन्स आन द फ्रेंच रिवोल्यूशन' को बड़ी उत्कण्ठा के साथ हृदयंगम किया था। 1902 में वे भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए और जीवन के अन्तिम समय तक उस पद पर बने रहे। उनके बजट सम्बन्धी भाषण तथ्यों की अधिकारपूर्ण व्याख्या तथा आधारभूत निर्देशक सिद्धान्तों की पकड़ की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। वे भारतीय अर्थतन्त्र के पूर्ण पण्डित थे। उसके अध्ययन में उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण तथा व्यापक समन्वय की शक्तियाँ जुटा दीं।

गोखले रानाडे के शिष्य थे। 1887 से 1901 तक उन्होंने उन्हीं को गुरु मानकर उनके निर्देशन में अध्ययन तथा कार्य किया। गोखले पर फीरोजशाह मेहता का भी भारी प्रभाव था। वे कहा करते थे : "फीरोजशाह के बिना उचित काम करने की अपेक्षा मैं उनके साथ मिलकर अनुचित कार्य करना भी पसन्द करूँगा।" 1897 में वे वेल्बी आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए इंगलैण्ड गये। वेल्बी आयोग दो मुख्य प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था : (1) क्या भारत पर कोई ऐसा वित्तीय भार है जिसे न्याय की दृष्टि से इंगलैण्ड को वहन करना चाहिए ? और (2) भारतीय वित्त की समीक्षा। 1908 में गोखले ने हॉवहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष साक्ष्य दिया।

1905 में गोखले उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य होकर इंगलैण्ड गये जो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह समझाने-बुझाने के लिए गया था कि बंग-भंग सम्बन्धी अधिनियम न बनाया जाय। किन्तु उनकी अनुनयपूर्ण तथा हृदयग्राही वक्तृता का भी ब्रिटिश नेताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गोखले 1889 की कांग्रेस में सम्मिलित हुए। वे उस राष्ट्रीय संस्था के एक अग्रणी नेता थे। वे 1905 में वाराणसी कांग्रेस के सभापति थे। 1907 की सूरत की फूट से उनके हृदय को भारी आघात पहुँचा।

दुर्भाग्य की बात यह थी कि वे 1916 में सम्पादित कांग्रेस की एकता को देखने के लिए जीवित न रहे। फिर भी वे मितवादियों तथा अतिवादियों के बीच समझौता कराने के बड़े इच्छुक थे।

1907 में अपने बजट भाषण में गोखले ने अनुरोध किया कि देश में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की जाय। 1911 में उन्होंने भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया, किन्तु ब्रिटिश सरकार के जबरदस्त विरोध के कारण विधेयक पारित न हो सका, और 1912 में वह पराजित हो गया। विधेयक का उद्देश्य था कि यदि कोई नगरपालिका चाहे तो सरकार की पूर्व अनुमति से अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था कर सके। 1912 के सितम्बर में इसलिंगटन की अध्यक्षता में भारतीय लोक सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस) के सम्बन्ध में एक शाही आयोग (रॉयल कमीशन) नियुक्त किया गया। भारतीय लोक सेवाओं की विभिन्न समस्याओं तथा कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में जाँच करना और रिपोर्ट देना उस आयोग का मुख्य काम था। गोपाल कृष्ण गोखले उस आयोग के सदस्य थे, और, जैसा कि उनका स्वभाव था, उसके सदस्य के रूप में उन्होंने बड़े परिश्रम तथा निष्ठा के साथ काम किया। गोखले की मृत्यु के छह मास उपरान्त इसलिंगटन आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी।

गोखले को गान्धीजी अपना राजनीतिक गुरु[1] मानते थे, और गोखले के मन में गान्धीजी के लिए गहरा स्नेह तथा सम्मान था। 1910 तथा 1912 में गोखले ने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में नैटाल के करारबद्ध भारतीय श्रमिकों की सहायता के लिए प्रस्ताव रखे। 1912 में वे गान्धीजी के निमन्त्रण पर दक्षिण अफ्रीका गये और वहाँ भारतीयों के मामलों का निपटारा कराने में महत्वपूर्ण योग दिया। 1913 में उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के सहायतार्थ चन्दा एकत्र किया। गोखले ने शक्ति से अधिक परिश्रम किया जिसके परिणामस्वरूप 1915 की फरवरी में 49 वर्ष की अपरिपक्व अवस्था में उनका शरीरान्त हो गया। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनका मुकुट श्रीनिवास शास्त्री के सिर पर रखा गया।

2. गोखले के राजनीतिक विचार

गोखले ने राजनीति के आपदग्रस्त मार्ग को एक गम्भीर पेशे के रूप से अपनाया। वे रचनात्मक राजनीतिज्ञ के कार्य के लिए अत्यधिक योग्य थे। उन्होंने अपने आत्म-बलिदान तथा त्याग के जीवन के द्वारा सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रसेवा उच्च आदर्श के लिए आत्मनिवेदन का ही एक प्रकार है। गोखले तथा रानाडे दोनों की दृष्टि में मुख्य कार्य यह था कि मनुष्य की नैतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक योग्यताओं और प्रतिभा का विकास तथा परिवर्धन करके उसे मुक्ति प्रदान की जाय। इस विशाल आदर्श को साक्षात्कृत करने के लिए यह आवश्यक था कि अपने को जनता का सेवक मानने वाले लोग अपनी शक्तियों को समुचित रूप में तथा समर्पण की भावना से इस कार्य में जुटा दें। गोखले का कहना था कि यह तभी सम्भव हो सकता है जब सार्वजनिक कर्तव्य तथा राजनीतिक कार्य को पवित्र राष्ट्रीय सेवा का मार्ग समझा जाय। कष्ट-सहन तथा हार्दिक सखा-भाव और जीवन की सरलता के बिना "राष्ट्रवाद एक जीवन्त शक्ति नहीं बन सकता।" जहाँ तक राजनीतिक कार्यनीति का सम्बन्ध था, गोखले मितवादी थे और संवैधानिक आन्दोलन में विश्वास करते थे। बहिष्कार की उग्र कार्यप्रणाली उन्हें पसन्द नहीं थी। बर्क की भाँति गोखले सावधानी की नीति, धीमे विकास और बुद्धिसंगत प्रगति में विश्वास करते थे। वे अतिवादी उपायों तथा सार्वजनिक उन्माद के नाटकीय विस्फोट के विरुद्ध थे।

गोखले को ब्रिटिश उदारवाद में गहरी आस्था थी। उन्हें अँग्रेज जाति की अन्तरात्मा में विश्वास था। दादाभाई की भाँति वे सदैव आशा किया करते थे कि इंगलैण्ड में एक नये ढंग की राजनीतिज्ञता का उदय होगा और भारत के साथ न्याय किया जायगा। अपने 1902 के बजट

---

1 कुछ लोगों का कहना है कि गोखले ने गान्धीजी को भारतीय राजनीति में निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने के विरुद्ध चेतावनी दी थी—वी. शिरोल : *India Old and New*, पृष्ठ 297। उन्होंने 1915 में गान्धीजी से यह भी कहा था कि एक वर्ष तक भारतीय राजनीति के घटनाचक्र को देखो और राजनीतिक कार्यकलाप में भाग मत लो।

भाषण में उन्होंने कहा : "आवश्यकता इस बात की है कि हमें अनुभव करने दिया जाय कि हमारी सरकार विदेशी होते हुए भी भावना से राष्ट्रीय है, वह भारतीय जनता के कल्याण को सर्वोपरि तथा अन्य सब बातों को उसकी तुलना में निम्नकोटि का मानती है, वह विदेशों में भारतवासियों के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार से उतनी क्रुद्ध होती है जितनी कि अंग्रेजों के साथ किये गये दुर्व्यवहार से, और वह यथासामर्थ्य हर उपाय से भारतीय जनता के भारत में तथा भारत के बाहर नैतिक तथा भौतिक कल्याण का परिवर्धन करने का प्रयत्न करती है। जो राजनीतिज्ञ भारतीय जनता के हृदय में इस प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न कर सकेगा वह इस देश की महान तथा गौरवपूर्ण सेवा करेगा और भारतीय जनता के हृदय में अपने लिए स्थायी स्थान प्राप्त कर लेगा। यही नहीं, उसके काम का महत्व इससे भी अधिक होगा। वह साम्राज्यवाद की सही भावना की दृष्टि से अपने देश की भी महान सेवा करेगा। श्रेष्ठ प्रकार का साम्राज्यवाद वह है जो साम्राज्य में सम्मिलित सभी व्यक्तियों और जातियों को अपनी नियामतों तथा सम्मान आदि का समान रूप से उपभोग करने देता है। वह साम्राज्यवाद संकीर्ण है[2] जो यह मानता है कि सम्पूर्ण विश्व एक जाति के लिए ही बनाया गया है और अधीन जातियाँ उस एक जाति की चरणपीठिकाओं के रूप में सेवा करने के लिए बनायी गयी हैं।"[3] गोखले को विश्वास था कि अंग्रेज शासकों में उच्च प्रकार की कल्पना का उदय होगा जिससे वे शिक्षित भारतवासियों के मन में व्याप्त भावनाओं को समझ सकेंगे और उनकी कद्र कर सकेंगे। वे कहा करते थे कि इस मनोवैज्ञानिक विधि से कार्य करके ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं कि अंग्रेज तथा भारतवासी दोनों अपने हितों को एकरूप समझने लगें। मोतीलाल नेहरू के शब्दों में गोखले स्वराज के महान सन्देशवाहक थे। शासक जाति की नौकरशाही ने जिस कुत्सित गैर-जिम्मेदारी और हद दर्जे की क्रूरता के साथ जनता की इच्छा की अवहेलना करके बंगाल का विभाजन कर दिया था उसके लिए गोखले ने उसकी कटु भर्त्सना की। उन्होंने नौकरशाही की कठोरता तथा उत्पीड़न की नीति का विरोध किया। नौकरशाही से उनका आग्रह था कि उसे अधिकाधिक 'सुयोग्यता' के साथ कार्य करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि उसे इस ढंग से शासन करना चाहिए जिससे भारतवासी पश्चिम के उच्चतम आदर्शों के अनुसार अपने देश का शासन करने के योग्य बन सकें। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत देश की निरन्तर बढ़ती हुई दरिद्रता को देखकर गोखले बहुत दुःखी होते थे। भारत का प्रशासन विदेशियों के हाथों में होने के कारण अत्यधिक खर्चीला था; गोखले ने इसकी भी कटु आलोचना की।

यद्यपि गोखले ब्रिटेन की अधीश्वर शक्ति की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे और मानते थे कि ब्रिटेन के सम्पर्क से देश को अनेक लाभ हुए हैं, फिर भी उनका मन तथा दृष्टि भारत के गौरवपूर्ण भविष्य के काल्पनिक दृश्यों से प्रदीप्त थे। अपने 1903 के बजट भाषण में उन्होंने कहा: "ईश्वर की अनुकम्पा से भविष्य का भारत ऐसा नहीं होगा जिसमें जनता की समृद्धि निरन्तर घटती जाय, प्रगति की आशाएँ धूमिल हों और लोगों में औचित्यपूर्ण असन्तोष व्याप्त हो; बल्कि भविष्य के भारत में उद्योगों का विकास होगा, लोगों की शक्तियाँ जाग्रत होंगी, समृद्धि बढ़ेगी, और धन तथा सुख-सुविधा के साधनों का अधिक व्यापक रूप से वितरण होगा। मुझे अपने देशवासियों की अन्तरात्मा तथा सदुद्देश्य में विश्वास है, और मैं समझता हूँ इस विषय में उनकी शक्तियाँ लगभग असीम हैं। किन्तु इस प्रकार का भविष्य केवल अधीश्वर शक्ति की अनवरुद्ध छत्रछाया में ही साक्षात्कृत किया जा सकता है, उसको छोड़कर अन्य किसी स्थिति में नहीं, और न ब्रिटिश ताज[4] के अतिरिक्त अन्य किसी नियन्त्रणकारी सत्ता के अन्तर्गत उसका (भविष्य का) परिरक्षण ही किया जा सकता है।" गोखले की कामना थी कि इंगलैण्ड तथा भारत के बीच सामंजस्यपूर्ण सहयोग की

---

2 गोखले ने जातिगत आधिपत्य और अहंकार पर आधारित साम्राज्यवाद को "निम्न प्रकार का साम्राज्यवाद" कहा था—*Speeches and Writings*, पृष्ठ 665।

3 गोखले का इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में 26 मार्च, 1902 को दिया गया पहला बजट भाषण। यह भाषण *Speeches of Mr. G. K. Gokhale* (जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास 1908) में सम्मिलित है (पृष्ठ 3-45), देखिये पृष्ठ 36-37।

4 वही, पृष्ठ 88।

वृद्धि हो, और इसलिए वे पारस्परिक समझबूझ की भावना की वृद्धि की बड़ी कद्र करते थे। वे ऐसी व्यापक योजना के निर्माण में सहायता देने के इच्छुक थे जिससे देश की नैतिक तथा भौतिक समृद्धि की पुनः स्थापना की जा सके। उनका कहना था कि इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम यह होगा कि 1833 के अधिकार अधिनियम तथा 1858 की घोषणा[5] में समान व्यवहार का जो वचन दिया गया था उसका परिपालन किया जाय। यदि उस प्रतिज्ञा का उल्लंघन किया गया तो भारत की राजभक्ति[6] का एक आधार विलुप्त हो जायगा। विश्व के राष्ट्रों के बीच सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करना ही भारत ही होतव्यता है, और इंगलैण्ड के लिए गौरव की बात यही होगी कि वह इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसकी सहायता करे। गोखले ने कहा कि यदि भारतवासियों को उत्तरदायित्व के पदों से वंचित रखा गया तो इससे उनके व्यक्तित्व का ह्रास होगा और उनका नैतिक स्तर गिरेगा। इसीलिए गोखले का आग्रह था कि भारतवासियों को शासन में अधिकाधिक साझा दिया जाय। उन्होंने नौकरशाही के हाथों में शक्ति को केन्द्रित करने की नीति की आलोचना की। उन्हें ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की सद्भावनाओं में इतना अधिक हार्दिक विश्वास था कि जब दादाभाई नौरोजी की भी आस्था डिग गयी तब भी वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का भरोसा करते रहे। यही कारण था कि उन्होंने 1909 के इण्डियन कौन्सिल एक्ट का हृदय से समर्थन किया।

गोखले ने तत्कालीन समस्याओं के सम्बन्ध में जो मार्ग अपनाया उसके मूल में दो मुख्य धारणाएँ थीं। रानाडे की भाँति उनका भी विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य ईश्वरीय विधान की योजना का ही एक अंग है और उसका उद्देश्य भारत को भारी लाभ पहुँचाना है। दूसरे, वे कठिन परिश्रम और त्याग के द्वारा राष्ट्रवाद की दृढ़ नींव स्थापित करना चाहते थे। वे राष्ट्रीय एकता को विशेष महत्व देते थे। इसलिए उन्होंने स्वीकार किया कि राष्ट्रीय विकास के लिए भारतीय जनता की सामाजिक क्षमता में वृद्धि करना और उसके नैतिक चरित्र का उन्नयन करना परमावश्यक है। उन्होंने कहा : "जिस संघर्ष में हम संलग्न हैं उसका वास्तविक नैतिक महत्व वर्तमान संस्थाओं के उस विशिष्ट पुनस्समंजन अथवा पुनर्गठन में नहीं है जिसे प्राप्त करने में हम सफल हो सकें, उसका असली महत्व उस शक्ति में है जो हमें अपने जीवन के स्थायी अंग के रूप में उपलब्ध हो सकेगी। जनता का सम्पूर्ण जीवन उससे कहीं अधिक व्यापक और गम्भीर है जिसे शुद्ध राजनीतिक संस्थाएँ प्रभावित कर पाती हैं। यदि हमारे उपाय जैसे होने चाहिए वैसे हों तो असफलताएँ भी जनता के उस जीवन को समृद्ध बनाने में सहायक हो सकती हैं।" गोखले अपने नैतिकता पर आधारित राष्ट्रीय एकीकरण के काम को स्थायी रूप देना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होंने 1905 की 12 जून को सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसायटी की स्थापना की। सोसाइटी के संस्थापक का जीवन कष्टों, परिश्रम तथा दुःखों का जीवन था। सोसाइटी के संविधान से उस जीवन का गम्भीर और श्रेष्ठ आदर्शवाद प्रकट होता है। वे एकीकृत, शक्तिसम्पन्न तथा अभिनवीकृत भारत के आदर्श को ठोस रूप देना चाहते थे, और उनका विश्वास था कि ऐसा भारत त्याग, भक्ति और अध्यवसाय के आधार पर ही निर्मित किया जा सकता है। सोसाइटी के संविधान की प्रस्तावना में लिखा हुआ है : "सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसाइटी की स्थापना परिस्थिति की इन आवश्यकताओं की कुछ सीमा तक पूर्ति करने के लिए की गयी है। इसके सदस्य निःसंकोच स्वीकार करते हैं कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध अज्ञेय ईश्वरीय विधान का परिणाम है और भारत के कल्याण के लिए है। ब्रिटेन के उपनिवेशों के ढंग का स्वराज उनका लक्ष्य है। वे मानते हैं कि यह लक्ष्य वर्षों के निष्ठा तथा धैर्य से युक्त कार्य और आदर्श के अनुरूप त्याग के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता।....सफलता की अनिवार्य शर्त यह है कि बड़ी संख्या में देशवासी आगे आयें और इस कार्य में उसी भक्तिभाव के साथ जुट जायं जिसको लेकर धार्मिक कार्य किये जाते हैं। राजनीतिक जीवन को आध्यात्मिक रूप देना आवश्यक है। कार्यकर्ता को अनेक गुणों से युक्त होकर अपने ध्येय की ओर अग्रसर होना है। उसमें ऐसी उत्कट देशभक्ति होनी चाहिए कि मातृभूमि के लिए बलिदान के हर अवसर से उसे हर्ष का अनुभव हो। उसका हृदय इतना निर्भीक

---

5 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 546।
6 वही।

हो कि कठिनाई अथवा संकट उसे अपने लक्ष्य से विमुख और विचलित न कर सके, और ईश्वर के उद्देश्य में उसकी ऐसी गहरी आस्था हो कि संसार की कोई शक्ति उसे डिगा न सके। और अन्त में उसे श्रद्धापूर्वक उस आनन्द की चाह होनी चाहिए जो अपने को मातृभूमि की सेवा में खपा देने से उपलब्ध होता है। सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसाइटी ऐसे लोगों को प्रशिक्षित करेगी जो धार्मिक भावना से देश के कार्य में संलग्न होने के लिए तैयार होंगे; और संवैधानिक तरीकों से भारतीय जनता के राष्ट्रीय हितों का परिवर्धन करने का प्रयत्न करेगी। इसके सदस्य मुख्यत: इन कार्यों की पूर्ति के लिए परिश्रम और प्रयत्न करेंगे : (1) उपदेश तथा उदाहरण के द्वारा देशवासियों में मातृभूमि के प्रति गम्भीर तथा उत्कट प्रेम उत्पन्न करना जिससे वे सेवा और त्याग के द्वारा अपने जीवन को सार्थक बनाने की कामना करें, (2) राजनीतिक शिक्षा तथा राजनीतिक आन्दोलन के कार्य को संगठित करना और देश के सार्वजनिक जीवन को बल प्रदान करना, (3) विभिन्न सम्प्रदायों के बीच प्रेम-पूर्ण सद्भावना तथा सहयोग के सम्बन्ध बढ़ाना, (4) शैक्षिक आन्दोलनों, विशेषकर स्त्री शिक्षा, पिछड़े हुए वर्गों की शिक्षा[7] तथा औद्योगिक और वैज्ञानिक शिक्षा के आन्दोलनों को सहायता देना, और (5) दलित जातियों का उद्धार।"[8]

गोखले ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उसके लिए स्वदेशी का अर्थ था देश के लिए उच्चकोटि का गम्भीर तथा व्यापक प्रेम।[9] उन्होंने 1905 में वाराणसी कांग्रेस में कहा : "स्वदेशी का आन्दोलन आर्थिक होने के साथ ही साथ देशभक्ति का भी आन्दोलन है। जिन श्रेष्ठतम आदर्शों ने मनुष्य जाति के हृदय को कभी भी स्पन्दित किया है उनमें स्वदेशी का महत्वपूर्ण स्थान है। मातृ-भूमि के प्रति भक्ति उच्चतम स्वदेशी के आदर्श का सार है। उसका प्रभाव इतना गम्भीर और उत्कट होता है कि उसकी कल्पना से ही हृदय पुलकित होने लगता है और उसके वास्तविक स्पर्श से मनुष्य अपने तुच्छ व्यक्तित्व से ऊपर उठकर अलौकिक आनन्द के लोक में विचरण करने लगता है। स्वदेशी आन्दोलन को जिस अर्थ में हम समझते हैं उसका एक पक्ष ऐसा है जिसको साधारण जनता भी हृदयं-गम कर सकती है। वह उसे देश के सम्बन्ध में सोचने की प्रेरणा देता है, उसे देश के लिए स्वेच्छा से कुछ त्याग करने के विचार का आदी बनाता है, उसमें देश के आर्थिक विकास के प्रति रुचि उत्पन्न करता, और उसे राष्ट्रीय हित के लिए परस्पर सहयोग करने का पाठ पढ़ाता है।···किन्तु आन्दोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि बड़े पैमाने पर आत्म-त्याग की प्रतिज्ञा (विदेशी वस्तुओं के त्याग की प्रतिज्ञा—अनु.) कर लेने से हमारा एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, अर्थात देश में उत्पादित वस्तुओं की खपत तत्काल हो सकेगी, और जब उनकी माँग पूर्ति से अधिक होगी तो उनके उत्पादन को सदा-सर्वदा प्रोत्साहन मिलता रहेगा। किन्तु आर्थिक क्षेत्र में कठिनाइयाँ इतनी अधिक हैं कि उन पर विजय पाने के लिए सभी उपलब्ध साधनों के सहयोग की आवश्यकता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गोखले की स्वदेशी की धारणा बहुत व्यापक थी। रानाडे की भाँति उनका भी विचार था कि देश में मुख्य समस्या उत्पादन की थी और उसके लिए पूँजी तथा साहसिकता की आवश्यकता थी। भारत में इन चीजों की कमी थी इसलिए जो कोई इन क्षेत्रों में योग देता वह सचमुच स्वदेशी के लिए कार्य कर रहा था। जहाँ तक सूती वस्त्रों का सम्बन्ध था मुक्त व्यापार का बड़े से बड़ा समर्थक भी देश में उनके उत्पादन को प्रोत्साहन देने पर आपत्ति नहीं कर सकता था, क्योंकि सूती माल के उत्पादन के लिए भारत में सस्ते श्रम और कपास का बाहुल्य था। किन्तु स्वदेशी के समर्थक होते हुए भी गोखले ने बहिष्कार के उग्र अस्त्र के प्रयोग की अनुमति नहीं दी।[10]

वाराणसी कांग्रेस में गोखले ने नौ माँगें प्रस्तुत कीं और उन्हें साक्षात्कृत करने के लिए तुरन्त

---

7 देखिये गोखले का "Elevation of Depressed Class" शीर्षक भाषण, *Speeches and Writings*, पृष्ठ 740-47।

8 गोखले की मृत्यु के बाद वी. ए. श्रीनिवास शास्त्री ने सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसाइटी का कार्य योग्यतापूर्वक चलाया।

9 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 795।

10 वही, पृष्ठ 819।

उपाय करने पर बल दिया : (1) विधान परिषदों का सुधार; और उसके लिए निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर आधा कर दिया जाय तथा ऐसी व्यवस्था की जाय कि बजट परिषदों द्वारा ही पारित किये जायें, (2) इण्डिया कौंसिल में कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किये जायें; (3) देश के सभी जिलों में सलाहकार परिषदों की रचना की जाय; और जिलाधीश प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में अनिवार्य रूप से इन परिषदों की राय लें; (4) भारतीय लोक सेवाओं की न्यायिक शाखा के लिए नियुक्तियाँ वकील वर्ग में से की जायँ; (5) न्यायिक तथा कार्यपालक विभागों का पृथक्करण; (6) भारी सैनिक व्यय में कटौती; (7) प्राथमिक शिक्षा का प्रसार; (8) औद्योगिक तथा प्रावधिक (तकनीकी) शिक्षा का विकास तथा प्रसार; और (9) देहाती जनता को ऋण के बोझ से राहत देना। ये माँगें भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन का सारांश प्रकट करती हैं।

प्राच्य जगत में जो महान् परिवर्तन हो रहे थे उनसे गोखले भलीभाँति परिचित थे। उनकी सलाह थी कि इन नयी शक्तियों और उथल-पुथल के मूल्य को बुद्धिमानी के साथ आँकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। उनका अनुरोध था कि राजकीय आय की बचत को जनता के नैतिक तथा भौतिक पुनर्वास के कार्यों पर व्यय किया जाय। बल्कि वे तो इस पक्ष में थे कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी सरकार को खर्च करना चाहिए। अपने 1906 के बजट भाषण में उन्होंने कहा : "भारत में ब्रिटिश सरकार के समक्ष दो बड़ी समस्याएँ हैं : साधारण जनता की दशा में सुधार करना और शिक्षित वर्गों को सन्तुष्ट करना।...शिक्षित वर्गों को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें उनके देश के शासन में अधिकाधिक साझा दिया जाय।....आज समस्त पूर्वी जगत नयी चेतना से स्पन्दित है, नये उत्साह से तरंगित है। ऐसी स्थिति में यह आशा नहीं की जा सकती कि जो परिवर्तन चतुर्दिक हो रहे हैं उनसे केवल भारत अप्रभावित बना रहेगा। यदि हम चाहें तो भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते। और यदि हमारे लिए अछूता रहना सम्भव भी हो तो हम रहना नहीं चाहेंगे।....नयी भावना का अधिकाधिक प्रसार हो रहा है, उसके साथ सावधानी का व्यवहार करने की आवश्यकता है। ऐसी नयी पीढ़ियाँ उदित हो रही हैं जिनकी ब्रिटिश शासन के स्वरूप और आदर्शों के सम्बन्ध में धारणाएँ उनके पिछले कुछ वर्षों के अनुभव से बनी हैं; इंगलैण्ड ने अतीत में इस देश में जो अच्छा काम किया है उसका इन पीढ़ियों के मन पर नियन्त्रणकारी प्रभाव नहीं है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सरकार में इस भावना को मोड़ने की शक्ति है, और यदि उसे उचित दिशा में मोड़ा जा सका तो वह साम्राज्य को कमजोर करने की अपेक्षा शक्ति प्रदान करेगी।"[11] नयी राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के उठ खड़े होने से कांग्रेस मितवादी तथा अतिवादी नाम के दो गुटों में विभक्त हो गयी थी। देश में जो असन्तोष धधक रहा था, उससे गोखले चिन्तित थे। शिक्षित वर्ग के प्रतिनिधि होने के नाते उन्होंने इलाहाबाद में दिये गये अपने भाषणों में "संवैधानिक आन्दोलन" का समर्थन किया। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में उन्होंने सेडीशस मीटिंग्ज बिल (राजद्रोहात्मक सभा विधेयक) का दृढता से विरोध किया।

देश में तनाव की भावनाओं का जो उदय हो रहा था उससे गोखले बहुत विक्षुब्ध थे। इस-लिए 1906 में उन्होंने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में भारतीय जनता की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के लिए एक सात-सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया : (1) भूमि सम्बन्धी करों में कटौती, विशेष-कर संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश), बम्बई तथा मद्रास के प्रान्तों में; उनका कहना था कि इससे कृषि में फैली हुई गिरावट से किसानों को कुछ राहत मिलेगी; (2) किसानों को कमरतोड़ ऋण के बोझ से मुक्त करना; (3) कृषि बैंकों की स्थापना जैसे क्रोमर ने मिस्र में स्थापित किये थे; (4) सिंचाई तथा वैज्ञानिक कृषि; (5) देश में कृषि सम्बन्धी तथा प्राविधिक शिक्षा का अभिवर्धन; (6) सम्पूर्ण देश के सभी स्कूलों में प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क करना, और (7) सफाई के साधनों का विकास करना।

विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त राजनीतिक अधिकारों के दर्शन का एक आधारभूत तत्व है। शक्ति का केन्द्रीकरण अन्त में एकतन्त्रात्मक शासन का रूप धारण कर लेता है। इसलिए गोखले

---

11 वही, पृष्ठ 186-88।

कृष्ण गोखले ने विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया। वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष में थे जिससे नौकरशाही पर तत्काल नियन्त्रण लगाया जा सके।[12] उनका कहना था कि प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण तभी सफल हो सकता है जब प्रान्तीय परिषदों के आकार में वृद्धि हो और उन्हें प्रान्तीय बजट पर विवाद करने का अधिकार दे दिया जाय। उन्होंने इस बात की आग्रहपूर्वक सिफारिश की कि जिलाधीशों को प्रशासन के मामलों में सलाह देने के लिए जिला परिषदों का निर्माण किया जाय। हॉबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष साक्ष्य देते समय गोखले ने तीन बातों को विशेष रूप से आवश्यक बतलाया : (1) निम्नस्तर पर गाँव पंचायतें, (2) माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदें, और (3) शिखर पर पुनर्गठित विधान परिषदें।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जो भयंकर समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं उनसे गोखले भलीभाँति परिचित थे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण लोग स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र संस्थाओं के मूल्य के सम्बन्ध में अधिक जागरूक हो गये थे।[13] सरकार नयी परिस्थितियों का सामना करने के योग्य थी अथवा नहीं, इस बात की जाँच करने के लिए गोखले ने कुछ कसौटियाँ प्रस्तुत कीं। 1911 में उन्होंने कहा : "सरकार प्रगतिशील है अथवा नहीं, और वह निरन्तर प्रगतिशील है अथवा नहीं, इस बात की जाँच करने के लिए मैं चार प्रकार की परीक्षा का सुझाव देता हूँ। पहली परीक्षा यह है कि वह बहुसंख्यक जनता की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए क्या-क्या उपाय करती है। इन उपायों में मैं उन साधनों को नहीं गिनता जो ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपनाये हैं, क्योंकि वे साधन तो उसके अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थे, यद्यपि उनसे जनता को लाभ हुआ है, उदाहरण के लिए, रेलमार्गों का निर्माण तथा डाक-तार व्यवस्था की स्थापना इत्यादि। जनता की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के साधनों से मेरा अभिप्राय यह है कि सरकार ने शिक्षा के लिए क्या किया है और सफाई, कृषि की उन्नति आदि के लिए क्या किया है। दूसरी परीक्षा यह है कि सरकार स्थानीय मामलों के प्रशासन अर्थात नगरपालिकाओं और स्थानीय परिषदों में हमें बड़ा साझा देने के लिए क्या-क्या उपाय करती है। मेरी तीसरी परीक्षा यह होगी कि सरकार हमें परिषदों अर्थात उन विचारक सभाओं में जहाँ नीति निर्धारित होती है, क्या स्थान देती है। और अन्त में हमें यह देखना है कि सरकारी नौकरियों में भारतवासियों को क्या स्थान मिलता है।[14]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गोखले ने फीरोजशाह मेहता तथा आगाखाँ की सलाह से भारत की संवैधानिक प्रगति के लिए एक योजना तैयार की। उनकी योजना इस ढंग की थी कि कुछ वर्ष के अन्दर देश में एक प्रकार का संघ स्थापित किया जा सके। फिलहाल (1914-15 में) वे भारतीय शासन में गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार थे। गोखले की योजना में मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों को पृथक तथा प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया था। वे आगाखाँ के इस सुझाव से सहमत नहीं थे कि प्रान्तों का जातीय आधार पर पुनर्गठन किया जाय।[15]

3. गोखले के आर्थिक विचार

गोखले को भारत की औद्योगिक तथा कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के विषय में भारी चिन्ता थी। पश्चिम के मुद्रापूरक पूँजीवादी अर्थतन्त्र तथा एक अविकसित देश की आवश्यकताओं तथा सामाजिक-आर्थिक मूल्यों के बीच संघर्ष से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं को समझ लेने की सूक्ष्म दृष्टि उनमें थी।[16] उनका आग्रह था कि भारत सरकार के आय तथा व्यय के बीच अधिक सन्तुलित

---

12 वही, पृष्ठ 724।
13 वही, पृष्ठ 674।
14 एनी बेसेण्ट के 1917 की कलकत्ता कांग्रेस में दिये गये अध्यक्षीय भाषण में उद्धृत।
15 आगाखाँ, *India in Transition*, पृष्ठ 44-45।
16 गोखले ने 9 मार्च, 1911 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल में "चीनी पर आयात कर" पर एक भाषण दिया। उसमें उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि राज्य को चाहिए कि मुक्त व्यापार को जोखिम में डाले बिना उद्योगों की सहायता करे। उन्होंने फ्रीड्रिख लिस्ट के आर्थिक सिद्धान्त का अनुमोदन किया। उन्होंने कहा, "महान जर्मनअर्थशास्त्री लिस्ट ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब भारत जैसा कोई देश सार्वभौम प्रतियो-

समंजन (बैठ-बिठान) स्थापित किया जाय। वे इस पक्ष में थे कि आय का अधिक न्यायोचित ढंग से वितरण किया जाय। वे चाहते थे कि सरकार भूमि-सम्बन्धी करों को कम करके कृपकों की दशा सुधारने का प्रयत्न करे। वे जनता की बढ़ती हुई दीनता को देखकर बहुत दु:खी हुआ करते थे। इसलिए उन्होंने कृपक जनता को राहत पहुँचाने का समर्थन किया। उनका सुझाव था कि भारतीय उद्योगों के साधनों का विनिधान इस ढंग से किया जाय जिससे उनकी क्षमता में वृद्धि हो। वे सरकार की वित्त नीति को ऐसी दिशा देने के पक्ष में थे जिससे शिक्षित मध्य वर्ग के लोगों को अधिक रोजगार मिले और उत्पादन बढ़े। उन्होंने नमक कर घटाने का आग्रहपूर्वक समर्थन किया। अपने 1904 के बजट भाषण में उन्होंने नमक कर में आठ आने की और कटौती करने की सिफारिश की। अपने 1907 के बजट भाषण में उन्होंने नमक कर को पूर्णत: समाप्त करने का प्रस्ताव रखा। 1903 और 1904 के बजट भाषणों में उन्होंने सूती माल पर उत्पादन शुल्क समाप्त करने का अनुरोध किया था। भारतीय रेलमार्गों पर होने वाले भारी व्यय का भी उन्होंने विरोध किया। उन्होंने आयकर के लिए कर योग्य आय की सीमा बढ़ाने का समर्थन किया। जब भारत में स्वर्ण-मुद्रा का प्रचलन आरम्भ किया गया तो भारतीय मुद्रा को ब्रिटिश मुद्रा (पौण्ड) में परिवर्तित करने के उद्देश्य से एक स्वर्णमान कोष (गोल्ड स्टेण्डर्ड फण्ड) स्थापित किया गया था। 1907 के बजट भाषण में गोखले ने इस कोष के संचय का विरोध किया।[17] गोखले इस पक्ष में थे कि भारत के नवजात उद्योगों को संरक्षण देने की व्यवस्था की जाय।[18]

4. निष्कर्ष

गोपाल कृष्ण गोखले इतिहास के जानकार तथा अर्थशास्त्र के आचार्य थे। दादाभाई नौरोजी की भाँति उन्हें भी राजनीति के आर्थिक आधारों के अध्ययन में रुचि थी। तिलक, पाल, अरविन्द आदि अतिवादी नेताओं की शक्ति का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने भारत के विशाल दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए वे भगवद्गीता तथा महाभारत को उद्धृत किया करते थे। इसके विपरीत दादाभाई, रानाडे तथा गोखले ने अर्थशास्त्र का विश्लेपणात्मक ढंग से अध्ययन किया था। अतिवादी प्राचीन भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का गुणगान किया करते थे। मितवादी ग्लैड्स्टन, कॉब्डन, मिल[19] आदि संस्थापक अर्थशास्त्रियों की भाषा में बात किया करते थे। यदि हम सामान्यीकृत तथा कुछ अंशों में अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग

गिता के भंवर में फंस जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। उसका कहना है कि ऐसा कोई देश जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, जिसके उत्पादन के तरीके पुराने ढंग के हैं और जो अधिकतर शारीरिक श्रम पर निर्भर करता है, ऐसे देशों के साथ सार्वभौम प्रतियोगिता में फंस जाता है जो भाप तथा मशीनों का प्रयोग करते हैं और उत्पादन में नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानों से काम लेते हैं तो पहला प्रभाव यह होता है कि स्थानीय उद्योगों का विनाश हो जाता है और देश को फिर खेती का ही सहारा लेना पड़ता है, कुछ समय के लिए वह पूर्णत: कृषिप्रधान बन जाता है। किन्तु वह कहता है कि उसके बाद राज्य का कर्तव्य आरम्भ होता है। जब ऐसी स्थिति आजाय तो राज्य को चाहिए कि बढ़कर आगे आये और संरक्षण की उचित व्यवस्था द्वारा उन उद्योगों का परिवर्धन करे जो परिवर्धन करने के योग्य हों जिससे देश नवीनतम मशीनों की सहायता से पुन: औद्योगिक मार्ग पर अग्रसर हो सके और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व की प्रतियोगिता में सफलतापूर्वक खड़ा हो सके। श्रीमन्, जैसा कि मैं आज प्रात:काल कह चुका हूँ, यदि देश के प्रशासन में हमारी आवाज शक्तिशाली होती तो मैं दृढ़ता के साथ इस बात का समर्थन करता कि भारत सरकार लिस्ट की सलाह पर चले। किन्तु स्थिति को देखते हुए यह दीर्घकाल तक व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता, इसलिए हमें चाहिए कि स्थिति जैसी है उसे स्वीकार कर लें और उससे अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करें। व्यक्तिगत रूप से मेरा विचार है कि इस समय हम सरकार से प्रार्थना करें कि वह उद्योग को उतनी ही सहायता दे जितनी कि वह उन सिद्धान्तों का उल्लंघन किये बिना दे सकती है जो कि आज देश के प्रशासन पर हावी हैं। मेरा अभिप्राय मुक्त [illegible] के सिद्धान्तों से है।" *Speeches and Writings*, जिल्द 1, पृष्ठ 335।

17 गोखले के अनुसार 1906 में संरक्षित स्वर्ण निधि (गोल्ड रिजर्व फण्ड) एक करोड़ बीस लाख स्टर्लिंग के बराबर थी।

18 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 803।

19 गोखले ने 1907 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल में बजट पर भाषण देते हुए बर्क के इस दृष्टिकोण का उल्लेख किया था कि व्यवस्था कायम रखने में कानून अथवा कार्यपालक शक्ति के मुकाबले में 'लोकमत' अधिक महत्वपूर्ण होता है। (*Speeches and Writings*, डेकन सभा संस्करण, पृष्ठ 123)।

करें तो कह सकते हैं कि मितवादियों की शक्ति का स्रोत उनका अर्थशास्त्र का ज्ञान तथा अतिवादियों के प्रभाव का मुख्य कारण उनका दर्शन तथा धर्म-सम्बन्धी पाण्डित्य था।

यद्यपि गोखले की विशेष रुचि वित्त तथा आय की समस्याओं में थी, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में वे नैतिकता का मार्ग अपनाने के पक्ष में थे। स्वभाव से वे आध्यात्मवादी थे, आदर्शवाद में उनका विश्वास था और वे उच्च नैतिक स्तर पर रहा करते थे। सार्वजनिक नेता के रूप में उनका ध्येय राजनीति को आध्यात्मिक रूप देना था, यही आदर्श आगे चलकर गाँधीजी ने अपनाया। गोखले सदुद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनैतिक तरीकों का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें मानव प्रकृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों तथा सार्वजनिक नेताओं को उनसे स्नेह था। वे स्वीकार करते थे कि उनमें एक असाधारण जन्मजात नेता के गुण थे। उनकी तुलना ग्लैड्स्टन तथा आस्क्विथ से की जाती थी। गोखले मौर्ले के भी विश्वासपात्र बन गये थे, यद्यपि मौर्ले को उनकी राजनीतिक प्रबन्ध की कला-सम्बन्धी योग्यता में सन्देह था। अपने आत्मत्याग, कर्तव्यपरायणता, तथा उद्देश्यपूर्ण जीवन के द्वारा गोखले ने राजनीतिक समस्याओं तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व के क्षेत्र में नैतिक मार्ग को प्रोत्साहन दिया।[20] किन्तु आदर्शवादी होते हुए भी गोखले प्लैटोवादी अथवा यूटोपियायी (काल्पनिक) आदर्शवादी नहीं थे। वे वार्ता, संयम तथा समझौते के तरीकों को ही अच्छा समझते थे। गाँधीजी की भाँति उनका आदर्श था कि विरोधियों के साथ भी अविकल न्याय तथा कठोर नैतिकता का व्यवहार किया जाना चाहिए। अपने भाषणों और कार्यों के द्वारा उन्होंने कभी उग्र उपायों का समर्थन नहीं किया। वे सदैव आदर्शवाद तथा परिस्थितियों की यथार्थवादी माँगों के बीच समन्वय करने के इच्छुक रहते थे। यही कारण था कि वे संवैधानिक आन्दोलन की पद्धतियों पर सदैव डटे रहे। उनकी भारत की असीम शक्तियों में आस्था थी, और इस बात की उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी। वे भारतवासियों की राजनीतिक आकांक्षाओं को सीमित करने के पक्ष में नहीं थे।[21] किन्तु समय की आवश्यकताओं के साथ यथार्थवादी समझौता करने की भावना से उन्होंने मौर्ले-मिण्टो सुधारों को स्वीकार करने का समर्थन किया, और इसी भावना से उन्होंने नौकरियों के भारतीयकरण पर विचार करने के लिए नियुक्त किये गये इसलिंगटन आयोग के सदस्य के रूप में कार्य करना स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार हम भारतीय राजनीतिक चिन्तन में गोखले के योगदान को दो सूत्रों में व्यक्त कर सकते हैं: (1) वे राजनीति में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट करने के पक्ष में थे; (2) राजनीतिक कार्यप्रणाली के रूप में उन्होंने मिताचार, बुद्धि तथा समझौते का समर्थन किया।

---

20 मौर्ले *Recollections*, पृष्ठ 171, 286, 320; लेडी मिण्टो, *India : Morley and Minto.*

21 गोखले, *Speeches and Writings*, पृष्ठ 780।

11
बाल गंगाधर तिलक

1. प्रस्तावना

अपने चालीस वर्ष के सार्वजनिक जीवन में (1880-1920) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी शक्तियों का विविध प्रकार के कार्यों के लिए प्रयोग किया।[1] एक शिक्षाशास्त्री के रूप में उन्होंने पूना न्यू इंगलिश स्कूल, डेकन एजूकेशन सोसाइटी तथा फर्ग्युसन कॉलिज की स्थापना में महत्वपूर्ण योग दिया। स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में समर्थ विद्यालय स्थापित करने में उनका प्रमुख हाथ था। पूना के मद्यनिषेध सम्बन्धी कार्यों के वे महान समर्थक थे। 1894 में जब सरकार ने वी. एस. बापट पर आपराधिक मुकद्दमा चलाकर उन्हें दण्ड देने की धमकी दी तो तिलक उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़े। 1889 में जब आर्थर क्रॉफर्ड के विरुद्ध मामलतदारों का पक्ष लेने वाला कोई नहीं था, उस समय वे उनकी रक्षा के लिए पहुँच गये। यदि कहीं आर्थिक अन्याय होता दिखायी देता तो वे तुरन्त उसके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार हो जाते थे। 1896 के दुर्भिक्ष के दिनों में उन्होंने जनता को अपने अधिकारों के विषय में जाग्रत करने के लिए महत्वपूर्ण काम किया। उन्होने उत्कट उत्साह के साथ स्वदेशी का समर्थन किया। कांग्रेस के मंच से उन्होने स्थायी प्रबन्ध, वित्तीय विकेन्द्रीकरण आदि अनेक आर्थिक विषयों पर प्रस्ताव प्रस्तुत किये। एक राजनीतिक नेता के रूप में उन्होंने कांग्रेस के कार्यकलाप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अपने 'केसरी' तथा 'मराठा' नामक दो पत्रों तथा शिवाजी और गणपति उत्सवों के द्वारा उन्होने जनता में देशभक्ति की भावना फूंक दी तथा उसमें अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। 1916 में स्थापित उनकी होम रूल लीग ने देश को स्वराज के लिए तैयार किया। अपनी इंगलैण्ड की यात्रा के दौरान (1918-1919) उन्होंने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन तथा ब्रिटिश लेबर पार्टी के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि तिलक का जीवन विविध प्रकार के प्रगतिशील कार्यों की कहानी है। वे शक्तिशाली व्यक्ति तथा नेता थे और जिस किसी काम में उन्होंने अपनी शक्ति लगायी उस पर अपना गम्भीर प्रभाव छोड़ा। वे अपने सहकर्मियों की तुलना में महानता के कहीं अधिक ऊँचे शिखर पर पहुँच गये थे। महाराष्ट्र के लोकजीवन में और 1915 के उपरान्त सम्पूर्ण भारत में उनका स्थान प्रमुख था। उनकी मेधा बड़ी कुशाग्र थी। वे सरकार की योजनाओं तथा कुटिल चालों को भलीभाँति समझते थे और उनका उन्होंने बिना हिचकिचाहट के भण्डाफोड़ किया। वे ऋग्वेद, वेदान्त, महाभारत, गीता तथा कांट और ग्रीन के दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। भारतीय इतिहास तथा अर्थशास्त्र का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। किन्तु जीवन में उनकी सबसे बड़ी पूंजी उनका नैतिक चरित्र था। उनकी वाणी में झंकृत कर देनेवाला ओज और पटुता नहीं थी, किन्तु अन्य नेताओं की तुलना में उनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि उनके सामने वे सब बौने लगते थे। उन्हें अपने पिता से वैयक्तिक गरिमा तथा आत्म-सम्मान की उत्कट भावना उत्तराधिकार में मिली थी। उनके मन में अपनी तथा देश की स्वतन्त्रता की बलवती उत्कण्ठा थी। भय उन्हें छू तक नहीं गया था। विपदाएँ उन्हें आतंकित नहीं कर सकती

1 बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को हुआ था और 1 अगस्त, 1920 को उनका देहान्त हुआ।

थीं, बल्कि विषम परिस्थितियों में उनका शूरत्व और भी अधिक देदीप्यमान होने लगता था। भयंकर और विनाशकारी विपदाओं के मुकाबले में दुर्दमनीय साहस तथा दुर्धर्ष आशावाद उनके चरित्र का सार था। सतत शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम, अनेक कष्टों तथा दीर्घकालीन कारावास के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था, किन्तु उस क्षीण शरीर में वज्रवत् कठोर आत्मा विराजमान थी जो किसी सांसारिक शक्ति के समक्ष झुक नहीं सकती थी। उन्हें आत्मा के अमरत्व में दृढ़ विश्वास था। कभी-कभी कहा जाता है कि उनके स्वभाव में सत्तावाद तथा दुराग्रह का पुट था। किन्तु उनके व्यवहार में जो यदाकदा सत्तावादी झलक दिखायी देती थी वह वास्तव में उनके अपने सिद्धान्तों में अडिग विश्वास का प्रतीक थी। उनके चरित्र में हमें जो दृढ़ता, आत्मत्याग की उच्च भावना, पैगम्बर का-सा उत्साह, और श्रेष्ठ राजनीतिक उल्लास देखने को मिलता है उसका मूल स्रोत उनकी नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के नियमों में अडिग आस्था थी। उनमें उद्देश्य की दृढ़ता, इच्छा-शक्ति की अनमनीयता, चट्टान के सदृश दृढ़ संकल्प तथा कष्टों को अंगीकार करने की आडम्बरहीन तत्परता आदि जो अनेक गुण थे उन सबके मूल में उनकी अपने जीवन के ध्येय के प्रति अडिग भक्ति थी। अपने जीवन-काल में जिन विविध संघर्षों और विवादों में उन्हें उलझना पड़ा उन सबमें उनका सबसे बड़ा सहायक उनका अपना निर्दोष तथा निष्कलंक वैयक्तिक चरित्र था। उन्होंने अपने जीवन के चालीस वर्ष बिना किसी निजी लाभ की आकांक्षा के देश की सेवा में अर्पित कर दिये। एक उत्साही सैनिक की भाँति उन्होंने जीवन्त तथा शक्तिशाली भारतीय राष्ट्रीयवाद की नींव का निर्माण करने के लिए सतत प्रयत्न किया। संघर्ष के दौरान जब भारी कष्टों और विपत्तियों का प्रकोप हुआ तो कभी-कभी ऐसा लगा कि दूसरे लोग हथियार डालकर युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़े हुए या धराशायी हो गये, किन्तु तिलक महात्मा युधिष्ठिर की भाँति अकेले ही स्वाधीनता के पथ पर आगे बढ़ते गये। उन्हें जीवन में इतने अधिक कष्टों, विपत्तियों और अन्यायों का सामना करना पड़ा था कि यदि उनके स्वभाव में कटुता और निराशा आ जाती तो आश्चर्य की बात न होती। सरकार ने प्रतिशोध की भावना से उन्हें अन्यायपूर्ण तथा बर्बर दण्ड दिये। उन्हें अनेक भारी व्यक्तिगत दुःख भोगने पड़े और स्वजनों का वियोग सहना पड़ा। किन्तु इस सबके बावजूद उन्हें कभी सार्वजनिक जीवन से उपराम नहीं हुआ, और न वे कभी निराशावाद से अभिभूत होकर बौद्धिक अन्तर्मुखी ही बने। प्राचीन युग के महान ऋषियों की भाँति उन्होंने सब कुछ आश्चर्यजनक अविचलता के साथ सहन कर लिया। कभी-कभी कहा जाता है कि तिलक बड़े ही कठोर थे। इस अर्थ में वे सचमुच कठोर थे कि अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वे कभी किसी से समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे, किन्तु उनका हृदय बहुत ही कोमल तथा दयालु था।

महाराष्ट्र तिलक का कार्यक्षेत्र था।[2] यद्यपि आधुनिक महाराष्ट्र में देशभक्ति का बीज चिपलूणकर ने ही बो दिया था, किन्तु उस प्रदेश में शक्तिशाली तथा शूरत्वप्रधान राष्ट्रवाद के संस्थापक वास्तव में तिलक ही थे। 'केसरी' के माध्यम से उन्होंने लगभग चालीस वर्ष तक प्राकृतिक अधिकारों, राजनीतिक स्वतन्त्रता और न्याय का सन्देश घर-घर पहुँचाया। उन्होंने महाराष्ट्र की जनता को संगठित और सामूहिक स्वावलम्ब का मूल्य समझाया। 1897 में प्लेग की महामारी के दौरान तिलक ने अपने जीवन को जोखिम में डालकर पूना के लोगों की सेवा की। नगर में उनकी उपस्थिति से ही निवासियों को ऐसी सान्त्वना मिलती थी मानो कोई देवदूत उनकी सहायता के लिए आगया हो। गणपति तथा शिवाजी उत्सवों ने महाराष्ट्र की जनता में एक नवीन प्रकार की देशभक्ति की भावना जाग्रत की, उनमें नवजीवन का संचार किया और अपने राजनीतिक अधिकारों के संघर्ष की क्षमता उत्पन्न की। शिवाजी का राजतन्त्र स्वराज्य कहलाता था। तिलक ने उसी स्वराज्य की भावना को पुनर्जीवित किया। महाराष्ट्र के इतिहास में तिलक एक प्रचण्ड शक्ति थे; स्वराज्य के संग्राम में वे अभेद्य चट्टान के सदृश थे। 'केसरी' का महाराष्ट्र की राजनीति पर तीस वर्षों से भी अधिक तक आधिपत्य रहा। महाराष्ट्र की जनता तिलक के मन्तव्य तथा उनके सन्देश को भलीभाँति समझती थी। अनेक लोगों के लिए तो उनका वचन सर्वोच्च कानून था। महाराष्ट्र के निवासी तिलक को

---

2 तिलक 7 अगस्त, 1895 से मई 1897 तक बम्बई विधान परिषद के सदस्य रहे थे।

एक अजेय योद्धा तथा भारत में ब्रिटिश शासन का दुर्धर्ष शत्रु मानते थे। 1882 में तिलक को कोल्हापुर मानहानि के मुकद्दमे में और 1897-98 में उन पर लगाये गये राजद्रोह के प्रथम आरोप में कारावास का दण्ड दिया गया। 1908 से 1914 तक छह वर्ष के लिए उन्हें मांडले की जेल में रखा गया। इस सबने उन्हें जनता का प्रेमपात्र बना दिया था। तिलक को महाराष्ट्र के इतिहास में श्रेष्ठतम अमर विभूति के रूप में स्मरण किया जायगा।

प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में तिलक ने एक आन्दोलनकारी का काम किया। वे चाहते थे कि कांग्रेस की जड़ें जनता के जीवन में व्याप्त हों। 1905 से वे नये दल के माने हुए नेता बन गये। बंगाल तथा महाराष्ट्र में राजनीति के नये सम्प्रदाय की रचना उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। जब अन्य नेता ब्रिटेन की सहानुभूति और समर्थन की याचना कर रहे थे, उस समय तिलक ने स्वावलम्बन और स्वसहायता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने कांग्रेस में अतिवादी राष्ट्रवाद की भावनाओं को प्रविष्ट किया। उस समय तक कांग्रेस मुख्यतः मध्य वर्ग का संगठन थी। तिलक ने निम्न मध्य वर्ग को और कुछ हद तक साधारण जनता को भी कांग्रेस में लाने का प्रयत्न किया। 1916 से 1920 तक उन्होंने होम रूल लीग का प्रचार करके कांग्रेस के कार्य को आगे बढ़ाया। अप्रैल 1920 में उन्होंने कांग्रेस लोकतंत्रीय दल की स्थापना की। इस दल के द्वारा वे कांग्रेस में नियमित रूप से चुनाव-प्रचार की पद्धति को समाविष्ट करना चाहते थे। 1917 में 27 नवम्बर के दिन उन्होंने दिल्ली में मोंटेग्यू से भेंट की। 1918 में वे सर्वसम्मति से कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिये गये। किन्तु उन दिनों वे वेलेंटाइन शिरोल[3] के साथ मुकद्दमे में उलझे हुए थे, और उस सिलसिले में उन्हें इंगलैण्ड जाना था। अतः वे अध्यक्ष पद को स्वीकार न कर सके। 1916 की लखनऊ कांग्रेस से 1919 की अमृतसर कांग्रेस तक वे कांग्रेस के महानतम नेता थे। सभी लोग इस आशा में थे कि वे विशेष कलकत्ता कांग्रेस के जो सितम्बर 1920 में होने वाली थी, अध्यक्ष पद पर आसीन होंगे, किन्तु इसी अपरिपक्वावस्था में वे इस संसार से चल बसे। तिलक ने सचमुच कांग्रेस का रूपान्तरण कर दिया, और उसे एक सुदृढ़ नौकरशाही विरोधी मोर्चे में परिवर्तित कर दिया।

तिलक का स्थान भारतीय राष्ट्र के महत्तम निर्माताओं में है। इस रूप में उन्होंने अमर कीर्ति प्राप्त की है। 1896-97 में ही वे स्वराज्य की बात करने लगे थे, और 1907 में ही उन्होंने होम रूल का उल्लेख किया। वे हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा मानते थे। कांग्रेस लोकतंत्रीय दल के घोषणा-पत्र में उन्होंने रेलमार्गों के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया, और राजनीति को धर्म निरपेक्षता के आधार पर खड़ा करने के आदर्श को मान्यता दी। उन्होंने भारतीय श्रमिक आन्दोलन के राजनीतिक महत्व को स्वीकार करके बुद्धिमानी तथा दूरदर्शिता का परिचय दिया। उन्होंने जनता को स्वाधीनता की भावना से उत्प्रेरित किया और उसे अपनी शक्ति को पहचानने के लिए ललकारा। वे राष्ट्र की स्वाधीन जीवन की आकांक्षा के मूर्तरूप थे। उनके बाद स्वराज्य के आदर्श को साक्षात्कृत करना थोड़े-से समय की बात थी। जब अधिकतर लोग मौन थे, बल्कि विदेशी शासन की नियामतों की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय तिलक ने एक पैगम्बर के रूप में देश को राष्ट्रीय होतव्यता का सन्देश सुनाया। उन्होंने जनता को जगाया और उसने उन्हें अपना उद्धारक और अपना तारनहार समझा। यही कारण था कि उनके जीवन के अन्तिम दिनों में महाराष्ट्र के लोग तो उन्हें लगभग देवता समझकर पूजने लगे थे। राष्ट्र की सेवा के लिए उन्होंने अथक कार्य किया, और वे देश के लगभग एक अवयवी अंग बन गये थे। उन्होंने अपनी कठोर उद्देश्यपरायणता तथा दृढ़ संकल्प को जनता को जगाने तथा उसे राष्ट्रीयता के सांचे में ढालने के काम में लगा दिया। इस कार्य में उन्हें अपमान तथा बम्बई सरकार द्वारा दी गयी कारागार की यातनाओं को सहन करना पड़ा। अपने चरित्र-बल के कारण वे प्लासी के युद्ध के बाद भारत में ब्रिटिश शासन के सर्वाधिक कृतसंकल्प शत्रु सिद्ध हुए। वे केवल एक आन्दोलनकारी नहीं थे; वे एक राजमर्मज्ञ भी थे, और उनके जीवन का सबसे बड़ा काम यह था कि उन्होंने शक्तिशाली भारतीय राष्ट्र की नींव का निर्माण

---

3 तिलक वेलेंटाइन शिरोल के विरुद्ध मानहानि का मुकदमा हार गये थे। शिरोल ने अपनी पुस्तक *The Indian Unrest* में तिलक को बदनाम करने का प्रयत्न किया था।

किया। तिलक एक महान राजनीतिज्ञ भी थे; व्यापक, उत्साहपूर्ण, शुद्ध तथा उत्कृष्ट कोटि की देशभक्ति उनके चरित्र का मुख्य तत्व थी। भारतवासियों में देशभक्ति की आत्म-चेतना जाग्रत करना तिलक के जीवन का मुख्य ध्येय था। किन्तु वे केवल आक्रामक राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक नहीं थे। वे एक महान नेता भी थे। उन्होंने अपने विचारों को ठोस कार्य के रूप में साक्षात्कृत करने का भी प्रयत्न किया। इसलिए केवल एक राजनीतिक बुद्धिवादी नहीं बने रहे, बल्कि वे उच्चकोटि के व्यवहारकुशल राजमर्मज्ञ भी थे। राजमर्मज्ञ के रूप में वे व्यवहारकुशल, दूरदर्शी तथा बुद्धिमान थे। राजनीतिक जीवन की वास्तविकता की उन्हें अच्छी परख थी। दल के सभी सदस्यों के लिए उनकी निरपेक्ष शर्त थी कि बहुसंख्यकों के निर्णय का दृढ़ता के साथ पालन किया जाय। इस प्रकार वे एक महान लोकतन्त्रवादी थे। वक्ता तथा लेखक के रूप में तिलक की सफलता मनमोहक शब्दावली के संवेगात्मक प्रभाव और भाषा की तड़कभड़क तथा आकर्षण पर निर्भर नहीं थी। वे सीधी-सादी, स्पष्ट, नपी-तुली तथा तर्कपूर्ण भाषा का प्रयोग करते थे और यही उनकी सफलता का रहस्य था। तिलक के कुछ आलोचकों ने उन्हें जनोत्तेजक (उत्तेजक भाषणों द्वारा जनता की कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने वाला) कहा है। किन्तु जनोत्तेजक में संवेगात्मक तथा आलंकारिक भाषा द्वारा प्रभाव डालने की जो प्रवृत्ति होती है उससे तिलक नितान्त अछूते थे। उनके भाषण तथा रचनाएँ कठोरतः तर्कपूर्ण हैं, और वे इस बात की द्योतक हैं कि उन्हें गणित की जो शिक्षा मिली थी उसका उन पर गहरा प्रभाव था। तिलक ने कभी कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने का प्रयत्न नहीं किया, वे सदैव आवेशशून्य कठोर तथ्यों का सहारा लिया करते थे। उनके हृदय में जनता के लिए सच्चा प्रेम था, और इसलिए वे हर व्यक्ति से हर समय मिलने के लिए तैयार रहते थे। अतः स्पष्ट है कि वे जनोत्तेजक नहीं थे। वे लोकतन्त्रवादियों के सिरमौर थे और उन्होंने अपने देशवासियों से प्रेम किया और उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल्य समझाया। उनकी राजनीतिक कल्पना स्पष्ट थी और उसे साक्षात्कृत करने के लिए उन्होंने अविचल भाव से कार्य किया, इसलिए वे आंग्ल-भारतीय नौकरशाही के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गये थे। नेता के रूप में उनमें विलक्षण वैयक्तिक आकर्षण था जिसने उन्हें लगभग चमत्कारी पुरुष बना दिया था। वर्षों तक निरन्तर परिश्रम करने तथा मातृभूमि के लिए घोर कष्ट सहने के कारण उनका व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार की गम्भीरता और ओज से देदीप्यमान होने लगा था। इसलिए भारतीय युवकों के मन में उनके लिए गहरा सम्मान तथा प्रशंसा की भावना थी; उनके व्यापक तथा अगाध पाण्डित्य ने उनके वैयक्तिक आकर्षण को और भी अधिक गरिमा प्रदान कर दी थी। उनमें प्रबल नैतिक चेतना थी। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने कभी भी अनुचित उपायों के प्रयोग की अनुमति नहीं दी। 1918 में उन्होंने बम्बई में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन का अध्यक्ष होना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार तिलक अनेक दृष्टि से एक अद्भुत विभूति हैं। उनकी स्मृति अनेक पीढ़ियों तक भारतवासियों को तथा विश्व भर के स्वतन्त्रता प्रेमियों को अनुप्राणित करती रहेगी। स्वराज्य के महासेनानी के रूप में उन्होंने देश को यह मन्त्र दिया : "स्वराज्य भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है।" भारत में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने तथा उसकी मुक्ति के कार्य में तिलक का योगदान बहुत भारी है। अपने सतत प्रचार तथा कार्यों के द्वारा उन्होंने देश में प्रचण्ड असन्तोष की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी, और शक्तिशाली साम्राज्यवादी नौकरशाही के दुर्ग के विरुद्ध संघर्ष में वे सचमुच हिमालय सिद्ध हुए। लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी आधुनिक भारत की दो महानतम राजनीतिक विभूतियाँ हुई हैं और जनता उन दोनों को ही पूजती है। किन्तु यदि गान्धी मुझे ईसा, टॉलसटॉय, थूरो, रामकृष्ण तथा भारतीय इतिहास के अन्य सन्तों का स्मरण दिलाते हैं तो तिलक का नाम सुनकर मुझे मूसा, लूथर, प्रताप, शिवाजी, दयानन्द और विवेकानन्द का स्मरण हो आता है।

एक प्रकाण्ड पण्डित तथा मराठी साहित्य की विभूति के रूप में भी तिलक की कीर्ति अमर है। उन्होंने मराठी में एक ओजपूर्ण तथा सशक्त गद्यशैली का निर्माण किया। उनकी कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ 'केसरी' के अंकों में प्रकाशित हुई। स्पेंसर, महाभारत तथा शिवाजी की जन्मतिथि पर उनके निबन्धों का आज भी महत्व है। भारत-विद्या-विशारद के रूप में उन्होंने तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया : 'द ओरायन', 'द आर्कटिक होम इन द वेदज्' और 'वैदिक क्रोनो-

लॉजी एण्ड वेदांग ज्योतिष'। जबकि पाश्चात्य भारत-विद्या-विशारद वेदों की तिथि ईसवी पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में निश्चित कर रहे थे उस समय तिलक ने एक नया मत प्रतिपादित किया। ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि वेदों के कुछ मन्त्र 4500 ई. पू. के अथवा उससे भी पुराने हैं। अपने अनुसन्धान के लिए कुंजी उन्हें गीता के इस श्लोक में मिली : "मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः" (महीनों में मैं, मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ)। तिलक और ह्विटने ही ऐसे भारत-विद्या-विशारद हुए हैं जिन्होंने वेदों की ऐतिहासिक प्राचीनता का निर्णय करने के लिए ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी का प्रयोग किया है। यद्यपि अधिकतर यूरोपीय विद्वान उनसे सहमत नहीं हैं, किन्तु कुछ भारतीय विद्वानों को तिलक के 'दओरायन' में प्रतिपादित मत में सत्यांश प्रतीत होता है। 'द आर्कटिक होम' अपेक्षाकृत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें तिलक ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, इतिहास तथा धर्म के आधार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्य जाति का आदि देश उत्तरी ध्रुव-प्रदेश था। जबकि आर्यों के आदि निवास-स्थान के सम्बन्ध में इतने मत हैं—मध्य एशिया, दक्षिणी रूस, कार्पेथियन पर्वतमाला, तिब्बत, कौकेशस—उस समय एक विद्वान उत्तरी ध्रुव-प्रदेश का पक्ष ले, यह सचमुच बड़ी ही मनोरंजक बात है। दुर्भाग्यवश तिलक के निष्कर्षों के भू-वैज्ञानिक आधार कुछ हिल गये हैं, और उनके मत को सामान्यतः स्वीकार नहीं किया जाता। फिर भी ये दोनों ग्रन्थ विद्या की अनेक शाखाओं में उनके पाण्डित्य के चिर स्मारक हैं। इनसे उनकी मेधा की मौलिकता प्रकट होती है। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ये अनुसन्धान कारावास के अपरिहार्य अवकाश के समय में किये गये थे। इसलिए एक प्राच्य-विद्या-विशारद के रूप में तिलक के सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि यद्यपि उनके निष्कर्ष आधुनिक वैदिक पाण्डित्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, फिर भी इससे उनका पाडित्य मलिन नहीं पड़ता।

सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिक के रूप में तिलक की उपलब्धियां कहीं अधिक ठोस और स्थायी हैं। मांडले की जेल में उन्होंने गीता पर जो भाष्य ('गीता-रहस्य') लिखा वह गीता की व्याख्या मात्र नहीं है, बल्कि उसमें हमें प्राच्य तथा पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय तथा तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्ण समन्वय भी देखने को मिलता है। इसमें शंकर के संन्यासवादी दृष्टि-कोण का खण्डन किया गया है। इसमें तिलक ने बतलाया है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सार इसमें नहीं है कि मनुष्य एकान्तवास करे, अपने व्यक्तित्व का नाश करदे और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को भूल जाय। तिलक के अनुसार गीता का उपदेश है कि व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक और निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। अपने कर्मयोग के इस सन्देश में तिलक ने यजुर्वेद तथा गद्य उपनिषदों में प्रतिपादित कर्म के सिद्धान्त का सामाजिक आदर्शवाद, लोकतान्त्रिक नैतिकता, तथा गतिशील मानवतावाद की आधुनिक भावना के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है। तिलक की दृष्टि में कर्मयोग जीवन, नैतिकता तथा धर्म का सांगोपांग तथा समुचित दर्शन है। वह सुखवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता। वह अन्तःप्रज्ञावाद के भी पार पहुँचता जाता है और कांट तथा ग्रीन द्वारा प्रतिपादित नैतिकता के सिद्धान्तों को भी पीछे छोड़ देता है। कर्मयोग का सन्देश हमें अपने सामाजिक तथा राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करने का शूरत्वपूर्ण साहस प्रदान करता है। निष्काम कर्म करने से हममें आत्मनिग्रह की इतनी शक्ति आ जाती है कि हम अहं की अनुभूति से भी ऊपर उठ सकते हैं, और इस प्रकार हमारे लिए परमात्मा के साथ आध्यात्मिक एकात्म्य स्थापित करना सम्भव हो सकता है।

मेरा मत है कि तिलक की महत्ता भारतीय राष्ट्रवाद, संस्कृत के पाण्डित्य तथा मराठी साहित्य तक ही सीमित नहीं है। यह सत्य है कि इन सभी क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियाँ अत्यधिक महान हैं। किन्तु वस्तुतः तिलक के जीवन और व्यक्तित्व में सम्पूर्ण विश्व के लिए एक सन्देश निहित है। 1908 में तिलक ने पैगम्बर के-से आत्मविश्वास और उत्साह के साथ घोषणा की थी कि इस विश्व की होतव्यता का नियमन और संचालन लोकोत्तर शक्तियाँ करती हैं। जब मैं उनकी उस समय की सिंह की-सी मूर्ति की कल्पना करता हूँ तो मुझे उस समय के सुकरात का स्मरण हो आता है जब एथेंस में उन पर मुकद्दमा चल रहा था। अन्याय की शक्तियों के विरुद्ध नैतिक साहस और शूरत्व के साथ संघर्ष करना—यही तिलक के जीवन का सन्देश है। उनका यह सन्देश सम्पूर्ण विश्व में स्वतन्त्रता,

न्याय तथा सत्य के लिए संघर्ष करने वालों को युगों तक प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहेगा। राजनीतिक जीवन में तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के भीष्म थे। उनमें बृहस्पति की-सी मेधा, भीष्म की-सी राजनीतिज्ञता और युधिष्ठिर का-सा नैतिक बल था। साथ ही, उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी अत्यन्त तीव्र थीं। उन्हें ईश्वर तथा उसकी अनुकम्पा में गहरी आस्था थी। शायद अपने यौवन काल में वे कुछ समय के लिए अनीश्वरवादी हो गये थे (यद्यपि इसमें भारी सन्देह है), किन्तु जीवन के अनुभवों ने उनका यह विश्वास दृढ़ कर दिया कि विश्व ईश्वर के नैतिक शासन द्वारा ही नियन्त्रित और संचालित होता है। मैं तिलक को एक महान आध्यात्मिक विभूति मानता हूँ और इसके कई कारण हैं। उनका आन्तरिक जीवन ठोस तथा सब प्रकार की दुविधाओं और द्वन्द्वों से मुक्त था। उनके व्यक्तित्व में हमें मानसिक संघर्षों और अन्तर्विरोधों से उत्पन्न गहरी वेदना के कोई चिह्न देखने को नहीं मिलते, और न वे कभी संवेगात्मक विक्षोभ से ही संतप्त हुए। अविचल पुरुषत्व और उच्चकोटि का आत्मविश्वास उनके चरित्र के मुख्य तत्व थे, किन्तु समय के साथ-साथ ईश्वरीय अनुकम्पा में उनकी आस्था बढ़ती गयी और यह विश्वास दृढ़ होता गया कि यह विश्व सर्वशक्तिमान और दयालु ईश्वर के विधान से ही नियमित और संचालित होता है। 1 जून, 1947 को एक प्रार्थना सभा में भाषण देते हुए गान्धीजी ने कहा था कि "मैंने अन्तरात्मा का मूल्य तिलक महाराज से सीखा है। जहाँ तक मैं तिलक के व्यक्तित्व को समझ पाया हूँ वे भगवद्‌गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ और त्रिगुणातीत थे। मृत्यु को सामने खड़ा देखकर भी वे पूर्णतः अविचलित रहे। अपनी चेतना के अन्तिम क्षणों में उन्होंने भगवद्‌गीता के स्मरणीय श्लोकों का[4] उच्चारण किया था। अनन्य आध्यात्मिक श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता था। उन्होंने भगवद्‌गीता पर एक अमर भाष्य लिखा है। किन्तु आध्यात्मिक भक्ति से ओतप्रोत उनका शुद्ध जीवन गीता का उससे भी बड़ा भाष्य था। एक अर्थ में उनका कर्मयोग का सन्देश नया नहीं है। भारत में उसका प्रचार वैदिक युग से ही चला आया था। राम, जनक और कृष्ण उसके महान प्रवर्तक थे। किन्तु दीर्घकाल से देश उसे भूल चुका था। लोकमान्य तिलक ने पाश्चात्य तथा प्राच्य नीतिशास्त्र और तत्वशास्त्र का समन्वय करके उस सन्देश का नये ढंग से निरूपण और व्याख्या की। उन्होंने कर्मयोग के दर्शन के साथ अपनी तपस्या तथा ज्ञान का संयोग करके उसे एक नया अर्थ प्रदान कर दिया। कर्मयोग के सन्देश में ज्ञान और कर्म का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। आधुनिक जगत शून्यवाद, अनीश्वरवाद तथा बल नीति के रोगों से संतप्त है। आधुनिक युग के बुद्धिवादियों को कर्मयोग प्रगति का सन्देश देता है। वह जीवन तथा कर्तव्य के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करता है, और जो असम्बद्ध घटनाओं, तथ्यों और प्रक्रियाओं का अव्यवस्थित पुंज प्रतीत होता है उसे अर्थ और प्रयोजन प्रदान करता है। कर्मयोग का सन्देश हमें तिलक के जीवन के रहस्य से भी अवगत करा देता है। वे महान पण्डित थे, और कदाचित पिछले एक सहस्र वर्ष में गीता का उनसे बड़ा कोई विद्वान नहीं हुआ है। किन्तु वे कोरे पाण्डित्यवादी नैयायिक नहीं थे। वे महान ऋषि थे। उनके जीवन में हमें व्यावहारिक राजनीति तथा दार्शनिक दृष्टि, दोनों का समन्वय देखने को मिलता है। इसीलिए उन्हें राजर्षिकहकर अभिनन्दित करेंगे। उन्होंने आधुनिक जगत को स्वराज्य तथा कर्मयोग के दो गूढ़, उत्प्रेरक तथा उदात्त करने वाले मन्त्र दिये हैं।

2. तिलक के तत्वशास्त्रीय तथा धार्मिक विचार

तिलक का अद्वैत दर्शन में विश्वास था। परब्रह्म के जिस स्वरूप का ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में उल्लेख है और जिसका वेदान्त दर्शन, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों तथा भगवद्‌गीता में विशद विवेचन किया गया है वह तिलक को बहुत आकर्षक जान पड़ता था। किन्तु धार्मिक भक्ति के लिए वे वैयक्तिक ईश्वर की धारणा को स्वीकार करते थे। 1901 में उन्होंने कलकत्ता में हिन्दू धर्म पर एक भाषण में कहा : "वास्तविक दृष्टि से धर्म में ईश्वर तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा मनुष्य द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के साधन सम्मिलित हैं, और यही धर्म का सही अर्थ है।" जिनकी चेतना कम विकसित है उनके लिए तिलक धार्मिक प्रतीकों के महत्व को स्वीकार करते थे। इन प्रतीकों

---

4 भगवद्‌गीता, 4, 7-8।

तथा इनकी धार्मिक उपयोगिता को उपनिषदों, बादरायण तथा शंकर ने भी माना है। लोकमान्य का अवतार में भी विश्वास था और वे कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते थे। उन्होंने अपनी अमर कृति 'गीता-रहस्य' कृष्ण को ही अर्पित की है। वे महान दार्शनिक थे किन्तु धार्मिक जीवन में वे भक्ति के माहात्म्य को स्वीकार करते थे। उन्होंने धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध नहीं किया। वे यह भी मानते थे कि धार्मिक कर्मकाण्ड बदल सकते हैं और बदलते हैं। किन्तु उनका कहना था कि जब तक उन्हें औपचारिक रूप से बदला नहीं जाता तब तक उनका पालन किया जाना चाहिए। वे सनातनी हिन्दू थे और अपने धर्म पर उन्हें गर्व था। किन्तु उन्होंने हिन्दू धर्म को न तो परम्परागत रीति से स्वीकार किया और न कोरे बौद्धिक तर्क-वितर्क के आधार पर। वे ऋषियों और योगियों द्वारा साक्षात्कृत रहस्यात्मक अनुभूतियों को भी स्वीकार करते थे। किन्तु उनकी धारणा थी कि गृहस्थ जीवन को धारण करने वाला कर्मयोगी भी मोक्षदायी परम ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

लोकमान्य के मन में हिन्दुत्व की बड़ी विशद धारणा थी। एक भाषण में उन्होंने कहा था : "सनातन धर्म शब्द इस बात का द्योतक है कि हमारा धर्म अति प्राचीन है—उतना ही प्राचीन जितनी कि स्वयं मानव जाति। वैदिक धर्म प्रारम्भ से ही आर्य जाति का धर्म था।... हिन्दू धर्म अनेक अंगों के संयोग से बना है, वे अंग एक ही बड़े धर्म के बेटों और बेटियों की भाँति परस्पर आबद्ध और संयुक्त हैं। यदि हम इस विचार को ध्यान में रखें और सब वर्गों को एकीकृत करने का प्रयत्न करें तो हम उनको एक महान शक्ति के रूप में संगठित कर सकते हैं।....धर्म राष्ट्रीयता का एक तत्व है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है बन्धन, और वह धृति धातु से व्युत्पन्न हुआ है। धृति का अर्थ है धारण करना, परस्पर बाँधकर रखना। किसको बाँधकर रखना है? आत्मा को ईश्वर से, और मनुष्य को मनुष्य से। धर्म से अभिप्राय है ईश्वर तथा मनुष्य के प्रति हमारा कर्तव्य। हिन्दू धर्म में नैतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के बन्धन की व्यवस्था है।....वैदिक युग में भारत देश अपने में पूर्ण था। वह एक महान राष्ट्र के रूप में संगठित था। अब वह एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी है, और यही हमारी अधोगति का कारण है। अतः उस एकता की पुनः स्थापना करना राष्ट्र के नेताओं का पुनीत कर्तव्य है। इस स्थान का हिन्दू भी उतना ही हिन्दू है जितना कि मद्रास अथवा बम्बई का। गीता, रामायण और महाभारत के पठन-पाठन से सम्पूर्ण देश में एकसे विचार उत्पन्न होते हैं। वेदों, गीता तथा रामायण के प्रति भक्ति—क्या यह हम सबकी सामान्य विरासत नहीं है? यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों के साधारण भेदों को भूल जायँ और अपनी समान विरासत को मूल्यवान समझें तो ईश्वर की कृपा से हम शीघ्र ही विभिन्न सम्प्रदायों को शक्तिशाली हिन्दू राष्ट्र के रूप में संगठित करने में सफल हो जायँगे। यही हर हिन्दू की महत्वाकांक्षा होनी चाहिए।"

तिलक समझते थे कि आधुनिक विज्ञान प्राचीन हिन्दुओं के ज्ञान को प्रमाणित कर रहा है। 3 जनवरी, 1908 को भारत धर्म महामण्डल में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था कि पश्चिम की मनोवैज्ञानिक शोध संस्थाएँ, जगदीशचन्द्र बोस के अनुसन्धान तथा ओलीवर लॉज के विचार हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की पुष्टि कर रहे हैं। "आधुनिक विज्ञान पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भले ही न मानता हो किन्तु कर्म के सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार करता है।....वेदान्त और योग की आधुनिक विज्ञान द्वारा पूर्णतः पुष्टि हो चुकी है, और इन दोनों का उद्देश्य आध्यात्मिक एकता प्रदान करना है।" तिलक का विश्वास था कि हिन्दुत्व दुर्दमनीय आशावाद का सन्देश देता है। भगवद्गीता के इस विचार का उल्लेख करते हुए कि मानव इतिहास की संकटापन्न परिस्थितियों में ईश्वर अवतार लेता है, तिलक ने कहा : "विश्व में हिन्दू धर्म को छोड़कर अन्य किसी धर्म में ऐसा कल्याणकारी वचन नहीं दिया गया है कि ईश्वर जितनी बार हमें आवश्यकता होती है उतनी ही बार हमारे पास आता है।"

तिलक ने हिन्दू की बड़ी ही व्यापक परिभाषा की है।[5] उनके मतानुसार हिन्दू वह है जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। हिन्दू वेदों, स्मृतियों तथा पुराणों के आदेशानुसार आचरण

---

5 प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमश्चैतद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(अगले पृष्ठ पर भी देखिये)

करता है। लोकमान्य चाहते थे कि हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संगठित हों। उन्होंने एकता पर बल दिया और कहा : "ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे हिन्दू धर्म की सरिता एक प्रचण्ड, एकीकृत तथा केन्द्रित शक्ति के रूप में एक ही धारा में बहे।" उनकी इच्छा थी कि हिन्दू उपदेशक सम्पूर्ण विश्व को सनातन धर्म का उपदेश दें। उनका विश्वास था कि आधुनिक विज्ञान की भौतिक उपलब्धियाँ केवल भ्रम उत्पन्न कर रही हैं। वे आर्य ऋषियों के पवित्र धर्म के शाश्वत सत्य का स्थान नहीं ले सकतीं।

3. तिलक के शैक्षिक विचार तथा कार्यकलाप

जनता की बौद्धिक जागृति किसी राष्ट्र के उत्थान की सबसे महत्वपूर्ण प्रणाली है। यूरोप में फ्रांसीसी क्रान्ति से पहले फ्रांस की जनता का बौद्धिक जागरण हो चुका था। इसीलिए दिदरो, वॉल्टेयर और रूसो को उस महान क्रान्तिकारी आन्दोलन का अग्रदूत कहा जाता है। डिज़्रेली कहा करता था कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक भारत में राष्ट्र-वाद के उदय और उत्कर्ष में राष्ट्रवादी आधार पर संगठित और संचालित शिक्षा-संस्थाओं का महत्वपूर्ण योग रहा है। चिपलूणकर, आगरकर और तिलक महाराष्ट्र के नये शैक्षिक आन्दोलन के अग्रदूत थे। लाला लाजपतराय तथा हंसराज ने डी. ए. वी. कॉलिज लाहौर की स्थापना में पहल और नेतृत्व किया। स्वामी श्रद्धानन्द ने वैदिक ब्रह्मचर्य के आदर्शों के आधार पर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान (1905-1910) अनेक नयी शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की गयीं। जब असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो गाँधीजी के नेतृत्व में अनेक विद्यापीठ स्थापित किये गये। टैगोर का शान्तिनिकेतन समन्वयात्मक सार्वभौमवाद के आधार पर स्थापित किया गया था। भारतीय पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद के उदय में इन शिक्षा संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जब तिलक पूना में विधिशास्त्र की परीक्षा की तैयारियाँ कर रहे थे उसी समय उन्होंने एक गैर-सरकारी स्कूल स्थापित करने की निश्चित योजना बना ली थी। इस स्कूल के शिक्षक आत्म-त्याग की वैसी ही भावना से अनुप्रेरित थे जैसी कि प्रायः जैसुइट पादरियों की शिक्षा संस्थाओं में देखने को मिलती है। तिलक और आगरकर 'भारतीय जैसुइट' बनना चाहते थे। 2 जनवरी, 1880 को पूना के न्यू इंगलिश स्कूल की विधिवत स्थापना कर दी गयी। इस शैक्षिक योजना में चिपलूण-कर और तिलक का मुख्य योगदान था।

न्यू इंगलिश स्कूल नये सिद्धान्तों और आदर्शों से अनुप्राणित था, जो उस समय की प्रमुख शिक्षा संस्थाओं के सिद्धान्तों और व्यवहार से भिन्न थे। तिलक के दो मुख्य उद्देश्य थे। उनका तथा चिपलूणकर और आगरकर का विचार था कि शिक्षा सस्ती होनी चाहिए और शिक्षक उस आदर्श-वाद से अनुप्रेरित हों जो देश के प्राचीन इतिहास में पाया जाता था। वैदिक और औपनिषदिक युगों के गुरु और आचार्य धन तथा भौतिक समृद्धि के लिए विख्यात नहीं थे ; उनकी ख्याति मुख्यतः उनकी विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा तथा कर्तव्यपरायणता के कारण थी। मातृभूमि के पुनरुद्धार के लिए उस पुरातन आदर्श को अंगीकार करना आवश्यक है। तिलक का दूसरा उद्देश्य शिक्षा का प्रसार करना था। उनके विचार में देश के राजनीतिक जागरण तथा प्रगति के लिए शैक्षिक सुविधाओं का प्रसार आवश्यक था। इसलिए उनकी दृष्टि में शिक्षा के प्रसार का सबसे अधिक महत्व था। स्वदेशी आन्दोलन के दिनों (1905-1910) में वे शिक्षा के राष्ट्रवादी पहलू पर बल देने लगे थे। किन्तु पिछली शताब्दी के नवें दशक में चिपलूणकर, आगरकर तथा तिलक ने शिक्षा के उत्तरोत्तर प्रसार पर अधिक बल दिया था, और यह प्रसार तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता था। इसलिए तरुण शैक्षिक नेताओं की इस मण्डली ने शैक्षिक सुविधाओं की वृद्धि के लिए राजकीय अनुदान को स्वीकार किया। यह उल्लेखनीय है कि तिलक तथा श्रद्धानन्द दोनों ने शिक्षक

धर्ममेनं समालम्ब्य विधिभिः संस्कृतस्तु यः।
श्रुतिस्मृतिप्रमाणोक्तैः क्रमप्राप्तैरथापि वा ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
शास्त्रोक्ताचारशीलश्च स वै "हिन्दुः" सनातनः ॥

के रूप में ही अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया था। किन्तु श्रद्धानन्द वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मचर्य के आदर्शों से प्रभावित थे, जबकि तिलक ने भारतीय आदर्शों तथा पाश्चात्य कार्यप्रणाली और संस्थाओं के समन्वय को महत्व दिया। तिलक इस हद तक पुनरुत्थानवादी नहीं थे कि आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों और सिद्धान्तों को समग्रत: अंगीकार करने की सम्भावना को स्वीकार कर लेते। वे जीवन भर यह मानते रहे कि राजनीतिक उग्रवाद और प्रगतिवाद की भावनाओं को उत्पन्न करने में अंग्रेजी शिक्षा का मूल्य है। होम रूल (स्वराज्य) आन्दोलन के दिनों में जब वे देश का दौरा कर रहे थे उस समय भी उन्होंने स्पष्ट रूप से और बिना संकोच के स्वीकार किया कि अंग्रेजी शिक्षा ने देश के राजनीतिक जागरण में महत्वपूर्ण योग दिया था। इस दृष्टि से उनकी भावना गाँधीजी से भिन्न थी। महात्माजी ने, विशेषकर अपनी 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तिका में, पाश्चात्य सभ्यता की अत्यधिक ध्वंसात्मक आलोचना की थी। असहयोग आन्दोलन के दिनों में गाँधीजी ने अंग्रेजी शिक्षा की धुआँधार भर्त्सना की। तिलक की भावना तथा विचार अधिक यथार्थवादी थे। वेदों तथा हिन्दू दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्होंने स्वीकार किया कि भारत के राजनीतिक विकास में अंग्रेजी शिक्षा महत्वपूर्ण योग दे सकती है। यही कारण था कि अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ करने के बाद लगभग एक दशक तक तिलक अध्यापक का कार्य करते रहे। किन्तु जब वे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, उन्हीं दिनों उन्होने 'जनता के लिए शिक्षा' की एक व्यापक योजना बना ली थी, और इसीलिए शिक्षक होने के साथ-साथ उन्होंने पत्रकार का काम भी प्रारम्भ कर दिया।

डेकन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना में तिलक ने नेतृत्व किया। जकारिया के अनुसार सोसाइटी की स्थापना में रानाडे की प्रेरणा तथा आध्यात्मिक नेतृत्व भी मुख्य तत्व था। 24 अक्टूबर, 1884 को डेकन एजूकेशन सोसाइटी की विधिवत् नींव डाली गयी। 1884 में गोपाल कृष्ण गोखले ने अध्यापक के रूप में पूना न्यू इंगलिश स्कूल में प्रवेश किया और सोसाइटी के सदस्य बन गये। 1885 से वे फर्ग्युसन कॉलिज में भी पढ़ाने लगे। यह स्मरण करके प्रसन्नता होती है कि गोपाल कृष्ण गोखले, जिन्हें गाँधीजी अपना राजनीतिक गुरु मानते थे, तिलक के व्यक्तित्व की मोहिनी के कारण ही व्यक्तिगत त्याग करके शिक्षा-कार्यों की ओर आकृष्ट हुए थे। यह सत्य है कि समय के साथ-साथ गोखले पर आगरकर और रानाडे का, विशेषकर रानाडे का, प्रभाव अधिक गहरा होता गया; फिर भी यह मानना पड़ेगा कि गोखले को सार्वजनिक जीवन की ओर उन्मुख करने का श्रेय बहुत कुछ तिलक को ही था। डेकन एजूकेशन सोसाइटी ने अपने सदस्यों के सामने आत्मत्याग के उच्च आदर्श रखे। 1885 की 2 जनवरी को फर्ग्युसन कॉलिज की स्थापना हुई। पूना न्यू स्कूल के प्रारम्भ से ही तिलक तथा उनके सहकर्मियों का उद्देश्य उदार शिक्षा को स्वदेशी रूप प्रदान करना था। इसके लिए आत्मत्याग के आदर्श का अनुसरण करना और सम्पूर्ण शक्ति को शिक्षा के कार्यों में केन्द्रित करना आवश्यक था। 1890 के अपने प्रसिद्ध त्यागपत्र में तिलक ने अपने शैक्षिक जीवन के तीन कालखण्डों का उल्लेख किया था। 1880 से 1882 तक निर्माण का काल था। 1883 से 1885 तक संगठन का काल था। इन दोनों कालों में सदस्यों ने अपने को सोसाइटी के आदर्शों से आबद्ध रखा। 1885 से 1890 तक, कम से कम तिलक की दृष्टि से, तीसरा काल था। इस काल में विघटन के बीज अंकुरित हुए और इसलिए 1890 के 4 अक्टूबर को तिलक ने अपना त्यागपत्र दे दिया।

तिलक तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी दोनों ही चाहते थे कि विद्यार्थी स्वदेशी आन्दोलन में सम्मिलित हों। भारत सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के उद्देश्य से 6 मई, 1907 को 'रिज़ले सरक्यूलर' नामक एक गश्ती चिट्ठी जारी की। किन्तु सरकार ने दमन का जितना ही अधिक सहारा लिया उतना ही राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन बंगाल और महाराष्ट्र में जोर पकड़ता गया। रासबिहारी घोष, गुरुदास बनर्जी तथा अरविन्द घोष ने बंगाल के नये राष्ट्रवादी शैक्षिक कार्यों में प्रमुख भाग लिया। तिलक की देखरेख और संरक्षण में तालेगांव में श्री समर्थ विद्यालय स्थापित किया गया। महाराष्ट्र विद्या प्रसारक मण्डल ने पश्चिमी भारत के पच्चीस मराठी-भाषी जिलों में चन्दा एकत्र करना आरम्भ कर दिया। डाक्टर देशमुख, तिलक, आर. एस. वैद्य, प्रो. बीजापुरकर, जोशी तथा

अन्य सज्जनों ने चन्दा एकत्र करने के काम में बहुत शक्ति लगायी । समर्थ विद्यालय शिवाजी के गुरु सन्त श्री रामदास समर्थ के नाम पर स्थापित किया गया था; उसने राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा महत्वपूर्ण कार्य किया जिससे अन्य लोगों को काम करने की प्रेरणा और दिशा प्राप्त हुई । 1910 में सरकार ने उसका दमन कर दिया । रॉबर्ट, पॉवेल-प्राइस तथा अन्य अंग्रेज इतिहासकारों ने तिलक की इस बात के लिए आलोचना की है कि उन्होंने विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया । तिलक यह कभी नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी स्कूलों तथा कॉलिजों को छोड़ दें । किन्तु उनका आग्रह था कि चूँकि राष्ट्रीय मुक्ति का पवित्र कार्य प्रारम्भ हो गया है, अतः आवश्यक है कि युवकों के उत्साह को भी मातृभूमि की सेवा में समर्पित कर दिया जाय ।

1908 की 27 फरवरी को शोलापुर में डा. देशमुख की अध्यक्षता में हुई एक सभा में तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा पर भाषण दिया । उन्होंने कहा कि महाराष्ट्र में राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन समर्थ रामदाम ने प्रारम्भ किया था । उन महान आचार्य के बारह सौ शिष्य जनता में शिक्षा का प्रसार करने के लिए महाराष्ट्र में फैल गये । तिलक ने उस समय प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की कटु आलोचना की, क्योंकि उसके अन्तर्गत धार्मिक शिक्षा की पूर्णतः उपेक्षा की गयी थी । "अंग्रेजों की शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत बीस वर्ष तक लड़ने के बाद मनुष्य को धार्मिक शिक्षा के लिए कोई दूसरा द्वार खटखटाना पड़ता है । जो लोग अपने पूरे शिक्षाकाल में मन में यह विचार जमा लेते हैं कि धर्म कोरा आडम्बर है, उनमें कर्तव्य की कोई भावना शेष नहीं रह जाती ।" तिलक ने बार्सी नामक स्थान में भी राष्ट्रीय शिक्षा पर एक भाषण दिया । उन्होंने बतलाया कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का निर्माण करने के लिए चार तत्व अपरिहार्य हैं । चरित्र-निर्माण के लिए धार्मिक शिक्षा को उन्होंने सर्वाधिक महत्व दिया । उन्होंने कहा : "केवल धर्मनिरपेक्ष शिक्षा चरित्र का निर्माण करने के लिए पर्याप्त नहीं है । धार्मिक शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि उच्च सिद्धान्तों और आदर्शों का अध्ययन हमें पाप कर्मों से दूर रखता है । धर्म हमें सर्वशक्तिमान परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराता है । हमारा धर्म बतलाता है कि अपने कर्मों से मनुष्य देवता तक बन सकता है । जब हम अपने कर्मों से देवता बन सकते हैं, तो अपने कर्मों से हम यूरोपवासियों की भाँति बुद्धिमान और क्रियाशील क्यों नहीं बन सकते ? कुछ लोगों का कहना है कि धर्म से झगड़े उत्पन्न होते हैं । किन्तु मैं पूछता हूँ : 'धर्म में झगड़ा करना कहाँ लिखा है ?' यदि संसार में कोई ऐसा धर्म है जो अन्य धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णुता का उपदेश देता है और साथ ही साथ अपने धर्म पर दृढ़ रहना सिखाता है, तो वह केवल हिन्दुओं का धर्म है । इन स्कूलों में हिन्दुओं को हिन्दू धर्म की और मुसलमानों को इस्लाम की शिक्षा दी जायगी । और वहाँ यह भी सिखाया जायगा कि मनुष्य को दूसरे धर्मों के भेदों को भूलना और क्षमा करना चाहिए ।" तिलक ने औद्योगिक शिक्षा देने पर भी जोर दिया । इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा कि शिक्षा संस्थाओं में राजनीतिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए, नहीं तो नागरिकों में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागृति उत्पन्न नहीं होगी । तिलक ने घोषणा की कि यदि आप चाहते हैं कि विद्यार्थी पढ़ाये हुए को आत्मसात कर सकें तो विदेशी भाषा के अध्ययन का बोझ कम करना होगा, नहीं तो वे जो कुछ पढ़ेंगे उसे विना समझे रटते रहेंगे, और वे अर्धशिक्षित दुर्विदग्धों से अधिक कुछ न वन सकेंगे । तिलक ने समर्थ विद्यालय के लिए पाँच लाख रुपया एकत्र करने के हेतु 1908 में महाराष्ट्र का दौरा आरम्भ कर दिया था, और इस कार्य में उन्हें भारी सफलता मिली । 1907-1908 में उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा पर अनेक भाषण दिये । 14 सितम्बर, 1907 को सीताराम केशव दामले ने गायकवाड़ वाड़ा में एक भाषण दिया । तिलक ने उस सभा की अध्यक्षता की और कहा कि महाराष्ट्र के विद्यालयों में दादाभाई नौरोजी और आर. सी. दत्त की पुस्तकें पढ़ायी जानी चाहिए ।

4. तिलक के समाज-सुधार सम्बन्धी सिद्धान्त

(क) सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता—पश्चिम की बुद्धिवादी, वैज्ञानिक और गतिशील सभ्यता तथा भारत की धार्मिक, पुरातनपोषी और परम्परागत संस्कृति के बीच सम्पर्क के कारण समाज-सुधार की समस्या बड़ी महत्वपूर्ण हो गयी थी । भारत में अनेक आन्दोलनों का उदय हुआ जिन्होंने सामाजिक परिवर्तन और रूपान्तर का समर्थन किया । इनमें से ब्रह्म समाज और

प्रार्थना समाज आदि कुछ आन्दोलनों पर पाश्चात्य विचारधाराओं और मूल्यों का प्रभाव पड़ा था, अतः उन्होंने तत्काल समाज-सुधार करने का हृदय से समर्थन किया । आर्य समाज ने भी सामाजिक सुधार का पक्ष लिया, किन्तु उसकी जड़ें वेदों में थीं जिन्हें वह आर्श ब्रह्मवाक्य समझता था । विलियम बैंटिक के सती-विरोधी विधेयक के पीछे राममोहन का मुख्य हाथ था । प्रार्थना समाज के नेताओं ने स्वीकृति आयु विधेयक को पारित करने में ब्रिटिश सरकार का साथ दिया । आर्य समाज के नेताओं ने सरकार से विवाह सम्बन्धी अनेक विधेयक पारित करवाये जैसे शारदा एक्ट, आर्य विवाह विधेयक इत्यादि । अतः स्पष्ट है कि हिन्दुओं के समाज-सुधार आन्दोलन सरकार द्वारा सामाजिक कानून बनाने के विरुद्ध नहीं थे; यही नहीं, वल्कि उन्होंने इस कार्य में सरकार की सहायता भी की । किन्तु, जैसा कि हम आगे लिखेंगे, समाज-सुधार के सम्बन्ध में तिलक का दृष्टिकोण एकदम भिन्न था ।

इतनी ही महत्वपूर्ण एक अन्य समस्या यह थी कि राजनीतिक आन्दोलन और समाज-सुधार के बीच क्या सम्बन्ध हो । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय से यह समस्या महत्वपूर्ण समझी जाने लगी थी । 1885 की कांग्रेस के अध्यक्ष डब्ल्यू. सी. बनर्जी के अनुसार कांग्रेस का एक उद्देश्य "वर्तमान समय के अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण और तात्कालिक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित वर्गों के विचारों की पूर्ण विवेचना करके उन विचारों का अधिकृत लेखा तैयार करना" भी था । किन्तु कलकत्ता में कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने स्पष्ट घोषणा की : "राष्ट्रीय कांग्रेस को चाहिए कि वह अपने को केवल उन्हीं प्रश्नों तक सीमित रखे जिनमें सम्पूर्ण राष्ट्र प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित हो सके; समाज-सुधार की समस्याओं तथा अन्य वर्गगत प्रश्नों को वर्ग सम्मेलनों के लिए छोड़ देना चाहिए ।" तिलक भी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को एक साथ मिलाने के विरुद्ध थे । उनका कहना था कि राजनीतिक प्रगति तात्कालिक आवश्यकता की चीज है; सामाजिक प्रश्नों पर धीरे-धीरे विचार किया जा सकता है, और सामाजिक सुधार शनैः-शनैः लाये जा सकते हैं ।

तिलक ने 'केसरी' में अनेक लेख लिखकर अपने समाज-सुधार सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । वे सिद्धान्ततः समाज-सुधार के विरुद्ध नहीं थे, किन्तु वे तात्कालिक तथा अविकल सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम के कट्टर शत्रु थे । उनका विचार था कि सामाजिक परिवर्तन उसी प्रकार धीरे-धीरे और स्वतः आ जायंगे जैसे किसी अवयवी में आ जाते हैं, और प्रगतिशील शिक्षा तथा बढ़ती हुई जागृति ही इस प्रकार के परिवर्तनों का मुख्य साधन होनी चाहिए । जो सुधार ऊपर से थोपे जाते हैं और दण्ड के भय पर आधारित होते हैं वे यांत्रिक होते हैं और उनसे समाज के जीवन की विद्यमान व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का डर रहता है । समाज विकासशील अवयवी के सदृश है; समाज-सुधार के प्रश्नों को लेकर गुट और वर्ग उत्पन्न करके उसकी एकता और सुदृढ़ता को भंग करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है । तिलक का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन में एक नया उभार उत्पन्न करना था, इसलिए वे जनता के समक्ष परस्पर-विरोधी सामाजिक दर्शनों को प्रस्तुत करके उसके मन में भ्रम पैदा करने के विरुद्ध थे । वे सामाजिक जीवन में फूट डालने और विघटनकारी प्रभावों को प्रोत्साहन देने के पक्ष में नहीं थे । उनका विचार था कि प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे किये जाने चाहिए; और उन लोगों की प्रेरणा से तथा उनके नेतृत्व में किये जायँ जिनके मन में हिन्दू आदर्शों के प्रति श्रद्धा हो । जिन्हें आध्यात्मिक तत्व की प्राथमिकता में विश्वास नहीं है और जो एक प्रकार से वहिष्कृत बुद्धिजीवी हैं उन्हें जनता पर अपनी समाज-सुधार सम्बन्धी अधकचरी धारणाओं को लादने का नैतिक अधिकार नहीं है । उनकी इन धारणाओं का भारतीय जीवन और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है । वस्तुत वे उनके पाश्चात्य सामाजिक इतिहास के अधूरे ज्ञान पर आधारित हैं । तिलक चाहते थे कि सामाजिक जीवन में परिवर्तन धीरे-धीरे और शान्तिमय तरीकों से हो । वे यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि पश्चिम के सामाजिक जीवन और संस्थाओं का अन्धानुकरण करके देश का उद्धार हो सकता है । वे प्रगति चाहते थे, किन्तु साथ ही साथ जिसे हेगेल ने 'लोक-भावना' कहा है उसके महत्व को भी भलीभांति समझते थे । और इसलिए वे हिन्दू समाज के इतिहास और विकास की पूर्ण अवहेलना करके जल्दी में बनाये गये सामाजिक कानूनों के अन्धकार में कूदने के विरुद्ध थे ।

तिलक सुधारकों की इस चिल्लपों के झाँसे में नहीं आये कि समाज-सुधार राजनीतिक प्रगति की पूर्व शर्त है। सुधारकों का आग्रह था कि राजनीतिक उन्नति के ठोस लाभ को उपलब्ध करने के लिए आवश्यक है कि उससे पहले हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में सुधार कर लिया जाय। तिलक ने इस प्रस्थापना का विरोध किया कि अंग्रेज शासकों से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले समाज का सुधार कर लेना आवश्यक है। उन्होंने उस समय के आयरलैण्ड का उल्लेख किया। आयरलैण्डवासियों ने समाज-सुधार की उन सभी योजनाओं को लगभग पूरा कर लिया था जिनका भारतीय सुधारक समर्थन कर रहे थे, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से उनका देश अब भी अधोगति की अवस्था में पड़ा हुआ था। 1898-99 में तिलक ने लंका और ब्रह्मा की यात्रा की। उन्होंने देखा कि उन देशों में भारत से कहीं अधिक सामाजिक स्वतन्त्रता है, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में वे फिर भी पिछड़े हुए थे। इन उदाहरणों के द्वारा तिलक ने इस तर्क का नितान्त खोखलापन सिद्ध कर दिया कि समाज-सुधार राजनीतिक प्रगति और मुक्ति की अपरिहार्य पूर्व शर्त है। वे इस विश्वास पर सदैव गम्भीरता और दृढ़ता से डटे रहे कि राजनीतिक अधिकार प्राथमिक तथा निरपेक्ष महत्व की वस्तु है, और अधिकाधिक राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करना भारत की सर्वोच्च आवश्यकता है। सामाजिक समस्याओं को उसके बाद सुलझाया जा सकता है। अपने जीवन के परवर्ती काल में तिलक देश की समस्याओं से सम्बन्धित व्यक्तियों के बीच श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का पोषण करने लगे थे। उन्होंने कहा कि मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति राजनीतिक अधिकारों के प्रश्न को हल करने में जुटा रहा हूँ, कुछ अन्य लोगों को चाहिए कि वे दलित वर्गों के सामाजिक उद्धार के कार्य को अपने हाथों में ले लें। इस सब पर विचार करते हुए यह कहना गलत होगा कि तिलक सामाजिक सुधार के विरुद्ध थे और पुराने पन्थों और मतवादों के अनुदार समर्थक थे।[6] अपने लेखों और भाषणों में उन्होंने बार-बार इस बात को स्पष्ट किया है कि वे समाज-सुधार के विरुद्ध नहीं थे। तिलक ने राजनीतिक मुक्ति को राष्ट्र की सर्वोच्च आवश्यकता बतलाकर इस बात का प्रमाण दे दिया कि उनमें राष्ट्र की शक्ति का निर्माण करने की दूरदर्शिता थी। सुधारकों और आदर्शवादियों की सुधार-योजनाएँ कितनी ही आकर्षक क्यों न होतीं, समाज में फूट डालने से राष्ट्र की एकता के भंग होने का भारी डर था। राष्ट्र का जीवन एक अविच्छिन्न ऐतिहासिक और मानसिक प्रवाह है। तिलक का कहना था कि इस प्रवाह को छिन्न-भिन्न करना उचित नहीं है, इस समय आवश्यक है कि इसको और अधिक सुदृढ़ बनाया जाय। वे राष्ट्र के जीवन को उत्तेजित करके ऐसी दिशा में मोड़ना चाहते थे जिससे अन्त में राजनीतिक आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की विजय हो सके। अतः यह समझना भूल है कि तिलक की राजनीतिक आचार-संहिता एक जनोत्तेजक नेता की आचार-संहिता थी, और इस लिए उन्होंने चतुराई के साथ उसके अन्तर्गत राजनीतिक अतिवाद और सामाजिक प्रतिक्रियावाद दोनों के समन्वय की छूट दे रखी थी। इस मत को लोकप्रिय बनाने वाला तिलक का महान शत्रु सर वेलेंटाइन शिरोल था। उसकी पुस्तक 'द इण्डियन अनरेस्ट' (भारतीय अशान्ति) के प्रकाशन के समय से इस मत को भारतीय राष्ट्रवाद के उन अनेक विद्वानों ने दुहराया है जिनमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। यदि हम पाश्चात्य देशों के राष्ट्रवाद के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें पता लगेगा कि राष्ट्रवाद का निर्माण संवेगरहित यान्त्रिक बुद्धि के आधार पर नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके लिए संवेगात्मक एकता की आवश्यकता होती है। और यह एकता तभी सम्भव हो सकती है जब कि लोग ऐतिहासिक विपदाओं, तथा विजयों और पराजयों की सामूहिक स्मृति के सूत्रों से परस्पर आबद्ध हों। इसलिए समाज की विशिष्ट सांस्कृतिक भावना और मूल्यों का राष्ट्र-वाद के आधार का निर्माण करने में महत्वपूर्ण योग होता है। रेनन ने भी राष्ट्र को एक प्रत्यय अथवा धारणा माना है। राष्ट्र के प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होने के दौरान उसकी सांस्कृतिक अविच्छिन्नता को कायम रखना आवश्यक है। तिलक हिन्दू संस्कृति की प्रमुख नैतिक तथा आध्या-

---

6 एम. एन. राय ने अपनी पुस्तक *India in Transition* में पृष्ठ 186 पर जो निम्नलिखित मत व्यक्त किया है वह निराधार प्रतीत होता है : "जब तिलक ने घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद शुद्ध ऐहिक नहीं हो सकता और उनका आधार सनातन हिन्दू धर्म होना चाहिए तो 'अखण्ड राष्ट्रवाद' को प्रोत्साहन देने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियों का भण्डाफोड़ हो गया।"

त्मिक मान्यताओं का परिरक्षण करना चाहते थे। किन्तु साथ ही साथ उनका यह भी विश्वास था कि राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त किये बिना सांस्कृतिक स्वायत्तता को कायम नहीं रखा जा सकता। इसीलिए हिन्दू दर्शन के शाश्वत मूल्यों के समर्थक तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के महारथी बन गये। वे राजनीतिक अधिकार चाहते थे क्योंकि वे समझते थे कि उनको प्राप्त करके ही राष्ट्र के बहुमुखी कार्यकलाप के विकास के लिए समुचित वातावरण का निर्माण किया जा सकता था।[7] इसी बीच वे यह भी चाहते थे कि उपदेश और उदाहरण के द्वारा राष्ट्र की चेतना को सामाजिक परिवर्तन अंगीकार करने के लिए तैयार किया जाय।

समाज-सुधार के प्रति तिलक के रवैये में एक महत्वपूर्ण तत्व यह था कि वे सामाजिक एवं धार्मिक विषयों में नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि जब कोई सामाजिक कानून बनाया जायगा तो उसे लागू करना पड़ेगा और उसको भंग करने के सम्बन्ध में उठने वाले विवादों का निर्णय करने की आवश्यकता होगी। इससे ब्रिटिश शासकों और न्यायाधीशों की शक्ति का प्रसार होगा। तिलक नौकरशाही की शक्ति के क्षेत्र का विस्तार करने के विरुद्ध थे। वे इस पक्ष में नहीं थे कि नौकरशाही का उस क्षेत्र में आक्रमण और हस्तक्षेप हो जो उस समय तक स्वायत्त तथा हस्तक्षेप से मुक्त रहता चला आया था। उनका कहना था कि एक भिन्न सभ्यता के मूल्यों को मानने वाले विदेशी शासकों को सामाजिक विषयों में कानून बनाने और न्याय करने का अधिकार नहीं देना चाहिए, क्योंकि ये विषय समस्त हिन्दू जनता की भावनाओं और संवेगों से ओतप्रोत हैं। विदेशी नौकरशाही की तथाकथित सर्वज्ञता में विश्वास करना और उसे कूटस्थ होकर भारत की सामाजिक स्थिति का सिंहावलोकन करने का अवसर देना बुद्धिमानी नहीं है। तिलक को यह अपमानजनक मालूम पड़ता था कि हिन्दू लोग नौकरशाही के समक्ष जाकर उससे सामाजिक कानून बनाने की याचना करें और इस प्रकार दूसरों को दिखायें कि हिन्दू इतने पतित हो गये हैं कि वे अपनी सामाजिक समस्याओं को भी नहीं सुलझा सकते।[8] तिलक का कहना था कि इस प्रकार की याचक-वृत्ति से स्वराज की नैतिक तथा बौद्धिक नींव कमजोर होगी। बल्कि उनका विश्वास था कि भारतवासियों में राजनीतिक योग्यता है, और अतीत में उन्होंने महान संगठनात्मक तथा प्रशासकीय सफलताएँ प्राप्त की थीं। इसलिए समाज-सुधार को ऊपर से लादने का कोई औचित्य नहीं है। यदि देश स्वतन्त्र होता और सरकार जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की होती तो तिलक का दृष्टिकोण दूसरा होता। अतः तिलक ने नौकरशाही द्वारा सामाजिक कानून बनाये जाने का जो उग्र विरोध किया उसके मूल में गहरी देशभक्ति की भावना ही थी। यह कहना नितान्त असत्य है कि वे एक जनोत्तेजक नेता की भाँति अपना नेतृत्व दृढ़ करना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने हिन्दू जनता को भड़काने के लिए उसके देवी-देवताओं, मतवादों, धार्मिक भावनाओं और सामाजिक पूर्वाग्रहों का समर्थन किया।

यह सत्य है कि तिलक को समाज-सुधारकों का रवैया पसन्द नहीं था। सुधारकों ने पाश्चात्य शिक्षा पायी थी, इसलिए वे हिन्दू समाज में पाश्चात्य सामाजिक विचारों को प्रविष्ट करना चाहते थे। हिन्दुओं की धर्मसंहिताओं और शास्त्रों का वे मखौल उड़ाया करते थे। दार्शनिक दृष्टि से तिलक का भी विश्वास था कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ धर्मशास्त्रों की व्याख्या में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है। यही नहीं, वे यह भी जानते थे कि आवश्यकता पड़ने पर नये सामाजिक कानून भी बनाने पड़ेंगे। किन्तु, उनका कहना था कि जब तक बहुसंख्यक जनता धर्मशास्त्रों के उपदेशों को मानती हैं तब तक उसके विचारों और धारणाओं का उपहास करना अनुचित है। भारतीय इतिहास की विशेषता यह है कि समाज-सुधारक सन्त भी थे। नानक और कबीर आध्यात्मिक व्यक्ति थे।

---

7 एम. एन. राय ने तिलक के राजनीति दर्शन की मार्क्सवादी व्याख्या की है : "तिलक ने कांग्रेस की 'क्रमशः' नीति का शक्तिपूर्वक विरोध किया और अपना अखण्ड राष्ट्रवाद का सिद्धान्त देश के समक्ष रखा। उनके सिद्धान्त का अभिप्राय था कि भारतीय जनता का राष्ट्रत्व एक ऐसा तथ्य है जिसे इतिहास पहले से ही पूर्ण कर चुका है, और उसका आत्मनिर्णय का अधिकार किसी प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक विकास की पूर्व शर्त पर अवलम्बित नहीं है। तिलक ने पुराने नेताओं को जो यह चुनौती दी उसी के कारण निम्न मध्य वर्ग के असन्तुष्ट युवक उनके चतुर्दिक एकत्र हो गये।"

8 1955 में पूना में श्री अणे के साथ हुए वार्तालाप पर आधारित।

किन्तु आधुनिक स्वकथित सुधारक अधिक से अधिक बुद्धिवादी ही थे और उनमें से कुछ को तो नौकरशाही का कृपापात्र बनने और उसके अनुग्रह की छाया में फलने-फूलने में भी संकोच नहीं था। ऐसे लोगों को हिन्दुओं की उन सामाजिक संहिताओं के सम्बन्ध में निर्णय देने का नैतिक अधिकार नहीं था जिनका हिन्दुओं की दृष्टि से धर्म से सम्बन्ध था। समाज-सुधार के सम्बन्ध में इन सुधारकों की धारणाएँ धर्मनिरपेक्ष थीं और पाश्चात्य जीवन-प्रणाली पर आधारित थीं। सामाजिक क्षेत्र में इनका दृष्टिकोण विध्यात्मक था, इसलिए सामाजिक तथा नैतिक मामलों में उन्हें राजनीतिक सत्ता के निर्णय में विश्वास था। इसके विपरीत तिलक पुरातनपोषी तथा इतिहासवादी थे, इसलिए उनका विश्वास था कि सामाजिक चेतना का विकास धीरे-धीरे हुआ करता है। वे सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता को स्वीकार करते थे, किन्तु उनकी धारणा थी कि ऐसे परिवर्तन उन उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक चरित्र के लोगों के नेतृत्व में किये जाने चाहिए जो हिन्दू जीवन-प्रणाली के मूर्त रूप हों, ऐसे बुद्धिवादियों को परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है जो समाचारपत्रों द्वारा वर्तमान समाज के विरुद्ध विष उगला करते हैं, अतः स्पष्ट है कि समाज-सुधार के सम्बन्ध में तिलक का दृष्टिकोण उनके व्यापक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दर्शन पर आधारित था।

(ख) **तिलक तथा आगरकर**—आगरकर युक्तिवादी थे। वे समाज-सुधार के उग्र तथा उत्साही समर्थक थे। एक बार 'सुधारक' में उन्होंने अपने सामाजिक दर्शन की व्याख्या इस प्रकार की थी : "हमें नयी प्रथाएँ तथा प्रयोग आरम्भ करने का उतना ही अधिकार है जितना प्राचीन ऋषियों को था ; हम पर ईश्वर का उतना ही अनुग्रह है जितना प्राचीन आचार्यों पर था; हममें सम्यक् और असम्यक् के बीच भेद करने की यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतनी ही योग्यता अवश्य है जितनी उनमें थी, दलित वर्गों की दशा देखकर हमारे हृदय उनसे भी अधिक करुणा से द्रवित हो उठते हैं; विश्व के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उनसे कम नहीं, अधिक है; इसलिए हम उनके द्वारा निहित उन्हीं नियमों का पालन करेंगे जिन्हें हम अपने लिए कल्याणकारी समझते हैं; और जो हमारी समझ में हानिकारक हैं उनके स्थान पर हम दूसरे नियमों की स्थापना करेंगे। इसी मार्ग पर चलकर हमें सुधार का काम करना चाहिए। एक ऋषि के मत को दूसरे के विरुद्ध उद्धृत करने और सबके बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न व्यर्थ है।" आगरकर सामाजिक जागरण के समर्थक थे, इसलिए उन्होंने प्रगतिशील और उदार सामाजिक विधान का पक्षपोषण किया। उनके सामाजिक सिद्धान्त प्रगतिशील थे, और राजा राममोहन राय की भाँति उनके मन में भी तत्कालीन हिन्दू समाज की सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन करने की उत्कट आकांक्षा थी। वे बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह के विरुद्ध थे। उनका राजनीतिक सिद्धान्त था कि राज्य को सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए सक्रिय प्रयत्न करना चाहिए। उनका दृष्टिकोण प्लेटो के उन विचारों से मिलता-जुलता है जिनका निरूपण उसने 'रिपब्लिक' (लोकतंत्र) तथा 'लॉज' (कानून) में किया है। प्लेटो चाहता था कि राज्य को विवाह तथा तद्विषयक समस्याओं के सम्बन्ध में कानून बनाने चाहिए। आगरकर की दृष्टि में तात्विक समस्या सामाजिक कुप्रथाओं के उन्मूलन की थी, अतः उन्हें विदेशी राज्य के द्वारा सामाजिक तथा वैवाहिक जीवन के नियमन के लिए कानून बनाये जाने में कोई हानि नहीं दिखायी देती थी। 'केसरी' किसी एक व्यक्ति का पत्र नहीं था। इसलिए यद्यपि आगरकर ने 1887 तक 'केसरी' का कार्यभार सँभाला, फिर भी वे उसे अपने सुधारवादी सामाजिक विचारों के प्रचार का साधन न बना सके। अतः एक प्रकार का समझौता कर लिया गया। निश्चय किया गया कि यदि आगरकर उग्र सामाजिक सुधारों के समर्थन में कोई लेख लिखें तो वे उसे एक पृथक स्तम्भ में अपने हस्ताक्षर सहित प्रकाशित करें अथवा उसे सामान्य शीर्षक 'सम्प्राप्त लेख' के अन्तर्गत छाप दें। किन्तु जैसा कि कालान्तर में सिद्ध होगया, यह समझौता अधिक समय तक चल न सका।

तिलक पुरातनपोषी मण्डली के सदस्य थे। वे समाज-सुधार के पूर्ण विरोधी नहीं थे, किन्तु जिस ढंग से सामाजिक सुधारों का समर्थन किया जा रहा था उसका उन्होंने विरोध किया। उन्हें शास्त्रों में विश्वास था, और वे स्वीकार करते थे कि धर्मशास्त्र उन महापुरुषों की कृति हैं जो विवेक और समत्व बुद्धि से युक्त थे। इसलिए वे नहीं चाहते थे कि शास्त्रों के साथ मनमाना और धींगा-मुश्ती का व्यवहार किया जाय। किन्तु साथ ही साथ वे यह भी मानते थे कि देश-काल के अनुसार शास्त्रों

में परिवर्तन और संशोधन भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्वेतकेतु का उदाहरण उल्लेखनीय है। श्वेतकेतु ने विवाह की प्रथा प्रारम्भ की थी। तिलक नहीं चाहते थे कि विदेशी भृत्यतंत्रीय राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था अधीन जनता के सामाजिक तथा धार्मिक मामलों में किन्हीं नवीन प्रथाओं और परिपाटियों का समारम्भ करे। यदि वे हॉब्स के उस राजनीतिक सिद्धान्त से परिचित होते जो धर्मसंघ पर राज्य के नियंत्रण का समर्थन करता है तो वे अवश्य ही उसका खण्डन करते। तिलक का कहना था कि समाज-सुधार की सही पद्धति यह नहीं है कि वह विदेशियों द्वाराऊपर से लादा जाय; सही तरीका यह है कि जनता को धीरे-धीरे प्रबुद्ध किया जाय जिससे उससे सुधारोंको अंगीकार करने की सामाजिक चेतना का विकास हो सके। तिलक और आगरकर के बीच कॉलिज के दिनों से ही एक सूक्ष्म विवाद चलता आया था। विषय यह था कि समाज-सुधार तथा राजनीतिक मुक्ति, इन दोनों में से प्राथमिकता किसको दी जाय। आगरकर चाहते थे कि जनता में तत्काल सामाजिक जागृति उत्पन्न की जाय। उनका कहना था कि यदि सामाजिक जीवन में बुद्धि-तत्व का समावेश हो जाय तो फिर राजनीतिक समस्याएँ उतनी उलझन नही पैदा करेंगी। इसके विपरीत तिलक का दृढ़ विश्वास था कि देश की आधारभूत आवश्यकता विदेशी नौकरशाही के दबाव का उन्मूलन करना है, और यदि यह सम्भव न हो सके तो उस दबाव को कम तो अवश्य ही करना होगा। एक बार भारत की आत्मा के स्वतन्त्र हो जाने पर देश के विधायक स्वतंत्र आलोचना के वातावरण में सामाजिक परिवर्तन की समस्याओं के विषय में समुचित निर्णय कर लेंगे। इसलिए तिलक को इसमें कोई औचित्य नहीं दिखायी देता था कि एक भिन्न सभ्यता और संस्कृति के लोगों को हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए आमंत्रित किया जाय। किन्तु तिलक और आगरकर में से कोई भी समझौते के लिए तैयार नहीं था। दोनों ही ओजस्वी व्यक्ति थे, अत: उनकी मानसिक रचना को देखते हुए उनके बीच सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य था।

तिलक तथा आगरकर का उक्त मतभेद समय के साथ-साथ अधिक गम्भीर होता गया। 'केसरी' से सम्बद्ध अनेक सदस्य आगरकर के उग्र सामाजिक दर्शन से सहमत न हो सके। फलस्वरूप तिलक तथा आगरकर के बीच खाई अधिक चौड़ी होती गयी। कुछ तात्कालिक घटनाओं ने मतभेद को और तीव्र कर दिया; उदाहरण के लिए, रखमाबाई का मामला। उन दिनों 'केसरी' में प्रकाशित लेखों में हमें तिलक तथा रानाडे के नेतृत्व में काम करने वाली सामाजिक सुधारकों की मण्डली के बीच बढ़ती हुई शत्रुता का परिचय मिलता है। 1885 की 9 जून को 'केसरी' में रानाडे के विरुद्ध एक अत्यन्त कटु और व्यंग्यपूर्ण लेख छपा। अन्त में, मतभेद बढ़ने के कारण आगरकर ने अक्टूबर 1887 में 'केसरी' से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। उस समय, तिलक से वासुदेवराव केलकर और एच. एन. गोखले 'केसरी' और 'मराठा' के स्वामी बन गये। 1887 से तिलक को 'केसरी' का सम्पादक घोषित कर दिया गया। 'केसरी' से सम्बन्ध तोड़ने के पश्चात आगरकर ने अक्टूबर 1888 में 'सुधारक' नाम का अपना अलग पत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया। यह पत्र अँग्रेजी तथा मराठी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होता था। गोपाल कृष्ण गोखले कुछ समय तक उसके अंग्रेजी खण्ड के सम्पादक रहे थे। गोखले तथा आगरकर ने पत्र के प्रकाशन के प्रथम वर्ष में केवल चार रुपया प्रतिमास पारिश्रमिक स्वीकार करके राजनीति तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में त्याग का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया। 'सुधारक' के प्रारम्भ होने के समय से 'केसरी' तथा 'सुधारक' दोनों के बीच आलोचना तथा तूतू-मैंमैं का युग आरम्भ हुआ। एक बार 'सुधारक' ने तिलक पर प्रच्छन्न प्रहार किया। उसने उन नेताओं की भर्त्सना की जो अपना नेतृत्व कायम करने के उद्देश्य से जनता के दोषों का उद्घाटन करने से डरते थे। 'सुधारक' ने कहा कि ऐसे नेता जनता को बौद्धिक विनाश की ओर ले जाते हैं। फीमेल हाई स्कूल, पूना के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में मतभेद 'केसरी' और 'सुधारक' के बीच विवाद का एक प्रसिद्ध कारण था। तिलक का विचार था कि लड़कियों को शिक्षा तो दी जानी चाहिए, किन्तु वे उन्हें पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगने के विरुद्ध थे।

(ग) **1891 का सम्मति आयु अधिनियम**—19 जनवरी, 1891 को कलकत्ता में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में 'सम्मति आयु विधेयक' विधिवत प्रस्तुत किया गया। विधेयक के सम्बन्ध में कहा गया था कि उसका उद्देश्य स्वीकृति की आयु बढ़ाकर दस से बारह कर देना है।

अतः स्पष्ट था कि सरकार ने मालबारी की समाज-सुधार योजना की केवल पहली बात को विचारार्थ लिया था। रमेशचन्द्र मित्तर ने विधेयक का डटकर विरोध किया। किन्तु वाइसराय लार्ड लैंसडाउन ने स्पष्ट किया कि प्रस्तावित विधेयक रानी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा के विरुद्ध नहीं है। 20 जनवरी को 'केसरी' में एक लेख प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया कि प्रस्तावित विधेयक से हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाज में अवश्य ही हस्तक्षेप होगा। और इसी आधार पर जनता को विधेयक का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। लगभग तीन महीने तक 'केसरी' विधेयक के विरुद्ध टिप्पणियाँ और लेख छापता रहा। यद्यपि तिलक के विरोध के बावजूद विधेयक पारित हो गया, किन्तु वे उसके बाद भी उसका विरोध करते रहे। मई 1891 में गोविन्द राव लिमये के सभापतित्व में पूना में चौथा बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में तिलक ने कहा कि लोकमत विधेयक के विरुद्ध है। तिलक के रवैये का कुछ विरोध भी हुआ, फिर भी प्रान्तीय सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया कि सरकार ने लोकमत की ओर यथोचित ध्यान न देकर भारी भूल की है। तिलक को इस प्रस्ताव के पारित होने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने ब्रिटिश पार्लमिंट में कुछ कार्यवाही करने का भी विचार किया। उनकी इच्छा थी कि एक विधेयक पार्लमिंट में प्रस्तुत किया जाय। किन्तु उच्चतर राजनीतिक सत्ता से अपील करके भारत सरकार के कार्य को रद्द करवाना सम्भव न हो सका। यद्यपि तिलक को विधेयक को रद्द करवाने में सफलता नहीं मिली, फिर भी वे सरकार तथा समाज-सुधारकों की मण्डली का विरोध करने वालों के नेता बन गये।

किन्तु तिलक को केवल परम्परावाद का महान् समर्थक समझना उचित नहीं है। दिसम्बर 1890 में कलकत्ता के चतुर्थ सामाजिक सम्मेलन में आर. एन. मुधोलकर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें बाल-विवाह का खण्डन और वयस्क विवाह का समर्थन किया गया। तिलक ने प्रस्ताव का समर्थन किया, किन्तु संस्कृत के विद्वान होने के नाते उन्होंने आग्रह किया कि प्रस्ताव में शास्त्रों का जो गलत हवाला दिया गया है उसे निकाल दिया जाय। 1891 में नागपुर में जी. एस. खापर्डे के सभापतित्व में हुए पाँचवें सामाजिक सम्मेलन में भी तिलक सम्मिलित हुए। उसमें विधवा-विवाह के समर्थन में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और जनता से अपील की गयी कि वह इस विषय में सरकार की सहायता करे। तिलक ने एक संशोधन प्रस्तुत किया कि विधवा-विवाह आन्दोलन के समर्थक केवल विवाह-समारोह में सम्मिलित होकर ही सन्तोष न कर लें, बल्कि उन्हें अपनी सत्यनिष्ठा दिखाने के लिए वैवाहिक भोजों में भी भाग लेना चाहिए। किन्तु सुधारकों के लिए यह कठिन परीक्षा थी, इसलिए उसमें से बच निकलने के लिए उन्होंने प्रस्ताव में 'आन्दोलन की सहायता के लिए' 'यथासम्भव' शब्द और जुड़वा दिये। नागपुर सामाजिक सम्मेलन की विषय समिति की बैठक में तिलक की उपस्थिति तीव्र विवाद का कारण बन गयी। तिलक ने अनेक नुकीले प्रश्न पूछकर रानाडे को यह स्वीकार करने पर विवश किया कि विषय समिति की रचना में कुछ अनियमितताएँ हुई हैं। तिलक साहसी व्यक्ति थे, इसलिए जब सुधारकों ने देखा कि वे भण्डाफोड़ करने वाले प्रश्न पूछ रहे हैं तो उन्होंने तिलक को सम्मेलन से निकाल देने की भी धमकी दी। समाज-सुधार के सम्बन्ध में तिलक के रवैये को स्पष्ट करने के लिए यहाँ आगे की दो घटनाओं का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। 1914 में शास्त्री ने मद्रास विधान परिषद में विवाह की आयु को बढ़ाने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया। तिलक ने 'केसरी' में उसकी कटु आलोचना छापी। 1918 में विट्ठल भाई पटेल ने इम्पीरियल कौंसिल में हिन्दू विवाह विधेयक प्रस्तुत किया। तिलक ने इस विधेयक का भी विरोध किया किन्तु उन्होंने 'मराठा' को एक पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि मैं सामाजिक तथा धार्मिक आधार पर विधेयक का विरोध नहीं कर रहा हूँ। मैं इसके विरुद्ध इसलिए हूँ कि इससे उत्तराधिकार के आर्थिक कानून में हस्तक्षेप होगा।

(घ) तिलक तथा चाय पार्टी की घटना—4 अक्टूबर, 1890 का दिन पूना के सामाजिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण दिन बन गया, क्योंकि उस दिन तिलक, रानाडे तथा गोखले समेत बयालीस व्यक्तियों ने एक ईसाई मिशनरी के घर पर चाय पी ली। परम्परावादी लोगों की दृष्टि में यह एक भयंकर सामाजिक अपराध था, अतः इस विषय को लेकर शंकराचार्य के धार्मिक न्यायालय में एक

मुकद्दमा भी दायर कर दिया गया। सरदार नाटू कट्टर हिन्दू परम्परावाद का समर्थक बनता था, इसलिए उसने तिलक तथा रानाडे के विरुद्ध इस मुकद्दमे में पहल की। तिलक को हिन्दुओं की वैधानिक तथा धार्मिक संहिताओं का गहन ज्ञान था, उसने इस अवसर पर उनकी बड़ी सहायता की। उन्होंने कहा कि ऐसे अवसरों के लिए शास्त्रों में प्रायश्चित का विधान है। प्रायश्चित करके लोग शुद्ध हो सकते हैं। तिलक शंकराचार्य के निर्णय को स्वीकार करने के लिए भी तैयार थे। किन्तु शंकराचार्य के सहायकों ने जो निर्णय दिया वह सभी प्रतिवादियों को मान्य नहीं था। तब दुबारा निर्णय दिया गया। किन्तु इस बार शंकराचार्य के सहायक एकमत नहीं थे। पच हाउड मिशन चाय पार्टी का विवाद और शंकराचार्य के न्यायालय में चलाया गया मुकद्दमा तिलक की समझौते की भावना के द्योतक हैं। वे न तो कट्टर परम्परावादियों के आदेशों के सामने झुकने वाले थे, और न विद्यमान सामाजिक परिपाटियों का परित्याग करने के पक्ष में थे। समझौते का अर्थ दुर्बलता नहीं है; वास्तव में समझौते की भावना ही दीर्घ काल तक जनता का नेतृत्व करने का रहस्य है। 7 जून, 1892 को तिलक ने 'केसरी' में लिखा : "हमारी राजनीतिक क्षेत्र की कठिनाइयों और सामाजिक क्षेत्र की कठिनाइयों के बीच बहुत कुछ साम्य है; न तो राजनीतिक प्रशासन सन्तोषजनक है और न सामाजिक व्यवस्था। हम दोनों में ही सुधार करना चाहते है। ब्रिटिश प्रशासन तथा भारतीय समाज दोनों की नींव ठोस है; इसलिए हमें सावधानी से आगे बढ़ना है। जब लोग राजनीतिक सुधारों को समझौता और मैत्री की भावना से स्वीकार करने के लिए राजी हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि सामाजिक सुधार के मामले में हम अहंकार और चुनौती की भावना से क्यों काम लें। जब हम पार्लमेंट द्वारा पारित 1892 के कौंसिल एक्ट के सम्बन्ध में समझौता करने को तैयार हैं, तो हम विधवा-विवाह आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में भी वैसा ही क्यों नहीं करते? कट्टरतापूर्वक विरोध करने से हमें यदाकदा सफलता मिल सकती है, किन्तु सामान्यतः राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में कट्टरता आत्मघाती है।" चूँकि तिलक समझौता और क्रमिकवाद के इस सिद्धान्त के अनुयायी थे, इसलिए उनके विरोधियों को उनके समाज-सुधार सम्बन्धी दृष्टिकोण में असंगति दिखायी पड़ती थी। उदाहरण के लिए, तिलक बाल-विवाह के विरुद्ध थे, किन्तु वे नहीं चाहते थे कि उसे बन्द करने के लिए नौकरशाही कानून बनाये। उन्होंने विधवा-विवाह का खण्डन किया, किन्तु वे विधुर-विवाह के भी विरुद्ध थे और चाहते थे कि विधुर लोग अपने को देश की मुक्ति के कार्य के लिए अर्पित कर दें। तिलक के दृष्टिकोण को और उस देश-काल की आवश्यकताओं को जिसमें उन्हें विदेशी नौकरशाही के गढ़ के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा था, देखते हुए हमें मानना पड़ेगा कि उनके विचार इससे भिन्न नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वे सनातनी हिन्दू थे, इसलिए एक नितान्त भिन्न दृष्टिकोण से उनके कार्यों की समीक्षा करना अनुचित होगा।

अतः स्पष्ट था कि सरकार ने मालबारी की समाज-सुधार योजना की केवल पहली बात को विचारार्थ लिया था। रमेशचन्द्र मित्तर ने विधेयक का डटकर विरोध किया। किन्तु वाइसराय लार्ड लैंसडाउन ने स्पष्ट किया कि प्रस्तावित विधेयक रानी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा के विरुद्ध नहीं है। 20 जनवरी को 'केसरी' में एक लेख प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया कि प्रस्तावित विधेयक से हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाज में अवश्य ही हस्तक्षेप होगा। और इसी आधार पर जनता को विधेयक का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। लगभग तीन महीने तक 'केसरी' विधेयक के विरुद्ध टिप्पणियाँ और लेख छापता रहा। यद्यपि तिलक के विरोध के बावजूद विधेयक पारित हो गया, किन्तु वे उसके बाद भी उसका विरोध करते रहे। मई 1891 में गोविन्द राव लिमये के सभापतित्व में पूना में चौथा बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में तिलक ने कहा कि लोकमत विधेयक के विरुद्ध है। तिलक के रवैये का कुछ विरोध भी हुआ, फिर भी प्रान्तीय सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया कि सरकार ने लोकमत की ओर यथोचित ध्यान न देकर भारी भूल की है। तिलक को इस प्रस्ताव के पारित होने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने ब्रिटिश पार्लमेंट में कुछ कार्यवाही करने का भी विचार किया। उनकी इच्छा थी कि एक विधेयक पार्लमेंट में प्रस्तुत किया जाय। किन्तु उच्चतर राजनीतिक सत्ता से अपील करके भारत सरकार के कार्य को रद्द करवाना सम्भव न हो सका। यद्यपि तिलक को विधेयक को रद्द करवाने में सफलता नहीं मिली, फिर भी वे सरकार तथा समाज-सुधारकों की मण्डली का विरोध करने वालों के नेता बन गये।

किन्तु तिलक को केवल परम्परावाद का महान् समर्थक समझना उचित नहीं है। दिसम्बर 1890 में कलकत्ता के चतुर्थ सामाजिक सम्मेलन में आर. एन. मुधोलकर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें बाल-विवाह का खण्डन और वयस्क विवाह का समर्थन किया गया। तिलक ने प्रस्ताव का समर्थन किया, किन्तु संस्कृत के विद्वान होने के नाते उन्होंने आग्रह किया कि प्रस्ताव में शास्त्रों का जो गलत हवाला दिया गया है उसे निकाल दिया जाय। 1891 में नागपुर में जी. एस. खापर्डे के सभापतित्व में हुए पाँचवें सामाजिक सम्मेलन में भी तिलक सम्मिलित हुए। उसमें विधवा-विवाह के समर्थन में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और जनता से अपील की गयी कि वह इस विषय में सरकार की सहायता करे। तिलक ने एक संशोधन प्रस्तुत किया कि विधवा-विवाह आन्दोलन के समर्थक केवल विवाह-समारोह में सम्मिलित होकर ही सन्तोष न कर लें, बल्कि उन्हें अपनी सत्यनिष्ठा दिखाने के लिए वैवाहिक भोजों में भी भाग लेना चाहिए। किन्तु सुधारकों के लिए यह कठिन परीक्षा थी, इसलिए उसमें से बच निकलने के लिए उन्होंने प्रस्ताव में 'आन्दोलन की सहायता के लिए' 'यथासम्भव' शब्द और जुड़वा दिये। नागपुर सामाजिक सम्मेलन की विषय समिति की बैठक में तिलक की उपस्थिति तीव्र विवाद का कारण बन गयी। तिलक ने अनेक नुकीले प्रश्न पूछकर रानाडे को यह स्वीकार करने पर विवश किया कि विषय समिति की रचना में कुछ अनियमितताएँ हुई हैं। तिलक साहसी व्यक्ति थे, इसलिए जब सुधारकों ने देखा कि वे भण्डाफोड़ करने वाले प्रश्न पूछ रहे हैं तो उन्होंने तिलक को सम्मेलन से निकाल देने की भी धमकी दी। समाज-सुधार के सम्बन्ध में तिलक के रवैये को स्पष्ट करने के लिए यहाँ आगे की दो घटनाओं का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। 1914 में शास्त्री ने मद्रास विधान परिषद में विवाह की आयु को बढ़ाने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया। तिलक ने 'केसरी' में उसकी कटु आलोचना छापी। 1918 में विट्ठल भाई पटेल ने इम्पीरियल कौंसिल में हिन्दू विवाह विधेयक प्रस्तुत किया। तिलक ने इस विधेयक का भी विरोध किया किन्तु उन्होंने 'मराठा' को एक पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि मैं सामाजिक तथा धार्मिक आधार पर विधेयक का विरोध नहीं कर रहा हूँ। मैं इसके विरुद्ध इसलिए हूँ कि इससे उत्तराधिकार के आर्थिक कानून में हस्तक्षेप होगा।

(घ) **तिलक तथा चाय पार्टी की घटना**—4 अक्टूबर, 1890 का दिन पूना के सामाजिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण दिन बन गया, क्योंकि उस दिन तिलक, रानाडे तथा गोखले समेत बयालीस व्यक्तियों ने एक ईसाई मिशनरी के घर पर चाय पी ली। परम्परावादी लोगों की दृष्टि में यह एक भयंकर सामाजिक अपराध था, अतः इस विषय को लेकर शंकराचार्य के धार्मिक न्यायालय में एक

मुकद्दमा भी दायर कर दिया गया। सरदार नाटू कट्टर हिन्दू परम्परावाद का समर्थक बनता था, इसलिए उसने तिलक तथा रानाडे के विरुद्ध इस मुकद्दमे में पहल की। तिलक को हिन्दुओं की वैधानिक तथा धार्मिक संहिताओं का गहन ज्ञान था, उसने इस अवसर पर उनकी बड़ी सहायता की। उन्होंने कहा कि ऐसे अवसरों के लिए शास्त्रों में प्रायश्चित का विधान है। प्रायश्चित करके लोग शुद्ध हो सकते हैं। तिलक शंकराचार्य के निर्णय को स्वीकार करने के लिए भी तैयार थे। किन्तु शंकराचार्य के सहायकों ने जो निर्णय दिया वह सभी प्रतिवादियों को मान्य नहीं था। तब दुबारा निर्णय दिया गया। किन्तु इस बार शंकराचार्य के सहायक एकमत नहीं थे। पंच हाउड मिशन चाय पार्टी का विवाद और शंकराचार्य के न्यायालय में चलाया गया मुकद्दमा तिलक की समझौते की भावना के द्योतक हैं। वे न तो कट्टर परम्परावादियों के आदेशों के सामने झुकने वाले थे, और न विद्यमान सामाजिक परिपाटियों का परित्याग करने के पक्ष में थे। समझौते का अर्थ दुर्बलता नहीं है; वास्तव में समझौते की भावना ही दीर्घ काल तक जनता का नेतृत्व करने का रहस्य है। 7 जून, 1892 को तिलक ने 'केसरी' में लिखा : "हमारी राजनीतिक क्षेत्र की कठिनाइयों और सामाजिक क्षेत्र की कठिनाइयों के बीच बहुत कुछ साम्य है; न तो राजनीतिक प्रशासन सन्तोषजनक है और न सामाजिक व्यवस्था। हम दोनों में ही सुधार करना चाहते हैं। ब्रिटिश प्रशासन तथा भारतीय समाज दोनों की नींव ठोस है; इसलिए हमें सावधानी से आगे बढ़ना है। जब लोग राजनीतिक सुधारों को समझौता और मैत्री की भावना से स्वीकार करने के लिए राजी हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि सामाजिक सुधार के मामले में हम अहंकार और चुनौती की भावना से क्यों काम लें। जब हम पार्लमेंट द्वारा पारित 1892 के कौंसिल एक्ट के सम्बन्ध में समझौता करने को तैयार हैं, तो हम विधवा-विवाह आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में भी वैसा ही क्यों नहीं करते? कट्टरतापूर्वक विरोध करने से हमें यदाकदा सफलता मिल सकती है, किन्तु सामान्यतः राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में कट्टरता आत्मघाती है।" चूँकि तिलक समझौता और क्रमिकवाद के इस सिद्धान्त के अनुयायी थे, इसलिए उनके विरोधियों को उनके समाज-सुधार सम्बन्धी दृष्टिकोण में असंगति दिखायी पड़ती थी। उदाहरण के लिए, तिलक बाल-विवाह के विरुद्ध थे, किन्तु वे नहीं चाहते थे कि उसे बन्द करने के लिए नौकरशाही कानून बनाये। उन्होंने विधवा-विवाह का खण्डन किया, किन्तु वे विधुर-विवाह के भी विरुद्ध थे और चाहते थे कि विधुर लोग अपने को देश की मुक्ति के कार्य के लिए अर्पित कर दें। तिलक के दृष्टिकोण को और उस देश-काल की आवश्यकताओं को जिसमें उन्हें विदेशी नौकरशाही के गढ़ के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा था, देखते हुए हमें मानना पड़ेगा कि उनके विचार इससे भिन्न नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वे सनातनी हिन्दू थे, इसलिए एक नितान्त भिन्न दृष्टिकोण से उनके कार्यों की समीक्षा करना तर्क-विरुद्ध होगा।

(ङ) **शारदा सदन विवाद**—रमाबाई ने अमरीका से लौटते ही 1889 में पहले बम्बई में और फिर पूना में एक विधवाश्रम खोला। यह आश्रम अमरीका की वित्तीय सहायता से आरम्भ किया गया था। तिलक को यह विचार पसन्द नहीं था कि मिशनरियों के द्वारा लड़कियों का आश्रम खोला जाय, क्योंकि वे समझते थे कि धर्म-निरपेक्षता का ढोल कितनी ही जोर से क्यों न पीटा जाय, अन्ततोगत्वा इस प्रकार का आश्रम धर्म-परिवर्तन का केन्द्र अवश्य बन जायगा। किन्तु जब पूरा-पूरा आश्वासन दिया गया तो तिलक ने उसके समर्थकों की सूची में अपना नाम लिखवा दिया। 21 दिसम्बर, 1889 के 'इलस्ट्रेटेड क्रिश्चियन वीकली' में एक दुःखद और चिन्ताजनक समाचार छपा। समाचार यह था कि शारदा सदन में रहने वाली सात बाल-विधवाओं में से दो ने स्वतः ईसाई धर्म अंगीकार करने की इच्छा प्रकट की है। यह भी कहा गया कि चार भारतीय लड़कियाँ ईसाइयत का अध्ययन कर रही हैं और कुछ ईसाई प्रार्थना तक में सम्मिलित होती आयी हैं। अप्रत्यक्ष रूप से यह भी इशारा किया गया कि शारदा सदन एक ईसाई संस्था है, क्योंकि उसका व्यय एक अमरीकी ईसाई संगठन देता है। 'केसरी' ने लोगों को सावधान होने की चेतावनी दी। किन्तु रमाबाई ने प्रत्युत्तर में स्पष्टीकरण प्रकाशित करवाकर मामले को टालने का प्रयत्न किया। रानाडे और भण्डारकर शारदा सदन की परामर्श समिति के सदस्य थे। उन्होंने सदन की कार्यवाहियों के विरुद्ध नम्र

ढंग की असहमति प्रकट की, और कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि ईसाई बनाने की प्रक्रिया समाप्त कर दी गयी है। 'केसरी' रमाबाई के इरादों को सदैव ही सन्देह की दृष्टि से देखता आया था, किन्तु रानाडे और भण्डारकर का विचार था कि शिक्षा के लिए ईसाइयों से भी अनुदान लेने में कोई हानि नहीं है, वल्कि अनुदान न लेने का कोई उचित आधार नहीं है। रानाडे तथा भण्डारकर सम्प्रदाय के सुधारवादियों के विरुद्ध 'केसरी' ने बड़े ही कटु शब्दों का प्रयोग किया, और शीघ्र ही सिद्ध हो गया कि 'केसरी' का रवैया सर्वथा उचित था। रमाबाई का तर्क था कि मुझे ईसाइयों से सहायता इसलिए लेनी पड़ रही है कि हिन्दू मेरी शैक्षिक योजनाओं के लिए कोई वित्तीय सहायता देने के लिए राजी नहीं होते। 13 अगस्त, 1893 को दो वर्ष से चले आये इस विवाद का अन्त हो गया। रानाडे तथा भण्डारकर ने शारदा सदन की परामर्श समिति से त्यागपत्र दे दिया।

शारदा सदन विवाद ने निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध कर दिया कि तिलक हिन्दू स्त्रियों को गैर-आध्यात्मिक प्रलोभनों से ईसाई बनाने के विरुद्ध थे। वे शारदा सदन संस्था के विरोधी नहीं थे, शर्त यह थी कि वह अपने को लौकिक विषयों की शिक्षा देने तक सीमित रखे। तिलक 1889 से ही रमाबाई के मिशनरी इरादों के सम्बन्ध में शंकित थे। वे न तो स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध थे और न विधवा-उद्धार के। किन्तु वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि ईसाई लोग कुटिल तरीकों से लोगों को धर्मान्तरित करने का खेल खेलते रहें। 'केसरी' को रमाबाई के धर्म-प्रचार सम्बन्धी उत्साह से सहानुभूति नहीं थी। यही कारण था कि कभी-कभी उसने समाज-सुधारकों पर कटु व्यंग्यात्मक प्रहार किये, क्योंकि उसकी दृष्टि में वे रमाबाई की योजनाओं में सहायता दे रहे थे। किन्तु इस विवाद में तिलक का रवैया वैसा नहीं था जैसा कि किसी परम्परावादी मतान्ध और पुरातनपोषी का होता है। उनकी भावना शुद्ध राष्ट्रीय थी। उनका यह विचार सर्वथा उचित था कि धर्म-परिवर्तन का सम्बन्ध गम्भीर भावनात्मक रूपान्तर से है, इसलिए तुच्छ सांसारिक स्वार्थों के लिए धर्म बदलना सर्वथा अनुचित है। यद्यपि रमाबाई के समर्थकों और विशेषकर उसके ईसाई जीवनी लेखक मैक्नीकौल ने तिलक को एक जनोत्तेजक नेता बतलाया है, किन्तु वास्तव में इस समस्त विवाद से तिलक की राष्ट्रीय भावनाओं का परिचय मिलता है।

तिलक और समाज-सुधारकों के बीच मतभेद 1886 और 1887 से ही चला आया था; शारदा सदन विवाद ने उसे और गहरा कर दिया। तिलक का तर्क था कि जब एक बार यह प्रकट हो गया था कि शारदा सदन के मूल में लोगों को ईसाई बनाने की योजना थी तो रानाडे और भण्डारकर को चाहिए था कि उस संस्था से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते और रमाबाई की योजनाओं का भण्डा-फोड़ करते। समाचारपत्रों के द्वारा जो कटु विवाद चला उसने दोनों गुटों के वैमनस्य को पक्का कर दिया। फिर भी रानाडे और भण्डारकर के त्यागपत्र से दो उद्देश्य पूरे हुए। प्रथम, शारदा सदन के संस्थापक के इरादों के सम्बन्ध में तिलक की जो शंकाएँ थीं उनकी पुष्टि हो गयी। द्वितीय, त्यागपत्र ने निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया कि रानाडे और भण्डारकर अधिक से अधिक समाज-सुधारक थे और उनकी सहिष्णुता व्यापक थी, किन्तु वे हिन्दू-विरोधी नहीं थे। वे हिन्दुओं को ईसाई बनाने की कुचालों को सहन नहीं कर सकते थे।

(च) तिलक का सामाजिक दर्शन—अनेक आलोचकों ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि तिलक सम्प्रदाय के चिन्तन में राजनीतिक अतिवाद और सामाजिक परम्परावाद के बीच गठबन्धन था। वेलेंटाइन शिरोल इस दृष्टिकोण का प्रतिपादक था, और तब से अनेक आलोचक और इतिहासकार इसे दुहराते आये हैं। यह सत्य है कि तिलक पाश्चात्य आधार पर सामाजिक परिवर्तन लाने के विरुद्ध थे। किन्तु वे हर प्रकार के सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध नहीं थे। वे राष्ट्रवादी थे इसलिए उन्होंने राजनीतिक मुक्ति को प्राथमिकता दी। उनका विचार था कि नौकरशाही के विरुद्ध सफल संघर्ष चलाने के लिए आवश्यक है कि जनता की धार्मिक तथा सामाजिक एकता अक्षुण्ण रखी जाय। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्होंने देख लिया था कि समाज-सुधार से सामाजिक विघटन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है, और इस बात को उस समय वे दुर्भाग्यपूर्ण समझते थे। उनका कहना था कि केवल सामाजिक प्रगति राजनीतिक मुक्ति की कसौटी नहीं है। 1899 में उन्होने ब्रह्मा में जो कुछ देखा था उसने उनके दृष्टिकोण की पुष्टि कर दी थी। ब्रह्मा में सामा-

जिक स्वतन्त्रता भारत की अपेक्षा अधिक थी, किन्तु ब्रह्मा की राजनीतिक दशा भारत से अच्छी नहीं थी।

तिलक इसके विरुद्ध थे कि विदेशी नौकरशाही सरकार सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के क्षेत्र में हस्तक्षेप करे। विदेशी राज्य शक्ति के केन्द्रीकरण पर आधारित था और उसकी कार्यप्रणाली यांत्रिक, अस्वाभाविक तथा पराये ढंग की थी। इसलिए तिलक सामाजिक क्षेत्र को, जो अब तक जनता के नियन्त्रण में चला आया था, नौकरशाही के नियन्त्रण में समर्पित करने के लिए तैयार नहीं थे। उनका तर्क था कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में जिन नेताओं तथा साधारण जनों ने भारत में मुसलमानों के राजनीतिक आधिपत्य का विरोध किया था उन्होंने सामाजिक सुधारों के लिए शोर-गुल नहीं मचाया था। इसलिए तिलक ने दो प्रस्तावनाएँ निरुपित कीं। प्रथम, सामाजिक सुधार को प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए। समय की प्रमुख माँग है कि पहले सम्पूर्ण शक्ति राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए केन्द्रित की जाय। राजनीतिक अधिकारों के मिलने के उपरान्त सामाजिक सुधार हो जायगा। दूसरे, जो भी सुधार आवश्यक हों वे धीरे-धीरे और शिक्षा की प्रक्रिया के द्वारा लाये जायँ। इस प्रकार तिलक को समाज की अवयवी प्रकृति में विश्वास था। उन्हें यह बहुत बुरा लगता था कि जिन परिषदों में निर्वाचित भारतीय सदस्यों का बहुमत नहीं था उन्हें देश के सामाजिक भाग्य के निर्णय का काम सौंप दिया जाय।

इतिहास में जब कभी पाण्डित्यवादी धर्मविद्या, कर्मकाण्डी अनुष्ठानों और पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व बढ़ा है तभी सरलता और सुधार की प्रवृत्तियाँ भी प्रकट हुई हैं। हम देखते हैं कि भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, राममोहन और दयानन्द ने सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की सरल प्रणालियों का उपदेश दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में विभिन्न सुधार आन्दोलनों का उदय हुआ। किन्तु सुधार आन्दोलनों में नयी तथा अनोखी चीजों के महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की प्रवृत्ति होती है। इससे पुरानी धार्मिक व्यवस्थाओं में अपने को पुनः प्रतिष्ठित करने की प्रतिगामी प्रवृत्ति का उदय होता है। बंगाल में ब्रह्म समाज आन्दोलन ने अपने सम्बन्ध परम्परागत सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था से तोड़ लिया। इसलिए रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविन्द ने व्यापक सनातनी हिन्दू धर्म के दावों का समर्थन किया। पंजाब में आर्य समाज के वेदवाद और सामाजिक सुधारवाद के विरुद्ध रामतीर्थ ने कृष्णभक्ति का उपदेश दिया और वेदान्त की शिक्षाओं का प्रचार किया। महाराष्ट्र में भी रानाडे, तैलंग और आगरकर जैसे समाज-सुधारकों की यूरोपीयकरण की प्रवृत्तियों के विरुद्ध तिलक ने परम्परागत सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का पक्षपोषण किया।

5. तिलक का राजनीतिक दर्शन

(क) तिलक के राजनीतिक चिन्तन के आधार—यदि राजनीति दर्शन का अर्थ आदर्शवादी समाज का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करना हो, तो इस अर्थ में तिलक ने राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण समाज का कोई चित्र हमारे समक्ष नहीं रखा है। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू और सिसेरो की भाँति सर्वोत्तम राज्य के लक्षणों और सम्भावनाओं का विवेचन नहीं किया है। उन्होंने हेगेल और बोसांक्वे की भाँति प्रत्यात्मक दृष्टि से पूर्ण राज्य की योजना की रचना नहीं की है। भारत की राजनीतिक मुक्ति उनके जीवन की मुख्य समस्या थी, इसलिए उनके विचारों और दृष्टिकोण में महान यथार्थवाद का तत्व देखने को मिलता है। किन्तु वे मैकियावेली और हॉब्स की भाँति के यथार्थवादी नहीं थे। उन्होंने कभी राजनीतिक व्यवहारवाद का समर्थन नहीं किया। वे प्राचीन संस्कृत दर्शन के अच्छे पण्डित थे, इसलिए उनके राजनीतिक चिन्तन में हमें भारतीय दर्शन की कुछ प्रमुख धारणाओं और आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक विचारों का समन्वय देखने को मिलता है।

तिलक के राजनीतिक विचारों पर उनकी प्रमुख तत्वशास्त्रीय मान्यताओं का प्रभाव है। वे वेदान्ती थे। उनके अनुसार वेदान्त के अद्वैतवादी तत्वशास्त्र में प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा निहित है। चूँकि परमात्मा ही परम सत् है और चूँकि सब मनुष्य उसी परमात्मा के अंश हैं, इसलिए उन सबमें वही स्वतन्त्र आध्यात्मिक शक्ति अन्तर्निहित है जो परमात्मा में पायी जाती है। इसलिए तिलक ने अद्वैतवाद से स्वतन्त्रता की धारणा की सर्वोच्चता का सिद्धान्त था।[9] "स्वतन्त्रता ही होम रूल (स्वराज्य) आन्दोलन का प्राण थी। स्वतन्त्रता की ईश्वरीय भावना कभी वार्धक्य को प्राप्त नहीं होती।....स्वतन्त्रता ही व्यक्तिगत आत्मा का जीवन है, और व्यक्तिगत आत्मा ईश्वर से भिन्न नहीं है बल्कि वह स्वयं ईश्वर है। यह स्वतंत्रता एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका कभी विनाश नहीं हो सकता।"[10] इस प्रकार तिलक के अनुसार स्वतन्त्रता एक ईश्वरीय गुण है। और सृजनात्मकता की स्वायत्त शक्ति को ही स्वतन्त्रता कहा जा सकता है। बिना स्वतन्त्रता के किसी भी प्रकार का नैतिक और आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है। विदेशी साम्राज्यवाद राष्ट्र की आत्मा का ही हनन कर देता है, इसीलिए तिलक ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि तिलक ने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए जो संग्राम चलाया उसके आधार दार्शनिक थे।

तिलक के राष्ट्रवाद पर भी पाश्चात्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा था। 1908 में उन्होंने अपने राजद्रोह के मुकद्दमे के सम्बन्ध में न्यायालय में जो प्रसिद्ध भाषण किया उसमें उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल की राष्ट्र की परिभाषा को स्वीकार करते हुए उद्धृत

---

9 तिलक, 'गीता-रहस्य' (हिन्दी संस्करण) पृष्ठ 399।
10 *Speeches and Writings of Tilak* (जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास) पृष्ठ 354।

किया ।[11] 1919 में उन्होंने विल्सन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार किया और माँग की कि उसको भारत के सम्बन्ध में भी कार्यान्वित किया जाय ।[12] अतः तिलक का राष्ट्रवाद दर्शन आत्मा की परम स्वतन्त्रता के वेदान्ती आदर्श और मत्सीनी, वर्क, मिल और विल्सन की पाश्चात्य धारणा का समन्वय था । इस समन्वय को उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द के द्वारा व्यक्त किया । स्वराज्य एक वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग महाराष्ट्र में शिवाजी के राज्यतन्त्र के लिए किया जाता था ।

चूँकि तिलक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था इसलिए वे स्वराज्य को मनुष्य का अधिकार ही नहीं, बल्कि धर्म भी मानते थे ।[13] उन्होंने स्वराज्य का नैतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ भी बतलाया । राजनीतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रीय स्व-शासन है । नैतिक दृष्टि से इसका अर्थ आत्मनिग्रह की पूर्णता प्राप्त करना है, जो स्वधर्म के पालन के लिए अत्यावश्यक है । इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है । इस दृष्टि से उसका अर्थ है आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और ध्यानजन्य आनन्द की प्राप्ति । स्वराज्य का आध्यात्मिक अर्थ तिलक ने इन शब्दों में व्यक्त किया : "अपने में केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है । स्वराज्य परलोक में है और इस लोक में भी है । जिन ऋषियों ने स्वधर्म के नियम का प्रतिपादन किया, उन्होंने अन्त में वन की राह पकड़ी, क्योंकि जनता स्वराज्य का उपभोग कर रही थी और उस स्वराज्य की रक्षा का भार क्षत्रिय राजाओं पर था । मेरा विश्वास है और मेरी प्रस्थापना है कि जिन लोगों ने इस संसार में स्वराज्य का उपभोग नहीं किया है वे परलोक में भी स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते ।"[14] यही कारण था कि तिलक राजनीतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते थे ।

(ख) **राष्ट्रवाद तथा पुनरुत्थानवाद**—तिलक का राष्ट्रवाद कुछ अंशों में पुनरुत्थानवादी था । वे राष्ट्र में आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक उत्साह उत्पन्न करने के लिए वेदों तथा गीता के सन्देश को जनता के समक्ष रखना चाहते थे । उनका विचार था कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के कल्याणकारी और जीवनदायिनी परम्पराओं की पुनः स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है । उन्होंने कहा : "सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है । जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता । हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढाँचे में नहीं ढालना चाहते, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते ।"[15] इसलिए तिलक ने समझाया कि मैंने शिवाजी और गणपति उत्सवों को प्रोत्साहन इसलिए दिया है कि उनके द्वारा वर्तमान घटनाओं और आन्दोलनों का ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सके ।[16]

राष्ट्रवाद तत्वतः एक मानसिक और आध्यात्मिक प्रत्यय है । यह उस पुरानी गणभक्ति (कबीला परस्ती) की गम्भीर भावनाओं का आधुनिक संस्करण है जो हम प्रागैतिहासिक और प्राचीन युगों से देखते आये हैं । लोगों में प्रेम और अनुराग की जो भावना अपने कबीले अर्थात गण, पोलिस, सिविटास और देश के प्रति थी, उसी ने वर्तमान युग में विकसित होकर राष्ट्रभक्ति का रूप ले लिया है । यह सत्य है कि राष्ट्रवाद तभी पनपता है जब एकता की भावना को उत्पन्न करने वाले वस्तुगत तत्व विद्यमान होते हैं । सर्वसामान्य द्वारा बोली जाने वाली एक भाषा, किसी एक ही वास्तविक अथवा काल्पनिक जाति से सब की उत्पत्ति का विश्वास, एक ही भूमि पर निवास और एक सामान्य धर्म—ये कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तुगत तत्व हैं जिनसे राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न होती है ।

11 *Tilaka's Trial* (1908) पृष्ठ 138 ।
12 तिलक का विल्सन और क्लीमैंशो को 1919 में लिखा गया पत्र । यह पत्र 'मराठा' में प्रकाशित हुआ था ।
13 तिलक का 1916 की कांग्रेस के उपरान्त यवतमाल में दिया गया भाषण, *Speeches*, पृष्ठ 256 ।
14 बी. जी. तिलक, "Karmayoga and Swaraj", *Speeches and Writings of Tilak*, पृष्ठ 276-80 ।
15 तिलक का 13 दिसम्बर, 1919 को 'मराठा' को लिखा गया पत्र ।
16 एम. एन. राय ने अपनी पुस्तक *India in Transition* में, पृष्ठ 14 पर, यह पुराना मार्क्सवादी दृष्टिकोण दुहराकर भारी भूल की है कि परम्परावादी भारतीय राष्ट्रवाद पर "प्रतिक्रिया की मरणशील शक्तियों" का आधिपत्य था ।

किन्तु मनोगत मनोवैज्ञानिक तत्व प्रधान हुआ करता है। यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक परम्पराओं की विरासत पर आधारित मानसिक एकता की भावना विद्यमान हो। भारत में जातिगत और भाषागत विभिन्नताओं के बावजूद राष्ट्रवाद का यह मानसिक आधार महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय संस्कृति की सरिता के सतत और अविच्छिन्न प्रवाह ने देश में इस आधारभूत मानसिक एकता को उत्पन्न करने में महान योग दिया है। औसवाल्ड स्पेंगलर ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक तत्व माना है। राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आर्थिक संघर्ष और स्वायत्त आत्मनिर्धारित जीवन की राजनीतिक आकांक्षा का ही द्योतक नहीं है, बल्कि उससे संस्कृति की आत्मा के विकास का भी विशेष रूप से परिचय मिलता है। भारत में बंकिमचन्द्र, विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द, विपिनचन्द्र पाल और गान्धी ने राष्ट्रवाद के इस आध्यात्मिक तत्व को महत्व दिया है।[17] इसके विपरीत दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता और गोखले ने राष्ट्रवाद की धर्म-निरपेक्ष धारणा का पोषण किया है। यद्यपि राष्ट्रवाद तत्वतः एकता के मानसिक और आध्यात्मिक बन्धनों की मनोगत अनुभूति पर आधारित होता है, किन्तु उसके लिए वस्तुगत तत्वों की भी आवश्यकता होती है। उत्सव और समारोह राष्ट्रवाद के प्रतीकात्मक तत्व हैं। एक ओर वे उनमें सम्मिलित होने वालों में व्याप्त एकता के बन्धनों को व्यक्त करते हैं, और दूसरी ओर उनसे उन एकता की भावनाओं को बल और उत्तेजना मिलती है। बुद्धिमान नेता इन भावनाओं को सृजनात्मक शक्तियों के रूप में वांछित कार्यों में नियोजित कर सकते हैं। ध्वज, राष्ट्रचिह्न, स्वतन्त्रता दिवस समारोह, तथा उत्सव गम्भीर भावनाओं को प्रतीकात्मक रूप देते हैं। इस प्रकार का प्रतीक प्रयोग पाशविक जीवन की माँगों और आवश्यकताओं की पूर्ति में डूबे रहने से कहीं अधिक प्रगतिशील है। प्रतीक-प्रयोग सांस्कृतिक विकास का द्योतक है, क्योंकि उससे प्रकट होता है कि मनुष्य कोरे भौतिक जीवन से ऊपर उठ रहा है और राष्ट्र जैसी किसी अतिवैयक्तिक सत्ता के आनन्द और आह्लाद का अनुभव कर सकता है। प्रतीक की प्रकृति और उसकी भौतिक आकृति का महत्व नहीं है। कुछ प्रतीक सुसंस्कृत और सौन्दर्यप्रिय लोगों को भद्दे-भौंडे लग सकते हैं, किन्तु सर्वाधिक महत्व इस बात का है कि सर्वसामान्य को प्रभावित करने की कितनी शक्ति है। एक नेता के नाते तिलक महाराष्ट्र में अपने अनुयायियों का एक शक्तिशाली संगठन खड़ा करना चाहते थे, और इसके लिए उन्होंने जनता की धार्मिक और ऐतिहासिक परम्पराओं को प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। गणपति और शिवाजी उत्सव महाराष्ट्र के उदीयमान भावनामण्डित राष्ट्रवाद के प्रतीक थे, आगे चलकर कुछ अंशों में वे भारत के अन्य भागों में भी प्रतीक रूप में प्रयुक्त होने लगे।

गणपति उत्सव प्राचीन काल से चला आया था,[18] और महाराष्ट्र में वह एक परम्परागत समारोह माना जाता है। पिछले युगों में महाराष्ट्र के राज-प्रमुख और सरदार इस उत्सव के लिए दान दिया करते थे। तिलक और उनके साथियों की बुद्धिमानी इस बात में थी कि जो उत्सव व्यक्तिगत रूप से मनाया जाता था उसे उन्होंने सार्वजनिक समारोह का रूप दे दिया। उसका सार्वजनिक रूप राष्ट्रवाद के बन्धनों को अधिक दृढ़ बना सकता था, क्योंकि एक सामान्य धार्मिक उत्सव में सम्मिलित होने से एकता की भावना को प्रोत्साहन मिलता था। यह सत्य है कि बम्बई प्रान्त के हिन्दू-मुस्लिम दंगों के बाद ही गणपति उत्सव को सार्वजनिक रूप दिया गया था। तिलक तथा उनके नाम जोशी आदि साथियों के बीच निजी विचार-विनिमय के उपरान्त इस उत्सव को सार्वजनिक बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। हिन्दू-मुस्लिम दंगों ने स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुओं की एकता की नींव को सुदृढ़ करना नितान्त आवश्यक था और गणेश उत्सव इस कार्य में विशेष रूप से सहायक हो सकता था। ब्राह्मण तथा अब्राह्मण सभी उत्सव में सम्मिलित होते थे। सार्वजनिक गणेश उत्सव का विचार भारतीय

---

17 एम. एन. राय ने इस बात की अतिशयोक्तिपूर्ण मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। *India in Transition* में पृष्ठ 188 पर वे लिखते हैं: "सामाजिक अर्थ में परम्परावादी राष्ट्रवाद कांग्रेस का नेतृत्व करने वाले 'अराष्ट्रीयकृत' बुद्धिजीवियों के उग्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की शक्तियों का प्रतिरोध था। जिन शक्तियों का 1857 के गदर के रूप में विस्फोट हुआ था वे ही आधी शताब्दी उपरान्त परम्परावादी राष्ट्रवाद के राजनीतिक सिद्धान्तों के मूल में देखने को मिलती है।"

18 सम्पूर्णानन्द, गणेश।

राज्यों में फैलने लगा और 1896-97 तक वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र में मनाया जाने लगा। अतः इस उत्सव का पुनरुद्धार करने और उसकी नये ढंग से व्याख्या करने का श्रेय तिलक को ही है। इस प्रकार एक राजनीतिक आन्दोलन के कृत्रिम विचार ने एक नागरिक धर्म का रूप धारण कर लिया। गणपति उत्सव को प्रारम्भ करके तिलक ने राष्ट्रीय भावनाओं को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उन दिनों भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस न्यूनाधिक तौर पर एक पंडिताऊ आन्दोलन थी। उसकी कार्य-प्रणाली पाश्चात्य थी, और उसके नेता स्वतन्त्रता और व्यक्तिवाद के समर्थन में बर्क, मिल और स्पेंसर के विचारों को उद्धृत किया करते थे। किन्तु गणपति उत्सव जनता में राष्ट्रवादी भावनाओं को जगाने की दिशा में एक बड़ा ही सफल प्रयोग था, और इस दृष्टि से उसने महाराष्ट्र की जनता की मानसिक दशा को अनेक दशकों तक प्रभावित किया।

जिस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्म के लिए एक यूरोपवासी जिम्मेदार था वैसे ही शिवाजी की समाधि के जीर्णोद्धार की प्रेरणा भी यूरोपवासियों से ही मिली। 1885 से अनेक समाचारपत्र शिवाजी की रायगढ़ स्थित समाधि के पुर्ननिर्माण की आवश्यकता पर बल देते आये थे। कुछ उच्च सरकारी अधिकारी समाधि को देखने गये और उन्होंने सिफारिश की कि उसका जीर्णोद्धार होना चाहिए। लॉर्ड री ने भी जोर दिया कि समाज का भग्नावस्था से उद्धार किया जाय। 23 अप्रैल, 1895 को 'केसरी' में एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें महाराष्ट्र की जनता से शिवाजी के ऐतिहासिक नाम के सम्मान की रक्षा करने की अपील की गयी। तिलक शिवाजी को गीता के अर्थ में एक 'विभूति' मानते थे। दैवी सृजनात्मक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति ही विभूति है। 1900 में तिलक राजद्रोह के अपराध में प्रथम कारावास दण्ड को भोगने के बाद मुक्त हुए। उसी वर्ष उन्होंने रायगढ़ में शिवाजी उत्सव मनाया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में शिवाजी उत्सव बंगाल और जापान तक फैल गया। सखाराम गणेश देउस्कर ने कलकत्ता में शिवाजी उत्सव का आयोजन करने में पहल की, और मोतीलाल घोष तथा विपिनचन्द्र पाल ने उनका समर्थन किया। 1906 में तिलक के कलकत्ता पहुँचने से पहले वहाँ शिवाजी उत्सव पाश्चात्य ढंग से मनाया जाता था, सभा बुलायी जाती थी और भाषण किये जाते थे। किन्तु जून 1906 में तिलक के वहाँ पहुँचने के बाद उत्सव को हिन्दू पद्धति से मनाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। तीन दिन तक भवानी की पूजा होती थी, और मण्डप में रामदास स्वामी की प्रतिमा भी रखी जाती थी।

21 अप्रैल, 1896 के 'केसरी' में तिलक के एक व्याख्यान की रिपोर्ट छपी। व्याख्यान में तिलक ने कहा था कि शिवाजी उत्सव में किसी प्रकार की राजद्रोहात्मक भावना नहीं है। उन्होंने यह भी बतलाया कि शिवाजी उत्सव मनाना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है। 1 सितम्बर, 1896 को 'केसरी' में तिलक का राष्ट्रीय उत्सवों की आवश्यकता पर एक अन्य लेख प्रकाशित हुआ। उसमें ओलिम्पिया और पिथिया के उत्सवों के ऐतिहासिक उदाहरणों का उल्लेख किया गया। लेखक ने प्राचीन भारत के यज्ञों की भी चर्चा की और बतलाया कि राजसूय और अश्वमेध यज्ञों में बड़ी संख्या में लोग एकत्र हुआ करते थे। 8 सितम्बर को तिलक ने 'केसरी' में एक अन्य लेख लिखकर उन समाज-सुधारकों की बौद्धिकता और पृथकत्व की नीति की आलोचना की जो अपने को जनता से अलग रखते थे। उन्होंने बतलाया कि राष्ट्रीय उत्सव अशिक्षित जनता तथा शिक्षित लोगों के बीच भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित करने को अवसर देते हैं। सामूहिक समारोहों से शिक्षित वर्ग को नयी स्फूर्ति मिलती है और जनता में जागृति फैलती है तथा उसका दृष्टिकोण उदार होता है। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यदि रानाडे अमूर्त तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों के चिन्तन में तल्लीन रहना छोड़कर जनता में घुलने-मिलने लगें और गणेश, शिवाजी तथा रामदास के उत्सवों में सम्मिलित होने लगें तो वे अधिक ऐश्वर्यवान दिखायी देंगे। 1898 के बाद तिलक ने अनेक लेखों और भाषणों में शिवाजी उत्सव की समाजशास्त्रीय विवेचना की। उत्सव के सम्बन्ध में उनके मन में बड़ी पवित्र धारणाएँ थीं। वे अनुभव करते थे कि भावी पीढ़ियों का यह परम कर्तव्य है कि वे अपने पूर्वजों और वीर पुरुषों को श्रद्धांजलि अर्पित करें; और यह पूछना कि इससे क्या लाभ होगा वैसे ही उपहासास्पद है जैसा कि पितरों के श्राद्ध के सम्बन्ध में प्रश्न करना। 9 अप्रैल, 1901 को तिलक ने 'केसरी' में एक लेख प्रकाशित करके शिवाजी उत्सव के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू पर जोर दिया। उन्होंने

बतलाया कि कांग्रेस आन्दोलन का उद्देश्य कुछ विशिष्ट अधिकारों को तत्काल प्राप्त करना है, जबकि शिवाजी उत्सव एक स्फूर्तिदायक औषधि की भाँति है जिससे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की नींव सुदृढ़ होती है। तिलक के अनुसार राष्ट्रवाद कोई दृश्यमान स्थूल वस्तु नहीं है, वह तो एक भावना, एक प्रत्यय है और इस भावना को जाग्रत करने में देश के महापुरुषों की ऐतिहासिक स्मृतियाँ महत्वपूर्ण योग देती हैं। शिवाजी के मन में लोकसंग्रह की भावनाएँ थीं, उन्होंने कभी स्थानीय स्वार्थों अथवा समाज के किसी वर्ग विशेष के हितों की दृष्टि से नहीं सोचा। इसलिए उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए उन्हें विभूति और ईश्वर का अवतार मानना अतिशयोक्ति नहीं है। समाज-सुधारकों की दृष्टि में शिवाजी को अवतार मानना एक भद्दी-भौंडी जनता को उत्तेजित करने वाली बात थी। किन्तु तिलक साहसी तथा निर्भीक व्यक्ति थे, और उनके मन में जो सत्य होता उसे कहने में हिचकते नहीं थे। यह सत्य है कि शिवाजी उत्सव का प्रचार करने की योजना के मूल में तिलक का व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन था। उनका यह विचार उचित ही था कि भारतीय राष्ट्रवाद के पोषण के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि पश्चिम के उदारवादी लेखकों के सिद्धान्तों को बौद्धिक रूप में अंगीकार कर लिया जाय, बल्कि उसको पुष्ट करने के लिए भारतीय जनता के संवेगों और भावनाओं को प्रज्ज्वलित करना होगा। इसीलिए वे अनुभव करते थे कि शिवाजी की स्मृतियों से साधारण जनता की राष्ट्रवादी भावनाओं को स्फूर्ति मिलेगी। शिवाजी अन्याय तथा उत्पीड़न के विरुद्ध जनता के रोष और प्रतिरोध के प्रतीक थे। तिलक ने इस आरोप का कि शिवाजी उत्सव मुसलिम विरोधी है, अनेक बार खण्डन करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बड़ी सावधानी से और बल देकर समझाया कि मैं शिवाजी की विशिष्ट कार्य-प्रणाली का प्रयोग नहीं करना चाहता और न उसका पुनरुद्धार करना ही मेरा उद्देश्य है, मैं तो केवल उनकी आधारभूत भावना को पुनर्जीवित करने का इच्छुक हूँ। शिवाजी प्रतिरोध की भावना के प्रतीक थे। सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने मुसलमानों से इसलिए युद्ध किया कि वे उत्पीड़क थे। आज मुसलमानों से लड़ने का कोई प्रश्न नहीं है। बंग-भंग-विरोधी आन्दोलन के दिनों में तिलक ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों से ही कहा कि तुम्हें उस नौकरशाही के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए, जो अपने उद्दण्ड तथा अत्याचारपूर्ण कार्यों की हर आलोचना को कुचल देना चाहती है।

किन्तु तिलक को उनके अंशतः पुनरुत्थानवादी होने के कारण कोरा हिन्दू राष्ट्रवादी मानना उचित नहीं है। व्यक्तिगत रूप से उन्हें हिन्दू धर्म तथा संस्कृति पर भारी गर्व था। राजनीतिक नेता होने के नाते वे हिन्दुओं के उचित हितों की रक्षा करना चाहते थे, और किसी प्रकार की कायरता और समर्पण का अनुमोदन करने के लिए तैयार नहीं थे। किन्तु यह कहना गलत है कि वे कोरे हिन्दू राष्ट्रवादी थे और मुसलमानों के विरुद्ध थे। जकारिया का कहना है कि वे हिन्दुओं की मुसलिम-विरोधी बदले की भावना के प्रतिनिधि थे।[19] अंग्रेज इतिहासकार पॉवेल प्राइस लिखता है: "मुसलिम लोग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जवाब थी, और आवश्यक भी थी, क्योंकि तिलक की असहिष्णुता से पृथकत्व की जिस भावना को बल मिला था वह स्वशासन की सम्भावना से और भी अधिक तीव्र हो गयी थी।"[20] शिरोल लिखता है कि तिलक के अति परम्परावादी होने के कारण पूना सार्वजनिक सभा के सदस्यों ने उस संस्था से त्यागपत्र दे दिया था। पाम दत्त ने तिलक और अरविन्द को दोषी ठहराया है। उसका कहना है कि इन दोनों ने राष्ट्रीय जागरण का हिन्दू पुनरुत्थानवाद के साथ एकात्म्य स्थापित कर दिया था इसलिए मुसलिम जनता राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक हो गयी।[21] किन्तु ये सभी प्रस्थापनाएँ अधूरी हैं और तिलक के राजनीतिक विचारों तथा कार्यों की गलत व्याख्या हैं। जिन्ना, एम. ए. अंसारी और हसन इमाम ने तिलक की राष्ट्रवादी भावनाओं और समझौते की प्रवृत्ति की सराहना की है, क्योंकि उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह और नरम नीति के कारण ही *1916* का लखनऊ समझौता सम्पादित हो सका था। शौकत अली तथा हसरत मुहानी तिलक को अपना राज-

---

19 जकारिया, *Renascent India*, पृष्ठ 121।
20 पॉवेल प्राइस, *A History of India*, पृष्ठ 599।
21 आर. पामदत्त, *India Today*, पृ. 383।

नीतिक गुरु मानते थे। शौकत अली ने लिखा है : "मैं पुनः सौवीं बार कहना चाहता हूँ कि मुहम्मद अली और मैं तिलक की पार्टी के थे और आज भी हैं।"[22] हसरत मुहानी का कथन है : "उस अल्पायु में ही मैंने तिलक को अपने लिए आदर्श नेता मान लिया था।.........उन दिनों मुझे भारत के लगभग सभी राजनीतिक नेताओं के विचारों तथा योग्यता का मूल्यांकन करने का पर्याप्त अवसर मिला था। उस निजी तथा सूक्ष्म जानकारी के आधार पर और बिना किसी प्रतिवाद के भय के मैं कह सकता हूँ कि मैंने तिलक को हर दृष्टि से प्रत्येक अन्य नेता से श्रेष्ठ पाया।.........जब मैं यह घोषणा कर रहा हूँ कि तिलक के जीवन भर मैं बौद्धिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उनका अन्धानुयायी बना रहा, तो इससे कोई भी उनके प्रति मेरे प्रेम का अनुमान लगा सकता है।"[23] इसके अतिरिक्त तिलक ने वचन दिया था कि यदि बहुसंख्यक मुसलमान मेरा साथ दें तो मैं खिलाफत आन्दोलन का समर्थन करने को तैयार हूँ। तिलक ने अली बन्धुओं की मुक्ति के लिए कांग्रेस के प्रस्ताव को स्वयं प्रस्तुत किया था। यदि तिलक मुसलिम-विरोधी होते तो वे बड़े मुसलमान नेताओं के विश्वासपात्र कभी नहीं बन सकते थे। इसलिए कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में तिलक को हिन्दुत्व के प्रति गम्भीरतम श्रद्धा थी, किन्तु राजनीतिक नेता के रूप में उनकी नीति व्यापक थी और राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना उनका मुख्य उद्देश्य था।

यह सत्य है कि तिलक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को हिन्दुत्व के सशक्त सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुत्थान के द्वारा बल प्रदान करना चाहते थे। किन्तु राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में वे आर्थिक तर्कों को भी स्वीकार करते थे।[24] दादाभाई नौरोजी ने भारतीय अर्थशास्त्र में 'निर्गम सिद्धान्त' को विख्यात कर दिया था। तिलक तथा गोखले दोनों ने ही स्वीकार किया कि विदेशी साम्राज्यवाद के कारण भारत के आर्थिक साधनों का भारी 'निर्गम' हुआ है। 1897 में रानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के अवसर पर तिलक ने 'केसरी' में तीन लेख लिखे। 22 जून के लेख में उन्होंने लिखा कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय उद्योगों और कलाओं का ह्रास हुआ है। उनका कथन था कि विदेशी पूँजीपतियों ने भारत में जो विभिन्न औद्योगिक संस्थान स्थापित किये हैं और जो धन लगाया है उस सबसे समृद्धि का केवल भ्रम उत्पन्न हुआ है। उन्होंने दादाभाई नौरोजी द्वारा वैल्बी आयोग[25] के समक्ष दिये गये साक्ष्य का उल्लेख किया। अपने साक्ष्य में दादाभाई ने कहा था कि ब्रिटेन के साम्राज्यवादी आधिपत्य के अन्तर्गत भारत का आर्थिक विनाश हो गया है। 1907 में उन्होंने नैविंसन के साथ समालाप में भी भारत के आर्थिक 'निर्गम' का उल्लेख किया।[26] उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को भी महत्व दिया, इससे स्पष्ट है कि वे भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के प्रति भी सचेत थे। भारत में स्वदेशी आन्दोलन ने आध्यात्मिक तथा राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया। वह वस्तुतः देश की राजनीतिक मुक्ति के लिए राष्ट्र की शक्तियों को उन्मुक्त करने का आन्दोलन बन गया। किन्तु आर्थिक दृष्टि से वह देश के प्रारम्भिक पूँजीवाद की वृद्धि और विस्तार का आन्दोलन था। गोखले ने बनारस में अपने अध्यक्षीय भाषण में बड़ी योग्यता के साथ स्पष्ट किया था कि स्वदेशी आन्दोलन देशभक्तिमूलक आन्दोलन है और उसका उद्देश्य पूंजी, साहस और क्षमता का विवेकसंगत उपयोग करके उत्पादन को बढ़ाना है। इंगलैण्ड ने भारत पर मुक्त व्यापार की नीति को बलपूर्वक थोप दिया था। उसकी इस स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति के फलस्वरूप देश के लघु उद्योग तेजी से नष्ट हो गये थे, और एकमात्र कृषि ही जनता की जीविका का साधन रह गयी थी। तिलक तथा बंगाली अतिवादियों के नेतृत्व में जिस स्वदेशी आन्दोलन का विकास हुआ वह वास्तव में आयरलैण्ड के

---

22 एस. वी. बापत (सम्पादक) *Reminiscences of Tilak*, जिल्द 2, पृष्ठ 576।
23 वही, जिल्द 3, पृष्ठ 36-37।
24 एम. एन. राय के इस कथन में सत्य का अधिक अंश प्रतीत नहीं होता : "तिलक के व्यक्तित्व और शिक्षाओं में राष्ट्रवाद के जिस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई उसमें इस सामाजिक नियम की उपेक्षा की गयी थी कि आधुनिक युग में राजनीतिक राष्ट्रवाद आर्थिक नींव के बिना कायम नहीं रह सकता।" (*India in Transition*, पृष्ठ 185)।
25 *Welby Commission Report*, 2 जिल्दों में।
26 एच. डब्ल्यू. नेविसन, *The New Spirit of India* (लन्दन 1908)।

सिन फिन आन्दोलन का प्रतिरूप था। तिलक ने स्वीकार किया कि जब तक देश की राजनीतिक शक्ति विदेशी सरकार के हाथों में है तब तक देशी उद्योगों को संरक्षण मिलना सम्भव नहीं है, किन्तु जनता स्वयं पहल करके संरक्षण की भावना को प्रोत्साहन दे सकती है। जनवरी 1907 में इलाहाबाद में उन्होंने एक भाषण में कहा कि हम विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करके अपने ढंग का संरक्षणार्थ आयात कर लगा सकते हैं। उन्होंने माना कि ब्रिटिश सरकार ने देश को शान्ति तथा कुछ अंश में स्वतन्त्रता प्रदान की है, किन्तु यदि राष्ट्र को जीवित रहना है तो उसे और भी आगे प्रगति करनी होगी। उनका कहना था कि देश की स्वाधीनता नौकरशाही की सेवा में उपस्थित होने तथा उसके पास युक्तिसंगत तथा विवेकपूर्ण याचिकाएँ भेजने से प्राप्त नहीं हो सकती; उसे तो जनता के सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है। इसलिए उन्होंने जनता को 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में पारित स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा से सम्बन्धित प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रेरित किया।

हम पहले लिख आये हैं कि तत्वशास्त्रीय विचारों में तिलक अद्वैत वेदान्ती थे। उनकी ये धारणाएँ कि स्वतन्त्रता मनुष्य की दैवी प्रवृत्ति है और स्वराज्य आन्तरिक आत्म-साक्षात्कार है, उनके वेदान्ती विचारों की द्योतक हैं। उनका मानव-भ्रातृत्व में विश्वास भी उनके वेदान्त दर्शन से ही प्रसूत था। उन्होंने एक प्रकार से राष्ट्रवाद के आदर्श तथा मनाव एकता के वेदान्ती सिद्धान्त के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। एक भाषण में उन्होंने कहा था : "चूकि वेदान्त का आदर्श राष्ट्रवाद के आदर्श से ऊँचा है इसलिए पहले आदर्श में दूसरा स्वाभाविक रूप से सम्मिलित है। दोनों के बीच साम्य स्थापित करना असम्भव नहीं है, यदि आप साम्य स्थापित करना जानते हों। एक में दूसरा उसी प्रकार सम्मिलित है जैसे हजार में पाँच सौ सम्मिलित हैं। दोनों आदर्शों में पारस्परिक संगति है और दोनों के लिए आत्म-त्याग और आत्म-निग्रह की अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त दोनों के लिए एक ऐसी परोपकार की भावना की अपेक्षा है जो मनुष्य को स्वार्थ की अवहेलना करके ऐसे व्यक्तियों और आदर्शों के लिए कार्य करने के लिए प्रेरित करती है जिनमें स्वार्थ की तनिक भी गन्ध नहीं आती। यह भावना मानव जाति के लिए प्रेम की और ईश्वर के समक्ष सब मनुष्यों की समानता की भावना है। वेदान्त तथा राष्ट्रवाद दोनों के आदर्श इसी भावना से शासित होते हैं।"[27] एडवर्ड शिलिटो ने 'नेशनलिज्म : मैन्स अदर रेलीजन' (राष्ट्रवाद : मनुष्य का अन्य धर्म) नाम की पुस्तक लिखी है। उसमें 'दि टू तिलक्स' (दो तिलक) शीर्षक एक अध्याय है। शिलिटो का कहना है कि ईसाई कवि नारायण वामन तिलक का आदर्श पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करना था, इसके विपरीत बाल गंगाधर तिलक स्वराज्य में विश्वास करते थे। लेखक ने दोनों व्यक्तियों के बीच एक काल्पनिक सम्भाषण प्रस्तुत किया है।[28] किन्तु शिलिटो की व्याख्या समीचीन नहीं है। कारण स्पष्ट है। यद्यपि तिलक महान देशभक्त और पक्के राष्ट्रवादी थे, किन्तु 'गीता-रहस्य' में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि देशभक्ति विश्वभक्ति के मार्ग में केवल एक कदम है। उन्होंने प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक के उस अंश (उदार-चरितानामतु वसुधैव कुटुम्बकम्) को भी उदधृत किया है जिसका अर्थ है कि उदार चित्त वाले व्यक्तियों के लिए सारा विश्व ही परिवार है।[29]

(ग) भारतीय अतिवादी राष्ट्रवाद के आधार—लार्ड कर्जन उग्र साम्राज्यवादी था। वह ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा का गौरवपूर्ण प्रसार करने का स्वप्न देखा करता था। किन्तु अनजाने उसने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को तेज करने में योग दिया। उसने अचेतन रूप से विश्वात्मा का साधन बनकर भारत में ऐसे नये राष्ट्रवादी दल की नींव डाली जिसके राजनीतिक आदर्श अतिवादी थे। यह अनिवार्य था कि तिलक कर्जन की प्रशासकीय नीति के कटु आलो-

---

27 *Speeches of Tilak* (इण्डियन स्टोर्स, वेलारी) पृष्ठ 15-16, जी. वी. केतकर द्वारा "Real Basis of Tilak's Nationalism" में उद्धृत, *Mahratta*, अगस्त 3, 1951।

28 एडवर्ड शिलिटो की पुस्तक *Nationalism* (लन्दन, 1933)। दो तिलकों के बीच सम्भाषण "Education for Life in the Nation" शीर्षक अध्याय में दिया हुआ है।

29 बाल गंगाधर तिलक, 'गीता-रहस्य' (हिन्दी) पृष्ठ 398।

चक बन गये। उन्होंने 'केसरी' में एक लेखमाला प्रकाशित करके कर्जन की नीति की भर्त्सना की। 15 मार्च, 1904 को उन्होंने 'केसरी' में सरकार की नयी शिक्षा-नीति लेख लिखा। उनका विचार था कि नयी शिक्षा-नीति से देश की शिक्षा के विकास में बाधा पड़ेगी। 5 अप्रैल, 1904 को 'केसरी' में एक अन्य लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने कहा कि कर्जन योग्य, अध्यवसायी तथा चतुर है किन्तु वह अपनी सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता तथा कूटनीति का भारतवासियों की दासता को स्थायी बनाने के उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहा है। उन्होंने उस लेख में स्पष्ट घोषणा की कि कर्जन ने विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों (कॉलिजों) पर कठोर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया है। 21 फरवरी, 1905 को तिलक ने कर्जन के उन आरोपों की तीखी आलोचना की जो उसने अपने दीक्षान्त भाषण में भारतवासियों के विरुद्ध लगाये थे। कर्जन 'कार्यकुशलता' के आदर्श का पुजारी था, इस कारण वह अनेक ऐसे कार्य कर बैठा जिन्होंने उसे जनता में अप्रिय बना दिया। बंगाल का विभाजन उसकी मैकियाविलियाई कुटिल नीति का सबसे बड़ा उदाहरण था। विभाजन का उद्देश्य आठ करोड़ से अधिक बंगाली जनता की एकता और समरूपता का नाश करना था। कलकत्ता की महानगरी बुद्धि-जीवियों का घर होने के कारण राजनीतिक उग्रवाद का केन्द्र बनती जारही थी। साम्राज्यवाद के हित में इस प्रभाव को सीमित करना आवश्यक था। साम्प्रदायिकता को उभाड़ना राजनीतिक उग्रवाद की वृद्धि को रोकने का एकमात्र तरीका था। पूर्वी बंगाल का प्रान्त प्रधानतः मुसलिम प्रान्त था, इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को आशा थी कि शेष बंगाल के प्रति उसका रवैया ही सदैव शत्रुतापूर्ण रहेगा। इसीलिए कर्जन ने बंगाल के विभाजन का संकल्प किया। 3 दिसम्बर, 1903 को भारत सरकार का वह प्रस्ताव प्रकाशित हुआ जिसमें घोषणा की गयी कि सरकार चटगाँव की सम्पूर्ण कमिश्नरी तथा ढाका और मैमनसिंह के जिलों को आसाम में मिला देने के प्रश्न पर विचार कर रही है। 20 जुलाई, 1905 को बंगाल के प्रस्तावित विभाजन का समाचार सरकारी गजट में प्रकाशित हुआ और 6 अक्टूबर, 1905 को विभाजन की योजना कार्यान्वित कर दी गयी। दिसम्बर 1903 से अक्टूबर 1905 तक बंगाल में दो हजार से अधिक सार्वजनिक सभाएँ हुईं जिनमें जनता ने प्रान्त के विभाजन के विरुद्ध विरोध प्रकट किया। 18 नवम्बर, 1905 को कर्जन इंगलैण्ड के लिए रवाना हो गया। उसके तथा किचनर के बीच जो विवाद चलता आया था उसके कारण वह वाइस-राय पद से पहले ही त्यागपत्र दे चुका था, किन्तु उसका आग्रह था कि मेरे भारत छोड़ने के पूर्व ही विभाजन की योजना ठोस रूप में कार्यान्वित कर दी जाय।

ऊपर से देखने में बंगाल का विभाजन प्रशासकीय सुविधा के लिए प्रदेश का पुनर्वितरण मात्र प्रतीत होता था। किन्तु उसके विरुद्ध तिलक, पाल, अरविन्द और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में जो आन्दोलन चल पड़ा उसने राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष का रूप धारण कर लिया। 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की भाँति बंग-भंग विरोधी आन्दोलन को भी विश्व की तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं के परिपेक्ष्य में समझने का प्रयत्न करना समीचीन होगा। जिस प्रकार 1857 का संग्राम 1848 की यूरोपीय क्रान्ति, 1856 के क्राइमिया युद्ध और इटली के एकीकरण आन्दोलन से प्रभावित था, उसी तरह बंग-भंग विरोधी संघर्ष पर उस एशियाई राजनीतिक चेतना की तीव्रता का प्रभाव था जो चीन के बौक्सर विद्रोह, रूस पर जापान की विजय तथा तुर्की और ईरान के राष्ट्रीय आन्दोलनों के रूप में व्यक्त हुई थी। तिलक को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अच्छा ज्ञान था। 1895 में ही उन्होंने 1894-95 के चीन-जापान युद्ध पर टिप्पणी करते हुए 'केसरी' में लिखा था कि जापान की स्थिति उस क्रान्ति की प्रतीक है जो समस्त एशिया में फैलने जा रही है। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि चीन की पराजय उस विशाल देश में राजनीतिक जागृति को प्रोत्साहन देगी। 'केसरी' में अनेक लेख लिखकर तिलक ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि रूस पर जापान की विजय से एशियायी युवकों को बड़ी प्रेरणा मिली थी। जापान की आश्चर्यजनक विजय ने एशियाई हीनता के मिथ्या विश्वास का भंडा-फोड़ कर दिया था। चीन ने संयुक्त राज्य अमरीका की आप्रवासन नीति के विरुद्ध जो बहि-ष्कार आन्दोलन छेड़ रखा था उससे भी भारतीय तरुणों को प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

1899 और 1904 के बीच तिलक को सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन चलाने का आवश्यक अवसर न मिल सका क्योंकि उस समय कांग्रेस में उनके अनुयायियों की संख्या कम थी। इसके अति-

रिक्त वे ताई महाराज के मुकद्दमे में बुरी तरह उलझे हुए थे। बंग-भंग विरोधी आन्दोलन से उन्हें तीव्र राजनीतिक संघर्ष चलाने का मनचाहा अवसर मिल गया। अब तिलक नये राष्ट्रीय दल के अखिल भारतीय स्तर के नेता बन गये। यह उनकी महान सूझबूझ का ही परिणाम था कि एक प्रादेशिक पुनर्वितरण के विरुद्ध आन्दोलन शीघ्र ही राष्ट्रीय संघटन का अखिल भारतीय आन्दोलन बन गया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल, महाराष्ट्र और अंशतः पंजाब राजनीतिक एकता के बन्धन में बँध गये। तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष आदि नेताओं के व्यक्तित्व तथा कार्यकलाप ने विभाजन विरोधी आन्दोलन को एक गिरे हुए राष्ट्र के पुनरुद्धार के धर्म युद्ध में परिवर्तित कर दिया। नौकरशाही ने दमन और दबाव के जो तरीके अपनाये वे राष्ट्रीय आन्दोलन के सहायक और साधन बन गये। इस अवसर पर तिलक की राजनीतिक प्रतिभा का अनावरण हुआ। उन्होंने विभाजन विरोधी आन्दोलन को स्वराज्य आन्दोलन में बदलने का प्रयत्न किया। इस स्वराज्य आन्दोलन के चार तरीके थे—स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध। कभी-कभी नये दल के सिद्धान्तकारों ने बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध को एक ही बतलाया। यदि यह मान लिया जाय तो अतिवादी दल (नये दल) के केवल तीन तरीके थे। 1905 और 1909 के बीच अनेक आन्दोलन उठ खड़े हुए। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय शिक्षा, मद्यनिषेध, दलितोद्धार तथा 'वन्दे मातरम्', 'राष्ट्रमत' आदि राष्ट्रीय पत्रों की स्थापना के आन्दोलन। स्वराज्य और स्वदेशी के आन्दोलन का उद्देश्य कांग्रेस के कार्य की अनुपूर्ति करना था। कांग्रेस ने अपने को शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रखा था; स्वदेशी आन्दोलन के नेताओं ने निम्न मध्य वर्ग तथा साधारण जनता को भी किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक कार्यवाही में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार तिलक ने तथा बंगाल और महाराष्ट्र में काम करने वाले साथियों ने राजनीति की प्रचलित धारणाओं को बदलने का प्रयत्न किया। स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन जनता के स्वशासन के अधिकार की रक्षा करने का प्रयत्न था, इसलिए उसमें राजनीतिक हलचल के विभिन्न तरीकों का प्रयोग किया गया, जैसे सार्वजनिक जुलूस, बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाएँ, हड़तालें, धरना इत्यादि। आगे चलकर भारतीय नेताओं ने अपने राजनीतिक आन्दोलनों में इन सब तरीकों का प्रयोग किया। स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन इस लोकतांत्रिक सिद्धान्त की रक्षा करने का संगठित प्रयत्न था कि शासकों को देशवासियों के बहुमत की अवहेलना और अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। विभाजन एक घोर अन्याय और भारी भूल था। उसके विरुद्ध जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ उसको हमें समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करना चाहिए, और यह तभी सम्भव है जब हम पिछली शताब्दी के आठवें और नवें दशकों में हुए आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के जन्म और उत्कर्ष को ध्यान में रखें। भारतीय पूँजीवाद का उदय हो रहा था। कलकत्ता तथा बम्बई के पूँजीपतियों ने स्वदेशी आन्दोलन को इसलिए वित्तीय सहायता दी कि वह भारत में बनी वस्तुओं के पक्ष में उग्र प्रचार कर रहा था। किन्तु भारत में राष्ट्रवाद का विकास केवल पूँजीवाद के उदय का परिणाम नहीं था। भारतीय राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक तथा धार्मिक पक्ष भी था। विशेषकर बंगाल में पाल और अरविन्द के उपदेशों ने राष्ट्रवाद को धार्मिक रूप दे दिया था। अरविन्द राष्ट्रवाद को एक सात्विक धर्म मानते थे। उनका कहना था कि ईश्वर इस धर्म का नेता और काली इसकी कार्यकारी शक्ति है। उस समय देश में ऐसी चेतना भी जाग्रत हुई कि विश्व के लिए भारतवर्ष का एक आध्यात्मिक ध्येय (मिशन) है। बंगाल के नेताओं ने इस चेतना को विशेष रूप से व्यक्त किया। किन्तु तिलक ने आन्दोलन के राजनीतिक पक्ष को अधिक महत्व दिया। उनका कहना था कि नौकरशाही के विरुद्ध ऐसा शक्तिशाली आन्दोलन संगठित किया जाय कि वह अपनी शक्ति त्यागने पर विवश हो जाय। जिस नये राष्ट्रीय दल ने विभाजन-विरोधी आन्दोलन चलाया उसको संगठित और दृढ़ीकृत करने का मुख्य श्रेय तिलक को ही था।

तिलक अतिवादी थे, और उनको अतिवादी बनाने के लिए अनेक तत्व जिम्मेदार थे। स्वभाव से वे उत्साही थे और पुरुषत्व की आक्रामक तथा ओजपूर्ण भावना का उनमें प्राबल्य था। उन्हें संघर्ष तथा सफलतापूर्ण विजय के प्रतीक शिवाजी एवं अन्य मराठा शूरवीरों के जीवन और साहसिक कार्यों से प्रेरणा मिली थी। नौकरशाही ने जो दमनकारी तरीके अपनाये थे उनसे अंग्रेजी शासन के सम्बन्ध

में उनका भ्रम दूर हो गया था। इस बात ने भी उनके अतिवादी विचारों को प्रभावित किया। किन्तु अतिवादी होते हुए भी वे आन्दोलन के विधिक तरीकों में विश्वास करते थे। वे स्वयं दो बार बम्बई विधान परिषद के सदस्य चुने गये थे। तीसरी बार चुनाव लड़ने का भी उनका विचार था। 1920 में उन्होंने चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। यद्यपि तिलक विद्यमान विधि-व्यवस्था की मर्यादाओं को स्वीकार करते थे, किन्तु वे ब्रिटिश सरकार के कानून से मुक्त क्षेत्र को राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र करने के लिए प्रयुक्त करना चाहते थे। रानाडे, फीरोजशाह मेहता और गोखले भारत में ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय विधान का एक अंग तक मान बैठे थे,[30] किन्तु तिलक को विश्वास था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता देश की भवितव्यता है। 1909 में एक भाषण में गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन किया।[31] फिर भी तिलक और गोखले के मार्ग भिन्न थे। चाहे उन दोनों ने कभी-कभी समान शब्दों का प्रयोग किया हो और चाहे समान राजनीतिक उद्देश्यों में विश्वास किया हो, फिर भी उनकी राजनीतिक कार्यप्रणालियों में आधारभूत अन्तर था। तिलक ने 1896 के दुर्भिक्ष में, 1905-1908 के आन्दोलन और होम रूल के दिनों में जो कार्य किये उनका उद्देश्य जनता को संगठित तथा सामूहिक कार्य की शिक्षा देना था। जो जनता निर्जीव और धराशायी हो गयी थी उसमें वे प्रबल कर्मण्यता और दृढ़ आग्रह की भावना फूंक देना चाहते थे। उन्होंने 1896 में लगानबन्दी आन्दोलन का समर्थन किया, राष्ट्रीय शिक्षा पर बल दिया, मदिरा की बिक्री रोकने के लिए धरना देने को उचित ठहराया और स्वदेशी तथा बहिष्कार का पक्ष-पोषण किया, इस सबसे स्पष्ट है कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन को भारतीय जनता की संगठित और संयुक्त कार्यवाही पर आधारित करना चाहते थे। तिलक के राजनीतिक नेता के रूप में प्रमुखता प्राप्त करने से पहले भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पाश्चात्य ढंग के बौद्धिक वादविवाद तक ही सीमित था। इसके विपरीत उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन का भारतीयकरण करने का सन्देश दिया। इसलिए उनकी राजनीतिक कार्यप्रणालियाँ भारतीय जनता की ऐतिहासिक विरासत से बहुत कुछ अनुप्रेरित थीं। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन का दार्शनिक समर्थन भी प्राचीन भारतीय आदर्शों के आधार पर किया। कुछ महत्वशाली मितवादी (नरम दली) नेताओं को केवल बर्क, मत्सीनी, स्पेंसर आदि से बौद्धिक प्रेरणा मिली थी, किन्तु तिलक ने इनके अतिरिक्त शिवाजी, नाना फडनवीस और भगवद्गीता से भी प्रेरणा ली। तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन की नीति का भारतीयकरण करने का जो प्रयत्न किया उसके कारण लाला लाजपत राय उनके समर्थक बन गये। वैसे अनेक विषयों में लालाजी गोखले से सम्बन्धित थे। देश के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि तिलक और गोखले अपने कार्यकलाप में परस्पर सहयोग न कर सके। दोनों चितपावन ब्राह्मण थे और दोनों की बौद्धिक प्रतिभा तथा चरित्र असाधारण कोटि के थे। दोनों देशभक्त तथा पूर्णतः स्वार्थरहित थे। गोखले इंगलैण्ड और भारत के पारम्परिक सम्बन्धों को बनाये रखने के पक्ष में थे, इसके विपरीत तिलक ने स्वराज्य के आदर्श को अविचल रूप से अंगीकार कर लिया था और वे कोरे प्रशासकीय परिवर्तनों से सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। गोखले वादविवाद में बहुत ही कुशल और मँजे हुए थे और विशेषकर विधान सभाओं के कक्षों में श्रोताओं को मुग्ध कर दिया करते थे। तिलक लोकप्रिय वक्ता थे और साधारण जनता के हृदय पर उनके भाषणों का गहरा प्रभाव पड़ता था। 1888 के बाद तिलक और गोखले विचारों तथा कार्यों में एक दूसरे से पृथक हो गये और भिन्न मार्गों पर चल दिये। इस समय तो हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि यदि ये दो महान् राजनीतिज्ञ परस्पर मिलकर कार्य कर सकते तो देश का कितना सौभाग्य होता। तिलक ने गोखले को जो श्रद्धांजलि अर्पित की उससे उनके हृदय की उदारता और विशालता का परिचय मिलता है। 23 फरवरी, 1915 को तिलक ने गोखले की मृत्यु पर एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने गोखले की देशभक्ति की भूरिभूरि प्रशंसा की। किन्तु भारतीय राष्ट्रवाद के परवर्ती इतिहास ने सिद्ध कर दिया कि तिलक की कार्यप्रणाली ही अधिक प्रभावकारी थी। अतिवादियों ने स्वदेशी के आर्थिक सिद्धान्त और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का समर्थन करके स्पष्ट कर दिया कि अतिवादी राष्टवाद उदीयमान मध्य वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता था।

2 जनवरी, 1907 को तिलक ने नये दल के 'सिद्धान्तों' पर एक ऐतिहासिक भाषण दिया। एक दृष्टि से 1896 में ही महाराष्ट्र में दो दल मैदान में आगये थे। किन्तु 1905-1906 में एक ऐसे नये दल की ठोस नींव का निर्माण किया गया जो विचारों के अभिवेदन, याचना और अपील की निष्क्रिय नीति से सन्तुष्ट नहीं था। तिलक नये दल के माने हुए नेता थे। अपने पाण्डित्य, महान बलिदान तथा निष्कलंक देशभक्ति के कारण वे नये दल के नेता बनने के सर्वथा योग्य थे। स्वभाव से उन्हें स्वावलम्बन में विश्वास था। उन्होंने भगवद्गीता में प्रतिपादित आत्मा के सिद्धान्त के आधार पर भी स्वावलम्बन की नीति का समर्थन किया। अपने भाषण में तिलक ने बतलाया कि 'मितवादी' और 'अतिवादी' शब्द काल-सापेक्ष हैं। आज का अतिवादी अगले दिन मितवादी बन जाता है। जब कांग्रेस का जन्म हुआ तो उस समय दादाभाई अतिवादी माने जाते थे, किन्तु बाद में उन्हीं को लोग मितवादी कहने लगे। तिलक ने भविष्यवाणी की कि समय बीतने पर मेरे विचार भी मितवादी समझे जाने लगेंगे। उन्होंने बतलाया कि दादाभाई को नौकरशाही के सम्बन्ध में जो कुछ भ्रम था वह अब दूर हो गया है, और अपने 1906 के भाषण में उन्होंने अपनी गहरी निराशा व्यक्त कर दी है। किन्तु दादाभाई के निराश हो जाने पर भी गोखले को ब्रिटिश शासन में विश्वास है : "मैं जानता हूँ कि श्री गोखले निराश नहीं हुए हैं। वे मेरे मित्र हैं, मैं समझता हूँ कि यह उनका हार्दिक विश्वास है। श्री गोखले निराश नहीं हैं और वे श्री दादाभाई की भाँति निराश होने के लिए अस्सी वर्ष तक और प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हैं।" किन्तु गोखले के निराश न होने पर भी लाला लाजपत राय, जो उनके साथ कांग्रेस प्रतिनिधिमण्डल में इंगलैण्ड गये थे, निराश हो चुके थे।

नये दल को इस बात में विश्वास नहीं था कि इंगलैण्ड के लोकमत को भारत के पक्ष में जाग्रत किया जा सकता है। यह प्रक्रिया बड़ी लम्बी और जटिल बल्कि निरर्थक होगी। यह सत्य है कि पुराने तथा नये दोनों ही दलों को भारत स्थित ब्रिटिश नौकरशाही से याचना आदि करने में विश्वास नहीं रह गया था। किन्तु पुराने दल को अभी भी आशा थी कि ब्रिटिश राष्ट्र से निवेदन और याचना करने से सफलता मिल सकती है, जबकि नया दल इस विषय में पूर्णतः निराश हो चुका था। तिलक ने राजनीति के सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि राजनीति कोई कल्पना की उड़ान, आदर्शदर्शी की भावुकता अथवा सदाचार सम्बन्धी उपदेश नहीं है। यह ऐसा खेल है जिसमें प्रतिद्वन्द्वी पक्षों को विजय के हेतु संघर्ष करने के लिए तैयार रहना चाहिए। कृष्ण का उदाहरण हमारे सामने है। उन्होंने कौरवों को झुकाने के लिए यथासामर्थ्य प्रयास किया। किन्तु समझौता चाहने पर भी पाण्डवों ने युद्ध की तैयारियाँ बन्द नहीं कीं। "यह राजनीति है। क्या अपनी माँगों के अस्वीकृत होने पर आप भी इसी प्रकार लड़ने के लिए उद्यत हैं?" तिलक ने स्पष्ट शब्दों में समझाया कि अंग्रेज इस मिथ्या धारणा का प्रचार कर रहे हैं कि वे स्वयं शक्तिशाली हैं और भारतवासी कमजोर हैं। इस प्रकार के प्रचार से वे अपनी शक्ति के मनोवैज्ञानिक आधार को सुदृढ़ करना चाहते हैं। किन्तु "यही राजनीति है।"

तिलक ने ओजस्वी वाणी में घोषणा की कि नये दल का उद्देश्य स्वराज्य है। "असली बात यह है कि पूर्ण नियन्त्रण हमारे हाथों में हो। मैं अपने घर की कुन्जी चाहता हूँ, केवल एक परदेशी को बाहर निकाल देने से काम नहीं चलेगा। हमारा उद्देश्य स्वराज्य है; हम चाहते हैं कि देश के शासनतन्त्र पर हमारा नियन्त्रण हो। हम क्लर्क नहीं बनना चाहते।........अभी हम क्लर्क हैं और एक विदेशी सरकार के हाथों में स्वेच्छा से अपने ही उत्पीड़न का साधन बने हुए हैं।"

नये दल का उद्देश्य निश्चित करने के अतिरिक्त तिलक ने राजनीतिक संघर्ष की कुछ विशिष्ट कार्य पद्धतियाँ भी निरूपित कीं। भारतीय जनता की माँगों के अस्वीकृत होने की स्थिति में इन पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता था। उन्होंने कहा कि हमें सरकार को राजस्व वसूल करने और शान्ति स्थापित रखने के काम में सहायता नहीं देनी चाहिए। उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध की क्रियात्मक पद्धतियों का निरूपण किया। उनका कथन था : "नया दल चाहता है कि आप समझ लें कि आपका भविष्य पूर्णतः आपके ही हाथों में है। यदि आप स्वतन्त्र होना चाहते हैं, तो आप स्वतन्त्र हो सकते हैं; यदि आप स्वतन्त्रता नहीं चाहते तो आप भूमिसात हो जायँगे और सदैव उसी स्थिति में पड़े रहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि आप इतने लोगों को हथियार पसन्द हों। किन्तु

यदि आपमें सक्रिय प्रतिरोध की शक्ति नहीं है, तो क्या आपमें आत्मत्याग और आत्मसंयम की इतनी शक्ति नहीं है कि आप विदेशी सरकार को अपने ऊपर शासन करने में सहायता न दें ? यही बहिष्कार है, और जब हम कहते हैं कि बहिष्कार राजनीतिक अस्त्र है तो हमारा यही अभिप्राय है। हम उन्हें राजस्व वसूल करने और शान्ति स्थापित रखने में सहायता नहीं देंगे। हम उन्हें ऐसी सहायता नहीं देंगे जिससे वे सीमाओं के पार अथवा भारत के बाहर भारतीय सैनिकों और धन से युद्ध कर सकें। हम उन्हें न्याय का काम काज चलाने में सहायता नहीं देंगे। हमारे अपने न्यायालय होंगे और जब समय आयगा तो हम कर भी नहीं देंगे। क्या आप अपने संयुक्त प्रयत्नों से यह सब कुछ कर सकते हैं ? यदि आप में ऐसा करने की शक्ति है तो अपने को कल से ही स्वतन्त्र समझिये। इस समय यहाँ जिन सज्जनों ने भाषण दिये हैं उनमें से कुछ ने कहा कि जो आधी रोटी को छोड़कर पूरी के पीछे दौड़ता है वह आधी से भी हाथ धो बैठता है। किन्तु मेरा कहना है कि हमें पूरी रोटी चाहिए और वह भी अभी तुरन्त। किन्तु यदि मुझे पूरी रोटी नहीं मिल सकती, तो आप यह न समझिये कि मुझमें धीरज नहीं है। जो आधी रोटी वे मुझे देंगे उसे मैं ले लूँगा और शेष के लिए प्रयत्न करता रहूँगा। यही वह विचारधारा और कार्यप्रणाली है जिसके लिए आप अपने को प्रशिक्षित करें। हमने कोरे भावावेश में आकर यह आवाज नहीं उठायी है। यह बुद्धियुक्त सावावेग है।"

तिलक राजनीतिक मामलों में ऐसे कट्टर नहीं थे कि वे कभी समझौता करने को तैयार ही न होते अथवा हर स्थिति में दुराग्रह पर डटे रहते। उनकी भावना थी कि जो कुछ मिले उसे ले लो और शेष के लिए संघर्ष करते रहो। उनकी राजनीतिक कार्यविधि का यही सार था। अतः स्वावलम्बन की धारणा नये दल की प्रमुख विचारधारा थी, और स्वदेशी तथा वहिष्कार स्वावलम्बन के व्यावहारिक रूप थे। किन्तु बहिष्कार का अर्थ निष्क्रिय और गतिहीन आर्थिक वहिष्कार नहीं था, वह तो वास्तव में निष्क्रिय प्रतिरोध का गत्यात्मक विज्ञान था। तिलक ने कहा : "यदि आप की माँगें अस्वीकृत करा दी जायँ तो क्या आप इस प्रकार संघर्ष करने के लिए तैयार हैं ? यदि आप तैयार हैं तो निश्चय मानिये कि आपकी माँगें अस्वीकृत नहीं की जायेंगी। किन्तु यदि आप तैयार नहीं हैं, तो इससे अधिक निश्चित और कुछ नहीं है कि आपकी माँगें नहीं मानी जायँगी और कभी नहीं मानी जायँगी। हमारे पास हथियार नहीं हैं और न हमें हथियारों की आवश्यकता ही है। हमारे पास अधिक शक्तिशाली हथियार है अर्थात बहिष्कार का राजनीतिक हथियार।" स्पष्ट है कि तिलक नयी शक्तिसम्पन्न राजनीतिक चेतना को प्रतिध्वनित कर रहे थे, ऐसी चेतना जिसकी अभिव्यक्ति संघर्ष और कष्ट सहन में होनी थी। तिलक के बंगाली साथी अपने राजनीतिक दर्शन की अभिव्यक्ति में उनसे कुछ अधिक उग्र थे।[32] तिलक ने अपने लेखों अथवा भाषणों में सार्वजनिक रूप से कभी ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्धों को पूर्णतः समाप्त करने की बात नहीं की। किन्तु पाल और अरविन्द ने समय-समय पर पूर्ण स्वराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया। विपिनचन्द्र पाल ने लिखा था : "वे (मितवादी) भारत की सरकार को लोकप्रिय बनाना चाहते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य यह नहीं है कि सरकार किसी भी अर्थ में ब्रिटेन के हाथ से निकल जाय; इसके विपरीत हम उसे स्वायत्त अर्थात ब्रिटेन के नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं।" कलकत्ता कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मन्जिल थी। तिलक ने कहा : "कांग्रेस ने वस्तुतः निश्चय कर लिया है कि स्वराज्य अथवा स्वशासन हमारा उद्देश्य है, और राष्ट्र को यह उद्देश्य अन्ततोगत्वा और धीरे-धीरे प्राप्त करना है, और यह भी निश्चय कर लिया है कि राष्ट्र अपनी शिकायतों को दूर करवाने अथवा अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं की सफलता के लिए सांविधानिक आन्दोलन के रूप में प्रार्थना और याचना की पद्धति को जारी रख सकता है, किन्तु अपने वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु उसे अपने प्रयत्नों पर ही निर्भर रहना होगा। राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वदेशी, बहिष्कार

---

32 एम. एन. राय ने *India in Transition* के पृष्ठ 195 पर लिखा है कि अतिवादियों की जीत के तीन मुख्य कारण थे (क) प्रारम्भिक भारतीय पूंजीवाद का धीमा किन्तु वृद्धिमान विकास, (ख) बेकार युवकों का असन्तोष, और (ग) उन भूस्वामियों का असन्तोष जिनके स्वार्थों के लिए बंग-भंग से खतरा उत्पन्न हो गया था।

और राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में हमें तीन शक्तिशाली हथियार दे दिये हैं और इनके द्वारा हमें स्वराज स्थापित करना है।

स्पष्ट है कि 1904 और विशेषकर 1905 से तिलक के नेतृत्व में एक नया राष्ट्रीय दल उठ खड़ा हुआ था। उसने स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति को प्राप्त करना अपना राजनीतिक उद्देश्य बना लिया था। किन्तु मितवादियों की पुरानी पार्टी को अभी भी विश्वास था कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के न्याय तथा स्वतन्त्रता के प्रेम को पुनर्जीवित किया जा सकता है। और कांग्रेस इसी पुरानी पार्टी के नियन्त्रण में थी। केवल दादाभाई के सम्माननीय व्यक्तित्व के कारण 1906 में दोनों दलों के बीच खुली फूट पड़ने से बच गयी। किन्तु 1907 के प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगा था कि कलकत्ता का समझौता केवल बाह्य और यान्त्रिक था, एक ऊपरी लीपापोती था, वास्तव में वह दोनों दलों के बीच अवयवी ढंग का मेलमिलाप नहीं करवा सका था। गोखले ने लखनऊ में एक भाषण दिया और उसमें उन्होंने कलकत्ता में पारित बहिष्कार सम्बन्धी प्रस्ताव के महत्व को कम करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि बहिष्कार का भावात्मक तत्व स्वदेशी में निहित है, साथ ही साथ बहिष्कार में मुझे कुछ कुत्सित और प्रतिशोधात्मक भावना दिखायी देती है। उनका तर्क था कि भारत की वर्तमान औद्योगिक स्थिति में विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार सम्भव ही नहीं है और इसलिए "जिस प्रस्ताव को हम कार्यान्वित नहीं कर सकते उसकी बात करके हम अपने को उपहासास्पद बना लेते हैं।" 4 फरवरी, 1907 को एक भाषण में भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का उल्लेख करते हुए गोखले ने कहा कि मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि जिसे नया दल कहा जाता है उसके एक नेता—श्री तिलक—ने अपने पत्र के हाल के एक अंक में कहा है कि मेरे लिए कार्य करने को औपनिवेशिक स्वशासन का आदर्श पर्याप्त है। 1907 के प्रारम्भिक महीने में तिलक और गोखले कलकत्ता में पारित विभिन्न प्रस्तावों के अभिप्राय तथा निहितार्थ के सम्बन्ध में निरन्तर विवादग्रस्त रहे। तिलक ने कहा : "हमारा विश्वास है कि राजनीति में परोपकार जैसी कोई चीज नहीं होती। इतिहास में इस बात का कोई उदाहरण नहीं है कि एक राष्ट्र ने दूसरे पर कभी बिना लाभ की आकांक्षा के शासन किया हो। हमें लार्ड मौर्ले में विश्वास है, और जो कुछ वे दार्शनिक के रूप में कहते हैं उसे भी हम प्रामाणिक मानते हैं। पुराने सम्प्रदाय का विचार है कि राजनीति को दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा शासित किया जा सकता है, किन्तु हमारा विश्वास है कि ये दोनों पूर्णतः भिन्न वस्तुएँ हैं, और इन्हें परस्पर मिलाना उचित नहीं है। पुराना सम्प्रदाय सोचता है कि तर्क द्वारा समझाने से रियायतें प्राप्त की जा सकती हैं। श्री गोखले को त्याग में विश्वास है। वे जनता से उठ खड़े होने तथा कुछ करने को कहते हैं। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को एक सांविधानिक अस्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि यहाँ की नौकरशाही क्रूर है और इंगलैण्ड का लोकतन्त्र उदासीन है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि अब तक के हमारे प्रयत्न पर्याप्त रूप में सफल नहीं हुए हैं। उन्होंने घोषित किया है कि स्थिति नाजुक है। इन सब बातों में वे नये दल के साथ हैं। किन्तु जब कार्य करने का प्रश्न उठता है तो वे कहते हैं : 'मेरे मित्र, हमें थोड़ी-सी प्रतीक्षा करनी चाहिए। सरकार की अवज्ञा करने से कोई लाभ नहीं होगा। वह हमें कुचल देगी।' अतः इसका निष्कर्ष यह है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भी गोखले नये दल के हैं, किन्तु व्यवहार में वे पुराने दल के अनुयायी हैं।"

'सांविधानिक आन्दोलन' पद के अर्थ के सम्बन्ध में भी तिलक तथा गोखले में भारी मतभेद था। गोखले का कहना था कि भारत का राजनीतिक आन्दोलन सांविधानिक होना चाहिए। किन्तु तिलक ने बतलाया कि भारत में मूल विधि के अर्थ में संविधान नाम की वस्तु नहीं है, जैसी कि पाश्चात्य सभ्यता वाले देशों में देखने को मिलती है। 1858 की घोषणा सही अर्थ में संविधान नहीं है, फिर उसका भी अनेक बार उल्लंघन किया जा चुका है। उन्होंने विनोद में कहा कि भारत में दण्ड-विधान को छोड़कर और कोई संविधान नहीं है। उनका कहना था कि भारत का राजनीतिक आन्दोलन सही तौर पर विधिक नहीं हो सकता, क्योंकि नौकरशाही की बदलती हुई सनकें विधि के उतार-चढ़ाव में प्रतिबिम्बित होती हैं और विद्यमान विधि-व्यवस्था उससे प्रभावित होने वाली जनता की सम्मति के बिना बदली जा सकती है। इसलिए तिलक ने समझाया कि न्याय, नैतिकता और

इतिहास ही राजनीतिक आन्दोलन में हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं। किन्तु तिलक के राजनीतिक कार्य और नीति में एक बात सबसे महत्वपूर्ण थी। वे कभी कानून नहीं तोड़ना चाहते थे। वे विद्यमान विधि-व्यवस्था की मर्यादा के भीतर रहकर ही आन्दोलन चलाना चाहते थे। उन्हें विधि की जटिलता का सूक्ष्म ज्ञान था, इसलिए वे विधि की सीमाओं के अन्तर्गत राजनीतिक प्रचार का काम चला सकते थे, वे सीमाएँ कितनी ही संकीर्ण क्यों न होतीं। किन्तु उनका कहना था कि सरकार को चाहिए कि न्यायपूर्ण व्यवहार के सिद्धान्त पर डटी रहे और अपनी बदलती हुई सनक और मन की मौज के अनुसार विधि में संशोधन न करे। किन्तु यद्यपि तिलक विद्यमान विधि-व्यवस्था की मर्यादाओं को स्वीकार करते थे, फिर भी उनमें तथा गोखले में आधारभूत अन्तर था। तिलक विद्यमान विधि की व्याख्या इस ढंग से करना चाहते थे कि अतिवादियों का राजनीतिक आन्दोलन चलाया जा सके। इसके विपरीत गोखले विद्यमान विधि का पालन करने के समर्थक थे। तिलक तो इस पक्ष में भी थे कि बहिष्कार का विस्तार किया जाय और सरकार के साथ सहयोग करना बन्द कर दिया जाय। किन्तु गोखले इन आदर्शों का कभी समर्थन नहीं कर सकते थे। उन्होंने तो सर्वेंट्स आव इण्डिया सोसाइटी के संविधान की प्रस्तावना में ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध को ईश्वरीय विधान के अंग के रूप में स्वीकार कर लिया था। तिलक स्वराज्य के आदर्श के पुजारी थे और नौकरशाही को सदैव देश का शत्रु समझते रहे।

(घ) **तिलक तथा अरविन्द का राजनीतिक चिन्तन**—तिलक अरविन्द की महान बौद्धिक प्रतिभा को स्वीकार करते थे। राष्ट्रवादियों ने अरविन्द के नेतृत्व को स्वीकार किया और 1907 में उन्हें अनेक राष्ट्रवादी सम्मेलनों का सभापति बनाया। अरविन्द तिलक को असाधारण बुद्धि से सम्पन्न और महान राष्ट्रवादी नेता मानते थे। सूरत की फूट का जो विवरण अतिवादियों ने प्रस्तुत किया उस पर हस्ताक्षर करने वालों में तिलक और अरविन्द के नाम अग्रगण्य थे। जनवरी 1908 में अरविन्द ने अपने योगी गुरु लैले के साथ पूना की यात्रा की। तिलक के निवास-स्थान गायकवाड़ वाड़ा में उन्होंने एक भाषण किया। उसमें उन्होंने बंगाली राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक आधारों का इतिहास बतलाया। 19 जनवरी को अरविन्द ने बम्बई की एक विशाल सभा में 'राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक स्रोत' शीर्षक विषय पर भाषण किया। बड़ौदा, नासिक, अमरावती और नागपुर में भी उनके भाषण हुए। 29 जनवरी, 1908 को उन्होंने 'वन्देमातरम्' का अर्थ समझाया। तिलक अपने साथियों और मित्रों, विशेषकर खापर्डे और मुंजे के साथ सभा में उपस्थित थे। अरविन्द के चरित्र तथा व्यक्तित्व के सम्बन्ध में तिलक की धारणा बहुत अच्छी थी। होम रूल आन्दोलन के दिनों में तिलक ने अरविन्द और लाला लाजपत राय की अनुपस्थिति पर भारी खेद प्रकट किया (उन दिनों लालाजी अमरीका में थे)।

तिलक राजनीति में अतिवादी थे, किन्तु उनके राजनीतिक चिन्तन तथा अतिवादी राष्ट्रवादियों के बंगाल सम्प्रदाय की राजनीतिक धारणाओं में भारी भेद था। विभाजन-विरोधी दिनों में पाल, अरविन्द, श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, अश्विनीकुमार दत्त तथा बंगाल के अन्य नेताओं ने तिलक के निर्देशन में कार्य किया, क्योंकि वे नये दल के माने हुए नेता थे। किन्तु चिन्तन के क्षेत्र में तिलक और अरविन्द के विचारों में सूक्ष्म अन्तर था। अरविन्द काली की धारणा को युग की भावना मानते थे। उन्होंने ईश्वर को राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालक बतलाया। उन्होंने स्वीकार किया कि अलीपुर जेल में मैंने कृष्ण के दर्शन किये थे। पाल और अरविन्द की रचनाओं में उदार, उत्प्रेरित और प्रज्ज्वलित संवेगात्मकता का प्राधान्य है। अरविन्द में हमें तत्वशास्त्रीय अमूर्त धारणाओं और धर्मतांत्रिक प्रतीकों के लिए तीव्र उत्साह देखने को मिलता है। अलीपुर जेल से छूटने के बाद अरविन्द ने कहा कि स्वयं सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है। इसके विपरीत तिलक को वास्तविक तथा स्थूल की अच्छी पहचान थी। अपने लेखों तथा भाषणों में उन्होंने देश के शासनतंत्र में तत्काल परिवर्तन करने पर सदैव बल दिया। उनकी रचनाओं में हमें आध्यात्मिकता पर आधारित समाज और ज्ञानात्मक समुदाय की कल्पना देखने को नहीं मिलती। अरविन्द पर बंकिम की उन शिक्षाओं का अधिक प्रभाव है जिनमें राष्ट्र का माता के रूप में अभिनन्दन और जयजयकार किया गया है। इसके विपरीत तिलक को शिवाजी और नाना फड़नवीस के जीवन से अधिक प्रेरणा मिली थी। बंगालियों के चरित्र

के पद पर नियुक्त होने के बाद ही सभा निरोधक अधिनियम पारित हुआ था और अब समाचारपत्रों के विषय में यह अधिनियम पास हुआ है। जब उदार दल (लिबरल पार्टी) सत्तारूढ़ है और शासन की बागडोर मौर्ले जैसे दार्शनिक और उदारवाद के सिद्धान्तों के प्रवर्तक के हाथों में है उसी समय इस अधिनियम जैसे भूतों का सर्वत्र जमघट लग जाय, इससे स्पष्ट है कि मंत्रिक (ओझा) ही अपने आदर्शों को छोड़ बैठे हैं।" मिंटो ने भी भाषण की स्वतन्त्रता का दमन करने के लिए अन्य अध्यादेशों तथा गश्ती चिट्ठियों के जारी करने की अनुमति देदी। दिसम्बर 1908 में दण्ड विधि संशोधक अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वितीय भाग का, समुदायों को अवैध घोषित करने के लिए, व्यापक रूप से प्रयोग किया गया। नौकरशाही ने भी विभाजित बंगाल के दोनों भागों में साम्प्रदायिक दंगे भड़काकर असन्तोष तथा विद्रोह की भावनाओं को तीव्र किया। ब्रिटिश नौकरशाही की सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता का निर्माण आधारभूत जातीय असमानता की नींव पर हुआ था और नन्दकुमार के मुकद्दमे के समय से ही विदेशी अधिकारी जिस प्रकार का आचरण और जिस भाषा का प्रयोग करते आये थे वह सर्वथा धृष्टतापूर्ण और अपमानजनक थी। भारत का तरुण वर्ग इस प्रकार के अपमान तथा घटिया व्यवहार को सहन नहीं कर सकता था। अतः भारत की अशान्ति दो बातों के बीच संघर्ष की स्वाभाविक उपज थी। एक ओर राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र देश के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य थे और दूसरी ओर पश्चिम की उद्दण्ड, शक्तिशाली, पूँजीवादी, वाणिज्यवादी सभ्यता की दमनकारी कार्यप्रणाली।

तिलक के राजनीति दर्शन एवं कार्यप्रणाली के विदेशी आलोचक और भारतीय क्रान्तिकारी, विशेषकर महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी, उन्हें क्रान्तिकारी समझते थे। शिरोल ने अपनी 'इण्डिया' नामक पुस्तक में लिखा : "तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हत्याओं को जन्म देने वाले वातावरण का निर्माण किया।"[40] गोखले की जीवनी के लेखक जॉन एस. हॉयलैण्ड का कथन है कि तिलक "भौतिक बल के सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ करते आये थे।"[41] ब्रैंसन, जिसने 1908 में तिलक के विरुद्ध मुकद्दमे का संचालन किया था, कहता है कि तिलक के लेख 'विद्रोह की प्रच्छन्न धमकी' से भरे हैं, और उनके उपदेश का सारांश है 'स्वराज्य अथवा बम।'[42]

तिलक ने निरपेक्ष अहिंसा का कभी समर्थन नहीं किया।[43] जिस निरपेक्ष अहिंसा का प्रवर्तन शान्तिवादियों तथा टॉलसटॉय ने किया है उसको उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया। उन्होंने शिवाजी द्वारा अफजलखाँ की हत्या को उचित ठहराया। उन्होंने चफेकर के साहस और चतुराई की तथा बंगाल के क्रान्तिकारियों को प्रचण्ड देशभक्ति की प्रशंसा की। दार्शनिक के रूप में तिलक ने संकल्पों की शुद्धता को सर्वाधिक महत्व दिया और बतलाया कि बाह्य आचरण नैतिकता की कसौटी कभी नहीं माना जा सकता। अतः यदि कोई अर्जुन अथवा शिवाजी अथवा कोई उत्साही देशभक्त उच्च लोकसंग्रह की भावना से प्रेरित होकर हिंसात्मक कार्य कर बैठता तो तिलक ऐसे व्यक्तियों की कभी भर्त्सना नहीं करते। (किन्तु एक बार उन्होंने 28 अगस्त, 1914 को 'मराठा' में एक पत्र लिखकर क्रान्तिकारी और हिंसात्मक कार्यवाहियों की निन्दा अवश्य की थी)। किन्तु तत्वशास्त्रीय दृष्टि से परोपकारार्थ की गयी हिंसा के समर्थक होते हुए भी तिलक ने राजनीतिक हत्या का उपदेश नहीं दिया और न उन्होंने कभी किसी को राजनीतिक साधन के रूप में हत्या करने का निमन्त्रण ही दिया। जहाँ तक उनका स्वयं का सम्बन्ध था, वे राजनीतिक संगठन और आन्दोलन के लिए विधिक तरीकों को ही स्वीकार करते थे। उनका विचार था कि देश की परिस्थितियाँ क्रान्तिकारी कार्यवाही के अनुकूल नहीं हैं। 1906 में वे नासिक गये और लोगों को समझाया कि तुम्हें क्रान्तिकारी कार्यवाहियों में नहीं फँसना चाहिए। किन्तु उन्होंने क्रान्तिकारी कार्यों का नैतिक आधार पर विरोध नहीं किया। उनका कहना था कि क्रान्तिकारी तरीका समयानुकूल और कार्यसाधक नहीं है। एक

---

40 वा. शिरोल, *India*, पृष्ठ 122।
41 जॉन एस. हॉयलैण्ड, *Gokhale*, पृष्ठ 25।
42 एन. सी. केलकर, *Tilak Trial of* 1908, पृष्ठ 197-98।
43 तिलक, 'गीता-रहस्य' (हिन्दी), पृष्ठ 375, 377, 392, 394।

बार उन्होंने कहा था : "भीख माँगने से लेकर खुले विद्रोह तक जो भी उपाय तुम्हें अपनी सामर्थ्य के अनुकूल जान पड़े उसे चुन लो और उसी को करो, किन्तु याद रखो कि स्वधर्म सर्वोपरि है।" उन्होंने स्वीकार किया कि गीता में धर्मानुकूल हिंसा का उपदेश दिया गया है, शर्त यह है कि हिंसा लोकसंग्रह के लिए की गयी हो और अहंकार की भावना से सर्वथा शून्य हो। किन्तु भारतीय राजनीति के ऐतिहासिक सन्दर्भ में उन्होंने राजनीतिक हत्याओं एवं आतंकवादी कार्यवाहियों का समर्थन नहीं किया, क्योंकि उनकी निगाह में वे राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति की दृष्टि से लाभप्रद नहीं थीं। उनका विचार था कि राजनीतिक हत्याओं से नौकरशाही को राष्ट्रीय आन्दोलन को, जो अभी शैशवावस्था में है, कुचलने का बहाना मिल जायगा। फिर भी जो व्यक्ति देश के लिए हिंसा करता उसकी तिलक भर्त्सना नहीं करते थे। उन्हें अपने देश तथा उसके निवासियों से प्रगाढ़ प्रेम था। उन्होंने सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध की गयी राजनीतिक हिंसा की खुले तौर पर कभी निन्दा नहीं की। उन्होंने हिंसात्मक कार्यवाहियों की अनुमति नहीं दी, वे उन्हें लाभप्रद भी नहीं समझते थे, किन्तु वे उनकी खुली निन्दा करने की सीमा तक जाने को तैयार नहीं थे।

यह सत्य है कि तिलक का उन दिनों के प्रमुख क्रान्तिकारियों से सम्पर्क था। वे श्यामजी कृष्ण वर्मा से भलीभाँति परिचित थे। 4 जुलाई, 1905 को तिलक ने 'केसरी' में एक लेख लिखा और उसमें कृष्ण वर्मा के राजनीतिक विचारों की तुलना हिंडमन के विचारों से की। विनायक दामोदर सावरकर के पिता दामोदर पन्त सावरकर तिलक के प्रशंसक थे। अपने स्कूल जीवन में विनायक सावरकर ने तिलक की प्रशंसा में कविताएँ लिखीं। सावरकर तथा उनके भाई ने मित्रमेला तथा अभिनव भारत की स्थापना की थी।[44] इन दोनों संस्थाओं का उद्देश्य सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा देश के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना था।[45] 1906 में सावरकर ने विदेशी वस्त्रों की होली जलाने में प्रमुख भाग लिया। फर्ग्युसन कॉलिज के प्रिंसिपल परांजपे ने उन पर दस रुपये जुर्माना किया। तिलक ने प्रिंसिपल के इस कार्य की निन्दा की और लिखा कि "ये लोग हमारे गुरु नहीं हैं।"[46] फर्ग्युसन कॉलिज पूना में पढ़ने के दिनों में सावरकर ने तिलक से सम्पर्क रखा और तिलक ने उन्हें श्यामजी कृष्ण वर्मा के लिए एक परिचय-पत्र दिया।[47] सम्भवत: 1908 में भी तिलक का सावरकर से सम्पर्क था। सावरकर के जीवनी-लेखक ने उल्लेख किया है कि गोखले से बातचीत करके मोर्ले ने पता लगा लिया था कि "तिलक का सावरकर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को उन्हें जेल में डाल देने का आदेश दिया था। इसका प्रमाण यह है कि तिलक के मुकद्दमे के फैसले के ठीक पहले अभिनव भारत के कुछ सदस्यों ने बम्बई में ब्रिटिश सरकार का एक सन्देश, जिसमें यह सूचना थी, बीच में ही उड़ा लिया था।"[48] 1915 के पूना प्रान्तीय सम्मेलन में कुछ प्रतिनिधियों ने सावरकर तथा अन्य राजबन्दियों की रिहाई के लिए एक प्रस्ताव पास करवाना चाहा। किन्तु उस समय प्रस्ताव पर मतभेद हो जाने का डर था। तिलक चाहते थे कि सभी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किये जायँ। अत: प्रस्ताव वापस ले लिया गया।[49] यह भी सम्भव है कि 1919 अथवा 1920 में तिलक ने मौंटेग्यू को एक पत्र लिखकर सावरकर की रिहाई की प्रार्थना की थी।[50] फिर भी यद्यपि तिलक सावरकर को भलीभाँति जानते थे और उनके कार्यकलाप तथा मामलों में

---

44 धनंजय कीर, *Life of V. D. Savarkar*, पृष्ठ 9।

45 एम. एन. राय भारतीय आतंकवाद और क्रान्तिवाद के सामाजिक कारणों का विश्लेषण करते हुए *India in Transition* में पृष्ठ 200 पर लिखते हैं : "इन गुप्त संगठनों के सदस्य जैसुइट ढंग के रोमांटिक संन्यासी थे, न कि राजनीतिक दूरदर्शिता रखने वाले क्रान्तिकारी। वे एक ऐसे समाज की उपज थे जो घोर संकट में पड़ा हुआ था।···इन दोनों परस्पर विरोधी शक्तियों ने राजनीतिक शून्यवाद, सामाजिक विभ्रम और आध्यात्मिक ढंग की धार्मिक कट्टरता को जन्म दिया।

46 धनंजय कीर, *Life of V. D. Savarkar*, पृष्ठ 19-20।

47 वही, पृष्ठ 25।

48 वही, पृष्ठ 38-39।

49 *Reminiscences*, जिल्द 2, पृष्ठ 27।

50 धनंजय कीर, *Savarkar*, पृष्ठ 144।

दिलचस्पी रखते थे, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि तिलक ने सावरकर को क्रान्तिकारी और आतंकवादी कार्य की प्रेरणा दी थी।

कुछ लोगों का कहना है कि तिलक का क्रान्तिकारी होना इस बात से प्रमाणित होता है कि 1903 में नेपाल में हथियारों का जो कारखाना खोला गया था उसमें तिलक का हाथ था। 1901 की कलकत्ता कांग्रेस के बाद कलकत्ता में रहने वाली माताजी नाम से प्रसिद्ध एक महाराष्ट्री महिला ने तिलक और वसु काका जोशी से नेपाल जाने की प्रार्थना की। खाडिलकर वहाँ गये और अपना नाम कृष्णराव भट्ट रख लिया। योजना यह थी कि नेपाल में हथियारों का एक कारखाना खोला जाय। खाडिलकर ने किसी व्यवसाय के बहाने प्रस्तावित कारखाने सम्बन्धी कामकाज आरम्भ कर दिया। किन्तु अन्त में योजना त्याग देनी पड़ी, क्योंकि कोल्हापुर के दामू जोशी ने कोल्हापुर महाराज को योजना का रहस्य बता दिया था। खाडिलकर नेपाल के महाराजा की सहायता के फलस्वरूप बच गये।[51] इस घटना से केवल यही सिद्ध होता है कि तिलक नेपाल में हथियारों का एक कारखाना खोलना चाहते थे, किन्तु इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनके मन में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध क्रान्ति खड़ी करने की योजना थी। डा. पी. एस. खनखोजे ने अगस्त 1953 और फरवरी 1954 में 'केसरी' में एक लेखमाला प्रकाशित की। उसमें उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लोकमान्य देश के क्रान्तिकारी युवकों के गुरु और शिक्षक थे।[52] उनका कहना है कि तिलक ने कुछ नवयुवकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने की भी सलाह दी थी। यह सत्य है कि खनखोजे के इन लेखों से तिलक के व्यक्तित्व के कुछ ऐसे पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है जिनके सम्बन्ध में पहले हमारी जानकारी इतनी अच्छी नहीं थी। किन्तु उनसे ऐसा ठोस और निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलता कि तिलक स्वयं क्रान्तिकारी थे। वह अपने समय के महान राजनीतिक नेता और उत्कट देशभक्त थे; इसलिए देशप्रेमी युवक उनसे प्रेरणा की अपेक्षा करते थे। किन्तु पूना के डाक्टर वी. एम. भट्ट का मत है कि 1908 तक तिलक का क्रान्तिवादियों से घनिष्ठ सम्बन्ध था और उन्होंने उनको प्रेरणा भी दी।[53] उसका कहना है कि तिलक ने अपने भाषणों और लेखों में क्रान्तिकारी कार्यवाहियों और नीतियों का उल्लेख नहीं किया, किन्तु वे खाडिलकर तथा वसु काका जैसे अपने विश्वासपात्रों से ही उसकी चर्चा करते थे।

तिलक कहा करते थे कि संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। जिनमें सात्विक गुण की प्रधानता होती है वे आध्यात्मिक तथा नैतिक चिन्तन में संलग्न रहना पसन्द करते हैं, और अपने सात्विक जीवन से अपने साथियों को शिक्षा और प्रेरणा देते हैं। राजसिक तत्व की प्रधानता वाले व्यक्ति राजनीतिक आन्दोलन और प्रचार के कार्य में जुट जाते हैं। जिनमें तामसिक गुण प्रमुख होता है वे हिंसात्मक कार्यवाहियों का मार्ग अपनाते हैं। किन्तु तिलक ने तामसी व्यक्तियों की क्रान्तिकारी और हिंसात्मक कार्यवाहियों को हतोत्साह किया। 1906 में वे शिवाजी उत्सव के सम्बन्ध में नासिक गये और वहाँ कहा : "मैंने उन्हें सलाह दी कि अपने कार्यकलाप को सांविधानिक आन्दोलन अथवा शिक्षा के कार्य तक सीमित रखो और अनुचित मार्ग पर मत चलो।"[54] 1907 में पूना के शिवाजी उत्सव में तिलक ने कहा कि राष्ट्रीय दल जो कुछ चाहता है वह एक अर्थ में क्रान्ति प्रतीत हो सकता है। उसका अभिप्राय है कि भारत के शासन के सम्बन्ध में नौकरशाही का जो सिद्धान्त है उसे पूर्णतः बदल दिया जाय। यह सत्य है कि क्रान्ति रक्तहीन होनी चाहिए। किन्तु यह समझना मूर्खता होगी कि यदि रक्तपात नहीं होगा तो जनता को कष्ट भी नहीं सहने पड़ेंगे।....आपकी क्रान्ति रक्तहीन होनी चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आपको कष्ट न झेलने पड़ें अथवा जेल न जाना पड़े।" इससे स्पष्ट है कि तिलक के मन में सशस्त्र विद्रोह अथवा क्रान्ति का विचार नहीं था।

तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद की नींव का निर्माण किया और अशान्ति तथा राजद्रोह की

---

51 नेपाल की अस्त्र-निर्माण शाला (फैक्टरी) के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिए देखिये खाडिलकर के मराठी निबन्धों की द्वितीय जिल्द तथा देवगिरीकर रचित वसु काका जोशी का मराठी जीवन-चरित।

52 डा. पी.ए. मुंजे के 2 अगस्त, 1953, 4 अगस्त, 1953 और 23 फरवरी, 1954 के 'केसरी' में प्रकाशित लेख।

53 डा. वी. एम. भट्ट ने इस पुस्तक के लेखक को एक पत्र लिखा और उसमें अपने विचार व्यक्त किये।

54 *Tilak vs Chirol*, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 130-31 तथा पृष्ठ 179।

भावना तीव्र की। किन्तु वे क्रान्तिकारी नहीं थे। किन्तु यदि क्रान्ति का अर्थ आधारभूत परिवर्तन हो तो कहा जा सकता है कि तिलक विद्यमान ऐतिहासिक स्थिति में गम्भीर परिवर्तन चाहते थे। 'गीता-रहस्य' में तो उन्होंने अन्ततोगत्वा सिद्ध पुरुषों के समाज के साकार होने की कल्पना की है।[55] स्वर्ण युग अर्थात सिद्ध पुरुषों के समाज की स्थापना तो विश्व इतिहास में एक गम्भीरतम क्रान्ति सिद्ध होगी। चूंकि तिलक सामाजिक व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन चाहते थे, अतः इस व्यापक अर्थ में उन्हें क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। किन्तु वे सामाजिक शास्त्रों में प्रयुक्त संकीर्ण अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं थे। उन्हें बाकुनिन, क्रोपॉटकिन अथवा लेनिन आदि क्रान्तिकारियों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। और न वे सशस्त्र विद्रोह में विश्वास रखने वाले किसी दल के ही नेता थे। उनका सन्देश यह नहीं था कि किसी ऐसे दल के नेतृत्व में सामूहिक हिंसा संगठित की जाय जो प्रशिक्षित हो और क्रान्ति के अग्रगामी दल का काम करता हो। उनका विचार था कि भारत जैसे पूर्णतः निरस्त्रीकृत और विघटित समाज में सशस्त्र क्रान्ति राष्ट्रीय इतिहास को गति प्रदान नहीं कर सकती। किन्तु यद्यपि भारत में संगठित हिंसा सम्भव नहीं थी फिर भी कभी-कभी हिंसात्मक विस्फोट की घटनाएँ हो जाती थीं और विदेशी नौकरशाही के कुछ सदस्य मार दिये जाते थे। नौकरशाही ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि तिलक की शिक्षाएँ इन हिंसात्मक कार्यवाहियों के लिए जिम्मेदार हैं और इस बात की अभिव्यक्ति है कि देश की सरकार को उलट देने का षड्यंत्र चल रहा है। तिलक ने निरन्तर यही तर्क दिया कि मैं राष्ट्रवादी हूँ और अपने देश से प्रेम करता हूँ, किन्तु मैं ऐसी किसी योजना से परिचित नहीं हूँ जिसका उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को हिंसात्मक तरीके से उलट देना हो। और न उन्हें सशस्त्र विद्रोह की सम्भावना में ही विश्वास था। भारत में उस समय इस प्रकार की कार्यवाही के लिए न तो प्रशिक्षित नेतृत्व था और न कोई प्रभावकारी दल ही था। तिलक का दृष्टिकोण रूस के उन आतंकवादियों और नाशवादियों से भिन्न था जो यदाकदा राजनीतिक हत्याएँ कर दिया करते थे। तिलक ने आन्दोलन की विधिक प्रणाली को स्वीकार किया। उन्होंने नीति और लाभकारिता को ध्यान में रखते हुए क्रान्तिकारी अस्त्रों के प्रयोग की अनुमति नहीं दी, यद्यपि उन्होंने क्रान्तिकारी तरीकों की कभी नैतिक आधार पर निन्दा नहीं की।

(च) तिलक का स्वराज्य दर्शन—तिलक का विश्वास था कि स्वराज्य की प्राप्ति भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान विजय होगी। इसलिए 1916 की लखनऊ कांग्रेस में उन्होंने भारतवासियों को मंत्र दिया कि "स्वराज्य भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है।" यद्यपि उन्होंने अपने लेखों और भाषणों में सदैव इस बात पर बल दिया कि स्वराज्य का अर्थ ब्रिटेन के प्रभुत्व का निषेध अथवा उससे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं है, फिर भी जनता समझती थी कि हृदय से वे पूर्ण स्वराज्य की ही कामना करते हैं। एक बार उन्होंने लिखा था कि "स्वराज्य हमारी समृद्धि की नींव है न कि उसका शिखर।" होम रूल आन्दोलन के दिनों में वे शब्दों के प्रयोग में सदैव सतर्क रहे और कहते रहे कि मैं राजा-सम्राट के विरुद्ध नहीं हूँ, मैं तो केवल आंग्ल-भारतीय नौकरशाही को बदलना चाहता हूँ। उन्होंने विश्वासपूर्वक घोषणा की कि नौकरशाही की निरंकुशता के विरुद्ध प्रचार करना राजद्रोह नहीं है। 1916 की राजनीतिक स्थिति में आवश्यक था कि जो राष्ट्रीय शक्तियाँ तिलक के नेतृत्व में सूत्र-बद्ध हो गयी थीं उनकी एकता को और अधिक सुदृढ़ किया जाय। विश्व युद्ध ने मानसिक जगत में उथल-पुथल मचा दी थी, और भारत में भी राजनीतिक चेतना तीव्र हो रही थी। विलिंगडन ने गोखले से युद्धोत्तर सुधारों के सम्बन्ध में वक्तव्य देने की जो प्रार्थना की थी उससे भी नयी भावना का परिचय मिल चुका था। किन्तु तिलक स्वराज्य (होम रूल) से कम किसी चीज से सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। वे जानते थे कि चूंकि भारतीय सेना फ्रान्स में लड़ने के लिए भेजी गयी है इसलिए ऐसी स्थिति में नौकरशाही उग्र प्रतिशोधात्मक नीति नहीं अपना सकती है। किन्तु उन्हें यह भी विदित था कि सरकार स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन की वैधता पर आपत्ति करेगी, इसलिए वे चाहते थे कि मजदूर दल के नेताओं की मध्यस्थता से ब्रिटिश संसद में भारतीय स्वराज्य के लिए एक विधेयक

---

55 एम. एन. राय *India in Transition* में पृष्ठ 209 पर लिखते हैं : "तिलक में विद्रोही भावना का अभाव था और वे चतुर राजनीतिज्ञ थे, अतः जहां तक धार्मिक विश्वासों और आध्यात्मिक दुराग्रहों का सम्बन्ध है वे गान्धी से अधिक मिलते-जुलते थे।"

प्रस्तुत कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त तिलक चाहते थे कि भारत में राजनीतिक शक्तियाँ स्वराज्य के लिए संगठित प्रचार में लगा दी जायँ। 1916 का वर्ष भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण था, क्योंकि तिलक और बेसेंट दोनों ने अपनी-अपनी होम लीग प्रारम्भ कर दी थी। शीघ्र ही दोनों लीगें इतनी लोकप्रिय बन गयीं कि सरकार को कठोर दमनकारी तरीके अपनाने पड़े। युद्ध के कारण भारत में उद्योगों का जो विकास हुआ उससे पूँजीपति वर्ग की वृद्धि होने लगी, और इस नये वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन को आंशिक रूप में आर्थिक सहायता दी। मुसलमानों में भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि होने लगी, क्योंकि ब्रिटेन तुर्की के विरुद्ध युद्ध कर रहा था, इसलिए वे ब्रिटेन से अप्रसन्न थे। मई 1915 में अली बन्धुओं को नजरबन्द कर दिया गया था, इससे मुसलमान और भी क्रुद्ध हुए। तिलक ने 1916 में स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन आरम्भ किया, यह तथ्य उनकी राजनीतिक यथार्थता की सूझबूझ का प्रमाण है।

स्वराज्य आन्दोलन अप्रैल 1916 में औपचारिक रूप से प्रारम्भ किया गया। अप्रैल 27, 28 और 29 को बेलगाँव में बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। गान्धीजी भी सम्मेलन में सम्मिलित थे क्योंकि गंगाधरराव देशपाण्डे ने उनसे सम्मेलन में उपस्थित होने की प्रार्थना की थी। तिलक की प्रार्थना पर गान्धीजी ने सम्मेलन का प्रतिनिधि बनना स्वीकार कर लिया, यद्यपि वे होम रूल लीग में सम्मिलित नहीं हुए।

बेलगाँव के सम्मेलन में तिलक ने युद्ध तथा राजभक्ति पर महत्वपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने इस आरोप का जोरदार शब्दों में खण्डन किया कि भारतवासी युद्ध में की गयी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप अपने अधिकारों की माँग कर रहे थे। उनका कहना था कि भारतवासियों की माँगें युद्ध से बहुत पहले की हैं। उन्होंने सरकार से अस्त्र अधिनियम (आर्म्स एक्ट) को निरस्त करने की प्रार्थना की। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा कि यदि सरकार युद्ध के दौरान ऐसा करने के विरुद्ध हो तो युद्ध के उपरान्त यह किया जा सकता है। उन्होंने घोषणा की कि राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश शासन के स्थान पर किसी अन्य विदेशी शक्ति की हुकूमत स्थापित करने की कभी कल्पना नहीं की। उन्होंने कहा : "इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान प्रशासन व्यवस्था की अनेक कमियों के कारण देश में बहुत कुछ असन्तोष तथा अशान्ति फैली हुई है। किन्तु इस असन्तोष से हमारी माँगें पूरी होने में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। नौकरशाही शक्ति त्यागने के लिए तैयार नहीं है, इसका मुख्य कारण उसका यह डर है कि वह अपनी प्रतिष्ठा खो बैठेगी। किन्तु युद्ध में हमारी सेवाओं ने हमारी स्थिति के सम्बन्ध में इंगलैण्ड की जनता की आँखें खोल दी हैं और उसे विश्वास दिला दिया है कि नौकरशाही की शंकाएँ पूर्णतः निराधार हैं। अब उसने समझ लिया होगा कि भारतवासियों के सम्बन्ध में नौकरशाही का अविश्वास उसके अपने स्वार्थ के कारण था। अब चूँकि ब्रिटिश लोकशाही को भारत की सही स्थिति का ज्ञान हो गया है, इसलिए ब्रिटिश पार्लमेंट के अधिनियम के द्वारा अपनी माँगों को स्वीकार करवाने के लिए दबाव डालने का यही समय सबसे अधिक उपयुक्त है। मेरी राय में हमारी राजभक्ति तथा वर्तमान युद्ध के बीच यही सम्बन्ध है।" उन्होंने शासक वर्ग को चेतावनी दी कि उसे इस बात से सबक लेना चाहिए कि यूनान और रोम के विनाश का कारण शासकों के प्रति शासितों की घृणा थी। उन्होंने कहा कि मैंने जनता को ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए कभी प्रोत्साहित नहीं किया और न कभी ब्रिटिश शासन को उलट देने का ही समर्थन किया है। किन्तु उन्होंने जोर देकर घोषणा की कि हर व्यक्ति को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सांविधानिक तरीकों से संघर्ष करना चाहिए। यद्यपि वे ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद नहीं करना चाहते थे, फिर भी उनकी धारणा थी कि वर्तमान समय सर्वाधिक उपयुक्त है जब भारतवासियों को अपनी माँगों के लिए अनुरोध करना चाहिए। अपने भाषण के अन्त में उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि इस विनाशकारी अस्त्र अधिनियम को समाप्त कर दिया जाय; इस एक रिआयत से ही जनता को भारी लाभ पहुँचेगा।

28 अप्रैल, 1916 को जौजफ बैप्टिस्टा की अध्यक्षता में बम्बई, महाराष्ट्र, बरार तथा कर्नाटक के लिए एक संयुक्त होम रूल लीग की स्थापना की गयी। तिलक ने लीग का उद्घाटन समारोह मनाया और उस अवसर पर स्वराज्य (होम रूल) का अर्थ और महत्व ओजस्वी भाषा में समझाया।

सर आइजक बट ने 'होम रूल' शब्द का आविष्कार किया था। आयरलैण्ड के होम रूल एसोसिएशन की पहली बैठक डबलिन में 1876 में हुई और उसमें ब्रिटेन के साथ आयरलण्ड के वैधानिक सम्बन्धों का विरोध किया गया। तिलक ने 1908 में अपने अभियोग भाषण में और 1914 में 'मराठा' को लिखे गये एक पत्र में स्वराज्य (होम रूल) का उल्लेख किया था। गाँधीजी ने 1909 में 'इण्डियन होम रूल' (हिन्द स्वराज्य) नामक एक पुस्तिका लिखी थी। होम रूल लीग प्रारम्भ करने से पहले तिलक ने काँग्रेस के समक्ष प्रस्ताव रखा कि एक प्रतिनिधि मण्डल इंगलैण्ड भेजा जाय, किन्तु प्रस्ताव सफल न हो सका। होम रूल लीग स्थापित करके तिलक ने अपनी उत्कट देशभक्ति प्रमाणित कर दी और सरकार के उन पिट्ठुओं की आशाओं पर पानी फेर दिया जो समझते थे कि वे सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लेंगे और वैदिक पुरातत्व तथा तत्वशास्त्रीय बारीकियों की खोज में अपना समय लगा देंगे। होम रूल नाम ही महत्वपूर्ण था। वह इस बात का द्योतक था कि तिलक पर आयरलैण्ड के राजनीतिक आन्दोलन और कार्यविधि का प्रभाव था। 1916 में आयरलैण्ड में जो ईस्टर विद्रोह हुआ उसने भारतीय नेताओं का ध्यान उस देश की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। 1905-1908 में तिलक ने स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध का पंचसूत्री कार्यक्रम जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था (कभी-कभी बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध को एक ही मानकर उसे चतुर्सूत्री कार्यक्रम भी कहा जाता था)। किन्तु 1916 से तिलक ने केवल होम रूल पर अपनी शक्ति केन्द्रित की। होम रूल शब्द स्वराज्य का पर्यायवाची है। होम रूल लीग के सम्बन्ध में अपने मितवादी मित्रों को सन्तुष्ट करने के लिए तिलक ने काँग्रेस के सिद्धान्त स्वीकार कर लिये। फिर भी उन्हें एक पृथक संगठन कायम करना पड़ा, क्योंकि अपने 1906 और 1907 के अनुभव से वे जानते थे कि सम्पूर्ण काँग्रेस एक उग्र कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेगी। स्वदेशी के दिनों में तिलक ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और ब्रिटिश मतदाताओं से अपील करने के विचार का समर्थन नहीं किया था, किन्तु युद्ध के कारण परिवर्तित हुई परिस्थितियों में उन्होंने अपनी नीति में संशोधन कर लिया। तिलक की होम रूल लीग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य चाहती थी और यह ब्रिटिश पार्लमेंट के वैधानिक अधिनियम के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। लीग की इच्छा थी कि भारत की राजनीतिक माँगों के आधार पर पार्लमेंट में एक विधेयक प्रस्तुत किया जाय और इसके लिए इंगलैण्ड में आन्दोलन चलाना आवश्यक था।

मई 1916 में तिलक जिला सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए अहमदनगर गये और वहाँ कॉटन ब्रोकर्स एसोशिएशन के तत्वावधान में भाषण दिया। उन्होंने कहा कि "मैं प्रशासन के ढाँचे में कुछ लाभदायक परिवर्तन करना चाहता हूँ। हम ब्रिटिश पार्लमेंट के समक्ष एक विधेयक प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसमें वे सब परिवर्तन सन्निहित हों जिनकी माँग हम कर रहे हैं।" उन्हें यह बहुत बुरा लगता था कि उपनिवेशी स्वशासन के अधिकार का उपभोग करें और भारतवासियों के साथ बालकों जैसा व्यवहार किया जाय। उन्होंने जनता को समझाया कि युद्ध ने हमें जो स्वर्ण अवसर दिया उससे लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने ऋषियों की-सी वाणी में घोषणा की : "कोई राष्ट्र तब तक शक्तिशाली और स्वस्थ नहीं हो सकता जब तक वह स्वतन्त्र नहीं है।"

31 मई, 1916 को तिलक ने अहमदनगर में स्वराज्य पर पहला भाषण किया। उसमें उन्होंने कहा कि चूँकि अंग्रेज साम्राज्यवादी नौकरशाही का शासन स्वभाव से विदेशी है, अतः जो चीजें स्वभाव से विदेशी हैं उन्हें विदेशी बतलाना न राजद्रोह है और न कोई अपराध है। विदेशी से तिलक का अर्थ केवल विधर्मी नहीं था। उनका कहना था कि विदेशीपन का सम्बन्ध तो हितों से है, इसलिए यदि कोई व्यक्ति भारत के कल्याण के लिए कार्य करता आया है तो वह विदेशी नहीं है। जो राजा अपने कर्तव्य का पालन करता है वह विदेशी नहीं है। किन्तु हिन्दू दर्शन के अनुसार जो राजा अपने स्वार्थ का ही ध्यान रखता है और अपने कर्तव्यों का सम्यक् रूप से पालन नहीं करता वह विदेशी है। कर्तव्य का पालन करना नैतिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टि से अपरिहार्य है। सरकार का कर्तव्य तो लगभग धार्मिक कर्तव्य जैसा है। शासन की शक्ति बल-प्रयोग द्वारा अपहरण अथवा जनता की सम्मति से प्राप्त की जा सकती है, किन्तु हर हालत में जनता के प्रति सरकार का उत्तरदायित्व होता है। जनता सरकार को कर इसलिए देती है कि वह अपने कर्तव्यों का पालन कर

सके। तिलक स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में कुछ अच्छे भी काम किये हैं, किन्तु उनका कहना था कि जनता के उत्थान और उन्नति के लिए अभी बहुत कुछ करना है। यदि कोई सरकार इसलिए क्रुद्ध होती है कि उसे उसके कर्तव्यों का स्मरण दिलाया जाता है तो उसका रवैया उचित नहीं कहा जा सकता। तिलक ने आग्रह किया कि बिचौलियों के अर्थात् अधिकारी वर्ग से पिंड छुड़ाना आवश्यक है। उन्होंने कहा : "हमें इन हस्तक्षेप करने वाले बिचौलियों की आवश्यकता नहीं है।" यह आवश्यक है कि जनता को स्वराज्य दिया जाय जिससे वह अपने आन्तरिक मामलों का प्रबन्ध स्वयं कर सके। स्वराज्य का अर्थ सम्राट के शासन का उन्मूलन करना और किसी देशी रियासत का शासन कायम करना नहीं है। एक धार्मिक उदाहरण देते हुए तिलक ने कहा कि हमें मन्दिर के देवताओं को नहीं हटाना है, केवल पुजारियों को बदलना है। सम्राट अपनी गोरी तथा काली प्रजा के बीच भेदभाव नहीं करते, इसलिए नौकरशाही पुजारियों को बदलने से उनका अहित नहीं होगा। स्वराज्य का अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेज सरकार के स्थान पर जर्मन सरकार को स्थापित कर दिया जाय। स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन और प्रबन्ध भारतवासियों के हाथों हो। हम ब्रिटेन के राजा-सम्राट को बनाये रखने में विश्वास करते हैं। तिलक ने जोरदार शब्दों में घाषणा की कि स्वराज्य के बिना भारत का भविष्य अन्धकार में है।

1 जून, 1916 को तिलक ने अहमदनगर में स्वराज्य पर दूसरा भाषण दिया। उन्होंने श्रोताओं से आग्रह किया कि तुम्हें अपने सभी मानवोचित प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त करना चाहिए। वे यह भी चाहते थे कि भारतवासियों को ब्रिटिश नागरिकता के सभी अधिकार प्रदान किये जायँ। तिलक की स्वराज्य योजना में राजा-सम्राट के लिए स्थान था। यदि राष्ट्र के निबर्लीकरण और क्षय को रोकना है तो स्वराज्य अपरिहार्य है। ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिक विकासक्रम से स्पष्ट है कि इंगलैण्ड अपने साम्राज्य की इकाइयों को स्वायत्तता प्रदान करने पर विवश होगा, किन्तु भारतवासियों को परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। तिलक ने चेतावनी दी कि नौकरशाही हमारी बात न सुनने के लिए कृतसंकल्प है। उन्होंने स्पष्ट किया कि नौकरशाही के अन्तर्गत गवर्नर से लेकर पुलिस के सिपाही तक का सम्पूर्ण प्रशासकीय ढाँचा सम्मिलित है। उनका आग्रह था कि भारतवासियों को दृढ़ता और साहस के साथ स्वराज्य के अधिकारों की माँग करनी चाहिए, और अपने अधिकारों पर बलपूर्वक आग्रह करना चाहिए। उन्होंने बतलाया कि स्वराज्य का अर्थ उन अधिकारों को प्राप्त करना है जो देशी रियासतों को उपलब्ध हैं, अन्तर केवल इतना होगा कि स्वराज्य के अन्तर्गत वंशानुगत राजाओं के स्थान पर निर्वाचित अध्यक्ष होगा। परराष्ट्र नीति पर इंगलैण्ड का नियन्त्रण रहेगा। तिलक सचमुच यह नहीं चाहते थे कि जर्मनी आकर इंगलैण्ड का स्थान ले ले। अपने इस प्रसिद्ध भाषण में तिलक ने प्रान्तों के भाषावार बटवारे की सम्भावना को भी स्वीकार किया। "भारत बड़ा देश है। यदि आप चाहें तो उसे भाषाओं के आधार पर विभाजित कर लीजिये।" तिलक की कल्पना थी कि स्वराज्य के अन्तर्गत देश का राजनीतिक ढाँचा संघात्मक होगा। उन्होंने अमेरिका की कांग्रेस (विधानांग) का उदाहरण दिया और कहा कि भारत सरकार को भी चाहिए कि अपने हाथों में उसी प्रकार की शक्तियाँ रखे और एक साम्राज्यीय परिषद के द्वारा उनका प्रयोग करे। उनका कहना था कि यदि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्वराज्य के मामले को अपने हाथों में ले और उसके लिए एक लीग की स्थापना करले तो स्वराज्य का समर्थन करने वाली देश की सभी लीगें उसी में विलीन हो जायँगी। उन्होंने बतलाया कि कांग्रेस का अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है इसलिए वह वर्ष भर प्रचार का कार्य नहीं चला सकती। इसीलिए होम रूल लीग नाम के पृथक संगठन की स्थापना की गयी है।

8 अक्टूबर, 1917 को तिलक ने इलाहाबाद में होम रूल लीग के प्रांगण में स्वराज्य पर एक अन्य भाषण दिया और मदनमोहन मालवीय ने सभा की अध्यक्षता की। तिलक ने उन तत्वों का तार्किक विश्लेषण किया जो लीग की स्थापना के लिए उत्तरदायी थे। अपने भाषण में उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध की धारणा की भी समीक्षा की। उन्होंने कहा कि जनता उन कारकों का पालन नहीं कर सकती जो न्याय तथा नैतिकता के विरुद्ध हैं। उसे कानून के लाभ और हानि पर विचार करना है, और यदि हानि अधिक दिखायी देती है तो उसके लिए अपनी नैतिकता की भावना के अनुसार आच-

रण करना सर्वथा उचित होगा। कृत्रिम तथा अन्यायपूर्ण विधान के विरुद्ध संघर्ष करना मनुष्य का कर्तव्य है। निष्क्रिय प्रतिरोध इस बात का द्योतक है कि मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कृत-संकल्प है और प्रत्येक बलिदान करने को तैयार है। किन्तु "निष्क्रिय प्रतिरोध उद्देश्य की सिद्धि का साधन है, वह स्वयं साध्य नहीं है।" तिलक का मत था कि निष्क्रिय प्रतिरोध पूर्णतः संवैधानिक है। उन्होंने कहा कि मैं अवैधता तथा अनुशासनहीनता का उपदेश नहीं देता हूँ। तिलक ने वैध तथा सांविधानिक के बीच सूक्ष्म भेद समझाया। उनका कहना था कि कोई विशिष्ट कानून वैध हो सकता है, और फिर भी सांविधानिक न हो। सांविधानिक होने के लिए यह आवश्यक है कि कानून न्याय, नैतिकता तथा लोकमत के अनुकूल हो। उन्होंने जनता से अपनी कार्यवाहियों को शुद्ध सांविधानिक तरीकों तक ही सीमित रखने का आग्रह किया, किन्तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया कि हर कानून पारिभाषिक अर्थ में सांविधानिक नहीं होता।

(छ) **तिलक का शान्ति सम्मेलन को स्मृतिपत्र**—13 नवम्बर, 1918 को तिलक ने लॉयड जार्ज को एक पत्र लिखा। 11 नवम्बर का विराम सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये थे, और तिलक ने होम रूल लीग तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को बधाई भेजी। उन्होंने यह भी आशा व्यक्त की कि विराम सन्धि से अन्ततोगत्वा शान्ति, स्वतन्त्रता और मानव-बन्धुत्व की स्थापना हो सकेगी। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मेरा पत्र सम्राट के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जाय। 20 नवम्बर को लॉयड जार्ज के निजी सचिव नैविन्सन ने पत्र की प्राप्ति स्वीकार की और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की ओर से तिलक को धन्यवाद दिया। दिल्ली कांग्रेस ने शान्ति सम्मेलन के लिए तिलक, गान्धी और हसन इनाम को भारत का प्रतिनिधि चुना था। जनवरी के महीने में तिलक ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को दूसरा पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कांग्रेस के प्रस्ताव को उद्धृत किया और प्रार्थना की कि हम लोगों को पेरिस जाने के लिए पारपत्र जारी कर दिया जाय। वे वैपटिस्टा और करंदीकर के साथ पेरिस के शान्ति सम्मेलन में जाना चाहते थे। किन्तु लॉयड जार्ज ने तिलक की प्रार्थना को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। तथापि तिलक अपनी बात पर दृढ़ थे, इसलिए जब पारपत्र के लिए मना कर दिया गया तो उन्होंने शान्ति सम्मेलन में भेजने के लिए एक स्मृतिपत्र तैयार किया। 21 मार्च, 1919 को स्मृतिपत्र सम्मेलन के अध्यक्ष क्लीमैंशो के पास भेज दिया गया। उसकी एक प्रति तिलक ने राष्ट्रपति विल्सन के पास भी भेज दी। विल्सन के निजी सचिव ने राष्ट्रपति की ओर से तिलक को लिखा कि राष्ट्रपति के सम्बन्ध में आपने जो विचार प्रकट किये हैं उनके लिए वे आपका बड़ा आदर और सराहना करते हैं।

तिलक का यह ऐतिहासिक स्मृतिपत्र भारत की परराष्ट्र नीति का पहला महत्वपूर्ण प्रलेख है। कहा जा सकता है कि यहीं से भारत की परराष्ट्र नीति का प्रारम्भ हुआ। इसलिए इसका सूक्ष्म विश्लेषण करना समीचीन है। क्लीमैंशो को सम्बोधित अपने इस स्मृतिपत्र में तिलक ने लिखा कि बीकानेर के राजा और एस. पी. सिन्हा, जिन्हें भारत की ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रतिनिधि नामनिर्देशित किया है, वास्तव में भारत की आकांक्षा और इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करते। उन्होंने दिल्ली कांग्रेस के प्रस्ताव को उद्धृत किया जिसमें कहा गया था कि लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी और हसन हमाम काग्रेस के प्रतिनिधि निर्वाचित किये गये हैं। तिलक ने लिखा कि मैंने दिल्ली कांग्रेस के प्रस्ताव की प्रति प्राप्त करने से पहले ही पारपत्र के लिए आवेदनपत्र दे दिया था, क्योंकि मैं एक सम्पादक के रूप में पेरिस जाना चाहता था। उन्होंने एशिया तथा विश्व की राजनीति में भारत की महत्वपूर्ण राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया। उन्होंने लिखा : "मेरे लिए यह विस्तारपूर्वक लिखना अनावश्यक है कि विश्व की भावी शान्ति और भारतीय जनता की प्रगति को सुनिश्चित करने के लिए भारत की समस्या को हल करना कितना महत्वपूर्ण है। भारत स्वतः पूर्ण है, अन्य राज्यों की अखण्डता के विरुद्ध उसका कोई इरादा नहीं है और न बाहर उसकी कोई महत्वाकांक्षा है। अपने विशाल क्षेत्र-फल, अपरिमित साधनों और असाधारण जनसंख्या के बल पर वह एशिया की प्रमुख शक्ति बनने की न्याय रूप से आकांक्षा कर सकता है। इसलिए वह विश्व शान्ति कायम रखने के लिए और एशिया में तथा अन्यत्र आक्रमणकारियों और शान्ति भंग करने वालों के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता को बनाये रखने के लिए पूर्व में राष्ट्र संघ के कार्याधीश की भूमिका अदा कर सकता है।" तिलक ने

आगे लिखा कि यह आवश्यक है कि भारत को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाय जिससे वह विश्व शान्ति को बनाये रखने में योग दे सके। उदारवादी राजनीतिज्ञता तथा सत्य और न्याय के सिद्धान्तों की माँग है कि भारत को आन्तरिक मामलों में स्वायतता प्रदान की जाय। आत्मनिर्णय का अधिकार भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है। जिन लोगों को पाश्चात्य सभ्यता में शिक्षा-दीक्षा मिली है और जो उसकी उत्कृष्टता में विश्वास करते हैं वे भारत की समस्याओं को हल नहीं कर सकते। भारत की समस्याएँ भारतवासियों के प्रयत्नों से हल की जा सकती हैं। स्मृतिपत्र में तिलक ने इस आरोप का खण्डन किया कि भारतवासियों में प्रशासकीय क्षमता का अभाव है। उन्होंने राजनीति तथा संस्कृति के क्षेत्रों में भारत की उपलब्धियों का ओजस्वी भाषा में उल्लेख किया। उन्होंने बतलाया कि केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता के योग्य नहीं मानती अपितु इंगलैण्ड के मजदूर दल ने भी अपने नॉटिंघम सम्मेलन में इस बात को स्वीकार कर लिया है। तिलक ने लिखा कि प्रस्तावित मौंटफर्ड सुधार योजना असन्तोषजनक है और भारतवासियों को उससे भारी निराशा हुई है। उन्होंने स्पष्ट किया कि जब तक केन्द्रीय सरकार सत्तावादी और गैर-जिम्मेदार बनी रहती है तब तक प्रान्तीय प्रशासन को उदार नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि भारतवासी इण्डिया कौंसिल को समाप्त करने की माँग करते आये थे। उन्होंने कौंसिल आव स्टेट के रूप में एक नामनिर्देशित निकाय की स्थापना के प्रस्ताव के प्रति घोर विरोध प्रकट किया। उन्होंने लिखा कि द्वैध शासन की व्यवस्था अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक है, क्योंकि वह सरकारी विभागों को कृत्रिम रूप से विभक्त करने का एक प्रयोग है। तिलक ने स्वीकार किया कि मैं ब्रिटेन से सम्बन्ध तोड़ने की कल्पना नहीं कर रहा हूँ और इसलिए इस बात से सहमत हूँ कि युद्ध तथा शान्ति, वैदेशिक मामले, सेना तथा नौसेना को भारतवासियों के नियन्त्रण में न सौंपा जाय। किन्तु उनका आग्रह था कि योग्यता प्राप्त भारतवासियों को सेना तथा नौसेना के उच्च पदों पर पहुँचने का समान अधिकार हो।

स्मृतिपत्र के अन्तिम अंशों में तिलक ने शान्ति सम्मेलन से दो बातों की घोषणा करने की जोरदार अपील की। प्रथम, भारत को राष्ट्र संघ (लीग आव नेशन्स) में प्रतिनिधित्व के वे सब अधिकार उपलब्ध होंगे जो ब्रिटेन के स्वशासी उपनिवेशों को दे दिये गये हैं। दूसरे, यह घोषणा कर दी जाय कि भारतवासी अपना शासन स्वयं चलाने के योग्य हैं, और आत्म-निर्णय का सिद्धान्त भारत के सम्बन्ध में भी लागू किया जाय जिससे कि भारतवासी लोकतान्त्रिक ढंग की शासन-प्रणाली स्थापित कर सकें। तिलक ने लिखा कि इस प्रकार की घोषणा से करोड़ों भारतवासियों के हृदय में उत्साह और कृतज्ञता की भावना उत्पन्न होगी।

(ज) **कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र**—तिलक ने अमृतसर कांग्रेस में संवादी सहयोग के जिस सिद्धान्त की व्याख्या की उसका अर्थ यह था कि 1919 के सुधार अधिनियम (रिफार्म्स एक्ट) को कार्यान्वित किया जायगा, किन्तु स्वराज्य के लिए संघर्ष अधिक तीव्र किया जायगा। बम्बई में एक भाषण में उन्होंने कहा : "अधिकारी घोषणा कर दें कि वे हमारे साथ किस प्रकार सहयोग करने को तैयार हैं; हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यदि वे हमारे साथ सहयोग करेंगे तो हम भी उन्हें पूर्ण सहयोग देने को तैयार हैं। सहयोग पारस्परिक होता है।" अतिवादियों के कुछ वर्ग सुधारों को कार्यान्वित करने के विरुद्ध थे, किन्तु तिलक ने चुनाव की नीति और कार्यक्रम का समर्थन किया। मार्च 1920 में अपनी सिन्ध यात्रा के दौरान उन्होंने घोषणा की थी कि मैं आगामी चुनाव लड़ने के लिए एक दल का निर्माण करने जा रहा हूँ। 20 अप्रैल को कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र जारी कर दिया गया। निश्चय किया गया कि कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल विधान परिषदों तथा विधान सभा के स्थानों के लिए अपने प्रत्याशियों को खड़ा करेगी। तिलक का विचार था कि चुनाव के लिए यह प्रचार कार्य संविधान के अनुकूल है इसलिए सरकार किसी राष्ट्रवादी कार्यकर्ता को दण्डित नहीं कर सकती। तिलक की युक्ति थी कि सब दोषों के बावजूद सुधार अधिनियम ने कम से कम राजनीतिक आन्दोलन को वैधता प्रदान कर दी है। कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल केवल चुनाव लड़ने के लिए स्थापित किया गया था और उसकी कार्यवाहियाँ बम्बई प्रान्त तक सीमित थीं। तिलक उस दल के अध्यक्ष थे। वे चाहते थे कि बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी सदस्य विधानांगों के

लिए चुने जायें और वे अधिनियम की अपर्याप्तता का भण्डाफोड़ करें और अधिक व्यापक तथा सन्तोषजनक सुधारों के लिए आन्दोलन करें।

जैसा कि कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के नाम से स्पष्ट था, उसके घोषणापत्र में कांग्रेस तथा लोकतन्त्र में आस्था प्रकट की गयी थी। उसमें स्वीकार किया गया कि लोकतन्त्र को सत्यान्वित करने के लिए शिक्षा का विकास तथा मताधिकार का प्रसार आवश्यक है। उसने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया। "यह दल मुसलमानों के इस दावे का समर्थन करता है कि खिलाफत की समस्या को मुसलमानों के मतवादों और विश्वासों तथा कुरान के सिद्धान्तों के अनुसार हल किया जाय।" घोषणापत्र में राष्ट्र संघ के निर्माण का स्वागत किया गया। उसने 1919 के भारत सरकार अधिनियम (गवर्नमेण्ट आव इण्डिया एक्ट) को अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाजनक बतलाया। यह भी कहा गया कि इसके दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश मजदूर दल की सहायता से पार्लामेण्ट में एक नया अधिनियम पारित किया जाय। इस दल ने 'शिक्षित करने, आन्दोलन करने तथा संगठन करने' की शपथ ली। "मौण्टेग्यू सुधार अधिनियम में जितनी सारता है उस सीमा तक यह दल उसे पूर्ण उत्तरदायी शासन प्रदान करने की प्रक्रिया को तीव्र करने के उद्देश्य से कार्यान्वित करने को तैयार है। इस उद्देश्य के लिए दल सहयोग और सांविधानिक आन्दोलन में से जो भी जनता की इच्छा को पूरा करने का सर्वाधिक लाभकारी और उत्तम मार्ग जान पड़ेगा उसी को विना हिचकिचाहट के अपनायेगा।" घोषणा ने सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया। उसने वचन दिया कि मजदूरों के लिए उचित मजदूरी तथा उचित काम के घण्टों की व्यवस्था की जायगी और पूंजीपतियों तथा मजदूरों के बीच न्यायोचित सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जायगा। उसने रेलमार्गों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया। उसमें कहा गया कि भारतीय अधिकारियों के नेतृत्व में एक नागरिक सेना का निर्माण करना आवश्यक है। उसने भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनस्संगठन करने का समर्थन किया।

कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के घोषणापत्र से स्पष्ट है कि तिलक में राजनीतिक यथार्थता की गहरी सूझबूझ थी और वे कोरे आदर्शवादी ख्याली घोड़े दौड़ाने वाले और स्वप्नदर्शी नहीं थे। लखनऊ का समझौता, स्वराज्य से सम्बन्धित कांग्रेस-लीग योजना का समर्थन तथा कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र, इन सबसे प्रमाणित होता है कि तिलक में अपने समय की समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने-समझने की प्रतिभा थी।

'टाइम्स आव इण्डिया' के इस आरोप के बावजूद कि कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र न तो लोकतान्त्रिक था और न प्रगतिशील, हमारे पास इसका पर्याप्त प्रमाण है कि तिलक महान लोकतन्त्रवादी थे। गाँधीजी ने कहा था कि लोकतन्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार के प्रति तिलक की भक्ति एकदम आश्चर्यजनक है। चूंकि तिलक ने कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र अपने हस्ताक्षर से जारी कर दिया था, इसलिए कुछ लोगों ने उन पर निरंकुशता का आरोप लगाया है। किन्तु उन्होंने बम्बई के अधिकतर राष्ट्रवादी नेताओं की सलाह ले ली थी। उन्होंने केवल समय बचाने की दृष्टि से घोषणापत्र अपने हस्ताक्षर से जारी कर दिया था। इसके अतिरिक्त वे कलकत्ता के विशेष अधिवेशन के समक्ष घोषणापत्र को प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु क्रूर नियति ने समय से पहले उन्हें संसार से उठा लिया।

तिलक परिषदों में प्रवेश करने के कार्यक्रम को स्वीकार कर चुके थे। उनका विचार था कि अनेक दृष्टि से अपर्याप्त होने पर भी सुधार अधिनियम देश के राजनीतिक आन्दोलन की सफलता का द्योतक है, वह सफलता कितनी ही सीमित क्यों न हो। यही कारण था कि वे जो कुछ दिया गया था उसे लेने तथा शेष के लिए संघर्ष करने को तैयार थे। इसीलिए कहा जाता है कि संवादी सहयोग का सिद्धान्त तथा कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल की स्थापना से प्रकट होता है कि मत्सीनी के रूप में तिलक की भूमिका समाप्त हो चुकी थी और कावूर के रूप में उनका कार्य आरम्भ हो गया था। विपिन चन्द्र पाल संवादी सहयोग के विरुद्ध थे। अमृतसर में उन्होंने भूल से 'संवादी' (रेस्पान्सिव) का अर्थ 'उत्तरदायी' (रेस्पान्सिबिल) लगाया और 'उत्तरदायी सहयोग' का अभिप्राय उनकी समझ में नहीं आया। वे अमृतसर के बाद भी 'संवादी सहयोग' के विरोधी रहे, क्योंकि वे उसे तुष्टीकरण

की नीति मानते थे। एन. सी. केलकर ने जून तथा जुलाई के महीनों में 'केसरी' में अनेक लेख लिख कर पाल की आपत्तियों का उत्तर दिया और 'संवादी' शब्द की सार्थकता स्पष्ट की। किन्तु 1922 में पाल ने स्वयं गाँधीजी की असहयोग की नीति के विरुद्ध तिलक की संवादी सहयोग की नीति को पुनर्जीवित करने का समर्थन किया।

कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के घोषणापत्र के प्रकाशित होने के कुछ ही महीनों के भीतर तिलक का देहान्त हो गया, और देश को यह देखने का अवसर न मिला कि संवादी सहयोग के सिद्धान्त का जनक उसकी योजना तथा कार्यप्रणाली का किस प्रकार विकास करता है। तिलक की मृत्यु के उपरान्त उनकी नीति का क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी मोतीलाल नेहरू ने अच्छी समीक्षा की है। 1922-23 में गाँधीजी जेल में थे, और राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग बदलना आवश्यक था। मोतीलाल लिखते हैं : "इस मार्गान्तर की दिशा को निर्धारित करने के लिए लोकमान्य की शिक्षाओं से अधिक निरापद निर्देशन अन्यत्र कहाँ मिल सकता था ? इस निर्देशन को स्वीकार किया गया और इस प्रकार स्वराज्य पार्टी का जन्म हुआ। स्वराज्य पार्टी ने जहाज को, जो अज्ञात समुद्र के बीच अपनी यात्रा के दौरान तूफान के केन्द्र में फँस गया था, लोकमान्य द्वारा निर्धारित अधिक सुपरिचित मार्ग पर मोड़ दिया। यह कहना सचमुच सत्य है कि स्वराज्य पार्टी महात्मा द्वारा निर्मित जहाज में बैठकर लोकमान्य द्वारा निर्धारित मार्ग पर चल रही है।........स्वराज्य पार्टी महात्मा तथा लोकमान्य दोनों के चरणों में बैठकर अब व्यावहारिक राजनीति को उनके आदर्शों से अनुप्राणित करने के लिए नम्रतापूर्वक कार्य कर रही है, और झण्डे के नीचे एकत्र होने को बिगुल बजने की धीरज के साथ प्रतीक्षा कर रही है।" एनी बेसेण्ट लिखती हैं कि 'संवादी सहयोग' पद की रचना 1919 में अमृतसर में की गयी थी, और पुनर्निर्मित विधानांगों में उदारवादियों ने उसे क्रियान्वित किया, किन्तु उसे देखने के लिए जीवित नहीं रहे। मई 1920 में होम रूल लीग की चौथी वर्षगाँठ मनायी गयी। कुछ आलोचकों का आरोप था कि इंगलैण्ड जाकर तिलक मितवादी हो गये थे, किन्तु भारत लौटने पर पुनः अतिवादी बन गये थे। तिलक ने इस आरोप का खण्डन किया और कहा कि इंगलैण्ड में मैं दिल्ली काँग्रेस के प्रस्तावों से बँधा हुआ था अतः मुझे काँग्रेस द्वारा निर्दिष्ट दृष्टिकोण का ही समर्थन करना था। मैं राष्ट्रीय कांग्रेस के आदेशों का अतिक्रमण नहीं कर सकता था।

(झ) तिलक तथा गान्धी के राजनीतिक चिन्तन में अन्तर—तिलक राजनीति में यथार्थवादी थे, यद्यपि उन्होंने मैकियावेली और ट्राइट्स्के की भाँति यह कभी नहीं सिखाया कि शक्ति के द्वारा सब कुछ सम्पादित किया जा सकता है। वे राजनीतिक क्षेत्र में इस ढंग से काम करना चाहते थे कि उनके विरोधी कभी उनसे बाजी न मार पायें। किन्तु यह कहना सत्य नहीं है कि उन्होंने राजनीति में छल-कपट के प्रयोग की अनुमति दी थी। वे राजनीति का खेल तो खेलते किन्तु लोकतांत्रिक तरीके से खेलते थे। उनका कहना था कि हर प्रकार की विकृतियों और अन्तर्विरोधों से पूर्ण इस जगत में नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्तों का उनके शुद्ध रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः शास्त्रों में निर्धारित महान सत्य के सम्बन्ध में समझौता करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु राजनीतिक यथार्थवाद के समर्थक होते हुए भी तिलक ने विशुद्ध बल-राजनीति के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया। जनवरी 1920 में उन्होंने 'यंग इण्डिया' को एक पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि मेरा अभिप्राय यह कभी नहीं है कि राजनीति में सब कुछ न्यायोचित है, यद्यपि मेरा विश्वास है कि 'धम्मपद' में प्रतिपादित बुद्ध के इस सिद्धान्त को कि घृणा को प्रेम द्वारा जीतना चाहिए सर्वत्र व्यवहृत नहीं किया जा सकता। अतः तिलक के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि वे न तो यूटोपियाई ढंग के आदर्शवादी थे और न हाब्स तथा बिस्मार्क की भाँति यथार्थवादी थे। वास्तव में इन अतिवादी सम्प्रदायों में से किसी के अनुयायी नहीं थे। उन्हें हम मध्यमार्गी अर्थात् लोकतान्त्रिक यथार्थवाद का अनुयायी कह सकते हैं। उन्होंने शक्ति तथा कूटनीति के प्रयोग का समर्थन नहीं किया, किन्तु यदि उनका विरोधी इस साधना को अपनाता तो बदले में वे इनके प्रयोग को बुरा नहीं मानते थे। वे समर्थ रामदास के राजनीतिक सिद्धान्त को स्वीकार करते थे और प्रायः उसका उल्लेख किया करते थे। मई 1915 में तिलक ने शिवाजी के महान आध्यात्मिक गुरु तथा 'दासबोध' के रचयिता रामदास के जयन्ती समारोह का सभापतित्व किया। पूना के मानकेश्वर विष्णु मन्दिर में सभा

हुई। तिलक ने अपने भाषण में अपने नैतिक तथा राजनीतिक दर्शन की अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्याख्या की। उन्होंने कहा : "कटु यथार्थ के इस जगत में आप पूर्णतः क्षमाशील और नम्र होकर निर्वाह नहीं कर सकते। यदि कुछ लोग आपके विचारों, मन्तव्यों और कार्यों की गलत ढंग से व्याख्या करना अपना पेशा बना लें, और उस समय भी अपने घातक निन्दकों के प्रति परम उदासीनता का रवैया अपनायें तो आप अपने पक्ष को निश्चय ही भारी हानि पहुँचायेंगे। ऐसी परिस्थितियों में आपके लिए कटु भाषा का प्रयोग करने के अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता। ऐसे लोगों के विषय में बोलते समय आपको कभी-कभी बहुत तीक्ष्ण और उग्र होना पड़ेगा। और इस प्रकार की वाणी से पाप नहीं लगता, शर्त यह है कि जिसकी आप आलोचना कर रहे हैं उसके विरुद्ध आपके मन में कोई दुर्भाव न हो। इस प्रकार का स्पष्ट और निष्ठुर व्यवहार ही 'दासबोध' के उपदेश का मुख्य तत्व है। बोलने वाले के कार्यों को परखने के लिए आपको उसका हृदय टटोलना पड़ेगा। दुष्टों के विनाश और साधुओं के परित्राण के लिए ईश्वर स्वयं अवतार लेता है। ईश्वर कोरी क्षमाशीलता से काम नहीं लेता। कभी-कभी उसे कठोर और निष्ठुर भी होना पड़ता है। यदि कोई आपके गाल पर थप्पड़ मार दे तो रामदास यह नहीं सिखाते कि आप अपना दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दें। वे तो आपसे बदला लेने को कहेंगे। किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि रामदास का उपदेश यह नहीं था कि आप अहंकार अथवा स्वार्थ के वशीभूत होकर ऐसा आचरण करें। आपको गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि विशुद्ध क्षमाशीलता जीवन का परम उद्देश्य नहीं है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे का कथन है कि क्षमाशीलता ऐसा गुण है जो मनुष्य को क्लीब बना देता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है : "हे पार्थ ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो।" और यह सलाह अर्जुन के हृदय में अग्नि तथा उत्साह फूंकने के लिए दी गयी है। संसार में निरपेक्ष क्षमाशीलता और विनम्रता की नीति का पालन करना असम्भव है।

तिलक हॉब्स अथवा कौटिल्य के सम्प्रदाय के यथार्थवादी नहीं थे, बल्कि लोकतान्त्रिक यथार्थवादी थे, इसलिए राजनीतिक खेल के सम्बन्ध में उनका आदर्श बहुत ऊँचा था। वे शिवाजी को वेदान्त का अनुयायी मानते थे, और कहा करते थे कि भारत में स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयत्न कर्मयोग का ही एक अंग है। तिलक ने शिवाजी उत्सव के अवसर पर जो भाषण किये उनकी रिपोर्ट 15 जून, 1897 के 'केसरी' में प्रकाशित हुई। उन्होंने कहा कि अफजल खाँ की हत्या के सम्बन्ध में अब आगे ऐतिहासिक शोध करने की आवश्यकता नहीं है। "चलिये हम मान लें कि शिवाजी ने ही पहले अफजलखाँ की हत्या की योजना बनायी और उसे क्रियान्वित किया। महाराज का यह कार्य अच्छा था अथवा बुरा ? इस प्रश्न पर हमें दण्ड विधान अथवा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों अथवा पश्चिम और पूर्व के नीतिशास्त्र में प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर विचार नहीं करना चाहिए। समाज को बाँधकर रखने वाले नियम आपके और मेरे जैसे साधारण मनुष्यों के लिए हैं। कोई मनुष्य न तो किसी ऋषि के वंशवृक्ष की खोज करता है और न राजा के सिर पर पाप मढ़ता है। महापुरुष नैतिकता के सामान्य नियमों से ऊपर होते हैं। ये सिद्धान्त इतने व्यापक नहीं होते कि महापुरुषों की पीठिका तक पहुँच सकें। क्या शिवाजी ने अफजलखाँ को मारकर पाप किया ? और किया तो कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं महाभारत में मिल जायगा। श्रीकृष्ण ने गीता में अपने गुरुजनों और कुटुम्बियों तक का वध करने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति कर्मफल की इच्छा से प्रेरित हुए बिना कर्म करता है उसे पाप नहीं लगता। शिवाजी महाराज ने अपने तुच्छ पेट को भरने के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से प्रेरित होकर कोई काम नहीं किया। उन्होंने दूसरों के लिए और उदार संकल्प से अफजलखाँ का वध किया। यदि हमारे घर में चोर घुस आयें और हमारी भुजाओं में उन्हें मार भगाने की पर्याप्त सामर्थ्य न हो तो हमें बिना संकोच के उन्हें बन्द करके जीवित जला देना चाहिए। ईश्वर ने म्लेच्छों को भारत के राज्य की सनद ताम्रपत्र पर अंकित करके नहीं दी है। महाराज ने उन्हें अपनी जन्मभूमि से मार भगाने का प्रयत्न किया, उन्होंने तो कुछ दूसरों का था उसको हड़पने का पाप नहीं किया। अपनी दृष्टि को कूपमण्डूक की भांति संकुचित मत बनाओ, दण्ड विधान की परिधि से बाहर निकलो, भगवद्गीता के उच्च वायुमण्डल में प्रवेश करो और तब महापुरुषों के कार्यों पर विचार करो।" तिलक पर राजद्रोह का जो अभियोग लगाया गया और

जिसमें उन्हें कारावास का दण्ड दिया गया उसमें उनके इस भाषण की रिपोर्ट का उल्लेख किया गया था। स्पष्ट है कि तिलक ने निरपेक्ष रूप से अहिंसा के सिद्धान्त में कभी विश्वास नहीं किया। वे सदैव कहा करते थे कि किसी कार्य की नैतिकता उसके वाह्य परिणाम से नहीं आँकी जानी चाहिए, बल्कि यह देखना चाहिए कि कर्ता का उद्देश्य और मन्तव्य क्या है। तिलक ने काण्ट और भगवद्गीता से सीखा था कि वाह्य कार्यों की व्यावहारिक नैतिकता की तुलना में उद्देश्यों की नैतिकता दार्शनिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए उनका तर्क था कि यदि मनुष्य वैयक्तिक अहंकार से ऊपर उठ सके और उदात्त मन्तव्यों से प्रेरित हो सके तो वह ऐसे कार्य कर सकता है जो साधारण व्यक्ति को सामान्य नैतिकता के विरुद्ध जान पड़ें। धर्मशास्त्र और दण्ड विधान साधारणजनों के आचरण के नियमन के लिए होते हैं। जो महापुरुष अहं की वासनाओं से ऊपर उठ चुके हैं और वैयक्तिक जीवन की तुच्छ चिन्ताओं से मुक्त हो चुके हैं वे इन नियमों और विनियमों से परे हुआ करते हैं। हेगेल ने भी कहा है कि विश्व ऐतिहासिक व्यक्ति ईसाइयत के विधान से बँधा नहीं होता। नीत्शे का भी मत है कि अतिमानव शुभाशुभ के नैतिक भेदभाव से ऊपर होता है। तिलक के राजनीति आचारशास्त्र के अनुसार शिवाजी निःस्वार्थ व्यक्ति थे और अपने देश की मुक्ति के लिए कार्य कर रहे थे। यद्यपि तिलक ने भगवद्गीता की उच्च नैतिकता का उपदेश दिया, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थकों ने समझा कि वे अपने भाषण में राजनीतिक हत्या का समर्थन कर रहे हैं। यह अत्यन्त सन्देहास्पद है कि तिलक इस प्रकार शिवाजी के कार्यों का नैतिक औचित्य सिद्ध करके ब्रिटिश अधिकारियों की राजनीतिक हत्या के लिए दार्शनिक आधार तैयार कर रहे थे। तिलक का लोकतान्त्रिक यथार्थवाद उस नैतिक निरपेक्षवाद से भिन्न है जिसका गान्धीजी ने उपदेश दिया और अनुगमन किया। अपने राजनीतिक चिन्तन तथा आचरण में तिलक को महाभारत तथा हिन्दू धर्म की अन्य धार्मिक पुस्तकों से प्रेरणा मिली थी। गान्धीजी पर ईसा मसीह के प्रवचन, तॉलसतॉय, थूरो, रस्किन, रायचन्द भाई और नरसी मेहता का विशेष प्रभाव था। तिलक के अनुसार इस अपूर्ण जगत में ऐसे अवसर आते हैं जब मनुष्य को अहिंसा तथा विनम्रता के सिद्धान्त से विचलित होना पड़ता है। गान्धीजी का विश्वास था कि अहिंसा का सिद्धान्त सार्वभौम और अपरिवर्तनशील है। तिलक के अनुसार अहिंसा अधिक से अधिक नीति के रूप में अंगीकार की जा सकती है, जबकि गान्धीजी के अनुसार वह निरपेक्ष आस्था की वस्तु है।

तिलक और गान्धी में राजनीतिक पद्धतियों के सम्बन्ध में भी मतभेद था। तिलक को विधि का सूक्ष्म ज्ञान था, इसलिए वे कहा करते थे कि मैं विधि की मर्यादा के भीतर स्वराज्य का आन्दोलन चला सकता हूँ। उन्होंने कभी अवैध कार्य की अनुमति नहीं दी। 4 जुलाई, 1899 के 'केसरी' में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध लेख में उन्होंने कहा : "हम (अतिवादियों और मितवादियों) में से कोई भी अपने अधिकारों को माँगने में कानून को तोड़ने अथवा उसका अतिक्रमण करने का कभी स्वप्न नहीं देखता।" 1907 में उन्होंने सचमुच मितवादियों के सांविधानिक आन्दोलन के विचार का मखौल उड़ाया, क्योंकि वे विनोदपूर्वक कहा करते थे कि भारत में दण्ड विधान ही एकमात्र संविधान है। हमारे यहाँ आधारभूत प्रकृति का कोई सांविधानिक प्रलेख नहीं है। फिर भी मानना पड़ेगा कि यद्यपि तिलक ने सांविधानिक आन्दोलन का उपहास किया, किन्तु उन्होंने कानून भंग करने की सलाह कभी नहीं दी। 1907 और 1908 में निष्क्रिय प्रतिरोध के जिस सिद्धान्त का प्रचार किया गया उससे भी तिलक का अभिप्राय केवल स्वदेशी और वहिष्कार से था। यद्यपि अरविन्द ने बतलाया कि निष्क्रिय प्रतिरोध में अनुचित कानून अथवा अनुचित आज्ञप्ति का अतिक्रमण करने का भाव भी अन्तर्निहित है, किन्तु तिलक ने इस निहितार्थ को स्पष्ट रूप से कभी स्वीकार नहीं किया।

किन्तु गान्धीजी ने स्वीकार किया कि यदि कानून किसी व्यक्ति के अन्तःकरण के प्रतिकूल हो तो उसका विरोध करने का उसका पवित्र और अनिन्द्य अधिकार है। सत्याग्रह का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य को स्थापित विधि और शासन के मुकाबले में नैतिकता, अन्तःकरण अथवा ईश्वर के कानून का यत्नपूर्वक समर्थन और पोषण करना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में गान्धीजी ने भारतवंशियों को उन कानूनों को तोड़ने की सलाह दी थी जो उनके नागरिक अधिकारों को जोखिम में डालने के लिए बनाये गये थे। भारत में भी गान्धीजी ने सत्याग्रह की कार्य-

प्रणाली को पूर्ण रूप से विकसित किया और विभिन्न अवसरों पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया।

तिलक तथा गान्धी दोनों को ही हिन्दू धर्म की उदात्त शिक्षाओं में गहरी आस्था थी। अपने जीवन तथा कार्यकलाप में तिलक परम्परावादी सनातन हिन्दू धर्म के अधिक निकट थे। फिर भी पाश्चात्य सभ्यता की जो आलोचना गान्धीजी ने की वह तिलक की आलोचना के मुकाबले में कहीं अधिक उग्र है। अपनी पुस्तिका 'हिन्द-स्वराज' में गान्धीजी ने पश्चिमी सभ्यता के मूल्यों और संस्थाओं की तीक्ष्ण आलोचना की है। तिलक ने भी अंग्रेजी शिक्षा के कुछ दोषों की निन्दा की है, किन्तु उन्होंने स्वीकार किया कि अंग्रेजी शिक्षा ने देश में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने में योग दिया है। गान्धीजी ने पश्चिमी सभ्यता की आधारभूत मान्यताओं को ही चुनौती दी थी। उन्होंने भारत में प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की अत्यन्त कटु शब्दों में भर्त्सना की। तिलक को प्रतिनिधि लोकतन्त्र के रूपों तथा कार्यप्रणालियों से उत्कट अनुराग था। महात्माजी को पश्चिमी लोकतन्त्र से कोई मोह नहीं था। वे कहा करते थे कि नैतिक नियमों का प्रभुत्व राजनीतिक सत्ता से कहीं उच्च वस्तु है। उनका विचार था कि अकेला एक व्यक्ति, यदि वह नैतिक दृष्टि से पूर्ण हो, जनता की इच्छा का एक बड़ी सभा से अधिक अच्छी तरह प्रतिनिधित्व कर सकता है। समग्र दृष्टि से देखने पर स्पष्ट है कि तिलक के मुकाबले में गाँधीजी पश्चिमी सभ्यता के अधिक कट्टर विरोधी थे।

'असहयोग' की धारणा का निरूपण गाँधीजी ने किया था, किन्तु उसका सामान्य विचार बहुत पुराना था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त की गयी सविनय अवज्ञा जाँच समिति ने बतलाया कि असहयोग की धारणा का बीज हमें तिलक तथा गोखले के भाषणों में मिलता है। गोखले ने बनारस कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में वंग-भंग का उल्लेख करते हुए कहा था कि यदि विभाजन रद्द नहीं किया गया तो जनता के हित में हमें नौकरशाही के साथ हर प्रकार के सहयोग को तिलांजलि देनी पड़ेगी। तिलक ने जनवरी 1907 में कलकत्ता में 'नये दल के सिद्धान्त' शीर्षक जो भाषण किया उसमें उन्होंने सरकार के साथ असहयोग के सिद्धान्त का निरूपण किया, जिसमें कर न देने का कार्यक्रम भी सम्मिलित था। 1909 के अपने एक भाषण में गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धान्त की व्याख्या की। अरविन्द घोष भी निष्क्रिय प्रतिरोध के समर्थक थे, और उन्होंने बहिष्कार को नैतिक दृष्टि से उचित ठहराया।

तिलक गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन के क्रियात्मक रूप को देखने के लिए जीवित नहीं रहे। किन्तु गाँधीजी तिलक के जीवन काल में ही दक्षिणी अफ्रीका, कैरा और चम्पारन में सत्याग्रह आन्दोलन सफलतापूर्वक चला चुके थे। अप्रैल 1919 में रौलट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह के समय तिलक इंगलैण्ड में थे। 16 मार्च, 1918 को तिलक ने अवन्तिकाबाई गोखले द्वारा मराठी में रचित गाँधीजी की जीवनी का प्राक्कथन लिखा। उसमें तिलक ने स्वीकार किया कि सत्याग्रह का मार्ग बहुत ही महत्वपूर्ण है, यद्यपि उसको सार्वभौम रूप से कार्यान्वित किये जाने के सम्बन्ध में सन्देह हो सकता है। चूँकि गाँधीजी का अहिंसा और अनशन पर अत्यधिक आग्रह था, इसलिए बहुत समय तक तिलक उन्हें जैन समझते रहे।

सम्मेलन में प्रथम बार गाँधीजी ने 'असहयोग' शब्द का प्रयोग किया। जनवरी 1920 में हिन्दू तथा मुसलिम नेताओं का एक और सम्मेलन हुआ और उसी के बाद मुसलमानों की माँगों के सम्बन्ध में वाइसराय के पास एक प्रतिनिधिमण्डल भेजा गया। शौकत अली ने लिखा है कि तिलक इस सम्मेलन में उपस्थित थे। 10 मार्च को कलकत्ता में खिलाफत सम्मेलन हुआ और उसमें असहयोग की नीति अपनाने का निर्णय किया गया। 24 मई, 1920 को सैव्रीज की सन्धि सम्पन्न हुई। लॉयड जार्ज ने कहा था : "न हम तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस के उन प्रसिद्ध प्रदेशों से वंचित करने के लिए युद्ध लड़ रहे हैं जो जातीय दृष्टि से प्रधानतः तुर्की हैं।" किन्तु सैव्रीज की सन्धि से इस प्रतिज्ञा का खण्डन होता था, क्योंकि तुर्की को थ्रेस, आर्मीनिया और स्मर्ना से वंचित कर दिया गया था। पवित्र स्थान तुर्की से छीनकर हैजाज के सुलतान को दे दिये गये थे। इस प्रश्न को लेकर भारतीय मुसलमानों में बड़ा असन्तोष फैला, और गाँधीजी उनकी सहायता के लिए उठ खड़े हुए। जब खिलाफत का प्रश्न भारतीय मुसलमानों में भारी हलचल उत्पन्न कर रहा था उसी समय 28 मई, 1920 को हण्टर समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उससे भारत के राजनीतिक दृष्टि से सचेत सभी वर्ग सरकार के कटु विरोधी हो गये। गाँधीजी ने कहा कि रिपोर्ट में अधिकारियों के हर बर्बर कृत्य को उचित ठहराने का जान-बूझकर प्रयत्न किया गया है। भारत के ब्रिटिश शासकों तथा इंगलैण्ड के अंग्रेजों के बीच जो सहज सहानुभूति विद्यमान थी उसकी उन्होंने कटु आलोचना की। रिपोर्ट से स्पष्ट था कि पैशाचिक और बर्बर घटनाओं के क्षणों में भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी तथा उनके समर्थक जातीय श्रेष्ठता और अहंकार की भावनाओं से ऊपर नहीं उठ सकते थे। 28 मई को बम्बई में खिलाफत समिति की बैठक हुई जिसमें असहयोग का निर्णय किया गया। 30 और 31 मई को वाराणसी में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई। लम्बे विवाद के उपरान्त निर्णय किया गया कि असहयोग के प्रश्न को तय करने के लिए कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। चितरंजनदास तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर चाहते थे कि कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन का सभापपित्व तिलक करें। किन्तु तिलक आत्मत्यागी तो थे ही, अतः उन्होंने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और लाला लाजपत राय का नाम प्रस्तावित किया। उन्होंने कहा कि यदि मैंने सभापतित्व किया तो फिर मैं विवाद में सम्मिलित नहीं हो सकूँगा। किन्तु यदि मैं सभापतित्व नहीं करता तो गाँधीजी के गुट और कलकत्ता के राष्ट्रवादियों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न करूँगा। अतः भारी दबाव के बावजूद तिलक ने सभापति बनने से इनकार कर दिया और लालाजी के नाम का सुझाव दिया।

9 जून, 1920 को इलाहाबाद में अखिल भारतीय खिलाफत समिति की बैठक हुई। तिलक को आमन्त्रित किया गया किन्तु वे बैठक में सम्मिलित नहीं हुए। उन्होंने निम्नांकित तार भेज : "भारत के मुसलमान जो भी सर्वसम्मति से निर्णय करेंगे उसका मैं तथा मेरा दल समर्थन करेगा।" उनका विचार था कि खिलाफत के प्रश्न का सम्बन्ध मुसलमानों से है इसलिए उन्हें ही इस विषय में पहल करनी चाहिए और हिन्दुओं को चाहिए कि बाद में उनके साथ सम्मिलित हो जायँ। सत्यमूर्ति का कहना है कि इलाहाबाद में हुई खिलाफत समिति की बैठक में तिलक इसलिए सम्मिलित नहीं हुए कि वे राष्ट्रीय नीति के प्रश्नों पर निर्णय करने के लिए कांग्रेस को छोड़कर अन्य किसी बैठक में भाग नहीं लेना चाहते थे। इलाहाबाद में 9 जून को खिलाफत सम्मेलन की जो बैठक हुई उसमें एक कार्यकारी समिति नियुक्त की गयी। गान्धीजी उस समिति के सदस्य थे। असहयोग की नीति सर्वसम्मति से स्वीकार करली गयी।

30 जून को इलाहाबाद में खिलाफत समिति की बैठक हुई जिसमें निर्णय किया गया कि वाइसराय को एक महीने का नोटिस देने के बाद असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया जाय। वाइस-राय को नोटिस दे दिया गया, और 1 अगस्त से असहयोग प्रारम्भ करना तय हुआ। जून के अन्त में किसी समय शौकतअली पूना में तिलक से मिले। उन दोनों की बातचीत केवल 15 मिनट चली। शौकतअली को भय था कि कुछ लोग तिलक और गान्धीजी के बीच गलतफहमी पैदा करने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु लोकमान्य ने शौकतअली को आश्वासन दिया कि मैं और गान्धी मिलकर काम करेंगे। तिलक ने शौकतअली से यह भी कहा कि कुछ मुसलमान जो असहयोग को अस्वीकार करते हैं मुझसे

प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं उनका नेतृत्व करूँ, किन्तु मैं उसी कार्यक्रम को अंगीकार करूँगा जिससे सब मुसलमानों को सन्तोष हो। जुलाई के अन्त में लोकमान्य गम्भीर रूप से बीमार हो गये; उस समय वे बम्बई में सरदार गृह नामक अपने प्रिय होटल में ठहरे हुए थे। वे घोषणा कर चुके थे कि कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल आगामी चुनाव लड़ेगा। शौकत अली ने लोकमान्य को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि कोई मुसलमान एक भी स्थान के लिए चुनाव नहीं लड़ेगा। लोकमान्य ने कहा कि मैं हिन्दू राष्ट्रवादियों से चुनाव न लड़ने को तभी कह सकता हूँ जब मुसलमान भी ऐसा करने को तैयार हों। अतः तिलक के अनुसार पहला कदम यह था कि मुसलमान कौंसिलों के चुनाव में न खड़े हों, तभी हिन्दू उनका साथ दे सकते थे। तिलक ने गान्धीजी से शायद यह भी कहा था कि यदि राष्ट्रवादी कौंसिलों में न गये तो दूसरे लोग जायँगे, और इस प्रकार कौंसिलों का देश के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकेगा। "व्यक्तिगत रूप से मेरा विश्वास है कि कौंसिलों में जाना ही अच्छा है, और जब आवश्यक हो तो बाधा डाली जाय और उसी प्रकार जब आवश्यक हो तो सहयोग किया जाय।"

1920 तथा 1925 के बीच यह विवाद चला करता था कि असहयोग के सम्बन्ध में तिलक के क्या विचार थे। इस विवाद के समाधान का शायद एक ही तरीका है। वह यह है कि तिलक ने अपनी मृत्यु से पहले गाँधीजी से जो कुछ कहा था उसके सम्बन्ध में गाँधीजी के कथन को ही प्रमाण मान लिया जाय। गाँधीजी लिखते हैं : "उत्तर भारत की यात्रा के लिए बम्बई से प्रस्थान करने से पहले मैं मौलाना शौकत अली के साथ सरदार गृह में उनके पास गया। जब हम यात्रा से वापस लौटे तो सुना कि लोकमान्य गम्भीर रूप से बीमार पड़े हुए हैं। मैं उन्हें प्रणाम करने गया, इससे अधिक और कुछ नहीं था। हमारी कोई बातचीत नहीं हुई। मैं केवल अन्तिम संस्मरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ, क्योंकि वह इस अवसर के अनुकूल है। हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्बन्ध में उन्होंने मौलाना की ओर मुड़कर कहा, 'गाँधी का जो कुछ सुझाव होगा उस पर मैं हस्ताक्षर कर दूंगा क्योंकि इस विषय में मुझे उन पर पूरा विश्वास है।' असहयोग के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ मुझसे पहले कहा था वही दुहरा दिया : 'मुझे कार्यक्रम बहुत कुछ पसन्द है, किन्तु इसमें देश हमारा साथ देगा, इस बात में मुझे सन्देह है। कारण यह है कि असहयोग जनता के सामने आत्मत्याग का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। मैं ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगा जिससे आन्दोलन की प्रगति में बाधा पड़े। मैं तुम्हारी सफलता की कामना करता हूँ, और यदि जनता तुम्हारी बात सुनने को तैयार हो जाय तो मैं उत्साह के साथ तुम्हारा समर्थन करूँगा।" 23 जुलाई, 1921 को गाँधीजी ने 'यंग इण्डिया' में 'विश्वास की घोषणा' शीर्षक एक लेख लिखा : मैं स्वर्गीय लोकमान्य का अनुयायी होने का दावा नहीं कर सकता। करोड़ों देशवासियों की भाँति मैं भी उनके दुर्दमनीय संकल्प, देशभक्ति और सबसे अधिक उनके वैयक्तिक जीवन की पवित्रता तथा महान त्याग की प्रशंसा करता हूँ। आधुनिक युग के महापुरुषों में वे ही ऐसे थे जिन्होंने अपने देशवासियों की कल्पना को सबसे अधिक सम्मोहित किया। उन्होंने हमारी आत्मा में स्वराज्य की भावना फूंक दी। विद्यमान शासन-प्रणाली के दोषों को तिलक से अधिक अच्छी तरह और किसी ने नहीं समझा। मेरा बहुत विनम्र दावा है कि मैं उनके सन्देश को देशवासियों तक उतनी ही अच्छी तरह पहुँचाने का प्रयत्न कर रहा हूँ जितनी अच्छी तरह उनके अच्छे से अच्छे शिष्य पहुँचा सकते थे। किन्तु मैं भलीभाँति समझता हूँ कि मेरी पद्धति तिलक की पद्धति नहीं है।.......और यही कारण है कि महाराष्ट्र के कुछ नेताओं के सम्बन्ध में मुझे अब भी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। किन्तु मैं हृदय से जानता हूँ कि तिलक को मेरी पद्धति में अविश्वास नहीं था। मुझे उनका विश्वासपात्र होने का सौभाग्य प्राप्त था। और अपनी मृत्यु से ठीक एक पखवारा पहले उन्होंने अनेक मित्रों के समक्ष अन्तिम शब्द यह कहे थे कि तुम्हारा मार्ग बहुत उत्तम है, शर्त यह है कि जनता को उसे अपनाने के लिए राजी किया जा सके। किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि मेरी अपनी शंकाएँ हैं।"

6. निष्कर्ष

लोकमान्य तिलक आधुनिक भारतीय इतिहास की एक विभूति थे। वे प्रकाण्ड पण्डित भी थे। वैदिक तथा दार्शनिक शोध के क्षेत्र में चिरस्थायी रचनाओं के द्वारा उन्होंने भारत के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में यश और कीर्ति प्राप्त करली है। उनका भारत के राजनीतिक इतिहास

में ही नहीं अपितु इस देश के पुनर्जागरण के इतिहास में भी चिरस्थायी स्थान रहेगा। तिलक में पाण्डित्य तथा राजनीतिक नेतृत्व दोनों का समन्वय था, इस कारण भारतीय इतिहास में उनका विशिष्ट स्थान है। उनमें राजनीति यथार्थवाद की गम्भीर और पैनी सूझबूझ तथा विशाल बौद्धिक आदर्शवाद का सम्मिश्रण था। राजनीतिक जीवन की उथल-पुथल, चिन्ताओं और उतार-चढ़ाव के बीच वे गूढ़ वैदिक मन्त्रों का अर्थ ढूंढ़ निकालने में शान्ति का अनुभव करते थे। उनमें वह बौद्धिक अभिवृत्ति थी जिसके कारण मनुष्य को दीर्घ एकाग्रता में आनन्द आता है। यह दुर्भाग्य की बात थी कि देश की राजनीतिक दासता के कारण उन्हें कारागार के एकान्त जीवन में ही अपने साहित्यिक कार्यकलाप के लिए समय मिल सका।

उनके पाण्डित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होंने अनेक विषयों पर अधिकार कर लिया था। ज्योतिष, गणित, विधि, दर्शन तथा धर्म में उनकी गति अबोध थी। उन्हें वैदिक संहिताओं, हिन्दू दर्शन तथा हिन्दू धर्मशास्त्रों का पूर्ण, गम्भीर तथा सूक्ष्म ज्ञान था। उनका वैज्ञानिक अनुसन्धान के निष्कर्षों से भी कुछ परिचय था। तिलक का पाण्डित्य व्यापकता तथा गम्भीरता दोनों की दृष्टि से अद्भुत था और उनका दृष्टिकोण बुद्धिवादी तथा आलोचनात्मक था। किन्तु उनके मन में हिन्दू धर्मग्रन्थों के लिए गहरी आस्था थी। 'गीता-रहस्य' से पता चलता है कि वे कृष्ण तथा भगवद्गीता दोनों का ही विशेष आदर करते थे। फिर भी उन्हें यह कहने में संकोच नहीं हुआ कि आर्य ऋषियों का आदि निवास स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। यदि उनका दृष्टिकोण संकीर्ण राष्ट्रवादी होता तो वे भारत के बाहर के प्रदेश को भारतीय संस्कृति के जन्मदाताओं का आदि देश न मानते। उनमें कवि-सुलभ कल्पनात्मकता का भी पुट था। गीता के जिस श्लोक में कृष्ण ने कहा है कि 'मैं महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में बसन्त हूँ' उसमें से वेदों की प्राचीनता के सम्बन्ध में ज्योतिष का सूत्र ढूंढ निकालना कल्पनात्मक सूझबूझ वाले व्यक्ति का ही काम था। किन्तु इस कल्पनात्मक दृष्टि के साथ-साथ तिलक में सम्पूर्णता के लिए विद्वानों की-सी तीव्र उत्कण्ठा भी पायी जाती थी। उनके वैदिक शोध-ग्रन्थों में जो अगणित पाठ-सन्दर्भ भरे पड़े हैं उन्हें देखकर हमें उनके बौद्धिक परिश्रम पर आश्चर्य होने लगता है।

तिलक के अनुसन्धानों का कुछ राजनीतिक प्रभाव भी पड़ा। उनके ग्रन्थों से पता चलता है कि उन्हें भारत की आध्यात्मिक विरासत की जीवनदायिनी शक्ति में गहरी आस्था थी। उन्हें भारत की प्राचीन बौद्धिक उपलब्धियों पर गर्व था। साथ ही साथ उन्हें इस बात में भी अगाध विश्वास था कि भविष्य के लिए देश में अपरिमित शक्तियाँ निहित हैं।

उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त पर एक विशद ग्रन्थ लिखने की योजना बनायी थी। अपने दर्शन सम्बन्धी ज्ञान और राजनीति की प्रक्रियाओं एवं गतिशीलता की गहरी सूझबूझ के कारण वे राजनीति के सैद्धान्तिक आधारों का विशद विवेचन करने के सर्वथा योग्य थे, किन्तु वे अपनी योजनाओं को साकार नहीं कर पाये। उनके मन में भारत का कई खण्डों में इतिहास लिखने की भी योजना थी, किन्तु राजनीतिक कार्यकलाप में उलझे रहने तथा असामयिक मृत्यु के कारण उनकी यह योजना भी पूरी न हो सकी।

एक राजनीतिक नेता के रूप में तिलक ने 'केसरी' तथा 'मराठा' के द्वारा अपने सन्देश का प्रसार किया। उनकी लेखनी में शक्ति तथा ओज था। वे जो कुछ लिखते थे उसे सारा महाराष्ट्र समझता था, और 1906 से तो उनकी बात सम्पूर्ण देश समझने लगा था। इन पत्रों के द्वारा उन्होंने अपने भक्तों और अनुयायियों की एक सुदृढ़ सेना तैयार करली थी चिरस्थायी यश प्राप्त कर लिया था। उन्हें तीन बार कारावास का जो दण्ड मिला उससे वे अपने देशवासियों के प्रिय बन गये थे। जब उन्हें राजद्रोह के अपराध में प्रथम बार जेल जाना पड़ा तो 1897 के अमरावती के अधिवेशन में सर्वथा उचित ही कहा गया था कि "एक राष्ट्र आँसू बहा रहा है।" मनुष्यों तथा आन्दोलनों के नेता के रूप में उन्होंने अपने को दिखावे से सदैव दूर रखा, और लोगों की भावनाओं तथा संवेगों को उभाड़ने और उत्तेजित करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। उनकी अविचल निष्ठा, निर्भयता, अध्य-वसाय तथा दुर्दमनीय संकल्प जनता के हृदय को सम्मोहित करने तथा ब्रिटिश नौकरशाही के गढ़ को भयभीत कर देने के लिए पर्याप्त थे। दुर्दान्त तिलक को केवल अपने व्यक्तित्व की शक्ति के कारण

विजय और सफलता प्राप्त हुई। उनका व्यक्तित्व फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा गोखले से कहीं अधिक उत्तुंग था। भयंकर विरोध का मुकाबला करते हुए वे अपने मार्ग पर बढ़ते गये। वे भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के माने हुए योद्धा समझे जाते थे, और यह सर्वथा उचित ही था। लाजपत राय तथा अरविन्द उन्हें अपना बड़ा भाई मानते थे। भारत की राजनीतिक माँगों के लिए उन्होंने निरन्तर संघर्ष किया और कष्ट सहे; उनके मांडले के कारावास ने ही उनके जीवन का शीघ्र अन्त कर दिया। वे स्वराज्य को देखने के लिए जीवित नहीं रहे, किन्तु उन्हें भारत की भवितव्यता में अडिग विश्वास था। 1896 के दुर्भिक्ष आन्दोलन के समय से उन्होंने जनता को राजनीति का रहस्य समझाया और इस प्रकार भारतीय राजनीति में एक नये प्रचण्ड तत्व को सक्रिय कर दिया। इस दृष्टि से वे भारत की लोकतांत्रिक राजनीति के पथान्वेषक सिद्ध हुए। वे न तो किसी शक्ति-सम्पन्न परिवार में उत्पन्न हुए थे और न उन्हें सम्पत्ति ही विरासत में मिली थी। उन्होंने अपने दुर्दमनीय विश्वास एवं सतत् परिश्रम के द्वारा तथा घोर कष्ट सहकर एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली देश की सुदृढ़ नींव का निर्माण कर दिया। वे देश के शत्रुओं के निर्मम रिपु थे। इस बात को डावर, शिरोल, कार्सन तथा अन्य लोगों ने भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने ऐसे पुरुषत्व के निर्माण के लिए निरन्तर संघर्ष किया जो अतीत की गौरवमय परम्पराओं में प्रशिक्षित हो और जो भविष्य में आने वाले महान उत्तरदायित्व को सम्हालने की शक्ति और क्षमता रखता हो। इसलिए गान्धीजी के साथ-साथ तिलक की स्वतन्त्र भारत के दो अग्रणी निर्माताओं में गणना की जायगी। वे एक महान भारतीय थे—राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ, संस्कृत के विद्वान, ओजस्वी लेखक, मराठी गद्य के स्रष्टा और निर्भीक एवं साहसी नेता।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में तिलक एक प्रमुख राजनीतिक विभूति थे। उन्होंने भारतवासियों को स्वराज्य के अधिकार का पहला पाठ पढ़ाया। उन्होंने देश की जनता को प्रबुद्ध किया और उसमें राष्ट्र की सामान्य इच्छा को पहचानने की क्षमता और चेतना उत्पन्न की। वेलेंटाइन शिरोल ने उन्हें "भारतीय अशान्ति का जनक" कहा है और उसका यह कथन सर्वथा उचित है। उस समय जब देश में उदासीनता, दैन्य तथा निराशा का राज्य था, वे स्वराज्य के सन्देशवाहक के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने जनता को दासता से घृणा करना सिखाया। भारतीय जनता के समक्ष वे चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, शिवाजी आदि उन राष्ट्रीय शूरवीरों की शृंखला की कड़ी के रूप में अवतरित हुए जिन्होंने अन्याय तथा पराधीनता के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया है। भारतीय जनता को उनका सन्देश था कि सम्पूर्ण देश के कल्याण के लिए सतत् कर्म और परिश्रम करना प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है। उन्होने विदेशी शासन की बुराइयों और अन्यायों को भली-भाँति समझ लिया था, और उनमें इतनी निर्भीकता तथा नैतिक साहस था कि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पापों का लेखाजोखा बेधड़क होकर प्रकाशित कर दिया। वे भारत में ब्रिटिश शासन के साथ कभी भी और किसी रूप में समझौता करने के लिए तैयार नहीं हुए।

राजनीतिक दार्शनिक के रूप में तिलक ने हमें राष्ट्रवाद का सिद्धान्त दिया है। उन्हें इतना समय नहीं मिला कि वे राजनीतिशास्त्र की प्रभुत्व, न्याय, सम्पत्ति आदि धारणाओं की व्याख्या कर सकते, फिर भी इनका उन्होंने उल्लेख किया है। उनका राष्ट्रवाद का सिद्धान्त पाश्चात्य तथा प्राच्य विचारकों के सिद्धान्तों का समन्वय था। उन्हें लोकतन्त्र में पूर्ण विश्वास था। राजनीति के सम्बन्ध में उन्होंने प्रत्ययवादी, आदर्शवादी अथवा कल्पनात्मक मार्ग नहीं अपनाया। वे निश्चय ही यथार्थ-वादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। किन्तु उन्होंने इस बात को कभी सहन नहीं किया कि यथार्थवाद को गिराकर उसे शक्ति की पूजा अथवा सफलता के साधन का रूप दे दिया जाय। अतः उनके विचार-सम्प्रदाय को हम "लोकतान्त्रिक यथार्थवाद" पर आधारित राष्ट्रवाद का नाम दे सकते हैं।

12

विपिनचन्द्र पाल तथा लाजपत राय

प्रकरण 1

विपिनचन्द्र पाल

1. प्रस्तावना

श्री विपिनचन्द्र पाल (1858-1932) उत्तेजक वक्ता, निर्भीक देशभक्त, अनुप्रेरित शिक्षा-शास्त्री, पत्रकार तथा लेखक थे। वे भारत में सशक्त, साहसपूर्ण, स्वावलम्बी तथा प्रचण्ड राष्ट्रवाद के पैगम्बर के रूप में प्रकट हुए।[1] वे बंगाली राष्ट्रवाद के ही नेता नहीं थे, अपितु उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद तथा उसके विकास का दार्शनिक विश्लेषण भी किया। उन्होंने कटक में एक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया। उन्होंने सिलहट में एक हाई स्कूल स्थापित किया और पाँच वर्ष तक उसकी सेवा की। बाद में वे कुछ समय तक बंगलौर में एक हाई स्कूल के प्रधान अध्यापक रहे। कुछ वर्ष तक उन्होंने कलकत्ता के नगर पुस्तकालय में पुस्तकाध्यक्ष के पद पर भी काम किया। उनका यौवन उस युग में बीता जब बंगाल में बौद्धिक, साहित्यिक तथा नैतिक पुनर्जागरण की उथल-पुथल मची हुई थी, बंकिमचन्द्र, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विजयकृष्ण गोस्वामी की शिक्षाओं का उन पर प्रभाव पड़ा था। 1876 में शिवनाथ शास्त्री ने उन्हें ब्रह्म समाज की दीक्षा दी। ब्रह्म समाज ने बौद्धिक मुक्ति के जिस आन्दोलन का समारम्भ किया था उससे विपिनचन्द्र पाल आह्लादित तथा अनुप्राणित हुए थे, यद्यपि आगे चलकर वे हिन्दुत्व के परम्परागत पन्थ, दर्शन तथा धर्मविद्या के अनुयायी बन गये। अपने परवर्ती जीवन में पाल ने वैष्णव धर्म को अंगीकार कर लिया। वैष्णव सम्प्रदाय में उनकी आस्था कितनी गहरी थी यह उनकी पुस्तक 'श्रीकृष्ण'[2] से स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना था कि ब्रह्म हमारी बाह्य ब्रह्माण्ड की अनुभूतियों का समन्वय है, परमात्मा हमारी आन्तरिक अनुभूतियों का समन्वय है, किन्तु भगवान वह पूर्ण निरपेक्ष तत्व है जिसमें ब्रह्म तथा परमात्मा दोनों अपनी पूर्णता और सार्थकता को प्राप्त होते हैं। उनका विश्वास था कि हिन्दू देवता सृष्टि की उच्चतर कोटि के प्राणी हैं और उन्हें इन्द्रियोत्तर शक्तियों के द्वारा देखा जा सकता है।[3] अपने परवर्ती जीवन में पाल ने शाक्त पन्थों के आध्यात्मिक महत्व को समझने का भी प्रयत्न किया। अपनी 'द सोल आव इण्डिया' (भारत की आत्मा) नामक पुस्तक में उन्होंने बतलाया कि श्रीकृष्ण भारत की आत्मा हैं।[4] वे श्रीकृष्ण को 'आध्यात्म-अनुप्रेरित तथा सांस्कृतिक दृष्टि से संयुक्त संघ' का प्रवर्तक मानते थे।

पाल ने प्रथम बार 1887 में मद्रास में कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया और 'अस्त्र अधिनियम' को रद्द करने के प्रस्ताव के समर्थन में अनुप्रेरित भाषण किया। 1900 में उन्होंने इंगलैण्ड

---

1 विपिनचन्द्र पाल का जन्म 7 नवम्बर, 1858 को हुआ था।
2 विपिनचन्द्र पाल, *Sri Krishna* (टैगोर एण्ड कम्पनी, मद्रास), पृष्ठ 165-66।
3 बी. सी. पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 24-25।
4 बी. सी. पाल, *The Soul of India*, पृष्ठ 124।

और अमेरिका की यात्रा की। अगस्त 1901 में उन्होंने अपना 'न्यू इण्डिया'[5] नामक पत्र आरम्भ किया। बंगाल के विभाजन ने उनकी संवेदनशील आत्मा को उत्तेजित कर दिया, और उस समय से वे शुद्ध एवं स्वाग्रहमूलक राष्ट्रवाद का सन्देश देने लगे। स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में उन्होंने स्वायत्तता का ही नहीं अपितु ब्रिटिश नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया। अरविन्द घोष के साथ-साथ पाल ने पुनर्जाग्रत बंगाल के सन्देशवाहक का काम किया। वे नव राष्ट्रवाद के अतिवादी दल के नेता थे।[6] अरविन्द ने 1909 में अपने उत्तरपाड़ा के प्रसिद्ध भाषण में पाल के बारे में कहा था : "जब मैं आया तो मैं अकेला नहीं था; राष्ट्रवाद के एक सबसे बड़े सन्देशवाहक मेरे पास बैठे हुए थे। मेरे निकट पाल विराजमान थे जो कारागार की उस एकान्त कोठरी से निकलकर आये थे जहाँ ईश्वर ने उन्हें इसलिए भेज दिया था कि उसकी नीरवता और निस्तब्धता में वे उस सन्देश को सुन सकें जो उन्हें इस देश को देना है।" पाल ने सम्पूर्ण पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की यात्रा की और उत्साह के साथ स्वराज्य तथा स्वदेशी के शक्तिशाली मन्त्र का उपदेश दिया। उन्होंने 1907 में मद्रास में 2 से 9 मई तक स्वराज तथा निष्क्रिय प्रतिरोध पर ओजस्वी भाषण किये। जब अरविन्द घोष पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया तो पाल से उनके विरुद्ध गवाही देने को कहा गया। किन्तु उन्होंने इनकार कर दिया। इसलिए उन्हें 10 सितम्बर, 1907 को गिरफ्तार करके पहले कलकत्ता की प्रेसीडेंसी जेल में और बाद में बक्सर के केन्द्रीय कारागार में बन्द कर दिया गया। 9 मार्च, 1908 को पाल मुक्त कर दिये गये। अगस्त 1908 में वे दूसरी बार इंगलैण्ड गये। वहाँ वे तीन वर्ष तक रहे और हिन्दू धर्मविद्या तथा भारतीय राष्ट्रवाद पर ग्रन्थ लिखे। कुछ समय तक वहाँ उन्होंने 'स्वराज' नामक एक पत्र भी प्रकाशित किया। वे अपने जीवन के 'संस्मरण' पूरे नहीं कर पाये; उसके केवल दो खण्ड प्रकाशित हुए हैं। उनकी पुस्तकें 'इण्डियन नेशनलिज्म' (भारतीय राष्ट्रवाद) तथा 'नेशनलिटी एण्ड एम्पायर' (राष्ट्रीयता तथा साम्राज्य) उनकी सैद्धान्तिक सूझबूझ की परिचायक है। वेलेंटाइन शिरोल ने भी 'विपिनचन्द्र पाल की बौद्धिक शक्ति तथा उच्च चरित्र" की प्रशंसा की है।

2. पाल का इतिहास दर्शन

पाल के राजनीति दर्शन का आधार यह सिद्धान्त था कि इतिहास ईश्वर द्वारा नियन्त्रित तथा संचालित होता है। ब्रह्म "ब्रह्माण्ड के विकास का नियामक प्रत्यय" है।[7] पाल के अनुसार इतिहास विच्छिन्न, उद्देश्यहीन और असम्बद्ध घटनाओं का जमघट मात्र नहीं है। वस्तुतः वह ईश्वरीय प्रयोजन की अभिव्यक्ति है। इतिहास में एक व्यापक प्रयोजन और सर्वोच्च उद्देश्य निहित है। जो कोरा बुद्धिवादी अथवा प्राकृतिक धर्मावलम्बी है वह पाल के इस मत से भले ही सहमत न हो, किन्तु राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए आस्था की बड़ी आवश्यकता होती है।[8] पाल का कहना था कि भारत का इतिहास भी एक श्रेष्ठ उद्देश्य की अभिव्यक्ति है—वह उद्देश्य है स्वायत्तता की खोज तथा धर्म की प्रतिष्ठा। भारतीय इतिहास के सभी ऐतिहासिक आन्दोलनों और रूपान्तरों का आन्तरिक महत्व और गम्भीर प्रयोजन यह रहा है कि "एक जाति के रूप में हम अपनी विधिविहित होनव्यता का साक्षात्कार करें।" आर्य जनजातियों से लेकर मुसलिम विजेताओं तक सभी जातियों और शासकों तथा पाल, सेन, प्रतापादित्य, मराठा-मन्डल तथा ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन आदि सबकी राजनीतिक कार्यवाहियों के मूल में इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। पाल ने आर्विन

---

5 *New India* का प्रकाशन 1901 से आरम्भ हुआ था और दिसम्बर 1907 में उसका प्रकाशन बन्द हो गया।

6 एम. एन. राय, *India in Transition*, पृष्ठ 197। 1907 में विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवादी कार्यक्रम निम्न प्रकार से निरूपित किया :
(क) राष्ट्रीय शिक्षा का परिवर्धन,
(ख) राष्ट्रीय स्वयं सेवकों की भर्ती,
(ग) भारतीय उद्योगों का विकास,
(घ) ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कायम करना जो समय आने पर शासन का कारोबार अपने हाथों में ले सके।

7 बी. सी. पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 39।

8 वही, पृष्ठ 22-23।

के विकासवाद,[9] स्पेंसर के अनीश्वरवाद और ह्यूम के संशयवाद का खण्डन किया और इस वैदिक तथा पौराणिक सिद्धान्त का सन्देश दिया कि इतिहास परब्रह्म की लीला अथवा निवास-स्थान है। अपनी 'द सोल आव इण्डिया' (भारत की आत्मा) तथा 'श्रीकृष्ण' नामक पुस्तकों में पाल ने घोषणा की कि कृष्ण भारत की आत्मा है। कृष्ण के जीवन में ही हमें इतिहास तथा विकास का प्रयोजन ढूँढ़ना है। वे भारतीय मानवता के आदर्श रूप थे। सर्वोच्च आचार्य एवं दार्शनिक कृष्ण राष्ट्र-निर्माण के रहस्यों तथा सामंजस्यपूर्ण और समन्वयवादी आदर्शवाद के प्रतिनिधि हैं। बोसांक्वे की भाँति पाल का भी कथन है कि सामाजिक तथा नागरिक संस्थाएँ "मानव के माध्यम से ईश्वर की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति और साक्षात्कार" का साधन मात्र हैं। दासता मनुष्य की आत्मा के प्रतिकूल है। "ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही अनुरूप तत्वत: एवं सम्भवत: स्वतन्त्र और शुद्ध बनाया है; क्या मनुष्य उसे शाश्वत बन्धन और पाप में जकड़कर रखेगा ?" अत: सामाजिक तथा नागरिक मुक्ति के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा ब्रिटेन के प्रभुत्व की माया पर विजय पाना आवश्यक है।

मध्ययुगीन दार्शनिक आदर्श को वास्तविक से, आध्यात्मिक को भौतिक से और व्यक्ति को उसके वातावरण से पृथक करके चलते तथा सोचते थे। पाल ने इस प्रवृत्ति का खण्डन किया। वे इस पक्ष में थे कि मनोगत और सार्वभौम के साथ-साथ वस्तुगत और विशिष्ट को समान महत्व दिया जाना चाहिए।[10] राजनीतिक दार्शनिक के रूप में पाल ने लेव तॉल्सतॉय के 22 अप्रैल, 1905 को प्रकाशित 'नागरिक स्वाधीनता तथा वैयक्तिक पूर्णता' शीर्षक लेख की आलोचना की। उन्होंने तॉल्सतॉय के व्यक्तिवादी विचारों का विरोध इसलिए किया कि वे व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से उसके देश की सामाजिक तथा नागरिक संस्थाओं से स्वतन्त्र मानते थे। पाल ने भारत के पुराने सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन को अंगीकार किया, क्योंकि उस दर्शन के अनुसार व्यक्ति सामाजिक तथा नागरिक दायित्वों का निषेध करके नहीं, बल्कि स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करके ही पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है।[11]

3. पाल का राष्ट्रवाद का सिद्धान्त

समाज तथा राष्ट्र की अवयवी धारणा ने अनेक भारतीय दार्शनिकों तथा विचारकों को प्रभावित किया है। पाल भी राष्ट्र के अवयवी सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि राष्ट्र यांत्रिक संविदा से उत्पन्न नहीं है। वह पृथक व्यक्तियों का कृत्रिम जमाव नहीं है। वह एक अवयवी है और सर्वव्यापी बुद्धि तथा नैतिक बन्धन से अनुप्राणित है। राष्ट्र मनुष्यों का ही आवर्धित तथा विस्तारित स्वरूप है। वह विराट पुरुष का बाह्यकरण है। इसलिए पाल ने माना कि अपने बृहत्तर अहं के लिए त्याग करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। आध्यात्मिक तथा नैतिक अवयवी के रूप में राष्ट्र अपने अटल ऐतिहासिक स्मृतियों तथा भावी उद्देश्यों की चिरस्थायी अविच्छिन्नता में व्यक्त करता है।[12] 6 जुलाई, 1906 को प्रकाशित 'वन्दे मातरम्' शीर्षक लेख में पाल ने कहा : "जिन व्यक्तियों के मेल से राष्ट्र बनता है उनका परस्पर तथा जिस समग्र के वे अवयव और अंग हैं उसके साथ उनका सम्बन्ध अवयवी होता है। भीड़ व्यक्तियों का पुंज मात्र है; राष्ट्र एक अवयवी है और व्यक्ति उसके अंग हैं। अंग अपने उद्देश्यों की पूर्णता स्वयं अपने में प्राप्त नहीं कर सकते; जिस अवयवी से उनका सम्बन्ध है उसके सामूहिक जीवन में ही उनके उद्देश्यों की पूर्णता निहित होती है। आप अवयवी की हत्या कर दीजिये—अंग स्वत: नष्ट हो जायँगे और काम करना बन्द कर देंगे। आप अंगों को निष्प्राण कर दीजिये तो अवयवी नष्ट हो जायगा और काम करना बन्द कर देगा। तर्कत: अवयवी अंगों से पहले का होता है। अंग विकसित होते हैं, बदलते हैं, किन्तु अवयवी फिर भी

---

9 बी. सी. पाल, *Sri Krishna*, पृष्ठ 46।

10 बी. सी. पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृ. 39।

11 बी. सी. पाल ने *Nationality and Empire* नामक अपनी पुस्तक में पृष्ठ 27 पर हिन्दू समाजवाद तथा पाश्चात्य समाजवाद में अन्तर स्पष्ट किया है।

12 विपिनचन्द्र पाल ने "The Contribution of Islam to Indian Nationalism" शीर्षक लेख में घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद का विचार मुगल साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ विकसित हुआ। देखिये *Life and Utterances of B. C. Pal*, पृष्ठ 138-52।

जो है वही बना रहता है। व्यक्ति जन्म लेते हैं, व्यक्ति मरते हैं, किन्तु राष्ट्र सदैव जीवित रहता है।"

पाल ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का भी समर्थन किया।[13] वे केवल राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के सिद्धान्त के मानने वाले नहीं थे। उन्होंने अवयवी सिद्धान्त को परिवार, जनजाति तथा राष्ट्र तीनों पर लागू किया। उनका कहना था कि देश में एक प्रकार की आध्यात्मिक जागृति हो रही है; "उसको कोरा आर्थिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन मानना उसे पूर्णतः गलत समझना है।" किन्तु पाल ने कहा कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की आध्यात्मिक व्याख्या का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य दार्शनिकों की भाँति आदर्शवाद तथा चिन्तन में तल्लीन रहें। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को अनुदार परम्परावाद के समरूप मान लेना उचित नहीं है। पाल यथार्थवादी भी थे। उन्होंने राजनीति की तुलना शतरंज के खेल से की।[14] यही कारण था कि उन्होंने समस्याओं का कोई सुनिश्चित और बना-बनाया हल प्रस्तुत नहीं किया और स्पष्ट घोषणा की कि राष्ट्रवादियों का कार्यक्रम ब्रिटिश नौकरशाही की चालों और कार्यप्रणाली पर निर्भर करेगा। भारत के नये राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति पर बल देकर पाल जनता को दो तात्विक सिद्धान्त समझाना चाहते थे। प्रथम, सब चीजों का मूल्यांकन स्वयं जीवन को ध्यान में रखकर करना।[15] "वह (धर्म) अर्थव्यवस्था, राजनीति, कला, नैतिकता आदि सब का मूल्यांकन समग्र को ध्यान में रखकर करता है।" लौकिक को आध्यात्मिक से पृथक करना हिन्दुत्व के प्रतिकूल है। आध्यात्मिकता को सब चीजों का मापदण्ड मानने से राजनीति राष्ट्रवादी के बृहत्तर धर्म का अंग बन जाती है, मोक्षविद्या का ही एक प्रकरण हो जाती है।[16] अतः राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति को स्वीकार करने से भारत की राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण तथा व्यापक प्रसार और विस्तार होगा, और तब वह सार्वभौम मानव जीवन के विकास में प्रभावकारी योग दे सकेगी। द्वितीय, अपने में नैतिक गुणों का विकास करना। इसका अभिप्राय है कि न्याय तथा उदारता के लिए अंग्रेजों से प्रार्थना करने की अपेक्षा अपने को बलिष्ठ बनाना और अपने मन और आत्मा को ज्ञान से प्रदीप्त करना।[17] पाल कहा करते थे कि संयम के बिना राष्ट्रवाद की सेवा नहीं की जा सकती। इस प्रकार जो राष्ट्रवाद धर्म की जड़ों से पोषण प्राप्त करता है वह स्थायी सिद्ध होता है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि राष्ट्र की आध्यात्मिक प्रकृति की इस धारणा का पाल की अपेक्षा अरविन्द की रचनाओं में अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है।

पाल तथा अरविन्द भारत को नया जीवन तथा नयी स्फूर्ति प्रदान करना चाहते थे। अपने पत्र 'न्यू इण्डिया' में पाल ने 'यौगिक राष्ट्रवाद'[18] की धारणा का प्रतिपादन इन शब्दों में किया था : "यह नया भारत हिन्दू नहीं है, यद्यपि हिन्दू इसके मूल तथा प्रमुख वंशधर हैं; यह मुसलिम भी नहीं है, यद्यपि उनकी इसको महत्वपूर्ण देन है; और न यह ब्रिटिश है यद्यपि इस समय वे इसके राजनीतिक स्वामी हैं—बल्कि वह उस मूल्यवान तथा विविध प्रकार की सामग्री से बना है जो विश्व की तीन बड़ी सभ्यताओं ने उसे उसके विकास की क्रमिक अवस्थाओं में प्रदान की है और जिसका प्रतिनिधित्व वर्तमान भारतीय समाज के तीन बड़े अंग करते हैं।"[19]

पाल ने स्वदेशी के दिनों में देशभक्ति की नयी सशक्त भावना का सन्देश दिया। उन्होंने

---

13 बी. सी. पाल, *Sri Krishna*, पृष्ठ 3 : "व्यक्तियों की भांति राष्ट्रों के भी आत्मा होती है।"
14 बी. सी. पाल, *Swadeshi and Swaraj*, पृष्ठ 208।
15 बी. सी. पाल ने अपनी पुस्तक *Introduction to the Study of Hinduism* में पृष्ठ 65-80 पर धार्मिक विकास की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया है : (1) अनुभूत्यात्मक, (2) चिन्तनात्मक तथा कल्पनात्मक अथवा प्रत्ययात्मक। उन्होंने बतलाया कि मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धतियों द्वारा अनुशीलन करने से पता चलता है कि धर्म मनुष्य का 'पर' (स्व से भिन्न) के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न है। (वही, पृष्ठ 174-185)।
16 बी. सी. पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 47।
17 वही, पृष्ठ 33।
18 बी. सी. पाल, *Responsible Government*, पृष्ठ 12-13।
19 बी. सी. पाल का कहना था कि एक "संघात्मक राष्ट्र" होगा—*Life and Utterances of B. C. Pal*, पृष्ठ 151।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थन किया। उनके अनुसार प्राकृतिक अधिकार वे मूल मानव अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से ही निहित हैं। इन अधिकारों का आज्ञापत्र स्वयं ईश्वर को उपलब्ध हुआ है। ये मूल प्राकृतिक अधिकार सांविधानिक अधिकार नहीं हैं और न इनकी किसी ने सृष्टि की है, बल्कि वे ऐसे "अधिकार हैं जिन्होंने सरकारों को जन्म दिया है।"[20] पाल ने उस समय देश में प्रचलित विजातीय तथा मूलविहीन शिक्षा-प्रणाली की भर्त्सना की और तिलक तथा अरविन्द की भाँति राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने 'वन्दे मातरम्' नामक समाचारपत्र की स्थापना की और उसके द्वारा स्वराज्य के मन्त्र अथवा ईश्वरीय भावना का उपदेश दिया। तिलक तथा अरविन्द की भाँति पाल ने भिक्षा माँगने की प्रवृत्ति की निन्दा की और कहा: "कोई सुधार, सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक, ऐसा नहीं हो सकता जो बाहर से प्राप्त किया जा सके। अपना अधिकार आपको शनैः-शनैः स्वयं अर्जित करना है।" वे भारतीय आत्मा की विजय चाहते थे। उन्होंने बहिष्कार की धारणा को एक व्यापक राजनीतिक अर्थ प्रदान करने का प्रयत्न किया। वे यह नहीं चाहते थे कि बहिष्कार को कोरी आर्थिक कार्यवाही तक सीमित रखा जाय। उनकी इच्छा थी कि राष्ट्रीय शिक्षा स्वदेशी तथा बष्हिकार के इन तरीकों को भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के ज्वार को गति प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाय। ब्रिटिश नौकरशाह तथा साम्राज्यवादी इस राजनीतिक स्वदेशी के आन्दोलन के कट्टर शत्रु थे। बहिष्कार के अर्थ के सम्बन्ध में पाल तथा मदनमोहन मालवीय में गहरा मतभेद था जो 1906 की ऐतिहासिक कलकत्ता कांग्रेस में प्रकट हो गया। पाल ने दृढ़ता से घोषणा की: "भारत में राजनीति को अर्थतन्त्र से, राजनीति को औद्योगिक प्रगति से पृथक करना असम्भव है। स्वदेशी का राजनीति से सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है, और जब स्वदेशी का राजनीति से सम्बन्ध जुड़ जाता है तो वह बहिष्कार का रूप ले लेता है, और यह बहिष्कार निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन है।" अतिवादी सम्प्रदाय के नेता तथा विचारक के रूप में पाल ने स्वावलम्बन, आत्म-साहाय्य और आत्म-निर्णय का समर्थन किया।

1918 में पाल तिलक के साथ होम रूल लीग के प्रतिनिधिमण्डल के एक सदस्य बनकर इंगलैण्ड गये। 1919 की अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने तिलक के 'संवादी सहयोग' (रेस्पान्सिव को-आपरेशन) के नारे का हृदय से समर्थन नहीं किया। उन्होंने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन का विरोध किया और 1922 में कहा कि भारत को 'संवादी सहयोग' की नीति को अपनाना चाहिए। वे अहिंसात्मक क्रान्ति के भी विरुद्ध थे, वह समाज का निकट अतीत और वर्तमान के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर देती है।[21]

4. पाल का राजनीतिक दर्शन

पाल ने 'दैवी लोकतन्त्र' के आदर्श का प्रतिपादन किया। एक बार उन्होंने चैतन्य को इस आदर्श का प्रवर्तक बतलाया था।[22] उनका कहना था कि स्वराज भारतीय जनता का स्वराज्य होना चाहिए। इस आदर्श की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि 'संयुक्त राज्य भारत' की स्थापना की जाय। तभी भारतीय जनता की राष्ट्रीय प्रतिभा को राजनीतिक जीवन के कल्याणकारी मार्ग में प्रवृत्त किया जा सकेगा। यदि भारतीय स्वतन्त्रता का देश के ऐतिहासिक आदर्शों के साथ सामंजस्य स्थापित करना है तो वह दैवी लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करके ही किया जा सकता है। उन्होंने कहा: "स्वराज के जिस आदर्श ने अपने को हमारे समक्ष व्यक्त किया है वह वस्तुतः दैवी लोकतन्त्र का ही आदर्श है। लोकतन्त्र का यह आदर्श इंगलैण्ड और अमेरिका में प्रचलित संघर्षपूर्ण, भौतिकवादी आक्रामक तथा क्रूर लोकतन्त्र से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। एक इससे भी ऊँचा सन्देश है। मनुष्य देवता है; और भारतीय लोकतन्त्र की समानता प्रत्येक व्यक्ति में निहित दैवी प्रकृति, दैवी सम्भावनाओं और दैवी होतव्यता की समानता है, वह व्यक्ति चाहें हिन्दू हो और चाहे मुसलमान, बौद्ध अथवा ईसाई। अतीत में भारतवासियों को, वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान, इसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिली है, और

---

20 बी. सी. पाल, *Life and Utterances*, पृष्ठ 27-28।
21 बी. सी. पाल, *Swaraj*, पृष्ठ 16।
22 बी. सी. पाल, *Memories of My Life and Times*, जिल्द 1, पृष्ठ 355 और 357।

हिन्दुओं के चरित्र में तथा सामान्यतः सभी भारतवासियों के चरित्र में आध्यात्मिकता की प्रधानता देखने को मिलती है। इस सबका ही परिणाम है कि हमें एक ऐसे लोकतांत्रिक आदर्श की अभिव्यक्ति को देखने का श्रेष्ठतम अधिकार प्राप्त हुआ है जो यूरोपीय मानवता की सामान्य चेतना के समक्ष व्यक्त हुए आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।"[23] पाल ने कहा कि दैवी लोकतन्त्र के आदर्श की जड़ें हमें जीवन की एकता के वेदान्ती आदर्श में देखने को मिलती हैं। भगवद्गीता के अनुसार सभी प्राणियों में दैवी आत्मा विद्यमान है, इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि सभी मनुष्य समान, आदर प्रतिष्ठा और अधिकारों के अधिकारी हैं। दैवी लोकतन्त्र का यह आदर्श 'एक-व्यक्ति, एक मत' के यान्त्रिक सूत्र को आध्यात्मिक तत्व प्रदान करके अधिक शक्तिशाली बना सकता है, और इस देश की जनता के हृदय पर इसका प्रभाव भी तत्काल पड़ेगा।

1911 में पाल ने 'साम्राज्यीय संघ' का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि इस संघीय साम्राज्यवाद में भारत के साथ एक स्वतन्त्र तथा समान साझीदार जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, एक पराधीन देश जैसा नहीं। एक अर्थ में संघीय साम्राज्य का रूप राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक होगा। ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड, मिस्र, भारत तथा उपनिवेश इस साम्राज्य के सदस्य होंगे। उनमें से प्रत्येक आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वायत्त होगा, केवल प्रगति और रक्षा के लिए सब मिलकर कार्य करेंगे। साम्राज्य अवयवी सम्बन्धों के आधार पर संगठित होगा। उसके अन्तर्गत हमारा शासन उतना ही होगा जितना कि ब्रिटेन अथवा कनाडा का।[24] पाल की यह योजना उनकी अद्भुत दूरदर्शिता की परिचायक है। उन्होंने साम्राज्यीय संघ की योजना रोड्स और मिलनर के उस आदर्श के विरुद्ध प्रस्तुत की थी जिसके अनुसार केवल श्वेत राष्ट्र ही साम्राज्य के सदस्य बन सकते थे।[25]

संघ के आदर्श से पाल का गहरा संवेगात्मक अनुराग था।[26] वे कहा करते थे कि हिन्दू धर्म अनेक धर्मों का संघ है। विश्व के राजनीतिक विकास में भारत का यह निर्धारित कार्य है कि वह "मानव जाति के सार्वभौम संघ की स्थापना में नेतृत्व करे।"[27] उन्होंने इस धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया कि भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का परस्पर मेल नहीं हो सकता।[28] इस प्रकार हम देखते हैं कि पाल के विचारों में धीरे-धीरे गम्भीर परिवर्तन हो गया था। स्वदेशी के दिनों में वे भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र सन्देशवाहक थे। किन्तु इंगलैण्ड से लौटने पर और विशेषकर 1909 के सुधार अधिनियम के लागू होने के उपरान्त पाल कहने लगे थे कि पृथक्कृत प्रभुत्वसम्पन्न स्वाधीनता "एक खतरनाक और आत्मघाती आदर्श"[29] होगा। परिवार, जनजाति, नस्ल और राष्ट्र अपना ऐतिहासिक कार्य तथा सामाजिक समन्वय का उद्देश्य पूरा कर चुके हैं। इसलिए मानव जाति के राजनीतिक विकास के लिए राष्ट्र से ऊपर उठना आवश्यक है। 1910 के उपरान्त पाल ने अपनी रचनाओं में उच्चतर साम्राज्यीय समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया। पाल ने स्वीकार किया कि विद्यमान साम्राज्यीय व्यवस्थाओं में अनेक दोष और कमियाँ हैं। किन्तु वे अवयवी सामाजिक संगठन पर आधारित उच्चतर तथा निरन्तर वृद्धिमान समन्वय के आदर्श के उग्र समर्थक और प्रशंसक थे। उनकी दृष्टि में उनका कहना था कि इस समय मानव जाति की नैतिक एकता सर्वाधिक महत्व की वस्तु है। तभी सार्वभौम मानवता का स्वप्न साकार किया जा सकता है। संघीय साम्राज्य की स्थापना सार्वभौम मानवता के लिए भूमिका का काम होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने मद्रास के

---

23 बी. सी. पाल, *Life and Utterances*, पृष्ठ 95-96।

24 बी. सी. पाल, *Responsible Government*, पृष्ठ 26।

25 बी. सी. पाल अपनी पुस्तक *Responsible Government* में पृष्ठ 41 पर लिखते हैं कि साम्राज्यीय संघ का आदर्श लार्ड हार्डिंज के अगस्त 25, 1911 के प्रेषण में निहित था।

26 बी. सी. पाल *Swaraj* में पृष्ठ 9 पर लिखते हैं कि संघवाद का आदर्श प्राचीन भारतीय राजतन्त्र का प्रमुख तत्व था।

27 बी. सी. पाल, *Nationality and Empire*, पृष्ठ 115।

28 वही, पृष्ठ 312।

29 पाल का जुलाई 1913 का लेख, वही, पृष्ठ 342।

भाषणों में पाल ने राष्ट्रीय शक्ति तथा एकीकरण का उपदेश दिया, और 1910-11 के बाद वे साम्राज्यीय संघ के आदर्श का प्रतिपादन करने लगे। यह आदर्श सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक ऊँचा ही नहीं था, बल्कि समय की परिस्थितियों को देखते हुए सर्वाधिक उपयुक्त भी था। चीन जाग उठा था, जापान विश्व की महान शक्ति बनने के लिए प्रतियोगिता के अखाड़े में कूद चुका था और सर्वइस्लामवाद से भारत के लिए नया संकट उपस्थित हो गया था। इन परिस्थितियों में संघ शासन का आदर्श पृथक्कृत और प्रभुत्वसम्पन्न स्वाधीनता की तुलना में अधिक कल्याणकारी था। पाल ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि उनके पहले के अतिवादी राष्ट्रवाद और साम्राज्यीय संघ के सिद्धान्त में कोई अन्तर्विरोध नहीं था। उन्होंने बतलाया कि विकास की पहली अवस्था में राष्ट्र की नींव को सुदृढ़ करना आवश्यक है और दूसरी में मेल-मिलाप तथा समन्वय पर बल देना जरूरी है।[30]

1921 में बारीसाल के बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में पाल ने घोषणा की कि भारतीय जनता धीरे-धीरे लोकतान्त्रिक स्वराज के आदर्श को अंगीकार करने लगी है। उन्होंने स्वयं अपने को 'सच्चे लोकतान्त्रिक स्वराज' का प्रवर्तक बतलाया। जिस समय लाला लाजपत राय, चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे बड़े नेता गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे उस समय पाल ने उसका विरोध किया। उनका विरोध इस बात का द्योतक था कि उनका 'मतवादीपन' बढ़ रहा था और वे धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन के केन्द्र से हटकर परिधि की ओर उन्मुख हो रहे थे। उन्होंने 1928 में सर्वदलीय सम्मेलन में भाग लिया किन्तु एक नेता के रूप में उनकी प्रभावकारी भूमिका बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी। सार्वजनिक जीवन से निवृत्त होने के उपरान्त उन्होंने अपने संस्मरण लिखे। उनकी इस आत्मकथा से उनके जीवन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक पहलुओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

5. पाल का आर्थिक आदर्श

पाल ने यूरोप तथा अमेरिका के अर्थतन्त्र में प्रचलित प्रतियोगिता-मूलक पूँजीवाद की भावना का खण्डन किया।[31] वे चाहते थे कि भारत के औद्योगिक आन्दोलन को पाश्चात्य पूँजीवाद की भावना तथा पद्धतियों के आक्रमण से बचाया जाय। उन्होंने यह भी चेतावनी दी कि 'क्षुधा-प्रेरित समाजवाद' इस पूँजीवादी अर्थतन्त्र का अपरिहार्य परिणाम है।[32]

प्रथम विश्व युद्ध के तुरन्त बाद पाल ने 'द न्यू इकॉनौमिक मीनेस टु इण्डिया'[33] (भारत के लिए नया आर्थिक संकट) नाम की पुस्तक लिखी। उसमें उन्होंने बतलाया कि भारत के लिए केवल यही खतरा नहीं है कि इंगलैण्ड के द्वारा उसका आर्थिक शोषण दिन पर दिन बढ़ रहा है, बल्कि उपनिवेश भी उसका शोषण करने लगे हैं। उन्होंने 'साम्राज्यीय अधिमान्यता'[34] के खोखलेपन का भण्डाफोड़ किया। ब्रिटिश पूँजीवाद द्वारा बढ़ते हुए शोषण के विरुद्ध उन्होंने तीन उपाय बतलाये : (1) भारतीय राष्ट्रवाद की ब्रिटिश मजदूर दल के साथ खुली तथा साहसपूर्ण मैत्री;[35] (2) भारतीय मजदूरों के लिए अधिक से अधिक 48 घंटे का सप्ताह तथा उनकी मजदूरी में वृद्धि;[36] और

---

30 एम. एन. राय *India in Transition* (पृष्ठ 199-200) में लिखते हैं कि विपिनचन्द्र पाल के राजनीति दर्शन में "आश्चर्यजनक परिवर्तन" आगया था। "मध्यवर्गीय उग्रवाद तथा धार्मिक सुधारवाद के सम्मिश्रण से उनका राजनीतिक दृष्टिकोण धुँधला हो गया था।…पाल के राष्ट्रवादी दर्शन में प्रगतिशील उग्रवाद धार्मिक रहस्यवाद पर हावी हो गया था। क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों ने उनके द्वारा प्रतिविम्बित प्रतिक्रियावादी शक्तियों को अभिभूत कर लिया था, ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्ध बनाये रखने की उनकी दयनीय इच्छा स्वयं उनकी मनोगत दुर्बलताओं का प्रतीक थी; किन्तु उनकी इस इच्छा का मूल कारण यह था कि उनके मन में परम्परावादी राष्ट्रवाद द्वारा पोषित सभी आदर्शों के प्रति अविश्वास छिपा हुआ था।"

31 विपिनचन्द्र पाल, *Nationality and Empire*, पृष्ठ 252।

32 वही।

33 विपिनचन्द्र पाल, *The New Economic Menace to India* (गनेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1920)।

34 बी. सी. पाल ने *Nationality and Empire* में पृष्ठ 360-61 में लिखा है कि साम्राज्यीय अधिमान-दान एक प्रकार का आर्थिक परावलम्ब है।

35 *The New Economic Menace to India*, पृष्ठ 226-227।

36 वही, पृष्ठ 233-35।

(3) भारत में अर्जित अतिरिक्त लाभ पर कर।[37] पाल का आग्रह था कि अतिरिक्त लाभ को अनिवार्य रूप से सार्वजनिक कोष में पहुँचाया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य द्वारा अतिरिक्त लाभ को हड़पने का यह प्रस्ताव बहुत उग्र था। इससे भारत के आर्थिक विकास में चल पूँजी तथा औद्योगिक साहस के कारण जो पिछड़ापन था वह आंशिक रूप में दूर किया जा सकता था।

6. निष्कर्ष

विपिनचन्द्र पाल प्रकाण्ड पण्डित तथा परिपक्व विचारक थे। उन्होंने हिन्दू दर्शन तथा धर्मविद्या का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने पश्चिम की जो कई बार यात्रा की उसमें उनकी राजनीतिक विश्लेषण की शक्ति बहुत कुशाग्र हो गयी थी। उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद के अतिवादी समर्थक के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। उनका राष्ट्रवाद ऐतिहासिक परम्पराओं तथा भारत के दार्शनिक आदर्शों पर आधारित था। उन्होंने अनुकरणमूलक राष्ट्रवाद की पुरानी प्रवृत्तियों का खोखलापन सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन की जड़ें जनता के हृदय तथा आत्मा में होनी चाहिए। किन्तु धीरे-धीरे उनके विचारों में रूपान्तर हो गया। प्रारम्भ में वे अतिवादी राष्ट्रवाद के समर्थक थे, किन्तु बाद में वे साम्राज्यीय संघ के समर्थक बन गये। जब गान्धीवाद का उदय हुआ और असहयोग तथा सविनय अवज्ञा की कार्य प्रणालियाँ कार्यान्वित की गयीं तो पाल का भारतीय राजनीतिक जीवन की वास्तविकता से सम्पर्क टूट गया। 1923 में उन्होंने तिलक के सम्वादी सहयोग के आदर्श को स्वीकार करने का समर्थन किया। वे राजनीति में उदारवादी कभी नहीं हुए किन्तु धीरे-धीरे सक्रिय राजनीतिक जीवन से तिरोहित हो गये। उनके 1920-1932 के काल के राजनीतिक चिन्तन में ओज तथा शक्ति का अभाव है। किन्तु उन्होंने 1905 से 1909 तक के स्वदेशी के दिनों में देश को जो शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया उसके लिए उन्हें सदैव स्मरण किया जायगा। उस युग में वे अपने राजनीतिक जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके थे। उन दिनों उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के दर्शन का प्रतिपादन किया और एक सन्देशवाहक तथा पथान्वेषक का काम किया। यद्यपि राजनीतिक नेता के रूप में वे अविचल नहीं सिद्ध हुए, किन्तु वे स्वदेशी तथा स्वराज के सिद्धान्तकार के रूप में सदैव प्रसिद्ध रहेंगे।

विपिनचन्द्र पाल के अनुसार देशभक्ति पवित्र वस्तु है किन्तु वही पर्याप्त नहीं है। वह मानवता में ही पूर्णत्व को प्राप्त हो सकती है,[38] क्योंकि मानवता मनुष्य में निहित ईश्वर की शाश्वत अभिव्यक्ति है।[39] पाल का राजनीतिक सन्देश इन अनुप्रेरित शब्दों में सन्निहित है : "धन्य है व्यक्ति का पूर्णत्व प्राप्त जीवन। धन्य है राष्ट्र का जीवन जो व्यक्ति के जीवन से वृहत्तर और अधिक ईश्वरीय है और जिसमें व्यक्ति अपनी उच्चतम पूर्णता को प्राप्त होता है; और धन्य है, बारम्बार धन्य है मानवता का सार्वभौम जीवन जिसमें राष्ट्रीय जीवन तथा आकांक्षाएँ पूर्णत्व प्राप्त करती तथा फलान्वित होती हैं।"[40] पाल मानव प्रेम को जातिगत समानता का तात्विक दर्शन मानते थे। उनका विचार था कि मानवता मनुष्य के विकास में नियामक प्रत्यय है। नारायण अर्थात सार्वभौम मानवता तर्कतः प्रत्येक जनजाति, नस्ल तथा राष्ट्र में सन्निहित है।

प्रकरण 2

लाला लाजपत राय

1. प्रस्तावना

यह निर्विवाद है कि लाला लाजपत राय (1865-1928) रणजीतसिंह के बाद पंजाब के महत्तम व्यक्ति थे। स्वाधीनता के सेनानियों की पंक्ति में उनका उच्च स्थान है;[41] वे राष्ट्रीय वीर

---

37 वही, पृष्ठ 236-37।

38 एक बार पाल ने यूरोपीय राष्ट्रों के मानवता के आदर्श का, "श्वेत मानवता" कहकर, मखौल उड़ाया था— *Life and Utterance of B. C. Pal*, पृष्ठ 111।

39 विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवाद तथा तात्विक सार्वभौमवाद के समन्वय की कल्पना की थी, उनका कथन है कि राष्ट्र तथा मानवता दोनों ही ईश्वरीय हैं।

40 16 अक्टूबर, 1906 के 'वन्दे मातरम्' में प्रकाशित।

41 लाला लाजपत राय की 'आत्मकथा' हिन्दी में (राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर); विश्वम्भरप्रसाद शर्मा, 'महारथी लाला लाजपत राय' (माहेश्वरी कार्यालय, बम्बई 1928); चन्द्रशेखर पाठक, 'देशभक्त लाला लाजपत राय'।

थे। पक्के राष्ट्रवादी, समाज-सुधारक तथा स्वाधीनता के निर्भीक योद्धा के रूप में वे सम्पूर्ण देश की प्रशंसा तथा प्रेम के पात्र बन गये थे। उनका जन्म 28 जनवरी, 1865 को लुधियाना जिले में स्थित जगराँव में हुआ था, और 7 नवम्बर, 1928 को उनका शरीरान्त हो गया। 1883 में उन्होंने जगराँव में वकालत आरम्भ की, और बाद में वे हिसार में जाकर वकालत करने लगे। 1892 में उन्होंने लाहौर में वही कार्य आरम्भ किया। कठिन संघर्ष करके उन्होंने पंजाब में वकालत के पेशे में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। वे आर्य समाज में भी कार्य करने लगे जिससे उनमें निःस्वार्थता, निर्भीकता और सेवा के गुणों का विकास हुआ।[42] लाला सैनदास तथा पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के सम्पर्क में आने से उनमें देशभक्ति की भावना का उदय हुआ और वह दिन प्रति दिन गहरी होती गयी।[43] डी. ए. वी. कॉलिज लाहौर (जून 1, 1886 में स्थापित) की विभूतियों में उनका प्रमुख स्थान था। 1880 अथवा 1881 में उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के एक भाषण में मत्सीनी के जीवन के सम्बन्ध में पढ़ा। उसका उसके मन पर अमिट प्रभाव पड़ा। आगे चलकर उन्होंने 'लाइफ एण्ड टीचिंग्ज आव मत्सीनी' (मत्सीनी का जीवन तथा शिक्षाएँ) नामक एक बड़ी पुस्तक पढ़ी। उन्होंने स्वयं मत्सीनी की 'ड्यूटीज आव मैन' (मनुष्य के कर्तव्य) नामक पुस्तक का उर्दू में अनुवाद किया। 1895 में लालाजी ने उर्दू में मत्सीनी की एक जीवनी लिखी। 1892-93 में उन्होंने गैरीबाल्डी की भी जीवनी लिखी और उसे प्रकाशित करवाया। 1897 में दुर्भिक्ष के दिनों में उन्होंने पंजाब के लोगों की बड़ी सेवा की।[44] 1901 में उन्होंने लार्ड कर्जन द्वारा नियुक्त दुर्भिक्ष आयोग के समक्ष गवाही दी।

लाजपत राय के पिता मुन्शी राधाकृष्ण प्रारम्भ में सैयद अहमदखाँ के प्रशंसक थे किन्तु बाद में जब सैयद के विचार बदल गये और वे मुसलिम साम्प्रदायिकता की ओर झुकने लगे तो मुन्शीजी को भारी निराशा हुई और उन्होंने 'कोहिनूर' नामक पत्र में सैयद के विरुद्ध एक खुला पत्र प्रकाशित किया। 1877 में राधाकृष्ण स्वामी दयानन्द के प्रभाव में आये। लाजपत राय ने सैयद अहमदखाँ की 'द कॉलेज आव द म्यूटिनी' (गदर के कारण) पुस्तक पढ़ी थी। वे उनकी 'सोशल रिफॉर्मर' तथा 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट' नामक पत्रिकाओं को भी पढ़ा करते थे। उन्होंने समाचारपत्रों में कुछ पत्र प्रकाशित किये और उनमें सैयद के विचारों की प्रभावकारी ढंग से आलोचना की। सैयद अहमदखाँ को लिखे गये इन 'खुले पत्रों' की तुलना 'जूनियस के पत्रों' से की गयी है। वस्तुतः इन पत्रों के प्रकाशन के साथ-साथ लालाजी ने राजनीति में प्रवेश किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में तीन वर्ष बाद भी 1888 में वे उसमें सम्मिलित हो गये। पहले-पहल उन्होंने 1888 में इलाहाबाद में कांग्रेस के मंच पर पदार्पण किया और उर्दू में भाषण दिया। उसमें उन्होंने शैक्षिक तथा औद्योगिक मामलों पर समुचित विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया। उस कांग्रेस में उन्होंने प्रतिनिधियों में 'सर सैयद अहमदखाँ को खुला पत्र' की प्रतियाँ वितरित कीं।

1905 में अखिल भारतीय कांग्रेस ने उन्हें ब्रिटिश लोकमत के समक्ष भारतीयों की माँगों और शिकायतों को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इंगलैण्ड भेजा। वे गोखले के साथ कांग्रेस प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य बनकर गये। प्रतिनिधिमण्डल का उद्देश्य ब्रिटिश नेताओं को इस बात के लिए राजी करना था कि बंग-भंग की योजना को कार्यान्वित न किया जाय। किन्तु शक्तिशाली साम्राज्य के घमण्डी नेता एक पददलित राष्ट्र के प्रतिनिधियों के समझाने-बुझाने की ओर ध्यान देने को तैयार नहीं थे। इंगलैण्ड से लाजपत राय अमेरिका की संक्षिप्त यात्रा के लिए चले गये। वे केवल तीन सप्ताह तक अमेरिका में रहे। 1905 में बनारस में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उस अवसर पर कांग्रेस में दो गुट हो गये। एक में अधिवेशन के अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले के अनुयायी थे और दूसरे में लोकमान्य तिलक के अतिवादी दल के समर्थक। लाजपत राय ने इन दोनों गुटों के बीच सफलतापूर्वक मध्यस्थता की।

---

42 लाला लाजपत राय द्वारा उर्दू में लिखित दयानन्द का जीवन-चरित्र (1898)।

43 लाला लाजपत राय ने अंग्रेजी में पण्डित गुरुदत्त का जीवन-चरित्र लिखा था। उसका शीर्षक है: *Life of Pandit Gurudatta*।

44 लाजपत राय ने 1899 के दुर्भिक्ष में राजपूताना में तथा 1905 के भूकम्प में कांगड़ा में सहायता कार्य किया था।

1907 में लालाजी को सरदार अजीतसिंह[45] के साथ 1818 के विनियम 3 के अन्तर्गत निर्वासित करके माण्डले भेज दिया गया। सरकार का यह कार्य सर्वथा अनुचित था। इसके मूल में उस आंग्ल-भारतीय नौकरशाही की सनक थी[46] जो दमन के प्रतिक्रियावादी तरीकों से काम लेने पर तुली हुई थी। किन्तु इसने लालाजी को एक शहीद का गौरव प्रदान कर दिया। वे राष्ट्रीय वीर के रूप में विख्यात हो गये। सितम्बर 1907 को उन्हें रिहा कर दिया गया। उनके लौटने के बाद राष्ट्रीयवादियों के नये दल ने उन्हें कांग्रेस के आगामी नागपुर अधिवेशन (बाद में अधिवेशन का स्थान बदलकर सूरत कर दिया गया) का अध्यक्ष बनाना चाहा। किन्तु जब लालाजी ने देखा कि मितवादी विरोध करेंगे तो उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया। 1913 में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए पंजाब से धन एकत्र किया। उन्होंने गोखले को लाहौर बुलाया और चालीस हजार रुपया इकट्ठा हो गया।

1914 में लाजपत राय कांग्रेस के एक प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में भूपेन्द्रनाथ वसु तथा जिन्ना के साथ इंगलैण्ड गये। नवम्बर 1914 में वे इंगलैण्ड से अमेरिका चले गये। वहाँ उन्होंने पाँच वर्ष बिताये; बीच में छह महीने के लिए वे जापान भी गये। 16 अक्टूबर, 1916 को उन्होंने अमेरिका में इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की। 1917 में लीग की ओर से 'यंग इण्डिया' पत्रिका प्रारम्भ की गयी।[47] अमेरिका में लालाजी ने भारतीय मजदूर संघ की भी स्थापना की। अमेरिका में रहकर उन्होंने 'यंग इण्डिया'[48] (1916) तथा 'इंगलैण्ड्स डैट टु इण्डिया' (इंगलैण्ड पर भारत का ऋण) नामक दो पुस्तकें लिखीं। उन्होंने 1919 में 'द पोलीटिकल फ्यूचर आव इण्डिया' (भारत का राजनीतिक भविष्य) नामक पुस्तक भी लिखी। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने 'द फाइट फार क्रंब्ज' (टुकड़ों के लिए लड़ाई), 'ए कॉल टु यंग इण्डिया' (तरुण भारत को आह्वान), 'एन ओपिन लैटर टु लॉयड जार्ज' (लॉयड जार्ज के नाम खुला पत्र) और 'सैल्फ डिटरमिनेशन फार इण्डिया' (भारत के लिए आत्मनिर्णय) आदि कई पुस्तिकाएँ भी लिखीं। अपनी निरन्तर यात्राओं तथा पत्रकारिता सम्बन्धी कार्यवाहियों के द्वारा लालाजी ने अमेरिका में भारत के लिए तीव्र प्रचार जारी रखा। उन्होंने 'द यूनाइटेड स्टेट्स आव अमेरिका : ए हिन्दूज इम्प्रैशन्स एण्ड ए स्टडी' (संयुक्त राज्य अमेरिका : एक हिन्दू का मत और अध्ययन) (1916) नामक पुस्तक की रचना की। उसमें उन्होंने नीग्रो लोगों की दशा, अमरीकी शिक्षा प्रणाली तथा अमेरिका में भारतीयों की स्थिति आदि समस्याओं का विवेचन किया।[49]

1920 में लाला लाजपत राय ने कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन का सभापतित्व किया। उसी अधिवेशन में असहयोग पर प्रस्ताव पास किया गया।[50] वे सांविधानिक कार्यप्रणाली तथा उदारवादी आन्दोलन के विशेषज्ञ रह चुके थे, यद्यपि 1907 के बाद वे राष्ट्रवादी दल की स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा की चार माँगों का समर्थन करने लग गये थे। तिलक की भाँति उन्हें भी गाँधीजी की असहयोग प्रणाली तथा कानून की अहिंसात्मक अवज्ञा में सहानुभूति नहीं थी।[51] असहयोग अन्दोलन के दिनों में लालाजी ने लोकमान्य तिलक की स्मृति में तिलक स्कूल

---

45 सरदार अजीतसिंह ने 'भारत माता' नामक एक संस्था की स्थापना की थी। यहाँ वे उग्र भाषा में राजनीतिक व्याख्यान दिया करते थे।

46 पंजाब विधान परिषद में उपनिवेशन अधिनियम के पारित होने के कारण पंजाब में भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। 1907 में लाहौर तथा रावलपिण्डी में दंगे भी हुए। 'पंजाबी' नामक पत्र के मालिक जसवन्त राय और सम्पादक अठावले को दण्ड दिया गया था।

47 शायद 'यंग इण्डिया' नाम मत्सीना द्वारा संस्थापित 'यंग इटली' नामक संगठन के अनुकरण पर रखा गया था।

48 लाजपत राय, *Young India* (न्यूयार्क, 1917) द्वितीय संस्करण। पुस्तक में जे. टी. संडरलैण्ड द्वारा लिखित भूमिका भी है।

49 लाला लाजपत राय, *The Unitəd States of America* (आर. चटर्जी, कलकत्ता, 1916)।

आव पौलिटिक्स (तिलक राजनीतिक संस्थान) की स्थापना की। नागपुर अधिवेशन में उन्होंने असहयोग का समर्थन किया। उन्होंने गाँधीजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि कांग्रेस का उद्देश्य शान्तिमय तरीकों से स्वराज प्राप्त करना है। उन्होंने पंजाब में असहयोग के सन्देश तथा कार्यप्रणाली का प्रचार किया। उन्होंने सर्वेंट्स आव पीपुल सोसाइटी (लोक सेवक समाज) की स्थापना की। तिलक राजनीतिक संस्थान, लोक सेवक समाज तथा 'वन्दे मातरम्' के द्वारा उन्होंने स्वराज का सन्देश घर-घर पहुँचाया। 1920 में सियालकोट राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जनता से विद्रोही हुए बिना असहयोग का मार्ग अपनाने की सलाह दी। 3 दिसम्बर, 1922 को उन्हें कारागार में डाल दिया गया। 1922 के बाद गाँधीवादी दर्शन में उनकी आस्था जाती रही। अपने पत्र 'द-पीपुल' के प्रथम अंक में ही उन्होंने लिखा : "राजनीतिक में अतिशय भावुकता और नाटकीय आचरण के लिए स्थान नहीं है। कुछ समय से हम ऐसी योजनाओं का प्रयोग करते आये हैं जिन्हें मानव स्वभाव में तत्काल और उग्र परिवर्तन किये बिना कार्यान्वित करना सम्भव नहीं है। राजनीति का सम्बन्ध प्रथमतः और तत्वतः राष्ट्र के जीवन के तथ्यों से है और उसमें यह देखना पड़ता है कि उन तथ्यों के आधार पर उसकी प्रगति की क्या सम्भावनाएँ हैं। मानव स्वभाव को महीनों और वर्षों में नहीं बदला जा सकता। उसको बदलने के लिए दशकों बल्कि शताब्दियों की आवश्यकता हो सकती है। पैगम्बर, स्वप्नद्रष्टा तथा कल्पनाविहारी पृथ्वी का लावण्य होते हैं। उनके बिना संसार फीका पड़ जायगा। किन्तु किसी राष्ट्र की मुक्ति का आन्दोलन मनुष्य स्वभाव को शीघ्र बदलने के प्रयत्न पर आधारित नहीं किया जा सकता, विशेषकर जब कि वह शासन तलवार के बल पर थोपा गया हो और तलवार के ही बल पर कायम हो।"

जब स्वराज्य पार्टी ने केन्द्रीय विधान सभा तथा प्रान्तीय परिषदों में प्रवेश किया, तो 1925 में लालाजी केन्द्रीय विधानांग में दल के उपनेता निर्वाचित किये गये। उन्होंने स्वराज्य पार्टी की 'बहिर्गमन नीति' को पसन्द नहीं किया। स्वराज्य पार्टी ने मुसलमानों की माँगों के सम्बन्ध में जो रिआयतें कीं उनसे भी लालाजी सहमत नहीं थे, क्योंकि उनके विचार में वे माँगें साम्प्रदायिक थीं। अतः उन्होंने स्वराज्य पार्टी से त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय दल की स्थापना में मदन मोहन मालवीय के साथ सहयोग किया। मालवीय तथा लाजपत राय के संयुक्त नेतृत्व में पार्टी को चुनावों में महत्वपूर्ण सफलता मिली। 1926 में लालाजी पुनः भारतीय विधान सभा के सदस्य चुन लिये गये। 1926 में वे भारतीय श्रमिकों के प्रतिनिधि के रूप में आठवें अन्तरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भाग लेने जिनेवा गये। अपने पत्र 'द पीपुल' में उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीयों को अन्तर-राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मिलित होना चाहिए। लाजपत राय ने ही भारतीय विधान सभा में साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा था। उन्होंने सरकार के लोक सुरक्षा विधेयक के विरुद्ध एक ओजस्वी भाषण दिया। 1919 में अमेरिका से भारत को प्रस्थान करने से पहले उन्होंने कहा था कि मैं औपनिवेशिक ढंग के शासन से ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा, किन्तु 1928 में उन्होंने स्वराज अथवा पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज (डोमीनियन पद) का समर्थन किया।

30 अक्टूबर, 1928 को लालाजी ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने वाले जुलूस का नेतृत्व किया। एक ब्रिटिश सार्जेंट ने उन पर लाठी से आक्रमण कर दिया। कुछ सप्ताह उपरान्त उन चोटों के कारण लालाजी का स्वर्गवास हो गया। जिस दिन लालाजी के चोटें लगीं उसी दिन लाहौर में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई जिसमें पुलिस के कार्य की घोर निन्दा की गयी। लाजपत राय ने स्वयं उस सभा का सभापतित्व किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दी कि यद्यपि भारत ने स्वराज के लिए शान्तिमय अहिंसात्मक संघर्ष का मार्ग अपनाया है, किन्तु यह सम्भव है कि क्रोध के आवेश में आकर भारतीय तरुण सरकार के पाशविक अत्याचारों के विरुद्ध हिंसा तथा आतंकवाद के तरीकों का प्रयोग करने लगें। उन्होंने कहा कि यदि इस बीच में मेरी मृत्यु हो गयी और यदि भारतीय नवयुवकों ने अनिच्छा से उस मार्ग को अपनाया तो मेरी आत्मा उन्हें आशीर्वाद देगी। लाला लाजपत राय जैसे सम्मानित व्यक्ति पर एक तरुण सैनिक अधिकारी द्वारा किये गये प्रहार ने ब्रिटिश शासन की नैतिक प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचाया, और उसके विरुद्ध विशेषकर पंजाब में शत्रुतापूर्ण क्रोध की लहर उमड़ पड़ी।

लालाजी सम्पूर्ण भारत में उच्चकोटि के राजनीतिक नेता थे। वे ओजस्वी लेखक तथा उत्कृष्ट वक्ता थे। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' लिखी है जो हिन्दी में प्रकाशित हुई। उन्होंने उर्दू में मत्सीनी की जीवनी लिखी जिसने पंजाब के युवकों पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने कृष्ण की शिक्षाओं पर भी एक पुस्तक लिखी। उन्होंने 'पंजाबी', 'वन्दे मातरम्' (उर्दू में) और 'द पीपुल'[52] इन तीन समाचार पत्रों की स्थापना की और उनके द्वारा स्वराज का सन्देश फैलाया। शायद भारत के राजनीतिक नेताओं में लालाजी ने ही सबसे अधिक लिखा है। विपिनचन्द्र पाल, लाजपत राय तथा मानवेन्द्रनाथ राय, ये तीन राजनीतिक नेता ऐसे हुए हैं जिन्हें सबसे अधिक पुस्तकें लिखने का श्रेय है। लाजपत राय ने 'नेशनल एजूकेशन' (राष्ट्रीय शिक्षा) नामक पुस्तक भी लिखी। उसमें उन्होंने प्रचलित शिक्षा प्रणाली में सुधार करने का सुझाव दिया। उन्होंने मिस कैथराइन मेयो की पुस्तक 'मदर इण्डिया' के उत्तर में 'अनहैपी इण्डिया' (दुःखी भारत) नामक पुस्तक लिखी और मेयो को मुँहतोड़ उत्तर दिया। उन्होंने उर्दू में 'तवारीखे हिन्द' नामक पुस्तक लिखी जिसका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। उन्होंने श्रीकृष्ण, अशोक, शिवाजी, स्वामी दयानन्द, गुरुदत्त, मत्सीनी तथा गैरीबाल्डी की संक्षिप्त जीवनियाँ भी लिखीं। इन जीवनियों से लालाजी की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति तथा प्रभावकारी शैली का परिचय मिलता है। 1908 में उन्होंने 'द स्टोरी आव माइ डिपोर्टेशन' (मेरे निर्वासन की कहानी) लिखी। उससे ब्रह्मा की जनता के रीति-रिवाज तथा तौर-तरीकों पर प्रकाश पड़ता है।

2. लाला लाजपत राय के राजनीतिक विचार

लाला लाजपत राय वीर योद्धा तथा पक्के राष्ट्रवादी थे। किन्तु वे आक्रामक क्रान्तिकारी ढंग के राष्ट्रवादी नहीं थे। और न वे अनिश्चित, अस्पष्ट विश्वराज्यवाद के समर्थक थे, बल्कि उसको वे स्वार्थ का दूसरा नाम कहते तथा उसका मखौल उड़ाया करते थे। उनकी राष्ट्रवाद की धारणा उन्नीसवीं शताब्दी के इटली के राष्ट्रवादियों की धारणा से मिलती-जुलती थी।[53] वे इस सिद्धान्त को मानते थे कि हर राष्ट्र को अपने आदर्शों को निश्चित और कार्यान्वित करने का मूल अधिकार है। उसके इस अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इस लिए उन्होंने आग्रह किया कि भारत को शक्तिशाली स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन का निर्माण करके अपने को सबल बनाना चाहिए, और यह उसका अधिकार है। शासितों की सम्मति किसी सरकार का एकमात्र तर्कसंगत तथा वैध आधार है।[54]

लाला लाजपत राय ने 1916 में अमेरिका में 'यंग इण्डिया' नामक पुस्तक लिखी। उसमें उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने बतलाया कि भारत को अंग्रेजों ने तलवार के बल पर नहीं, बल्कि सिद्धान्तहीन, कुटिल राजनीतिक चालों के द्वारा विजय किया था।[55] उनके विचार में 1857 के आन्दोलन का स्वरूप राजनीतिक तथा राष्ट्रीय दोनों ही था। वे भारतीय राष्ट्रवाद को एक गम्भीर तथा बलशाली शक्ति मानते थे। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद शहीदों के रक्त से फलता-फूलता है। दमन से उसको और भी अधिक उत्तेजना मिलती है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद को लिटन, कर्जन, सिडनहम आदि से विरोधी प्रतिक्रिया की प्रक्रिया द्वारा महत्वपूर्ण सहायता मिली है। इन क्रूर तथा स्वेच्छाचारी शासकों ने ही भारतीय राजनीति में हिंसात्मक तथा आतंकवादी कार्यवाहियों को उत्तेजित किया है। लालाजी ने राजनीतिक प्रगति तथा संसदीय शासन का समर्थन किया तथा इस आरोप का जोरदार खण्डन किया कि प्राच्य के लोग प्रतिनिधि संस्थाओं के योग्य नहीं हैं।

लालाजी स्वतन्त्रता का, जो मनुष्य के दीर्घकालीन परिश्रम का फल है, तत्काल साक्षात्कार करने में विश्वास करते थे। इसलिए उन्होंने अपनी 'इंगलैण्ड्स डैट टु इण्डिया' (इंगलैण्ड पर भारत का ऋण) नामक पुस्तक में बतलाया कि भारत की राजनीतिक मुक्ति स्वराज के द्वारा ही हो सकती

---

52 *The People* लाजपत राय द्वारा स्थापित सर्वेन्ट्स आव पीपुल सोसाइटी का मुखपत्र था।
53 लाजपत राय, *National Education in India*, पृ. 134-35।
54 लाजपत राय, *The Political Future of India*, पृ. 30।
55 लाला लाजपत राय ने लिखा है कि अंग्रेजों ने भारत को भारत के धन और रक्त से जीता था—*Unhappy India*, पृ. 343।

है। ब्रिटेन के आधिपत्य का अन्त करना और भारतीयों तथा अंग्रेजों के अधिकारों और कर्तव्यों का पारस्परिक सामंजस्य करना अति आवश्यक है।

डिग्बी, दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त की भाँति लाजपत राय ने भी भारत के सतत आर्थिक शोषण के इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न किया।[56] उन्होंने शोषण की उस निर्मम नीति का भण्डाफोड़ किया जिसने भारतीय व्यापारियों, किसानों और मजदूरों को विदेशी साम्राज्यवाद के क्रूर शिकंजे में जकड़ रखा था। उन्होंने उन कुटिल चालों का भी रहस्योद्घाटन किया जिनके द्वारा भारत को गुलाम बनाया गया था। उन्होंने बतलाया कि भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के प्रसार की कहानी देश के "सैनिक तथा आर्थिक विनाश की लम्बी प्रक्रिया थी जिसे पूरा होने में लगभग एक शताब्दी लगी। इस लम्बे काल में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने देश को धीरे-धीरे तिल-तिल नष्ट किया।"[57] जो धन अंग्रेज लूटकर ले गये उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह इस देश में लगायी हुई पूँजी का व्याज था अथवा किन्हीं सेवाओं का पुरस्कार था। इस लूट अथवा 'निर्गम' के कई रूप थे। उदाहरण के लिए, लोक सेवाओं का वृद्धिमान खर्च ओर सेना का दिन प्रति दिन बढ़ता हुआ व्यय।[58]

लाजपत राय राष्ट्र का सर्वांगीण विकास चाहते थे। 1920 में कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में जनता को शैक्षिक, आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान की आवश्यकता पर वल दिया।[59] वे चाहते थे कि देशवासियों में सार्वजनिक कर्तव्य की गहरी भावना और उच्च कोटि की सार्वजनिक नैतिकता का विकास हो। उन्होंने बतलाया कि सच्ची देशभक्ति का अर्थ है कि निजी स्वार्थों को समाज के बृहत्तर कल्याण के लिए बलिदान कर दिया जाय। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि राष्ट्र राज्य से उच्च है।[60] इस प्रकार उन्होंने फिख्टे के इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि राज्य राष्ट्र से महत्तर है। उनके अनुसार राष्ट्र राज्य के स्वरूप का निर्धारण करता है और अपने नैगम रूप में राज्य के स्वरूप को वदलने के लिए स्वतन्त्र है।

3. लाजपत राय तथा समाजवाद

20 फरवरी, 1920 को अमेरिका से लौटने के वाद लालाजी ने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय वनाने के कार्य में भी योग दिया। यह स्मरणीय है कि उनकी पुस्तक 'द आर्य समाज' का प्राक्कथन ब्रिटेन के प्रसिद्ध समाजवादी नेता सिडनी वैब ने लिखा था। वे जमींदारी तथा पूँजीपतियों की शक्ति में वृद्धि करने के खिलाफ थे।[61] वे अव्यावहारिक ढंग के समाजवादी नहीं थे, किन्तु उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि समाज का वर्तमान संगठन अनुचित तथा अन्यायपूर्ण है, और आदिम युग की व्यवस्था से भी अधिक बर्बर है।[62] किन्तु वे चाहते थे कि भारतीय पूँजीपति तथा श्रमिक देश के उद्योगों के विकास के लिए समानता के आधार पर सहयोग करें। 1920 में इण्डियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष के रूप में उन्होंने सुझाव दिया कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस को अन्तरराष्ट्रीय श्रम संघ में अपने प्रतिनिधि भेजने चाहिए। उन्होंने भारतीय मजदूरों तथा यूरोपीय सर्वहारा के बीच मैत्री स्थापित करने की आवश्यकता पर वल दिया। किन्तु लालाजी यूरोप तथा रूस के मजदूर वर्ग की कार्यप्रणाली को अपनाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने देश के वुद्धिजीवी वर्ग से अपील की कि वह मजदूरों की सहायता के लिए आगे आये। लाजपत राय ने यूरोप के पूंजीपतियों की भर्त्सना की क्योंकि वे राष्ट्रवाद की आड़ में संसार को विनाश की ओर ले जा रहे थे।[63] वाद में उन्होंने ब्रिटेन के उदारवादियों की उनके आडम्वरपूर्ण साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के लिए कटु निन्दा की और

---

56 लाजपत राय, *England's Debt to India*, पृ. 339।
57 वही, पृ. 327।
58 लाजपत राय, *Unhappy India*, पृ. 327-38।
59 लाजपत राय, *The Call to Young India* (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1921), पृ. 337।
60 लाजपत राय, *National Education in India*, पृ. 147।
61 लाजपत राय, *The Political Future of India*, पृ. 201।
62 लाजपत राय, *India's Will to Freedom*, पृ. 36-37।
63 वही, पृष्ठ 171।

भारतीय जनता को ब्रिटिश मजदूर दल में अधिक विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया।[64] लाजपत राय में यह समझ लेने की दूरदर्शिता थी कि पददलित वर्गों की उचित राजनीतिक और आर्थिक माँगों को पूरा करके ही साम्यवाद के प्रसार को रोका जा सकता था।[65] 1919 में उन्होंने पैगम्बर की-सी सूझबूझ का परिचय देते हुए कहा था : "....कोई नहीं जानता कि बौलशेविकवाद (साम्यवाद) क्या है। इस विषय पर समाजवादियों में ही मतभेद है। उनका प्रगत वर्ग बहुत उल्लसित है, किन्तु नरम ढंग के समाजवादी उसकी निन्दा कर रहे हैं। उदारवादी तथा उग्रवादी निःसंकोच होकर स्वीकार कर रहे हैं कि उसने (साम्यवाद ने) मानव जीवन में एक नयी भावना उत्पन्न कर दी है जो स्थायी होने जा रही है और विश्व के भविष्य पर गम्भीर प्रभाव डालेगी।....किन्तु हमारा विचार है कि विद्यमान व्यवस्था में उग्र परिवर्तन ही उसके ज्वार को रोक सकते हैं। समाजवादी तथा उग्रवादी उससे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहते हैं, इसके विपरीत साम्राज्यवादी, उदारवादी तथा अनुदारवादी कम से कम और केवल उतनी ही रिआयतें देना चाहते हैं जिनसे विद्यमान व्यवस्था, जिसमें वे सर्वोच्च हैं, सुरक्षित बनी रहे। संघर्ष कुछ समय तक जारी रहेगा, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका अन्त नयी भावना की विजय में ही होगा। बौलशेविकवाद का मुकाबला करने का एकमात्र तरीका यह है कि विश्व की विभिन्न जातियों को जिनका शोषण किया जा रहा है और रक्त चूसा जा रहा है, उनके अधिकार दे दिये जायँ। अन्यथा संसार के असन्तुष्ट तथा शोषित देश इसके फलने-फूलने के केन्द्र बन जायँगे। भारत को अपने अधिकार प्राप्त करने चाहिए, नहीं तो हिमालय भी बौलशेविकवाद को देश में आने से नहीं रोक सकता। सन्तुष्ट तथा स्वशासित भारत उसके विरुद्ध कवच का काम कर सकता है और असन्तुष्ट तथा उत्पीड़ित भारत उसके लिए सर्वाधिक उर्वरा भूमि सिद्ध होगा।"[66] लालाजी का कहना था कि रूस में बौलशेविकवाद के उदय से यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है कि भारत पर निरंकुश ढंग से शासन न किया जाय और यहाँ लोकतन्त्र शान्तिपूर्वक स्थापित तथा विकसित किया जाय।[67]

लाजपत राय मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे कि ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के क्रूर नियम के अनुसार प्रत्येक देश पहले पूँजीवादी अवस्था से गुजरे और फिर वहाँ सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित हो। उनका कहना था कि यदि सही भी हो तो भी भारत में यूरोप के "घुने हुए, सड़े हुए, कुत्सित तथा अनैतिक पूँजीवाद" को ज्यों का त्यों स्थापित करना मूर्खतापूर्ण होगा।[68] उनका विचार था कि प्रथम विश्वयुद्ध ने यूरोप की सभ्यता को घातक चोट पहुँचायी थी। इसीलिए वे भारत में मरणशील औद्योगिक सभ्यता की बुराइयों को प्रविष्ट करने के विरुद्ध थे।[69] लालाजी पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के कट्टर शत्रु थे। पश्चिम के जीवन का उन्हें निजी अनुभव था। उस अनुभव के आधार पर उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि जीवन की पूँजीवादी व्याख्या के मुकाबले में समाजवादी व्याख्या बल्कि बौलशेविकवादी व्याख्या अधिक विश्वसनीय और उदार है।[70]

4. लाजपत राय तथा हिन्दू विचारधारा

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान लालाजी पश्चिम में थे और वहीं उन्होंने अपनी 'द आर्य समाज' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने कहा कि आर्य समाज को अधिक सार्वभौमवादी तथा सहिष्णुतापूर्ण नीति अपनानी चाहिए। जब उन्होंने पंजाब आर्य समाज में सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया उसी समय से उन्हें पण्डित लेखराम और गुरुदत्त आदि की मतवादी कट्टरता से सहानुभूति नहीं थी। लालाजी चाहते थे कि प्राचीन संस्कृति के जो

---

64 लाजपत राय, *The Call to Young India*, पृ. 78-79।
65 एच. एन. ब्रैलसफर्ड ने लिखा है कि लाजपत राय "प्रथम भारतीय समाजवादी" थे। *Subject India* (वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1946) पृ. 24।
66 लाजपत राय, *The Political Future of India* (न्यूयार्क, 1919), पृष्ठ 206-7।
67 वही, पृष्ठ 208।
68 वही, पृष्ठ 202।
69 वही, पृष्ठ 201।
70 अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में लाजपत राय का अध्यक्षीय भाषण (1920)। *India's Will to Freedom*, पृष्ठ 177।

तत्व शक्ति तथा जीवन देने वाले हैं उनका परिरक्षण अवश्य ही किया जाय। किन्तु वे ऐसे धर्म के पक्ष में थे जो पृथ्वी पर और वर्तमान परिस्थितियों में सम्मानपूर्ण जीवन का आधार बन सके। इसलिए उन्होंने भारतीयों को प्रेरणा दी कि वे अपने को वर्तमान संस्थाओं और वर्तमान संस्कृति से सुसज्जित करने का प्रयत्न करें। उन्होंने दृष्टिकोण को विस्तृत करने का सुझाव दिया और इस बात का समर्थन किया कि हिन्दू धर्म का भारतीय राष्ट्रवाद के महत्तर धर्म के साथ सामन्जस्य स्थापित किया जाय।[71] अतः वे चाहते थे कि आर्य समाज "पुरातनवाद से मिश्रित गतिशीलता" की नीति को अपनाये[72] और इस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। आर्यसमाजी होने के नाते लालाजी को प्राचीन भारत की परम्पराओं तथा ऐतिहासिक भावनाओं से प्रेम था। इसलिए वे अतीत से सहसा सम्बन्ध तोड़ लेना सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने लिखा : "धर्म को जीवन से निष्कासित करना बहुत ही खतरनाक हैं।"[73] वे चाहते थे कि जिन पुरातन मूल्यों का अभी भी महत्व और उपादेयता है उन्हें अवश्य बनाये रखा जाय। वे स्वीकार करते थे कि आधुनिक सभ्यता ने आराम तथा आनन्द देने वाली व्यवस्था का निर्माण करने में चमत्कार कर दिखाया है किन्तु उनका विश्वास था कि वेदों के विश्वशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय आदर्श "आधुनिक सभ्यता के आदर्शों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है।"[74] लालाजी के अनुसार धर्म का प्रयोजन केवल नैतिक उन्नति तथा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति नहीं है अपितु सामाजिक विकास में योग देना भी उनका काम है। आर्यसमाजी होने के नाते वे जाति-प्रथा के अन्यायों के विरुद्ध थे और ऐसे सद्धर्म का विकास चाहते थे जो मनुष्य को सच्चे अर्थ में उदात्त बनाने में सहायक हो सकें।

पश्चिम में, विशेषकर अमरीका में, दीर्घ काल तक रहने के कारण लालाजी का दृष्टिकोण व्यापक हो गया था, अतः उन्हें कोरा हिन्दू पुर्नरुत्थानवादी मानना नितान्त अनुचित है। उनका कहना था कि मनु, नारद तथा आपस्तम्ब के सामाजिक दर्शन को सदैव बनाये रखना बुद्धिसंगत नहीं है।[75] उन्हें विश्वास था कि पूर्व तथा पश्चिम के बीच मेल-मिलाप अवश्य होगा। किन्तु वे नीरस एकरूपता के प्रशंसक नहीं थे। कम्ब्रिज के लोज डिकिंसन की आलोचना करते हुए लालाजी ने कहा कि धार्मिक आदर्शों, नैतिक मापदण्डों, व्यवहार के सामाजिक रूपों तथा कलात्मक समीक्षा के क्षेत्रों में पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में कहीं अधिक एकता देखने को मिलती है। किन्तु वे चाहते थे कि पूर्व पश्चिम की "आक्रामक भावना को कुछ अंशों में" अन्तर्ग्रहण करे और उसकी बौद्धिक उपलब्धियों को आत्मसात करे।[76] वे पश्चिम की कुछ समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक धारणाओं के मूल्यों को भली-भाँति समझते थे आर पश्चिमा लोकतान्त्रिक देशों की राजनीतिक संस्थाओं की प्रशंसा किया करते थे। उन पर जॉन डीवी तथा बर्ट्रांड रसल के शिक्षाशास्त्रीय विचारों का भी कुछ प्रभाव पड़ा था।[77] उन्हें पश्चिम के कुछ शक्षिक विचारों तथा वहाँ चल रहे शैक्षणिक प्रयोगों में भी आस्था थी। वे स्वीकार करते थे कि "तरुण भारत" पर इंगलैण्ड के इतिहास और साहित्य तथा पश्चिम के जीवन में सन्निहित प्रगतिवादी विचारों एवं आदर्शों का प्रभाव पड़ा है।[78] 1907 में सूरत में आयोजित अखिल भारतीय स्वदेशी सम्मेलन के अवसर पर भाषण देते हुए लालाजी ने कहा था : "स्वदेशी की भावना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त होनी चाहिए, किन्तु शर्त यह है कि प्रगति को कायम रखने और समृद्धि को प्राप्त करने के लिए पश्चिम से जो कुछ सीखना पड़े उसे सीखने में उन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिए। पीछे लौटने से कोई लाभ नहीं है। यदि राष्ट्र का

71 लाजपत राय, *The Arya Samaj* (लौंगमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1915), पृष्ठ 282-83।
72 वही. पृष्ठ 279।
73 लाजपत राय, *India's Will to Freedom*, पृष्ठ 77।
74 लाजपत राय, "Some Observations on Civilization", *The United States of America*, पृ. 334-43।
75 'लाजपत महिमा' (हिन्दी), पृष्ठ 493-94।
76 लाजपत राय, *The Evolution of Japan and Other Peoples*, पृ. 96।
77 लाजपत राय, *The Problem of National Education in India* (जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1920), पृ. 178-79।
78 लाला लाजपत राय, *England's Debt to India* (न्यूयार्क, 1917), पृष्ठ 338।

हित होता हो तो पीछे लौटा जा सकता है । अन्यथा ऐसा करना आत्महत्या के सदृश होगा ।........ आधुनिक परिस्थितियों में उन्हें राष्ट्रीयता के लिए आधुनिक ढंग के संघर्ष करना सीखना चाहिए, और उन्हें उन हथियारों का प्रयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए जिनका उनके विरुद्ध प्रयोग किया गया था ।"[79]

लालाजी आक्रामक नौकरशाही की सनकों तथा आदेशों के सामने समर्पण करने के लिए तैयार नहीं थे । वे इस अर्थ में न्याय के भी समर्थक थे कि हर व्यक्ति और समूह को उसका देय दिया जाना चाहिए । वे हिन्दू-मुसलिम एकता तथा सहयोग में विश्वास करते थे । 1927 की मद्रास कांग्रेस में उन्होंने दोनों सम्प्रदायों की एकता के प्रस्ताव का समर्थन किया, किन्तु वे यह भी नहीं सहन कर सकते थे कि हिन्दुओं के हितों को किसी प्रकार की जोखिम पहुँचायी जाय । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता लालाजी के विचारों से सहमत नहीं थे । 1921 में मोपला लोगों ने हिन्दुओं पर जो भयंकर अत्याचार किये और मुलतान, अमृतसर, सहारनपुर तथा कोहाट में जो हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए उनसे श्रद्धानन्द, मालवीय तथा लाजपत राय को भारी चिन्ता हुई । कांग्रेस मुसलमानों को रियायतें देने के पक्ष में थी, क्योंकि देश में वे अल्पसंख्यक थे । किन्तु देश में अल्पसंख्यक होते हुए भी पंजाब में मुसलमानों की स्थिति बहुत दृढ़ थी । लालाजी पंजाब की विशिष्ट राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक स्थिति से प्रभावित हुए बिना न रह सके । इसलिए कुछ समय के लिए लालाजी का हिन्दू महासभा से भी सम्बन्ध रहा । किन्तु वे कभी सम्प्रदायवादी नहीं हुए और न उन्होंने कभी ऐसे किसी काम का समर्थन किया जिससे स्वराज के काम में बाधा पड़ती ।

1925 में लालाजी कलकत्ता अधिवेशन में हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे । उन्होंने सभा का कार्यक्रम तथा नीति इस प्रकार निश्चित की :

(1) सम्पूर्ण देश में हिन्दू सभाओं का संगठन करना ।
(2) जिन हिन्दुओं को साम्प्रदायिक दंगों के कारण सहायता की आवश्यकता पड़े उन्हें सहायता देना ।
(3) जिन हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया था उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में परिवर्तित करना ।
(4) हिन्दू युवकों और युवतियों के लिए अखाड़ों का संगठन करना ।
(5) सेवा समितियों का संगठन करना ।
(6) हिन्दी को लोकप्रिय बनाना ।
(7) हिन्दू मन्दिरों के संरक्षकों और प्रतिपालकों से प्रार्थना करना कि वे लोगों को मन्दिरों में संलग्न कक्षों में जमा होने तथा सामाजिक और धार्मिक मामलों पर विचार-विनिमय करने की अनुज्ञा दे दें।
(8) हिन्दू त्यौहारों को इस ढंग से मनाना कि हिन्दुओं के विभिन्न समुदायों के बीच भाईचारे की भावनाओं का विकास हो सके ।
(9) मुसलमानों तथा ईसाइयों के साथ सद्भावना बढ़ाना ।
(10) सभी राजनीतिक विचारों में हिन्दुओं के साम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करना ।
(11) हिन्दू युवकों को औद्योगिक कामकाज अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना ।
(12) हिन्दू कृषकों तथा गैर-कृषकों के बीच सद्भावना उत्पन्न करना ।
(13) हिन्दू स्त्रियों की दशा सुधारना ।[80]

अक्टूबर 1928 में लाजपत राय ने इटावा में संयुक्त प्रान्त हिन्दू महासभा के सम्मेलन की अध्यक्षता की । अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया और हिन्दुओं को उसे अंगीकार करने की सलाह दी । इस रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज को भारत का उद्देश्य

---

79 *The Indian National Builders*, भाग 1 (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास), तृतीय संस्करण, पृ. 341-42 ।
80 इन्द्र प्रकाश, *A Review of the History and Work of the Hindu Mahasabha and the Hindu Sangathan Movement* (धर्मराज्य प्रेस, दिल्ली, 1952), एम. वाइनर की *Party Politics in India* में उद्धृत, पृष्ठ 166 ।

निश्चित किया गया था और हिन्दू-मुसलिम समस्या को हल करने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया गया था। लाजपत राय ने जाति-प्रथा के अन्यायों की निन्दा की। उनका कहना था कि भारतीय समाज तथा राजनीति की वर्तमान परिस्थितियों में जाति-प्रथा एक भयंकर बुराई है और हिन्दू संगठन के मार्ग में भयंकर बाधा है।

लाला लाजपत राय की बुद्धि कुशाग्र थी और उन्हें भारतीय राजनीतिक स्थिति, विशेषकर पंजाब की स्थिति का अच्छा ज्ञान था। उनका विचार था कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा साम्प्रदायिक निर्वाचक समूह मुसलमानों के इस दावे से मेल नहीं खाते कि उन्हें राष्ट्रवाद तथा एकता में विश्वास है। तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों में एक बार खीझकर उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि पंजाब को दो भागों में विभक्त कर दिया जाय[81]—(1) पश्चिमी पंजाब, जहाँ मुसलमानों का बहुमत है, मुसलमानों के शासन में हो; और (2) पूर्वी पंजाव, जिसमें हिन्दुओं तथा सिक्खों का बहुमत है. उनके शासन में हो। विडम्बना यह थी कि जब मुसलिम लीग ने देश के विभाजन के लिए, जिसे गाँधीजी देश की 'चीड़-फाड़' कहते थे, 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' आरम्भ की तो अन्ततोगत्वा लालाजी का ही सुझाव स्वीकार किया गया।

5. निष्कर्ष

लाला लाजपत राय कुशल तथा अनुभवी राष्ट्रवादी तथा आधुनिक भारत के एक अग्रणी राजनीतिक नेता थे। पूर्ण निष्ठा तथा साहसपूर्ण संकल्प उनके विशिष्ट गुण थे। उन्हें पाखण्ड और ढोंग से घृणा थी और वे आचरण में विश्वास करते थे। वे उन प्रारम्भिक अग्रगन्ताओं में थे जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता का मार्ग प्रदीप्त किया। उन्होंने जीवन भर देश के लिए निःस्वार्थ भाव से कष्ट तथा उत्पीड़न सहे, और अनेक बार उन पर अभियोग चलाये गये। उन्होंने आर्य समाज तथा सर्वेंट्स आव पीपुल सोसाइटी के द्वारा महान सामाजिक तथा लोकोपकारक सेवा की। 1920 में उन्हें काँग्रेस के कलकत्ता के ऐतिहासिक विशिष्ट अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। 1928 में जब लालाजी पर लाहौर में साइमन कमीशन के विरुद्ध जुलूस का नेतृत्व करते समय लाठी-प्रहार किया गया और उससे उनका अन्त शीघ्र आ गया तो उसके परिणामस्वरूप देश में गहरा शोक और वेदना छा गयी। 1907 में उनका देश से निर्वासित किया जाना और 1928 में उनकी शहादत दोनों ही आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में युगप्रवर्ती घटनाएँ हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति के सम्बन्ध में लालाजी की धारणा विशद और व्यापक थी। वे महान सामाजिक नेता रह चुके थे। आर्य समाज से उन्होंने समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व सीखा था। दीर्घकाल तक संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने के कारण उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थतन्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने का अच्छा अवसर मिला था। शायद वे ही पहले महान नेता थे जिन्होंने समाजवाद, बौलशेविकवाद, पूँजीवाद और श्रम-संगठन की समस्याओं का विवेचन किया।

यद्यपि लाजपत राय राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के क्षेत्रों में कुशल सिद्धान्तकार नहीं थे, फिर भी भारतीय राजनीति और अर्थतन्त्र के ज्ञान की दृष्टि से वे एक प्रकार के विश्वकोश थे। उनकी 'यग इण्डिया', 'इंगलैण्ड्स डेट टु इण्डिया' और 'अनहैपी इण्डिया' जानकारी से परिपूर्ण है। यह सत्य है कि उनकी अनेक रचनाओं में पत्रकारिता का पुट देखने को मिलता है, किन्तु अपनी 'नेशनल एजूकेशन' नामक पुस्तक में उन्होंने दार्शनिक की-सी गहराई और सूक्ष्म विवेचन का परिचय दिया है। अपनी 'यंग इण्डिया' में भी अनेक स्थलों पर वे भारतीय राजनीति का दार्शनिक विवेचन करने में सफल हुए हैं। उनकी रचनाएँ प्रांजलता तथा प्रसाद गुण से सम्पन्न हैं। साथ ही साथ उन पर उनके चालीस वर्ष के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के अनुभव की छाप देखने को मिलती है। उनसे भारत का राजनीतिक साहित्य समृद्ध हुआ है।

---

81 एम. एच. सैयद की *Mohammed Ali Jinnah* में उद्धृत, पृष्ठ 329।

13
श्री अरविन्द

1. प्रस्तावना

श्री अरविन्द (1872-1950)[1] भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान विभूति थे। उनकी नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों ने भारत के शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। उनके महाग्रन्थ 'द लाइफ डिवाइन' के प्रकाशन के समय से संसार के प्रमुख विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ है, और उनका महाकाव्य 'सावित्री' आध्यात्मिक काव्य के क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तक माना जाता है। निस्सन्देह वे आधुनिक भारतीय विचारकों में सबसे अधिक सुशिक्षितों में एक थे। टैगोर ने, जिन पर अरविन्द के देदीप्यमान व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ा था, कहा है कि उनके द्वारा भारत विश्व को अपना सन्देश व्यक्त करेगा। रोमैं रोलाँ अरविन्द को एशिया की प्रतिभा तथा यूरोप की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट समन्वय मानते थे। सचमुच अरविन्द की प्रतिभा बहुमुखी थी; वे कवि, तत्वशास्त्री, द्रष्टा, देशभक्त, मानवता के प्रेमी तथा राजनीतिक दार्शनिक थे। उनकी रचनाओं में हमें भारत की नवीन तथा उदीयमान आत्मा का घनीभूत सार देखने को मिलता है और मानव जाति के लिए उनमें आध्यात्मिक सन्देश निहित है।

अरविन्द ने इंगलैण्ड में अपने चौदह वर्ष के प्रवास (सात वर्ष की आयु से इक्कीस वर्ष की आयु तक) के दौरान ग्रीक तथा लैटिन के प्राचीन साहित्य का गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन किया। उन्होंने होमर से लेकर गैटे तक यूरोप के कुछ महान आचार्यों की रचनाएँ मूल भाषाओं में पढ़ीं। जब वे बड़ौदा में प्रोफेसर थे उस समय उन्होंने उपनिषदों तथा गीता का गम्भीर अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राचीन भारत के इन ग्रन्थों में तत्वज्ञान सम्बन्धी समस्याओं का बौद्धिक और तार्किक विवेचन नहीं है, अपितु उनमें गम्भीर और तीव्र गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियों के उद्गार भरे पड़े हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द के वैदान्तिक समन्वय का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। 1905 से 1910 तक अरविन्द ने बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के रूप में राजनीतिक कार्यों में अपना जीवन बिताया।[2] उन दिनों उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रों का और भी गम्भीर अध्ययन किया। अलीपुर जेल के एकान्त निवास में उन्हें रहस्यात्मक दृश्यों के दर्शन हुए थे, इसे उन्होंने स्वीकार किया है। राजनीतिक नेता तथा लेखक के रूप में वे प्राचीन वेदान्त तथा आधुनिक यूरोपीय राजनीतिक दर्शन का समन्वय करना चाहते थे। उनका राजनीतिक वेदान्त उपनिषदों के विश्व-स्वीकारात्मक दृष्टिकोण का पुनःप्रतिपादन मात्र नहीं है, बल्कि वह एक पराधीन राष्ट्र के राजनीतिक

---

1 श्री अरविन्द घोष का जन्म 15 अगस्त, 1873 को हुआ था और 5 दिसम्बर, 1950 को उनका देहान्त हुआ।

2 वेलेंटाइन शिरोल लिखता है, "सक्रिय आत्मत्याग के इस आदर्श के सम्बन्ध में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती है।...उनकी दृष्टि में ब्रिटिश शासन तथा पश्चिमी सभ्यता जिसका वह समर्थन करता है, दोनों हिन्दुत्व के जीवन के लिए खतरनाक हैं।...यह आरोप लगाना उचित नहीं है कि वे उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसा तथा हत्या को उचित कार्य मानते हैं, क्योंकि यद्यपि उन पर कई बार मुकद्दमा चलाया जा चुका है, और एक बार तो उन पर वास्तविक राजनीतिक अपराध में सम्मिलित होने के लिए मुकद्दमा चलाया गया—अर्थात् मानकटोला बम काण्ड में—किन्तु कानून उन्हें अब तक मुक्त करता आया है।" *Indian Unrest*, पृष्ठ 90।

तथा सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण का ठोस राजनीतिक दर्शन है। पांडीचेरी के एकान्त निवास में उन्होंने इन ग्रन्थों की रचना की : 'द लाइफ डिवाइन', 'एसेज आन द गीता', 'द सिन्थैसिस आव योग', 'सावित्री' इत्यादि। उनके ग्रन्थों से पता चलता है कि वे पूर्व के धार्मिक साहित्य तथा पश्चिम के तत्वशास्त्र दोनों से भलीभाँति परिचित थे।

2. श्री अरविन्द का तत्वशास्त्र

दार्शनिक स्तर पर अरविन्द ने भारत के संन्यासवादी अद्वैतवादी अनुभवातीत प्रत्ययवाद और पश्चिम के लौकिकवादी भौतिकवाद की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का समन्वय किया है। स्वयं उनका यही दावा है। यद्यपि बौद्धिक तथा राजनीतिक क्रियाकलाप के क्षेत्रों में भारतीयों की उपलब्धियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, किन्तु भारतीय प्रतिभा की उच्चतम अभिव्यक्ति वेदान्ती ऋषियों तथा बुद्ध की शिक्षाओं के रूप में हुई है। अपने परवर्ती काल में भारतीय आध्यात्मिकता पार्थिव जीवन को आत्मा की प्रतिभा के अनुरूप रूपान्तरित न कर सकी, इसलिए उसने लोगों में संसार को त्यागने की प्रवृत्ति जाग्रत की और प्राकृतिक जगत की क्षणभंगुरता पर अतिशय बल देकर प्राणशक्ति को दुर्बल कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जीवन के शुद्ध लौकिक क्षेत्रों में भारत संसार के अन्य देशों के साथ प्रतिस्पर्धा में सफल न हो सका। मायावाद के दर्शन का विकास हुआ और निर्वाण का उपदेश दिया जाने लगा। इसलिए, यद्यपि प्रत्ययवादी दर्शन की प्रामाणिकता का आधार रहस्यात्मक अनुभूतियों का अकाट्य साक्ष्य माना जाता है, फिर भी इस दर्शन को लोकप्रिय बनाने का ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक और राजनीतिक जीवन सत्यानाश के गर्त में डूब गया। रहस्यवादी दर्शन के अनुचिह्न हमें पुराने मिस्त्रियों के चिन्तन में, यूनान के पाइथागोरस, प्लेटो आदि की विचारधाराओं में, प्लौटीनस और पौर्फिरी के नव-प्लेटोवाद में और एकहार्ट तथा वोहर्स के विचारों में मिलते हैं, किन्तु इस प्रकार के प्रत्ययवाद का सबसे अधिक विकास भारत में ही हुआ। इसके विपरीत, यूरोप भौतिकवाद का गढ़ रहा है, यद्यपि प्राचीन भारत के चारवाक सम्प्रदाय में भी हमें भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ देखने को मिल जाती हैं। यूरोप में अनेक भौतिकवादी विचारक हुए हैं। डैमोक्रीटस, एपीकूरस, हॉब्स, ला मैत्री, दिदरो, हॉल्बाख, हैल्वेशियस, मार्क्स, ऐंगिल्स, बुकनर, फौक्ट, हैकिल, लेनिन आदि कुछ उल्लेखनीय नाम हैं। इसके बावजूद कि अनेक वैज्ञानिकों का ईश्वर में विश्वास रहा है, वैज्ञानिक पद्धति के पूर्ण विकास ने पश्चिम में घोर भौतिकवाद और लौकिकवाद को प्रोत्साहन दिया है। सर्वत्र बाह्य वातावरण की विजय और समाज को बौद्धिक आधार पर संगठित करने के सन्देश की घोषणा की गयी है। इस प्रकार के वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने मनुष्य के प्राकृतिक तथा सामाजिक विकास के ज्ञान में अभूतपूर्व वृद्धि की, लोकतन्त्र तथा समाजवाद के आदर्शों को लोकप्रिय बनाया, मानवतावाद तथा परोपकारवाद को प्रोत्साहन दिया, सामाजिक आदर्शवाद का विस्तार किया और सामान्य तौर पर मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को विजयी बनाया। फिर भी उसके फलस्वरूप आत्मा के जीवन का निषेध ही हुआ। भौतिकवादी तथा क्रियात्मक मनोविज्ञान ने आत्मा को शारीरिक प्रक्रियाओं का ही परिणाम माना। ऐसे वातावरण में दैवी जीवन को साक्षात्कृत करना सम्भव नहीं था। यही कारण है कि यूरोपीय सभ्यता एक दूसरे सन्त पॉल (जन्म से वह एशियाई था) अथवा एक अन्य सन्त फ्रांसिस को जन्म नहीं दे सकी है। अरविन्द का विचार था कि भारत तथा यूरोप दोनों ही अति की ओर चले हैं। उनको आशा थी कि भारतीय आध्यात्मवाद और यूरोपीय लौकिकवाद तथा भौतिकवाद के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, और यह एक ऐसे दर्शन की सृष्टि करके ही सम्भव हो सकता है जिसमें पदार्थ (भूत, द्रव्य) तथा आत्मा दोनों के महत्व को स्वीकार किया जाय। अपने दार्शनिक ग्रन्थों में उन्होंने इसी प्रकार के सामंजस्य का प्रयत्न किया। उनके अनुसार परम सत् एक आध्यात्मिक तत्व है। वह केवल अविचल, अलक्ष्य, अनिर्देश्य अनुभवातीत और अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है, अपितु उसमें गतिशील उत्परिवर्तन तथा बहुत्व (अनेकत्व) के बीज विद्यमान रहते हैं, अतः विविधता भी उतनी ही वास्तविक है जितनी कि एकता। बाह्य जगत वास्तविक सत्ता की वास्तविक सृष्टि है, वह कल्पना की मनोगत सृष्टि नहीं है और न शून्य अथवा विराट अनस्तित्व है। इसलिए पदार्थ अथवा जीवन के स्वत्व दावों का निषेध करना उचित नहीं है। पदार्थ भी आवरणयुक्त आत्मा ही है। ब्रह्माण्ड के विकास के हेतु आत्मा अपनी

चेतना का निःशेषत: परिसीमन करके अचेतन का रूप धारण कर लेता है। उस अचेतनता से ही विकास का क्रम आरम्भ होता है और उत्तरोत्तर द्रव्य, जीवन तथा चित्त (मन) प्रादुर्भूत होते हैं। इस प्रकार अरविन्द ने द्रव्य तथा आत्मा का तत्वशास्त्रीय समन्वय कर दिया है, और यही उनका दावा है। उन्होंने लिखा है : "वस्तुत: हमें अधिक पूर्ण और व्यापक स्वीकृति की आवश्यकता है। हम देखते हैं कि भारत में संन्यासवाद के आदर्श का प्रतिपादन करने वालों ने वेदान्त के सूत्र 'एक ही है, दूसरा नहीं' (एकं सत्—नेह नानास्ति किंचन) के अभिप्राय को भलीभाँति नहीं समझा है। उन्होंने दूसरे सूत्र 'यह सब कुछ ब्रह्म है' (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया है। एक ओर मनुष्य में ऊपर उठकर परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा दिखायी देती है, तो दूसरी ओर परमात्मा में भी अपनी अभिव्यक्ति को अपने में शाश्वत रूप से समेटने के उद्देश्य से नीचे की ओर अवतरित होने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इन दोनों बातों को समुचित ढंग से परस्पर सम्बद्ध नहीं किया गया है। पदार्थ में निहित ब्रह्म के प्रयोजन को उतनी अच्छी तरह नहीं समझा गया जितनी अच्छी तरह आत्मा में निहित सत्य का साक्षात्कार कर लिया गया है। जिस परम सत् का साक्षात्कार संन्यासी करना चाहता है उसे पूर्णरूपेण हृदयंगम कर लिया गया है, किन्तु प्राचीन वेदान्तियों की भाँति उसकी पूर्ण व्यापकता और विस्तार को नहीं समझा गया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पूर्ण स्वीकृति की खोज में शुद्ध आध्यात्मिक प्रवृत्ति को कम महत्व दिया जाय। जैसा कि हम देख चुके हैं, भौतिकवाद ने ईश्वरीय प्रयोजन की सिद्धि में महान योग दिया है, उसी तरह हमें स्वीकार करना चाहिए कि संन्यासवाद के आदर्श ने भी महान सेवा की है। अन्तिम सामंजस्य में हम भौतिक विज्ञान के सत्यों और उसकी वास्तविक उपयोगी वस्तुओं का निश्चय ही परिरक्षण करेंगे, चाहे हमें उसके विद्यमान सभी रूपों की तोड़-मरोड़ अथवा परित्याग ही क्यों न करना पड़े। और इससे भी अधिक सावधानी हमें प्राचीन आर्यों की विरासत को सुरक्षित रखने के लिए बरतनी पड़ेगी चाहे वह विरासत कितनी ही न्यून अथवा अवमूल्यित क्यों न हो गयी हो।"[3] अरस्तू, लाइबनित्स और हेगेल ने भी दार्शनिक समन्वय का प्रयत्न किया है, किन्तु अरविन्द के अनुसार उन दार्शनिकों का समन्वय कोरा बौद्धिक है, जबकि उनका अपना समन्वय मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना के विकास में पूर्ण सत्य के रूप में साक्षात्कार किया जा सकता है। अरविन्द का तत्वशास्त्र पाश्चात्य तथा प्राच्य विचारों के विलयन से विकसित हुआ है। परम आध्यात्मिक सत्ता के विचार का उद्गम उपनिषद हैं : अचेतनता की धारणा का स्रोत ऋग्वेद का नासदीय सूक्त बताया जाता है, और वेदान्त की तपस की धारणा सृजनात्मक शक्ति के रूप में चेतना के विचार को ग्रहण किया गया है। इसके विपरीत पदार्थ, जीवन तथा चित्त के द्वारा विकास के क्रम का सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से पाश्चात्य दर्शन में ही विकसित हुआ है, यद्यपि अरविन्द तथा राधाकृष्णन[4] ने तैत्तिरीय उपनिषद में उसका अनुचिह्न ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया है।

3. श्री अरविन्द का इतिहास तथा संस्कृति दर्शन

राजनीतिक दार्शनिक के रूप में अरविन्द ने इतिहास में आध्यात्मिक नियतिवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनका कहना था कि इतिहास की ऊपर से निष्प्रयोजन और प्रायः परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली घटनाओं के मूल में ईश्वर की शक्तियाँ ही काम कर रही हैं। इतिहास ब्रह्म की क्रमिक पुनराभिव्यक्ति है। अरविन्द काली को परमात्मा की नियामक शक्ति का प्रतीक मानते थे। उनके अनुसार काली का गतिशील क्रियाकलाप ही इतिहास है। अपने इस तर्क की पुष्टि में उन्होंने दो ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किये—बंगाल का राष्ट्रवाद तथा फ्रान्स की क्रान्ति विपिनचन्द्र पाल की भाँति उन्हें भी भारतीय पुनरुत्थान के मूल में ईश्वर की इच्छा दिखायी दी। एक रहस्यवादी की भाँति उन्होंने घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद के मूल में ईश्वर है और वही आन्दोलन का वास्तविक नेता है। उन्होंने बतलाया कि ब्रिटिश अधिकारी भारतीय जनता का जो दमन, उत्पी-

---

3 *The Life Divine*, जिल्द 1, पृष्ठ 30।
4 राधाकृष्णन, *The Reign of Religion in Contemporary Philosophy* (मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1920), अन्तिम अध्याय।

ड़न और अपमान कर रहे हैं वह भी ईश्वरीय योजना का ही अंग है । ईश्वर भारतीयों को आत्म-निग्रह की शिक्षा देने के लिए स्वयं इन तरीकों का प्रयोग कर रहा है। फ्रान्स की क्रान्ति भी ईश्वर की इच्छा का ही परिणाम थी । जब तक क्रान्ति के नेताओं—मिराबो, दांते, रोबिसपियेर, नैपोलियन आदि—ने अपने कार्यकलाप में काली की इच्छा (युग की आत्मा) को व्यक्त किया तब तक उसने उन्हें कार्य करने दिया । किन्तु जैसे ही वे अहंकार से प्रेरित होकर अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में लग गये वैसे ही उसने उन्हें इतिहास के मंच से उठाकर फेंक दिया । इस प्रकार का दैवी न्यायवाद (दैवी न्याय का सिद्धान्त) भगवद्गीता के विचारों तथा जर्मन प्रत्ययवाद के समन्वय का प्रतीक है । इसी को हेगेल ने इतिहास का औचित्य कहा है, इसी रूप में वह उसे (इतिहास को) बुद्धिगम्य और तर्कसंगत मानता है । गीता के अनुसार महापुरुष ईश्वर का उपकरण होता है । वह वास्तविक कर्ता नहीं होता, अपितु ईश्वरीय कर्म का निमित्तमात्र हुआ करता है । ईश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य ईश्वर की इच्छानुसार आध्यात्मिक कर्म (दिव्यं कर्म) करने लगता है । हेगेल ने कहा था कि विश्व इतिहास के सिकन्दर, सीजर, नैपोलियन आदि महापुरुषों ने अचेतन रूप से दैवी योजना को साक्षात्कृत किया, और अपने कार्यकलाप के द्वारा पार्थिव इतिहास में विश्वात्मा की क्रमिक अभिव्यक्ति में योग दिया ।[5]

अरविन्द का विश्वास था कि मानव संस्कृतियों और सभ्यताओं का विकास चक्रक्रम से होता है । उनके इस दर्शन पर कार्ल लाम्प्रैख्ट के प्रकार-सिद्धान्त का प्रभाव था । वैसे तो प्राचीन वेदान्त तथा पुराणों में भी चक्रक्रम का सिद्धान्त देखने को मिलता है । लियोपोल्ड वी. रांके ने ऐतिहासिक की व्याख्या राजनीतिक आधार पर की थी। इसके विपरीत लाम्प्रैख्ट ने संस्कृतियों के चक्र का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । रांके ने इतिहास की घटनाओं पर बल दिया, इसके विपरीत लाम्प्रैख्ट ने जीवन के विकास को महत्वपूर्ण माना ।[6] उसने जर्मनी के राजनीतिक विकास की पाँच अवस्थाएँ बतलायीं : आदिम जर्मनी का प्रतीकात्मक युग, प्रकारात्मक प्रारम्भिक मध्य युग, परम्पराबद्ध परवर्ती मध्य युग, पुनर्जागरण से लेकर प्रबुद्धीकरण तक का व्यक्तिवादी युग और रोमांसवाद से प्रारम्भ होने वाला आत्मनिष्ठावादी युग । लाम्प्रैख्ट के अनुसार जर्मन इतिहास के ये पाँच मनोवैज्ञानिक युग हैं । अरविन्द ने लाम्प्रैख्ट के प्रकार-सिद्धान्त को भारत पर लागू किया । स्वयं लाम्प्रैख्ट भी कहा करता था कि मेरी योजना सार्वभौम तौर पर लागू की जा सकती है । अपनी पुस्तक 'द ह्यूमन साइकिल' में अरविन्द ने वैदिक युग को भारतीय इतिहास का प्रतीकात्मक युग बतलाया है ।[7] वर्ण को वे प्रकारात्मक सामाजिक संस्था मानते हैं और जाति को परम्पराबद्ध सामाजिक रूप । पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण पूर्व में भी व्यक्तिवाद का युग आया और अपने साथ बुद्धि तथा स्वतन्त्रता का सन्देश लाया । किन्तु अरविन्द का विचार था कि पूर्वी जगत में बौद्धिक युग लम्बा नहीं चल सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा पूर्व के परम्परागत आत्मनिष्ठावाद की ही विजय होगी । लाम्प्रैख्ट ने वर्तमान को स्नायविक तनाव का युग कहा है । अरविन्द का कहना था कि आत्मनिष्ठावादी युग के स्थान पर आध्यात्मिक युग आना चाहिए; उस युग में मानव आत्मा (जो ईश्वर का ही शाश्वत अंश है) की सम्पूर्ण शक्तियाँ मानव विकास का पथप्रदर्शन करेंगी । इस प्रकार हम देखते हैं कि लाम्प्रैख्ट का संस्कृति दर्शन प्रधानतः मनोवैज्ञानिक था, इसके विपरीत अरविन्द का दर्शन मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक है ।

आधुनिक सामाजिक विज्ञान तथा दर्शन में सभ्यता और संस्कृति के बीच प्रकारात्मक भेद

---

5 हेगेल, *The Philosophy of History* (विली बुक कम्पनी, न्यूयार्क, 1944), पृष्ठ 30-31 ।

6 जी. पी. गूच, *History and Historians in the Nineteenth Century* (लोंगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, 1938), पृष्ठ 588 ।

7 देखिये श्री अरविन्द, *On the Veda* (पांडीचेरी, 1956), पृष्ठ 183 ।
"यह माना जा सकता है कि वेद में एक अन्य प्रवृत्ति क्रियाशील रही हो—अर्थात् प्रतीकवाद की अटूट तथा सर्वव्यापी प्रवृत्ति जिसका प्राचीन रहस्यवादियों के मानस पर आधिपत्य था । प्रत्येक वस्तु, उनके अपने नाम, राजाओं तथा यज्ञों के नाम, उनके जीवन की साधारण परिस्थितियाँ, सभी को प्रतीकात्मक रूप दे दिया गया था जिसमें उनका अभिप्राय गुप्त रखा जा सके ।"

बहुत ही महत्वपूर्ण है। इनके बीच भेद करने की मानवशास्त्रियों की अपनी कसौटी है। वे संस्कृति के अन्तर्गत समस्त भौतिक उपकरणों और शुभाशुभ की धारणा पर आधारित लोकाचार को सम्मिलित कर लेते हैं। संस्कृति मनुष्यों के सम्पूर्ण कार्यकलाप का नाम है। इसके विपरीत सभ्यता सामूहिक जीवन के अत्यधिक कृत्रिम पहलुओं की द्योतक है।[8] कांट और फिख्टे ने संस्कृति तथा सभ्यता के बीच भेद करने की एक भिन्न कसौटी प्रचलित की। उन्होंने नैतिक स्वतन्त्रता को संस्कृति के अन्तर्गत रखा।[9] स्पेंगलर का विचार था कि संस्कृति का उदय मनुष्य जाति की आदि-आत्मा में होता है। विशाल क्षेत्र में व्याप्त तथा विशाल जनसमूह और धन पर आधारित सभ्यता हर संस्कृति की बाद की अवस्था में प्रकट होती है।[10] संस्कृति का सम्बन्ध आध्यात्मिकता तथा ज्ञान से होता है, जबकि सभ्यता की प्रमुख प्रवृत्ति भौतिक होती है। निकोलस बर्डियाएव का कहना है कि संस्कृति का सम्बन्ध मूल्यों से होता है और सभ्यता का जीवन के संगठन से।[11] सामान्यतः पश्चिम के इतिहास दर्शन में कला, सौन्दर्यशास्त्र, धर्म और तत्वशास्त्र को संस्कृति का नाम दिया जाता है, और औद्योगिकी की उन्नति तथा अर्थतन्त्र को सभ्यता के अन्तर्गत माना जाता है। अरविन्द ने सभ्यता और संस्कृति के बीच प्रत्यात्मक भेद पश्चिमी चिन्तन से ग्रहण किया, किन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या औपनिषदिक दर्शन के आधार पर की। उनका कहना था कि सभ्यता अर्थात संगठित अर्थतन्त्र तथा राजनीति पर आधारित समाज की स्थिति प्राण (जीवन के लिए वैदिक शब्द) की अभिव्यक्ति है। सुख तथा आराम का जीवन सभ्यता के आदर्श हैं। संस्कृति मनस् (मन के लिए वेदान्तियों का शब्द) की सर्जनात्मक उपलब्धियों को आदर्श मानती है। कोई संस्कृति पूर्णतः सौन्दर्यात्मक हो सकती है, जैसे अथेंस की संस्कृति। प्रधानतः नैतिक संस्कृति भी हो सकती है; उदाहरणार्थ, स्पार्टा तथा रोम की संस्कृति। विज्ञान (बुद्धि, विवेक) के द्वारा उनका समन्वय भी किया जा सकता है। और इस प्रकार तपस् और आनन्द का देदीप्यमान सामंजस्य हो सकता है। किन्तु अरविन्द संस्कृति से भी आगे जाना चाहते थे। उनका लक्ष्य था निर्विकल्प सौन्दर्य और निर्विकल्प श्रेयस्। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरविन्द के विश्लेषण में उस वेदान्ती तत्वशास्त्र का ही प्राधान्य है जिसमें परम सत्, परम ज्ञान, परम शुभ और परम आनन्द को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

4. राष्ट्रवाद तथा मानव एकता का सिद्धान्त

भारत लौटने से पहले अरविन्द 1892 में 'लोटस एण्ड डैगर' (कमल और कटार) नामक एक गुप्त संगठन के सदस्य बन गये थे। उसके सदस्यों को भारत की मुक्ति तथा पुनर्निर्माण की शपथ लेनी पड़ती थी। किन्तु वह संगठन उत्पन्न होने से पहले ही मर गया। स्वदेश लौटने पर अरविन्द भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक अधोगति देखकर अत्यधिक क्षुब्ध हुए। उन्हें फीरोजशाह मेहता की वकीली की-सी वाक्पटुता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की काव्यात्मक भाषण-कला से सन्तोष नहीं हुआ। भारतीय नागरिक सेवा के लिए भारत तथा इंगलैण्ड में साथ-साथ परीक्षाएँ, विधान परिषदों का परिवर्धन, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का पृथक्करण आदि माँगें पुनर्जाग्रत तथा प्रबुद्ध भारत को राजनीतिक आन्दोलन के अग्रिम मोर्चे पर लाने में असमर्थ सिद्ध हुई थीं। आवश्यकता इस बात की थी कि भारत के शिक्षित मध्य वर्ग की ईर्षा, ढोंग, कायरता, भावुकता आदि मनोवैज्ञानिक विकृतियों पर विजय प्राप्त की जाय। अरविन्द का निष्ठापूर्ण तथा ठोस कार्य में विश्वास था। उन्हें साधारण जनता की स्थिति के सुधार में विशेष रुचि थी। 1893 में उन्होंने 'इन्दु प्रकाश' में एक लेखमाला प्रकाशित की जिसका शीर्षक था 'न्यू लैम्प्स फार ओल्ड' (पुरानों के बदले नये दीपक)। इसमें उन्होंने समकालीन परिस्थिति पर अपने विचार प्रकट किये। वे लिखते हैं: "यह सब कुछ हमारी निष्ठा, दूरदर्शिता और कार्य तथा विचारों की तत्परता पर निर्भर है। लोग मुझे

---

8 ब्रोनीस्लाव मैलिनोव्स्की ने अपनी अनेक रचनाओं में इस अन्तर को स्वीकार किया है।
9 रूडोल्फ यूकेन, *Main Currents of Modern Thought* (टी. फिशर अनविन, लन्दन, 1913), पृष्ठ 283-86।
10 ओसवाल्ड स्पेंगलर, *The Decline of the West* (न्यूयार्क, 1926-1928), जिल्द I, पृष्ठ 31-41; जिल्द 2, पृष्ठ 33-38।
11 निकोलस बर्डीएव, *The Meaning of History* (लन्दन, 1949), पृष्ठ 207-21।

सिद्धान्तवादी तथा वाचाल भले ही कहें, मैं पुनः बल देकर कहता हूँ कि हमारा प्रथम तथा सबसे पवित्र कर्तव्य साधारण जनता का उत्थान करना और उसे ज्ञान देना है। हमारे बीच अनेक ऐसे महानुभाव हैं जिनकी कार्य-प्रणाली गलत भले ही हो, किन्तु उनमें निष्ठा तथा विचारों की श्रेष्ठता है। वे लोग संकीर्ण वर्गगत स्वार्थों के संवर्धन में लगे हुए हैं, पदों और वेतन के लिए झगड़ा करते हैं, ऐसे परोपकार के कामों में संलग्न हैं जो स्वयं में प्रशंसनीय तथा करने योग्य हैं किन्तु उनकी उदारता का क्षेत्र संकीर्ण है और उनसे राष्ट्र के हितों का संवर्धन नहीं होता। मैं ऐसे महानुभावों का आवाहन करता हूँ कि वे अपने परिश्रम और शक्ति को पूर्वोक्त कार्यों से हटाकर उन व्यापक कार्यों में लगायें जिनसे देश की संतप्त और उत्पीड़ित जनता को राहत मिल सके।"[12] अरविन्द का विचार था कि भारत का पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय महत्ता साधारण जनता की शक्तियों को उभाड़कर ही प्राप्त की जा सकती है। अपने मत की पुष्टि करने के लिए उन्होंने अथेंस के क्लाइस्थीनीज और रोम के टाइबेरियस ग्रेकस के उदाहरण दिये। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि यदि जनता अपने प्रति किये गये पुरातन अन्यायों के सम्बन्ध में सचेत हो जाय तो उसमें महान शक्ति का संचार हो सकता है। उनका कहना था कि कांग्रेस के नेता सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के अवयवी नियमों से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं।[13] तरुण अरविन्द के इन उग्र विचारों से मितवादी नेताओं के आध्यात्मिक गुरु रानाडे बहुत उद्विग्न होने लगे थे।

अरविन्द अतिवादी (उग्रवादी=गरमदलीय) राष्ट्रवादियों के उस नये दल के समर्थक थे जिसके नेता तिलक, पाल, चक्रवर्ती, लाजपत राय,[14] खापर्डे, चिदम्बरम् पिल्लई तथा एन. सी. केलकर थे। उन्होंने उन मितवादियों की कार्यप्रणाली की भर्त्सना की जो ब्रिटिश शासन को भारत के ही कल्याण के लिए ईश्वरीय विधान मानते थे। उनका कहना था कि देश नये उत्साह और उमंग से स्पन्दित हो रहा है इसलिए जनता की उस विवशता और निष्क्रियता का अन्त करने का समय आ गया है जो विदेशी साम्राज्यवादी कुशासन के कारण उत्पन्न हो गयी है। मितवादी अपने नेतृत्व की नींव को सुदृढ़ करना चाहते थे, इसलिए नये राजनीतिक उभाड़ से वे घबड़ा गये। इसलिए सूरत की फूट के उपरान्त अरविन्द ने मितवादियों की आलोचना की। उन्होंने लिखा : "फिर भी वह (मितवादी) उसके विरुद्ध संघर्ष करता है, षड्यन्त्र रचता है और छल-कपट करता है; वह झूठे विवाद खड़े करके और भ्रामक वक्तव्य देकर, तुच्छ कुचालों तथा दलगत प्रवंचना के द्वारा और लोगों की कुत्सित तथा कमीनी प्रवृत्तियों को उभाड़कर कुछ समय के लिए अपने को जीवित बनाये रखने का प्रयत्न करता है। वह लोगों की भीरुता को उभाड़ता है और उसको बुद्धिमानी कहता है, वह आत्म-अविश्वास सिखाता है और उसे राजनीतिक चतुराई मानता है, वह राष्ट्र के प्रति अविश्वास उत्पन्न करता है और उसे मिताचार का नाम देता है। देश में राष्ट्रवाद के कारण जो महान क्रान्ति उत्पन्न हो रही है उसका श्रेय वह स्वयं लेना चाहता है। जिन चालों का वह प्रयोग करता है वे कूटनीतिज्ञ की चाले हैं, जिस तुच्छ कुटिलता का वह सहारा लेता है उसकी मत्सीनी नैतिक क्रोध (मन्यु) के साथ निन्दा किया करता था, जिस धूर्तता का वह प्रयोग करता है उसमें कभी किसी राष्ट्र का उत्थान नहीं हुआ है और जिन राजनीतिक तिकड़मों को वह सफलता का साधन मानता है वे शक्ति के साथ प्रथम सम्पर्क से ही चकनाचूर होकर धूल में मिल जाती हैं। इस कुटिलता से प्रेरित होकर और राष्ट्र की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने की आशा से किन्तु साथ ही साथ अपने को नौकरशाही के क्रोध से बचने के उद्देश्य से उसने कांग्रेस को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अब वह उस कांग्रेस को मिन्टो और मेहता की हार्दिक इच्छा के अनुरूप ढालना चाहता है और उस पर ऐसे सिद्धान्त थोप देना चाहता है जिनमें उसे स्वयं विश्वास नहीं है, और ऐसा संविधान लाद देना चाहता है जो उन सब आदर्शों को झुठलाता है जिन पर उसके जीवन के राजनीतिक कार्यकलाप आधारित रहे हैं।"[15]

---

12 *Indu Prakash*, 4 दिसम्बर, 1893।

13 उस समय अरविन्द ने कांग्रेस को "भारतीय अराष्ट्रीय कांग्रेस" कहकर उसका मखौल उड़ाया। (अरविन्द, *Bankim Chandra Chatterjee*, पांडीचेरी, 1950, पृष्ठ 46)।

14 लाजपत राय का स्थान मितवादियों तथा अतिवादियों के बीच कहीं था।

15 *Bande Matram*, अप्रैल 19, 1908।

भारतीय राष्ट्रवाद के वे निर्वचनकर्ता जो मार्क्सवादी हैं अथवा मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हैं प्रायः इस बात का रोना रोया करते हैं कि तिलक, पाल और अरविन्द के नये अतिवादी दल की नीति और आदर्शों में सामाजिक प्रतिक्रियावाद और राजनीतिक अतिवाद का अपवित्र गठवन्धन देखने को मिलता है। यह सत्य है कि अरविन्द को सुधारकों की उस कार्यप्रणाली में विश्वास नहीं था जो देश को पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगना चाहती थी। वे इस सिद्धान्त को मानते थे कि सामाजिक विकास व्यक्ति तथा समाज के स्वधर्म के नियमों के अनुसार होना चाहिए। किन्तु वे समाज के किसी वर्ग के उत्पीड़न की अनुमति कभी भी देने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने 'वन्दे मातरम्' में प्रकाशित एक लेख में लिखा : "राष्ट्रवाद राष्ट्र में निहित दैवी एकता का साक्षात्कार करने की उत्कट अभिलाषा है। इस एकता के अन्तर्गत राष्ट्र के सभी अवयवभूत व्यक्ति वास्तव में तथा बुनियादी तौर पर एक और समान हैं, अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों में वे कितने ही भिन्न तथा असमान क्यों न प्रतीत होते हों। भारत राष्ट्रवाद का जो आदर्श विश्व के समक्ष रखने जा रहा है उसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, जाति तथा जाति के वीच और वर्ग तथा वर्ग के बीच तात्विक समानता होगी। जैसा कि तिलक ने कहा है, वे सब भिन्न होते हुए भी समान और राष्ट्र में साक्षात्कृत विराट पुरुष के संयुक्त अंग होंगे। हम स्वेच्छाचारी शासन के इसलिए विरुद्ध हैं कि वह राजनीति के क्षेत्र में इस तात्विक समानता का निषेध करता है; हम जाति-प्रथा की आधुनिक विकृति को बुरा मानते हैं क्योंकि उससे समाज में तात्विक समानता के उसी सिद्धान्त का निषेध होता है। हमारा आग्रह है कि राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्र का लोकतान्त्रिक एकता के आधार पर पुनस्संगठन किया जाय, साथ ही साथ हम यह भी चाहते हैं कि सामाजिक क्षेत्र में भी पुनस्संगठन का वही सिद्धान्त अपनाया जाय। यदि, जैसी कि हमारे विरोधियों की कल्पना है, हम इस सिद्धान्त को केवल राजनीति तक ही सीमित रखना चाहें तो हमारे सारे प्रयत्न विफल होंगे, क्योंकि जो सिद्धान्त एक बार राजनीति के क्षेत्र में साक्षात्कृत कर लिया गया है वह सामाजिक क्षेत्र में भी अपने को क्रियान्वित किये बिना नहीं रह सकता।"[16]

राष्ट्रवादी नेता के रूप में भी अरविन्द ने भारतीय तथा पाश्चात्य विचारों को समन्वित करने का प्रयत्न किया। जब वे निष्क्रिय प्रतिरोध का, ब्रिटिश न्यायालयों के स्थान पर पंचनिर्णय का और वहिष्कार का समर्थन करते हैं तो वास्तव में वे यूरोप के राजनीतिक इतिहास की सुपरिचित कार्यप्रणालियों का ही उल्लेख कर रहे हैं। वे आयरलैण्ड के सिन फिन आन्दोलन के प्रशंसक थे। उनका कहना था कि यूरोप में राष्ट्रवाद का रूप कोरा राजनीतिक और आर्थिक था, किन्तु आयरलैण्ड और बंगाल में उसने मनोगत रूप धारण कर लिया है। एक सर्वव्यापी राजनीतिक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद यूरोप की ही उपज है, यद्यपि सांस्कृतिक आत्मचेतना तथा विदेशी-विरोधी राजनीतिक भावना के रूप में वह भारत में सदैव विद्यमान रहा है। किन्तु इस रूप में जो अपनी सामूहिक एकता में विश्वास करते हैं उन्हें राजनीतिक आत्म-निर्णय का अधिकार है, राष्ट्र-वाद की भावना फ्रान्स की क्रान्ति के बाद ही प्रभावशाली हुई और आगे चलकर विल्सन ने उसे मान्यता दी। बर्क,[17] मत्सीनी, मिल आदि अनेक पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों का भारतीय नेताओं पर प्रभाव पड़ा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाजपत राय तथा सावरकर पर मत्सीनी का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। अरविन्द ने भी मत्सीनी का अनेक बार उल्लेख किया है। मत्सीनी ने राष्ट्रवाद के कोरे राजनीतिक रूप को नैतिक तथा विश्वराज्यीय आदर्श की ओर उन्मुख किया था।[18] अरविन्द ने समय की आवश्यकताओं के अनुरूप राष्ट्रवाद को एक शुद्ध धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न

---

16 *Bande Matram*, सितम्बर 22, 1907।

17 वर्क का गाखले पर भारी प्रभाव था।

18 जोजफ मत्सीनी, *The Duties of Man and Other Essays by Joseph Mazzini*, पृष्ठ 61; *Life and Writings of Mazzini*, जिल्द 6, पृष्ठ 114—सी. एफ. वौहॉं द्वारा *Studies in the History of Political Philosophy* (मैनचेस्टर यूनीवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर), जिल्द 2 में पृष्ठ 301–2 पर उद्धृत।

किया।[19] यहूदी धर्म के नेताओं तथा शिक्षकों की भाँति अरविन्द ने भी बंगालियों अथवा भारतीयों को "चुनी हुई जाति" बतलाया और कहा कि उनका उद्देश्य भारत की राजनीतिक मुक्ति के ईश्वरीय आदर्श को प्राप्त करना है। किन्तु अरविन्द की यह धारणा कि भारत एक भौगोलिक प्रदेश नहीं, बल्कि माता है, वास्तव में भारत की ही उपज है। बंकिम ने, जिन्हें अरविन्द ऋषि कहा करते थे, अपनी रचनाओं के द्वारा इस धारणा को बहुत लोकप्रिय बनाया। चूँकि अरविन्द के राष्ट्रवाद का रूप आध्यात्मिक था,[20] इसलिए उन्होंने नेताओं तथा अनुयायियों दोनों के लिए नैतिक शिक्षा को बहुत आवश्यक बतलाया। उन्होंने लिखा : "हमारे नेताओं तथा अनुयायियों दोनों के लिए आवश्यक है कि वे अधिक गहरी साधना करें, दैवी गुरु तथा हमारे आन्दोलन के नायक के साथ अधिक प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करें, अपनी आत्मा का उत्थान करें और विचारों तथा कार्यों में अधिक तेजवान और प्रचण्ड शक्ति का परिचय दें। हमारे अनुभव ने हमें बार-बार सिखाया है कि हम यूरोपवासियों के-से नैतिकता शून्य तथा अपरिपक्व उत्साह से विजय प्राप्त नहीं कर सकते। भारतवासियों ! केवल भारत की आध्यात्मिकता, भारत की साधना, तपस्या, ज्ञान और शक्ति ही हमें स्वाधीन तथा महान बना सकती है। पूर्व की इन चीजों के लिए हम अंग्रेजी के 'डिसीप्लिन', 'फिलॉसफी', 'स्ट्रैंथ' आदि समानार्थक शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु ये शब्द मूल अर्थ को भलीभाँति व्यक्त नहीं करते। तपस्या डिसीप्लिन से कुछ अधिक है। सर्जन, परिरक्षण और संहार की दैवी शक्तियों को आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपने में साक्षात्कृत करना ही तपस्या है। ज्ञान फिलॉसफी से बड़ी चीज है। जिसे प्राचीन ऋषियों ने दृष्टि कहा है उसके द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभूति ही ज्ञान है। शक्ति स्ट्रैंथ से बड़ी वस्तु है। नक्षत्रों को गति प्रदान करने वाली सार्वभौम ऊर्जा जब व्यक्ति में अवतरित होती है तो वही शक्ति कहलाती है। भारत के उत्थान में पूर्व की ही विजय होनी चाहिए। योगी को राजनैतिक नेता के पीछे खड़ा होना चाहिए अथवा अपने को राजनीतिक नेता के रूप में व्यक्त करना चाहिए। रामदास को शिवाजी के साथ एक ही शरीर में जन्म लेना है। मत्सीनी को कावुर में मिश्रित होना है। बुद्धि को आत्मा से और शक्ति को शुद्धता से पृथक करके यूरोपीय क्रान्ति की विजय भले ही हो सके, किन्तु हम यूरोपीय शक्ति के द्वारा विजय प्राप्त नहीं कर सकते।"[21] अतः अरविन्द राजनीतिक जीवन को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना चाहते थे। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि प्राचीन हिन्दुओं के वेद, उपनिषद. गीता योग और तन्त्र (आगम) आदि धर्मग्रन्थों में उस आध्यात्मिक विवेक का रहस्य विद्यमान है जो मानव जाति की मुक्ति के लिए आवश्यक है। उनका कहना था कि भारत शक्तिशाली और आक्रामक राष्ट्र बनने के लिए अपना उत्थान नहीं कर रहा है; वह तो इसलिए उठ रहा है कि उसका आध्यात्मिक भण्डार मानव जाति को उपलब्ध हो सके और उसके सहारे वह पूर्णता, समानता और 'एकता के जीवन की ओर प्रगति कर सके।

अरविन्द का राष्ट्रवाद संकीर्ण तथा कट्टरतापूर्ण नहीं था, बल्कि उसका रूप विश्वराज्यवादी था। वे कहा करते थे कि राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है। अन्ततोगत्वा एक विश्व संघ के द्वारा मानव की एकता स्थापित होनी चाहिए। और इस आदर्श की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक नींव का निर्माण मानव धर्म तथा आन्तरिक एकता की भावना के द्वारा ही किया जा सकता है। अरविन्द लिखते हैं : "……विश्व की वर्तमान परिस्थितियाँ कितनी

---

19 रोनाल्डशा, *The Heart of Aryavarta* : पृ. 128 : "…अरविन्द घोष, जिनकी प्रज्ज्वलित रचनाएं आदर्शवाद से ओतप्रोत हैं, और जिन्होंने अराजकता के भयावह वातावरण में धर्म का स्फूर्तिदायी प्रभाव फूंकने के लिए अन्य किसी भी व्यक्ति से अधिक कार्य किया।"

20 जे. रेम्जे मैकडोनल्ड, *The Awakening of India*, पृष्ठ 182 : "अरविन्द घोष ने अपने हिन्दुत्व और उग्र राष्ट्रवाद के बीच सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है; उन्होंने लिखा है कि मनुष्य को ईश्वर के विधान को पूर्ण करना है, और यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह पहले अपने को पूर्ण करले. और अपने को राष्ट्र के द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है। उनका स्वदेशी में विश्वास और भारत में ब्रिटेन के आधिपत्य को समाप्त करने की उनकी इच्छा का आधार यही धार्मिक धारणा है।"

21 श्री अरविन्द, *The Ideal of the Karmayogin*, पृष्ठ 17-18।

ही निन्द्य और भयावह सम्भावनाओं से पूर्ण क्यों न हों, किन्तु उनमें ऐसी कोई चीज नहीं है जिससे हमें अपना यह मत वदलना पड़े कि किसी न किसी प्रकार का विश्व संघ आवश्यक तथा अनिवार्य है। प्रकृति की आन्तरिक गति, परिस्थितियों की बाध्यता, तथा मानव जाति के वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं ने उसे अनिवार्य बना दिया है। हमने जो सामान्य निष्कर्ष निकाले हैं वे ज्यों के त्यों रहेंगे; हाँ, उसकी प्रणालियों और सम्भाव्य रूपों, वैकल्पिक पद्धतियों और क्रमिक विकास के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया जा सकता है। अन्तिम परिणाम एक विश्व राज्य की स्थापना ही होना चाहिए। उस विश्व राज्य का सर्वोत्तम रूप स्वतन्त्र राष्ट्रों का ऐसा संघ होगा जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की पराधीनता, वल पर आधारित असमानता तथा दासता का विलोप हो जायगा। उसमें कुछ राष्ट्रों का स्वाभाविक प्रभाव दूसरों से अधिक हो सकता है किन्तु सबकी प्रास्थिति समान होगी। यदि एक परिसंघ का निर्माण किया जाय तो विश्व राज्य के इकाई राष्ट्रों को सबसे अधिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो सकेगी, किन्तु उससे विघटनकारी तथा विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों के पनपने के लिए बहुत अधिक अवसर मिल सकता है। अतः संघ व्यवस्था ही सबसे अधिक वांछनीय होगी। अन्य सब चीजें घटनाचक्र पर निर्भर करेंगी अथवा उन्हें सामान्य समझौते के द्वारा निश्चित किया जा सकता है अथवा भविष्य में जैसे विचार और आवश्यकताएँ उत्पन्न होंगी उनको ध्यान में रखकर उनके सम्बन्ध में निर्णय कर लिया जायगा। इस प्रकार के विश्व संघ के जीवित रहने अथवा स्थायी होने की सबसे अधिक सम्भावना होगी।"[22]

5. श्री अरविन्द का राजनीति दर्शन

बेंथम के उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आधुनिक भारतीय राजनीति दर्शन की एक बड़ी विशेषता है। "अधिकतम संख्या का अधिकतम कल्याण" के स्थान पर विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द और गान्धी ने "सबके कल्याण" अर्थात गीता के "सर्वभूतहित" के आदर्श का प्रतिपादन किया है। भारतीय विचारकों की दृष्टि में बेंथम का नैतिक गणित कृत्रिम तथा स्वार्थमूलक है। उससे अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना होती है। चूंकि अन्त्य सत्य आध्यात्मिक सत्ता ही है, इस लिए मनुष्य को चाहिए कि अपने व्यक्तिगत तथा राजनीतिक जीवन में सभी प्राणियों के कल्याण को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न करे। सुख तथा कष्ट की अपेक्षा सब प्राणियों के कल्याण को नैतिकता की सर्वोच्च कसौटी मानना चाहिए। विवेकानन्द, तिलक, गान्धी तथा अरविन्द ने उपयोगितावाद की यह जो आलोचना की है उसका आधार प्रत्ययवादी तथा आध्यात्मिक नीतिशास्त्र तथा तत्वशास्त्र है। किन्तु हमारे पास इस वात का कोई प्रमाण नहीं है कि टी. एच. ग्रीन का, जिसने ऑक्सफर्ड की नव-हेगेलवादी प्रत्ययवादी विचारधारा[23] की ओर से बेंथम के विरुद्ध सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से विरोध प्रकट किया था, तिलक[24] को छोड़कर अन्य किसी भारतीय नेता पर कोई प्रभाव पड़ा था।

अरविन्द आधुनिक पूंजीवाद के आलोचक थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने दादाभाई नौरोजी की भाँति भारत के वित्तीय साधनों के 'निर्गम' तथा साम्राज्यवादी शोषण की निन्दा की थी। आधुनिक पूँजीवाद में केन्द्रीकरण, संचय तथा उद्योगमण्डलों की वृद्धि की जो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं उनकी अरविन्द ने आलोचना की। दूसरी ओर समाजवाद के सम्बन्ध में उनका विचार था कि उससे सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का विकास होता है। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कामों के प्रसार से नौकरशाही की वृद्धि होती है और उससे अनिवार्यतः सत्तामूलक नियन्त्रण और नियमन को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवाद की इस प्रकार की आलोचना मैक्स वैवर, लुडविग फॉन माइजज तथा फ्रीडरिख हेक ने भी की है। अरविन्द भी इन्हीं आधारों पर समाजवाद की आलोचना करते हैं। किन्तु व्यवहार में समाजवाद का जो रूप देखने को मिलता है उसके आलोचक होते हुए

---

22 श्री अरविन्द, *The Ideal of Human Unity*, पृष्ठ 399-400।
23 टी. एच. ग्रीन, *Prolegomena to Ethics* (द क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफर्ड, 1906), पृष्ठ 398-406।
24 बाल गंगाधर तिलक के 'गीता-रहस्य' पर ग्रीन के *Prolegomena to Ethics* का प्रभाव है।

भी उन्होंने समाजवाद के आदर्श को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया।[25] उनका विचार था कि समाजवाद का सबके लिए समान अवसर तथा न्यूनतम सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएँ गारण्टी करने का उद्देश्य सामाजिक संगठन का बहुत ही प्रशंसनीय आदर्श है।[26] अरविन्द ने समाजवादी आदर्श का इस प्रकार जो समर्थन किया उससे स्पष्ट है कि उन पर पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराओं का प्रभाव था।

अरविन्द आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के आदर्श को स्वीकार करते हैं। मनुष्य प्रकृति की यान्त्रिक आवश्यकता से तभी मुक्ति पा सकता है जब वह अपने को मानसातीत आध्यात्मिक शक्ति का अभिकर्ता मात्र मानकर कार्य करने लगे। ब्रह्माण्डीय तथा ब्रह्माण्डातीत चेतना को जाग्रत करके आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की यह धारणा प्राचीन वेदान्त में मिलती है। किन्तु अरविन्द ने स्वीकार किया कि भारत ने पश्चिम से सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का आदर्श सीखा है,[27] यद्यपि टैगोर तथा अरविन्द दोनों का ही विश्वास था कि यदि मनुष्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है तो उसे सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता स्वतः उपलब्ध हो जाती है।[28] अरविन्द के अनुसार अपने जीवन के नियमों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है। और चूंकि मनुष्य का वास्तविक आत्म उसका बाह्य व्यक्तित्व नहीं बल्कि स्वयं परमात्मा है, इसलिए ईश्वरीय नियमों का पालन तथा अपने जीवन के नियमों का पालन दोनों एक ही बात है। स्वतन्त्रता की इस धारणा में रूसो तथा भगवद्गीता के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है। रूसो के अनुसार, "स्वयं अपने द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना"[29] ही स्वतन्त्रता है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में आज्ञापालन को स्वतन्त्रता का अर्थ प्रदान करने की परम्परा रूसो से आरम्भ हुई, और आगे चलकर बोसांक्वे ने इस धारणा का अधिक सुव्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन किया।[30] अरविन्द की यह परिभाषा कि अपने जीवन के नियमों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है, निश्चय ही पाश्चात्य प्रभाव की द्योतक है। किन्तु उन्होंने पश्चिम के इस विचार का गीता के स्वधर्म के सन्दर्भ में प्रयोग किया। गीता के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि अपने को उन्हीं कार्यों तथा कर्तव्यों तक सीमित रखे जो उसके सामाजिक तथा मानसिक जीवन के अनुरूप हों। और यदि वह इन कर्तव्यों का निष्काम भाव और आध्यात्मिक प्रवृत्ति से पालन करता है तो अन्ततोगत्वा उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। अरविन्द में यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि जब वे पश्चिम के किसी आदर्श का समर्थन करते तो उसे भारतीय आध्यात्मिकता के अनुसार रूपान्तरित कर देते। इसलिए उन्होंने आध्यात्मीकृत समष्टिवाद का समर्थन किया। इस प्रकार से व्यक्ति तथा समष्टि के दावों के बीच सामंजस्य स्थापित हो जाता है। यही कारण था कि वे आध्यात्मीकृत अराजकवाद के समर्थक थे। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण पश्चिम के दार्शनिक अराजकवाद की मूल प्रस्थापनाओं से अधिक उत्कृष्ट है, क्योंकि अराजकवाद में ऐसी कोई चीज नहीं है जिससे सरकार की बाधाकारी सत्ता का उन्मूलन हो जाने पर मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिक निग्रह की शक्तियाँ उन्मुक्त हो सकें।

अरविन्द का विश्वास था कि मानव विकास की वर्तमान अवस्था के जिस संकट ने सामाजिक तथा राजनीतिक अराजकता उत्पन्न कर रखी है उसका निवारण तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक समाज की स्थापना कर ली जाय। केवल आर्थिक क्षेत्र में नवीनीकरण करके और औसत मनुष्य को

---

25 अरविन्द ने 13 नवम्बर को 'इन्दु प्रकाश' में एक लेख लिखकर बतलाया था कि मानवता का विकास लोकतन्त्र तथा समाजवाद की ओर ले जा रहा है।

26 श्री अरविन्द, *The Ideal of Human Unity* (श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी, 1950), पृष्ठ 28।

27 श्री अरविन्द, *Speeches* (श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी, 1950), पृ. 115-17।

28 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *The Religion of Man* (जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1931), पृष्ठ 188।

29 रूसो, *The Social Contract* (एवरीमैन्स लाइब्रेरी संस्करण, जे. एम. डैंट एण्ड सन्स, 1913), पृष्ठ 16।

30 बोसांक्वे, *The Philosophical Theory of the State* (मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1910), पृष्ठ 174-48। इस विचार का कुछ धुंधला-सा आभास हमें हॉब्स के *Leviathan* ग्रन्थ में मिलता है (एवरीमैन्स लाइब्रेरी संस्करण, जे. एम. डेंट एण्ड सन्स, लन्दन, 1914), पृष्ठ 114 : "क्योंकि 'समर्पण' के कार्य में हमारा 'दायित्व' तथा 'स्वतन्त्रता' दोनों ही निहित हैं।"

लोकतान्त्रिक अधिकार और सम्मान देकर सामुदायिक अहं की वृद्धि को नहीं रोका जा सकता। साम्यवादी ढंग का समग्र या व्यापक आर्थिक नियोजन निरंकुशतावाद को जन्म देता है। मानवतावाद तथा मानवसेवावाद से भी समस्या का अन्तिम समाधान नहीं निकल सकता, क्योंकि अपूर्ण मनुष्यों के आधार पर पूर्ण समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। सुखवादी अथवा समाजशास्त्रीय नैतिकता भी समस्या का अन्तिम हल नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी नैतिकता देश-काल-सापेक्ष होती है, वह परम शुभ को व्यक्त नहीं कर सकती। यद्यपि धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति को महत्व देता है किन्तु वह भी समष्टि का गतिशील रूपान्तर करने में असमर्थ होता है, क्योंकि अपने संस्थात्मक विकास के दौरान वह पन्थमूलक, औपचारिक तथा कट्टरतावादी बन जाता है। अतः अरविन्द का कहना था कि आध्यात्मीकृत समाज का शासन आध्यात्मिकता पर आधारित होगा और ऐसे समाज में सबको समृद्ध तथा सुन्दर जीवन बिताने का अवसर मिल सकेगा। किन्तु अरविन्द को आध्यात्मीकृत समाज के आदर्श से भी सन्तोष नहीं था। वे चाहते थे कि दैवी अतिमानस को, जो सर्वज्ञानसम्पन्न तथा विश्व का ज्ञाता और स्रष्टा है, पार्थिव जीवन को रूपान्तरित करने के लिए अवतरित होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना विकास करके मानस से अतिमानव की ओर अग्रसर हो। इस तरह एक नये प्रकार के प्राणियों की जाति उत्पन्न होगी जो मनुष्यों से उतनी ही दूर होगी जितनी दूर आज मनुष्य पशुओं से है। मनुष्य की आकांक्षाओं तथा ईश्वरीय सम्मति के फलस्वरूप सम्पादित इस प्रकार का आध्यात्मिक रूपान्तर ही विकास के वर्तमान संकट का निवारण कर सकता है। पृथ्वी पर अतिमानसिक शक्ति के जन्म के लिए प्रकृति प्रसव-वेदना से पीड़ित है। अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अतिमानसीकृत अतिमानव के इस आदर्श में वेदान्त तथा नीत्शे के विचारों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। नीत्शे ने सर्वप्रथम 'अतिमानव'[31] (सुपरमैन) की धारणा निरूपित की थी, यद्यपि रैनन की रचनाओं में उसके बीज विद्यमान हैं। किन्तु नीत्शे का अतिमानव आक्रामक शक्ति-सम्पन्न तथा अतिबौद्धिक प्राणी है, इसके विपरीत अरविन्द का अतिमानव ऐसा रूपान्तरित व्यक्ति है जो अपने जीवन में उच्चतर दैवी शक्तियों तथा आनन्द की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार यद्यपि अरविन्द ने 'अतिमानव' शब्द नीत्शे से ग्रहण किया किन्तु उसे उन्होंने आध्यात्मिक तथा वेदान्ती अर्थ प्रदान कर दिया। जिस प्रकार नीत्शे ने मूल्यों के मूल्यान्तरण[32] की बात कही थी वैसे ही अरविन्द ने निरपेक्ष दैवी मूल्यों की चेतना तथा वृद्धि पर बल दिया। उनका कहना था कि सामाजिक तथा राजनीतिक कलह, टकराव, अन्तर्विरोध तथा संघर्ष तभी समाप्त हो सकते हैं जब आत्मा में एकात्म की चेतना जाग्रत हो; ऐसी चेतना पारस्परिक सहयोग, सामंजस्य तथा एकता का संवर्धन करेगी। समष्टि तथा व्यक्ति के बीच तालमेल की समस्याएँ ऐसी चेतना के उदित होने पर हल हो सकती हैं जो मनुष्य को बतलायेगी कि अनुभवातीत, ब्रह्माण्डीय तथा वैयक्तिक पहलू समान रूप से परमात्मा की ही वास्तविक अभिव्यक्ति हैं। मनुष्य शाश्वत आत्मा है, "वह क्षणभंगुरता के साथ केवल खिलवाड़ करता है।" इस प्रकार अरविन्द ने मानव प्राणी के अनुभवातीत आध्यात्मिक गुणों को अधिक महत्व दिया। पाश्चात्य प्रभाव के कारण उन्होंने समष्टि को भी सार्वभौम परम सत्ता का रूप माना और हेगेल की भाँति स्वीकार किया कि राष्ट्र की भी आत्मा होती है।

6. निष्कर्ष

श्री अरविन्द का भारतीय राष्ट्र के निर्माताओं में उच्च स्थान है। वे लोकमान्य तिलक के राजनीतिक सहयोगी थे। उनके सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'द लाइफ डिवाइन', 'एसेज आन द गीता', 'सावित्री' आदि हैं। वे महान योगी, ऋषि तथा मानव जाति से प्रेम करने वाले थे। उनकी दार्शनिक प्रज्ञा उद्भट थी। उन्होंने ही 1907 और 1909 में भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया था।[33] 1907-1908 में पूर्ण स्वराज का समर्थन करना साहसपूर्ण और विलक्षण दूर-

---

31 नीत्शे, *Thus Spoke Zarathustra* (एवरीमैन्स लाइब्रेरी, जे. एम. डैंट एण्ड सन्स, लन्दन, 1938), पृष्ठ 5।
32 नीत्शे, *Der Wille zvr Macht : Versuch zur Umwertung aller Werte* (अंग्रेजी संस्करण की जिल्द, 14-15)।
33 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, *The Political Philosophy of Shri Aurobindo* (एशिया पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1960)।

दर्शिता का काम था। उनका विश्वास था कि भारत का पुनरुद्धार अनिवार्य है। उन्होंने मानव एकता का भी उपदेश दिया और सिखाया कि यदि मानव स्वभाव का आध्यात्मिक पुनर्निर्माण न किया गया तो हमारी सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है।

राष्ट्रवादी नेता तथा बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन के सन्देशवाहक के रूप में अरविन्द ने उत्प्रेरित तथा उदात्त देशभक्ति का उपदेश दिया।

मध्यवर्गीय राष्ट्रवाद की यान्त्रिक आर्थिक धारणा के साथ उन्होंने वैसी ही श्रद्धा और भक्ति की भावना का संयोग कर दिया जैसी कि किसी पवित्र वस्तु के लिए हुआ करती है। वे भारतीय राष्ट्र को परमेश्वर की अभिव्यक्ति मानते थे और पश्चिम की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। विवेकानन्द तथा सुभाषचन्द्र बोस के साथ-साथ उन्हें पुनर्जाग्रत बंगाल की उत्साहपूर्ण तथा आशावादी भावना को उत्प्रेरित करने वाला कहा जा सकता है।

अरविन्द का तत्वशास्त्र, उनका इतिहास तथा संस्कृति दर्शन, उनकी राष्ट्रवाद, स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मीकृत समष्टिवाद की धारणाएँ पूर्व तथा पश्चिम के विचारों का समन्वय हैं। उन्होंने बारबार आत्मा की शक्तियों का उल्लेख किया और बतलाया कि उन्हीं के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक अथवा तात्विक स्तर पर स्थायी समन्वय किया जा सकता है। अरविन्द के उक्त विचार आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिकों को विचित्र लगेंगे और यह सम्भव नहीं है कि अधिक लोग उनकी ओर आकृष्ट हो सकें। तथापि यह मानना पड़ेगा कि शुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर अरविन्द ने पूर्व तथा पश्चिम के राजनीतिक विचारों को समन्वित करने का रमणीक प्रयत्न किया। अन्ततोगत्वा सभी राजनीतिक दार्शनिक कुछ अंशों में आस्था की अपेक्षा करते हैं। शुद्ध भौतिकवादी को प्लैटो, सन्त एक्विनास और हेगेल प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते हैं, जबकि आध्यात्मवादी को मैकियावेली और हॉब्स उथले और छिछले जान पड़ते हैं। आत्मा की शक्तियों में विश्वास रखने वालों के लिए अरविन्द के राजनीतिक दर्शन में गम्भीर सन्देश निहित है। अनुभववादी राजनीतिक वैज्ञानिकों के लिए भी उन्होंने पूर्व की आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा पश्चिम के सैद्धान्तिक सामान्यीकरणों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कम से कम रूपरेखा तो प्रस्तुत कर ही दी है। इसलिए इस समय जब पश्चिम तथा पूर्व दोनों के विचारवान लोग दोनों जगतों का बौद्धिक परम्पराओं के बीच अधिक सामंजस्य और मेलमिलाप की कल्पना कर रहे हैं, अरविन्द एक महान बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का काम दे सकते हैं।[34]

---

34 मैंने अपने "Politics and Ideology" नामक निबन्ध में प्लेटो, कांट, वेदान्त तथा बौद्ध विचारों के समन्वय का संकेत किया है। यह लेख जून 1951 के *Calcutta Review* में प्रकाशित हुआ था।

भाग 3

महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

14

महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

1. प्रस्तावना

महात्मा गान्धी (1869-1948) तत्वशास्त्र तथा राजनीति दर्शन के क्षेत्रों में रीतिबद्ध तथा शास्त्रीय ढंग से चिन्तन करने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे एक अनुप्रेरित शिक्षक तथा सन्देशवाहक थे। वे न तो शंकर थे और न कांट। अपितु वे सुकरात और बुद्ध के सदृश्य थे। उन्होंने अपनी गम्भीरतम भावनाओं तथा सत्य के सम्बन्ध में अपनी अत्यधिक निष्ठापूर्ण अनुभूतियों को उद्गारों के रूप में व्यक्त किया है। उनकी 1908 से आगे की सम्पूर्ण रचनाओं में हमें विचारों की एकता देखने को मिलती है; और उनमें अन्तर्विरोध न्यूनतम है। उनकी 'आत्मकथा' में कहीं-कहीं बाइबिल की प्रतिध्वनि मिलती है; वह टॉल्सटॉय की आत्मस्वीकृति के मुकाबले में कहीं अधिक स्पष्ट है, किन्तु उसमें रूसो की आत्मस्वीकृति की भाँति मन को आघात पहुँचाने वाली घटनाओं का विवरण नहीं है। महात्मा गान्धी ने सदैव अपने को विश्व का नागरिक समझा और उस रूप में अपने कार्यों को अधिक महत्व दिया। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत की राजनीति उनकी प्रयोगशाला थी जिसमें उन्होंने अपने सत्य तथा अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्तों का परीक्षण किया। गान्धीजी के सन्देश की सार्थकता पर बल देना आवश्यक है। इस युग में जब सामूहिक संहार के शक्तिशाली बाह्य अस्त्रों ने मानवीय व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया है, गान्धीजी मानवीय मूल्यों का सन्देश देते हैं। आधुनिक जगत के राजनीतिक आदर्श माल्थूस, डार्विन और नीत्शे के इस सिद्धान्त से निर्धारित हो रहे हैं कि जीवशास्त्रीय नियमों के अनुसार बलशाली की दुर्बलों पर विजय प्राकृतिक और आवश्यक है। यही कारण है कि आधुनिक बुद्धिवादी के लिए प्रारम्भ में गान्धीजी के उस सन्देश को अंगीकार करना कठिन हो जाता है, क्योंकि उनका सन्देश वेदान्तियों, बौद्धों, स्टॉइकों और ईसाइयों की इस धारणा का सार है कि अन्त में विजय सत्य की ही होती है, न कि सबसे अधिक बलशाली की। इस युग में जब वीभत्सतापूर्ण आतंक, गोपनीयता की प्रवृत्ति तथा जासूसी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है, गान्धीजी द्वारा प्रतिपादित सत्य और सर्जनात्मक अहिंसा का सन्देश अति पुरातन जान पड़ता है। किन्तु साथ ही साथ वह इस बात पर दुःखद व्यंग्य भी है कि आधुनिक मानव बुद्ध, महावीर और ईसा को छोड़कर लैमार्क, डार्विन और हैकेल का अनुगमन करने लगा है। गान्धीजी दूसरे प्लेटो और सिसरो हैं, उन्होंने राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध में आध्यात्मिक और नैतिक मार्ग का समर्थन किया।

1893 से 1914 तक गान्धीजी ने दक्षिण अफ्रीका में जातीय समानता के लिए बहुत कार्य किया। यद्यपि वहाँ वे भारतीयों की दशा सुधारने के लिए कार्य कर रहे थे, किन्तु उनका संघर्ष संकीर्ण और राष्ट्रवादी नहीं था। उन्होंने इस गम्भीर सत्य की रक्षा के लिए संघर्ष किया कि सब मनुष्य समान तथा स्वतन्त्र हैं। उनके इसी सन्देश के कारण सी. एफ. एंड्रूज, जो इस शताब्दी के सबसे बड़े ईसाई हुए हैं, दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन के समय से उनके परम भक्त बन गये।

1915 से 1948 तक गान्धीजी ने भारत में देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य किया। वे देश के मुक्तिदाता से भी कुछ अधिक थे। यद्यपि एक देशभक्त के नाते उनका स्थान वाशिंगटन, मत्सीनी और सुनयात सेन के समकक्ष है, किन्तु उनकी सफलता चालीस करोड़ लोगों को स्वतन्त्रता

दिलाने तक ही सीमित नहीं है। उनका यह आग्रह कि राजनीति में भी मनुष्य को पवित्र तरीकों से ही काम लेना चाहिए, हर युग के श्रेष्ठ मानव की आकांक्षाओं का निरूपण करता है। वे अकेले थे अथवा चालीस करोड़ लोग उनके साथ थे, इस बात की उन्हें कोई परवाह नहीं थी। उन्होंने कहा : "मैं कोलम्बस और स्टीवेंसन की जाति का हूँ जो भयंकर से भयंकर कठिनाइयों के सामने भी आशावान बने रहते थे।" वे सत्य पर सदैव दृढ़ रहे, और उन्होंने मानव जाति के पूर्णतावादी स्वप्नों को अपने तथा समाज के जीवन में साकार करने का निरन्तर तथा दृढ़ संकल्प के साथ प्रयत्न किया। इसीलिए उनका विश्व के इतिहास में ऐसा अनोखा स्थान है जिसे संकीर्ण विचारों वाला देशभक्त और शक्ति का पुजारी राजनीतिज्ञ कभी हृदयंगम ही नहीं कर सकते।

महात्मा गान्धी आत्मा की नीरवता का श्रवण करते थे; समाचारपत्रों, रेडियो तथा भीड़ की चिल्लपुकार की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। उनका मूल आदर्श स्थितप्रज्ञ बनना तथा व्यवसात्मिका बुद्धि प्राप्त करना था। उन्होंने आत्मा की ऐसी शान्ति तथा व्यक्तित्व का ऐसा एकत्व उपलब्ध कर लिया था जैसा थोड़े-से धन्य पुरुषों के भाग्य में हुआ करता है। उनके समग्र जीवन में, जो पूर्ण निश्छलता और ईमानदारी के कार्यों से संकुल था, सशक्त आध्यात्मिक एकता व्याप्त थी। इसी कारण वे एक पैगम्बर—सन्देशवाहक—बन गये। मनोविश्लेषण विज्ञान का—चाहे उसे व्यक्ति पर लागू किया जाय और चाहे इतिहास पर—महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि विश्व में दुःख तथा संघर्ष का वास्तविक कारण व्यक्तित्व का विखण्डन है। विश्व भर के अगणित दुःखी, विक्षुब्ध तथा क्रोधाग्नि से उन्मत्त लोगों के लिए गान्धीजी का सन्देश था कि सर्जनात्मक, अहिंसक और आध्यात्मिक जीवन का साक्षात्कार करके संवेगों की एकता तथा व्यक्तित्व का अन्तःसामंजस्य प्राप्त करना ही इन सब रोगों का एकमात्र उपचार है। गान्धीजी का जीवन भगवद्गीता तथा मानव जाति के अन्य धर्मशास्त्रों के इस महान सत्य की अभिव्यक्ति है, पुष्टिकरण है, कि सत्य का एक कण असत्य के पर्वत से भी अधिक शक्तिशाली होता है। उन्होंने कहा था : "मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि यदि एक भी सच्चा सत्याग्रही हो तो वह पर्याप्त है। मैं वैसा ही सच्चा सत्याग्रही बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण में विश्वास रखने के कारण ही उन्होंने अनेक बार ऐसे पक्ष का समर्थन किया जिसके सम्बन्ध में बहुसंख्यक लोगों को सफलता की बहुत कम सम्भावना दिखायी देती थी। उन्होंने अकेले ही बंगाल की जो यात्रा की वह इस बात की महान परिचायक है कि उन्हें अपने आध्यात्मिक ध्येय में अगाध आस्था थी। सत्य तथा अहिंसा के प्रति गान्धीजी की भक्ति आश्चर्यजनक थी। उनकी आत्म-बलिदान की भावना इससे व्यक्त होती है कि उन्होंने बंगाल के नोआखाली तथा बिहार के दंगों से प्रभावित क्षेत्रों की अकेले ही यात्रा की।

2. तत्वशास्त्रीय प्रत्ययवाद

ईश्वर अथवा एक सर्वव्यापी आधारभूत आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास गान्धीवाद का मूल तत्व है। ईश्वर "सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त एक जीवन्त ज्योति" है और उसे सच्चिदानन्द, ब्रह्म, राम अथवा केवल सत्य कहा जा सकता है। वह "स्वतः विद्यमान, सर्वज्ञानसम्पन्न जीवन्त शक्ति है जो विश्व की अन्य सब शक्तियों में अन्तर्निहित है।" एक गूढ़ आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास गान्धीजी को अपने पारिवारिक वातावरण से, विशेषकर अपनी धर्मपरायण माता से विरासत में मिला था। टॉल्सटॉय की रचनाओं, बुद्ध के जीवन, गीता और रायचन्द भाई के सम्पर्क ने उनकी नैतिक आस्थाओं को अधिक गम्भीर और दृढ़ बना दिया था। तत्वशास्त्रीय दृष्टि से गान्धीजी प्रत्ययवादी थे, किन्तु वे शंकर के सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे। वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक नहीं थे। उन्हें ऐसे दयालु ईश्वर में विश्वास था जो भक्तों की प्रार्थना सुनता है। उन्होंने लिखा है : "मुझे एक भी ऐसा उदाहरण याद नहीं है जब अन्तिम क्षण उसने (ईश्वर ने) मुझे असहाय अवस्था में छोड़ दिया हो।" गान्धीजी के विचार वेदान्त के ईश्वरवादी व्याख्याकारों के विचारों से मिलते-जुलते हैं।

गान्धीजी का कहना है कि आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार तार्किक पटुता अथवा प्रत्ययात्मक बोध के द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके साथ आध्यात्मिक अनुभूति, शुद्ध, पवित्र तथा तपःपूत जीवन और अपने उद्देश्यों तथा कार्यों में अहिंसा के आदर्श को साकार करने की आवश्यकता है। "प्रलोभनों के बीच बुद्धि बहुत ही दुर्बल सिद्ध होती है।....बुद्धि के परे पहुँचने वाला विश्वास ही हमारा

एकमात्र तारनहार है।" अतः गान्धी के विचारों में हमें वेदान्ती आध्यात्मिक तत्वज्ञान तथा जनों, बौद्धों और वैष्णवों की अहिंसामूलक नैतिकता का समन्वय देखने को मिलता है। यद्यपि अहिंसा का आदर्श हमें उपनिषदों, योग-दर्शन तथा गीता में मिलता है किन्तु जैन तथा बौद्ध धर्मो ने उसको अत्यधिक महत्व दिया है। अनुभव से ही दर्शन का प्रारम्भ होता है, और गाँधीजी का दावा था कि मेरा जीवन जितना ही अधिक अनुशासनबद्ध होता गया उतना ही मैं सत्य के अधिक निकट पहुँचता गया। गान्धीजी के चिन्तन में उग्र व्यक्तिवाद का पुट है, क्योंकि उन्होंने सत्य की वैयक्तिक अनुभूति को बहुत पवित्र और महत्वपूर्ण माना है। विश्व के महानतम रहस्यवादियों तथा धर्माचार्यों ने अपने निजी अनुभवों के आधार पर कुछ शाश्वत मूल्यों तथा वास्तविक सत्ता को प्रमाणित किया है। किन्तु गान्धीजी ने बौद्धिक तर्कों तथा प्रयोगात्मक निरीक्षण की अवहेलना नहीं की। उन्होंने सच्चा वैज्ञानिक होने का दावा किया। उनका कहना था कि मैं सत्य के सम्बन्ध में निरन्तर प्रयोग करता रहता हूँ और बार-बार निरीक्षण करके अपनी प्रस्थापनाओं को अधिक तर्कसंगत बनाता रहता हूँ। किन्तु अन्वेषण की इस वैज्ञानिक तथा बौद्धिक प्रणाली का प्रयोग केवल सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में ही किया जा सकता था। आधारभूत सत्य में उनकी आस्था तर्कों एवं बाह्य निरीक्षण से नहीं बल्कि आध्यात्मिक साक्षात्कार तथा अन्तःप्रज्ञा से उत्पन्न हुई थी। प्रार्थना गान्धीजी के जीवन का सार थी। वे कहा करते थे कि मैं बिना भोजन के रह सकता हूँ, किन्तु बिना प्रार्थना के नहीं रह सकता। प्रार्थना आत्मा की उत्कट लालसा की अभिव्यक्ति है। प्रार्थना परमात्मा का प्रतिदिन अभिवादन करने की प्रणाली है। सत्याग्रही के लिए ईश्वर के सर्वशक्तिमान ऐश्वर्य तथा दयालुता में विश्वास करना आवश्यक है। इस प्रकार के विश्वास से सत्याग्राही को पृथ्वी की बड़ी से बड़ी शक्तियों के मुकाबले में दुर्दमनीय आत्मिक बल मिलता है। "ईश्वर ही सत्याग्रही का एकमात्र अस्त्र है।" जिस मनुष्य को यह जीवन्त विश्वास होता है कि ईश्वर मेरा अचूक रक्षक है वह निर्भय हो जाता है।

गान्धीजी का कोई इतिहास दर्शन नहीं था। किन्तु यदि हम उनके यत्रतत्र बिखरे हुए विचारों को इतिहास दर्शन के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो हम देखेंगे कि वे धर्मतांत्रिक नियतिवाद में विश्वास करते थे। उन्होंने कहा था : "उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता, और उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति शाश्वत अपरिवर्तनशील नियम में होती है, और यह नियम ही वह (ईश्वर) है।" अपरिवर्तमान तथा जीवन्त नियम ही ईश्वर है। बड़े-बड़े ऋषियों ने अपनी तपस्या के द्वारा मनुष्य जाति के समक्ष उस शाश्वत नियम की झलक प्रस्तुत की है। गान्धीजी कहा करते थे कि मेरा अक्षरशः विश्वास है कि ईश्वर की अनुमति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।[1] यदि धर्मतांत्रिक नियतिवाद को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जाय तो उसकी परिणति निमित्तवाद के दर्शन में हो सकती है। गान्धीजी का विश्वास था कि अन्तिम अर्थ में ईश्वर अथवा सत्य ही अन्त्य तथा सर्वसामर्थ्यवान सत्ता है, इसलिए विश्व की वस्तुओं तथा गतिविधियों का वही नियामक है। किन्तु गान्धीजी का नियतिवाद वस्तुओं की अन्तिम व्याख्या तक ही सीमित था। उसने विकृत होकर कभी भाग्यवाद का रूप नहीं लिया, किन्तु वे गीता के उग्र कर्मण्यतावाद तथा पुरुषार्थवाद के समर्थक थे। उनका सम्पूर्ण जीवन अविश्रान्त कर्म का जीवन था। उनके सभी कार्य एक आध्यात्मिक समग्र की कल्पना से अनुप्राणित थे। यही कारण था कि उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, राजनीतिक नेता तथा नैतिक सन्देश-वाहक के रूप में जो विभिन्न कार्य किये उनके मूल में एक उच्च प्रयोजन निहित था। इस प्रकार गान्धीजी के जीवन में हम ईश्वर की सर्वोच्चता तथा अनवरत कर्म पर आग्रह—इन दो बातों का सामंजस्य देखते हैं।

3. नैतिक निरपेक्षतावाद

गान्धीजी तत्वशास्त्रीय अर्थ में प्रत्ययवाद को स्वीकार करते थे इसलिए नैतिक मूल्यों की सर्वोच्चता तथा सर्वोदय में उनका विश्वास था। सर्वोदय दर्शन का आधार सत्ता की एकता का सिद्धान्त है। इसका निष्कर्ष है कि मानव प्राणियों तथा पशुओं के प्रति निर्दयता के विरुद्ध निरन्तर

---

1 गान्धीजी कहा करते थे कि हर व्यक्ति ईश्वर की इच्छा को नहीं जानता। ईश्वर की इच्छा आध्यात्मिक दृष्टि से ही जानी जा सकती है, और उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए बड़ी साधना की आवश्यकता होती है।

संघर्ष चलाया जाय। इस सिद्धान्त का मूल यजुर्वेद के इस मन्त्र में है: 'ईशावास्यमिदं सर्वं'—सम्पूर्ण विश्व में ईश्वर व्याप्त है। गान्धीजी का कथन है कि मन्त्र में समाजवाद और यहाँ तक कि साम्यवाद भी निहित है।[2] प्रत्ययवादी दर्शन अनिवार्यतः शाश्वत सत्य तथा न्याय के मूल्यों का उपदेश देता है। वह सिखाता है कि सार्वभौम प्रेम जीवन का एकमात्र नियम है। वह किसी एक वर्ग अथवा राष्ट्र के कल्याण से सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि वह सभी प्राणियों की मुक्ति तथा कल्याण का समर्थन करता है।

गान्धीजी के नैतिक निरपेक्षतावाद का बीज वेद की उस धारणा में विद्यमान है जिसे 'ऋत्' कहते हैं। ऋत् का सिद्धान्त बतलाता है कि कुछ ऐसे ब्रह्माण्डीय तथा नैतिक अध्यादेश हैं जो मनुष्यों तथा देवताओं दोनों पर शासन करते हैं। बुद्ध को भी नैतिक व्यवस्था के अस्तित्व में विश्वास था। हिन्दू दार्शनिक पतंजलि ने भी स्वीकार किया है कि नैतिकता की प्रमुख धारणाएँ (पाँच यम और पाँच नियम) देश-काल की सापेक्षता से परे हैं। गान्धीजी इन अनुभूतियों को स्वीकार करते हैं।[3] उनके स्वयं के जीवन के अनुभव ने भी नैतिक मूल्यों की श्रेष्ठता में उनका विश्वास पक्का कर दिया था।

गान्धीजी का कहना था कि इतिहास अहिंसा की श्रेष्ठता की उत्तरोत्तर पुष्टि कर रहा है। उन्होंने लिखा है: "मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य स्वभावतः ऊँचा उठ रहा है।"[4] अहिंसा पाप के सामने समर्पण करने का नाम नहीं है, और न अपनी दुर्बलता को छिपाने का ढोंग अहिंसा है। वह उस वीर आत्मा की दृढ़ शक्ति की परिचायक है जो किसी जीवित प्राणी को इसलिए कष्ट नहीं पहुँचाता कि हर प्राणी तत्वतः आत्मा है और स्वयं उसके साथ एक रूप है। वह सर्वोच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक है। "अहिंसा के लिए अनिवार्य है कि इसमें जो सबसे दुर्बल और अकिंचन है उसके भी अधिकारों की बड़ी सावधानी के साथ रक्षा की जाय।" सत्य का साक्षात्कार करने की आकांक्षा रखने वाला उसके हेतु हर प्रकार के कष्ट सह लेता है।" अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और अनन्त प्रेम का अभिप्राय है कष्ट-सहन की अनन्त क्षमता। गान्धीजी कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा को निरपेक्ष रूप से अंगीकार करना आवश्यक है। "अहिंसा मेरे धर्म का सिद्धान्त है। और वही मेरे कर्म का अन्तिम सिद्धान्त भी है।" सत्याग्रही का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह अहिंसा के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करे। ईसा मसीह और हरिश्चन्द्र इस प्रकार के शुद्ध कष्ट-सहन के नियम के उदाहरण थे। प्रह्लाद पूर्ण सत्याग्रही का दूसरा महान उदाहरण है। अहिंसा को दुर्बलों का अस्त्र मानना उचित नहीं है। ऐसा मानने से तो उस महान आदर्श में गिरावट आती है। अहिंसा सबसे प्रचण्ड ज्ञात शक्ति है। वह सबसे सूक्ष्म प्रकार की शक्ति भी है। वास्तविक अहिंसा प्रबल शक्ति है और सर्वाधिक शक्तिशाली शासन के विरुद्ध भी उसका प्रयोग किया जा सकता है।

4. इतिहास में धर्म का स्थान

चूँकि गान्धीजी सत्य और अहिंसा में विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने स्वीकार किया कि धर्म की इतिहास में सृजनात्मक भूमिका रही है। उनके अनुसार धर्म का अर्थ यह विश्वास है कि विश्व व्यवस्थित रूप में नैतिक नियमों के अनुसार शासित हो रहा है। इसलिए उन्होंने बोलशेविकवाद से सम्बद्ध हिंसा और अनीश्वरता का खण्डन किया।[5] वे अपने को हिन्दू कहते थे, किन्तु वे संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं थे। वे बुद्ध और रामकृष्ण की भाँति सम्प्रदायों, पंथों, अनुष्ठानों, रूढ़ियों आदि की सीमाओं से परे थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के नैतिक तथा आध्यात्मिक सार को ग्रहण किया। उनका कहना था कि यहूदी, ईसाई, इस्लाम, फारसी आदि धर्मों का भी सार वही है जो हिन्दुत्व का। सत्य की अविश्रान्त खोज ही हिन्दू धर्म का मूल तत्व है। आत्मा के रूप में मनुष्य के नैतिक मूल्य ही धर्म हैं। नैतिक आधार के विनष्ट होते ही मनुष्य की धार्मिकता भी विलुप्त हो जाती है। "सब धर्म समान नैतिक नियमों पर आधारित हैं। मेरा नैतिक धर्म उन नियमों से बना है जो विश्व भर के

---

2 *Harijan*, फरवरी 2, 1937।
3 गान्धीजी को पतंजलि के इस सूत्र में अक्षरशः विश्वास था कि अहिंसा के समक्ष वैर समाप्त हो जाता है—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
4 एम. के. गान्धी, *Non-Violence in Peace and War*, जिल्द 1, पृष्ठ 425।
5 वही, पृष्ठ 38।

मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधते हैं।" धर्म से ही उनके जीवन तथा कार्यों को गति और प्रेरणा मिलती थी। गान्धीजी कहा करते थे कि मैं धार्मिक इस अर्थ में हूँ कि मुझे मोक्ष की कामना है। किन्तु गान्धीजी के लिए मोक्ष का अर्थ संन्यास नहीं था। उसका अर्थ यह नहीं था कि मनुष्य समाज तथा मानव जाति के प्रति अपने कर्तव्यों की अवहेलना करे।

गान्धीजी के अनुसार सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति का अर्थ है कि मनुष्य स्वेच्छा से स्वधर्म को अंगीकार कर ले और उत्साह के साथ उसका पालन करे। गीता की भावना के अनुसार उनका विश्वास था कि यदि मनुष्य कर्मयोगी का निष्काम तथा निर्लिप्त जीवन बिताये तो उसे मोक्ष मिल सकता है।[6] जो मनुष्य समर्पण की भावना से मानव जाति की सेवा करता है उसमें 'मैं परोपकारी हूँ' ऐसा अहंकार उत्पन्न नहीं होता, वल्कि उसकी मानवीय आत्मा का उत्तरोत्तर प्रसार होता जाता और अन्त में उसका समग्र मानव जाति के साथ एकात्म्य स्थापित हो जाता है। कर्मयोग का अर्थ है अनासक्त भाव से अपने दायित्वों तथा कर्तव्यों का पालन करना और यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य ब्रह्माण्डीय तथा आध्यात्मिक चेतनता (जागरूकता) से आप्लावित हो। मनुष्य के हृदय में शुभ तथा अशुभ की शक्तियों के बीच अनवरत द्वन्द्व चला करता है, कर्मयोग का अर्थ है अशुभ की शक्तियों का उन्मूलन करना तथा सत्य, शुभ तथा पुण्य की विजय। राम की रावण पर विजय आध्यात्मिक शक्ति की भौतिक शक्ति पर विजय की प्रतीक है। धर्म मनुष्य की वर्बर प्रकृति का निग्रह करने के लिए हैं, और वे मनुष्य को ईश्वर से और मनुष्य को मनुष्य से जोड़ते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब गान्धीजी धर्म को राजनीति का आधार बनाने की बात कहते हैं तो वे किसी आदिम अन्धविश्वास का उपदेश नहीं दे रहे हैं। अपितु वे यह स्थापित करना चाहते हैं कि अपने तथा मानव जाति के कल्याण के लिए किये गये प्रबल, गतिशील कर्म से युक्त जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने बतलाया कि बुद्ध और ईसा का जीवन प्रबल कर्मण्यता तथा गम्भीर प्रेम के समन्वय की भावना से अनुप्राणित था। गान्धीजी ने बाइबिल के इस उपदेश को शिरोधार्य किया कि अपनी आत्मा का विनाश करने की अपेक्षा विश्व का परित्याग कर देना अधिक अच्छा है। मानव सभ्यता के वर्तमान भौतिकवादी दौर में गान्धीजी का गीता के उपदेशों पर आधारित कर्मयोग का सिद्धान्त एक आधारभूत योगदान है। गान्धीजी इस कर्मयोग की धारणा को अथवा कर्मण्यतापूर्ण परोपकार के रूप में धर्म को नये ढंग के सामाजिक तथा राजनीतिक कर्म का आधार बनाना चाहते थे।

गान्धीजी के अनुसार धर्म केवल निजी शुद्धीकरण का साधन नहीं है, अपितु वह एक अत्यधिक शक्तिशाली सामाजिक बन्धन है। भविष्य का अहिंसक समाज, जिसे गान्धीजी पंचायत राज अथवा रामराज भी कहा करते थे, धर्म पर आधारित होगा। किन्तु इस धर्म का किसी साम्प्रदायिक कट्टर धर्म तन्त्र से सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है। इसका अर्थ है ईश्वर में विश्वास की पुनः स्थापना करना। इसका अभिप्राय है कि समाज के सदस्य ईश्वर के नियमों का सहयोग की भावना के साथ पालन करें। जब समाज की नैतिक व्यवस्था का इस प्रकार मानसिक परिमार्जन हो जायगा तो उसके फलस्वरूप उन भद्दे और अश्लील अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों का जिन्होंने धर्म का स्थान ले लिया है, स्वतः उन्मूलन हो जायगा। परोपकार, सहनशीलता, न्याय, भाईचारा, शान्ति तथा सर्वव्यापी प्रेम के अर्थ में धर्म ही केवल विश्व के अस्तित्व का आधार बन सकता है। इसलिए गान्धीजी ने कहा था : "समाज से धर्म का उन्मूलन करने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। और यदि वह कभी सफल हो सका तो उससे समाज का विनाश हो जायगा।"

5. समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

गान्धीजी ने आधुनिक सभ्यता के आधारों को ही चुनौती दी। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता, औद्योगिक प्रगति, धर्म निरपेक्षता, आक्रामकता तथा लोलुपता से गान्धीजी को घृणा

---

6 गान्धीजी कहा करते थे कि यद्यपि गीता का केन्द्रीय तत्व अनासक्ति है, किन्तु उनमें अहिंसा का भी प्रतिपादन किया गया है।

थी। पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता दुर्बल राष्ट्रों के शोषण पर आधारित है। उसका जटिल भौतिक जीवन उच्च प्रकार के चिन्तन के प्रतिकूल है। इसलिए वह अन्धकार तथा महामारी के सदृश है। अतः प्लेटो, तॉल्सतॉय और रूसो की भाँति गान्धीजी ने प्रकृति की ओर लौटने का सन्देश दिया और बतलाया कि सच्ची सभ्यता भोग-सामग्री का संचय करना नहीं है; जानबूझकर और स्वेच्छा से अपनी आवश्यकताओं को कम करना ही वास्तविक सभ्यता है। स्पेंगलर से भी पहले गान्धीजी ने पश्चिमी सभ्यता के और विनाश की भविष्यवाणी कर दी थी। किन्तु उन्हें इस बात में अपरिमित विश्वास था कि मानव आत्मा में नवजीवन प्राप्त कर लेने की अपार शक्ति है, और इसलिए वे कहा करते थे कि अहिंसा पाश्चात्य सभ्यता को रोगमुक्त करने के लिए एक बलवर्धक (टॉनिक) का काम कर सकती है।

गान्धीजी राजनीति, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि सत्य और अहिंसा को समाजवाद के रूप में मूर्तिमान होना चाहिए, क्योंकि "अहिंसा की पहली शर्त यह है कि सर्वत्र तथा जीवन के हर क्षेत्र में न्याय की स्थापना की जाय।" किन्तु समाजवाद का पाश्चात्य सिद्धान्त हिंसा के वातावरण में उत्पन्न हुआ है। सत्याग्रह ही सच्चा समाजवाद लाने का एकमात्र साधन है।[7]

गान्धीजी ने जिन बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष किया उनमें जातिवाद (नस्लवाद), साम्राज्यवाद, सम्प्रदायवाद तथा अस्पृश्यता मुख्य थीं। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने श्वेतांगों की जातीय भेदभाव की नीति के विरुद्ध संघर्ष चलाया। भारत में एक समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने सामाजिक अन्याय, अत्याचार तथा उत्पीड़न का घोर विरोध किया। उनके अनुसार यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति सक्रिय रूप से अहिंसक हो और फिर भी सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध विद्रोह न करे। उन्होंने भारत के दलित निम्न वर्गों की मुक्ति के लिए जो धर्मयुद्ध चलाया उससे स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय के आदर्श के साथ उनका कितना लगाव था। किन्तु उनका पहला काम भारत के अन्यायपूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण का अन्त करना था। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भर्त्सना इसलिए की कि उसके कारण भारत आर्थिक तथा राजनीतिक पतन के गर्त में जा गिरा था।

गान्धीजी का उपदेश था कि मनुष्य को दिखावा तथा विलासिता का परित्याग करके सरल जीवन को अंगीकार करना चाहिए। भारत की आधुनिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने ग्रामोद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने ग्रामीण जीवन की एकता तथा बुनियाद को सुरक्षित रखने के लिए अथक प्रयत्न किया। भारतीय गाँवों के विघटन तथा सर्वनाश को देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठता था।[8] वे अनुभव करते थे कि ब्रिटिश पूँजीवाद ने देहाती अर्थतन्त्र के अस्तित्व के ही लिए खतरा उत्पन्न कर दिया है। गान्धीजी ने देखा कि भारत गाँवों में बसता है। इसलिए उनका "गाँवों को लौटो" का नारा न तो काल्पनिक था और न प्रतिक्रियावादी। मार्क्सवादियों तक ने स्वीकार किया है कि देहाती तथा शहरी क्षेत्रों के बीच सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है। पश्चिम में भी विशाल शहरी केन्द्रों की वृद्धि की भर्त्सना की गयी है। पश्चिम के कुछ समाजशास्त्रियों की भाँति गान्धीजी का भी विश्वास था कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ और समृद्ध होने से लोकतन्त्र को नयी शक्ति और स्फूर्ति मिलेगी। गान्धीजी ने उन्नीसवीं शताब्दी के अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की आलोचना की।[9] उन्होंने इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि "भूमि

---

7 "Socialism and Satyagraha", *Harijan*, जुलाई 20, 1947। गान्धीजी का दृढ़ विश्वास था कि सत्याग्रह समाज की राजनीतिक, नैतिक तथा आर्थिक सभी बुराइयों का अन्त कर सकता है। उनका कहना था कि अनीश्वरवादियों का समाजवाद कहीं भी नहीं ले जा सकता।

8 अक्टूबर 13, 1921 के *Young India* में गान्धीजी ने भारतीय गाँवों के शोषण और कष्टों का उल्लेख करते हुए कहा था कि "यह एक रक्त बहाने की प्रक्रिया है जो पिछले दो सौ वर्षों से चली आ रही है।"

9 *Young India*, मार्च 19, 1931। गान्धीजी को यह देखकर दुःख होता था कि बहुत-से वस्त्र-व्यापारी अभी भी व्यक्तिगत स्वतन्त्र सिद्धान्त का ढिंढोरा पीट रहे थे।

उसकी है जो उसे जोतता है ।"[10] उनकी दृष्टि में चरखा भौंडेपन का प्रतीक नहीं था, बल्कि वह एक ऐसा साधन था जिससे जनता को कम से कम रूखा-सूखा भोजन तो मिल सकता था। वह श्रम की प्रतिष्ठा का प्रतीक था ।

गान्धीजी आर्थिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे । उनका कहना था कि सब लोगों को अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिए । वे "प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार" के मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करते थे ।[11] अनके अनुसार आर्थिक समानता के मूल तत्व हैं—प्रत्येक परिवार को सन्तुलित भोजन, रहने के लिए अच्छा घर, डाक्टरी सहायता तथा बच्चों की शिक्षा की सुविधा । आर्थिक समानता के आदर्श को वास्तविक अर्थ में साक्षात्कृत करने के लिए चरखा तथा उससे सम्बन्धित उद्योगों का आश्रय लेना आवश्यक है । इससे सामाजिक तथा आर्थिक समानता स्थापित करने में बहुत सहायता मिलेगी । समाजवाद तथा गान्धीवाद दोनों ही आर्थिक समानता पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहते हैं । किन्तु गान्धीजी का मार्ग अनुभवातीत, संन्यासमूलक तथा नैतिक है । इसके विपरीत आधुनिक समाजवाद का आदर्श मुख्यत: भौतिकवादी और धर्मनिरपेक्ष है तथा उत्पादन की वृद्धि पर अधिक जोर देता है । अत: इस दृष्टि से गान्धीवाद और समाजवाद में कोई साम्य नहीं है । समाजवाद का प्रधानत: समाजवादी स्वरूप गान्धीजी की व्यक्तिवादी ऋषि जैसी आत्मा को निश्चय ही संतप्त कर देता ।

गान्धीजी सरल तथा आडम्बरहीन प्राकृतिक जीवन की ओर लौटने के समर्थक थे। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने विशाल उद्योगों, मशीनीकरण तथा पाश्चात्य वाणिज्यवाद, साम्राज्यवाद और धर्मनिरपेक्षतावाद को रोग बतलाया और उनकी भर्त्सना की । किन्तु वे पूर्णत: ग्राम्यवादी नहीं थे; उन्होंने शुद्ध ग्राम्य जीवन की ओर लौट चलने का समर्थन नहीं किया । अपने परवर्ती जीवन में वे बहुत कुछ यथार्थवादी बन गये थे । कम से कम भविष्य के भारतीय समाज के सन्दर्भ में उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि विशाल उद्योगों और लघु उद्योगों का सामंजस्य किया जाय, मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो,[12] और शहरी केन्द्रों की अव्यवस्थित तथा एकांगी वृद्धि को रोका जाय और उन्हें इस ढंग से संगठित किया जाय कि वे गाँवों की, जहाँ भारत की आत्मा निवास करती है, आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें । वे लिखते हैं : "साथ ही साथ मेरा विश्वास है कि कुछ मूल उद्योगों की आवश्यकता है । मुझे कोरी बातों के समाजवाद में विश्वास नहीं है और न मेरी सशस्त्र समाजवाद में ही आस्था है । मैं अपने सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करने में विश्वास करता हूँ, मैं उस समय की प्रतीक्षा नहीं करना चाहता जब सब लोग सामूहिक रूप से समाजवाद के आदर्श को अंगीकार कर लेंगे । अत: मैं मूल उद्योगों के नाम गिनाना आवश्यक नहीं समझता । मैं तो केवल यह चाहूँगा कि जिन उद्योगों में बड़ी संख्या में लोग साथ-साथ काम करते हों उन पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया जाय । सभी कुशल तथा अकुशल श्रमिकों के उत्पाद का स्वामित्व राज्य के द्वारा स्वयं उन्हीं में निहित होगा । किन्तु मेरी कल्पना का राज्य अहिंसात्मक होगा, इसलिए मैं बलपूर्वक धनी लोगों को उनके धन से वंचित नहीं करूँगा, मैं उन्हें आमन्त्रित करूँगा कि वे राजकीय स्वामित्व स्थापित करने की प्रक्रिया में सहयोग दें । समाज में कोई अछूत नहीं है चाहे वह करोड़पति हो और चाहे भिखारी ।" गान्धीजी गाँव में बिजली पहुँचाने के भी विरुद्ध नहीं थे । किन्तु खादी तथा

---

10 *Harijan*, मार्च 31, 1946 । भूमि के कानूनी अधिकार के सम्बन्ध में गान्धीजी का यह सिद्धान्त उनके इस दूसरे सिद्धान्त के विपरीत पड़ता है कि जमींदार किसानों के न्यासधारी (ट्रस्टी) हैं । 1931 में द्वितीय गोलमेज परिषद की संघीय व्यवस्था समिति में भाषण करते हुए गान्धीजी ने कहा था : "न तो कांग्रेस की ही इच्छा है और न इन मूक भिखारियों का इच्छा है कि जमींदारों से उनकी भूमि आदि छीन ली जाय, किन्तु जमींदारों को उनके न्यासधारियों के रूप में कार्य करना पड़ेगा ।" (*Young India*, अक्टूबर 2, 1931) । गान्धीजी ने इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया, उसके लिए देखिये *Towards Non-Violent Socialism* पृष्ठ 128 ।

11 *Harijan*, मार्च 31, 1946 ।

12 एम. के. गान्धी, *Towards Non-Violent Socialism*, पृष्ठ 29 ।

ग्रामीण उद्योगों के प्रति उनका गहरा अनुराग था। उन्हें डर था कि भारत कहीं अत्यधिक सैन्यीकृत और औद्योगीकृत राष्ट्र न हो जाय, और यदि ऐसा हुआ तो ग्रामोद्योग तथा खादी, जिन्हें वे अहिंसा का प्रतीक मानते थे, पूर्णतः विनष्ट हो जायेंगे।

गान्धीजी नैतिक अर्थ में व्यक्तिवादी थे, न कि आर्थिक अर्थ में। वे लोगों को सदाचारी बनाने के लिए किसी प्रकार के बल प्रयोग का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने व्यक्ति की गरिमा तथा उसके अन्तःकरण की सम्माननीयता को विशेष महत्व दिया। गान्धीजी के नीतिशास्त्र का आधार वह व्यक्ति है जो नैतिक साधनों से अपने चरित्र का उत्थान करने का प्रयत्न करता है। उन्होंने वकील, डाक्टर, शिक्षक, मेहतर आदि सबको समान वेतन देने के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का समर्थन किया और बतलाया कि यही सब सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों की रामबाण औषध है। धन संचित करने की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति सभी बुराइयों की जड़ है। इसलिए उन्होंने "धन के विवेकपूर्ण नियमन तथा सामाजिक न्याय" का समर्थन किया। धनी मनुष्यों को समझना चाहिए कि ईश्वर सभी प्राणियों में व्याप्त है, और इसलिए उन्हें धन का परित्याग करने में पहल करनी चाहिए जिससे सब मनुष्यों को सुख और सन्तोष उपलब्ध हो सके। गान्धीजी का कहना था कि ईश्वर उन लोगों का मित्र नहीं है जो दूसरों का धन हड़पना चाहते हैं। धन की लिप्सा मनुष्य को किसी न किसी रूप में शोषण करने के लिए विवश करती है।[13] यदि मनुष्य उन वस्तुओं का लोलुपतापूर्वक संग्रह करने तथा उन पर एकाधिकार कायम रखने की प्रवृत्ति को त्याग दे जिनकी दूसरों को भी आवश्यकता है तो संसार में सतयुग की स्थापना हो सकती है और यदि आत्मा का हनन करने वाली प्रतिस्पर्धा तथा अनन्त आवश्यकताओं का परित्याग कर दिया जाय तो विनाश के साधनों का स्वतः लोप हो जायगा। इसका अर्थ होगा झूठे तथा अमानवीय अर्थतन्त्र के स्थान पर मानवीय अर्थतन्त्र की स्थापना करना। गान्धीजी ने आध्यात्मिक समाजवाद के आदर्श को भी स्वीकार किया और कहा कि स्वराज तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि समाज के क्षुद्रतम तथा निम्नतम वर्गों को भी जीवन की वे सब साधारण सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो जातीं जो अमीर लोगों को प्राप्त हैं। गान्धीजी के समाजवाद में राजा तथा किसान, धनी तथा दरिद्र, मालिक तथा नौकर सबके साथ समान बर्ताव किया जायगा। किन्तु गान्धीजी के अनुसार इस प्रकार के समाजवाद की स्थापना किसी संगठित दल के द्वारा राजनीतिक शक्ति पर अधिकार करके नहीं की जा सकती। यह नितान्त आवश्यक है कि समाजवादी सत्यपरायण, अहिंसक तथा शुद्ध हृदय के हों। वे सच्चा परिवर्तन ला सकते हैं। इसलिए गान्धीजी ने अपनी राजनीतिक योजना में व्यक्ति के शुद्धीकरण पर सबसे अधिक बल दिया। जिस आध्यात्मिक समाजवाद की स्थापना गान्धीजी करना चाहते थे उसका समारम्भ व्यक्ति के नैतिक उद्धार से ही हो सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गान्धीजी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के महत्व को नहीं समझते थे। उनका जीवन इस बात का महत्वपूर्ण उदाहरण है कि एक व्यक्ति अकेला ही दक्षिण अफ्रीकी संघ तथा ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दे सकता था। किन्तु गान्धीजी व्यवस्था में परिवर्तन करना ही पर्याप्त नहीं मानते थे। वे मनुष्य के स्वभाव तथा आचरण में परिवर्तन करना आवश्यक मानते थे। उनका सिद्धान्त था कि पाप के साथ सहयोग नहीं होना चाहिए, किन्तु पापी से घृणा करना भी उचित नहीं है। इस बात को हृदयंगम करना है कि ईश्वर चोर, डाकू तथा धूर्त में भी व्याप्त है। बुद्ध की भाँति गान्धीजी का भी विश्वास था कि शत्रु को सहयोगी तथा सहायक में परिवर्तित करना है। जिस प्रकार अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य की नैतिक शक्तियों को उदात्त बनाना आवश्यक है, और बाहरी संगठनों के ऊपरी परिवर्तनों पर अधिक भरोसा नहीं करना चाहिए उस प्रकार गान्धीजी केवल ब्रिटिश शासन का तथा आंग्ल-भारतीय पूँजीपतियों और सामन्तों द्वारा किये जा रहे समाज के शोषण का ही अन्त नहीं करना चाहते थे बल्कि वे शोषण की इच्छा का ही उन्मूलन करने के पक्ष में थे। वे मनुष्य का मानसिक पुनरुद्धार करना आवश्यक समझते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि मनुष्य की प्रकृति में जन्म से ही कुछ दैवी अंश विद्यमान रहता है। यही कारण था कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वे सोचते थे

13 वही, पृष्ठ 149।

कि यदि यहूदी सक्रिय अहिंसा का मार्ग अपनायें तो जर्मनों के कठोर से कठोर हृदय भी पिघल सकते हैं।

गान्धीजी का आदर्श ऐसे समाज की स्थापना करना था जो पारस्परिक सक्रिय प्रेम एवं सामंजस्य पर आधारित हो। उन्होंने वर्णाश्रम पर आधारित समाज-व्यवस्था को स्वीकार किया। किन्तु वे वर्णों के बीच भेदभाव तथा ऊँच-नीच को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने वर्णाश्रम का समर्थन उस पुरातनवादी की दृष्टि से नहीं किया जो स्वभावतः परम्परागत सामाजिक व्यवस्था का पोषक हुआ करता है। उन्होंने इतिहास के सम्बन्ध में विकासवादी दृष्टिकोण अपनाया। किसी व्यक्ति के लिए अपने जीवन के नियमों के विरुद्ध चलना असम्भव है। किसी व्यक्ति अथवा समाज के लिए क्रान्तिकारी मार्ग अपनाना और अपने आचरण की आधारभूत प्रणाली को उलट देना सम्भव नहीं है। गान्धीजी पक्के सुधारक थे, किन्तु वे केवल नवीनता तथा परीक्षण का आनन्द लेने के लिए सामाजिक ढाँचे में तोड़-मरोड़ करना अच्छा नहीं समझते थे। वे यह दिखाना चाहते थे कि कुछ सामाजिक संस्थाएँ जो देश के ऐतिहासिक विकास में लगभग सदैव व्याप्त रही हैं, वास्तव में बुद्धिसंगत हैं।

गान्धीजी ने पूँजीवाद की आलोचना इसलिए की कि वह अहिंसा के सिद्धान्त का निषेध करता है। किन्तु वे पूँजीवाद का बलपूर्वक उन्मूलन करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने समान वितरण के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का समर्थन किया। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त सामग्री मिलनी चाहिए। धन का संचय और व्यर्थ का परिग्रह नहीं होना चाहिए। धनी लोगों को समाज के कल्याण के लिए अपने धन का न्यासधारी बन जाना चाहिए। यदि वे स्वेच्छा से न्यासधारी बनने से इनकार करें तो सत्याग्रह का सहारा लिया जा सकता है।

6. राजनीति दर्शन

गोखले की भाँति गान्धीजी भी राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहते थे। गोखले ने भी इस बात पर बल दिया था कि राजनीति में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट किया जाय। किन्तु अहिंसा के प्रति गान्धीजी का अनुराग गोखले से कहीं अधिक गहरा और व्यापक था। गान्धीजी धर्म को राजनीति में प्रविष्ट करना चाहते थे। "मेरे लिए मोक्ष का एकमात्र मार्ग यह है कि मैं देश तथा मानव जाति की सेवा के लिए निरन्तर परिश्रम करूँ। मैं हर जीवित प्राणी के साथ अपना एकात्म्य स्थापित करना चाहता हूँ। गीता की भाषा में मैं अपने मित्रों तथा शत्रुओं दोनों के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहता हूँ। अतः मेरे लिए मेरी देशभक्ति शाश्वत स्वतन्त्रता तथा शान्ति के लोक की यात्रा की एक मन्जिल है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मेरे लिए धर्म से शून्य राजनीति नहीं हो सकती। राजनीति धर्म के अधीन है। धर्म से शून्य राजनीति एक मृत्यु-जाल है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।" किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी प्रकार का धर्मतान्त्रिक शासन स्थापित करना चाहते थे। धर्म का अभिप्राय है ईश्वर के साथ एकता कायम करना। वह एक प्रचण्ड शक्ति है। इसलिए राजनीति में धर्म को समाविष्ट करने का अर्थ था न्याय तथा सत्य की ओर उत्तरोत्तर प्रगति करना, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति किसी भी प्रकार के उत्पीड़न तथा शोषण को सहन नहीं कर सकता।

गान्धीजी ने पाश्चात्य लोकतान्त्रिक राजनीति की कटु भर्त्सना की, क्योंकि उसमें तीन अन्तर्विरोध थे।[14] उसके अन्तर्गत पूँजीवाद का असीम प्रसार हुआ जिसके फलस्वरूप दुर्बल जातियों का डटकर शोषण किया गया। कुछ लोकतान्त्रिक राज्यों ने तो फासीवादी तरीके भी अपना लिये। "लोकतन्त्र का जो व्यावहारिक रूप हमें आज देखने को मिलता है वह शुद्ध नात्सीवाद अथवा फासीवाद है। अधिक से अधिक वह साम्राज्यवाद की नात्सीवादी तथा फासीवादी प्रवृत्तियों को छिपाने का आवरण है।"[15] गान्धीजी ने स्पष्ट घोषणा की कि ब्रिटेन ने भारत को लोकतान्त्रिक तरीकों से

---

14 *Harijan*, मई 18, 1940।
15 वही।

नहीं जीता था। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका तथा अमेरिका के दक्षिणी भागों में प्रचलित जातीय भेद-भाव की नीति की आलोचना की। उनका कहना था कि केवल अहिंसा के द्वारा सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना की जा सकती है। राजनीति में लोकतन्त्र का अर्थ है कि विरोधियों के साथ पूर्णतः सम्यक् व्यवहार किया जाय।[16] आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र का अभिप्राय है कि सबसे दुर्बल व्यक्ति को भी वे ही सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो सबसे शक्तिशाली को उपलब्ध हों।[17] लोकतन्त्र तथा हिंसा के बीच मेल नहीं हो सकता। वे चाहते थे कि भारत विकसित होकर "सच्चे लोकतन्त्र" का रूप धारण करे।[18] वे यथार्थवादी थे, इसलिए उन्होंने यह यूटोपियाई स्वप्न नहीं देखा कि भविष्य में भारत सैन्य बल का परित्याग कर देगा और पूर्ण अहिंसा को अपना लेगा। किन्तु वे चाहते थे कि हिंसा के बिना और क्रमिक रूप से सच्चे लोकतन्त्र को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। शक्ति का विकेन्द्रीकरण उनके लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का मुख्य तत्व था। उन्होंने भारत में सच्चे लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने के लिए कुछ शर्तें निश्चित की थीं।[19] वे इस बात को पूर्णतः अनुचित और अलोकतान्त्रिक मानते थे कि व्यक्ति कानून को अपने हाथों में ले।[20]

गान्धीजी के सर्वोदय की जड़ें प्राचीन भारतीय दर्शन में थीं। उन्हें वेदान्त की इस धारणा से कि सभी प्राणियों में आध्यात्मिक एकता है और गीता तथा बुद्ध के सर्वभूतहित के आदर्श से प्रेरणा मिली थी। सर्वोदय का व्यापक आदर्शवाद लॉक के बहुसंख्यावाद, मार्क्स-गुम्प्लोवित्स के वर्ग और जातीय संघर्ष के सिद्धान्तों तथा बेंथम के 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' के आदर्श के विरुद्ध है। एक दृष्टि से प्लेटो और गान्धी में बहुत साम्य है। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में काल्पनिक आदर्शवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु 'लॉज' तथा 'स्टेट्समैन' में उसने मानव स्वभाव तथा सामाजिक व्यवस्था की यथार्थवादी आवश्यकताओं का ध्यान रखा है। इसी प्रकार गान्धीजी का एक यथार्थवादी सिद्धान्त था जो भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तुरन्त तथा निकट भविष्य में लागू किये जाने के लिए था। इसके अतिरिक्त एक आदर्शवादी सिद्धान्त भी है जिसका उद्देश्य मानव स्वभाव का आमूल रूपान्तर करना तथा मानव जाति के सामूहिक जीवन में नैतिक कार्य-प्रणाली को अधिक पूर्ण रूप से समाविष्ट करना था। गान्धीजी राज्य को हिंसा तथा शक्ति का संगठित रूप मानते थे। अहिंसा के पुजारी होने के नाते उन्हें राज्य के बाध्यकारी स्वरूप से घृणा थी। उनका विश्वास था कि रामराज्य (आदर्श राज्य अथवा पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य) में जनता की नैतिक शक्ति का प्रभुत्व होगा और हिंसा की व्यवस्था के रूप में राज्य का विनाश हो जायगा। किन्तु वे राज्य की शक्ति को तत्काल समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। यद्यपि अन्तिम उद्देश्य नैतिक तथा दार्शनिक अराजकवाद है, किन्तु तात्कालिक लक्ष्य राज्य को अधिकाधिक पूर्णत्व की ओर ले जाना है। गान्धीजी ने 'यंग इण्डिया' (9 मार्च, 1922) में एक लेख लिखकर स्वराज्य तथा आदर्श समाज का भेद समझाया। आदर्श समाज में रेलमार्ग, अस्पताल, मशीनें, सेना, नौसेना, कानून और न्यायालय नहीं होंगे। किन्तु उन्होंने बल देकर कहा कि स्वराज्य में ये पाँचों प्रकार की चीजें रहेंगी। स्वराज्य में कानून तथा न्यायालयों का काम जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करना होगा, वे नौकरशाही के हाथों में उत्पीड़न का साधन नहीं होंगे। राज्य के प्रति गान्धीजी की शत्रुता के कुछ कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है: (क) दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा असहाय जूलू लोगों पर किये गये अत्याचार, (ख) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान स्मट्स का विश्वासघात, (ग) ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा भारत में किये गये अत्याचार। यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उपयुक्त होगा कि उक्त अनुभवों के कारण गान्धीजी किसी विशिष्ट सरकार को नहीं बल्कि

---

16 *Young India*, अगस्त 12, 1920।
17 *Harijan*, मई 18, 1940।
18 वही।
19 (क) चर्खा द्वारा व्यक्त सत्याग्रह, (ख) ग्रामोद्योगों का विकास, (ग) दस्तकारियों के द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा, (घ) अस्पृश्यता का उन्मूलन, (ङ) साम्प्रदायिक मेलजोल, (च) श्रमिकों का अहिंसात्मक संगठन।
20 *Harijan*, सितम्बर 21, 1947।

सामान्य तौर पर राज्य की पूरी व्यवस्था को ही शत्रुतापूर्ण भाव से देखने लगे थे। किन्तु उन्होंने राज्य की मशीन को तत्काल नष्ट करने की कल्पना नहीं की, उनका विचार था कि राजनीति में अहिंसा का अधिकाधिक प्रयोग करने से बाध्यकारी राज्य स्वतः समाप्त हो जायगा। उनका विश्वास था कि भविष्य में भारतीय सैनिक लोक सेना का रूप धारण कर लेंगे और उनका प्रयोग आक्रमण के लिए नहीं बल्कि प्रतिरक्षा के लिए किया जायगा।

गान्धीजी का सत्याग्रह दर्शन सत्य के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है। यदि सत्य ही परम तत्व है तो उसके पुजारी का पुनीत कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके आधारों की रक्षा करे। ईश्वर ही परम सत्य और परम सत् है, अतः ईश्वर-भक्त के लिए आवश्यक है कि वह पूर्णतः विनम्र और स्वार्थरहित हो। उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के लिए संघर्ष करने का अजेय कल्प तथा साहस होना चाहिए। तभी वह अपनी सच्ची नैतिक भावना का प्रमाण दे सकता है।

सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध शुद्धतम आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। कष्ट-सहन तथा विश्वास आत्मबल के गुण हैं। 'तेजस्वी दीन' के सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध का हृदय पर तत्काल प्रभाव होता है। वह विरोधी को जोखिम में नहीं डालना चाहता, बल्कि वह उसे अपनी निर्दोषता की प्रचण्ड शक्ति से अभिभूत कर देना चाहता है। सत्याग्रह अथवा हृदय-परिवर्तन के विस्मयकारी तरीके सरकार तथा सामाजिक अत्याचारियों एवं परम्परावाद के नेताओं, सभी के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है।

सत्याग्रह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।[21] वह पवित्र अधिकार ही नहीं अपितु पवित्र कर्तव्य भी है। यदि सरकार जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती और बेईमानी तथा आतंकवाद का समर्थन करने लगती है तो उसकी अवज्ञा करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु जो अपने अधिकारों की रक्षा करना चाहता है उसे सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि हैम्पडन तथा वाट टेलर में कष्ट-सहन की क्षमता न होती तो वे विद्रोह का झण्डा कभी नहीं उठा सकते थे।[22]

इस प्रसंग में गान्धी ने थूरो की शिक्षाओं का भी उल्लेख किया।[23] किन्तु उनका कहना था कि थूरो अहिंसा का पूर्ण समर्थक नहीं था। शायद वह सरकारी कानूनों की अवज्ञा को राजस्व सम्बन्धी कानूनों तक ही सीमित रखना चाहता था। उसने कर देने से इनकार किया। किन्तु गान्धीजी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह का सिद्धान्त अधिक व्यापक तथा सार्वभौम महत्व का है। परिवार से लेकर राज्य तक मनुष्य को जहाँ कहीं अन्याय तथा असत्य का सामना करना पड़े वहाँ वह सत्याग्रह का प्रयोग कर सकता है। गान्धीजी को स्वयं अपने पारिवारिक जीवन में सत्याग्रह के कुछ मधुर अनुभव हुए थे, उनका उन्होंने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है।[24] वे कहा करते थे कि अहिंसा की वर्णमाला परिवार की पाठशाला में सीखी जाती है और फिर उसका प्रयोग राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर भी किया जा सकता है। इस शताब्दी के तृतीय दशक के उपरान्त विश्व में जो युद्ध और संघर्ष हुए हैं उनके सम्बन्ध में गान्धीजी की इच्छा थी कि इथियोपिया, स्पेन, चैकोस्लोवाकिया, चीन और पोलैण्ड की जनता को आक्रमणकारियों का अहिंसात्मक ढंग से प्रतिरोध करना चाहिए था।

सत्याग्रह की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। अनशन सत्याग्रह का एक रूप हो सकता है, किन्तु उसका प्रयोग उन लोगों के विरुद्ध ही करना चाहिए जिनसे घनिष्ठ वैयक्तिक प्रेम-सम्बन्ध हो। स्वेच्छा से देश छोड़कर चला जाना सत्याग्रह का अन्य रूप हो सकता है। "अत्याचार एक प्रकार की महामारी है, इसलिए जब डर हो कि उससे हमारे अन्दर क्रोध अथवा दौर्बल्य उत्पन्न होने वाला है तो हमें उस स्थान को ही छोड़कर चला जाना चाहिए।" गान्धीजी ने हिजरत का भी समर्थन किया। 'एक्जोडस' (बाइबिल का एक खण्ड) में इजराइलियों के योजनापूर्वक भाग निकलने का उल्लेख है। रूस में डूखोबोर लोग भाग निकले थे; वे भी अहिंसा के अनुयायी थे ('हरिजन' जनवरी 6, 1940)।

---

21 *Young India*, जनवरी 5, 1922।
22 वही, जुलाई 16, 1920।
23 एम. के. गान्धी, *Satyagraha*, पृष्ठ 3 तथा पृष्ठ 115।
24 एम. के. गान्धी की *Autobiography*, भाग 4, अध्याय 19।

गान्धीजी 'घर फूंक' नीति को सत्याग्रह का रूप नहीं मानते थे। उन्होंने गुप्त कार्यवाहियों का समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि गुप्त कार्यवाहियाँ चाहे स्वतन्त्रता के न्यायपूर्ण संघर्ष का अंग हों और चाहे वे सत्य तथा अहिंसा पर आधारित हों, फिर भी सत्याग्रही के लिए वे उचित नहीं हैं।

गान्धीजी ने जिस सत्याग्रह की कल्पना की वह सामाजिक तथा राजनीतिक विघटन का सूत्र नहीं था। सत्याग्रही वही हो सकता है जिसने पहले स्वेच्छा से बुद्धिमानी के साथ और स्वतः राज्य के कानूनों का पालन किया हो। गान्धीजी लिखते हैं : "सत्याग्रही समाज के कानूनों का बुद्धिमानी से और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पालन करता है, क्योंकि वह ऐसा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता है। जब इस प्रकार मनुष्य समाज के कानूनों का ईमानदारी से पालन कर लेता है तभी वह यह निर्णय करने की स्थिति में हो सकता है कि कौनसा कानून अच्छा और न्यायोचित है और कौनसा अन्यायपूर्ण तथा अनुचित। तभी उसे कुछ कानूनों की सुनिश्चित परिस्थितियों में सविनय अवज्ञा करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है।"[25] महात्मा गान्धी अपने को स्वभाव से कानूनों का पालन करने वाला मानते थे। जब मनुष्य राज्य के नागरिक तथा नैतिक कानूनों का पालन करके अनुशासन सीख ले तभी उसमें सविनय प्रतिरोध की क्षमता उत्पन्न हो सकती है। सरकार के कानूनों का प्रतिरोध करते समय सत्याग्रही को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न न होने पाये।

गान्धीजी ने सत्याग्रही के लिए नैतिक अनुशासन के कठोर नियम निर्धारित किये। उसे ईश्वर में अटल विश्वास होना चाहिए, अन्यथा वह अपने शरीर के साथ उच्च हिंसक शक्ति धारण करने वाले अधिकारियों द्वारा किये गये अत्याचारों को शान्तिपूर्वक सहन नहीं कर सकेगा। उसे धन तथा यश की लालसा नहीं होनी चाहिए। उसे सत्याग्रही जत्थे के नेता के आदेशों का पालन करना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि अपने शरीर को हठयोग आदि क्रियाओं द्वारा बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करे। उसे चाहिए कि ब्रह्मचर्य का पालने करे, पूर्णतः निर्भीक तथा दृढ़ संकल्प हो। उसके लिए आवश्यक है कि धैर्यवान हो, अपने उद्देश्य में अनन्य निष्ठा रखता हो और क्रोध अथवा अन्य किसी मनोविकार के वशीभूत होकर अपने कर्तव्य मार्ग से विचलित न हो। सत्याग्रह का प्रयोग कभी निजी लाभ के लिए नहीं किया जा सकता। वह तो 'प्रेम की क्रिया' है, इसलिए उसका उद्देश्य हृदय को प्रभावित करना होता है, न कि अनाचारी में भय उत्पन्न करना। अतः सत्याग्रह का आधार वैयक्तिक शुद्धीकरण है। इस प्रकार गान्धीजी ने चरित्र की शुद्धता को राजनीतिक शक्ति की कसौटी बतलाकर राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योग दिया है। उनके अनुसार न्याय तथा धर्म का पक्षपोषण करने के लिए शुद्ध साधनों का प्रयोग करना आवश्यक है। प्लेटो ने भी राज्य के संरक्षकों के लिए शारीरिक शिक्षा तथा गणित और तर्कशास्त्र की शिक्षा का विधान किया था। किन्तु गान्धीजी ने ब्रह्मचर्य पर बल दिया और इस प्रकार प्लेटो से भी आगे बढ़ गये। यह सत्य है कि गान्धीजी विज्ञान तथा दर्शन की कठोर बौद्धिक शिक्षा को महत्व नहीं देते। जहाँ तक सत्याग्रही की बौद्धिक शिक्षा का सम्बन्ध है वे भगवद्गीता तथा तुलसीकृत रामायण से सन्तुष्ट हो जायेंगे। सत्याग्रही के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है, उसका हृदय मजबूत होना चाहिए, और यह श्रद्धा तथा कष्ट-सहन से ही उपलब्ध हो सकता है।

सत्याग्रह के अनेक रूप हैं। पापी के साथ असहयोग करना उसका एक नरम रूप है। सरकार के कानूनों की सविनय अवज्ञा सत्याग्रह का कठोर तथा आत्यन्तिक प्रकार है। गान्धीजी के अनुसार सविनय अवज्ञा की धारणा में सविनय का अर्थ है विवेक, अनुशासन, विनम्रता तथा अहिंसा। सविनय अवज्ञा वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों प्रकार की हो सकती है। जनता का स्वतःप्रेरित कार्य ही सामूहिक अवज्ञा है। प्रारम्भ में जनता को सत्याग्रह का कठोर प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। धीरे-धीरे वह इस कला को सीख सकती है। गान्धीजी का कहना है कि पूर्ण सविनय अवज्ञा जिसके अन्तर्गत राज्य के प्रत्येक कानून का उल्लंघन किया जाता है, अत्यधिक शक्तिशाली आन्दोलन बन सकती है। वह 'सशस्त्र विद्रोह से भी अधिक खतरनाक' सिद्ध हो सकती है। जब निरपराध और निर्दोष जनता विशाल पैमाने पर स्वेच्छा से और बिना प्रतिशोध एवं प्रतिरोध के अन्याय तथा

25 वही, भाग 5, अध्याय 33, "A Himalayan Miscalculation".

अत्याचार को सह लेती है तो उससे जिस प्रचण्ड शक्ति का प्रादुर्भाव होता है उसकी सम्भावनाओं का अनुमान भी लगाना कठिन है। निरंकुश राज्य के कुकर्मों को लोकमत के समक्ष उघाड़कर रखने से बड़े से बड़े अत्याचारी शासन का अन्त निश्चित हो जाता है।

गान्धीजी को आत्मा की श्रेठता में विश्वास था। वे कभी ऐसे किसी कानून के सामने समर्पण करने की अनुमति नहीं दे सकते थे जो मनुष्य की नैतिक गरिमा के प्रतिकूल होता। आत्मा अथवा अन्त:करण की आवाज सर्वोपरि है। यदि राज्य के कानून तथा आदेश मनुष्य की उच्चतर कर्तव्य की भावना से टकराते हों तो उनका प्रतिरोध करना आवश्यक है। यह कहना सही नहीं है कि गान्धीजी लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत सत्याग्रह की अनुमति नहीं देते।[26] गान्धीजी को संसदीय लोकतन्त्र के रूपों से विशेष लगाव नहीं था। उनका दृष्टिकोण लॉक से भिन्न था। वे लॉक की भाँति संसद द्वारा व्यक्त बहुसंख्यकों की इच्छा की श्रेष्ठता को स्वयंसिद्ध नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में सत्य के नियमों के अनुसार जीवन बिताना आधारभूत समस्या थी। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में अनेक ऐसे अवसर आये जब गान्धीजी ने कहा कि यदि मैं अकेला रह गया तो भी अनुचित कानून अथवा व्यवस्था का विरोध करूँगा, क्योंकि "पाप से असहयोग करना पवित्र कर्तव्य है।" इस प्रकार सत्याग्रह की नैतिकता संख्यामूलक लोकतन्त्र की नैतिकता की पर्यायवाची नहीं है। सत्याग्रह का उसमें सम्मिलित होने वालों की संख्या से कोई सम्बन्ध नहीं है।[27] लोकतन्त्र हर प्रकार के आवेशों, पूर्वाग्रहों तथा तुच्छ विचारों और आकांक्षाओं से प्रभावित हो सकता है। किन्तु सत्य का पुजारी इन सब बातों को स्वीकार नहीं करेगा। उसे केवल चार-पाँच वर्ष में एक बार विधानांगों के सदस्यों में परिवर्तन करके सन्तोष नहीं हो सकता। वह लोकमत को बदलने का अवश्य प्रयत्न करेगा। गान्धीजी की शिक्षाओं के अनुसार सत्याग्रह वह शाश्वत कानून है जो आत्मा को अप्रिय लगने वाली हर वस्तु का विरोध करता है। सत्य तथा अन्त:करण का अनुयायी पूर्णत: अकेला होने पर भी प्रतिनिधि विधानांग के उन कानूनों का विरोध करेगा जो आत्मा के नियमों के विरुद्ध हैं। सच्चा सत्याग्रही सत्य की खातिर हर जोखिम उठाने के लिए तैयार रहेगा। गान्धीजी लिखते हैं : "फिर भी ऐसी आवाज आ सकती है जिसकी मनुष्य अवहेलना नहीं कर सकता, उसे कुछ भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि ऐसा समय भी आ सकता है जब मुझे राज्य के हर कानून की अवज्ञा करनी पड़े, चाहे उसके फलस्वरूप रक्तपात अवश्यम्भावी क्यों न हो जाय। यदि उस आवाज की अवहेलना करने का अर्थ ईश्वर को अस्वीकार करना हो तो सविनय अवज्ञा एक अपरिहार्य कर्तव्य हो जाता है।"[28]

गान्धीजी का सत्याग्रह सम्बन्धी दर्शन तथा समाजशास्त्र प्रतिरोध के सिद्धान्त का आध्यात्मीकृत रूप है। पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन में प्रतिरोध का समर्थन किया गया है। कुछ पाण्डित्यवादी दार्शनिकों ने राजहत्या का भी अनुमोदन किया। 'विंडकी कौंत्रा तिरानोस'[29] नामक ग्रन्थ में उन राजाओं का प्रतिरोध करने का समर्थन किया गया है जो प्रजा की अन्तरात्मा के विरुद्ध कार्य करते हैं। जॉन काल्विन ने निम्न श्रेणी के अधिकारियों को राजा का प्रतिरोध करने का अधिकार दिया। थूरो सविनय अवज्ञा का महान समर्थक था। स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में तिलक, अरविन्द तथा अतिवादी सम्प्रदाय ने निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन किया। कभी-कभी भ्रमवश मान लिया जाता है कि गान्धीजी का सत्याग्रह क्वेकर लोगों के निष्क्रिय प्रतिरोध का ही एक रूप था। किन्तु उन दोनों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर हैं। सर्वप्रथम, सत्याग्रह एक गतिमान शक्ति है क्योंकि उसमें अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के रूप में कर्म पर बल दिया गया है। निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु के विरुद्ध आन्तरिक हिंसा को अनुचित नहीं माना जाता, किन्तु सत्याग्रह में मन को निरन्तर शुद्ध करते रहना आवश्यक है। सत्याग्रह में आन्तरिक शुद्धता पर बल है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग केवल राजनीतिक स्तर पर किया जा सकता है। सत्याग्रह का प्रयोग हम पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक

---

26 देखिये के. जी. मशरूवाला, 'गान्धी-विचार-दोहन' (हिन्दी), पृष्ठ 70।
27 एम. के. गान्धी, *Satyagraha*, पृष्ठ 347।
28 *Young India*, अगस्त 4, 1921।
29 *Vindicae Contra Tyrannos.*

आदि सभी स्तरों पर कर सकते हैं। सत्याग्रह इस अर्थ में निष्क्रिय प्रतिरोध से श्रेष्ठ है कि उसमें आध्यात्मिक तथा नैतिक उद्देश्य को ही अन्तिम साध्य माना जाता है और सत्याग्रही की अन्तिम आशा तथा सान्त्वना ईश्वर ही है। गान्धीजी का सत्याग्रह 1906-1908 में प्रतिपादित निष्क्रिय प्रतिरोध से कहीं अधिक व्यापक है। तिलक और अरविन्द ने नैतिक आधार पर हिंसा का खण्डन नहीं किया। किन्तु गान्धीजी निरपेक्ष अहिंसा पर बल देते थे। 1906-1908 का निष्क्रिय प्रतिरोध केवल एक राजनीतिक कार्यप्रणाली था और उसका क्षेत्र सीमित था। कभी-कभी उसका अर्थ केवल स्वदेशी तथा वहिष्कार था और कभी-कभी उसका प्रसार करके अन्यायपूर्ण कानूनों तथा अध्यादेशों को भी उसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जाता था। गान्धीजी का सत्याग्रह जीवन तथा राजनीति का दर्शन है और उसके अन्तर्गत प्रचण्ड सामूहिक कार्यवाही के द्वारा निरंकुश सरकार की सम्पूर्ण व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने की कल्पना की जाती है।

यह सत्य है कि गान्धीजी तथा ब्रिटिश उदारवादियों के विचारों में कुछ साम्य है, विशेषकर इस रूप में कि राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों का दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण है। किन्तु दोनों विचारधाराएँ भिन्न परम्पराओं से उत्पन्न हुई हैं। राज्य का विरोध करने में गान्धीजी किसी भी ब्रिटिश उदारवादी से कहीं अधिक उग्र तथा कटु थे। ब्रिटिश उदारवादियों का बौद्धिक पोषण प्लेटो तथा अरस्तू की दार्शनिक परम्पराओं में हुआ था, इसलिए वे स्वभावतः राज्य के उतने कट्टर विरोधी नहीं हो सकते थे जितने कि गान्धीजी थे। गान्धीजी तत्वतः एक नैतिक सन्देशवाहक थे जिन्होंने शक्ति, वल तथा हिंसा के हर संगठित रूप के विरुद्ध प्रतिरोध की स्पष्ट घोषणा कर रखी थी। गान्धीजी पर एक ओर तो प्राचीन भारत के संन्यासियों तथा भिक्षुओं की परम्परागत व्यक्तिवादी भावना का प्रभाव देखने को मिलता है, और दूसरी ओर उन पर थूरो के व्यक्तिवाद और टॉल्सटॉय के राज्य-विरोधवाद का स्पष्ट प्रभाव है। गान्धीजी नैतिक अन्तःकरण के महान समर्थक थे। गान्धीजी और ग्रीन के विचारों में कुछ समानताएँ हैं। उदाहरण के लिए, दोनों ही एक आधारभूत आध्यात्मिक अनन्तता की सत्ता में विश्वास करते थे, दोनों ही मानव स्वभाव की पूर्णता को आवश्यक मानते थे और दोनों ही कुछ परिस्थितियों में राज्य के प्रति प्रतिरोध को उचित समझते थे। किन्तु इन समानताओं के बावजूद हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर की तथा असहयोग आन्दोलन (1920-22), नमक सत्याग्रह (1930-1931) और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के शक्तिशाली नेता की भावनाओं के बीच गम्भीर भेद है। यद्यपि ग्रीन ने इस बात का सीमित रूप में समर्थन किया कि न्यायसंगत प्रतिरोध व्यक्ति का अधिकार ही नहीं कर्तव्य है, फिर भी वह सुधारवादी ही बना रहा तथा पूँजीवाद और सम्पत्ति के असमान वितरण का समर्थन करता रहा, क्योंकि वह समझता कि मनुष्यों के व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकताएँ भिन्न प्रकार की हुआ करती हैं। इसके विपरीत गान्धीजी में विद्रोही की आत्मा थी, और जिसे वे सत्य का मार्ग समझते थे उस पर वे अकेले ही आगे बढ़ते गये।

गान्धीजी का आग्रह था कि राजनीति का आधार धर्म होना चाहिए। उन्होंने उपयोगिता के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया कि धर्म व्यक्ति का निजी मामला है और इसलिए उसकी राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। निजी जीवन तथा सार्वजनिक जीवन के बीच इस प्रकार का पृथकत्व गान्धीजी की मूल भावना के प्रतिकूल है। गान्धीजी के अनुसार मनुष्य के अन्तर्गत तथा बाह्य जीवन के बीच एकता होनी चाहिए। किन्तु यद्यपि गान्धीजी राजनीति के धार्मिक आधार को सुदृढ़ बनाना चाहते थे, फिर भी वे किसी समूह अथवा सम्प्रदाय विशेष अधिकार देना सहन नहीं कर सकते थे, और न वे किसी समूह के विरुद्ध भेदभाव का वर्ताव करने की अनुमति दे सकते थे। उन्होंने नैतिक धर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे इस बात के निश्चय ही विरुद्ध थे कि राज्य मनुष्यों को किसी पन्थ अथवा मतवाद का भक्त होने के लिए बाध्य करे और इस प्रकार उन्हें धार्मिक बनाने की चेष्टा करे। इसलिए वे चाहते थे कि "राज्य निश्चय ही धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए।"[30] उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में वल-प्रयोग के सिद्धान्त का स्पष्ट

30 *Harijan*, अगस्त 24, 1947। (इसके अतिरिक्त देखिये गान्धी द्वारा रचित *Sarvodaya*, पृष्ठ 4।)

रूप से खण्डन किया। यह विश्वास करना उचित है कि वे राज्य द्वारा संचालित अथवा सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं में सभी धर्मों में विद्यमान आधारभूत नैतिक उपदेशों की शिक्षा दिया जाना स्वीकार कर लेते।

गान्धीजी का राष्ट्रवाद के आदर्श के साथ गहरा अनुराग था। किन्तु वे अन्तरराष्ट्रवादी भी थे। उनका कहना था कि अन्तरराष्ट्रवाद के आदर्श को साकार करने से पहले उन देशों को अपने भविष्य का निर्णय करने के लिए राजनीतिक स्वाधीनता मिलनी चाहिए जो सामन्ती आधिपत्य और औपनिवेशिक पराधीनता के अन्तर्गत पड़े कष्ट भोग रहे हैं। वे राष्ट्रवाद को अन्तरराष्ट्रवाद की एक अवस्था मानते थे। उनका कहना था कि जो घटक अन्तरराष्ट्रीय संघ स्थापित करना चाहें वे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ऐसा करें, और इसका अर्थ है कि पहले उन्हें राष्ट्रीय प्रभुत्व उपलब्ध होना चाहिए। किन्तु उनके अनुसार राष्ट्रवाद राजनीतिक विकास की चरम अवस्था नहीं हो सकता। वह साध्य नहीं हैं, एक बीच की अवस्था है। मत्सीनी तथा अरविन्द की भाँति गान्धीजी ने स्वीकार किया कि राष्ट्रवाद अन्तरराष्ट्रवाद के मार्ग में एक आवश्यक कदम है। यद्यपि गान्धीजी विश्व संघ के आदर्श पर मुग्ध नहीं थे, फिर भी वे उसे स्वीकार करने के लिए तैयार थे; शर्त यह थी कि उनका निर्माण तत्वतः अहिंसा के आधार पर होना चाहिए। वे इस बात से सहमत थे कि जब तक अहिंसा में विश्वास राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में शक्तिशाली तत्व का काम नहीं करने लगता तब तक "व्यवस्था कायम रखने के लिए एक विश्व पुलिस दल की स्थापना की जा सकती है।"

7. स्वातन्त्र्य दर्शन

गान्धीजी नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के आदर्शों के गहरे भक्त थे ही, साथ ही साथ उनके हृदय से राजनीतिक स्वतन्त्रता की भी उत्कट कामना थी। उनके लिए स्वराज सत्य का ही अंग है, और सत्य ईश्वर है। इसलिए स्वतन्त्रता एक पवित्र वस्तु बन जाती है। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वातन्त्र्य अर्थात स्वराज तीव्र संघर्ष और कष्ट सहन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह सोचना निराधार है कि वह एक भेंट के रूप में मिल जायगा। गान्धीजी ने 'राज-भक्ति में हस्तक्षेप' नामक एक लेख लिखा, उसमें उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष भड़काना भारतवासियों का धर्म है। उन्होंने गहरी मनोवैज्ञानिक सूझ के साथ साम्राज्यवादी देशों को चेतावनी दी कि दूसरों पर आधिपत्य जमाये रखने से बड़े राष्ट्रों का नैतिक चरित्र जोखिम में पड़ जायगा। गान्धीजी ने तिलक द्वारा दिये गये इस मन्त्र को स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है। उन्होंने कहा, "मेरी निगाह में लोकमत की अवज्ञा करने वाला हर शासक विदेशी है।" उनका कहना था कि भारतवासी स्वतन्त्रता के हकदार इसलिए हैं कि उसके लिए उन्होंने अगणित कष्ट भोगे हैं। गान्धीजी के स्वराज का अर्थ था करोड़ों दलित तथा भूखों मरने वाले लोगों के हितों का समर्थन करना। उनका कहना था कि श्रमिक को हर लाभदायक काम के लिए समुचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए। किन्तु जब तक यह आदर्श पूरा न किया जा सके तब तक श्रमिक को इतना पारिश्रमिक अवश्य दिया जाय जिससे वह अपने तथा अपने परिवार के लिए भोजन और वस्त्र जुटा सके। सरकार का कर्तव्य है कि वह कम से कम इतना सबके लिए सुनिश्चित करे। "जो सरकार इतना भी नहीं कर सकती वह सरकार नहीं है। वह अराजकता है। ऐसे राज्य का शान्तिपूर्वक प्रतिरोध किया जाना चाहिए।"[31]

गान्धीजी ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अर्थ में भी स्वतन्त्रता का बलपूर्वक समर्थन किया। उन्होंने भारत को साम्राज्यवादी बन्धनों से मुक्त कराने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। उन्होंने कहा: "मैं यह कल्पना भी नहीं करता कि कोई राष्ट्र बाहर से थोपी गयी सरकार के द्वारा अपने को उचित ढंग से शासित कर सकता है; पुरानी कहानी का कौआ अपने सुन्दर साथी मोर के पंख लगाकर भी मोर की तरह चलने में असमर्थ रहा।" गान्धीजी ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया। उन्होंने घोषणा की: "नागरिक के शरीर को पवित्र मानना चाहिए। उसे केवल गिरफ्तार करने अथवा हिंसा को रोकने के लिए ही छुआ जा सकता है।"[32] उन्होंने वाणी तथा लेखनी की स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया। इस स्वतन्त्रता को वे स्वराज की

31 *Harijan*, जून 9, 1946।
32 *Young India*, अप्रैल 24, 1930।

नींव मानते थे। 1940 में जब भारत को उसकी इच्छा के विरुद्ध यूरोपीय युद्ध में झोंक दिया गया तो उन्होंने आग्रह किया कि युद्ध के दौरान भी वाणी की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

गान्धीजी ने यह सिद्धान्त कभी स्वीकार नहीं किया कि मनमानी करना अथवा उच्छृंखलता ही स्वतन्त्रता है। उनका कहना था कि समाज के लिए आत्मत्याग करना ही स्वतन्त्रता का फल है। उच्छृंखलता का अर्थ है अनन्य अधिकारों का उपभोग करने की इच्छा, चाहे उसके लिए हिंसा का ही सहारा क्यों न लेना पड़े। उनकी दृष्टि में नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं था कि मनुष्य अपने वैयक्तिक अहं के दावों को अहंकारपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न करे, बल्कि आध्यात्मिक सत्ता के साथ एकात्म्य स्थापित करना ही नैतिक स्वतन्त्रता है। दूसरे शब्दों में, परात्पर आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रियों और वासनाओं की भौतिक माँगों पर विजय प्राप्त करना ही स्वतन्त्रता है। इसलिए उन्होंने अपने आश्रम में महाव्रत (एकादश महती प्रतिज्ञाएँ) का कठोरता से पालन करने पर बल दिया। प्रतिज्ञाओं को नित्यप्रति दुहराना नैतिक संकल्प को दृढ़ करने का उपाय था। गान्धीजी के लिए स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु थी। वासनाओं की दासता से मुक्ति के रूप में नैतिक स्वतन्त्रता, विदेशी शासकों तथा शोषकों के बन्धनों से मुक्ति के रूप में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और मोक्ष तथा सत्य के साक्षात्कार के रूप में आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, ये सब स्वतन्त्रता के ही विभिन्न रूप थे। जिस व्यक्ति का जीवन इस विश्वास से ओतप्रोत था कि एक उच्च आध्यात्मिक सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, उसके लिए पाप, लोलुपता और दासता के साथ समझौता करना सर्वथा अनुचित था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धीजी का महान सन्देश यह था कि स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु है। पाश्चात्य मनोविज्ञान और दर्शन में स्वतन्त्रता के विभिन्न रूपों को पृथक करने की दोषपूर्ण परिपाटी प्रचलित है। इसीलिए पश्चिम में हमें ब्रह्माण्डीय आवश्यकता के विरुद्ध मानव आत्मा की तात्विक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त, इच्छा तथा कार्य की स्वतन्त्रता के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सत्ता के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए प्रचलित विवाद देखने को मिलते हैं। किन्तु गान्धीजी का दृष्टिकोण अविकलवादी था। उनके अनुसार स्वतन्त्रता विकास की एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य यह खोज करना है कि सामंजस्यपूर्ण नैतिक उद्देश्यों और कार्यों की समुचित व्यवस्था क्या हो सकती है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं से मुक्त हो जाता है वह यह सहन नहीं कर सकता कि उसके पड़ौसियों का सामाजिक तथा आर्थिक शोषण किया जाय, क्योंकि वह जानता है कि वे उसी की आत्मा हैं। गान्धीजी के अनुसार हर प्रकार का युद्ध अन्यायपूर्ण है, फिर भी स्वतन्त्रता की आकांक्षा रखने वाले को आक्रमणकारी तथा अपना बचाव करने वाले के बीच भेद करना चाहिए और बचाव करने वाले की यथासामर्थ्य नतिक सहायता करनी चाहिए। वे किसी विशेष समाज अथवा राष्ट्र के धार्मिक पंथों और रूढ़ियों के बन्धनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे; वे तो सम्पूर्ण मानव जाति का बल्कि सभी जीवित प्राणियों का भाई चारे की प्रेम भावना से आलिंगन करने के इच्छुक थे। गान्धीजी ने अपने जीवन में वेदान्त के इस सन्देश को प्रमाणित और साक्षात्कृत किया कि जिस व्यक्ति को परमतत्व की प्रत्यक्षानुभूति हो जाती है वह घृणा और दुःख से ही ऊपर नहीं उठ जाता, बल्कि वह प्राणियों को परस्पर पृथक करने वाले भेदभाव को भूल जाता है, और भौतिक जीवन की माँगों और कर्तव्यों के न्यायोचित निर्धारण की चेतना भी खो बैठता है। सर्वराज्यीय सार्वभौमवाद और भ्रातृत्व की भावना ने गान्धीजी के राजनीतिक दर्शन में ऐसा गहरा मानवीय पुट जोड़ दिया है जैसा हमें ग्रीन तथा वोसांक्वे के प्रत्ययवाद में भी उपलब्ध नहीं होता।

8. निष्कर्ष

गान्धीजी सन्त तथा नैतिक क्रान्तिकारी थे। उनका विश्वास था कि हिंसा सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक क्रान्ति में विघ्न डालती है। सत्याग्रह सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति ला सकता है। उन्होंने आधुनिक सभ्यता के नैतिक दिवालियापन को उघाड़कर रख दिया और मानव जीवन में नैतिक तत्व तथा नैतिक कसौटी को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उनका हार्दिक विश्वास था कि हिंसा मानव जाति को सत्यानाश के लिए गर्त में पटक देगी। उनका विचार था कि हमारी समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान सम्भव है ; यही नहीं, बल्कि वास्तविक समाधान का वही एकमात्र मार्ग है। गान्धीजी नैतिक यथार्थवादी थे। और यदा-कदा उनमें दिव्य सन्देशवाहक तथा गगनचारी रहस्यवादी

कसौटी बनाया। फिर भी गान्धीजी के विचारों में हमें स्पष्ट यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। वे गाँवों को भारतीय आर्थिक संगठन का केन्द्र मानते थे। उन्होंने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण, पूँजीवाद, नगरों की वृद्धि तथा श्रम बचाने वाले यन्त्रों का जो विरोध किया उसके मूल में खेतिहर मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया नहीं थी। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से यह देख लिया था कि भारत की जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ रही है और देश के साधन सीमित हैं, ऐसी स्थिति में देश की सम्पूर्ण मानव शक्ति को काम में जुटाने का एकमात्र उपाय ग्राम उद्यागों तथा खादी को बल देना है। गान्धीजी के आर्थिक सिद्धान्तों का उग्र रूप इससे भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने वकील, डाक्टर तथा सफाई मजदूर आदि सभी को समान मजदूरी देने के आदर्श का समर्थन किया। उन्होंने बढ़ती हुई बेकारी का कटु विरोध किया। वे इस बात के बड़े इच्छुक थे कि बढ़ती हुई विषमता तथा श्रेणी-विभाजन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर किया जाय, इसीलिए संरक्षता के पुरातन सिद्धान्त को उन्होंने अधिक व्यापक रूप में प्रयोग करने पर बल दिया। गान्धीजी ने इस विचार का भी प्रवर्तन किया कि यदि लोग संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) के सिद्धान्त को इच्छा से स्वीकार न करें तो राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का निर्माण हेगेल के द्वन्द्ववाद तथा यूनानी और फ्रांसीसी भौतिकवाद के आधार पर किया था। आधुनिक विज्ञान तथा दर्शन द्वन्द्ववाद को स्वीकार नहीं करते। सापेक्षता तथा क्वांटम यांत्रिकी के सिद्धान्त ने द्वन्द्ववादी हुए बिना भी वर्तमान युग की भौतिकी में क्रान्ति कर दी है। बर्गसाँ के प्राणवाद, एलेक्जांडर के निर्गत विकास के सिद्धान्त और ह्वाइटहैड के अवयवी दर्शन ने उन्नीसवीं शताब्दी के उस भौतिकवाद का खण्डन कर दिया है जिस पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आधारित था। इसके विपरीत गान्धीजी का दर्शन सत्ता की एकता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका बीज हमें यजुर्वेद में मिलता है। वेदान्ती दर्शन जो कि गान्धीवाद का आधार है, हमें सिखाता है कि शाश्वत सत्य और ज्ञान पर आधारित मूल्य सर्वोपरि है। मार्क्स तथा गान्धी दोनों ही आधुनिक इतिहास तथा चिन्तन के क्षेत्र के महारथी हैं। गान्धीजी दार्शनिक प्रत्ययवादी हैं और मार्क्स वैज्ञानिक भौतिकवादी। गान्धी को आस्था तथा आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास है; मार्क्स द्वन्द्वात्मक बुद्धिवादी है। गान्धीजी का मार्ग सत्याग्रह है, और मार्क्स क्रान्ति, बल्कि सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास करता है। गान्धीजी नैतिक निरपेक्षतावादी हैं। किन्तु इन आधारभूत भेदों के बावजूद दोनों में आश्चर्यजनक साम्य है। गान्धी तथा मार्क्स दोनों ही पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी थे। गान्धीजी की दृष्टि में पश्चिम साम्राज्यवाद का प्रतीक था, और मार्क्स उसे पूँजीवाद के समतुल्य मानता था। मार्क्स तथा गान्धी दोनों ने ही तुच्छ स्वार्थों से ऊपर उठने तथा शोषित मानव जाति के लिए स्वतन्त्रता और न्याय की स्थापना करने के महान आदर्शों का तत्वतः समर्थन किया।

गान्धीवाद कोरा राजनीतिक सिद्धान्त नहीं है, वह एक सन्देश भी है। वह एक जीवन दर्शन है। मानव जीवन में शक्ति ही मूल्यांकन की प्रधान कसौटी है, किन्तु गान्धीजी कष्ट-सहन के सिद्धान्त पर आधारित प्रेम को सर्वोपरि मानते हैं। गान्धीजी का स्वप्न अहिंसात्मक समाज है। ऐसा समाज तभी स्थापित हो सकता है जब हम पहले नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण अंगीकार करलें। गान्धीजी का दृष्टिकोण उन धर्मशास्त्रियों के मुकाबले में कहीं अधिक व्यापक है जो अपने-अपने सीमित पन्थों की सर्वोच्चता सिद्ध करने में संलग्न रहते हैं। उन्होंने शान्ति, नम्रता, सज्जनता, दान-शीलता तथा सब धर्मों के प्रति श्रद्धा पर अधिक बल दिया। उनकी शिक्षाओं की इस व्यापकता के कारण ही गान्धीवाद समाजवाद और लोकतन्त्र का नैतिक आधार बन जाता है। गान्धीजी ने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और सामाजिक न्याय का पाठ पढ़ाकर एशिया की युगों पुरानी बुद्धिमत्ता की सार्थकता सिद्ध कर दी है। यदि सभ्यता के सर्वनाश को रोकना है तो हमें उनकी शिक्षाओं की ओर ध्यान देना होगा। यह सत्य है कि 1946-47 में बंगाल, बिहार और पंजाब में भयंकर पैमाने पर जो साम्प्रदायिक संहार हुआ उसने सिद्ध कर दिया है कि भारत ने गान्धीजी की शिक्षाओं को हृदय से अंगीकार नहीं किया था। भारतवासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध का मार्ग इसलिए स्वीकार कर लिया था कि अंग्रेजों की शक्ति के सामने वे विवश थे। किन्तु उन्होंने वीर की अहिंसा को नहीं अपनाया था। बावजूद इसके कि भारतवासी गान्धीजी की शिक्षाओं का अनुकरण करने में असफल रहे, निराशा का कोई कारण नहीं है। गान्धीजी को मनुष्य की श्रेष्ठता में अजेय विश्वास था। सम्भवतः आवश्यकता के वशीभूत होकर मनुष्य सज्जन बनने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि सज्जनता का विकल्प तात्कालिक खतरा और सम्भाव्य विनाश है।

भाग 4

आधुनिक भारत में धर्म तथा राजनीति

15

हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद

प्रकरण 1

हिन्दू पुनरुत्थानवाद का राजनीतिक चिन्तन

भारत में उन्नीसवीं तथा वीसवीं शताब्दियों में पुरातन, देशज, धार्मिक संस्कृति तथा पश्चिम की नयी आक्रामक, वैज्ञानिक तथा वाणिज्यवादी सभ्यता के वीच जो संघर्ष हुआ उसने पुनरुत्थानवाद की तीव्र भावना को जन्म दिया।[1] वेद, उपनिषद, भगवद्गीता आदि प्राचीन धर्मग्रन्थों के अध्ययन पर वल दिया गया, और कभी-कभी यह भी विश्वास प्रकट किया गया कि प्राचीन भारत की आध्यात्मिक शिक्षाएँ ही विश्व को भौतिकवाद, शून्यवाद, निराशा तथा आत्मसंहार के दलदल से वचा सकती हैं।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद मुख्यतः दो रूपों में व्यक्त हुआ है। इसकी पहली अभिव्यक्ति यह थी कि देश में अनेक महान नेताओं, संस्थाओं, संगठनों और दलों का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द, मदनमोहन मालवीय, परमानन्द, सावरकर, मुंजे, हैडगेवार तथा श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने हिन्दू समाज के राजनीतिक तथा सामाजिक हितों का खुलकर समर्थन किया है। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, भारत धर्म महामण्डल[2], हिन्दू समा,[3] अखिल मारतीय शुद्धि समा[4] तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने हिन्दुत्व के आदर्शों तथा आधारों को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया है। हिन्दुओं को शारीरिक दृष्टि से सवल वनाने के लिए अनेक अखाड़ा दल खोले गये। आर्यसमाज का आर्य वीर दल है। इसी प्रकार अनेक ऐच्छिक संगठन तथा सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये जिनमें हिन्दुस्तान राष्ट्रीय रक्षा दल, नासिक में भोंसले सैनिक विद्यालय, हिन्दू राष्ट्र दल, नागपुर प्रान्तीय राइफिल संघ, बंगाल का हिन्दू शक्ति संघ तथा महाराष्ट्रीय सैनिकीकरण परिषद विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इन नेताओं तथा संगठनों के कार्यकलाप में मुख्य तत्व यह रहा है कि हिन्दुओं में शक्ति, गतिशीलता, सामाजिक एकता, तथा राष्ट्रीय उत्साह की भावना फूंकने का प्रयत्न किया है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद और दार्शनिक आदर्शवाद की अभिव्यक्ति का दूसरा रूप यह है कि देश में अनेक श्रद्धालु विद्वानों और आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने वहुत-से शोध-ग्रन्थों के द्वारा प्राचीन हिन्दुओं की उपलब्धियों में विश्वास दृढ़ किया है, और इस प्रकार उस जाति को वहुत कुछ सान्त्वना और आत्मविश्वास प्रदान किया है जो कुछ शताब्दियों से राजनीतिक दमन का शिकार रही है। इस प्रसंग में आर. जी. भण्डारकर, हरप्रसाद शास्त्री, पण्डित गुरुदत्त, व्रजेन्द्रनाथ शील, लेखराम, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, विनयकुमार सरकार, के. सी. भट्टाचार्य, स्वामी विशुद्धानन्द, प्रमथनाथ तर्कभूपण,

---

1 हिन्दू पुनरुत्थानवाद की भावना सवसे अधिक सनातन धर्म संगठनों में देखने को मिलती थी। 1886 में दीन दयालु शर्मा ने भारत धर्म महामण्डल की स्थापना की जिसने दो दशकों तक उपयोगी प्रचार कार्य किया। 'उन्होंने पंजाव सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा का भी संगठन किया। उसका मुख्य उद्देश्य आर्य समाज का विरोध करना था।

2 भारत धर्म महामण्डल की स्थापना 1902 में मथुरा में हुई थी। स्वामी दयानन्द इस संगठन के प्रमुख नेता थे। (ये दयानन्द महर्षि दयानन्द से भिन्न व्यक्ति थे।)

3 हिन्दू महासभा की स्थापना पंजाव में 1907 में की गयी थी। शताब्दी के तृतीय दशक में वह शक्तिशाली वन गयी।

4 शुद्धि आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पंजाव में प्रारम्भ किया गया।

विधुशेखर भट्टाचार्य, रमन महर्षि, नारायण स्वामी[5] और सर्वपल्ली राधाकृष्णन के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। अनेक लेखकों ने हिन्दुओं के दार्शनिक तथा राजनीतिक चिन्तन तथा पाश्चात्य राजनीतिक और तत्वशास्त्रीय सम्प्रदायों का तुलनात्मक अध्ययन किया है, और इस प्रकार प्राचीन हिन्दू चिन्तन की अद्‌भुत उपलब्धियों का महत्व सिद्ध करके हिन्दू जनता के बौद्धिक आत्मविश्वास को बल दिया है। हिन्दी, बंगला, मराठी तथा तमिल के कुछ लेखकों ने खुलकर हिन्दुओं की श्रेष्ठता का समर्थन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938), अयोध्यासिंह उपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरत्‌चन्द्र चटर्जी, सुब्रमण्य भारती तथा अन्य लेखकों ने अपनी रचनाओं के द्वारा अतीत की विरासत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है। तैलंग स्वामी, भास्करानन्द, विशुद्धानन्द परमहंस, श्यामाचरण लाहड़ी और भगवान प्रसाद 'रूपकला' आदि अनेक महान संन्यासियों, योगियों और सन्तों ने हिन्दू जीवन की पवित्रता पर बल दिया है। बाल शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री, गंगाधर शास्त्री आदि संस्कृत के अनेक आचार्यों ने संस्कृत पाण्डित्य की परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद के सब व्याख्याताओं के विचार तथा सिद्धान्त समान नहीं हैं। उदाहरण के लिए, हैडगेवार तथा के. सी. भट्टाचार्य और हैडगेवार तथा एस. एन. दास गुप्ता के विचारों में भारी अन्तर देखने को मिलता है। किन्तु मैंने उन सबका एक साथ उल्लेख इसलिए किया है कि उनके सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्तों तथा संगठन सम्बन्धी विचारों में अन्तर होने के बावजूद वे सब हिन्दू आध्यात्मवाद तथा नीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के व्याख्याता हैं। उदाहरण के लिए, उन सबको गीता में प्रतिपादित कर्मयोग के सिद्धान्त में विश्वास है। वे सब हिन्दुत्व के आध्यात्मिक विश्वदर्शन के परम मूल्य को स्वीकार करते हैं। उनमें से कोई भी आधुनिक समाजवादी सिद्धान्तों में आधार पर हिन्दू समाज-व्यवस्था में उग्र परिवर्तन करने के सुझाव नहीं देता। प्राचीन हिन्दुओं के आधारभूत आध्यात्मिक दर्शन के प्रति यह अनुरक्ति ही वास्तव में हिन्दू राष्ट्र के व्याख्याताओं तथा वेदान्त दर्शन के आधुनिक निर्वचनकर्ताओं के विचारों को समानता तथा एकता के लक्ष्य की ओर उन्मुख करती है। मुझे यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि मैंने श्रद्धानन्द, मालवीय, परमानन्द, सावरकर, हरदयाल, के. सी भट्टाचार्य, राधाकृष्णन, हैडगेवार और श्यामाप्रसाद मुकर्जी के राजनीतिक आदर्शों का एक साथ विवेचन इसलिए किया है कि वे हिन्दुओं के आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों की उपादेयता का समर्थन करने में एकमत हैं। लाला हरदयाल आदि कुछ ही इसके अपवाद हैं। किन्तु मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वे भारत में मुसलमानों की स्थिति के सम्बन्ध में एकमत हैं। हम कांट, फिख्टे, शीलिंग एवं हेगेल के विचारों की समीक्षा जर्मन प्रत्ययवाद के प्रकरण के अन्तर्गत साथ-साथ करते हैं, क्योंकि वे सभी आत्मा की सर्वोपरिता स्वीकार करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सब जर्मन समाज में यहूदियों की स्थिति के सम्बन्ध में एकमत हैं। इसलिए किसी आलोचक को यह देखकर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए कि मालवीय, राधाकृष्णन और हैडगेवार के विचारों की समीक्षा 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद' शीर्षक एक ही अध्याय के अन्तर्गत की गयी है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद के चार आधारभूत राजनीतिक विचार हैं :

(1) अतीत की भावना के लिए भावुकतापूर्ण उत्कण्ठा हिन्दू विचारधारा के व्याख्याताओं का प्रमुख सिद्धान्त है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की व्यक्तिवादी, आलोचनात्मक, बुद्धिवादी तथा भौतिकवादी प्रवृत्तियों के विपरीत हिन्दू पुनरुत्थानवादी परम्परागत, संघटनात्मक तथा साहचर्यमूलक दृष्टिकोण में विश्वास करते हैं।[6] वे प्राचीन धर्मग्रन्थों को पुनर्जीवित करना चाहते हैं और कभी-कभी उनकी शिक्षाओं की वैज्ञानिक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वे विज्ञान के विरुद्ध नहीं हैं।

---

5 नारायण स्वामी (1865-1948) आर्य समाज के एक महान नेता तथा बड़े विद्वान थे।

6 राम-राज्य परिषद, जिसकी स्थापना 1948 में हुई थी, सबसे अधिक परम्परावादी संस्था है। किन्तु इसका संसदीय प्रभाव कम हो गया है। 1957 के चुनाव में उसे लोकसभा में एक भी स्थान प्राप्त न हो सका। राज्य की विधान परिषदों में उसे बाईस स्थान मिल गये थे।

वे प्राकृतिक विज्ञानों का बीज पुराने धर्मशास्त्रों में ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रगति के विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु उनका विचार है कि वास्तविक राष्ट्रीय प्रगति धार्मिक शिक्षाओं का विरोध करके नहीं. अपितु उन शिक्षाओं का अधिक दृढ़ता से पालन करके ही उपलब्ध की जा सकती है। हिन्दू पुनरुत्थानवाद के कुछ राष्ट्रीय आलोचकों ने उसके व्याख्याताओं पर प्रतिक्रियावादी, पुरातनवादी, प्रगतिविरोधी, और परम्परावादी तथा सुधारविरोधी होने का आरोप लगाया है।

(2) हिन्दू पुनरुत्थानवादियों के राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की विशेषता उनका यह विश्वास है कि देश की राजनीतिक तथा आर्थिक नीति हिन्दू दर्शन के अनुकूल होनी चाहिए। जो अन्य सम्प्रदाय बहुसंख्यक समाज की विचारधारा को स्वीकार नहीं करते उन्हें अल्पसंख्यकों की प्रास्थिति (हैसियत) प्रदान की जानी चाहिए। किन्तु किसी वर्ग को अधिमान्यता अथवा अधिप्रतिनिधित्व न दिया जाय। इस प्रकार हिन्दू पुनरुत्थानवादियों की दृष्टि में राष्ट्रवाद हिन्दुत्व की सांस्कृतिक प्रमुखता को साकार बनाने का एक साधन है, इसलिए कभी-कभी वे अपनी राजनीति दर्शन को रामराज्य और धर्मराज्य की धाराओं में व्यक्त करते हैं।

(3) पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद का आर्थिक निहितार्थ अहस्तक्षेप का सिद्धान्त है। हिन्दू पुनरुत्थानवादी समाजवाद तथा साम्यवाद के सिद्धान्तों के विरोधी हैं। वे आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की धारणा का समर्थन नहीं करते। किन्तु वे एडम मुलर की भाँति इसमें पूर्ण विश्वास करते हैं कि राज्य को आर्थिक दृष्टि से सशक्त होना चाहिए। चूँकि हिन्दू पुनरुत्थानवादियों में सम्पत्ति के प्रश्न पर आलोचनात्मक तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाने की अनिच्छा दीख पड़ती है इसलिए कुछ राष्ट्रवादियों को उनकी यह भर्त्सना करने का अवसर मिल जाता है कि वे निहित आर्थिक स्वार्थों के समर्थक तथा प्रतिक्रियावादी हैं।[7] हिन्दू समाज विशाल तथा असंगठित है; उसके सदस्यों के आर्थिक स्तर परस्पर बहुत भिन्न हैं, इसलिए जो सम्पूर्ण हिन्दू समाज के हितों का समर्थन करता है वह सम्पत्ति के सम्बन्ध में उग्र दृष्टिकोण नहीं अपना सकता।

(4) समाजशास्त्र के क्षेत्र में हिन्दू पुनरुत्थानवादी हिन्दू धर्मशास्त्रों पर आधारित शुद्धीकृत जीवन-मूल्यों का समर्थन करते हैं। कुछ विचारकों ने स्वीकार किया है कि जाति-प्रथा के विनाशकारी परिणाम हुए हैं। किन्तु हिन्दू पुनरुत्थानवाद के व्याख्याताओं में ऐसा कोई नहीं है जो उग्र समानतावादी जातिविहीन समाज का समर्थन करे। आधुनिक भारत के राजनीतिक चिन्तन में लोकतांत्रिक प्रवृत्तियाँ निरन्तर बढ़ रही हैं। इस प्रसंग में श्रेणीमूलक असमानतावादी जाति-व्यवस्था तथा लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा की मानवतावादी नैतिकता के बीच जो उग्र तथा आधारभूत विरोध है, वह स्पष्ट हो जाता है।

प्रकरण 2
स्वामी श्रद्धानन्द

1. प्रस्तावना

स्वामी श्रद्धानन्द ने एक आर्यसमाजी के रूप में अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया था।[8] उनका जन्म संवत् 1913 (1856 ई.) में फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी के दिन जलन्धर जिले में हुआ था और 23 दिसम्बर, 1926 को उनकी गोली मारकर हत्या करदी गयी। वे अत्यधिक निष्ठावान, ईमानदार तथा भक्तिपरायण व्यक्ति थे; वे आर्यसमाज में एक ऐसा व्यक्तित्व लेकर आये जिसकी विशेषता थी निर्भीकता तथा शक्ति का एकनिष्ठ केन्द्रीकरण। वे स्पष्टवादी, उदार तथा सत्यपरायण थे। वे कष्ट-सहन तथा आत्मत्याग की भावना के मूर्तरूप थे। आर्यसमाज में वे तथाकथित महात्मा

---

7 किन्तु 1952 के आम चुनावों के अवसर पर अपनी चुनाव घोषणा में भारतीय जनसंघ ने भूमि को किसानों में बांटने तथा बिना मुआवजा दिये जमींदारी का उन्मूलन करने का समर्थन किया।

8 स्वामी श्रद्धानन्द, 'कल्याण मार्ग का पथिक' (स्वामीजी की हिन्दी में प्रकाशित आत्मकथा), वाराणसी, ज्ञानमण्डल प्रेस 1924; सत्यदेव विद्यालंकार, 'स्वामी श्रद्धानन्द' (विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1933); स्वामी श्रद्धानन्द, *Inside Congress* (स्वामीजी के अंग्रेजी साप्ताहिक *The Liberator* में अप्रेल 1926 से 28 अक्टूबर, 1926, तक प्रकाशित लेखों का संग्रह), बम्बई, फीनिक्स पब्लीकेशन, 1946।

गुट के साथ थे, इस गुट का दृष्टिकोण अधिक पुरातनवादी था और वह सुधारवादी 'सुसंस्कृत' मण्डली के विरुद्ध था। 1892 में पंजाब के आर्यसमाज में फूट पड़ गयी। 'सुसंस्कृत' दल पाश्चात्य शिक्षा का समर्थक था और भोजन के मामलों में अधिक स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। इस दल के प्रमुख नेता हंसराज तथा लाला सैनदास थे। 'महात्मा' मण्डली गुरुकुल शिक्षा की वैदिक व्यवस्था के पक्ष में थी, और कट्टर निरामिषभोजी थी। इसके नेता मुंशीराम थे जो बाद में श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए।

1902 में संन्यास ग्रहण करने से पहले मुंशीराम ने हरद्वार के निकट कांगड़ी में गुरुकुल नामक एक शिक्षा-संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा देना था। उन्होंने सोलह वर्ष तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा प्रधानाचार्य के रूप में कार्य किया। 13 अप्रैल, 1917 को महात्मा मुंशीराम ने संन्यास धारण कर लिया और अपना नाम श्रद्धानन्द रख लिया। तदुपरान्त उन्होंने समाज-सेवा का तथा आर्यसमाज की ओर से धार्मिक प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया। आगे चलकर उन्होंने विशाल पैमाने पर हिन्दू सभा का भी कार्य किया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में उन्हें ब्रिटिश शासकों के सदुद्देश्यों में विश्वास था। 1912 में जब लॉर्ड हार्डिंज ने दिल्ली में प्रवेश किया तो उस समय उनके कहने पर आर्य सार्वदेशिक सभा ने उसके स्वागत की व्यवस्था की। श्रद्धानन्दजी कांग्रेस के अधिवेशनों में भी सम्मिलित हुआ करते थे। 1907 की सूरत की फूट से उनको गहरा दु:ख हुआ। जब महात्मा गान्धी ने रौलट विधेयक के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया तो वे उसमें सम्मिलित हो गये। 30 मार्च, 1919 को उन्होंने एक ऐसा वीरता का कार्य किया जिससे देश आश्चर्यचकित रह गया। रौलट विधेयक के विरुद्ध प्रदर्शन करने वाले निःशस्त्र जुलूस पर गुरखा सैनिक गोलियों की बौछार करने के लिए उद्यत थे, उस समय श्रद्धानन्द ने उनके सामने अपना सीना खोल दिया। 4 अप्रैल, 1919 को उन्होंने दिल्ली की जामा मस्जिद में हिन्दू-मुसलिम एकता पर भाषण दिया और उस अवसर पर वैदिक मंत्रों के उद्धरण दिये।

1919 में श्रद्धानन्द ने अमृतसर कांग्रेस की स्वागत समिति के सभापति के रूप में हिन्दी में एक उत्प्रेरित भाषण दिया और इस बात पर आग्रह किया कि राजनीतिक कार्यवाही का आधार नैतिक होना चाहिए। उन्होंने देश की मुक्ति के लिए चारित्रिक पवित्रता को अत्यधिक आवश्यक बतलाया। उन्होंने हिन्दू समाज के दलित वर्गों के उद्धार का भी ओजस्वी समर्थन किया।

श्रद्धानन्द ने महात्मा गान्धी द्वारा प्रारम्भ किये गये असहयोग आन्दोलन का भी समर्थन किया। 25 सितम्बर, 1920 को उन्होंने पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा और उसमें असहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि असहयोग देश के जीवन और मरण का प्रश्न है। सितम्बर 1920 में उन्होंने दिल्ली में दलितोद्धार सभा की स्थापना की। 1922 में वे कांग्रेस से पृथक हो गये। उन्होंने लिखा था : "मेरा मत है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा को पूर्णतः त्याग दिया जाय; और यदि हम सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन को तुरन्त तथा इस शर्त पर आरम्भ नहीं कर सकते कि एक बार प्रारम्भ कर देने पर उसे कांग्रेस संगठन के बाहर होने वाली हिंसा के बहाने किसी भी स्थिति में बन्द नहीं किया जायगा तो हमें सामूहिक सविनय अवज्ञा का विचार ही छोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त मेरी धारणा है कि अपने रचनात्मक कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए कांग्रेसजनों को मौंटफर्ड सुधार योजना के अन्तर्गत खुलकर परिषदों में प्रवेश करना चाहिए, और मेरी राय में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं के लिए परिषदों में प्रवेश करने का एक अतिरिक्त कारण यह भी है कि इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री ने हमें जो चुनौती दी है हमें उसका उत्तर भी देना है—प्रधान मन्त्री ने कहा है कि 'बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होगा कि आगामी चुनाव में किस प्रकार के प्रतिनिधि चुने जाते हैं।' इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए मेरे लिए कांग्रेस की कार्यकारिणी में बना रहना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है। अतः मैं अपने 12 मार्च के त्यागपत्र को दुहराता हूँ और कांग्रेस के सभी पदों से पृथक होता हूँ।"[9]

---

9 श्रद्धानन्द का *The Liberator* में प्रकाशित 'Congress Enquiry Committee' नामक लेख, *Inside Congress*, पृष्ठ 193।

सितम्बर 1922 में श्रद्धानन्दजी को उनके उस भाषण के कारण कारागार में डाल दिया गया जो उन्होंने गुरु का बाग सत्याग्रह के अवसर पर अमृतसर में दिया था। चार महीने उपरान्त उन्हें मुक्त कर दिया गया।

उन्होंने शुद्धि तथा हिन्दू संगठन के लिए शक्तिशाली आन्दोलन आरम्भ कर दिया। शुद्धि आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पंजाब में आरम्भ किया गया था। लेखराम तथा श्रद्धानन्द 1896 से ही शुद्धि आन्दोलन में कार्य करते आये थे। 1913 में अखिल भारतीय शुद्धि सभा का वार्षिक सम्मेलन कराची में हुआ। मालावार में मोपलाओं द्वारा किये गये अत्याचारों के कारण हिन्दुओं में भारी घवड़ाहट थी। 13 फरवरी, 1923 को आगरा में हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना की गयी। दिल्ली में अखिल भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा का केन्द्रीय कार्यालय स्थापित किया गया। 'शुद्धि समाचार' नामक एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की गयी। श्रद्धानन्द शुद्धि आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्ता थे। वे संगठन के द्वारा निर्जीव हिन्दू समाज में नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्साह फूंक देना चाहते थे। वे कहा करते थे कि दलितोद्धार ईश्वर की सन्तानों के प्रति न्याय करने का नैतिक मार्ग है। इसलिए उनकी हिन्दू संगठन की योजना में दलितोद्धार के कार्य का प्रमुख स्थान था। स्वामीजी लगभग तीन वर्ष तक हिन्दू महासभा के उपाध्यक्ष रहे। 1923 में वाराणसी में हिन्दू महासभा का सम्मेलन उनके प्रयत्नों के कारण बहुत सफल रहा। 1926 में जब महासभा ने चुनाव के लिए अपने उम्मीदवारों को खड़ा करने का निर्णय किया तो स्वामीजी ने उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। वे इस पक्ष में नहीं थे कि मुसलमानों की साम्प्रदायिक राजनीति का मुकाबला करने के लिए हिन्दुओं को भी साम्प्रदायिक नीति का सहारा लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त महासभा के सनातनी नेता समाज-सुधार के काम में स्वामीजी का साथ देने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दू शुद्धि आन्दोलन के कारण मुसलमानों का धर्मान्ध वर्ग श्रद्धानन्द का शत्रु हो गया। परिणामस्वरूप रशीद नामक एक मुसलमान ने पिस्तौल से स्वामीजी के सीने में गोली मार दी, और वृद्ध श्रद्धानन्दजी का तत्काल प्राणान्त हो गया।

महात्मा गान्धी के शब्दों में श्रद्धानन्दजी वीरों के वीर थे।[10] वे निर्भीकता के मूर्तरूप और सत्य तथा न्याय के दुर्दमनीय सेनानी थे। वे शूरत्व का साक्षात अवतार थे। उनमें धर्मयोद्धा जैसा उत्साह तथा सन्देशवाहक जैसा आवेश देखने को मिलता था; उनका शारीरिक आकार अति विशाल था और उनमें निजी जोखिम उठाने की अपरिमित क्षमता थी। इस सबके कारण वे अद्भुत सम्मान और श्रद्धा के पात्र बन गये थे। रेम्जे मैकडोनल्ड इसलिंगटन आयोग का सदस्य बनकर आया था और 1913-14 में भारत में ही था। उसने 'डेली क्रौनिकल' में श्रद्धानन्द के सम्बन्ध में लिखा था: "एक विशाल तथा भव्य आकृति वाला व्यक्ति जिसकी चालढाल अत्यधिक तेजोमय और प्रभावकारी है, हमसे मिलने आता है। आधुनिक शैली का कोई चित्रकार ईसा का चित्र बनाने के लिए एक नमूने के रूप में उस व्यक्ति का स्वागत करेगा, और मध्ययुगीन रुचि के चित्रकार को उसमें सन्त पीटर की आकृति के दर्शन होंगे—यद्यपि वह मछुए (पीटर) से तनिक लम्बा और प्रभावशाली दीख पड़ता है।"

श्रद्धानन्द परम सत्यनिष्ठ ओजस्वी लेखक थे। उनकी 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक आत्मकथा हिन्दी गद्य का एक गौरवग्रन्थ है। उनकी कुछ अन्य रचनाएँ 'स्वामी श्रद्धानन्द के धर्मोपदेश' नाम से हिन्दी में तीन जिल्दों में प्रकाशित हो चुकी हैं। वे 'सद्धर्म प्रचारक' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका का सम्पादन किया करते थे। उसका प्रकाशन पहले उर्दू में और फिर हिन्दी में हुआ। उन्होंने हिन्दी साप्ताहिक 'श्रद्धा' की भी स्थापना की। 3 अप्रैल, 1923 को हिन्दी 'अर्जुन' तथा उर्दू 'तेज' की स्थापना हुई। इसका भी मुख्य श्रेय श्रद्धानन्दजी को ही था। उन्होंने हिन्दू संगठन के काम को बढ़ावा देने, हिन्दू समाज के दलित वर्गों का उद्धार करने तथा स्वराज के लिए एक नैतिक दर्शन प्रदान करने के उद्देश्य से 1 अप्रैल, 1926 को 'लिबरेटर' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक की भी स्थापना की।

---

10 *Young India*, जनवरी 13, 1927; और 'Shraddhanandji', *Young India*, दिसम्बर 30, 1926।

2. श्रद्धानन्द के राजनीतिक विचार

श्रद्धानन्द ने वेदों तथा गीता का गम्भीर अध्ययन किया था। इससे उनके मन में प्राचीन ऋषियों और द्दष्टाओं की प्रज्ञा के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न हो गयी थी। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता में उनका ज्वलन्त विश्वास था। दयानन्द की शिक्षाओं में उनकी हार्दिक निष्ठा थी।

स्वामीजी की राजनीति में गम्भीर रुचि थी, किन्तु उन्हें यह पसन्द नहीं था कि आर्य समाज को राजनीतिक संस्था कहा जाय अथवा उस पर राजनीतिक संस्था होने का आरोप लगाया जाय। 1907 में जब लाला लाजपत राय को निर्वासित किया गया था, तब से ब्रिटिश सरकार आर्य समाज को सन्देह की दृष्टि से देखती आयी थी। किन्तु रामदेव के साथ-साथ श्रद्धानन्द ने आर्य समाज के आलोचकों का तीव्र विरोध किया। उनका विश्वास था कि वैदिक ज्ञान के आधार पर एक पूर्ण समाज की स्थापना करना ही आर्य समाज का उद्देश्य है। उनका कहना था कि व्यक्तिगत रूप से आर्य समाजियों की राजनीतिक मामलों में रुचि हो सकती है और वे राजनीतिक कार्यकलाप में सम्मिलित भी हो सकते हैं, किन्तु एक संस्था के रूप में समाज सामाजिक-धार्मिक संगठन है न कि राजनीतिक।

विवेकानन्द और रामतीर्थ की भाँति श्रद्धानन्द भी नैतिकता को राष्ट्रवाद का आधार बनाना चाहते थे। अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने संस्कृत का एक श्लोक उद्धृत किया जिसमें क्रोध, पाप, लोभ तथा असत्य को प्रेम, सुकर्म, उदारता तथा सत्य के द्वारा जीतने का उपदेश दिया गया है। उन्होंने लिखा है : "मैं अहिंसा और सत्य का कठोरता से पालन करने का ही उपदेश नहीं दे रहा था, बल्कि यमों और नियमों में निर्धारित अन्य गुणों को ग्रहण करने की भी शिक्षा दिया करता था। मैंने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने पर सदैव जोर दिया, और मेरा विश्वास था कि वही सब गुणों का मूल है। मेरा विचार रहा है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही विश्व के वर्तमान संघर्षों का अन्त हो सकता है। जब मैंने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की तो समाचारपत्रों के द्वारा सत्याग्रहियों को सन्देश भिजवा दिया कि ब्रह्मचर्य का पालन करना सफलता की अपरिहार्य शर्त है।"[11] उन्होंने जनता को बारबार और आग्रहपूर्वक समझाया कि यदि देश को स्वराज के लिए तैयार करना है तो शारीरिक तथा नैतिक शक्ति का संरक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने लिखा था : "मैं सदैव कांग्रेस का एक साधारण सदस्य रहा हूं और प्रत्येक हिन्दू को सलाह देता आया हूँ कि वह उसका सदस्य बनकर उसमें सम्मिलित हो, और आज भी यही सलाह देता हूँ। इससे आगे जाने की मेरी कोई आकांक्षा नहीं है।........अपने पिछले छह वर्ष से अधिक के अनुभव से मुझे विश्वास हो गया है कि भविष्य में आने वाले वास्तविक स्वराज का परिपाचन करने के काम के लिए ईमानदार, निष्ठावान तथा ईश्वरभीरु व्यक्तियों को तैयार करना अधिक लाभदायक होगा, बजाय इसके कि मैं ऐसे तथाकथित स्वराज्य की मृगमरीचिका के पीछे दौड़कर अपना समय नष्ट करूँ जिसका अर्थ समझाने में गान्धीजी भी असमर्थ हैं, अन्य नेताओं का तो कहना ही क्या।"[12]

श्रद्धानन्द को सत्याग्रह की कार्यप्रणाली में विश्वास था। वे रौलट विधेयक के विरुद्ध सत्याग्रह में इसलिए सम्मिलित हुए थे कि वे उस विधेयक को मानव स्वतन्त्रता का अतिक्रमण मानते थे। यद्यपि भारतीय परिस्थितियों में सत्याग्रह को लागू करने के विषय में स्वामीजी का गान्धीजी से मतभेद था, फिर भी उन्होंने जनता को सत्याग्रह तथा असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी। उन्होंने लिखा था : "यद्यपि अहिंसात्मक असहयोग के ब्योरे की अनेक बातों में मेरा गान्धीजी से मतभेद है (मेरी राय में मन, वचन तथा कर्म की अहिंसा सम्पूर्ण आन्दोलन का सार है) और मैं उनकी इस बात के लिए कटु आलोचना करता हूँ कि वे हिन्दुओं के मूल धर्मग्रन्थों को पढ़े बिना ही हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों पर अपने व्यक्तिगत विचारों को अधिकारपूर्ण ढंग से व्यक्त करते हैं, फिर भी मैंने उनके साथ इसलिए काम किया है, कि मेरी राय में इस समय उनका आन्दोलन देश की मुक्ति का एकमात्र साधन है।"[13]

---

11 स्वामी श्रद्धानन्द, *Inside Congress*, पृष्ठ 94।
12 वही, पृष्ठ 197-98।
13 वही, पृष्ठ 156।

1922-23 में गान्धीजी के अनुयायियों तथा स्वराज पार्टी के नेताओं के बीच तीव्र विवाद चल रहा था। गान्धीजी के अनुयायी अपरिवर्तन के समर्थक थे, और स्वराज पार्टी परिषदों में प्रवेश करने के पक्ष में थी। श्रद्धानन्द ने इस विवाद में कोई भाग नहीं लिया। उनके राजनीतिक विचार उनके उस लिखित वक्तव्य से प्रकट होते हैं जो उन्होंने 14 अगस्त, 1922 को कांग्रेस सविनय अवज्ञा जाँच समिति के समक्ष दिया था : "........वे यह नहीं चाहते थे कि रचनात्मक कार्यक्रम को केवल इसलिए क्रियान्वित किया जाय कि उससे कांग्रेस को सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने में सहायता मिल सके। वे रचनात्मक कार्यक्रम को स्वतन्त्र रूप से क्रियान्वित करने के पक्ष में थे। उन्हें पूरा विश्वास था कि यदि कानूनों की सविनय अवज्ञा का आन्दोलन त्याग दिया जाय, और फिर भी रचनात्मक कार्यक्रम को विश्वास और उत्साह के साथ अमल में लाया जाय तो देश को स्वराज उपलब्ध हो सकता है।" हिन्दू-मुसलिम एकता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि ऊपर से देखने पर कोई झगड़ा नहीं प्रतीत होता किन्तु मैंने सभी प्रान्तों में देखा है कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही मन में एक दूसरे के बारे में गहरा सन्देह है। एक कारण यह जान पड़ता है कि मुसलमान और सिक्ख परस्पर संगठित हैं, इसके विपरीत हिन्दुओं का एक समाज के रूप में कोई संगठन नहीं है। उनके विचार में एक उपाय यह था कि हिन्दू नेता अपने समाज का संगठन करें और मुसलमान नेता कोरी खिलाफत पर जोर न देकर स्वराज की प्राप्ति को अधिक महत्व दें।........यदि सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया जाय तो वह एक साथ सभी प्रान्तों में आरम्भ किया जाय। किन्तु ऐसा करने से पहले कांग्रेस को इस बात की स्पष्ट रूप से घोषणा कर देनी चाहिए कि यदि कांग्रेस संगठन के बाहर किसी व्यक्ति अथवा समूह ने हिंसा की तो उसका उत्तरदायित्व कांग्रेस पर नहीं होगा। कांग्रेस को चाहिए कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को एक बार आरम्भ करके फिर किसी भी स्थिति में बन्द न करे।........सामान्य स्थिति का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने कहा कि असहयोग आन्दोलन ने राष्ट्र में आश्चर्यजनक चेतना जाग्रत कर दी है और डेढ़ वर्ष में आधी शताब्दी का काम पूरा कर दिया है।........बारदोली प्रस्ताव ने देश में व्याप्त उत्साह को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। दिल्ली प्रस्ताव सुषुप्त आत्मा को जाग्रत करने में असफल रहा है।........उनका सुझाव था कि यदि रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास उत्पन्न किया जा सके तो परिषदों के द्वार खटखटाने की कोई आवश्यकता नहीं और आन्दोलन इतना प्रभावकारी हो जायगा कि नौकरशाही शीघ्र ही घेरे में फँस जायगी और निर्णायक युद्ध आरम्भ हो जायगा।"[14]

स्वामीजी अपने इस विश्वास पर दृढ़ रहे कि सबसे बड़ी आवश्यकता देश का नैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान है। जनता को अनुशासन तथा रचनात्मक कार्य के द्वारा तैयार करना है। केवल आत्मसंयम के द्वारा देश की सेवा के लिए आवश्यक शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। उन्होंने लिखा था : "व्यक्तिगत रूप में मैं न तो परिषदों में प्रवेश करने के पक्ष में हूँ और न सविनय अवज्ञा प्रारम्भ करने की थोथी धमकी का समर्थन करता हूँ। मेरा यह विश्वास अडिग बना हुआ है कि स्वराज प्राप्त करने के लिए रचनात्मक कार्य ही शक्तिशाली अस्त्र है।"[15] रचनात्मक कार्य के सम्बन्ध में स्वामीजी का दृष्टिकोण व्यापक था। उन्होंने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए चार सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया :

"(1) हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों आदि को एक ही मंच पर एकत्र करके और एक संयुक्त पंचायत द्वारा उनके पारस्परिक मतभेद को निबटाकर भारत की एकता की स्थापना करना।

(2) देश में बनी हुई वस्तुओं को लोकप्रिय बनाना।

(3) हिन्दुस्तानी का राष्ट्रभाषा के रूप में प्रयोग आरम्भ करना।

(4) वर्तमान सरकारी विश्वविद्यालयी शिक्षा-प्रणाली से पृथक और स्वतन्त्र एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का विकास करना।"[16]

---

14 वही, पृष्ठ, 190-92।
15 वही, पृष्ठ 194।
16 वही, पृष्ठ 97। इस योजना की रूपरेखा श्रद्धानन्द ने उस त्यागपत्र में प्रस्तुत की था जो उन्होंने 2 मई को सत्याग्रह समिति से पृथक होने पर दिया था।

श्रद्धानन्द ने अराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाली पाश्चात्य शिक्षा की कटु आलोचना की थी। उनकी शिक्षा योजना में अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों को ही अपना जीवन ब्रह्मचर्य के वैदिक आदर्श के अनुसार ढालना पड़ता।

संन्यासी होने के नाते स्वामीजी को सब प्राणियों के कल्याण की कामना थी। अतः सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का समर्थन करना उनके लिए आवश्यक था। किन्तु समय की परिस्थितियों को देखते हुए उनका विचार था कि मातृभूमि के प्रति भक्ति सार्वभौम भ्रातृत्व की प्राप्ति की पहली आवश्यक शर्त है। उनका कहना था कि सुखवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के उमड़ते हुए ज्वार को रोकने के लिए भारत की आध्यात्मिक शक्ति को पुनर्जीवित करना आवश्यक है।[17]

3. निष्कर्ष

मालवीय तथा लाजपत राय की भाँति श्रद्धानन्द भी यह नहीं चाहते थे कि हिन्दुओं के उचित हितों को जोखिम में डाला जाय। वे निर्मल राष्ट्रवादी थे, किन्तु वे सबके लिए न्याय चाहते थे और मुसलमानों को अनुचित रूप से सन्तुष्ट करने के पक्ष में नहीं थे। वे किसी भी अर्थ में सम्प्रदायवादी नहीं थे। राष्ट्र के लिए उनकी सबसे बड़ी विरासत थी शिक्षा के वैदिक आदर्शों को पुनर्जीवित करना और हिन्दुओं की एकता के लिए प्रयत्न करना। उनके मन में देश में बसने वाले विभिन्न सम्प्रदायों के उचित सामाजिक तथा राजनीतिक हितों की वृद्धि के खिलाफ कोई दुर्भाव नहीं था।

'वैदिक स्वराज्य' का आदर्श श्रद्धानन्द की राजनीतिक शिक्षाओं का मुख्य तत्व था।[18] भारतीय परम्पराओं का अनुसरण करते हुए उन्होंने बतलाया कि आन्तरिक आत्मसंयम ही वास्तविक स्वराज्य है। इसी कारण वे वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम के पुनरुद्धार को राष्ट्रीय गरिमावर्धन की आधारशिला मानते थे। उनका कहना था कि संसार में अपने-अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जो तीव्र संघर्ष चल रहा है उसके स्थान पर स्वराज्य का आदर्श हमें अपने-अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना सिखाता है। श्रद्धानन्द तथा गान्धी दोनों ने ही अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों को अधिक महत्व दिया है। व्यक्तिगत चरित्र का शुद्धीकरण तथा दलित वर्गों का उद्धार भारत के लिए स्वराज्य का सार होगा।

प्रकरण 3
मदनमोहन मालवीय

1. प्रस्तावना

पण्डित मदनमोहन मालवीय (1861-1946) आधुनिक भारत की एक सर्वाधिक महत्वशाली विभूति थे। वे एक महान वक्ता थे और संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी तीनों ही भाषाओं में समान अधिकार के साथ बोल सकते थे। वे एक महान सामाजिक तथा राजनीतिक नेता थे। उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनके असाधारण व्यक्तित्व का आधुनिक भारत की राजनीति, समाज, शिक्षा तथा संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मदनमोहन मालवीय का जन्म 25 दिसम्बर, 1861 को हुआ था और 12 नवम्बर, 1946 को उनका देहावसान हुआ। 1884 में उन्होंने बी. ए. की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्षों तक उन्होंने 'हिन्दुस्तान' हिन्दी दैनिक का सम्पादन किया। कुछ समय तक वे 'द इण्डियन यूनियन' पत्र के भी सम्पादक रहे थे। उन्होंने 'अभ्युदय' नामक एक हिन्दी साप्ताहिक की भी स्थापना की थी। 1880 में मुख्यतः उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप इलाहाबाद में हिन्दू समाज नामक संस्था की स्थापना हुई। उनके राजनीतिक भाषणों में हमें आवेशशून्य तर्कणा तथा प्रतीति करने की अद्भुत शक्ति देखने को मिलती है। उन्होंने अपने आकर्षक व्यक्तित्व के द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। महात्मा गान्धी उन्हें अपना बड़ा भाई तथा भारतीय मुक्ति संग्राम में योग्य साथी और सहयोगी मानते थे तथा उसी रूप में उनका आदर करते

---

17 देखिये श्रद्धानन्द द्वारा मार्च 1920 में प्रकाशित 'श्रद्धा' नामक साप्ताहिक पत्र का अंक।

18 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस के बाद श्रद्धानन्द ने बम्बई, अमरावती, अकोला आदि स्थानों पर 'वैदिक स्वराज्य' पर व्याख्यान दिये।

थे। मालवीयजी के व्यक्तित्व में गहरी निष्ठा, आत्मत्याग तथा सरलता विद्यमान थी, जिसके कारण वे महान प्रेम तथा श्रद्धा के केन्द्र बन गये थे।

मालवीयजी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस[19] के सबसे प्रारम्भिक नेताओं में थे; उस संस्था के साथ उनका सम्बन्ध 1886 से ही चला आया था। सामान्यत: उनकी गणना फीरोजशाह और गोखले की मण्डली में की जाती थी, यद्यपि उन्हें तिलक के विचारों से भी सहानुभूति थी। वे 1909 में लाहौर तथा 1918 में दिल्ली कांग्रेस के सभापति चुने गये थे।

1902 में मालवीय प्रान्तीय विधान परिषद के सदस्य चुने गये। वहाँ उन्होंने वार्षिक वित्तीय विवरण, उत्पाद विधेयक तथा बुन्देलखण्ड भूमि स्वामित्व परिवर्तन विधेयक पर महत्वपूर्ण भाषण दिये। 1910 में वे साम्राज्यीय विधान परिषद (इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) के सदस्य चुने गये और 1920 तक उसके सदस्य बने रहे। उन्होंने गोखले के प्राथमिक शिक्षा विधेयक का उत्साह के साथ समर्थन किया। 1916 में उन्होंने 'उन्नीस के स्मृतिपत्र' पर हस्ताक्षर किये। 1924 में उन्होंने भारतीय विधान सभा में एक स्वतन्त्र कांग्रेसजन के रूप में प्रवेश किया। 1927 में वे विधान सभा के राष्ट्रीय दल (नेशलिस्ट पार्टी) के सभापति थे।

यद्यपि मालवीय परम्परावादी हिन्दू थे, फिर भी देश के औद्योगिक विकास में उनकी विशेष रुचि थी। वे उन नेताओं में से थे जिन्होंने 1905 में वाराणसी में भारतीय औद्योगिक सम्मेलन तथा संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक सम्मेलन का और 1907 में इलाहाबाद में संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक संघ की बैठक का आयोजन किया था। वे 1907 के नैनीताल सम्मेलन के सदस्य थे। उन्होंने प्रयाग शुगर कम्पनी प्रारम्भ करने में भी आंशिक योग दिया था।

1920 की कलकत्ता कांग्रेस में मालवीय ने विपिनचन्द्र पाल, एनी बेसेंट तथा चितरञ्जन दास के साथ मिलकर गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम का विरोध किया। 1921 में मालवीयजी बेसेंट तथा अन्य लोगों के साथ एक शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में वाइसराय से मिले और असहयोग आन्दोलन से उत्पन्न गड़बड़ी का अन्त करने के लिए बातचीत की। उनके कहने पर 10 जनवरी, 1922 को बम्बई में एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। 1930 में गान्धीजी द्वारा प्रारम्भ किये गये नमक सत्याग्रह के सम्बन्ध में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। 1931 में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए वे लन्दन गये। वे अप्रैल 1932 की दिल्ली कांग्रेस के मनोनीत सभापति थे, किन्तु दिल्ली में प्रवेश करते ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। 1932 में उन्होंने इलाहाबाद में अखिल भारतीय एकता सम्मेलन का सभापतित्व किया। 1934 में एम. एस. अणे के साथ मिलकर रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया। यद्यपि पूना समझौते के द्वारा उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया था, फिर भी उसने देश को अनेक साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों में विभक्त कर दिया, और हिन्दुओं के साथ भारी अन्याय किया। 1934 में कलकत्ता के कांग्रेस राष्ट्रीय दल के सम्मेलन में मालवीयजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि साम्प्रदायिक निर्णय ने लोकतान्त्रिक प्रगति के स्थान पर साम्प्रदायिक निरंकुशतन्त्र की स्थापना कर दी है।

मालवीयजी सनातन धर्म महासभा के, जिसकी बैठक जनवरी 1906 में इलाहाबाद में हुई थी, प्रमुख नेता थे। वे हिन्दू महासभा के प्रमुख नेताओं तथा संगठनकर्ताओं में थे। उन्होंने हिन्दुओं की एकता, सांस्कृतिक समुत्कर्ष, चारित्रिक शुद्धि तथा सहकारी कार्यकलाप पर बल दिया। उन्होंने उत्तर भारत में हिन्दू समाज की सुदृढ़ता तथा पुन: स्थापना के लिए भारी कार्य किया था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी अथक राष्ट्रीय सेवाओं का चिरस्थायी स्मारक है। उसके मूल में भी प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने की भावना विद्यमान थी।

2. मालवीयजी का इतिहास-दर्शन

मालवीयजी श्रद्धालु हिन्दू आस्तिक थे। उन पर भागवत के भक्तिमूलक आदर्श का गम्भीर

---

19 *Speeches and Writings of Pandit Madan Mohan Malaviya* (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, 1919): *The Hon. Pandit Madan Mohan Malaviya : His Life and Speeches*, द्वितीय संस्करण (मद्रास, गनेश एण्ड कम्पनी)।

प्रभाव पड़ा था। उनके धार्मिक दर्शन की प्रमुख धारणा 'ईश्वर की सर्वव्यापकता' थी।[20] वे श्रद्धालु वैष्णव थे और उन्हें ईश्वर के अवतार के सिद्धान्त में विश्वास था। वे कृष्ण के उपासक थे। वे इस धारणा को स्वीकार करते थे कि इतिहास दैवी शक्तियों के द्वारा शासित होता है। रानाडे, अरविन्द तथा गान्धीजी की भाँति मालवीयजी का विश्वास था कि इतिहास में ईश्वर सदैव न्याय, सत्य और नैतिकता के पक्ष में ही हस्तक्षेप करता है। उनकी धारणा थी कि प्रथम विश्वयुद्ध में ईश्वर का हाथ था और इसलिए मित्र राष्ट्रों की विजय हुई थी। 1918 की दिल्ली कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था : "ईश्वर का यह स्पष्ट उद्देश्य था कि विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों का नैतिक पुनर्जन्म हो। उसका उद्देश्य इस युद्ध के द्वारा केवल इस सिद्धान्त की स्थापना करना नहीं था कि न्याय ही शक्ति है, बल्कि वह यह भी चाहता था कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का अन्त हो और विश्व के युद्धरत राष्ट्र एक नैतिक व्यवस्था की स्थापना करें तथा ऐसा स्थायी प्रबन्ध करें जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि भविष्य में वे पारस्परिक व्यवहार में तथा शेष मानव परिवार के साथ वर्ताव में न्यायपूर्ण तथा सम्यक् आचरण करेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि युद्ध का तब तक अन्त न हो जब तक कि अमेरिका युद्ध में सम्मिलित न हो जाय और जब तक राष्ट्र उन शान्ति प्रस्तावों से सहमत न हो जायँ जो इस व्यवस्था का आधार बनने वाले थे। इसलिए जब वे इस पर राजी हो गये तभी निर्णायक घड़ी में ईश्वर ने अमेरिका को युद्ध में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया जिससे कि वह आकर मित्र राष्ट्रों की सहायता करे और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध पासा पलट दे।" कर्म का नियम क्रूर निश्चितता से कार्य करता है। कुछ मित्र राष्ट्रों ने भी समय-समय पर न्याय तथा शिष्टता के सिद्धान्तों का उल्लंघन किया था। उन्हें भी अपने कुकर्मों का फल भोगना पड़ा था। किन्तु अन्त में उनकी विजय हुई, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से उनका आचरण जर्मन लोगों के मुकाबले में अधिक न्यायसंगत था। इस प्रकार मालवीयजी का विश्वास था कि राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी नैतिक शासन का नियम काम करता है, और विजय न्याय तथा सत्य के पक्ष की ही होती है।

3. मालवीय के राजनीतिक विचार

विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति मालवीयजी को भी हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास था।[21] वे राष्ट्रवाद की किसी ऐसी धारणा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे जो हिन्दू धर्म के आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होती। किन्तु मालवीयजी का हृदय विशाल तथा उदार था, अली बन्धुओं तक ने उनकी राजनीतिक कार्यप्रणाली की उदारता को स्वीकार किया था। वे इस पक्ष में नहीं थे कि देश में हिन्दुओं का आधिपत्य हो। उनकी दृष्टि में सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद की आवश्यकता यह थी कि जनता के सभी वर्गों के कल्याण और हितों का सम्वर्धन किया जाय। वे कहा करते थे कि 'सब सम्प्रदायों के लोगों को एक महान राष्ट्र के रूप में संयुक्त करने के लिए' आवश्यक है कि देशभक्ति तथा भाईचारे की भावनाओं का परिवर्धन किया जाय।[22]

जीवन के प्रति मालवीयजी का दृष्टिकोण धार्मिक था।[23] उन्हें धर्म की जीवनदायिनी शक्तियों में हार्दिक विश्वास था। उनका कहना था कि धार्मिक नियमों, यमों और व्रतों का पालन करने से जो नैतिक प्रगति होती है वह भौतिक समृद्धि से अधिक सारयुक्त है। वे कर्तव्यपरायणता, भक्ति तथा समर्पण की धार्मिक भावनाओं को राष्ट्रीय महानता का साधन मानते थे। नैतिक मूल्यों की पवित्रता तथा आवश्यकता को उन्होंने गम्भीरता से हृदयंगम कर लिया था। वे महाभारत के इस उपदेश के अनुयायी थे कि स्थायी विजय धर्म के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देने का समर्थन किया।[24]

---

20 मदनमोहन मालवीय, *The Immanence of God* (गोरखपुर, गीता प्रेस, 1936)।

21 मालवीयजी का भारतीय सनातन धर्म सभा की स्थापना में हाथ था।

22 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 119।

23 वे महाभारत के इस उपदेश के अनुयायी थे—धर्मेण निधन श्रेय न जयः पापकर्मणः—लाहौर कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण, *Speeches and Writings*, पृष्ठ 101। उन्होंने इस श्लोक को भी उद्धृत किया—"अयुध्यमानस्य वधो निःशेषकरणं स्मृतम्।"

24 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 26-57 तथा 273-74।

मालवीय को स्वतन्त्रता तथा सांविधानिक कार्यप्रणाली में विश्वास था। उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया कि शिक्षित भारतवासियों द्वारा स्वराज्य की जो माँग की जा रही थी वह अंग्रेजी साहित्य तथा ब्रिटेन के लोकतांत्रिक दर्शन का प्रत्यक्ष परिणाम थी।[25] 1887 की कांग्रेस में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था : "जब हम यह माँग करते हैं कि राज्य की परिषदों में जनता के प्रतिनिधि जायँ तो हम केवल उसी चीज की माँग कर रहे हैं जिसे यूरोप ही नहीं, अपितु अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा लगभग सम्पूर्ण जगत ने एक स्वर से किसी देश के सुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक घोषित किया है; क्योंकि जहाँ जनता के प्रतिनिधियों को प्रशासन में भाग लेने दिया जाता है वहीं जनता की आवश्यकताओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं और शिकायतों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, सही ढंग से समझा और पूरा किया जा सकता है।" प्रशासकों के उद्देश्य कितने ही उदार एवं कल्याणकारी क्यों न हों फिर भी परिषदों में भारतीय प्रतिनिधियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। मालवीयजी अंग्रेज प्रशासकों को इस बात का स्मरण दिलाना चाहते थे कि वास्तव में उनके कर्तव्य और उद्देश्य का तकाजा क्या था। 1891 की कांग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने कहा था : "हम अंग्रेजों से जो कि हमारे बन्धु-बान्धव हैं यह अपील करते हैं कि वे इस देश के प्रशासन को बुद्धि, न्याय तथा सामान्य समझबूझ के अनुकूल बनायें, उन श्रेष्ठ सिद्धान्तों के अनुरूप ढालें जिन पर उन्हें सदैव गर्व रहा है और जिनके कारण वे संसार में इस उच्च स्थिति को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।" मालवीयजी ने 1919 में भारतीय विधान परिषद में रौलट विधेयक को पारित करने के विरुद्ध जो ऐतिहासिक भाषण दिया उससे स्पष्ट है कि वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उत्कट समर्थक और पोषक थे।

तिलक की भाँति मालवीय भी उस गम्भीर और व्यापक राजनीतिक हलचल से भलीभाँति अवगत थे जो रूस-जापान युद्ध के उपरान्त समस्त एशिया में उत्पन्न हो गयी थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर इस बात के लिए जोर डाला कि वह समय की गति को समझे और उससे सबक सीखे। उन्होंने कहा : "इस देश की सरकार तथा जनता दोनों का हित इसी में है कि सरकार इस बात को समझ ले कि समय बदल गया है और जनता के मन पर एक नयी भावना ने आधिपत्य जमा लिया है।....जापान ने, जो कुछ वर्ष पहले तक अनेक चीजों में भारत से भी अधिक पिछड़ा हुआ था, अब विश्व के राष्ट्रों के बीच प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। चीन भी अपना प्रमाद और निष्क्रियता त्याग कर उठ बैठा है। ईरान अपनी दीर्घ निद्रा से जाग गया है।....क्या भारतवासियों के लिए उन अधिकारों और शक्तियों की माँग करना पाप है जिनका उपभोग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में बसने वाले हमारे साथी प्रजाजन कर रहे हैं ? यदि यह पाप नहीं है तो क्या इसकी कल्पना की जा सकती है कि उनकी आकांक्षाएँ उनकी युक्तिसंगत माँगों को उदारतापूर्वक स्वीकार किये बिना सन्तुष्ट की जा सकेंगी ?"[26] गलतफहमी से बचने और उभड़ते हुए लोकमत को सही दिशा में मोड़ने के लिए आवश्यक है कि वाइसराय तथा गवर्नरों की परिषदों में भारतीय प्रतिनिधियों को समुचित स्थान दिया जाय। भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा करना दो कारणों से अनिवार्य है। प्रथम, रानी विक्टोरिया की घोषणा में इन अधिकारों का वचन दिया गया था। द्वितीय, भारतवासी इस 'धरती की सन्तान होने के नाते' इन अधिकारों के हकदार हैं। 1907-1910 में मालवीयजी दादाभाई नौरोजी से इस बात में सहमत थे कि स्वराज्य ही उन बुराइयों को दूर करने का मुख्य उपाय है जिनके शिकार भारतवासी दीर्घकाल से बने हुए हैं।

मालवीयजी ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया।[27] 1906 में कलकत्ता में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था : "मैं इसको (स्वदेशी को) अपने देशवासियों के प्रति अपने धार्मिक कर्तव्य का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इसे मानव जाति का धर्म और हम सबका विशिष्ट धर्म मानता हूँ; मानव जाति के धर्म की माँग है कि आप यथासामर्थ्य स्वदेशी आन्दोलन को बढ़ावा दें। अपने किसी

---

25 लाहौर कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण (1909)।
26 *Life and Speeches*, पृष्ठ 107।
27 मालवीयजी ने कुछ उद्योगों को संरक्षण देने का समर्थन किया। अपने मत की पुष्टि करने के लिए उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल, बिस्मार्क तथा रूस के वित्तमन्त्री काउंट डेविट को उद्धृत किया। देखिये *Life and Speeches*, पृष्ठ 414-25।

देशवासी द्वारा निर्मित वस्त्र को खरीदने में मुझे ऐसा लगा है और अभी भी लग रहा है कि मैं उसे जीवित रहने के लिए कम से कम एक कौर भोजन प्राप्त करने में सहायता दे रहा हूँ। हो सकता है कि सूत किसी बाहरी देश से आया हो किन्तु उसमें उसने अपना जो श्रम लगाया है उससे उसे लाभ का आधा, तिहाई अथवा कोई अंश अवश्य मिल जायगा जिससे वह अपना और अपने आश्रितों का पेट भर सकेगा। जब आप देख रहे हैं कि आपके आसपास लोग इतना कष्ट भोग रहे हैं, देश का धन भारी राशि में बाहर जा रहा है, लोगों की आय इतनी कम और साधन इतने अल्प हैं, तो मैं कहूँगा कि प्रत्येक उदार भावनाओं वाले व्यक्ति का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वह जहाँ कहीं भी देश में निर्मित वस्तुएँ मिल सकें उन्हें विदेशी चीजों की तुलना में तरजीह देकर भारतीय उत्पादन को बढ़ावा दे, चाहे ऐसा करने में उसे कुछ त्याग भी करना पड़े।"[28] मालवीयजी का कहना था कि स्वदेशी आन्दोलन को बल प्रदान करना भारतवासियों का धार्मिक कर्तव्य है। चूँकि इंगलैण्ड ने मुक्त व्यापार के सिद्धान्त को अंगीकार कर लिया है इसलिए उसे भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के लिए राजी नहीं किया जा सकता। स्वदेशी ही देश के आर्थिक संकटों के निवारण का एकमात्र साधन है। इसके मूल में दुर्भावना अथवा घृणा नहीं है और न इसमें किसी प्रकार का राजनीतिक विद्वेष है। देश की दरिद्रता को कम करने तथा देशवासियों को रोजगार और भोजन देने के लिए स्वदेशी को अंगीकार करना भारतवासियों का धार्मिक कर्तव्य है।

मालवीय ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए एक व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि देश के नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक साधनों का परिवर्धन करने के लिए राजनीतिक सुधारों के आन्दोलन के अतिरिक्त लोगों में लोक-कल्याण और लोक-सेवा की भावना उत्पन्न करना भी नितान्त आवश्यक है। उनका विचार था कि देश के विकास के लिए शैक्षिक तथा औद्योगिक कार्य-कलाप भी जरूरी हैं।[29] उन्होंने औद्योगिक आयोग (1916-18) के लिए जो स्मरणपत्र तैयार किया था उसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि देश में यथोचित आधार पर उद्योगों का विकास किया जाय। उनका विश्वास था कि उद्योगों के लिए आवश्यक पूँजी प्रयत्न करने पर देश में ही एकत्र की जा सकती है। मालवीयजी ने शारीरिक विकास के कार्यों पर भी बल दिया। वे चाहते थे कि देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण और प्रगति के लिए धार्मिक उत्साह और समर्पण की भावना से काम करना आवश्यक है। गुरु गोविन्दसिंह ने जिस भक्ति-भावना से अपना काम किया और अपने अनुयायियों के साथ समानता का जो व्यवहार किया उससे मालवीयजी बहुत प्रभावित थे।[30] 1908 में लखनऊ में हुए द्वितीय उत्तर प्रदेशीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था : "मैं आपसे हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसे संगठनों का निर्माण करें जो वर्ष भर राजनीतिक कार्य चलाते रहें और सार्वजनिक हित की समस्याओं पर लोकमत को शिक्षित करने का प्रयत्न करते रहें। आप सफाई, शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के लिए संगठन बनायें और ऐसी संस्थाओं का निर्माण करें जो सहकारी आन्दोलन, पंचनिर्णय और शारीरिक शिक्षा को प्रोत्साहन दें। अन्त में, मैं आपसे यह स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूँ कि जनता को वास्तविक सुख केवल भौतिक लाभों से ही प्राप्त नहीं हो सकता, और वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्त करने योग हैं, मनुष्य के प्रति उन शाश्वत कर्तव्यों का पालन करके उपलब्ध किये जा सकते हैं जो धर्म ने हमारे लिए निर्धारित किये हैं। यदि हम धार्मिक कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते तो हम जो भी काम करेंगे उसमें हमारी रुचि स्थायी नहीं होगी।"[31] मालवीयजी ने प्राविधिक शिक्षा को भी अत्यावश्यक बतलाया।

मालवीयजी को ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास था और इसी आधार पर उन्होंने आग्रह किया कि भारत में सर्वत्र स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाना

---

28 *Life and Speeches*, पृष्ठ 414-50।

29 देखिये, भारतीय औद्योगिक आयोग (होलैण्ड आयोग, 1911) की रिपोर्ट पर मालवीयजी की टिप्पणी, (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, 1918), पृष्ठ 369-493।

30 *Life and Speeches*, पृष्ठ 621-23।

31 वही, पृष्ठ 148-49।

चाहिए। 1918 में दिल्ली कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था : "मेरा निवेदन है कि आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इस बात की माँग करने का संकल्प करलें कि अपने देश में आपको भी अपने विकास की वे ही सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए जो इंगलैण्ड में अंग्रेजों को मिली हुई हैं। यदि आप इतना संकल्प करलें और अपनी जनता में स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को फैलाने का प्रयत्न करें तथा हर भाई को, चाहे उसकी स्थिति कितनी ही अकिंचन और निम्न क्यों न हो, यह अनुभव करने दें कि उसमें भी वही ईश्वरीय प्रकाश की किरण विद्यमान है जो उच्च से उच्च स्थिति के व्यक्ति में विराजमान है और यदि आप हर भाई को इस बात की अनुभूति करादें कि उसे भी अपने साथी प्रजाजनों के समान ही व्यवहार पाने का अधिकार है तो निश्चय समझिए कि आपने अपने भविष्य का निर्णय स्वयं कर लिया है, और जिनके हाथों में आज देश की शक्ति है वे आपकी उचित माँगों का विरोध करने में कभी सफल नहीं होंगे।"

मालवीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मानते थे। 1918 की दिल्ली कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने यह आशा व्यक्त की थी कि आत्मनिर्णय का सिद्धान्त भारत के लिए भी लागू किया जायगा। उन्होंने कहा : "हमें यह जानकर प्रसन्नता है कि इंगलैण्ड और फ्रान्स की सरकारों ने सीरिया तथा मेसोपोटामियाँ के सम्बन्ध में इन सिद्धान्तों को लागू करना स्वीकार कर लिया है। इससे हमारी यह आशा दृढ़ हो गयी है कि इन्हें भारत के····लिए भी लागू किया जायगा। जब मैं इस नगर में, जो हिन्दू तथा मुसलिम दोनों ही युगों में भारत की राजधानी रहा था, खड़ा होकर सोचता हूँ तो मेरा हृदय अकथनीय दुःख और लज्जा से भर जाता है। हिन्दुओं ने लगभग चार हजार वर्ष तक इस विशाल साम्राज्य पर शासन किया था और मुसलमान भी कई सौ वर्ष तक शासन करते रहे। किन्तु उनकी सन्तान हम अपनी प्राचीन स्थिति से इतने गिर गये हैं कि हमें अपनी सीमित स्वराज की योग्यता को सिद्ध करने के लिए भी विवाद करना पड़ रहा है। किन्तु इस समय जिन लोगों के हाथों में देश के शासन की बागडोर है वे इतने अविज्ञ हैं कि यदि मेरे पास समय होता तो मैं अवश्य ही बतलाता कि अंग्रेजों के आने से पहले हमारे लोगों में—हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में—कितनी क्षमता थी।" मालवीयजी का आग्रह था कि हमें हमारा 'स्वराज का जन्मसिद्ध अधिकार' आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू करके तुरन्त ही प्रदान किया जाय। उनका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की न्यायोचित व्यवस्था को कायम रखने का यही एकमात्र उपाय है। भारत को अधिकार है कि वह बिना किसी बाहरी दबाव अथवा हस्तक्षेप के अपने राजनीतिक जीवन को अपनी इच्छानुसार चलाये। तभी वह अपनी 'ईश्वर-प्रदत्त प्रकृति' को साक्षात्कृत कर सकता है और अपनी होतव्यता को ढाल सकता है। उसके पुत्रों ने पिछले युद्ध में न्याय तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया था। इन सब तर्कों से भारत की इस न्यायोचित माँग की पुष्टि होती है कि उसके राजनीतिक भाग्य का निर्णय करने के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को तुरन्त कार्यान्वित किया जाय।

मालवीय उग्र लोकतन्त्रवादी नहीं थे। वे यह नहीं चाहते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में जनता सामूहिक रूप से उमड़ पड़े। अपने लाहौर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने धर्म तथा अहिंसा की धारणाओं के आधार पर आतंकवादियों तथा हिंसात्मक क्रान्तिकारियों की भर्त्सना की। उनकी भावना मौन्तेस्क्यू और जैफर्सन के सदृश थी; वे उन उग्र और क्रान्तिकारी विचारकों से सहमत नहीं थे जो चाहते थे कि जनता को व्यापक रूप से राजनीति में भाग लेना चाहिए।

मालवीय को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उन वर्गों से सहानुभूति नहीं थी जो समाजवाद की ओर उन्मुख थे। उनका सम्बन्ध उस गुट से था जो आर्थिक मामलों में कार्य-विभाजन के सिद्धान्त को मानकर चलता था। वे हिन्दू समाज की आर्थिक तथा सामाजिक श्रेणियों को थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ बनाये रखने के पक्ष में थे।

4. निष्कर्ष

पण्डित मालवीय अपने समय के एक प्रतिष्ठित सार्वजनिक नेता थे।[32] वे बुद्धिमान राज-

---

32 लाला लाजपत राय ने 26 जुलाई, 1925 को *The People* में प्रकाशित अपने 'My Political Creed'

नीतिज्ञ तथा प्रकाण्ड विद्वान थे। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक भारत की महानता के संवर्धन के लिए अथक परिश्रम करते रहे। उन्हें हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति के शाश्वत मूल्यों में विश्वास था, और उनका यह विश्वास ही उनके जीवन तथा कार्य-पद्धति का मुख्य आधार था। वे ईश्वर-भीरु थे और धर्म के प्रति उनके मन में जन्मजात प्रेम था। किन्तु सांस्कृतिक पुरातनवाद के साथ-साथ उनका हृदय बहुत उदार था, और अपने विरोधियों का प्रेम तथा श्रद्धा प्राप्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में, प्रान्तीय सम्मेलनों में तथा उत्तरप्रदेशीय विधान परिषद और साम्राज्यीय विधान परिषद में उनकी भूमिका बहुत ही प्रभावशाली थी। जब भारतीय राजनीति में गान्धीजी की सत्याग्रह-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ तो समय की महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मालवीयजी का सम्पर्क टूट गया। फिर भी वे मध्यस्थ का कार्य करते रहे। उन्हें न तो कांग्रेस की बढ़ती हुई उग्र भावना से सहानुभूति थी और न उसकी मुसलमानों के प्रति रिआयत की नीति से। उनके प्रसिद्ध सार्वजनिक वक्तव्यों में 1946 का वह वक्तव्य अन्तिम था जिसमें उन्होंने हिन्दुओं को देश की भयंकर रूप से विक्षुब्ध साम्प्रदायिक स्थिति में एक होने के लिए ललकारा था।

भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में मालवीयजी का मुख्य योगदान उनका व्यापक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त है। स्टाइन, हार्डेनबुर्ग, गेटे और फिख्टे की भाँति मालवीयजी भी संस्कृति को राष्ट्रवाद का आधार मानते थे। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए उनके मन में गहरी श्रद्धा थी; साथ ही साथ उन्हें देश की भावी प्रगति और सृजनात्मक शक्तियों में भी विश्वास था। वे शुद्ध भौतिकवादी अथवा ऐहिकवादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं कर सकते थे। वे हिन्दू संस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मानते थे, किन्तु साथ ही साथ वे देश के अन्य सम्प्रदायों के प्रति निरपेक्षतः उदार तथा न्यायोचित व्यवहार करने के पक्ष में थे।

प्रकरण 4

भाई परमानन्द

भाई परमानन्द पंजाब के निवासी थे। उन्होंने लाहौर के डी. ए. वी. कॉलिज में अध्यापन कार्य किया और लाला हंसराज के आदर्शवाद से उन्हें गहरी प्रेरणा मिली।[33] वे धार्मिक उपदेश देने के उद्देश्य से दक्षिण अफ्रीका गये थे, वहीं उनकी गान्धीजी से भेंट हुई। उन दिनों का उल्लेख करते हुए गान्धीजी ने 'यंग इण्डिया' में लिखा था : "मेरे मन पर इस बात की गहरी छाप पड़ी कि वह एक सत्यपरायण तथा उदात्त व्यक्ति हैं।"[34] दक्षिण अफ्रीका से भाई परमानन्द इंगलैण्ड गये। वहाँ उनका श्यामजी कृष्ण वर्मा से सम्पर्क हुआ जो उस समय यूरोप में भारतीय क्रान्तिकारियों के नेता तथा पथप्रदर्शक थे; और वर्माजी का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू में कुछ पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने एक यूरोप का इतिहास भी लिखा। 1915 में उन्हें निर्वासित करके अंडमन भेज दिया गया; 1920 में दो मास की भूख हड़ताल के उपरान्त उन्हें मुक्त कर दिया गया।[35] स्वदेश लौटने पर वे हिन्दू महासभा में सम्मिलित हो गये। वे कुछ समय तक भारतीय विधान सभा के सदस्य भी रहे।

परमानन्द अच्छे वक्ता थे। अपने भाषणों में वे सदैव हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता की चर्चा किया करते थे। उन्होंने लिखा था : "हिन्दू भूमण्डल का सबसे पुराना राष्ट्र है। उनके धर्मग्रन्थ विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र प्राचीन हिन्दुओं अथवा आर्यों के ही वंशज हैं। प्राचीन काल के सभी बड़े राष्ट्र अपनी सभ्यता तथा विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र को खो बैठे हैं।.... किन्तु विश्व के प्रारम्भ से हमारा ही राष्ट्र केवल ऐसा है जो इस विषय में अपवाद सिद्ध हुआ है,

---

नामक लेख में लिखा था : "मेरे लिए देश में महात्मा गान्धी तथा मालवीयजी दो महानतम विभूतियाँ हैं। मैं उनसे जितना प्रेम और उनकी जितनी श्रद्धा करता हूँ उतनी निजी अथवा सार्वजनिक जीवन में किसी की नहीं करता।"

33 लाला हंसराज (19 अप्रेल, 1864—15 नवम्बर, 1933) आर्य समाज में कालिज शिक्षा के महान् समर्थक थे। वे पंजाब के सामाजिक नेता भी थे।

34 एम. के. गान्धी, 'Bhai Paramananda', *Young India*, नवम्बर 19, 1919।

35 भाई परमानन्द, *Story of My Life.*

क्योंकि वह अब भी जीवित है।····निःसन्देह किसी रहस्यमयी शक्ति ने अथवा किसी अन्य वस्तु ने हमें नष्ट होने से बचा लिया है।····यातनाएँ, सामूहिक हत्याएँ, भयंकर नरसंहार तथा रक्तपात, भयावह युद्ध—हमने क्या-क्या सहन नहीं किया है ? और फिर भी हम जीवित हैं।"[36]

परमानन्द हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उनका कहना था कि बहुसंख्यक होने के नाते हिन्दुओं का कर्तव्य है कि वे अपने को सामाजिक तथा नैतिक बुराइयों से मुक्त करें और स्वराज प्राप्त करने में जो कष्ट और यातनाएँ सामने आयें उनके मुख्य आघात को स्वयं अपने ऊपर लें। उन्होंने हिन्दुओं की अतिशय व्यक्तिवादी भावना की भर्त्सना की क्योंकि उससे तुच्छ और अहकार-मूलक प्रतिस्पर्धाओं का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने बतलाया कि समय की अत्यावश्यक माँग यह है कि हम संघ और संगठन की भावना का विकास करें। वे हिन्दुओं की एकता के कार्य को संकीर्ण साम्प्रदायिकता मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने लिखा था : "जो भावना किसी राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने का काम करती है वह उसका विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र है। किन्तु हमारे सामने प्रश्न बहुत ही भिन्न है। यदि राष्ट्रवाद की भावना है ही नहीं अथवा मर चुकी है तो उसे उत्पन्न कैसे किया जाय ?········इसके अतिरिक्त आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही प्रकार की कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं जो इस भावना के विकास में बाधा डालती हैं और उसे जाग्रत नहीं होने देतीं। सामान्यतः यह बात उन राष्ट्रों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है जो अपनी स्वाधीनता को खो बैठते हैं।····लोगों को सलाह दी जाती है कि वे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति का व्यवहार करें, किन्तु सब निरर्थक सिद्ध होता है। इसके विपरीत सर्वत्र मनुष्य को मनुष्य से और पार्टी को पार्टी से पृथक करने वाली पारस्परिक ईर्ष्या और विद्वेष के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। राजनीति का एक गम्भीर सत्य है, जिसे लोग प्रारम्भ में समझ नहीं पाते, और न उसका सही मूल्यांकन कर पाते हैं। सत्य यह है कि पूर्वोक्त परिस्थितियों में महान नेता ही ऐसी शक्ति देता है जो परस्पर विरोधी तत्वों को वश में कर सकता और सच्चे राष्ट्रवाद की नींव डाल सकता है, अतः उसके आदेशों का पालन करना और उनका अनुगमन करना आवश्यक है।[37] सर्वप्रथम सम्पूर्ण राष्ट्र को एक व्यक्ति के आदेशों का पालन करना सीखना चाहिए। यह अनुशासन, आज्ञापालन तथा सम्मान सब प्रकार की तुच्छ वासनाओं और विघटन की शक्तियों को भस्मसात कर देता है। इनके विनाश से राष्ट्रवाद के विकास के लिए नयी भूमि तैयार हो जाती है। यूरोप के इतिहास से प्रमाणित होता है कि राष्ट्रीय महानता के संघर्ष में एक ऐसा समय आता है जब कोई शक्तिशाली व्यक्ति अथवा राज्य आगे आकर भारी उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर ले लेता है।"[38]

भाई परमानन्द हिन्दू संगठन के समर्थक थे। वे लिखते हैं : "हिन्दुओं को संगठित करने के लिए विभिन्न स्थानों पर हिन्दू सभाएँ स्थापित की जानी चाहिए। हिन्दुओं में प्रचलित बुराइयों का, अर्थात् उन कुरीतियों का जो उन्हें दुर्बल बनाती हैं, उन्मूलन किया जाय। शारीरिक व्यायाम में रुचि उत्पन्न की जाय और युवकों को ऐसे व्यवसाय अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय जिनसे मस्तिष्क तथा शरीर दोनों का विकास हो। हिन्दुओं को चाहिए कि वे अपने उन भाइयों के साथ समानता का व्यवहार करें जिनकी समाज में निम्न स्थिति है। और सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि वे हृदय से शुद्धि-आन्दोलन प्रारम्भ करें जिससे हिन्दुओं का अन्य धर्मों में परिवर्तित होना रोका जा सके। ये योजनाएँ हिन्दुओं को संगठित करके अर्थात संगठन के द्वारा ही सफल बनायी जा सकती हैं।"[39] भाई परमानन्द आर्यसमाजी थे, किन्तु वे समाज को एक सार्वभौम धर्मसंघ अथवा पृथक पंथ के रूप में संगठित करने के विरुद्ध थे। वे चाहते थे कि आर्य समाज भी हिन्दू संगठन का काम अपने हाथों में ले।

रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा से हिन्दू समाज में उथल-पुथल मच

---

36 *Hindu Sangathan* (लालचन्द धावन द्वारा हिन्दी में अनुदित, लाहोर, द सेन्ट्रल युवक सभा, 1936)।
37 सम्भवतः परमानन्द शक्तिशाली अधिनायकतन्त्र के समर्थक थे।
38 *Hindu Sangathan*, पृष्ठ 233-34।
39 *Hindu Sangathan*, पृष्ठ 190-91।

गयी। हिन्दू महासभा भी बहुत विक्षुब्ध हुई और उसके लिए यह स्वाभाविक भी था। भाई परमानन्द ने 1933 के अजमेर अधिवेशन का सभापतित्व किया। उन्होंने कहा : "मेरा अन्तःकरण कहता है कि हिन्दू ब्रिटेन के साथ स्वेच्छा से सहयोग करेंगे, यदि नये भारत की राजनीतिक संस्थाओं में उनकी उस हैसियत और उत्तरदायित्व की स्थिति को स्वीकार कर लिया जाय जिसके वे देश का प्रमुख समुदाय होने के नाते हकदार हैं।" प्रान्तीय स्वायत्तता के लागू होने पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच की खाई चौड़ी होती गयी। देश में सर्वत्र पारस्परिक सन्देह और अविश्वास की लहर दौड़ गयी। भाई परमानन्द चाहते थे कि हिन्दुओं को अपने इतिहास के इस संकट काल में एक हो जाना चाहिए। 15 अक्टूबर, 1937 को सिन्ध हिन्दू सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा : "मुसलिम मन्त्रिमण्डल कांग्रेस अथवा हिन्दुओं की परवा किये विना अपनी जाति के हितों की रक्षा करने के लिए स्वतन्त्र हैं, किन्तु कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कांग्रेस के मुसलमानों के प्रति पक्षपात के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं, और इसलिए वे मुसलमानों की कभी सन्तुष्ट न होने वाली साम्प्रदायिक भूख को तृप्त करने के लिए सदैव सचेत रहते हैं। हर निष्पक्ष पर्यवेक्षक जानता है कि मुसलिम प्रान्तों के हिन्दू यदि अपने हितों की रक्षा करना चाहते हैं और प्रतिष्ठा तथा आत्मसम्मान के साथ जीवित रहना चाहते हैं तो उन्हें हिन्दू दल के झण्डे के नीचे संगठित होना पड़ेगा।"

प्रकरण 5

विनायक दामोदर सावरकर

1. प्रस्तावना

विनायक दामोदर सावरकर (जन्म 28 मई, 1883) उग्र राष्ट्रवादी तथा वीर क्रान्तिकारी और आतंकवादी थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में उन्होंने साहसिक राजनीतिक कार्यों के द्वारा अमर ख्याति प्राप्त कर ली।[40] उन्होंने 1906 से 1910 तक इंगलैण्ड में अध्ययन किया और साथ ही साथ क्रान्तिकारी कार्यकलाप में भी संलग्न रहे। उन्हें यूरोप में भारतीय क्रान्तिकारियों के नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा प्रदत्त एक छात्रवृत्ति मिल गयी थी। तिलक ने सावरकर की सिफारिश करते हुए श्यामजी को एक पत्र लिख दिया था। इंगलैण्ड में सावरकर की श्रीमती कामा, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगरा आदि अन्य क्रान्तिकारियों से भेंट हुई। उन्हें पचास वर्ष के कारावास का दण्ड देकर अंडमन भेज दिया गया था, जहाँ उन्होंने अनेक वर्ष बिताये। 1923 में उन्हें अंडमन से लाकर रत्नागिरि की जेल में बन्द कर दिया गया था।[41] 10 मई, 1937 को उन्हें कारागार से मुक्त कर दिया गया। तब वे तिलक के लोकतान्त्रिक स्वराज दल में सम्मिलित हो गये और बाद में हिन्दू महासभा की सदस्यता अंगीकार कर ली। वे महासभा को अपने क्रान्तिकारी उत्साह तथा दुर्दमनीय इच्छाशक्ति से अनुप्राणित कर देना चाहते थे।

सावरकर को हिन्दुओं की सांस्कृतिक तथा दार्शनिक उपलब्धियों पर बड़ा गर्व था। अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में उन्होंने दावा किया है कि हिन्दू चिन्तन ने "अज्ञात की प्रकृति के सम्बन्ध में मानव-चिन्तन की सम्भावनाओं को ही निःशेष कर दिया है।"

2. सावरकर की भारतीय इतिहास की व्याख्या

अपनी 'हिन्दू-पद-पादशाही' नामक पुस्तक में सावरकर ने मराठा शक्ति के उदय की राष्ट्रवादी व्याख्या की है।[42] उन्होंने लिखा है कि मुसलमान विजय, आक्रमण, घृणा तथा धर्मान्ध असहिष्णुता की नीति का अनुसरण कर रहे थे। उनकी उस नीति को रोकने तथा देश की रक्षा करने के लिए ही मराठों ने राजनीतिक शक्ति को सफलतापूर्वक धारण किया था, और उनके लिए ऐसा

---

40 वी. डी. सावरकर, *My Transportations for Life* (रत्नागिरि में नजरबन्दी काल में लिखित)। इसके अतिरिक्त देखिये धनंजय कीर द्वारा रचित *Savarkar and His Times* (बम्बई, 77 भागेश्वर भुवन, लेडी हार्लिज रोड, 1950) तथा एम. एल. करन्दीकर रचित *The Marathi Biography of Savarkar.*

41 एम. के. गान्धी, 'Savarkar Brothers', *Young India*, मई 26, 1920।

42 वी. डी. सावरकर, *Hindu-Pad-Padshahi* (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।

करना स्वाभाविक भी था।[43] सावरकर का कहना है कि मराठे हर्षवर्धन तथा पुलकेशी से भी अधिक उच्चकोटि के आदर्शवाद से अनुप्राणित थे।[44] उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मराठों का राजनीतिक सत्ता का सिद्धान्त स्वधर्म और स्वराज के आदर्शों से अनुप्रेरित था। सावरकर ने मराठा राज्यतन्त्र में लोकतान्त्रिक तत्वों को भी ढूंढ़ निकाला है।[45]

सावरकर उन लेखकों में थे जिन्होंने सबसे पहले इस मत का प्रतिपादन किया था कि 1857 का तथाकथित सिपाही विद्रोह वास्तव में भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम था। उनके मन में उस संघर्ष के योद्धाओं के लिए अतिशय श्रद्धा और प्रशंसा की भावना थी।[46]

3. सावरकर का हिन्दुत्व का सिद्धान्त

सावरकर निरपेक्ष अहिंसा के पंथ के कटु आलोचक थे और उसे भिखारियों का पंथ मानते थे। उनका कहना था कि सन्तों और देवदूतों की दुनिया में सचमुच हिंसा को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु अन्तर्विरोधों और बुराइयों से परिपूर्ण इस जगत में न्यायार्थ की गयी हिंसा सर्वथा उचित है।[47] यदि सतयुग, जिसका धर्मग्रन्थों में गुणगान किया गया है, आ जाय और ईश्वर का राज्य पृथ्वी पर साक्षात्कृत हो जाय तो उस समय हिंसा को घृणित अपराध और घोर पाप अवश्य ही मानना चाहिए। किन्तु "जब तक ईश्वरीय युग नहीं आ जाता, जब तक निःश्रेयस सन्त कवियों की कविताओं और ईश्वर-अनुप्रेरित महात्माओं की भविष्यवाणियों तक ही सीमित रहता है, जब तक मनुष्य का मन पापमय तथा आक्रामक वृत्तियों का शमन करने में लगा हुआ है तब तक विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध को शुद्ध दुष्कर्म नहीं कहा जा सकता है।"[48] इसलिए सावरकर उन नेताओं और महापुरुषों के कामों को उचित ठहराते हैं जिन्होंने न्याय के रक्षार्थ हिंसा का मार्ग अपनाया है। उन्होंने लिखा है : "इसलिए ब्रूट्स की तलवार पवित्र है। इसलिए शिवाजी का वघनखा पुनीत है। इसलिए इटली की क्रान्तियों का रक्तपात निष्कलंक यश का भागी है। इसलिए चार्ल्स प्रथम का शिरोच्छेद न्यायोचित कार्य है और विलियम टैल का वाण ईश्वरीय है।"[49]

सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र की सांस्कृतिक तथा अवयवी एकता को स्वीकार किया। वे हिन्दू पुनरुत्थान के आदर्श के भक्त थे और हिन्दुत्व की सांस्कृतिक श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। उन्होंने हिन्दू समाज के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान पर बल दिया। उन्होंने कहा : "यदि हिन्दुत्व मृत्योपरान्त मोक्ष की समस्याओं में तथा ईश्वर और विश्व सम्बन्धी धारणाओं में व्यस्त है तो उसे रहने दीजिए........। किन्तु जहाँ तक भौतिक और ऐहिक जीवन का सम्बन्ध है, हिन्दू सामान्य संस्कृति, सामान्य इतिहास, सामान्य भाषा, सामान्य देश और सामान्य धर्म के द्वारा परस्पर आवद्ध होने के कारण एक राष्ट्र हैं। हिन्दुओं का वास्तविक विकास तभी हो सकता है जब उनके हितों और उनके उत्तरदायित्वों का एकीकरण हो जाय। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दुओं में व्याप्त पृथकत्व की भावना के स्थान पर उनमें साहचर्य और सामुदायिक भावना का विकास हो।

सावरकर का 'हिन्दुत्व'[50] 1923 में प्रकाशित हुआ था। वह आधुनिक हिन्दू राजनीतिक विचारधारा की प्रसिद्ध पुस्तक है। इस पुस्तक में उन्होंने हिन्दू की निम्नलिखित परिभाषा की है :

आसिन्धु - सिन्धु - पर्यन्ता यस्य भारतभूमिका
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।

---

43 एम. एन. राय ने अपनी पुस्तक *India in Transition* में पृष्ठ 151-52 पर मराठों की शक्ति के उदय की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि मराठों, राजपूतों और सिक्खों का उत्थान मुगलों के राज्य सामन्तवाद के विरुद्ध देशी सामन्तवाद को बचाने का प्रयत्न था।

44 *Hindu-Pad-Padshahi*, पृष्ठ 230।

45 वही, पृष्ठ 208।

46 वी. डी. सावरकर, *The Indian War of Independence of* 1857.

47 वी. डी. सावरकर का मराठी नाटक 'सन्यस्त-खड्ग'।

48 वी. डी. सावरकर, *The War of Indian Independence of* 1857, पृष्ठ 273।

49 वही, पृष्ठ 274।

50 वी. डी. सावरकर, *Hindutva*, द्वितीय संस्करण (पूना, 924, सदाशिव पेठ, 1942)।

[हिन्दू वह है जो सिन्धु नदी से समुद्र तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और पुण्य-भूमि मानता है।]

हिन्दुत्व अथवा हिन्दू होने के तीन लक्षण हैं। राष्ट्र अथवा प्रादेशिक एकता पहला तत्व है। हिन्दू वह है जिसके मन में सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक के समस्त भौगोलिक प्रदेश के प्रति अनुराग है। जाति अथवा रक्त-सम्बन्ध दूसरा तत्व है। हिन्दू वह है जिसकी धमनियों में उन लोगों का रक्त बहता है जिनका मूल स्रोत स्पष्टतः वैदिक सप्तसिन्धव के हिमालय प्रदेश में बसने वाली जाति थी। यह कोई जातिगत (नस्लगत) श्रेष्ठता का सिद्धान्त नहीं है। इसमें केवल इस तथ्य पर बल दिया गया है कि शताब्दियों के ऐतिहासिक जीवन के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में ऐसी जातिगत विशेषताएँ विकसित हो गयी हैं जो जर्मनों, चीनियों अथवा इथियोपियाइयों से भिन्न है। सावरकर लिखते हैं : "संसार में कोई ऐसा जनसमुदाय नहीं है जिसका पृथक जाति के रूप में मान्यता प्राप्त करने का दावा हिन्दुओं और यहूदियों के दावे से अधिक न्यायसंगत हो। किसी हिन्दू से विवाह करने वाला हिन्दू अपनी जाति से च्युत हो सकता है, किन्तु उसका हिन्दुत्व नहीं छीना जा सकता। कोई हिन्दू किसी भी सैद्धान्तिक, दार्शनिक अथवा सामाजिक व्यवस्था में विश्वास करे और उसकी वह व्यवस्था चाहे शुद्ध धार्मिक हो अथवा धर्म-विरोधी, किन्तु वह यदि निर्विवाद रूप से देशज है और उसका संस्थापक कोई हिन्दू है तो वह व्यक्ति अपने पंथ अथवा सम्प्रदाय से भले ही च्युत हो जाय किन्तु उसे हिन्दुत्व—हिन्दूपन—से वंचित नहीं किया जा सकता। क्योंकि हिन्दुत्व को निर्धारित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व हिन्दू रक्त है। अतः वे सब लोग जो सिन्धु नदी से समुद्र तक फैले हुए भूखण्ड को अपनी पितृभूमि मानते तथा उससे प्रेम करते हैं और परिणामतः जिन्होंने उस जाति का रक्त विरासत में प्राप्त किया है जो सम्मिश्रण और रूपान्तरण की प्रक्रिया द्वारा प्राचीन सप्तसिन्धव के निवासियों से विकसित हुई है—उन सब लोगों के विषय में कहा जा सकता है कि उनमें हिन्दुत्व के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं।"[51] हिन्दू होने की तीसरी कसौटी संस्कृति है। जिस व्यक्ति को हिन्दू सभ्यता और संस्कृत पर गर्व है वह हिन्दू है। हिन्दू संस्कृति उपलब्धियों और असफलताओं की सामान्य स्मृतियों, सामान्य कलात्मक, साहित्यिक तथा विधिक रचनाओं और सामान्य अनुष्ठानों, त्योहारों तथा सामुदायिक अभिव्यक्ति के अन्य साधनों में व्यक्त हुई है। इसलिए जो लोग हिन्दू धर्म को त्यागकर मुसलमान और ईसाई बन गये हैं वे हिन्दू होने का दावा नहीं कर सकते क्योंकि वे हिन्दू संस्कृति को अंगीकार नहीं करते। इस प्रकार हिन्दुत्व के तीन बन्धन हैं—राष्ट्र, जाति तथा संस्कृति। सावरकर के अनुसार हिन्दुत्व की धारणा हिन्दूवाद (हिन्दूइज्म) की धारणा से अधिक व्यापक है। हिन्दूवाद हिन्दुओं की धर्मविद्या तथा धार्मिक अनुष्ठानों का द्योतक है। हिन्दुत्व में हिन्दुओं के धार्मिक क्रियाकलाप तो सम्मिलित हैं ही, किन्तु वह उनसे भी परे की वस्तु है। जीवन के सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी पहलू हिन्दुत्व के अन्तर्गत आ जाते हैं। हिन्दुत्व वस्तुतः एक अवयवी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का द्योतक है, और उस व्यवस्था को एकता प्रदान करने वाले तीन मुख्य तत्व हैं—भूमि, रक्त-सम्बन्ध तथा संस्कृति।

सावरकर को हिन्दुत्व अर्थात हिन्दू एकता में पूर्ण विश्वास है। उनका कहना है कि इस प्रतियोगितामूलक जगत में जहाँ तनाव और शान्ति के लिए संघर्ष जीवन के अपरिहार्य तत्व बने हुए हैं, शक्ति का संघटन जीवित रहने का एकमात्र साधन है। सावरकर ने जिस हिन्दुत्व की व्याख्या की है वह केवल अवयवी सामाजिक-राजनीतिक एकता की धारणा नहीं है, बल्कि उसमें राष्ट्रवाद के मुख्य तत्व भी सम्मिलित हैं। वह एक कार्यक्रम भी है। उसमें हिन्दुओं को एक दूसरे से पृथक करने वाली सभी दीवारें ध्वस्त करनी हैं। सावरकर इस पक्ष में थे कि हिन्दुओं की सभी जातियों और उपजातियों में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध हों। वे जैनियों, सिक्खों, आर्यसमाजियों तथा ब्रह्मसमाजियों को भी हिन्दू समाज का अंग मानते थे। उन्होंने लिखा है : "……हिन्दू राष्ट्र को संघटित करना और शक्तिशाली बनाना, किसी अहिन्दू भाई को, बल्कि संसार में किसी

51 वही, पृष्ठ 72-73।

को भी, तब तक न सताना जब तक कि अपनी भूमि और जाति की न्यायोचित और तात्कालिक आत्मरक्षा का प्रश्न न उठ खड़ा हो; तथा उन लोगों के प्रयत्नों को असम्भव बना देना जो देश के साथ विश्वासघात करना चाहते हैं अथवा उसे उन आन्दोलनों के आक्रमणों का शिकार बनाना चाहते हैं जिनका उद्देश्य विश्वभर के सजातीय अथवा सधर्मी तत्वों को संघटित करना है और जो आज एक महाद्वीप से दूसरे में फैलने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।" सावरकर को तुष्टीकरण की नीति में विश्वास नहीं था। उनकी दृढ़ आस्था थी कि स्वराज मुसलमानों के सहयोग के बिना भी प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने मुसलमानों से स्पष्ट रूप से कहा : "हिन्दू अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए यथासामर्थ्य संघर्ष करते रहेंगे। यदि तुम साथ देते हो तो तुम से मिलकर संघर्ष करेंगे, यदि तुम साथ नहीं देते तो तुम्हारे बिना ही लड़ते रहेंगे और यदि तुम विरोध करोगे तो उस विरोध के बावजूद युद्ध जारी रखेंगे।" सावरकर समझते थे कि देश के लिए निरपेक्ष स्वराज की तत्काल आवश्यकता है।

सावरकर का कहना था कि हिन्दुत्व तथा राष्ट्रवाद के बीच परस्पर विरोध नहीं है। उन्होंने लिखा है : "हिन्दू भक्त भारतभक्त हुए बिना अपना नाम सार्थक नहीं कर सकता। हिन्दुओं के लिए हिन्दुस्तान पितृभूमि तथा पुण्यभूमि है, इसलिए हिन्दुस्तान के लिए उनका प्रेम असीम है। यही कारण है कि ब्रिटिश शासन के जुए को उतार फेंकने के लिए जो राष्ट्रीय संघर्ष चल रहा है उसमें उन्हीं की प्रधानता है। अंडमान की भूमि में गढ़ी हुई हड्डियाँ भी इस तथ्य की पुष्टि करेंगी।"

सावरकर का हिन्दुत्व कोई संकीर्ण पंथ नहीं है। वह बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक है। वह मानवतावाद तथा सार्वभौमवाद के भी विरुद्ध नहीं है। सावरकर ने तुकाराम के इस वाक्य को उद्धृत किया है : "मेरा देश ! सम्पूर्ण विश्व ही मेरा देश है।"[52] 'द वर्ल्ड' के सम्पादक गार्ड ए. आल्फ्रेड को सावरकर ने लिखा था : "मेरा विश्वास है कि यद्यपि मानव जाति को राष्ट्रवाद और संघवाद के द्वारा अर्थात बड़े-बड़े राज्यीय संगठनों के द्वारा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है, किन्तु वह लक्ष्य राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। अन्तिम लक्ष्य तो मानवतावाद है, उससे न्यून अथवा अधिक कुछ नहीं। सम्पूर्ण राजनीतिक विज्ञान तथा कला का आदर्श मानव राज्य होना चाहिए। पृथ्वी हमारी जन्मभूमि है, मानव जाति हमारा राष्ट्र है और अधिकारों तथा कर्तव्यों की समानता पर आधारित मानव सरकार हमारा अन्तिम राजनीतिक लक्ष्य होना चाहिए।"

4. निष्कर्ष

तरुणाई के आरम्भिक वर्षों में सावरकर का पालन-पोषण एक निर्भीक आतंकवादी एवं क्रान्तिकारी के रूप में ही नहीं, बल्कि एक कट्टर हिन्दू एकतावादी के रूप में भी हुआ था। इसीलिए यद्यपि उनके हृदय में देश के लिए अगाध प्रेम था, फिर भी वे जीवन को हिन्दू दृष्टिकोण से ही देखते रहे। 1956 में स्वेज संकट के समय भारत ने मिस्र की जो सहायता की उसका विरोध करके सावरकर ने राजनीतिक क्षेत्रों में एक सनसनी उत्पन्न कर दी थी। उनका कहना था कि पश्चिमी एशिया के मामलों में भारत को अरबों का नहीं बल्कि इजरायल का पक्ष लेना चाहिए।

सावरकर की बुद्धि बहुत ही कुशाग्र थी। उनमें इतनी दूरदृष्टि थी कि 1857 के तथाकथित सिपाही विद्रोह में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के जो बीज थे उन्हें उन्होंने भलीभाँति परख लिया था। लाला लाजपत राय ने भी अपनी पुस्तक 'यंग इण्डिया' में उस महान विप्लव के राजनीतिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। देश के स्वाधीन होने के उपरान्त भारतीय इतिहास की व्याख्या के सम्बन्ध में नये सिद्धान्त तथा कसौटियाँ अपनायी जा रही हैं और सावरकर को यह जानकर प्रसन्नता हुई होगी कि इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय 1857 के आन्दोलन की व्याख्या के सम्बन्ध में धीरे-धीरे उन्हीं के दृष्टिकोण की ओर झुकता जा रहा है।

सावरकर ने हिन्दुत्व तथा हिन्दूवाद में जो भेद किया है वह राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिन्दूवाद का सम्बन्ध मुख्यतः धर्म तथा धर्मविद्या से है। हिन्दुत्व एक राज-

---

52 *Hindutva*, पृष्ठ 117। तुकाराम ने कहा था, "आमुचा स्वदेश। भुवनत्रयामध्ये वास।"

नैतिक धारणा है और उसके अन्तर्गत सामाजिक शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी पहलू आ जाते हैं। सावरकर ने जो भेद किया है उसकी सूक्ष्मता को मैं मानता हूँ, किन्तु उसकी यह धारणा कि हिन्दू एक 'समांग' जाति[53] है, ऐतिहासिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जातीय समांगता का सिद्धान्त जाति-विज्ञान की ऐसी धारणा है जिसका खोखलापन बहुत पहले स्पष्ट हो चुका है। सावरकर ने हिन्दुत्व की परिभाषा करने में विशेष चतुराई का परिचय दिया है, किन्तु उन्होंने इस बात पर गम्भीरता से विचार नहीं किया कि अपने अर्ध विकसित देश में हिन्दुत्व का लोकतान्त्रिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए।

प्रकरण 6
लाला हरदयाल

लाला हरदयाल (1884-1938) क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के एक प्रमुख प्रवर्तक थे। पंजाब विश्वविद्यालय[54] में उन्होंने छात्र के रूप में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया, और फिर 1905 में भारत सरकार की एक छात्रवृत्ति प्राप्त करके ऑक्सफर्ड के लिए रवाना हो गये। वहाँ उन्होंने सेंट जॉन्स कॉलिज में प्रवेश लिया। इंगलैण्ड में रहकर वे श्यामजी कृष्ण वर्मा के प्रभाव में आये।

इंगलैण्ड में लाला हरदयाल विरोधी संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दू धर्म के उग्र समर्थक बन गये। उनका विचार था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति अराष्ट्रीयकरण की नीति है, इसलिए उसके विरुद्ध उन्होंने खुले आम विद्रोह का झण्डा उठाया। 1907 में वे स्वदेश लौटे, और कुछ समय बाद वापस चले गये। जुलाई 1908 में उन्होंने भारत को सदैव के लिए त्याग दिया। उस समय वे हिन्दू संन्यासियों का एक ऐसा मण्डल बनाना चाहते थे जो हिन्दुत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर सके।

यूरोप तथा अमेरिका में रहकर लाला हरदयाल ने भारत की स्वाधीनता के लिए क्रान्तिकारी कार्यवाहियों का संगठन किया। 1911 में वे सेन फ्रांसिस्को में बस गये। वे देश की स्वाधीनता के लिए हिंसा का समर्थन करने लगे। उन्होंने कैलीफोर्निया में गदर पार्टी[55] की स्थापना की और उसके प्रमुख नेता बन गये। कुछ समय के लिए उन्होंने स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का भी कार्य किया। 1914 में जब उन्हें अमेरिका से निष्कासित करने की धमकी दी गयी तो वे स्विट्जरलैण्ड चले गये। युद्ध प्रारम्भ होने पर वे बर्लिन की भारतीय समिति में सम्मिलित हो गये। 1915 से 1917 तक वे बर्लिन स्थित भारतीय स्वाधीनता समिति के प्रमुख थे। युद्ध के दौरान उन्होंने अपना समय जर्मनी तथा तुर्की में बिताया।[56] किन्तु शीघ्र ही जर्मनी के सम्बन्ध में उनका भ्रम दूर हो गया। फरवरी 1916 से नवम्बर 1917 तक उन्हें जर्मन सरकार के प्रतिबन्ध के अन्तर्गत रहना पड़ा। 1918 में वे स्वीडन चले गये। 20 फरवरी, 1919 को उन्होंने जर्मन सरकार से अपने सभी सम्बन्ध तोड़ लिये। उन्हें भारतीय क्रान्ति में जो आशा थी वह भी निराधार सिद्ध हुई। अतः 1920 में उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन आ गया, और वे इस बात का समर्थन करने लगे कि भारतवासियों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत बना रहना चाहिए। बाद में वे इंगलैण्ड चले गये और अपना समय बौद्धिक कार्यकलाप में बिताया। मध्य अमेरिका में उनकी मृत्यु हुई।

लाला हरदयाल की मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी, और देश की मुक्ति के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी कार्यप्रणाली का समर्थन किया। किन्तु यूरोप में दीर्घकाल तक रहने तथा जर्मनी और भारतीय क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में उनका जो भ्रम था उसके दूर हो जाने के कारण उनके विचार बदल गये। इसलिए अन्त में वे इस बात का समर्थन करने लगे कि भारत को ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए।

---

53 वी. डा. सावरकर, *Hindutva*, पृष्ठ 111।

54 हरदयाल ने 1903 में अंग्रेजी विषय में एम. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। दूसरे वर्ष उन्होंने इतिहास में भी एम. ए. की उपाधि प्राप्त करली।

55 रणधीरसिंह, *The Gadar Heroes* (बम्बई, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1845)।

56 लाला हरदयाल, *Forty-four Months in Germany and Turkey* (लन्दन, पी. एस. किंग एण्ड सन, 1920)।

यूरोप में रहकर लाला हरदयाल पाश्चात्य विज्ञानों के महत्व का समर्थन करने लगे। उन्होंने लिखा : "....आज के वेद रसायनशास्त्र, भौतिकी, जैविकी, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र, ये पाँच आधारभूत विज्ञान हैं, और ज्योतिष, भूशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि इन विज्ञानों के अंग और उपांग हैं।........पश्चिम आज की कलाओं और विज्ञानों की जन्मभूमि है। आओ और इसके दर्शन करो। अपनी कार्यप्रणाली में प्राचीन ऋषियों के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न मत करो, बल्कि भविष्य के ऋषित्व के नये आदर्शों का प्रतिपादन करो।"[57] उन्होंने लिखा था कि पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार सर्वत्र व्याप्त असहिष्णुता का अन्त कर देगा और उस काम को पूरा कर दिखायेगा जिसके लिए अकबर ने अपने समय में इतना प्रयत्न किया था।[58] राजा राममोहन राय का स्मरण दिलाने वाली शैली में हरदयाल ने लिखा था : "इस मध्ययुगीनता का तब तक अन्त नहीं हो सकता जब तक हमारे युवक और युवतियाँ सड़ी-गली हिन्दू और मुसलिम धर्मविद्या और समाजशास्त्र के गन्दे वातावरण से निकलकर पेरिस तथा जिनेवा से निसृत बौद्धिक परिवेष में रहने तथा विचरण करने नहीं लगते। यूरोपीय चिन्तन का अध्ययन भारत के लिए एक शक्तिवर्धक औषधि का काम करेगा। वह हमारी प्राणशक्ति को क्षीण करने वाले प्रमाद, मूर्खता, निराशा और अकुशलता के विष का कारगर प्रतिकारक है। भारत भी आधुनिक चिन्तन के योग्य नेताओं को उत्पन्न करेगा, किन्तु यह तभी हो सकेगा जब उसकी सन्तानें पाश्चात्य विद्या को आत्मसात करलें। जब तक हमारे सर्वोत्तम व्यक्ति प्राचीन ग्रन्थों के संकुचित एवं मृत जगत में रहने में ही सन्तुष्ट हैं तब तक आधुनिक भारत में महान विचारक कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?....यूरोप जी रहा है। भारत अधमरा है। चलो, हम यूरोप का अमृत लेकर भारत को पूर्ण प्राणशक्ति पुनः प्रदान करदें। 'ऋते युरूपन न मुक्तिः'।"

राष्ट्र के पुनर्जीवन की समस्या अनेक दशकों से बहुत ही महत्वपूर्ण रही है। विवेकानन्द और रामतीर्थ की भाँति हरदयाल ने भी भारतीय चरित्र के सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि यदि राष्ट्र घरेलू तथा आर्थिक मामलों में भ्रष्ट है तो हम देश को महान बनाने की आशा नहीं कर सकते। यदि भारत महान राष्ट्रों के समकक्ष स्थान प्राप्त करना चाहता है तो देशवासियों को सत्यपरायणता, आत्मत्याग, सामाजिक मेलजोल तथा पारस्परिक तालमेल का सबक सीखना पड़ेगा। चरित्र का पतन ही वास्तव में राष्ट्र के पराभव के लिए उत्तरदायी है। जिस राष्ट्र के सदस्य स्वार्थी, कायर तथा प्रमादी हैं वह जीवन के संघर्ष में अन्य राष्ट्रों का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर सकता। राष्ट्र के समग्र अवयवी जीवन के हर क्षेत्र में नयी चेतना का संचार करना है। लाला हरदयाल ने अनुप्रेरित शब्दों में लिखा था : "कोरे राजनीतिक आन्दोलन से अथवा राजनीतिक सूत्रों का ज्ञापन करने से किसी राष्ट्र को महान नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि राजनीति किसी राष्ट्र के जीवन का केवल एक अंग है।....राजनीतिक कार्यवाही फल है, नैतिकता मूल है। राजनीतिक कार्य द्वारा हम राष्ट्र की नैतिक शक्ति का महान उद्देश्यों के लिए प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु वह नैतिक शक्ति अन्य विभिन्न तत्वों से उत्पन्न होती है।...राजनीति स्वयं कोई रचनात्मक तत्व नहीं है; राजनीति नैतिकता पर निर्भर होती है, और नैतिक कुशलता का प्रसार राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी आवश्यक है।....अतः नैतिकता राष्ट्रों की आत्मा होती है और व्यापार, राजनीति, साहित्य तथा पारिवारिक जीवन उसका शरीर है। नैतिकता समाज की सामूहिक इच्छा की विविध अभिव्यक्तियों को संगति प्रदान करती है। यदि हमने नैतिकता से शून्य राजनीति को महत्व दिया तो समझ लीजिए कि हम सारवस्तु को त्यागकर छाया के पीछे दौड़ रहे हैं। उच्चकोटि की नैतिकता से विहीन राजनीति एक दिखावा मात्र है, और जिन राजनीतिज्ञों का दैनिक जीवन शुद्ध नहीं है वे बजते हुए पीतल के बाजों और झनझनाते हुए मजीरों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। राजनीति राष्ट्र के कर्म का एक अंग है, और नैतिकता उसका समग्र जीवन है।"[59] लाला हरदयाल की राजनीतिक शिक्षाओं में हमारे वैयक्तिक तथा सार्वजनिक जीवन को नैतिक बनाने पर जो बल दिया गया है वही गान्धीजी के राजनीतिक दर्शन की मुख्य विषय-वस्तु है।

---

57 *Writings of Lala Har Dayal* (वाराणसी, स्वराज पब्लिशिंग हाउस, 1920), पृष्ठ 138-39।
58 वही, पृष्ठ 151।
59 वही, पृष्ठ 24-25।

1925 में लाला हरदयाल ने अपने राजनीतिक इच्छापात्र की घोषणा की।[60] वे लिखते हैं : "मैं घोषणा करता हूँ कि हिन्दू जाति, हिन्दुस्तान तथा पंजाब का भविष्य इन चार स्तम्भों पर आधारित है : (1) हिन्दू संगठन, (2) हिन्दू राज, (3) मुसलमानों की शुद्धि, और (4) अफगानिस्तान तथा सीमान्त प्रदेशों की विजय तथा शुद्धि। जब तक हिन्दू जाति इन चार कामों को पूरा नहीं कर लेती तब तक हमारी सन्तानों के लिए और हमारी सन्तानों की सन्तानों के लिए सदैव खतरा बना रहेगा और हिन्दू जाति की सुरक्षा असम्भव होगी। हिन्दू जाति का इतिहास एक है और उसकी संस्थाएँ एकसी हैं। किन्तु मुसलमान और ईसाई हिन्दुत्व से बहुत दूर हैं, क्योंकि उनके धर्म विदेशी हैं और वे ईरानी, अरबी तथा यूरोपीय संस्थाओं से प्रेम करते हैं। अतः जिस प्रकार हम अपनी आँखों से विजातीय पदार्थ निकाल फेंकते हैं वैसे ही हमें इन दो धर्मों की शुद्धि करनी है। अफगानिस्तान तथा सीमान्त के पर्वतीय प्रदेश प्राचीन काल में भारत के ही अंग थे किन्तु अब वे इस्लाम के आधिपत्य में हैं।....जिस प्रकार नैपाल में हिन्दू धर्म प्रचलित है उसी प्रकार अफगानिस्तान और सीमान्त प्रदेश में हिन्दू संस्थाएँ होनी चाहिए अन्यथा स्वराज्य प्राप्त करना निरर्थक होगा, क्योंकि पहाड़ी जातियाँ सदैव युद्धप्रिय और भूखी हुआ करती हैं। यदि वे हमारी शत्रु बन जाती हैं तो नादिरशाह और जमानशाह का युग आरम्भ हो जायेगा। वर्तमान समय में अंग्रेज हमारी सीमाओं की रक्षा कर रहे हैं, किन्तु यह स्थिति सदैव नहीं बनी रहेगी।....यदि हिन्दू अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उन्हें अफगानिस्तान तथा सीमान्त प्रदेश को जीतना होगा और सब पहाड़ी जातियों का धर्मपरिवर्तन करना होगा।"

लाला हरदयाल गम्भीर आदर्शवादी, भारतीय स्वाधीनता के निर्भीक समर्थक तथा ओजस्वी लेखक थे। वे हिन्दू तथा बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। प्रचण्ड तथा निर्भीक देशभक्ति उनके जीवन की पथ-प्रदर्शक थी। उनकी ईमानदारी, सत्यनिष्ठा और सदाशयता निर्विवाद है। भारत की महानता का साक्षात्कृत करना उनके जीवन की सर्वोच्च आकांक्षा थी। कभी-कभी ऐसा लगता था कि लाला हरदयाल के विचारों में भारी परिवर्तन हो गया है। प्रारम्भ में वे पश्चिमी सभ्यता के कटु आलोचक थे, बाद में वे उसके प्रशंसक बन गये। इतिहास के गम्भीर विद्वान से वे क्रान्ति के समर्थक हो गये। किन्तु हिन्दुओं के तथा भारत के राजनीतिक हितों के प्रति उनकी भक्ति सदैव निष्कलंक रही। उनमें पैगम्बर की-सी दूरदर्शिता थी और वे सदैव देश के पक्ष का समर्थन करते रहे। इसी रूप में उनका सदैव स्मरण किया जायगा।

प्रकरण 7
केशव बलिराम हैडगेवार

1. प्रस्तावना

डॉ. केशव बलिराम हैडगेवार (1890-1940) राजनीतिक तर्कशास्त्री नहीं थे, किन्तु उनमें अद्भुत संगठन-शक्ति तथा प्रचण्ड कर्मनिष्ठा थी।[61] 1910 में वे नेशनल मेडीकल कॉलिज कलकत्ता में चिकित्सा-शास्त्र के विद्यार्थी थे और एल. एम. एस. की उपाधि के लिए तैयारी कर रहे थे। उसी समय से वे भारत की राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करते आये थे। उन दिनों उनका सम्बन्ध अतिवादी दल से था। कलकत्ता में उनका सम्पर्क श्यामसुन्दर चक्रवर्ती और मोतीलाल घोष से हुआ। 1922 में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तेजी से मुसलमानों की ओर इतनी अधिक झुकती जा रही है कि उसकी नीति से हिन्दू समाज के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। इसलिए 1925 में विजयदशमी के दिन उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। हैडगेवार अनेक वर्षों तक हिन्दू महासभा के सदस्य रहे; 1930 में उन्होंने उस दल से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। वे सावरकर के घनिष्ठ मित्र थे। उन्होंने नागपुर से 'स्वातन्त्र्य' नामक एक दैनिक पत्र भी प्रारम्भ किया था, किन्तु सरकारी दमन के कारण उसका प्रकाशन बन्द करना पड़ा। 1930

---

60 हरदयाल की योजना लाहौर के 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थी।

61 बी. आर. शिंदे, *Doctor Hedgewar* (नागपुर 1943) तृतीय संस्करण। हैडगेवार का जन्म 1890 में हुआ था। 1910 में उन्होंने नेशनल मेडीकल कॉलिज कलकत्ता में प्रवेश किया।

में उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भी भाग लिया और वे कारागार में डाल दिये गये। 1940 में उनका देहावसान हो गया। तबसे उनके शिष्य तथा अनुयायी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य चलाते आये हैं।

2. हैडगेवार के राजनीतिक विचार

डॉ. हैडगेवार पर शिवाजी तथा अन्य मराठा नेताओं के कार्यकलाप का गहरा प्रभाव पड़ा था।[62] उन्हें पेशवा बाजीराव प्रथम द्वारा प्रतिपादित 'हिन्दू-पद-पादशाही' के आदर्श से गम्भीर प्रेरणा मिली थी।

हैडगेवार ने 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की।[63] उसका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं में सैनिक अनुशासन की भावना जाग्रत करना, और उनकी सांस्कृतिक चेतना को बल प्रदान करना था। वह पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक संघ नहीं था। हैडगेवार को शक्ति में विश्वास था, और वे हिन्दू जनता में शारीरिक तथा सांस्कृतिक स्फूर्ति उत्पन्न करना चाहते थे। दयानन्द और विवेकानन्द की भाँति उन्होंने शारीरिक तथा नैतिक शक्ति को परमावश्यक माना। किन्तु व्यक्तिगत शक्ति के अतिरिक्त वे हिन्दुओं को संघ की भावना से उत्प्रेरित करना चाहते थे। सामाजिक एकता और सुदृढ़ता का उनकी शिक्षाओं में मुख्य स्थान था, क्योंकि शक्ति एकता से उत्पन्न होती है और अनुशासन शक्ति का आधार है।

हैडगेवार हिन्दू समाज का विनाशकारी विघटन देखकर बहुत दुःखी हुआ करते थे। हिन्दू समाज विभिन्न जातियों, पन्थों और सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। भाषा, धर्म, जाति आदि के भेदों ने विघटनकारी तत्वों को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। इसने हिन्दुओं को राजनीतिक दृष्टि से बहुत दुर्बल बना दिया था। हैडगेवार का कहना था कि आन्तरिक क्षय के कारण हिन्दुओं को अनेक राजनीतिक आपदाओं का सामना करना है। अतः आवश्यक है कि ऐसे सामुदायिक जीवन का निर्माण किया जाय जिससे हिन्दुओं में पारस्परिक एकता और सुदृढ़ता का विकास हो। गहरे सामुदायिक सम्बन्धों की रचना अतीत के गौरव और महानता की चेतना के द्वारा ही की जा सकती है। प्राचीन ऋषियों, सामाजिक तथा धार्मिक नेताओं और राजनीतिक वीरों की उपलब्धियों की स्मृतियाँ निश्चय ही इस प्रकार की चेतना के मजबूत बन्धनों का निर्माण कर सकती हैं। इसलिए प्रत्येक हिन्दू के हृदय में हिन्दू संस्कृति के महान नेताओं का स्मरण करके भावनात्मक उमंग की अनुभूति होनी चाहिए। केवल प्रादेशिक एकता राष्ट्रीयता का सार नहीं है, बल्कि परम्पराओं द्वारा विकसित कुछ सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा भी आवश्यक है।

हैडगेवार ने राजनीति की प्रचलित विचारधाराओं और कार्यप्रणालियों को अंगीकार नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने संस्कृति पर अधिक बल दिया। उनके अनुसार संस्कृति में जीवन के सभी पहलू समाविष्ट हैं। धर्म, राजनीति तथा अर्थतन्त्र भी संस्कृति के अंग हैं। अतः राष्ट्र के बहुमुखी विकास के लिए जिस गतिशील उत्साह की आवश्यकता है उसको तभी उत्पन्न किया जा सकता है जब सांस्कृतिक एकता के लिए सभी सम्भव उपाय किये जायँ। हैडगेवार यह नहीं चाहते थे कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संगठित राजनीति से कोई सम्बन्ध हो। इस विषय में वे निरपेक्षतः अडिग थे। उनका विश्वास था कि समस्या का मूल सांस्कृतिक पुनर्जागरण और नवीन स्फूर्ति है। हिन्दुओं का नैतिक तथा सामाजिक पुनरुद्धार तभी हो सकता है जब हिन्दू समाज की जो कि ऐतिहासिक उथल-पुथल के बावजूद जीवित रहा है, समर्पण की भावना तथा पवित्र निष्ठा से सेवा की जाय।

डॉ. हैडगेवार मानते थे कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है। हिन्दुओं में हीनता की जो मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि पड़ गयी थी उसके लिए हैडगेवार उन्हें बुरा-भला कहा करते थे। वे इस बात की निर्भीक घोषणा चाहते थे कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है।

---

62 शिवाजी ने जयसिंह को जो पत्र लिखा था उससे उन्हें गहरी प्रेरणा मिली थी।

63 जे. ए. कुरियन कनिष्ठ, *Militant Hinduism in Indian Politics : A Study of the R. S. S.* (न्यूयार्क, इन्स्टीट्यूट आव पेसिफिक रिलेशन्स, 1951)।

पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा में ही नहीं अपितु उसकी कार्यप्रणाली में भी देखने को मिलती थीं। भगवा ध्वज के प्रति जो सम्मान प्रकट किया जाता था वह शुद्धता और त्याग के उन आदर्शों के साथ एकात्म्य का प्रतीक था जिनकी शिक्षा हिन्दू धर्म सदैव से देता आया है। संघ ने अपने संगठन के निर्माण में चुनाव की लोकतान्त्रिक प्रणाली को नहीं अपनाया। संघ का प्रमुख, जो सरसंघचालक कहलाता है, लोकतान्त्रिक ढंग से निर्वाचित नहीं किया जाता। सरसंघचालक स्वयं अपने उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित करता है। संघ के प्रमुख को नामनिर्देशित करने की यह परिपाटी उस पुरानी हिन्दू परम्परा के अनुकूल है जिसके अन्तर्गत आध्यात्मिक प्रमुख अपने उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित किया करता था। संघ के नेतृत्व का गठन श्रेणीमूलक है, न कि लोकतान्त्रिक पद्धति द्वारा निर्वाचित। लोकतान्त्रिक प्रणाली के इस अभाव को देख कर ही कभी-कभी लोग कह देते हैं कि संघ में फासीवादी तत्व विद्यमान हैं। किन्तु 1949 के संविधान के अनुसार संघ की संरचना में कुछ अंशों में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को अंगीकार कर लिया गया है। अब कहा जा रहा है कि संघ की वास्तविक कार्यपालिका अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा है। सरकार्यवाह इसी सभा के द्वारा चुना जाता है, और वह अपनी सम्पूर्ण कार्यपालिका को नियुक्त करता है जो के. के. एम. कहलाती है। संघ के संविधान के अनुसार सरसंघचालक उस समय की के. के. एम. की सम्मति से अपने उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित करेगा। इस प्रकार सरसंघचालक 'दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक' है, जबकि संघ का संवैधानिक प्रमुख सरकार्यवाह है। किन्तु संगठनकर्ता अभी भी निर्वाचित निकायों के बाहर से चुने जाते हैं। 1948-49 में संघ के कुछ आलोचकों ने आरोप लगाया था कि वह एक सेना का निर्माण कर रहा है, हिन्दू साम्प्रदायिकता का विष फैला रहा है और वह हिंसा द्वारा सरकार को उलट देने का विचार कर रहा है। किन्तु ये आरोप कोरे काल्पनिक और बे-सिर-पैर के सिद्ध हुए।

3. निष्कर्ष

हैडगेवार की राजनीतिक विचारधारा गम्भीर पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है। उसमें मौलिक राजनीतिक विचार नहीं हैं। उसमें हिन्दुओं की सांस्कृतिक और सामाजिक एकता पर जो बल दिया गया है वही उसकी शक्ति का स्रोत है। वह हिन्दू संगठन को विस्तृत पारिवारिक जीवन के आदर्श पर आधारित करने का दावा करता है। उसे हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास है, और वह हिन्दू समाज में इस्लामी, ईसाई तथा पाश्चात्य तत्वों को समाविष्ट करने के विरुद्ध है। उसके अनुसार शान्तिपूर्वक और दीर्घ काल तक संगठन का काम करके ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। उसका उद्देश्य ऐसे सुदृढ़ चरित्र का निर्माण करना है जो आगे चलकर देशभक्तिपूर्ण जीवन की कठिनाइयों को सहन कर सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दावा है कि उसका राजनीतिक उद्देश्य कभी नहीं रहा।

प्रकरण 8
श्यामाप्रसाद मुकर्जी

1. प्रस्तावना

डा. श्यामाप्रसाद मुकर्जी (1901-1953) प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, और उन्होंने जीवन के अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। वे सफल बैरिस्टर और वक्ता थे। 1934 से 1938 तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति रहे, और हिन्दू महासभा के अध्यक्ष पद पर भी उन्होंने कार्य किया। उनका जन्म 6 जुलाई, 1901 को हुआ था, और 23 जून, 1953 को उन्होंने इहलीला समाप्त की। 1947 से अप्रैल 1953 तक वे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्य रहे।[64] उन्होंने भारत तथा पाकिस्तान के बीच हुए दिल्ली समझौते के प्रश्न पर नेहरू मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। जून 1953 में कश्मीर के एक कारागार में उनकी दुःखद मृत्यु हुई जिसने उनके व्यक्तित्व को एक त्रासद आभा प्रदान करदी है।

---

64 बलराज मधोक : *Dr. Shyama Prasad Mookerjee, a Biography* (नई दिल्ली, दीपक प्रकाशन, 1954)।

मुकर्जी 1937 में बंगाल विधान सभा के सदस्य चुने गये थे। उन्हें वी. डी. सावरकर के व्यक्तित्व से विशेष प्रेरणा मिली, अतः 1939 में वे हिन्दू महासभा के सदस्य बन गये। 1941 से 1945 तक वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रहे। 1943 में उन्होंने हिन्दू महासभा के अमृतसर अधिवेशन का सभापतित्व किया। 1941 में वे बंगाल के मन्त्रिमण्डल में, जिसके मुख्यमन्त्री फजलुल हक थे, सम्मिलित हो गये। प्रान्त का गवर्नर और नौकरशाही मन्त्रिमण्डल के पुलिस तथा सामान्य प्रशासन सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप किया करते थे, इसलिए 1943 में मुकर्जी ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। उस अवसर पर समाचारपत्रों को एक वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा कि प्रान्तीय स्वायत्तता, जिसका इतना ढोल पीटा जा रहा है, एक मखौल है। 1946 में मुकर्जी संविधान सभा के सदस्य चुन लिये गये।

30 जनवरी, 1948 के दिन महात्मा गान्धी की हत्या कर दी गयी। उसके बाद मुकर्जी के आदेश से हिन्दू महासभा ने अपनी राजनीतिक कार्यवाहियाँ तुरन्त बन्द कर दीं। किन्तु 24 नवम्बर, 1948 को मुकर्जी ने स्वयं महासभा की कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। 29 दिसम्बर, 1948 को महासभा ने राजनीतिक मामलों में पुनः भाग लेना प्रारम्भ कर दिया।

मुकर्जी कर्मवीर थे, न कि निरपेक्ष सिद्धान्तवादी। 1951 में उन्होंने भारतीय जनसंघ की स्थापना की जो दक्षिणपंथी हिन्दू राजनीतिक विचारों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। संघ ने पाकिस्तान के प्रति 'कठोर' नीति अपनाने का समर्थन किया और रिआयतें देने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की।[65] आर्थिक मामलों में संघ का दृष्टिकोण अनुदार था। निर्वाचन आयोग ने जनसंघ को चार अखिल भारतीय दलों में स्थान दिया है। 1957 के चुनाव में संघ ने लोकसभा में चार और राज्यों की विधान सभाओं में छियालीस स्थान प्राप्त किये।

2. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के राजनीतिक विचार

मुकर्जी भारत के विभाजन को कभी अंगीकार नहीं कर सके।[66] वे विभाजन को एक गम्भीर भूल और भारी दुर्भाग्य मानते थे। वे चाहते थे कि भारत और पाकिस्तान का शान्तिमय तरीकों से पुनः एकीकरण किया जाय। वे पुनः एकीकृत भारत के लक्ष्य पर निष्ठापूर्वक दृढ़ रहे।

मुकर्जी को हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। 30 नवम्बर, 1952 को उन्होंने साँची में एक भाषण दिया। उसमें उन्होंने बुद्ध के शान्तिपूर्ण मार्ग की प्रशंसा की और एशिया के राष्ट्रों के बीच एकता तथा अनुशासन की आवश्यकता पर बल दिया। एक राजनीतिक विचारक के रूप में मुकर्जी हिन्दुओं की एकता को अधिक महत्व दिया करते थे। 1944 में मुकर्जी ने दिल्ली में हुए पाँचवें आर्य सम्मेलन की अध्यक्षता की। उस अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि जो व्यक्ति, समूह तथा दल भारत की स्वाधीनता के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं और मुसलिम लीग की पाकिस्तान की माँग के विरुद्ध हैं वे सब मिलकर एक देशव्यापी मजबूत संयुक्त मोर्चा बनालें। किन्तु उनका मार्ग कोरा काल्पनिक और अव्यवहार्य सिद्ध हुआ। मुकर्जी को इस बात में गहरी आस्था थी कि हिन्दू संस्कृति के मूल्य नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से बहुत ही प्रभावशाली और कल्याणकारी हैं।[67] वे चाहते थे कि देश की शिक्षा नीतियाँ इस ढंग से निरूपित की जायँ जिससे भारत के प्रमुख सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा हो सके। 13 दिसम्बर, 1952 को दिल्ली विश्वविद्यालय में अपने दीक्षान्त भाषण में उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का समर्थन किया।

परमानन्द की भाँति मुकर्जी भी पंजाब और बंगाल की राजनीति में मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभाव से व्यग्र थे। इसलिए यद्यपि वे देशभक्ति में किसी से कम नहीं थे, फिर भी उन्हें कांग्रेस

---

65 श्यामाप्रसाद मुकर्जी, *Why Bhartiya Jan Sangh?* (दिल्ली, भारतीय मुद्रणालय, 1951)।

66 श्यामाप्रसाद मुकर्जी, *Integrate Kashmir* (लखनऊ, डी. उपाध्याय, 1953)।

67 डा. मुखर्जी का 1937 में पटना विश्वविद्यालय में दिया गया दीक्षान्त भाषण। उन्होंने बतलाया कि उदारता तथा सार्वभौम सहानुभूति भारतीय संस्कृति के आदर्श हैं। उन्होंने कहा, "भारत की संस्कृति भारत की दासता के लिए उत्तरदायी नहीं है। उस संस्कृति का हिमालय के प्रदेश में तथा हिमालय के उस पार प्रसार हुआ है, किन्तु उससे मंगोल जातियों की सैनिक प्रवृत्ति कुण्ठित नहीं हुई है।

की मुसलमानों के प्रति रिआयतों की नीति से कोई सहानुभूति नहीं थी। 1944 में महात्मा गान्धी के साथ वार्तालाप में उन्होंने राजाजी के प्रस्ताव का विरोध किया। 1945 में उन्होंने वैवेल योजना का भी विरोध किया।

मुकर्जी चाहते थे कि देश के लिए एक व्यापक औद्योगिक नीति अपनायी जाय जिससे बड़े, मध्यम, तथा लघु उद्योगों का समुचित विकास हो सके। अखिल भारतीय जनसंघ के उद्घाटन समारोह के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को अलंघनीय और पवित्र माना जाय।

प्रकरण 9
कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

1. प्रस्तावना

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (1875-1949) बहुत ही दुरूह प्रकार के नैयायिक और वेदान्ती तर्क पद्धति के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्हें हिन्दू जीवनदर्शन में गहरी आस्था थी। उन्होंने वेदान्त, सांख्य तथा योग पर भाष्य तथा समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। उन्होंने जैनियों के 'अनेकान्तवाद' सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखा किन्तु बौद्ध धर्म और दर्शन पर उन्होंने कुछ भी प्रकाशित नहीं किया। उन्हें एक सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक के रूप में जो उच्च पद प्राप्त है और उन्होंने हिन्दुओं के नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक मूल्यों का जो समर्थन किया है उसी के कारण वे भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हैं। यद्यपि उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त की शास्त्रीय समस्याओं का विवेचन नहीं किया है, किन्तु उन्होंने 'विचारों में स्वराज' की धारणा का समर्थन किया है। उनकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी व्यापक धारणा का राजनीतिक महत्व भी है।

जीवन के सम्बन्ध में भट्टाचार्य ने वेदान्ती दृष्टिकोण अपनाया। उनके अनुसार वेदान्त कोई धर्मविद्या अथवा कल्पनात्मक तत्वशास्त्र का कोई कट्टर सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि एक जीवन दर्शन है जिसका भारत के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए गम्भीर महत्व है। उन्होंने लिखा है : "अब वह समय नहीं है जब वेदान्त जैसे दर्शन का एक धर्मशास्त्री के उत्साह के साथ समर्थन किया जाय; कदाचित ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है। हाँ, कभी-कभी उन लोगों को चुप करने के लिए भले ही ऐसा करने की आवश्यकता हो जो उसके विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ होने पर भी उत्साहपूर्वक उसका खण्डन करते हैं। जिन लोगों को वेदान्त में पूर्ण आस्था है उन्हें भी उसके समर्थन में धर्मशास्त्रीय कट्टरता का परिचय नहीं देना चाहिए। इस सम्बन्ध में मैं कम से कम इतना कह सकता हूँ कि ऐसा करना बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि वेदान्त को धर्मविद्या के अखाड़े में घसीटने का फल यह होगा कि खुले दिमाग के सभी लोग उससे बिदककर भाग खड़े होंगे, और वह सदैव के लिए विस्मृति के गर्त में डूब जायगा। सच्चे दर्शनशास्त्र को परिकल्पनाओं का निर्जीव मोड़ मात्र समझना उचित नहीं है। वह एक प्राणवान व्यवस्था है, और वह वस्तुगत होने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, उसका अपना सुनिश्चित विशिष्टत्व है। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि दर्शन सिद्धान्तवादी दर्शन-विक्रेताओं की विशिष्ट सम्पत्ति है जिसे वे इच्छानुसार काटकूटकर शास्त्रीय मतों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं; वह वास्तव में जीवन का ही एक रूप है, इसीलिए उसे साहित्य की एक ऐसी विषयवस्तु समझना चाहिए जो मनुष्य जाति को अपरिमित आनन्द प्रदान कर सकती है।"[68]

2. भट्टाचार्य का तत्वशास्त्र

भट्टाचार्य ब्रह्म के सम्बन्ध में वेदान्ती धारणा को स्वीकार करते थे। ब्रह्म शाश्वत सत्ता है और भावात्मक तथा अभावात्मक विकल्पों से परे है। उन्होंने प्रपंच जगत की सत्ता से इनकार नहीं किया, बल्कि हेगेल की भाँति उन्होंने स्वीकार किया कि परब्रह्म में विषयी तथा विषय दोनों का समन्वय हो जाता है। परब्रह्म सभी प्रकार के निषेधों और परस्पर-विरोधी विनाशकारी प्रक्रियाओं का आधार है, अथवा साहित्यिक भाषा में कहा जा सकता है कि वह इन सबको चलने देता है। उसकी अनिंद्य आत्मनिर्भरता ही सत्य है। निषेध की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से परे परब्रह्म का जो स्व-

---

68 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Vedantism*, पृष्ठ ix.

रूप है वही निरपेक्ष स्वतन्त्रता है। वे लिखते हैं, "इस कथन में कोई सार नहीं है कि ब्रह्म सत्य, स्वतन्त्रता और मूल्य की एकता है। वह इनमें से प्रत्येक वस्तु है, इनका पृथक-पृथक उल्लेख किया जाता है, किन्तु न वे पृथक हैं और न एक। सत्य की सैद्धान्तिक चेतना उस सत्य की चेतना है जो स्वतन्त्रता के रूप में स्वयं से भिन्न है और जो रूपरहित आत्मनिर्णय अथवा मूल्य से भिन्न है। धर्मानुभूति से प्राप्त सत् से परे परम सत् एक भावात्मक सत्ता (सत्य) है अथवा भावात्मक असत् (स्वतन्त्रता) अथवा वह इनकी (सत्य और स्वतन्त्रता की) भावात्मक निर्विकल्पता (मूल्य) है। अद्वैत वेदान्त में परम सत् का आग्रहपूर्वक सत्य के रूप में कल्पित किया गया है। जिसे शिथिल भाषा में शून्यवादी बौद्धदर्शन कहा जाता है वह प्रकट रूप में परम सत् को स्वतन्त्रता मानता है। हेगेल का परम सत् निर्विकल्पता का द्योतक है, जिसे भ्रमवश सत्य और स्वतन्त्रता का, जो कि मूल्य है, तादात्म्य कहा जाता है। ये सब विचार दर्शन के अनुभवातीत स्तर से सम्बन्ध रखते हैं।"[69] ब्रह्म को उच्चतर कोटि का परमेश्वर और ईश्वर को निम्नकोटि का देवता मानना भ्रामक है, यद्यपि यौगिक सिद्धि की दृष्टि से यह कहना उचित है कि ईश्वर की अनुभूति सविकल्प समाधि में और ब्रह्म की अनुभूति निर्विकल्प समाधि में होती है।[70] अपनी परवर्ती रचनाओं में से एक में भट्टाचार्य ने कहा था कि परम सत् "चेतना तथा अन्तर्वस्तु की निहितात्मक द्वैधता से मुक्त है।"

भट्टाचार्य ने कांट के अज्ञेयतावाद का खण्डन किया। उनके अनुसार परम सत् ज्ञेय है, यद्यपि उस चिन्तन के प्रत्ययात्मक प्रवर्गों में नहीं बाँधा जा सकता। वे चेतना की चार श्रेणियाँ स्वीकार करते हैं, और उनके अनुरूप चेतना की चार अन्तर्वस्तुओं को मानते हैं। ये अन्तर्वस्तुएँ ही विज्ञान और दर्शन की विषयवस्तु हैं। उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

(क) सैद्धान्तिक चेतना की श्रेणियाँ	(ख) चेतना की अन्तर्वस्तुएं	(ग) विज्ञान तथा दर्शन
(1) आनुभाविक विचार	(1) अनुभवमूलक वस्तु	(1) विज्ञान
(2) शुद्ध वस्तुगत विचार (अथवा चिन्तनात्मक विचार)	(2) आत्म-अवस्थित शुद्ध वस्तु	(2) वस्तु-दर्शन
(3) आध्यात्मिक विचार (अथवा भोगमूलक विचार)	(3) वास्तविक वैयक्तिक विषय	(3) आत्मा का दर्शन
(4) विकल्पातीत विचार	(4) परम विकल्पातीत सत्	(4) सत्य का दर्शन

अनुभवमूलक वस्तु और आत्म-अवस्थित शुद्ध वस्तु में लगभग वही भेद है जो कांट ने साक्षात विषय (दृष्टिगत वस्तु) और वस्तु स्वयं के बीच माना है। आध्यात्मिक और विकल्पातीत के बीच भेद आध्यात्मिक जीवन की कोटियों के भेद की स्वीकृति पर आधारित है। हेगेल के अनुसार आत्मा अन्तिम समन्वयात्मक तत्व है, प्रकृति तथा हेतु विद्या का समन्वय है। भट्टाचार्य ने आध्यात्मिक तथा विकल्पातीत के बीच जो भेद किया है वह अरविन्द के आध्यात्मिक तथा परामानसिक के बीच भेद के सदृश है।

भट्टाचार्य का विश्वास है कि परब्रह्म की अनन्तता में नैतिक विधि तथा प्राकृतिक विधि का समन्वय हो जाता है। इससे वेदान्त के इस परम्परागत सिद्धान्त का खण्डन होता है कि ब्रह्म नैतिकता से परे है। परम सत् (परब्रह्म) में नैतिक विधि का विनाश नहीं होता बल्कि वह (नैतिक विधि) पूर्णत्व को प्राप्त कर लेती है। भट्टाचार्य लिखते हैं : "ईश्वर नैतिक चेतना का सर्वोच्च रूप है, वह सभी बुद्धिगम्य तत्वों की एकता है।........वह केवल आत्माओं का ही अवयवी नहीं है, बल्कि प्रकृति का भी अवयवी है, वह सबको उनके कर्मों के अनुरूप अनुभव प्रदान करता है। वह नैतिक विधि तथा प्राकृतिक विधि का संयुक्त अवयवी है। प्राकृतिक विधि नैतिक विधि का मुग्ध भाग है। वे दोनों अपराप्रकृति के, जिसमें पराप्रकृति अन्तर्व्याप्त है, सात्विक और तामसिक दो भेद हैं।"[71]

---

69 एस. राधाकृष्णन् (सम्पादक), *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 124।
70 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Philosophy*, जिल्द 1, पृष्ठ 49।
71 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Vedantism*, पृष्ठ 37 (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1909)।

3. स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

भट्टाचार्य ने स्वतन्त्रता की अत्यधिक गम्भीर और समन्वयात्मक धारणा प्रस्तुत की है।[72] वेदान्त से उन्होंने यह विचार ग्रहण किया है कि दृश्य जगत् की अगणित वाह्य विशेपताओं और निर्णीत कारकों से अपने को मुक्त करना और आत्मा की आन्तरिक शक्तियों पर अपने को केन्द्रित करना ही स्वतन्त्रता का सार है। वेदान्त का जोर इस वात पर है कि मनुष्य को परामानसिक साधना और अनुशासन की गम्भीर अन्तर्मुखी तथा उदात्तकारी प्रक्रिया के द्वारा मायाजनित वाह्य वस्तुओं को निरस्त करके आत्म-साक्षात्कार करने का प्रयत्न करना चाहिए। अनुभवजनित विभिन्नताओं से जानबूझकर सम्बन्ध विच्छेद करना ही स्वतन्त्रता के रूप में आत्मा का साक्षात्कार करने का एकमात्र मार्ग है। भट्टाचार्य स्वतन्त्रता के रूप में आत्मा को साक्षात्कृत करने की क्रमिक पद्धति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह सम्भव है कि वाह्य जगत् की वहुलता के सम्वन्ध में अनुभूत भावात्मक स्वतन्त्रता को समेटकर आत्मा की शुद्ध और अलौकिक अन्तर्दृष्टि में विलीन कर लिया जाय।[73] कांट से भट्टाचार्य ने नैतिक स्वायत्तता तथा स्वतःप्रवृत्ति की धारणा को अंगीकार किया है। उन्हें हेगेल की इस धारणा से भी प्रेरणा मिली थी कि आत्म-केन्द्रित स्वतन्त्रता ही आत्मा है। इसलिए वे परमात्मा का स्वतन्त्रता के रूप में भी उल्लेख करते हैं। स्वतन्त्रता आत्मा का विशेषण नहीं है, वल्कि उसका अन्तस्तम तत्व है। अद्वैत वेदान्त स्वतन्त्रता को सभी प्रकार की सापेक्षता से परे मानता है। वैयक्तिक साधना का अन्तिम उद्देश्य स्वतन्त्रता ही है। किन्तु इस स्वतन्त्रता का अर्थ जगत से विमुख अथवा पृथक होना नहीं है। व्यक्ति की स्वन्त्रतता का इस बात से कोई विरोध नहीं है कि वह अपने नैतिक तथा आध्यात्मिक दायित्वों को निष्काम भाव से पूरा करे और अपने अहंकारमूलक व्यक्तित्व को वस्तुगत अथवा संस्थागत आध्यात्मिक जीवन में, जो वास्तविक यज्ञ है, लीन कर दे। वल्कि इस प्रकार अपने दायित्वों को पूरा करके और इस प्रकार यज्ञ का सम्पादन करके ही वह वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है।[74] इस प्रकार तिलक और गान्धी की भाँति भट्टाचार्य भी निष्काम कर्मयोग का समर्थन करते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय के दार्शनिक प्रत्ययवादी होने के नाते भट्टाचार्य ने आत्म-साक्षात्कार के विचारों का समर्थन किया किन्तु उन्होंने कर्म के परित्याग की अनुमति नहीं दी। वे चाहते थे कि कर्म दूसरों की शिक्षा के लिए तथा सामाजिक व्यवस्था को वनाये रखने के उद्देश्य से किया जाना चाहिए।[75]

भट्टाचार्य ने स्वतन्त्रता की समन्वयवादी धारणा में निहित राजनीतिक निष्कर्षों को स्वीकार किया। वे वौद्धिक मुक्ति के समर्थक थे। राममोहन राय और टैगोर की भाँति भट्टाचार्य मनुष्य के मन को सव प्रकार के अन्धविश्वासों और दार्शनिक रूढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। उनका कहना था कि मानसिक स्वराज आधारभूत आवश्यकता है। विचारों के इस स्वराज के लिए आवश्यक है कि भारतीय वुद्धिजीवी मिथ्या सार्वभौमवाद तथा संकीर्ण पक्षानुराग से मुक्त हों।

हेगेल की भाँति भट्टाचार्य भी स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक प्रत्यय तथा प्रस्थापनाएँ सांस्कृतिक सन्दर्भ में प्रादुर्भूत होती हैं। यह विचारधारात्मक सापेक्षतावाद इस कट्टरपंथी दृष्टिकोण का खण्डन करता है कि कोई एक श्रेष्ठ संस्कृति अन्य जातियों के लिए आदर्श प्रस्तुत करने का ध्येय लेकर उत्पन्न हुई। अतः भट्टाचार्य का कथन है कि मिथ्या सार्वभौमवाद के नाम पर विभिन्न विचारों का समुचित रूप से परिपाचन किये विना उन सवका एक साथ सम्मिश्रण करना निरर्थक है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय दर्शन को यथार्थ रूप में समझने का प्रयत्न किया जाय और भारतीय चिन्तन के दृष्टिकोण से पश्चिम के दार्शनिक योगदान का मूल्यांकन किया जाय। वे लिखते हैं : "हम पश्चिम तथा पूर्व के आदर्शों के समन्वय की तुरन्त माँग करने लगते हैं। किन्तु प्रत्येक विषय में यह आवश्यक नहीं है कि समन्वय किया जाय। किसी समाज के आदर्श उसके अतीत के

---

72 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Philosophy*, जिल्द 2, पृष्ठ 340-49 (कलकत्ता, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स)।
73 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *The Subject as Freedom*.पृष्ठ 43 (इण्डियन इन्स्टीट्यूट आव फिलॉसफी, अमलनेर)।
74 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Philosophy*, जिल्द 1, पृष्ठ 120।
75 वही, पृष्ठ 122-23।

इतिहास तथा उसकी भूमि से उत्पन्न होते हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि उन्हें सार्वभौम रूप से लागू किया जा सके, और यह भी सदैव देखने में नहीं आता कि वे अन्य समाजों के लिए स्वयं-प्रकाशित तथा स्पष्ट हों। पश्चिम के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिनमें हमारे लिए कोई आकर्षण नहीं होता, फिर भी दूर से हम उनका सम्मान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी आदर्श हैं जो हमें आंशिक रूप से आकृष्ट करते हैं क्योंकि उनका हमारे अपने आदर्शों से साम्य है, यद्यपि वे अभी विदेशी रंग में रँगे हुए हैं। वे हमारे लिए जिन बातों का विधान करते हैं उनका हमें अपने ढंग से और अपने रीतिरिवाज के अनुसार परिपालन करना चाहिए। व्यावहारिक जीवन के जिस रूप में हमें किसी आदर्श को साक्षात्कृत करना है उसे हमे स्वयं अपने समाज की सहज प्रकृति के अनुसार निर्धारित करना है। प्रत्येक विषय में पश्चिम तथा पूर्व के आदर्शों का समन्वय करना आवश्यक नहीं है। और यदि आवश्यक हो तो हमें विदेशी आदर्शों को अपने आदर्शों में अन्तर्मुक्त कर लेना चाहिए, इसके विपरीत करना हितकर नहीं है। हमारे लिए अपने व्यक्तित्व का समर्पण करना किसी भी दशा में आवश्यक नहीं है : स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है। दूसरों का धर्म भयावह होता है)।[76]

भट्टाचार्य उन भारतीय बुद्धिजीवियों के पृथकत्ववादी विचारों के विरुद्ध थे जो अपनी अलग खिचड़ी पकाया करते हैं। वे चाहते थे कि बुद्धिजीवी भारतीय जनता से सम्पर्क स्थापित करें, "एक ऐसी संस्कृति का विकास करें जो समय तथा देश की सहज प्रकृति के अनुरूप हो।"

4. भट्टाचार्य का सामाजिक दर्शन

यद्यपि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने व्यवस्थित रूप में हिन्दू पुनरुत्थानवाद की व्याख्या नहीं की है, किन्तु उनके व्यक्तित्व तथा रचनाओं ने अप्रत्यक्ष रूप से उसका समर्थन अवश्य किया है। 1905 से उन्होंने अतिवादी राष्ट्रवाद के बंगाली सम्प्रदाय का पक्षपोषण किया जिसके नेता विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द और चक्रवर्ती थे। चूँकि परम्परागत हिन्दू आदर्शों[77] और जीवन प्रणाली में उनका अडिग विश्वास था, इसलिए उन्होंने केशवचन्द्र सेन के सम्प्रदाय का विरोध किया, जो समाज-सुधार का पक्षपाती था। यद्यपि वे राजनीतिक विचारक नहीं थे, फिर भी उन्होंने अपनी उन रचनाओं के द्वारा जिनमें वेदान्त की शिक्षाओं का गुणगान किया गया है हिन्दू पुनरुत्थान के आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने में सहायता दी।

चूँकि भट्टाचार्य वेदान्ती प्रत्ययवादी थे इसलिए उनकी दृष्टि में आत्म-साक्षात्कार की समस्या ही आधारभूत समस्या थी। वे यह स्वीकार करते थे कि वेदान्ती विश्व-दर्शन के अनुसार सामाजिक परिवर्तन तथा राजनीतिक क्रान्ति की समस्याएँ गौण महत्त्व की हैं। वेदान्त सामाजिक उथल-पुथल और राजनीतिक विप्लवों के ध्वंसकारी प्रयत्नों के विरुद्ध है। फिर भी वह इस बात की अनुमति नहीं देता कि जो संस्थाएँ तथा परिपाटियाँ अपने आन्तरिक उद्देश्यों तथा औचित्य को खो बैठी हैं उन्हें जीवित रखने का जानबूझकर प्रयत्न किया जाय। परम्परागत वेदान्त तथा भगवद्गीता की शिक्षाओं के अनुरूप भट्टाचार्य सामाजिक कार्यकलाप को विराट यज्ञ का ही एक अंग मानते हैं। किन्तु रामकृष्ण और अरविन्द की भाँति भट्टाचार्य भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सामाजिक आदर्शवाद और मानवतावाद, तथा वेदान्ती आत्म-साक्षात्कार एक ही वस्तु हैं। फिर भी वे निष्काम कर्म का समर्थन करते हैं।

भट्टाचार्य परम्परावादी वेदान्ती थे, किन्तु वे संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं थे। उन्होंने मानव बन्धुत्व के आदर्श का समर्थन किया। उनके अनुसार वेदान्त उन आत्माओं का बन्धुत्व है जो स्वधर्म का पालन करने में संलग्न हैं।

---

76 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, 'Swaraj in Ideas', *The Vishvabharti Quarterly*, शरदकालीन अंक 1954, पृष्ठ 109-10।

77 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Philosophy*, जिल्द 1, पृष्ठ 123, "अद्वैतवादी हृदय से परम्परागत पूजा-पाठ में सम्मिलित होता है, यदि वह उससे घृणा करता है तो वह अपने को ही धोखा देता है... ...।"

प्रकरण 10
सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

1. प्रस्तावना

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (जन्म 1888) एक सर्वाधिक विख्यात भारतीय हैं। वे एक उच्च-कोटि के दार्शनिक, वक्ता तथा धर्म और धर्मविद्या के आचार्य हैं। वे आन्ध्र तथा बनारस विश्वविद्यालयों के कुलपति रहे। बाद में उन्होंने भारत के उपराष्ट्रपति पद पर कार्य किया और अन्त में भारतीय गणतन्त्र के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया। भारत के बुद्धिजीवियों में राधाकृष्णन् का प्रमुख स्थान है। वे शुद्ध शास्त्रीय अर्थ में सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तकार नहीं हैं। वे उच्चकोटि के दार्शनिक हैं जिन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचार 'रिलीजन एण्ड सोसाइटी' (धर्म तथा समाज), 'एजूकेशन पौलिटिक्स एण्ड वार' (शिक्षा, राजनीति तथा युद्ध), 'कल्की एण्ड द फ्यूचर आव सिविलाइजेशन' (कल्की तथा सभ्यता का भविष्य), 'इण्डिया एण्ड चाइना' (भारत तथा चीन), 'इज दिस पीस ?' (क्या यह शान्ति है ?) नामक ग्रन्थों में तथा 'ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट' (पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन) के अन्तिम अध्याय में मिलते हैं।

राधाकृष्णन् का व्यक्तित्व निरपेक्ष आध्यात्मिक आदर्शवाद की परम्पराओं से ओतप्रोत है। उन्हें उपनिषदों, शंकर, रामानुज (1055-1137) टैगोर, गान्धी, प्लेटो, प्लौटीनस, बर्गसाँ और ब्रेडले से प्रेरणा मिली है। शंकर का उन पर अत्यधिक गहरा प्रभाव है।

2. राधाकृष्णन् के राजनीतिक चिन्तन का तत्वशास्त्रीय आधार

(क) हिन्दू जीवन दर्शन—राधाकृष्णन् ने नैतिक जीवन के औचित्य की हिन्दुत्व के अनुसार व्याख्या करने का स्पष्ट संकल्प करके अपना बौद्धिक जीवन प्रारम्भ किया था। उन्होंने इस आरोप का खण्डन किया है कि हिन्दुत्व तत्वशास्त्रीय स्तर पर अन्तर्विरोधों से ओतप्रोत है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिन्दुत्व की रहस्यवादी अनुभूतियाँ और कल्पनाएँ निश्चित रूप से विश्व तथा जीवन का निषेध करने वाली नहीं हैं। हिन्दुत्व के संस्थात्मक रूपों ने राजनीतिक तथा सामाजिक उतार-चढ़ाव के बीच अद्भुत जीवन-शक्ति का तथा अपना कायाकल्प करने की महान क्षमता का परिचय दिया है। हिन्दुत्व ने एक श्रेष्ठ जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। जिस चिन्तनधारा ने बुद्ध, शंकर और रामानुज जैसे पराक्रमी कर्मयोगियों तथा इस युग में गान्धी जैसी सृजनात्मक प्रतिभा को उत्पन्न किया है उसके विरुद्ध निस्तेजता का आरोप लगाना उपहासास्पद है। हिन्दुत्व ने श्रेय तथा प्रेय दोनों को ही महत्व दिया है।[78] फिर भी उसने यह स्वीकार किया है कि भौतिक जगत की आवश्यकताओं को ही पवित्र मान लेना जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, बल्कि इस पृथ्वी पर आत्मा के आध्यात्मिक राज्य की स्थापना करना असली उद्देश्य है। पिछड़ी हुई जनजातियों को आत्मसात करने तथा उन्हें उठाने की व्यापक क्षमता हिन्दू सभ्यता की एक विशेषता है। हिन्दुत्व ने विदेशी तथा असंगत तत्वों का नाश करने की अनुमति कभी नहीं दी है। उसने सदैव आचरण की शुद्धता और साधुता का उपदेश दिया है। उसने कभी इस बात पर बल नहीं दिया कि लोग कुछ आदर्शीकृत धर्मशास्त्रीय मतवादों को अनन्य भाव से अंगीकार कर लें। राधाकृष्णन् को हिन्दू जीवन दर्शन[79] में विश्वास है, जो मनुष्य को अपने उच्चतर व्यक्तित्व का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है। एक ऐतिहासिक धर्म के रूप में हिन्दुत्व को अन्तिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, वह तो एक विकासशील परम्परा है। राधाकृष्णन् लिखते हैं : "हिन्दुत्व गति है, न कि स्थिति; प्रक्रिया है, न कि परिणाम; एक विकासशील परम्परा है, न कि निश्चित ईश्वरीय ज्ञान। उसका गत इतिहास हमें यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित करता है कि भविष्य में चिन्तन अथवा इतिहास के क्षेत्र में जब कभी कोई संकट की घड़ी आयगी तब वह उसका सामना

---

78 एस. राधाकृष्णन्, *The Hindu View of Life*, पृष्ठ 79।
79 सी. ई. एम. जोड, *Counter-Attack from the East*, पृष्ठ 43-45 तथा 170-72 (लन्दन, जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1933)। जोड के अनुसार राधाकृष्णन् 'नवीन हिन्दुत्व' में विश्वास करते हैं।

करने में समर्थ होगा।"[80] हिन्दुत्व ने निष्काम संन्यास का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उससे राधाकृष्णन् बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने हिन्दुत्व में निहित भारत के आध्यात्मिक आदर्शों और आकांक्षाओं का ओजस्वी शब्दों में वर्णन किया है। बहुलता और विविधता के बीच एकता का पाठ सिखाना हिन्दुत्व की मुख्य विषयवस्तु है।[81] उसका स्वरूप व्यापक है, क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि सत् की विविध व्याख्याएँ सम्भव हैं और वह हर प्रकार की साम्प्रदायिक दुर्भावनाओं और कट्टरपन्थी असहिष्णुता का विरोध करता है।[82] धार्मिक दर्शन में हिन्दुत्व का दृष्टिकोण लोकतान्त्रिक है। हिन्दुत्व के आधारभूत तत्वों की प्रकृति आध्यात्मिक है। वे अत्यधिक अर्थगर्भित हैं, और भारतीय जनता को शक्ति तथा जीवन प्रदान करने में उनका स्थायी महत्व है। किन्तु राधाकृष्णन् संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं हैं। उनका मानस बहुत ही उदार और सहिष्णु है। उन्होंने हिन्दुत्व तथा संसार के धर्मों के बीच आध्यात्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों की एकरूपता ढूंढ़ निकाली है।

(ख) **परब्रह्म तथा ईश्वर**—राधाकृष्णन् एक आदि आध्यात्मिक शाश्वत तथा पूर्ण सत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर तथा ब्रह्म के प्रत्ययात्मक भेद को भी मानते हैं। निर्गुण तथा सगुण ईश्वर का भेद प्राचीन वेदान्त ने स्वीकार किया है और उसका बीज हमें उपनिषदों में भी मिलता है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में 'उच्च' तथा 'निम्न' के सामान्य भेद की कल्पना करना इस बात का द्योतक है कि मनुष्य की बुद्धि अनुभवातीत सत्ता के सम्बन्ध में भी सामन्ती तथा निरंकुशवादी समाज की धारणाओं का प्रयोग करने का दयनीय प्रयत्न कर रही है। यह कहना उपहासास्पद होगा कि ईश्वर निम्नकोटि का और ब्रह्म उच्चकोटि का है। यद्यपि राधाकृष्णन् का यह मत अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है कि "विश्व के मूल्यों के सन्दर्भ में ब्रह्म का रूप निश्चित करना ही ईश्वर है," किन्तु आस्तिक लोगों को यह दृष्टिकोण भी बुरा लगेगा। परम सत् परम मूल्य भी है। राधाकृष्णन् को आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता और प्रामाणिकता मे भी विश्वास है। उन्हे आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता का प्रमाण उद्दालक, बुद्ध, शंकर, सुकरात, प्लेटो, मुहम्मद, सन्त पाल, प्लौटीनस, पौर्फीरी, अगस्ताइन, दान्ते, एकहार्ट, क्लेयरफौक्स के सन्त बर्नार्ड, सन्त जॉन, स्पिनोजा, ब्लेक रुईसब्रोक तथा अन्य ऋषियों और सन्तों के जीवन में मिलता है।[83] ये महापुरुष भिन्न-भिन्न देशों और कालों में उत्पन्न हुए थे, फिर भी उन सबने एक स्वर से प्रमाणित किया है कि आध्यात्मिक अनुभूति जैसी वस्तु होती है और उस अनुभूति में हृदय को प्रदीप्त करने तथा चरित्र को रूपान्तरित करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान रहती है। इन महापुरुषों का यह साक्ष्य इतना विशाल है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, बल्कि इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक वस्तुगत तथ्य है।

(ग) **विश्व का घटनाचक्र**—राधाकृष्णन् का विश्वास है कि चूंकि यह विश्व परब्रह्म की शाश्वत सर्जनशीलता में निहित अगणित सम्भावनाओं में से एक का साक्षात्करण है, इसलिए उसमें जो कुछ हो रहा है उसके मूल में एक देदीप्यमान आध्यात्मिक प्रयोजन विद्यमान है। विश्व ब्रह्म की स्वतन्त्र संकल्पशक्ति की अभिव्यक्ति है। विश्व के घटनाचक्र में निरन्तर वृद्धिमान पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। विश्व को हम एक भ्रमोत्पादक मृगमरीचिका अथवा व्यामोह कहकर नहीं टाल सकते, और न उसे अनन्त शून्य ही मानकर सन्तोष कर सकते हैं। वस्तुतः विश्व के मूल में तथा उसकी प्रक्रिया में ईश्वर की सत्ता निहित है। विश्व में जीवन, मन, चेतना तथा मूल्य-मीमांसा की क्षमता का जो उत्तरोत्तर विकास हुआ है उससे स्पष्ट है कि विश्व की यान्त्रिक व्याख्या स्वीकार्य नहीं हो सकती। विश्व की प्रक्रिया के द्वारा एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक प्रयोजन का निरन्तर साक्षात्कार हो रहा है। भौतिकवादी तथा जड़वादी दृष्टिकोण विश्व की वास्तविक प्रकृति का उद्घाटन नहीं कर सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञान के दार्शनिक एडिंगटन, जीन्स,

---

80 एस. राधाकृष्णन्, *The Hindu View of Life*, पृष्ठ 129-30 (लन्दन, जॉर्ज एलन एण्ड अनविन, 1928)।

81 एस. राधाकृष्णन्, *The Heart of Hindustan*, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 28, 64 (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)।

82 एस. राधाकृष्णन्, *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 307, 313।

83 एस. राधाकृष्णन्, *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 91-98।

आइंस्टाइन आदि भी अब कठोर, घनत्वपूर्ण तथा जटिल तत्वों के प्रत्यय में विश्वास नहीं करते। वौल्तेयर और कांट ने ईश्वरवाद के पक्ष में दिये गये तत्वशास्त्रीय और प्रयोजनवादी तर्कों का जो मखौल उड़ाया है उसके बावजूद विश्व की प्रक्रिया में अन्त:सम्बन्ध, प्रयोजन, योजना और यहाँ तक कि नैतिक प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। ह्वाइटहैड द्वारा निरूपित सर्जनशीलता, शाश्वत तत्वों और अवयवी की धारणाओं ने तथा एलेक्जांडर और लॉयड मौर्गन के निर्गत विकास के सिद्धान्त ने भौतिकीय ब्रह्माण्डविद्या की कमियों को स्पष्ट कर दिया है। टौमसन, औलीवर लौज और स्मट्स भी यान्त्रिक भौतिकी की कमियों का उद्घाटन करते हैं।[84] राधाकृष्णन् आध्यात्मिक प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व की वास्तविकता से इनकार नहीं करते। वे विश्व को ईश्वर का निवास-स्थान मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में विविध प्रकार की सभी वस्तुएँ और प्राणी उसी मूल आत्मा की अभिव्यक्ति हैं। विश्व के सभी पदार्थ उसी एक चेतना के विविध रूप हैं। इस परिवर्तमान जगत से परे जो आध्यात्मिक जगत है उसी से ऐतिहासिक प्रक्रिया सार्थक होती है। विश्व न तो वस्तुओं का पुंज मात्र है और न कोई मायाजाल है। वह एक गतिशील स्पन्दनयुक्त आध्यात्मिक प्रवाह है। आध्यात्मिक जगत ही मनुष्य के नैतिक प्रयत्नों और आदर्शवादी योजनाओं की सफलता की गारण्टी है। अत: राधाकृष्णन् के अनुसार ब्रह्माण्ड के घटनाचक्र की सांगोपांग व्याख्या करने के लिए एक अनुभवातीत शक्ति की वास्तविकता को स्वीकार करना आवश्यक है। उसी के सन्दर्भ में इस ब्रह्माण्ड को समझा जा सकता है।

राधाकृष्णन् महायान सम्प्रदाय के सर्वमुक्ति (सामूहिक निर्वाण) के आदर्श को स्वीकार करते हैं।[85] जब सम्पूर्ण विश्व की पाप तथा माया से मुक्ति हो जाती है तो उस समय प्रपंच जगत, उसकी सम्पूर्ण गतिशीलता विरोधी तत्व तथा सब प्रकार के अन्तर्विरोध स्वत: समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्म की सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थ होता है समग्र ऐतिहासिक प्रक्रिया का अन्त हो जाना।[86] जब ब्रह्माण्ड का चक्र सार्वभौम मुक्ति के द्वारा अपनी चरम स्थिति पर पहुँच जायगा तो सम्भव है कि उस समय परब्रह्म अपने को किसी अन्य रूप में व्यक्त करने की इच्छा करे।[87] इस प्रकार ब्रह्म की अनन्त सृजनशक्ति सर्वमुक्ति के उपरान्त भी शाश्वत घटनाचक्र को पुन: उत्पन्न कर सकती है। सार्वभौम मुक्ति के सिद्धान्त के बीज हमें सन्तपाल के विचारों तथा हिन्दू पुराणों में भी मिलते हैं। इससे राधाकृष्णन् के दर्शन में परम्परावादी तथा पुनरुत्थानवादी तत्वों की विद्यमानता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। यह सिद्धान्त वस्तुत: विज्ञान तथा तर्कबुद्धि की परिधि से परे है, और सतयुग तथा पारलौकिक होतव्यता की उस धारणा का पुन:प्रतिपादन है जो हमें प्राचीन हिन्दुओं और यहूदियों के चिन्तन में तथा रूसियों के विश्वदर्शन में देखने को मिलती है।[88]

(घ) **अन्त:प्रज्ञा तथा बुद्धि**—प्लौटीनस तथा बर्गसाँ की भाँति राधाकृष्णन भी अन्त:प्रज्ञा को बुद्धि से ऊँची शक्ति मानते हैं। अन्त:प्रज्ञा वास्तविकता को प्रकट करने का माध्यम है। वह सम्पूर्ण आध्यात्मिक तत्वशास्त्र तथा परामनोविज्ञान का आधार है। दार्शनिक, कलाकार, रहस्यवादी और यहाँ तक कि वैज्ञानिक भी अपनी-अपनी परिकल्पनाओं की खोज करते समय इसका सहारा लेते हैं, चाहे वे उसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भले ही न करें। अन्त:प्रज्ञा की क्रिया प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक होती है। वह किसी वस्तु पर बाहर से आक्रमण करने की अपेक्षा उसके भीतर, मानो, सहानुभूतिपूर्वक प्रवेश कर जाती है। अन्त:प्रज्ञा सम्पूर्ण प्राणशक्ति को दीर्घकाल तक किसी वस्तु पर केन्द्रित करने से उत्पन्न होती है। किन्तु वह बुद्धि का विरोध नहीं करती। अपितु यह भी कहा जा सकता है कि अन्त:प्रज्ञा बुद्धिहीनता नहीं बल्कि बुद्धि की चरम अवस्था है। यही नहीं, अन्त:प्रज्ञा के साक्ष्य पर आधारित निष्कर्षों की बौद्धिक तर्कों द्वारा पुष्टि भी की जा सकती है। इसलिए हम यह

---

84 वही, पृष्ठ 312-45 ; *Kalki*, पृष्ठ 38।

85 एस. राधाकृष्णन्, *The Hindu View of Life*, पृष्ठ 65।

86 एस. राधाकृष्णन्, *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 501।

87 एस. राधाकृष्णन्, *English Translation of the Bhagvadgita*, पृष्ठ 77।

88 हिन्दू सतयुगवाद के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये, वी. पी. वर्मा, *Political Philosophy of Sri Aurobindo*, अध्याय 3।

नहीं कह सकते कि अन्त:प्रज्ञा का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। किन्तु अबौद्धिक न होने पर भी वह अप्रत्यात्मक अवश्य है। वह चिन्तन की प्रकृति में ही निहित है, बल्कि उसका आधार तथा पूर्वानुमान है। किन्तु बुद्धि विश्लेषणात्मक तथा बहुमुखी होती है, उसके विपरीत अन्त:प्रज्ञा संश्लेषणात्मक तथा अविभाज्य हुआ करती है। किन्तु अन्त:प्रज्ञा न तो भावनात्मक उद्रेक है और न संवेगात्मक अन्त:सृष्टि। और न उसे सहजवृत्यात्मक (मूलप्रवृत्यात्मक) प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है। वह वास्तव में बुद्धि की पूर्णता है। राधाकृष्णन् ने उस प्रचलित दृष्टिकोण का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न किया है जिसके अनुसार अन्त:प्रज्ञा तथा बुद्धि को परस्पर विरोधी माना गया है। उनकी दृष्टि में अन्त:प्रज्ञा का बुद्धि से वही सम्बन्ध है जो अंशी तथा अंश के बीच हुआ करता है। उनका कहना है कि अन्त:प्रज्ञा का चिन्तन के साथ गतिशील तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध है।[89] उनका यह भी कथन है कि अन्त:प्रज्ञा स्वाध्याय तथा विश्लेषण की लम्बी तथा अविश्रान्त प्रक्रिया का परिणाम होती है।[90] किन्तु मुझे इसमें सन्देह प्रतीत होता है कि कबीर, मीराबाई, टेरेसा आदि उन सन्तों ने, जिन्हें अन्त:प्रज्ञा की सिद्धि प्राप्त थी, कभी स्वाध्याय और विश्लेषण की दीर्घकालीन साधना की थी। मेरी समझ में धार्मिक तत्वशास्त्र की दृष्टि से अन्त:प्रज्ञा के दो प्रकारों में भेद करना लाभदायक होगा। बौद्धिक शक्तियों की परिपक्वता अन्त:प्रज्ञा का एक प्रकार है, और परम सत् का साक्षात्कार करने की शक्ति दूसरा। ये दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। राधाकृष्णन् की धारणा है कि 'मन की समग्रता (अखण्डता)' ही आत्मा[91] है और मन की क्रिया मनुष्य को अन्त:प्रज्ञा के सत्य तक पहुँचा सकती है तथा उस शक्ति को बुद्धि की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है।[92] मुझे इस बात में सन्देह है कि राधाकृष्णन् की ये धारणाएँ मनुष्य के आध्यात्मिक पुनर्जागरण के उस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं जिसका वे समर्थन करते हैं।

3. राधाकृष्णन् का सभ्यता सम्बन्धी दर्शन

रवीन्द्रनाथ की भाँति राधाकृष्णन् का भी विश्वास है कि सभ्यता की रक्षा के लिए नैतिक शक्ति की आवश्यकता है। भयंकर चुनौतियाँ आधुनिक सभ्यता के ढाँचे को क्षतविक्षत कर रही हैं, एक आध्यात्मिक मानवतावादी नैतिकता ही उसे सर्वनाश से बचा सकती है। वे लिखते हैं : 'विश्व ने अनेक ऐसी सभ्यताओं को देखा है जिन पर युगों की धूल जम चुकी है। हमने मान लिया था कि कैसे ही परिवर्तन और विकास क्यों न हों, पाश्चात्य सभ्यता का ठोस ढाँचा स्वयं में टिकाऊ तथा स्थायी है, किन्तु अब हम देख रहे हैं कि वह कितने भयावह रूप में अरक्षित है।....अनैतिक होना निरापद नहीं है। बुरी व्यवस्थाएँ अपने लोभ और अहंकार के कारण अपना विनाश कर लेती हैं। जो विजेता और शोषक नैतिक नियम की चट्टान से टकराते हैं वे अन्ततोगत्वा अपने ही विनाश के खड्ड में जा गिरते हैं। अभी जब तक समय है—वैसे अब अधिक समय नहीं रह गया है—हमें चाहिए कि मनुष्य को, जो असहाय की भाँति अपने सर्वनाश की ओर दौड़ा जा रहा है, रोकने का यत्न करें।"[93] इस समय जब धर्म का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और नैतिक मूल्य संकट में हैं, यह नितान्त आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता को नये सिरे से आध्यात्मिक उद्देश्य और नैतिक नियमों से अनुप्राणित करना है।

राधाकृष्णन् का स्वप्न है कि भविष्य में एक ऐसी मानव सभ्यता का उदय होगा जो सर्वात्मभाव की प्रवृत्ति पर आधारित होगी। आधुनिक जगत में औद्योगिकीय और आर्थिक क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता इतनी बढ़ गयी है और पूर्ण विनाश के साधन इतने अधिक घातक हो गये हैं कि अब क्षेत्रीय सभ्यताओं का गुणगान करना आत्मघाती होगा। जातिगत (नस्लगत) अहंकार, पतन की ओर ले जाने वाला अधिनायकत्व का सिद्धान्त, सैनिक शक्ति की बर्बरतापूर्ण आराधना, और

---

89 एस राधाकृष्णन्, 'The Spirit in Man', *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 486 (लन्दन जॉर्ज एलन एण्ड अनविन, 1952)।
90 एस. राधाकृष्णन्, *Contemporary Indian Philosophy*, पृ. 486।
91 वही, पृ. 484।
92 वही, पृ. 487।
93 एस. राधाकृष्णन्, *Education, Politics and War*, पृ. 35।

पूंजी का संचय आदि संकीर्ण भक्ति के ही कलुषित परिणाम हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग के प्रारम्भ में टौलमी के भूकेन्द्रिक सिद्धान्त को त्यागकर कोपर्नीकस के सूर्यकेन्द्रिक सिद्धान्त को अंगीकार किया गया वैसे ही आज सभ्यता के सम्बन्ध में जातिकेन्द्रिक देशभक्ति के दृष्टिकोण को त्यागकर सार्वभौम दृष्टिकोण को अपनाना होगा। सार्वभौमवाद भविष्य की आदर्श सभ्यता का आधार होगा।[94] किन्तु सार्वभौमवादी दृष्टिकोण के विकास के लिए कोरा बौद्धिक मार्ग पर्याप्त नहीं है। अतः भविष्य की इस सभ्यता का निर्माण निरपेक्ष बौद्धिक उदारता अथवा सारसंग्रहवाद और उत्पादन के साधनों के अभिनवीकरण के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी सभ्यता की सीमाओं को समझें और परायी सभ्यताओं के मूल्यों तथा गुणों को अधिक सचेत रूप से स्वीकार करें। अपनी सभ्यता के मापदण्डों को दूसरों पर लादने के लिए संघर्ष करना फासीवादी मनोवृत्ति का द्योतक है और उसकी विफलता निश्चित है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूर्व तथा पश्चिम के आधारभूत आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अधिक गहराई के साथ समझने का यत्न करें। मानव जाति घोर कष्ट में है। इतिहास संकट में होकर गुजर रहा है। सभ्यता ने जिन विकट समस्याओं को जन्म दिया है उनका एकमात्र हल यह है कि 'विश्व की अजन्मी आत्मा'[95] प्रस्फुटित होकर स्पष्ट नैतिक तथा आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त करले। राधाकृष्णन् का कथन है कि भगवद्गीता भी मानव भ्रातृत्व पर बल देती है। उन्होंने गीता की लोकसंग्रह की धारणा का अर्थ विश्व की एकता लगाया है।[96]

4. राधाकृष्णन् का राजनीति दर्शन

गोपाल कृष्ण गोखले का आदर्श 'राजनीति का आध्यात्मीकरण' करना था। महात्मा गान्धी ने, जो गोखले को अपना गुरु मानते थे, राजनीति में नैतिक धर्म के मूल्यों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। राधाकृष्णन् के राजनीतिक विचारों पर गान्धीवाद का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी धार्मिक है। इसलिए वे लिखते हैं: "राजनीति केवल व्यावहारिक धर्म है।"[97] आधुनिक जीवन जटिल और संकटापूर्ण परिस्थितियों में उलझा हुआ है। मनुष्य विविध प्रकार की मानसिक चिन्ताओं, द्वन्द्वों, मनस्तापों और भयंकर अरक्षा की परिस्थितियों का शिकार है। धर्म विक्षुब्ध जीवन में पुनः सन्तुलन स्थापित करने का सबसे शक्तिशाली साधन है। धर्म का अर्थ है सत्य की खोज करना और सभी विद्यमान वस्तुओं में एकता का दर्शन करना। वह यांत्रिक पूजापाठ, कर्मकाण्डी परम्परावाद और तिकड़मबाज पुरोहित वर्ग से एकदम दूर है। राधाकृष्णन् का आग्रह है कि मनुष्य को धर्मशास्त्रियों के काल्पनिक तर्क-वितर्क और कट्टरतापूर्ण धार्मिक बारीकियों को छोड़कर अपने में धर्मपरायणता तथा निवृत्ति की भावना का विकास करना चाहिए। जीवन के सभी क्षेत्रों में सहिष्णुता की धार्मिक भावना, प्रेम तथा उदारता का आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है। धर्म का अर्थ यह नहीं है कि पुरातन सामाजिक रूढ़ियों और मूर्खतापूर्ण सामाजिक अत्याचारों को कायम रखा जाय, जैसा कि भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में मान लिया गया है। राधाकृष्णन् की दृष्टि में धर्म एक अत्यन्त गम्भीर और वैयक्तिक वस्तु है। धार्मिक अनुभूति स्वभावतः समन्वयात्मक होती है। वह एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रकाश है जो दीर्घ काल की एकान्त साधना और चिन्तन से उपलब्ध होता है। सन्तों तथा महान आचार्यों के रूपान्तरित पवित्र जीवन से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। उससे सम्पूर्ण आत्मा इस प्रकार प्रकाशित हो उठती है कि चेतन और अचेतन का सामान्य भेद ही समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में धार्मिक अनुभूति संवेदनशील आत्मा की उस समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति सत्य, पवित्रता और सौन्दर्य में होती है। धर्म इस बात पर बल देता है कि बाह्य प्रकृति

---

94 *Kalki*, पृ. 6-9।

95 एस. राधाकृष्णन्, 'The World's Unborn Soul', *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 1-34।

96 एस. राधाकृष्णन्, *English Translation of the Bhagvadgita*, पृष्ठ 66।

97 *Education, Politics and War*, पृष्ठ 2।

तथा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की दुनिया के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। तब मनुष्य भलीभाँति समझ लेगा कि मानव चेतना आध्यात्मिक सत्ता के साथ अवयवी रूप में शृंखलाबद्ध है; और फिर वह एकाकीपन, निराशा और विफलता की भावना से मुक्ति प्राप्त कर लेगा।'[98] परोपकारमूलक सेवा से भी धार्मिक चेतना की वृद्धि होती है। राधाकृष्णन् का कहना है : "धर्म कोरी सनक नहीं है, और न वह कोई ऐतिहासिक दैवयोग, मनोवैज्ञानिक युक्ति अथवा पलायन की क्रियाविधि है। वह मानव सम्बन्धों को स्निग्ध करने का कोई ऐसा आर्थिक साधन भी नहीं है जिसे उदासीन दुनिया ने उत्पन्न कर दिया हो। वह मानव प्रकृति का अभिन्न अंग है, मनुष्य की होतव्यता का सन्देश है, व्यक्ति के मूल्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है, और इस बात की चेतनता है कि विश्व के भविष्य के लिए मनुष्य का निर्णय बहुत महत्वपूर्ण है। वह मनुष्य की आत्मा का परिमार्जन है, विश्व के रहस्य के विषय में संवेदनशीलता है, अपने साथी मनुष्यों तथा निम्नकोटि के प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा की भावना है। जिस समाज के घटक धार्मिक व्यक्ति होते हैं उसके जीवन में भारी अन्तर आ जाता है।"[99] धर्म मूल्यों का समन्वय और अनुभूतियों का संघटन है। उसका उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करना है। जड़वादी नास्तिकता और बौद्धिक युक्तिवाद मनुष्य की मनस्ताप और मानसिक विघटन से रक्षा नहीं कर सकते। इसके लिए समन्वय और एकीकरण की धार्मिक भावना की आवश्यकता है। धर्म "समग्र मनुष्य की समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया" है।[100] किन्तु राधाकृष्णन् ने यह नहीं समझाया है कि मनुष्य की क्षमताओं और शक्तियों के सग्रम रूप में क्रियाशील होने की प्रक्रिया और क्रियाविधि क्या है। उनके चिन्तन के कट्टरपंथी तत्वों का उद्घाटन उनके इस कथन से होता है कि धार्मिक अनुभूति स्वयं-स्थापित, स्वयं-सिद्ध और स्वयं-प्रकाशवान है।[101] यदि उनके ये अतिशयोक्तिपूर्ण कथन सत्य मान लिये जायँ तो यह बात बड़े आश्चर्य की जान पड़ती है कि सभी देशों और सभ्यताओं में करोड़ों लोग इस स्वयं-सिद्ध अनुभूति का रसास्वादन किये बिना ही इस जीवन से विदा हो गये। राधाकृष्णन् के धार्मिक मानवतावाद के पक्षपोषण में कठिनाई यह है कि उससे श्रद्धालु व्यक्ति का तो उत्साहवर्धन होता है, किन्तु बुद्धिवादी उनके तर्कों से सहमत नहीं हो पाता। समग्र मनुष्य के क्रियाशील होने का इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ समझ में नहीं आता कि मानव व्यक्तित्व के शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक, सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक तत्व एक साथ सक्रिय हों।

राधाकृष्णन् धार्मिक मानवतावाद के प्रतिपादक हैं। पश्चिम में मानवतावाद का उदय वैज्ञानिक प्रकृतिवाद और देवशास्त्रीय धार्मिकतावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। उसने सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा प्रदान की और मानव एकता का समर्थन किया। अतः उसका आदर्शवाद श्लाघ्य है। किन्तु राधाकृष्णन् ने मानवतावाद के पाश्चात्य सम्प्रदायों में दो आधारभूत कमियाँ बतलायी हैं। प्रथम, वह यह मानकर चलता है कि मनुष्य के जीवन तथा स्वभाव में जो नैतिक तथा प्राकृतिक तत्व हैं उनके बीच परस्पर तीव्र विरोध होता है। इससे नैतिक सामजस्य की सम्यक् आचारनीति असम्भव हो जाती है। नैतिक जीवन का सार इसमें है कि परस्पर संघर्परत स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नैतिक शासन के आधीन रखा जाय। मानवतावाद की दूसरी कमी यह है कि उसने आध्यात्मिक अन्त्य सत्ता की उपेक्षा की है। मानवतावादी आचारनीति की दो संकीर्ण व्याख्याएँ वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा रहस्यात्मक राष्ट्रवाद हैं।[102] इस प्रकार पाश्चात्य मानवतावाद सेवा तथा आत्मत्याग के जिस आदर्श का उत्साह के साथ समर्थन करता है उसके लिए वह आध्यात्मिक आधार प्रदान नहीं करता। उसके अन्तर्गत जीवनातीत तथा जीवन को रूपान्तरित करने वाली धार्मिकता के लिए स्थान नहीं है। इसके विपरीत राधाकृष्णन् नैतिक मूल्यों को आध्यात्मिक

---

98 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 58।
99 *Education, Politics and War*, पृष्ठ 31।
100 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 88।
101 वही, पृष्ठ 92-93।
102 एस. राधाकृष्णन्, *Eastern Religions and Westiern Thought*, पृष्ठ 80। इस प्रकार राधाकृष्णन् हॉब्सवाद, मार्क्सवाद तथा फासीवाद के विरुद्ध हैं।

आधारों पर स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार बैबिट और मोर के मानवतावाद के मुकाबले में राधाकृष्णन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पुन: स्थापना करने का समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि पूर्व के रहस्यात्मक धर्मों ने जिन निवृत्तिवादी गुणों पर बल दिया है उनसे सामाजिक स्थिरता को बल मिलता है। इसलिए उनका आग्रह है कि यूरोप के मानवतावादी चिन्तन तथा एशिया के धार्मिक विश्व-दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए।[103] उनकी दृष्टि में मूलविहीन आधुनिक मानव को धर्म, विज्ञान तथा मानवतावाद के समन्वय की आवश्यकता है।[104] उसी से उसको सान्त्वना मिल सकती है और उसी के आधार पर वह निर्दोष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर सकता है।[105]

राधाकृष्णन् पर गान्धीजी के अहिंसा तथा सत्याग्रह के दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है।[106] उन्हें शक्ति, आक्रमण तथा साम्राज्यवाद के दानवी सिद्धान्तों से घृणा है, इसलिए वे धर्म को राजनीति का आधार बनाना चाहते हैं। एक वास्तविक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण सामाजिक व्यवस्था सत्य, न्याय तथा समान स्वतन्त्रता के आधार पर ही कायम की जा सकती है। हिंसा शत्रुता को जन्म देती है, और घृणा आक्रमण को। गान्धीजी के शिष्य होने के नाते राधाकृष्णन् को विश्वास है कि समूहगत तथा राष्ट्रगत तनावों को समाप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम की प्रक्रिया को शक्ति प्रदान करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव स्वभाव की विकृतियों और पथभ्रष्टता को रोकने के लिए नैतिक प्रज्ञा तथा सामाजिक प्रेम के साधनों का प्रयोग करना आवश्यक है। गान्धीवाद की शुद्ध भावना के अनुरूप राधाकृष्णन् को दृढ़ विश्वास है कि अन्त में शक्ति, अत्याचार और आक्रमण की प्रवृत्तियों पर आत्मा की विजय अनिवार्य है।

राधाकृष्णन् ने स्वतन्त्रता के एक व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता मानव की सृजनशक्ति के विकास की कुन्जी है। मनुष्य ईश्वरीय आत्मा है इसलिए आवश्यक है कि शरीर, मन तथा आत्मा की शक्तियों और गुणों का विकास किया जाय जिससे आध्यात्मिक व्यक्तित्व का साक्षात्कार किया जा सके। मनुष्य के अनन्त कार्यकलाप के रूप में व्यक्त होने वाली आध्यात्मिक सर्जनशीलता ही सांस्कृतिक महानता का आधार है।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में दो मुख्य दृष्टिकोण हैं। व्यक्तिवादियों तथा उदारवादियों के अनुसार नियन्त्रण से मुक्ति ही स्वतन्त्रता है। हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लिवाइथन' में कहा है कि गति के मार्ग में बाधा का न होना ही स्वतन्त्रता है। किन्तु जर्मन प्रत्ययवादियों ने स्वतन्त्रता की अधिक व्यापक परिभाषा की है। हेगेल के अनुसार विश्वात्मा (ब्रह्म अथवा ईश्वर) ही स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर सामाजिक विकास के लिए उपयोगी नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढाल सकने की क्षमता ही स्वतन्त्रता है। चूँकि राधाकृष्णन् का बौद्धिक विकास पूर्णरूप से प्रत्ययवादी परम्पराओं के अन्तर्गत हुआ था, इसलिए वे स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में हेगेल की धारणा को स्वीकार करते हैं। वे लिखते : "जिस स्वतन्त्रता की कामना मनुष्य करते हैं वह केवल नियन्त्रण का अभाव नहीं है, इस प्रकार की स्वतन्त्रता तो अवास्तविक और निषेधात्मक होती है। अपनी जन्मजात शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का पूर्णरूप से प्रयोग करना भी वास्तविक तथा भावात्मक स्वतन्त्रता है।"[107] चूँकि राधाकृष्णन् लोकतन्त्र के समर्थक हैं इसलिए यह अनुमान लगाना सर्वथा उचित था कि वे स्वतन्त्रता की व्यक्तिवादी व्याख्या को स्वीकार करेंगे। किन्तु उन्होंने हेगेल तथा ग्रीन की भाँति स्वतन्त्रता की भावात्मक प्रत्ययवादी धारणा को अंगीकार किया है। एशियाई देशों में सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करने के लिए नियोजन की दिशा में जो प्रगति हो रही है उसके सन्दर्भ में समय की आवश्यकताओं और माँगों को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन् की स्वतन्त्रता सम्बन्धी भावात्मक धारणा ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु

---

103 एस. राधाकृष्णन्, *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 258-59
104 वही, पृष्ठ 294।
105 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 62-63।
106 एस. राधाकृष्णन् (सम्पादक), *Mahatma Gandhi.*
107 एस. राधाकृष्णन्, *Education, Politics and War*, पृष्ठ 94।

राधाकृष्णन् पूर्ण हेगेलवादी नहीं हैं। उन्हें कांट और स्पेंसर की इस धारणा में भी विश्वास है कि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग तभी तक कर सकता है जब तक वह दूसरों की समान स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं करता। उन्होंने लिखा है : "स्वतन्त्र समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन बिताने के लिए स्वतन्त्र है, उसकी स्वतन्त्रता पर केवल इतना ही प्रतिबन्ध हो सकता है कि वह दूसरों की समान स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न करे।"[108]

लोकतन्त्र राजनीतिक स्वतन्त्रता का दर्शन तथा कार्यप्रणाली है। उसका लक्ष्य ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना है जिनके अन्तर्गत मनुष्य की स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत किया जा सके। किन्तु राजनीतिक लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य में कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों का विकास हो। लोकतन्त्र बुनियादी तौर पर एक चित्तवृत्ति है, और मानव गरिमा तथा अधिकारों की स्वीकृति पर आधारित है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए सहिष्णुता की भावना, विनम्रता तथा जीवन में अपने को दूसरों की तुलना में पिछला स्थान देने की इच्छा अत्यन्त आवश्यक है। लोक-प्रभुत्व के आदर्श का साक्षात्कार करके लोकतन्त्र व्यक्ति की स्वायत्तता तथा सामान्य कल्याण के आदर्श के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। राधाकृष्णन् को लोकतन्त्र के मूल्यों में विश्वास है और उनकी यह तीव्र इच्छा है कि उन मूल्यों को साक्षात्कृत किया जाय। वे लिखते हैं : "सही अर्थ में लोकतन्त्र समाज का स्वशासन है। सबसे कम शासित होना सबसे अच्छे ढंग से शासित होना है।········हर शासन स्वशासन का साधन है। लोकतन्त्र के अन्तर्गत सामान्य इच्छा प्रभु होती है, किन्तु सामान्य इच्छा तकनीकी विषयों का निर्णय नहीं कर सकती, उदाहरण के लिए शुल्क-पद्धति में सुधार और भारतीय संविधान की समस्याएँ। अनेक देशों में लोकतन्त्र इसलिए असफल रहा है कि वह सच्चा लोकतन्त्र नहीं है। अभी तक वह केवल एक आदर्श है। जब हम लोकतन्त्र को एक व्यावहारिक सिद्धान्त मान लेते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ अलंघनीय अधिकार हैं, जिनका हमें सब व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय सम्मान करना चाहिए चाहे वे व्यक्ति किसी भी लिंग अथवा उद्यम के हों। व्यक्तित्व पवित्र है, अतः हर व्यक्ति को अपनी प्रकृति का पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।········लोक-तन्त्र का अर्थ यह नहीं है कि हम सब समान हैं। मनुष्य शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से असमान उत्पन्न होते हैं। हर काल में मनुष्य असमान रहेंगे।····यह भी सत्य है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्ण समानता प्रदान नहीं कर सकती। सुअवसर से लाभ उठाना इस बात पर निर्भर होता है कि कोई मनुष्य किन सामाजिक परिस्थितियों में रह रहा है और उनके प्रति उसकी क्या प्रति-क्रिया है। फिर भी अवसर की समानता एक अच्छा सामाजिक आदर्श है।········लोकतन्त्र कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है, वह एक आदर्श है जिसे उद्यम तथा शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।········यदि मतदाताओं की बुद्धि विकसित हो और नेतागण ईमानदार हों तो लोकतन्त्र अधिक सफल हो सकता है। लोकतन्त्र पूर्ण आदर्श की तुलना में कितना ही घटिया क्यों न हो, फिर भी वह उदार निरंकुशवाद के कुछ उदाहरणों को छोड़कर अतीत की सभी शासन प्रणालियों से अच्छा है।"[109] लोकतन्त्र विवाद, बौद्धिक तर्कवितर्क और समझौते के द्वारा प्रभावकारी सामा-जिक, आर्थिक और प्रशासकीय परिवर्तन लाने की एक कार्यविधि है। वह क्रूर ढंग से विचारों को थोपने की सत्तावादी प्रणाली के विरुद्ध है। लोकतन्त्र विरोधियों का विनाश करने की कभी अनु-मति नहीं दे सकता। राज्य की वैध हिंसा के अलावा अन्य सभी प्रकार के बल-प्रयोग का परित्याग ही लोकतन्त्र का आधार है। हिंसात्मक कार्यप्रणाली का लोकतान्त्रिक चित्तवृत्ति के साथ मेल नहीं हो सकता। अतः राधाकृष्णन् उन लोकतान्त्रिक देशों की कार्यप्रणाली के विरुद्ध हैं जहाँ चिन्तन तथा कर्म की शैली को यान्त्रिक ढंग से एक ही साँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

राजनीतिक समानता आर्थिक सुविधाओं की आधारभूत समानता के बिना निरर्थक है। आर्थिक न्याय ही राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा विधिक समानता को सार्थकता प्रदान कर सकता है।

---

108 वही, पृष्ठ 94।
109 *Kalki*, पृष्ठ 57-59।

अत: धार्मिक मानवतावादी होने के नाते राधाकृष्णन् ने ऐसी समाज-व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है जिसके अन्तर्गत सभी को 'आधारभूत आर्थिक न्याय'[110] उपलब्ध हो सके। वे सामाजिक लोकतन्त्र के आदर्श को स्वीकार करते हैं।[111] उन्होंने लिखा है : "मैं समानतावादी समाज का पूर्णत: समर्थन करता हूँ। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था का श्रेष्ठतम धर्म के साथ कोई विरोध नहीं है, वास्तव में धर्म की माँग है कि इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जाय। सामाजिक लोकतन्त्र[112] की स्थापना के सब प्रयत्न और सम्पत्ति तथा सुविधाओं के अधिक समान वितरण की सभी योजनाएँ धार्मिक भावना की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं।"[113] इसलिए समाजवादी न होते हुए भी राधाकृष्णन् सम्पत्ति पर लोकतान्त्रिक पद्धति से सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने के आदर्श को स्वीकार करते हैं। टॉनी और लास्की की भाँति वे भी मानते हैं कि किसी व्यक्ति का सम्पत्ति पर अधिकार उसके कार्य के मूल्य के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। वे लिखते हैं : "सम्पत्ति तथा शक्ति के बड़े साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित अर्थ-व्यवस्था नैतिक जीवन के लिए कम घातक होगी, और उससे सामाजिक भाईचारे के विकास में अधिक सहायता मिलेगी। आर्थिक पुरस्कार सामाजिक सेवा से पृथक नहीं होना चाहिए। धन प्राप्त करने का अधिकार सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर आधारित होना चाहिए। कुछ विशेष साधनों से होने वाला तथा निश्चित मात्रा से अधिक लाभ अवैध घोषित कर दिया जाय। भारी आय को करों के द्वारा सीमित किया जा सकता है। करारोपण लोकतान्त्रिक है, किन्तु सम्पत्ति का जब्त करना अत्याचारपूर्ण है।"[114] राधाकृष्णन् धन की अतिशय विषमता के उन्मूलन के पक्ष में हैं, किन्तु वे निजी सम्पत्ति के तात्कालिक समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते। फिर भी उनका पुनरुत्थानवादी होना उनके इस कथन से प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में अनुपाती न्याय का सिद्धान्त प्रचलित था। वे लिखते हैं : "प्राचीन भारत में अनुपाती न्याय का जो आदर्श प्रचलित था उसके अनुसार श्रमिकों और कृषकों ही नहीं अपितु नाइयों, धोबियों, सफाई कर्मचारियों और पहरेदारों को भी खेत की उपज का भाग उपलब्ध होता था। उस आदर्श के सामान्य सिद्धान्तों में वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया जा सकता है।"[115]

चूँकि राधाकृष्णन् आध्यात्मिक मानवतावादी हैं, इसलिए उन्हें मार्क्सवाद की समाज को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति से घृणा है। यही कारण है कि वे मार्क्सवाद के दार्शनिक आलोचक हैं। तनाव तथा संघर्ष के सिद्धान्त के विपरीत वे आध्यात्मिक सामंजस्य के मेल कराने वाले आदर्श का समर्थन करते हैं।[116] द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भौतिक शक्तियों के अर्थ और औचित्य के विश्लेषण पर अनावश्यक बल देता है। अधिक से अधिक वह भौतिक प्रक्रिया का अभिकथन है, वह उसकी व्याख्या नहीं करता।[117] इसके अतिरिक्त रूसी बोलशेविकवाद परम्परागत धर्मों का विरोधी होते हुए भी व्यवहार में एक रहस्यात्मक धर्म और पन्थ बन गया है और वह भी प्रचार की परम्परागत प्रणाली का प्रयोग करता है।[118]

जाति की समस्या आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के लिए सबसे अधिक उलझन और घबड़ाहट उत्पन्न करने वाली है। इस विषय में राधाकृष्णन् पुरातनवादी हैं,

---

110 *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 504।

111 अपने *Fragments of a Confession* नामक लेख में राधाकृष्णन् ने यहाँ तक कह दिया है कि सामाजिक क्रान्ति लाना हमारा कर्तव्य है।

112 *Education, Politics and War* 'समाजीकृत व्यक्तिवाद' तक का समर्थन किया है।

113 वही, पृष्ठ 14-15।

114 *Education, Politics and War*, पृष्ठ 42।

115 एस. राधाकृष्णन्, *Education, Politics and War*, पृष्ठ 43 (पूना, इण्टरनेशनलबुक सर्विस, 1944)। यहाँ यह बतला देना उपयुक्त होगा कि अनुपाती न्याय (यथाभाग न्याय) के सिद्धान्त का प्रतिपादन अरस्तू ने किया था न कि हिन्दू विधिशास्त्रियों ने।

116 *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 268।

117 एस. राधाकृष्णन्, 'Fragments of a Confession', *The Philosophy of Radhakishnan.*

118 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 47।

किन्तु प्रतिक्रियावादी कभी नहीं हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय आधारों और मान्यताओं को स्वीकार करते हैं।[119] उनका कहना है कि चूंकि वर्ण-व्यवस्था मनुष्यों की आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करती है, इसलिए वह लोकतान्त्रिक है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी मत है कि चूंकि उसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से अपने दायित्वों को स्वीकार करता है, इसलिए उससे व्यक्तित्व का परिवर्धन होता है। वर्णव्यवस्था समाज की प्रकृति की परमाणविक धारणा के विरुद्ध है और अवयवी धारणा को स्वीकार करती है। वह ज्ञान, प्रशासकीय साहस, उत्पादन-क्षमता तथा सामाजिक सेवा के बुद्धिसंगत सामंजस्य का समर्थन करती है।[120] राधाकृष्णन् का कहना है कि वर्ण का समाजशास्त्र हर काम को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी मानता है और सुअवसरों की व्यवस्था को ही सामाजिक न्याय समझता है।[121] मुझे इसमें सन्देह है कि राधाकृष्णन् वर्णव्यवस्था के सहकारी रूप की इस हेगेलवादी व्याख्या को अब भी स्वीकार करते हैं। वर्णव्यवस्था को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर समर्थन करना पुनरुत्थानवादी राजनीतिक दर्शन का एक बहुत रोचक रूप है। किन्तु राधाकृष्णन् जाति-व्यवस्था की उस विघटनकारी प्रवृत्ति के आलोचक हैं जो हमें आज भारतीय समाज में देखने को मिलती है। आज वह फूट और कलह को प्रोत्साहन देती है और बुद्धिहीन अत्याचारों को बनाये रखने में सहायक है। उससे सामाजिक सहजता के मार्ग में बाधा पड़ती है। फिर भी वे समाज-व्यवस्था में कार्यमूलक समुदायों की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। सामाजिक उद्देश्य अगणित तरीकों से सिद्ध होता है, अतः हर व्यक्ति सामाजिक विकास में विशिष्ट योग दे सकता है।

आध्यात्मिक मानवतावाद का दर्शन विश्व-समाज के आदर्श को जन्म देता है।[122] आत्मा के धर्म तथा राष्ट्र-पूजा के आदर्शों के बीच परस्पर उग्र विरोध है। भविष्य में उत्पन्न होने वाला[123] मानव समाज विश्व-राज्य पर आधारित होना चाहिए। तलवार के न्याय के स्थान पर विवेक, न्याय तथा सामूहिक सुरक्षा की स्थापना होनी चाहिए। जातीय (नस्लगत) भ्रातृभाव की उपलब्धि तथा विश्व संस्कृति और विश्व अन्तःकरण का विकास परमावश्यक है। राष्ट्रों का पारस्परिक व्यवहार अन्तरराष्ट्रीय विधि पर आधारित होना चाहिए। प्रभु शक्ति को सीमित करना होगा। राधाकृष्णन् अन्तरराष्ट्रवादी हैं। वे संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों के समर्थक हैं। अपनी पुस्तक 'इज दिस पीस ?' में उन्होंने एक प्रकार की विश्व सरकार का समर्थन किया है। वे चाहते थे कि एक संघ सरकार की स्थापना की जाय जो सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए जिम्मेदार हो।[124] किन्तु राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रवाद की सफलता के लिए आवश्यक है कि धार्मिक मूल्यों का भी विकास हो। उनका विचार है कि धार्मिक आदर्शवाद ही वास्तविक भाईचारे तथा सहकारिता के लिए आधार तैयार कर सकता है। वे लिखते हैं : "विश्व के इतिहास में धार्मिक आदर्शवाद ही शान्ति का सबसे शक्तिशाली और आशापूर्ण साधन सिद्ध हुआ है। जब तक हम अधिकारों और कर्तव्यों को आधार मानकर चलते रहेंगे तब तक हम मनुष्य के परस्पर विरोधी स्वार्थों और आशाओं में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकेंगे। सन्धियाँ तथा राजनयिक समझौते हमारे आवेशों पर अंकुश लगा सकते हैं, किन्तु वे हमारे भय को दूर नहीं कर सकते। विश्व में मानवजाति के लिए प्रेम का संचार करना है। हमें ऐसे धार्मिक वीरों की आवश्यकता है जो सम्पूर्ण विश्व के रूपान्तर की प्रतीक्षा नहीं करेंगे, बल्कि जो आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवन देकर भी 'एक पृथ्वी एक परिवार' के आदर्श को सिद्ध कर देंगे।[125]

---

119 *The Hindu View of Life*, पृष्ठ 127।
120 *Eastern Religion and Western Thought*, पृष्ठ 356।
121 वही, पृष्ठ 366-68।
122 वही, पृष्ठ 361।
123 वही, पृष्ठ 57।
124 एस. राधाकृष्णन्, *Is This Peace ?* पृष्ठ 62 (बम्बई, 1950)।
125 एस. राधाकृष्णन्, *Kalki or the Future of Civilization*, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 64 (बम्बई, हिन्द किताब्स, 1949)।

राधाकृष्णन् ने वास्तविक विश्व-शान्ति की स्थापना के तीन उपाय बतलाये हैं :

(1) सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना;

(2) साम्राज्यवादी आधिपत्य तथा उपनिवेशवाद का उन्मूलन; और

(3) राष्ट्रीय राज्यों के प्रभुत्व पर अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण ।[126]

अपनी 'इण्डिया एण्ड चाइना' पुस्तक में उन्होंने न्यायपूर्ण विश्व-शान्ति के तीन आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित किये हैं : (1) जातिगत समानता, (2) विश्व राष्ट्रमण्डल, और (3) अन्तरराष्ट्रीय पुलिस ।[127]

गान्धी तथा अरविन्द की भाँति राधाकृष्णन् भी मनुष्य के हृदय तथा मन में परिवर्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं ।[128] रोग गम्भीर है । मानव संस्कृति लोभ, लम्पटता और व्यापक स्वार्थपरता से उत्पन्न वेदनापूर्ण निराशा तथा मानसिक विकृति के दौर से गुजर रही है । संकट और सन्ताप के इस युग में युद्ध स्वाभाविक घटना बन गये हैं । एक दूसरे की देखादेखी निजी वासनाओं की अधिकाधिक तृप्ति करना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है और यही समस्या की जड़ है । इसका अन्त मनुष्य की चेतना में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है । मानव आत्मा की स्वाभाविक गम्भीरता को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा की शक्ति और जीवनबल की खोज करके ही समस्या का हल निकाला जा सकता है; वर्तमान संशयवादी प्रवृत्ति तथा तात्कालिक कामचलाऊ उपायों की टटोल से काम नहीं चल सकता ।[129] इसके लिए आवश्यक है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साक्षात्कार के हेतु समुचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय । पुरुषों और स्त्रियों के जीवन का रूपान्तर हो और उन्हें पाप, भ्रम और अज्ञान से मुक्ति मिले । यही मानव जाति की होतव्यता है ।

5. निष्कर्ष

राधाकृष्णन् उच्चकोटि के धर्मशास्त्री और भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध निर्वचनकर्ता हैं । किन्तु उन्हें मौलिक कोटि का रचनात्मक तत्वशास्त्री नहीं कहा जा सकता । उन्होंने एक व्यवस्थित ब्रह्माण्ड-विद्या की विशद रचना नहीं की है, उनकी शक्ति उनके व्यापक और गम्भीर दार्शनिक पाण्डित्य में निहित है । उन्हें उच्चकोटि का सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिक भी नहीं कहा जा सकता । एक सिद्धान्तकार के रूप में उनका मुख्य प्रयोजन धर्म के प्रत्ययवादी दर्शन का निरूपण करना रहा है । उनकी रचनाओं से इस बात का साक्ष्य नहीं मिलता कि उनका आधुनिक राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मुख्य समुदायों से परिचय है । इसलिए उनके पास उन सैद्धान्तिक उपकरणों का अभाव है जिनके द्वारा उन्नत सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन की व्यवस्था की रचना की जा सकती है । फिर भी वे इस बात के अधिकारी हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में उनकी गणना की जाय, क्योंकि उन्होंने लोकतन्त्र, सामाजिक न्याय तथा विश्व शान्ति के समर्थन में धार्मिक आदर्शवाद के सिद्धान्त पर अधिक बल दिया है ।

राधाकृष्णन् पश्चिम के लिए भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं । यद्यपि उनकी दार्शनिक रचनाएँ विवेकानन्द और रामतीर्थ की रचनाओं एवं उपदेशों की भाँति उत्प्रेरित और वाक्चातुर्य से पूर्ण नहीं हैं, किन्तु उनमें पाण्डित्य अधिक देखने को मिलता है । उन्होंने भारत की बहुमूल्य दार्शनिक विरासत को पश्चिम की अंग्रेजी जानने वाली जनता के लिए उपलब्ध करा दिया है । अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक स्थलों पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के बीच तुलना की है, इससे भारतीय दार्शनिकों का तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में योगदान स्पष्ट हो जाता है ।

राधाकृष्णन् की विभिन्न रचनाएँ जो 1908 के उपरान्त लगभग आधी शताब्दी की दीर्घकालीन बौद्धिक सर्जनशीलता की उपज है, पश्चिम तथा पूर्व के बीच दार्शनिक सेतु का काम करती हैं । उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन की रहस्यात्मक, धार्मिक तथा आदर्शवादी धारणाओं को अधिक महत्व

---

126 *Education, Politics and War*, पृष्ठ 11 ।

127 एस. राधाकृष्णन्, *India and China*, पृ. 194-200 (बम्बई, 1954) ।

128 एस. राधाकृष्णन्, *Education, Politics and War*, पृ. 93 ।

129 *An Idealist View of Life*, पृ. 82-83 ।

दिया है। रहस्यवाद तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर पूर्व का एकाधिकार नहीं है। पूर्व तथा पश्चिम के चिन्तन में धार्मिक आदर्शवाद की जो समान प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं वे मानव जाति की दो धाराओं के बीच निरन्तर वृद्धिमान सामंजस्य की सम्भावना की द्योतक हैं।

राजनीतिक चिन्तन में राधाकृष्णन् का योगदान यह है कि उन्होंने मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए धार्मिक मार्ग का समर्थन किया है। उन्होंने एक नये मानवतावाद का उपदेश दिया है। उसका आधार यह मान्यता है कि जीवन में धार्मिक मूल्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। किन्तु राधाकृष्णन् संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं हैं। धर्म से उनका अभिप्राय है बन्धुत्व, साहचर्य, समवाय, उदारता तथा सहिष्णुता की भावना और इस बात की स्वीकृति कि मनुष्य में ईश्वरीय ज्योति विद्यमान है और वही उसकी आन्तरिक प्रकृति है। राधाकृष्णन् उन लोगों में से हैं जिन्होंने धार्मिक चेतना की पुनःस्थापना करने का अत्यधिक ओजस्वी ढंग से समर्थन किया है।

राधाकृष्णन् के राजनीतिक चिन्तन के विषय में कहा जा सकता है कि उसने 'व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद' की विचारधारा को पुष्ट किया है। वे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के पुनरुत्थान के लिए सदैव प्रयत्नशील हैं, इस दृष्टि से वे व्यक्तिवादी हैं। वे इस अर्थ में भी व्यक्तिवादी हैं कि उन्होंने मनुष्य की आध्यात्मिक समानता पर बल दिया है और आग्रहपूर्वक कहा है कि मनुष्य को बौद्धिक शिक्षा की प्रणाली के द्वारा इतना ऊँचा उठाया जा सकता है कि वह स्वतन्त्रता, बुद्धि, प्रगति और बन्धुत्व के मूल्य को उत्तरोत्तर स्वीकार करता जाय। उनका विश्वास है कि शिक्षा के द्वारा समूह के आचरण में भी विवेक तथा उदारता की वृद्धि की जा सकती है। राधाकृष्णन् बुद्धि, शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रगति के लिए उत्सुक हैं। इस दृष्टि से उनमें तथा दार्शनिक उग्रवादियों में बहुत कुछ समानता और सादृश्य है। किन्तु राधाकृष्णन् पर हेगेल, कांट और ब्रैडले के प्रत्ययवाद का भी गहरा प्रभाव है। वे सामाजिक दायित्वों की प्राथमिकता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने समाज के सम्बन्ध में अवयवी धारणा को भी स्वीकार किया है। एक अरस्तूवादी की भाँति उनका भी कथन है कि राज्य का काम मनुष्य जीवन को श्रेष्ठतर बनाना है।[130] इस प्रकार राधाकृष्णन् व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद के सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। आत्मा के मूल्यों की खोज करना ही उनके चिन्तन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। वे बारबार यही कहा करते हैं कि दयनीय और निराश्रित मानव आत्मा का एकमात्र अवलम्ब आध्यात्मिकता ही है। राधाकृष्णन् राजनीतिक विषमावस्था, आर्थिक अव्यवस्था तथा सामाजिक असन्तुलन के बीच भी आत्मा के धर्म की खोज में रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी जड़ें रहस्यात्मक आदर्शवाद की हिन्दू दार्शनिक परम्परा में बहुत गहरी हैं।

प्रकरण 11
सत्यदेव परिव्राजक

1. प्रस्तावना

हिन्दू संगठन के शक्तिशाली समर्थक और एक युयुत्सु तथा निर्भीक संन्यासी स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (1879-1961) का जन्म लुधियाना में हुआ था, और ज्वालापुर हरद्वार में उनका देहान्त हुआ। जब वे लाहोर की एक प्राथमिक पाठशाला में पढ़ते थे उसी समय उन्हें वैदिक परम्पराओं में दीक्षित कर दिया गया था। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा स्वामी दयानन्द की एक संक्षिप्त आत्मकथा पढ़ी और सामाजिक विद्रोही बन गये। पण्डित लेखराम के वीरतापूर्ण मिशनरी उत्साह तथा लाला लाजपत राय द्वारा रचित मत्सीनी के जीवनचरित से उन्हें प्रेरणा मिली। उन्होंने लिखा है कि लालाजी की पुस्तक से मैंने राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल्य सीखा था।[131] मैट्रीकुलेशन परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त उन्होंने कुछ महीनों के लिए लिपिक का काम किया और फिर डी. ए. वी. कॉलिज लाहोर तथा महेन्द्र कॉलिज पटियाला में अध्ययन किया। स्वामी महानन्द से उन्होंने संस्कृत व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया। उसके बाद उन्होंने उत्तर भारत के अनेक स्थानों में 'लघु-सिद्धान्त कौमुदी', 'सिद्धान्त कौमुदी' तथा 'अष्टाध्यायी' का अध्ययन किया। वाराणसी के सेंट्रल

---

130 *Eastern Religions and Western Thought*, पृ. 360।
131 सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा, 'स्वतन्त्रता की खोज में', पृ. 282 (सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर, 1951)

हिन्दू कॉलिज में उनका डा. एनी बेसेंट से सम्पर्क हुआ। किन्तु उस समय वे कट्टर आर्यसमाजी थे इसलिए श्रीमती बेसेंट से उनका सम्बन्ध अधिक दिनों तक न चल सका। वहीं आंशिक रूप में श्यामसुन्दरदास की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया जो आगे चलकर उनके जीवन का मुख्य कार्य बन गया। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के व्यक्तित्व, रचनाओं और भाषणों से गम्भीर प्रेरणा तथा उत्कट उत्साह प्राप्त करके सत्यदेव ने 1905 में अमेरिका को प्रस्थान किया। अमेरिका में वे पाँच वर्ष रहे। वहाँ उन्होंने शिकागो, ओरेगों (यूजीन) और वाशिंगटन (सीटल) के विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया तथा राजनीति-शास्त्र का विशेष विषय लेकर बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कैम्ब्रिज (मैसेचुसेट्स) में उनकी लाला हरदयाल से भेंट हुई।[132]

1911 में सत्यदेव भारत लौट आये और राष्ट्रवाद की व्याख्या तथा प्रचार करने के लिए बहुत ही उग्र तथा ओजस्वी भाषण देने लगे। उन्होंने भारतीयों को शुद्ध राष्ट्रवाद का सन्देश दिया जिसका पाठ उन्होंने अमेरिका में सीखा था। अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा उन्होंने शारीरिक बल, स्वावलम्ब, श्रम की गरिमा, मानव अधिकार, हिन्दी का प्रचार, हिन्दू संस्कृति पर गर्व तथा भारतीयता का महत्व समझाया। वे 'राजनीतिक संन्यासी' होने का दावा करते थे। उन्होंने राष्ट्रवाद का सन्देश दिया, किन्तु उसमें नैतिक तत्व भी जुड़ा रहता था। महात्मा गान्धी के कहने से उन्होंने 1918 में दक्षिण में हिन्दी के प्रचार के लिए प्रारम्भिक कार्य किया।

जब गान्धीजी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो सत्यदेव उनके सहायक के रूप में काम करते रहे और स्कूलों तथा कॉलिजों के बहिष्कार के समर्थन में अनेक स्थानों पर उन्होंने जोशीले भाषण दिये। किन्तु बाद में वे मोतीलाल नेहरू के स्वराज्य दल में सम्मिलित हो गये और 1925 के चुनावों में उस दल के प्रत्याशियों का समर्थन किया। 1924 में उन्होंने अपनी 'संगठन का बिगुल' नामक पुस्तक की रचना तथा प्रकाशन किया। 1927 में वे आँखों की चिकित्सा के लिए जर्मनी चले गये और वहाँ भी उन्होंने हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता पर भाषण दिये।

सत्यदेव स्वभाव से आक्रामक तथा युयुत्सु प्रवृत्ति के थे। उनकी वाणी बड़ी तीक्ष्ण थी। अपनी बातचीत में वे पुलिस तथा सी. आई. डी. के विरुद्ध विष उगला करते थे। सत्यदेव कभी भी आतंकवादी अथवा क्रान्तिकारी नहीं थे, यद्यपि इस सम्बन्ध में उन पर निरन्तर आग्रहपूर्वक सन्देह किया जाता रहा। बल्कि उन्होंने आतंकवादियों को हिंसा के मार्ग से हटाने का भी प्रयत्न किया और उन्हें समझाया कि यत्रतत्र हिंसा करने तथा यदाकदा नौकरशाही के किसी सदस्य को मार डालने से कोई लाभ नहीं हो सकता। किन्तु पुलिस के अभिलेखों में उन्हें एक आतंकवादी के रूप में ही चित्रित किया गया था, और इसलिए जहाँ तक पुलिस का सम्बन्ध था उनके राजनीतिक जीवन में बड़ी कड़ुआहट रही।

सत्यदेव ने पाँच बार यूरोप की यात्रा की—1911, 1923, 1927-30, 1934 और 1939 में। अपनी तीसरी यात्रा में वे यूरोप में तीन वर्ष रहे। जर्मनी में रहकर वे जर्मन जीवन-प्रणाली तथा संस्कृति से बहुत आकृष्ट हुए। जब वे प्राचीन भारतीय विरासत तथा संस्कृति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में भाषण दिया करते थे उस समय भी उन्हें नात्सियों की ड्रिल प्रणाली तथा अनुशासन बहुत पसन्द था। नात्सी लोग शारीरिक बल तथा राष्ट्रीय शक्ति को बहुत महत्व दिया करते थे। उनकी यह बात भी सत्यदेव को अच्छी लगी थी। सम्भव है कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनकी घृणा उनके फासीवाद की ओर आकृष्ट होने का आंशिक कारण रही हो। अपनी आत्म-कथा में उन्होंने हिटलर को महान कहा[133] है और उसके असाधारण बलिदान, शुद्ध चरित्र, दुर्दमनीय साहस तथा अटूट देशभक्ति की बड़ी प्रशंसा की है।[134] हिटलर ने यहूदियों और ईसाइयों की इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) की धारणा के विरुद्ध जिहाद चला रखा था, और वह यूरोप में आर्य संस्कृति के प्रचार

---

132 स्वदेश लौटने के उपरान्त सत्यदेव ने लाला हरदयाल के लेखों का 'स्वाधीन विचार' नाम से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

133 'स्वाधीनता की खोज में', पृष्ठ 304। सत्यदेव लिखते हैं कि सुभाषचन्द्र ने हिटलर में उत्कट राष्ट्रवाद का मूर्त रूप देखा था।

134 वही, पृष्ठ 405-06।

के लिए उत्सुक था। इस सबके लिए भी सत्यदेव ने हिटलर का बहुत गुणगान किया है।[135] उनका विश्वास था कि ईश्वर ने हिटलर को भारतीय स्वाधीनता के लिए साधन के रूप में प्रयोग किया था। इसका प्रमाण यह था कि हिटलर ने इंगलैण्ड की शक्ति को जर्जरित करके भारत की स्वाधीनता के संघर्ष में सहायता पहुँचायी थी।[136] सत्यदेव ने जवाहरलाल नेहरू की भी आलोचना की है, क्योंकि वे भावावेश के कारण हिटलर को फासीवादी मानते हैं।[137]

1942 में स्वामी सत्यदेव की नेत्रदृष्टि लगभग समाप्त हो गयी। उसके उपरान्त 1961 तक उन्होंने अपना जीवन अधिकतर ज्वालापुर में स्थित अपने सत्यज्ञान निकेतन आश्रम में ही बिताया। किन्तु इस काल में भी वे लिखने का काम करते रहे और उपदेश देते रहे। एक वर्ष तक उन्होंने 'ज्ञानधारा' नामक पत्र का सम्पादन किया। उन्होंने लगभग पच्चीस पुस्तकें और पुस्तिकाएँ लिखी थीं। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं : 'ज्ञान के उद्यान में', 'स्वतन्त्रता की खोज में', 'पाकिस्तान : एक मृगतृष्णा' (1952), 'अनन्त की ओर', 'मेरी कैलाश यात्रा', 'अमेरिका भ्रमण', 'मेरी जर्मन यात्रा' इत्यादि। उनकी पुस्तिका 'राष्ट्रीय सन्ध्या' ने भी लोगों को बहुत प्रभावित किया। वे हिन्दी के ओजस्वी लेखक, तथा उत्प्रेरित और कुशल वक्ता थे। उनकी वाणी बड़ी प्रभावोत्पादक थी। उन्होंने अंग्रेजी में 'द गौस्पिल आव इण्डियन फ्रीडम' (भारतीय स्वतन्त्रता का शुभ सन्देश) नामक पुस्तक भी लिखी थी।[138]

2. राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधार

सत्यदेव एक महान आस्तिक थे; उन्हें ईश्वर की अनुकम्पा तथा उसके दयालुतापूर्ण विधान में पूरी आस्था थी। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि भारत की स्वाधीनता ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति है,[139] नहीं तो यदि 1945 में एटली की जगह चर्चिल इंगलैण्ड का प्रधान मन्त्री हो जाता तो वह भारत की स्वाधीनता को कम से कम कुछ वर्ष के लिए टाल तो अवश्य ही देता। कभी-कभी ऐसा लगता है कि सत्यदेव ज्ञान को एक अनन्त आद्य सत्ता मानते थे। उनके अनुसार मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य असीम ज्ञान के अनन्त सागर में से अधिकाधिक पान करना है। यद्यपि वे आस्तिक थे, ईश्वरीय कृपा में विश्वास करते थे, और महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज से बहुत प्रभावित हुए थे, फिर भी उन्होंने यह मानने से इनकार किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार हैं। वे दैवी श्रुतिप्रकाश के सिद्धान्त के विरुद्ध थे और बुद्धिवादी होने का दावा करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य समाज की शिक्षाओं तथा उत्साह से प्रभावित होते हुए भी सत्यदेव डार्विन के विकासवाद के इस सिद्धान्त को मानते थे कि मनुष्य जाति किसी प्राक्मानव पशु-योनि से विकसित हुई है।[140]

सत्यदेव यह भी स्वीकार करते थे कि योग ईश्वर-साक्षात्कार की एक वैज्ञानिक पद्धति है। वे कहा करते थे कि प्राचीन आर्य ऋषियों के पास शुद्ध दैवी ज्ञान का भण्डार था। वे पतंजलि के 'योगसूत्र' के प्रशंसक थे।

3. स्वामी सत्यदेव के राजनीतिक विचार

सत्यदेव ने अपनी 'द गौस्पिल आव इण्डियन फ्रीडम' नामक पुस्तक में आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। वे शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंह को भारतीय राष्ट्र-

---

135 वही, पृष्ठ 388।
136 वही, पृष्ठ 404।
137 वही, पृष्ठ 402।
138 स्वामी सत्यदेव के ग्रन्थों को सत्य ग्रन्थमाला, इलाहाबाद, और सत्य ज्ञान निकेतन, ज्वालापुर ने प्रकाशित किया था।
139 स्वामी सत्यदेव के 1951 में पटना आर्य समाज में दिये गये भाषण पर आधारित। इसके अतिरिक्त देखिये 'स्वतन्त्रता की खोज में' पृष्ठ 468।
140 सत्यदेव, 'ज्ञान के उद्यान में' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 323-26 (ज्वालापुर, सत्य ज्ञान निकेतन, 1954) [illegible] सत्यदेव पर शिकागो विश्वविद्यालय के प्रो. मुइर के *The Universal Kinship* तथा रोमेनेस के *Mental Evolution* का प्रभाव पड़ा था।

वाद का जनक मानते थे।[141] किन्तु शिवाजी को प्राचीन वर्णाश्रम की परम्पराओं में पूर्ण आस्था थी। इसलिए यद्यपि उन्होंने मुगल साम्राज्य पर भयंकर प्रहार किये, किन्तु वे स्वतन्त्रता के राजनीतिक आन्दोलन के साथ-साथ किसी तदनुरूपी सामाजिक क्रान्ति का सन्देश न दे सके।[142] गुरु तेगबहादुर के बलिदान के फलस्वरूप "भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन एक शहीद के रक्त से पुनीत हो गया।"[143] गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख समुदाय में सामाजिक लोकतंत्र का समावेश कर दिया। इसकी समीक्षा करते हुए सत्यदेव लिखते हैं : "मुगलों के समाज में न जाति-प्रथा थी और न अस्पृश्यता, इसलिए गुरु गोविन्दसिंह ने भी हिन्दू समाज में समाजवाद के सिद्धान्तों को लागू किया।....हिन्दू जनता में योद्धाओं की भावना का संचार करके उन्होंने अकाली दल का संगठन किया। यह दल लौह पुरुषों की एक सेना थी, और उसके सदस्य सदैव मृत्यु का सामना करने के लिए उद्यत रहते थे। गुरु गोविन्दसिंह ने अकालियों में भाईचारे की भावना का भी संचार किया। यही कारण है कि हम उनका भारतीय राष्ट्रवाद के जनक के रूप में सम्मान करते हैं।"[144] बन्दा बहादुर ने भी भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[145] रणजीतसिंह ने "सिक्ख परिसंघ के विभिन्न वर्गों को संयुक्त किया और एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य की नींव डाली।"[146] सत्यदेव ने इस मत का खण्डन किया कि 1857 का आन्दोलन भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम था। वे लिखते हैं : "1857 में कुछ चतुर मुसलिम गुमाश्तों ने असन्तुष्ट भारतीय राजाओं को संयुक्त करके और भारतीय सैनिकों में अफवाहें फैलाकर कम्पनी के शासन का अन्त करने के लिए एक विद्रोह का संगठन कर लिया। साधारण जनता ने इस विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया।"[147] सत्यदेव ने दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ के देशभक्तिपूर्ण कार्यों और उपदेशों की बड़ी प्रशंसा की है और कहा है कि इन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया था। उन्होंने दयानन्द और तिलक को उन्नीसवीं शताब्दी में 'राष्ट्रीय आदर्शों' के संस्थापक होने का श्रेय दिया है।[148]

सत्यदेव वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के समर्थक थे। उन्होंने 'मनुष्य के अधिकार' नामक एक पुस्तिका लिखी थी जिसमें उन्होंने बतलाया था कि अत्याचार का प्रतिरोध करना ईश्वर के आदेश का पालन करना है।[149] पुस्तिका के शीर्षक से स्पष्ट है कि सत्यदेव पर टॉमस पेन के 'राइट्स आव मैन' (मनुष्य के अधिकार) का प्रभाव पड़ा था।

सत्यदेव ने स्वराज तथा स्वतन्त्रता में भेद किया। स्वराज का अर्थ है नैतिक स्वाधीनता। वह अहं की कुत्सित वासनाओं के दमन पर आधारित होती है। इसके विपरीत स्वतन्त्रता मनुष्य के निम्न अहंकार तथा आत्म-प्राधान्य जताने की प्रवृत्तियों को महत्व देती है। नैतिक स्वाधीनता शुद्ध आत्मा के प्रतिष्ठापन पर निर्भर होती है न कि वासनाओं के तुष्टीकरण पर। स्वाधीनता भौतिक अथवा यांत्रिक वस्तु नहीं है। वह दैवी तत्व है, और उसका आधार आत्म-साक्षात्कार है। इस प्रकार वास्तविक स्वाधीनता नैतिक तथा दार्शनिक है। उन्होंने यह भी बतलाया कि स्वाधीनता एक शक्ति है और वह बुद्धि तथा चरित्र के प्रशिक्षण के द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। आत्मसाक्षात्कार तथा सार्वभौमवाद के आदर्श और स्त्रियों तथा शूद्रों का उत्पीड़न, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं, इनका सह-अस्तित्व सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक जागृति के लिए सामाजिक सुधार तथा

---

141 एक स्थल पर सत्यदेव ने ऐसे विचार भी व्यक्त किये थे जो किसी रूप में उक्त धारणा के विपरीत थे। देखिये 'ज्ञान के उद्यान' में द्वितीय संस्करण, 1954, पृष्ठ 117।

142 स्वामी सत्यदेव, *The Gospel of Indian Freedom*, पृ. 9 (ज्वालापुर, सत्य ज्ञान निकेतन, 1938)।

143 वही, पृ. 11।

144 वही, पृ. 12।

145 वही, पृ. 13।

146 वही, पृ. 14-15।

147 वही, पृ. 17।

148 'ज्ञान के उद्यान' में पृ. 118।

149 यह क्रान्तिकारियों की प्रिय पुस्तक थी। मैनपुरी षड्यंत्र केस में सरकारी वकील जगत नारायण ने कहा था कि क्रान्तिकारियों को इस पुस्तक से प्रेरणा मिली थी। पुस्तक के उर्दू तथा सिन्धी अनुवाद भी प्रकाशित किये गये थे—'स्वाधीनता की खोज में', पृ. 174।

जिन्ना भी लखनऊ कांग्रेस में अनुसमर्थित कांग्रेस-लीग योजना से सहमत था। 1917 की कलकत्ता कांग्रेस में भी उसने कांग्रेस-लीग योजना का समर्थन किया। उसने स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव का भी अनुमोदन किया।

जैसे ही असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ और जनजागरण का ज्वार आया वैसे ही जिन्ना ने अनुभव किया कि अब कांग्रेस में मेरा स्थान नहीं है। 1920 को नागपुर कांग्रेस में उसने असहयोग सम्बन्धी मुख्य प्रस्ताव का विरोध किया। एक वकील के नाते वह सांविधानिक तरीकों में विश्वास करता आया था। किन्तु काँग्रेस ने अब गान्धीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक कार्यवाही आरम्भ कर दी थी, इसलिए वह उसकी इस उग्र नीति से सहमत न हो सका। 19 फरवरी, 1921 को पूना में एक अवसर पर भाषण देते हुए उसने कहा था कि गान्धीजी असहयोग, खादी आदि के कार्यक्रम के स्थान पर मैं "राजनीतिक कार्यक्रम" चाहता हूँ।

1924 में जब 1919 के भारत शासन अधिनियम की कार्यान्विति की जाँच करने के लिए मुडीमैन समिति नियुक्त की गयी तो जिन्ना को उसका सदस्य बनाया गया। उसने सप्रू, परांजपे और शिवस्वामी अय्यर के साथ उस अल्पसंख्यक प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर किये जिसमें द्वैध शासन को समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया था। वह उस स्कीन समिति का भी सदस्य था जिसने भारतीय सेना के अधिकारियों के भारतीयकरण के प्रश्न पर विचार किया था।

जिन्ना ने 1918 की नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया, यद्यपि उसमें मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक स्थान देने का प्रस्ताव किया गया था। नेहरू रिपोर्ट के विपरीत जिन्ना ने अपने चौदह सूत्र प्रस्तुत किये। 1937 के चुनावों के उपरान्त जब काँग्रेस ने मुसलिम जनसम्पर्क की नीति अपनायी तो उससे जिन्ना बहुत घबड़ाया। 1939 में उसने मुस्लिम लीग की ओर से दावा प्रस्तुत किया कि राजनीतिक शक्ति में 'मुसलिम भारत' तथा 'गैर-मुसलिम भारत' का पचास-पचास प्रतिशत का साझा होना चाहिए।

जिन्ना हिन्दू समाज-व्यवस्था तथा कांग्रेस का सक्रिय शत्रु बन गया। 1939 में जब सात प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया तो जिन्ना की प्रेरणा से ही मुसलमानों ने 22 दिसम्बर को मुक्ति दिवस मनाया। उसने इस बात का विकराल हौआ खड़ा कर दिया कि यदि भारत में पाश्चात्य ढंग का लोकतन्त्र स्थापित किया गया तो देश में सवर्ण हिन्दुओं का आधिपत्य स्थापित हो जायगा। उसने कहा कि लोकतन्त्र का अर्थ होगा मुसलमानों, अछूतों, यहूदियों, पारसियों और ईसाइयों के ऊपर उन सबकी इच्छा के विरुद्ध हिन्दुओं का शासन। इसलिए जिन्ना ने 'काँग्रेसी अत्याचार' और 'हिन्दू आधिपत्य' के उत्तेजनात्मक नारे लगाये। उसने दावा किया कि लीग भारतीय मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है। उसने यहाँ तक कह दिया कि कांग्रेस शुद्ध हिन्दू संगठन है। मार्च 1940 में मुसलिम लीग के लाहौर अधिवेशन में जिन्ना ने अपने 'दो राष्ट्रों' का सिद्धान्त निरूपित किया। 9 मार्च, 1940 के 'टाइम एण्ड टाइड' में उसका एक लेख प्रकाशित हुआ। उसमें उसने लिखा : "भारत का राजनीतिक भविष्य क्या है ? ब्रिटिश सरकार का प्रख्यापित (घोषित) उद्देश्य यह है कि भारत शीघ्रातिशीघ्र वेस्टमिन्स्टर अधिनियम के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य का उपभोग करे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह स्वभावतः चाहेगी कि भारत में लोकतान्त्रिक ढंग के संविधान की स्थापना हो, क्योंकि वह इसी प्रकार के संविधान से सबसे अधिक परिचित है और इसी को सर्वोत्तम समझती है। ऐसे संविधान के अन्तर्गत देश की सरकार चुनावों में हार-जीत के आधार पर किसी एक दल के सुपुर्द कर दी जाती है। किन्तु ब्रिटिश संसद के सदस्यों तक में भारतीय परिस्थितियों के सम्बन्ध में इतना अज्ञान फैला हुआ है कि अतीत के सब अनुभव के बावजूद वे अभी तक यह नहीं समझ सके हैं कि इस प्रकार का शासन भारत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। लोकतान्त्रिक प्रणालियाँ जो इंगलैण्ड जैसे समांग राष्ट्र की धारणा पर आधारित है, निश्चित रूप से भारत जैसे विषमांग देश में लागू नहीं की जा सकतीं। यह सीधा-सादा तथ्य ही भारत की सांविधानिक बुराइयों की जड़ है।" जिन्ना ने बतलाया कि पाश्चात्य लोकतन्त्र का आधार समरूपता तथा सामुदायिकता के बन्धन हैं, किन्तु भारत में इस प्रकार के बन्धनों का स्थापित करना असम्भव है। अतः आस्ट्रेलिया और कनाडा के ढंग का संघात्मक संविधान भारत के

अनुकूल नहीं हो सकता। उसने लिखा : "अंग्रेज लोग ईसाई होते हुए भी अपने इतिहास के धार्मिक युद्धों को भूल जाते हैं और धर्म को ईश्वर तथा मनुष्य के बीच का निजी तथा वैयक्तिक मामला समझते हैं। किन्तु हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों धर्म निश्चित आचार संहिताएँ हैं जो मनुष्य तथा ईश्वर के सम्बन्धों का उतना नियमन नहीं करतीं जितना कि मनुष्य तथा उसके पड़ोसी के बीच सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। हिन्दुत्व तथा इस्लाम मनुष्य की विधि तथा संस्कृति को ही नहीं, अपितु उसके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को शासित करते हैं। इस प्रकार के धर्म जो तत्वतः वहिष्कारवादी हैं उस अपनत्व के विलयन तथा चिन्तन की एकता के विरोधी हैं जिस पर पाश्चात्य लोकतन्त्र आधारित है।"

1944 में गान्धी-जिन्ना वार्ता के दौरान जिन्ना दृढ़ता तथा कट्टरता के साथ इस सिद्धान्त पर डटा रहा कि मुसलमान एक पृथक राष्ट्र हैं। 15 सितम्बर, 1944 को अपने एक पत्र में उसने गान्धीजी को लिखा : "हमारा दावा है कि हम किसी भी परिभाषा अथवा कसौटी को क्यों न अपनायें, हिन्दू तथा मुसलमान दो वड़े राष्ट्र हैं। हम दस करोड़ का एक राष्ट्र हैं, और उससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि हम एक ऐसा राष्ट्र हैं जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला तथा स्थापत्य, नाम तथा नामव्यवस्था, मूल्यों तथा अनुपात की धारणा, विधिक कानून तथा नैतिक संहिताएँ, परिपाटियाँ तथा जंत्री, इतिहास तथा परम्पराएँ, प्रवृत्तियाँ तथा महत्वाकांक्षाएँ हैं। संक्षेप में, हमारा जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण तथा जीवनदर्शन है। अन्तरराष्ट्रीय विधि के हर सिद्धान्त के अनुसार हम एक राष्ट्र हैं।" वह किसी भी रूप में समझौता करने के लिए तैयार नहीं था; और उसका आग्रह था कि देश का विभाजन ही हिन्दू-मुसलिम समस्या का एकमात्र हल है। मुसलमानों के अनेक संगठन जैसे जमीअत-ए-उलैमा, अहरार और इत्तिहाद-ए-मिल्लत जिन्ना के इस मत से सहमत नहीं थे।[7] 4 अक्टूबर, 1944 को लन्दन के 'न्यूज क्रौनीकल' के एक प्रतिनिधि से भेंट में उसने कहा था, "मुसलमानों और हिन्दुओं के झगड़ों को निपटाने का एक ही व्यावहारिक तथा यथार्थवादी तरीका है। वह यह है कि भारत को पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान दो प्रभुत्वसम्पन्न भागों में बाँट दिया जाय, और उसके लिए सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, वलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाव, बंगाल और आसाम को, जिस रूप में वे आज हैं, प्रभुत्वसम्पन्न मुसलिम राज्य मान लिया जाय। इसके अतिरिक्त हम एक दूसरे का विश्वास करें कि पाकिस्तान में हिन्दू अल्पसंख्यकों और हिन्दुस्तान में मुसलिम अल्पसंख्यकों के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जायगा।....तथ्य यह है कि हिन्दू कोई ऐसा समझौता चाहते हैं जिससे किसी न किसी रूप में उनका नियन्त्रण वना रहे। वे हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता को सहन नहीं कर सकते।"

अन्त में जिन्ना को वह वस्तु मिल गयी जो उसके लिए भी एक स्वप्न थी। शक्ति तथा उत्तरदायित्व के पद पर आसीन होकर 11 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान की संविधान सभा के सामने अपने अध्यक्षीय भाषण में उसने कहा : "आप स्वतन्त्र हैं : पाकिस्तान के इस राज्य में आप अपने मन्दिरों में, अपनी मसजिदों में अथवा आराधना के किसी अन्य स्थान में जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। आप किसी भी धर्म, जाति अथवा पंथ के हों—उसका इस आधारभूत सिद्धान्त से कोई सम्वन्ध नहीं है कि हम सव एक राज्य के नागरिक और समान नागरिक हैं। मेरा विचार है कि अव हम इस बात को अपने सामने एक आदर्श के रूप में रखें, और फिर आप देखेंगे कि कालान्तर में हिन्दू हिन्दू नहीं रहेंगे और मुसलमान मुसलमान नहीं रहेंगे—धार्मिक अर्थ में नहीं क्योंकि धर्म तो हर व्यक्ति के निजी विश्वास की चीज है, वल्कि एक राज्य के नागरिकों के रूप में, राजनीतिक अर्थ में।"

जिन्ना ने पाकिस्तान में इस्लामी धर्मतंत्र की परम्परा की नींव डाली। 1 जुलाई, 1948 को उसने कहा : ' 'पश्चिम के अर्थतंत्र ने मानव जाति के लिए ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनको हल करना लगभग असम्भव है, और हममें से अनेक लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के सिर पर विनाश के जो वादल मँडरा रहे हैं उनसे उसे कोई चमत्कार ही वचा सकता है। पश्चिमी

---

7 देखिये एम. आर. दुग्गल, *Jinnah Mufti-i-Azam* (लाहौर, 15 सरक्यूलर रोड, 1944) तथा अहमदहुसैन, *Jinnah and League Politics* (लखनऊ, 1940)।

अर्थतंत्र मनुष्य तथा मनुष्य के बीच न्याय स्थापित करने में, तथा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र से संघर्ष का उन्मूलन करने में असफल रहा है, बल्कि पिछली आधी शताब्दी में जो दो विश्व युद्ध हुए हैं उनका उत्तरदायित्व मुख्यतः उसी पर है। यद्यपि पश्चिमी जगत को यंत्रीकरण तथा औद्योगिक कौशल का भारी लाभ है फिर भी वह आज जिस विषमावस्था में है वैसा इतिहास के किसी युग में नहीं रहा। पश्चिम के आर्थिक सिद्धान्त तथा व्यवहार को अपनाकर हम जनता को सुखी तथा सन्तुष्ट बनाने के अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। हमें अपनी होतव्यता की प्राप्ति के लिए अपने ढंग से कार्य करना चाहिए तथा विश्व के समक्ष एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था प्रस्तुत करनी चाहिए जो मानव जाति की समानता तथा सामाजिक न्याय के इस्लामी आदर्शों पर आधारित हो। तब हम मुसलमानों के रूप में अपने ध्येय को पूरा करने में सफल होंगे और मनुष्य जाति के लिए कल्याण, सुख तथा समृद्धि प्राप्त कर सकेंगे।" जिन्ना पर मुस्तफा कमाल के जीवन का प्रभाव पड़ा था, किन्तु कमाल आधुनिकवादी था जबकि जिन्ना को धर्मतंत्र तथा इस्लामी लोकतंत्र में विश्वास था।

3. निष्कर्ष

जिन्ना धार्मिक व्यक्ति नहीं था। वह राजनीतिज्ञ था। एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप में वह भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्विरोधों तथा भ्रान्तियों की उपज था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति उसका एक मुख्य अवलम्ब थी। जब तक भारतीय राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की रूमानी विचारधारा का रूप धारण किये रहा तब तक भारतीय सामाजिक तथा साम्प्रदायिक जीवन के विघटनकारी तत्व सुपुप्त पड़े रहे। किन्तु जब राष्ट्रीय स्वाधीनता को साकार करने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी तो शिक्षित मुसलिम समुदाय घबड़ा उठा, क्योंकि स्वाधीनता का अर्थ था बहुसंख्यकों के लोकतांत्रिक शासन की स्थापना, जिसे मुसलमानों ने बहुसंख्यक हिन्दुओं का शासन समझा। ऐसी स्थिति में मुसलिम जनता जो अलीगढ़ आन्दोलन के शैक्षिक प्रभाव तथा मुहम्मद अली और शौकत अली के सर्व इस्लामवादी विचारों से आन्दोलित हो उठी थी भक्तिपूर्वक मुहम्मद अली जिन्ना के झंडे के नीचे एकत्र हो गयी और पाकिस्तान की धर्मतांत्रिक तथा साम्प्रदायिक माँग की जिहाद में उसका समर्थन करने लगी।

प्रकरण 3

मुहम्मद अली

1. प्रस्तावना

मौलाना मुहम्मद अली का जन्म 1878 में रामपुर में हुआ था और 3 जनवरी, 1931 को लन्दन में उनका देहान्त हुआ। उन्होंने अलीगढ़ तथा ऑक्सफर्ड में शिक्षा पायी।[8] चार वर्ष (1898 से 1902 तक) ऑक्सफर्ड में शिक्षा प्राप्त करके वे 1902 में भारत लौटे और रामपुर राज्य के शिक्षा-विभाग में नौकरी कर ली। उसके उपरान्त वे बड़ौदा के गायकवाड़ के यहाँ नौकरी करने लगे। 1911 में उन्होंने कलकत्ता में पत्रकार का जीवन आरम्भ किया और 'कौमरेड' नाम की एक साप्ताहिक अँग्रेजी पत्रिका प्रारम्भ की जिसका पहला अंक 11 जनवरी, 1911 को प्रकाशित हुआ। 'कौमरेड' के द्वारा मुहम्मद अली ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य तथा झगड़ों को मिटाने और उन दोनों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनका 'तुर्कों की पसन्द' नाम का प्रसिद्ध लेख 16 सितम्बर, 1914 के 'कौमरेड' में प्रकाशित हुआ जिससे अधिकारियों के मन में भारी कटुता उत्पन्न हो गयी। मुहम्मद अली ने 1914 में स्थापित 'हमदर्द' नामक एक उर्दू दैनिक का भी सम्पादन किया। 1913 में उन्होंने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन का सभापतित्व किया। मई 1915 में उन्हें पाँच वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया, और 25 दिसम्बर, 1919 को मुक्त किया गया। मुक्त होने के उपरान्त वे अमृतसर की कांग्रेस में सम्मिलित हुए। 1920 में वे खिलाफत के सम्बन्ध में एक प्रतिनिधि मंडल के साथ इंग्लैंड गये। खिलाफत आन्दोलन के वे प्रमुख नेता थे। 1921 में उन्होंने दिल्ली में जामिया मिल्लिया इस्लामियाँ की

स्थापना की। 1920-21 में उन्होंने महात्मा गान्धी के साथ-साथ काम किया। 1921 में उन्हें तथा उनके अग्रज शौकतअली[9] को भारतीय सेना में राजद्रोह फैलाने के अपराध में कठोर दण्ड दिया गया। कराची के अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में मुहम्मद अली ने मुसलमानों को भड़काया कि जब तक ब्रिटिश सरकार तुर्कों के साथ किये गये अन्याय को दूर न करे तब तक उन्हें भारतीय सेना में सेवा नहीं करनी चाहिए। कराची में अपने अभियोग परीक्षण के दौरान उन्होंने जो भाषण दिया उसमें उन्होंने योद्धा के-से उत्साह का परिचय दिया और तत्कालीन सरकार को चुनौती भरे शब्दों में ललकारा। इसी कारण वह भाषण ऐतिहासिक महत्व का हो गया है। दो वर्ष कारागार में बिताने के उपरान्त अगस्त 1923 में वे मुक्त कर दिये गये। कारागार से छूटने के वाद उन्होंने घोषणा की कि मुझे गान्धीजी के अहिंसात्मक असहयोग तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के कार्यक्रम में अडिग आस्था है। 1823 में उन्होंने कोकोनाडा के कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। जब 1923 के वाद साम्प्रदायिक समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया तो उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से 1924 में उस समय एकता सम्मेलन वुलाया जब गान्धीजी ने 21 दिन का उपवास आरम्भ कर दिया था। 1928 में वे यूरोप के लिए रवाना हो गये इसलिए वे उस सर्वदलीय सम्मेलन की बैठकों तथा विचारविमर्श में भाग न ले सके जो भारत के लिए संविधान तैयार करने तथा देश में फैली हुई साम्प्रदायिक समस्या का हल ढूँढ़ निकालने के लिए वुलाया गया था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की अवहेलना करते हुए 1930 में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया।

2. मुहम्मद अली के विचारों का धर्मशास्त्रीय आधार

मुहम्मद अली तत्वतः मुसलिम धर्मशास्त्री थे। इस्लाम के सिद्धान्तों में उनकी गहरी आस्था थी। मुसलिम समाज परम्परा से धर्मतान्त्रिक दृष्टिकोण का अनुसरण करता आया था, उन्होंने उस समाज की राजनीतिक कार्य पद्धति पर भी गहरा धार्मिक रंग चढ़ा दिया। वे धर्म को विज्ञान से भी ऊँचा मानते थे। उन्होंने क़ुरान की उदारवादी तथा बौद्धिक व्याख्या का विरोध किया। उन्होंने लिखा है: "किन्तु जहाँ विज्ञान और धर्म के संघर्ष का प्रश्न है········मैं उन दोनों के बीच किसी संघर्ष की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता, और न उनके वीच समझौते के लिए ही कुछ है। धर्म जीवन की व्याख्या है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु उसका काम केवल प्रोत्साहन देना है और उसे (विज्ञान से) मुक्त तथा अवाध छोड़ देना है। धर्म का उद्देश्य यह है कि विधान की प्रगति हो और उसकी उपलब्धियों का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि उनसे सम्पूर्ण मानव जाति को, वल्कि ईश्वर की समग्र दृष्टि को लाभ पहुँचे। किन्तु वह मानव जाति को विज्ञान पढ़ाने का काम अपने हाथों में नहीं लेता। धर्म प्रभु है और उससे कोई भूल नहीं हो सकती; कल्पना को तथ्य समझ बैठने की भूल करने की जिम्मेदारी मन्त्री और प्रजा की है—अर्थात विज्ञान की। क़ुरान का उद्देश्य सचमुच यह सिखाना नहीं है कि विश्व की सृष्टि जिस प्रकार हुई थी।········आज विज्ञान के महत्व को कोई कम नहीं मानेगा, फिर भी धर्म की महत्ता से तुलना करने पर यह तुच्छ तथा हेय प्रतीत होता है, क्योंकि धर्म जीवन का विधान है, सव विज्ञानों और दर्शनों का सार है। चूँकि इस्लाम जीवशास्त्र की शिक्षा नहीं देता, इसलिए ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसका वह अपनी व्याख्या द्वारा खण्डन करने का प्रयत्न करें।········इस्लाम ऐसे लोगों को देखकर दुःखी होगा जो इतने प्रमादी और अकर्मण्य हैं कि प्रगति से अप्रभावित बने रहते हैं, और जो डार्विन द्वारा विकासवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादित किये जाने के वावजूद इंजील के सृष्टि विषयक अध्याय की दुहाई देते रहते हैं। फिर भी इस्लाम डार्विन तथा उसके विकासवाद को वैज्ञानिक सत्य के सम्वन्ध में अन्तिम वाक्य मानकर उस पर अपनी मुहर लगाने के लिए तैयार नहीं होगा।········तथापि मैं यह मानने के लिए कोई कारण नहीं देखता कि अतिप्राकृतिक (लोको-

---

9 शौकत अली (1873-1938) ने अपने अनुज मुहम्मद अली का निष्ठापूर्वक अनुगमन किया और उनके जीवन के गौरव में साझा वटाया। 1931 में जब मुहम्मद अली की मृत्यु हो गयी उसके वाद शौकत अली अधिकाधिक मुसलिम सम्प्रदायवादी वनते चले गये।

-त्तर) कर्म ईश्वर के लिए असम्भव है; उसके लिए सब कुछ सम्भव है। निर्वचन की इस स्वतन्त्रता के अतिरिक्त, जिसे हर व्यक्ति को अपने लिए सुरक्षित रखना चाहिए, मैं अन्य किसी बात का दावा नहीं करता और मैं यह मानता हूँ कि निर्वचन रूपी मनगढ़न्त के नाम पर ईश्वर के वाक्य में अपनी ओर से कुछ जोड़ना, उसमें परिवर्तन करना अथवा उसमें से कुछ निकालना मनुष्य के लिए घातक पाप है, और कुरान मेरे इस मत का समर्थन करती है।"[10] जीवन तथा राजनीति के सम्बन्ध में मुहम्मद अली का दृष्टिकोण धार्मिक था। ईश्वर तथा कुरान में उनकी जो उत्साहपूर्ण आस्था थी वह उनके राजनीतिक कथनों में भी व्यक्त होती है। 1921 में जूरी के समक्ष बोलते हुए उन्होंने भावावेश के साथ कहा था, "ईश्वर सर्वोपरि है—ईश्वर राजभक्ति के ऊपर है, ईश्वर राजा के ऊपर है, ईश्वर देशभक्ति के ऊपर है, ईश्वर मेरे देश के ऊपर है, ईश्वर मेरे माता, पिता और सन्तान के ऊपर है। यही मेरा धर्म है।" मुहम्मद अली कुरान को अपना पथ-प्रदर्शक तथा जीवन के लिए प्रेरणा का स्रोत मानते थे। उनका विश्वास था कि इस्लाम एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है और समाज-व्यवस्था की आदर्श योजना है। उन्होंने लिखा था : "........आठ वर्ष पूर्व अपनी नजरबन्दी के प्रारम्भिक कुछ महीनों में मेरे मन में इस्लाम की महत्ता के सम्बन्ध में जो श्रद्धा अनायास ही उत्पन्न हो गयी है उसमें मैंने जो कुछ पढ़ा है उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कुरान तथा हदीथ का मुख्य उपदेश है 'ईश्वर का राज्य' तथा 'ईश्वर के बन्दे मनुष्य की सेवा', और तब से मैंने जो कुछ पढ़ा है उससे इस्लाम के धर्मतान्त्रिक रूप की पुष्टि ही होती है।"[11]

3. मुहम्मद अली के राजनीतिक विचार

मुहम्मद अली का कहना था कि मुसलमानों के 'साम्प्रदायिक व्यक्तित्व' को स्वीकार कर लेना भारतीय समस्याओं के रचनात्मक समाधान का एकमात्र आधार है।[12] उनकी राय में भारत पर कृत्रिम एकता अथवा रूमानी देशभक्ति थोप देना सम्भव नहीं था। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में मुहम्मद अली ने देशभक्ति का उपदेश दिया था और देशभक्तिपूर्ण आचरण भी किया था।[13] 1907 में 'टाइम्स आव इण्डिया' तथा 'इण्डियन स्पेक्टेटर' में प्रकाशित अपने 'वर्तमान असन्तोष पर विचार' नामक लेख में उन्होंने बतलाया था कि भारत का असन्तोष प्रथमतः पाश्चात्य शिक्षा तथा प्रबुद्धीकरण की प्रगति के कारण है। उन्होंने स्वीकार किया कि बर्क, ब्राइट, मैकॉले और बेंण्टिक ने भारतीय नवजागरण में बहुमूल्य योग दिया था। किन्तु उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि कांग्रेस के तिलक, पाल, लाजपत राय आदि अतिवादी नेताओं ने असन्तोष का विस्तार किया था। उन्होंने 'कामरेड' के प्रथम अंक में लिखा : "हमें इस नारे में विश्वास नहीं है कि (मैंने 14 जनवरी, 1911 को लिखा था) भारत संयुक्त है।[14] यदि भारत संयुक्त था तो इस वर्ष के अध्यक्ष (सर विलियम वैडरबर्न) को इतने दूर देश से घसीटकर यहाँ लाने की क्या आवश्यकता थी ?........हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि मुसलमानों अथवा हिन्दुओं ने एक दूसरे के विपरीत चलकर अथवा एक दूसरे के सहयोग के बिना भी सफलता पाने का प्रयत्न किया तो वे असफल ही नहीं होंगे अपितु अपमानपूर्वक असफल होंगे। किन्तु हर कदम बड़ी सावधानी से रखना है। आधुनिक भारत की जो स्थिति है उसका सादृश्य हमें प्राचीन अथवा आधुनिक इतिहास में कहीं नहीं मिलेगा। इतिहास अपने को कभी

---

10 *My Life : A Fragment*, पृष्ठ 166-68।

11 वही, पृष्ठ 154।

12 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृष्ठ 69।

13 1930 में मुहम्मद अली ने दावा किया था कि वह उन लोगों में से थे जिन्होंने 1906 में पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों का माँग की थी। इसलिए उन्होंने कहा कि मैं उनका समर्पण करने वाला अन्तिम व्यक्ति होऊँगा। *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृष्ठ 478।

14 एम. एन. राय *India in Transition* में पृष्ठ 224 पर लिखते हैं : 'मुसलिम बुद्धिजीवी प्रारम्भ में कांग्रेस से पृथक रहे और फिर आगे चलकर उनके सम्प्रदाय की शक्तियाँ उनके विरुद्ध संगठित हो गयीं। इसका कारण सरकार की पक्षपात की नीति नहीं बल्कि उनके (मुसलिम बुद्धिजीवियों) के वर्ग सम्बन्ध थे। मुसलमान तब तक राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं ले सकते थे जब तक उनके बीच ऐसा बुर्जुआ वर्ग न उत्पन्न हो जाता जिसका सामन्ती व्यवस्था से कोई सम्बन्ध न होता जिसका आर्थिक दृष्टिकोण भूस्वामियों तक सीमित न होकर औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों तक विस्तीर्ण होता।"

दुहराता नहीं। किन्तु मनुष्य जाति के लिए वह शिक्षा का सबसे अच्छा माध्यम है और हम भी उससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। भारत की समस्याएँ लगभग अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ हैं।........ आज हमारे लिए अपने देश में वैसा देशभक्तिपूर्ण उत्साह और राष्ट्रीय उन्माद उत्पन्न करना भले ही सम्भव न हो जैसा कि हमें चार करोड़ की समांग जनसंख्या वाले जापान में देखने को मिलता है। किन्तु कनाडा के समान समझौता कर लेना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव नहीं है।........हमें ईमानदारी के साथ साधारण कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए, उसके बाद हमें बड़ी सफलताएँ भी मिल जायँगी। किन्तु यह काम भी सरल नहीं है। फिर भी वह भारत के पुत्र-पुत्रियों के अनुरूप है और इस योग्य है कि उसके लिए परिश्रम और त्याग किया जाय।

> हे एकता ! तू आयेगी और मनुष्यों में मेल उत्पन्न करेगी तथा राष्ट्रों को परस्पर संयुक्त करेगी, किन्तु तू हम लोगों के लिए, जो आज प्रतीक्षा कर रहे और जल रहे हैं, नहीं आयेगी; तू वर्षों के परिश्रम, थकान, प्रतीक्षा, धैर्ययुक्त उत्कण्ठा तथा नीरस त्याग के उपरान्त आयेगी।"

खिलाफत आन्दोलन के नेता के रूप में मुहम्मद अली ने पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों का परिचय दिया। खिलाफत आन्दोलन के तीन मुख्य उद्देश्य थे : (1) खिलाफत को छिन्न-भिन्न न किया जाय और खलीफा के हाथ में पर्याप्त लौकिक शक्ति रहने दी जाय, (2) अरब प्रायद्वीप पर बिना किसी बाहरी संरक्षण के अनन्य रूप से मुसलमानों का नियन्त्रण हो, (3) खलीफा मक्का, मदीना, यरूसलम आदि तीर्थ-स्थानों का तथा नजफ, कर्बला, सम्मर, कजीमें तथा बगदाद की पुण्य दरगाहों का प्रतिपालक माना जाय।[15] अगस्त 1921 में मुहम्मद अली ने खिलाफत सम्मेलन का सभापतित्व किया। एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें घोषणा की गयी कि मुसलमानों के लिए ब्रिटिश सरकार की नौकरी करना धर्म के विरुद्ध है। इस प्रस्ताव के लिए, जिसमें कहा गया कि मुसलमानों को सेना में सम्मिलित नहीं होना चाहिए, अली बन्धुओं को कारागार में डाल दिया गया। अपने मुकद्दमे के दौरान मुहम्मद अली ने कुरान-विहित मुसलिम धार्मिक नियम के आधार पर अपने कार्य को उचित ठहराया। उन्होंने तुर्की के सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय द्वारा प्रतिपादित सर्वइस्लामवाद के आदर्श को ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि वे यह भी चाहते थे कि भारत के मुसलमान अवयवी मुसलिम समाज के अंग बनकर रहें। जब विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपत राय ने सर्वइस्लामवाद की धारणा को चुनौती दी तो मुहम्मद अली ने कहा : "सर्वइस्लामवाद स्वयं इस्लाम से न कुछ अधिक है और न कुछ कम—वह पाँच महाद्वीपों के मुसलमानों का सार्वभौम संगठन है।"[16] इस प्रकार वे एक ऐसी संस्था का समर्थन करना चाहते थे जो मुस्तफा कमाल जैसे बुद्धिवादियों की दृष्टि में युग की भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल थी। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि मेरी भक्ति दोहरी है—भारत के प्रति और मुसलिम जगत के प्रति। उनके शब्द थे : "मेरी एक संस्कृति है, एक राज्यतन्त्र, तथा जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है—एक पूर्ण समन्वय है और वही इस्लाम है। जहाँ ईश्वर के आदेश का प्रश्न है वहाँ मैं सर्वप्रथम मुसलमान हूँ, उसके बाद भी मुसलमान हूँ और अन्त में भी मुसलमान हूँ, मुसलमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ। यदि आप मुझसे कहें कि मैं उस समन्वय का, उस राज्यतन्त्र, उस संस्कृति, उस आचारनीति का परित्याग करके आपके साम्राज्य में प्रवेश करूँ तो मैं ऐसा नहीं करूँगा।....किन्तु जहाँ भारत का सम्बन्ध है, भारत की स्वतन्त्रता का और भारत के कल्याण का सम्बन्ध है वहाँ मैं सर्वप्रथम भारतीय हूँ, उसके बाद भी भारतीय हूँ और अन्त में भी भारतीय हूँ, और भारतीय के अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ। मेरा सम्बन्ध समान आकार के दो परिमण्डलों से है, किन्तु उन दोनों का केन्द्र एक नहीं है। उन परिमण्डलों में एक भारत है और दूसरा है मुसलिम जगत।........हम भारतीय मुसलमानों का दोनों ही परिमण्डलों में स्थान है। हम दोनों के हैं और उनमें से प्रत्येक की जनसंख्या 30 करोड़ है। हम उनमें से एक का भी परित्याग नहीं कर सकते। हम राष्ट्रवादी नहीं हैं बल्कि सार्वभौमवादी अथवा अन्तरराष्ट्रवादी हैं। और मुसलमान होने के नाते मैं कहता हूँ कि

---

15 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृ. 159।
16 वही, पृ. 389।

ईश्वर ने मनुष्य को बनाया और शैतान ने राष्ट्र का निर्माण किया।' राष्ट्रवाद फूट डालता है; हमारा धर्म हमें परस्पर मिलाता है। किसी धार्मिक युद्ध में, किसी जिहाद में इतना नरसंहार नहीं हुआ है और न किसी में इतनी क्रूरता का परिचय दिया गया है जितना कि आपके पिछले युद्ध में, और वह युद्ध आपके राष्ट्रवाद का युद्ध था, मेरा जिहाद नहीं था।"

खिलाफत आन्दोलन के नेता तथा कांग्रेस के एक प्रमुख सदस्य के रूप में 1920 में मुहम्मद अली ने सिन फिन प्रणाली को अपनाने का समर्थन किया। इस प्रणाली का आशय यह था कि परिषदों के लिए चुनाव लड़ा जाय, किन्तु जीतने पर भी उनमें बैठा न जाय। परन्तु महात्मा गान्धी परिषदों के बहिष्कारों के पक्ष में थे और कांग्रेस ने उन्हीं के दृष्टिकोण को स्वीकार किया।

1923 में मुहम्मद अली ने कोकोनाडा में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में राष्ट्रीय नीति का समर्थन किया। उन्होंने स्वीकार किया कि यदि रचनात्मक कार्यक्रम को निष्ठापूर्वक चलाया जाय तो स्वराज प्राप्त हो सकता है। उन्होंने हिन्दू-मुसलिम एकता के पक्ष में ओजस्वी तर्क प्रस्तुत किये और सहिष्णुता के लिए अपील की। उनका प्रस्ताव था कि साम्प्रदायिक मेल-मिलाप के लिए स्थानीय समितियों तथा जिला शान्ति-परिषदों का निर्माण किया जाय। उन्होंने प्रेस तथा कांग्रेस संगठन को अधिक सजग रहने की प्रेरणा दी। उनका कहना था : "एक बात निश्चित है, और वह यह है कि न हिन्दू मुसलमानों का उन्मूलन कर सकते हैं और न मुसलमान हिन्दुओं से अपना पिंड छुड़ा सकते हैं।....यदि वे एक दूसरे से पिंड नहीं छुड़ा सकते तो फिर उनके लिए केवल यही विकल्प रह जाता है कि वे एक दूसरे के साथ सहयोग करना आरम्भ कर दें।.... मुसलमानों को चाहिए कि वे हिन्दुओं को इस बात का पूरा विश्वास दिलायें कि वे (मुसलमान) भी स्वराज के लिए स्वराज चाहते हैं और हर विदेशी आक्रमण का प्रतिरोध करने को तैयार हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं को मुसलमानों के मन से यह आशंका दूर कर देनी चाहिए कि हिन्दू बहुमत मुसलमानों की दासता का पर्यायवाची है।........जब 1916 में लखनऊ में हिन्दुओं ने मेरे स्वर्गीय नेता बाल गंगाधर तिलक महाराज से शिकायत की कि आप मुसलमानों को बहुत अधिक दे रहे हैं तो एक सच्चे तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति उन्होंने उत्तर दिया 'आप मुसलमानों को बहुत अधिक कभी दे ही नहीं सकते।'........इस प्रश्न (हिन्दू-मुसलिम एकता) को उचित तथा स्थायी रूप से निपटाये बिना आप कुछ भी नहीं कर सकते।"

1923 की कोकोनाडा कांग्रेस के उपरान्त मुहम्मद अली कुछ सीमा तक मुसलिम साम्प्रदायिकता के समर्थक बन गये, यद्यपि उनका दृष्टिकोण सम्प्रदायवाद तथा प्रतिक्रिया के कट्टर समर्थकों से भिन्न था। उनके मन में मुसलिम समाज को सुदृढ़ बनाने की उत्कट अभिलाषा थी। किन्तु महात्मा गान्धी भी मानते थे कि सर्वइस्लामवाद हिन्दू-विरोधी नहीं था।[17] मुहम्मद अली नेहरू समिति रिपोर्ट में प्रस्तावित संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों पर आधारित साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की योजना के विरुद्ध थे, क्योंकि उन्हें हिन्दुओं के आधिपत्य का भय था। 1930 में मुहम्मद अली ने बम्बई में अखिल भारतीय मुसलिम सम्मेलन का सभापतित्व किया और उस अवसर पर उन्होंने महात्मा गान्धी द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि गान्धीजी के आन्दोलन का उद्देश्य भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना नहीं है, वह तो भारतीय मुसलमानों पर हिन्दू महासभा का आधिपत्य स्थापित करने के लिए चलाया गया है।

इस सबके बावजूद मुहम्मद अली के मन में देशप्रेम विद्यमान रहा। वे निष्ठापूर्वक भारत की स्वाधीनता में विश्वास करते थे। लन्दन में गोलमेज परिषद के अधिवेशन में उन्होंने ये स्मरणीय शब्द कहे थे : "मैं स्वतन्त्रता का सार अपने हाथों में लेकर स्वदेश लौटना चाहता हूँ। अन्यथा मैं एक गुलाम देश में लौटकर नहीं जाऊँगा। मैं पराये देश में मरना पसन्द करूँगा, यदि वह पराया देश स्वतन्त्र हो। यदि आप भारत में हमें स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करते तो आपको अपने यहाँ [illegible] एक कब्र देनी पड़ेगी।........हम यहाँ शान्ति, मैत्री और स्वतन्त्रता के हेतु आये हैं और मुझे [illegible] कि हम वह सब लेकर वापस लौटेंगे। यदि हम वह सब लेकर नहीं लौटते तो हम पुनः योद्धाओं की

17 *Young India*, मई 29, 1924।

श्रेणी में सम्मिलित हो जायेंगे जहाँ दस वर्ष पूर्व थे। मैं तथा मेरा भाई पहले व्यक्ति थे जिन्हें लार्ड रीडिंग ने जेल भेजा था; मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है। किन्तु मैं वह शक्ति चाहता हूँ जिसमें यदि लार्ड रीडिंग भारत में पुन: गलती करे तो मैं उन्हें जेल भेज सकूँ।……हम परिश्रम और कठिनाई से आगे बढ़ रहे हैं, हमारी चाल विश्व को चकित कर देगी। हम तब तक लौटकर भारत नहीं जायेंगे जब तक कि एक नये उपनिवेश (डोमीनियन) का जन्म नहीं हो जाता। यदि हम एक नये उपनिवेश के जन्म के बिना ही लौटकर भारत जाते हैं तो विश्वास रखिये कि हम ऐसे उपनिवेश में जायेंगे जो आपके हाथ से निकल चुकेगा। हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र को वापस जायेंगे। तब आप एक स्वतन्त्र संयुक्त राज्य भारत का दर्शन करेंगे जो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल अथवा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं बल्कि उसके बाहर होगा। वह स्वतन्त्र संयुक्त राज्य भारत से भी कुछ अधिक होगा। अनेक वर्ष पूर्व ऑक्सफर्ड से निकलने के बाद मैंने लिखा था कि भारत अमेरिका से श्रेष्ठ होगा, क्योंकि वह केवल एक संयुक्त राज्य नहीं होगा बल्कि संयुक्त धर्म भी होगा।……मैं अब अपना स्थान ग्रहण करता हूँ। सभापति महोदय, मुझे आशा है कि मुझे पूर्ण सम्मेलन में बोलने के लिए तब तक नहीं आमन्त्रित किया जायगा जब तक कि आप यह घोषणा नहीं कर देते कि भारत वैसा ही स्वतन्त्र है जैसा कि इंगलैण्ड।"[18]

मुहम्मद अली का दावा था कि ईश्वरीय विधि सांविधानिक तथा राजकीय विधि से उच्च है। 1921 में कराची में जूरी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था, "……जैसा कि मैं इस समय आपसे कह रहा हूँ, अब हम राजा को अपना राजा नहीं मानते। हम किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्ठावान होने के लिए कर्तव्यवद्ध नहीं हैं जो हमें हमारे ईश्वर-भक्ति के अधिकार से वंचित करने का प्रयत्न करता है। मुझे राजा के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहना है—मुझे राजपरिवार के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहना है। किन्तु जहाँ सरकार के मुकाबले में ईश्वर का प्रश्न उठता है, मेरे मन में ऐसी सरकार के प्रति कोई आदर नहीं हो सकता जो मुझ से माँग करती है कि मैं पहले ईश्वर तथा उसके नियमों का पालन न करूँ। अत: जैसा कि मैं कह चुका हूँ, वस्तुत: सम्पूर्ण प्रश्न यह है कि ईश्वर के कानून का पालन किया जाय अथवा मनुष्य के आदेश का।" मुहम्मद अली का यह दृष्टिकोण अगस्टाइन, एक्विनास, बोसे और फेनेलों के दृष्टिकोण से मिलता था। महात्मा गान्धी भी कहा करते थे कि मानवीय कानून के प्रति निष्ठा के मुकाबले में ईश्वरीय विधान के प्रति निष्ठा का स्थान पहला होता है। किन्तु ईश्वरीय विधान से गान्धीजी का अभिप्राय उन आध्यात्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों से था जो शाश्वत तथा सार्वभौम हुआ करते हैं, जबकि मुहम्मद अली मुसलिम धर्मशास्त्री होने के नाते कुरान की विधि को ही ईश्वरीय विधान मानते थे। इस प्रकार गान्धीजी का राजनीतिक दर्शन सार्वभौम रूप से मानवीय अन्त:करण की प्रेरणा देता था, जबकि मुहम्मद अली के विचार संकीर्ण साम्प्रदायिकता के प्रतीक बन गये। मुहम्मद अली निष्ठावान् तथा धर्मपरायण थे किन्तु उनकी धार्मिक कट्टरता बीसवीं शताब्दी में समय की भावना के प्रतिकूल थी। 1 जनवरी, 1931 को उन्होंने प्रधानमन्त्री रेम्जे मैकडोनेल्ड को अपने एक पत्र में लिखा था, "…… मैं कम से कम इतना अवश्य करूँगा कि मुसलिम धर्म को मानवीय विधान के ऊपर स्थान दिया जाय, वह विधान चाहे भारतीय संसद का बनाया हुआ हो अथवा ब्रिटिश संसद का। उसके बिना कोई मुसलमान किसी भी संविधान के प्रति निष्ठावान होने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता।"[19] इस प्रकार की मान्यताओं के आधार पर धर्मतन्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का संविधान सम्भव नहीं हो सकता।

4. निष्कर्ष

मुहम्मद अली भावुक तथा निर्भीक व्यक्ति थे। उनके व्यक्तित्व में भावनाओं की प्रधानता थी। अत: उनके राजनीतिक विचार तर्कमूलक कम थे; उनका मुख्य आधार भावात्मक आवेश था। उनका आचरण सीधा-सादा था; वे स्पष्टवादी ही नहीं अपितु मुँहफट भी थे। वे कूटनीतिक

---

18 *Proceedings of the London Round Table Conference*, 1930-31 पृष्ठ 98-106।
19 *Select Speeches and Writings*, पृष्ठ 482।

देश की राजनीतिक स्वाधीनता दोनों ही तत्काल आवश्यक हैं। अतः न्याय के प्रतिष्ठापन के लिए वीरतापूर्वक प्रयत्न करना आध्यात्मिक साक्षात्कार की कुंजी है।[150] सत्यदेव ने स्वतन्त्रता के एक व्यापक दर्शन का समर्थन किया है। सामाजिक सुधार, पूँजीपतियों के चंगुल से आर्थिक स्वतन्त्रता तथा साम्राज्यवाद की शृंखलाओं से देश की राजनीतिक स्वाधीनता—ये सब स्वतन्त्रता के ही पहलू हैं। किन्तु स्वाधीनता के अन्तिम साक्षात्कार के लिए मानव आत्मा को आत्मसंयम के द्वारा परम ज्ञान की खोज करनी होगी।

इसलिए सत्यदेव ने नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्थान की ओर उन्मुख आचारनीतिक संस्कृति और भौतिक माँगों तथा आवश्यकताओं पर आधारित भौतिकवादी सभ्यता, इन दोनों के बीच भेद किया।[151] उनका कहना था कि सभ्यताओं में विविधता तथा अन्तर हो सकते हैं किन्तु संस्कृति एक है। आवश्यकताओं को सीमित करना तथा संग्रह-वृत्ति को न्यूनतम करना ही सुसंस्कृत प्राणी के लक्षण हैं। उच्च संस्कृति वाला व्यक्ति विज्ञान और कलाओं का अनुशीलन करता है और लोकोत्तर रहस्यों का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न करता है।

सत्यदेव क्षात्र धर्म के उत्साही व्याख्याता थे। विवेकानन्द की भाँति उन्होंने भी देश के तरुणों को शारीरिक शक्ति का निर्माण करने की प्रेरणा दी। पंचनदप्रदेशोत्पन्न सत्यदेव यजुर्वेद के इस वाक्य—"घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व" को अवश्य अतिशय महत्व देते। उनका कहना था कि शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ और बहादुर जनता ही देश के अगणित शत्रुओं का सामना कर सकती है, और जीवन के संघर्ष में सफल होने के लिए आवश्यक संकल्पशक्ति का संचय कर सकती है। स्वामीजी ने नववेदान्ती प्रत्ययवाद तथा बौद्ध शून्यवाद के उन पंथों की निर्ममतापूर्वक भर्त्सना की जिन्होंने अहं तथा विश्व का समुच्छेदन करने को ही जीवन का परम लक्ष्य माना था, उसका गुणगान किया था और सुख, स्वतन्त्रता आदि भौतिक मूल्यों की निन्दा की थी। वे सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित उन आदर्शों की भूरिभूरि प्रशंसा किया करते थे जिनमें मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सभी शक्तियों के सन्तुलित विकास पर बल दिया गया था। उन्होंने कुछ समय तक लाहोर में सुकरात संस्कृति पाठशाला नामक एक संस्था चलायी जिसका उद्देश्य यूनानियों के समन्वय, मिताचार तथा व्यायाम संस्कृति के आदर्शों का प्रचार करना था।

स्वामी सत्यदेव ने साम्प्रदायिकता, परम्परावाद, कट्टरता तथा हठवाद की भर्त्सना की। उन्होंने हिन्दू महासभा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से इनकार कर दिया। किन्तु उनके राजनीतिक दर्शन की मुख्य धारणा यह थी कि हिन्दुओं को शक्ति का संचय करना चाहिए। जब हिन्दुत्व बल तथा नव जीवन प्राप्त कर लेगा तभी वह इस योग्य हो सकेगा कि मुसलमानों और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कुचालों का विरोध कर सके। हिन्दू संगठन ही हिन्दुत्व को विविध सामाजिक बुराइयों से मुक्त कर सकता है। नवीन शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करके ही हिन्दुत्व राष्ट्रवादी मुसलमानों का स्वागत करने योग्य बन सकता है। सबल भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए आवश्यक है कि मुसलमानों में बुद्धिवाद की वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि मुसलमान भी हिन्दू साहित्य का अध्ययन करें।[152] धर्म एक व्यक्तिगत मामला है। हर व्यक्ति मसजिद, मन्दिर अथवा गिरजाघर में जाने के लिए स्वतन्त्र है। किन्तु राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए एक साहित्य और संस्कृति का होना आवश्यक है।[153] सत्यदेव गान्धीजी के इस विचार से सहमत नहीं थे कि स्वराज के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता आवश्यक है। उनका कहना था कि इस प्रकार के विचारों से हिन्दुओं में हीनता का भाव और मुसलमानों में प्रगल्भता तथा घमण्ड उत्पन्न होता है।[154] अहिन्दुओं के प्रति तथा विरोधी विचारों के सम्बन्ध में सहिष्णुता शताब्दियों से हिन्दुत्व का मुख्य आदर्श रही है। इसलिए स्वराज हिन्दू संगठन के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि हिन्दू अन्य सम्प्र-

---

150 सत्यदेव, 'स्वतन्त्रता की खोज में', पृ. 129।
151 सत्यदेव, 'साहित्य और संस्कृति', 'विचार स्वतन्त्रता के प्रांगण में,' पृ. 172-83।
152 'स्वतन्त्रता की खोज में', पृ. 295।
153 वही, पृ. 295।
154 वही, पृ. 299।

दायों के अधिकारों को उचित मान्यता प्रदान करेंगे। पाश्चात्य ढंग के राष्ट्रवादी दर्शन को अंगीकार करने का परिणाम अल्पसंख्यकों का दमन होगा जैसा कि कमालपाशा ने आर्मीनी लोगों का और हिटलर ने यहूदियों का किया है।[155] अतः सत्यदेव ने राष्ट्रवाद के पाश्चात्य सिद्धान्त और व्यवहार के स्थान पर हिन्दू संगठन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। संगठन हिन्दुओं में संस्कृति का गर्व तथा सजीव सामान्य एकात्म-चेतना उत्पन्न करेगा और साथ ही साथ उनको शारीरिक शक्ति के विकास की प्रेरणा देगा।

सत्यदेव को व्यक्तिगत रूप से महात्मा गान्धी के प्रति गहरी श्रद्धा थी, किन्तु वे उन्हें भूल से परे मानने के लिए तैयार नहीं थे। वे गान्धीजी के सार्वभौमवाद, त्याग, आत्मानुशासन और धर्म-परायणता की प्रशंसा किया करते थे। वे राजनीति में आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व को भी स्वीकार करते थे, और अवसरवादी मनोवृत्ति की निन्दा किया करते थे। उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह के महत्व को भी स्वीकार किया, विशेषकर शताब्दी के द्वितीय शतक के सन्दर्भ में जब देश में सर्वत्र निराशा और निष्क्रियता व्याप्त थी। किन्तु वे पूर्ण रूप से गान्धीवादी कभी नहीं थे। उनका कहना था कि गान्धीजी ने 1922 में चौराचौरी की हिंसात्मक घटना के बाद प्रस्तावित सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम को स्थगित करके भारी भूल की थी। खिलाफत तथा असहयोग के प्रचार से जनता में भारी असन्तोष उत्पन्न हो गया था। उसका साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए था। किन्तु आन्दोलन के स्थगित हो जाने से उस असन्तोष की अभिव्यक्ति आन्तरिक कलह तथा पारस्परिक संहार के रूप में हुई। 1952 में सत्यदेव ने एक ऐसी बात कहदी जिससे देश में कुछ सनसनी फैल गयी। उन्होंने कहा कि गान्धीजी का अहिंसा पर अतिशय जोर तथा उनकी पाकिस्तान और मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की नीति ही उनकी हत्या के लिए जिम्मेदार थी। उनका कहना था कि गोडसे उन 'शक्तियों' का प्रतिनिधि था जिन्हें गान्धीजी के शान्तिवाद और पाकिस्तान के प्रति रिआयतों की नीति ने उत्पन्न कर दिया था। इस प्रकार सत्यदेव ने अप्रत्यक्ष रूप से गोडसे को गान्धीजी की हत्या के अपराध से मुक्त करने का प्रयत्न किया।[156] उन्होंने गान्धीजी के पूर्ण अहिंसा के अतिवादी पंथ के विपरीत बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' का समर्थन किया। बुद्ध ने सिंह सेनापति के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपने अहिंसा के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है : "जो दण्ड का भागी हो उसे दण्ड अवश्य दिया जाना चाहिए और जो अनुग्रह के योग्य है उस पर अनुग्रह करना चाहिए। किन्तु साथ ही उन्होंने (गौतम बुद्ध ने) किसी भी प्राणी को कष्ट न देने तथा सबके प्रति प्रेम और करुणा का व्यवहार करने का उपदेश दिया। इन आदेशों में परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि जिस मनुष्य को उसके अपराधों के लिए दण्ड दिया जाता है वह न्यायाधीश के विद्वेष के कारण नहीं अपितु अपने ही कुकर्मों के कारण कष्ट भोगता है। कानून का निष्पादक उसे जो दण्ड देता है वह वास्तव में उसी के कर्मों का फल है। जब दण्डाधीश किसी को दण्ड दे तो उसके मन में घृणा नहीं होनी चाहिए, किन्तु जिस हत्यारे को मृत्युदण्ड दिया जाय उसे भी समझना चाहिए कि यह मेरे ही कर्मों का परिणाम है। जैसे ही वह इस बात को समझ लेगा वैसे ही उसकी अपनी आत्मा शुद्ध हो जायगी, वह अपने भाग्य पर विलाप नहीं करेगा, अपितु प्रसन्न होगा। तथागत ने आगे कहा : "तथागत का उपदेश है कि हर युद्ध जिसमें मनुष्य अपने बन्धु का वध करता है शोचनीय है, किन्तु उनकी सीख यह नहीं है कि जो लोग न्याय के रक्षार्थ पहले सब शान्तिमय उपायों को निःशेष करके युद्ध में संलग्न होते हैं, वे निन्दनीय है। निन्दा उसी की करनी चाहिए जो युद्ध का कारण है।"[157]

स्वामी सत्यदेव शक्ति की नीति में विश्वास करते थे और उनका राजनीतिक सन्देश यह था कि पूर्वी पाकिस्तान को भारतीय संघ में मिला लिया जाय। वे चाहते थे कि भारतीय मुसलमान

---

155 वही, पृष्ठ 309।
156 वही, पृष्ठ 517।
157 सत्यदेव, *The Gospel of Indian Freedom*, पृ. 60-61, पॉल कारुस की पुस्तक *The Gospel of Buddha*, पृष्ठ 126 से उद्धृत।

वाहरी देशों के प्रति अपनी भक्ति त्याग दें और विना विशेष अधिकारों और अनुग्रह की माँग किये देशभक्त नागरिकों की भाँति आचरण करें।

स्वामी सत्यदेव देश के विभाजन को उचित मानकर अंगीकार करने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। वे 'अखण्ड भारत' के आदर्श पर दृढ़ रहे।[158]

वे पाकिस्तान के निर्माण को कृत्रिम मानते थे और ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक संयुक्त भारतीय संघ का स्वप्न देखा करते थे।[159] उनका कहना था कि पाकिस्तान का कल्याण इसी में है कि वह भारतीय संघ की इकाई बन जाय।[160]

4. निष्कर्ष

अपने आधी शताब्दी से अधिक के सार्वजनिक तथा साहित्यिक जीवन में सत्यदेव ने प्राचीन आर्य संस्कृति का गौरवगान किया, स्वतन्त्रता का तथा साम्राज्यीय शासन के प्रति प्रतिरोध का सन्देश दिया, द्वितीय दशक के अन्तिम दिनों में हिन्दू संगठन की युयुत्सु धारणा का उद्घोष किया, हिन्दुओं तथा मुसलमानों की धर्मान्धता और दैवीश्रुति प्रकाश (ईश्वरीय ज्ञान, इलहाम) के सिद्धान्त के विरुद्ध यूनानियों के जीवन दर्शन तथा वुद्धिवाद का पुनरुत्थान करने की सलाह दी। 1939 में वे हिटलर के आर्यवाद के प्रशंसक वन गये और अन्त में एक संन्यासी के रूप में अनन्त के रहस्यों की खोज में सुख और सान्त्वना प्राप्त की। उन्होंने यहाँ तक दावा किया कि मैं प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा पश्चिमी सभ्यता के बीच एक पुल हूँ। किन्तु अगणित उतार-चढ़ाव के बीच भी वे सदैव जीवन की शुद्धता, त्याग, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठा आदि हिन्दू जीवन-मूल्यों पर दृढ़ता से डटे रहे। अपने जीवन के विभिन्न युगों में उन्होंने वुद्ध, महात्मा गान्धी, सुकरात और हिलटर की प्रशंसा की, किन्तु दयानन्द के प्रति उनकी भक्ति सबसे प्रगाढ़ थी, क्योंकि उन्होंने ही उनके मन में आत्मा की स्वतन्त्रता की खोज की उत्कट अभिलाषा जाग्रत की थी।

अपने युयुत्सु व्यक्तित्व, रचनाओं तथा शक्तिशाली और प्रेरणादायक भाषणों द्वारा सत्यदेव ने हिन्दू पुनरुत्थानवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। वे वुद्धिवादी थे।[161] अपने स्वाध्याय से तथा पश्चिम में भ्रमण करके उन्होंने स्वतन्त्रता, परिश्रम, अध्यवसाय का तथा स्त्रियों और जनता के सामाजिक उद्धार का महत्व भलीभाँति हृदयंगम कर लिया था। वे स्वराज के अग्रगण्य सेनानी थे। किन्तु उनका दृढ़ विश्वास था कि भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण पुनर्जाग्रत, शक्ति-सम्पन्न तथा उत्साहपूर्ण हिन्दू संगठन के आधार पर ही किया जा सकता है।

---

158 'स्वतन्त्रता की खोज में', पृष्ठ 474। सत्यदेव, 'पाकिस्तान : एक मृगतृष्णा'।
159 सत्यदेव, 'पाकिस्तान', पृष्ठ 10, 32, 101।
160 वही, पृष्ठ 89।
161 किन्तु वुद्धिवादी होते हुए भी सत्यदेव भौतिकवादी नहीं थे। वे अपने वुद्धिवाद को जिसकी आस्तिकवाद में संगति थी, पश्चिम के भौतिकवादी और अनीश्वरवादी वुद्धिवाद से भिन्न मानते थे।

16
मुसलिम राजनीतिक चिन्तन

प्रकरण 1
सैयद अहमद खाँ

1. प्रस्तावना

सैयद अहमद खाँ एक महान् मुसलमान नेता थे। उन्नीसवीं शताब्दी में सर सालार जंग के बाद मुसलिम समाज में वे सबसे अग्रणी विभूति हुए। वे चाहते थे कि उनके सहधर्मी आगे बढ़ें तथा प्रगतिशील बनें। इसलिए उन्होंने दो आधारभूत बातों पर बल दिया : (1) पाश्चात्य ढंग की उदार शिक्षा, तथा (2) ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति। आधुनिक मुसलिम राजनीतिक चिन्तन के नेता के रूप में उनका बड़ा महत्व है।

सैयद अहमद खाँ का जन्म अक्टूबर 17, 1817 को हुआ था और मार्च 18, 1898 को उनका शरीरान्त हुआ। उन्होंने एक लिपिक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया था, और 1841 में मुंसिफ के पद पर पहुँच गये। उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी की, न कि पतनशील मुगल सम्राट की। 1846 से 1854 तक उन्होंने दिल्ली के न्यायालयों में कार्य किया। 1857 के आन्दोलन के समाप्त होने पर उन्होंने 'भारतीय विद्रोह के कारण' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। सम्भव है कि इस पुस्तक ने एलन ओक्टेवियन ह्यूम को प्रभावित किया था। 1869-1870 में उन्होंने इंगलैण्ड की यात्रा की। 1877 में लार्ड लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर ऐसे सिद्धान्तों और विचारों को ढूंढ़ निकालने के लिए एक सम्मेलन हुआ जो भारतीय जनता के सभी वर्गों को स्वीकार हो सकें। स्वामी दयानन्द, सैयद अहमद खाँ तथा केशवचन्द्र सेन सम्मेलन में सम्मिलित हुए। किन्तु जिस आदर्शवाद से प्रेरित होकर सम्मेलन बुलाया गया वह कोई ठोस रूप न ले सका। 1878 में लार्ड डफरिन ने सैयद अहमद को लोक सेवा आयोग का सदस्य नियुक्त किया। 1872 से 1882 तक सैयद अहमद वाइसराय की परिषद के सदस्य रहे। जिस समय सैयद अहमद भारतीय विधान परिषद के सदस्य थे और जब उसमें मध्य प्रान्तीय स्वशासन विधेयक पर विवाद हो रहा था उस समय जनवरी 12, 1883 को उन्होंने सन्तोष व्यक्त किया कि भारतवासियों को स्वशासन की उस कला की शिक्षा दी जा रही है जिसने इंगलैण्ड को महान बनाया है। फिर भी सैयद अहमद ने भारतीय राजनीति में चुनाव की प्रणाली को समाविष्ट करने का विरोध किया। अतः स्पष्ट है कि मुहम्मद अली के शब्दों में वे 'राजभक्तों के भी राजभक्त' बने रहे।[1]

सैयद अहमद खाँ ने समझ लिया था कि पुराने पाण्डित्यवादी और धर्मशास्त्रीय ज्ञान का पुनरुत्थान करना मात्र पर्याप्त नहीं है। उन्होंने अनुभव किया कि जीवन में पाश्चात्य ज्ञान का पुट देना भी अत्यावश्यक है। वे युग की प्रवृत्तियों और शक्तियों के प्रति सजग थे, और इस्लाम को एक नयी दिशा देना चाहते थे।[2] 1864 में उन्होंने गाजीपुर में वैज्ञानिक ग्रन्थों के अनुवाद के लिए एक अनुवाद संस्थान खोला। 24 मई, 1875 को उन्होंने अलीगढ़ में एक स्कूल स्थापित किया जिसने

1 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृष्ठ 13।

2 सैयद अहमद ने 1864 में एक ट्रान्सलेशन सोसाइटी की स्थापना की थी। उसका उद्देश्य उर्दू में पाश्चात्य ग्रन्थों का अनुवाद करना था।

शीघ्र ही विकसित होकर मोहम्मडेन एंग्लो-ओरियण्टल कॉलिज का रूप धारण कर लिया। लार्ड लिटन ने 1877 में एंग्लो-ओरियण्टल कॉलिज की आधारशिला रखी। सैयद अहमद का एक उद्देश्य यह था कि मानसिक प्रबुद्धीकरण के लिए पश्चिम के वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी विश्व-दर्शन को लोकप्रिय बनाया जाय। उनके मन में एक तात्कालिक तथा व्यावहारिक विचार भी था। वे चाहते थे कि मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करें जिससे उन्हें सरकारी नौकरियों के लिए समुचित प्रशिक्षण मिल सके।

सैयद अहमद समाज-सुधार के महत्व को भी भली-भाँति समझते थे। अपनी मासिक पत्रिका 'तहजीबुल अखलाक' के द्वारा उन्होंने इस बात का समर्थन किया। समाज-सुधार के लिए आवश्यक उत्साह जाग्रत करने के लिए उन्होंने मोहम्मडेन एडूकेशनल कान्फ्रेंस (मुसलिम शिक्षा सम्मेलन) की स्थापना की। सैयद अहमद मुसलमानों की दीन दशा को देखकर बहुत दुःखी होते थे। उन्होंने लिखा : "वे झूठे तथा निरर्थक दुर्भावों के प्रभाव में हैं, और अपना भी भला-बुरा नहीं समझते। इसके अतिरिक्त उनमें हिन्दुओं की तुलना में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या और प्रतिशोध की भावना अधिक है तथा वे मिथ्या अहंकार के शिकार हैं। वे दरिद्र भी अधिक हैं और इसी कारण से मुझे डर है कि वे अपने लिए अधिक कुछ नहीं कर सकते।" इसलिए उन्होंने आधुनिक शिक्षा पर बल दिया। कुरान के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बुद्धिवादी था और इसलिए उनके कुछ सहधर्मी उन्हें धर्मद्रोही समझते थे। उन्होंने समाज-सुधार का समर्थन किया और ऐसे शैक्षिक पाठ्यक्रम की आवश्यकता पर बल दिया जिसमें प्राचीन तथा नवीन ज्ञान का समन्वय हो। अतः सैयद अहमद खाँ का अलीगढ़ आन्दोलन हाजी शरियत उल्ला, दुधू मियाँ आदि मुसलिम पुनरुत्थानवादियों के विचारों तथा अहल-ए-हदीस के विरुद्ध जानबूझकर चलाया गया आन्दोलन था। सैयद अहमद आधुनिक ऐहिक शिक्षा तथा इस्लामी धर्मविद्या दोनों को ही उच्च स्थान देना चाहते थे।

2. भारतीय विद्रोह के कारण

1858 में सैयद अहमद खाँ ने 'भारतीय विद्रोह के कारण' नामक पुस्तक लिखी। मूल पुस्तक उर्दू में लिखी गयी थी; 1873 ई. में कौल्विन और ग्राहम ने उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। सैयद अहमद के अनुसार भारतवासियों को विधि-निर्माण के कार्य से दूर रखना विद्रोह का मूल कारण था। उन्होंने कहा कि परिषदों में भारतीयों को सम्मिलित करना अत्यावश्यक है। भारतवासियों के लिए अपना विरोध प्रकट करने तथा अपना मत व्यक्त करने के सभी मार्ग बन्द थे। इस प्रकार सरकार के वास्तविक इरादों के सम्बन्ध में जनता में भारी भ्रम फैला हुआ था। एक समय आ गया था "जब सब लोग ब्रिटिश सरकार को धीमा विष, रेत की रज्जु और अग्नि की विश्वासघाती ज्वाला समझने लगे थे।" यदि विधान परिषद में कोई भारतीय होता तो यह भारी गलतफहमी दूर हो सकती थी। अतः अपनी पुस्तक 'भारतीय विद्रोह के कारण' में उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि शासकों तथा प्रजाजनों के बीच विचारों के आदान-प्रदान का नितान्त अभाव था। उन्हें इसका भी दुःख था कि यद्यपि देश में ब्रिटिश सरकार को स्थापित हुए लगभग एक शताब्दी हो गयी थी, फिर भी जनता के प्रेम तथा सद्भावना को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। उन्हें खेद था कि जनता के पास शासकों तक अपनी शिकायतें पहुँचाने का कोई साधन नहीं था। सैयद अहमद ने इस बात पर बल दिया कि परिषदों में जनता की साझेदारी होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि यह खेदजनक है कि जनता के पास अवांछनीय कानूनों के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने का कोई साधन नहीं है। उसके लिए अपनी इच्छाओं को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने का भी कोई मार्ग नहीं है। अतः सरकार को चाहिए कि वह जनता के प्रेम तथा मैत्री को प्राप्त करने के लिए पहल करे। उन्होंने लिखा : "मुझे विश्वास है कि अधिकतर लोग इस बात से सहमत होंगे कि सरकार की समृद्धि तथा कल्याण के लिए आवश्यक है कि जनता को परिषदों में अपना मत प्रकाशित करने का अधिकार हो—बल्कि यह बात सरकार के स्थायित्व के लिए भी नितान्त जरूरी है। जनता के मत को जानकर ही सरकार इस बात का पता लगा सकती है कि उसकी योजनाओं का स्वागत किया जायगा अथवा नहीं। इस बात का आश्वासन तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि जनता को सरकार तक अपने विचार पहुँचाने का समुचित अवसर नहीं

दिया जाता। जो लोग भारत पर शासन कर रहे हैं उन्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि इस देश में वे विदेशियों की स्थिति में हैं।........सरकार तभी सुरक्षित हो सकती है जब उसे शासितों के सम्बन्ध में जानकारी हो और वह उनके अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का सावधानी के साथ सम्मान करे।"[3]

सैयद अहमद के अनुसार भारतीय विद्रोह के कुछ गौण कारण भी थे जिनका आधार भी भारतीयों का विधान परिषदों में सम्मिलित न किया जाना था। वे इस प्रकार हैं :

(1) ऐसे कानूनों का पारित होना और ऐसी कार्यवाहियों का किया जाना जो जनता की सम्मानित परम्पराओं तथा परिपाटियों के विरुद्ध थीं। उनमें से कुछ कानून तथा कार्यवाहियाँ निश्चित रूप से आपत्तिजनक थीं।

(2) सरकार जनता की इच्छाओं तथा आकांक्षओं से अनभिज्ञ थी।

(3) शासकों ने उन आधारभूत सिद्धान्तों की उपेक्षा की जो भारत में सुशासन के लिए आवश्यक थे।

(4) सेना का कुप्रबन्ध जिससे उसमें असन्तोष फैल गया।

1857 के विद्रोह से सैयद अहमद ने राजनीतिक दर्शन के लिए कुछ निष्कर्ष निकाले। उन्होंने शासकों तथा प्रजा के बीच मैत्री तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार विनिमय की आवश्यकता पर बल दिया। वनस्पति-जगत के साथ सादृश्य दर्शाते हुए उन्होंने बतलाया कि सरकार मूल है और जनता उस मूल का विकसित रूप है। उन्होंने भ्रातृत्व के सम्बन्ध में सन्त पॉल के आदेश को उद्धृत किया। उन्होंने ईसा मसीह के वचन को उद्धृत किया, "तुम अन्य लोगों के साथ वैसा ही वर्ताव करो जैसा कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें, क्योंकि पैगम्बरों का यही कानून है।"

3. सैयद अहमद के राजनीतिक विचार

आरम्भ में सैयद अहमद खाँ देशभक्ति की भावनाओं से उत्प्रेरित हुए थे। 27 जनवरी, 1883 को एक भाषण में उन्होंने कहा : "जिस प्रकार उच्च जाति के हिन्दू किसी समय बाहर से आकर इस देश में बस गये और भूल गये कि उनका आदि निवास स्थान कहाँ था तथा भारत को ही अपना देश समझने लगे, मुसलमानों ने भी ठीक वैसा ही किया। उन्होंने भी सैकड़ों वर्ष पूर्व अपने-अपने देश छोड़ दिये, और वे भी इस भारत भूमि को अपना समझते हैं। मेरे हिन्दू भाई तथा सहधर्मी मुसलमान दोनों एक ही वायु में साँस लेते हैं, पवित्र गंगा और यमुना का जल पीते हैं, उसी भूमि की उपज का भोग करते हैं जो ईश्वर ने इस देश को दी है, और साथ-साथ जीते तथा मरते हैं।.... मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि यदि एक क्षण के लिए हम ईश्वर की धारणा को भुला दें तो हम देखेंगे कि दैनिक जीवन के हर मामले में हिन्दू तथा मुसलमान एक ही राष्ट्र (कौम) के सदस्य हैं.... और देश की उन्नति तभी सम्भव हो सकती है जब हमारे हृदय एक हों तथा हमारे बीच पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति हो।........मैंने सदैव यही कहा है कि हमारा भारत देश एक नवविवाहित वधू के सदृश है और हिन्दू तथा मुसलमान उसके दो सुन्दर तथा मनमोहक नेत्र हैं; यदि दोनों में पारस्परिक मेलमिलाप हो तो वधू सदैव देदीप्यमान तथा सुन्दर बनी रहेगी, किन्तु यदि उन्होंने भिन्न दिशाओं में देखने का संकल्प कर लिया तो वधू निश्चय ही भोंड़ी हो जायगी और हो सकता है कि अंशतः अन्धी भी हो जाय।" अपने जीवन के देशभक्तिपूर्ण काल में सैयद अहमद ने इलबर्ट विधेयक का, जिसके द्वारा भारतीय न्यायाधीशों के क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में भेदभाव की नीति को दूर करने का प्रस्ताव किया गया था, समर्थन किया।[4]

आगे चलकर सैयद अहमद के विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर सन्देह होने लगा, और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के सदस्यों को उससे पृथक रहने

---

3 सैयद अहमद खाँ, *The Causes of the Indian Revolt*, पृष्ठ 12।

4 क्रिस्टोदास पाल ने भी विधान परिषद में इलबर्ट विधेयक का समर्थन किया था।

की सलाह दी।[5] उन्होंने सोचा कि मुसलमानों के लिए हितकर यही है कि वे शिक्षा की प्रगति पर ही ध्यान केन्द्रित करें, और इसीलिए उन्होंने 1888 में एडूकेशनल कांग्रेस (शिक्षा सम्मेलन) की स्थापना की। उन्होंने यूनाइटेड इण्डियन पैट्रियाटिक एसोशिएशन (1888) तथा मोहम्मडेन एंग्लो-इण्डियन डिफेन्स एसोशिएशन (1893) नाम की उन दो संस्थाओं का भी नेतृत्व किया जिनका मुख्य उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभाव को रोकना था। सैयद अहमद ने पैट्रियाटिक एसोशिएशन की स्थापना वाराणसी के राजा शिवप्रसाद की सहायता से की थी। मोहम्मडेन एंग्लो-इण्डियन एसोशिएशन स्पष्टतः राजभक्त था। उसके उद्देश्यों में भी इस बात की घोषणा कर दी गयी थी। मुसलमानों में राजनीतिक आन्दोलन को रोकना उसकी मुख्य नीति थी। किन्तु सैयद अहमद के प्रयत्नों के बावजूद बदरुद्दीन तैयबजी जैसे अनेक मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हो गये।

निष्कर्ष

सैयद अहमद खाँ को लोकप्रिय शासन में विश्वास नहीं था। जॉन स्टुअर्ट मिल की भाँति उन्हें "बहुसंख्या के अत्याचार" का वास्तविक भय था। चूँकि वे एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के सदस्य थे इसलिए उन्हें डर था कि लोकप्रिय शासन की प्रगति से मुसलमानों के हितों को कुचल दिया जायगा। उन्होंने लोकतन्त्र का विरोध अभिजाततन्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं किया, इसलिए यह कहना अनुपयुक्त होगा कि वे खेतिहर अभिजातवर्ग के हितों के प्रतिनिधि थे। विशाल हिन्दू समाज की भारी संख्या का डर ही उनके विचारों का मुख्य आधार था। इस बात को सदैव स्वीकार किया जायगा कि मुसलिम समाज में आधुनिक विद्या की प्रगति में सैयद अहमद का प्रमुख योग था। अंग्रेजी भाषा का उनका स्वयं का ज्ञान बहुत सीमित था, किन्तु उन्होंने आधुनिक शिक्षा का निर्भीकता के साथ समर्थन किया, और इस प्रकार नवजागरण को उन्होंने महान प्रोत्साहन दिया।

प्रकरण 2

मुहम्मद अली जिन्ना

1. प्रस्तावना

मुहम्मद अली जिन्ना का जन्म 20 अक्टूबर, 1875 (अथवा दिसम्बर 23, 1876) को हुआ था और सितम्बर 10, 1948 को उसका देहान्त हो गया। उसका जन्म तथा मृत्यु दोनों कराची में हुए। जिन्ना ने चतुर वकील के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी और उसका कानूनी व्यवसाय बहुत अच्छा चलता था। 1906 में उसने दादाभाई नौरोजी के निजी सचिव के रूप में कार्य किया। गोखले को जिन्ना से हिन्दू-मुसलिम एकता के दूत के रूप में बड़ी आशाएँ थीं। उन्होंने कहा था : "उसमें वास्तविक गुण विद्यमान हैं। साथ ही साथ वह साम्प्रदायिक दुर्भावनाओं से मुक्त है, इसलिए वह हिन्दू-मुसलिम एकता का सच्चा दूत बन सकता है।" जिन्ना के मन में गोखले के लिए बड़ा सम्मान था और वह उनकी अत्यधिक प्रशंसा किया करता था। मई 1915 में बम्बई में एक भाषण में उसने कहा था कि गोखले "एक महान राजनीतिक ऋषि, भारतीय वित्त के पण्डित और शिक्षा तथा सफाई के सबसे बड़े समर्थक हैं।"[6]

2. जिन्ना के राजनीतिक विचार

अपने प्रारम्भिक दिनों में जिन्ना राष्ट्रवादी था। 1916 में उसने राजद्रोह के अभियोग में लोकमान्य तिलक की पैरवी की और उन्हें दण्डित होने से बचा लिया। इससे उसकी देश में भारी वाह-वाह हुई। उसने 1908 के राजद्रोह के अभियोग में भी प्रारम्भिक अवस्था में तिलक की पैरवी की थी।

---

5 एम. एन. राय लिखते हैं, "जिन हिन्दुओं ने प्रतिनिधि शासन और समाज-सुधार के लिए आन्दोलन आरम्भ किया था वे बुद्धिजीवी बुर्जुआ थे। इसके विपरीत अलीगढ़ में शिक्षा प्राप्त करने वाले, जिन पर अंग्रेजों ने अनुग्रह की दृष्टि की थी, भू-अभिजाततन्त्रीय वर्ग के लोग थे। सामाजिक दृष्टि से इतने भिन्न तत्त्वों को एक राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत संयुक्त करना सम्भव नहीं।" *India in Transition*, पृष्ठ 125।

6 *Speeches and Writings of Jinnah*, पृष्ठ 125। (मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी, 1917)।

अप्रैल 1912 में जिन्ना ने गोखले द्वारा प्रस्तावित प्राथमिक शिक्षा विधेयक का समर्थन किया। उसने विधेयक का विरोध करने वाले हार्टकोर्ट बटलर के तर्कों का खण्डन किया। अपने भाषण में उसने कहा : "यदि आपके पास धन है तो आपको अध्यापक मिल जायेंगे; यदि आपके पास धन है तो आपको पाठशालाओं के लिए इमारतें मिल जायँगी। तत्व की बात यह है कि आपके पास धन है अथवा नहीं। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि धन प्राप्त कीजिए। धन प्राप्त कीजिए। मैं पूछता हूँ—क्या साम्राज्यीय कोष से तीन करोड़ रुपया प्राप्त कर लेना इतनी बड़ी कठिनाई है कि हम उस पर काबू पा ही नहीं सकते ? क्या भारत जैसे विशाल देश के लिए जिसमें तीस करोड़ लोग रहते हैं यह कोई इतना बड़ा और दुष्कर काम है ? मैं कहता हूँ कि धन प्राप्त कीजिए—और यदि आवश्यक हो तो जनता पर कर लगाइए। किन्तु मुझ से लोग कहेंगे कि जनता पहले से ही कर दे रही है; मुझ से यह भी कहा जायगा कि अधिक कर लगाने से हम जनता में बहुत अप्रिय हो जायँगे।·······मेरा उत्तर है कि ब्रिटिश शासन पर जो यह उचित आरोप लगाया जाता है कि उसने प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना की है, इसको दूर कीजिए। मेरा उत्तर है कि जनता को शिक्षित बनाना हर सभ्य सरकार का कर्तव्य है, और यदि आपको कुछ लोकप्रियता का सामना करना पड़े तथा कुछ खतरा उठाना पड़े तो कर्तव्य के नाम पर उसका साहस के साथ सामना कीजिए।··· ···"

1910 में जिन्ना बम्बई के मुसलिम निर्वाचन-क्षेत्र से साम्राज्यीय विधान परिषद का सदस्य चुना गया। 1916 में पुन: उसी निर्वाचन-क्षेत्र से साम्राज्यीय विधान परिषद के लिए निर्वाचित किया गया। साम्राज्यीय परिषद में जिन्ना ने गोखले के प्राथमिक शिक्षा विधेयक, जहाज हस्तान्तरण निरोध विधेयक और भारतीय दण्ड विधि संशोधन विधेयक पर मार्मिक भाषण दिये। उसने प्रेस विधेयक का विरोध नहीं किया। वह भारतीय प्रतिरक्षा बल विधेयक (इण्डियन डिफेंस फोर्स बिल) के पक्ष में था। प्रारम्भ में वह साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों के विरुद्ध था, किन्तु 1917 में उसने घोषणा की कि पृथक निर्वाचन मुसलमानों के लिए हितकर हैं, क्योंकि इसी प्रकार उन्हें उनके मानसिक प्रमाद से जगाया जा सकता है।

अखिल भारतीय मुसलिम लीग की स्थापना 1906 में हुई और उसका पहला अधिवेशन दिसम्बर 1906 में आगा खाँ के नेतृत्व में ढाका में हुआ। 22 मार्च, 1913 को लखनऊ अधिवेशन में अखिल भारतीय मुसलिम लीग ने अपना नया संविधान अंगीकृत किया। मुहम्मद अली तथा सैयद वजीर हुसैन ने जिन्ना को मुसलिम लीग में सम्मिलित होने के लिए राजी कर लिया। किन्तु उसने स्पष्टत: कह दिया था कि मुसलमानों के हितों के प्रति मेरी भक्ति राष्ट्र के व्यापक हितों के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकेगी। 1914 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारतीय परिषद के प्रस्तावित सुधारों के सम्बन्ध में एक प्रतिनिधि मण्डल इंगलैण्ड भेजा; जिन्ना उस मण्डल का सदस्य बनकर गया।

जब अप्रैल तथा सितम्बर 1916 में तिलक तथा बेसेंट ने अपनी-अपनी होम रूल लीगें स्थापित कीं तो जिन्ना उनमें से किसी में भी सम्मिलित नहीं हुआ। किन्तु डॉ. बेसेंट के नजरबन्द किये जाने के उपरान्त वह बम्बई होम रूल लीग में सम्मिलित हो गया।

अक्टूबर 1916 में जिन्ना ने अहमदाबाद में छठे बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन का सभापतित्व किया। उसने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच दृढ़ एकता का समर्थन किया। उसे पूर्ण विश्वास था कि स्वप्नलोक शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने वाला है। उसने कहा कि जनता को विवेक तथा सावधानी से काम लेना चाहिए। उसने मुसलमानों को जाग्रत करने के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों का समर्थन किया। उसने दिसम्बर 1916 में अखिल भारतीय मुसलिम लीग के लखनऊ अधिवेशन का भी सभापतित्व किया और हिन्दू-मुसलिम एकता पर बल दिया। जिन्ना ने उन्नीस स्मृतिपत्र पर हस्ताक्षर किये थे, और लखनऊ में उसने कांग्रेस-लीग योजना का समर्थन किया। लीग तथा कांग्रेस के अधिवेशन में लखनऊ समझौता स्वीकृत कर लिया गया। उसके अनुसार पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों को स्वीकार कर लिया गया, और मुसलिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में मुसलमानों को प्रान्तीय विधान परिषदों में उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान देने का सिद्धान्त भी मान लिया गया।

कुचालों से अपरिचित थे। भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति उनकी शत्रुता 1921 से 1931 तक अक्षुण्ण रही; उसमें कभी कोई कमी नहीं आयी। किन्तु उनकी राष्ट्रवादी धारणा में समकालीन साम्प्रदायिक राजनीतिक की आवश्यकताओं के अनुसार उतार-चढ़ाव होता रहा। उनका राष्ट्रवाद सार्वभौमवाद अथवा अन्तरराष्ट्रवाद से सम्मिश्रित था। उन्हें कुरान की शिक्षाओं में ही आस्था नहीं थी, बल्कि सर्वइस्लामवादी आन्दोलन के प्रति भी उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। 1924 के भारत में साम्प्रदायिक उन्माद फैल गया और भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए। इसका मुहम्मद अली पर भी प्रभाव पड़ा। मुसलिम मिल्लत की धारणा के प्रति उनका जो जन्मजात सम्मान था उसको इन साम्प्रदायिक दंगों से मनोवैज्ञानिक बल मिला। प्रारम्भ में उन्होंने खिलाफत की सर्वइस्लामवादी धारणा का समर्थन किया। आगे चलकर गोलमेज परिषद में उन्होंने घोषणा की कि वे सार्वभौमवादी इस्लाम और राष्ट्रवादी भारत इन दो ऐसे परिमण्डलों के सदस्य थे जिनका केन्द्र एक नहीं था।

17
मुहम्मद इकबाल

1. प्रस्तावना

डॉ. मुहम्मद इकबाल (1873-1938) कवि, धार्मिक दार्शनिक तथा राजनीतिक आदर्शवादी थे। उनका जन्म 22 फरवरी, 1873 को सियालकोट (पश्चिमी पाकिस्तान) में हुआ था, और 21 अप्रैल को लाहोर में उनका देहान्त हुआ। इकबाल लाहोर के ओरियण्टल कॉलिज तथा गवर्नमेण्ट कॉलिज में आचार्य थे। उन्होंने केम्ब्रिज तथा म्यूनिख में उच्च शिक्षा पायी थी। 1905 से 1908 तक उन्होंने मैकटैगार्ट (1866-1925) तथा जेम्स वार्ड (1843-1925) के निर्देशन में केम्ब्रिज में और फिर जर्मनी में उच्च शोध-कार्य किया। उन्होंने म्यूनिख में रहकर 'ईरान में तत्वशास्त्र' पर एक शोध-निबन्ध लिखा। उन पर डॉ. मैकटैगार्ट का प्रभाव पड़ा था। इकबाल 1925 से 1928 तक पंजाब विधान परिषद के सदस्य रहे। उन्हें लन्दन में हुए द्वितीय तथा तृतीय गोलमेज सम्मेलनों के लिए प्रतिनिधि नाम निर्देशित करके भेजा गया था।

मुहम्मद इकबाल पर जलालुद्दीन रूमी (1207-1273) के आदर्शों का, जिनकी सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी रचना 'मसनवी शरीफ' में हुई थी, गहरा प्रभाव पड़ा था। एक धार्मिक दार्शनिक के रूप में इकबाल ने मुसलिम विचारधारा का नवनिर्माण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इस्लामी धर्मविद्या तथा विधिशास्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों और पिछली अनेक शताब्दियों में विकसित हुए आश्चर्यजनक मानव चिन्तन के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

2. इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के तत्वशास्त्रीय आधार

(क) **परम अहं**—इकबाल ने अपना बौद्धिक जीवन एक सर्वेश्वरवादी रहस्यवादी[1] के रूप में आरम्भ किया। उनका विश्वास था कि ईश्वर सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर ही है। दूसरे शब्दों में वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सिद्धान्त को मानते थे। आगे चलकर अपने केम्ब्रिज के अध्यापकों के प्रभाव से वे आस्तिक अनेकवादी बन गये और सर्वेश्वरवाद की उस प्रवृत्ति की आलोचना करने लगे जो अहं की वैयक्तिकता तथा दृश्य जगत की स्थूलता का खण्डन करती है। वे प्लेटोवादियों तथा सूफियों की इस धारणा के शत्रु हो गये कि जीवन में चिन्तन ही सब कुछ है। इसके उपरान्त उन्हें कुरान के सिद्धान्तों से सान्त्वना मिलने लगी। उनकी व्याख्या के अनुसार कुरान परम अखण्ड अहं का प्रतिपादन करती है और बतलाती है कि उसी अहं से अनेकता तथा असीमता का प्रादुर्भाव होता है। इकबाल एकेश्वरवाद के पक्के समर्थक थे। किन्तु वे परमात्मा के सम्बन्ध में इस धारणा को नहीं मानते थे कि वह मानव रूप है, विशालकाय मूलपुरुष है और पृथ्वीमण्डल के उस पार कहीं स्वर्ग में विराजमान है। जेम्स वार्ड की भाँति इकबाल ने भी ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड-शास्त्रीय, तत्वशास्त्रीय तथा हेतुवादी तर्कों को प्रस्तुत नहीं किया। उनकी व्याख्या के अनुसार कुरान का विश्व सम्बन्धी सिद्धान्त सृजनात्मक विकास के सिद्धान्त के समतुल्य है।

---

1 यद्यपि इकबाल अपने दार्शनिक विकास के दौरान सर्वेश्वरवाद से हट चुके थे, फिर भी उनके कुछ विचारों और कथनों में हमें सर्वेश्वरवादी प्रभाव देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए उनका वाक्य "दैवी अहं के लिए प्रकृति वही है जो मानवीय अहं के लिए उसका चरित्र होता है। कुरान के विलक्षण शब्दों में प्रकृति अल्लाह का स्वभाव है।" *Six Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृष्ठ 76 (लाहोर, कपूर आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स, 1930)।

इकबाल इस धारणा पर दृढ़ रहे कि विश्व में एक परम आध्यात्मिक सत्ता है।[2] इसीलिए उनका विश्वास था कि मानव इतिहास एक 'विराट उद्देश्य' को साक्षात्कृत करने का साधन है। उन्होंने निश्चित रूप से कहा कि आइंस्टाइन का सिद्धान्त केवल वस्तुओं की संरचना बतलाता है, किन्तु वह उन परम तथा अन्तिम सत्ताओं के विषय में कुछ नहीं कहता जो उस संरचना का आधार हैं।[3] इकबाल के अनुसार परम सत्ता शुद्ध कालावधि[4] है जिसमें चेतना, प्राणशक्ति, तथा शाश्वत स्वतःस्फूर्त प्रयोजन का एक दूसरे में गतिशील अन्तरवेधन होता रहता है।[5] परम सत्ता के सोद्देश्य स्वभाव से यह सिद्ध होता है कि वह शाश्वत, स्वतःस्फूर्त सृजनशक्ति है, न कि एक ऐसी ज्ञानशून्य प्रचण्ड तथा विशाल जीवनशक्ति जिसकी कार्य दिशा मनमानी हो, जिसके सम्बन्ध में न कोई भविष्य-वाणी की जा सके और न पहले से कोई अनुमान लगाया जा सके। अतः परम सत्ता को शाश्वत, आध्यात्मिक, सोद्देश्य सृजनात्मकता कहा जा सकता है।[6] 'पियामे मशरिक' में इकबाल ने भौतिक-वादी विश्वदर्शन के खोखलेपन को उघाड़कर रख दिया है।

इकबाल अहंपूजा के दर्शन के प्रवर्तक थे। कुछ सीमा तक उन्होंने भी फिख्टे तथा मैक्स स्टर्नर की भाँति आक्रामक अहं (मैं) के विजयी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस्लाम में प्रतिपादित 'सम र्पण' के सिद्धान्त के विपरीत इकबाल ने 'अहं तथा अहं का अपना' की धारणा का समर्थन किया है। वे ईश्वर को परम अहं मानते थे। ससीम अहं परम अहं के रूपान्तर मात्र हैं।[7] परम अहं सृजनात्मक, अनन्त आत्मा तथा स्वतःस्फूर्त घनीभूत शक्ति है। वही अखण्ड सत्ता है और उसके जीवन की कलाएँ आत्म-निर्धारित हैं। वह बुद्धि-संचालित सृजनात्मक जीवनशक्ति है। किन्तु परमात्मा में अहं भाव आरोपित करने का अर्थ उसे मानव रूप मानना नहीं है। उसका अर्थ इस बात पर बल देना है कि जीवन का तत्व एकता का एक संघटनकारी तत्व है, एक समन्वय है जो उसके जीवित अवयवी को बाँधकर रखता है और उसकी प्रवृत्तियों को रचनात्मक उद्देश्यों के लिए संचालित करता है।"[8] वैयक्तिक अहं परम अहं में अपना व्यक्तित्व विलीन नहीं कर देते, बल्कि उससे उनका रूप तथा दिशा सुनिश्चित होती है। ईश्वर मनुष्य के ध्यान तथा प्रार्थना को सुनता है क्योंकि "अहं की वास्तविक कसौटी यह है कि वह दूसरे अहं की पुकार को सुनता है अथवा नहीं।"[9] ईश्वर निरपेक्ष है, क्योंकि सब कुछ उसमें समाविष्ट है, उसके बाहर कुछ नहीं है। कुरान में प्रतिपादित 'तौहीद' का सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि ईश्वर एक है, अद्वितीय और अजन्मा है। इस प्रकार परम अहं सर्वव्यापी तथा विकल्पातीत दोनों है और पुरुष भी है। इकबाल लिखते हैं : "परम अहं में कार्य तथा संकल्प का एकात्म्य होता है, उसकी सृजनात्मक शक्ति अहमों की एकता के रूप में कार्य करती है। ईश्वरीय शक्ति का हर परमाणु, चाहे वह अस्तित्व की श्रेणी में कितना ही निम्न क्यों न हो, एक अहं के रूप में कार्य करता है। किन्तु अहं की अभिव्यक्ति की सीढ़ियाँ हुआ करती हैं।[10] अस्तित्व जगत में सर्वत्र अहं का शनैः-शनैः वृद्धिमान अंश देखने को मिलता है, और अन्त में वह मनुष्य में पहुँचकर पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कुरान कहती है कि परम अहं मनुष्य के उसके कंठ की शिरा से भी अधिक निकट है। हम मोतियों की भाँति ईश्वरीय जीवन के शाश्वत प्रवाह में रहते, कार्य करते तथा जीवन बिताते हैं।"[11] परम अहं सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान शाश्वत चिरन्तन है और सतत

---

2 *Six Lectures*, पृष्ठ 233।
3 वही, पृष्ठ 52।
4 कुरान के उस कथन से तुलना कीजिए जिसमें अल्लाह और दहर को एक ही माना गया है।
5 *Six Lectures*, पृष्ठ 75।
6 वही, पृष्ठ 70-72।
7 कुरान ने खल्क अथवा सृष्टि और अम्र अथवा दिशा में भेद किया है। ईश्वरीय अम्र अहं के रूप में कार्य करता है।
8 *Six Lectures*, पृष्ठ 82।
9 इकबाल "*McTaggart's Philosophy*", *Journal of East India Society* में प्रकाशित; *Truth* (लाहोर, जुलाई 1937) में पुनर्मुद्रित। इनके अतिरिक्त बी. ए. दर की पुस्तक *A Study in Iqbal's Philosophy* में मुद्रित, पृष्ठ 402-413 (लाहोर 1944)।
10 सत्ता की कोटियाँ हुआ करती हैं, यह विचार इकबाल ने एस. एस. मकतूल का बतलाया है।
11 इकबाल, *Six Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृ. 99-100।

अपनी सृजनात्मक सम्भावनाओं को व्यक्त करता रहता है। किन्तु इकबाल ने बड़ी सावधानी से इस बात को स्पष्ट किया है कि ईश्वर की सर्वव्यापकता का अर्थ किसी भी अंश में सर्वेश्वरवाद नहीं है।

(ख) **काल का सिद्धान्तः, इकबाल तथा वर्गसाँ**—विश्व अन्तर-सम्वद्ध घटनाओं की अवयवी व्यवस्था है और जीवन तथा शक्ति से स्पन्दित है। वह अविरल उद्भव तथा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया है। वह कोई ऐसा ढाँचा नहीं है जिसकी सृजनात्मक संभावनाएँ निःशेष हो चुकी हों और जो देश काल की स्थिति में स्थिरता की अवस्था में पड़ा हुआ हो। इकवाल ने अपनी तत्वशास्त्रीय धारणाओं को उस समय निरूपित किया था जब आइंस्टाइन का सापेक्षता का सिद्धान्त और प्लांक का क्वांटम यांत्रिकी का सिद्धान्त विश्व पर छाये हुए थे। इकवाल ने लिखा है, "द्रव्य के प्रत्यय को सबसे बड़ा आघात आइंस्टाइन ने पहुँचाया है।....उनके अनुसन्धानों ने मानव चिन्तन के समस्त क्षेत्र में दूरगामी क्रान्ति की नींव डाल दी है।"[12] इकबाल ह्वाइटहैड के अवयवी सिद्धान्त से तथा रसल की इन्द्रियदत्त सामग्री के सिद्धान्तों से भी परिचित थे। उन्होंने कॅटर के इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया है कि देश तथा काल अविच्छिन्न है।[13] उनका वर्गसाँ के सृजनात्मक विकास की धारणाओं से तथा ब्रैडले, स्पेंगलर आदि के सिद्धान्तों से भी परिचय था। भौतिकी के आधुनिक अनुसन्धानों ने इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है कि द्रव्य देश (स्पेस) और काल (टाइम) में फैला हुआ एक घना तथा कठोर तत्व है। इकबाल लिखते हैं, "चिरसम्मत (चिरप्रतिष्ठित) भौतिकी ने जिस आत्म-अवस्थित भौतिकता का प्रतिपादन किया है उस जैसी किसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है।"[14] उसने (सापेक्षता के सिद्धान्त ने) प्रकृति की वस्तुगत सत्ता का खण्डन नहीं किया है; उसने केवल इस धारणा का खण्डन किया है कि देश में स्थिति ही द्रव्य है—यही धारणा चिरसम्मत भौतिकी के भौतिकवाद का मुख्य कारण थी। आधुनिक सापेक्षता मूलक भौतिकी के अनुसार द्रव्य कोई ऐसी निरन्तर वस्तु नहीं है जिसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वह तो अन्तर-सम्बद्ध घटनाओं की एक व्यवस्था है।"[15] इकबाल वाह्य विश्व की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे देश और काल में उनकी भौतिक स्थिति को नहीं मानते। किन्तु उन्होंने विज्ञान के यांत्रिक रीतिविधान (पद्धति) की प्रवृत्ति का परित्याग कर दिया है, क्योंकि वे विश्व-प्रक्रिया की प्रकृति को उद्देश्यात्मक मानते हैं। वे इससे भी एक कदम आगे चले गये हैं, और एक विषयीविज्ञानवादी (सब्जेक्टिविस्ट-आत्मवादी) की भाँति मानते हैं कि 'देश-काल सन्दर्भ में आत्मा' ही द्रव्य है।[16] इकबाल के विचारों पर पाश्चात्य विज्ञान तथा दर्शन की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की गहरी छाप थी। आधुनिक भौतिकी तथा दर्शन से उन्होंने द्रव्य की भौतिकता का खण्डन करने वाली धारणा को ग्रहण किया।

इकबाल विश्व की गतिशीलता के सिद्धान्त को मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रकृति स्थिर तथा सीमित सत्ता नहीं है। वह सदैव के लिए निश्चित नहीं है, बल्कि उसमें सृजनात्मकता विद्यमान है। इस विषय में इकबाल के विचार ह्वाइटहैड से मिलते हैं। प्रकृति अन्तर-सम्बद्ध घटनाओं की वृद्धिमान प्रक्रिया है। उसमें अविरल प्रगति देखने को मिलती है। द्रव्य अहमों का पुंज है। इन अहमों की चेतना के स्तर अव्यक्त और अस्पष्ट हैं। उस द्रव्य में से उच्चतर प्रकार के अहं उत्पन्न होते हैं। इकबाल आइंस्टाइन की इस धारणा को भी स्वीकार करते हैं कि विश्व सान्त किन्तु असीम है। उनके अनुसार इस धारणा का बीज कुरान के इस विचार से मिलता है कि विश्व की वृद्धि भी हो सकती है। इकबाल का कहना है कि इस्लाम का सार्वभौम गति का सिद्धान्त अरस्तू की स्थिर विश्व की धारणा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। यूनानी कल्पनाशील व्यक्ति थे और प्रकारों, प्रतिमानों और सिद्धान्तों को ढूंढ़ निकालने के लिए लालायित रहते थे। इस्लामी विद्रोह का महत्व यह था कि उसने ठोस, तथ्यात्मक तथा ऐतिहासिक चीजों की खोज पर अधिक बल दिया। इस

---

12 वही, पृ. 47।
13 वही, पृ. 50।
14 वही, पृ. 52।
15 वही, पृ. 52।
16 वही, पृ. 216। श्री अरविन्द के विचारों से तुलना कीजिए।

प्रकार विश्व की स्थिरता के रैखिकीय दृष्टिकोण के स्थान पर इस्लामी विद्रोह के रूप में इस सिद्धान्त का उदय हुआ कि निरन्तर विकासशील नवीन सृजनात्मक सम्भावनाओं का नाम ही विश्व है। अतः प्रकृति आत्म-साक्षात्कार का क्षेत्र तथा माध्यम है। सम्पूर्ण अभिव्यक्ति उस प्रच्छन्न आत्मा के वैभव का प्रकटीकरण है। सृजनात्मकता के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के नाते इकबाल ने नीत्शे को 'शाश्वत पुनरावृत्ति के रहस्य' की धारणा को यांत्रिक तथा भाग्यवादी बतलाया।

इकबाल के अनुसार काल वास्तविक है। उनका कथन है कि काल की गति को इस्लाम वास्तविकता का प्रतीक मानता है।[17] उन्होंने मैकटैगार्ट की इस धारणा का खण्डन किया कि काल अवास्तविक है। काल की वास्तविकता के सम्बन्ध में मैकटैगार्ट की आपत्ति यह है कि कोई घटना अतीत, वर्तमान अथवा भविष्य की है, यह उस मनुष्य की दृष्टि से ही कहा जा सकता है जो उस घटना के सम्बन्ध में विचार करता है; स्वयं में अतीत, वर्तमान अथवा भविष्य कोई वस्तु नहीं हैं। इसके विरुद्ध इकबाल का कहना है कि यह आपत्ति क्रमबद्ध स्थिर काल के सम्बन्ध में ही उचित है, यह उस शुद्ध कालावधि के सम्बन्ध में, जो भविष्य को एक खुली सम्भावना मानती है, लागू नहीं हो सकती।[18] इकबाल यूनानियों तथा हिन्दुओं के इस दृष्टिकोण से भी सहमत नहीं हैं कि काल की गति चक्र की गति के सदृश्य है। बर्गसाँ के अनुसार वास्तविक काल क्रमबद्ध सरलरेखीय देशबद्ध काल से भिन्न है। सामान्य धारणा का काल अथवा गणितीय काल अतीत, वर्तमान, और भविष्य के पदों में नापा जाता है। बर्गसाँ ने देशबद्ध काल और कालावधि में जो भेद किया है उसे इकबाल स्वीकार करते हैं। वास्तविक काल की अनुभूति गम्भीर आन्तरिक आत्मा के द्वारा अथवा जिसे इकबाल अनुभूतिशील अहं कहते हैं उसके द्वारा ही की जा सकती है। अनुभूतिशील अहं का काल केवल एक वर्तमान है। उसके विपरीत लोगों के साधारण विविध अनुभव पौर्वापर्य की धारणा पर आधारित होते हैं। इस पौर्वापर्य को बुद्धि अथवा कार्यसाधक या आनुभविक अहं[19] के द्वारा ही हृदयंगम किया जा सकता है, और यह बुद्धि अथवा आनुभविक अहं साहचर्य के मनोवैज्ञानिक नियम के अनुसार कार्य करता है। कार्यसाधक अहं 'एकल वर्तमान' को चूर-चूर करके 'वर्तमानों' की शृंखला में परिवर्तित कर लेता है। रहस्यात्मक अनुभूति में क्रमबद्ध काल की अवास्तविकता का भान होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रमबद्ध काल से पूर्ण वियुक्ति हो जाती है।[20]

यद्यपि इकबाल बर्गसाँ के क्रमबद्ध अथवा देशबद्ध गणितीय काल तथा शुद्ध कालावधि के भेद को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका फ्रांसीसी दार्शनिक से दो बातों में मतभेद है। प्रथम, बर्गसाँ प्राणवादी (जीवनशक्तिवादी) है, किन्तु इसके विपरीत इकबाल आध्यात्मवादी हैं। इकबाल के अनुसार सत् प्राणमूलक नहीं, अपितु आध्यात्मिक सत्ता है। वह कोई ज्ञानशून्य द्रव्य नहीं है, बल्कि देदीप्यमान व्यक्तित्व है। द्वितीय, बर्गसाँ सत् की उद्देश्यात्मक प्रगति को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके अनुसार उद्देश्यवाद (हेतुवाद) काल को अवास्तविक कर देता है। इसके विपरीत इकबाल सत् की प्रकृति को उद्देश्यात्मक मानते हैं। वे कुरान के इस कथन का कि विश्व की वृद्धि हो सकती है, यह अर्थ लगाते हैं कि विश्व एक चयनशील काल-प्रक्रिया है जो प्रकृति में नित्य नयी सम्भावनाओं को उत्पन्न करती रहती है। वे परम अहं को एक अवयवी सत्ता मानते हैं जिसके अन्तर्गत विचार, जीवन तथा उद्देश्य का अन्तर-सम्बन्ध देखने को मिलता है।

(ग) मानवीय अहं : स्वतन्त्रता तथा अमरत्व—मानवीय अहं के सम्बन्ध में इकबाल कुरान के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं।[21] वह आदि है अर्थात् उसका कभी काल में प्रारम्भ हुआ था। देश-काल के परिवेश में प्रादुर्भूत होने से पहले उसका कोई अस्तित्व नहीं था, केवल प्रत्ययात्मक सम्भावना के रूप में उसकी सत्ता भले ही रही हो। भौतिक प्राणी की मृत्यु के उपरान्त अहं पृथ्वी में

---

17 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृ. 54।
18 *Six Lectures*, पृ. 77-78।
19 आनुभविक अहं तथा अनुभूतिशील अहं के बीच भेद के लिए देखिये *Six Lectures*, पृ. 66।
20 वही, पृ. 29।
21 मुहम्मद इकबाल, Self in the Light of Relativity, *Crescent*, 1925।

लीन नहीं हो जाता। अहं सान्त है, किन्तु उसकी सान्तता व्यथा का कारण नहीं है। उससे तो हमें कर्म करने का तथा आत्म संयम, अपनी विशिष्टता और गरिमा का विकास करने का अवसर मिलता है। असरारे-खुदी (आत्म अभिवचन) से पर (अनहं) का प्रादुर्भाव होता है। दूसरों के द्वारा अहं संघर्ष तथा विरोध के आनन्द का रसास्वादन करता है। सान्त अहं मृगमरीचिका नहीं है। अपनी 'रहस्य का नवीन उद्यान' शीर्षक कविता में इकबाल लिखते हैं :

"अहं अदृश्य है और उसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।
तनिक सोचो और अपने रहस्य को समझो।
अहं ही सत्य है, वह मृगमरीचिका नहीं है।
परिपक्व होने पर वह शाश्वत हो जाता है।"

अहं व्यक्तित्व को प्राप्त करने के लिए निरन्तर तनाव की अवस्था में रहता है। कठिन संघर्ष के द्वारा वह स्वतन्त्रता का अनुभव करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसका वास्तविक स्वभाव यह है कि वह मानसिक अनुभूतियों को स्थायी भोक्ता नहीं है, बल्कि स्वतःस्फूर्त सृजनात्मक अग्रवर्ती गति है। 'असरारे-खुदी' में इकबाल लिखते हैं :

वह (अहं) अपने हाथ से बध कर रहा है,
जिससे कि वह अपनी शक्ति का अनुभव कर सके।
गुलाब की भाँति वह रक्त में स्नान करके जीवनयापन करता है
एक गुलाब के लिए वह सैकड़ों उद्यानों को नष्ट कर देता है····
इस अपव्ययता तथा क्रूरता का बहाना यह है
कि इससे उसका आध्यात्मिक सौन्दर्य पूर्णत्व को प्राप्त होता है।[22]

इकबाल से 'जवैदनामा' के अनुसार अहं के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं : (1) अहं की सृजनात्मक सम्भावनाओं का साक्षात्कार करना पहली अवस्था है। यह व्यक्तित्व की अवस्था है। (2) अहं को दूसरे अहमों के सन्दर्भ में देखना दूसरी अवस्था है। इसे सामाजिकता की अवस्था कहा जा सकता है। (3) ईश्वर का साक्षात्कार करना और इस ईश्वरीय चेतना को पर्यवेक्ष्य में अहं को देखना तीसरी अवस्था है। ईश्वर के शाश्वत प्रकाश के सन्मुख अडिग रहकर मनुष्य शक्ति प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार आंशिक रूप में ईश्वर की भाँति सर्वशक्तिमान बन सकता है।

अहं अमर नहीं है किन्तु उसमें अमरत्व की सम्भावना है। अहं के लिए अमरत्व एक चिरन्तन आकांक्षा, एक शाश्वत आदर्श है, वह साक्षात्कृत वास्तविकता नहीं है। वह गन्तव्य है, न कि उपलब्धि। यदि मनुष्य प्रयत्न नहीं करता तो वह भ्रष्ट होकर निर्जीव पदार्थ की स्थिति में पहुँच सकता है। जीवन की उद्विग्नता को कायम रखने के लिए सतत् प्रयत्न के द्वारा ही अहं अमरत्व का प्रत्याशी बन सकता है। इकबाल का कहना है : "जब अहं परिपक्व होकर आत्मा की स्थिति प्राप्त कर लेता है तब उसके विनाश का डर नहीं रहता।"

(घ) **धार्मिक अनुभूति**—आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति अन्तःप्रज्ञा के द्वारा प्राप्त कर लेना सम्भव है। किन्तु अन्तःप्रज्ञा परावौद्धिक (अतिवौद्धिक) नहीं है, वह भी संज्ञान और इच्छाशक्ति का ही एक प्रकार है। ज्ञान की प्रक्रिया में चिन्तन निश्चित विशिष्टताओं की ससीमता से ऊपर उठ जाता है, और अपनी गतिशील आत्माभिव्यक्ति के द्वारा सर्वव्यापी अनन्तता को प्राप्त कर लेता है। चिन्तन तथा अन्तःप्रज्ञा के बीच अन्तर्विरोध नहीं है। अहं की अन्तःप्रज्ञा उसकी स्वतन्त्रता तथा अमरत्व को प्रकट करती है। अन्तःप्रज्ञा आधारभूत ठोस अनुभव है और वह जीवन को संघटनकारी अहं के रूप में व्यक्त करती है, उसके द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति में प्रगति करना और परम सत् का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। ठोस सत्ता के रूप में ईश्वर की प्रत्यक्ष, तात्कालिक तथा अखण्ड अनुभूति प्राप्त करना ही अन्तःप्रज्ञा है। रहस्यात्मक अनुभूति में विषयी तथा विषय का सामान्य भेद लुप्त हो जाता है। वह अद्भुत तथा उच्चतर अहं के साथ घनिष्ठ साहचर्य की स्थिति है। चूंकि अन्तःप्रज्ञात्मक रहस्यात्मक अनुभूति की समग्रता का विश्लेषण नहीं किया जा सकता इसलिए वह

---

22 *Secrets of the Self* भाग 2, पृष्ठ 197-214

विधेयात्मक शब्दों में प्रेषणीय नहीं होती।[23] किन्तु उसकी अप्रेषणीयता के आधार पर उसकी वास्तविकता से इनकार नहीं किया जा सकता। विभिन्न युगों तथा देशों में अगणित मनीषियों ने इस प्रकार की अनुभूति को प्रमाणित किया है। यह एक हृदय की शक्ति है जिसे कुरान 'फौद' अथवा 'कल्ब'[24] कहती है। अन्तःप्रज्ञा तथा चिन्तन एक दूसरे के पूरक होते हैं, क्योंकि अन्तःप्रज्ञा चिन्तन को गम्भीर और उदात्त बनाती है। अन्तःप्रज्ञा सत् की शाश्वत प्रकृति का उद्घाटन करती है, जबकि बौद्धिक चिन्तन इस प्रपंच जगत की खोज करता है जिसकी अनेक निश्चित विशिष्टताएँ होती हैं।

(ङ) **प्रार्थना : उसका सामाजिक तथा राजनीतिक महत्व**—परम अहं की धारणा राजनीतिक क्षेत्र में अनिवार्यतः विश्वराज्य के आदर्श का समर्थन करती है। इस प्रकार "उस अहं की एकता से जिसमें सब कुछ समाविष्ट है और जो सब अहमों की सृष्टि तथा पालन करता है, मानव जाति की तात्विक एकता सिद्ध होती है।"[25] इकबाल का कहना है कि मानव जाति का जनजातियों, जातियों (नस्लों) तथा राष्ट्रों में विभाजन पहचान के व्यावहारिक उद्देश्य के लिए है। मनुष्यों के कोई स्वाभाविक श्रेणी-विभाजन अथवा क्रम-विन्यास नहीं हैं। प्रार्थना का नैतिक उद्देश्य है। वह मनुष्य की परम अहं के साथ साहचर्य की उत्कण्ठा को व्यक्त करती है। परम सत् मनुष्य की प्रार्थना को सुनता है। किन्तु सामूहिक प्रार्थना का व्यापक समाजशास्त्रीय पहलू भी है। उससे सामाजिक एकता और दृढ़ता व्यक्त होती है। दैनिक प्रार्थना से मनुष्य की एकता पुष्ट होती है। मक्का में संपादित होने वाला वार्षिक धर्म समारोह इस्लाम के भाईचारे को ठोस रूप में व्यक्त करता है। इस प्रकार प्रार्थना का नैतिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक महत्व भी है।

(च) **मुसलिम संस्कृति का नैतिक तत्व**—इकबाल ने शुद्ध चिन्तन (ध्यान) के आदर्श क तथा स्थूल, तथ्यात्मक जगत की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति की आलोचना की है। रहस्यवादियों के मत में सत् के साक्षात्कार में बुद्धि की भूमिका बहुत ही अल्प है। इकबाल ने इस दृष्टिकोण की भर्त्सना की है और कहा है कि यह दृष्टिकोण पूर्वी राष्ट्रों के पराभव के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। यूनानी चिन्तन का इस्लामी विचारधारा पर जो प्रभाव पड़ा था उसके इकबाल बड़े शत्रु थे। अतः वे प्रारम्भिक इस्लाम की ओजस्वी प्रवृत्ति को पुनर्जीवित करना चाहते थे। उनका कहना है कि सूफियों के तापसिक परलोकवाद तथा चिन्तन के प्रति अनन्य भक्ति की भावना ने जो प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है उसके कारण लोग इस बात को भूल गये हैं कि इस्लाम लौकिक के द्वारा आध्यात्मिक का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है। 'असरारे-खुदी' में इकबाल ने हाफिज की शिक्षाओं की आलोचना की है। लौकिक जीवन की उपेक्षा करने से सामाजिक प्रगति में बाधा पड़ती है। सूफियों ने 'जाहिर' तथा 'बातिन' के बीच जो भेद किया है उससे विश्व तथा उसकी समस्याओं के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है। इकबाल स्वयं सामूहिक तथा सामाजिक क्रियाकलाप में निरन्तर भाग लेते रहने की प्रेरणा देते हैं। उनका कहना है कि धर्म जीवन की शक्तियों का एकीकरण करता है। इसके अतिरिक्त वह मनुष्य के समक्ष आन्तरिक जीवन की उन गहराइयों को जिनकी थाह नहीं ली जा सकी है, प्रकट करके उसे इतिहास के नाटक में सृजनात्मक ढंग से भाग लेने के लिए प्रेरित करता है। इकबाल ने श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग के सिद्धान्त की सराहना की। किन्तु वे शंकर के तत्वशास्त्र के कटु आलोचक थे। वे चाहते हैं कि लेखक तथा सामाजिक नेता कर्म, स्फूर्ति तथा उत्साह का जीवन बितायें। वे लिखते हैं :

"यदि तुम्हारी थैली में कविता की मुद्रा हो,
तो उसे जीवन की कसौटी पर रगड़कर परख लो;
दीर्घकाल तक तुम रेशमी विस्तर पर करवटें बदलते रहते हो,
अब खुरदरे सूती बिछौने की आदत डालो।
अब अपने को जलते हुए रेत पर फेंक दो

---

23 *Six Lectures*, पृष्ठ 23-31।
24 कुरान, 32 : 68।
25 *Six Lectures*, पृष्ठ 129।

जमजम के प्रपात में कूद पड़ो।
कब तक तुम बुलबुल की भाँति व्यर्थ ही प्रलाप करते रहोगे ?
कब तक उद्यानों में निवास करते रहोगे ?
तुम्हारा सुन्दर नीड़ अमरपक्षी के लिए भी सम्मानजनक होगा,
तुम ऊँचे पर्वत पर अपना नीड़ बनाओ,
जिससे कि तुम जीवन के युद्ध के लिए सामर्थ्यवान हो सको,
जिससे तुम्हारी आत्मा तथा शरीर जीवन की ज्वाला में जल सकें।"[26]

इकबाल ने अपनी व्याख्या के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इस्लाम कर्म तथा शक्ति का सन्देश देता है। उनके अनुसार कुरान की शिक्षा है कि विश्व मानव प्रयत्न के द्वारा उत्तरोत्तर अच्छा बनाया जा सकता है, और यह शिक्षा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि विश्व की निरन्तर वृद्धि हो रही है। कर्म जीवन का सार है। विश्व शाश्वत शोक का स्थान नहीं है और न गुलाबों की शैया है। इकबाल की व्याख्या के अनुसार इस्लाम की शिक्षा नीत्शे की 'शाश्वत पुनरावृत्ति' की धारणा में निहित यान्त्रिकता तथा जटिलता के विरुद्ध है। अहं की धारणा के आधार पर इकबाल ने सबल व्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है। उन्हें केवल संख्या की शक्ति में विश्वास नहीं है। उनके अनुसार समाज में शक्ति का एकमात्र स्रोत स्वावलम्बी व्यक्ति, अथवा जिन्हें इकबाल 'आत्म-केन्द्रित व्यक्ति' कहते हैं, हुआ करते हैं।[27] केवल वे ही जीवन की विशालता तथा गहराई को व्यक्त करते हैं। वे प्रायः अन्तःप्रज्ञा के द्वारा जीवन के तात्विक आधारों को पहचान लेते हैं, और वे ही सामाजिक विकास तथा समन्वय के मापदण्डों को समझने के योग्य होते हैं।

(छ) **अतिमानव**—नीत्शे की भाँति इकबाल भी अतिमानव के आदर्श के प्रतिपादक हैं। किन्तु इकबाल का अतिमानव (इन्सान-ए-कामिल) नीत्शे के अतिमानव की भाँति प्रशिया के भू-स्वामी वर्ग के अभिजाततन्त्रीय गुणों का प्रतिनिधित्व करने वाला 'नॉर्डिक जाति का भीमकाय स्वर्णाभकेशी नरपशु' नहीं है। अतिमानवता आत्मसंयम की प्रक्रिया पर आधारित होती है। अहंकार तथा स्वेच्छाचार का परित्याग करना आवश्यक है। जो अपने को नियन्त्रित कर सकता है वह वायु, जल, अग्नि आदि प्रकृति की शक्तियों से सफलतापूर्वक युद्ध कर सकता है और सुलैमान की भाँति योग्य शासक बन सकता है। विश्व की शक्तियों को लौहवत् दृढ़ संकल्प वाले व्यक्ति की सर्वोच्चता स्वीकार करनी पड़ेगी। इकबाल की कल्पना का यह अतिमानव ईश्वर का प्रतिनिधि होने (नियाबत-ए-इलाही) में आनन्द लेता है। वह ईश्वर की इच्छा को कार्यान्वित करने का प्रभावकारी साधन होता है। इस प्रकार इकबाल के अतिमानव के दो मुख्य गुण हैं : (1) पूर्ण आत्मसंयम, और (2) स्वेच्छापूर्वक ईश्वरीय आदेशों का पालन करने की क्षमता। इकबाल लिखते हैं :

"ईश्वर का प्रतिनिधि विश्व की आत्मा है,
उसका जीवन महानतम नाम (अल्लाह के नाम) की छाया है।"

3. इकबाल के राजनीतिक विचार

(क) **धर्मतन्त्र**—इकबाल इस्लाम का पुनरुत्थान करना चाहते थे। अपने 'व्याख्यानों' में उन्होंने लिखा है, "इस्लाम के अनुसार सम्पूर्ण जीवन का आध्यात्मिक आधार शाश्वत है और वह अपने को विविधता तथा परिवर्तन के रूप में व्यक्त करता है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए की जीवन शुद्ध परिवर्तन नहीं है। उसके अन्तर्गत स्थायित्व के तत्व भी हैं। एक ओर तो मनुष्य अपने सृजनात्मक कार्यकलाप में आनन्द लेता है और जीवन के नये दृश्यों की खोज में अपनी शक्तियों को केन्द्रित किया करता है, किन्तु दूसरी ओर उसे अपना स्वयं का विकास देखकर उद्विग्नता भी होती है। अपनी अग्र गति के दौरान मनुष्य मुड़कर अपने अतीत की ओर देखे बिना भी नहीं रह सकता, और अपने आन्तरिक प्रसार को देखकर कुछ भयभीत होने लगता है। मनुष्य की आत्मा को अपनी अग्रगति के दौरान ऐसी शक्तियों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है जो विपरीत दिशा

---

26 मुहम्मद इकबाल, *Secrets of the Self*, पृ. 70-71।
27 *Six Lectures*, पृ. 212।

में कार्य किया करती हैं। दूसरे शब्दों में, जीवन अपने अतीत के बोझ को अपनी पीठ पर लादकर आगे बढ़ता है, अतः सामाजिक परिवर्तन के किसी भी दृष्टिकोण में स्थायित्व के तत्वों के मूल्य तथा कार्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।........कोई भी जाति अपने अतीत का पूर्णतः परित्याग नहीं कर सकती, क्योंकि उसके अतीत ने ही उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण किया है।"[28] किन्तु इकबाल पूर्णतः पुनरुत्थानवादी नहीं थे। वे सामाजिक स्थायित्व तथा परम्परावाद की शक्तियों के अपरिमित महत्व को समझते थे। चूँकि वे कुरान के सिद्धान्तों के अनुयायी थे, इसलिए उनके चिन्तन में परम्परावादी तत्वों का इतना महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु वे मुसलिम विधिशास्त्र के उदारवादी सम्प्रदाय के इस दावे को उचित मानते थे कि 'आधारभूत विधिक सिद्धान्तों की व्याख्या विधिशास्त्रियों के अनुभव को तथा परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए।'[29]

इकबाल ने आधुनिक विश्व की समस्याओं के धार्मिक समाधान को स्वीकार किया। इसलिए उन्होंने नीत्शे के अनीश्वरवाद की भर्त्सना की। आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधाराओं तथा नारों में जो अनीश्वरवादी भौतिकवाद के तत्व देखने को मिलते हैं उनके इकबाल कटु आलोचक थे। वे मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति के आदर्शों पर दृढ़ रहे और सदैव इस बात का समर्थन किया कि मानव-जाति का विकास आध्यात्मिक आधार पर ही होना चाहिए। यही कारण था कि पाश्चात्य सभ्यता के भौतिकवाद, वाह्याचारवाद और धनिकतन्त्र से उन्हें घृणा थी। उन्होंने मैकियावेली को 'शैतान का सन्देशवाहक' कहकर उसकी भर्त्सना की, क्योंकि उसने आचारनीति और राजनीति को एक दूसरे से पृथक कर दिया था।[30] इकबाल लिखते हैं : "राष्ट्रवाद तथा अनीश्वरवादी समाजवाद दोनों के लिए, कम से कम मानव-सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति में, यह अनिवार्य है कि वे घृणा, सन्देह और क्रोध की उन शक्तियों को उत्तेजित करें जो मनुष्य की आत्मा को क्षीण करती हैं और उसकी आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत को बन्द कर देती हैं। निराशा में डूबी हुई मानवता को उसके सन्तापों से न मध्ययुगीन रहस्यवाद मुक्त कर सकता है, न राष्ट्रवाद और न अनीश्वरवादी समाजवाद। आधुनिक संस्कृति के इतिहास की वर्तमान घड़ी सचमुच एक महान संकट की घड़ी है। आधुनिक जगत के लिए आवश्यक है कि उसका जैविक नवीनीकरण किया जाय। केवल धर्म जो कि अपने उच्चतर रूप में न मतवाद है, न पुरोहित वर्ग और न अनुष्ठान, आधुनिक मनुष्य को उस महान उत्तरदायित्व के बोझ को वहन करने के लिए सक्षम बना सकता है, जो विज्ञान की प्रगति ने उसके ऊपर लाद दिया है, और धर्म ही श्रद्धा की उस प्रवृत्ति को पुनः जागृत कर सकता है जो उसे इस जगत में अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने तथा परलोक में उस व्यक्तित्व को कायम रखने की योग्यता प्रदान कर सकता है।[31] इसलिए इकबाल 'फख' के उस इस्लामी आदर्श का समर्थन करते हैं जो मनुष्य को शक्ति देता है और पापों तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करता है। इकबाल की दृष्टि में धर्म प्रगति का तत्व है। उसने व्यक्तियों तथा समुदायों को उदात्त बनाने में योग दिया है। शुद्ध प्रत्ययवाद में मनुष्य को प्रेरणा देने की शक्ति नहीं होती।[32] इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य को ऐतिहासिक विरासत की अविच्छिन्नता में और धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित संस्कृति में विश्वास हो। राजनीतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान के आदर्श इस धारणा पर आधारित होने चाहिए कि विश्व के मूल में कोई आध्यात्मिक सत्ता है। इकबाल लिखते हैं, "मनुष्य अपनी उत्पत्ति तथा भविष्य के सम्बन्ध में अर्थात् मैं कहाँ से आया हूँ और मुझे किधर जाना है, इस विषय में नवीन कल्पना और दृष्टिकोण के द्वारा ही अमानवीय प्रतियोगिता से अनुप्रेरित समाज पर और उस सभ्यता पर विजय प्राप्त कर सकता है जो अपने धार्मिक तथा राजनीतिक मूल्यों के अन्तर-संघर्ष के कारण अपनी आध्यात्मिक एकता को खो बैठी है।"[33]

---

28 वही, पृ. 232।
29 वही, पृष्ठ 234।
30 बी. ए. दर, *A Study in Iqbal's Philosophy*, पृष्ठ 254।
31 "Is Religion Possible?" *The Reconstruction of Religious Thought in Islam*, (अध्याय 7)।
32 *Six Lectures*, पृ. 248।
33 'Is Religion Possible ?' *Reconstruction of Religious Thought in Isalm* (अध्याय 7)।

राजनीतिक शक्ति के सम्बन्ध में इकवाल का दृष्टिकोण धर्मतांत्रिक था। वे चाहते थे कि जीवन को इस्लाम के धार्मिक आदर्शों की दिशा में प्रवृत्त किया जाय क्योंकि वैयक्तिक धार्मिक अनुभूति का सामाजिक वातावरण तथा राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वे लौकिक तथा पारलौकिक अथवा धार्मिक तथा पार्थिव को एक दूसरे से पृथक करने के विरुद्ध थे। वे आधुनिक ऐहिकवादी दृष्टिकोण के, जो धर्म को व्यक्ति का निजी मामला मानता है, कट्टर शत्रु थे। उनके अनुसार धर्म का जीवन के सभी पक्षों पर नियन्त्रण होना चाहिए। राजनीति की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, जिनकी अभिव्यक्ति लोकप्रभुत्व तथा सामान्य इच्छा की सर्वोच्चता के सिद्धान्तों में होती है, इकवाल की आत्मा को सन्तुष्ट न कर सकीं। उन्होंने पीछे लौटकर इस्लाम में निहित ईश्वरीय प्रभुत्व की उस धारणा को अंगीकार किया जिसके अनुसार मानव-जीवन के सभी रूप और पहलू 'शरियत' द्वारा शासित होने चाहिए। प्राकृतिक जगत की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, बल्कि यह समझना चाहिए कि वह आध्यात्मिक सिद्धान्तों को साक्षात्कृत करने के लिए एक क्षेत्र है। अतः राजनीति तथा प्रशासन को भी आध्यात्मिक आधार पर संगठित करना आवश्यक है। इस्लाम में राज्य, व्यक्ति तथा सरकार को एक दूसरे से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। मानव जीवन के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि पहलू विभिन्न विभागों में नहीं बाँटे जा सकते। "इस्लाम के अनुसार सत् अथवा हकीकत एक ही है; एक दृष्टि से वह धर्मसंघ के रूप में प्रकट होती है, और दूसरे दृष्टिकोण से वही राज्य का रूप धारण कर लेती है।"[34] इकवाल के शब्दों में, "इस्लाम ऐसी एकमात्र हकीकत (यथार्थता) है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता; वह हर व्यक्ति को उसके दृष्टिकोण के अनुसार विशेष प्रकार की दिखायी देती है।"[35] आध्यात्मिक तथा पार्थिव दो भिन्न क्षेत्र नहीं हैं। हकीकत एक है। किसी कार्य की पवित्रता अथवा सांसारिकता इस बात पर निर्भर है कि उसे किस मनोवृत्ति से किया गया है। "अतः कुरान धर्म तथा राज्य को, आचारनीति तथा राजनीति को एक ही इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) के अन्तर्गत संयुक्त करना चाहती है, बहुत कुछ उसी प्रकार जैसा कि प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में किया है।"[36] संक्षेप में इस्लाम एक सामंजस्यपूर्ण अवयवी व्यवस्था है, और वह धार्मिक तथा लौकिक सत्ता का एकीकरण करना चाहता है। ईसाइयत में साम्राज्य बनाम धर्मसंघ का जो द्वैत देखने को मिलता है वह इस्लाम की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। आध्यात्मिक जगत तथा लौकिक जगत के द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं है। इकबाल एक ऐसे मानव राष्ट्रमण्डल की सृष्टि करना चाहते थे जो ईश्वर के प्रभुत्व की स्वीकृति पर आधारित हो। पृथक करने वाले राष्ट्रवाद के स्थान पर उन्होंने इस्लामी मानववाद की धारणा का समर्थन किया।[37] उन्होंने लिखा है, "इस्लाम के अनुसार राज्य मानव संगठन में आध्यात्मिक तत्व को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न मात्र है।"[38] इस प्रकार इकबाल ने इस अर्थ में धर्मतन्त्र का समर्थन किया कि आध्यात्मिक तत्व राजनीतिक शासन का आधार होना चाहिए। किन्तु उन्होंने इस धारणा को कभी स्वीकार नहीं किया कि शासक ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। उन्हें कुरान की इन पंक्तियों से गहरी प्रेरणा मिली थी, "बोलो : हे ईश्वर ! प्रभुत्व के स्वामी, तू जिसे चाहता है शक्ति प्रदान करता है, और जिससे चाहता है, शक्ति वापस ले लेता है।"[39] इस प्रकार धर्मतन्त्र शक्ति तथा प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन करता है।[40]

(ख) पूँजीवाद तथा समाजवाद की समीक्षा—इकवाल कुरान के इस कथन में विश्वास

---

34 *Lectures*, पृष्ठ 216। अखिल भारतीय मुसलिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में इकवाल ने कुछ अंश में अपने ही विचारों का प्रतिवाद कर दिया था और कहा था कि इस्लाम कोई धर्म-संघ नहीं है, बल्कि वह एक राज्य है जो संविदामूलक अवयवी के रूप में कल्पित किया गया है, और उसका अपना नैतिक-आध्यात्मिक जीवन होता है। देखिये, *Speeches and Statements of Iqbal*, पृष्ठ 14।

35 इकवाल, *Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृष्ठ 216।

36 वही, पृ. 231।

37 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृष्ठ 7।

38 इकवाल, *Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृष्ठ 217।

39 कुरान, 3 : 3।

40 *Lectures*, पृष्ठ 217।

करते हैं कि "उसने अपने प्राणियों के लिए पृथ्वी की रचना की थी ।"[41] पृथ्वी केवल ईश्वर के लिए है, इस धारणा का अभिप्राय यह है कि यदि कोई पूँजीपति अथवा जमींदार पृथ्वी पर अपना एकाधिकार जमाना चाहता है तो वह ईश्वरीय विधान में अनुचित हस्तक्षेप करता है । वही व्यक्ति ईश्वर की महिमा में सच्चा विश्वास करने वाला है जो ईश्वर को सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी मानता है और अपने को केवल न्यासी (ट्रस्टी या संरक्षक) समझता है ।[42]

इकबाल हर प्रकार के शोषण के शत्रु थे । उन्होंने श्रमिकों तथा कृषकों के दावों का समर्थन किया और यह भी भविष्यवाणी की कि पूँजीवादी अन्यायों के विरुद्ध किसी दिन क्रान्ति अवश्य होगी । अपनी 'देवदूतों के लिए ईश्वर का आदेश' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है :

"जाओ और मेरे संसार के दरिद्रों तथा स्वत्ववंचित लोगों को जगा दो,
और धनिकों के प्रासादों की दीवारों को नींव तक झकझोर दो ।
दासों का रक्त आत्मविश्वास की गर्मी से खौल उठे,
दुर्बल गौरैया महाबली गरुड से टकराये ।
जनता के प्रभुत्व का दिन तेजी से निकट आ रहा है,
पुरातन अवशेषों को जहाँ कहीं देखो ध्वस्त कर दो ।
क्या कोई ऐसा खेत है जिससे किसानों की जीविका न चल पाती हो,
जाओ और उसके गेहूँ के हर दाने को जलाकर मिट्टी में मिला दो ;
प्रायः लोग ईश्वर को एक सिजदा के लिए और मूर्तियों को परिक्रमा
के लिए बेच देते हैं ।
अच्छा हो कि मसजिदों और मन्दिरों के दीपक बुझा दिये जायँ,
मैं संगमरमर के बने इन पूजागृहों से ऊब गया हूँ ।
जाओ और मेरी आराधना के लिए मिट्टी की एक झोंपड़ी बना दो ।"

किन्तु इकबाल ने कभी समाजवाद अंगीकार नहीं किया, और न वे समाजवाद के अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र को ही भली-भाँति समझते थे । वे समस्याओं को कुरान के दृष्टिकोण से देखते थे, और समाजवादी दर्शन के अनेक सम्प्रदायों की भौतिकवादी उग्रता से उन्हें घृणा थी । समाजवादी शरीर की भौतिक आवश्यकताओं को अतिशय महत्व देते हैं, और फलस्वरूप मन और आत्मा की आवश्यकताओं की उपेक्षा करते हैं । इकबाल इस प्रवृत्ति के भी विरुद्ध थे । वास्तविक समानता का निर्माण मिट्टी से नहीं किया जा सकता, उसके लिए हृदय को विशाल बनाने की आवश्यकता है । अतः इकबाल कार्ल मार्क्स ने उन अनीश्वरवादी सिद्धान्तों के आलोचक थे जो केवल भौतिक सुविधाओं की समानता का उपदेश हैं ।[43] इस सबके बावजूद इकबाल ने पूंजीवाद की बुराइयों की भर्त्सना की । अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है :

"मनुष्य अब भी शोषण तथा साम्राज्यवाद का दयनीय शिकार है;
क्या यह घोर दुःख की बात नहीं है कि मनुष्य मनुष्य का शिकार करे ?
आधुनिक सभ्यता की चमक दृष्टि को चकाचौंध कर देती है,
किन्तु यह तो झूठे गुरियों की माला है ।
विज्ञान जिस पर पश्चिम के विद्वानों को गर्व है,
वह तो लोभ के रक्तरंजित हाथों में युद्ध की तलवार है ।
राजनीति का कोई जादू उस सभ्यता को बल नहीं दे सकता,
जो पूँजीवाद के बलुआ दलदल पर आधारित है ।

(ग) सर्वइस्लामवाद अथवा इस्लामी सार्वभौमवाद—प्रारम्भ में इकबाल ने देशभक्ति की कविताएँ लिखीं । उसी युग में उन्होंने 'हिन्दुस्तान हमारा' शीर्षक कविता की रचना की जिसमें भारत

---

41 कुरान, 55 : 10 ।
42 मुहम्मद इकबाल, *Jawaid Nama*, पृष्ठ 90, 125 ।
43 वही, पृष्ठ 69 ।

का गौरवगान किया गया है।[44] वे भारत को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानते थे और उनकी दृष्टि में भारत का कण-कण देवता के सदृश्य पवित्र था। उन्होंने देशवासियों में व्याप्त परकीयता, पृथकता तथा वैमनस्य के स्थान पर हृदय की सच्ची एकता पर बल दिया। उन्होंने राम तथा स्वामी रामतीर्थ पर भी प्रशस्तियाँ लिखीं। किन्तु बाद में वे मुसलमानों की मुसलिम भ्रातृत्व की आकांक्षा का समर्थन करने लगे और अपने को सर्वइस्लामवादी घोषित कर दिया। उन्होंने राष्ट्रवाद की प्रादेशिक और जातीय धारणा के स्थान पर इस्लामी पुनरुत्थान का सन्देश दिया। वे लिखते हैं, "चीन, अरब तथा भारत हमारे हैं; हम मुसलमान हैं और सारा संसार हमारा है।" 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) के सिद्धान्त से उन्होंने विश्व एकता का निष्कर्ष निकाला। उनकी दृष्टि में इस्लाम न राष्ट्रवाद है और न साम्राज्यवाद है, बल्कि एक 'राष्ट्र संघ' है। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्लाम जातीय भिन्नताओं को स्वीकार करता है, किन्तु अन्त में वह मानव एकता में विश्वास करता है। इकबाल लिखते हैं, "मेरा वास्तविक उद्देश्य अधिक अच्छी सामाजिक व्यवस्था का अन्वेषण करना और विश्व के समक्ष जीवन और कर्म का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना है जो सार्वभौम रूप से स्वीकार हो। किन्तु इस आदर्श की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय मेरे लिए इस्लाम की उस सामाजिक व्यवस्था तथा उन मूल्यों की उपेक्षा करना असम्भव है जिनका मुख्य उद्देश्य जाति, पंथ, रंग तथा आर्थिक स्थिति के घातक कृत्रिम भेदों को ध्वस्त करना है। इस्लाम ने सदैव जातीय (नस्लगत) श्रेष्ठता की उस धारणा का उग्र विरोध किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय एकता तथा सहयोग के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है; वस्तुतः इस्लाम तथा जातीय बहिष्कार की नीति एक दूसरे के नितान्त विपरीत हैं। यह जातीय आदर्श मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है और मानव जाति के हितैषियों का कर्तव्य है कि उसका उन्मूलन करने में योग दें। जब मैंने अनुभव किया कि जातीय तथा देशगत भेदभाव पर आधारित राष्ट्रवाद का आदर्श इस्लाम को भी आच्छादित करने लगा है और इस बात का संकट उत्पन्न हो गया है कि मुसलमान भी संकीर्ण देशभक्ति तथा मिथ्या राष्ट्रवाद के पक्ष में सार्वभौमता के आदर्श का परित्याग कर देंगे तो मैंने मुसलमान तथा मानव जाति का हितैषी होने के नाते अपना कर्तव्य समझा कि मैं उन्हें मानव विकास के नाटक में अपनी सम्यक् भूमिका अदा करने के लिए पुनः प्रेरित करूँ। इसमें सन्देह नहीं कि इस्लाम के प्रति मेरी प्रगाढ़ भक्ति है, किन्तु मैंने अपना कार्य आरम्भ करने के लिए मुसलिम समाज को किसी जातीय अथवा धार्मिक दुर्भाग्य के कारण नहीं चुना है बल्कि इसलिए चुना है कि समस्या के हल का वही सर्वाधिक व्यावहारिक मार्ग है।" इसलिए इकबाल ने 'आदि इस्लाम को वापस चलो' का नारा लगाया। उन्होंने मुसलिम भाईचारे की धारणा को सुदृढ़ करने के लिए मिल्लत की धारणा को स्वीकार किया। इकबाल के अनुसार मिल्लत तौहीद की धारणा के—जिसका अर्थ है समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व—राजनीतिक तथा सामाजिक पहलू को व्यक्त करती है। काबा इस एकता के भौगोलिक केन्द्र का प्रतीक है। किन्तु 19 सितम्बर, 1933 को इकबाल ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि सर्व-इस्लामवाद का स्वप्न यह नहीं है कि सब मुसलमानों को एक राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत एकीकृत किया जाय। फिर भी वे सर्वइस्लामवाद को एक ऐसे मानवतावादी आदर्श के रूप में स्वीकार करते थे जो जातिगत, राष्ट्रीय अथवा भौगोलिक सीमाओं को मान्यता नहीं देता।[45] ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम तथा उसके अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद के प्रति भक्ति सर्वइस्लामवादी एकता के बन्धन हैं। मुहम्मद के प्रति भक्ति मिल्लत को एकता प्रदान करती है,[46] क्योंकि मिल्लत शरियत-ए-इस्लामिया (इस्लामी विधि) के बाध्यकारी स्वरूप को अंगीकार करके ही चल सकती है। मिल्लत की आचारनीति का आधार सर्वोच्च रूप में बाध्यकारी ईश्वरीय विधि है, न कि कोई मानवीय विधान। चूंकि इकबाल को सर्वइस्लामवादी भ्रातृत्व के महत्व में अडिग विश्वास था, इसलिए उन्होंने राष्ट्र संघ का उपहास किया और उसे 'यूरोपीय कूटनीति का दुर्बल संगठन' कहा। उन्होंने यह भी भविष्यवाणी की कि राष्ट्र संघ का विनाश अवश्यम्भावी है।

---

44 'तराना-ए-हिन्द' 1904 में बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन से पहले लिखा गया था।

45 *Speeches and Writings of Iqbal*, पृ. 187।

46 मिल्लत के संगठन के सम्बन्ध में जानकारी के लिए देखिये इकबाल की रचना, *Rumuz-i-Bekhudi*।

इकबाल ने दो आधारों पर राष्ट्रवाद का विरोध किया। उनका विचार था कि यदि अखिल भारतीय राष्ट्रवाद का आदर्श साक्षात्कृत हो गया तो देश में हिन्दुओं की सर्वोच्चता स्थापित हो जायगी। कट्टर मुसलमान होने के नाते इकबाल शान्तिपूर्वक यह सहन करने वाले नहीं थे कि भारत के आठ करोड़ मुसलमानों पर हिन्दुओं का आधिपत्य कायम हो जाय। दूसरे, इकबाल की यह भी धारणा थी कि राष्ट्रवाद का आदर्श विभिन्न मुसलिम देशों के बीच पृथक देशभक्ति की भावनाओं को उत्पन्न करेगा। उससे इस्लामी भाईचारे के बन्धन शिथिल होंगे। इकबाल का कहना था कि राष्ट्रवाद का पाश्चात्य आदर्श मुसलिम बिरादरी के लिए घातक विष है, और वह साम्राज्यवादी शक्तियों की इस्लाम को दुर्बल बनाने की कुटिल चाल है।[47] अतः इकबाल ने 'घृणित राष्ट्रवाद' तथा 'पतित साम्राज्यवाद' के स्थान पर इस्लाम के इस आदर्श का प्रतिपादन किया कि समस्त विश्व ईश्वर का परिवार है।[48]

(घ) **पाकिस्तान सम्बन्धी विचार**—इकबाल के अनुसार 1799 का वर्ष इस्लामी राजनीतिक पतन का चरम बिन्दु था। टीपू सुलतान की पराजय तथा सवारिनो के युद्ध में तुर्की जहाजी बेड़े का विनाश (1799) इस्लाम के पराभव की पराकाष्ठा का द्योतक थे।[49] किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इस्लाम का पुनरुत्थान हुआ। भारत में सैयद अहमद खाँ, रूस में मुफ्ती आलम जान और अफगानिस्तान में सैयद जमालुद्दीन के कार्यकलाप से इस्लामी पुनर्जागरण का दौर प्रारम्भ हुआ।[50] इकबाल अहमदिया आन्दोलन के विरुद्ध थे,[51] क्योंकि उनकी दृष्टि में उस आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानों की राजनीतिक पराधीनता पर धार्मिक अनुमोदन की छाप लगा दी थी। उनका विचार था कि भारतीय मुसलमानों की होतव्यता यही है कि वे अपने लिए एक पृथक राज्य का निर्माण करें। उन्हें ऐसी किसी राजनीतिक विचारधारा से सहानुभूति नहीं थी जो आदर्शवाद के नाम पर भारतीय मुसलमानों के सांस्कृतिक अस्तित्व को नष्ट करना चाहती थी।[52] वे मुसलमानों को एक अखिल भारतीय अल्पसंख्यक समाज मानते थे, बल्कि वे उन्हें एक राष्ट्र तक कहने को तैयार थे।[53] वे एकात्मक भारतीय राष्ट्र के आदर्श के विरुद्ध थे। उनकी दृष्टि में यह आदर्श मुसलमानों पर बहुसंख्यकों का आधिपत्य स्थापित करने की एक योजना मात्र था।[54] उन्होंने साम्प्रदायिक निर्णय का समर्थन किया।

चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में इकबाल 'एकीकृत उत्तरी-पश्चिमी भारतीय मुसलिम राज्य' के समर्थक बन गये। यह प्रस्ताव 1928 में नेहरू समिति के समक्ष रखा गया था, किन्तु इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि प्रशासन की दृष्टि से यह राज्य बहुत बड़ा होगा। इकबाल का विचार था कि संयुक्त भारत में मुसलमानों का कोई भविष्य नहीं हो सकता। इसलिए वे इस बात के उग्र समर्थक बन गये कि पश्चिमोत्तर भारत के मुसलमानों को एक पृथक प्रदेश में केन्द्रित किया जाय। मुसलिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, "संविधान को एक समांग भारत की धारणा पर आधारित करना अथवा ब्रिटेन की लोकतांत्रिक भावनाओं के सिद्धान्तों को भारत में लागू करना अनजाने गृहयुद्ध की तैयारी करना है।" उनके अनुसार भारत की समस्या राष्ट्रीय नहीं अपितु अन्तरराष्ट्रीय थी। उनका कहना था कि भारत अनेक राष्ट्रों की भूमि है, अतः देश में तब तक शान्ति नहीं हो सकती जब तक कि उसके विभिन्न अंगों को अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद किये बिना अपना विकास करने का अवसर नहीं मिलता। इसलिए उनका

---

47 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृ. 203-5।
48 वही, पृष्ठ 203।
49 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृष्ठ 124।
50 वही, पृष्ठ 130।
51 अहमदिया आन्दोलन मिर्जा गुलाम अहमद (1839-1908) ने आरम्भ किया था। वे अपने को मेहदी मानते थे। 1914 में आन्दोलन में फूट पड़ गयी और दो गुट बन गये। उनमें से एक लाहौरी और दूसरा कादियानी कहलाया।
52 वही, पृष्ठ 143।
53 वही, पृष्ठ 31।
54 वही, पृ. 193-95।

प्रस्ताव था कि एक 'एकीकृत मुसलिम राज्य' की स्थापना की जाय। उन्होंने कहा, "मेरी इच्छा है कि पंजाब, पश्चिमोत्तरी सीमान्त प्रदेश, सिन्ध तथा बलूचिस्तान को एक ही राज्य के अन्तर्गत संगठित किया जाय। हमें स्वराज चाहे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत मिले और चाहे उसके बाहर, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक एकीकृत पश्चिमोत्तरी भारतीय मुसलिम राज्य का निर्माण मुसलमानों की, कम से कम पश्चिमोत्तरी भारत के मुसलमानों की, अन्तिम होतव्यता है।"[55] इस प्रकार पश्चिमोत्तरी भारत के मुसलमानों को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपने विकास का पूरा-पूरा अवसर मिल सकेगा और वे भारत की सैनिक तथा विचारधारात्मक आक्रमण से रक्षा कर सकेंगे। इस रूप में इकबाल ने 'भारत के भीतर मुसलिम भारत' की माँग का समर्थन किया।

6 दिसम्बर, 1933 को इकबाल ने इस बात का संकेत किया कि देश का धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों के आधार पर पुनः बटवारा कर लिया जाय।[56] 28 मई, 1937 को उन्होंने जिन्ना को एक पत्र लिखा और उसमें सुझाव दिया कि मुसलिम भारत अपनी समस्याओं को हल कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि देश का पुनः बटवारा कर दिया जाय जिससे निरपेक्ष बहुमत वाले एक अथवा अधिक मुसलिम राज्यों का निर्माण किया जा सके।[57] इस प्रकार इकबाल पाकिस्तान की पृथकतावादी माँग के आध्यात्मिक तथा वैचारिक प्रवर्तक बन गये।

4. निष्कर्ष

इकबाल का उनकी उर्दू तथा फारसी की कविताओं के लिए बड़ा आदर किया जाता है। एक कवि के रूप में उन्होंने पश्चिमी एशिया में व्यापक मान्यता प्राप्त कर ली। अपनी कविताओं के कारण उन्हें अपरिमित यश मिला। इसमें सन्देह नहीं कि वे आधुनिक भारत के महानतम उर्दू कवि थे। किन्तु राजनीतिक अथवा तत्वशास्त्रीय विचारक के रूप में उनमें न मौलिकता देखने को मिलती है और न गहराई। उन्होंने कुरान में बर्गसाँ के शुद्ध कालावधि के विचारों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। उनका मुख्य उद्देश्य किसी नवीन विचार सम्प्रदाय का निर्माण करना नहीं था। वे कुरान के सिद्धान्तों की इस ढंग से व्याख्या करना चाहते थे कि उन्हें चिन्तन की आधुनिक प्रगति के सन्दर्भ में अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके। इस प्रकार उन्होंने इस्लाम का समन्वयात्मक पुनर्निवचन करने का प्रयत्न किया। सामी (सेमेटिक) जातियों में विकल्पातीत एकल ईश्वर की जो धारणा पायी जाती है उसके लिए इकबाल के मन में गहरी भावात्मक उत्कण्ठा थी। वे सूफियों की इस धारणा को भी स्वीकार करते थे कि ईश्वर की अनुभूति अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही हो सकती है। वे अहं के अनेकत्व में भी विश्वास करते थे। उन्हें इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी प्रेरणा मिली थी कि विश्व अन्तरभेदी घटनाओं की ऐसी अवयवी व्यवस्था है जिसका प्रवाह कभी टूटता नहीं। अपने इस दार्शनिक सिद्धान्त में कि परम अहं एक व्यक्ति है न कि कोरा द्रव्य, उन्होंने चिन्तन के उक्त विभिन्न तत्वों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनमें दार्शनिक गहराई तथा व्यापक सैद्धान्तिक रचना की क्षमता का अभाव था, इसलिए वे ऐसी धारणाओं तथा आधारभूत प्रस्थापनाओं को विकसित न कर सके जिनसे इन विभिन्न तत्वों तथा वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टिकोणों का समेकन किया जा सकता। इसलिए उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे रचनात्मक तथा व्यवस्थित ढंग के विचारक नहीं थे बल्कि वे इस्लाम के ऐसे प्रचारक तथा उपदेष्टा थे जिन्होंने इस्लाम के पुराने धर्मग्रन्थों में से विकास, आविर्भाव तथा सर्जनात्मकता के सिद्धान्तों को ढूँढ निकालने की चेष्टा की।

इकबाल को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की धारणा से प्रेरणा मिली थी। उन्होंने स्वीकार किया कि आध्यात्मिक, शाश्वत, सोद्देश्य सृजनात्मकता ही सत् का यथार्थ स्वभाव है। प्रत्येक क्षण

---

55 एडवर्ड टॉमसन ने अपनी पुस्तक *Enlist India for Freedom* में लिखा है कि इकबाल ने मेरे सामने स्वीकार किया था कि पाकिस्तान तीनों पक्षों अर्थात् हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अंग्रेजों के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा। किन्तु उन्होंने उस माँग का समर्थन इसलिए किया था कि वह लीग के अध्यक्ष थे।

56 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृष्ठ 195।

57 हैक्टर बोलियो द्वारा रचित, *Jinnah : Creator of Pakistan*, में पृष्ठ 114 पर उद्धृत (लाहौर, जॉन मरे, 1954)।

मौलिक और अद्भुत सृजन का अवसर है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने के कारण इकबाल नीरस यांत्रिक नियतिवाद की धारणा से बच गये। उन्होंने उन प्राणवादी (जीवनशक्तिवादी) तथा प्रच्छन्न भौतिकवादी सम्प्रदायों की आलोचना की है जो किसी न किसी प्रकार के जड़ नियतिवाद का समर्थन करते हैं। उन्होंने कुरान में प्रतिपादित 'तकदीर' की धारणा को स्वीकार किया और उसे स्वतन्त्रता की सार्थक धारणा बतलाया।[58] तकदीर कोई क्रूर और निष्ठुर भाग्य नहीं है। वस्तुतः वह शाश्वत काल है जो नैमित्तिक अनुक्रम के उन बन्धनों से मुक्त है जो क्रमबद्ध और देश-बद्ध काल की विशेषता है। इकबाल ने तकदीर की जो व्याख्या की है वह कुरान की मूल भावना के अनुरूप भले ही न हो, किन्तु उन्होंने मानव स्वतन्त्रता का जो समर्थन किया है वह अद्भुत है। उनके समर्थन का आधार धार्मिक है, जबकि धर्म प्रायः नियतिवादी दृष्टिकोण का पोषक होता है। यही उनकी स्वतन्त्रता-विषयक धारणा का अनोखापन है।

इकबाल को आध्यात्मिक लोकतन्त्र के आदर्श ने बहुत प्रभावित किया था। उन्हें व्यक्तित्व (खुदी) के पूर्ण विकास में विश्वास था। उन्होंने कुरान की इस धारणा को स्वीकार किया कि ससीम अहं का व्यक्तित्व अनन्य होता है और उसे स्थानापन्न नहीं किया जा सकता। जीवन अहं की क्रिया के लिए अवसर प्रदान करता है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास आवश्यक है और मिल्लत तथा इतिहास में भाग लेने तथा उसके निर्माण में योग देने की शक्ति प्राप्त करना ही व्यक्तित्व का विकास है। ईश्वरीय प्रकाश को प्राप्त कर लेने पर व्यक्तित्व का और भी अधिक विस्तार होता है। मिल्लत के सभी सदस्यों का व्यक्तित्व का प्रखरीकरण ही आध्यात्मिक लोकतन्त्र का आधार है। किन्तु इसके बावजूद कि इकबाल ने इस्लामी धर्मतन्त्र के समर्थक होने के नाते आध्यात्मिक लोक-तन्त्र का समर्थन किया, वे लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने लौकिक मामलों में भी सार्वलौकिक संसद को सर्वोपरि मानने से इनकार किया। इस प्रकार इकबाल ने आध्यात्मिक लोकतन्त्र से राजनीतिक लोकतन्त्र का निष्कर्ष नहीं निकाला। उन्होंने पाश्चात्य लोक-तान्त्रिक देशों को साम्राज्यवादी कहा और उनकी भर्त्सना की। उनका कहना था कि विधान-सभाओं तथा संसदों में जो विवाद और विचार-विमर्श होते हैं वे पूंजीपतियों का मायाजाल मात्र है। इकबाल ईश्वरीय लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं, किन्तु उन्होंने इस प्रश्न का सविस्तार विवेचन नहीं किया है कि दिन-प्रति-दिन के राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों में ईश्वरीय प्रभुत्व की अभि-व्यक्ति किस माध्यम से होगी। यदि वे यह कहें कि सन्दिग्ध लौकिक मामलों में कुरान को ही अन्तिम प्रमाण माना जायगा तो कठिनाई यह आती है कि कुरान की व्याख्याओं में परस्पर अन्तर होता है। अतः केवल शरियत के आधार पर राज्यतन्त्र और समाज-व्यवस्था का निर्माण नहीं किया जा सकता। इकबाल ने शरियत को आवश्यकता से अधिक महत्व देकर धर्मतांत्रिक पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। इकबाल स्वयं इस बात को स्वीकार करते थे कि पुराने विचारों को युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यक है कि उनको उदार दृष्टिकोण से व्याख्या तथा पुनर्रचना की जाय। इसीलिए उन्होने 'इज्तिहाद' का समर्थन किया।[59] वे स्थायित्व के शाश्वत सिद्धान्तों तथा तालमेल के परिवर्तमान सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते थे। किन्तु बावजूद इसके कि धर्मतांत्रिक मामलों की व्याख्या में इकबाल का दृष्टिकोण उदार था, वे इस बात को न समझ सके कि भविष्य के लिए लोक प्रभुत्व की धारणा का अपरिमित महत्व है और मनुष्य की राजनीतिक होतव्यता के निर्माण के लिए उसमें आदर्श सम्भावनाएँ निहित हैं। शरियत की पवित्रता के नाम पर उन्होंने नारा लगाया कि "लोकतन्त्र से दूर भागो और पूर्ण मानव के दास बन जाओ।" इस प्रकार इकबाल ने इस्लाम के सामाजिक लोकतंत्र के निहितार्थ को विस्तृत करने और मुसलिम देशों की जनता के समक्ष लोकतांत्रिक आदर्श की मुक्ति करने वाली कल्पना प्रस्तुत करने के बजाय वीरपूजा के प्रतिक्रियावादी मध्ययुगीन तथा फासीवादी आदर्श का समर्थन किया।

---

58 *Six Lectures*, पृष्ठ 67।

59 इज्तिहाद की आवश्यकता को इब्ने तैमिय्या, वली उल्लाह, जमालुद्दीन अफगानी और हलीम पाशा ने स्वीकार किया था।

अपनी राजनीतिक रचनाओं के द्वारा इकबाल ने कर्म तथा शक्ति का सन्देश दिया। वे चाहते थे कि मनुष्य ईश्वर को आमने-सामने देखने का साहस करे। उन्होंने आंशिक रूप में तुर्की की, जिसे नवजीवन प्राप्त हो चुका था, प्रशंसा की, यद्यपि वे उसकी ऐतिहासिक तथा स्त्रियोद्धार की नीति से सहमत नहीं थे। उन्हें नीत्शे का 'संकटपूर्ण जीवन बिताओ' का आदर्श प्रिय था। उन्होंने इस्लामी जगत के सामने जो मध्ययुगीन निद्रा के अन्धकार में डूबा हुआ था कर्म, अविरल, गतिशील उत्साह तथा शक्ति का गौरवगान किया। उन्होंने प्रमाद, दरिद्रता तथा बेकारी के भयावह दृश्य का अन्त करने के लिए कर्म का सन्देश दिया। 'नफी-ए-खुदी' (अहं का निषेध) के स्थान पर उन्होंने 'इस्बत-ए-खुदी' (अहं का उचित सम्मान) का समर्थन किया। आत्मचेतना से जीवन के स्रोत को बल मिलता है। उससे पर (अनहं) भी सक्रिय हो उठता है। किन्तु इकबाल ने अहंवाद को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। डर इस बात का है कि अहंवाद का विजयघोष वैयक्तिक अत्याचार के औचित्य का आधार बन सकता है। यह सत्य है कि जिस समय इकबाल ने अपनी रचनाओं का प्रणयन किया था उस समय मुसलिम जगत विनाशकारी चुनौतियों का शिकार था। बौद्धिक स्तर पर पाश्चात्य विज्ञान तथा ब्रह्माण्ड-विद्या के ऐहिकवादी तथा अनीश्वरवादी सिद्धान्त उसे चुनौती दे रहे थे और राजनीतिक स्तर पर उसे पश्चिम का विजयी साम्राज्यवाद त्रस्त कर रहा था। ऐसे अवसर पर धर्म, प्रगति, शक्ति तथा आत्म-सम्मान के दर्शन का प्रचार करना तथा उसे लोकप्रिय बनाना आवश्यक था। किन्तु चिन्तन तथा आत्म-निषेध के सन्देशवाहकों के विरुद्ध क्रोध के आवेश में इकबाल ने प्रचारक का रूप धारण कर लिया। उनके इस कथन से कि प्लेटो उन प्राचीन भेड़ों के झुण्ड में से एक था जिन्होंने अकर्मण्यता, दरिद्रता तथा आत्महत्या का[60] सन्देश देकर लोगों के मन को दूषित और भ्रष्ट कर दिया, प्रकट होता है कि उन्होंने प्लेटो के 'रिपब्लिक', 'स्टेट्समैन' और 'लॉज' आदि राजनीति दर्शन के ग्रन्थों में जो जीवनशक्ति देखने को मिलती है उसका न अध्ययन किया है और न उसको भलीभाँति समझा है।[61]

इकबाल हेगेल की अवयवी निरपेक्ष अहं की धारणा को स्वीकार करते हैं, यद्यपि उन्होंने उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का तनिक भी उल्लेख नहीं किया। उन्हें ससीम अहमों की वास्तविकता में भी विश्वास है ; ये अहं परम अहं के ही गुण अथवा विशेषताएँ हैं। किन्तु इकबाल ने ससीम अहं की तात्त्विक स्थिति को तार्किक ढंग से स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने कुरान से तीन सिद्धान्त ग्रहण किये हैं : (1) मनुष्य ईश्वर का चुना हुआ प्राणी है; (2) अपने सब दोषों के बावजूद मनुष्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है ; और (3) मनुष्य एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व का न्यासी है। किन्तु साथ ही साथ वे कुरान के दृष्टिकोण को भी स्वीकार करते हैं कि अहं सादि है ; किसी समय उसका आरम्भ हुआ था। कुरान के इस दृष्टिकोण का ससीम अहं तथा निरपेक्ष अहं के सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि ससीम अहं सादि है, उसका किसी समय आरम्भ हुआ था, तो यह भी मानना पड़ेगा कि न वह अमर हो सकता है और न वह परम अहं के अखण्ड स्वरूप में अवयवी ढंग से भाग ही ले सकता है। वस्तुतः इकबाल ने एक साथ दो घोड़ों पर चढ़ने का प्रयत्न किया है। मुसलमान होने के नाते वे कुरान के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहते थे और दार्शनिक के रूप में वे निरपेक्ष अवयवी प्रत्ययवाद के अनुयायी थे। दृष्टिकोण का यह द्वैत ही वास्तविक कारण है जिससे इकबाल ससीम अहं की तात्विक स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। यह दार्शनिक भ्रान्ति ही राजनीतिक विचारों की अस्पष्टता के लिए उत्तरदायी है। अपने राजनीतिक चिन्तन में इकबाल व्यक्तित्व की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाये हैं। मुसलिम धर्म-शास्त्री होने के नाते वे मिल्लत तथा शरियत की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे। किन्तु साथ ही साथ दार्शनिक होने तथा चिन्तन की आधुनिक प्रवृत्तियों से परिचित होने के नाते वे व्यक्तित्व अथवा खुदी में विश्वास करते थे। किन्तु यदि ससीम अहं को मृत्यु के उपरान्त भी अपने व्यक्तित्व की

---

60 मुहम्मद इकबाल, 'असरारे खुदी', पृष्ठ 671-72।

61 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, "Plato's Philosophy of Education," *Studies in the Philosophy of Education* (आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, 1964)।

चेतना रहती है, अथवा उसे मृत्यु से पूर्व अपने भावी जीवन का आभास मिल जाता है, जैसा कि उन लोगों के सम्बन्ध में कहा जाता है जिन्हें स्वयं के तथा परम अहं के सम्बन्ध में अन्तःप्रज्ञात्मक तथा रहस्यात्मक अनुभूति होती है, तो व्यक्ति के दावों तथा अधिकारों पर मिल्लत का नियन्त्रण स्थापित करने का कोई औचित्य नहीं हो सकता, क्योंकि मिल्लत तो एक परम्परागत तथा ऐतिहासिक व्यवस्था है जिसका अपना कोई तात्विक अस्तित्व नहीं है। इकबाल के राजनीति दर्शन की आधारभूत कठिनाई यह है कि उसने असम्भव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—न तो कुरान के धर्मतंत्र के आधार पर और न निरपेक्ष प्रत्ययवाद की बुनियाद पर अहं के दावों, अधिकारों तथा शक्तियों का समर्थन किया जा सकता है।

भाग 5

अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

18

मोतीलाल नेहरू तथा चितरंजन दास

प्रकरण 1

मोतीलाल नेहरू

1. प्रस्तावना

पण्डित मोतीलाल नेहरू (1861-1931) का जन्म 6 मई, 1861 को आगरा में हुआ था, और 6 फरवरी, 1931 को लखनऊ में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की। सर्वप्रथम वे 1906 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। वे मितवादी (नरमदली) गुट के सदस्य बन गये। तिलक के नेतृत्व में कार्य करने वाले अतिवादियों की उन्होंने कटु आलोचना की। 1907 में ऐतिहासिक फूट के अवसर पर वे सूरत में उपस्थित थे। 1907 में इलाहाबाद में संयुक्त प्रान्त का प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। उसके वे प्रथम सभापति थे। वे संयुक्त प्रान्त की प्रान्तीय समिति के सात वर्ष तक अध्यक्ष रहे। 1910 में वे संयुक्त प्रान्त की विधान परिषद के सदस्य बन गये। 1917 में जब श्रीमती एनी बेसेंट को नजरबन्द कर दिया गया तब मोतीलाल होम रूल लीग में सम्मिलित हो गये। 'द पाइनियर' उन्हें 'होम रूल लीग का महाब्रिगेडियर' कहा करता था। 1919 में उन्होंने विशेष ख्याति और प्रमुखता प्राप्त करली। जलियांवाला बाग के बर्बर काण्ड का मोतीलाल पर गहरा मानसिक तथा नैतिक प्रभाव पड़ा जिससे वे उग्र राष्ट्रवादी बन गये और इस प्रकार वे पुराने मितवादियों से आगे बढ़ गये। जिस समय पंजाब सैनिक शासन के दीर्घकालीन आततायीपन से त्रस्त था, उस समय पण्डितजी ने उस प्रान्त के तथा भारत के आत्मसम्मान की रक्षा की। जलियांवाला काण्ड के वीभत्स और कुत्सित कृत्यों की जाँच करने के लिए जो समिति नियुक्त की गयी उसका सभापति मोतीलाल को बनाया गया। महात्मा गान्धी, मदनमोहन मालवीय तथा चितरंजन दास भी उस समिति के सदस्य थे। मोतीलाल दो बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये, 1919 में तथा 1928 में। अमृतसर के अधिवेशन में वे 1919 के भारतीय शासन अधिनियम (गवर्नमेंट आव इण्डिया एक्ट) को स्वीकार करने के पक्ष में थे। 1919 में उन्होंने 'इण्डिपेन्डेण्ट' नामक समाचार पत्र प्रारम्भ किया जो 1923 तक प्रकाशित होता रहा।

जब महात्मा गान्धी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया तो मोतीलाल उसमें सम्मिलित हो गये। 1922 में उन्होंने कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन जाँच समिति की अध्यक्षता की। 1923 में मोतीलाल ने स्वराज दल स्थापित करने में चितरंजन दास की सहायता की और उसके महासचिव नियुक्त हुए। 1924 में जुहू में गान्धीजी ने चितरंजन दास तथा मोतीलाल के साथ समझौता कर लिया जिसके अनुसार उन दोनों को अपने कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की छूट दे दी गयी। 1924 के बेलगाँव अधिवेशन में कांग्रेस ने इस समझौते का अनुसमर्थन कर दिया। 1925 के कानपुर अधिवेशन में परिवर्तन-विरोधियों ने भी स्वराज दल की परिषदों में प्रवेश करने और वहाँ से नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष चलाने की नीति को मान लिया। इस अधिवेशन में मोतीलाल ने घोषणा की कि यदि सरकार ने राष्ट्रीय माँग को स्वीकार न किया तो स्वराज्य दल

के सदस्य विधानांगों की सदस्यता से त्यागपत्र दे देंगे और सविनय अवज्ञा के लिए तीव्रता से कार्य आरम्भ कर देंगे। पण्डितजी ने 1924 से 1930 तक केन्द्रीय विधान सभा में स्वराज प्रतिपक्ष का नेतृत्व किया। 1930 में लाहोर कांग्रेस के आदेशानुसार उन्होंने विधान सभा की सदस्यता का परित्याग कर दिया। प्रतिपक्षी नेता के रूप में मोतीलाल ने महान ख्याति प्राप्त की। उनके योग्य नेतृत्व तथा संगठनात्मक क्षमता के फलस्वरूप स्वराज दल ने भारतीय विधान सभा में सरकार को अनेक बार परास्त किया, जिसके कारण गवर्नर जनरल को अपनी प्रमाणन की शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। 1924 में मोतीलाल ने स्वराज प्रतिपक्ष के नेता के रूप में केन्द्रीय विधान सभा में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसका आशय था कि भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के हेतु कार्यक्रम बनाने के लिए एक गोलमेज सम्मेलन किया जाय। सम्मेलन जो योजना तैयार करे उसे पहले एक निर्वाचित विधानांग के समक्ष प्रस्तुत किया जाय और फिर ब्रिटिश संसद के सम्मुख रखा जाय ताकि वह उसको कार्यान्वित करने के लिए समुचित अधिनियम पारित करे। सरकार के विरोध के बावजूद विधान सभा ने प्रस्ताव स्वीकार किया। 1925 में मोतीलाल ने सभा में यह राष्ट्रीय माँग प्रस्तुत की कि ब्रिटिश संसद भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा करे। सरकार के विरोध के बावजूद राष्ट्रीय माँग विधान सभा में पारित हो गयी, किन्तु सरकार उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। 8 मार्च, 1926 को पण्डित मोतीलाल ने विधान सभा में घोषणा की कि स्वराज दल को सरकार से अपमान के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला है। इसके उपरान्त वे सभा से बहिर्गमन कर गये। किन्तु जून 1925 में मोतीलाल स्कीन आयोग के सदस्य नियुक्त किये गये। इस आयोग का काम सेना के भारतीयकरण की सम्भावनाओं की जाँच करना था। 1925 में चितरंजन दास की मृत्यु हो गयी जिससे स्वराज दल की शक्ति को भारी आघात पहुँचा। मोतीलाल विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने महाराष्ट्र के उम संवादी स्वराज गुट के सम्बन्ध में, जिसके नेता एन. सी. केलकर और एम. आर. जयकर थे, कुछ आपत्तिजनक शब्द कह दिये जिसके फलस्वरूप महाराष्ट्र के नेता स्वराज दल से पृथक हो गये। मोतीलाल विधान सभा के निष्फल और निषेधात्मक वादविवाद से ऊब गये थे, इसलिए 1930 में वे नमक सत्याग्रह में सम्मिलित हो गये। इसके अतिरिक्त देश में साम्प्रदायिक तनाव तीव्र हो गया था जिसके फलस्वरूप स्वराज दल में आन्तरिक गुटबन्दी और फूट उत्पन्न हो गयी।

मोतीलाल असाधारण नेता थे, और अपने चरित्रबल तथा दृढ़ संकल्प के लिए विख्यात थे। वे भारतीय नौकरशाही के कुचक्रों और तिकड़मों को भलीभाँति समझते थे। वे स्वराज के वीर सेनानी थे। 1919 से 1931 तक मोतीलाल ने एक असहयोगी, भारतीय विधान-सभा में प्रतिपक्ष के नेता, नेहरू रिपोर्ट के मुख्य रचयिता तथा महात्मा गान्धी के सहकर्मी के रूप में भारतीय राजनीति में प्रमुख भूमिका अदा की।

मोतीलाल ने राजनीतिक विचारों पर व्यवस्थित ढंग से कुछ नहीं लिखा है। इसलिए उनके राजनीतिक विचारों को जानने के लिए हमें उनके दो अध्यक्षीय भाषणों का अवलोकन करना पड़ेगा—एक 1919 में अमृतसर की और दूसरा 1928 में कलकत्ता की कांग्रेस में दिया गया था। 1921 में मोतीलाल ने 'द स्ट्रगल फॉर स्वराज' (स्वराज के लिए संघर्ष) नामक पुस्तिका प्रकाशित की। उनके विचारों में मौलिक कुछ नहीं है। फिर भी भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि उन्होंने स्वराज दल में अपने नेतृत्व तथा कार्यकलाप के द्वारा ऐहिकवादी राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया।

2. मोतीलाल नेहरू के राजनीतिक विचार

मोतीलाल उन सबसे प्रारम्भिक राजनीतिक नेताओं में थे जिन्होंने भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में ऐहिकवादी (धर्म-निरपेक्षतावादी) मार्ग अपनाया। उन्होंने अनुभव किया कि देश में सार्वजनिक कल्याण तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक धर्म तथा राजनीति को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जाता। उनका कहना था कि राजनीति को पुरोहितवर्ग के विनाशकारी प्रभाव से और कट्टर पुनरुत्थानवाद तथा संकीर्ण वर्गगत भक्ति से बचाना आवश्यक है। मोतीलाल के लिए राजनीति में ऐहिकवादी मार्ग को अपनाना इसलिए सरल था कि उनका किसी परम्परागत धार्मिक मन-

वाद अथवा पंथ से गहरा अनुराग नहीं था। मोतीलाल संशयवादी थे।[1] उनके मन में प्राचीन हिन्दू संस्कृति के लिए गहरा प्रेम नहीं था। इसलिए राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण न्यायिक तथा ऐहिक था, न कि धार्मिक तथा लोकातीत। मोतीलाल ने विक्टोरिया युग की ब्रिटिश सभ्यता के मूल्यों को आत्मसात कर लिया था। उन्हें मध्ययुगीनता से कोई सहानुभूति नहीं थी, और न वे परम्परागत संस्थाओं को उनकी प्राचीनता के आधार पर बनाये रखने के पक्ष में थे। उन्हें साम्प्रदायिक कटुता तथा मूर्खतापूर्ण दंगों को देखकर भारी मानसिक वेदना होती थी। वे धर्मों के पृथकतावादी प्रभाव को समाप्त करना चाहते थे। उन्होंने पाण्डित्यवादी धर्मविद्या तथा धर्म के तात्विक पहलुओं के ब्यौरे पर गम्भीरतापूर्वक विचार और मनन नहीं किया, किन्तु वे यह मानते थे कि संगठित संस्थागत कट्टरता, धर्मान्धता तथा मानसिक संकीर्णता राष्ट्र की प्रगति के लिए अत्यधिक घातक हैं। मार्च 1907 में संयुक्त प्रान्त के प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने "मेल-मिलाप तथा पारस्परिक रिआयत" का समर्थन किया। उन्होंने कहा, "आज धर्म का जो व्यावहारिक स्वरूप है वह सबसे बड़ा पृथकतावादी तत्व है। वह मनुष्य तथा मनुष्य के बीच कृत्रिम अवरोधक खड़े करता है, और कल्याणकारी, सहयोगमूलक राष्ट्रीय जीवन के विकास में बाधा डालता है। उसे सामाजिक मामलों पर प्रतिक्रियावादी प्रभाव डालकर ही सन्तोष नहीं हुआ, अब उसने राजनीति तथा अर्थतंत्र पर भी आक्रमण कर दिया है और जीवन के हर पहलू को प्रभावित कर रहा है। राजनीति के साथ उसका संयोग न उसके स्वयं के लिए हितकर सिद्ध हुआ है और न राजनीति के लिए। धर्म का पतन हुआ है और राजनीति कीचड़ में फँस गयी है। एक को दूसरे से पूर्णतः पृथक करना ही रोग का उपचार है।"[2] इस प्रकार मोतीलाल स्वच्छ तथा गम्भीर राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उन्होंने समाज को हर प्रकार की असहिष्णुतापूर्ण कट्टरता तथा संकीर्ण घृणा से मुक्त करने पर बल दिया।

भारत की होतव्यता के सम्बन्ध में मोतीलाल की कल्पना बहुत उज्ज्वल थी। वे यह नहीं चाहते थे कि भारत पश्चिम का अन्धानुकरण करे। उनका कहना था कि भविष्य के गौरवशाली तथा शक्तिसम्पन्न भारत का निर्माण करने के लिए उच्च आकांक्षाओं तथा कार्यकारी संकल्प की आवश्यकता है। उन्होंने अमृतसर की कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा इन शब्दों में प्रस्तुत की : "हमारा लक्ष्य ऐसा भारत होना चाहिए जिसमें सब स्वतन्त्र हों और सबको विकास का पूर्ण अवसर मिले; जहाँ स्त्रियाँ बन्धन से मुक्त हो चुकी हों और जाति-व्यवस्था की जटिलता लुप्त हो चुकी हो; जहाँ शिक्षा निःशुल्क हो तथा सबके लिए उपलब्ध हो; जहाँ पूंजीपति तथा जमींदार श्रमिकों तथा रैयत का शोषण न करें; जहाँ श्रमिक का सम्मान होता हो और उसे समुचित वेतन मिलता हो; और जहाँ दरिद्रता जिससे वर्तमान पीढ़ी आतुर है, अतीत की वस्तु बन गयी हो।" 3 दिसम्बर, 1925 को स्वराज दल के नेता की हैसियत से मोतीलाल ने केन्द्रीय विधान सभा में घोषणा की कि स्वराज दल सम्पूर्ण देश के हितों का समर्थन करता है, किसी वर्ग अथवा समूह के हितों का नहीं।

मोतीलाल स्वतन्त्रता के उत्कट समर्थक थे, इसलिए उन्होंने अधिकारों की घोषणा का समर्थन किया। उन्होंने अपने पत्र 'इंडिपेंडेंट' को जो सन्देश दिया उसमें कहा कि उनका पत्र भारतीय राष्ट्र की आत्मा को जनता के समक्ष उघाड़कर रखेगा। उन्होंने गुटबन्दी, गुप्त कार्यप्रणाली तथा अवसरवादिता की भर्त्सना की। 'इंडिपेंडेंट' की नीति के सम्बन्ध में उन्होंने वचन दिया कि वह इस शाश्वत सत्य पर दृढ़ रहेगा कि मानव जाति के अधिकार इस हेतु दबाकर नहीं रखे जा सकते कि उन्हें उदारता प्रदर्शित करने के लिए थोड़ा-थोड़ा करके वितरित किया जाय और न उनकी धार्मिक तथा

---

1 पण्डित मोतीलाल के अंत्येष्टि भाषण में गान्धीजी ने कहा था कि पण्डितजी ईश्वर में विश्वास करते थे। "मैं अच्छी तरह जानता था कि पण्डितजी को ईश्वर में विश्वास था, कल संध्या समय वे निरन्तर सुन्दर 'राम' नाम का जप करते रहे थे। श्रीमती नेहरू ने जा उनके पास बैठी हुई थीं मुझसे कहा था कि यह ईश्वर की विशेष कृपा थी कि कल रात पण्डितजी गायत्री मन्त्र का जप कर रहे थे।" *Life and Works of Pandit Motilal Nehru*, भट्टाचार्य और चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित, पृष्ठ 53।

2 मोतीलाल का 1928 के कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण।

सामाजिक कटुता और फूट के वातावरण में ही रक्षा की जा सकती है। मोतीलाल पर अमेरिका के संघीय तथा राज्यीय संविधानों का प्रभाव पड़ा था। 1907 में उन्होंने ब्रिटिश संसद को "भारत की होतव्यता का अन्तिम निर्णायक" कहा था, किन्तु 1919 में वे भारत के अधिकारों के निर्भीक समर्थक बन गये। उन्हें इस बात का दुःख था कि 1919 के भारत शासन अधिनियम में कोई अधिकार-पत्र सम्मिलित नहीं किया गया था। उन्होंने कहा, "कोई संविधान तब तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता जब तक उसमें उन आधारभूत अधिकारों की गारन्टी तथा घोषणा न हो जिनका अभी हाल में पंजाब में क्रूरतापूर्वक उल्लंघन किया गया है। कोई भी भारतीय इस तथ्य को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि हमारे मूल नागरिक अधिकारों की रक्षा तात्कालिक महत्व का विषय है। कोई राजनीतिज्ञ इस नैतिक आवश्यकता को नजरन्दाज नहीं कर सकता कि भारतीय जनता को अपने नागरिक अधिकारों की अलंघनीयता में विश्वास हो। यह स्पष्ट है कि भारतीय प्रतिरक्षा अधिनियम के लागू होने से तथा अनेक दमनकारी कानूनों तथा सैनिक शासन के स्थापित होने से देश में इन परम्परागत अधिकारों को तिलांजलि दे दी गयी है। इतिहास हमें सिखाता है कि जहाँ कहीं जनता की स्वतन्त्रता ऐसी कार्यपालिका के हाथों में रही है जिसे मनमाने कानून बनाने का अधिकार हो वहाँ स्वशासन की प्राप्ति से पहले अथवा उसके साथ-साथ विधिक रूप में अधिकारों की घोषणा अवश्य की गयी है।" नागरिकों की प्रतिष्ठा तथा प्रास्थिति के परिरक्षण के लिए अधिकारों की घोषणा आवश्यक थी। इस प्रकार की घोषणा भयावह सैनिक शासन की पुनरावृत्ति को रोकने में सहायक हो सकती थी। पंजाब के कुकृत्यों ने स्पष्ट कर दिया था कि उत्तरदायित्वहीन शक्ति में निरंकुशता तथा बर्बरता की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। भारतीयों के अधिकारों की घोषणा से ही देश की जनता को आवश्यक सुरक्षा तथा संरक्षण की गारंटी मिल सकती थी। इसलिए मोतीलाल ने कहा कि कांग्रेस बार-बार अधिकारों की आवश्यकता पर बल दे चुकी है। 1919 में संयुक्त संसदीय समिति के समक्ष यह माँग रखी गयी थी। बम्बई की विशेष कांग्रेस तथा दिल्ली कांग्रेस ने भी इस बात पर बल दिया था कि कार्यपालिका को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने से रोका जाय।

प्रथम विश्वयुद्ध विश्व को लोकतंत्र के लिए निरापद बनाने के लिए लड़ा गया था। किन्तु भारत में लोकतांत्रिक अधिकार दिये जाने के बजाय शक्ति-राजनीति की दुर्धर्ष तथा सिद्धान्तहीन बर्बरता थोप दी गयी थी। शक्ति तथा तलवार की निर्लज्जतापूर्ण उपासना के कारण सर्वत्र घातक तथा विषाक्त उत्पीड़न का बोलबाला था।[3] मोतीलाल ने चेतावनी दी कि पंजाब के सबक को साधारण समझकर टाल देना उचित नहीं है। उनका यह कहना उचित था कि आक्रामक तथा साम्राज्यवादी शासन प्रजा के नैतिक व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है। किन्तु इतिहास में नैतिक प्रतिशोध का जो विलक्षण नियम काम करता है उसके अनुसार अत्याचारी शासन स्वयं उत्पीड़क को भी भ्रष्ट कर देता है। वह उसकी संवेदनशीलता तथा राजनीतिक सहानुभूति को कुंठित कर देता है। इस प्रकार वह उत्पीड़क के चरित्र को गम्भीर आघात पहुँचाता है। सैनिकवाद तथा शुद्ध निरंकुशवाद पर आधारित शासन सदैव पशु बल तथा वीभत्सता का परिचय दिया करता है और ये चीजें सभ्य सिद्धान्त तथा आचरण का उपहास करती हैं। यदि भारतवासियों को अपने अधिकार प्राप्त करने थे तो उनके लिए निर्भीकतापूर्वक अहिंसक राजनीतिक प्रयत्न करना आवश्यक था। पंजाब के अत्याचार इस बात की चेतावनी थे कि उत्तरदायित्वहीन सत्तावादी शासन सभ्यता के लिए गम्भीर खतरा होता है। मोतीलाल ने कहा, "वस्तुतः इंगलैण्ड को चाहिए कि इससे सबक सीखे और उस स्थिति का अन्त करे जिसके कारण उसके ही उपनिवेशों में इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं। यदि हमारा जीवन तथा सम्मान उत्तरदायित्वहीन कार्यपालिका तथा सेना की कृपा पर निर्भर है, और यदि हमें साधारण मानव अधिकारों से वंचित किया जाता है तो सुधार की सारी बात केवल मखौल है। स्वतन्त्र नागरिकता के बिना सांविधानिक सुधार वैसे ही हैं जैसे कि मृत शरीर

3 2 फरवरी, 1919 को एक सभा की अध्यक्षता करते समय मोतीलाल ने कहा था कि रौलट विधेयक का उद्देश्य "किसी सभ्य देश में विधि तथा न्याय का उन्मूलन करना है।"

पर चमकदार वस्त्र। चिथड़े पहनकर ईश्वर की स्वतन्त्र वायु में साँस लेना सुन्दरतम वस्त्रों में लिपटा हुआ शव बनने से कहीं अच्छा है।"

मोतीलाल स्वतन्त्रता के उपासक थे। स्वतन्त्रता की माँग है कि नागरिक की नैतिक स्वतःस्फूर्ति का सम्मान किया जाय। उनका विश्वास था कि जो कानून अन्तरात्मा की पुकार के विपरीत है उसका पालन करने से इन्कार करना हर नागरिक का अधिकार है। यद्यपि मोतीलाल एक महान विधिवेत्ता थे, किन्तु वे विधिशास्त्र के विध्यात्मक सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे। वे विधि-व्यवस्था को नैतिक आधारों पर खड़ा करना चाहते थे और ऐसे कानूनों की अवज्ञा के पक्ष में थे जो नागरिक की गरिमा तथा नैतिक व्यक्तित्व को आघात पहुँचाते हैं। इस प्रकार गान्धीजी की भाँति मोतीलाल भी इस सिद्धान्त के अनुयायी थे कि व्यक्तित्व के अधिकारों की माँग है कि उन कानूनों की अवज्ञा की जाय जो शिष्टता, न्याय तथा आचारनीति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। किन्तु वे कानून का उल्लंघन करने के लिए हिंसा के प्रयोग की स्वीकृति देने के लिए तैयार नहीं थे। हिंसा तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। किन्तु मानव व्यक्तित्व को साक्षात्कृत करने के लिए अहिंसात्मक तरीके से अन्यायपूर्ण कानूनों का उल्लंघन करना आवश्यक था। अमृतसर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "हर मनुष्य का अधिकार है कि वह उन कानूनों का पालन करने से इनकार कर दे जो उसकी अन्तरात्मा के विरुद्ध हैं और जिनका पालन करना सत्य के अनुकूल नहीं है। साथ ही साथ उसे इस प्रकार की अवज्ञा के परिणामों को भुगतने के लिए भी उद्यत रहना चाहिए। जो कानून जनता की इच्छा के विरुद्ध हैं उनके सम्बन्ध में यह बात विशेषकर लागू होती है। जब तक हम में ये गुण नहीं हैं तब तक हम न स्वतन्त्र हो सकते हैं और न स्वतन्त्रता के पात्र ही कहे जा सकते हैं।" स्पष्ट है कि यहाँ मोतीलाल गान्धीजी की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं।

मोतीलाल को आत्म-निर्णय के सिद्धान्त में विश्वास था।[4] मद्रास कांग्रेस ने जिस सर्वदलीय सम्मेलन को नियुक्त किया उसने मोतीलाल की अध्यक्षता में कार्य किया और एक समझौते के रूप में औपनिवेशिक स्वराज के लक्ष्य को स्वीकार कर लिया। नेहरू रिपोर्ट मोतीलाल नेहरू तथा तेजबहादुर सप्रू की संविधान-निर्माण की योग्यता का अद्भुत प्रमाण है। यद्यपि अनेक अल्पसंख्यक सम्प्रदायों ने रिपोर्ट का हृदय से समर्थन नहीं किया, फिर भी उसमें सर्वत्र व्यापक उदारता का दृष्टिकोण देखने को मिलता है। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज का समर्थन इसलिए नहीं किया कि वे उसे देश के लिए उच्चतम राजनीतिक आदर्श मानते थे, बल्कि इसलिए कि उस समय वही उच्चतम सर्वसम्मत लक्ष्य जान पड़ता था। कलकत्ता कांग्रेस ने औपनिवेशिक स्वराज्य का आदर्श इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि ब्रिटिश सरकार उसे 31 दिसम्बर, 1929 से पहले ही प्रदान करदे, अन्यथा वह 1927 की मद्रास कांग्रेस में स्वीकृत पूर्ण स्वराज्य की माँग को पुनः अपना ध्येय बना लेगी। नवम्बर 1929 में गान्धीजी तथा मोतीलाल नेहरू ने वाइसराय लार्ड इरविन से भेंट की और उससे कह दिया कि कांग्रेस गोलमेज सम्मेलन में इस शर्त पर सम्मिलित हो सकती है कि सम्मेलन भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज देने की प्रणाली निश्चित करने के लिए बुलाया जाय।

मोतीलाल नेहरू का विश्वास था कि राजनीतिक कार्य तभी ठोस रूप धारण कर सकता है जब उसे सुदृढ़ सामाजिक आधार प्रदान किया जाय। इसलिए रानाडे, गोखले और गान्धीजी की भाँति उन्होंने भी समाज-सुधार पर बल दिया। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक मुक्ति की प्राप्ति के लिए एक नौसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया :

(1) सर्वदलीय सम्मेलन में स्वीकृत साम्प्रदायिक हल को प्रेस तथा मंच द्वारा प्रचार करके और गाँव-गाँव में व्याख्यानों का संगठन करके लोकप्रिय बनाना।

(2) दिल्ली एकता सम्मेलन तथा मद्रास कांग्रेस के प्रस्तावों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रचार कार्य करना; कांग्रेस को अधिकार हो कि साम्प्रदायिक विषयों में सम्मेलनों ने जो निर्णय लिये हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्य सुधार करना चाहे तो करले।

---

4 *Congress Presidential Addresses*, जिल्द 2, पृष्ठ 875 (जी. ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास)।

(3) अछूतों तथा दलित जातियों के बीच कार्य।
(4) खेतिहर तथा औद्योगिक श्रमिकों का संगठन।
(5) अन्य गाँव-संगठन।[5]
(6) खद्दर को लोकप्रिय बनाना तथा विदेशी वस्त्र का बहिष्कार।
(7) उन सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन जो सामाजिक मेलजोल तथा राष्ट्रीय वकास में बाधा डालती हैं, विशेषकर पर्दा तथा स्त्रियों को निर्बल बनाने वाली अन्य रूढ़ियों के विरुद्ध अभियान।
(8) मद्यपान तथा अफीम के विरुद्ध घोर प्रचार।
(9) प्रचार कार्य।

3. निष्कर्ष

मोतीलाल नेहरू 1919 से 1921 तक के काल में भारतीय राजनीति के एक अग्रणी नेता थे। भारतीय विधान सभा में प्रतिपक्ष के नेता के रूप में उन्होंने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। अपनी बौद्धिक शक्तियों तथा दृढ़ अध्यवसाय के कारण वे सरकारी दल के लिए आतंक का कारण बन गये थे। उनकी देशभक्ति गम्भीर थी, तथा वे बहुत ही निर्भीक और स्वावलम्बी थे। उन्होंने नेतृत्व तथा संकल्पशक्ति का विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस (1906) तथा सूरत (1907) में एक मितवादी के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया।[6] किन्तु 1919 से वे पक्के राष्ट्रवादी बन गये। चितरंजन दास के साथ मिलकर उन्होंने स्वराज्य दल का निर्माण किया जो उस समय का सर्वाधिक ठोस रूप में संगठित दल था। 6 फरवरी को अपने अन्त्येष्टि भाषण में महात्मा गान्धी ने कहा कि मोतीलाल नेहरू का जीवन राष्ट्र को निरन्तर प्रेरणा देता रहेगा।

मोतीलाल नेहरू के राजनीतिक विचारों में अद्भुत यथार्थवाद देखने को मिलता है। यद्यपि वे राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे, किन्तु वे योग्य राजनेता तथा तेजस्वी देशभक्त थे। वे चाहते थे कि भारतीय राजनीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का समन्वय हो। उन्हें काल्पनिक लोकोत्तर आदर्शों में विश्वास नहीं था। उनकी निष्ठा उन्हीं विचारों और आदर्शों में थी जिन्हें अध्यवसाय तथा व्यावहारिक परिश्रम के द्वारा साक्षात्कृत किया जा सकता था। बिना विचारों के कार्य-दिशा निर्धारित नहीं की जा सकती थी। किन्तु साथ ही साथ वे उन विचारों के सूक्ष्म तथा तात्विक विवेचन अपना समय नष्ट नहीं करना चाहते थे जिनका सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया वह राजनीतिक यथार्थवाद का सुन्दर उदाहरण है। गान्धीजी राजनीतिक आदर्शवाद के सन्देशवाहक थे, इसके विपरीत मोतीलाल राजनीति में यथार्थवाद का समर्थन करते थे।

राजनीति को यथार्थवादी दिशा देने के अतिरिक्त मोतीलाल ने ऐहिकवादी मार्ग को भी पुष्ट किया। कुछ-कुछ संशयवादी होने के कारण उनके लिए ऐहिकवाद का समर्थन करना सरल भी था। उन्हें किसी लोकोत्तर परम सत्ता में आस्था नहीं थी। इसलिए उनकी उन कट्टर धर्मान्धों के साथ कोई सहानुभूति नहीं थी जो राजनीति में धर्मशास्त्रीय मतवादों तथा वर्गगत दुर्भावों को प्रविष्ट करना चाहते थे। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में उस समय नेतृत्व किया जब साम्प्रदायिक तनाव तथा फूट बढ़ रही थी और धार्मिक संकीर्णता के कारण स्वराज्य दल की एकता भी नष्ट हो रही थी। किन्तु साम्प्रदायिक विघटन के उस संकटापन्न काल में भी मोतीलाल ने अपने भाषणों तथा कार्यों के द्वारा भारतीय राजनीति में ऐहिकवादी चिन्तन के विकास को बल दिया। वे समस्याओं का समाजशास्त्रीय, राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर पर विवेचन करना पसन्द करते थे। किन्तु धार्मिक कट्टरता

---

5 पण्डित मोतीलाल नेहरू ने *Independent* में एक लेख लिखा था जो अक्तूबर 13, 1920 को *Young India* में प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने वकालत का पेशा करने वालों से अपील की थी। उसमें उन्होंने पंचायतों के संगठन पर भी बल दिया था।

6 29 मार्च, 1907 को संयुक्त प्रान्त के प्रथम प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने कहा था, "मैं अपने अतिवादी मित्रों के बहुत-से सिद्धान्तों से सहमत नहीं हूँ।...किन्तु साथ ही साथ मैं अतिवादियों को वर्तमान परिस्थितियों की उपज मानता हूँ।"

से उन्हें घृणा थी। वे राजनीति तथा धर्म को एक दूसरे से पृथक करना चाहते थे। वे उनमें से किसी एक को दूसरे का साधन नहीं बनाना चाहते थे। यह सच है कि मोतीलाल ने अपने राजनीतिक विचारों की क्रमवद्ध निबन्धों के रूप में व्याख्या नहीं की है, फिर भी देश में उनके नेतृत्व तथा उनके राजनीतिक भाषणो ने भारतीय राजनीति में ऐहिकवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। अत: बिना प्रतिवाद के भय के हम कह सकते हैं कि मोतीलाल ने भारतीय राजनीति में यथार्थवादी तथा एहिकवादी चिन्तन को वल दिया है।

प्रकरण 2
चितरंजन दास

1. प्रस्तावना

देशबन्धु चितरंजन दास (1870-1925) कवि, विधिवेत्ता, ईश्वर-भक्त तथा देश के एक महानतम राजनीतिक नेता तथा योद्धा थे। उनका जन्म कलकत्ता में 5 नवम्बर, 1870 को हुआ था और 16 जून, 1925 को दार्जिलिंग में उनका स्वर्गवास हुआ। जब वे लन्दन में (1890-1892) विद्यार्थी थे उस समय उन्होंने दादा भाई नौरोजी के चुनाव अभियान में भाग लिया था। 1908 में चितरंजन दास ने अलीपुर बम षड्यंत्र अभियोग में अरविन्द घोष की शानदार पैरवी की। उन्होंने पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित किये : 'मलंच' (1895), 'माला' (1904), 'अन्तर्यामी' (1915), 'किशोर-किशोरी' तथा 'सागर-संगीत' (1913)। उन्होंने 'नारायण' नामक एक बंगाली मासिक पत्रिका प्रारम्भ की। 1915 में वे बंगला साहित्य सम्मेलन के पटना अधिवेशन के सभापति चुने गये। उन्होंने कुछ वैष्णव कीर्तन गीत भी लिखे। अक्टूबर 1923 में उन्होंने अपना पत्र 'फॉरवर्ड' आरम्भ किया।

1917 में चितरंजन दास ने बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के भवानीपुर अधिवेशन का सभापतित्व किया। 1918 में वे बम्बई में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित हुए और मौंटेग्यूचेम्सफर्ड रिपोर्ट के विरोध में भाषण दिया। वे उस कांग्रेस जाँच समिति के सदस्य थे जो 1919 में जलियाँवाला वाग हत्याकांड के सम्बन्ध में नियुक्त की गयी थी। वे 1919 के भारत शासन अधिनियम के विरुद्ध थे। अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने उन लोगों का नेतृत्व किया जो उस अधिनियम की स्वीकृति के तथा मौंटेग्यू के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के विरुद्ध थे। चितरंजन दास उच्चकोटि के वकील थे। वे परिषदों के द्वारा आन्दोलन चलाने के पक्ष में थे। इसलिए सितम्बर 1920 में उन्होंने महात्मा गान्धी द्वारा प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन का विरोध किया। वे असहयोग के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए नागपुर अधिवेशन में भी एक वड़ा जत्था लेकर पहुँचे थे। किन्तु अन्तोगत्वा उन्होंने गान्धी जी का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया। 1921 से वे शरीर, मन तथा आत्मा से राजनीतिक कार्यकलाप में तल्लीन हो गये। देश की जनता उनके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए उन्हें 'देशबन्धु' कहने लगी थी। 1921 में बंगाल की कांग्रेस ने उन्हें सरकार के विरुद्ध आन्दोलन का संचालन करने के लिए अधिनायक चुना। 11 दिसम्बर, 1921 को उन्हें कारागार में डाल दिया गया, और जुलाई 1922 में वे मुक्त कर दिये गये। उन्हें अहमदावाद कांग्रेस का सभापति चुना गया। किन्तु उस समय उनके अभियोग का न्यायिक परीक्षण हो रहा था और वे कारागार में थे, इसलिए वे अधिवेशन की अध्यक्षता न कर सके। इसलिए हकीम अजमल खाँ ने कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। कारागार से मुक्त होने के वाद चितरंजन दास कांग्रेस के गया अधिवेशन के सभापति चुन लिये गये।

1923 में चितरंजन दास ने अखिल भारतीय स्वराज दल की स्थापना की। वे स्वयं उसके अध्यक्ष तथा मोतीलाल सचिव चुने गये। दिसम्बर 1922 में गया में जो घोषणा की गयी उसमें दल का नाम 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज दल' रखा गया। घोषणा में कहा गया कि "अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त पर कार्य करते हुए सब शान्तिमय तथा उचित तरीकों द्वारा स्वराज प्राप्त

करना" दल का उद्देश्य है ।[7] दास तथा नेहरू के अतिरिक्त दल के अन्य प्रमुख सदस्य थे विट्ठल भाई पटेल, हकीम अजमल खाँ, एन. सी. केलकर, एम. आर. जयकर, वी. अभ्यंकर तथा सी. एस. रंगा अय्यर । स्वराज दल ने प्रान्तीय परिषदों तथा भारतीय विधान सभा के चुनाव लड़े । दास प्रतिपक्ष के दुर्धर्ष नेता के रूप में प्रकट हुए तथा बंगाल की सरकार के लिए सचमुच आतंक का कारण बन गये । अपनी अत्यन्त हृदयग्राही तथा भावुकतापूर्ण वक्तृता के द्वारा वे सरकार के अनेक महत्वपूर्ण प्रस्तावों को परास्त कराने में सफल रहे, जिसके कारण बंगाल के गवर्नर को उनमें से कुछ प्रस्तावों को पारित कराने के लिए 'प्रमाणन' के अधिकार का प्रयोग करना पड़ा । दिल्ली में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में स्वराज दल तथा परिवर्तन-विरोधियों में समझौता हो गया । 1924 में महात्मा गान्धी तथा चितरंजन दास के बीच समझौता हो गया जिसके फलस्वरूप कांग्रेस ने स्वराज दल को अपने परिषदों में प्रवेश करने वाले एक पक्ष के रूप में स्वीकार कर लिया । 1925 में हुए कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन में स्वराज दल कांग्रेस में विलीन हो गया । 1924 में चितरंजन दास कलकत्ता नगर महापालिका के प्रमुख निर्वाचित हुए ।

चितरंजन दास कृषि का पुनरुद्धार करने के पक्ष में थे । उन्होंने यूरोपीय ढंग से भारत का औद्योगीकरण करने का विरोध किया । किन्तु वे व्यापार तथा वाणिज्य की वृद्धि के पक्ष में थे । वे चाहते थे कि जिन उद्योगों से लाभ होने की गुंजाइश हो उनके लिए सस्ते ब्याज पर पूंजी का प्रबन्ध किया जाय । वे श्रम की निहित शक्ति को भली-भाँति समझते थे । उन्होंने 1923 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का सभापतित्व किया और निर्माणशालाओं से सम्बन्धित कानूनों का तथा उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों को श्रमसंघों में संगठित करने का समर्थन किया । अपने भाषण में उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि मध्यवर्गों ने अपने लिए स्वराज प्राप्त किया तो मैं श्रमिकों तथा किसानों के हितों के लिए संघर्ष करूँगा । दास ने 1924 में भी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्षता की ।

चितरंजन दास स्वराज के लिए संघर्ष करने वाले निर्भीक योद्धा थे । वे स्वार्थरहित तथा साहसी थे । वे राष्ट्र के एक महानतम प्रतिनिधि थे । साथ ही साथ वे उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ भी थे, और उनके राजनीतिक विचारों में मौलिकता थी । उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशनों में, बंगाल की परिषद् तथा सार्वजनिक सभाओं में जो भाषण दिये उनसे प्रकट होता है कि उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी, और वे तत्कालीन राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को भलीभाँति समझते थे ।

2. चितरंजन दास के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार

चितरंजन दास ने एक ब्रह्मसमाजी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया । किन्तु एकेश्वरवाद तथा बुद्धिवाद उनकी आत्मा को सन्तुष्ट न कर सके । अतः आगे चलकर वे वैष्णव हो गये । उनके हृदय में अपने को सर्वोच्च विकल्पातीत सत्ता में लय कर देने की उत्कट आकांक्षा थी । 'सागर गीत' में अपनी एक कविता में वे लिखते हैं :

> "उस दूसरे तट पर रहस्यमयी ज्योति जल रही है
> जो यहाँ न कभी प्रभात में जलती है और न संध्या वेला में ।
> क्या शाश्वत, अनन्त संगीत उसी तट पर गूंजता है
> जिसे यहाँ पार्थिव वाद्य-यंत्रों ने कभी किसी ने नहीं सुना ?
> क्या वहाँ भी कोई बैठा है मेरी भाँति तृष्णा से आकुल
> इस प्यास में कि कोई अज्ञात संस्पर्श आकर उसकी आत्मा को पुलकित करदे ?

---

7 एक मार्क्सवादी आलोचक तथा सिद्धान्तकार के रूप में लिखते हुए मानवेन्द्रनाथ राय ने स्वराज्य दल के कार्यक्रम की ये विशेषताएँ बतलायी थीं : (1) परोपकारी सामाजिक सुधार, (2) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज, और (3) पूंजीवाद का स्वतन्त्र विकास । एम. एन. राय, *One Year of Non-Cooperation*, पृष्ठ 180 ।

क्या हृदय का स्वप्न वहीं साकार हुआ है ? क्या तेरी अप्रतिम आत्मा
जिसे हम ढूंढ रहे हैं वहीं समग्र रूप में पूर्ण तेज के साथ प्रज्ज्वलित है ?
हे शक्तिमान् ! मेरे हृदय की तृषा
अत्यन्त गहरी और अतृप्त है ।
हे करुणामय ! मुझे अपनी नीरव अथाह निद्रा में डुबो दे
अथवा ले चल मुझे उस तट पर जिसे कभी कोई नहीं छू पाया ।
क्या मेरी आशाओं के स्वप्न अन्ततः वहाँ पूरे नहीं होंगे ?
क्या मेरी निष्फल आत्मा तेजोमय, ऐश्वर्यवान और विशाल नहीं होगी ?"[8]

दास वैष्णव थे, अतः वे सम्पूर्ण इतिहास तथा विश्व को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते थे। ईश्वर प्रकृति तथा इतिहास में व्याप्त है। वह ब्रह्माण्ड के भीतर है। जीवन से पृथक ईश्वर की कल्पना नहीं की जा सकती और न ईश्वर से पृथक जीवन की कल्पना की जा सकती है। हेगेल तथा अरविन्द की भाँति दास का भी विश्वास था कि इतिहास ईश्वर की आभा का क्रीडांगन है। उन्होंने कहा, "सत्य की कसौटी तार्किक परिभाषा नहीं है। सत्य की कसौटी उस सर्वबाध्यकारी शक्ति में है जिसके द्वारा वह अपनी प्रतीति करा देता है। आप सत्य को तभी जानते हैं जब आपको उसकी अनुभूति हो जाती है। ईश्वर की परिभाषा नहीं की जा सकती और न सत्य की ही परिभाषा की जा सकती है, क्योंकि सत्य ईश्वर की अभिव्यक्ति है।....मैं इतिहास को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता हूँ। मैं हर मनुष्य के व्यक्तित्व को, राष्ट्र और मानव जाति को जो एक दूसरे के जीवन में योग देते हैं, ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता हूँ। मैं समझता हूँ कि व्यक्ति तथा राष्ट्र स्वराज प्राप्त करके ही अपने को पूर्ण कर सकते हैं। मैं राष्ट्रीय कार्यकलाप को उस मानव जाति की सेवा का आधार मानता हूँ जो स्वयं ईश्वर की अभिव्यक्ति है।"[9] दास विश्व को ब्रह्म की लीला मानते थे। ईश्वर का ऐश्वर्य अपने को चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार की सत्ता के द्वारा व्यक्त करता है। प्रकृति तथा इतिहास ईश्वर की अभिव्यक्ति है। अतः विश्व की सभी वस्तुएँ अनिवार्यतः दैवी गुणों से मुखरित होने लगती हैं। ईश्वर की लीला अपने को विविधता तथा सामंजस्य दोनों के रूप में व्यक्त करती है। ईश्वर इतिहास है तथा विश्व की उन अगणित घटनाओं का एकमात्र द्रष्टा है जिनसे इतिहास का निर्माण होता है।[10] दास लिखते हैं, "सब सत्यों का सार यह है कि ईश्वर की बाह्य लीला अपने को इतिहास में व्यक्त करती है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा मानव जाति उसी लीला के विभिन्न पक्ष हैं। स्वराज की कोई योजना जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हो और वास्तव में व्यावहारिक हो, इसके अतिरिक्त अन्य किसी जीवन दर्शन पर आधारित नहीं हो सकती। इस सत्य का साक्षात्कार करना ही समय की सर्वोच्च आवश्यकता है। यही भारतीय चिन्तन का प्राण है और यही वह आदर्श है जिसकी ओर अर्वाचीन यूरोप का चिन्तन धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से अग्रसर हो रहा है।"[11] चितरंजन के अनुसार वैष्णवों की यह धारणा कि इतिहास में ईश्वर व्याप्त है, वस्तुतः स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। हर व्यक्ति चाहे वह किसी जाति और पंथ का हो, इतिहास की पुनीत प्रक्रिया अर्थात लीला में साझीदार है। दास लिखते हैं, "क्या पहले कभी मानव आत्मा की गरिमा तथा स्वतन्त्रता का इससे अधिक श्रेष्ठ सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है ?"[12] इतिहास की इस हेगेलवादी वैष्णवपन्थी धारणा पर ही दास ने अपने स्वराज के सिद्धान्त का निर्माण किया।

बंकिम, पाल तथा अरविन्द की भाँति दास भी भारतीय राष्ट्र के देवत्व में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि भारत में राष्ट्र का विचार पश्चिम से नहीं लिया गया है। राष्ट्र उस सत्ता के एक पक्ष का विकसित रूप है जिसमें ईश्वर व्याप्त है। अपने को राष्ट्र की सेवा में अर्पित करना वस्तुतः मानव जाति की सेवा में समर्पित करना है, और मानव जाति की सेवा ही ईश्वर

---

8 *Songs of the Sea* (श्री अरविन्द का अंग्रेजी अनुवाद)।
9 चितरंजन दास का 1922 की गया कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण।
10 *C. R. Das's Speeches*, पृष्ठ 209।
11 चितरंजन दास का 1922 की गया कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण।
12 *C. R. Das's Speeches*, पृष्ठ 203।

है। इस प्रकार दास वैष्णवों के ईश्वरवाद को समाजशास्त्रीय अर्थ प्रदान करना चाहते थे। 11 अक्टूबर को मैमनसिंह में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था, "अपने देश की धारणा में मैं देवत्व का ही दर्शन करता हूँ।"[13]

3. दास के राष्ट्रवादी विचार

21 अप्रैल, 1917 को दास ने कलकत्ता में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन का सभापतित्व किया। अपने भाषण में उन्होंने प्रान्त की बढ़ती हुई दीनता तथा पतितावस्था पर दुःख प्रकट किया। उन्होंने भोगविलास के पाश्चात्य आदर्श का विरोध किया और त्याग की आवश्यकता पर बल दिया। वे देश के प्राचीन आदर्शवाद को पुनर्जीवित करना चाहते थे और राजनीति, अर्थशास्त्र तथा समाज-शास्त्र की समस्याओं का उसी दृष्टि से अनुशीलन करने के पक्ष में थे। वे जीवन की समग्रता को विभिन्न भागों में बाँटने की पाश्चात्य प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि राष्ट्रीय समस्याओं का वही समाधान स्थायी होगा जो भारत की सहज प्रकृति के आधारभूत तत्वों पर आधारित होगा। दास ने गाँवों के पुनरुत्थान तथा कृषि-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर बल दिया। वे चाहते थे कि लोग विदेशी वस्तुओं का आयात बन्द करदें। उन्होंने चेतावनी दी कि पाश्चात्य ढंग का उद्योगवाद देश के लिए घातक होगा। उनका कहना था कि बँगला के माध्यम से राष्ट्रीय ढग की प्रभावकारी शिक्षा देकर ही प्रान्त की वास्तविक प्रगति की जा सकती है।

चितरंजन दास को हिन्दुओं तथा मुसलमानों के हार्दिक सहयोग में विश्वास था। राष्ट्रवादी होने के नाते और विशेषकर अपने प्रान्त बंगाल के सन्दर्भ में वे उदार नीति को अपनाने के पक्ष में थे। उन्होंने बंगाल के विभिन्न सम्प्रदायों के दावों के बीच तालमेल स्थापित करने के लिए एक तरीका ढूंढ़ निकाला जो 'दास फॉर्मूला' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि 1923 की कोकोनाडा कांग्रेस ने बंगाल समझौते को अस्वीकार कर दिया, किन्तु 1924 में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन में उसका अनुसमर्थन किया।[14]

दास भलीभाँति समझते थे कि शक्ति पर आधारित आक्रामक साम्राज्यवाद विश्व शान्ति के लिए एक भारी खतरा था। उन्होंने कहा कि भारत आक्रामक राष्ट्रवाद को सिद्ध नहीं करना चाहता है; वह तो अपनी आत्म-विकास तथा आत्म-साक्षात्कार की क्षमता की वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है। उनका कहना था, "राष्ट्रवाद ही वह माध्यम है जिसके द्वारा विश्व शान्ति प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार राष्ट्र के लिए व्यक्तियों का पूर्ण तथा अबाध विकास आवश्यक है वैसे ही विश्व शान्ति के लिए राष्ट्रवाद के पूर्ण तथा अबाध विकास की आवश्यकता है।........राष्ट्रवाद का सार यह है कि प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपना विकास करना, अपनी अभिव्यक्ति करना और अपना साक्षात्कार करना आवश्यक है जिससे मानव जाति स्वयं अपने को विकसित कर सके, अपनी अभि-व्यक्ति कर सके और अपने को साक्षात्कृत कर सके।" दास यूरोप के आक्रामक तथा वाणिज्यवादी राष्ट्रवाद के आलोचक थे। विपिनचन्द्र पाल की भाँति उन्होंने भी मत्सीनी का अनुसरण करते हुए कहा कि जनता के व्यक्तित्व का विकास ही राष्ट्रवाद है।

1921-22 में चितरंजन दास ने अहिंसात्मक असहयोग का समर्थन किया। इस कार्यप्रणाली को उन्होंने राष्ट्र के आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए एक नैतिक तथा आध्यात्मिक साधन बतलाया। 1922 में गया की कांग्रेस में उस व्यक्ति को जो किसी समय कलकत्ता का प्रमुख बैरिस्टर रहा था, गान्धीजी की शैली में आत्म-शुद्धीकरण के वेदान्ती बौद्ध सिद्धान्त का उपदेश देते हुए देखना एक अद्भुत बात थी : "राष्ट्रीय दृष्टिकोण से असहयोग की पद्धति का अर्थ यह है कि राष्ट्र अपनी शक्ति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करे और अपनी शक्ति के बल पर खड़ा होने का प्रयत्न करे। आचारनीतिक दृष्टि से असहयोग का अर्थ है आत्म-शुद्धीकरण की पद्धति अर्थात उन कार्यों से दूर रहना जिनसे राष्ट्र के विकास को और उसके फलस्वरूप मानव जाति के कल्याण को आघात पहुँचता हो। आध्यात्मिक

---

13 वही, पृ. 111।

14 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle*, पृ. 166 (कलकत्ता, थैकर, स्पिंक एण्ड कम्पनी, 1948)।

दृष्टि से स्वराज का अभिप्राय उस पृथकत्व से है जिसे साधना की भाषा में 'प्रत्याहार' कहते हैं, इस प्रकार का पृथकत्व इसलिए आवश्यक है कि हम अपनी आत्मा की गहराई में से राष्ट्र की आत्मा को उसके समग्र ऐश्वर्य के साथ निकाल कर बाहर रख सकें।" दास द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद की यह वेदान्ती धारणा विवेकानन्द, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के अनुरूप है। स्वराज के सम्बन्ध में दास की धारणा बहुत ही व्यापक और उदात्त थी।[15] वे स्वराज को राजनीतिक स्वतन्त्रता की यान्त्रिक तथा लगभग निषेधात्मक धारणा से अधिक पूर्ण, सार्थक तथा व्यापक मानते थे। दास का मन बन्धनमुक्त था और उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। उन्होंने इस बात की आवश्यकता को भलीभाँति समझ लिया था कि राष्ट्र का पुनर्निर्माण उन पुरानी सड़ी-गली व्यवस्थाओं का उन्मूलन करके किया जाना चाहिए जो देश के सामाजिक एकीकरण के मार्ग में बाधा डालती हैं। बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के फरीदपुर अधिवेशन में उन्होंने कहा था, "किन्तु हमें जिस वस्तु की आवश्यकता है वह केवल स्वतन्त्रता नहीं है, हमें स्वराज की स्थापना करनी है।.... एकीकरण का यह काम लम्बी प्रक्रिया है, बल्कि बहुत कष्टसाध्य प्रक्रिया भी हो सकती है, किन्तु इसके बिना स्वराज सम्भव नहीं हो सकता। इसी में महात्मा गान्धी के रचनात्मक कार्यक्रम की बुद्धिमत्ता है। मैं उस कार्यक्रम से पूर्ण सहमत हूँ, और मैं अपने देशवासियों से बलपूर्वक अनुरोध किये बिना नहीं रह सकता कि वे इस कार्यक्रम को केवल बौद्धिक स्वीकृति न दें, बल्कि उसको अधिकाधिक रूप में कार्यान्वित करके उसका व्यावहारिक समर्थन भी करें। दूसरे, स्वतन्त्रता से हमें व्यवस्था के उस विचार का बोध नहीं होता जो स्वराज का सार है। मेरी समझ में स्वराज में पहला निहित अभिप्राय यह है कि हम भारतीय जनता के विभिन्न तत्वों का एकीकरण करने के मामले में स्वतन्त्र हों; दूसरे, इस विषय में हम राष्ट्रीय मार्ग का अनुकरण करें.......इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लौटकर दो हजार वर्ष पीछे चले जायँ बल्कि हमें राष्ट्र की सहज प्रकृति तथा स्वभाव को ध्यान में रखते हुए आगे की ओर बढ़ना है।.......तीसरे, हमारे सामने जो काम है उसमें कोई विदेशी शक्ति बाधा न डाले।" चितरंजन द्वारा निरूपित स्वराज का यह व्यापक आदर्श स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में प्रतिपादित आदर्श से तनिक भिन्न था। स्वदेशी आन्दोलन के नेताओं ने स्वराज तथा स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता में भेद किया था। उन्होंने स्वराज को स्वशासन के समतुल्य माना था, और स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता का अर्थ विदेशी शासन से पूर्ण मुक्ति लगाया था। दास ने कहा कि स्वाधीनता एक निषेधात्मक धारणा है, क्योंकि उसका अर्थ पराधीनता का अभाव है। इस प्रकार दास ने स्वराज को अधिक रचनात्मक अर्थ प्रदान किया। उनके स्वराज की धारणा में स्वशासन सम्मिलित है, यदि उसका अर्थ हो, 'अपना शासन और अपने लिए'।

दास का स्वराज की धारणा से गहरा तथा उत्साहपूर्ण अनुराग था। किन्तु स्वराज की प्राप्ति के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी हिंसा तथा अराजकवादियों की कार्यप्रणाली की स्वीकृति नहीं दी। 1924 में बंगाल में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ पुनः उमड़ पड़ी थीं। दास ने उनकी भर्त्सना की। फिर भी वे इतने यथार्थवादी तथा निष्ठावान थे कि उन्होंने हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करने वाले युवकों के श्रेष्ठ तथा आवेशपूर्ण राजनीतिक आदर्शवाद को श्रद्धांजलि अर्पित की। किन्तु दास ने धार्मिक शिक्षाओं के आधार पर तथा स्वराज दल की ठोस राजनीतिक कार्यप्रणाली को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक हत्या तथा बाध्यकारी हिंसा की पद्धति का स्पष्ट रूप से विरोध किया।[16] उन्होंने तत्कालीन सरकार को भी सलाह दी और उससे अनुरोध किया कि वह दमन नीति का जो स्वभावतः आतंकवादी हिंसा को जन्म देती है, अनुसरण न करे।

1925 में भारत सचिव बर्किनहैड ने एक भाषण दिया था जिसमें उसने समझौते की सम्भावना का समर्थन किया था। 3 अप्रैल को चितरंजन दास ने पटना से एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उन्होंने सरकार तथा स्वराज दल के बीच समझौते को आवश्यक बतलाया। उन्होंने बंगाल के तत्कालीन गवर्नर लिटन से बंगाल में मन्त्रिमण्डल कायम करने के सम्बन्ध में गुप्त वार्ता आरम्भ

15 अपने गया अध्यक्षीय भाषण में चितरंजन दास ने हिंसात्मक क्रान्तियों की निरर्थकता बतलायी थी।
16 चितरंजन दास के मार्च 29 तथा अप्रैल 4, 1925 के प्रेस-वक्तव्य।

की। उन्होंने शर्त यह रखी कि सभी राजनीतिक बन्दी मुक्त कर दिये जायें और पुलिस को छोड़कर सभी सरकारी विभाग मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिये जायें। 2 मई, 1925 को फरीदपुर में दास ने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने सरकार के समक्ष सम्मानपूर्ण सहयोग का प्रस्ताव रखा, किन्तु साथ ही साथ वे यह भी चाहते थे कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय। उन्होंने कहा, "आज औपनिवेशिक स्वराज्य किसी भी अर्थ में दासता नहीं है। तत्वतः वह साम्राज्य के विभिन्न अंगों की सहमति पर आधारित एक संश्रय अथवा समझौता है। उसका उद्देश्य पारस्परिक भौतिक लाभ है और उसका आधार सहयोग की सच्ची भावना है। स्वतन्त्रतापूर्वक किये गये समझौते में पृथक होने का अधिकार अनिवार्यतः निहित रहता है।........एक ओर तो औपनिवेशिक स्वराज्य ब्रिटिश साम्राज्य नाम से अभिहित महान राष्ट्रमण्डल के प्रत्येक घटक को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करता है, और दूसरी ओर वह प्रत्येक को अपने को साक्षात्कृत करने, अपना विकास करने तथा अपने को पूर्ण करने का अधिकार देता है।" किन्तु इस विषय में दास का दृष्टिकोण पूर्णतः सुनिश्चित तथा स्पष्ट था कि वास्तविक प्रश्न राष्ट्र के आत्मसाक्षात्कार, आत्मविकास तथा आत्मपूर्णता का है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि यह श्रेष्ठ लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहकर प्राप्त किया जा सके तो स्वतन्त्र भारत ब्रिटिश साम्राज्य में बना रहेगा, किन्तु यदि ब्रिटेन के साम्राज्यीय राजनीतिज्ञों ने 'जगन्नाथ के रथ' को कुचलने की चाल चली तो भारत साम्राज्य के बाहर बना रहेगा। अपने फरीदपुर के भाषण में दास ने नौकरशाही के समक्ष सहयोग का प्रस्ताव रखा, किन्तु शर्त यह थी कि नौकरशाही के हृदय तथा नीति में भी परिवर्तन दिखायी दे। वे ब्रिटिश सरकार से इस बात की गारन्टी चाहते थे कि "पूर्ण स्वराज निकट भविष्य में स्वतः आ जायगा।" किन्तु उनकी सलाह थी कि यदि नौकरशाही में परिवर्तन का कोई लक्षण न दिखायी दे तो राष्ट्र की पूर्ण मुक्ति के लिए द्विगुणित परिश्रम के साथ प्रयत्न करना चाहिए। ऐसी स्थिति में वे राष्ट्र को यह भी सलाह देने के लिए तैयार थे कि वह विदेशी शासकों को कर देना बन्द कर दे। यह सच है कि अपने फरीदपुर भाषण में दास ने सहयोग का समर्थन किया था, किन्तु वे सम्मानपूर्ण सहयोग के पक्ष में थे। वामपंथियों का यह आरोप अनुचित था कि चूंकि स्वराज दल भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि था इसलिए दास अपने फरीदपुर भाषण में "मितवादी नीति के निम्नतम स्तर पर पहुँच गये थे।"[17]

4. चितरंजन दास का राजनीतिक दर्शन

(क) अधिकारों का सिद्धान्त—चितरंजन दास ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास करते थे। उनकी वृत्ति आध्यात्मिक थी। इसलिए टी. एच. ग्रीन की भाँति दास भी अधिकारों के प्रत्ययवादी सिद्धान्त को मानते थे। उनके अनुसार अधिकारों की सृष्टि मनुष्य नहीं करता है। मनुष्य को अधिकार ईश्वर से प्राप्त होते हैं, और कोई मनुष्य उन्हें नहीं छीन सकता। राजनीतिक संस्थाओं का काम ईश्वर द्वारा प्रदत्त अधिकारों को केवल मान्यता देना है। सांविधिक अधिनियम केवल उन अधिकारों को "मान्यता देते हैं जो पहले से विद्यमान हैं।"[18]

(ख) महान एशियाई संघ—गया कांग्रेस में दास ने महान एशियाई संघ का आदर्श निरूपित किया। उन्होंने कहा, "इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि भारत महान एशियाई संघ में सम्मिलित हो; मुझे दिखायी दे रहा है कि ऐसा संघ बनने को है। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि सर्वइस्लामवादी आन्दोलन, जो कुछ संकीर्ण आधार को लेकर चलाया गया था, समाप्त होने वाला है और उसके स्थान पर समस्त एशियाई जातियों का एक महान संघ बनेगा। वह एशिया की उत्पीड़ित जातियों का संघ होगा। क्या भारत उस संघ के बाहर रह सकता है?" दास ने जापान में एशियाई संघ के समर्थन में रोमांसपूर्ण भाषण दिये। उनसे वहाँ की जनता में भारी उत्साह उत्पन्न हुआ और उसने संघ के विचार को सर्वइस्लामवाद का अच्छा विकल्प मानकर उसका स्वागत किया।[19] दास एशियाई संघ के सम्बन्ध में सचमुच बड़े उत्सुक थे। 1925 में उन्होंने अपने एक

---

17 एम. एन. राय, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 72।
18 *Speeches of C. R. Das*, पृष्ठ 268-70 (कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड कम्पनी)।
19 एम. एस. सैयद, *Muhammad Ali Jinnah*, पृष्ठ 302 (लाहौर, एस. एम. अशरफ, 1945)।

मित्र से भारत में एक एशियाई परिसंघ संगठित करने के लिए रवीन्द्रनाथ टैगोर पर दबाव डालने का अनुरोध किया।[20]

(ग) **रूसी मार्क्सवाद**—दास की बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि उन्होंने अपने समय की प्रमुख आर्थिक शक्तियों को भलीभाँति समझ लिया था। वे "नब्बे प्रतिशत के लिए स्वराज्य" के आदर्श के समर्थक थे, इसलिए उन्होंने समाजवादी विचारों के महत्व को स्वीकार किया। उन्होंने श्रमसंघीय (मजदूर सभाई) विचारधारा का समर्थन किया। कांग्रेसी क्षेत्रों में उन्हें वामपंथी समझा जाता था।[21] स्वराज दल में मोतीलाल अनुदार विचारों के प्रतिनिधि थे, इसके विपरीत दास का दृष्टिकोण उदार तथा वामपंथी था। किन्तु दास रूसी क्रान्ति से सम्बन्धित अतिवाद तथा हिंसा को सहन नहीं कर सकते थे। उनका विचार था कि रूस की आत्मा तथा सहज प्रवृत्ति जिसका पोषण पुश्किन, टॉलसटॉय, चेर्नीशेव्स्की और क्रौपॉटकिन की परम्पराओं में हुआ था, अवश्य ही अपने ऊपर बलपूर्वक मार्क्सवादी सिद्धान्तों के थोपे जाने के विरुद्ध विद्रोह करेगी। दिसम्बर 1922 में उन्होंने घोषणा की थी, "हाल की रूसी क्रान्ति का अध्ययन करना बड़ा ही रोचक है। उसने आज जो रूप धारण कर लिया है उसका मुख्य कारण यह है कि रूस की जनता पर मार्क्सवादी सिद्धान्तों तथा मतवादों को उसकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक थोपने का प्रयत्न किया जा रहा है। हिंसा फिर विफल होगी। यदि मेरा स्थिति का अध्ययन सही है तो मैं एक प्रतिक्रान्ति की आशा कर रहा हूँ। रूस की आत्मा अपने को कार्ल मार्क्स के समाजवाद से मुक्त करने के लिए अवश्य ही संघर्ष करेगी।"[22]

(घ) **मानव जाति का संघ**—दास ने 'मानव जाति के संघ' की भी धुँधली-सी कल्पना की थी। उनके इस यूटोपियाई दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वह महान देशभक्त विश्वराज्यवाद की भी कल्पना कर सकता था। उन्हें 'विश्व संघ' तथा 'राष्ट्रों की संसद' के आदर्श से प्रेरणा मिली थी। 14 अक्टूबर, 1917 को बारीसाल में उन्होंने एक भाषण दिया था। उसमें उन्होंने सब राष्ट्रों के संघ की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसे चार अवस्थाओं में साक्षात्कृत किया जाना था। ये चार अवस्थाएँ थीं : (1) पूर्ण प्रान्तीय स्वायत्तता, (2) भारतीय राष्ट्रीवाद को साक्षात्कृत करना, (3) साम्राज्य की संघ सरकार जिसमें भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका सम्मिलित होंगे और जिसमें ब्रिटिश संसद भी अपने प्रतिनिधि भेजेगी, और (4) सब राष्ट्रों का संघ।[23] उन्होंने कहा, "यदि कभी दूर तथा अदृश्य भविष्य में विश्व में मानव जाति के संघ की स्थापना हो सकी तो वह इसलिए होगा कि विश्व के विभिन्न राष्ट्र अपनी निजी विशेषताओं के पूर्ण विकास की अवस्था को प्राप्त कर चुकेंगे; और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जिस समय ऐसी स्थिति आ जायगी उस समय विश्व के कल्याण के लिए राजाओं तथा राज्यों की राष्ट्रों तथा राष्ट्र जातियों में अधिक आवश्यकता नहीं रहेगी।"[24]

5. निष्कर्ष

दास उत्कट राष्ट्रवादी थे, और देश की पूजा में उन्होंने एक वैष्णव के उत्साह और आवेश का परिचय दिया। उनके राजनीतिक व्यक्तित्व में हमें एक प्रशिक्षित वकील के-से शान्त तथा यथार्थवादी चिन्तन और स्वराज के लिए भावुकता तथा आवेश से युक्त उत्कण्ठा का समन्वय देखने को मिलता है। दास की भावुक आत्मा "आत्मसाक्षात्कार, आत्मविकास तथा आत्मपूर्णता के अवसर के लिए" पुकार रही थी। उनकी स्वराज की धारणा बड़ी व्यापक थी। उनकी मान्यता थी कि राजनीतिक सत्ता का आधार शासितों की सम्पत्ति होना चाहिए। वे यह भी मानते थे कि क्रूर कानूनों का प्रतिरोध करना मनुष्य का अलंघनीय अधिकार है। उन्हें मूल अधिकारों के सिद्धान्त में भी विश्वास था। इसके अतिरिक्त उनके लिए स्वराज का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं था। वे

---

20 *Life and Times of C. R. Das*, पृष्ठ 224।

21 पी. सी. राय ने *Life and Times of C. R. Das* में पृष्ठ 230 पर लिखा है कि चितरंजन दास "समाजवादी थे, विशेषकर उन्हें मार्क्सवादी सिद्धान्त से बौद्धिक सहानुभूति थी।"

22 वही।

23 *C. R. Das's Speeches*, पृष्ठ 165-71।

24 चितरंजन दास का भवानीपुर में हुए बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन में भाषण।

मानसिक तथा नैतिक सामंजस्य तथा विकास को भी स्वतन्त्रता का अभिन्न अंग मानते थे। वे आधुनिक भारत के उन थोड़े-से नेताओं में थे जिन्हें आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की मुख्य धाराओं का अच्छा ज्ञान था। इसलिए उनकी राजनीतिक कल्पना तथा आदर्श राजनीतिक सिद्धान्त के ज्ञान पर आधारित थे। चितरंजन दास का व्यक्तित्व देश की परम्पराओं में दृढ़ता से बद्धमूल था, किन्तु साथ ही साथ उन्हें विश्व राजनीति का अच्छा ज्ञान था, और एशियाई संघ तथा मानव जाति के संघ के सम्बन्ध में उन्होंने एक पैगम्बर की भाँति पहले से स्वप्न देख लिया था।

चितरंजन दास ने इस बात का समर्थन किया कि देश के लिए ग्राम पंचायतों की एक विशद योजना होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भी उनकी कल्पना एक सन्देशवाहक के सदृश थी। जुलाई 1917 में उन्होंने बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में प्राथमिक ग्राम सभाओं तथा जिला सभाओं की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। वे विकेन्द्रीकरण के महत्व को भलीभाँति समझते थे। वे इसे लोकतंत्र का प्राणवान सार मानते थे, इसलिए उन्होंने स्थानीय शासन को पुनर्जीवित करने का अनुरोध किया। केन्द्रीकरण से राज्य एक यांत्रिक ढाँचा मात्र रह जाता है। जो लोग विकेन्द्रीकरण के सच्चे मार्ग को अपनाते हैं वे नीचे से निर्माण करने में विश्वास करते हैं। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि स्थानीय संस्थाएँ केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता के रूप में कार्य करें। तत्व की बात यह है कि छोटी-छोटी शासन संस्थाओं को एकीकृत और संगठित करके एक जीवन्त सामंजस्यपूर्ण समग्र का निर्माण किया जाय। गया कांग्रेस में दास ने भारत के शासकीय पुनर्निर्माण के लिए निम्नलिखित पाँचसूत्री योजना प्रस्तुत की :

"(1) ऐसे स्थानीय केन्द्रों की स्थापना करना जो न्यूनाधिक रूप में प्राचीन भारत की ग्राम व्यवस्था पर आधारित हों;
(2) इन ग्राम केन्द्रों का एकीकरण करके उत्तरोत्तर बड़े समूहों का विकास करना;
(3) एकीकरण करने वाला राज्य इसी प्रकार के विकास का परिणाम हो;
(4) ग्राम केन्द्र तथा उनमें बड़े समूह लगभग स्वायत्त हों;
(5) नियंत्रण की अवशिष्ट शक्ति केन्द्र में निहित हो।"

हाल में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है उसको देखते हुए मानना पड़ेगा कि दास की योजना दूरदर्शितापूर्ण थी, क्योंकि उन्होंने स्थानीय संस्थाओं को उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्वायत्तता देने का समर्थन किया था।

चितरंजन दास भारत की राजनीतिक तथा सांविधानिक कार्यविधि को ही भलीभाँति नहीं समझते थे, उन्हें देश की आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में भी अच्छी सूझबूझ थी। 1922 में उन्होंने घोषणा की कि मैं "जनता के लिए नब्बे प्रतिशत लोगों के लिए स्वराज" चाहता हूँ। इसलिए 'परिवर्तन नहीं' की नीति तथा रचनात्मक कार्यक्रम के समर्थक उन्हें समाजवादी समझते थे। चितरंजन दास जनता के पक्षपोषक थे। यद्यपि साम्यवादियों ने उन पर मध्यवर्गीय (बूर्जुआ) संसदवादी होने का आरोप लगाया था, किन्तु वस्तुतः उन्हें पूंजीपति वर्ग के हितों से कोई प्रयोजन नहीं था। 1 नवम्बर, 1922 को देहरादून में उन्होंने घोषणा की थी, "स्वराज जनता के लिए होना चाहिए और जनता द्वारा ही प्राप्त किया जाना चाहिए।" वे जनता के लिए स्वराज के आदर्श में ईमानदारी से विश्वास करते थे। गया कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने श्रमिकों तथा किसानों के संगठनों का समर्थन किया।

चितरंजन दास के राजनीतिक दर्शन में विभिन्न चिन्तनधाराओं का समन्वय देखने को मिलता है। वैष्णवों की भाँति वे विश्वास करते थे कि विश्व ईश्वर की लीला है। उन्होंने इस वैष्णव सिद्धान्त की हेगेलीय दृष्टिकोण से व्याख्या की और कहा कि इतिहास ईश्वर की अभिव्यक्ति है। दास के अनुसार इतिहास में एक महान प्रयोजन व्याप्त है। वैष्णवों, लाइबनित्स तथा हेगेल की इस इतिहास विषयक धारणा के साथ-साथ दास ने राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में मत्सीनी के दृष्टिकोण को अपनाया। उनका कहना था कि मानवता के आदर्श को साक्षात्कृत करने के लिए राष्ट्र की तात्विक पूर्णता तथा उसकी सहज प्रवृत्ति का पूर्ण विकास नितान्त आवश्यक है। अतः राष्ट्रीय व्यक्तित्व मानवता के पूर्ण प्रकाशन की महत्वपूर्ण अवस्था है। दास ने अमेरिका के व्यवहारवादी तथा बहुलवादी चिन्तन की

नयी प्रवृत्तियों का भी समर्थन किया। पड़ोस की भावना का विकास नागरिक चेतना का तात्विक अंश हैं। पड़ोस का छोटा समूह साझेदारी की भावना पर आधारित नागरिकता की प्राथमिक पाठशाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि दास के इतिहास दर्शन पर हेगेल का गम्भीर प्रभाव पड़ा था, किन्तु उनके विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त तथा मिस फौलिट[25] के नवीन विचारों के प्रति उनके गहरे श्रद्धाभाव से स्पष्ट होता है कि उन्हें राज्य की केन्द्रीकृत सर्वशक्तिमत्ता के साम्राज्यवादी सिद्धान्त से घृणा थी। यह सत्य है कि दास ने इतिहास विषयक हेगेलीय दृष्टिकोण तथा राजनीतिक शक्ति की व्यवहारवादी बहुलवादी धारणा को सैद्धान्तिक दृष्टि से समन्वित करने का प्रयत्न नहीं किया; फिर भी उनके गया कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण का भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा, क्योंकि उसमें उन्होंने एक प्रकार के व्यापक राजनीतिक दर्शन का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।

---

25 एम. पी. फौलिट, *The New State, Creative Experience.*

19

जवाहरलाल नेहरू

1. प्रस्तावना

जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) ने अपने घर इलाहाबाद में तथा हैरो और केम्ब्रिज मे शिक्षा पायी थी ।[1] इंगलैण्ड में वे लगभग सात वर्ष रहे । उस काल में उन्होंने ब्रिटेन की मानववादी उदारवाद की परम्पराओं को आत्मसात कर लिया था । उन्हें उस सामान्य दार्शनिक लोकाचार में विश्वास था जिसके समर्थक मिल, ग्लैडस्टन और मोर्ले थे । उन पर बर्नार्ड शॉ तथा बर्ट्रण्ड रसल के विचारों का भी प्रभाव पड़ा था । नेहरू उस अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे जिसमें यह शब्द सिसेरो, हॉब्स अथवा रूसो के लिए प्रयुक्त होता है । किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे विचारवान व्यक्ति थे । यद्यपि नेहरू महान कर्मवीर थे, फिर भी उनमें दार्शनिक अनासक्ति का पुट था, और एक चिन्तनशील अन्तर्मुखी व्यक्ति की भाँति उनका मन भी प्रायः शंकाओं और सन्देहों से उद्विग्न हो उठता था ।

मनोविश्लेषण की भाषा में जवाहरलाल अपने पिता के पुत्र थे, जबकि गान्धीजी अपनी माता के पुत्र थे । जवाहरलाल ने अपने पिता मोतीलाल से स्वतन्त्रता तथा साहस की भावना एवं अभिजातीय अहंकार विरासत में पाया था । जवाहरलाल को अपने पिता के प्रति गम्भीर, निरपेक्ष तथा दृढ़ अनुराग और स्नेहपूर्ण श्रद्धा थी । उनकी 'आत्मकथा' तथा 'पुराने पत्रों का गुच्छा' (ए बंच आव ओल्ड लैटर्स) से इस बात की असंदिग्ध रूप से पुष्टि होती है । मोतीलाल नेहरू में शक्ति, दृढ़ता तथा अविचल संकल्प एवं जोखिम उठाने की क्षमता के जो गुण विद्यमान थे उनका जवाहरलाल पर गहरा प्रभाव पड़ा था । जवाहरलाल की दृष्टि में मोतीलाल सदैव पितृसत्तात्मक ऐश्वर्य के स्थायी प्रतीक तथा जीवन की तुच्छता से दूर रहने वाले भद्रपुरुष बने रहे । किन्तु नेहरू का अभिजातीय तथा मध्यवर्गीय स्वभाव गान्धीजी के साहचर्य से बहुत कुछ संयत और नम्र हो गया था । गान्धीजी ने 'ग्रामीण मनस्कता' का सन्देश दिया, तथा वे सहज प्रवृत्ति से लोकतांत्रिक मानवतावादी थे । नेहरू ने गान्धीजी के निकट सम्पर्क में रहने तथा शताब्दी के तृतीय दशक में उत्तर प्रदेश के किसानों में विचरण करने के फलस्वरूप जनता की भावनाओं तथा आकांक्षाओं को समझना एवं सराहना सीख लिया था ।

जवाहरलाल नेहरू ने लोकमान्य तिलक तथा एनी बेसेंट द्वारा स्थापित होम रूल लीग के सम्पर्क में आकर अपना राजनीतिक कार्यकलाप आरम्भ किया । उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया, और वे कारागार में डाल दिये गये । तृतीय दशक के अन्तिम दिनों में जवाहरलाल का मुख्य योगदान यह था कि उन्होंने भारत के लिए पूर्ण स्वराज के आदर्श का समर्थन किया । उस

1 जवाहरलाल नेहरू, *An Autobiography* (लन्दन, जॉन लेन, द बौडली हैड, 1936) । जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक विचार *Glimpses of World History* (लन्दन, लिंडसे ड्रमंड, 1939) तथा *Discovery of India* (कलकत्ता, द सिगनेट प्रेस, 1946) में मिलते हैं । इनके अतिरिक्त देखिये फ्रांक मोरेस, *Jawaharlal Nehru* (बम्बई, जैको पब्लिशिंग हाउस, 1959); जवाहरलाल नेहरू, *Independence and After* तथा *Jawaharlal Nehru's Speeches*, 2 जिल्दें, 1949-1953 तथा 1953-1957 ।

काल में कांग्रेस के बहुसंख्यक मूर्धन्य नेताओं ने तथा सर्वदलीय सम्मेलन ने, जिसके सभापति मोतीलाल थे, औपनिवेशिक स्वराज्य के आदर्श को स्वीकार कर लिया था। जवाहरलाल ने श्रीनिवास आयंगर तथा सुभाषचन्द्र बोस के साथ मिलकर औपनिवेशिक स्वराज का विरोध किया और उसके स्थान पर पूर्ण स्वराज को अखिल भारतीय कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया। गान्धीजी के आशीर्वाद से जवाहरलाल कांग्रेस के लाहोर अधिवेशन के सभापति चुन लिये गये, और 31 दिसम्बर, 1929[2] की आधी रात को पूर्ण स्वराज्य का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया गया। जवाहरलाल 1936, 1937 तथा 1946 में पुनः कांग्रेस के सभापति चुने गये। 1942 के आन्दोलन में उन्हें लगभग तीन वर्ष कारागार में बिताने पड़े। कारागार से मुक्त होने के बाद उन्होंने ब्रिटेन के साथ हुई अनेक वार्ताओं में भारत के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। 1946 में उन्होंने भारत की अन्तरिम सरकार का निर्माण किया, और फिर 15 अगस्त, 1947 से लेकर 27 मई, 1964 के दिन, अपनी मृत्यु के समय तक, उन्होंने भारत के प्रधान मंत्री पद पर कार्य किया।

2. नेहरू के चिन्तन के दार्शनिक आधार

जवाहरलाल के पिता पंडित मोतीलाल अज्ञेयवादी थे। वे बुद्धिवादी तथा यथार्थवादी भी थे। इसलिए उन्हें किसी विकल्पातीत सत्ता में विश्वास नहीं था और न वे उच्च सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति के विचार को ही हृदयंगम कर सकते थे। अपने पिता के पुत्र होने के नाते जवाहरलाल कभी अपनी माता की धार्मिक निष्ठा को आत्मसात न कर सके। उनमें एनी बेसेंट के सम्पर्क के कारण तथा फर्डीनांड टी. ब्रुक्स के शिष्य होने के नाते जो कुछ थोड़ी-सी आस्था छिपी रह गयी होगी वह भी रसल के सन्देहवाद ने नष्ट कर दी थी।[3] तीस वर्ष से भी अधिक गान्धीजी जैसे धार्मिक तथा पैगम्बरतुल्य व्यक्ति के निकट सम्पर्क में रहने पर भी जवाहरलाल संशयवादी ही बने रहे। यह सत्य है कि जवाहरलाल कट्टर अथवा उग्र नास्तिक अथवा भौतिकवादी नहीं थे। किन्तु वे आध्यात्मवादी भी नहीं थे।[4] उन्होंने सदैव तत्वशास्त्र और ज्ञानशास्त्र (ज्ञान मीमांसा) की सूक्ष्म तथा जटिल समस्याओं पर विवाद में उलझने से इनकार किया। फिर भी उनमें कुछ अस्पष्ट आध्यात्मिक वांच्छा विद्यमान थी, किन्तु उन्हें किसी आदि आध्यात्मिक सत्ता के अस्तित्व में विश्वास नहीं था। वे निश्चयात्मक रूप से द्रव्य (पदार्थ), गति अथवा बल को ही एकमात्र सत् मानने के लिए भी तैयार नहीं थे। नेहरू कांट सम्प्रदाय के नहीं बल्कि स्पेंसर सम्प्रदाय के संशयवादी थे। वे यह नहीं कहते थे कि स्वलक्षण वस्तुओं का एक ऐसा तात्विक जगत है जिसे मनुष्य की बुद्धि कभी जान ही नहीं सकती। उनकी धारणा केवल यह थी कि इस ठोस इन्द्रियगम्य प्रपंच जगत से परे और किसी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। उन्होंने लिखा है, "जब मैं इस जगत को देखता हूँ तो मुझे प्रायः रहस्यों तथा अज्ञात गहराइयों का आभास होता है। वह रहस्यमय चीज क्या है, यह मैं नहीं जानता। मैं उसे ईश्वर नहीं कहता, क्योंकि ईश्वर का बहुत कुछ अर्थ ऐसा है जिसमें मेरा विश्वास नहीं है। मैं अपने को इस योग्य नहीं पाता कि किसी देवता अथवा मानव अर्थ में किसी अज्ञात उच्चतम शक्ति की कल्पना कर सकूं। मुझे सगुण ईश्वर का विचार बहुत अजीब लगता है। बौद्धिक दृष्टि से मैं एकत्ववाद के सिद्धान्त को कुछ हद तक समझ सकता हूँ, और मुझे वेदान्त के अद्वैत दर्शन ने आकृष्ट किया है।.......किन्तु साथ ही साथ वेदान्त तथा उसी प्रकार के अन्य दर्शनों के अनन्त के सम्बन्ध में अस्पष्ट तथा अमूर्तचिन्तन से मैं भयभीत हो उठता हूँ। प्रकृति की

---

2 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस में हसरत मुहानी ने 'ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर पूर्ण स्वराज' का प्रस्ताव रखा था, किन्तु वह अस्वीकृत हो गया था। 1924 में 'पूर्ण स्वराज' को कांग्रेस का उद्देश्य निर्धारित करने के लिए एक अन्य प्रस्ताव रखा गया था, किन्तु गान्धीजी ने, जो कांग्रेस के अध्यक्ष थे, विषय समिति की बैठक में उसे प्रस्तुत करने की अनुज्ञा नहीं दी थी।

3 जवाहरलाल नेहरू दो-तीन वर्ष तक थियोसोफी में भी रहे थे। 13 वर्ष की आयु में वे थियोसोफीकल सोसाइटी के सदस्य बन गये। एनी बेसेंट ने उन्हें दीक्षा दी थी।

4 जवाहरलाल के मन में बुद्ध तथा ईसा के लिए गहरा अनुराग था (*Autobiography*, पृष्ठ 271)। किन्तु चिंगिज खाँ ने भी उन्हें बहुत आकृष्ट किया था (*Glimpses*, पृष्ठ 220)।

विविधता तथा परिपूर्णता मुझे स्पन्दित कर देती है और आत्मा का सामंजस्य उत्पन्न करती है। मैं पुराने भारतीय अथवा यूनानी और सवश्वरवादी वातावरण में सुखी होने की कल्पना कर सकता हूँ। किन्तु उसके साथ ईश्वर अथवा देवताओं की जो धारणा सम्बद्ध थी वह मुझे प्रिय नहीं लगती।"[5] नेहरू उन आधुनिक भौतिकीय अनुसन्धानों से परिचित थे जिनका सम्बन्ध आइस्टाइन और प्लांक हाइजनबर्ग के नामों के साथ है। वे यह भी स्वीकार करने को तैयार थे कि उन्नीसवीं शताब्दी के मार्क्सवादी अर्थ में भौतिकवाद पुराना पड़ गया है। वे 'आध्यात्मिक' शब्द का भी प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी भाषा में वह शब्द 'नैतिक' अथवा 'मानसिक' शब्दों का पर्यायवाची है।[6]

नेहरू का प्रारंभिक जीवन दर्शन आनन्दवादी था। अपने प्रभाव्य काल में वे पेटर और औस्कार वाइल्ड की रचनाओं से प्रभावित हुए थे।[7] किन्तु उनका जीवन दर्शन केवल बौद्धिक स्वाध्याय अथवा तत्वशास्त्रीय तर्क-वितर्क से निर्मित नहीं हुआ था। उन्होंने मुख्यतः अपने अनुभवों के सम्बन्ध में मनन करके अपने विचारों का निर्माण किया था। जीवन तथा उसमें निहित अगणित सुअवसरों के विषय में उनका दृष्टिकोण आशावादी था। प्राचीन यूनानियों की भाँति वे भी विश्वास करते थे कि मनुष्य में निहित क्षमताओं तथा शक्तियों का समुचित तथा सामंजस्यपूर्ण विकास होना चाहिए। पश्चिम के फौस्टतुल्य मानव की भाँति वे भी साहस तथा जोखिम के कामों में आनन्दित तथा पुलकित हो उठते थे। यद्यपि उन्होंने वेदान्तियों तथा बौद्धों की आत्मोत्सर्ग और इंद्रिय-निग्रह की आचारनीति को स्वीकार नहीं किया, किन्तु वे आत्म-परितुष्टि के पूंजीवादी आदर्श को भी मानने के लिए तैयार नहीं थे। वे सामाजिक आदर्शवादी थे, और उनके मन में साधारण मनुष्य की भावनाओं के प्रति लोकतांत्रिक सहानुभूति थी।

3. नेहरू का इतिहास दर्शन

नेहरू ने अपनी पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' में इतिहासवादी समाजशास्त्र की पुनः रचना करने का प्रयत्न किया है। पुस्तक केवल घटनाओं और तथ्यों का विवरण मात्र नहीं है। मार्क्सवादियों की भाँति नेहरू भी उन परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं जिनमें सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाएँ घटती हैं। उदाहरण के लिए नेपोलियन के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "सम्भव है कि यदि नेपोलियन किसी अन्य तथा अधिक शान्तिमय युग में उत्पन्न हुआ होता तो वह एक विख्यात सेनानायक से अधिक कुछ न बन पाता और प्रायः लोगों का ध्यान आकृष्ट किये बिना ही चल बसता। किन्तु क्रान्ति तथा परिवर्तन ने उसे आगे बढ़ने का अवसर दिया और उसने उसका भरपूर लाभ उठाया।"[8] इस प्रकार नेहरू इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि इतिहास सार्वभौम ऐतिहासिक व्यक्तियों की आत्मकथा है; वे ऐतिहासिक विकास में वस्तुगत शक्तियों को प्राथमिकता देते हैं। किन्तु जब वे ऐतिहासिक स्थिति के ठोस तत्वों का विश्लेषण करने लगते हैं तो 'आर्थिक तत्व' को ही प्रधानता देते हैं। नेहरू ने कार्डिन, मौतेस्क्यू और बकल की भाँति इतिहास में जलवायु तथा परिवेश का विवेचन नहीं किया है।

किन्तु इसके बावजूद कि नेहरू ने इतिहास में वस्तुगत शक्तियों की भूमिका को प्रधानता दी, वे शुद्ध भौतिकवादी अर्थ में वस्तुवादी नहीं थे। उन्होंने यह भी माना कि इतिहास में महापुरुषों की भी महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती है। उदाहरण के लिए आधुनिक भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में उन्होंने महात्मा गान्धी की सृजनात्मक भूमिका को स्वीकार किया। उन्होंने निरन्तर इस बात पर जोर दिया कि महात्मा गान्धी के आकर्षक व्यक्तित्व के कारण भारत में महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हो चुके थे, जो लगभग एक क्रान्ति के सदृश थे। इसी क्रान्ति के

---

5 जवाहरलाल नेहरू, *The Discovery of India*, पृष्ठ 12 (द सिगनेट प्रेस, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, 1946)।

6 वही, पृ. 490।

7 *Autobiography*, पृ. 20-21। नेहरू ने बर्ट्रेण्ड रसल तथा बर्नार्ड शॉ की रचनाएँ भी पढ़ी थीं।

8 जवाहरलाल नेहरू, *Glimpses of World History*, पृ. 393 (लन्दन, लिंडसे ड्रमंड लिमिटेड, 1939)। इस तरह की बात फ्रेडरिख एँगिल्स भी लिख सकता।

सम्बन्ध में भी उनके इसी प्रकार के विचार थे। यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया कि उस महान विप्लव के मूल में गहरी राजनीतिक तथा सामाजिक शक्तियाँ थीं, किन्तु उन्होंने यह भी माना कि होतव्यता का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की भी सृजनात्मक भूमिका हुआ करती है। उनका स्पष्ट कथन था कि एक व्यक्ति करोड़ों लोगों के जीवन को परिवर्तित कर सकता है। उनके विचार में लेनिन को रूसी क्रान्ति के चमत्कार तथा क्रान्ति के बाद के रूपान्तर का श्रेय था।[9]

4. नेहरू की दृष्टि में मार्क्सवाद तथा साम्यवाद

नवम्बर 1927 में नेहरू ने सोवियत संघ की संक्षिप्त यात्रा की। उस यात्रा के दौरान उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से उस देश की उन महान उपलब्धियों को देखा जो उसने शिक्षा, स्त्री-उद्धार तथा किसानों की दशा के सुधार के क्षेत्र में प्राप्त की थीं।[10] किन्तु अपनी पुस्तक 'सोवियत रशिया' में, जिनकी रचना उन्होंने 1928 में की थी, नेहरू ने रूस के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रवैया नहीं अपनाया। फिर भी वे उस देश में जो कुछ हो चुका था और हो रहा था उसको मानव शक्ति की तात्विक और नाटकीय अभिव्यक्ति मानते थे।[11] उनका विचार था कि आज विश्व को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उनका समाधान ढूंढ़ निकालने में रूस के उदाहरण से सहायता मिल सकती है।[12] 1927 में रूस से लौटने के बाद उन्होंने समाजवाद के विचारों को लोकप्रिय बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया।

नेहरू को मार्क्स की विश्व तथा इतिहास की धारणा से प्रेरणा मिली थी। अपनी 'आत्म-कथा' में उन्होंने स्वीकार किया कि साम्यवादी जीवन दर्शन ने उन्हें आशा तथा सान्त्वना दी थी। साम्यवाद अतीत की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है और भविष्य के लिए आशा प्रदान करता है।[13] नेहरू को मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के वैज्ञानिक, धर्मविद्या-विरोधी तथा अन्धविश्वास-विरोधी दृष्टिकोण ने विशेषकर प्रभावित किया था। इतिहास के पल्लवग्राही विद्यार्थी को ऊपर से देखने पर जो तथ्यों और घटनाओं का असम्बद्ध पुंज प्रतीत होता है उसको मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में परस्पर सम्बद्ध तथा आवश्यक कड़ियाँ मानता है। अतः ऐतिहासिक व्याख्या का मार्क्सवादी सिद्धान्त तथा उसका विकास सम्बन्धी दृष्टि-कोण नेहरू को पसन्द आया। उसके मन पर यह सैद्धान्तिक प्रभाव 1930-32 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट से और भी अधिक पुष्ट हो गया। उन्हें ऐसा लगा कि मार्क्सवादी विश्लेषण तथा निष्कर्ष समीचीन हैं। किन्तु नेहरू को मार्क्सवाद में पूर्ण विश्वास कभी नहीं हुआ। उन्होंने ऐतिहा-सिक व्याख्या के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रायः प्रयोग किया था। किन्तु वे इतने अधिक संवेदनशील व्यक्तिवादी थे कि वे व्यावहारिक जीवन में साम्यवाद की सत्तावादी कार्य प्रणाली को स्थायी रूप से कभी सहन न कर सकते थे। अपनी 'भारत की खोज' में उन्होंने मार्क्सवादी तथा लेनिनवाद के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया का सारांश इस प्रकार व्यक्त किया है: "मार्क्स तथा लेनिन के अध्ययन ने मेरे मन पर शक्तिशाली प्रभाव डाला और मुझे इतिहास तथा सामयिक घटनाओं को एक नयी दृष्टि से देखने में सहायता दी। मार्क्सवादी दर्शन में बहुत तत्व ऐसा था जिसे मैं बिना कठिनाई के ग्रहण कर सकता था—उसका एकत्ववाद, मन तथा पदार्थ का अद्वैत, पदार्थ की गतिशीलता, तथा क्रिया और अन्योन्य क्रिया, कारण और कार्य, वाद, प्रतिवाद और संवाद के माध्यम से विकास तथा छलाँग दोनों के द्वारा सतत परिवर्तिन का द्वन्द्व नियम। उसने मुझे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं किया और न मेरे मन के सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। मेरे मन में प्रायः अनजाने एक अस्पष्ट प्रत्ययवादी चिन्तन पद्धति कार्य करने लगती थी जो बहुत कुछ वेदान्ती दृष्टिकोण के सदृश थी।....इसके अतिरिक्त आचारनीति की पृष्ठभूमि भी थी। मैंने अनुभव किया कि नैतिक

---

9 जवाहरलाल नेहरू, *Soviet Russia*, पृष्ठ 62-74 (इलाहाबाद, लॉ जर्नल प्रेस, दिसम्बर 1928)।
10 वही।
11 वही, पृष्ठ 57-58।
12 वही, पृष्ठ 50।
13 *Autobiography*, पृष्ठ 362-64।

धारणा विकासशील मन पर तथा अग्रगामी सभ्यता पर निर्भर होती है; वह बहुत कुछ युग के मानसिक वातावरण से निर्धारित होती है। किन्तु इससे अतिरिक्त कुछ और भी है, कुछ आधारभूत प्रेरणाएँ हैं जो अधिक स्थायी हैं। अन्य लोगों की भाँति साम्यवादियों के व्यवहार तथा इन आधारभूत प्रेरणाओं अथवा सिद्धान्तों के बीच सामान्यत: जो अन्तर देखने को मिलता है वह मुझे पसन्द नहीं है।....*सामान्य मार्क्सवादी* दृष्टिकोण ने, जो वैज्ञानिक जानकारी को वर्तमान स्थिति के न्यूनाधिक अनुरूप है, मुझे बहुत कुछ सहायता दी। किन्तु उस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भी उसके निष्कर्ष तथा उसके आधार पर की गयी अतीत तथा वर्तमान की घटनाओं की व्याख्या कभी स्पष्ट रूप में मेरी समझ में नहीं आयी। सामाजिक विकास के सम्बन्ध में मार्क्स का सामान्य विश्लेषण असाधारण तौर पर सही जान पड़ता है, फिर भी बाद में अनेक ऐसी घटनाएँ घटी हैं जो निकट भविष्य को ध्यान में रखते हुए उसके दृष्टिकोण से मेल नहीं खातीं।"[14]

नेहरू ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का जो विरोध किया है उसके चार आधार हैं। प्रथम, गतिशील द्रव्य (पदार्थ, भूत) की द्वन्द्वात्मक धारणा ही परम वास्तविकता है, इस बात से नेहरू को सन्तोष नहीं होता। प्रत्ययवादी न होते हुए भी उनमें अस्पष्ट प्रत्ययवादी प्रवृत्ति विद्यमान है। ब्रह्माण्ड का व्यापक रहस्य उनके मन को प्राय: उद्विग्न करता रहता है। दूसरे, वे यह भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि नैतिक मान्यताओं का स्वरूप शुद्ध समाजशास्त्रीय तथा वर्गगत होता है। नैतिक आचरण के मूल में कुछ इससे भी अधिक गहरी और अनिवार्य प्रेरणा निहित रहती है। आचारनीति केवल समय की परिस्थितियों की माँग के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होती। तीसरे, स्वतन्त्रता के समर्थक होने के नाते जवाहरलाल उस शत्रुता और बर्बरता का समर्थन नहीं करते, जिसका सम्बन्ध साम्यवाद के कुछ रूपों के साथ जोड़ा जाता है। चौथे, नेहरू का विचार है कि मानव चिन्तन ने प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में जो प्रगति की है उसको देखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के शाब्दिक अर्थ में मार्क्सवाद पुराना पड़ गया है। उसमें बहुत कुछ रूपान्तर और संशोधन की आवश्यकता है। 1952 में नेहरू ने यह घोषणा करके साम्यवादियों को लगभग पागल बना दिया कि दर्शन, विज्ञान तथा आर्थिक चिन्तन के क्षेत्रों में पिछले सौ वर्षों की प्रगति ने मार्क्सवाद को पुराना सिद्ध कर दिया है। अत: स्पष्ट है कि नेहरू के मन में मार्क्सवाद और साम्यवाद के प्रति ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अथवा उसके विरोध से जो मानसिक सान्त्वना मिलती थी उसके कारण जो संवेगात्मक अनुराग उत्पन्न हो गया था वह आयु की वृद्धि तथा समय के परिवर्तन के साथ-साथ बहुत कुछ क्षीण हो गया। 1950 में सिंगापुर में अपने एक भाषण में नेहरू ने कहा था कि एशिया में साम्यवादी आन्दोलन राष्ट्वाद का शत्रु है। भारतीय स्थिति के सन्दर्भ में नेहरू ने वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र में विश्वास करना छोड़ दिया था और गाँधीजी की भाँति वे कहने लगे थे कि वर्ग-संघर्षों को शान्तिमय तरीकों से सुलझाया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे-जैसे नेहरू की आयु बढ़ी, प्रशासन की जिम्मेदारियाँ आयीं और अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद की विनाशकारी कार्यप्रणाली प्रकट हुई वैसे-वैसे उनके मन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया के कारण साम्यवाद के प्रति जो झुकाव उत्पन्न हो गया था वह यदि पूर्णरूप से नष्ट नहीं हुआ तो बहुत कुछ कम अवश्य हो गया। इसीलिए पश्चिम के अनेक उत्तरदायी राजनीतिज्ञ नेहरू को भारत तथा एशिया के अन्य भागों में साम्यवाद की प्रगति के विरुद्ध सबसे बड़ा अवरोध मानने लगे थे।

5. नेहरू का राजनीतिक सिद्धान्त

(क) नेहरू का राष्ट्रवाद—नेहरू एक महान राष्ट्रवादी थे, किन्तु उन्होंने राष्ट्रवाद का कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया था। उनके लेख 'भारत की एकता' से प्रकट होता है कि वे भारत की आधारभूत एकता की वास्तविकता में विश्वास करते थे। वे स्वीकार करते थे कि अगणित विविधताओं के बावजूद भारत के सम्पूर्ण इतिहास में एकता देखने को मिलती है। उन्हें सांस्कृतिक बहुलवाद तथा समन्वय की धारणा से भी प्रेरणा मिली थी। उन पर रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा

14 *The Discovery of India*, पृष्ठ 13-14।

प्रतिपादित समन्वयात्मक सार्वभौमवाद का प्रभाव पड़ा था। उन्हें दयानन्द, विवेकानन्द, पाल और अरविन्द के राष्ट्रवाद सम्बन्धी धार्मिक दृष्टिकोण से सहानुभूति नहीं थी।[15] नेहरू यह मानते थे कि राष्ट्रवाद के भावनात्मक पक्ष होते हैं। यद्यपि वे संशयवादी थे, किन्तु अत्यधिक भावुक और संवेदनशील होने के नाते उन्हें भारतमाता के रोमांसपूर्ण आदर्श ने अत्यधिक प्रभावित किया था। उनके लिए राष्ट्रवाद वास्तव में आत्म-विस्तार का ही एक रूप है। उन्होंने लिखा है, "राष्ट्रवाद तत्वतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है; और राष्ट्रवाद जितना शक्तिशाली आज है उतना कभी नहीं था।....जब कभी संकट आया है तभी राष्ट्रवादी भावना का उत्थान हुआ है, और लोगों ने अपनी परम्पराओं से शक्ति तथा सान्त्वना प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अतीत और राष्ट्र का पुनरन्वेषण वर्तमान युग की एक आश्चर्यजनक प्रगति है।"[16] किन्तु राष्ट्रवाद से ठोस सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक लाभ भी होते हैं।

नेहरू को आत्म-निर्णय के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास था। 10 फरवरी, 1927 को ब्रुसल्स में हुए साम्राज्यवाद-विरोधी अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "मैं चाहूँगा कि आप इस बात को समझेंगे कि भारत की समस्या केवल राष्ट्रीय समस्या नहीं है, वह अन्य अनेक देशों को भी प्रभावित करती है।....यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्थिति भारत के लिए असह्य है। अब हम उसे सहन नहीं कर सकते, इसलिए नहीं कि स्वतन्त्रता अच्छी वस्तु है और दासता बुरी है, बल्कि इसलिए कि वह हमारे तथा हमारे देश के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बन गयी है।....भारत के लिए स्वतन्त्रता एक ऐसी आवश्यकता बन गयी है जिसकी निर्विलम्ब पूर्ति होनी चाहिए।....चीनी राष्ट्रवाद के गौरवशाली उदाहरण ने हमारे हृदय आशा से भर दिये हैं, और हम शीघ्रातिशीघ्र उनके पद-चिह्नों पर चलना चाहते हैं। हम अपने देश के लिए पूर्णतम स्वाधीनता चाहते हैं। यह स्वाभाविक है कि हम आन्तरिक नियन्त्रण की स्वतन्त्रता ही नहीं चाहते, बल्कि अपनी इच्छानुसार अपने पड़ोसियों तथा अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता भी चाहते हैं। चूंकि यह अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन मिलकर कार्य करने की सम्भावनाएँ प्रदान करता है, इसलिए हम इसका स्वागत करते हैं।"[17] जवाहरलाल को ही इस विचार को लोकप्रिय बनाने का मुख्य श्रेय था कि भारतीय संविधान के निर्माण के लिए एकमात्र वैध निकाय एक संविधान सभा ही हो सकती है। 12 अप्रैल, 1936 को लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने कहा था, "मेरा विश्वास है कि हमारी राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक समस्याओं का समाधान इस प्रकार की (संविधान) सभा के द्वारा ही किया जा सकता है, शर्त यह है कि उसका चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाय। किन्तु ऐसी सभा की रचना करना जब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि देश में कम से कम अर्द्ध-क्रान्तिकारी स्थिति उत्पन्न न हो जाय, और शक्ति का सन्तुलन—कागजी संविधान कुछ भी हो—ऐसा न हो जाय कि जनता अपनी इच्छा को प्रभावकारी बना सके।"[18]

नेहरू का दृष्टिकोण ऐहिकवादी था। उनके ऐहिकवाद का आधार उनका उदार सांस्कृतिक पालन-पोषण था। संशयवाद तथा धार्मिक भावना के अभाव ने उनके ऐहिकवाद को और भी अधिक पुष्ट कर दिया था। अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने हिन्दू महासभा के समर्थकों तथा नेताओं को प्रतिक्रियावादी और उच्चवर्गीय स्वार्थों का प्रतिनिधि बतलाया तथा उनकी भर्त्सना की। 1936 में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "महत्व की बात यह है कि हिन्दू, मुसलिम तथा अन्य सम्प्रदायों के प्रमुख साम्प्रदायिक नेता राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी हैं। यह सोचकर दुःख होता है कि उन्होंने किस प्रकार महत्वपूर्ण मामलों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहायता की है, किस प्रकार उन्होंने स्वतन्त्रता के दमन का अनुमोदन किया है, किस प्रकार उन्होंने

---

15 जवाहरलाल नेहरू, *Glimpses of World History*, पृ. 437।
16 *The Discovery of India*, पृ. 455।
17 *Important Speeches of Jawaharlal Nehru*, जगत एस. ब्राइट द्वारा सम्पादित, पृ. 58-59 (लाहौर, द इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, 1945)।
18 वही, पृ. 17।

इन व्यथा के दिनों में स्वतन्त्रता के वृहत्तर पक्ष को हानि पहुँचाकर अपने-अपने सम्प्रदायों के लिए संकीर्ण लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। उनके साथ कोई सहयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अर्थ होगा प्रतिक्रिया के साथ सहयोग करना।" सामाजिक यथार्थवादी होने के नाते नेहरू यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच जो तनाव और संघर्ष पाया जाता था उसका कारण धार्मिक था। उन्होंने लगभग मार्क्सवादी ढंग से इस चीज की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने लिखा, "नये बूर्जुआ वर्ग (मध्य वर्ग) के बहुसंख्यक लोग हिन्दू थे। इसका कारण यह था कि मुसलमानों की तुलना में उनकी आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी थी; इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को, जो सरकारी नौकरी पाने तथा व्यवसायों में प्रविष्ट होने का साधन थी, अपना लिया था। मुसलमान सामान्यतः गरीब थे। अधिकतर जुलाहे, जो अंग्रेजों द्वारा भारतीय उद्योगों के नष्ट किये जाने के कारण बर्बाद हो चुके थे, मुसलमान थे। बंगाल में जहां अन्य किसी भारतीय प्रान्त की अपेक्षा मुसलमानों की जनसंख्या सबसे अधिक है, वे गरीब किसान अथवा छोटे जमींदार थे। जमींदार प्रायः हिन्दू होता था, और गाँव का बनिया भी जो साहूकार तथा गाँव की दुकान का स्वामी होता था, हिन्दू हुआ करता था। इस प्रकार जमींदार तथा बनिया किसान का उत्पीड़न तथा शोषण करने की स्थिति में थे और वे अपनी स्थिति का भरपूर लाभ उठाते थे। इस तथ्य को स्मरण रखना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दू-मुसलिम तनाव का यही मूल कारण है।"[19] नेहरू हिन्दू महासभा के विध्वंसकारी आलोचक थे। महासभा ने 8 अप्रैल, 1950 के नेहरू लियाकत समझौते के विरुद्ध प्रचार किया। इसके लिए नेहरू ने सितम्बर 1950 की नासिक कांग्रेस में महासभा को आड़े हाथों लिया। नेहरू की ऐहिकवाद के प्रति वीरत्वपूर्ण भक्ति से भारत के अल्पसंख्यकों को भारी सान्त्वना मिली है। उन्होंने बुद्धिवाद पर आधारित वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। उससे उनकी उस राष्ट्रवादी राजनीतिक विचारधारा के विकास में सहायता मिली जो ऐहिक लोकतन्त्र पर बल देती है और इसलिए मध्ययुगीनता, धार्मिक कट्टरता तथा ज्ञान-विरोधी प्रवृत्तियों के विरुद्ध अवरोधक का काम करती है।

(ख) नेहरू तथा लोकतन्त्र—जवाहरलाल नेहरू को संसदीय लोकतन्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार में पूर्ण आस्था थी। महात्मा गान्धी के राजनीतिक उत्तराधिकारी होने के नाते वे साधनों की पवित्रता के सिद्धान्त के श्रद्धालु उपासक थे। उन्हें सत्तावाद तथा हिंसा से घृणा थी। फासीवाद, नात्सीवाद तथा कठोर नियन्त्रण के साथ जिस उजड्डपन और कमीनापन का संयोग पाया जाता है उससे उनके संवेदनशील मन को आघात पहुँचता था। वे चाहते थे कि भारत पश्चिम के उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों के समकक्ष स्थान प्राप्त करले, किन्तु इस आदर्श को साक्षात्कृत करने के लिए उन्होंने अधिनायकतन्त्रीय यन्त्रीकृत हिंसा के मार्ग का परित्याग कर दिया था। स्वतन्त्रता संग्राम के दीर्घ कठिन तथा कष्टपूर्ण काल में उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद का जो अनुभव हुआ था उसने नागरिक स्वतन्त्रता के प्रति उनके प्रेम तथा गम्भीर अनुराग को और भी दृढ़ कर दिया था। नेहरू ने अपने अगणित भाषणों तथा अविराम यात्राओं के द्वारा जनता से सम्पर्क स्थापित करने की प्रणाली विकसित करली थी। इससे नेता का जनता के साथ एकात्म्य स्थापित होता है। यह बात लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के लिए बड़ी लाभकारी सिद्ध होती है। वे जनता को निरन्तर अनुशासन तथा भाईचारे की प्रेरणा देते रहते थे। इसमें उनका उद्देश्य उस सामुदायिक भावना को दृढ़ करना था जिसे मैकाइवर ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आधार बतलाया है।[20]

यद्यपि भारतीय संविधान के 19वें अनुच्छेद के संशोधन की तथा निवारक नजरबन्दी अधिनियम की पर्याप्त आलोचना हुई है, किन्तु नेहरू ने उसे परिस्थितियों की आवश्यकता के नाम पर उचित ठहराया है। उन्होंने कहा कि राजनीतिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता की व्याख्या भी राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय दायित्वों तथा संकटों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। कभी-कभी यह भी कहा गया है कि संसार के सबसे बड़े लोकतान्त्रिक देश के जिस लोकतान्त्रिक समदवाद का इतना ढोल

---

19 *Glimpses of World History*, पृष्ठ 438।
20 आर. एम. मैकाइवर, *The Modern State*, *The Wob of Government*.

पीटा जाता है वह एक दल के शासन के सन्दर्भ में कोरा भ्रम है। यह सत्य है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अदम्य प्रबलता उसके क्रान्तिकारी तथा देशभक्तिपूर्ण इतिहास की उपज है। किन्तु पाश्चात्य लोकतांत्रिक कसौटी की दृष्टि से ऐसे प्रतिपक्ष का अभाव, जो वैकल्पिक सरकार बनाने में समर्थ हो सके, लोकतांत्रिक व्यवस्था की एक भारी कमी है। नेहरू भारतीय लोकतंत्र के विकास में इस कमी को भली-भाँति समझते थे।

(ग) नेहरू का अन्तरराष्ट्रवाद : पंचशील—नेहरू एशिया तथा अफ्रीका की जातियों की निरपेक्ष राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा के प्रमुख प्रवक्ता थे। उनकी अफ्रीकी-एशियाई एकता तथा प्रगति की धारणा ने नासिर, घाना के क्वामे एनक्रूमा, गाइना के सेकू तूरे, लिबनान के काल जम्बलात तथा कासिम को प्रेरणा दी है। 1927 की मद्रास कांग्रेस ने नेहरू की प्रेरणा से ब्रिटेन द्वारा चीन में भारतीय सेना के प्रयोग का विरोध किया। फासीवादी शक्तियों के वे कटु आलोचक थे। वे स्पेन की गणतंत्रीय सरकार तथा चीन के साथ भारत की सहानुभूति प्रकट करने के लिए उन देशों में स्वयं गये। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त भारत ने कोरिया में युद्ध-विराम सम्पन्न कराने तथा हिन्द चीन में युद्ध बन्द कराने में जो योग दिया और स्वेज में आंग्ल-फ्रांसीसी वित्तीय साम्राज्यवाद का अन्त करने का जो समर्थन किया उसका अत्यधिक महत्व है।

नेहरू महान् अन्तरराष्ट्रवादी थे। वे जातीय अहंकार तथा आक्रामकता के खतरों से भली-भाँति अवगत थे। उन्हें संकीर्ण, अहंकारमूलक तथा प्रसारवादी राष्ट्रवाद से भारी घृणा थी। इसीलिए भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के परवर्ती दौर में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उदार अन्तरराष्ट्रवाद की ओर उन्मुख कर दिया। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में भी अन्तरराष्ट्रवादी आदर्श का समर्थन किया। उनका कहना था, "····शायद जिस चीज को भली-भाँति नहीं समझा जाता वह उद्योगवाद का अन्तरराष्ट्रीय स्वभाव है। उसने राष्ट्रीय सीमाओं को ध्वस्त कर दिया है, और हर राष्ट्र को, वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, दूसरे देशों पर आश्रित बना दिया है। राष्ट्रवाद की भावना आज भी लगभग उतनी ही प्रबल है जितनी कि पहले थी, और उसके पवित्र नाम पर युद्ध लड़े गये हैं तथा दसियों लाख लोगों की हत्या की गयी है। किन्तु वह एक मिथ्या विश्वास है जिसका वास्तविक से कोई सम्बन्ध नहीं है। विश्व का अन्तरराष्ट्रीयकरण हो चुका है, उत्पादन अन्तरराष्ट्रीय है, बाजार अन्तरराष्ट्रीय है तथा परिवहन अन्तरराष्ट्रीय है; केवल मनुष्य के विचारों पर उन मदमातों का शासन है जिनका आज कोई अर्थ नहीं रह गया है। कोई राष्ट्र वास्तव में स्वाधीन नहीं है, सभी एक दूसरे पर निर्भर हैं।[21] इस प्रकार यदि रोमांसपूर्ण देशभक्ति ने नेहरू को पक्का राष्ट्रवादी बना दिया था, तो मानव कल्याण की बौद्धिक तथा व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण वे शान्तिमय सहअस्तित्व तथा 'एक विश्व' के आदर्शों में विश्वास करने लगे थे। परमाणविक विखण्डन के इस युग में अन्तरराष्ट्रवाद समय की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। नेहरू को संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों में दृढ़ विश्वास था, और वे विश्व-राजनीति के ध्रुवीकरण के विरोधी थे। वे शक्तिशाली राष्ट्रों के किसी गुट में सम्मिलित होने से दृढ़तापूर्वक इनकार करते रहे।

नेहरू ने परराष्ट्रनीति में गुट-निरपेक्षता की जो नीति अपनायी उसके तीन आधारभूत सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक कारण हैं। भारत एक नवोदित राष्ट्रीय राज्य है। उसे अपनी शक्ति आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यों में जुटानी है। वह इस स्थिति में नहीं है कि शक्तिशाली राष्ट्रों के प्रतिद्वन्द्वी गुटों के पेचीदा संश्रयों में उलझे और उसके फलस्वरूप सामाजिक-आर्थिक नियोजन और विकास के मुख्य काम से विचलित हो जाय। अतः गुट-निरपेक्षता एक नये राष्ट्रीय राज्य के लिए स्वाभाविक नीति है। दूसरे, गुट-निरपेक्षता का ऐतिहासिक आधार पर भी समर्थन किया जाता है। अपने सम्पूर्ण इतिहास में भारत ने शान्ति की नीति का अनुसरण किया है। उसने कभी शक्ति-राजनीति का समर्थन नहीं किया है। बुद्ध तथा गान्धी शान्ति के इस दर्शन के मुख्य प्रवर्तक थे। इस प्रकार गुट-निरपेक्षता भारत के उस आदर्श की राजनीतिक अभिव्यक्ति है जो सबके लिए शान्ति तथा सद्भावना का सन्देश देता आया है। तीसरे, अन्तरराष्ट्रीय शक्ति-राजनीति की अपेक्षा के आधार

---

21 *Important Speeches of Jawaharlal Nehru*, पृष्ठ 75।

पर भी गुट-निरपेक्षता का समर्थन किया जाता है। ऐसी दुनिया में जो सशस्त्र क्षेत्रों में विभक्त है, शान्ति के अंचल को दृढ़ बनाना बुद्धिमत्तापूर्ण नीति है। यह संभव हो सकता है यदि अनेक राज्य प्रतिद्वन्द्वी शिविरों में सम्मिलित होने से मना करदें, और अन्तरराष्ट्रीय तनावों को कम करने में मध्यस्थता करें। शान्ति के अंचल को दृढ़ करने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि दोनों गुट परस्पर टकराने में हिचकेंगे। किन्तु नेहरू इस बात को स्पष्ट करने में बड़े सतर्क थे कि उनका गुट-निरपेक्षता का सिद्धान्त गत्यात्मक था, उसका अर्थ निष्क्रिय तटस्थता नहीं था। उन्होंने कहा कि जब स्वतन्त्रता संकट में होगी और राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न होगा तब वे अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति को संशोधित करने में नहीं हिचकेंगे।[22]

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में नेहरू नैतिक मार्ग का अनुसरण करने में विश्वास करते थे। उन्होंने शान्तिमय तरीकों का समर्थन किया और वार्ता तथा सहयोगमूलक मेल-मिलाप पर बल दिया। वर्तमान काल में विश्व के राष्ट्र भयजनित भयंकर मनोविक्षिप्ति तथा व्याकुलता का शिकार हैं। इस व्यापक शत्रुता के वातावरण में नेहरू ने पंचशील का प्रतिपादन किया। 1954 में नेहरू तथा चाऊ-एन-लाई ने अपने एक संयुक्त वक्तव्य में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वे इस प्रकार हैं :

(1) एक दूसरे की भौमिक अखण्डता तथा प्रभुत्व के लिए पारस्परिक सम्मान;
(2) अनाक्रमण;
(3) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप;
(4) समानता तथा पारस्परिक लाभ; तथा
(5) शान्तिमय सहअस्तित्व तथा आर्थिक सहयोग।

पंचशील के इन सिद्धान्तों का उद्देश्य सुरक्षा की भावना तथा पारस्परिक विश्वास में वृद्धि करना था। इन सिद्धान्तों को 22 दिसम्बर, 1954 के नेहरू-टीटो वक्तव्य में और फिर 10 जुलाई, 1956 को ब्रियोनी में प्रकाशित नेहरू-टीटो-नासिर वक्तव्य में दुहराया गया। इस प्रकार नेहरू का अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का सिद्धान्त मैकियाविलीवाद तथा शक्ति-राजनीति की अस्वीकृति पर आधारित है। उसका उद्देश्य है कि यदि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र से बल प्रयोग को पूर्णत: बहिष्कृत नहीं किया जा सके तो उसे न्यूनतम अवश्य किया जाय। उसके मूल में धारणा यह है कि राष्ट्र एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और एक दूसरे के अधिकारों तथा दावों का शान्तिपूर्वक तथा सच्चाई के साथ मूल्यांकन करें। किन्तु नेहरू किसी भी रूप में शक्ति के सामने झुकने को तैयार नहीं थे। फिर भी नेहरू के कुछ आलोचकों का कहना है कि कश्मीर, गोआ, पाकिस्तान तथा तिब्बत के सम्बन्ध में नेहरू का नैतिक तथा मानवतावादी अन्तरराष्ट्रीयवाद विकृत होकर तुष्टीकरण की नीति में परिवर्तित हो गया है।

6. नेहरू का अर्थशास्त्र

यद्यपि नेहरू को स्वतन्त्रता के आदर्श में गहरा अनुराग था, फिर भी वे अर्थशास्त्र के उदारवादी सम्प्रदाय में विश्वास नहीं करते थे। वे स्मिथ तथा रिकार्डो के अर्थशास्त्र से सम्बन्धित अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे, और न उन्हें अर्थशास्त्र के प्रकृतिवादी (फिजियोक्रेट) सम्प्रदाय में विश्वास था। उनके विचार वैनगर, श्मोलर आदि जर्मन राज्य समाजवादियों के सिद्धान्तों से मिलते-जुलते हैं। वे उद्योगों को राजकीय सहायता दिये जाने के पक्ष में थे, किन्तु साथ ही साथ वे अर्थतन्त्र के निजी अंचल को भी सम्मानपूर्ण स्थान देना चाहते थे।

नेहरू को समाजवाद के आदर्श तथा व्यवहार ने बहुत आकृष्ट किया था। मैक्स एडलर की भाँति उन्हें भी नैतिक समाजवाद में विश्वास था। वे समाजवाद को आर्थिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त मात्र नहीं मानते थे, बल्कि वे उसे एक जीवन दर्शन समझते थे। किन्तु 1936 में उन्होंने अपने लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट घोषणा की थी कि समाजवाद के प्रति मेरा अनुराग अस्पष्ट मानवतावादी ढंग का नहीं है, बल्कि उससे मेरा अभिप्राय आर्थिक समाजवाद है। उनके नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1955 के आवडी अधिवेशन में समाजवादी ढंग के समाज के

---

22 देखिये 1949 में वाशिंगटन में दिया गया नेहरू का भाषण।

आदर्श को अंगीकार किया, पिछले दिनों में खाद्यान्न के क्षेत्र में राजकीय व्यापार तथा सहकारी खेती की विपक्षी दलों तथा समाचार पत्रों ने बहुत कुछ आलोचना की है।

नेहरू इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे कि विद्युतीकरण तथा उद्योगों के राष्ट्रीय-करण के द्वारा उत्पादन को बढ़ाना ही समाजवाद है। वे आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना में ग्रामोद्योगों तथा खादी को भी स्थान देना चाहते थे। अपनी लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "मुझे देश के द्रुत औद्योगीकरण में विश्वास है, और मेरा विचार है कि इसी प्रकार जनता का स्तर ऊँचा उठ सकेगा और गरीबी दूर की जा सकेगी। फिर भी मैंने अतीत में खादी-कार्यक्रम से हार्दिक सहयोग किया है और मुझे आशा है कि भविष्य में भी मैं ऐसा करता रहूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि खादी तथा ग्रामोद्योगों का हमारी वर्तमान अर्थव्यवस्था में निश्चित स्थान है।" 1928 में जब सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष थे, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना की थी और नेहरू उसके सभापति थे। उस समय उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि आयोजन के अन्तर्गत केवल भारी उद्योग ही नहीं आते हैं बल्कि उसमें कुटीर उद्योग भी सम्मिलित हैं। समिति की सितम्बर 1945 की बैठक तक में उन्होंने उपयोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने के हेतु तथा रोजगार की वृद्धि के लिए कुटीर उद्योगों पर बल दिया था।

ब्रिटिश फेबियनवादियों के विपरीत नेहरू को विश्वास था कि समाजवाद तत्काल स्थापित किया जा सकता है। वे चाहते थे कि विज्ञान तथा औद्योगिकी के साधनों का प्रयोग करके उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाया जाय। वे उत्पादकता की वृद्धि के लिए आयोजन की प्रणाली को अत्यावश्यक मानते थे। उन्हें राष्ट्रीयकरण में विश्वास था, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि उत्पादन के साधनों में वृद्धि की जाय और यथासम्भव लगभग पूर्ण रोजगार की व्यवस्था की जाय। उनका आग्रह था कि राज्य नये उद्योगों की स्थापना करें। नेहरू पीगू तथा ब्रिटिश मजदूर दल की विचारधारा के व्याख्याताओं द्वारा प्रतिपादित कल्याणकारी राज्य के आदर्श को स्वीकार करते थे। 1952 में उन्होंने शिमला में अमेरिकन यूनाइटेड प्रेस के संवाददाता के साथ वार्ता के दौरान 'क्रमिक समाजवाद' की बात कही थी और भारत के खेतिहर जीवन के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया था। उनके निर्देशन में कांग्रेस दल ने जनवरी 1955 में समाजवादी ढंग के समाज का आदर्श स्वीकार किया, और 1958 की नागपुर कांग्रेस के समय से सहकारी खेती को उस प्रकार के समाज को साक्षात्कृत करने की एक प्रमुख प्रणाली मान लिया गया है। नेहरू मिश्रित अर्थव्यवस्था के व्यवहार तथा सिद्धान्त के सम्बन्ध में वचनबद्ध थे। इस धारणा को दो पंचवर्षीय योजनाओं में भी स्वीकार कर लिया गया है। नेहरू चाहते थे कि कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय, और साथ ही साथ राज्य कुछ नये उद्योगों की स्थापना करे। साथ ही साथ वे निजी अंचल को भी महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए तैयार थे। नेहरू भारत की गम्भीर आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में पूर्ण सचेत थे। उदाहरण के लिए उन्होंने बेकारी, अर्द्धबेकारी, व्यापक गरीबी, खाद्य सामग्री का अभाव, ऊँची कीमतें आदि की ओर सदैव ध्यान दिया। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए उन्होंने नियोजित अर्थतन्त्र के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। पूँजी की भारी कठिनाई पर काबू पाने के लिए वे पश्चिमी देशों से भारी मात्रा में धन उधार लेने में भी नहीं हिचके। यद्यपि इन ऋणों के साथ कोई शर्तें नहीं जुड़ी हैं, फिर भी आलोचकों का कहना है कि अन्ततोगत्वा इसके भयावह परिणाम होंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि समाजवाद को कांग्रेस तथा देश के समक्ष एक ठोस आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत करने में नेहरू का मुख्य हाथ था। यद्यपि उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था फेबियन समाजवाद की ओर वापस लौटने की संक्रमणकालीन अवस्था है, फिर भी समाजवाद के आदर्श को लोकप्रिय बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

7. नेहरू तथा गान्धीवाद

नेहरू के मन में गान्धीजी के प्रति सदैव गम्भीर भावनात्मक अनुराग रहा।[23] अपने पत्रों में वे

---

23 *Autobiography*, पृष्ठ 373।

उन्हें स्नेहपूर्वक बापू कहकर सम्बोधित किया करते थे। नेहरू की गान्धीजी से सर्वप्रथम भेंट 1916 की लखनऊ कांग्रेस में हुई। 1920 में वे गान्धीजी के प्रभाव में आ गये। उन पर गान्धीजी की प्रबल निष्ठा तथा कार्य की लगन का गहरा प्रभाव पड़ा था। गान्धीजी सदैव कार्य पर बल दिया करते थे। उनकी इसी बात ने नेहरू को विशेषरूप से आकृष्ट किया। यद्यपि स्वभावत: गान्धीजी का झुकाव लोकातीत समस्याओं के प्रति था, किन्तु भारत की स्वाधीनता के लिए उनके मन में उत्कट अभिलाषा थी और वे इस बात के लिए अत्यधिक व्यग्र रहा करते थे कि स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए लगन के साथ काम किया जाय। गान्धीजी की कार्यप्रणाली ने भी नेहरू को प्रभावित किया, क्योंकि उससे सफलता मिली थी। आयु के बढ़ने के साथ-साथ स्नेह, अनुराग तथा भक्ति के ये बन्धन अधिकाधिक दृढ़ होते गये। गान्धीजी के व्यक्तित्व में जो सामंजस्यपूर्ण सन्तुलन तथा भावनात्मक एकता देखने को मिलती थी उसकी नेहरू भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। मई 1933 में जब गान्धीजी 21 दिन का उपवास प्रारम्भ करने जा रहे थे, नेहरू ने उनको एक तार दिया जिसमें उन्होंने लिखा था, "मैं अपने को एक ऐसे देश में खोया हुआ अनुभव कर रहा हूँ जिसमें केवल आप ही एक सुपरिचित भूमि-चिह्न हैं। मैं अँधेरे में टटोल रहा हूँ, किन्तु पगपग पर ठोकर खा रहा हूँ। कुछ भी हो मेरा स्नेह तथा विचार सदैव आपके साथ रहेंगे।" प्रश्न यह है कि संशयवादी तथा समाजवाद की ओर उन्मुख और पाश्चात्य रंग में रँगे हुए नेहरू और धर्मपरायण, ईश्वर-भीरु तथा पूर्वात्य गान्धीजी में उभयनिष्ठ तत्व क्या थे। गान्धीजी जनता के लोकतन्त्रवादी थे, और बूर्जुआ नेहरू, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था, जनता के लिए लोकतन्त्रवादी थे। कहने का अभिप्राय यह कि गान्धीजी जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं का और नेहरू के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। किन्तु नेहरू दो कारणों से गान्धीजी की ओर आकृष्ट हुए थे। प्रथम, नेहरू गान्धीजी के साहस तथा सब प्रकार की कठिनाइयों और विपत्तियों के प्रति उनकी चुनौती की भावना के बड़े प्रशंसक थे। दूसरे, उन्होंने देखा कि गान्धीजी के नेतृत्व तथा राजनीतिक कार्यकलाप के महत्वपूर्ण परिणाम हुए थे। गान्धीवादी होने के नाते नेहरू ने सदैव कर्म तथा विचारों की एकता का समर्थन किया। उन्हें न तो गगनचारी बुद्धिवादियों से सहानुभूति थी और न अवसरवादी व्यवहारवादियों से। भारत के कुछ समाजवादी तथा साम्यवादी गुट अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र की समस्याओं के सम्बन्ध में सूक्ष्म तथा द्वन्द्वात्मक तर्क-वितर्क में उलझे हुए थे, और कुछ इतने उद्धत थे कि गान्धीजी को महान प्रतिक्रियावादी कहने में भी नहीं हिचकते थे। किन्तु नेहरू गान्धीजी के समाजशास्त्र से सहमत न होते हुए भी उनसे इसलिए प्रभावित थे कि उन्हें भारत की समस्याओं की गहरी पकड़ थी और उनका मुकाबला करने में उन्हें महत्वपूर्ण सफलता मिली थी। नेहरू और गान्धी में सामाजिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद था, किन्तु राजनीतिक प्रश्नों पर उनके विचारों में बहुत कुछ साम्य था। अपनी 'आत्मकथा' में नेहरू लिखते हैं, "विचारधारा की दृष्टि से उनका पिछड़ापन कभी-कभी विस्मयजनक जान पड़ता था, किन्तु कर्म में वे आधुनिक भारत के महानतम क्रान्तिकारी हुए हैं। उनका व्यक्तित्व अद्भुत था; प्रचलित कसौटियों से उनकी परख करना अथवा उनके सम्बन्ध में तर्कशास्त्र के सामान्य नियमों को लागू करना असम्भव था। किन्तु वे मूलत: क्रान्तिकारी थे और भारत की स्वाधीनता के लिए अपने को अर्पित कर चुके थे, इसलिए अनिवार्य था कि जब तक स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक वे बिना समझौता किये उसके लिए संघर्ष करते रहेंगे, और इस संघर्ष के दौरान वे प्रचण्ड जनशक्ति को उभारेंगे तथा जैसी कि मुझे आशा थी, वे स्वयं कदम-ब-कदम सामाजिक उद्देश्य की ओर बढ़ते जायँगे।"[24]

गान्धीजी ने राजनीति क्षेत्र में जो नैतिक मार्ग अपनाया था उसका भी नेहरू पर प्रभाव पड़ा था। गान्धीजी ने केवल साध्यों की शुद्धता पर ही बल नहीं दिया था, वे साधनों की पवित्रता को भी आवश्यक मानते थे। कुछ समय से नेहरू साधनों की श्रेष्ठता के इस विचार को बारबार दुहराने लगे थे और कहने लगे थे कि नैतिक नियम निष्ठुरता के साथ काम करते हैं।[25] अन्तरराष्ट्रीय राज-

---

24 वही, पृष्ठ 365।
25 देखिये 1949 में शिकागो विश्वविद्यालय में दिया गया नेहरू का भाषण।

नीति तथा अर्थतन्त्र के सम्बन्ध में साधनों की पवित्रता की यह नीति साम्यवादियों की नीति से कोसों दूर थी किन्तु अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करने में नेहरू उस सीमा तक जाने को तैयार नहीं थे जहाँ तक गान्धीजी जाना चाहते थे। स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में भी नेहरू ने अहिंसा को केवल एक नीति के रूप में स्वीकार किया, गान्धीजी की भाँति उन्होंने उसे कभी धर्म मानकर अंगीकार नहीं किया। किन्तु उन्होंने व्यावहारिक आधार पर अहिंसा का समर्थन किया। उनका कहना था कि हिंसा से समस्याओं का वास्तविक समाधान नहीं होता, केवल दिखावटी समाधान भले ही मिल सके। जवाहरलाल नेहरू ने अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए शान्तिमय तरीकों का समर्थन किया। भयावह परमाणु अस्त्रों का प्रतीकार करने के लिए उन्होंने पंचशील का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। शान्तिमय तरीकों के इस समर्थन के मूल में सच्ची मानवतावादी भावना थी, किन्तु उसके पीछे यह व्यावहारिक दृष्टिकोण भी था कि समस्याओं का स्थायी हल अनुनय, मेल मिलाप, सहिष्णुता तथा वार्ता के तरीकों से ही प्राप्त किया जा सकता है। शान्तिमय तरीकों की शक्ति में यह विश्वास इस बात का द्योतक है कि नेहरू पर गान्धीजी का सूक्ष्म किन्तु गहरा प्रभाव पड़ा था। इसके अतिरिक्त एक गान्धीवादी होने के नाते ही नेहरू ने यह भी आग्रह किया कि यदि एक कल्याणकारी और बुद्धिमत्तापूर्ण सामाजिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना करनी है तो उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के रूप में भय को अवश्य दूर करना होगा। आधुनिक मानव को जो निराशा तथा दारुण विपत्ति घेरे हुए है उसका अन्त करने के लिए नैतिक तैयारी के रूप में निर्भरता अपरिहार्य है।

8. निष्कर्ष

यद्यपि नेहरू को प्राकृतिक विज्ञानों की शिक्षा मिली थी, किन्तु इतिहास तथा सभ्यताओं के ऐतिहासिक विकास में उनकी रुचि शौकिया रुचि से कहीं अधिक गम्भीर थी। मार्क्सवादी समाजशास्त्र के अध्ययन से उनका इतिहासवादी दृष्टिकोण और भी अधिक पुष्ट हो गया था। राजनीति दर्शन के क्षेत्र में नेहरू का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय इतिहास को समाजवादी दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया। संक्रमणकालीन भारत में उन्हें जो अनुभव हुए थे उनके आधार पर उन्होंने भारत के पुरातन इतिहास पर पीछे की ओर मुड़कर मनन किया। उन्होंने भारत की विरासत को अतिशय आकर्षक रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने अपनी 'भारत की खोज', 'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'आत्मकथा' में भारतीय इतिहास की अव्यवस्थित तथा असमंजसकारी घटनाओं तथा ब्यौरे के बीच अधिक गम्भीर प्रयोजन को ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय ऐतिहासिक विकास को जीवन-शक्ति के रहस्य को जानने की चेष्टा की, क्योंकि आक्रमणों, विश्रृंखलताओं तथा ऊपरी पराभव और पतन के बावजूद भारत ने अपना कायाकल्प कर लेने की विस्मयकारी क्षमता का परिचय दिया है। भारत की सांस्कृतिक अविच्छिन्नता का उन्हें सूक्ष्म बोध था, और इस बात ने उन्हें भारतीय पुनर्निर्माण के कार्य के लिए प्रचण्ड उत्साह प्रदान किया। इस सैद्धान्तिक जानकारी ने उनकी राजनीतिक नीतियों को भी प्रभावित किया। उन्होंने भारत में घटने वाली घटनाओं को विश्व की परिस्थितियों के सन्दर्भ में भी देखने का प्रयत्न किया। भारतीयों में पृथकत्व की तथा अपने संकीर्ण क्षेत्र में सीमित रहने की जो प्रवृत्ति व्याप्त थी उसकी उन्होंने निर्मम आलोचना की।[26] वे इस पक्ष में थे कि भारतीय वस्तुओं को विश्व के सन्दर्भ में देखा जाय। यद्यपि नेहरू की समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक रचनाओं में अधिक दार्शनिक गहराई तथा सैद्धान्तिक मौलिकता नहीं है, किन्तु उनमें ठोस यथार्थवाद देखने को मिलता है, और इसका कारण यह था कि उन्हें मानव-समूह, मनोविज्ञान तथा राजनीति की गतिशील शक्तियों की गम्भीर पकड़ थी। उन्हें आधुनिक भारतीय समस्याओं का व्यापक अनुभव था जिसने उन्हें आधुनिक इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियों को पहचानने के लिए वस्तुगत सन्दर्श प्रदान किया। अपनी 'विश्व इतिहास की झलक' में उन्होंने सभ्यता तथा कला के क्षेत्र में एशिया के योगदान की

---

26 विवेकानन्द का भी दृष्टिकोण इसी प्रकार का था।

ओर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न किया। यह पश्चिम के उन इतिहासकारों की संकीर्ण देशभक्ति का उत्तर है जिनकी दृष्टि सदैव यूनान तथा एजीयन संस्कृति पर केन्द्रित रहती है।

नेहरू की स्वतन्त्रता में दृढ़ और उग्र आस्था थी। वे भारतीय स्वतन्त्रता के एक महान सेनानी थे। उन्होंने औपनिवेशिक देशों की स्वतन्त्रता का भी खुलकर समर्थन किया। किन्तु वे समानता तथा न्याय के आदर्शों के भी परम भक्त थे, इसलिए उन्होंने कांग्रेस को इस बात की प्रेरणा दी कि वह समाजवादी ढंग के समाज के आधार पर जनता के आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए साहसपूर्वक प्रयत्न करे। उन्होंने यह भी कहा कि सरकारी खेती तथा अधिकांशत: नियोजित अर्थव्यवस्था इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं। उन्होंने भारत के संसदीय लोकतन्त्र की नींव को मजबूत करने का भी प्रयत्न किया, यद्यपि कुछ क्षेत्रों में उन्हें 'लोकप्रिय अधिनायक' माना जाता था। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक रचनाओं तथा कार्यकलाप दोनों के द्वारा प्रतिनिधि लोकतन्त्र की धारणा को आर्थिक सन्दर्श प्रदान करके अधिक विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया। 15 दिसम्बर, 1953 को संसद में एक भाषण के दौरान उन्होंने राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत किया। किन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक न्याय का समन्वय नेहरू का मौलिक विचार नहीं है। वह उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक लोकतन्त्र (लोकतान्त्रिक समाजवाद) फेबियनवाद तथा अमरीकी और ब्रिटिश समाजवाद की विरासत का विभिन्न अंग है। कॉटस्की, मैनहाइम और लास्की ने भी इस प्रकार के समन्वय का समर्थन किया है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि नेहरू ने इस विचार को लोकप्रिय बनाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में नेहरू का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे देश का प्रबुद्धीकरण करने में विश्वास रखते थे। वे बुद्धिवाद तथा बौद्धिक स्वातन्त्र्य के भक्त थे। उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ही उन्हें आधुनिकता का समर्थक बना दिया था। उनकी भारत को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने की उत्कट अभिलाषा थी, और इसीलिए उन्होंने स्त्रियों का सामाजिक तथा विधिक उद्धार करने का प्रयत्न किया और ऐहिकवाद का समर्थन किया। उन्हें पुनरुत्थानवाद से घृणा थी, और सम्प्रदायवाद के वे कट्टर शत्रु थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भारत वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाले, क्योंकि वे समझते थे कि वही मध्ययुगीनता, पुरोहितवाद तथा सामाजिक सड़ाँध का अन्त कर सकता है। देश का औद्योगीकरण तथा प्राविधिक प्रगति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की स्वीकृति के ही पहलू हैं। नेहरू की तत्वशास्त्रीय समस्याओं में रुचि नहीं थी, और न उन्हें यह पसन्द था कि राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों को धार्मिक रहस्यवाद की आलंकारिक भाषा में व्यक्त किया जाय। वे चाहते थे कि सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने और समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।[27] उन्होंने अपनी 'इण्डिया टुडे एण्ड टुमारो' (भारत का वर्तमान तथा भविष्य) शीर्षक आजाद स्मारक व्याख्यानमाला में विज्ञान तथा औद्योगिकी का मानवतावादी सहिष्णुता तथा करुणा के आदर्शों के साथ समन्वय करने पर बल दिया। वैज्ञानिकता तथा आधुनिकता की खोज नेहरू का भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान है।

नेहरू को मानव स्वभाव की सृजनात्मक सम्भावनाओं में विश्वास था। तुर्गो, कोंदर्से और लेनिन की भाँति उन्हें भी प्रगति में विश्वास था। वे वैज्ञानिक मनावतावाद के आदर्श को स्वीकार करते थे। अपनी भारत की खोज में उन्होंने लिखा है कि टैगोर भारत के महानतम मानवतावादी थे। किन्तु टैगोर का मानवतावाद इस दार्शनिक विश्वास पर आधारित था कि परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। इसके विपरीत नेहरू संशयवादी थे, इसलिए वे मनुष्य को केवल एक अनुभवगम्य वस्तु मानते थे। नेहरू को किसी ऐसी शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता में विश्वास नहीं था जो मनुष्य के अस्तित्व को प्रयोजन प्रदान करती हो। इसी दृष्टि से उनका चिन्तन रवीन्द्रनाथ के दर्शन से भिन्न था। नेहरू के मन में मानव के कष्टों और दुःखों को देखकर जो गहरी और संवेदनायुक्त

---

27 नेहरू, *Glimpses of World History*, अध्याय 56, पृष्ठ 173, "मैं हर दृष्टि से विज्ञान तथा विज्ञान की पद्धतियों को पसन्द करता हूँ।"

प्रतिक्रिया होती थी वही उनके मानवतावाद का आधार थी। शताब्दी के तृतीय दशक में उन्होंने उत्तर प्रदेश के किसानों के बीच जो भ्रमण किया उससे उन्हें देहाती जनता की घोर दुर्दशा और निराशा का साक्षात्कार हुआ। इससे उनकी कलात्मक आत्मा को भारी आघात पहुँचा और उन्होंने शीघ्र ही इन कष्टों का उन्मूलन करने के लिए संघर्ष करने का वीरत्वपूर्ण संकल्प कर लिया। अपने संघर्षों तथा निजी चिन्ताओं के बीच भी उन्होंने मानव के प्रति अपने प्रेम को तथा मनुष्य के कर्म की सृजनात्मक होतव्यता में अपनी श्रेष्ठ आशा को अक्षुण्ण रखा। उन्होंने इस बात पर बराबार बल दिया कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा बुद्धिवादी पद्धति की नींव पर नये भारत का निर्माण करने के लिए समर्पण की भावना से गत्यात्मक कर्म किया जाय। साथ ही साथ उन्होंने विज्ञान के प्रचलित प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के मुकाबले में मानवीय मूल्यों तथा प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने की प्रेरणा दी।

20
सुभाषचन्द्र बोस

1. प्रस्तावना

सुभाषचन्द्र बोस (1897-1945) एक महान राजनीतिक नेता थे।[1] गम्भीर तथा उग्र देश-भक्ति और भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति तीक्ष्ण शत्रुता उनके व्यक्तित्व का सार थी। जब वे कॉलिज में विद्यार्थी ही थे, उसी समय एक वेदान्ती रहस्यवादी के रूप में उन्होंने एक आध्यात्मिक गुरु की खोज में उत्तर भारत के नगरों का भ्रमण किया।[2] कलकत्ता विश्वविद्यालय में विद्यार्थी के रूप में उन्होंने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। 1920 में उन्होंने भारतीय असैनिक सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस, आई. सी. एस.) की परीक्षा में सफलता प्राप्त की। मई 1921 में चौबीस वर्ष की आयु में उन्होंने इण्डियन सिविल सर्विस से त्यागपत्र दे दिया और सक्रिय राजनीति में उतर पड़े। उन्हें आत्मत्याग में विश्वास था। राजनीतिक कार्य को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया और उसी भावना से उसमें संलग्न हो गये। उनमें कष्ट सहन की अपरिमित क्षमता थी। तिलक को छोड़कर अन्य किसी नेता ने इतना कष्ट नहीं सहन किया उन्हें दस बार कारागार में डाला गया और कुल मिलाकर आठ वर्ष तक जेल में बिताने पड़े।[3] भारतीय स्वतन्त्रता के आदर्श में उनकी गम्भीर निष्ठा थी। उसको साक्षात्कृत करने के लिए उन्होंने अथक प्रयत्न किया और हर प्रकार की जोखिम उठायी। उन्हें समझौतावादी रवैया पसन्द नहीं था, और प्रवृत्ति से वे विद्रोही थे। यही कारण था कि उन्होंने कांग्रेस में गान्धीवादी दक्षिणपन्थी पक्ष के विरुद्ध सदैव वामपन्थी विरोधी पक्ष का साथ दिया।[4] पर लेनिन, कमालपाशा, डी वेलरा और बैनिटो मुसौलिनी के व्यक्तित्व का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। बोस एक निर्भीक योद्धा थे, और उनका स्थान विश्व के महानतम देशभक्तों में है।

बोस ने कलकत्ता तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में दर्शन का अध्ययन किया था और विवेकानन्द तथा अरविन्द की रचनाएँ पढ़ी थीं।[5] किन्तु वे राजनीतिक दार्शनिक अथवा सिद्धान्तकार नहीं थे। ये प्रबल कर्मयोगी थे। उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति महान राजनीतिक कार्यकलाप में हुई। वे स्वराज के लिए संघर्ष करने वाले दुर्धर्ष योद्धा थे। वे आन्दोलनकारी, प्रचारक, उग्र संघर्षकर्ता और क्रान्तिकारी नेता थे, न कि एक दार्शनिक। वे महान वक्ता भी थे।[6] वे दो बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए, 1938 में और 1939 में। किन्तु शास्त्रीय अर्थ में सिद्धान्तकार

---

1 सुभाषचन्द्र बोस का जन्म 23 जनवरी, 1897 को हुआ था और कहा जाता है कि 8 अगस्त, 1945 को उनका देहान्त हुआ।

2 सत्रह वर्ष की आयु में बोस तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। किन्तु कुछ महीनों के उपरान्त वे लौटकर घर आगये। सुभाषचन्द्र बोस, *An Indian Pilgrim or Autobiography of Subhas Chandra Bose* (1897-1920), पृ. 79-83 (कलकत्ता, थैकर, स्पिक एण्ड कम्पनी, 1948)।

3 एम. दासगुप्ता, *Subhas Chandra* (कलकत्ता, ज्योती प्रकाशालय, 1946)।

4 एक बार बोस ने घोषणा की थी, "मैं या तो पूर्ण आतंकवादी हूँ या फिर कुछ नहीं हूँ।"

5 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle*: 1935-1942 (कलकत्ता, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कम्पनी, 1952)।

6 मैंने 1939 और 1940 में सुभाषचन्द्र बोस के शुद्ध तथा ओजस्वी हिन्दी में भाषण सुने हैं।

अथवा राजनीतिक विचारक न होते हुए भी बोस ने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि तथा विकास के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन किया। भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत करने के विषय में उनके कुछ मौलिक विचार थे। उनकी रचनाओं में कुछ सैद्धान्तिक महत्व के राजनीतिक विचार हैं, इसीलिए वे आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हैं। उनकी 'द इण्डियन स्ट्रगल'[7] (भारतीय संघर्ष) नामक पुस्तक गम्भीर विश्लेषण तथा सूक्ष्म विचारों से भरी पड़ी है। उनके भाषणों में ओज तथा सरलता देखने को मिलती है।[8] उनमें अद्भुत कार्यक्षमता तथा तीक्ष्ण विश्लेषणात्मक बुद्धि का समन्वय था। इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व में संवेगात्मक संवेदनशीलता और सहृदयता का भी गम्भीर पुट था।

सुभाषचन्द्र बोस ने 1923 में एक असहयोगी के रूप में अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया। बाद में चितरंजन दास के नेतृत्व में वे स्वराज दल में सम्मिलित हो गये, क्योंकि उन्हें गान्धीजी के कार्यक्रम से सहानुभूति नहीं थी। 1925 से 1927 तक वे ब्रह्म (बरमा) में नजरबन्द रहे। स्वराज दल से पृथक होकर उन्होंने इण्डिपेन्डेंस लीग[9] की सदस्यता स्वीकार करली। उनकी राजनीतिक ख्याति उस समय बढ़ी जब उन्होंने 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में प्रस्तावित संघ-योजना की स्वीकृति का विरोध करने वाली शक्तियों का नेतृत्व किया। 1938 में बोस हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये।[10] 1939 में वे गान्धीजी तथा कांग्रेस के दक्षिणपन्थी पक्ष में प्रत्याशी डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या को परास्त करके त्रिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस विजय ने उन्हें राजनीतिक उत्कर्ष के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया।[11] वे इस पक्ष में थे कि यदि ब्रिटिश सरकार पूर्ण स्वतन्त्रता की राष्ट्रीय माँग को एक निश्चित अवधि के भीतर स्वीकार न करे तो उसे अल्टीमेटम दे दिया जाय। किन्तु उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता का परित्याग कर दिया। दूसरा कारण उस पन्त प्रस्ताव का पारित होना था जिसमें कहा गया था कि उन्हें महात्मा गान्धी के परामर्श से कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों का चयन करना चाहिए। मई 1939 में उन्होंने फॉरवर्ड ब्लॉक नामक एक नये दल की स्थापना करके देश की वामपन्थी शक्तियों को संयुक्त करने का प्रयत्न किया। जून 1940 में बम्बई में वामपन्थी एकता समिति की स्थापना की गयी जिसमें कांग्रेस समाजवादी, एम. एन. राय की रेडीकल लीग तथा साम्यवादी सम्मिलित थे। बोस ने इस समिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहे। मार्च 1940 में उन्होंने रामगढ़ में समझौता-विरोधी सम्मेलन का सभापतित्व किया। वे इस पक्ष में थे कि हिन्दू तथा मुसलमान मिलकर एक ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की माँग करें जिसे सम्पूर्ण शक्तियाँ तत्काल हस्तान्तरित कर दी जायें। दिसम्बर 1940 में वे गुप्त रूप से देश छोड़कर चले गये। मार्च 1941 में वे वायुयान द्वारा काबुल से बर्लिन पहुँच गये। देश से भाग निकलने तथा पेशावर और काबुल होकर जर्मनी जा पहुँचने

---

7 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle* : 1920-1934। यह पुस्तक मूलतः 1935 में यूरोप में प्रकाशित हुई थी, किन्तु सरकार ने भारत में उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसका भारतीय संस्करण 1948 में थैकर, स्पिक एण्ड कम्पनी, कलकत्ता ने प्रकाशित किया था। वह *Netaji's Life and Writings* के द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित की गयी है। *The Indian Struggle* की द्वितीय जिल्द भी प्रकाशित हो चुकी है।

8 *Important Speeches and Writings of Subhas Chandra Bose*, जगत एस. ब्राइट द्वारा सम्पादित (लाहौर, द इण्डियन प्रिंटिंग वर्क्स, 1946); *Crossroads*, (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, 1962)।

9 जवाहरलाल नेहरू, *An Autobiography*, पृष्ठ 173। पट्टाभि सीतारामय्या, *History of the Indian National Congress*, जिल्द 1, पृ. 333 (बम्बई, पद्मा पब्लीकेशन्स, 1946)। पृ. 360 पर पट्टाभि ने इस बात का उल्लेख किया है कि सुभाषचन्द्र बोस तथा श्रीनिवास आयंगर ने 1929 की लाहौर कांग्रेस के अवसर पर कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की थी। 1929 में बोस ने उस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था जिसमें वाइसराय लॉर्ड इरविन की घोषणा को स्वीकार कर लिया गया था। देखिये जवाहरलाल नेहरू, *An Autobiography*, पृ. 197।

10 सुभाषचन्द्र ने हरिपुरा के कांग्रेस अधिवेशन में जो अध्यक्षीय भाषण दिया था वह *The Indian Annual Register*, कलकत्ता, जनवरी-जून 1938, जिल्द 1 में पृ. 335-48 पर मुद्रित है।

11 आगे चलकर पट्टाभि ने सुभाषचन्द्र को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की और उन्हें सिकन्दर, सीजर, क्रोमवैल व हिटलर के समान प्रतापी राजनीतिक विभूति बतलाया।

की कहानी उनके साहसपूर्ण कार्य की वीर गाथा है । 27 फरवरी, 1942 को उन्होंने वर्लिन से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के विरुद्ध भयंकर प्रचार अभियान आरम्भ कर दिया और विभिन्न स्थानों से अनेक वर्षों तक प्रसारण करते रहे । जून 1943 में बोस जापान जा पहुँचे । 5 जुलाई, 1943 को उन्होंने आजाद हिन्द फौज की स्थापना की घोषणा की । उस समय उसमें 60 हजार से कुछ अधिक भारतीय सम्मिलित थे । उनका युद्ध-घोष था 'दिल्ली चलो' । 21 अक्टूबर, 1943 को बोस ने स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार की स्थापना की । फरवरी 1944 से अप्रैल 1945 तक आजाद हिन्द फौज ने मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के विरुद्ध वीरतापूर्ण अभियान चलाया और भारत की भूमि में प्रवेश करने में भी सफल हुई । दुर्भाग्यवश 8 अगस्त, 1945 को टोकियो जाते हुए मार्ग में विमान दुर्घटना में ग्रस्त हो गये । उन्हें घातक चोट पहुँची और उसी दिन की सन्ध्या वेला में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की । इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बोस ने फासीवादी शक्तियों के साथ मेल कर लिया और आजाद हिन्द फौज का संगठन करके हिंसात्मक आधार पर देश की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध आरम्भ कर दिया ।[12] बोस के राजनीतिक जीवन में यह संक्रमण अत्यधिक रोचक है । जो व्यक्ति एक समय स्वराज दल का सक्रिय सदस्य था वह देश की स्वाधीनता के लिए आजाद हिन्द फौज का महासेनानायक बन गया ।

2. बोस के राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधार

सुभाषचन्द्र बोस कर्मयोगी थे । वे दार्शनिक नहीं थे, और न उन्होंने सैद्धान्तिक दार्शनिक मूल्य की कोई चीज लिखी है । किन्तु विद्यार्थी जीवन में उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया था । उन पर विवेकानन्द[13] और अरविन्द[14] की रचनाओं का प्रबल प्रभाव पड़ा था । बोस विवेकानन्द की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे । पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उन्होंने उनकी रचनाओं का अध्ययन कर लिया था । उनकी दृष्टि में विवेकानन्द निर्भीक मनुष्यत्व का मूर्तरूप थे । उनसे बोस ने 'आत्मनो मोक्षार्थम् जगद्हिताय' (निजी मोक्ष तथा मानवता के कल्याण के लिए) का जीवन दर्शन सीखा । वे विवेकानन्द के वाक्यों को वीरतापूर्ण मानते थे ।

बोस ने शंकर के मायावाद के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, यद्यपि विद्यार्थी जीवन में वे शंकर के सिद्धान्त को हिन्दू दर्शन का सार मानते थे । उन्हें ईश्वर में आस्था थी ।[15] किन्तु वे विश्व को माया मानकर त्यागने के लिए तैयार नहीं थे । उन पर रामकृष्ण और विवेकानन्द के विचारों का प्रभाव था । वे दोनों महापुरुष विश्व को 'ईश्वर का लीलाक्षेत्र' मानते थे । बंगाल ने शांकर वेदान्त के अद्वैतवादी आध्यात्मवाद का सहानुभूतिपूर्वक कभी स्वागत नहीं किया है । उसका झुकाव सदैव आस्तिक दर्शनों के प्रति रहा है । बोस ने रामकृष्ण तथा विवेकानन्द[16] के प्रभाव में आकर विश्व के मायावादी दृष्टिकोण का जो खण्डन किया वह 'आर्या' में अरविन्द की रचनाओं को पढ़ने से और भी पुष्ट हो गया । बोस दैवी विधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे, किन्तु साथ ही साथ वे इस धारणा पर भी डटे रहे कि विश्व की सत्ता यथार्थ है और उसके दायित्व तथा अधिकार आदेशात्मक हैं ।

बोस ने माया के सिद्धान्त का खण्डन किया और विश्व की वास्तविकता को स्वीकार किया । उन्हें क्रमिक विकास के सिद्धान्त में विश्वास था । प्रगति की धारणा के समर्थन में उन्होंने तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं । प्रथम, प्राकृतिक जगत तथा इतिहास का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि

---

12 बोस के जीवन के इस काल के लिए तथा आजाद हिन्द फौज के कार्यकलाप के लिए निम्नलिखित पुस्तकों का अवलोकन किया जा सकता है : ह्यू ग टोई, *The Spring Tiger* (बम्बई, एलाइड पब्लिशर 1959); शाह नवाज खां, *My Memories of the I. N. A. and its Netaji*; के. आर. पाल्टा, *My Adventures with I. N. A.*; निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत संग्रहीत सुभाषचन्द्र बोस के भाषण : *On to Delhi* ; *Blood Bath*; *On with the Fight*. टोई की पुस्तक सुभाष के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण नहीं है ।

13 *An Indian Pilgrim*, पृ. 42-45.

14 1928 में गान्धीजी के राजनीतिक विचारों तथा कार्यप्रणाली की आलोचना करते समय बोस ने अरविन्द की भी आलोचना की थी ।

15 सुभाषचन्द्र बोस, 'तरुण के स्वप्न' (हिन्दी) । बोस को मातृदेवी की पूजा में विश्वास था । उन्होंने मांडले से अपने पत्रों में लिखा था कि शक्ति-साधना भय पर विजय पाने का साधन है ।

16 *An Indian Pilgrim*, पृ. 82.

विश्व प्रगति की ओर जा रहा है। दूसरे, अन्त:प्रज्ञा से भी यही अनुभूति होता है कि हम आगे की ओर बढ़ रहे हैं। इसके अतिरिक्त बोस ने मूल्यशास्त्रीय तर्क भी दिया है। उनका कहना है कि जीवशास्त्रीय तथा नैतिक आधार पर प्रगति में विश्वास करना आवश्यक है।

बोस का विचार है कि प्राचीन सांख्य सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने विकासात्मक प्रगति की जो ठोस अवस्थाएँ और कोटियाँ निरूपित की थीं वे आधुनिक मानव को स्वीकार्य नहीं हो सकतीं। उन्होंने स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार सरल से जटिल का विकास होता है। उन्होंने फोन हार्टमन द्वारा प्रतिपादित इस धारणा का भी उल्लेख किया है कि विश्व ज्ञान-शून्य इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है। वे शॉपिनहाअर का भी, जो ब्रह्माण्डीय इच्छाशक्ति के दर्शन का प्रतिनिधि है, उल्लेख कर सकते थे। वे बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास तथा अन्त:प्रज्ञा के सिद्धान्तों से भी परिचित हैं। किन्तु बोस की धारणा है कि यद्यपि इन सिद्धान्तों में सत्य का कुछ अंश है, फिर भी हेगेल का द्वन्द्वात्मक विकास का सिद्धान्त इन सबसे अधिक समीचीन है।[17] वे स्वीकार करते हैं कि कोई भी सिद्धान्त सत्ता के समग्र पहलुओं का समुचित वर्णन नहीं कर सकता, फिर भी वे मानते हैं कि स्पेंसर के विकास और बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास के सिद्धान्तों की तुलना में हेगेल का द्वन्द्वात्मक प्रगति का सिद्धान्त तर्कशास्त्रीय धारणाओं तथा देश-काल में अभिव्यक्ति, दोनों ही क्षेत्रों में अधिक उपयुक्त है। बोस लिखते हैं, "किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हेगेल का सिद्धान्त सत्य के सर्वाधिक निकट है। वह तथ्यों की अन्य किसी सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक व्याख्या करता है। साथ ही साथ उसे अविकल सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिन तथ्यों का हमें ज्ञान है वे सब उससे मेल नहीं खाते।"[18]

किन्तु हेगेल के द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त से अनुप्रेरित होने के बावजूद बोस हेगेल की इस धारणा को स्वीकार करते कि सत्ता (वास्तविकता) का स्वभाव बौद्धिक है। एनेक्सेगोरस तथा हेगेल सत्ता को बुद्धि अथवा विचार मानते थे। किन्तु बोस प्रेम को सत्ता की प्रकृति मानते हैं। उन्होंने लिखा है, "मेरी दृष्टि में प्रेम सत्ता का तात्विक स्वभाव है। प्रेम विश्व का सार है और मानव जीवन का तात्विक गुण है। मैं मानता हूँ कि यह धारणा भी अपूर्ण है, क्योंकि मैं वास्तविकता को नहीं जानता और न आज परम सत्ता को जानने का दावा करता हूँ, चाहे अन्ततोगत्वा वह मानव ज्ञान और अनुभव द्वारा भले ही साक्षात्कृत की जा सके। फिर भी मेरी दृष्टि में सब दोषों के बावजूद यह सिद्धान्त अधिकतम सत्य का द्योतक है और परम सत्य के सर्वाधिक निकट है। मुझसे लोग पूछ सकते हैं कि मैं इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचा कि प्रेम सत्ता का स्वभाव है। मुझे कहना पड़ेगा कि मेरा ज्ञानशास्त्र परम्परावादी नहीं है। मैं इस निष्कर्ष पर कुछ अंशों में जीवन के सभी पहलुओं का बौद्धिक अध्ययन करके, कुछ अन्त:प्रज्ञा के द्वारा और कुछ व्यावहारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पहुँचा हूँ। मैं अपने चतुर्दिक प्रेम की लीला देखता हूँ; अपने भीतर भी मैं उसी प्रवृत्ति को देखता हूँ; मैं अनुभव करता हूँ कि 'मुझे अपना जीवन सार्थक बनाने के लिए प्रेम करना चाहिए' और जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिए एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में भी मुझे प्रेम की आवश्यकता है। अनेक कारणों से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। मैं पहले कह चुका हूँ कि मानव जीवन में सारतत्व प्रेम है। चूँकि जीवन में बहुत कुछ ऐसा देखने को मिलता है जो प्रेम के विरुद्ध है इसलिए मेरे इस कथन को चुनौती दी जा सकती है। किन्तु इस विरोधाभास का समाधान सरलता से किया जा सकता है। सारतत्व की अभी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हुई है; वह अपने को देश और काल में व्यक्त कर रहे हैं। प्रेम भी सत्ता की भाँति, जिसका कि वह सार है, गत्यात्मक है।[19] यह सम्भव है कि बोस ने यह धारणा कि प्रेम सत्ता का सार है केम्ब्रिज के नवहेगेलवादी दार्शनिक मैकटागार्ट से ग्रहण की थी।

चूँकि बोस ने सत्ता को प्रेम के रूप में देखा, इससे प्रकट होता है कि सत्ता के सम्बन्ध में उनका

---

17 बोस ने *An Indian Pilgrim* के दो अनुच्छेदों में स्पेंसर, हार्टमन, बर्गसाँ और हेगेल का उल्लेख किया है। इनके सम्बन्ध में बोस के विचार सामान्य प्रकार के हैं। ऐसा लगता है कि उनका स्रोत वार्तालाप तथा दर्शन के इतिहास पर ग्रन्थों का अध्ययन था, न कि मूल ग्रन्थों का अनुशीलन।

18 वही, पृ. 144.

19 वही, पृ. 142.

दृष्टिकोण मानवतावादी था। वे सत्ता के उन गुणों से अधिक प्रभावित नहीं थे जिनकी अभिव्यक्ति ब्रह्माण्ड में होती है, वे उसके उस रूप से अधिक आकृष्ट हुए थे जो मानव जाति के रूप में व्यक्त हुआ है। सत्ता की यह धारणा जो प्रेम को उसका सार मानती है वैष्णव दर्शन से समान हैं। अरविन्द आनन्द को सत्ता का परम सार मानते हैं, किन्तु बोस वैष्णवों के आस्तिकवाद के अनुयायी हैं इसलिए वे आनन्द को नहीं, प्रेम को सत्ता का मूल स्वभाव समझते हैं। यह भी सम्भव है कि उन पर अप्रत्यक्ष रूप से ईसाइयत की प्रेम की धारणा का भी प्रभाव पड़ा हो।

बोस की सत्ता-विषयक धारणा से, जिसे उन्होंने मैकटागार्ट से सीखा था, प्रतीत होता है कि उनका दृष्टिकोण अस्तित्ववादी भी है। उन्हें जीवन से अनुराग है। वे प्रत्ययवादी नहीं हैं। उन्हें वेदान्त की इस धारणा से सहानुभूति नहीं है कि ब्रह्म एक निर्गुण तथा अनिर्वचनीय आध्यात्मिक सत्ता है। वे अपने को इस सीमा तक व्यवहारवादी कहते हैं कि वे सत्ता की उस धारणा को स्वीकार करना चाहते हैं जिसके अनुसार जीवन को ढाल सकना सम्भव हो सके।

बोस को विचारों की सृजनात्मक शक्ति में विश्वास था। कभी-कभी वे इस धारणा को भी स्वीकार करते थे कि विचारों की अन्तःशक्ति स्वयंचालित होती है।[20] प्रायः वे आस्तिक भक्त की भाँति ईश्वर की असीम महिमा तथा शक्ति का भी अनुभव करते थे और उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि मनुष्य ईश्वर के हाथों में एक लघु मूर्ति है।[21]

3. भारतीय इतिहास पर बोस के विचार

यद्यपि अपनी किशोरावस्था में बोस वेदान्त दर्शन के प्रशंसक थे, किन्तु धीरे-धीरे वे सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थवादी बन गये। तिलक की भाँति वे भी कर्म के समर्थक थे। वे आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की प्रविधियों को अपनाने के पक्ष में थे। विवेकानन्द की भाँति उनका भी विश्वास था कि अतिशय अहिंसा भारत के पराभव के लिए उत्तरदायी थी। भारत की शक्ति के ह्रास के कारणों का विश्लेषण करते हुए बोस ने लिखा था, "अन्त में, वह क्या चीज है जिसके कारण भारत का भौतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में पतन हुआ है? उसका भाग्य तथा अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास, आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के सम्बन्ध में उसकी उदासीनता, आधुनिक युद्ध-विज्ञान में उसका पिछड़ापन, उसके परवर्ती दर्शन से उत्पन्न शान्तिमय सन्तोष की भावना तथा अहिंसा का पालन जो हास्यास्पद सीमा तक पहुँच गया है—ये सब भारत के पराभव के कारण हैं।"[22]

बोस का विचार है कि भारतीय राजनीति में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के पारस्परिक भेदभाव तथा अलगाव के सम्बन्ध में जो शोरगुल मचाया जाता है वह "बहुत कुछ कृत्रिम चीज" है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना से पहले की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को मुसलिम व्यवस्था कहना अनुपयुक्त है, क्योंकि दिल्ली में केन्द्रीय प्रशासन तथा प्रान्तीय प्रशासन, दोनों ही क्षेत्रों में अनेक प्रभावशाली हिन्दुओं का मुसलिम शासन के साथ संयोग था।[23]

बोस का कहना था कि बंगाल कुछ सीमा तक अनुपम है। वह भारत के अन्य भागों से भिन्न

---

20 'तरुण के स्वप्न'। 26 जनवरी, 1940 को बोस ने बंगाल के गवर्नर को एक पत्र में लिखा था, "इस संसार में हर वस्तु नाश को प्राप्त होती है और होगी—किन्तु विचार, आदर्श तथा स्वप्न नष्ट नहीं होते। किसी एक व्यक्ति को एक विचार के लिए भले ही मरना पड़े—किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त वह विचार हजारों व्यक्तियों के रूप में अवतरित होगा। इसी प्रकार विकास का चक्र घूमता रहता है और एक पीढ़ी अपने विचारों और स्वप्नों को दूसरी पीढ़ी को विरासत के रूप में देती रहती है।"

21 वही।

22 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle* (1920-1934), पृ. 192.

23 भारत के इतिहास पर मनन करके बोस ने निम्नलिखित छह सामान्य निष्कर्ष निकाले :
(1) "उत्थान के एक युग के बाद पतन का काल आया है और उसके बाद फिर नया विप्लव हुआ है।
(2) पतन मुख्यतः शारीरिक तथा बौद्धिक थकान का परिणाम होता है।
(3) प्रगति तथा नवीन दृढ़ीकरण नये विचारों के अन्तरागमन और कभी-कभी नये रक्त के सम्मिश्रण के फलस्वरूप सम्भव हुआ है।
(4) प्रत्येक नवीन युग के अग्रदूत वे लोग रहे हैं जो बौद्धिक प्रतिभा तथा सैनिक चतुराई में दूसरों से श्रेष्ठ थे।
(5) भारत के सम्पूर्ण इतिहास में विदेशी तत्वों को धीरे-धीरे भारतीय समाज में आत्मसात कर लिया गया है। अँग्रेजी इसके प्रथम तथा एकमात्र अपवाद हैं।
(6) केन्द्रीय शासन में परिवर्तनों के बावजूद जनता सदैव बहुत अंश में वास्तविक स्वतन्त्रता की अभ्यस्त रही है।"

है । इस विशिष्टता का कारण यह है कि बंगाल की जनसंख्या में आर्य, द्रविड़ तथा मंगोल, इन तीन जातियों का समन्वय है । इस जातीय समन्वय के कारण बंगाल की प्रतिभा का व्यापक रूप से प्रस्फुटन हुआ है । आर्यों का आदर्शवाद तथा धर्मनिष्ठा, द्रविड़ों का कलात्मक कौशल तथा भक्ति भावना, और मंगोलों का चातुर्य तथा यथार्थवाद, इन सबने मिलकर बंगाल के चरित्र की मुख्य प्रवृत्तियों का निर्माण किया है ।[24] बोस ने बतलाया कि बंगाल की संस्कृति में तीन प्रमुख धाराएँ हैं—(1) तंत्रवाद, (2) वैष्णव धर्म, तथा (3) नव्य न्याय और रघुनन्दन की स्मृति । तंत्र के कारण बंगालियों का तिब्बतियों तथा अन्य पर्वतीय जातियों के साथ साम्य है । वैष्णव धर्म की वजह से बंगाल का द्रविड़ जातियों के साथ बन्धुत्व है ।[25]

4. सुभाषचन्द्र बोस के राजनीतिक विचार

बोस के जीवन तथा दर्शन में जो परिवर्तन हुआ वह बहुत रोचक है । उन्होंने एक आध्यात्मिक आदर्शवादी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और अन्त में राजनीतिक यथार्थवादी बन गये ।[26] उन्हें राजनीतिक तथा नैतिक प्रश्नों को मिश्रित करना पसन्द नहीं था । वे गान्धीवादी राजनीतिक विचारों तथा कार्यपद्धति के आलोचक थे, क्योंकि वे समझते थे कि गान्धीवाद में राजनीति को उसके अपने स्तर पर समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता । वे स्वयं लिखते हैं, "हमें सम्राट का जो देय है वह सम्राट को देना है ।"[27] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ईसामसीह ने कहा था कि मनुष्य को ईश्वर तथा सम्राट दोनों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, उसी प्रकार बोस चाहते थे कि मनुष्य को अपने नैतिक तथा राजनीतिक दोनों ही प्रकार के दायित्वों को पूरा करना है । इस प्रकार हम देखते हैं कि बोस को राजनीति के सम्बन्ध में वह नैतिक दृष्टिकोण पसन्द नहीं था जिसका सैद्धान्तिक स्तर पर प्लेटो, सिसेरो और ग्रीन ने प्रतिपादन किया था और जिसका व्यावहारिक स्तर पर गोखले और गान्धी ने अनुकरण किया था । वे राजनीतिक यथार्थवाद के मूल्य को समझते थे और धार्मिक तथा राजनीतिक मामलों को मिश्रित करने के पक्ष में नहीं थे । यथार्थवादी होने के नाते बोस राजनीतिक सौदाकारी में भी विश्वास करते थे । उन्होंने लिखा है, "राजनीतिक सौदाकारों का रहस्य यह है कि आप जितने शक्तिशाली हैं उससे अधिक शक्तिशाली जान पड़ें ।"[28] गान्धीजी ने 1931 में लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर अपनी नीति जिस नम्रता और खुले हृदय से सबके सम्मुख खोलकर रख दी थी वह बोस को पसन्द नहीं आयी थी । उनका विचार था कि गोलमेज सम्मेलन में गान्धीजी को राजनीतिक शक्ति के स्वर में बोलना चाहिए था । बोस ने लिखा है, "इसके विपरीत यदि महात्माजी अधिनायक स्तालिन, ड्यूस मुसोलिनी अथवा फ्यूरर हिटलर की भाषा में बोलते तो जॉन बुल (अँग्रेज) उनकी बात को समझता और श्रद्धा से अपना सिर झुका लेता ।[29] अतः संक्षेप में बोस राजनीतिज्ञ थे न कि नैतिकतावादी अथवा दार्शनिक । वे इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे कि मनुष्य को राजनीतिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं का सामना करने के योग्य बनना चाहिए ।

राष्ट्र-निर्माण के काम में भारी कष्ट सहने पड़ते हैं और त्याग करना पड़ता है । बोस ने दृढ़ता से घोषणा की थी कि उपयोगिता अथवा कार्यसाधकता के आधार पर राष्ट्र निर्मित नहीं किया जा सकता । एडमण्ड बर्क तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुयायी थे ।[30] किन्तु बोस का कहना था कि राष्ट्र के पुनर्निर्माण का वास्तविक कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब

---

24 बोस, 'तरुण के स्वप्न' ।
25 वही ।
26 *An Indian Pilgrim* में बोस ने लिखा है कि जब वे कैम्ब्रिज में थे उस समय उन्होंने बिस्मार्क की *Autobiography*, मैटरनिख के *Memoirs*, कावूर के *Letters* आदि पढ़े थे । इन ग्रन्थों के अनुशीलन से "मेरी राजनीतिक सूझ को उत्तेजना मिली थी ।" (पृ. 122) । 1939 में त्रिपुरा में अपने अध्यक्षीय भाषण में बोस ने कहा था कि मैं एक पक्के यथार्थवादी के रूप में बात कर रहा हूँ । उनका आग्रह था कि परिस्थिति को पूर्णतः यथार्थवादी ढंग से देखना चाहिए ।
27 बोस, *The Indian Struggle*, पृ. 409.
28 वही, पृ. 320.
29 वही ।
30 *An Indian Pilgrim*, पृ. 134.

लोगों में "हैम्पडन और क्रॉमवेल जैसा अविचल आदर्शवाद हो।"[31] उन्होंने विवेकानन्द के इस कथन को दुहराया कि विना त्याग के साक्षात्कार नहीं हो सकता। उनकी दृढ़ धारणा थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए घोरतम कष्ट उठाने पड़ेंगे। बोस यह भी मानते थे कि स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए महान नैतिक तैयारियों की आवश्यकता है। इस प्रकार यद्यपि विदेशी नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी था, किन्तु वे मानते थे कि भारतीय जनता की आत्म-त्याग तथा कष्ट-सहन के विना सफलता नहीं मिल सकती।

बोस को कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता सन्तुष्ट नहीं कर सकती थी। इसमें सन्देह नहीं कि वे देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की तात्कालिक आवश्यकता को स्वीकार करते थे, किन्तु यथार्थवादी होने के नाते वे इस बात को भली-भाँति समझते थे कि जमींदारों तथा किसानों, पूंजपतियों तथा मजदूरों, अमीरों तथा गरीबों के 'आन्तरिक सामाजिक संघर्ष' को स्थगित नहीं किया जा सकता। उनका यह भी विचार था कि भारतीय समाज के धनी वर्ग ब्रिटिश सरकार के पक्ष में सम्मिलित हो जायेंगे। उन्होंने लिखा था, "इसलिए इतिहास का न्याय अनिवार्यतः अपने मार्ग का अनुसरण करेगा, राजनीतिक संघर्ष तथा सामाजिक संघर्ष साथ-साथ चलना पड़ेगा। जो दल भारत के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा वही दल जनता को सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता भी दिलायेगा।"[32] शताब्दी के चतुर्थ दशक में बोस वामवादी (वामपंथी) शक्तियों के माने हुए नेता थे।[33] उनके वामपंथ के दो पहलू थे। तृतीय दशक के अन्तिम वर्षों में उनके वामवाद (वामपंथ) का अभिप्राय औपनिवेशिक स्वराज की माँग का विरोध करना था।[34] अन्य नेताओं से मिलकर बोस ने पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया। चतुर्थ दशक में तथा उसके वाद बोस के वामवाद ने स्पष्टतः आर्थिक रूप धारण कर लिया। 19 मार्च, 1904 में रामगढ़ में हुए अखिल भारतीय समझौता-विरोधी सम्मेलन में भाषण देते हुए बोस ने कहा था, "यहाँ पर यह समझाने के लिए कि वामवाद से हमारा अभिप्राय: क्या है, दो शब्द कहना आवश्यक है। वर्तमान युग हमारे आन्दोलन की साम्राज्य-वाद-विरोधी अवस्था है। इस युग में हमारा मुख्य काम साम्राज्यवाद का अन्त करना तथा भारतीय जनता के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। जब स्वतन्त्रता मिल जायगी तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का युग प्रारम्भ होगा, और वह हमारे आन्दोलन की समाजवादी अवस्था होगी। वर्तमान अवस्था में वामवादी न कहलायेंगे जो साम्राज्य के विरुद्ध विना किसी प्रकार का समझौता किये संघर्ष जारी रखेंगे। जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में डगमगाते और हिचकिचाते हैं, उन्हें किसी भी रूप में वामवादी नहीं कहा जा सकता। हमारे आन्दोलन की अगली अवस्था में वामवाद समाजवाद का पर्यायवाची होगा—किन्तु वर्तमान अवस्था में 'वामवादी' और 'साम्राज्यवाद-विरोधी' का एक ही अर्थ है। बोस ने कभी परम्परावादी मार्क्सवाद को अंगीकार नहीं किया। उनकी हिन्दू आध्यात्मवादी दर्शन की तत्वशास्त्रीय धारणाओं में इतनी गहरी आस्था थी कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उनकी आत्मा को कभी सन्तोष नहीं दे सकता था। किन्तु उन्होंने समाजवादी विचार-धारा का समर्थन किया। हरिपुरा कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, "मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि हमारी दरिद्रता, निरक्षरता, और बीमारी के उन्मूलन तथा वैज्ञानिक उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित समस्याओं का प्रभावकारी समाधान समाजवादी मार्ग पर चलकर ही प्राप्त किया जा सकता है।[35] उनका कहना था कि दरिद्रता तथा निरक्षरता का उन्मूलन राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मुख्य काम हैं। उन्होंने जमींदारी का उन्मूलन तथा किसानों की ऋणग्रस्तता का अन्त करने तथा देहाती क्षेत्रों में सस्ते ऋण की व्यवस्था करने का समर्थन किया। उन्हें सहकारी आन्दोलन के प्रसार में विश्वास था। वे कृषि में वैज्ञानिक प्रणालियों को अपनाने के

---

31 वही।
32 बोस, *The Indian Struggle*, पृ. 413-14.
33 वही, पृ. 45, 46, 55.
34 पट्टाभि सीतारामय्या, *History of the Indian National Congress*, जिल्द 1, पृष्ठ 330-31 (बम्बई, पद्मा पब्लीकेशन्स, 1946)।
35 *The Indian Annual Register*, 1938, जिल्द 1, पृ. 340 पर उद्धृत।

पक्ष में भी थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि राजकीय स्वामित्व तथा राजकीय नियन्त्रण के अन्तर्गत औद्योगिक विकास करने के लिए व्यापक योजना तैयार की जाय। हरिपुरा के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने समाजवाद में अपनी आस्था स्पष्ट रूप से व्यक्त करदी थी। उन्होंने कहा, "राज्य को योजना आयोग की सलाह से खेती तथा उद्योग की व्यवस्था के उत्पादन तथा वितरण दोनों ही क्षेत्रों में धीरे-धीरे समाजीकरण करने की व्यापक योजना अपनानी पड़ेगी।"[36] उन्होंने बतलाया कि यद्यपि समाजवाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए तात्कालिक ससस्या नहीं है, फिर भी समाजवादी प्रचार आवश्यक है जिससे कि स्वतन्त्रता मिलने पर देश समाजवाद के लिए तैयार हो सके।[37] बोस मजदूर वर्ग के हितों के समर्थक थे।[38] उनके कुछ विरोधियों को, जिन्होंने उन्हें फासीवादी कहा था, उनके वामवाद में सन्देह था। यह सत्य है कि बोस ने अपने आर्थिक विचारों की उच्च सैद्धान्तिक स्तर पर कभी व्याख्या नहीं की। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे श्रमिक वर्गों की आकांक्षाओं तथा हितों को अधिकाधिक मान्यता देने के पक्ष में थे।

बोस को पूर्ण विश्वास था कि साम्यवाद भारत में सफल नहीं हो सकता। चूँकि साम्यवाद राष्ट्रवाद को केवल पूँजीवाद की एक गौण उपज मानता है, इसलिए भारत के राष्ट्रवादी तत्वों का उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता। उनकी यह भी भावना थी कि भारतीय जनता की धर्म-विरोधी तथा नास्तिक साम्यवाद के साथ सहानुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि इस देश में लोगों की धर्म के प्रति वैसी भावात्मक शत्रुता नहीं है जैसी कि रूसियों के मन में जार की स्वेच्छाचारिता का समर्थन करने वाले परम्परावादी चर्च के प्रति थी। जो लोग साम्यवाद के आर्थिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं वे भी ऐतिहासिक भौतिकवाद के समाजशास्त्र को अंगीकार करने में हिचकिचायेंगे। मार्क्सवादी आर्थिक तत्व को अतिशय महत्व देते हैं, बोस उसका समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे।[39] उनका यह भी कहना था कि साम्यवाद का मुद्रा-सम्बन्धी सिद्धान्त[40] के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं है, उस विषय में उसने परम्परावादी अर्थशास्त्र का भी अनुगमन किया है।[41] बोस की भावना थी कि स्वतन्त्र भारत में राज्य जनता का साधन होगा इसलिए यहाँ वर्ग-संघर्ष की कहानी को दुहराने की आवश्यकता नहीं होगी जैसा कि सोवियत रूस में हुआ था।[42] रूस में मजदूर वर्ग की समस्याओं को अधिक महत्व दिया गया था, किन्तु भारत में किसानों की बहुसंख्या है, इसलिए यहाँ उनकी समस्याओं का मजदूरों की समस्याओं से कहीं अधिक महत्व होगा।[43]

सुभाष बोस को आशा थी कि भारत में वामवादी दल की शक्ति बढ़ेगी, क्योंकि गान्धीजी के नेतृत्व में कांग्रेस एक ऐसा संगठन है जो सामाजिक दृष्टि से भिन्न बल्कि परस्पर-विरोधी तत्वों को किसी न किसी प्रकार एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिए उन्होंने नये दल के लिए, जिससे उन्हें आशा थी, निम्नलिखित कार्यक्रम तैयार किया जिसमें एक दृष्टि से उनके राजनीतिक विचारों का सार निहित है :

(1) दल जनता के अर्थात किसानों और मजदूरों के हितों का समर्थन करेगा, न कि जमींदारों, पूँजीपतियों और साहूकारी वर्गों के निहित स्वार्थों का।

(2) वह भारतीय जनता की पूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति के लिए कार्य करेगा।

(3) वह अन्तिम उद्देश्य के रूप में संघात्मक शासन का समर्थन करेगा, किन्तु आगामी कुछ

---

36 वही, पृ. 341.

37 वही, पृ. 346.

38 जनरल मोहनसिंह ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नेताजी मार्क्सवादी क्रान्तिकारी थे। देखिये 'Netaji' *Congress Unmasked*, अध्याय 9, पृष्ठ 119-38।

39 *The Indian Struggle* : 1935-1942, पृष्ठ 120.

40 बास सिलविओ वैसिल द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्र मुद्रा के सिद्धान्त के प्रशंसक थे। देखिये *The Indian Struggle*, 1935-1942, पृ. 72.

41 वही, पृ. 431-32.

42 वही, पृ. 120.

43 वही।

वर्षों तक वह अधिनायकवादी शक्तियों से सम्पन्न एक मजबूत केन्द्रीय सरकार में विश्वास करेगा जिससे कि भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सके।[44]

(4) देश के खेतिहर तथा औद्योगिक जीवन का पुर्नसंगठन करने के लिए उसे राजकीय नियोजन की सुदृढ़ तथा समुचित व्यवस्था में विश्वास होगा।

(5) वह नयी सामाजिक व्यवस्था का उन पुराने गाँव समाजों के आधार पर निर्माण करने का प्रयत्न करेगा जिनमें गाँव-पंच शासन करते थे। इसके अतिरिक्त वह जाति जैसी वर्तमान सामाजिक दीवारों को ध्वस्त करने की भी चेष्टा करेगा।

(6) वह आधुनिक संसार में प्रचलित सिद्धान्तों तथा प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए एक नयी मुद्रा-व्यवस्था की स्थापना करने का प्रयत्न करेगा।

(7) वह जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने तथा सम्पूर्ण भारत में एकसी भूमि-व्यवस्था कायम करने की कोशिश करेगा।

(8) वह उस प्रकार के लोकतन्त्र का समर्थन नहीं करेगा जैसा कि विक्टोरिया के शासन-काल के मध्य में इंगलैण्ड में प्रचलित था। वह एक ऐसे शक्तिशाली दल के शासन में विश्वास करेगा जो सैनिक अनुशासन के द्वारा परस्पर आबद्ध होगा। जब भारतवासी स्वतन्त्र हो जायेंगे और उन्हें पूर्णतः अपने साधनों पर ही निर्भर रहना होगा उस समय देश की एकता को कायम रखने तथा अराजकता को रोकने का यही एकमात्र साधन होगा।

(9) भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष को मजबूत बनाने के लिए वह अपने आन्दोलन को भारत के भीतर तक ही सीमित नहीं रखेगा, बल्कि वह अन्तरराष्ट्रीय प्रचार का भी सहारा लेगा और उसके लिए विद्यमान अन्तरराष्ट्रीय संगठन का प्रयोग करने का प्रयत्न करेगा।

(10) वह सब उग्रवादी संगठनों को एक राष्ट्रीय कार्यपालिका के अन्तर्गत संगठित करने का प्रयत्न करेगा जिससे जब कभी कोई कार्यवाही की जाय तो अनेक मोर्चों पर एक साथ कार्य किया जा सके।[45]

5. बोस द्वारा गान्धीवादी विचारों तथा कार्यप्रणाली की आलोचना

सुभाष बोस के मन में गान्धीजी के चरित्र तथा व्यक्तित्व के लिए गहरा सम्मान था। 6 जुलाई, 1944 को रंगून रेडियो से एक प्रसारण में उन्होंने महात्माजी को राष्ट्रपिता कहकर अभिनन्दन किया और उनसे भारत के स्वाधीनता संग्राम में सफलता के लिए आशीर्वाद माँगा। वे गान्धीजी की सत्यनिष्ठा तथा चारित्रिक पवित्रता की प्रशंसा किया करते थे। बोस उनकी "अनन्य भक्ति, उनकी दुर्दमनीय इच्छाशक्ति तथा अथक क्रियाशीलता के समक्ष शीश नवाते थे।"[46] वे उनके मानवतावादी दृष्टिकोण तथा अनभिद्रोह की भावना की सराहना किया करते थे।[47] उन्होंने स्वीकार किया था कि कांग्रेस को सुदृढ़ बनाने तथा जनता में व्यापक जागृति उत्पन्न करने के लिए गान्धीजी ने महान कार्य किया है। किन्तु वे कभी गान्धीवादी नहीं बन सके। उनका कहना था कि गान्धीवाद का सम्बन्ध केवल कार्यप्रणाली अर्थात सत्याग्रह से है, उसका कोई सामाजिक दर्शन अथवा सामाजिक पुर्ननिर्माण का कोई कार्यक्रम नहीं है।[48] उन्होंने गान्धीजी के विचारों तथा कार्यप्रणाली का पाँच आधारों पर विरोध किया।[49]

राजनीतिक यथार्थवादी होने के नाते बोस गान्धीजी के अतिशय नैतिक आदर्शवाद की सराहना न कर सके। उनकी भावना थी कि प्रयोजन की शुद्धता के सम्बन्ध में सूक्ष्म नैतिक छान-

---

44 यह कार्यक्रम जिसमें अधिनायकतन्त्री शक्तियों से सम्पन्न शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार पर बल दिया गया था, बोस की फासीवादी मनोवृत्ति का द्योतक है।

45 बोस, *The Indian Struggle*, पृ. 428-29.

46 वही, पृष्ठ 408.

47 वही, पृष्ठ 408-9.

48 वही, पृष्ठ 483.

49 सुभाषचन्द्र बोस, 'The Role of Mahatma Gandhi in Indian History,' *The Indian Struggle*, अध्याय 16, पृ. 906-14.

वीन में फँसने से राजनीतिक समस्याएँ उलझ जाती हैं। उनका विश्वास था कि राजनीतिक कार्य में सफलता के लिए सौदागरों की चालों की आवश्यकता होती है और वाह्य आडम्बर बनाना पड़ता है। बोस का कहना था कि गान्धीजी दोहरी भूमिका अदा कर रहे हैं—वे भारतीय जनता के राजनीतिक नेता हैं और साथ ही साथ अहिंसा के नैतिक जगद्गुरू हैं। इससे भारी उलझन और भ्रम उत्पन्न हुआ है और महात्माजी दोहरी भूमिका सफलतापूर्वक अदा नहीं कर सके हैं क्योंकि एक व्यक्ति के लिए दो भूमिकाएँ अदा करना सदैव आसान नहीं है।[50] चूँकि समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण तत्वत: नैतिक है, इसलिए वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और प्रतिक्रियावादियों की कुटिल चालों तथा षड़यंत्रों को समझने में असफल रहे हैं। महात्माजी की शक्ति इसमें निहित है कि अपनी जनता की मन:स्थिति की भी उन्हें बुनियादी समझ है, किन्तु वे अपने विरोधियों की मनोवृत्ति को समझने में असफल रहे हैं।

बोस के अनुसार गान्धीवाद का ज्ञानशास्त्रीय आधार 'अबुद्धिवाद' था। चूँकि गान्धीजी को ईश्वर के करुणामय शिवत्व में विश्वास था इसलिए वे कहा करते थे कि 'मेरे लिए एक कदम पर्याप्त है।' उन्हें आशा थी कि शुद्ध साधनों से कल्याणकारी उद्देश्य अनिवार्यत: सिद्ध हो जायँगे। किन्तु बोस स्वयं राजनीतिक यथार्थवादी थे, इसलिए वे चाहते थे कि राष्ट्र के राजनीतिक उद्देश्यों का एक बुद्धिसंगत चार्ट तैयार किया जाय और उसको साक्षात्कृत करने के लिए आवश्यक साधनों को समझबूझकर निर्धारित किया जाय। बोस गान्धीजी के राजनीतिक विचारों के अन्त:प्रज्ञात्मक आधारों को समझने में असफल रहे। गान्धीजी अन्तरात्मा की नीरव पुकार को सुनने के अभ्यस्त थे, किन्तु बोस को कूटनीतिक गुन्ताड़ो और राजनीतिक शक्ति में विश्वास था। उनके विचार में स्वराज दल का उत्थान गान्धीवाद के विरुद्ध बुद्धिवादी प्रतिक्रिया का द्योतक था।[51] उनकी भावना थी कि चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू तथा लाला लाजपतराय की मृत्यु से गान्धीवादी अबुद्धिवाद के प्रभुत्व के लिए मंच खाली हो गया था।[52] बुद्धिवादी वर्ग के कुछ प्रभावशाली तत्व प्रारम्भ में गान्धीजी के विरुद्ध थे किन्तु जनता में पैगम्बर के लिए जो उन्मादपूर्ण श्रद्धापूर्ण भावनाएँ थीं उन्होंने उनके विरोध को कुचल दिया था।

बोस की भावना थी कि केवल अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनका कहना था कि अहिंसात्मक सत्याग्रह में लोकमत को उभाड़ने की क्षमता होती है, किन्तु केवल उसके बलबूते पर स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की जा सकती। बोस का विचार था कि अहिंसा के पूरक के रूप में दो अन्य कार्य-प्रणालियों का प्रयोग किया जाना चाहिए : (क) कूटनीति, तथा (ख) अन्तरराष्ट्रीय प्रचार।[53] वे अपने राजनीतिक गुरु[54] चितरंजनदास, तथा मोतीलाल नेहरू की कूटनीतिक प्रणालियों तथा योग्यता की सराहना किया करते थे। गान्धीजी देश में ठोस रचनात्मक कार्य करने में विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि कार्य ही सबसे अच्छा प्रचार है। बोस का विचार था कि जब गान्धीजी को द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की निरर्थकता स्पष्ट हो गयी थी तो उन्हें चाहिए था कि उसी समय उसके अधिवेशनों को छोड़ कर चले जाते और सम्मेलन के खोखलेपन का भंडाफोड़ करने के लिए अमेरिका तथा यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा पर निकल पड़ते।

गान्धीजी ने सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया था, इसलिए उन्होंने विभिन्न वर्गों की पारस्परिक शत्रुता को कम करने के लिए सामाजिक सामंजस्य तथा मेल-मिलाप का समर्थन किया। वे जमींदार तथा किसान, पूँजीपति और मजदूर सभी के प्रतिनिधि बनना चाहते थे। इसके विपरीत बोस धनिकों तथा निर्धनों के बीच सामाजिक संघर्ष को अत्यावश्यक मानते थे।

---

50 वही, पृ. 322.
51 वही, पृ. 164.
52 वही, पृ. 90-91, 104.
53 सुभाषचन्द्र बोस ने 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में इस बात का समर्थन किया था कि कांग्रेस को यूरोप, एशिया, अफ्रीका तथा उत्तरी, मध्य और दक्षिणी अमेरिका में अपने विश्वसनीय प्रतिनिधि भेजने चाहिए। वे चाहते थे कि व्यापक पैमाने पर अन्तरराष्ट्रीय सम्पर्क कायम किये जायँ।
54 बोस ने त्रिपुरा कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में चितरंजनदास को अपना 'गुरु' बतलाया था।

उनकी भावना थी कि देश के धनी तथा समृद्ध वर्ग अनिवार्यत: विदेशी साम्राज्यवादियों के पक्ष में सम्मिलित हो जायँगे इसलिए वे इसके विरुद्ध थे कि गान्धीवाद के अन्तर्गत देश के विभिन्न विषमांग तत्वों को एक ही स्थान पर एकत्रित किया जाय। उन्हें आशा थी कि एक ऐसा वामपंथी दल निश्चय ही उदित होगा जो अधिक जुझारू और उग्र तत्वों को संघटित कर सकेगा। ऐसा दल गान्धीवादी नेतृत्व से बाहर रहकर देश की स्वाधीनता प्राप्त करने में सफल होगा। अपनी पुस्तक 'द इण्डियन स्ट्रगल' (भारतीय संघर्ष) के अन्त में बोस ने लिखा है : "किन्तु भारत को महात्मा गान्धी के नेतृत्व में मुक्ति नहीं मिल सकती।"[55] इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि बोस एक ऐसे पैगम्बर थे जिनकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई।[56]

बोस का विचार था कि गान्धीजी ने चेतन अथवा अचेतन रूप में भारतीय जनता की सामूहिक मनोवृत्ति के कुछ तत्वों को उभाड़कर अनुचित लाभ उठाया था। इसके लिए बोस गान्धीजी की आलोचना किया करते थे। भारतीय जनता के मन में सन्तों तथा ऋषियों के लिए अगाध श्रद्धा है। गान्धीजी ने सन्त की वेशभूषा अपनाली थी। यही कारण था कि उन्हें जनता का समर्थन तथा आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली। बोस की भावना थी कि जनता की भावनाओं का इस प्रकार प्रयोग करने से देश में स्वतन्त्र चिन्तन तथा वस्तुगत विश्लेषण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिला; यह तो एक बुद्धिशून्य राजनीतिक प्रणाली थी।

6. क्या बोस फासीवादी थे ?

बोस को राजनीतिक यथार्थवाद में विश्वास था। उनकी बुद्धि बहुत ही कुशाग्र थी। उन्होंने स्वीकार किया कि भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में सहानुभूतिपूर्ण विश्वव्यापी लोकमत तैयार करने के लिए विदेशों में प्रचार करने की आवश्यकता है। इस प्रकार वे देश के बाहर भारत के लिए मित्रों की खोज करने में विश्वास करते थे।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बोस के मन में फासीवादी अधिनायकों के सबल तरीकों के प्रति भावनात्मक झुकाव था। 1934-35 में बोस ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संघर्ष' में लिखा था कि मुसौलिनी एक ऐसा व्यक्ति है जिसका आधुनिक यूरोप की राजनीति में विशेष महत्व है। 1931 में गान्धीजी ने इटली की यात्रा की और मुसौलिनी से भेंट की। इसको बोस ने बहुत ही महत्वपूर्ण माना। उन्होंने लिखा था, "गान्धीजी ने इटली की यात्रा करके महान सार्वजनिक सेवा की है। खेद की बात केवल यह है कि वे वहाँ और अधिक नहीं ठहरे तथा अधिक निजी सम्पर्क कायम नहीं किये।"[57]

बोस को इंगलैण्ड के विक्टोरिया-युगीन लोकतन्त्र की परम्परागत कार्य-प्रणाली में विश्वास नहीं था, और न वे उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस के पूँजीवादी गणतन्त्र के तरीकों को सन्तोषजनक

---

55 *The Indian Struggle*, पृष्ठ 414। जब 1933 में गान्धीजी ने आत्मशुद्धि के लिए 21 दिन का उपवास किया तो उस समय बोस और विट्ठलभाई पटेल ने विएना से एक संयुक्त वक्तव्य निकाला जिसमें उन्होंने कहा, "हमारा स्पष्ट मत है कि गान्धीजी एक राजनीतिक नेता के रूप में असफल हो चुके हैं। इसलिए वह समय आगया है जबकि कांग्रेस का नवीन सिद्धान्तों के आधार पर और नये तरीकों से क्रान्तिकारी पुनर्गठन किया जाय। उसके लिए एक नये नेता की आवश्यकता है, क्योंकि यह आशा करना अनुचित होगा कि श्री गान्धी ऐसे कार्यक्रम को कार्यान्वित कर सकेंगे जो उनके जीवन भर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।"

56 किन्तु बोस ने हरिपुरा में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए गान्धीजी की आवश्यकता है। उनका कथन था, "भारत इस स्थिति में नहीं है कि उन्हें छोड़ सके, और इस समय तो उन्हें निश्चय ही नहीं छोड़ा जा सकता। हमें उनकी आवश्यकता इसलिए है कि हमारा संघर्ष घृणा और वैमनस्य से मुक्त रह सके। हमें भारतीय स्वतन्त्रता के लिए उनकी आवश्यकता है। इससे भी अधिक हमें मानवजाति के हित के लिए उनकी आवश्यकता है।" सम्भवत: बोस श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए ये शब्द कह रहे थे।

57 *The Indian Struggle*, पृष्ठ 322। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि 1938 में जब सुभाषचन्द्र बोस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे उस समय उन्होंने "इस बात की स्वीकृति नहीं दी कि कांग्रेस कोई ऐसा काम करे जो जापान, जर्मनी अथवा इटली के विरुद्ध हो। फिर भी कांग्रेस में और देश में ऐसी भावना थी कि उन्होंने कांग्रेस द्वारा चीन तथा फासीवादियों और नात्सियों के आक्रमण के शिकार देशों के प्रति कांग्रेस द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति का विरोध नहीं किया। हमने उनकी अध्यक्षता के काल में अनेक प्रस्ताव पास किये और अनेक प्रदर्शनों का संगठन किया जिनका उन्होंने अनुमोदन नहीं किया, किन्तु उन्होंने उनको सहन कर लिया क्योंकि वे उनके पीछे जो भावनाएँ थीं उनकी शक्ति को समझते थे।"

मानते थे।[58] 1934 में उनका विचार था कि विश्व में राजनीतिक विचारधारा के विकास की अगली अवस्था फासीवाद तथा साम्यवाद के समन्वय की अवस्था होगी। इसी समन्वय को वे वास्तविक साम्यवाद मानते थे, और उनकी भावना थी कि भारत को उसे साक्षात्कृत करने के लिए प्रयत्न करने चाहिए। अपनी पुस्तक 'भारतीय संघर्ष' के 'भविष्य की एक झलक' नामक अध्याय में बोस लिखते हैं : "कम्यूनिज्म तथा फासीवाद के बीच वैषम्य के बावजूद कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो दोनों में सामान्यरूप से विद्यमान हैं। कम्यूनिज्म तथा फासीवाद दोनों व्यक्ति के ऊपर राज्य की सर्वोच्चता में विश्वास करते हैं। दोनों संसदीय लोकतन्त्र की निन्दा करते हैं। दोनों को दल के शासन में विश्वास है। दोनों दल के अधिनायकतन्त्र में तथा असहमत अल्पसंख्यकों का निर्मम रूप से दमन करने में विश्वास करते हैं। दोनों का देश के नियोजित औद्योगिक पुनस्संगठन में विश्वास है। ये उभयनिष्ठ विशेषताएँ नये समन्वय का आधार होंगी। इस समन्वय को लेखक ने 'साम्यवाद' का नाम दिया है। यह हिन्दी का शब्द है, जिसका अर्थ है 'समन्वय अथवा समानता का सिद्धान्त।' इस समन्वय का सम्पादन करना भारत का काम है।"[59]

फासीवाद तथा साम्यवाद के समन्वय की यह आशा विचित्र जान पड़ती है। बोस ने इस समन्वय के सैद्धान्तिक आधारों तथा व्यावहारिक निहितार्थों की विवेचना नहीं की है। बोस के दर्शन में यह अपूर्व परिवर्तन आश्चर्यजनक है। जो बोस एक समय वेदान्ती रहस्यवादी तथा प्रेम को परमसत्ता का स्वभाव मानने वाले थे, वही अब व्यक्ति को राज्य के अधीन बनाने की अनुमति देने को तैयार हैं। उनसे तो यह आशा की जाती थी कि वे व्यक्ति की स्वायत्तता तथा स्वत:स्फूर्ति का समर्थन करेंगे, और न स्वर्गीय देशबन्धु चितरंजनदास के शिष्य के मुख से असहमत अल्पसंख्यकों के क्रूर दमन की बात उचित प्रतीत होती है। फिर भी सुभाषचन्द्र के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उनके मन में भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लौह शृंखलाओं से मुक्त करने की जो तीव्र छटपटाहट थी उसी ने कम से कम कुछ अंशों में उन्हें फासीवादी विचारों का समर्थक बना दिया था।

क्या बोस फासीवादी थे ? इस प्रश्न के उत्तर 'हाँ' तथा 'नहीं' दोनों ही हैं। वे उग्र राष्ट्रवादी थे और देश की स्वतन्त्रता के लिए हिंसात्मक तरीकों का प्रयोग करने में विश्वास करते थे।[60] इसीलिए द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उन्होंने भारत की स्वाधीनता के लिए आजाद हिन्द फौज का संगठन किया। विश्व के अनेक देशों में स्वतन्त्रता के लिए हिंसात्मक संघर्ष चलाये गये हैं। स्वयं हिंसा पर फासीवाद का एकाधिकार नहीं है। किन्तु बोस का हिंसात्मक संग्राम इसलिए फासीवादी जान पड़ा कि उन्होंने यूरोप तथा एशिया की फासीवादी शक्तियों से सशस्त्र सहायता ली थी। राजनीतिक आचारनीति की दृष्टि से यह काम किसी भी प्रकार निन्दनीय नहीं था। कुछ भी सही, उन्हें फासीवादी इसी सीमित अर्थ में कहा जा सकता है कि उन्होंने फासीवादी शक्तियों से

---

58 बोस ने 10 जून, 1933 को लन्दन में तृतीय भारतीय राजनीतिक सम्मेलन के दौरान एक भाषण में लोकतन्त्र का डटकर समर्थन किया था। उन्होंने कहा था, "स्वतन्त्र भारत पूंजीपतियों, जमींदारों तथा जातियों का देश नहीं होगा। स्वतन्त्र भारत एक सामाजिक तथा राजनीतिक लोकतन्त्र होगा।" देखिये *The Indian Struggle* : 1935-1942, पृष्ठ 72। उस भाषण में उन्होंने प्यूरिटन क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति, मार्क्सवादी समाजवाद तथा रूसी क्रान्ति ने सभ्यता में जो योगदान दिया है उसकी प्रशंसा की है।

59 बोस, *The Indian Struggle*, पृ. 431। बोस ने नवम्बर 1944 में टोकियो के साम्राज्यीय विश्वविद्यालय में 'भारत की मूल समस्याएं' शीर्षक भाषण दिया था। उसमें उन्होंने फासीवाद, अथवा राष्ट्रीय समाजवाद और साम्यवाद के समन्वय पर बल दिया था। देखिये *The Indian Struggle* : 1935-1942, पृ. 119-20.

60 1941 में काबुल में किसी ने बोस से प्रश्न किया था; उसके उत्तर में उन्होंने कहा था, "जब तक देश में एक तीसरा पक्ष अर्थात अंग्रेज है तब तक इस फूट का अन्त नहीं हो सकता। वह बढ़ती ही जायगी। उसका अन्त तभी होगा जब भारत पर बीस वर्ष के लिए कोई अधिनायक शासन करेगा। ब्रिटिश शासन के समाप्त होने पर कम से कम कुछ वर्ष के लिए भारत में अधिनायतन्त्र अवश्य होना चाहिए। देश में अन्य कोई संविधान सफल नहीं हो सकता और यह भारत के हित में होगा कि प्रारम्भ में उस पर एक अधिनायक शासन करे। एक अधिनायक को छोड़कर अन्य कोई इस प्रकार की फूट को दूर नहीं कर सकता। भारत किसी एक रोग का शिकार नहीं है। वह इतनी राजनीतिक बीमारियों का शिकार है कि केवल एक निर्मम अधिनायक ही उसे स्वस्थ कर सकता है। भारत को एक कमालपाशा की आवश्यकता है।" 'हिन्दुस्तान टाइम्स', मार्च 8, 1946.

सहायता ली थी। उन्होंने 'नेता' की उपाधि ग्रहण की थी। यह शब्द जर्मन शब्द 'फ्यूरर' का संस्कृत तथा हिन्दी पर्यायवाची है। स्वयं में इस उपाधि को अपनाने का कोई विशेष महत्व नहीं था।[61] कदाचित उनकी सेना का प्रशासकीय संगठन फासीवादियों की सत्तावादी नेतृत्व की धारणा पर आधारित था, और उस लोकतांत्रिक नियन्त्रण के सिद्धान्त के विपरीत था जो कुछ अंशों में पाश्चात्य देशों के सैनिक संगठन में पाया जाता है।[62] किन्तु यदि यह सत्य भी हो, तो भी लोक-तंत्रीय राजनीतिक आचार की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है।

किन्तु बोस को फासीवाद के अतिवादी सिद्धान्तों में विश्वास नहीं था। उन्होंने कभी साम्राज्यवादी प्रसार का समर्थन नहीं किया,[63] और न कभी जातीय (नस्लगत) सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। वे जब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में रहे तब तक शोषित जनता के हितों का समर्थन करते रहे। अतः यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यदि उनके हाथों में राज-नीतिक शक्ति आ जाती तो वे जर्मनी और इटली के फासीवादियों की भाँति शोषक तथा प्रभुताशाली वर्गों से मिल जाते।

दार्शनिक क्षेत्र में बोस हेगेल के द्वन्द्वात्मक बौद्धिक विकास के सिद्धान्त में तथा वैष्णवों के प्रेम के आदर्श में विश्वास करते थे। इसलिए यह मान लेने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि वे फासीवादियों के उस अबुद्धिवादी दर्शन को, जिसमें नेता की इच्छा तथा अन्तःप्रज्ञा को शिरोधार्य किया जाता है, समानता तथा अन्तरराष्ट्रवाद के आदर्शों से श्रेष्ठ मान लेते। अतः यह स्पष्ट है कि बोस को फासीवादी दर्शन के कुछ आधारभूत दार्शनिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास नहीं था।[64] फिर भी वे फासीवादियों की संसदीय लोकतन्त्र की आलोचना से सहमत थे।

7. फॉरवर्ड ब्लॉक के राजनीतिक विचार

सुभाषचन्द्र बोस ने उन शक्तियों को प्रज्ज्वलित करने के उद्देश्य से फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना की जो भारत में ब्रिटिश शासन का विरोध करने तथा हर उपाय से उसका तत्काल अन्त करने के सिद्धान्त को स्वीकार करती थीं। वे यह नहीं चाहते थे कि उनका दल अहिंसा की तत्व-शास्त्रीय मीमांसा के झमेले में पड़े, उनका उद्देश्य था कि वह केवल भारतीय स्वतन्त्रता को तुरन्त प्राप्त करने के काम में संलग्न रहे। 1 जनवरी, 1941 को बोस ने फॉरवर्ड ब्लॉक के मुख्य सिद्धान्तों का सार इस प्रकार व्यक्त किया :

(1) पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा उसको प्राप्त करने के लिए अविचल साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष।

(2) एक पूर्णतः आधुनिक ढंग का समाजवादी राज्य।

(3) देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए वैज्ञानिक ढंग से बड़े पैमाने पर उत्पादन।

(4) उत्पादन तथा वितरण दोनों का सामाजिक स्वामित्व तथा नियन्त्रण।

(5) व्यक्ति को धार्मिक पूजापाठ में स्वतन्त्रता।

(6) हर व्यक्ति के लिए समान अधिकार।

(7) भारतीय समाज के हर वर्ग को भाषा विषयक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता।

(8) नवीन स्वतन्त्र भारत के निर्माण में समानता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को लागू करना।

यद्यपि इस विवरण में फासीवादी सिद्धान्तों को पूर्णतः मद्धिम कर दिया गया है, किन्तु इसमें राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की स्पष्ट घोषणा नहीं है। इसमें धार्मिक, सांस्कृतिक तथा भाषा

---

61 बोस ने 19 फरवरी, 1939 को हरिपुरा में जोर देकर कहा था कि स्वतन्त्रता के बाद के काल में कांग्रेस को अपनी लोकतांत्रिक स्थिति बनाये रखनी चाहिए। उसे नात्सी पार्टी आदि की तरह से, जो कि नेतृत्व के सिद्धान्त पर आधारित है, कार्य नहीं करना चाहिए। *The Indian Annual Register*, 1938, जिल्द 1, पृ. 340.

62 देखिये ह्यू ग टोई, *The Spring Tiger*, पृ. 86, 142, तथा इसके अतिरिक्त 'The Supreme Commander' शीर्षक अध्याय।

63 बोस के साम्राज्यवाद-विरोधी विचारों के लिए देखिये उनका लेख 'Japan's Role in the Far East', *Modern Review*, 1937.

64 *The Indian Struggle* : 1935-1942, पृ. 100-1.

विषयक स्वायत्तता तथा स्वतन्त्रता का शक्तिहीन शब्दों में उल्लेख मात्र है। अधिकारों की समानता को भी इनमें स्थान दिया गया है। किन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को शायद जान बूझकर छोड़ दिया गया है। एक अर्थ में कहा जा सकता है कि अधिकारों की समानता में राजनीतिक स्वतन्त्रता समाविष्ट है, किन्तु लोकतांत्रिक राजनीतिक दर्शन की दृष्टि से राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्पष्ट घोषणा अधिक सराहनीय होगी।

8. निष्कर्ष

राजनीतिक कार्यकर्ता तथा नेता के रूप में बोस ओजस्वी राष्ट्रवाद के समर्थक थे। देशभक्ति उनके व्यक्तित्व का सार तथा उनकी आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अनन्य राष्ट्रभक्ति पर बार-बार बल दिया गया है। उनका अपना प्रान्त बंगाल साम्प्रदायिक तनावों के फलस्वरूप क्षतविक्षत हो रहा था। बोस ने शुद्ध राष्ट्रवाद का सन्देश दिया और उसके लिए संघर्ष किया। देश में तथा देश के बाहर अपने समस्त कार्यकलाप में बोस ने निर्भीकता के साथ ऐसे राष्ट्रवाद का समर्थन किया जिसमें किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता के लिए कोई गुंजाइश न थी। यद्यपि बोस ने राष्ट्रवाद के सैद्धान्तिक विश्लेषण में कोई योग नहीं दिया है, फिर भी अपने प्रभावकारी नेतृत्व तथा महान कार्यात्मक प्रतिभा के द्वारा उन्होंने उस देश में राष्ट्र की सर्वोपरिता के आदर्श को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण सहायता दी है जिस पर सामन्तवाद, पुरोहितवाद और निरंकुश साम्राज्यवाद का आधिपत्य था।

भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में बोस का कोई उल्लेखनीय मौलिक योगदान नहीं है। किन्तु उनका महत्व इसमें है कि गान्धीजी तथा अन्य वामवादियों (वामपंथियों) की भाँति उन्होंने भी गम्भीर आर्थिक समस्याओं के तत्काल हल किये जाने पर जोर दिया है। राजनीतिक मुक्ति के कार्यक्रम में उन्होंने पूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन की मद जोड़ दी थी। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, अन्य नेताओं ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया था। किन्तु सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति तथा क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने में बोस का भी महत्वपूर्ण योगदान था, और इसके लिए उन्हें श्रेय मिलना चाहिए।

मेरी भावना है कि बोस ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संघर्ष' में साम्यवाद तथा फासीवाद के समन्वय की जो योजना कल्पित की है वह भारतीय जनता के दृष्टिकोण से अत्यधिक विकृत और कुत्सित विचारधारा सिद्ध होती है। भारतीय जनता को कभी भी ऊपर से थोपे गये सत्तावादी आदेशों के द्वारा मुक्त नहीं कराया जा सकता। केवल स्वतन्त्रता, स्वतःस्फूर्त कार्य, शिक्षा तथा आर्थिक विषमताओं के उन्मूलन के द्वारा ही इस देश के निवासियों को ऐसा अवसर दिया जा सकता है कि वे अपनी पीठ सीधी कर सकें। इटली तथा जर्मनी में फासीवाद और नात्सीवाद की जो विफलता हुई उसने ऐसे सर्वोच्च नेता के आदर्श का भंडाफोड़ कर दिया है जो अपने सैनिक अनुशासनबद्ध दल के द्वारा देश पर अपनी अन्तःप्रज्ञात्मक अनुभूतियों को थोपने का प्रयत्न करता है। मुझे बुद्ध की इस अन्तर्दृष्टि में विश्वास है कि घृणा तथा हिंसा अधिकतर घृणा तथा हिंसा को जन्म देते हैं। निश्चय ही मैं अतिशय शान्तिवाद का समर्थन नहीं करता, किन्तु मैं यह अवश्य मानता हूँ कि सत्तावादी देशों में दलगत अधिनायकतन्त्र की जो अतिशय बलात्कारी क्रूरता देखने को मिलती है वह एक विनाशकारी वस्तु है और मानव के राजनीतिक विकास में एक प्रतिगामी कदम है।

सुभाषचन्द्र बोस की महत्ता भारतीय इतिहास में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित रहेगी। बोस को उनकी ज्वलन्त देशभक्ति, देश को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शृंखलाओं से मुक्त कराने के आदर्श के प्रति उनकी लगभग उन्मादपूर्ण निष्ठा तथा राष्ट्र के लिए उन्होंने जो घोर कष्ट सहे उनके कारण सदैव प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय वीर के रूप में अभिनन्दित किया जायगा। किन्तु राजनीति-शास्त्र के शुद्ध शास्त्रीय सैद्धान्तिक अन्वेषण के क्षेत्र में उनका योगदान न महत्वपूर्ण है और न मौलिक। किन्तु उनके प्रति न्याय की दृष्टि से यह अवश्य कहना होगा कि उन्होंने व्यवस्थित ढंग के शास्त्रीय प्रतिपादन का भी दावा नहीं किया। वस्तुतः आधुनिक भारत में राजनीतिक चिन्तन अभी तक वैज्ञानिक वस्तुपरकता, सैद्धान्तिक प्रतिपादन की क्षमता तथा सूक्ष्म तार्किक मर्मज्ञता को, जो उच्चतम कोटि की सैद्धान्तिक रचनाओं के लिए आवश्यक हैं, प्राप्त नहीं कर पाया है। इसलिए देश में जो कुछ

राजनीतिक विचार हैं वे पाश्चात्य राजनीतिक विचारों के रूपान्तर तथा लोकप्रिय संस्करण हैं। हमारे देश में राजनीतिक विचार राजनीतिक नेताओं से उद्भूत होते हैं न कि निष्पक्ष शास्त्रीय विचारकों और समाजशास्त्रियों से। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक विरोधाभास है। सुभाषचन्द्र बोस ने भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त की जो सेवा की है उसका विश्लेषण तथा मूल्यांकन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि देश में अभी परिपक्व सैद्धान्तिक अन्वेषण की स्वतन्त्र परम्पराएँ विकसित नहीं हुई हैं, और दूसरे, बोस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहे। यद्यपि बोस मौलिक राजनीतिक विचारक नहीं थे फिर भी आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान पाने के इसलिए अधिकारी हैं कि उन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, समाजवाद तथा साम्यवाद और फासीवाद के समन्वय के विचारों को लोकप्रिय बनाया। कोई उनके विचारों से सहमत भले ही न हो, किन्तु चिन्तन के इतिहास में हमारा आदर्श सहमति नहीं है, हमें तो विचारों का निस्पृह विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना है।

21

मानवेन्द्रनाथ राय

1. प्रस्तावना

मानवेन्द्रनाथ राय (1886-1954) का जन्म 6 फरवरी, 1886 को हुआ था, और 25 जनवरी, 1954 को उनका देहान्त हुआ। उनका प्रारम्भिक नाम नरेन्द्र भट्टाचार्य था। वे अपने विद्यार्थी जीवन से ही क्रान्तिकारी बन गये थे। प्रारम्भ में उन पर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा दयानन्द सरस्वती का प्रभाव पड़ा था।[1] जिस समय बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन के कारण प्रचण्ड उथल-पुथल मची हुई थी, उसी काल में उन्हें राजनीतिक बोध हुआ और उन्होंने अपना राजनीतिक कार्यकलाप प्रारम्भ कर दिया। उनके मन में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के विचारों के सम्बन्ध में बड़ा उत्साह था। पाल तथा बनर्जी की वाकपटुता ने उनको स्पन्दित कर दिया। उन्होंने युगान्तर गुट के कार्यकर्ताओं तथा नेताओं के साथ मिलकर भी कार्य किया। जतीन मुकर्जी के साथ उनका अच्छा परिचय था। उन्हें विनायक दामोदर सावरकर के त्याग तथा यन्त्रणाओं से गहरी प्रेरणा मिली और उन पर उत्तेजक प्रभाव पड़ा।[2] 1910 में राय को हावड़ा षड्यंत्र अभियोग में कारावास का दण्ड दिया गया। 1915 में कलकत्ता की एक राजनीतिक डकैती के सम्बन्ध में उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया।[3]

1915 में राय भागकर डच द्वीप समूह (इंडोनेशिया) में पहुँचे। वे जावा, फिलिप्पीन, कोरिया तथा मंचूरिया भी गये। बाद में वे अमेरिका गये और वहाँ कुछ समय तक लाला लाजपत राय के साथ काम किया। अमेरिका से वे मैक्सिको गये। कहा जाता है कि बौलशेविक क्रान्ति के बाद लेनिन ने उन्हें रूस बुला लिया। वे 1920 के प्रारम्भ में रूस पहुँचे और औपनिवेशिक समस्याओं पर बौलशेविक पार्टी के सलाहकार बन गये। किन्तु साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय संघ (कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल) की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर उनका लेनिन से मतभेद हो गया। लेनिन का विचार था कि विश्व-अर्थतन्त्र की साहूकारी-पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था में यह आवश्यक है कि औपनिवेशिक जगत के पूँजीवादी राष्ट्रीय संघर्षों तथा पाश्चात्य सभ्यता के विकसित देशों के उदीयमान सर्वहारा के आन्दोलनों के बीच एकता स्थापित की जाय। किन्तु राय का मत था कि औपनिवेशिक देशों का पूँजीपति-वर्ग दलित-वर्गों के संयुक्त शोषण के लिए साम्राज्यवादियों के साथ साझेदारी में सम्मिलित हो सकता है। राय ने लेनिन से एक भिन्न थीसिस प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने एशिया के राष्ट्रवादी नेताओं के सर्वहारा-विरोधी रवैये का भंडाफोड़ किया। लेनिन का मत उन पाश्चात्य देशों के अनुभव पर आधारित था जहाँ पूँजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय लोकतांत्रिक क्रान्ति का समर्थन किया था। राय इस बात से सहमत थे कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था है और इसलिए औपनिवेशिक देशों का मुक्ति-संग्राम पतनशील पूँजीवाद के विरुद्ध अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष

---

1 *Life of M. N. Roy and New Humanism* (हिन्दी में), एस. एन. मुंशी तथा सी. दीक्षित द्वारा लिखित, पृ. 1।

2 धनंजय कीर, *Savarkar and His Times*, पृ. 199 (बम्बई, 1928)।

3 *The Radical Humanist*, फरवरी 22, 1959.

का ही एक अंग है। किन्तु राय के अनुसार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पूर्वी देशों की स्थिति वही नहीं थी जो यूरोप में अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में थी। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के नेतृत्व की वर्ग-रचना का यूरोप के नेतृत्व की वर्ग-रचना से भिन्न होना अनिवार्य था। लेनिन इतना उदार था कि उसने राय के दृष्टिकोण की सराहना की। राय ने अपनी 'इण्डिया इन ट्रांजीशन' (संक्रमणकालीन भारत) नामक पुस्तक में अपने इस मत का प्रतिपादन किया है। लेनिन तक को राय के विश्लेषण ने प्रभावित किया था।

1922 में राय ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन ट्रांजीशन' (संक्रमणकालीन भारत) में समकालीन भारत का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने संक्रमणकालीन भारत की समस्याओं के प्रस्तावित तीन प्रचलित समाधानों को स्वीकार नहीं किया। मौंटेग्यू के सम्प्रदाय के ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को उत्तरदायी शासन के मन्द तथा क्रमिक विकास में विश्वास था। भारतीय उदारवाद तथा संविधानवाद के व्याख्याताओं को ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की कथनी में विश्वास था, अतः वे 1919 के भारत शासन अधिनियम में कल्पित सुधारों को कार्यान्वित करना चाहते थे। राय ने उन्हें पूँजीपति वर्ग की सेवा करने वाले शक्तिहीन संविधानवादी बतलाया और उनका उपहास किया। तीसरा गुट अतिवादियों तथा राष्ट्रवादियों का था। राय ने इस गुट की भ्रान्तियों, उसके मध्ययुगीन पुनरुत्थानवाद तथा सड़ी-गली धार्मिक विचारधारा का मखौल उड़ाया। उन्होंने संक्रमणकालीन भारत की चौड़ी अर्थात् मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने भविष्यवाणी की कि भविष्य का भारतीय राष्ट्र भारतीय समाज में निहित प्रगतिशील शक्तियों के 'अपरिवर्तनशील विकास' के द्वारा निर्मित होगा। उनका कहना था कि भारत का संक्रमण उन सामाजिक शक्तियों की गतिविधि का परिणाम है जो पुरानी पतनशील सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को बदलने के लिए संघर्ष कर रही हैं।[4] उन्होंने बतलाया कि राजनीतिक उथल-पुथल उन नवीन सामाजिक शक्तियों की वेदना का प्रतीक है जो युग की शोषणकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध हैं। भारत की देहाती जनता के भयंकर दुःख-दैन्य का रहस्य यह है कि पूँजीवादी अर्थतन्त्र ने लगभग सम्पूर्ण कृषि-उत्पादन पर अपना आधिपत्य जमा लिया है।[5] इस प्रकार भारतीय खेतिहर जनता विदेशी तथा भारतीय पूँजी के दोहरे शोषण की शिकार है।[6] राय ने आगे कहा कि भूमि में जो भारी पूँजी लगा दी गयी है उसके फलस्वरूप पूँजी का गैर-खेतिहर वर्गों के हाथों तेजी से केन्द्रीकरण हो रहा है।[7] भारत में नगरीय सर्वहारा का विलम्बित विकास देश की मन्दित औद्योगिक प्रगति का सीधा परिणाम है।[8] राय का कहना था कि ब्रिटिश आक्रमण के समय भारत के लिए शिल्पकारी की अवस्था से निकलकर मशीन-उत्पादन की अवस्था में पहुँच जाना सम्भव था, किन्तु वह वाणिज्यीय पूँजीवाद की अवस्था से निकलकर औद्योगिक पूँजीवाद की अवस्था में प्रवेश न कर सका।[9] भारत में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम और भयंकर वर्ग-संघर्ष साथ-साथ चल रहे हैं।[10] राय ने अपनी पुस्तक में तीन विषयों की विवेचना की—भारतीय पूँजीपति वर्ग का उदय, कृषक जनता का दरिद्रीकरण तथा नगरीय सर्वहारा की निर्धनता। राय ने बतलाया कि वृहत उद्योग ही भारत के भविष्य का निर्धारण करेगा।[11] औद्योगिक विकास से मजदूरों की संख्या तथा शक्ति में अनिवार्यतः वृद्धि होगी, इसलिए भारत का पूँजीपति वर्ग उस साम्राज्यीय पूँजीपति वर्ग के साथ समझौता करना चाहेगा जिसका प्रतिनिधित्व ब्रिटिश संसद तथा

---

4 *India in Transition* में पृ. 84-85 पर एम. एन. राय ने कुछ किसान विद्रोहों का उल्लेख किया है—(1) 1835-1838 में बंगाल में, (2) 1877 में बम्बई में, (3) 1907 में पंजाब में, (4) 1917 में बिहार में, (5) 1921 में अवध में, और (6) 1921 में मालाबार में।
5 *India in Transition* में पृ. 56.
6 वही, पृ. 70.
7 वही, पृ. 71.
8 वही, पृ. 89.
9 वही, पृ. 99.
10 वही, पृ. 130। राय ने इन हड़तालों का उल्लेख किया है : (1) शताब्दी के अन्तिम दशक में बम्बई की हड़तालें, (2) 1906 में रेलवे कर्मचारियों की हड़तालें, और (3) 1907 में कलकत्ता के जूट मिल मजदूरों की हड़तालें। वही पृ. 137.
11 वही, पृ. 143.

भारत सरकार करती है। ऐसी स्थिति में भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने का काम अनिवार्यतः उन किसानों और मजदूरों को करना पड़ेगा जो सचेत रूप से संगठित होंगे और वर्ग-संघर्ष के आधार पर युद्ध करेंगे।[12]

1922 के अन्त में एम. एन. राय ने 'इण्डियाज प्रॉब्लम्स एण्ड देयर सॉलूशन' (भारत की समस्याएँ तथा उनका समाधान) नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टि से गान्धीवादी सामाजिक विचारधारा की मध्ययुगीनता तथा पुरातनवाद की आलोचना की। अपनी प्रिय मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस के सम्बन्ध में कहा कि पूँजीवादी नेताओं ने क्रान्तिकारी शक्तियों के साथ विश्वासघात किया है। उन्होंने 12 फरवरी, 1922 को बारदोली में स्वीकृत रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति भी असन्तोष व्यक्त किया। वे इस पक्ष में थे कि एक ऐसे क्रान्तिकारी लोक दल का निर्माण किया जाय जो देश की विद्यमान राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध असन्तोष जागृत करे और जहाँ पहले से ही असन्तोष विद्यमान हो वहाँ उसे अधिक तीव्र बनाने का प्रयत्न करे। उन्होंने सलाह दी कि जनता के क्रान्तिकारी संकल्प को विकसित करने के लिए सामूहिक हड़तालें तथा प्रदर्शन किये जायँ। इन सामूहिक हड़तालों का नेतृत्व ऐसे 'वर्गचेतना सम्पन्न अग्रदल' के हाथों में होना चाहिए जो वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को निर्विवाद रूप से स्वीकार करता हो। राय ने सविनय अवज्ञा के स्थान पर, जो कि कांग्रेस की कार्य-प्रणाली थी, 'जुझारू सामूहिक कार्यवाही' की सलाह दी। राय का कहना था कि राष्ट्र की ऐसी स्वप्नलोकीय धारणा जो भावी काल्पनिक समाज के दूरस्थ आदर्शवाद का प्रतिपादन करती है, जनता की शक्ति को उचित दिशा प्रदान नहीं कर सकती। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे उद्देश्यों और लक्ष्यों की स्पष्ट घोषणा की जाय जिनके लिए जनता संघर्ष कर सके। राय ने बतलाया कि असहयोग आन्दोलन मध्यवर्ग की विचारधारा से अनुप्रेरित है, और उसमें कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं है। राय को तीसरे दशक के प्रारम्भ में भारतीय जनता की सामूहिक जाग्रति में, जिसे अनेक क्षेत्रों में 'हुल्लड़बाजी' कहा जाता था, गहरा विश्वास था। उनका कहना था कि 'अनुल्लंघनीय आर्थिक नियम' सामाजिक उथल-पुथल के लिए उत्तरदायी हैं।

1922 के नवम्बर-दिसम्बर में अग्रगामी दल (वेनगार्ड पार्टी) ने जिससे राय का सम्बन्ध था, गया अधिवेशन से पहले कांग्रेस के पास एक कार्यक्रम भेजा। राष्ट्रीय मुक्ति तथा पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में भारत के पूर्ण स्वराज्य, सार्वभौम महाधिकार तथा संघात्मक गणतन्त्र का समर्थन किया गया। उसके सामाजिक तथा आर्थिक अंश इस प्रकार थे :

(1) जमींदारी प्रथा का उन्मूलन।
(2) भूमिकर को घटाकर न्यूनतम करना।
(3) कृषि के आधुनिकीकरण के लिए राजकीय सहायता।
(4) अप्रत्यक्ष करों का उन्मूलन तथा क्रमिक आयकर।
(5) सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण।
(6) राजकीय सहायता से आधुनिक उद्योगों का विकास।
(7) आठ घंटे का दिन। विधान द्वारा न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण।
(8) श्रमिक-संघों का वर्गीकरण।
(9) बड़े उद्योगों में श्रमिक परिषदें।
(10) सभी बड़े उद्योगों में लाभ में साझेदारी का लागू किया जाना।
(11) निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।
(12) राज्य तथा धर्म का पृथक्करण।
(13) स्थायी सेना का स्थान लेने के लिए एक राष्ट्रीय लोक सेना।[13]

भारतीय समाचारपत्रों में इस कार्यक्रम की कटु आलोचना की गयी और कहा गया कि यह साम्यवादी विचारधारा की घुसपैठ है।

---

12 वही, पृ. 241.
13 एम. न. राय, 'The Programme', *One Year of Non-Cooperation,* पृ. 105-11.

1923 में राय ने 'वन इयर ऑव नॉन-कोऑपरेशन' (असहयोग का एक वर्ष) नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उन्होंने महात्मा गान्धी को उनके ऋषितुल्य व्यक्तित्व के लिए श्रद्धाञ्जलि अर्पित की और उनकी तुलना सन्त टॉमस एक्विनास, सावीनरोला तथा असीसी के फ्रांसिस से की। गान्धीजी ने 1919 से 1922 तक सामूहिक कार्यवाही को संगठित करने के लिए जो प्रयत्न किये थे उनकी राय ने सराहना की। उन्होंने गान्धीजी के चार रचनात्मक योगदान स्वीकार किये : (1) राजनीतिक लक्ष्यों के लिए सामूहिक कार्यवाही का प्रयोग, (2) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एकीकरण, (3) 'अहिंसा के नारे' के द्वारा सरकारी दमन से राष्ट्रीय शक्तियों को मुक्त करना, और (4) असहयोग, करों को न चुकाने तथा सविनय अवज्ञा के तरीकों का प्रयोग।[14]

किन्तु राय ने अपनी पुस्तक में गान्धीवाद की अनेक कमियों पर भी प्रकाश डाला : (1) गान्धीवाद में जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं था; (2) वह भारत के सभी वर्गों—जमींदारों, पूँजीपतियों आदि शोषकों और शोषित किसानों तथा मजदूरों—को संयुक्त करना चाहता था; (3) राजनीतिक कार्यवाही में तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों को समाविष्ट करना दुर्भाग्य की बात थी, क्योंकि उससे राजनीतिक कार्यवाही की प्रचण्डता को अन्तःकरण-सम्बन्धी मनोगत भावनाओं की बलिवेदी पर चढ़ा दिया गया था; (4) चर्खा का प्रतिक्रियावादी अर्थशास्त्र मार्क्सवादी मानवेन्द्रनाथ राय को अरुचिकर था; (5) राय ने गान्धी की ढुलमुलता की भी आलोचना की। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि गान्धीजी वाइसराय से भेंट करने का प्रयत्न करें। इसलिए उनका कहना था कि गान्धीवाद क्रान्तिवाद नहीं है बल्कि दुर्बल तथा निस्तेज सुधारवाद है।[15]

1926 में मानवेन्द्रनाथ राय ने 'द फ्यूचर ऑव इण्डियन पॉलिटिक्स' (भारतीय राजनीति का भविष्य)[16] नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने एक लोक दल (पीपुल्स पार्टी) का महत्व समझाया। यह पुस्तक उस सन्दर्भ में लिखी गयी थी जबकि चितरंजन दास की मृत्यु के कारण भारतीय राजनीति में उतार आ गया था, गान्धीजी राजनीति से लगभग संन्यास ले चुके थे और मुख्यतः रचनात्मक कार्य में जुट गये थे, स्वराज्य दल[17] वर्गगत अन्तर्विरोधों[18] से उत्पन्न आन्तरिक फूट के कारण छिन्न-भिन्न हो चुका था, और जब क्रान्तिकारी शक्तियों की प्रगति धीमी पड़ गयी थी। उन्होंने इस पुस्तक की रचना उस समय की जब 1926 के चुनावों के होने में कुछ ही महीने शेष रह गये थे। राय ने जिस लोक दल की कल्पना की थी उसको उन्होंने सर्वहारा दल का स्थानापन्न नहीं बल्कि उसका पूरक बतलाया था। साम्यवादी होने के नाते राय सर्वहारा को राष्ट्रीय मुक्ति की शक्तियों का अग्र दल मानते थे, किन्तु उनका कहना था कि भारत में अन्य ऐसे सामाजिक वर्ग हैं जो संख्या की दृष्टि से विशाल हैं अतः उनका भी ध्यान रखना आवश्यक है। राय का विश्वास था कि भारतीय राजनीति पर भविष्य में भी बहुत समय तक विद्यार्थी, निम्न बुद्धिजीवी,[19] दस्तकार, छोटा व्यापारी, किसान आदि वर्गों के स्वार्थों का आधिपत्य रहेगा। राय स्वराज दल को पूँजीपतियों तथा जमींदारों के हितों का पक्का समर्थक मानते थे।[20] इसलिए वे चाहते थे कि जमींदारों तथा पूँजीपतियों को छोड़कर जन-समुदाय को राष्ट्रवाद का आधार बनाना चाहिए। उन्हें कार्मिक संघवाद (ट्रेड यूनियनवाद) तथा संसदवाद में आस्था रखने वाले किसी मजदूर दल से विशेष आशा नहीं थी। जो इस पक्ष में थे कि भारत में एक मजदूर दल की स्थापना होनी चाहिए उनको राय ने 'अर्थवाद'

---

14 एम. एन. राय, *One Year of Non-Cooperation*, पृ. 50-56.

15 वही पृ. 56-60.

16 एम. एन. राय, *The Future of Indian Politics* (लन्दन, आर. विशप, 1926)।

17 एम. एन. राय के अनुसार सविनय अवज्ञा को स्थगित करना तथा स्वराज दल का संगठन करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने की दिशा में एक कदम था। राय ने चितरंजनदास तथा मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में काम करने वाले स्वराज्य दल के आर्थिक सिद्धान्तों की आलोचना की थी। उन्होंने लिखा था कि 'यह दल भूस्वामी वर्गों को भारतीय समाज तथा संस्कृति का स्तम्भ मानता तथा उनका गौरवगान करता था।' एम. एन. राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ. 114.

18 *The Future of Indian Politics*, पृ. 99.

19 राय का कहना था कि भारत के निम्न बुद्धिजीवियों की स्थिति पूर्णतः सर्वहारावर्ग की सी हो गयी है।

20 *The Future of Indian Politics*, पृ. 85.

का प्रतिनिधि बतलाया।[21] उनके अनुसार एकमात्र विकल्प यह था कि जनता के एक लोकतांत्रिक दल की स्थापना की जाय जिसमें निम्न मध्यवर्ग, किसान तथा सर्वहारा सम्मिलित हों। उसका कार्य-क्रम इस प्रकार होना चाहिए था—(क) पूर्ण स्वराज्य, (ख) गणतन्त्रीय सरकार की स्थापना, (ग) क्रान्तिकारी भूमि-सुधार, और (घ) प्रगतिशील सामाजिक विधान।[22] वैचारिक दृष्टि से राय अब भी इतने लेनिनवादी थे कि वे लोकतांत्रिक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इस संघर्ष में सर्वहारा के साम्य-वादी दल को प्रमुखता देना चाहते थे।

इस समय तक राय तथा बोलशेविकों के बीच फूट नहीं पड़ी थी। राय मास्को संस्थान के प्राच्य विभाग के अध्यक्ष थे। 1926 के अन्त में उन्हें बोरोडिन तथा ब्लूखर के साथ चीन भी भेजा गया था।[23] वे वहाँ के साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय (कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल) के प्रतिनिधि के रूप में गये थे और 1927 के मध्य तक वहाँ ठहरे। उन्होंने चीन के साम्यवादियों को सलाह दी कि वे अपना सामाजिक आधार विस्तृत करने के लिए कृषक क्रान्ति की योजना में जुट जायँ।[24] किन्तु चीनी साम्य-वादी दल ने उनकी सलाह के अनुसार काम नहीं किया, और उसे सोवियत सरकार के अभिकर्ता बोरोडिन ने सहायता दी। राय के अनुसार यह किसानों के साथ ही नहीं बल्कि सर्वहारा के साथ भी विश्वासघात था।[25] राय सुन-यात-सेन को तत्वतः प्रतिक्रियावादी कूट-उग्रवाद[26] (छद्म उग्रवाद) का प्रतिनिधि मानते थे। उनके विचार में सुन-यात-सेन व्यक्तिवाद के कट्टर विरोधी थे[27] और एक नव-कनफ्यूसी राज्य की स्थापना करना चाहते थे। राय ने उन दिनों (1926-27) के चीनी साम्य-वादी दल की कटु आलोचना की थी। उनके अनुसार साम्यवादी दल अपनी भूलों के कारण नगरीय लोकतांत्रिक जनसमुदाय से पृथक हो गया था और औद्योगिक क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमाने में अस-फल रहा था। फलस्वरूप उसे देहातों की गरीब जनता का सहारा लेना पड़ा था। उसने नगरीय जनसमुदाय की शक्ति का निर्माण नहीं किया था; उसे सैनिक कार्यवाहियों में अधिक विश्वास था।[28] तीसरे दशक के परवर्ती काल में राय तथा साम्यवादियों में फूट पड़ गयी। राय इस बात के विरुद्ध थे कि रूसी साम्यवादी, जो अपने को मार्क्सवादी सिद्धान्त तथा कार्यप्रणाली का आचार्य मानते थे, तृतीय अन्तरराष्ट्रीय (साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय) पर अपना एकाधिपत्य जमा लें। 1924 में स्ता-लिन ने 'एक देश में समाजवाद' का नारा लगाया था। इससे अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद को साक्षात्कृत करने की सम्भावना जाती रही थी।[29] साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के छठे विश्व-सम्मेलन में राय ने 'अ-उपनिवेशीकरण' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अ-उपनिवेशीकरण का अर्थ यह था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजी का ह्रास हो चुका था और इसलिए उसके लाभ का कुछ अंश भारतीय पूँजीपति वर्ग को अन्तरित हो गया था। इस प्रकार राय ने साम्राज्यवाद के बदलते हुए स्वभाव का प्रतिपादन किया।[30] अ-उपनिवेशीकरण की थीसिस यह थी कि साम्राज्यवादी देशों की निर्यात योग्य पूँजी का क्षय हो चुका है, इसलिए उनके लिए आवश्यक हो गया है कि वे उपनिवेशों के पूँजीपति वर्ग के साथ संयुक्त साझेदारी कायम करें। राय ने भविष्यवाणी की कि आगे चलकर साम्राज्यवाद

---

21 वही, पृ. 101.
22 वही, पृ. 17.
23 रॉबर्ट सी. नॉर्थ तथा एक्स. जे. यूडीन, *M. N. Roy's Mission to China* (कैलीफोर्निया यूनीवर्सिटी प्रेस)।
24 एच. एम. विनाके ने अपनी पुस्तक *History of the Far East in Modern Times,* चतुर्थ संस्करण में 'वूहान सरकार से सम्बद्ध एम. एन. राय नाम के एक साम्यवादी गुमाश्ते' के 'अविवेक' का उल्लेख किया है।
25 एम. एन. राय, *My Experience of China*, पृ. 31.
26 एम. एन. राय, *Revolution and Counter-Revolution in China*, पृ. 302.
27 वही, पृ. 287.
28 वही, पृ. 643.
29 *New Humanism*, पृ. 20.
30 एम. एन. राय, *The Communist International*, पृ. 48-49। आर. सी. नॉर्थ तथा एक्स. जे. यूडीन, 'M. N. Roy and the Theory of Decolonization, *The Radical Humanist,* जुलाई 12, 1959.

का मूल्य घट जायगा और तब विदेशी पूँजीपतियों को बाध्य होकर अपनी शक्ति का परित्याग करना पड़ेगा। छठे विश्व-सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें भारतीय जनता को चेतावनी दी गयी कि प्रतिक्रान्तिकारी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उसके साथ कभी भी विश्वासघात कर सकती है। राय ने स्तालिन की साम्यवादी संकीर्णता[31] तथा अति वामवाद की आलोचना की जिसके परिणामस्वरूप 1928-29 में राय तथा साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के बीच फूट पड़ गयी। 1927 में जब साइमन कमीशन भारत में आया तो राय ने सुझाव दिया कि भारत के लिए एक संविधान सभा की माँग की जाय। कदाचित यह माँग कालपूर्व थी। परम्परानिष्ठ साम्यवादियों ने संविधान सभा के नारे के लिए राय की आलोचना की और उन्हें मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी लोकतन्त्रवादी कहा।[32]

राय 1930 में वेश बदलकर भारत में आये। उन्हें कानपुर षड्यन्त्र केस में छह वर्ष (1931-1936) के लिए कारागार में डाल दिया गया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के निर्वासन तथा छह वर्ष के कारावास के बाद 1936 में राय भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश कर सके।

1936 में कारागार से मुक्त होने के उपरान्त उन्होंने गान्धीवाद के विरुद्ध अभियान तीव्र कर दिया। उन्होंने गान्धीवाद को सामाजिक समन्वय के अव्यावहारिक आदर्श का प्रतिपादन करने वाला प्रतिक्रियावादी सामाजिक दर्शन बतलाया और उसकी निन्दा की। उन्होंने कहा कि अहिंसा क्रूर सामाजिक शोषण के यथार्थ स्वभाव को छिपाने का एक आवरण है। चतुर्थ दशक के परवर्ती वर्षों में मानवेन्द्रनाथ राय ने साम्यवाद-विरोधी मार्क्सवादी गुट का नेतृत्व किया। अप्रैल 1937 में उन्होंने अपने इन्डिपेंडेंट इण्डिया नामक साप्ताहिक की स्थापना की; 1949 में उसका नाम बदलकर रेडीकल ह्यूमेनिस्ट रख दिया गया। राय गान्धीवादी अहिंसा को देश के पूँजीवादी शोषण को छिपाने का एक प्रच्छन्न बौद्धिक साधन मानते थे। उन्होंने कांग्रेस के दिवालिया नेतृत्व की भर्त्सना की और कहा कि गान्धीजी के नेतृत्व में कांग्रेस एक चर्खा-संघ का रूप लेती जा रही है।[33] उनका कथन था कि अहिंसा जनता के क्रान्तिकारी उभाड़ को अवरुद्ध कर रही है। उन्होंने निरपेक्ष आध्यात्मिक सत्य के किसी तत्वशास्त्रीय प्रत्यय को स्वीकार करने से भी इनकार किया।[34]

1939 में राय ने लीग ऑव रेडीकल कांग्रेसमैन (उग्र कांग्रेसजन संघ) का संगठन किया। 1940 में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति-पद के लिए चुनाव लड़ा, किन्तु अब्दुल कलाम आजाद ने उन्हें परास्त किया। अपनी पराजय के उपरान्त सितम्बर 1940 में उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी। दिसम्बर 1940 में उन्होंने अपनी रेडीकल डेमोक्रेटिक पार्टी (उग्र लोकतान्त्रिक दल) का संगठन किया और 'वैज्ञानिक राजनीति' का नया मार्ग अपनाने का समर्थन किया। जिस चीज का राय

---

31 वर्डियायीव, लुई फिशर तथा एम. एन. राय के अनुसार रूस में निजी पूँजीवाद के स्थान पर राज्य पूँजीवाद विद्यमान था। अपनी *The Russian Revolution* नामक पुस्तक में पृष्ठ 382 पर राय ने लिखा है कि सोवियत बजट में उद्योगों तथा कृषि में लगाने के लिए जिन भारी रकमों का प्राविधान किया जाता था वे वास्तव में श्रमिकों को पूरी मजदूरी न देकर ही जमा की जाती थीं। मजदूर को उसकी मेहनत के लिए समुचित वेतन नहीं दिया जाता था। यदि उसे उसके श्रम का पूरा वेतन दे दिया जाता तो रूस में उद्योगों की इतनी तेजी से वृद्धि नहीं हो सकती थी जितनी तेजी से वह होती आयी है। इसलिए राय का निष्कर्ष था कि यद्यपि रूस में उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो गया था, किन्तु श्रम के शोषण का अन्त नहीं हुआ है।

स्तालिनवाद के विरुद्ध राय की दूसरी आलोचना यह थी कि स्तालिन ने ट्रॉट्स्की का उन्मूलन करके किसानों के विरुद्ध युद्ध की नीति अपना ली थी (*The Russian Revolution*, पृ. 384-89)। ट्रॉट्स्की नयी आर्थिक नीति के विरुद्ध इसलिए था कि उसमें रूसी किसानों को अनेक रिआयतें देदी गयी थीं। ट्रॉ., जिनोवीव तथा कामनेव ने स्तालिन पर कुलकों (बड़े किसानों) का समर्थक होने का आरोप लगाया था। किन्तु 1928 तक स्तालिन ने कृषि का बलपूर्वक सामूहीकरण करने का नीति अपना ली, जिसका अर्थ था किसानों के विरुद्ध युद्ध जिसकी कि ट्राट्स्का ने माँग की थी।

32 एम. एन. राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ. 99.

33 एम. एन. राय, 'Morality and Politics', *The Alternative*, पृ. 16-17.

34 एम. एन. राय ने 7 नवम्बर, 1939 को महात्मा गान्धी को कांग्रेस जैसे राजनीतिक दल की निरपेक्ष घोषित नीति बनाने का विरोध किया था। एम. एन. राय, *The Alternative*, पृ. 78-79.

ने समर्थन किया उसे वे 'बीसवीं शताब्दी का जेकोबिनवाद' कहा करते थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान उन्होंने मित्रराष्ट्रों की सहायता करने की सलाह दी। फ्रांस के पतन के बाद उन्होंने मित्र-राष्ट्रों का बिना शर्त पक्ष लेने का समर्थन किया। वे द्वितीय विश्व-युद्ध को न साम्राज्यवादी युद्ध मानते थे और न राष्ट्रों के बीच युद्ध। वे उसे एक प्रलयकारी उथल-पुथल समझते थे जिसने इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया था।[35] राय के अनुसार वह भयंकर संघर्ष जिसमें विश्व की बड़ी शक्तियाँ ग्रस्त थीं एक अन्तरराष्ट्रीय गृह-युद्ध था। वास्तविक शत्रु कोई राज्य नहीं बल्कि प्रचलित विचारधारा थी। उनका कहना था कि फासीवाद के विरुद्ध निर्णायक विजय तभी प्राप्त हो सकती है जब फासीवाद को युद्धरत राष्ट्रों के घरेलू मोर्चों पर परास्त कर दिया जाय।[36] भारत इस युद्ध में यथार्थतः अपनी रक्षा कर सके, इसके लिए एक कृषक क्रान्ति आवश्यक है। जैसे ही कृषक-समुदाय को विश्वास हो जायगा कि जिस भूमि को हम जोतते हैं वह हमारी है वैसे ही उनमें देश की रक्षा के लिए आवश्यक उत्साह तथा शूरत्व उमड़ पड़ेगा।[37] राय ने बतलाया कि जनसमुदाय की सीमित क्रयशक्ति भारत के अवरुद्ध औद्योगिक विकास का मूल कारण है। औपनिवेशिक अर्थतन्त्र के अन्तर्गत पूँजीवाद प्रगतिशील तत्व का काम नहीं कर सकता। इसलिए अपनी पुस्तक 'प्लैंटी ऑर पावर्टी' (दरिद्रता अथवा बाहुल्य) में उन्होंने नियोजित आर्थिक विकास की योजना का समर्थन किया। राय ने 1942 की भारतीय क्रान्ति की निन्दा की। उनका कहना था कि यह आन्दोलन 'कांग्रेस के औद्योगिक तथा वित्तीय संरक्षकों द्वारा संगठित किया गया है।'[38] भारतीय पूँजीपतियों ने युद्ध से भारी लाभ कमा लिया था। जब तक युद्ध-क्षेत्र दूर रहा तब तक वे युद्ध से धन कमाते रहे। किन्तु जैसे ही युद्ध-क्षेत्र निकट आया वैसे ही वे हानि से डरने लगे और चाहने लगे कि महात्मा गान्धी तथा अन्य कांग्रेसी नेता मुक्त कर दिये जायँ जिससे कि देश में एक ऐसी सरकार स्थापित हो जाय जो उसे युद्ध से बाहर रख सके।[39] राय ने जनता की सरकार के निर्माण का समर्थन किया।[40] उन्होंने राष्ट्रीय सरकार की माँग को 'लोकाचार (फैशन) के अनुरूप किन्तु कपटपूर्ण'[41] बतलाया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीयता का नारा काल्पनिक तथा एक 'खतरनाक मनगढ़न्त' है[42] काल्पनिक इसलिए है कि भारत वस्तुतः दो हैं[43]—शोषकों, साहूकारों तथा जमींदारों का भारत तथा श्रमिक वर्ग का भारत। राय के अनुसार भारत के सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता की धारणा काल्पनिक इसलिए थी कि जिन्ना तथा मुसलिम लीग पृथक राज्य की माँग कर रहे थे यदि भारत एक होता तो पाकिस्तान का नारा लगाने की क्या आवश्यता थी।

राय ने 1942 के आन्दोलन को भारतीय राष्ट्रवादियों का फासीवादी प्रयत्न कहकर निन्दित किया। उनका कथन था कि राष्ट्रवादी नेता ब्रिटेन के प्रति कुत्सित जातीय शत्रुता की भावना से उत्प्रेरित हैं और इसीलिए वे फासीवादियों के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटेन की शक्ति को कमजोर करने के निहित परिणामों को नहीं समझ पा रहे हैं।[44] राय पूरे युद्ध के दौरान कांग्रेस तथा राष्ट्रीय नेतृत्व पर फासीवादी होने का आरोप लगाते रहे। गान्धीवाद भी उनको फासीवादी प्रतीत हुआ, क्योंकि उनके विचार में गान्धीवाद जनसमूह की प्रवृत्तियों, जनता की निरक्षरता तथा संकीर्ण कट्टरता को उभाड़ने की एक कुटिल चाल थी। 1942 का आन्दोलन इसलिए फासीवादी था कि वह मित्र राष्ट्रों के मोर्चे को कमजोर करके अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवादी रूस के युद्ध-प्रयासों में बाधा

---

35 एम. एन. राय, *War and Revolution*, पृ. 20.
36 वही, पृ. 51.
37 वही, पृ. 61.
38 वही, पृ. 96.
39 वही, पृ. 89-90.
40 राय क्रिप्स प्रस्तावों को स्वीकार करने के पक्ष में थे।
41 एम. एन. राय, *National Government or People's Government*, पृ. 45-58.
42 वही. पृ. 59-69.
43 वही, पृ. 66-67.
44 एम. एन. राय, *Jawaharlal Nehru*, पृ. 28-29.

डाल रहा था। राय कांग्रेसी नेतृत्व के पूंजीवादी स्वभाव का भंडाफोड़ करना चाहते थे। युद्ध के दौरान उन्होंने कांग्रेस को भारतीय फासीवाद का नवजात प्रतिनिधि बतलाया।[45] कांग्रेस भारत को युद्ध में सम्मिलित करने के विरुद्ध थी, उसको भी राय ने फासीवादी मनोवृत्ति का परिचायक माना। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को सन्तुष्ट करने की जो नीति अपना रही है वह प्रतिक्रान्तिकारी नीति है।[46] राय महात्मा गान्धी की मध्ययुगीनता तथा हिन्दुत्व की ओर झुकाव के विरोधी थे। लगभग जिन्ना की भाषा में राय ने कहा कि जब से गान्धीजी ने कांग्रेस का नेतृत्व अपने हाथों में लिया है तब से कांग्रेस का राष्ट्रवाद हिन्दू आदर्शों, धारणाओं, आचार तथा परम्पराओं से ओतप्रोत है।[47] गान्धीजी ने श्रद्धा पर जो बल दिया था वह राय को फासीवादियों के अबुद्धिवाद और संकल्पवाद का स्मरण दिलाता था। उनका कहना था कि गान्धीजी का अहिंसा पर भरोसा देशी शोषकों के विरुद्ध जनसमुदाय के विद्रोह को कुचलने की कपटपूर्ण चाल है। राय के अनुसार गान्धीजी राष्ट्रीय पूँजीवाद के और नेहरू राष्ट्रीय समाजवाद के समर्थक थे।[48] वे उन दोनों को एक दूसरे का पूरक मानते थे। 1945 में राय ने बम्बई योजना को साहूकारी पूंजीवाद की योजना बतलाया[49] और उसकी आलोचना की। 1945 की शिमला वार्ता के दौरान राय ने भविष्यवाणी की थी कि कांग्रेस तथा भारतीय साहूकारी पूंजीवाद के प्रतिनिधियों के बीच शक्ति में साझे के लिए समझौता हो जाने की सम्भावना है। राय को दर्शन तथा समाजशास्त्र का अच्छा सैद्धान्तिक ज्ञान था किन्तु उनकी आकांक्षाएँ एक पत्रकार तथा प्रचारक की सी थीं। इसलिए उन्हें सही सामान्यीकरणों का निरूपण करने की अपेक्षा गाली-गलौज करने में अधिक आनन्द आता था। युद्ध के दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार की दमनकारी क्रूरता का खुला समर्थन करके लोकमत को पूर्णतः अपने विरुद्ध कर लिया था। उन्होंने इस बात तक का समर्थन किया कि कारागार में भारतीय नेताओं को एक दूसरे से पृथक रखा जाय। वे उनकी 'सस्ती शहादत' तथा विघ्न-बाधा डालने की क्षमता पर खेद प्रकट किया करते थे।[50] उन्होंने महात्मा गान्धी को भारतीय पिछड़ेपन तथा अबौद्धिकता का मूर्त रूप बतलाया और उनके कामों की यह कह कर निन्दा की कि वे उन तत्वों को उकसावा देते हैं जो भारतीय घरेलू मोर्चे को कमजोर बना रहे हैं।[51]

2. भौतिकवाद : विज्ञान तथा दर्शन

मानवेन्द्रनाथ राय पूर्ण भौतिकवादी थे। भौतिकवाद एकत्ववादी (अद्वैतवादी) चिन्तनधारा है किन्तु उनका परम भौतिकवाद उन्हें इस धारणा को स्वीकार करने से नहीं रोकता कि द्रव्य की अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ अनेक होती हैं।[52] राय इस प्रचलित धारणा का खण्डन करने के बड़े इच्छुक थे कि भौतिकवाद उच्छृंखल जीवन-दर्शन अथवा कुत्सित भौतिकवाद का समर्थन करता है। उनके अनुसार भौतिकवाद ब्रह्माण्ड के विकास और प्रक्रियाओं की व्याख्या है, उसका अर्थ इन्द्रियपरायण अहंवाद कदापि नहीं है। राय ने बतलाया कि कभी-कभी धर्म की आड़ में भी कुत्सित स्वार्थवाद को आचरित किया गया है। लेनिन की भाँति राय का भी विश्वास था कि विज्ञान तथा दर्शन की प्रगति ने भी भौतिकवादी सिद्धान्त की पुष्टि की है। नील बोहर का परमाणु सिद्धान्त, श्रोडिंगर का तरंग यान्त्रिकी का सिद्धान्त, ओ. डी. ब्रोग्ली का प्रकाश सिद्धान्त भौतिकवाद की मूल प्रस्तावनाओं का खण्डन नहीं करते। राय ने 'साइन्स एण्ड फिलोसोफी' (विज्ञान तथा दर्शन) की रचना की

---

45 एम. एन. राय, *War and Revolution*, पृ. 101.
46 वही, पृ. 101.
47 एम. एन. राय, *National Government or People's Government*, पृ. 49.
48 *The Problem of Freedom*, पृ. 39-46, 'Prophet of National Socialism'.
49 वही, पृ. 74-75.
50 एम. एन. राय, *Freedom or Fascism* (दिसम्बर 1942), पृ. 103-104.
51 वही, पृ. 105.
52 *Reason, Romanticism and Revolution*, जिल्द 2, पृ. 216.

जिसमें उन्होंने आइन्स्टाइन[53] मैक्सप्लांक, श्रोडिंगर, डिराक तथा अन्य भौतिकशास्त्रियों के अन्वेषणों तथा निष्कर्षों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। भौतिकीय अनुसन्धानों ने केवल इस चिर-प्रतिष्ठित धारणा को ध्वस्त कर दिया है कि द्रव्य देशकाल में विद्यमान कणों का पुंज है। किन्तु भौतिकवादी होते हुए भी राय द्वन्द्ववाद के आलोचक थे। 'द मार्क्सियन वे' (मार्क्सवादी मार्ग) में उन्होंने कुछ निबन्ध प्रकाशित किये जिनमें द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना की। उनकी आलोचना गम्भीर नहीं है। उसमें केवल इस बात का उल्लेख किया गया है कि द्वन्द्ववाद सत्ता के रहस्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। राय बुद्धिवादी थे। वे बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास के तथा शोपनहॉअर और हार्डमन में संकल्पवाद के दर्शन के विरोधी थे। उन्होंने वैशेषिक तथा न्याय दर्शन का भौतिकवादी पद्धति से निर्वचन करने का प्रयत्न किया।[54] उनकी भावना थी कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में बाद में जो आस्तिक तत्वों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है वह उस पर बाहरी लेप है।

चूंकि 'भौतिकवाद' नाम के साथ अनेक भ्रान्तियों का संयोग है, इसलिए राय उसे 'भौतिकीय यथार्थवाद' नाम देना चाहते थे। यह सत्य है कि आज के वैज्ञानिक सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों की इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि द्रव्य पदार्थ है। किन्तु राय ने लेनिन के इस मत को स्वीकार किया है कि आधुनिक विज्ञान इस धारणा का खण्डन नहीं करता कि किसी ऐसी बाह्य वस्तु की सत्ता है जो हमारे सब अनुभवों का आधार है।[55]

3. राय का इतिहास दर्शन

(क) रूसी क्रान्ति की व्याख्या—मानवेन्द्रनाथ राय ने रूसी क्रान्ति का वर्णनात्मक वृत्तान्त लिखा है। वे रूसी साम्यवाद को राज्य-पूँजीवाद मानते थे। उन्हें आशा थी कि प्रारम्भिक मार्क्सवादियों के स्वप्नों को साकार करने के लिए रूस में एक अन्य क्रान्ति होगी। उनका 'रशियन रिवोलूशन' (रूसी क्रान्ति) एक विशाल ग्रन्थ है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता अथवा कष्टसाध्य अनुसन्धान की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है, किन्तु उसमें उनकी वैयक्तिक धारणाओं का संस्पर्श अवश्य देखने को मिलता है। रूसी क्रान्ति के वस्तुगत वृत्तान्त के रूप में वह चैम्बरलेन तथा ई. एल. कार के ग्रन्थों की तुलना में घटिया है। राय ने सत्य ही कहा है कि रूस की क्रान्ति इतिहास के किसी पहले से निर्धारित पूर्वसिद्ध नियम के अनुसार सम्पन्न नहीं हुई थी। वे उसे आकस्मिक परिस्थितियों की संहति से उत्पन्न ऐतिहासिक संयोग का परिणाम मानते थे।[56] राय का कहना था कि रूस में सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी परिपक्व नहीं हुई थीं कि सामाजिक क्रान्ति अनिवार्य हो जाती। 1921 के बाद रूसी राज्य की नीतियाँ शुद्ध व्यावहारिक आवश्यकताओं से संचालित हुई हैं। साम्यवादी आन्दोलन को रूसी राज्य के स्वार्थों की सिद्धि का एक साधन बना लिया गया है और गैर-सर्वहारा वर्गों की उपेक्षा रखी गयी है।[57]

(ख) बौद्धधर्म का समाजशास्त्र—कट्टर भौतिकवादी होने के नाते राय वेदान्ती प्रत्ययवाद के शत्रु थे। उनकी भावना थी कि शंकर और रामानुज का प्रत्ययवाद मध्ययुगीन मानसिक संकीर्णता और पाण्डित्यवाद के भार का द्योतक था। वह बौद्ध आन्दोलन की मुक्तिदायी भूमिका के विरुद्ध ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया था।[58] राय बौद्ध-धर्म में निहित क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों को समझते थे।[59]

---

53 एम. एन. राय ने *Science and Philosophy* के पृ. 54-56 पर लिखा है कि सापेक्षता के सिद्धान्त ने गुरुत्वाकर्षण तथा विद्युत चुम्बकत्व के बीच मेल स्थापित कर दिया। उनका कहना है कि आइंस्टाइन की बलगतिकी के अनुसार द्रव्य के अतिरिक्त बल अथवा शक्ति की धारणा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

54 एम. एन. राय, 'Materialism in Indian Philosophy', *Materialism*, अध्याय 3।

55 एम. एन. राय, *Reason, Romanticism and Revolution*, जिल्द 2, पृ. 302 (कलकत्ता 1955)।

56 एम. एन. राय, *Communist International*, पृ. 27.

57 *New Humanism*, पृ. 19.

58 एम. एन. राय ने जाति का आर्थिक आधार स्वीकार किया है। *India in Transition* में पृ. 67 पर वे लिखते हैं कि "जाति-व्यवस्था में वर्ग-भेद छिपा हुआ था।"

59 राय के इस मत का कोई दार्शनिक औचित्य नहीं है कि बौद्धों का भौतिकवाद वैशेषिक परमाणुवाद पर आधारित था।

बौद्ध धर्म ने परम्परागत धर्म-विद्या तथा उसके माने हुए भाष्यकार पुरोहित वर्ग पर भयंकर प्रहार किये थे। बुद्ध ने परोपजीवी वर्ग की विलासिता के विरुद्ध विद्रोह का शंखनाद किया।[60] बौद्ध धर्म ने एक समृद्ध तथा गौरवशाली सभ्यता की नींव तैयार की। किन्तु मध्ययुग में ब्राह्मणों के आक्रामक धार्मिक आन्दोलन ने प्रतिक्रिया, गतिहीनता तथा पतन की विजय का मार्ग प्रशस्त किया।[61]

(ग) फासीवाद—फासीवाद के दर्शन तथा स्रोतों के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं। मैकआइवर तथा मेयर के मतानुसार फासीवाद का निश्चय ही अपना एक दर्शन है। हेगेल[62] तथा ट्राइट्स्के के नामों से सम्बन्धित राज्य की सर्वोपरिता तथा शक्ति-राजनीति का सिद्धान्त, नीत्शे का अतिमानव का आदर्श और कांट द्वारा प्रतिपादित आचार नीति को जटिल और सुनिश्चित बनाने का सिद्धान्त—ये जर्मन फासीवाद के कुछ मूल स्रोत माने जाते हैं। कुछ लेखकों ने मार्टिन लूथर के इस सिद्धान्त को जर्मन फासीवाद का बौद्धिक स्रोत माना है कि प्रजाजनों को बिना किसी प्रकार के प्रतिरोध के शासकों के आदेशों का पालन करना चाहिए।[63] इसके विपरीत फ्रांत्ज न्यूमन और हेरोल्ड लास्की का कहना है कि फासीवाद का कोई दर्शन नहीं है। न्यूमन ने फासीवाद की एक 'विशालकाय पशु' से तुलना की है। राय मानते हैं कि फासीवाद का निश्चय एक दर्शन है।[64] *मानववादी होने के नाते राय फासीवादी विचारकों को मानव-व्यक्तित्व के प्रति तिरस्कार की भावना* के कट्टर शत्रु थे। व्यवहार में फासीवाद का अर्थ था मानव गरिमा की हीनता तथा मनुष्य की नैतिक उच्चता का विनाश। फासीवादी शासन के जात्योन्मादियों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता की धारणा को सिद्ध करने के लिए 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' के सिद्धान्त का तथा राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित मानव-शास्त्र का सहारा लिया। लास्की तथा राय दोनों ही फासीवाद को समाजवाद के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रान्ति मानते हैं। राय का कहना था कि जर्मनी में फासीवाद को सफलता इसलिए मिली कि उस देश के पूँजीपतियों ने जिन्हें प्रथम विश्व युद्ध में भयंकर पराजय भुगतनी पड़ी थी, पतनशील पूँजीवाद को सहारा देने के लिए इस दर्शन तथा कार्यप्रणाली को प्रोत्साहन दिया। पूँजीवाद को बचाने के लिए फासीवाद जर्मनी को घसीटकर मध्ययुगीनता में ले गया।[65] राय के अनुसार फासीवाद प्रतिक्रान्तिकारी तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों का जमाव-केन्द्र है। यह पूँजीवाद की सृष्टि है। जब वह साम्राज्यवाद की नींव को सहारा देने में अपने को असमर्थ पाता है तो वह अन्तिम बचाव के अस्त्र के रूप में फासीवाद का प्रयोग करता है।[66] उद्योग के पूँजीवादी संगठन के परिणामस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व छार-छार हो जाता है। मनुष्य को एकाकीपन तथा विवशता का विनाशकारी आघात झेलना पड़ता है।[67] फासीवाद समग्रवादी राष्ट्र की उपासना को परम प्रतिष्ठा प्रदान करके हताश व्यक्तियों को एक ऐसी मनोवैज्ञानिक तथा रोमांसपूर्ण वस्तु प्रदान करता है जिसे वे स्वयं अपने पुरुषार्थ से अर्जित करने में असमर्थ होते हैं। जैसे-जैसे एकाधिकारी पूँजीवाद के कारण व्यक्तियों की सामाजिक असुरक्षा बढ़ती है वैसे ही फासीवाद का संवेगात्मक आकर्षण अधिक प्रभावकारी होता जाता है।

---

06 एम. एन. राय, *From Savagery to Civilization*, पृ. 15.

61 अन्त में वेदों की अपौरुषेयता के सिद्धान्त ने 'बुद्ध के अर्द्धभौतिकवादी संशयवाद को अभिभूत कर लिया।' भारत के इतिहास में सबसे दुःखद घटना यह थी कि बौद्ध क्रान्ति को ब्राह्मणों की प्रतिक्रान्ति ने, जिसे लोक-प्रचलित अन्धविश्वास, कट्टरता तथा अज्ञान से बल मिला था, परास्त कर दिया। एम. एन. राय, *Heresies of the Twentieth Century*, पृ. 76-78.

62 राय ने राष्ट्र का तत्वशास्त्रीय धारणा की भर्त्सना की, क्योंकि इससे अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि मानने वाले एक छोटे-से वर्ग के द्वारा बहुसंख्यकों की स्वतन्त्रता का दमन होता है। (एम. एन. राय, *Nationalism*, पृ. 23-24)।

63 एम. एन. राय ने यह भी कहा है कि यदि पुनर्जागरण का स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद तथा बुद्धि की धारणाओं को धर्मसुधार के सत्तावाद ने निरस्त न कर दिया होता तो यूरोप को फासीवाद की भयंकर विभीषिका में होकर न गुजरना पड़ता। (राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 36)।

64 एम. एन. राय, *Fascism*, पृ. 2-3 (कलकत्ता, डी. एम. पुस्तकालय)।

65 एम. एन. राय, *War and Revolution*, पृ. 13.

66 एम. एन. राय, *The Communist International*, पृ. 60.

67 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 22-27, 'The Logic of History'.

4. वैज्ञानिक राजनीति

राय ने 1940-1947 में मार्क्सवाद से उग्रवाद (आमूल परिवर्तनवाद) में और 1947-1954 में उग्रवाद से अविकल वैज्ञानिक मानववाद में संक्रमण किया। उन्होंने अक्टूबर 1947 में अपनी पुस्तक 'साइंटिफिक पॉलिटिक्स' (वैज्ञानिक राजनीति) में स्वयं संक्रमण की इस प्रक्रिया का वर्णन किया था, "सात वर्ष पूर्व मैं एक परम्परानिष्ठ मार्क्सवादी की भाँति बात करता था और जो उस विचारधारा से विचलित होता अथवा उसको समझने में भूल करता उसकी आलोचना किया करता था। किन्तु उस समय भी मुझमें साम्यवाद से परे देखने की प्रवृत्ति बीजरूप में विद्यमान थी। यद्यपि मैं वर्ग-संघर्ष की भाषा में बात किया करता था, फिर भी मैं सामाजिक संगठन में संयोगशील तत्वों को महत्व देता था। उस समय भी मैं मार्क्सवाद को वर्ग-संघ की विचारधारा से कुछ अधिक बड़ी चीज समझने लगा था। मैं मानता था कि वह उस पुराने बौद्धिक प्रयत्नों की ही उपज था जो एक ऐसा दर्शन विकसित करने के लिए किये गये थे जिसके अन्तर्गत भौतिक प्रकृति, सामाजिक विकास तथा वैयक्तिक मानव की इच्छा और संवेगों का सामंजस्य हो।"[68]

राय ने उग्रवाद तथा अविकल मानववाद के दर्शन का निरूपण अपनी तीन पुस्तकों में किया था—'साइंटिफिक पॉलिटिक्स' (वैज्ञानिक राजनीति), 'न्यू ओरियंटेशन' (नवीन स्थिति-निर्धारण) तथा 'बियौंड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म' (साम्यवाद से परे मानववाद की ओर)। राय वैज्ञानिक राजनीति की सम्भावनाओं को स्वीकार करते थे। वे यह भी चाहते थे कि राजनीति एक जीवन-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट होनी चाहिए।[69] किन्तु उनकी कल्पना की वैज्ञानिक राजनीति का अर्थ हॉब्स अथवा स्पिनोजा की वैज्ञानिक राजनीति से भिन्न था। इन दोनों पाश्चात्य विचारकों ने वैज्ञानिक पद्धति पर अधिक बल दिया है। हॉब्स का विश्वास था कि एक ऐसे राजनीति-विज्ञान की रचना करना सम्भव है जो रैखिकी के आदर्श पर आधारित हो। चूँकि मनुष्य का आचरण उसके भौतिक शरीर की सार्वभौम गति के प्रति प्रतिक्रिया से निर्धारित होता है, इसलिए उसे परिभाषित और प्रदर्शित करना सम्भव है। स्पिनोजा मानव के मनोवेगों के नियमों के अध्ययन में रैखिकी की पद्धति को समाविष्ट करने के पक्ष में था। इस प्रकार हॉब्स और स्पिनोजा के अनुसार वैज्ञानिक राजनीति को रैखिकीय विज्ञान के आदर्श पर आधारित करके निर्मित किया जा सकता है। इसके विपरीत राय ने वैज्ञानिक राजनीति की प्रस्थापनाओं के सामाजिक आधारों पर अधिक बल दिया है। वैज्ञानिक राजनीति से उनका अभिप्राय राजनीतिक प्रस्थापनाओं की उस व्यवस्था से है जो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का अनुसरण करने वालों की वर्ग-प्रकृति की स्वीकृति पर आधारित हो।[70] 'नवीन स्थिति-निर्धारण' में राय ने लिखा है कि राजनीति-चिन्तन में योगदान करने के लिए राष्ट्रवादी तथा साम्यवादी मनोवृत्ति पर विजय पाना आवश्यक है।[71]

राय यूनानियों की इस धारणा को, जिससे स्पेंसर और ह्वाइटहैड भी सहमत हैं, स्वीकार करते थे कि दर्शन सभी विज्ञानों की विविक्तियों का समन्वय है। वे तत्वशास्त्रीय (प्रत्ययवादी) और रहस्यवादी परिकल्पनाओं के विरुद्ध हैं, किन्तु समन्वयात्मक विज्ञान की आवश्यकता को मानते हैं। अतः उनकी भावना थी कि वैज्ञानिक राजनीति भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र के आधार पर ही निर्मित की जा सकती है।

द्वितीय विश्व-युद्ध (1940-1945) के दौरान राय ने बीसवीं शताब्दी के जेकोबिनवाद का समर्थन किया। उनका कहना था कि यदि यह भी मान लिया जाय कि जेकोबिनवाद पूँजीवादी विद्रोह की विचारधारा थी तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से वह बोल्शेविकवाद का पूर्वगामी था।[72] बीसवीं शताब्दी के जेकोबिनवाद के सम्बन्ध में राय ने कहा कि वह पूँजीवादी क्रान्ति तथा सर्वहारा की क्रान्ति के बीच की चीज है। इसके दो निहितार्थ थे : (1) भारतीय

---

68 एम. एन. राय, *Scientific Politics*, द्वितीय संस्करण, पृ. 7 (कलकत्ता, रेनांसां पब्लिशर्स, 1947)।
69 एम. एन. राय, *New Orientation*, पृ. 36.
70 एम. एन. राय, *Scientific Politics*, द्वितीय संस्करण, पृ. 55-56.
71 एम. एन. राय, *New Orientation*, पृ. 56.
72 *Revolution and Counter-Revolution in China*, पृ. 374.

क्रान्ति का नेतृत्व एक बहुवर्गीय दल को करना होगा, न कि केवल अल्पसंख्यक सर्वहारा वर्ग को; (2) भारत में तात्कालिक प्रश्न समाजवाद अथवा साम्यवाद का नहीं बल्कि राजनीतिक पूँजीवादी लोकतांत्रिक क्रान्ति का था। वह क्रान्ति समाजवाद के लिए संक्रमण का काम करेगी। राय ने चीन के सम्बन्ध में भी ऐसी ही भविष्यवाणी की थी।[73] किन्तु उनकी यह भविष्यवाणी झूठी सिद्ध हुई थी कि चीन की स्वाधीनता का संग्राम उग्र लोकतन्त्र अथवा बीसवीं शताब्दी के जेकोबिनवाद के झण्डे के नीचे लड़ा जायगा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मानवेन्द्रनाथ राय ने भारत के लिए नियोजन का एक कार्य-क्रम भी तैयार किया था। पूँजीवादी नियोजन प्रभावकारी माँग के सिद्धान्त को लेकर चलता है। इसके विपरीत, राय इस पक्ष में थे कि उत्पादन भारत के करोड़ों दरिद्र तथा शोषित लोगों की मानवीय माँगों की पूर्ति को ध्यान में रखकर नियोजित किया जाय। उनके अनुसार यह आवश्यक था कि खेतिहर वर्गों की क्रय-शक्ति में वृद्धि की जाय। उनका कहना था कि यदि सामाजिक माँग को पूरा करने के लिए उद्योग स्थापित किये जा सकें तो औद्योगीकरण का विकास होगा और उसके परिणामस्वरूप खेती में लगे हुए विशाल जनसमूह में से बड़ी संख्या को हटाकर उद्योगों में लगाया जा सकेगा। इससे यंत्रीकृत कृषि का प्रारम्भ करना सुगम होगा। राय यह भी चाहते थे कि भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में किसानों के अधिकार सुनिश्चित कर दिये जायँ। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि राजनीतिक तथा आर्थिक नियोजन परस्पर निर्भर हैं। उन्होंने कहा, "राजनीतिक नियोजन के बिना आर्थिक नियोजन कोरी कल्पना सिद्ध होगी।"[74]

5. राय द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

राय की दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय रचनाओं से स्पष्ट है कि उन्होंने मार्क्सवाद से अपना सम्बन्ध धीरे-धीरे विच्छिन्न कर लिया था। मार्क्स के व्यक्तित्व की राय ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनकी दृष्टि में वह सामाजिक अन्याय का क्रूर आलोचक था, और इस रूप में वह महान् यहूदी पैगम्बरों की परम्परा में था। वर्डीयायीव, गैहरालिख, सोम्बार्ट तथा हाश्मन[75] की भाँति राय भी मानते थे कि मार्क्स ने सामाजिक न्याय का जो आवेशपूर्ण नैतिक समर्थन किया वह यहूदी पैगम्बरों की विरासत था।[76] वे मार्क्स को तत्वतः एक मानववादी और स्वतन्त्रता का प्रेमी मानते थे। इसलिए वे मार्क्सवाद को आर्थिक नियतिवाद की कट्टरता से मुक्त करके उसके 'मानववादी, स्वातन्त्र्यवादी तथा नैतिक' सार की पुनः प्रतिष्ठा करना चाहते थे।[77] जहाँ तक मार्क्स की शिक्षाओं का सम्बन्ध था, उन्होंने या तो उनका खण्डन किया या उनमें तात्विक संशोधन कर दिया। राय लिखते हैं, "मार्क्स की इस प्रस्थापना ने कि चेतना जीवन से निर्धारित होती है, भौतिकवादी तत्व-शास्त्र को ठोस वैज्ञानिक आधार पर खड़ा कर दिया। किन्तु उसके परवर्ती, विशेषकर समाजशास्त्रीय, विचार उस दिशा में विकसित नहीं हुए जो उसकी पूर्वोक्त तत्वशास्त्रीय धारणा ने निर्दिष्ट कर दी थी। समग्र रूप में मार्क्सवाद अपनी दार्शनिक परम्पराओं के प्रति निष्ठावान नहीं है। समाजशास्त्र में उसने भौतिकवाद को इस सीमा तक गिरा दिया है कि वह देश-काल-निरपेक्ष नैतिक मूल्यों के अस्तित्व से भी इनकार कर देता है। उत्पादन की अवैयक्तिक शक्तियों की धारणा को स्वीकार करके उसने इतिहास में प्रयोजनवाद (हेतुवाद) को समाविष्ट कर दिया है जो उसके इस विचार के सर्वथा प्रतिकूल है कि मनुष्य अपनी होतव्यता का निर्माण स्वयं करता है। उसके इतिहास शास्त्र का आर्थिक नियतिवाद मानव स्वतन्त्रता को ध्वस्त कर देता है, क्योंकि उसके अनुसार व्यक्ति के रूप में मनुष्य के स्वतन्त्र होने की सम्भावना ही नहीं है। फिर भी वर्तमानकालीन समाजशास्त्रीय

---

73 वही, पृ. 668.
74 एम. एन. राय, *Planning a New India*, पृ. 48, 62-63 (कलकत्ता, रेनॉसां पब्लिशर्स)।
75 V. P. Varma, 'Critique of Marxian Sociology', *The Calcutta Review*, मार्च-मई 1955.
76 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2, पृ. 219.
77 *New Humanism*, पृ. 25-26.

चिन्तन मार्क्सवाद के उन मिथ्या तथा भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्तों से बहुत कुछ प्रभावित हुआ है जो उसके दर्शन से तर्कतः प्रसूत नहीं हुए हैं।"[78] राय ने मार्क्सवाद की निम्न सविस्तार आलोचना की है :

(1) राय के अनुसार मार्क्स का भौतिकवाद अवैज्ञानिक तथा कट्टरपंथी है। मार्क्सवाद ज्ञान को अनुभवजन्य मानता है और मनुष्य के मानस की सृजनात्मक भूमिका की उपेक्षा करता है। मार्क्स ने हेगेलीय द्वन्द्ववाद के प्रभाव के कारण अठारहवीं शताब्दी के दिदरो, हैल्वेशियस और हॉल्बाख के भौतिकवाद को अस्वीकृत कर दिया था। उसने फ्यूअरबाख के मानववादी भौतिकवाद का भी खण्डन किया था, यद्यपि उस पर फ्यूअरबाख की 'ईसाइयत का सार' नामक पुस्तक का प्रभाव पड़ा था। राय की दृष्टि में यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि मार्क्स ने फ्यूअरबाख के मानववादी भौतिकवाद का अथवा जिसे वोल्टमन ने मानवशास्त्रीय भौतिकवाद का नाम दिया है उसका खण्डन किया। इस प्रकार राय ने मार्क्स की इसलिए आलोचना की कि उसने मानव प्राणी की स्वायत्तता को अस्वीकार किया था। मार्क्स ने सामाजिक संघर्ष को अत्यधिक महत्व दिया। उसने वस्तुगत व्यक्ति के मूल्य तथा महत्व की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया। इसलिए राय कार्ल मार्क्स के पैगम्बरी समाजशास्त्र में निहित भाग्यवाद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उतावले थे।[79]

(2) राय बर्डीयायीव के इस मत से सहमत हैं कि द्वन्द्वात्मक पद्धति ने मार्क्सवाद में प्रत्ययवादी तत्व समाविष्ट कर दिया है।[80] वाद तथा प्रतिवाद के द्वारा आगे बढ़ना तार्किक विवाद का लक्षण है। यह कहना हास्यास्पद है कि द्रव्य तथा उत्पादन की शक्तियों की गति भी द्वन्द्वात्मक होती है। राय लिखते हैं, "मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल नाम के लिए भौतिकवादी है। चूंकि उसका मूल तत्व द्वन्द्ववाद है, इसलिए तत्वतः वह एक प्रत्ययवादी दर्शन है। अतः इसमें आश्चर्य नहीं है कि उसने अठारहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक भौतिकवाद की विरासत को अस्वीकार कर दिया और फ्यूअरबाख तथा उसके अनुयायियों के मानववादी भौतिकवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया।[81] राय ने बल देकर कहा है कि द्वन्द्ववाद प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की पद्धति है। मनोगत प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की प्रक्रिया को समग्र वस्तुगत सत्ता की गति की प्रक्रिया के समतुल्य मानना एक निराधार विश्वास है।[82]

(3) राय के अनुसार इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या इसलिए दोषपूर्ण है कि वह सामाजिक प्रक्रिया में मानसिक क्रिया को बहुत कम स्थान देती है। इतिहास की व्याख्या केवल भौतिकवादी वस्तुवाद के आधार पर नहीं की जा सकती। मानव प्राणियों की बुद्धि तथा उनके संचित कर्म बड़े शक्तिशाली सामाजिक तत्व हैं। मार्क्सवादी इतिहास दर्शन में विचारों को द्रव्य की गौण उपज माना जाता है। चेतना को वास्तविकता का उत्तरवर्ती बताया जाता है। यद्यपि कुछ परवर्ती मार्क्सवादियों ने भौतिक तथा सामाजिक वास्तविकता की प्रमुखता के पुराने सिद्धान्त के स्थान पर विचारों तथा सामाजिक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया की धारणा को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है, फिर भी यह सत्य है कि मार्क्सवादी इतिहास दर्शन विचारों की सृजनात्मक भूमिका को न्यूनतम महत्व देता है और विचारों की प्राथमिकता के सिद्धान्त को मानने वालों को यूटोपियाई बताता और उनका मखौल उड़ाता है। मानवेन्द्रनाथ राय ने मार्क्सवाद की नयी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उनका सिद्धान्त है कि इतिहास में वैचारिक तथा भौतिक दो समानान्तर प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। यह सत्य है कि चिन्तन एक शारीरिक प्रक्रिया है जो शरीर तथा परिवेश की परस्परक्रिया के

---

78 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2, पृ. 216-17.
79 *New Humanism*, पृ. 21.
80 एन. बर्डीयायीव, *The Origin of Russian Communism* (लन्दन, ज्योफरी ब्लैस, 1946).
81 *Reason, Romanticism and Revolution*, जिल्द 2, पृ. 186.
82 एम. एन. राय, *Reason, Romanticism and Revolution* के पृष्ठ 190 पर लिखते हैं कि विचारों का गति के नियम द्वन्द्वात्मक नहीं कहे जा सकते, "क्योंकि मार्क्सवाद न तो उससे पहले के विचारों का निषेध था और उनके निषेध का निषेध था, बल्कि उसमें संस्थापक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्र तथा हेगेलवाद के मुख्य तत्वों का समावेश था। इसी प्रकार लोकतन्त्र से समाजवाद में विचारों का संक्रमण द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि अविच्छिन्न था।" (वही, पृ. 194)। अतः राय का कहना है कि विचारों की अपनी स्वायत्तता और क्रम होता है जो द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि गत्यात्मक होता है। (वही 1)

फलस्वरूप उत्पन्न होती है। किन्तु एक बार उत्पन्न हो जाने पर विचार अपने निजी विकास नियम का अनुसरण करते हैं। विचारों की गति तथा सामाजिक प्रक्रियाओं की द्वन्द्वात्मक गति के बीच परस्पर क्रिया होती रहती है। किन्तु राय का स्पष्ट मत है कि किसी भी विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में 'सामाजिक घटनाओं तथा विचार-आन्दोलनों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।'[83] वे लिखते हैं, "दार्शनिक दृष्टि से इतिहास के भौतिकवादी प्रत्यय को बुद्धि की सृजनात्मक भूमिका को स्वीकार करना पड़ेगा। भौतिकवाद विचारों की वस्तुगत सत्ता से इनकार नहीं कर सकता। विचार स्वयंभू नहीं होते, वे शारीरिक क्रिया से निर्धारित होते हैं।"

भौतिक प्राणी, अर्थात् यदि पुराने ढंग के पद का प्रयोग किया जाय तो द्रव्य ही पूर्ववर्ती होता है। द्रव्य पहले का होता है और विचार बाद में उससे उत्पन्न होते हैं। किन्तु एक बार जब शरीर द्वारा निर्धारित चिन्तन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है, अर्थात् विचार बन जाते हैं, तो फिर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, उनके विकास की अपनी प्रक्रिया विद्यमान रहती है और वह सामाजिक विकास की भौतिक प्रक्रिया के समानान्तर चलती रहती है। दो समानान्तर प्रक्रियाओं, वैज्ञानिक तथा भौतिक, से ही इतिहास का निर्माण होता है। वे दोनों अपने आन्तरिक दबाव, अपनी गति-शक्ति तथा अपने द्वन्द्व-नियम से निर्धारित होती हैं। साथ ही साथ वे स्वभावतः एक दूसरे से प्रभावित भी होती हैं। यही क्रम है जो इतिहास को एक संघटित तथा व्यवस्थित प्रक्रिया का रूप प्रदान करता है।[84] विचारों तथा वस्तुगत समाज की व्यवस्था की समानान्तरता के सिद्धान्त का निहितार्थ है कि "विचारों तथा घटनाओं के बीच कोई सीधा सह-सम्बन्ध सम्भव नहीं है।"[85]

(4) राय ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना की है। उसका कहना है कि मनुष्य आर्थिक मानव बनने से पहले अपने आचरण में शारीरिक आवश्यकताओं से नियन्त्रित और संचालित होता था। आदिम मनुष्य के मानवशास्त्रीय अध्ययन से सिद्ध होता है कि मानव जाति के प्रारम्भिक क्रियाकलाप तथा संघर्ष जीवन-निर्वाह की सामग्री प्राप्त करने के प्रयत्नों तक ही सीमित थे। इन क्रियाकलापों को संचालित और उत्प्रेरित करने वाली प्रेरणाएँ तथा प्रवृत्तियाँ स्वभाव से मुख्यतः जैविक थीं। प्रारम्भिक मानव का क्रियाकलाप अर्थ से नहीं बल्कि शरीर की आवश्यकताओं से शासित था। ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त इस सीमा तक दोषपूर्ण है कि वह मानव-जाति के आदिम इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं करता। मनुष्य के परवर्ती इतिहास में भी ऐसे विभिन्न कार्यकलाप देखने को मिलते हैं जिनसे मनुष्य को आनन्द मिलता है किन्तु वे 'आर्थिक' शीर्षक के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक नियतिवाद भौतिकवादी दर्शन का आवश्यक तर्कसंगत परिणाम यह है। किसी व्यक्ति के लिए भौतिकवादी होते हुए भी ऐतिहासिक व्याख्या की विभिन्न कसौटियों को स्वीकार कर लेना सम्भव है, उदाहरण के लिए शक्ति नियतिवाद, जलवायु नियतिवाद, दैहिक नियतिवाद आदि, क्योंकि राजनीतिक शक्ति, जलवायु तथा मनुष्यों की शारीरिक रचना भी महत्वपूर्ण भौतिक शक्तियाँ हैं। इसलिए दार्शनिक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के बीच कोई आवश्यक तथा अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है।

(5) राय के अनुसार मार्क्सवाद के नीति-विषयक आधार दुर्बल हैं, क्योंकि वे सापेक्षतावादी तथा कट्टरपंथी हैं, और मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरे नहीं उतरते। मार्क्स ने इस उग्र व्यवहारवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष की प्रक्रिया में मनुष्य स्वयं अपने स्वभाव में भी परिवर्तन कर लेता है। मानव-स्वभाव में कोई स्थिर तत्व नहीं है। वह मानता है कि मानव-स्वभाव पूर्णतः नमनीय है और परिवर्तनशील है। राय की दृष्टि में मार्क्सवाद के मनोवैज्ञानिक आधार भी दुर्बल हैं। राय अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादियों की इस धारणा से सहमत हैं कि मानव-स्वभाव में कुछ शाश्वत तत्व विद्यमान हैं।[86] मानव-स्वभाव में किसी स्थायी तत्व को न मानने

---

83 *Reason, Romanticism and Revolution*, जिल्द 2, पृ. 309.
84 वही, जिल्द 1, पृ. 11.
85 *22 Theses : Principles of Radical Democracy*, पृ. 6 (कलकत्ता, 1946)।
86 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2, पृ. 186-87। राय स्वीकार करते हैं कि डार्विन की जैविकी को ध्यान में रखकर अठारहवीं शताब्दी के मनोविज्ञान की नये सिरे से व्याख्या करना आवश्यक है।

का अर्थ होगा आचारनीति का निषेध करना। मनुष्य के स्वभाव में किसी ऐसे स्थायी तत्व को स्वीकार किये बिना जिसके कारण कुछ शाश्वत मूल्यों को साक्षात्कृत करना आवश्यक हो, किसी बुद्धिमत्तापूर्ण आचारनीति का निर्माण नहीं किया जा सकता। मार्क्स के विपरीत राय की मान्यता है कि मानव-स्वभाव में कुछ अपरिवर्तनशील तथा स्थायी तत्व हैं, जो अधिकारों तथा कर्तव्यों का आधार हैं। यदि मान लिया जाय कि मनुष्य उत्पादन की दुर्दमनीय शक्तियों का दास है तो उसकी स्वायत्तता तथा सृजनात्मकता से भी इनकार करना पड़ेगा। नैतिक चेतना आर्थिक शक्तियों की उपज नहीं होती। मार्क्सवादी आचारनीति के विरुद्ध राय ने ऐसी मानववादी आचारनीति का प्रतिपादन किया है जो मनुष्य की सर्वोपरिता को महत्व देती है और स्वतन्त्रता तथा न्याय के मूल्यों में विश्वास करती है। इस प्रकार राय ने मार्क्स की आचारनीति को, जो वर्ग-संघर्ष को नैतिक आचरण की कसौटी मानता है, अस्वीकार किया और उसके स्थान पर इस धारणा को मान्यता दी कि नैतिक मूल्यों में कुछ स्थायी तत्व है।

(6) मार्क्स ने उदारवादियों की व्यक्तिवाद की धारणा का खण्डन किया। इसका कारण यह था कि उस पर हेगेल के नैतिक प्रत्यक्षवाद (साक्षाद्वाद) का प्रभाव पड़ा था। हेगेल का तत्वशास्त्रीय सिद्धान्त था कि जो वास्तविक है वह बुद्धिसंगत है। इससे वह नैतिक सिद्धान्त निकला जो विद्यमान नैतिक मापदण्डों को पवित्र मानता है। यह नैतिक प्रत्यक्षवाद शक्ति-राजनीति के दर्शन का भी आधार बन सकता है। इसके अतिरिक्त नैतिक प्रत्यक्षवाद समाज अथवा वर्ग को नैतिक नियमों का प्रवर्तक मानता है। इसका भी परिणाम यही होता है कि व्यक्ति की भूमिका न्यूनतम हो जाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मूल्यों की उपेक्षा करके मार्क्स ने अपनी मानववादी फ्यूअरबाखवादी पूर्व-धारणा के साथ विश्वासघात किया। व्यक्ति के सम्बन्ध में उदारवादी तथा उपयोगितावादी धारणा का खण्डन करके मार्क्स ने अपने प्रारम्भिक मानववादी दृष्टिकोण के प्रति द्रोह किया।[87] इसके अतिरिक्त राय का मत है कि अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद के आन्दोलन के नैतिक अध:पतन का कारण है नैतिक मूल्यों की सापेक्षता तथा हेगेलीय ढंग के नैतिक प्रत्यक्षवाद को उच्च पद प्रदान करने की प्रवृत्ति।[88]

(7) राय को वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र में भी सन्देह है। इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्ग रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु सामाजिक विद्वेष तथा संघर्ष की शक्तियों के अतिरिक्त सामाजिक सहयोग के बन्धन भी क्रियाशील रहे हैं। इसके अलावा वर्तमानकालीन समाज परस्पर विरोधी और ध्रुवीकृत क्षेत्रों में विभक्त नहीं हुआ है, जैसी कि मार्क्स ने 'साम्यवादी घोषणा' में भविष्यवाणी की थी। यह एक अतिरिक्त कारण है जिससे मार्क्स की प्रस्थापना सन्देहास्पद बन जाती है।[89]

(8) मार्क्स ने मध्य वर्ग के तिरोहित हो जाने के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की थी वह भी असत्य सिद्ध हुई है। वस्तुत: आर्थिक प्रक्रिया के प्रसार से तो मध्यवर्ग की संख्या में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त 1919 के बाद के विश्व-इतिहास में मध्य वर्ग का सांस्कृतिक तथा राजनीतिक नेतृत्व एक अकाट्य तथ्य है।[90]

---

87 *New Humanism*, पृ. 28.

88 वही, पृ. 29.

89 वही, पृ. 34। किन्तु ऐसा लगता है कि कभी-कभी राय यह भी स्वीकार करते थे कि पूंजीवाद के पतन से मध्य वर्ग का नाश होना है। उनका विचार था कि समाजवाद मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों द्वारा कल्पित विचारधारा है। "पूंजीवाद के पतन ने मध्य वर्ग को आर्थिक दृष्टि से नष्ट कर दिया" और इस प्रकार उसके मन में एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की इच्छा उत्पन्न की। (वही, पृ. 36-37)। किन्तु राय का यह कथन कि पूंजीवाद के पतन से मध्य वर्ग की बर्बादी हो गयी, निराधार प्रतीत होता है। तथ्यों से उसकी पुष्टि नहीं होती। इसके अतिरिक्त इसका कोई प्रमाण नहीं है कि मध्य वर्ग के नाश तथा उसके मन में सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता के विचार का उत्पन्न होना, इन दोनों चीजों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है। कारण यह है कि मार्क्स से पहले के समाजवादी जिन्होंने समाजवाद की मूल विचारधारा का प्रतिपादन किया, उस मध्य वर्ग के सदस्य नहीं थे जो नष्ट हो चुका था।

90 वही, पृ. 36.

(9) कार्ल मनहाइम की भाँति राय भी स्वीकार करते हैं कि क्रान्तियों में संकल्पमूलक काल्पनिकता (रोमांसवाद) का पुट भी रहता है। क्रान्तियाँ प्रायः तीव्रता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए सामूहिक संवेगों की अभिव्यक्ति हुआ करती हैं। धारणा के रूप में क्रान्ति का विचार विश्व का पुनर्निर्माण करने में मनुष्य के प्रयत्नों को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता है। अतः क्रान्तिकारी काल्पनिकता द्वन्द्वात्मक नियतिवाद के एकदम विपरीत है। मार्क्स के इतिहासशास्त्र में अन्तर्विरोध इसलिए है कि वह दो परस्पर विरोधी धारणाओं को संयुक्त करने का प्रयत्न करता है। एक ओर तो उसका विश्वास है कि इतिहास तथा ब्रह्माण्ड एक नियत (निर्धारित) प्रक्रिया है, और दूसरी ओर वह इस हेतुवादी (प्रयोजनवादी) धारणा का प्रतिपादन करता है कि इतिहास की उस प्रक्रिया के परिवर्तन में क्रान्तिकारी संकल्प स्वतन्त्र होता है। अतः राय की भावना है कि भौतिकवादी नियतिवाद और क्रान्तिकारी प्रयोजनवाद, दोनों का समन्वय नहीं किया जा सकता। इसलिए राय का कथन है कि मार्क्सवाद में उसके जन्म से ही अन्तर्विरोध के तत्व विद्यमान हैं।[91] बुद्धि तथा प्रयोजनमूलक क्रान्तिकारी काल्पनिकता, इन दोनों को साथ-साथ प्रतिष्ठित करने का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक-दूसरे का निषेध कर दिया और मार्क्सवाद ने विकृत होकर सामूहिक अबुद्धिवाद की उपासना का रूप धारण कर लिया। समग्रवादी साम्यवाद की परवर्ती विकृतियाँ तथा हिंसात्मक कार्यकलाप का बीज हमें मार्क्सवाद की इस मूल भ्रान्ति में ही देखने को मिलता है।[92]

किन्तु राय अपनी मानववादी अवस्था में भी मार्क्सवाद की कुछ प्रस्तावनाओं को स्वीकार करते रहे : (1) राय लेनिन के इस मत से लगभग पूर्णतः सहमत थे कि आधुनिक भौतिकी के अनुसन्धानों ने भौतिकवाद का खण्डन नहीं किया है, बल्कि उसको अधिक गम्भीर बना दिया है। श्रोडिंगर और हाइजनबर्ग ने द्रव्य की तात्विकता का खण्डन करके वस्तुगत सत्ता का निषेध नहीं कर दिया है। आधुनिक भौतिकी ने हमारी परमाणु की धारणा को अधिक सूक्ष्म बना दिया है, और वह परमाणु से भी आगे बढ़कर विद्युदणु (इलेक्ट्रॉन) तथा प्राणु (प्रोटॉन) तक पहुँच गयी है, किन्तु उसने इस धारणा का खण्डन नहीं किया है कि हमारे संज्ञान (ऐन्द्रियबोध) के मूल में कोई मूल सत्ता है जो अ-मानसिक है। बल्कि राय ने कट्टरता के साथ घोषणा की कि आधुनिक भौतिकीय अनुसन्धान अनुभवगम्य जगत की भौतिकता को सिद्ध करते हैं। राय की दृष्टि में द्रव्य एक वस्तुगत सत्ता बनी रहती है। इसलिए अन्त में राय यह भी कहने लगे थे कि भौतिकवाद के स्थान पर 'भौतिक यथार्थवाद' पद का प्रयोग किया जाना चाहिए।[93]

(2) यद्यपि राय ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तत्वशास्त्र का खण्डन किया, किन्तु वे संवेदनात्मक ज्ञानशास्त्र पर दृढ़ रहे। सम्पूर्ण ज्ञान का मूल भौतिक तत्व है। राय संवेदना तथा संज्ञान को ज्ञान का स्रोत मानते हैं। किन्तु उन्होंने एंगिल्स तथा लेनिन जैसे परवर्ती मार्क्सवादियों की तुलना में प्रत्ययात्मक चिन्तन को प्राथमिकता दी। लेनिन ने विचार के अविहतत्व पर बल दिया था। किन्तु राय ने विचार के प्रत्ययात्मक तथा असंज्ञानात्मक तत्वों को अधिक महत्व देकर सिद्ध कर दिया है कि उन पर हेगेल का प्रभाव था।[94]

(3) राय ने मार्क्स के सिद्धान्त के उस अंश को स्वीकार किया जो चिन्तन तथा कर्म की एकता पर बल देता है। कोई कार्य तभी सफल हो सकता है जबकि एक सोच-समझकर

---

91 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2, पृ. 204.

92 वही, पृ. 223.

93 इस प्रकार अपने चिन्तन की मानववादी अवस्था में भी राय पूर्ण भौतिकवादी बने रहे। भौतिकवाद से, विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकवाद से राय ने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले थे। उदाहरण के लिए—
(1) विश्व एक निर्धारित अथवा विधि-शासित प्रक्रिया है।
(2) केवल विज्ञान से विश्व का ज्ञान प्राप्त होता है।
(3) क्रोधपूर्ण पुरोहितवाद-विरोधी प्रवृत्ति तथा धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध संघर्ष।

94 एम. एन. राय, *Science and Philosophy*, पृ. 205। इन्द्रियज्ञान स्वचालित शारीरिक प्रतिक्रिया है और संज्ञान एक व्याख्यात्मक, निर्देशात्मक और चयनात्मक कार्य है।

निश्चित की हुई योजना के अनुरूप हो।[95] किन्तु किसी योजना के प्रभावकारी होने के लिए आवश्यक है कि वह विद्यमान वस्तुस्थिति पर आधारित हो। इस प्रकार चिन्तन तथा वस्तुस्थिति में एकरूपता का होना आवश्यक है।

मानवेन्द्रनाथ राय ने मार्क्सवादी दर्शन की त्रुटियों तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के समाज-शास्त्र की विवेचना की है।[96] उन्होंने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की शास्त्रीयता पर विचार नहीं किया है। उनकी रचनाओं का अनुशीलन करने से इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि वे मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों से परिचित थे। उन्होंने पूँजी के संचय, पूँजीवादी उत्पादन तथा 'कैपिटल' (पूंजी) की प्रथम जिल्द में प्रतिपादित मूल्य के श्रम-सिद्धान्त तथा तीसरी जिल्द में प्रतिपादित उत्पादन-मूल्य के सिद्धान्त के बीच जो अन्तर्विरोध है, उसकी विवेचना नहीं की है। मार्क्सवाद के आलोचक के नाते उन्हें बौम-बावेर्क, लुडविग फॉन माइजज तथा तुगान-बारानोवस्की की रचनाओं से और भी अधिक शक्ति मिल सकती थी।

6. नवीन मानववाद[97]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों (1947-1954) में राय 'नवीन मानववाद' की व्याख्या करने लगे थे। मानववादी तत्व पाश्चात्य दर्शन के अनेक सम्प्रदायों तथा युगों में देखने को मिलते हैं। प्रोटेगोरस, इरास्मस,[98] मोर, बुकनन और हर्डर में मानववादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। तुर्गो तथा कोन्दर्से की भाँति राय की भी भावना थी कि विज्ञान की प्रगति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों की मुक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। विज्ञान ने मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता में वृद्धि कर दी है और उसे अन्धविश्वासों तथा बे-सिर बे-पैर के पारलौकिक भयों से मुक्त कर दिया है। अपने बौद्धिक कार्यकलाप की मानववादी अवस्था में राय को हचीसन, शैफ्ट्सबरी तथा बैंथम आदि दार्शनिक उग्रवादियों से प्रेरणा मिली थी, और उन पर इन विचारकों के तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा था। दार्शनिक उग्रवादियों ने नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया था। मार्क्स ने व्यक्तिवादियों के मुक्तिदायी सिद्धान्तों को पूँजीवादी कल्पना मानकर उसका खण्डन किया। राय ने मार्क्स के इस रवैये को दुर्भाग्यपूर्ण बताया और कहा कि इससे प्रकट होता है कि मार्क्स को नैतिक आदर्शों के ऐतिहासिक विकास का समुचित ज्ञान नहीं आया। राय के अनुसार आधुनिक सभ्यता जिस नैतिक तथा सांस्कृतिक संकट से गुजर रही है उसके देखते हुए मानववादी मूल्यों का पुनः प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है। आनभाविक पद्धति के उद्देश्य से सहज, शुद्ध, नैतिक बुद्धि की धारणा ध्वस्त हो गयी है और परिणामस्वरूप मानव-जाति एक नैतिक उलझन में फँस गयी है। नैतिक मूल्यों की वस्तु-परकता का ह्रास हो चुका है। ऐसे युग का स्वाभाविक विश्व दर्शन व्यवहारवादी (उपयोगवादी) है। राय की भावना है कि चिन्तनशील बुद्धिवादी व्याप्त संशयवाद तथा शून्यवाद के स्थान पर किसी प्रकार की नैतिक स्थिरता के लिए उत्कंठित हैं। मनहाइम, सोरोकिन, टैगोर, अरविन्द आदि दार्शनिक तथा

---

95 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2, पृ. 292। राय का कहना है कि विश्व को ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो चिन्तन तथा कर्म का समन्वय कर सके। पृष्ठ 293 पर वे कहते हैं कि मनुष्य का कर्म तभी प्रभावकारी हो सकता है जबकि वह बौद्धिक चिन्तन द्वारा संचालित हो।

96 वे अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को भ्रान्तिपूर्ण मानते थे। वे लिखते हैं, "यह सिद्धान्त कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन पूंजीवाद का विशिष्ट लक्षण है और श्रमिक वर्ग के शोषण का द्योतक है, एक ऐसी आधारभूत भ्रान्ति है जो मार्क्सवादी अर्थशास्त्र में ही नहीं बल्कि क्रान्ति के सम्पूर्ण दर्शन में पायी जाती है।...इतिहास के उषा काल से जो सामाजिक प्रगति हुई है, विशेषकर उत्पादन के साधनों की उन्नति, वह इस शर्त पर हुई है कि किसी भी समय समाज के सम्पूर्ण उत्पादन का उपभोग नहीं किया गया।" *New Humanism*, पृ. 31। "अतिरिक्त मूल्य के भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त ने और विशेषकर इस सिद्धान्त ने कि उस मूल्य को पूंजीपति अनुचित रूप से हड़प लेता है, वर्ग-संघर्ष के मतवाद के लिए सैद्धान्तिक आधार तैयार किया।" वही, पृ. 33.

97 एम. एन. राय, *New Humanism : A Manifesto* (कलकत्ता, रेनॉसां पब्लिशर्स, अगस्त 15, 1947)।

98 लोथ्रोप स्टोडार्ड ने कहा है कि पुनर्जागरण-काल का मानवतावाद असफल रहा, क्योंकि वह अल्पसंख्यक लोगों तक ही सीमित था, इसलिए उनके पास जनता को प्रोत्साहित करने का कोई व्यावहारिक तरीका नहीं था। किन्तु वैज्ञानिक मानववाद का सम्बन्ध बहुसंख्यकों से है, और बहुसंख्यक जनता को आधुनिक विज्ञान का निहितार्थ समझाया जा सकता है। (लोथ्रोप स्टोडार्ट, *Scientific Humanism*, लन्दन, चार्ल्स स्क्रिब्नर्स संस, 1926)।

कवियों ने आध्यात्मिक अनुभूति को सर्वोच्च मूल्य की वस्तु माना है। किन्तु राय को भौतिकवाद में पूर्ण आस्था थी, इसलिए वे इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकते थे। वे आचारनीति को तत्वशास्त्रीय निरपेक्षतावाद पर नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक तथा विवादपूर्ण बुद्धि पर आधारित करना चाहते थे। उनका कहना था कि मनुष्य में बौद्धिकता किसी दैवी सत्ता ने निरोपित नहीं की है, वह तो जैविक विकास की उपज है, और मानववादी आचारनीति का आधार मनुष्य की यही सहज बौद्धिकता है। राय के अनुसार सदसद्विवेक इसी बौद्धिकता की उपज है। उनका आग्रह है कि नवीन मानववाद स्वाभाविक बुद्धि और ऐहिक अन्तःकरण पर आधारित होना चाहिए। उनके मत में भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र पर आधारित बुद्धिपरक मानववादी आचारनीति ही मनुष्य की समस्याओं का एकमात्र समाधान है।

मानव-जाति संकट के युग से गुजर रही है। इस समय मनुष्य की मूल समस्या यह है कि समग्रवादी राज्य के अतिक्रमण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार की जाय। अब पूंजीपतियों और श्रमिकों के पारस्परिक संघर्ष की आर्थिक समस्या केन्द्रीय प्रश्न नहीं है,[99] यद्यपि उसको भी हल करना है और दलित मानवता के हितों की दृष्टि से हल करना है। राय मानव के विकास की धारणा को स्वीकार करते हैं। मनुष्य भौतिक जगत से ही उत्पन्न हुआ है। भौतिक जगत नियमों द्वारा शासित होता है। मनुष्य इस जगत का अभिन्न अंग है। मनुष्य बौद्धिक प्राणी इसलिए है कि सामंजस्यपूर्ण भौतिक जगत से ही उसका उद्भव हुआ है। मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व में जो बुद्धि देखने को मिलती है वह सार्वभौम सामंजस्य की ही 'प्रतिध्वनि' है।[100] बुद्धि कोई सहज तात्विक वस्तु नहीं है, बल्कि जैविक-विकास की प्रक्रिया में ही उसका प्रादुर्भाव हुआ है। मानव बुद्धि की इस कसौटी पर ही नैतिक मापदण्डों को परखना होगा। मनुष्य सामाजिक सामंजस्य तथा कल्याणकारी सामाजिक मेलमिलाप की खोज करता है। इसी के फलस्वरूप नैतिकता का जन्म होता है। मनुष्य विश्व का अवयवी तथा अभिन्न अंग है। इसलिए भौतिक तथा सामाजिक सम्बन्धों से हीन निरपेक्ष मनुष्य की कल्पना करना उचित नहीं है। नवीन मानववाद मनुष्य को सामाजिक सम्बन्धों से हीन निरपेक्ष मनुष्य की कल्पना करना उचित नहीं है। नवीन मानववाद मनुष्य को सामाजिक सम्बन्धों का समग्र मानकर चलता है। शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय मानव स्वभाव उसकी केन्द्रीय मान्यता नहीं है।[101] इस प्रकार निरपेक्ष मानववाद मनुष्य की लोकोत्तर स्वायत्तता का समर्थन करता है, इसके विपरीत वैज्ञानिक मानववाद मनुष्य को बाह्य विश्व का अभिन्न अंग मानता और उस आधार पर मनुष्य के विषय में विकासात्मक और कार्यमूलक आधार को मान्यता देता है।

राय ने अपने मानववाद को उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस और जर्मनी के मानववादी सम्प्रदायों से भी भिन्न बताया है। नवीन मानववाद भौतिक विज्ञानों, समाजशास्त्र, कार्यविज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं में हुए अनुसन्धानों पर आधारित है। उसका दार्शनिक आधार भौतिकवाद है, और पद्धति यांत्रिक है। उसे मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों में विश्वास है, किन्तु उस विश्वास का आधार शुद्ध अथवा शास्त्रीय विद्यमान नहीं है। उसके इस विश्वास का आधार वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धानों का वह विशद साक्ष्य है जिसने मनुष्य की मौलिक तथा सृजनात्मक शक्तियों को प्रमाणित कर दिया है।[102] जैविकीय अनुसन्धानों ने मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण सम्भव बना दिया है। जीवन का उद्भव भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में हुआ है। मनुष्य का गौरव इस बात में है कि वह प्रकृति की विकासात्मक प्रक्रियाओं की उच्चतम अभिव्यक्ति है। मनुष्य की सर्वोच्चता किसी लोकोत्तर अतिभौतिक प्राणी से व्युत्पन्न नहीं हुई है। उसने प्रकृति को समझकर

---

99 *New Humanism*, पृ. 44.

100 वही, पृ. 48.

101 एम. एन. राय, *Heresies of the Twentieth Century*, पृ. 165-66.

102 नवीन मानववाद इस अर्थ में 'नवीन' है कि वह मनुष्य के सम्बन्ध में एक नयी धारणा को स्वीकार करना है। उसका विश्वास है कि मनुष्य तत्वत: बौद्धिक प्राणी है, यह सिद्धान्त ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है।—एम. एन. राय, 'New Humanism', *Radical Humanist*, अप्रैल 5, 1959, पृ. 182.

और उस पर आंशिक विजय पाकर जो सृजनात्मक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं उन्होंने उसे सर्वोच्च बना दिया है। यद्यपि अन्ततः मनुष्य की जड़ें भौतिक प्रकृति में ही हैं, किन्तु वह उससे अभिभूत नहीं है। नवीन मानववाद मनुष्य को इसलिए सर्वोच्च मानता है कि उसके अनुसार इतिहास मनुष्य के क्रियाकलाप का लेखा-जोखा है, और समाज को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह एक विशाल शक्ति के रूप में अपने को व्यक्ति पर थोप दे। नवीन मानववाद का आधार यांत्रिक ब्रह्माण्ड विद्या तथा भौतिकवादी तत्वशास्त्र है, वह भावात्मक मनोवेगों के काव्यात्मक अथवा काल्पनिक आधारों पर कायम नहीं है। मानववादी आचारनीति (नवीन मानववाद के नैतिक विचार) बुद्धिवाद पर आधारित हैं, और मनुष्य की बौद्धिकता का स्रोत मुख्यतः प्रकृति का बौद्धिक स्वभाव है।[103] मनुष्य अपनी बौद्धिकता (सदसद्विवेक) को जैविक विकास के द्वारा प्रकृति से ही प्राप्त करता है। बुद्धिवादी मानववाद का बीज हमें दे कार्त के दर्शन में तथा अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकवादियों के विचारों में मिलता है। अतः राय का दावा है कि अविकल मानववाद आधुनिक ज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय पर आधारित है।

नवीन मानववाद नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, विवेक तथा आचारनीति के मूल शास्त्रीय महत्व को स्वीकार करता है। किन्तु आत्मा से राय का अभिप्राय वह नहीं है जो अरस्तू अथवा दे कार्त का था।[104] वे विश्व की हेतुवादी (प्रयोजनवादी) धारणा के विरोधी हैं। यहाँ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों से मुक्ति है। यूरोप में पुनर्जागरण ने आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया था किन्तु पूँजीवादी समाज के बन्धनों से उत्पन्न भय तथा नैतिक अविश्वास ने उसे अभिभूत कर लिया था।[105] नवीन मानववाद आध्यात्मिक स्वतन्त्रता पर पुनः बल देता है। अविकल मानववाद में तीन आधारभूत मूल्यात्मक तत्व हैं—स्वतन्त्रता, बुद्धि तथा नैतिकता। ये तीनों चीजें काल्पनिक अथवा पूर्वसिद्ध नहीं हैं, वे उन अनुभवों का घनीभूत सार हैं जो ऐतिहासिक विकास के दौरान प्राप्त हुए हैं। मूल तथ्य यह है कि इस शत्रुतापूर्ण जगत में प्राणी को जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है। आत्म-परिरक्षण तथा आत्म-पुनर्जनन के लिए यह संघर्ष ही स्वतन्त्रता की धारणा का आधार है। स्वतन्त्रता एक वास्तविक सामाजिक धारणा है, वह जीवन की एक प्रमुख प्रेरणा है। स्वतन्त्रता कोई ब्रह्माण्ड से परे की वस्तु नहीं है। उसे इसी संसार में साक्षात्कृत करना है। कुछ लोग आन्तरिक स्वतन्त्रता तथा बाह्य स्वतन्त्रता के बीच एक रहस्यात्मक भेद मानते हैं। उनका कहना है कि बाह्य बन्धनों के बावजूद आत्मा स्वतन्त्र रह सकती है। राय इस प्रकार के विचारकों के झाँसे में नहीं आये। उनका कहना था कि काल्विन तथा लाइबनित्स द्वारा प्रतिपादित पूर्वनियतिवाद तथा पूर्वस्थापित सामंजस्य की धारणाएँ स्वतन्त्रता के आदर्श के विपरीत हैं। हेतुवाद (प्रयोजनवाद) तथा स्वतन्त्रता में परस्पर विरोध है।[106] राय ने मार्क्सवाद की आलोचना इस आधार पर की है कि आर्थिक नियतिवाद के

---

103 यहाँ पर राय के विचारों में अन्तर्विरोध है। एक ओर तो वे प्रकृति के नियतिवाद को मनुष्य की बौद्धिकता का स्रोत मानते हैं, और फिर नियतिवाद और स्वतन्त्रता के बीच मेल स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने लिखा है, "अपने मानस' बुद्धि तथा इच्छा से युक्त मनुष्य प्राकृतिक विश्व का अभिन्न अंग है। विश्व एक क्रमबद्ध तथा विधि-शासित व्यवस्था है। इसलिए मनुष्य का जीवन तथा जीवन की प्रक्रिया, उसके संवेग, इच्छा, विचार आदि भी निर्धारित हैं। मनुष्य तत्वतः बौद्धिक है। मनुष्य की बुद्धि विश्व के सामंजस्य की प्रतिध्वनि है। नैतिकता को मनुष्य की जन्मजात बौद्धिकता पर आधारित मानना चाहिए। तभी मनुष्य स्वतः तथा स्वेच्छा से नैतिक बन सकता है।" ऐसा प्रतीत होता है कि राय अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों की इन धारणाओं को स्वीकार करते हैं कि प्रकृति में एकरूपता है और वह अपरिवर्तनीय नियमों से शासित होती है। ये धारणाएँ मार्क्स के बौद्धिक विश्वासों का अंग थीं। अन्य धारणाओं की भाँति इन विचारों में भी राय अपनी रचनाओं की मानववादी अवस्था में भी मार्क्स के श्रद्धालु शिष्य बने रहे। (*New Humanism*, पृ. 48-49)

104 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 61। "आत्मा की तत्वशास्त्रीय धारणा वास्तव में बाह्य सत्ता का ही आन्तरिकीकरण है। एक बाह्य सत्ता अपने को मनुष्य की चेतना में प्रतिष्ठित कर लेती है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर देती है।"

105 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 63.

106 एम. एन. राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ. 38.

सिद्धान्त ने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को हेतुवादी रूप प्रदान कर दिया है।[107] अरविन्द के अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य में ईश्वर द्वारा रोपित एक मूल प्रवृत्ति है, इसके विपरीत राय जीवन तथा आत्मपरिरक्षण के संघर्ष को जिसकी धारणा का प्रतिपादन हॉब्स और डार्विन ने किया है, स्वतन्त्रता का मूल स्रोत मानते हैं। राय के भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र में स्वतन्त्रता को निरपेक्ष आत्मा का निर्विकल्प सार नहीं माना गया है, वह तो जैविक विकास की ही एक विरासत है। जीवन के लिए जो जैविक संघर्ष चला करता है वही भावनात्मक और संज्ञानात्मक स्तर पर स्वतन्त्रता की खोज का रूप धारण कर लेता है।[108] अत: स्वतन्त्रता सामाजिक प्रगति और सामूहिक उन्नति की मूल प्रेरणा अथवा अभिप्रेरणात्मक शक्ति है। स्वतन्त्रता के तीन मुख्य स्तम्भ हैं—मानववाद, व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद।[109] प्रोटोगोरस, पेनेटिउस और फिलो की कल्पना थी कि बुद्धि, चित्त (नॉउस) अथवा ज्ञान (लॉगॉस) का वास्तविक अस्तित्व है। राय ने उनकी इस तत्वशास्त्रीय धारणा को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है कि मनुष्य विधि-शासित तथा विधि-निर्धारित विश्व में निवास करता है, और यही उसकी बुद्धि का मूलाधार है। मनुष्य को धीरे-धीरे कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर सोचने का अभ्यास हो जाता है। संस्थापक सम्प्रदाय (क्लासीकल स्कूल), अर्थशास्त्रियों तथा मार्क्सवादियों की भाँति राय भी मानते हैं कि मनुष्य मूलत: बौद्धिक प्राणी है, यद्यपि उनके व्यक्तित्व का कल्पनात्मक तथा संवेगात्मक पक्ष भी है और वह कभी-कभी गम्भीर क्रोध और प्राकृतिक शक्तियों की-सी प्रचण्डता के साथ फूट पड़ता है। आचारनीति का आधार अन्त:प्रज्ञात्मक अथवा लोकोत्तर नहीं है। मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों की प्रक्रियाओं तथा वैयक्तिक तालमेल के विषय में व्यवस्थित ढंग से बुद्धि का प्रयोग करता है इसी से आचारनीति का उद्भव होता है। आचारनीति का उद्देश्य मानव-जाति के सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करना है। राय ने परावौद्धिक तत्वशास्त्र और आचारनीति की मान्यताओं को चुनौती दी। वे बुद्धि पर आधारित आचारनीति के समर्थक थे। राय का यह नीतिशास्त्र कांट के बौद्धिक निग्रहवाद (कठोरतावाद) से भिन्न है। कांट यह मानकर चलता है कि विश्व में एक आधारभूत नैतिक व्यवस्था विद्यमान है जिसे साधारण अनुभवमूलक बुद्धि के द्वारा नहीं समझा जा सकता। इसके विपरीत, राय का कहना है कि नैतिक विवेचन की कसौटी बुद्धि होनी चाहिए, रहस्यात्मक उद्‌गारों अथवा शास्त्रीय मतवादों को नैतिक मूल्यों की कसौटी नहीं माना जा सकता। राय की इस बौद्धिक आचारनीति का आधार भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र है। इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना है। राय उन लोगों से भी भिड़ने को तैयार हैं जो कुत्सित भोगवाद और नग्न इन्द्रियपरायणता को ही भौतिकवाद मान बैठे हैं।[110]

नवीन मानववाद का दृष्टिकोण विश्वराज्यवादी है। उनके समाज-दर्शन में राष्ट्रवाद अन्तिम अवस्था नहीं है। राष्ट्रवाद का आधार जातिगत विद्वेष है, और जिस सीमा तक वह सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करता है, वहाँ तक प्रतिक्रियावादी है।[111] इसलिए राष्ट्रवाद की अपेक्षा विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता है। अरविन्द, टैगोर तथा गाँधी की भाँति राय भी मानव जाति के सहकारितामूलक संघ में विश्वास करते हैं। आज से अच्छे समाज तथा स्वतन्त्र विश्व के आदर्श को साक्षात्कृत करने की बुनियादी शर्त यह है कि पहले नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्तियों की बिरादरी स्थापित की जाय। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वह स्वतन्त्रता तथा प्रगति को प्राथमिक महत्व देना सीख ले। नवीन मानववाद स्वतन्त्र मनुष्यों के समाज तथा बिरादरी के आदर्श को साकार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। राय ने विश्व-संघ का उत्साह के साथ समर्थन किया। उन्होंने लिखा, "नवीन मानववाद विश्वराज्यवादी है। आध्या-

107 एम. एन. राय, *New Humanism*, पृ. 23.
108 वही, पृ. 52-53.
109 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 61.
110 एम. एन. राय, *Materialism*, द्वितीय संस्करण, पृ. 240-41 (कलकत्ता, रेनॉसां पब्लिशर्स, 1951)।
111 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 113-16। राय ने फिक्टे तथा लुडविग जॉन द्वारा प्रतिपादित प्रतिक्रियावादी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आलोचना की है। (वही, पृ. 110-11)।

त्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का विश्वराज्य राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परिबद्ध नहीं होगा —वे राज्य पूँजीवादी, फासीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार के क्यों न हों। राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से धीरे-धीरे विलुप्त हो जायँगे।[112] राय ने विश्वराज्यवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। उन्होंने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्वराज्यवादी मानववाद का समर्थन किया है। अन्तरराष्ट्रवाद में पृथक राष्ट्रीय राज्यों के अस्तित्व का विचार निहित है। राय के अनुसार एक सच्ची विश्व-सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है।[113]

राय की मान्यता थी कि राजनीतिक तथा सामाजिक पुर्नानर्माण की आवश्यक शर्त यह है कि मनुष्य का बौद्धिक पुनर्जागरण हो जिससे वह नवीन अविकल्प मानववाद के दर्शन के मूल तत्व को हृदयंगम कर सके। स्वतन्त्रता की क्षमता व्यक्ति में मूलतः अन्तर्निहित होती है। स्वतन्त्रता का साकार होना इस बात पर निर्भर होता है कि मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्तियों की चेतना हो। मनुष्य परम्परागत पुरोहितवाद तथा आधारहीन अतिप्राकृतिकवाद के बन्धनों को तोड़कर ही आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र समाज का निर्माण कर सकते हैं। आध्यात्मिक मुक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपरिहार्य शर्त है। इस प्रकार राय के विचार रॉबर्ट ऑविन, सेंट साइमन तथा कार्ल ग्रूवीन सदृश जर्मन समाजवादियों की धारणाओं से मिलते-जुलते हैं। ये विचारक मानसिक प्रबुद्धीकरण को सामाजिक पुर्निर्माण की भूमिका मानते थे।

7. मानववादी राजनीतिक तथा आर्थिक विचार

बाकूनिन तथा क्रोपाटकिन की भाँति राय शक्ति के केन्द्रीकरण के विरोधी थे और विकेन्द्रीकरण को आवश्यक मानते थे। केन्द्रीकरण स्वतन्त्र अभिक्रम तथा स्वतन्त्र निर्णय का निषेध करता है। राजनीतिक दल, जिनके देशव्यापी संगठन तथा विशाल वित्तीय साधन होते हैं, केन्द्रीकरण के माध्यम बन जाते हैं। रूस की सोवियत प्रणाली के बावजूद वहाँ के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में साम्यवादी दल का प्रमुख स्थान है जिससे केन्द्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। वस्तुतः साम्यवादी दल केन्द्रीकरण की प्रक्रिया में मुख्य तत्व है, उसके व्यापक संगठन तथा शक्ति के कारण संघ की इकाइयों को जो स्वायत्तता मिली हुई है वह निरर्थक हो जाती है। इसीलिए राय इस पक्ष में हैं कि शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका कम से कम होनी चाहिए। वे इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि राजनीतिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन लाने का एकमात्र साधन है। वे इस पक्ष में नहीं हैं कि सामाजिक परिवर्तन के लिए विद्यमान शासनतन्त्र पर अधिकार किया जाय। उनका विश्वास है कि सामाजिक रूपान्तर के लिए दलीय संगठनों के द्वारा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा गाँवों तथा कारखानों में सघन कार्य करना अधिक अच्छा है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था का सार नागरिकों में इस भावना का विकास करना है कि शासनतन्त्र में उनका भी साझा है। स्वतन्त्रता को साकार बनाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति पर सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रतिबन्ध कम से कम हों। समाज के आमूल पुर्ननिर्माण करने के लिए व्यक्ति की प्राथमिकता को मानकर चलना आवश्यक है। संगठन, नियन्त्रण तथा तालमेल की समग्रवादी कार्यप्रणाली का प्रयोग करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करना उचित नहीं है। इसलिए जनता का अभिक्रम आवश्यक है। जॉन डीवी के इस कथन में सत्य है कि जनता परीक्षण, भूल तथा प्रयोग के द्वारा ही लोकतन्त्र की कार्यप्रणाली में प्रशिक्षित हो सकती है। संसदीय लोकतन्त्र का जो व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है उसमें भयंकर दोष हैं। चुनावों के बीच के काल में जनता के हाथों में कोई शक्ति नहीं रहती। संकट के समय में विधि का शासन भी व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ रहता है।[114] इसलिए राय ने 'संगठित

---

112 *Reason, Romanticism & Revolution*, पृ. 310.
113 *New Humanism*, पृ. 50.
114 वही, पृ. 10-11।

लोकतन्त्र'[115] का निरूपण किया जिसके अन्तर्गत शिखर पर बैठा हुआ कोई प्रचण्ड शक्ति सम्पन्न व्यक्ति आदेश नहीं देगा बल्कि शक्ति जनता की स्थानीय समितियों के हाथों में होगी। औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र ने निर्वाचकों को एक ऐसी भीड़ का रूप दे दिया है जो पूर्णत: छिन्न-भिन्न और असहाय होती है। केवल संगठित लोकतन्त्र ही राज्य के ऊपर वास्तविक नियन्त्रण कायम रख सकता है। राय ने लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद की मिथ्या कल्पना का भी परित्याग करने का आग्रह किया है। वे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते थे जिसमें सामाजिक प्रविधि और मानव बुद्धि तथा निर्माण की संग्रहीत शक्तियों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक कल्याण एवं प्रगति के आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जायगा।[116]

राय की संगठित लोकतन्त्र और दलविहीन लोकतन्त्र की धारणा के अनुसार राज्य का ढाँचा संगठित स्थानीय लोकतान्त्रिक निकायों के आधार पर निर्मित होना चाहिए। ये निकाय राष्ट्र के लिए राजनीतिक विद्यालयों का काम करेंगे और जनता को अपने सामाजिक तथा राजनीतिक उत्तर-दायित्वों को चतुराई के साथ पूरा करने का प्रशिक्षण देंगे। वे नागरिकों को उनके सर्वोच्च अधि-कारों के सम्बन्ध में सचेत बनाएँगे और उन्हें ऐसी शिक्षा देंगे जिससे वे अपने कर्तव्यों का चतुराई के साथ तथा उद्देश्यपूर्वक पालन कर सकें। शासकों पर प्रत्याह्वान, जनमत-संग्रह आदि प्रत्यक्ष लोक-तान्त्रिक प्रतिबन्धों के द्वारा निरन्तर नियन्त्रण रखा जायगा। राय को चाहिए था कि इसमें अभि-क्रम की प्रथा को भी सम्मिलित कर देते। केवल इन स्थानीय लोकतान्त्रिक निकायों को चुनाव के लिए प्रत्याशी खड़े करने का अधिकार होगा। लोग दलगत, वर्गगत अथवा अन्य संकीर्ण स्वार्थों को ध्यान में रखकर मतदान नहीं करेंगे, उन्हें एकमात्र ध्यान इस बात का होगा कि नैतिक साख, राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना तथा आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न लोग उच्च पदों पर पहुँचें। ये संगठित स्थानीय लोकतान्त्रिक निकाय तभी सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं जबकि जनता में नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनर्जागरण के गुणों और मूल्यों का व्यापक रूप से प्रचार हो। दूसरे शब्दों में, इस लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना से पहले मानसिक प्रबुद्धीकरण का होना आवश्यक है। यह व्यवस्था बिना राजनीतिक दलों की मध्यस्थता के कार्य करेगी। एक अर्थ में राय रूसो के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, क्योंकि इससे सम्पूर्ण वयस्क जनता को लोक समितियों के द्वारा शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अवसर मिल जाता है। इस योजना की सफलता जनता के उन वर्गों पर निर्भर करती है जो नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से विकसित हैं। वे 'एक राजनीतिक दल के रूप में संयुक्त' होंगे और उनका एकमात्र काम जनता के बौद्धिक तथा नैतिक कल्याण का अभिवर्धन करना होगा। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता से सम्पन्न पुरुषों तथा स्त्रियों का यह दल शक्ति पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं करेगा। वे इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि वैयक्तिक स्वायत्तता तथा शक्ति के संचय में परस्पर तीव्र विरोध है। इस आध्यात्मिक दल का—यदि उनके लिए दल शब्द का प्रयोग किया जा सके—मुख्य उद्देश्य लोकसमितियों के संगठन में सहा-यता देना होगा और ये समितियाँ लोकतान्त्रिक शक्ति का मुख्य केन्द्र होंगी।

किन्तु संगठित लोकतन्त्र के इस आदर्श को तत्काल साकार नहीं किया जा सकता। इसलिए संक्रमण काल के लिए राय एक कम कठिन उपाय का सुझाव देते हैं। चुनाव तथा चयन दोनों का मिश्रण आवश्यक है। संक्रमण काल में एक राज्य परिषद अवशिष्ट शक्ति का प्रयोग करेगी। इंजीनियर, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, डाक्टर, विधिवेत्ता, इतिहासकार तथा कला और ज्ञान की उन्नति में संलग्न अन्य व्यवसायों के समूह परिषद की सदस्यता के लिए कुछ लोगों के नामों को प्रस्तावित करेंगे। राज्य का मुख्य कार्यसंचालक इन सदस्यों को नाम निर्देशित करेगा। वह कुछ अन्य ऐसे व्यक्तियों को भी नामांकित कर सकेगा जो सुयोग्य हैं किन्तु किसी वर्ग से सम्बन्धित नहीं हैं। इस परिषद को राज्य की आर्थिक, सांस्कृतिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं के निष्पादन के सम्बन्ध में पथप्रदर्शन करने का अधिकार होगा।

---

115 वही, पृ. 12।
116 वही, पृ. 21।

राय एकाधिकारी पूंजीवाद तथा उससे उत्पन्न विशाल उत्पादक संघों और उद्योगमण्डलों के विरुद्ध थे। एकाधिकार की वृद्धि से केवल प्रतियोगिता ही कम नहीं होती वल्कि वित्तीय तथा औद्योगिक शक्ति के केन्द्र स्थापित हो जाते हैं। इसलिए एकाधिकारी पूंजीवाद का नाश करना आवश्यक है। सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएँ जो पूंजीवाद के कारण अधिक गहरी हो जाती हैं, संसदीय लोकतन्त्र को मखौल बना देती हैं। उदारवाद पूँजीवाद भी जो अहस्तक्षेप तथा मुक्त उद्योग के सिद्धान्तों पर आधारित है, लोकतन्त्र का गला घोंटता है।[117] किन्तु राज्य पूंजीवाद तथा राज्य समाजवाद भी, जो पूँजीवाद के विकल्प माने जाते हैं, व्यक्ति की स्वायत्तता पर भयंकर प्रहार करते हैं। इनके द्वारा यदाकदा निजी एकाधिकारी पूंजीवाद से संघर्ष करना भले ही सम्भव हो सके, किन्तु राज्य पूँजीवाद और राज्य समाजवाद दोनों ही सेना तथा नौकरशाही की शक्तिशाली नींव पर आधारित होते हैं, इसलिए वे दमन के विनाशकारी साधन सिद्ध होते हैं। इसलिए एकमात्र विकल्प कोई ऐसी आर्थिक व्यवस्था होगी जो व्यापक विकेन्द्रीकरण तथा सहयोग की भावना तथा आचरण पर आधारित हो।[118] इसलिए राय ने सहकारी अर्थतन्त्र का समर्थन किया, जिसके अन्तर्गत उत्पादन का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। केवल इसी प्रकार निहित स्वार्थों के भ्रष्टकारी प्रभावों का उन्मूलन किया जा सकता है।

राय व्यक्तिवाद को लोकतन्त्र का सैद्धान्तिक आधार मानते हैं, और उन्होंने दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अर्थ में व्यक्तिवाद की व्यापक धारणा का समर्थन किया है। उनके अनुसार व्यक्ति, परिवार ही नहीं वल्कि समाज से भी पहले का है। समाज का जन्म व्यक्तियों के ऐच्छिक समुदाय के रूप में हुआ था।[119] व्यापक सामाजिक व्यक्तिवाद में यह निहित है कि स्त्रियों पर जो अनेक प्रतिवन्ध हैं वे हटा दिये जायँ। राय पितृसत्ता पर आधारित संयुक्त परिवार की प्रथा को अतीत का एक अवशेष मानते हैं। उन्होंने स्त्रियों की स्वतन्त्रता की वृद्धि करने का समर्थन किया है,[120] और वे पितृसत्ता के विरोधी हैं।

8. निष्कर्ष

इसमें सन्देह नहीं कि मानवेन्द्रनाथ राय आधुनिक भारत में दर्शन तथा राजनीति के लेखकों में सबसे वड़े विद्वानों में से थे। वे महान् वक्ता भी थे। उनकी शैली ओजपूर्ण तथा प्रसादगुण सम्पन्न थी। उन्होंने वहुत लिखा है। कहा जाता है कि उन्होंने 'फिलोसोफीकल कौंसीक्वेंसेज आव मॉडर्न साइंस' (आधुनिक विज्ञान के दार्शनिक परिणाम) नामक एक छह हजार पृष्ठ की पुस्तक लिखी थी। वह जब प्रकाशित होगी तो सम्भवतः अनेक जिल्दों में पूरी हो सकेगी। उनकी विद्वत्ता वास्तव में वहुत ही चित्ताकर्षक थी। यद्यपि उन्हें दर्शन अथवा सामाजिक विज्ञानों के शास्त्रीय क्षेत्रों का विशेष ज्ञान नहीं था, फिर भी उनकी विद्वत्ता वड़ी व्यापक थी।

राय का भारतीय चिन्तन के इतिहास में एक व्याख्याकार तथा इतिहासकार के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। आधुनिक काल में विज्ञान के दर्शन के क्षेत्र में जो विकास हुए हैं उनको समझने वाले भारतीय विद्वानों में राय सम्भवतः सवसे योग्य थे। उनकी पुस्तक 'रीजन, रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोलूशन' (वुद्धि, कल्पना तथा क्रान्ति) पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास में एक भारतीय लेखक का महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी 'मैटीरियलिज्म' (भौतिकवाद) नामक पुस्तक भी काफी अच्छी है।

राय एक अतिदृढ़ तथा आक्रामक भौतिकवादी थे। कारण कुछ भी रहा हो, इतना स्पष्ट है कि भारत में भौतिकवाद का एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में सहानुभूतिपूर्वक स्वागत नहीं किया गया है। राय का दुर्दमनीय भौतिकवाद एक प्रतिपक्ष के रूप में वहुत ही महत्वपूर्ण है। वे भौतिक-

---

117 एम. एन. राय. 'Problems of Democracy', *The Problem of Freedom*, पृ. 131-40.

118 21 सितम्वर. 1943 को उग्र लोकतान्त्रिक दल (रेडीकल डेमोक्रेटिक पार्टी) ने जो घोषणा प्रकाशित की थी उसमें उपभोक्ताओं तथा प्राथमिक उत्पादकों की सहकारी समितियों का समर्थन किया गया था। एम. एन. राय, *National Government or People's Government*, पृ. 104.

119 एम. एन. राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ. 83.

120 वही, पृ. 60-61, "*The Ideal of Indian Womanhood.*"

वाद को एक क्रान्तिकारी दर्शन मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में उसका ज्ञानशास्त्र (ज्ञान-मीमांसा) धारणा-शक्ति की दृष्टि से बहुत ही विस्तृत है। वह मनमाने ढंग से मनुष्य की जानने की शक्ति की कोई सीमाएँ निर्धारित नहीं करता। वह मनुष्य की विविध अनुभूतियों की निरन्तर जाँच करता रहता है, और मानव ज्ञान की सीमाओं का उत्तरोत्तर प्रसार करता जाता है। वह भौतिक ज्ञान पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता जैसा कि कबीर आदि कुछ रहस्यवादियों ने किया है। भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में प्रत्ययवाद के लोकोत्तर सम्प्रदायों की इतनी अधिक महिमा गायी गयी है कि सामाजिक दर्शन तथा प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में किये गये प्रयासों को यदि पूर्णतः निरर्थक नहीं तो गौण अवश्य माना जाता है। किन्तु राय ने अपने भौतिकवादी उत्साह और उग्रता के द्वारा चिन्तन को उत्तेजित करने की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया है। भौतिकवाद के पक्ष में उनके तर्क शुद्ध बौद्धिक नहीं हैं और उनमें काल्पनिकता तथा कट्टरतापूर्ण उग्रता अधिक देखने को मिलती है, फिर भी उन्होंने इस क्षेत्र में नवीन चिन्तन के लिए आवश्यक उत्तेजना प्रदान की है। भारत में स्फूर्तिदायक तथा सृजनात्मक चिन्तन के विकास के लिए आधारहीन लोकोत्तरता पर प्रहार करना आवश्यक है। भारतीय चिन्तन में ब्रह्माण्डशास्त्र की नये सिरे से व्याख्या करने की आवश्यकता है।

राय द्वारा प्रतिपादित 'नवीन मानववाद' जीवन में मूल्यों को प्रथम स्थान देने का उपदेश देता है। वह स्वतन्त्रता की शाश्वत प्रेरणा को सर्वोच्च मानता है। आधुनिक विश्व की राजनीतिक विषमावस्था का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य ने नैतिक मूल्यों का परित्याग कर दिया है, और केवल औपचारिक संस्थाओं की पूजा करने लगा है। बीसवीं शताब्दी की राजनीति का अन्धविश्वास संस्थाओं की पूजा है। लोकतान्त्रिक राजनीति में भी मानव के निर्माण की नैतिक तथा शैक्षिक समस्याओं की उपेक्षा की जाती है। सर्वत्र संस्थाओं, आयोगों और समितियों का जाल निर्मित किया जा रहा है, और आशा की जाती है कि निरन्तर वृद्धिमान संस्थाओं का यह अम्बार मनुष्य के लिए सतयुग ले आयेगा। किन्तु राय का कहना है कि लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है जबकि सार्वजनिक मामलों का संचालन आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों के हाथों में होगा। अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि सरकारें सबसे पहले अपनी अन्तरात्मा के प्रति उत्तरदायी हों। चतुराई, गुणों की श्रेष्ठता तथा सत्यनिष्ठा नेतृत्व की कसौटी होनी चाहिए। नवीन मानववादी मूल्यशास्त्र स्वतन्त्रता, ज्ञान तथा सत्य को प्राथमिकता देता है। राय का यह सिद्धान्त कि राजनीति तथा समाज का आधार मूल्य होने चाहिए, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि जो व्यक्ति किसी समय मार्क्सवादी क्रान्तिकारी था और शस्त्रों द्वारा शक्ति पर अधिकार करने का उपदेश देता था वही नैतिक पुनर्जागरण की आवश्यकता पर जोर दे रहा है। भारत संसदीय लोकतन्त्र के मार्ग पर चल पड़ा है। एशिया के अनेक देशों में किसी न किसी प्रकार के समग्रवाद ने लोकतन्त्र को अभिभूत कर दिया है। ऐसे संकट के समय में मानवेन्द्रनाथ राय का आग्रह है कि केवल मानव सद्गुण का पवित्रकारी प्रभाव देश को आसन्न खतरे और विप्लव से बचा सकता है। राय ने लगभग गांधीजी की भाषा में कहा है कि जिन बहुसंख्यकों के हाथों में शक्ति है उनकी नैतिक अन्तरात्मा ही संसदीय लोकतन्त्र की सुरक्षा की एकमात्र गारण्टी हो सकती है।

समाजवादी चिन्तन के इतिहास में राय का स्थान एक नैतिक संशोधनवादी का है। उन्होंने एक मार्क्सवादी के रूप में अपना बौद्धिक जीवन आरम्भ किया, किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने मार्क्स की सभी प्रस्तावनाओं की नये ढंग से व्याख्या कर दी। लेकिन उनका 'अविकल उग्र नवीन मानववाद' एक नितान्त नयी विचारधारा नहीं है, वह मार्क्सवाद का नैतिक निर्वाचन है। अतः मेरा विचार है कि उनकी सामान्य सैद्धान्तिक स्थिति की तुलना वामपक्षी जर्मन संशोधनवादियों से की जा सकती है। मैं राय को भारतीय एडवर्ड बर्नस्टाइन मानता हूँ। बर्नस्टाइन और एडलर ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों में कांट की आचारनीति जोड़कर उन्हें पूर्ण कर दिया है। उसी प्रकार राय ने भौतिकवाद को मानववादी आचारनीति के द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने स्वतन्त्रता, बुद्धि तथा सामाजिक मानववादी आचारनीति पर जो जोर दिया है वह भौतिकवादी चिन्तन में एक स्वागत योग्य योगदान है।

किन्तु राय ने यह मानकर भूल की है कि भौतिकवाद ही एकमात्र सम्भव दर्शन है। एक मार्क्सवादी प्रचारक की भाँति वे भी भौतिकवाद के कट्टर समर्थक हैं; किन्तु यह एक अतिशयोक्ति है कि भौतिकवाद के अतिरिक्त अन्य कोई दर्शन सम्भव ही नहीं है। आधुनिक युग में ही दर्शन के अनेक सम्प्रदाय हैं, जैसे अवयवी सम्प्रदाय,[121] तटस्थतावाद और अस्तित्ववाद। सभी अभौतिकवादी सम्प्रदायों को गलत मानने अथवा उन्हें धार्मिक पुनरुत्थान की अभिव्यक्ति वतलाने से सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण में कोई सहायता नहीं मिलती। ज्ञान असीम है, अतः कोई एक सिद्धान्त अन्तिम नहीं माना जा सकता।

राय ने नवीन मानववाद के नाम पर सुखवाद की नींव को मजबूत करने का प्रयत्न किया है। एक भौतिकवादी होने के नाते वे जीवन को ही साध्य मानते हैं। जीवन का एकमात्र उद्देश्य जीवित रहना है, और जीवित रहने का अर्थ है उन सब इच्छाओं की पूर्ति के लिए शक्ति और साधन प्राप्त करना जो स्वभावतः मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार राय बेंथमवादी हैं, और उन्होंने आत्मत्याग तथा सरलता के आदर्शों में विश्वास करने वाले भारतवासियों को यह उपदेश दिया है कि इच्छाओं की पूर्ति से उत्पन्न होने वाला आनन्द ही जीवन में सब कुछ है। किन्तु इतिहास बहुत आगे बढ़ चुका है। अब इस युग में सुखवाद के इस शिद्धान्त का कि 'इच्छाओं की पूर्ति ही जीवन का आत्म-साक्षात्कार है, उपदेश देने के लिए किसी सिद्धान्त को गढ़ने का कोई औचित्य नहीं है।'[122] प्राचीन भारतीय संस्कृति के मुख्य प्रवर्तकों की धारणा थी कि शारीरिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति जीवन के आत्म साक्षात्कार का मार्ग नहीं है, उसके लिए तो वासनाओं, मनोवेगों और आवश्यकताओं का दमन करने की जरूरत है। राय ने वेदान्त की उस प्रमुख परम्परा का विरोध किया है जो इच्छाओं को जीतने का उपदेश देती है। उन्होंने इस परम्परा को ब्राह्मणों का कट्टरपंथी पुरोहितवाद बताया है। इस दृष्टि से राय को भौतिकवादी ब्रह्माण्डविद्या और यांत्रिक पद्धति का प्रवक्ता कहा जा सकता है।

राय ने भारतीय संस्कृति की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयत्न किया। किन्तु उनकी शिक्षा-दीक्षा मुख्यतः मार्क्सवादी धारणाओं और प्रस्थापनाओं में हुई थी, इसलिए अपने विश्लेषण में उन्होंने सामाजिक शक्तियों के उन विविध रूपों की ओर ध्यान नहीं दिया जिनके परिवेशीय सन्दर्भ में सामाजिक मूल्यों की उत्पत्ति और परिरक्षण होता है। एक क्रोधोन्मत्त मार्क्सवादी की लहर में उन्होंने कह दिया है कि भारत में सरल जीवन, त्याग, आत्मसंयम तथा दरिद्रता को पुण्यमूलक मानने के जो आदर्श रहे हैं वे उस प्राक्-पूंजीवादी अर्थतन्त्र की वैचारिक अभिव्यक्ति हैं जिसके अन्तर्गत जीवन-निर्वाह की वस्तुओं का प्रायः अभाव रहा करता था।[123] राय का यह कथन कोरा मार्क्सवादी प्रचार है। आत्मसंयम विवेकपूर्ण जीवन का सार है, सामाजिक व्यवस्था से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वह समाजवादी हो, चाहे साम्यवादी अथवा फासीवादी। आत्मत्याग नैतिक तथा सामाजिक उदारता का तात्विक लक्षण है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों में पूर्णतया निमग्न होने के कारण राय भारतीय संस्कृति की कोई मौलिक समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत न कर सके। कभी-कभी मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण वे अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मान बैठते थे, यद्यपि उनकी इस मान्यता का कोई अधिकार नहीं था। उदाहरण के लिए उन्होंने गान्धीवाद को 'मध्ययुगीनता' तथा गान्धीवादी जीवन-प्रणाली को आदिम बताया और उनकी भर्त्सना की। यह इस बात का द्योतक है कि उन्होंने उस आंग्ल-भारतीय मनोवृत्ति को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था जिसके अनुसार भारतीय संस्कृति ब्राह्मणों के प्रभुत्व का पर्यायवाची थी और ऐसी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती थी जो आर्थिक पतन की द्योतक थीं। राय पन्द्रह वर्ष (1915-1930) तक भारत से निर्वासित रहे थे। अगले छह वर्ष उन्होंने जेल में विताये। इसलिए वे जो कुछ हिन्दू अथवा भारतीय था इसके स्वच्छन्द आलोचक बन गये। किन्तु उनकी आलोचना प्रायः निर्वारित होती थी,

---

121 ह्वाइटहेड का 'अवयवी' का सिद्धान्त।
122 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 61.
123 एम. एन. राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ. 62.

साम्यवादी विश्वराज्यवादी होने के नाते व राष्ट्रवाद को एक पुराना और फूट डालने वाला पंथ मानते थे।[124] वे अपने को आधुनिक मानते समझते थे और इसलिए वे भारतीय संस्कृति तथा गांधीवाद के विरुद्ध जहर उगला करते थे।[125] भौतिकवादी होने के नाते वे धर्म तथा आध्यात्मिक दर्शन को बेसिरपैर का अज्ञान मानते और उसकी भर्त्सना किया करते थे। मानवेन्द्रनाथ राय एक ऐसे बुद्धिवादी थे जो भारतीय समाज में अपनी जड़ें न जमा सके। इस काम में उन्हें जितनी ही अधिक असफलता मिली उतनी ही उनकी आलोचना अधिक उग्र और क्रोधपूर्ण होती गयी। यही उनके सम्बन्ध में सबसे अधिक दुःख की बात थी। उनकी आलोचना का रूप सदैव ध्वंसात्मक बना रहा।[126]

राय की रचनाओं में प्रायः दो बातों का मिश्रण देखने को मिलता है, उनका विविध पांडित्य और उनसे भिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों का समर्थन करने वालों के विरुद्ध कटु व्यंग्य। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक राजनीति' में वे लिखते हैं, "क्रान्तिकारी राजनीति को वैज्ञानिक दर्शन से प्रेरणा लेनी चाहिए। उस प्रेरणा के बिना राजनीति जनोत्तेजकों, छलियों और चाकरी ढूंढ़ने वालों का अखाड़ा बन जाती है। राजनीति का आध्यात्मीकरण नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक अथवा नैतिक राजनीति प्रायः ठगों और धूर्तों का आश्रय हुआ करती है। हमें स्वयं इसका अनुभव है।"[127] कटूक्तियों की इस सूची से निश्चय ही उनके हृदय का उत्साह प्रकट होता है, किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि राजनीति के नैतिक आधारों के महत्व को न स्वीकार करना भी भारी भूल है। सिसेरो, सिनेका तथा ईसा मसीह इस आदर्श के प्रतिपादक थे कि राजनीति का आधार नैतिक होना चाहिए। मानव चिन्तन के विकास में उनका योगदान नगण्य नहीं है।

मानवेन्द्रनाथ राय का यह निष्कर्ष भी गलत था कि राष्ट्रवाद एक पुराना और सड़ा-गला आदर्श है। उनकी भावना थी कि द्वितीय विश्व-युद्ध ने राष्ट्रवाद के गम्भीर अन्तर्विरोधों को प्रकट कर दिया था। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद के उन्माद ने भारत को स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेने से रोक दिया था। इसलिए वे राष्ट्रवाद को विचारशून्य भावुकता के समतुल्य मानते थे। राय के दृष्टिकोण तथा चिन्तन दिशा का निर्माण अहंकारपूर्ण साम्यवादी बुद्धिवाद द्वारा हुआ था। उनकी कठिनाई यह थी कि वे एक मूल-विहीन बुद्धिवादी थे और इसलिए वे भारतीय राष्ट्रवाद की गहरी दबी हुई भावनाओं को पहचानने में असफल रहे। उन्होंने राष्ट्रवाद के आदर्श पर भी प्रहार किया। क्रोध के उन्माद में वे यहाँ तक कह बैठे कि "राष्ट्रवाद की पराजय भारतीय स्वतन्त्रता की शर्त है।"[128] उन्होंने महात्मा गान्धी तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विचारधारा की तुलना फासीवाद से की और ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि इस फासीवाद का उन्मूलन कर दे। ब्रिटिश सरकार ने 1942 के आन्दोलन को कुचलने के जो बर्बर प्रयत्न किये उन्हें राय 'भारत के अन्दर चल रहे फासीवाद-विरोधी संघर्ष का एक अभिन्न अंग' मानते थे।[129]

राय का यह दृष्टिकोण सही है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण मानववादी और सार्वभौमी (विश्वैकतावादी) तत्व थे। किन्तु उन्होंने मैकियावेली का जो निर्वचन किया है वह सही नहीं है। उन्होंने लिखा है, "यह सत्य है कि इटली के पुनर्जागरण ने मैकियावेली

---

124 एम. एन. राय लिखते हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नारा राष्ट्रवाद की जातीय (नस्लगत) जड़ों को मजबूत करता है और प्रचलित सामाजिक असमानताओं को छिपाने का प्रयत्न करता है। (एम. एन. राय *The Problem of Freedom*, पृ. 113).

125 एम. एन. राय ने महात्मा गान्धी को राजनीतिक धर्म संघ का पोप बताया और इस रूप में उनकी आलोचना की। उनका कहना था कि जनता के मानस पर उनका आधिपत्य जनता के अज्ञान, आध्यात्मिक पिछड़ापन तथा सांस्कृतिक पतन के कारण था। (एम. एन. राय, 'The Political Church', *The Problem of Freedom*, पृ. 124-30)। गान्धीजी के व्यक्तित्व के समुचित अध्ययन के लिए देखिये : विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, *Political Philosophy of Mahatma Gandhi*.

126 एम. एन. राय, *Heresies of the Twentieth Century*, पृ. 81-129.

127 एम. एन. राय, *Scientific Politics*, पृ. 51-52.

128 एम. एन. राय, *The Problem of Freedom*, पृ. 65.

129 वही, पृ. 67.

जैसे व्यक्ति को उत्पन्न किया जो इतिहास में राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक के रूप में प्रसिद्ध है। किन्तु पुनर्जागरण के व्यक्ति के रूप में मैकियावेली कहीं अधिक महान् है; वह मानववादी तथा विश्वैकतावादी भी था। मानववाद और विश्वैकतावाद पुनर्जागरण की संस्कृति के दो परस्पर सम्बद्ध तत्व थे।"[130] किन्तु राय ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि करने के लिए न तो कोई तर्क दिया है और न मैकियावेली की रचनाओं से ही कोई उद्धरण दिया है। यह सर्वविदित है मानव स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली की धारणा अत्यधिक विकृत और निराशावादी थी। फिर भी राय ने उमंग में आकर उसे मानववादी और विश्वैकतावादी मान लिया है। निश्चय ही राय का यह मत आश्चर्य में डालने वाला है।

राय का यह दृष्टिकोण भी गलत है कि मार्क्स ने हेगेल से समाज की अवयवी धारणा ग्रहण की थी।[132] हेगेल ने समाज के एक अवयवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु यद्यपि मार्क्स ने मनुष्य के सृजनात्मक व्यक्तित्व की धारणा का उस अर्थ में खण्डन किया है जिस अर्थ में हर्डर और फ्यूअरबाख ने उसका प्रतिपादन किया था, फिर भी वह समाज के अवयवी सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। मार्क्स ने एक व्यापक सामाजिक संघर्ष का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और बताया कि सामाजिक विकास में शोषकों तथा शोषितों के बीच संघर्ष ही प्रधान है। उसका यह मत अवयवी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष निषेध है। समाज की अवयवी धारणा में विश्वास करने वालों को या तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्यों के बीच हितों का साम्य होता है या फिर यह मानना पड़ेगा कि समाज में जैविक अथवा नैतिक अविच्छिन्नता विद्यमान रहती है। मार्क्स इनमें से किसी भी अर्थ में समाज के अवयवी सिद्धान्त का समर्थक नहीं कहा जा सकता।

राय की प्रतिभा ध्वंसात्मक थी, न कि रचनात्मक। उन्होंने कोई नयी चिन्तनधारा नहीं दी है। उन्होंने न तो राजनीतिक शास्त्र के क्षेत्र में और न दर्शन में ही किसी पूर्णतः विकसित अविकल विचार-पद्धति का प्रतिपादन किया है। उन्होंने चिन्तन के विभिन्न तत्वों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। वे बुद्धिवादी पुनर्जागरण, 'भौतिक यथार्थवादी' ब्रह्माण्डशास्त्र, मानववादी आचार-नीति तथा स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहते थे और इसी दिशा में उन्होंने प्रयत्न किया। किन्तु जो समन्वय अन्ततोगत्वा उभड़कर सामने आया है वह न तो गम्भीर है और न मौलिक। फिर भी वर्तमान काल में राजनीतिक चिन्तन पर लिखने वाले जो भारतीय हुए हैं उनमें राय सम्भवतः सबसे अधिक विज्ञ और विद्वान थे।

---

130 राय, *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 1, पृ. 82.
131 वही, पृ. 201.

22
भारत में समाजवादी चिन्तन

प्रकरण 1
भारत में समाजवादी आन्दोलन

भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास लगभग पूर्णतः बीसवीं शताब्दी की घटना है। इस दृष्टि से पश्चिम की स्थिति भिन्न है। वहाँ महान समाजवादी विचारक उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो चुके थे। मानव भ्रातृत्व, एकता तथा आध्यात्मिक समानता से सम्बन्धित कुछ भावुकतापूर्ण तथा लोकोपकारी आदर्श ऋग्वेद तथा बौद्ध धर्मग्रन्थों में, विशेषकर 'धम्मपद' में, मिलते हैं, किन्तु आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के दर्शन के रूप में समाजवाद भारत में पश्चिम के प्रभाव से ही विकसित तथा लोकप्रिय हुआ है। 1893 में अरविन्द ने 'इन्दु प्रकाश' में 'पुरानों के बदले नये दीपक' शीर्षक के अन्तर्गत सात लेख प्रकाशित कराये थे। इन लेखों में उन्होंने कांग्रेस की मध्यवर्गीय मनोवृत्ति की आलोचना की थी और 'सर्वहारा' की दशा को सुधारने का आग्रह किया था। तिलक ने 1908 की जून और जुलाई में 'केसरी' में कुछ लेख लिखे थे जिनमें उन्होंने रूस के सर्वखण्डवादियों (निहिलिस्टों) का उल्लेख किया था। किन्तु उनका उल्लेख आतंकवादियों अथवा अराजकवादियों के गुट के रूप में ही किया गया था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि तिलक पिसारीव, चैर्नीशैवस्की, तथा डब्रोलूबोव आदि महान सर्वखण्डनवादियों के विचारों से परिचित थे। सम्भवतः लाला लाजपतराय पहले भारतीय थे जिन्होंने समाजवाद[1] तथा बोलशेविकवाद के सम्बन्ध में कुछ लिखा था। किन्तु लालाजी ने अपनी पुस्तक 'फ्यूचर ऑव इण्डियन पॉलिटिक्स' में बोलशेविकवाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। उन्होंने 1920 में भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन का सभापतित्व किया था।[2] 1921-1923 में एम. एन. राय ने 'इण्डिया इन ट्रांजीशन' (संक्रमणकालीन भारत) तथा 'इण्डियन प्रौब्लम' (भारतीय समस्या) की रचना की थी। इन पुस्तकों में उन्होंने कांग्रेस पर पूंजीपतियों के आधिपत्य की कटु आलोचना की। राय ने पक्के मार्क्सवादी के रूप में अपनी रचनाएँ की थीं। तृतीय दशक के प्रारम्भिक वर्षों में एम. एन. राय तथा वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय ही दो भारतीय थे जिनकी साम्यवाद में गहरी रुचि थी। चितरंजन दास ने अपने गया कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में 1917 की रूसी क्रान्ति की महान घटना का उल्लेख किया था, किन्तु उसके प्रति उन्होंने कोई सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की। किन्तु समाजवादी हुए बिना भी दास ने भारत में श्रमसंघीय (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन के निर्माण में सहायता दी थी। 1926 में मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की। जवाहरलाल ने अपनी छोटी-सी पुस्तक 'सोवियट रशिया' में रूस की नवीन आर्थिक नीति से 1926 तक की उपलब्धियों का प्रशंसात्मक

---

1 लाजपत राय, *The Future of Indian Politics*, पृ. 104, किन्तु एम. एन. राय का कहना है कि लाजपत राय 'बुर्जुआ राजनीतिज्ञ' थे, और उन्हें समाजवाद से कोई सहानुभूति नहीं थी।

2 अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना का श्रेय मुख्यतः नारायण मल्हार जोशी को था। जोशी 1909 में गोखले की सर्वेंट्स ऑव इण्डिया सोसाइटी के सदस्य बन गये थे। 1911 में उन्होंने बम्बई में सोशल सर्विस लीग की स्थापना की।

चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अपनी 'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'आत्मकथा' में जवाहरलाल ने मार्क्स की वैज्ञानिक तथा आर्थिक पद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

मई 1923 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने की दिशा में इस घटना का विशेष महत्व था। उस समय तक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद अस्थिर विचारों का अस्पष्ट पुंज था। मेरठ षडयन्त्र अभियोग (मार्च 1929-जनवरी 1933) ने साम्यवादी विचारधारा को कुछ कुख्याति प्रदान कर दी थी। 1918 में इलाहाबाद में एक किसान सभा स्थापित की गयी थी, किन्तु उस पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव नहीं था। 1934 में इलाहाबाद में केन्द्रीय किसान संघ स्थापित किया गया। अप्रैल 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का संगठन किया गया। श्रमसंघीय आन्दोलन, युवक संघ तथा भारतीय स्वातन्त्र्य संघ की संयुक्त प्रान्तीय शाखा आदि पूर्णतः समाजवादी विचारधारा से उत्प्रेरित थे।

मई 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना भारत में समाजवाद के संगठनात्मक विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी।[3] बिहार समाजवादी दल 1931 में स्थापित किया गया, और 1934 में बम्बई समाजवादी गुट कायम हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना से सभी प्रान्तीय संगठनों और गुटों को अखिल भारतीय आधार तथा मंच मिल गया। समाजवादियों का पहला अखिल भारतीय सम्मेलन 17 मई, 1934 को पटना में नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में हुआ। इस दल की स्थापना में जयप्रकाश नारायण का मुख्य हाथ था। अच्युत पटवर्धन, यूसुफ मेहरअली तथा अशोक मेहता ने इस कार्य में उनकी घनिष्ठ सहायता की थी।[4] 1942 के आन्दोलन में जबकि साम्यवादी तथा रायवादी कांग्रेस के विरुद्ध घृणा का प्रचार करने में और उसके नेताओं को फासीवादी कहकर निन्दित करने में लगे हुए थे उस समय समाजवादियों ने वीरतापूर्ण भूमिका अदा की। 1948 के नासिक सम्मेलन में समाजवादियों ने कांग्रेस को छोड़ देने का निर्णय किया, क्योंकि कांग्रेस संगठन के भीतर आन्तरिक गुटों के निर्माण को अनुज्ञा नहीं देती थी। इस प्रकार चौदह वर्ष तक कांग्रेस में रहने के उपरान्त समाजवादियों ने उस दल का परित्याग कर दिया और भारतीय समाजवादी दल नाम का एक दल कायम कर लिया। 1952 के आम चुनावों के बाद समाजवादी दल तथा जे. बी. कृपलानी के नेतृत्व में संगठित कृषक मजदूर दल ने परस्पर विलीन होने का निर्णय किया। 25 अगस्त, 1952 को लखनऊ में दोनों दलों के नेताओं की बैठक हुई। 26 तथा 27 सितम्बर, 1952 को बम्बई में पुनः एक बैठक हुई और दोनों दल संयुक्त हो गये। संयुक्त दल का नाम प्रजा समाजवादी दल रखा गया।

भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास जिस सन्दर्भ में हुआ वह यूरोपीय समाजवाद के सन्दर्भ से दो बातों में भिन्न था। भारत में समाजवाद का विकास सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की एक योजना के रूप में ही नहीं हुआ, बल्कि वह क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनों से राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप में भी विकसित हुआ। 1900 से 1947 के काल में भारत की मूल समस्या देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता थी। कोई भी लोकप्रिय दल उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। दूसरे, भारतीय समाजवादी चिन्तन के लिए यह भी आवश्यक था कि वह खेतिहर मजदूरों के उद्धार का भी कोई सिद्धान्त और योजना प्रस्तुत करे। पश्चिमी यूरोप में सामन्तवाद का अठारहवीं शताब्दी तक प्रायः उन्मूलन हो चुका था। किन्तु भारत में सामन्तवाद बीसवीं शताब्दी के मध्य तक फलता-फूलता रहा। अतः सामन्ती अभिजातवर्गीय विशेषाधिकारों पर प्रहार करने का जो काम पश्चिम में पूंजीवादी लोकतन्त्र और पूंजीवादी उदारवाद के प्रवर्तकों ने किया था वह भारत में समाजवादी विचारकों को करना पड़ा। उन्हें पूंजीपतियों के भारी लाभ और ब्याज की बुनियाद को ही चुनौती नहीं देनी थी, बल्कि भूमिपतियों के लगान तथा भूमि से बिना परिश्रम के होने वाली कमाई का भी विरोध करना था।

---

3 जब मई 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई तो साम्यवादियों ने उसे 'वामपंथी सुधारवाद' बताया और उसकी निन्दा की।

4 अशोक मेहता, *Democratic Socialism & Studies in Asian Socialism.*

स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा गान्धीजी की मृत्यु के उपरान्त कांग्रेस समाजवादी दल की विचार-धारा में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया। 1949 के पटना सम्मेलन में दल ने लोकतांत्रिक केन्द्रवाद के वौलशेविक सिद्धान्त के प्रति भक्ति का परित्याग कर दिया। उसके स्थान पर उसने इस वात पर वल दिया कि सार्वभौम जन-आधार प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इसका अर्थ था कि नेताओं की पूजा करना छोड़कर दल के साधारण सदस्यों की एकता पर वल दिया जाय। जन-आधार प्राप्त करने के लिए उन वामपंथी विरोधी दलों के साथ, जो राष्ट्रवाद, समाजवाद और लोकतंत्र में विश्वास करते थे, चुनाव समझौते, मेलमिलाप आदि करना तथा कभी-कभी उनके साथ विलीन होना भी आवश्यक था। इस समय से दल की नीति में एक सामान्य परिवर्तन दिखायी देने लगा। क्रान्तिकारी कार्य, नगरों में कार्य तथा आन्दोलनात्मक कार्यप्रणाली के स्थान पर किसानों में रचनात्मक कार्य तथा संसदीय कार्य पर जोर दिया जाने लगा। 1920 में हुए साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के द्वितीय सम्मेलन के समय से वामपंथी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी संगठन की जो प्रणाली प्रचलित थी उसका पटना सम्मे-लन के साथ-साथ अन्त हो गया। 1949 के वाद समाजवादी दल ने सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है और लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। 1952 के गया सम्मेलन में दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सम्मेलन के सदस्यों में से नाम निर्देशित करने और चुनने की लोकतान्त्रिक प्रणाली अपनायी गयी। 1953 में इलाहा-वाद में यह निर्णय किया गया कि चुनावों में त्रिकोण संघर्षों से बचने के लिए विरोधी दलों के साथ चुनाव समझौते किये जायँ। किन्तु संयुक्त मोर्चों तथा सम्मिलित सरकारों का समर्थन नहीं किया गया। 1955 में गया से जो नीति-सम्वन्धी वक्तव्य प्रकाशित किया गया उसमें दल के पृथक व्यक्तित्व को वनाये रखने के लिए यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस, साम्यवादियों तथा हिन्दू सम्प्रदायवादी दलों के साथ कोई समझौता अथवा तालमेल नहीं किया जायगा। 1956 में बंगलौर में 1957 में आने वाले चुनावों को ध्यान में रखते हुए इस कठोर नीति में कुछ परिवर्तन किया गया और विशिष्ट परिस्थितियों में चुनाव-सम्वन्धी तालमेल करने की अनुज्ञा दे दी गयी।

16 अक्टूबर, 1959 को वम्वई में प्रजा समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक हुई और उसमें भारत के लिए वारह-सूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया गया। यह स्वीकार किया गया कि कृपक उत्पादन को वढ़ाना देश की सवसे बड़ी आवश्यकता है, और उसके लिए सेवा सहकारी समितियों का समर्थन किया गया। इस वात की सिफारिश की गयी कि भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित की जाय तथा खेती की उपजों के मूल्य ऐसे स्तर पर निश्चित किये जायँ जिससे किसानों को समुचित पारिश्रमिक मिल सके। वेकारी को कम करने तथा दलित और पिछड़े वर्गों के जीवन-स्तर को उठाने पर भी वल दिया गया। सरकार तथा लोकप्रशासन के क्षेत्रों में सिफारिश की गयी कि कार्यपालिका को न्यायपालिका से हर स्तर पर पृथक किया जाय, भ्रष्टाचार-विरोधी न्यायाधि-करण स्थापित किये जायँ जिनकी प्रास्थिति (हैसियत) उच्च न्यायालयों के समकक्ष हो और प्रशासन का वलवन्त राय मेहता समिति के सुझावों के आधार पर विकेन्द्रीकरण किया जाय। स्पष्ट है कि प्रजा समाजवादी दल कृषक तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि, न्यायोचित वितरण तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का समर्थक है। उसने साम्यवादियों की विदेशों के प्रति जो भक्ति और सम्वन्ध हैं उनकी निन्दा की है। उसका आधारभूत राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धान्त राष्ट्रवाद, धर्म-निरपेक्षता-वाद, लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण तथा नियोजित विकास का समन्वय करना है।

प्रकरण 2

नरेन्द्रदेव

1. प्रस्तावना

आचार्य नरेन्द्रदेव (1889-1956) का जन्म विक्रम सम्वत 1946 (1889 ई.) में कार्तिक शुक्ल अष्टमी को हुआ था और फरवरी 1956 में उनका देहान्त हुआ। वे हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों के ही उत्कृष्ट वक्ता तथा लेखक थे। उन्होंने तिलक तथा अरविन्द के अतिवादी राष्ट्रवाद के अनु-यायी के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। जव गान्धीजी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो नरेन्द्रदेव उसमें सम्मिलित हो गये। वीस वर्ष से भी अधिक उनका काशी विद्या-

पीठ के साथ सम्बन्ध रहा। 1934 में उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल के उद्घाटन सम्मेलन का सभापतित्व किया। उनकी प्रमुख समाजवादी बुद्धिजीवियों तथा प्रचारकों में गणना थी। उनकी भारत के किसान आन्दोलन में भी गहरी रुचि थी। वे अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापकों में से थे। दो बार वे उस सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1936 में लखनऊ कांग्रेस के बाद जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें कांग्रेस कार्यकारिणी में स्थान दिया। वे अनेक वर्ष तक अखिल भारतीय काँग्रेस समिति की कार्यकारिणी समिति के सदस्य रहे। वे इस पक्ष में नहीं थे कि समाजवादी कांग्रेस से पृथक हों, किन्तु दल के निर्णय के सामने उन्हें झुकना पड़ा।[5] 1947 में कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए नरेन्द्रदेव का नाम सुझाया गया, किन्तु सम्भवतः वल्लभ भाई पटेल ने उनका विरोध किया। नरेन्द्रदेव ने समाजवादी दल तथा कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के विलय का, जो दिसम्बर 1952 में सम्पन्न हुआ था, विरोध किया था।

2. नरेन्द्रदेव के चिन्तन का दार्शनिक आधार

नरेन्द्रदेव बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्हें संस्कृत तथा पाली का ज्ञान था। फ्रान्स के विद्वानों ने बौद्ध धर्म और दर्शन पर जो काम किया था उससे नरेन्द्रदेव का घनिष्ठ परिचय था। किन्तु आस्था से वे बौद्ध नहीं थे। फिर भी सम्भवतः उन्हें बौद्ध चिन्तन की लोकोत्तरता-विरोधी प्रवृत्ति से सहानुभूति थी। उनका विचार था कि आस्तिकता भारतीय संस्कृति का सार नहीं है, उसका मूल तत्व यह धारणा है कि विश्व नैतिक नियमों द्वारा शासित होता है।[6]

नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण विचारधारा की दृष्टि से मार्क्सवादी थे, यद्यपि गान्धीजी के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और गान्धीजी का उन दोनों पर व्यक्तिगत स्नेह था। नरेन्द्रदेव ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन की विशद व्याख्या नहीं की, फिर भी उन्होंने उसके सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया। उनका कहना था कि वास्तविकता जटिल है, किन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति वास्तविकता को उसके समग्र तथा जटिल रूप में समझने का प्रयत्न करती है।[7] वे द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त तथा पद्धति को स्वीकार करते थे, किन्तु इसमें सन्देह है कि वे मार्क्सवादी के रूप में भौतिकवाद के समग्र दर्शन को अंगीकार करने के लिए उद्यत थे। फिर भी वे मार्क्सवाद को भौतिकवादी एकत्ववाद के रूप में मानते थे और गति की सार्वभौमता को स्वीकार करते थे जिसका अर्थ है कि विश्व एक प्रक्रिया है। नरेन्द्रदेव वैज्ञानिक समाजवादी होने का दावा करते थे। उनका कहना था, "हमारे सामने जो काम है उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम समाजवाद के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को हृदयंगम कर लें तथा परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझें और उसे अपने कार्यकलाप का आधार बनाने का प्रयत्न करें। हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए, और यूरोपियाई समाजवाद अथवा सामाजिक सुधारवाद से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। *विद्यमान सामाजिक व्यवस्था का क्रान्तिकारी रूपान्तर ही परिस्थितियों* की आवश्यकता को पूरा कर सकता है। उससे कम किसी चीज से काम नहीं चल सकता।"[8]

नरेन्द्रदेव नैतिक समाजवादी थे। उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे, इसीलिए उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधार पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू तथा बौद्ध चिन्तन का गम्भीर अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप मूल्यों की पवित्रता में उनकी आस्था अधिक गहरी हो गयी थी। उन्होंने सत्य की व्यवहारवादी कसौटी को स्वीकार करने से स्पष्टतः इनकार किया। उनकी दृष्टि में सत्य प्राथमिक

---

5 किन्तु नरेन्द्रदेव ने कहा कि अगस्त 1947 तक कांग्रेस एक राष्ट्रीय मोर्चा थी, अब वह अपने उस रूप को खो बैठी है और एक पार्टी बन गयी है। उन्होंने कांग्रेस की सत्तावादी तथा केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों की आलोचना की। 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ. 317-19.

6 वही, पृ. 334.

7 नरेन्द्रदेव, *Socialism & National Revolution*, पृ. 148 (पद्मा पब्लीकेशन्स, बम्बई 1946)।

8 वही, पृ. 24-25.

तथा बुनियादी चीज थी किन्तु इसके बावजूद वे गान्धीजी के अहिंसा के सिद्धान्त को समग्र रूप में मानने के लिए तैयार नहीं थे।

3. नरेन्द्रदेव के राजनीतिक विचार

इतिहास एक निरन्तर गतिमान प्रवाह तथा सामाजिक घटनाक्रम है, इस बात को गत्यात्मक ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है। विश्व में कोई वस्तु स्थिरता की अवस्था में नहीं है। नरेन्द्रदेव को इतिहास की भौतिक व्याख्या में विश्वास था। एक मार्क्सवादी होने के नाते वे मानते थे कि पूंजीवाद के विकास की सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं।[9] एकाधिकार की वृद्धि ने पूंजीवाद के प्रसारवादी शिकंजे को और भी अधिक मजबूत बना दिया है। मानव जाति को युद्ध की व्यापक विभीषिका तथा संकटों से बचाने का एकमात्र उपाय वैज्ञानिक समाजवाद को अंगीकार करना है। उन्होंने कहा, "मार्क्स का कहना केवल यह था कि कोई विचार इतिहास के क्रम को तभी प्रभावित कर सकता है जब वह वास्तविकता का रूप धारण कर ले और इस प्रकार स्वयं एक वस्तु बन जाय। उसने मानस तथा द्रव्य के सापेक्ष महत्व का कहीं विवेचन नहीं किया है। दोनों का समान महत्व है। मनुष्य वस्तुगत परिस्थिति के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी भी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता, और न कोई वस्तुगत परिस्थिति तब तक मानव द्वारा वांछित फल उत्पन्न कर सकती है जब तक कि मनुष्य स्वयं उसमें सक्रिय भाग न ले। उसने इस पद (द्वन्द्वान्तक भौतिकवाद) का प्रयोग केवल इसलिए किया है जिससे उसकी पद्धति तथा हेगेल के प्रत्ययवाद के बीच, जो आनुभविकजगत की सत्ता से इनकार करता तथा केवल एक निरपेक्ष प्रत्यय को अंगीकार करता है, भेद स्पष्ट हो जाय। मार्क्स इस बात को स्वीकार करता है कि इतिहास के विकास में अनेक कारण कार्य करते हैं।········मार्क्स ने सदैव यह स्वीकार किया कि जो वस्तु मूलतः किसी अन्य वस्तु से व्युत्पन्न होती है उसमें स्वयं एक स्वतन्त्र कारण बन जाने की क्षमता भी विद्यमान रहती है। अतः यह कहना असत्य है कि मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास का केवल एक ही कारण माना।[10] इस प्रकार नरेन्द्रदेव ने यह माना कि उत्पादन की व्यवस्था पर गैर-आर्थिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु मेरे विचार में नरेन्द्रदेव की यह धारणा सही नहीं है कि मार्क्स द्रव्य तथा मानस दोनों को समान महत्व देता था। वे इतिहास की मार्क्सवादी एकत्ववादी धारणा की दे कार्त की द्वैतवादी भाषा में व्याख्या करने का प्रयत्न कर रहे हैं। मार्क्स के अनुसार भौतिक वास्तविकता तथा चेतना, इन दोनों में से पहली वस्तु निस्सन्देह प्राथमिक तथा आधारभूत है। नरेन्द्रदेव की व्याख्या तो वस्तुतः मार्क्स के मूल सिद्धान्त का संशोधन है।[11]

नरेन्द्रदेव पर बुखारिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टोरीकल मैटीरियलिज्म' (ऐतिहासिक भौतिकवाद) का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने बुखारिन की वर्गों की कसौटी तथा विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उसकी भाँति वे भी मानते थे कि समाज में पूंजीपतियों तथा सर्वहारा के अतिरिक्त अन्य वर्ग भी होते हैं, जैसे मध्य वर्ग, संक्रमण वर्ग तथा मिश्रित वर्ग।[12] लोकतान्त्रिक समाजवाद के समर्थक होने के नाते नरेन्द्रदेव राज्य के नौकरशाही हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। इसलिए उनका प्रस्ताव था कि मजदूरों का एक वर्ग के रूप में उद्योग के प्रबन्ध में साझा होना चाहिए। यद्यपि उनका गान्धीजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, फिर भी उन्होंने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया। उन्होंने कहा, "देश में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक द्रुत गति से कार्य कर रही है जिसके परिणामस्वरूप उच्च तथा मध्य वर्गों के अधिकाधिक अंग राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक होते जा रहे हैं। नये वर्गों का निर्माण हो रहा है और वे बहुसंख्यक जनसमुदाय से अलग हो रहे हैं।····हमारा कर्तव्य है कि उस एकता के लिए जिसका कोई आधार नहीं है,

---

9 वही, पृ. 138.
10 वही, पृ. 20-21.
11 नरेन्द्रदेव मार्क्स को मानववादी मानते थे। 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ. 307।
12 वही, पृ. 417-19.

पीठ के साथ सम्बन्ध रहा। 1934 में उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल के उद्घाटन सम्मेलन का सभापतित्व किया। उनकी प्रमुख समाजवादी बुद्धिजीवियों तथा प्रचारकों में गणना थी। उनकी भारत के किसान आन्दोलन में भी गहरी रुचि थी। वे अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापकों में से थे। दो बार वे उस सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1936 में लखनऊ कांग्रेस के बाद जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें कांग्रेस कार्यकारिणी में स्थान दिया। वे अनेक वर्ष तक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की कार्यकारिणी समिति के सदस्य रहे। वे इस पक्ष में नहीं थे कि समाजवादी कांग्रेस से पृथक हों, किन्तु दल के निर्णय के सामने उन्हें झुकना पड़ा।[5] 1947 में कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए नरेन्द्रदेव का नाम सुझाया गया, किन्तु सम्भवतः वल्लभ भाई पटेल ने उनका विरोध किया। नरेन्द्रदेव ने समाजवादी दल तथा कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के विलय का, जो दिसम्बर 1952 में सम्पन्न हुआ था, विरोध किया था।

2. नरेन्द्रदेव के चिन्तन का दार्शनिक आधार

नरेन्द्रदेव बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्हें संस्कृत तथा पाली का ज्ञान था। फ्रान्स के विद्वानों ने बौद्ध धर्म और दर्शन पर जो काम किया था उससे नरेन्द्रदेव का घनिष्ठ परिचय था। किन्तु आस्था से वे बौद्ध नहीं थे। फिर भी सम्भवतः उन्हें बौद्ध चिन्तन की लोकोत्तरता-विरोधी प्रवृत्ति से सहानुभूति थी। उनका विचार था कि आस्तिकता भारतीय संस्कृति का सार नहीं है, उसका मूल तत्व यह धारणा है कि विश्व नैतिक नियमों द्वारा शासित होता है।[6]

नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण विचारधारा की दृष्टि से मार्क्सवादी थे, यद्यपि गान्धीजी के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और गान्धीजी का उन दोनों पर व्यक्तिगत स्नेह था। नरेन्द्रदेव ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन की विशद व्याख्या नहीं की, फिर भी उन्होंने उसके सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया। उनका कहना था कि वास्तविकता जटिल है, किन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति वास्तविकता को उसके समग्र तथा जटिल रूप में समझने का प्रयत्न करती है।[7] वे द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त तथा पद्धति को स्वीकार करते थे, किन्तु इसमें सन्देह है कि वे मार्क्सवादी के रूप में भौतिकवाद के समग्र दर्शन को अंगीकार करने के लिए उद्यत थे। फिर भी वे मार्क्सवाद को भौतिकवादी एकत्ववाद के रूप में मानते थे और गति की सार्वभौमता को स्वीकार करते थे जिसका अर्थ है कि विश्व एक प्रक्रिया है। नरेन्द्रदेव वैज्ञानिक समाजवादी होने का दावा करते थे। उनका कहना था, "हमारे सामने जो काम है उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम समाजवाद के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को हृदयंगम कर लें तथा परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्दात्मक पद्धति को समझें और उसे अपने कार्यकलाप का आधार बनाने का प्रयत्न करें। हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए, और यूरोपियाई समाजवाद अथवा सामाजिक सुधारवाद से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। विद्यमान सामाजिक व्यवस्था का क्रान्तिकारी रूपान्तर ही परिस्थितियों की आवश्यकता को पूरा कर सकता है। उससे कम किसी चीज से काम नहीं चल सकता।"[8]

नरेन्द्रदेव नैतिक समाजवादी थे। उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे, इसीलिए उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधार पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू तथा बौद्ध चिन्तन का गम्भीर अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप मूल्यों की पवित्रता में उनकी आस्था अधिक गहरी हो गयी थी। उन्होंने सत्य की व्यवहारवादी कसौटी को स्वीकार करने से स्पष्टतः इनकार किया। उनकी दृष्टि में सत्य प्राथमिक

---

5 किन्तु नरेन्द्रदेव ने कहा कि अगस्त 1947 तक कांग्रेस एक राष्ट्रीय मोर्चा थी, अब वह अपने उस रूप को खो बैठी है और एक पार्टी बन गयी है। उन्होंने कांग्रेस की सत्तावादी तथा केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों की आलोचना की। 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ. 317-19.

6 वही, पृ. 334.

7 नरेन्द्रदेव, *Socialism & National Revolution*, पृ. 148 (पद्मा पब्लीकेशन्स, बम्बई 1946)।

8 वही, पृ. 24-25.

भारत में शोषित जनता के संगठन के द्वारा सम्पादित करना होगा।[23] उनकी दृष्टि में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के आधार को व्यापक बनाने के लिए जनता में रचनात्मक कार्य करना आवश्यक था।[24] भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद देशी राजाओं, पूंजीपतियों तथा सामन्तों की सहायता से अपनी जड़ों को मजबूत करने का प्रयत्न कर रहा था। इस प्रकार शोषण की व्यवस्था के स्तम्भों को दृढ़ बनाया जा रहा था। पूंजीपतियों ने भी जमींदारों के साथ समझौता कर लिया था। प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों के इन गठबन्धनों ने शोषित जनता के कार्य को भी कठिन बना दिया था। उसे देश की राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार की मुक्ति के लिए संघर्ष करना था। ऐसी स्थिति में औद्योगिक मजदूरों, किसानों तथा निम्न मध्य वर्गों का संयुक्त मोर्चा आवश्यक हो गया था। इसी प्रकार आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष सफलता की अधिक आशा के साथ चलाया जा सकता था। इसीलिए नरेन्द्रदेव ने देश के स्वाधीनता संग्राम के आधार को मजबूत बनाने पर बल दिया। उन्हें आशा थी कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त संसार में अनेक जनक्रान्तियाँ होंगी।[25]

नरेन्द्रदेव भारत के कृषक पुनर्निर्माण में विश्वास करते थे। वे इस पक्ष में थे कि किसानों के आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए किसान सभाओं को संगठित किया जाय। उनका आग्रह था कि सभी प्रकार के किसानों की शक्तियों को एक जुट किया जाय। उन्होंने ग्राम विकास के लिए साक्षरता अभियान का समर्थन किया। वे जनसमुदाय की शिक्षा को प्रगति की आवश्यक शर्त मानते थे।[26] भारत में किसानों तथा खेतिहर मजदूरों की समस्याएँ बड़ी विकराल थीं। जो जनसमुदाय खेती-बाड़ी में लगे हुए थे उनका भयंकर गरीबी से किसी न किसी प्रकार उद्धार करना आवश्यक था। इसके लिए देहाती जीवन के पुनर्निर्माण की एक क्रान्तिकारी योजना की आवश्यकता थी। नरेन्द्रदेव स्तालिन की इस बात से पूर्णतः सहमत थे कि किसानों के विशाल समुदाय को समाजवादी विचारधारा से अनुप्राणित करना आवश्यक है।[27] बहुसंख्यक किसानों को देश के समाजवादी पुनर्निर्माण की योजना से सम्बन्ध करने के लिए सहकारी समितियों को संगठित करना और उन्हें सुदृढ़ बनाना अति आवश्यक था। नरेन्द्रदेव ने कृषि को सहकारी आधार पर संगठित करने का समर्थन किया। उनका आग्रह था कि ऋण निरस्त कर दिये जायँ और किसानों के लाभ के लिए सस्ते ब्याज पर ऋण की व्यवस्था की जाय।[28] भूमि-व्यवस्था का क्रान्तिकारी रूपान्तर करने के लिए आवश्यक था कि वास्तविक कृषकों तथा राज्य के बीच जो बहुत से बिचौलिये थे उनका उन्मूलन कर दिया जाय। किन्तु नरेन्द्रदेव राष्ट्रीय समस्याओं को किसानों के वर्गगत दृष्टिकोण से देखने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने 'किसानवाद' की निन्दा की, उसे एक प्रकार का ऐसा ग्राम्यवाद बताया जो किसानों की विचारधारा को आवश्यकता से अधिक महत्व देता था। इस बात का भय था कि किसानवाद से कहीं देहात तथा नगरों के बीच हानिकारक संघर्ष न उत्पन्न हो जाय। नरेन्द्रदेव इस पक्ष में थे कि गाँवों में सहकारी व्यवस्था[29] कायम करके लोकतांत्रिक ग्राम-सरकार की स्थापना की जाय। जनता के पिछड़ेपन को दूर करने तथा उसे नवीन आदर्शों और आकांक्षाओं से अनुप्राणित करने के लिए, नरेन्द्रदेव ने इस बात का समर्थन किया कि भारत के गाँवों में किसी न किसी रूप में नवीन जीवन आन्दोलन प्रारम्भ किया जाय।[30]

नरेन्द्रदेव पर जार्ज सोरेल के 'आम हड़ताल' के श्रमसंघवादी सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा था। उन्हें विश्वास था कि आम हड़ताल भावनात्मक-विचारधारात्मक तथा कार्यनीतिक दोनों ही दृष्टियों

---

23 वही, पृ. 68-69.
24 वही, पृ. 87.
25 वही, पृ. 149.
26 वही, पृ. 39.
27 वही, पृ. 87.
28 वही, पृ. 161.
29 वही, पृ. 54.
30 वही, पृ. 183.

विलाप करना छोड़ दें और उन तरीकों को ढूंढ़ निकालें जिनसे राष्ट्रीय सघर्ष, जो अब तक प्रधानतः मध्य वर्ग का आन्दोलन रहा है, अधिक तीव्र बनाया जा सके। मेरी भावना है कि इसका एकमात्र उपाय यह है कि जनसमुदाय को आर्थिक आधार तथा वर्ग-चेतना की बुनियाद पर संगठित करके आन्दोलन को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया जाय। प्रचार तथा संगठन ही ऐसे दो साधन हैं जिनके द्वारा किसी वर्ग को आत्मसचेत बनाया जा सकता है।[13] नरेन्द्रदेव ने भारत की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया। वे इस पक्ष में थे कि निम्न मध्य वर्गों तथा सामान्य जनता के बीच मैत्री सम्बन्ध कायम किये जायँ। उनका कहना था कि साधारण जनसमुदाय अनुल्लंघनीय अधिकारों तथा लोक प्रभुत्व के सामान्य सिद्धान्तों से आकृष्ट नहीं हो सकता। उसमें वर्ग-चेतना तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि उससे आर्थिक हितों की भाषा में बात की जाय।[14] समाजवादी क्रान्ति के सम्बन्ध में नरेन्द्रदेव लेनिन के विचार से सहमत थे। लेनिन के अनुसार यह अनिवार्य नहीं है कि समाजवादी क्रान्ति पहले उस देश में हो जो औद्योगिक दृष्टि से सबसे अधिक विकसित है, वह तो उस देश में होगी 'जहाँ साम्राज्यवादी शृंखला सबसे दुर्बल है।'[15] नरेन्द्रदेव श्रमिक वर्ग को साम्राज्य-विरोधी संघर्ष का हरावल (अग्रगामी टुकड़ी) तथा किसानों और बुद्धिजीवियों को उसका सहायक मानते थे।[16] उन्हें कोरे सुधारवाद और संविधानवाद से सहानुभूति नहीं थी।[17] उनका कहना था कि जनसमुदास को क्रियाशील बनाने तथा देश को लोकतन्त्र के लिए तैयार करने का एकमात्र उपाय यह है कि किसी लोकहितकारी आर्थिक विचारधारा को अंगीकार करके राष्ट्रीय संग्राम का समाजीकरण किया जाय।[18]

नरेन्द्रदेव ने देश में समाजवादी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया।[19] उस समय भारत पूँजीवादी लोकतान्त्रिक क्रान्ति के दौर से गुजर रहा था। नरेन्द्रदेव ने कट्टर मतवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया और न उन्होंने देश को विदेशी साम्राज्यवाद के जुए से मुक्त करने के लिए निम्नमध्यवर्गीय तत्वों के साथ मिलकर संघर्ष करने से इनकार किया। उनकी भावना थी कि समाजवादियों को राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम में सम्मिलित होना चाहिए। उनका कहना था कि यदि समाजवादियों ने अपने को देश में चल रहे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष से पृथक रखा तो उनका यह कार्य आत्महत्या करने के समान होगा। वे स्वाधीनता-संग्राम को सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने समाजवादियों को यह मानने की सलाह दी कि एक औपनिवेशिक देश के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता 'समाजवाद के मार्ग में एक अपरिहार्य अवस्था है।'[20] नरेन्द्रदेव ने कांग्रेस के अगस्त 1942 के प्रस्ताव का समर्थन किया, और कहा कि यह प्रस्ताव स्वतन्त्रता के सामाजिक पहलू की व्याख्या करता है।[21] वह खेतों तथा कारखानों की सम्पूर्ण शक्ति को श्रमिक वर्ग में निहित करना चाहता है। उनकी दृष्टि में अगस्त प्रस्ताव का उद्देश्य जनसाधारण की सर्वोच्चता स्थापित करना था। नरेन्द्रदेव जनसमुदाय की एकता के समर्थक थे। वे चाहते थे कि जनसमुदाय की क्रान्तिकारी भावना को तीव्र किया जाय, और उन्होंने स्वयं जनता को क्रान्तिकारी कार्यवाही के लिए उत्तेजित करने के लिए कार्य भी किया।[22] उनका विचार था कि सामाजिक तथा आर्थिक मुक्ति के जिस कार्य को पश्चिमी यूरोप में अठारहवीं शताब्दी में पूँजीपतियों ने किया था उसे

---

13 नरेन्द्रदेव का 17 मई, 1934 को पटना में अखिल भारतीय समाजवादी दल के सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण। *Socialism & National Revolution*, पृ. 6-7.
14 वही, पृ. 8.
15 वही, पृ. 22-23.
16 वही।
17 वही, पृ. 28.
18 वही, पृ. 29, 77.
19 वही, पृ. 4.
20 वही।
21 वही, पृ. 167.
22 वही, पृ. 149.

प्रकरण 3
जयप्रकाश नारायण

1. प्रस्तावना

जयप्रकाश नारायण का जन्म 1902 में हुआ था। उन्होंने गान्धीवादी असहयोगी तथा भगवद्गीता के दर्शन के अनुयायी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया। जब वे अमेरिका में विद्याध्ययन कर रहे थे, उसी समय पूर्वी यूरोप के बुद्धिजीवियों से उनका सम्पर्क हुआ और फलस्वरूप वे मार्क्सवादी बन गये। उन पर एम. एन. राय की तीक्ष्ण रचनाओं का भी प्रभाव पड़ा, किन्तु मार्क्सवादी होने पर भी वे रूसी क्रान्ति के समर्थक नहीं थे। रूस की बौलशेविक पार्टी ने जो क्रूर कृत्य किये थे उससे उनकी नैतिक चेतना को भारी आघात पहुँचा था। चतुर्थ दशक में उन्होंने साम्यवादियों के साथ संयुक्त जन मोर्चे का समर्थन किया था, किन्तु 1940 में उन्होंने साम्यवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे की भर्त्सना की, और तब से वे साम्यवाद के सत्तावादी कठोर नियंत्रण के प्रमुख आलोचक बने हुए हैं।[36] पिछले दिनों में तिब्बत के प्रश्न को लेकर उन्होंने चीन के साम्यवादियों की उद्धतता तथा सिद्धान्तहीन साम्राज्यवाद की कटु आलोचना और निन्दा की है।

जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के प्रमुख नेता, प्रचारक तथा प्रवक्ता रहे थे। उन्होंने 1934 में भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में अभिक्रम किया था, और दल तथा उसके कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने के काम में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया था।

जयप्रकाश नारायण एक महान राष्ट्रीय संघर्षकर्ता रहे हैं। 1942 के क्रान्तिकारी आन्दोलन में उन्होंने वीरोचित ख्याति प्राप्त कर ली। वे हजारीबाग केन्द्रीय कारागार से भाग निकले और स्वाधीनता संग्राम का संगठन किया। किन्तु वे पुनः गिरफ्तार कर लिये गये और जेल में डाल दिये गये। अप्रैल 1946 में उन्हें मुक्त कर दिया गया। 1946 में गान्धीजी ने कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया किन्तु कांग्रेस की कार्यकारिणी ने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कैबिनिट मिशन योजना का विरोध किया, क्योंकि 1946 में कांग्रेस समाजवादी दल जन-क्रान्ति की बात सोच रहा था। उन्होंने भविष्यवाणी की कि यदि इंगलैण्ड की सरकार ने भारतीय संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को स्वीकार नहीं किया तो जनक्रान्ति उमड़ पड़ेगी।

1953 में जवाहरलाल नेहरू तथा जयप्रकाश नारायण के बीच इस समस्या पर बातचीत हुई कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास के क्षेत्रों में कांग्रेस तथा प्रजासमाजवादी दल के बीच सहयोग किस प्रकार स्थापित किया जाय। किन्तु बैतूल के सम्मेलन में समाजवादी नेताओं ने समझौते की बातचीत को अस्वीकार कर दिया।

गान्धीजी की मृत्यु के उपरान्त जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक व्यक्तित्व में गहरा रूपान्तर हो गया। उन्हें संस्थागत तथा बाह्य परिवर्तनों की उपादेयता में सन्देह होने लगा और वे आभ्यन्तरिक परिवर्तन के उस सिद्धान्त को मानने लगे जिस पर गान्धीजी ने बल दिया था। 1954 में उन्होंने प्रसोपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया और आगे चलकर दलगत राजनीति से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया। 1954 में उन्होंने अपने को एक जीवनदानी के रूप में सर्वोदय आन्दोलन के लिए समर्पित कर दिया।

2. जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार

एक समाजवादी मनीषी के रूप में जयप्रकाश नारायण की शक्ति इस बात में थी कि उन्हें राजनीति के आर्थिक आधारों का स्पष्ट ज्ञान था। महात्मा गान्धी उन्हें समाजवाद का सबसे बड़ा भारतीय विद्वान मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन पर ब्रिटेन तथा अमेरिका के समाजवादी विचारों का प्रभाव पड़ा है। वे समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का एक सम्पूर्ण सिद्धान्त

---

36 देखिये, जयप्रकाश नारायण का साम्यवादियों को लिखा गया पत्र, नवम्बर 18, 1956 को भारतीय समाचार पत्रों में प्रकाशित।

से लाभदायक है। उनका विचार था कि आम हड़ताल के दो परिणाम होंगे। प्रथम, उससे देश की अर्थ-व्यवस्था पूर्णत: जर्जरित हो जायगी, और सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे के ठप्प हो जाने से विदेशी शोषक देश छोड़कर भाग जायँगे। द्वितीय, आम हड़ताल को सफलतापूर्वक संगठित करने के फलस्वरूप जनता में प्रचण्ड शक्ति का उदय होगा जो सामाजिक क्रान्ति की भूमिका का काम करेगी। उन्होंने कहा, "रूस के विपरीत भारत में अभी तक हड़ताल के श्रमजीवी अस्त्र को जनसमुदाय की कार्य-वाही के लिए संकेत के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया है; किन्तु श्रमिक वर्ग अपने राजनीतिक प्रभाव को तभी बढ़ा सकता है जबकि वह राष्ट्रीय संघर्ष में आम हड़ताल का प्रयोग करके निम्न मध्यवर्ग को हड़ताल की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से अवगत करा दे।"[31]

राजनीति में नरेन्द्रदेव ऐहिकवादी[32] राष्ट्रवाद के समर्थक थे। वे पुनरुत्थानवादी नहीं थे।[33] उनका ऐहिकवाद धार्मिक स्वाध्याय के प्रति उदासीनता से उत्पन्न नहीं हुआ था, बल्कि उसका आधार उनका यह विश्वास था कि धर्मशास्त्रीय तथा लोकोत्तरवादी विचारों को बुद्धियुक्त सामाजिक नियोजन में बाधक नहीं होना चाहिए।

4. निष्कर्ष

नरेन्द्रदेव ने समाजवादी विचारों पर एक पुस्तक तथा अनेक लेख लिखे हैं। उनकी राज-नीतिक रचनाएँ बहुत मौलिक अथवा गम्भीर नहीं हैं, किन्तु वे ओजपूर्ण तथा प्रसादगुण सम्पन्न हैं।[34] इसमें सन्देह है कि भारतीय समाजवादी कॉट्स्की, लुक्जम्बर्ग, टुगन, बारानोवस्की, हिल्फर्डिंग, कूनो-और लूकाक्स की गम्भीर रचनाओं से परिचित थे। नरेन्द्रदेव की रचनाओं का व्यावहारिक उद्देश्य है, क्योंकि उन्होंने जो कुछ लिखा था उसके मूल में समाजवादी आन्दोलन तथा किसान आन्दोलन को बल प्रदान करने का स्पष्ट मन्तव्य निहित था।

नरेन्द्रदेव ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रवाद तथा सामाजिक क्रान्ति' में राष्ट्रीय संघर्ष के आधार को विस्तृत करने का समर्थन किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जनसमुदाय को संघर्ष में प्रवृत्त करने के लिए आर्थिक विचारधारा की आवश्यकता है। प्राय: यह मान लिया गया है कि समाजवादी क्रान्ति का स्वरूप अन्तरराष्ट्रीय होता है और राष्ट्रवाद समाज का आवश्यक अंग नहीं है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि समाजवादी राष्ट्रवाद के पूँजीवादी काल्पनिक आदर्श से ऊपर उठ गये हैं। किन्तु भारत के दीर्घकालीन स्वतन्त्रता संग्राम के सन्दर्भ में नरेन्द्रदेव तथा देश के अन्य समाजवादी नेताओं ने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम तथा श्रमिकों को विभिन्न प्रकार की दासता से मुक्त करने के आन्दोलन को मिलाने का प्रयत्न किया। एक समाजवादी सिद्धान्तकार के रूप में नरेन्द्रदेव पर मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का अधिक प्रभाव पड़ा था; उन्हें लेनिन के सशस्त्र दल के द्वारा शक्ति पर अधिकार करने का सिद्धान्त पसन्द नहीं था।

नरेन्द्रदेव ने समाजवाद के मानववादी आधारों को अधिक महत्व दिया। वे फ्रांत्स मेहरिंग के इस मत को स्वीकार करते थे कि मार्क्स आधुनिक युग का प्रोमेथियुस था; वह मानववादी उत्साह से अनुप्रेरित था और शोषित तथा संतप्त मानवता की मुक्ति के हर प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिए उद्यत था। मानववाद से सम्बद्ध होने के कारण मार्क्सवाद ने वर्तमान युग में एक प्रचण्ड क्रान्तिकारी दर्शन का रूप धारण कर लिया है, उसने करोड़ों लोगों को नयी दार्शनिक ज्योति प्रदान की है। नरेन्द्रदेव ने उत्साहपूर्वक कहा कि मार्क्सवाद को क्रियान्वित करके एक नवीन समाज का निर्माण करना सम्भव है।[35]

---

31 वही, पृ. 70.
32 नरेन्द्रदेव, 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ. 335.
33 वही, पृ. 544.
34 *Nationalism and Social Revolution* में पृ. 78-84 पर नरेन्द्रदेव ने 1935 के भारतीय शासन अधि-नियम का समाजवादी दृष्टि से समीक्षा की है।
35 नरेन्द्रदेव, 'समाजवाद का मूलाधार मानवता', 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ. 451-56.

प्रकरण 3
जयप्रकाश नारायण

1. प्रस्तावना

जयप्रकाश नारायण का जन्म 1902 में हुआ था। उन्होंने गान्धीवादी असहयोगी तथा भगवद्गीता के दर्शन के अनुयायी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया। जव वे अमेरिका में विद्याध्ययन कर रहे थे, उसी समय पूर्वी यूरोप के वुद्धिजीवियों से उनका सम्पर्क हुआ और फलस्वरूप वे मार्क्सवादी वन गये। उन पर एम. एन. राय की तीक्ष्ण रचनाओं का भी प्रभाव पड़ा, किन्तु मार्क्सवादी होने पर भी वे रूसी क्रान्ति के समर्थक नहीं थे। रूस की वौलशेविक पार्टी ने जो क्रूर कृत्य किये थे उससे उनकी नैतिक चेतना को मारी आघात पहुँचा था। चतुर्थ दशक में उन्होंने साम्यवादियों के साथ संयुक्त जन मोर्चे का समर्थन किया था, किन्तु 1940 में उन्होंने साम्यवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे की भर्त्सना की, और तव से वे साम्यवाद के सत्तावादी कठोर नियंत्रण के प्रमुख आलोचक बने हुए हैं।[36] पिछले दिनों में तिव्वत के प्रश्न को लेकर उन्होंने चीन के साम्यवादियों की उद्धतता तथा सिद्धान्तहीन साम्राज्यवाद की कटु आलोचना और निन्दा की है।

जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के प्रमुख नेता, प्रचारक तथा प्रवक्ता रहे थे। उन्होंने 1934 में भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में अभिक्रम किया था, और दल तथा उसके कार्यक्रम को लोकप्रिय वनाने के काम में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया था।

जयप्रकाश नारायण एक महान राष्ट्रीय संघर्षकर्ता रहे हैं। 1942 के क्रान्तिकारी आन्दोलन में उन्होंने वीरोचित ख्याति प्राप्त कर ली। वे हजारीवाग केन्द्रीय कारागार से भाग निकले और स्वाधीनता संग्राम का संगठन किया। किन्तु वे पुनः गिरफ्तार कर लिये गये और जेल में डाल दिये गये। अप्रैल 1946 में उन्हें मुक्त कर दिया गया। 1946 में गान्धीजी ने कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया किन्तु कांग्रेस की कार्यकारिणी ने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कैविनिट मिशन योजना का विरोध किया, क्योंकि 1946 में कांग्रेस समाजवादी दल जन-क्रान्ति की वात सोच रहा था। उन्होंने भविष्यवाणी की कि यदि इंगलैण्ड की सरकार ने भारतीय संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को स्वीकार नहीं किया तो जनक्रान्ति उमड़ पड़ेगी।

1953 में जवाहरलाल नेहरू तथा जयप्रकाश नारायण के वीच इस समस्या पर वातचीत हुई कि राष्ट्रीय पुर्निर्माण तथा विकास के क्षेत्रों में कांग्रेस तथा प्रजासमाजवादी दल के वीच सहयोग किस प्रकार स्थापित किया जाय। किन्तु वैतूल के सम्मेलन में समाजवादी नेताओं ने समझौते की वातचीत को अस्वीकार कर दिया।

गान्धीजी की मृत्यु के उपरान्त जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक व्यक्तित्व में गहरा रूपान्तर हो गया। उन्हें संस्थागत तथा वाह्य परिवर्तनों की उपादेयता में सन्देह होने लगा और वे आभ्यन्तरिक परिवर्तन के उस सिद्धान्त को मानने लगे जिस पर गान्धीजी ने वल दिया था। 1954 में उन्होंने प्रसोपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया और आगे चलकर दलगत राजनीति से अपना सम्वन्ध विच्छिन्न कर लिया। 1954 में उन्होंने अपने को एक जीवनदानी के रूप में सर्वोदय आन्दोलन के लिए समर्पित कर दिया।

2. जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार

एक समाजवादी मनीषी के रूप में जयप्रकाश नारायण की शक्ति इस वात में थी कि उन्हें राजनीति के आर्थिक आधारों का स्पष्ट ज्ञान था। महात्मा गान्धी उन्हें समाजवाद का सवसे वड़ा भारतीय विद्वान मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन पर व्रिटेन तथा अमेरिका के समाजवादी विचारों का प्रभाव पड़ा है। वे समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक पुर्निर्माण का एक सम्पूर्ण सिद्धान्त

---

36 देखिये, जयप्रकाश नारायण का साम्यवादियों को लिखा गया पत्र, नवम्वर 18, 1956 को भारतीय समाचार पत्रों में प्रकाशित।

मानते थे। उनके अनुसार वह वैयक्तिक आचारनीति के सिद्धान्त से भी वहुत बड़ी चीज है।[37] उन्होंने मनुष्य की जैविक असमानता के सिद्धान्त का खण्डन किया। कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात का समर्थन नहीं करेगा कि सब मनुष्य अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं में समान हैं। कोई भी समाजवादी इस शाब्दिक तथा मूर्खतापूर्ण अर्थ में समानता को स्वीकार नहीं करेगा। समाजवादी होने के नाते जयप्रकाश नारायण ने इस बात को स्पष्ट किया है कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में व्याप्त असमानता का मुख्य कारण यह है कि कुछ लोगों का उत्पादन के साधनों पर वहुत अधिक नियंत्रण है और बहुसंख्यक लोग उनसे वंचित हैं। इसलिए उनका आग्रह है कि समाज ऐसी व्यवस्था करे जिससे मनुष्य की शक्ति और क्षमताओं को निष्फल करने वाली आर्थिक बाधाएँ दूर हो सकें। वे सामाजिक तथा आर्थिक समानता के समर्थक हैं, उनका कहना यह नहीं है कि सब मनुष्यों का मानसिक स्तर समान हो। समाजवाद व्यापक नियोजन का सिद्धान्त तथा कार्यप्रणाली है। उसमें समाज के समग्र पहलुओं के प्राविधिक पुनर्निर्माण की धारणा निहित है। उसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का 'सामंजस्य पूर्ण तथा सुसन्तुलित विकास' है।[38]

समाजवाद की स्थापना उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करके ही की जा सकती है।[39] समाजवाद ही विशाल जनसमुदाय के आर्थिक शोषण की क्रूर प्रक्रिया का अन्त कर सकता है।[40] जयप्रकाश नारायण ने करांची कांग्रेस के मूल अधिकारों से सम्बन्धित प्रस्ताव की आलोचना की थी। वे भूमिकर को घटाने, व्यय को कम करने तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थे। भारत की मूल आर्थिक तथा सामाजिक समस्या यह थी कि जनता के शोषण का अन्त कैसे किया जाय। यह तभी सम्भव था जबकि जनता अपने प्रयत्नों से राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर नियंत्रण स्थापित कर लेती। इसके लिए आवश्यक था कि राष्ट्रवादियों तथा सामाजिक प्रगतिवादियों के कार्यकलाप के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाय। 1934 में जयप्रकाश नारायण ने अनुभव किया कि समाज ही भारत की स्वाधीनता का आधार बन सकता है। 1940 में उन्होंने रामगढ़ कांग्रेस में एक प्रस्ताव रखा जिसका आशय था कि वृहत उत्पादन संस्थानों पर सामूहिक स्वामित्व तथा नियंत्रण स्थापित किया जाय। उन्होंने आग्रह किया कि भारी परिवहन, जहाजरानी, खनन तथा भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद उन प्रमुख मूल्यों के विरुद्ध नहीं है जिनका भारतीय संस्कृति ने पोषण किया।[41] भारतीय संस्कृति ने इस आदर्श को सर्वोपरि माना है कि व्यक्ति को निम्नकोटि की वासनाओं तथा परिग्रह की वृत्ति से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। उसने इस बात का कभी समर्थन नहीं किया कि मनुष्य तुच्छ वासनाओं तथा संकीर्ण अहं को तुष्ट करने में ही तल्लीन रहे। वस्तुओं का मिल-बाँटकर उपभोग करना भारतीय संस्कृति का प्रमुख आदर्श रहा है, इसलिए यह आरोप उपहासास्पद है कि समाजवाद का सिद्धान्त पश्चिम से लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद के व्यवस्थित आर्थिक सिद्धान्तों का निरूपण पश्चिम में हुआ किन्तु उसका मूल आदर्शवाद भारतीय संस्कृति का भी अंग है।

जयप्रकाश नारायण ग्राम जीवन के पुनस्संगठन के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि गाँवों को स्वायत्त तथा स्वावलम्बी इकाइयाँ बनाया जाय। इसके लिए भूमि-सम्बन्धी कानूनों में आमूल सुधार करने की आवश्यकता थी। भूमि पर वास्तविक किसान का स्वामित्व होना चाहिए।[42] जयप्रकाश नारायण ने सहकारी खेती का समर्थन किया। उन्होंने कहा, "वास्तविक समाधान यह है कि उन

---

37 जयप्रकाश नारायण, *Towards Struggle*, पृ. 65 (यूसुफ मेहर अली द्वारा सम्पादित, पद्मा पब्लीकेशन्स, बम्बई, 1946)।
38 वही, पृ. 88.
39 वही, पृ. 77-78.
40 वही।
41 वही, पृ. 85-86.
42 जयप्रकाश नारायण का 1940 की रामगढ़ कांग्रेस में प्रस्तुत प्रस्ताव।

सभी निहित स्वार्थों का उन्मूलन कर दिया जाय जिनसे किसी भी रूप में भूमि जोतने वालों का शोषण होता है, किसानों के सभी ऋण को निरस्त कर दीजिए, जोतों को एकत्र करके सहकारी और सामूहिक फार्मों की तथा राजकीय और सहकारी ऋण-व्यवस्था तथा हाट-व्यवस्था और सहकारी सहायक उद्योगों की स्थापना कीजिए।"[43] उनका कहना था कि सहकारी प्रयत्नों के द्वारा ही कृषि तथा उद्योग के बीच सन्तुलन कायम किया जा सकता है।[44] एशिया की मुख्य आर्थिक समस्या कृषक पुनर्निर्माण की है। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना निश्चित रूप से अति आवश्यक है। राज्य को अपने निजी उद्योगों की स्थापना करनी है तथा आर्थिक प्रसार के अन्य उपाय करने हैं। किन्तु कृषि को उसकी वर्तमान अवस्था में छोड़ देना उचित नहीं है। जयप्रकाश नारायण कृषि के वर्तमान व्यक्तिवादी संगठन को हानिकर तथा अपव्ययपूर्ण मानते थे। उनका कहना था कि कृषि के क्षेत्र में उत्पादन की वृद्धि सहकारी तथा सामूहिक खेती के द्वारा ही सम्भव हो सकती है।[45]

समाजवादी होने के नाते जयप्रकाश नारायण आर्थिक समस्याओं को प्राथमिकता देते थे। इसलिए उनका आग्रह था कि देश की आर्थिक समस्याओं को तुरन्त हल किया जाय।[46] आर्थिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक जीवन के बीच कोई प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यह भी सत्य है कि आधारभूत आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना सांस्कृतिक सृजनशीलता असम्भव है। इसलिए जयप्रकाश नारायण उन परिस्थितियों के निर्माण के पक्ष में थे जिनमें समान अवसर के आदर्श को साक्षात्कृत किया जा सके। संस्कृति के फलने-फूलने के लिए न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति अपरिहार्य है।

जयप्रकाश नारायण विश्व समाज के आदर्श को मानते थे। उनका कहना था कि संगठित सैनिकवाद तथा समग्रवादी व्यवस्थाओं ने जो विनाश का ताण्डव मचा रखा है उसके मुकाबले में विश्व समाज ही एशिया तथा अफ्रीका की दलित मानवता के साथ न्याय कर सकता है।[47] विश्व शत्रुतापूर्ण शक्ति-गुटों में विभक्त है, और उनमें से प्रत्येक अपने सर्वोच्च अधिकारों को जताने के लिए हल्ला मचा रहा है। बल्कि राजनीति के सिद्धान्त की खुले आम पूजा हो रही है, उसका प्रचार किया जाता तथा उसे व्यवहार में लाया जाता है। उसके साथ-साथ सिद्धान्तहीन उद्धतता का भी बोलबाला है। ये सब बड़े ही अशुभ लक्षण हैं। जयप्रकाश नारायण के विचार में इस संकट की घड़ी में बुद्धिजीवियों का कर्तव्य है कि वे विश्व-समाज की भावनाओं का प्रसार और पुष्टि करें। आज विश्व की शक्ति-व्यवस्था का ध्रुवीकरण हो चुका है। दो गुट आमने-सामने खड़े हुए हैं। इसका मुकाबला करने के लिए एक मानसिक क्रान्ति की आवश्यकता है।

3. निष्कर्ष

जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के क्षेत्रों में माने हुए तथा सुविख्यात व्यक्ति हैं। यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था कि उन्होंने भारत में समाजवादी आन्दोलन को कांग्रेस के झंडे के नीचे चल रहे *राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम* के साथ सम्बद्ध कर दिया। नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण ने समाजवादी विचारधारा को जनता को साम्राज्यवादी राजनीतिक आधिपत्य तथा देशी सामन्तवाद की दासता से मुक्त करवाने की दिशा में मोड़ दिया। इस प्रकार उन्होंने समाजवादी दर्शन को दो युद्धों का समरघोष बनाया—*राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम तथा सामाजिक क्रान्ति*। भारत के जर्जरित ग्रामीण समाज की विकराल दरिद्रता के सन्दर्भ में जयप्रकाश नारायण ने उन सामाजिक तथा यान्त्रिक बन्धनों के उन्मूलन पर बल दिया जो कृषि के उत्पादन में बाधा डाल रहे थे।

---

43 जयप्रकाश नारायण, *Towards Struggle*, पृ. 90, 260.
44 वही, पृ. 92.
45 वही।
46 जयप्रकाश नारायण का सभापति के रूप में दिया गया भाषण (मार्च 28, 1951), *Indian Congress for Cultural Freedom*, पृ. 37 (बम्बई, द रानाडे प्रेस, 1951)।
47 वही, पृ. 39.

प्रकरण 4
राममनोहर लोहिया

1. प्रस्तावना

डॉ. राममनोहर लोहिया का जन्म 1910 में हुआ था। वे समाजवादी विचारों के उग्र तथा धुआँधार प्रचारक थे। उनके भाषण तीक्ष्ण आलोचना से युक्त तथा आँकड़ों से पूर्ण हैं। देश के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत के समाजवादी आन्दोलन की प्रगति में उनका उल्लेखनीय योगदान था। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1953 में एशियायी समाजवादी सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि समाजवादी चिन्तन में गान्धीवादी विचारों को और अधिक अंश में सम्मिलित किया जाय। वे कुटीर उद्योगों पर आधारित विकेन्द्रीकृत अर्थतन्त्र के पक्ष में थे। साम्यवादियों के विपरीत, जिन्हें बड़ी मशीनों की धुन है, लोहिया ने उन छोटी मशीनों को महत्व दिया जिनके द्वारा अल्प पूंजी लगाकर श्रमशक्ति का अधिकाधिक उपयोग किया जा सके। 1952 में हुए पंचमढी के समाजवादी सम्मेलन में अनेक प्रतिनिधियों ने इस प्रकार के विचारों के प्रति गहरा असन्तोष प्रकट किया। 1953 में अशोक मेहता ने 'पिछड़े हुए अर्थतन्त्र की राजनीतिक अनिवार्यताएँ' नामक अपनी थीसिस प्रतिपादित की जिसमें उन्होंने बताया कि काँग्रेस की विचारधारा समाजवादियों के सिद्धान्तों के निकट आ रही है। इसलिए उन्होंने कांग्रेस तथा प्रसोपा के बीच अधिक घनिष्ठ सहयोग का समर्थन किया। इसके विरुद्ध लोहिया ने 'समान दूरी' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। चूंकि लोहिया पर गान्धीवाद का प्रभाव बढ़ रहा था इसलिए उन्होंने कहा कि समाजवादी काँग्रेस तथा साम्यवादियों के समान दूरी पर हैं। उनका आग्रह था कि प्रसोपा को कांग्रेस के साथ अटल मैत्री-सम्बन्ध नहीं कायम करना चाहिए, बल्कि यह अच्छा होगा कि वह परिस्थितियों के अनुसार उनमें से किसी के भी साथ चुनाव सम्बन्धी समझौते कर ले। 1954 में त्रावणकोर-कोचीन में भाषात्मक राज्य की माँग करने वाले आन्दोलनकारियों पर पुलिस ने गोली चला दी। उस समय लोहिया प्रसोपा के महासचिव थे। उन्होंने पुलिस के कार्य का विरोध किया और यहाँ तक माँग की कि पट्टम थानू पिलई के समाजवादी मंत्रि-मण्डल को त्यागपत्र दे देना चाहिए। दिसम्बर 1955 में भारतीय समाजवादी दल की स्थापना हुई और लोहिया उसके पहले अध्यक्ष बने।

लोहिया ने भारत की परराष्ट्र-नीति की खुलकर आलोचना की थी। उन्हें नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति में विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि भारत को विदेशों में पक्के मित्रों की खोज करनी चाहिए।

आगे चलकर लोहिया हिन्दी के महान समर्थक बन गये। वे चाहते थे कि हिन्दी को अंग्रेजी के स्थान पर शीघ्र ही भारत की सहकारी भाषा बना दिया जाय। उनका कहना था कि भारत में लोकतन्त्र तब तक वास्तविक नहीं बन सकता जब तक कि लोक प्रशासन अंग्रेजी के माध्यम से चलाया जाता है, क्योंकि अंग्रेजी बहुसंख्यक जनता के लिए एक गुप्त रहस्य है।

2. लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

लोहिया के अनुसार इतिहास की गति चक्र के सदृश तथा अपरिवर्तनीय होती है। यह धारणा अरस्तू के चक्र-सिद्धान्त का स्मरण दिलाती है। इससे इस धारणा का खण्डन होता है कि इतिहास सरल रेखा की भाँति आगे को बढ़ता रहता है। उस चक्रवत् गति के दौरान देश सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है, और पतन के गर्त में भी डूब सकता है तथा पुनः उठ सकता है। इतिहास के चक्र-सिद्धान्त के प्रवर्तकों में लोहिया सोरोकिन को स्पैंगलर तथा टॉयनबी से बड़ा मानते हैं।[48]

---

48 राममनोहर लोहिया, *Wheel of History*, पृ. 13-15.

लोहिया द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु परम्परावादी मार्क्स-वादियों के मुकाबले में वे चेतना को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।[49] वे एक ऐसे सिद्धान्त की रचना के पक्ष में हैं जिसके अन्तर्गत आत्मा अथवा सामान्य उद्देश्यों तथा द्रव्य अथवा आर्थिक उद्देश्यों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रह सके।[50]

लोहिया का विश्वास था कि इतिहास में जातियों तथा वर्गों का संघर्ष देखने को मिलता है। जातियों की विशेषता यह होती है कि उनका रूप सुनिश्चित होता है, इसके विपरीत वर्गों की आन्त-रिक रचना शिथिल हुआ करती है। वर्ग तथा जाति के बीच घड़ी के दोलक की-सी आन्तरिक क्रिया होती रहती है, यही दोलन क्रिया इतिहास को गति प्रदान करती है। जातियाँ गतिहीनता, निष्क्रियता तथा रूढ़िगत अधिकारों की पुरातनवादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। वर्ग सामा-जिक गतिशीलता की प्रचण्ड शक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। लोहिया के अनुसार अब तक का मानव इतिहास जातियों तथा वर्गों के बीच आन्तरिक गति का इतिहास है। जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में परिणत हो जाती हैं और वर्ग संघटित होकर जातियों का रूप धारण कर लेते हैं।[51] इस प्रकार लोहिया की जातियों तथा वर्गों के बीच संघर्ष की धारणा पेरितो के सिद्धान्त का ही लोकप्रिय रूप है। पेरितो के अनुसार इतिहास में संघर्ष लगान-उपजीवी भूस्वामियों के स्वार्थों तथा धनिकों (द्रव्य के स्वामियों) के हितों के बीच हुआ करता है। भूस्वामी 'अवयवी समूहों की स्थिरता के अवशेष' हुआ करते हैं और धनी लोग 'सम्मिलन के अवशेषों' के प्रतिनिधि होते हैं।

लोहिया का आग्रह रहा है कि एशिया के समाजवादियों को मौलिक चिन्तन तथा अभिक्रम का अभ्यास डालना चाहिए। उन्हें अपनी नीतियाँ उस सभ्यता के सन्दर्भ में निरूपित करनी हैं जो शताब्दियों पुराने निरंकुशवाद तथा सामन्तवाद के कूड़े-करकट में से उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। एशियाई राजनीति की दुर्दशा का मुख्य कारण यह है कि उसमें कट्टर धार्मिक विश्वासों और राज-नीतिक सोच-विचार का मिश्रण पाया जाता है। इससे पंथाभिमान तथा साम्प्रदायिकता का विष फैलता है। चूँकि एशियायी देशों में लोकतान्त्रिक राजनीति की निश्चित परम्पराओं का अभाव है, इसलिए प्रायः आतंक तथा हत्याएँ राजनीतिक कार्यप्रणाली का रूप धारण कर लेती हैं। एशियाई राजनीति तथा समाज की दूसरी दुर्बलता यह है कि नौकरशाहों और उद्योग प्रबन्धकों का नया वर्ग उत्पन्न हो गया है। इन विभिन्न दुर्बलताओं के कारण ऐसे नेताओं का उत्थान सम्भव हो गया है जो नाटकीय तथा जनोत्तेजक तरीकों से अपने को पदारूढ़ रखने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए लोहिया ने ऐसे व्यापक तथा मौलिक सामाजिक दर्शन की आवश्यकता पर बल दिया है जो एशिया में व्याप्त बीमारियों का उपचार कर सके।[52]

लोहिया ने चतुस्तम्भी (चार स्तम्भों वाले) राज्य की कल्पना की है।[53] इन चतुस्तम्भी राज्य में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धारणाओं को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत गाँव, मण्डल (जिला), प्रान्त तथा केन्द्रीय सरकार का महत्व बना रहेगा और उन्हें एक कार्यमूलक संघवाद की व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जायगा। कार्यो का सम्पादन उन्हें एक सूत्र में बाँध कर रखेगा। इस चतुस्तम्भी राज्य में जिलाधीश का पद समाप्त कर दिया जायगा, क्योंकि वह राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की बदनाम संस्था है। इसके अति-रिक्त मण्डलों, गाँवों तथा नगरों की पंचायतें कल्याणकारी नीतियों तथा कार्यो का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेंगी।[54]

---

49 राममनोहर लोहिया, *Aspects of Socialist Policy*, पृ. 76-77 (बम्बई, 6 टुलच रोड, 1952)।
50 *Wheel of History*, पृ. 37.
51 वही, पृ. 51.
52 *Aspects of Socialist Policy*, पृ. 10.
53 लोहिया का कहना था कि 'पांचवां स्तम्भ' विश्व-सरकार होगी।
54 राममनोहर लोहिया, *Will to Power and Other Writings*, पृ. 132 (हैदराबाद, नवहिन्द पब्लीकेशन, 1956)।

लोहिया विकेन्द्रीकृत समाजवाद के समर्थक थे। इसका अर्थ है छोटी मशीनें, सहकारी श्रम तथा ग्राम-शासन।[55] पूंजी के संचय तथा बढ़ती हुई बेकारी को रोकने के लिए लोहिया ने छोटी मशीनों पर आधारित उद्योगों का समर्थन किया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लोहिया कहने लगे थे कि परम्परावादी तथा संगठित समाजवाद 'एक मरा हुआ सिद्धान्त तथा मरणशील व्यवस्था' है। इसलिए उन्होंने 'नवीन समाजवाद' का नारा लगाया।[56] इस नवीन समाजवाद के लिए उन्होंने छह-सूत्री योजना का निरूपण किया। आय तथा व्यय के क्षेत्र में अधिकतम समानता के स्तर को उपलब्ध करना अत्यावश्यक है। इसके लिए राष्ट्रीयकरण एक महत्वपूर्ण साधन है, किन्तु वह एकमात्र साधन नहीं है। विश्व में आर्थिक अन्तरनिर्भरता बढ़ती जा रही है, जिसके कारण यह आवश्यक हो गया है कि सम्पूर्ण विश्व में जीवन-स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जाय। लोहिया ने वयस्क मताधिकार पर आधारित 'विश्व संसद' का समर्थन किया। यह एक जटिल तथा यूटोपियाई सुझाव प्रतीत होता है। लोहिया लोकतान्त्रिक राजनीतिक स्वतन्त्रता के पक्के समर्थक थे। वे चाहते थे कि वाणी की स्वतन्त्रता, समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता तथा निजी जीवन की स्वतन्त्रता के क्षेत्र सुरक्षित होने चाहिए, और किसी भी सरकार को बलपूर्वक उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन्होंने सामान्य जनों के अधिकारों तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा की गान्धीवादी कार्य-प्रणाली का समर्थन किया। इसका मनोवैज्ञानिक महत्व भी है।

3. निष्कर्ष

समाजवादी दल के नेताओं में नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण पर मार्क्सवाद का सबसे अधिक प्रभाव था। उनकी तुलना में लोहिया पर गान्धीवादी विचारधारा का प्रभाव अधिक था।

एक समाजवादी बुद्धिजीवी के रूप में राममनोहर लोहिया ने सूक्ष्म चिन्तन तथा मनन किया था। उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियायी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वे कोरे पन्थवादी नहीं थे। उन्होंने कर्म तथा चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की समस्या को सदैव ध्यान में रखा। वे चाहते थे कि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन तथा स्वभाव की अभिव्यक्ति हो। वे इस पक्ष में नहीं थे कि व्यक्तित्व के किसी एक विशिष्ट पहलू की एकांगी तथा सीमित वृद्धि हो।[57]

प्रकरण 5
भारतीय समाजवाद का सैद्धान्तिक योगदान

भारतीय समाजवादी साहित्य में वह गहराई तथा परिपक्वता देखने को नहीं मिलती जो प्लैखनाव, बुखारिन अथवा रोजा लुक्जम्बुर्ग की रचनाओं में पायी जाती है। उसका कोई मौलिक सैद्धान्तिक योगदान नहीं है। किन्तु उसका महत्व इस बात में है कि उसने भारत के खेतिहर, जाति-बद्ध, तथा अविकसित अर्थतन्त्र और राजतन्त्र के सन्दर्भ में मौलिक समाजवादी चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया है। मार्क्स का अनुसरण करते हुए जर्मनी के मार्क्सवादियों ने किसानों को प्रतिक्रियावादी तत्व माना था। लेनिन ने इस दृष्टिकोण में संशोधन किया। भारत में मूल शोषित तत्व मजदूरी-भोगी श्रमिक वर्ग नहीं है ; गाँव के भूमिहीन मजदूर तथा किसान इस देश के सर्वाधिक शोषित वर्ग हैं। अतः ग्रामवासियों की समस्याओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। भारतीय समाजवादी प्रचलित जाति-संघर्ष तथा वर्ग-संघर्ष का अन्त करना चाहते हैं। वे नियोजन को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे समग्र और निरपेक्ष नियोजन के स्थान पर खण्डशः नियोजन के पक्षपाती हैं। भारत में पूंजी के निर्माण की समस्या बड़ी विकट है। बचत के अतिरिक्त विदेशी ऋण भी पूंजी के निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन है किन्तु विदेशी ऋण राजनीतिक शर्तों से मुक्त होना चाहिए।

---

55 *Aspects of Socialist Policy*, पृ. 17.

56 13 अक्टूबर का लोहिया का वक्तव्य, प्रेस ट्रस्ट ऑव इण्डिया द्वारा प्रतिवेदित।

57 लोहिया, *Wheel of History*, पृ. 111.

भारतीय समाजवादियों ने इन तीन प्रमुख समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन किया है—अविकसित अर्थ-तन्त्र में किसानों की भूमिका, वर्ग-संघर्ष तथा नियोजन।

जर्मन समाजवादी लोकतन्त्रवादियों की भाँति भारतीय समाजवादी भी राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक पुर्निर्माण का समन्वय करना चाहते हैं। उन्हें संसदीय तरीकों में विश्वास है। गान्धी-वाद तथा भारतीय शासन की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने हिंसा में विश्वास का पूर्णतः परित्याग कर दिया है। किन्तु पाश्चात्य समाजवादियों के विपरीत वे विकेन्द्रीकरण की धारणा के अधिक उग्र समर्थक हैं। कदाचित विकेन्द्रीकरण पर यह जोर भारतीय समाजवाद को गान्धीवाद से विरासत के रूप में मिला है।

23

सर्वोदय

1. दार्शनिक अराजकवाद

सर्वोदय यह स्वीकार करता है कि मानव की आत्मा पवित्र है। वह स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा भ्रातृत्व के आदर्शों को अत्यधिक महत्व देता है। इसलिए वह राज्य-व्यवस्था का विरोधी है।[1] उसके अनुसार राज्य कृपालु दैवी सत्ता की भौतिक अभिव्यक्ति नहीं है, जैसा कि कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत है। वह एक यांत्रिक उपकरण है जिसके द्वारा वे लोग अपने संकल्प को क्रियान्वित करने का प्रयत्न करते हैं जिनमें तिकड़मबाजी की क्षमता, आक्रामक उत्साह, कुटिलता तथा शासन-तन्त्र को नियन्त्रित करने की योग्यता होती है। इसलिए गान्धीजी ने राज्य का पूर्णतः विरोध किया था। लेव तॉलसतॉय की भाँति वे राज्य के शत्रु थे। उन्होंने 'स्वराज्य' का समर्थन किया, जिसका अर्थ है : मनुष्य का स्वयं अपने ऊपर आन्तरिक नियंत्रण और शासन। गान्धीजी चाहते थे कि स्वराज्य जनता के नैतिक प्रभुत्व पर आधारित होना चाहिए। सर्वोदय शक्ति की राजनीति के स्थान पर सहयोग की राजनीति की स्थापना करना चाहता है। वह पारस्परिक सहायता के ऐसे कार्यों पर बल देता है जिन्हें जनता स्वयं अपने आप कर सके।

2. दलविहीन लोकतंत्र

आधुनिक राज्यों में राजनीतिक दलों के कार्यकलाप का मुख्य उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है, और उसके लिए वे निर्मम संघर्ष चलाते हैं। यद्यपि लोकतंत्र में सैद्धान्तिक रूप से निर्वाचकों के प्रभुत्व और लोकसम्मति के सिद्धान्तों को मान्यता दी जाती है किन्तु व्यवहार में सर्वशक्तिमान दलों का आधिपत्य ही देखने को मिलता है। लोकतंत्र में जनता को राजनीतिक क्षेत्र में निरन्तर तथा गत्यात्मक रूप से पहल करने का अवसर नहीं मिलता। रूसो के अनुसार लोकतंत्र का सार यह है कि समाज को, जो कि एक नैतिक सत्ता है, अपने सामान्य संकल्प को क्रियान्वित करने का अवसर मिले। किन्तु आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में यह सम्भव नहीं होता। अठारहवीं शताब्दी में रूसो ने कहा था कि इंगलैण्ड की जनता केवल चुनाव के दौरान स्वतन्त्र होती है। किन्तु आधुनिक प्रचार के साधनों तथा निर्वाचकों को भ्रष्ट करने के लिए धन का जो प्रयोग किया जाता है उस सबके कारण जनता के लिए यह सम्भव नहीं हो पाता कि वह निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले थोड़े-से प्रत्याशियों में से भी उचित व्यक्तियों को चुन सके। कहा जाता है कि भारत में कुछ संगठित दलों ने अपने विरोधियों पर शारीरिक आक्रमण करना भी आरम्भ कर दिया है। इसलिए आधुनिक लोकतांत्रिक देशों में जनता चुनाव के दिनों भी सचमुच स्वतन्त्र नहीं होती। पद तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए हिंसा तथा धन का जो खुलकर प्रयोग किया जाता है उसने लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था

---

1 जयप्रकाश नारायण, *A Picture of Sarvodaya Social Order*, पृ. 43 (अखिल भारत सेवा संघ, तंजोर, 1955)। "राज्य की शक्ति में वृद्धि करके किसी प्रकार की सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।"

को खोखला कर दिया है ।[2] यह सत्य है कि जनता के लिए राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना सम्भव नहीं हो सकता । किन्तु जैसे ही अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रतिनिधि लोकतन्त्र को स्वीकार कर लिया जाता है वैसे ही राजनीतिक दल प्रकट हो जाते हैं और वे लूट-खसोट के उद्देश्य से शासनतन्त्र पर अपना पंजा कसने लगते हैं । लेकिन यदि यह मान लिया जाय कि राजनीतिक दल शक्ति पर अधिकार करने तथा पदारूढ़ बने रहने के लिए जिन भरे-भोंडे, कुत्सित और विकृत तरीकों का प्रयोग करते हैं वे सब अनिवार्य हैं, तो समस्या का समाधान कभी नहीं किया जा सकेगा। लोक-नीति की धारणा समस्या को हल करने का एक तरीका है ।[3] सर्वोदय प्रतिनिधि लोकतन्त्र की व्यवस्था का निश्चित रूप से शत्रु है, क्योंकि व्यवहार में प्रतिनिधि लोकतन्त्र मंत्रिमण्डल का अधिनायकत्व और दल का भ्रष्ट शासन होता है । इसलिए सर्वोदय दल-विहीन लोकतन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार करता है ।

दलविहीन लोकतन्त्र का आदर्श तभी साक्षात्कृत किया जा सकता है जबकि भूदान आन्दोलन पूर्णतः सफल हो जाय । किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस दिशा में तत्काल कदम उठाया जाय । दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने की चार प्रमुख पद्धतियाँ हैं :

(1) भारत के छह लाख गाँवों में इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि जिन कार्यकर्ताओं को गाँव के सभी निवासी सर्वसम्मति से अपना सर्वोत्तम सेवक समझते हों उन्हीं का नाम-निर्देशित किया जाय । ये कार्यकर्ता ग्राम पंचायत के सदस्य होंगे । यह नामनिर्देशन इस बात को व्यक्त करेगा कि इन कार्यकर्ताओं ने गाँव की जनता का विश्वास प्राप्त कर लिया है । भूदान, ग्रामदान आदि की विभिन्न पद्धतियाँ गाँवों की सामुदायिक भावना को पुनः स्थापित करने के ठोस और जीवन्त साधन हैं । जब गाँव के निवासी सर्वसम्मति से पंचायत के सदस्यों को नामनिर्देशित करेंगे और इस कार्य में दलों की परम्परागत कार्यपद्धति से काम नहीं लिया जायगा तो इससे सामुदायिक भावना के विकास में योग मिलेगा । जिस पद्धति से गाँव के स्तर पर काम लिया जायगा उसी का उच्च स्तरों पर भी प्रयोग होगा । थाना पंचायत को ग्राम पंचायत के सदस्य चुनेंगे । जिला पंचायत थाना पंचायत के सदस्यों द्वारा चुनी जायगी ।[4] प्रान्तीय प्रशासन तथा केन्द्रीय प्रशासन की रचना भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होगी ।[5] दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने का यह संस्थात्मक उपाय है ।

दलविहीन लोकतन्त्र की इस योजना में हमें दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। पहला यह है कि इसके अन्तर्गत दलीय राजनीति तथा निर्वाचन की कार्यपद्धति के स्थान पर सामुदायिक सर्वसम्मति को अपनाना है । बहुसंख्यकों के निर्णय के स्थान पर मतैक्य के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना है । दूसरा सिद्धान्त है अप्रत्यक्ष नामनिर्देशन की प्रणाली को कार्यान्वित करना । उदाहरण के लिए थाना पंचायत के सदस्यों को उस थाने की ग्राम पंचायतों के सदस्य चुनेंगे, न कि

---

2 सर्वोदय के समर्थकों के अनुसार आधुनिक संसदीय लोकतन्त्र तथा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में निम्नलिखित दोष हैं :
(क) राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति से उत्पन्न भ्रष्टाचार तथा कुत्सित आचरण ।
(ख) सर्वत्र व्याप्त आर्थिक तथा सामाजिक असमानता ।
(ग) अधिक से अधिक उपभोग-सामग्री को प्राप्त करने की प्रतियोगितामूलक उत्कण्ठा जिससे अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ता है ।
(घ) भारतीय संसदीय लोकतन्त्र का एक मुख्य दोष यह है कि इस प्रणाली का बाहर से आयात किया गया है, इसलिए वह इस देश की जनता के स्वाभाविक प्रेम तथा भक्ति को आकृष्ट करने में असफल रही है ।

3 दादा धर्माधिकारी श्रेणी समाजवादियों के कार्यमूलक प्रतिनिधित्व के प्रस्ताव का लगभग समर्थन करते हैं । उनकी राय में राजनीतिक इकाइयाँ तथा आर्थिक इकाइयाँ एक दूसरे के समानान्तर चलनी चाहिए । दादा धर्माधिकारी 'सर्वोदय दर्शन' में पृ. 227-29 पर (अखिल भारतीय सेवा संघ, काशी, 1957) लिखते हैं कि लोकतन्त्र के आधारों का रूपान्तर करने के लिए आवश्यक है कि आर्थिक इकाई, राजनीतिक (अर्थात प्रशासकीय) इकाई और प्रतिनिधित्व की इकाई में कम से कम पृथकत्व होना चाहिए ।

4 जयप्रकाश नारायण, 'क्रान्ति के आधुनिक प्रयोग' पृ. 11-12 (जनता प्रकाशन, पटना, 1954).

5 विनोबा भावे 'भूदान गंगा' में (काशी, 1957, जिल्द 1, पृ. 252) लिखते हैं कि भौतिक शक्ति गाँवों में निवास करेगी और नैतिक शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय सरकार करेगी ।

उस थाने के सब निवासी। इसी प्रकार जिला पंचायत के चुनाव में सम्पूर्ण जिले के निवासी सामूहिक रूप से भाग नहीं लेंगे; उसका चुनाव केवल जिले की थाना पंचायतों के सदस्य करेंगे। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय प्रशासकों अथवा प्रान्तीय और केन्द्रीय पंचायतों के सदस्यों का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष नाम-निर्देशन के सिद्धान्त के आधार पर ही होगा। इस प्रकार प्रान्त तथा केन्द्र के स्तर पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को विशाल पैमाने पर क्रियान्वित किया जायगा।[6]

अप्रत्यक्ष नामनिर्देशन अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन का यह सिद्धान्त दो दृष्टियों से दोषपूर्ण है।[7] इसका प्रथम मुख्य दोष यह है कि वह व्यक्ति की नैतिक तथा राजनीतिक गरिमा को कम करता है। इस समय निर्वाचक प्रत्यक्ष रूप से संसद तथा विधानांग के सदस्यों को चुनते हैं। सर्वोदय द्वारा कल्पित दलविहीन लोकतन्त्र की योजना में ग्रामवासियों को केवल ग्राम-पंचायत के सदस्यों को चुनने का अधिकार होगा। वे प्रत्यक्ष रूप से थाना पंचायत, जिला पंचायत, प्रान्तीय पंचायत तथा केन्द्रीय पंचायत के सदस्यों के चुनाव में भाग नहीं ले सकेंगे। इस प्रकार सर्वसम्मति से चुनाव के नाम पर ग्रामवासियों को राज्य के विधानांग तथा संसद के सदस्यों के चुनने के महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार से वंचित कर दिया जायगा।

व्यावहारिक दृष्टि से अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त का अन्य दोष यह है कि विभिन्न पंचायतों को चुनने में भारी उलझन और झंझटों का सामना करना पड़ेगा। राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि राजनीतिक दलों के कार्यकलाप शक्ति पर अधिकार करने तक ही सीमित नहीं होते। वे लोकमत को शिक्षित करने तथा राजनीतिक समस्याओं को सुनिश्चित तथा स्पष्ट रूप देने का भी प्रयत्न करते हैं। वे चुनाव में खड़े होने वालों के गुण-दोषों की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट करते हैं। यह सम्भव है कि गाँव अथवा थाना के स्तर तक पंचायत के सदस्यों को सर्वसम्मति से चुनना सम्भव हो सके, क्योंकि गाँव अथवा थाना के बहुसंख्यक लोगों से आशा की जा सकती है कि वे अपने 'सेवकों' अथवा अरस्तू की भाषा में अपने 'सर्वश्रेष्ठ मित्रों' को जानते होंगे। किन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि दलीय संगठनों के बिना उत्तर प्रदेश की पचास से अधिक जिला पंचायतों के लिए अपने उन सर्वश्रेष्ठ सेवकों को ढूंढ़ निकालना कैसे सम्भव हो सकेगा जिन्हें वे प्रान्तीय अथवा राज्यीय पंचायतों के लिए चुन सकें।

(2) सर्वोदय दलविहीन लोकतन्त्र के सिद्धान्त को साक्षात्कृत करने के लिए एक अन्य कार्य-विधि का समर्थन करता है। सर्वोदय का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जो दलों के रोग से मुक्त होगा।[8] वह वर्तमान दलीय राजनीति में हस्तक्षेप करने से इनकार करता है। जो व्यक्ति अपने को सर्वोदय आन्दोलन के लिए अर्पित कर देता है वह किसी निर्वाचित पद को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगा और न चुनावों में भाग ले सकेगा। किन्तु वह अपनी अन्तरात्मा के आदेशानुसार मतदान कर सकता है।[9] दलविहीन लोकतन्त्र सर्वोदय आन्दोलन की चरम परिणति माना जाता है। किन्तु जब तक वह अन्तिम अवस्था नहीं आ जाती तब तक सर्वोदय दर्शन में विश्वास करने वाला मतदान के समय बुद्धिमानी और सावधानी से काम लेगा तथा उस दल के सदस्यों को मत देगा जो उसकी राय में जनता की सबसे अच्छी सेवा कर सकता है।

(3) दलविहीन लोकतन्त्र का एक तीसरा सिद्धान्त भी है। आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं के लिए एक महत्वपूर्ण कार्यविधि यह है कि विभिन्न राजनीतिक दलों को सर्वोदय का कार्य करने के लिए आमंत्रित किया जाय। इन दलों की विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं किन्तु जहाँ तक वे सहयोग करने के लिए तैयार हों, वहाँ तक उनकी सहायता ली जा सकती है। इस

---

6 दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ. 241.

7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के समर्थन के लिए देखिये विनोबा भावे, 'भूदान-गंगा', जिल्द 4, पृ. 28-29।

8 जयप्रकाश नारायण, *A Picture of Sarvodaya Social Order* में पृ. 10 पर लिखते हैं, "हमने निश्चय किया है हम गांवों के चुनावों का दलों के आधार पर नहीं लड़ेंगे। और जो सिद्धान्त गांव के सम्बन्ध में सही है वही राष्ट्रीय स्तर पर भी सही है।"

9 वही, पृ. 30.

प्रकार के सहयोगमूलक कार्य से इन कार्यकर्ताओं की समझ में यह आ जायगा कि जिस सर्वव्यापी क्रान्ति का समर्थन सर्वोदय कर रहा है उसको तत्काल सम्पादित करना कितना आवश्यक है। उसके बाद फिर सब दल मिलकर सर्वोदय के आदर्श को साक्षात्कृत करने का संगठित प्रयत्न करेंगे। विनोबा का कहना है, "जहाँ तक विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रति हमारी नीति का प्रश्न है मेरा दृष्टिकोण यह है कि उन्हें भिन्न दलों के रूप में अपना अस्तित्व समाप्त कर देना चाहिए और सामान्य सम्मति से स्वीकृत कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अच्छे तथा निष्ठावान व्यक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा बना लेना चाहिए। इस उद्देश्य से मैं जनता के सामने एक ऐसा कार्यक्रम रख रहा हूँ जो सबको स्वीकार हो सके और जिसमें सब लोग अपना मतभेद भूलकर सम्मिलित हो सकें। इससे राजनीतिक दल एक दूसरे के निकट आयेंगे और परिणाम यह होगा कि उनके मतभेद कम होंगे और सहमति तथा मेल-मिलाप की वृद्धि होगी। भूदान इसी प्रकार का कार्यक्रम है। वह सबको स्वीकार्य है। उससे देश प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा और इस प्रकार जनशक्ति का विकास होगा।"[10]

(4) कभी-कभी दलविहीन लोकतन्त्र का विकास करने के लिए एक चौथा ठोस सुझाव भी दिया जाता है। वह यह है कि विधानांगों तथा संसद में दलीय उग्रता तथा मतभेदों को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय। यदि विधायी निकायों के लिए दलीय टिकटों पर निर्वाचित होने की वर्तमान प्रणाली कायम भी रहे तो भी यह व्यवस्था की जा सकती है कि विधानांगों में प्रविष्ट होने के बाद प्रतिनिधिगण दलीय लगाव और भक्ति की भावना से मुक्त होने का प्रयत्न करें। वे दल के सदस्यों के रूप में मत देने के बजाय राष्ट्र के प्रतिनिधियों के रूप में मतदान करें। वे अपने दल के सचेतक के आदेशानुसार कार्य न करके अपनी आत्मा के उच्च न्यायालय के निर्णय का पालन करें। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मंत्रियों को दल के आधार पर नहीं चुना जायगा। हर सदस्य से कहा जायगा कि वह मंत्रिपद के लिए नामों की एक सूची प्रस्तुत करे। उन नामों में से जिनको सबसे अधिक मत मिलेंगे उन्हें चुन लिया जायगा। यह प्रस्ताव सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु शर्त यह है कि उसे क्रियान्वित किया जा सके। मुझे प्रस्ताव की व्यावहारिकता में भारी सन्देह है। इसलिए इस समय मैं इसी पक्ष में हूँ कि मन्त्रिमण्डलों का निर्माण दलीय आधार पर किया जाय।

यह सत्य है कि गुटबन्दी और दलीय पक्षपात लोकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष है। किन्तु दलों को समाप्त कर देना सम्भव नहीं जान पड़ता। हमें दलीय पक्षपात का अन्त करना है न कि दलों का। आखिरकार दल आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की उपज है। पहले-पहल इंगलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी में दलों का संगठन आरम्भ हुआ। किन्तु क्या कोई यह कह सकता है कि सत्रहवीं शताब्दी से पहले राजनीति नहीं थी ? अनेक शताब्दियों से बिना दलीय व्यवस्था के किसी न किसी रूप में संगठित राजनीतिक कार्यवाहियाँ चली आ रही हैं। यह कहना सत्य है कि जब से जनता को मताधिकार प्राप्त हुआ है तब से राजनीतिक दलों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण हो गयी है। किन्तु यदि सर्वोदयी कार्यकर्ताओं को आधुनिक दलीय राजनीति में विश्वास नहीं है, तो वे प्रशासकीय व्यवस्था के अन्तर्गत परामर्शदाताओं के रूप में काम कर सकते हैं। यह काम वे निजी रूप में कर सकते हैं। आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं की वृद्धि के साथ-साथ परामर्श-परिषदों और परामर्श-निकायों का महत्व बहुत बढ़ गया है। इसलिए मेरा विचार है कि सर्वोदयी कार्यकर्ताओं के लिए यह अधिक अच्छा होगा कि वे हर प्रकार की राजनीति का परित्याग करने की अपेक्षा केन्द्र, प्रान्त, जिला, तालुका आदि सभी स्तरों पर परामर्श-परिषदों और परामर्श-निकायों के सदस्यों के रूप में कार्य करे। इस प्रकार का काम ठोस तात्कालिक महत्व का काम हो सकता है। मेरी धारणा है कि यदि शुद्ध कृषिक पुनर्निर्माण के कार्यों में सारी शक्ति लगा देने की अपेक्षा प्रशासन के संस्थात्मक तन्त्र में सुधार किया जाय तो उससे अधिक ठोस लाभ होगा। इसलिए मेरी सलाह है कि सर्वोदयी नेताओं को शुद्ध ग्रामीण कार्यकलाप में तल्लीन न होकर प्रशासन की समस्याओं को सुलझाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। यदि दृढ़ नैतिक चरित्र तथा त्यागवृत्ति के नेता राजनीतिक तथा प्रशासकीय सलाह-

---

10 विनोबा भावे, 'भूदान-गंगा', पृ. 106.

कार बन जायँ तो इस बात की सम्भावना हो सकती है कि भारतीय प्रशासन पर गान्धीजी की श्रेष्ठ शिक्षाओं का कुछ प्रभाव पड़ने लगे ।[11]

3. विकेन्द्रीकरण अथवा ग्राम-राज्य

लोकतन्त्र तथा साम्यवाद दोनों ही विघटनकारी शक्तियों के शिकार हैं। लोकतन्त्र में विभिन्न राजनीतिक दल शक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते हैं। इन दलों की बागडोर प्रायः थोड़े-से नेताओं के हाथों में होती है। वे ही उनका नियंत्रण तथा संचालन किया करते हैं। इस सबने लोकतन्त्र को एक मखौल बना दिया है। लोक-प्रभुत्व की धारणा एक थोथा नारा बन गयी है। महत्वपूर्ण निर्णय थोड़े-से नेताओं के द्वारा किये जाते हैं और जनता से आशा की जाती है कि वह विनम्रतापूर्वक उन निर्णयों को स्वीकार करले। जनता ने शासन के काम से संन्यास ले लिया है। उसका गौरवपूर्ण विशेषाधिकार यही है कि वह शक्ति के लिए प्रतियोगिता में संलग्न उन थोड़े-से प्रत्याशियों में से अपने शासकों को चुनले जिनके पास जनता को प्रभावित करने और यदाकदा धमकाने के समस्त साधन हुआ करते हैं। अतः लोकतन्त्र में आमूल रूपान्तर करने की आवश्यकता है। कुछ देशों में साम्यवाद का जो प्रयोग हुआ है उससे जनता के ऊपर सत्तात्मक दल का कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया है। साम्यवादियों का स्वप्न था कि अल्पसंख्यक पूँजीपतियों के अधिनायकत्व के स्थान पर सर्वहारा वर्ग तथा कृषकों का शासन स्थापित किया जाय, किन्तु व्यवहार में उन्होंने एक ऐसा विशाल तथा अत्यधिक शक्तिशाली राजतन्त्र कायम कर लिया है जो सेना तथा अधिकारियों के समूह के बल पर टिका हुआ है और उन थोड़े-से सनकी नेताओं के आदेशानुसार स्वचालित यन्त्र की भाँति काम करता है जिन्होंने किसी न किसी प्रकार उच्चतम पदों पर अधिकार कर लिया है। इसलिए वास्तविक जनसमुदाय, जिसमें करोड़ों लोग सम्मिलित होते हैं, राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय हो गया है। यह बात लोकतांत्रिक तथा साम्यवादी, दोनों ही व्यवस्थाओं में चरितार्थ होती है। शक्ति के लिए संघर्षों के इस भँवर और गन्दे दलदल के विरुद्ध सर्वोदय एक कल्याणकारी प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ है।

सर्वोदय शक्ति के उस विकेन्द्रीकरण के स्थान पर जो निरन्तर बढ़ता जा रहा है, विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है। गान्धीजी हर प्रकार के शक्ति-संचय के विरुद्ध थे और आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही स्तरों पर विकेन्द्रीकरण चाहते थे। जैफरसन की भी कल्पना थी कि छोटे ग्रामीण समुदाय ही लोकतन्त्र का आधार हो सकते हैं। संघीय केन्द्र में शक्ति के संचय से वह वास्तव में भयभीत था। विकेन्द्रीकरण की सफलता के लिए सृजनात्मक नागरिकता के कल्याणकारी विकास की आवश्यकता है। यह एक बे-सिर-पैर की कल्पना है कि संसद अथवा विधान सभा के कानूनों के

---

11 पिछले कुछ महीनों से जयप्रकाश नारायण भारतीय राजतन्त्र के पुनर्निर्माण का समर्थन करते आये हैं। उनका आग्रह है साझेदारी लोकतन्त्र अथवा सामुदायिक लोकतन्त्र को कार्यान्वित किया जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि सभी स्तरों पर राजनीतिक तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण किया जाय। बिजली के विकास ने औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की समस्या को अधिक सरल बना दिया है। जयप्रकाश नारायण ने शक्ति के वास्तविक विकेन्द्रीकरण पर बल दिया है, वे केवल स्थानीय स्वशासन के विस्तार से सन्तुष्ट नहीं हैं। उत्तरोत्तर वृद्धिमान विकेन्द्रीकरण पर आधारित भारतीय राजतन्त्र के पुनर्निर्माण की योजना प्राचीन हिन्दू परम्पराओं तथा स्वशासन के संस्थात्मक आदर्शों के अनुरूप है। गान्धीजी विकेन्द्रीकरण के सबसे प्रबल समर्थक थे। साझेदारी के सिद्धान्त पर आधारित इस योजना का पूर्वाभास हमें चितरंजनदास तथा भगवानदास की *Outline Scheme of Swaraj* में मिलता है और बलवन्तराय मेहता समिति ने भी इसका समर्थन किया है। यह योजना इसलिए प्रशंसनीय है कि वह स्वशासित, आत्म-निर्भर खेतिहर-औद्योगिक शहरी-देहाती स्थानीय समाजों को अधिक महत्व देती है। उसमें अवयवी सामुदायिक जीवन की पुनः स्थापना का जो समर्थन किया गया है वह भी प्रशंसा के योग्य है। किन्तु मैं राज्य विधानसभा और लोकसभा की अप्रत्यक्ष रचना की योजना से सहमत नहीं हूँ। यह भी सम्भव है कि सर्वसम्मति की खोज के परिणामस्वरूप धनिकतन्त्र अथवा सैनिक शासन की स्थापना हो जाय। इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि जो लोग सर्वसम्मति से चुने जायेंगे वे वास्तव में जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करेंगे। जो लोग तिकड़म से चुनाव जीत सकते हैं वे सौदेबाजी के द्वारा सर्वसम्मति से भी चुने जा सकते हैं। इस योजना का अन्य दोष यह है कि वह बहुत ही जटिल है। मैं जिला परिषद तथा पंचायत के बीच अन्य किसी निकाय का समर्थन नहीं करता। मैं पंचायत समिति जैसी संस्था का अन्त करना चाहूँगा।

द्वारा वाँछनीय परिवर्तन लाया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता को इस ढंग से प्रशिक्षित और अनुशासनवद्ध किया जाय कि वह स्वयं अपने मामलों का प्रवन्ध तथा संचालन कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में हर जगह ऐसे आत्मत्यागी नेताओं की मण्डली हो जो जनता को अपना काम करने की कला में सहायता दे सकें। ये कार्यकर्ता जनता के वन्धु होने चाहिए न कि उसके शासक। उनका यह कर्तव्य होगा कि वे जनता को सहयोगमूलक कार्यकलाप के द्वारा शिक्षित करने का प्रयत्न करें। भारत की शक्तिहीन जनता शताब्दियों से गतिशील अभिक्रम तथा स्वावलम्बन की आदत को खो बैठी है और पूर्णत: राज्य के अधिकारियों पर निर्भर होती जाती है। गान्धीजी चाहते थे कि ग्राम पंचायत अपने स्वयं के वनाये हुए नियमों के अन्तर्गत कार्य करे। किन्तु हमारी जनता का नैतिक चरित्र काफी नष्ट हो चुका है, और ये पंचायतें भी जातिवाद तथा अन्य प्रकार के कुत्सित तत्वों और प्रभावों के अखाड़े वन गयी हैं। विकेन्द्रीकरण की प्रमुख समस्या यह है कि पंचायतें इस ढंग से कार्य करें कि वे गाँव में गणतन्त्रवाद तथा सामुदायिक लोकतन्त्र के प्रशिक्षण का केन्द्र वन सकें। अत: विकेन्द्रीकरण की समस्या शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध भाषण देने अथवा पंचायत, मुखिया और सरपंच को साधारण-सी न्यायिक अथवा कार्यकारी शक्तियाँ प्रदान करके हल नहीं की जा सकतीं। सर्वोदय दर्शन के अनुसार प्राथमिक आवश्यकता यह है कि कल्याणकारी राज्य के नाम पर केन्द्रीकरण, राष्ट्रीयकरण तथा राज्य समाजवाद को प्रोत्साहन देने के स्थान पर जनता को अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा प्रशासकीय समस्याओं का सुयोग्यतापूर्वक प्रवन्ध करने की कला का प्रशिक्षण दिया जाय और उसे अनुशासन-वद्ध किया जाय। सर्वोदय के समर्थकों का एक तर्क यह है कि विकेन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मतभेद कम होता है, अत: दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने की अधिक आशा हो सकती है।

सर्वोदय की धारणा के अनुसार ग्रामराज का आदर्श तभी साक्षात्कृत किया जा सकता है जव सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता का प्रयोग ग्रामवासी स्वयं करें और जनता द्वारा प्रशासन का यही सिद्धान्त जिला तथा प्रान्त के स्तर पर व्यवहृत किया जाना चाहिए। प्रशासन :के ये क्षेत्र केन्द्रीय सरकार की इच्छा को यान्त्रिक रूप से क्रियान्वित करने के केन्द्रमात्र नहीं होंगे; वल्कि वे स्वशासन की जीवन्त इकाइयों के रूप में कार्य करेंगे। सर्वोदय के समर्थकों का यह विचार पूर्णत: सही है कि यदि ग्राम के स्तर पर स्वशासन अथवा वास्तविक लोकतन्त्र को क्रियान्वित किया जाय तो वह अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को रोकने का सवसे शक्तिशाली साधन होगा।

कुछ लोगों का डर है कि यह ग्रामराज एक ऐसे समानान्तर शासन का रूप ले सकता है जिसके पास अन्य शासकीय इकाइयों के साथ तालमेल स्थापित करने के कोई साधन न हों। किन्तु यह भय निर्मूल है, क्योंकि इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय प्रशासन को समाप्त करने का कोई विचार नहीं है। जव तक केन्द्रीय सरकार विद्यमान है तव तक अवसर के अनुसार उसकी सेवाओं का उपयोग किया जा सकता है। "केन्द्रीय सत्ता, जव तक वह विद्यमान है, रेलगाड़ी में खतरे की जंजीर के समान होगी। यात्रियों का ध्यान सदैव इस जंजीर पर केन्द्रित नहीं रहता, किन्तु संकट के समय वे उसका प्रयोग करते हैं।"[12]

सर्वोदय स्वशासन को सभी क्षेत्रों में स्थापित करना चाहता है। इसका अर्थ है कि जनता उठ खड़ी हो और सहयोगमूलक कार्यों में सजग और सक्रिय रूप से भाग ले। यदि चोटी के अधिकारी विकृत और भ्रष्ट हो सकते हैं, तो ग्राम स्तर के छोटे कार्यकर्ताओं के सम्वन्ध में भी यह डर हो सकता है अत: आवश्यक है कि उन्हें हर प्रकार के भ्रष्टाचार से वचाने के लिए प्रभावकारी उपाय किये जायँ। सर्वोदय जनता का उत्थान करना चाहता है। जनता को राजनीतिक कार्यकलाप का केन्द्र वनना है, न कि केन्द्रीय संसद अथवा मन्त्रिमण्डल को। राजनीति के स्थान पर लोकनीति

---

12 जयप्रकाश नारायण द्वारा रचित *A Picture of Sarvodaya Social Order* में पृ. 1 पर उद्धृत।

को प्रतिष्ठित करने का यही महत्व है।[13] विनोबा का कहना है, "स्वराज आ चुका है। किन्तु क्या जनता को उसके कल्याणकारी प्रभाव की अनुभूति होती है? स्वराज अथवा स्वशासन शब्द में ही विकेन्द्रीकरण का भाव निहित है। इसलिए इस सिद्धान्त को हर व्यावहारिक सीमा तक लागू करना है; जीवन के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक, हर क्षेत्र में क्रियान्वित करना है। ग्रामदान ने उस शक्ति को लोगों की झोंपड़ियों तक पहुँचा दिया है जो वास्तव में उनकी थीं किन्तु जिसके सम्बन्ध में वे दुर्भाग्यवश सचेत नहीं थे और जो उत्तरोत्तर रूप में कुर्नूल तथा दिल्ली आदि स्थानों में केन्द्रित थी। इस केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप जनता की स्वतन्त्रता का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ और उसकी दरिद्रता एवं कष्टों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। ग्रामदान के द्वारा ही आज के दिल्ली-राज को ग्रामराज अथवा रामराज में परिवर्तित किया जा सकता है। ग्रामराज के स्थापित होने पर प्रत्येक गाँव एक छोटे-से राज्य का रूप धारण कर लेगा और सभी विभाग सुयोग्यतापूर्वक गाँव में ही काम करेंगे।"[14]

सर्वोदय आन्दोलन का आग्रह है कि जिन नीतियों और पद्धतियों से सच्चे अहिंसात्मक लोकतन्त्र की स्थापना हो सके उनको क्रियान्वित करने के लिए तत्काल कदम उठाये जायँ। कल्याणकारी राज्य में भी समग्रवादी बनने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उसके अन्तर्गत राज्य अधिकाधिक कार्यों को अपने हाथों में ले लेता है, और कार्यों की वृद्धि से शक्ति की वृद्धि होनी अनिवार्य है। सर्वोदय के अनुसार दूसरों पर निर्भर रहने की बालकों की-सी यह परोपजीवी प्रवृत्ति स्वतन्त्रता की आदत तथा मूलवृत्ति को ही नष्ट कर देगी। अन्त में वह जनता को समग्रवादी नियन्त्रण की कालकोठरी में ले जाकर पटक देगी। इसलिए स्वावलम्ब और अनुशासन की कला को सीखना आवश्यक है।[15] यदि स्वतन्त्रता जीवन का वांछनीय उद्देश्य हो तो सर्वोदय चाहता है कि लोगों को थूरो के इस नीतिवचन को हृदयंगम कर लेना चाहिए कि "वही सरकार सर्वोत्तम है जो सबसे कम शासन करती है।" गान्धीजी भी इस वाक्य को बार-बार दुहराते थे।[16] इस सिद्धान्त में वास्तविक जनशक्ति के निर्माण पर बल दिया गया है।[17] जनशक्ति के द्वारा ही दण्डशक्ति के आधिपत्य से छुटकारा पाया जा सकता है। किन्तु अन्तिम आदर्श के रूप में सर्वोदय राज्य की शक्ति को सीमित अथवा नियमित करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, उसका परम उद्देश्य राज्य का उन्मूलन करना है।[18]

4. सर्वोदय के राजनीतिक निहितार्थ

(क) **वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त का खण्डन**—सर्वोदय का आधारभूत सिद्धान्त सबके सुख तथा उत्थान की प्राप्ति करना है। राजनीतिक दृष्टि से इसके दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं। प्रथम,

---

13 राजनीति तथा लोकनीति में भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:

राजनीति	लोकनीति
(क) शासन	(क) आत्म-नियन्त्रण
(ख) शक्ति	(ख) स्वतन्त्रता
(ग) नियन्त्रण	(ग) अनुशासन
(घ) प्रभुत्व तथा अधिकारों का प्राप्ति से लिए प्रतियोगिता	(घ) कर्तव्यों का पालन

14 विनोबा भावे, *Bhoodan to Gramdan*, पृ. 41 (तंजोर 1956)। विनोबा भावे ने 'भूदान-गंगा' जिल्द 2 में पृ. 107 पर चार लाख गांवों के संघ का समर्थन किया है। उस संघ में केन्द्रीय सत्ता केवल परामर्श देने वाली होगी।

15 इसलिए सर्वोदय 'शासन' के स्थान पर 'अनुशासन' की स्थापना करना चाहता है।

16 सर्वोदयी विचारकों ने साम्यवादी समाज के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों का यह आदर्श स्वीकार कर लिया है कि आदर्श समाज में वस्तुओं का प्रशासन होगा न कि व्यक्तियों के ऊपर शासन। देखिये, दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ. 233.

17 सर्वोदय के अनुसार जनशक्ति को साक्षात्कृत करने के दो उपाय हैं: (1) विचार-प्रचार, और (2) शक्ति का केन्द्रीकरण। उद्देश्य केवल लोगों के विचारों को बदलना नहीं है, बल्कि उनके हृदयों का परिवर्तन करना है। तभी वातावरण में तथा संस्थाओं में परिवर्तन लाया जा सकता है। देखिये, भगवानदास केला, 'राजव्यवस्था: सर्वोदय दृष्टि से' पृ. 92-94.

18 विनोबा भावे, *Bhoodan to Gramdan*, पृ. 8.

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन, और दूसरे अल्प-सख्यकों के हितों तथा अधिकारों की रक्षा करना। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में यह धारणा निहित है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भिन्न ही नहीं वल्कि परस्पर विरोधी हित हुआ करते हैं। इसके विपरीत सर्वोदय समाज को एक विशिष्ट प्रकार की वास्तविकता मानकर चलता है। सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकलाप का उद्देश्य प्रभावशाली वर्गों के हितों की रक्षा करना नहीं है, वल्कि पूरे समाज का अधिकाधिक कल्याण करना है। सर्वोदय स्वार्थपरता तथा शक्ति और धन की लिप्सा के घृणित तथा कुत्सित परिणामों की कटु आलोचना और निन्दा करता है। इसलिए वह निःस्वार्थ सेवा की आवश्यकता पर अधिक बल देता है। सेवा, समर्पण तथा सामान्य कल्याण सर्वोदय के मूलतन्त्र तथा क्रियाविधि हैं। वह वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का इसलिए विरोधी है कि उसमें हिंसा की दुर्गन्ध आती है। यदि एक वार यह स्वीकार कर लिया जाय कि हिंसा को संगठित सामाजिक जीवन का आधार नहीं बनाया जा सकता तो फिर परस्पर विरोधी वर्गों के संघर्ष के विघटनकारी सिद्धान्त का जीवन में कोई स्थान नहीं हो सकता। सर्वोदय वर्ग-संघर्ष की धारणा के स्थान पर सामान्य कल्याण तथा सामंजस्य के अधिक बुद्धिसंगत सिद्धान्त का समर्थन करता है। सामाजिक सामंजस्य का यह आदर्श कोरी मौखिक दुहाई देने से साक्षात्कृत नहीं किया जा सकता। उसे दैनिक जीवन में उतारना आवश्यक है। हमें यत्नपूर्वक सद्भावना का विस्तार करना है। उद्देश्य यह नहीं है कि धनिकों की सम्पत्ति का वलपूर्वक अपहरण कर लिया जाय, वल्कि हमारे पास जो भी सामिग्री है उसका दूसरों के साथ मिल-वाँटकर उपभोग करें। इस प्रकार साझेदारी आदर्श को लोकप्रिय बनाया जा सकता है और जनता में एक ऐसी नैतिक क्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है जिससे शान्तिमय सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य सम्पादित हो सके। इस क्रान्ति का उद्देश्य शक्ति पर अधिकार करना नहीं है, वल्कि मनुष्य के दृष्टिकोण तथा मूल्यों में परिवर्तन करना है। संग्रह की प्रवृत्ति के स्थान पर साझेदारी की भावना को प्रतिष्ठित करना है।

किन्तु वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन करने तथा सामाजिक सामंजस्य के आदर्श को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान स्थिति को जिसमें जमींदार किसानों का शोपण करते हैं, कायम रहने दिया जाय। अपने राजनीतिक नेतृत्व के प्रारम्भिक दिनों में गान्धीजी जमींदारों को बनाये रखने के पक्ष में थे, किन्तु आगे चलकर उनके विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया और वे निरन्तर ऐसी समाज-व्यवस्था की वात करने लगे जो सभी प्रकार के वर्ग-भेद से मुक्त हो। सर्वोदय शोषण और उत्पीड़न की व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष में नहीं है, वल्कि वह पूर्ण सामाजिक समानता तथा अधिकतम आर्थिक समानता की स्थापना करना चाहता है। सामाजिक आदर्श के रूप में सर्वोदय तथा साम्यवाद दोनों ही सामाजिक समानता तथा स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। किन्तु दोनों में तात्विक अन्तर यह है कि सर्वोदय की अहिंसा की नैतिकता तथा कार्यविधि में गहरी श्रद्धा है। सर्वोदय की कल्पना है कि प्रेम तथा अहिंसा की गतिशील तथा रूपान्तरकारी शक्ति के द्वारा स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय की स्थापना की जा सकती है।

(ख) **वहुसंख्यावाद की धारणा का खण्डन**—सर्वोदय की इस धारणा से कि समाज एक नैतिक वास्तविकता है, एक अन्य महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। प्रायः यह मान लिया जाता है कि वहुसंख्यकों के निर्णय में अनिवार्यतः श्रेष्ठ गुण होता है। सर्वोदय इस मान्यता का खण्डन करता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि समाज एक अवयवी व्यवस्था है और उसके सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के वाहक होते हैं, तो निम्न से निम्न और अकिंचन से अकिंचन व्यक्ति के जीवन और अधिकारों को जोखिम में डालने का कोई औचित्य नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट समूह के सदस्य के रूप में पंजीकृत होने अथवा किसी दल का सदस्यता शुल्क देने से वहुसंख्यक अथवा अल्पसंख्यक बन सकता है। किन्तु यदि सत्य को सर्वोच्च सिद्धान्त माना जाय और हर सदस्य के मत, इच्छा और आकांक्षा को मूल्यवान समझा जाय तो ऐसी स्थिति में वहुमत के आधार पर नहीं वल्कि सर्वसम्मति के आधार पर कार्य करना होगा। विवाद और विचार-विमर्श आवश्यक हैं, किन्तु अन्त में तर्क और वितर्क के द्वारा पारस्परिक सद्भावना और आधारभूत मतैक्य अवश्य ही प्रकट हो जायगा। सामाजिक कार्यवाही का यही सही तरीका है, कृत्रिम

सिर-गणना की पद्धति समीचीन नहीं मानी जा सकती। इसलिए सर्वोदय के अनुसार बहुसंख्यावाद के स्थान पर सर्वसम्मति के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना होगा। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए समानुपातिक प्रतिनिधित्व के जो तरीके निकाले गये हैं उनसे सर्वोदयी विचारक सन्तुष्ट नहीं हैं। बल्कि वे गान्धीजी की इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि अनेक तथा अल्प के संख्यात्मक मापदण्ड के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के कल्याण के आधारभूत सिद्धान्त को अपनाया जाय। कभी-कभी कहा जाता है कि विभिन्न प्रकार के दलों का निर्माण सामाजिक हितों की भिन्नता के कारण हुआ करता है। किन्तु सर्वोदय का मत है कि सामाजिक हितों की बहुलता की यह धारणा यांत्रिक है। उसके स्थान पर हमें यह मानना पड़ेगा कि समाज के आधारभूत हितों में एकता तथा सामंजस्य होता है। इस प्रकार सर्वोदय बहुसंख्यावाद के स्थान पर आधारभूत सर्वसम्मति के सिद्धान्त को मान्यता देता है।

(ग) **भूदान तथा सत्याग्रह**—सत्याग्रह गान्धीजी के राजनीतिक सिद्धान्त का एक आधारभूत तत्व था। सत्याग्रह का अर्थ है : निहित स्वार्थों की शक्ति के मुकाबले में जानबूझकर सत्य तथा सम्यकता का पक्षपोषण करना। व्यक्तिगत असहयोग से लेकर व्यापक पैमाने पर संगठित सविनय अवज्ञा तक सत्याग्रह के अनेक रूप हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि गान्धीजी द्वारा कल्पित सत्याग्रह दान की निष्क्रिय कार्यविधि की तुलना में अधिक गत्यात्मक तथा आक्रामक तरीका था। किन्तु विनोबा का कहना है कि भूदान स्वयं एक प्रकार का सत्याग्रह है। उन्हें विवाद तथा समझौते में विश्वास है। किन्तु वे शान्तिमय संघर्ष के विरोधी नहीं हैं।[19] ऐसे भी अनेक अवसर हो सकते हैं जब किसी एकाकी नागरिक की प्रबुद्ध आत्मा को प्रतीत हो कि समूह का निर्णय सत्य के सिद्धान्तों के विपरीत है। ऐसे अवसरों पर उसे सत्याग्रह का मार्ग अपनाना चाहिए।[20]

किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि सर्वोदय आन्दोलन में गान्धीजी की मूल सत्याग्रह की कार्यविधि को कम महत्व दिया गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि गान्धीजी को मुख्यतः विदेशी साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करना था, इसके विपरीत सर्वोदय आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण जीवन का पुनर्निर्माण करना है। इसीलिए सम्भवतः उसमें सत्याग्रह पर उतना बल नहीं दिया गया है जितना कि हमें गान्धीजी के जीवन और चिन्तन में देखने को मिलता है।[21]

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि लोकतन्त्र में सत्याग्रह की कार्यविधि के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु मेरे विचार में यह दृष्टिकोण भ्रमात्मक है। यह सत्य है कि लोकतन्त्र शान्तिमय परिवर्तन के सिद्धान्त को मानकर चलता है। किन्तु यदि लोकतन्त्र के किसी नागरिक को सचमुच तथा ईमानदारी से ऐसा अनुभव हो कि न्याय तथा सत्य के सिद्धान्तों की अवहेलना की जा रही है तो वह सत्याग्रह के मार्ग को अपना सकता है। मैं यह नहीं सोच सकता कि गान्धीजी कभी भी सत्याग्रह को लोकतन्त्र-विरोधी मान सकते थे। वे कहा करते थे कि सत्य की रक्षा के लिए मैं शक्ति के सभी केन्द्रों के साथ संघर्ष करने को तैयार हूँ। मैं एक कदम और आगे जाकर यह कहने को तैयार हूँ कि यदि गान्धीजी को सत्याग्रह तथा लोकतन्त्र में से किसी एक को चुनना होता तो वे सत्याग्रह का ही समर्थन करते। मुझे उन लोगों के तर्कों में अधिक सार नहीं दिखायी देता है जो निरन्तर इस बात की रट लगाते रहते हैं कि लोकतंत्र में नागरिक को चाहिए कि वह विधानांग को अपने मत के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे और इस प्रकार अवांछनीय कानूनों को रद्द करवाये। वैसे तो यह कार्यविधि सचमुच उचित तथा युक्तिसंगत जान पड़ती है, किन्तु यदि व्यक्ति अनुभव करता है कि कोई विशिष्ट कानून मानव, आत्मा की स्वतःस्फूर्ति तथा स्वायत्तता के

---

19 जयप्रकाश नारायण, 'क्रान्ति का आधुनिक प्रयोग', पृ. 5 (जनता प्रकाशन, पटना, 1954), विनोबा भावे, 'सर्वोदय के आधार', पृ. 63-64 (काशी 1956), दादा धर्माधिकारी, 'सर्वोदय दर्शन', पृ. 142-43.

20 विनोबा भावे, 'स्वराज्य-शास्त्र', पृ. 43-47 (सस्ता साहित्य मण्डल, 1953); विनोबा भावे, 'भूदान गंगा', जिल्द 1, पृ. 104-5.

21 विनोबा भावे का कहना है कि स्वराज्य के उपरान्त सत्याग्रह "अधिक भावात्मक, स्पष्ट तथा शक्ति सम्पन्न होना चाहिए।"

लिए घातक है तो सत्य और न्याय की रक्षा के हेतु वह अपने जन्मसिद्ध अधिकार सत्याग्रह का प्रयोग करने का हकदार है। राजनीतिक प्रतिरोध की धारणा का होटमन, काल्विन, थूरो और लास्की ने अंशतः समर्थन किया है। टी. एच. ग्रीन ने राजनीतिक प्रतिरोध का इस शर्त पर समर्थन किया है कि पहले सभी शान्तिमय तरीकों का प्रयोग कर लिया जाय, लोकमत समस्याओं के महत्व के प्रति सजग हो, और विघटन को रोकने के लिए उपाय कर लिये गये हों। जब आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के वातावरण में रहने वाला उदार प्रत्ययवादी ग्रीन प्रतिरोध का समर्थन कर सकता है तो मेरी समझ में नहीं आता कि भारतीय लोकतन्त्र के प्रसंग में सत्याग्रह का निषेध कैसे किया जा सकता है। सत्याग्रह मानव आत्मा की नमनीयता, नैतिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक मूल्य की रक्षा करने की उचित कार्यविधि है। यदि सर्वोदय के समर्थक सत्याग्रह के महत्व को कम करना चाहते हैं तो मेरा विश्वास है कि वे ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं जो गान्धीवादी दृष्टिकोण के विपरीत है।

5. निष्कर्ष

सर्वोदय का राजनीतिक दर्शन तत्वशास्त्रीय आधार पर राजनीतिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना को निर्मित करने का एक शक्तिशाली बौद्धिक प्रयत्न है। वह गान्धीजी की अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। वह स्वतन्त्र भारत की व्यवस्था के अन्तर्गत गान्धीजी के विचारों को विकसित करने का एक निर्दोष प्रयत्न है। गान्धीजी ग्रामराज के समर्थक थे। वे हिंसा की पूजा करने वाले आधुनिक पाश्चात्य लोकतन्त्र के कटु तथा अथक आलोचक थे। सर्वोदय ने गान्धीजी के विकेन्द्रीकरण तथा ग्रामराज से सम्बन्धित विचारों को विकसित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि सर्वोदय ने विकेन्द्रीकरण का आदर्श गान्धीजी से लिया है, किन्तु उसकी दलविहीन लोकतन्त्र की धारणा राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक योगदान है। हाँ, यह सम्भव है कि उसने यह धारणा यूगोस्लाविया की कम्यूनिस्ट पार्टी की विचारधारा से ग्रहण की हो।[22] फिर भी भारतीय राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार के दृष्टिकोण से दलविहीन लोकतन्त्र तथा ग्रामराज का समन्वय एक महत्वपूर्ण योगदान है।

सर्वोदय ने केन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था के विरुद्ध शत्रुता की जो भावना व्यक्त की है वह हमें उन व्यवहारवादी तथा वहुलवादी सिद्धान्तों का स्मरण दिलाती है जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम के देशों में एक फैशन बन गये थे। भारत में निरंकुशतन्त्र की परम्पराएँ शताब्दियों पुरानी हैं। यह सम्भव है कि कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज के आदर्शों की आड़ में हम राजनीतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के मार्ग पर अग्रसर होते जायें जो अन्त में हमें लेजाकर अधिनायकतन्त्र के गर्त में पटक दे। सर्वोदय हमें राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध चेतावनी देने का प्रयत्न करता है। सर्वोदय आन्दोलन ने हमें राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के शत्रुओं के विरुद्ध चेतावनी देकर हमारे नवजात लोकतांत्रिक गणतन्त्र की महत्वपूर्ण सेवा की है। भारत को इंगलैण्ड अथवा अमेरिका की क्षीण प्रतिच्छाया नहीं बनना है। शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक है कि हमारी अपनी गौरवपूर्ण परम्पराएँ हों। सर्वोदय आन्दोलन भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के श्रेष्ठ तथा उदात्त आदर्शों का मूर्तरूप है। पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्रियों तथा राजनीतिक वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण को राजनीतिक दलों की सर्वशक्तिमत्ता ने इतना संकुचित कर दिया है कि उन्होंने लोकतन्त्र की लिंकन द्वारा की गयी परिभाषा में गम्भीरतापूर्वक विश्वास करना छोड़ दिया है। एक समाजशास्त्री ने तो यहाँ तक कह दिया है कि लोकतन्त्र शासन की पद्धति नहीं है, बल्कि यह निर्णय करने का तरीका है कि कौन और किस उद्देश्य के लिए शासन करेगा। इस काल में सर्वत्र बौद्धिक निष्क्रियता देखने को मिलती है, विचारों की नवीनता का अभाव है और लोगों में यथास्थिति के सामने समर्पण करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। ऐसे समय में सर्वोदय के सन्देशवाहक स्वराज्य के श्रेष्ठ गान्धीवादी स्वप्न को साकार करने का प्रयत्न कर रहे हैं

22 अपने चिन्तन के अन्तिम दौर में एम. एन. राय ने भी दलविहीन लोकतन्त्र का समर्थन किया था। देखिये पीछे एम. एन. राय पर अध्याय।

—और स्वराज्य का अर्थ है व्यापक रूप में व्यक्ति का स्वयं अपने ऊपर शासन। यह सत्य है कि गान्धीवादी दर्शन को साक्षात्कृत करने के लिए गम्भीर मौलिक चिन्तन तथा सामाजिक-राजनीतिक प्रयोगों की आवश्यकता है। हो सकता है कि हम अनेक दशकों तक इस दर्शन को व्यावहारिक रूप न दे सकें, फिर भी मुझे सर्वोदय की इस धारणा से गम्भीर प्रेरणा मिली है कि लोकतन्त्र को वास्तविक स्वशासन की कला के रूप में प्रयुक्त करना है। बीसवीं शताब्दी में सम्भवतः यही एक ऐसा राजनीतिक दर्शन है जिसका आग्रह है कि लोकतन्त्र तथा करोड़ों लोगों के स्वशासन को वास्तविकता का रूप देना है। यदि हम दलीय अधिनायकत्व, राज्य के निरंकुशवाद तथा पुलिस के आधिपत्य की पुरानी रूढ़ियों से चिपके रहे तो उससे किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के पूरे होने की सम्भावना नहीं है। इस गणराज्य के प्रत्येक नागरिक के लिए स्वराज्य तथा लोकतन्त्र को सुलभ बनाना है। इस देश का हर नागरिक, बल्कि सम्पूर्ण विश्व का हर नागरिक एक पवित्र सत्ता है। मैं सर्वोदयी राजनीतिक चिन्तन की सम्पूर्ण कार्यविधि तथा नीति-सूत्रों से सहमत नहीं हूँ, फिर भी उसका व्यक्ति के स्वशासन को वास्तव में साक्षात्कृत करने का आधारभूत तथा क्रान्तिकारी संकल्प प्रेरणादायक है। उसका स्वप्न निश्चय ही स्फूर्ति प्रदान करता है।

24

भारत मे साम्यवादी आन्दोलन तथा चिन्तन

1. भारत में साम्यवादी आन्दोलन

भारत में साम्यवादी आन्दोलन का जन्म नवम्बर 1917 की वौलशेविक क्रान्ति के वाद के युग में हुआ।[1] इस आन्दोलन के सम्पूर्ण प्राच्य जगत में भयंकर विस्फोटक परिणाम हुए थे। दलित तथा शोषित वर्ग मास्को को एक नया स्वर्ग समझने लगे और लेनिन की एक नये पितामह और मसीहा के रूप में पूजा करने लगे। सुन-यात-सेन, मानवेन्द्रनाथ राय, हो ची-मिन्ह, माओत्से-तुंग, चाऊ एन-लाई, जवाहरलाल नेहरू आदि प्राच्य के महत्वशाली राजनीतिक नेताओं को रूस से प्रेरणा मिली और पूर्वी जगत के परम्परानिष्ठ तथा पाण्डित्यवादी देशों में मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा प्रवेश करने लगी। मानवेन्द्रनाथ राय भारतीय साम्यवाद के संस्थापकों में से थे। उन्होंने ताशकन्द में कुछ लोगों को मार्क्सवादी सिद्धान्त सिखाने का प्रयत्न किया था। शताव्दी के तीनों दशकों में राय ने अपनी ओजस्वी रचनाओं के द्वारा कुछ अन्य भारतीय तरुणों को मार्क्सवादी विचारधारा में दीक्षित करने का प्रयत्न किया। अवानी मुकर्जी, नलिनी गुप्त आदि कुछ अन्य युवकों ने मास्को के प्राच्य विद्यापीठ में मार्क्सवाद की दीक्षा ग्रहण की। 1928 में राय को साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) से निकाल दिया गया। तव से भारत के साम्यवादी क्षेत्रों में उनका प्रभाव घटने लगा। लाला हरदयाल तथा सोहनसिंह ने भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने के हेतु कैलीफोर्निया में गदर पार्टी की स्थापना की। इसमें अधिकतर सिक्ख सम्मिलित थे। तीसरे दशक के प्रारम्भ में गदर पार्टी के सन्तोखसिंह, रतनसिंह, गुरुमुखसिंह आदि कुछ सदस्य मास्को गये और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय के चतुर्थ सम्मेलन में सम्मिलित हुए। वहाँ उन्होंने सोवियत संघ का समर्थन करने का वचन दिया।[2] 1921 में वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र दत्त, पी. खनखोजी तथा नलिनी गुप्त आदि कुछ अन्य व्यक्ति मास्को पहुँचे। उन्होंने अपने को साम्यवादी वतलाया। वम्बई के श्रीपत अमृत डांगे, जिनका जन्म 1899 में हुआ था, एक 'पुराने वौलशेविक' हैं,[2] और रजनी पामदत्त[3] विदेशों में भारतीय साम्यवाद के प्रमुख प्रवक्ता तथा भारतीय साम्यवादियों के गुरु और पथप्रदर्शक रहे हैं।

1924 में सम्भवतः उत्तर प्रदेश के सत्यभक्त के अभिक्रम ने भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना हुई।[4] यद्यपि जन्म से ही भारतीय साम्यवाद की प्रेरणा का स्रोत रूस रहा है, फिर भी

---

1 एस. टैगोर, *Historical Development of the Communist Movement in India* (कलकत्ता, 1944)। एस. टैगोर ने भारत में क्रान्तिकारी साम्यवादी दल का संगठन किया था। वे एम. एन. राय के कट्टर विरोधी थे।

2 एम. ए. डांगे, *Gandhi and Lenin* (1921).

3 आर. पामदत्त, *Modern India.*

4 मुजफ्फर अहमद, *The Communist Party of India and Its Formation Abroad* (कलकत्ता, नेशनल वुक एजेंसी, 1962)। मुजफ्फर अहमद का कथन है कि भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना देश के वाहर हुई थी, और 1921 में उसे साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय से सम्वद्ध किया गया था। उनका कहना है कि साम्यवादी दल

अपने प्रारम्भिक काल में साम्यवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम से अपना सम्बन्ध रखा। कानपुर षड़यंत्र अभियोग में श्रीपत डांगे, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद तथा शौकत उस्मानी—इन चार व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया था और राजद्रोह के अपराध में उन्हें दण्ड दिया गया था। कानपुर षड़यंत्र अभियोग का भारत में साम्यवाद की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1929 में मेरठ षड़यंत्र अभियोग चला। उसमें श्रीपत अमृत डांगे, एस. वी. घोटे, जोगलेकर, निम्वकर, मिराजकर, शौकत उस्मानी, फिलिप स्प्राट, ब्रेडले, मुजफ्फर अहमद आदि दो दर्जन से अधिक व्यक्ति ग्रस्त थे। उन्हें लम्बे कारावास का दण्ड दिया गया।

1926-27 में जार्ज एलीसन, फिलिप स्प्राट[5] आदि कुछ ब्रिटिश साम्यवादी भारत आये। उनके साथ एस. सकलतवाला नाम के एक पारसी सज्जन भी आये। वे ब्रिटिश संसद के लिए निर्वाचित कर लिये गये थे। उन्होंने महात्मा गान्धी के साथ विचार-विमर्श किया।

सितम्बर 1, 1928 को साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के छठे विश्व-सम्मेलन में औपनिवेशिक देशों के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया गया। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं: "भारत, मिस्र आदि के लिए आवश्यक है कि वहाँ की जनता को राष्ट्रीय-सुधारवादी मध्यवर्ग के प्रभाव से मुक्त किया जाय। इस हेतु साम्यवादी दलों तथा सर्वहारा के श्रमिक संघों का निर्माण एवं संघटन करना होगा, और उसके लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। तभी इन देशों में सफलता की कुछ आशा के साथ उन कार्यों को पूरा करने के लिए आगे बढ़ना सम्भव हो सकता है जिन्हें चीन वूहान के काल में ही पूरा कर चुका है। यह आवश्यक है कि भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया आदि उपनिवेशों की जनता को, वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूलित सही साम्यवादी कार्यनीति के द्वारा सहायता दी जाय जिससे वह अपने को स्वराजी, वफदी आदि मध्यवर्गीय दलों के प्रभाव से मुक्त कर सके। यह भी आवश्यक है कि साम्यवादी दल तथा राष्ट्रीय-सुधारवादी विरोधी दलों के बीच कोई गठबन्धन न किया जाय। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके साथ अस्थायी समझौते न किये जायें अथवा विभिन्न दलों के निश्चित साम्राज्यवाद-विरोधी प्रदर्शनों से सम्बन्धित पृथक-पृथक कार्यों में तालमेल स्थापित न किया जाय। लेकिन शर्त यह है कि मध्यवर्गीय विरोधी दलों के इन प्रदर्शनों को जन-आन्दोलन की वृद्धि के लिए प्रयुक्त किया जा सके, और साथ ही साथ इन समझौतों से साम्यवादी दलों की जनता में तथा मध्यवर्गीय संगठनों में प्रचार-कार्य करने की स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का अंकुश न लगाया जाय। मूलतः भारत में गान्धीवाद, चीन में सुनयातसेनवाद और इण्डोनेशिया में सरेकत इस्लाम आदि आन्दोलन भी उग्र निम्न-मध्यवर्गीय विचारधारात्मक आन्दोलन थे, बाद में उन्होंने मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी-सुधारवादी आन्दोलनों का रूप धारण कर लिया।"

1934 में भारतीय साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जो जुलाई 1942 तक कायम रहा। 1935 में साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय ने संयुक्त मोर्चे की नीति अपनायी। ऊपरी तौर पर इस नीति का उद्देश्य यह था कि फासीवाद के खतरे के विरुद्ध सभी वामपंथी शक्तियों को संगठित किया जाय, किन्तु व्यवहार में वह साम्यवादियों द्वारा अन्य वामपंथी तथा समाजवादी दलों और मोर्चों को हड़प लेने की तिकड़म सिद्ध हुई। जिस समय यूरोप में संयुक्त मोर्चों की नीति कार्यान्वित की जा रही थी उन दिनों भारतीय साम्यवादियों ने भी कांग्रेस का थोड़ा-सा समर्थन किया। 1936 में एन. जी. रंगा[6] तथा सहजानन्द सरस्वती (1888-1950)[7] ने अखिल भारतीय किसान सभा का संगठन किया। साम्यवादियों ने उस पर अपना नियन्त्रण कायम करने का प्रयत्न

की स्थापना 1920 के अन्त में ताशकन्द सैनिक स्कूल में हुई थी। डेविड ड्रेहे का विचार है कि साम्यवादी दल की स्थापना 1921 में ताशकन्द में की गयी थी।

5 फिलिप स्प्राट ने बम्बई के मजदूर एवं किसान दल (वर्कर्स एण्ड पैसेंटस पार्टी) को मजबूत बनाने में सहायता दी थी।

6 एन. जी. रंगा, *Kisans and Communists* (बम्बई)।

7 स्वामी सहजानन्द सरस्वती, 'मेरा जीवन संघर्ष' (पटना, 1952).

किया, और चूँकि 1940-1941 में[8] सहजानन्द पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव था इसलिए वे साम्यवादी किसान सभा पर अपना अधिकार जमाने में सफल हुए।

रूस के युद्ध में प्रवेश करते ही साम्यवादियों ने कलाबाजी दिखलायी। उस समय तक वे द्वितीय विश्वयुद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कहते आये थे और उसका विरोध करते आये थे। किन्तु अब उन्होंने उसे लोकयुद्ध घोषित कर दिया। फलस्वरूप भारत सरकार ने उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दौरान जब कांग्रेसी नेता कारागार में थे और विदेशी सरकार राष्ट्रीय शक्तियों को कुचलने के लिए दमन और आतंक की नीति का अनुसरण कर रही थी उस समय साम्यवादियों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। कहा जाता है कि 1942 में उनके सदस्यों की संख्या केवल 2,500 थी किन्तु आगे चलकर वह 30,000 तक पहुँच गयी। युद्ध के दौरान साम्यवादियों ने चतुराई के साथ अखिल भारतीय किसान सभा पर भी अधिकार कर लिया।

1948 में साम्यवादी दल ने दक्षिण में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कीं। किन्तु उप-प्रधानमन्त्री सरदार पटेल ने उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की। फरवरी 1950 में सरदार पटेल के अनुरोध पर संसद ने विद्रोहात्मक कार्यवाहियों को रोकने के लिए निवारक नजरबन्दी कानून पास कर दिया।

1950 के बाद साम्यवादी दल ने अपने को जनता के दल के रूप में निर्मित करने का प्रयत्न किया है जिससे कि वह सामूहिक कार्यवाहियाँ कर सके और श्रमिकों तथा किसानों को संगठित करने में सफल हो सके।[9] 1951 से साम्यवादी भारतीय संसद में एक महत्वशाली प्रतिपक्षी गुट के रूप में काम करते आये हैं।[10] 1951-52 के आम चुनाव में साम्यवादियों को साठ लाख मत और 1957 के आम चुनाव में एक करोड़ बीस लाख मत प्राप्त हुए। दिसम्बर 1952 में पृथक आन्ध्र राज्य बनाने के प्रश्न को लेकर सीतारामूलू ने भूख हड़ताल की और फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। उस अवसर पर साम्यवादियों ने भीषण दंगा करवा दिया और तेलेगू जनता की प्रादेशिक भक्ति का अधिकाधिक लाभ उठाया। 1954 में पंडित नेहरू ने सोवियत रूस की यात्रा की और भारत-सोवियत सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार हो गया। साम्यवादियों ने इस बात को हृदयंगम कर लिया। उन्होंने अपने उस पुराने नारे को, कि भारत अभी भी साम्राज्यवादियों का उपनिवेश है, त्याग दिया। उसी समय रूसी इतिहासकारों ने गान्धीजी की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन किया और जिस व्यक्ति को एक समय पूंजीपतियों का नेता कहा जाता था उसे अब जनता के लिए संघर्ष करने वाला माना जाने लगा। अप्रैल 1957 में साम्यवादियों ने केरल में सांविधानिक तरीकों से शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी सफलता से उनका आत्मविश्वास बहुत बढ़ गया। किन्तु अगस्त 1959 में साम्यवादी सरकार इस आधार पर हटा दी गयी कि राज्य में सांविधानिक व्यवस्था विफल हो गयी थी, और अनुच्छेद 357 के अन्तर्गत केरल में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया।

अक्टूबर 1962 में चीनियों ने भारतीय सीमाओं पर जो आक्रमण किया उसने साम्यवादियों के अन्तःकरण को भारी चुनौती दी। आक्रमण से साम्यवादी दल की एकता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। पीकिंग समर्थक गुट को अपना बचाव करने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा। किन्तु उनका रवैया विद्रोहात्मक रहा है। अब वे पश्चिमी बंगाल, केरल और आन्ध्र में शक्तिशाली होने का दावा करते हैं। डांगे का नेतृत्व स्वीकार करने वाले दक्षिणपंथी साम्यवादी अधिक मास्को-समर्थक हैं। वे श्रमिक संघीय मोर्चे पर अधिक सक्रिय हैं, और संसदीय कार्यप्रणाली को छोड़ने का उनका इरादा नहीं है। वामपंथी साम्यवादी सर्वहारा के अधिक निकट हैं, और अभी भी सशस्त्र

---

8 वह, 'क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा' (पटना, श्रमजीवी पुस्तकालय, 1947)। यह पुस्तक लेनिन, स्तालिन तथा जॉन स्ट्रेची की रचनाओं का रूपान्तर मात्र है।

9 अजय घोष, *Articles and Speeches*, पृ. 108.

10 जवाहरलाल नेहरू ने 7 दिसम्बर, 1950 को संसद में अपने एक भाषण में कहा था कि भारत सरकार की साम्यवादी दल के प्रति नीति "कोमल नीति नहीं रही है और न कोमल नीति होने जा रही है।" (*Jawaharlal Nehru's Speeches, 1949-1953*), पृ. 265.

संघर्ष की धारणा का समर्थन करते हैं। वे दक्षिणपंथियों को संशोधनवादी कहकर निन्दित करते हैं। दक्षिणपंथियों का शहरी क्षेत्रों में अधिक प्रभाव है। इसके विपरीत वामपंथी "भूमि भूमिहीनों के लिए" का नारा लगाते हैं, इसलिए मालाबार, तेलंगाना और तंजोर के कृषिक क्षेत्रों में उनकी शक्ति अधिक है।

2. इतिहास दर्शन

भारतीय साम्यवादी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की भौतिक व्याख्या को स्वीकार करते हैं। इसलिए वे देश के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास और राजनीतिक समस्याओं की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं।

कार्ल मार्क्स ने लुई मौर्गन के इस सिद्धान्त को बिना समीक्षा के स्वीकार कर लिया था कि आदिम साम्यवादी समाज स्वतन्त्रता तथा समानता पर आधारित था। उस समाज में उत्पादन विनिमय के लिए नहीं होता था इसलिए उसमें न सामाजिक वर्ग थे और न शोषण। ऐंगिल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति' में मौर्गन की इस स्थापना को स्वीकार कर लिया था कि मनुष्य सामाजिक विकास की तीन अवस्थाओं में होकर गुजरा है—प्राकृतावस्था, बर्बरता और सभ्यता। और इसी आधार पर ऐंगिल्स ने सामाजिक विकास का क्रम निश्चित किया। डांगे मौर्गन-मार्क्स और ऐंगिल्स के इस दृष्टिकोण को पूर्णतः स्वीकार करते हैं, और इसी क्रम के आधार पर उन्होंने प्राचीन भारत के आर्थिक और सामाजिक विकास का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार ब्राह्मण भारत में बसने वाले आर्यों का आदिम समाज था[11] और यज्ञ सामूहिक उत्पादन की वह प्रणाली थी जो निजी सम्पत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति से पहले प्रचलित थी।[12] उनका कहना है कि 'पुरुषसूक्त' उन आर्यों का गीत था जो दासों के स्वामी थे, जिन्होंने कुछ ही समय पहले दासता का आविष्कार किया और समृद्ध होने लगे थे।[13]

किन्तु डांगे की यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है कि अनुष्ठानात्मक तथा आदर्शमूलक यज्ञ उपभोग के हेतु उत्पादन की प्रणाली के प्रतीक थे। उनका यह मत उपहासास्पद है कि हवन समाज में सामूहिक रूप से उत्पादित भोजन को प्रतिदिन बाँटने का तरीका था।[14] उन्होंने परिवार के विकास के सम्बन्ध में ऐंगिल्स के सिद्धान्त को, जोकि अब पूर्णतः अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका है, गम्भीरतापूर्वक तथा ज्यों का त्यों मान लिया है, और एक भ्रमपूर्ण दृष्टिकोण की पुष्टि करने के लिए प्राचीन संस्कृत के श्लोकों की अशुद्ध व्याख्या कर डाली है। उनकी इस धारणा का भी ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं है कि शूद्र दास थे।[15] डांगे ने अपनी पुस्तक में वैदिक वाङ्मय तथा महाकाव्यों से अनेक उदाहरण दिये हैं, किन्तु उनका ग्रन्थ निष्पक्ष शोध पर आधारित पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। प्राचीन भारत की सामाजिक नैतिकता को हेय सिद्ध करने में डाँगे को एस. सी. सरकार की पुस्तक 'सम ऐस्पैक्ट्स आव द अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आव इण्डिया' (भारत के प्राचीनतम सामाजिक इतिहास के कुछ पहलू) से सहायता मिल सकती थी।[16] यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय साम्यवादी इस पुस्तक से परिचित नहीं हैं। कुछ अन्य लेखकों ने मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि भौतिक परिस्थितियाँ नींव का काम करती हैं और विचारधारा उस नींव पर खड़े हुए भवन के सदृश होती है अतः उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक विकास आर्थिक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों की आवश्यकताओं के

---

11 डांगे, *India : From Primitive Communism to Slavery*, पृ. 43.
12 वही, पृ. 51.
13 वही, पृ. 139.
14 वही, पृ. 49.
15 वही, पृ. 135.
16 एस. सी. सरकार, *Some Aspects of the Earliest History of India* (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1928).

फलस्वरूप हुआ करता है।[17] राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) ने बतलाया कि भारत के सामाजिक विकास की प्रक्रिया के मूल में वर्ग-संघर्ष ही मुख्य तत्व था। इस संघर्ष में एक ओर ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा दूसरी ओर समाज के दलित वर्ग थे। महाभारत में द्रोपदी के पाँच पतियों की जो कथा आती है उसके सम्बन्ध में राहुल का कहना था कि वह हिमालय की तराई क्षेत्रों में प्रचलित बहुपतित्व की प्रथा का ही अवशेष थी। उनके अनुसार प्राचीन ऋषि-मुनि शासक-वर्ग का पक्ष-पोषण करने वाले बुद्धिजीवी थे। उन ऋषियों-मुनियों का काम आत्मवाद, पुनर्जन्मवाद, स्वर्ग, नरक आदि की मिथ्या धारणाओं का निर्माण करना था जिससे कि श्रमिक-वर्ग के शोषण की दुःखद प्रक्रिया को बौद्धिक जामा पहनाया जा सके। अपनी 'दर्शन-दिग्दर्शन' पुस्तक में राहुल ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन युग के दार्शनिक सिद्धान्त तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों से ही उत्पन्न हुए थे। राहुल को इस मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में अक्षरशः विश्वास था कि धर्म जनता के लिए एक प्रकार की अफीम है और वह जनता के शोषण की बर्बर प्रक्रिया को छिपाने का एक मुखौटा है। उन्होंने मार्क्सवादी इतिहास के क्षेत्र में 'साम्यवाद ही क्यों ?' 'मानव-समाज' तथा 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' नामक तथ्य ग्रन्थों की रचना की। उनके अनुसार बुद्ध एक ऐसे तर्कवादी थे जिन्होंने उपनिषदों के ब्रह्मवाद की नींव को ध्वस्त करने का प्रयत्न किया। राहुल को मूल बौद्ध ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान था, किन्तु पाश्चात्य, सामाजिक तथा राजनीतिक विज्ञानों और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में उनकी जानकारी एक पत्रकार की जानकारी से अधिक नहीं थी। इसलिए राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उनका प्राचीन भारतीय संस्कृति का उपहास करने के अतिरिक्त कोई योगदान नहीं है।

साम्यवादियों की दृष्टि में गान्धीवादी आन्दोलन पूँजीपति वर्ग का आन्दोलन था। उसका उद्देश्य था कि विदेशी साम्राज्यवादियों के हाथों से राजनीतिक शक्ति छीन ली जाय और उसका प्रयोग पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करने के लिए किया जाय। उन्होंने गान्धीवाद की यह कहकर भर्त्सना की कि वह एक वर्ग-सहयोग की विचारधारा है, और अहिंसा तथा न्यासधारिता (ट्रस्टीशिप) का उपदेश देकर सर्वहारा क्रान्ति की उग्रता को शान्त करने का प्रयत्न करती है। अतः साम्यवादियों के अनुसार गान्धीवाद सर्वहारा के उग्रवाद का शत्रु था। उसका अहिंसा का सिद्धान्त मार्क्स के इस सिद्धान्त का विरोधी था कि हिंसा नवीन समाज के जन्म में धाय का काम करती है।[18] साम्यवादियों को नेहरू के विचारों की उग्रता में विश्वास नहीं था। प्रारम्भ में उनकी इच्छा थी कि नेहरू

---

17 'लोकायत' ऐसी एक पुस्तक है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, *Lokayata*, पृ. 696 (दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1959)। इस पुस्तक में लेखक यह मानकर चला है कि प्रारम्भ में देश में एक आदिम प्रकार की भौतिकवादी विचारधारा प्रचलित थी। लेखक इस बात से सहमत है कि सांख्य दर्शन का उदय इस आदि-भौतिकवाद के विकास के फलस्वरूप हुआ था। वही भौतिकवाद तंत्रवाद का भी आधार था। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सांख्य में शक्ति और प्रकृति को जो प्राथमिकता दी गयी है उसका आधार वह सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें स्त्रियों को प्राथमिकता दी जाती थी। उसने टॉम्सन तथा ब्रिफॉल्ट से प्रेरित होकर लिखा है कि खेतिहर अर्थव्यवस्था ने वह परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसमें स्त्री को प्राथमिकता दी गयी। लेखक ने तन्त्र का सम्बन्ध खेतिहर अर्थव्यवस्था से और वैदिक धर्म का पशुपालन से सम्बन्ध जोड़ा है। किन्तु यह कहना भूल है कि वैदिक अर्थव्यवस्था पशुपालन की व्यवस्था थी। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि आधुनिक युग में सांस्कृतिक मानवशास्त्र, समाजशास्त्र आदि की आश्चर्यजनक प्रगति हो चुकी है फिर भी लेखक लुई मॉर्गन और ऐंगिल्स के पुराने सामान्यीकरणों से प्रेरणा ग्रहण करता है। लेखक का कहना है कि इस पुस्तक की पद्धति तथा तात्विक पहलू के सम्बन्ध में उसने जार्ज टॉम्सन की *Aeschylus and Athens* तथा *Studies in Ancient Greek Society* (लन्दन, 1949 और 1955), आर. ब्रिफॉल्ट की *The Mothers*, ओ आर. एहरेनफेल्स की *Mother-Right in India* (1941) और जॉजफ नीडहम की *Science and Civilization in China* से प्रेरणा ली है।

18 भारतीय कम्यूनिस्टों का महात्मा गान्धी के प्रति दृष्टिकोण प्रमुख सोवियत दृष्टिकोण के साथ-साथ बदलता रहा है। 1954 के बाद सोवियत लेखकों ने महात्मा गान्धी के विषय में अपना दृष्टिकोण बदल लिया है। अब वे उन्हें सर्वहारा के हितों का पथभ्रष्ट विरोधी नहीं मानते, अपितु अब उनका विचार है कि गान्धीजी ने ऐतिहासिक भूमिका अदा की थी। ई. एम. एस. नाम्बूद्रीपाद तथा हीरेन मुकर्जी की रचनाओं में गान्धीजी के व्यक्तित्व के प्रति आदर प्रकट किया गया है और उन्हें भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयत्न किया है।

गान्धीवाद से अपना सम्बन्ध तोड़ लें और ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद दोनों के विरुद्ध सर्वहारा की क्रान्ति का नेतृत्व करें।

3. आर्थिक तथा राजनीतिक विचार

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय साम्यवादियों ने भारतीय राष्ट्रवाद के नेताओं को फासीवादी घोषित करने का ही दुस्साहस नहीं किया, बल्कि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों से समझौता कर लिया और पाकिस्तान की पृथकतावादी माँग का समर्थन किया। "पाकिस्तान की माँग का बुद्धिसंगत सार यह है कि जहाँ कहीं भी एक निश्चित प्रादेशिक इकाई में बसने वाले मुसलमान एक राष्ट्र-जाति बन चुके हों वहाँ उन्हें स्वायत्ततापूर्ण राज्य के रूप में जीवन बिताने का निश्चित अधिकार है, जैसा कि भारत की आन्ध्र, कर्नाटकी, मराठी, बंगाली आदि जातियों को है।"[19] साम्यवादियों ने पाकिस्तान की माँग का ही समर्थन नहीं किया, अपितु उन्होंने इस विघटनकारी धारणा का भी प्रतिपादन किया कि भारत में अनेक राष्ट्र-जातियाँ हैं। "गान्धीजी का कथन है कि भारत का विभाजन एक पाप है। और यही विचार राष्ट्रीय नेताओं के मत का सार है। यह एक ऐसी खाई है जिसे अविलम्ब पाटना आवश्यक है। राष्ट्रीयवादी विचारों के लोग चिल्ला-चिल्लाकर इस बात की घोषणा करते आये हैं कि स्वतन्त्र भारत में बहुसंख्यकों के द्वारा अल्पसंख्यकों का शोषण नहीं होगा। किन्तु जिन अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों का अविश्वास है वे इस प्रकार की घोषणाओं से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। उनके भय का पूर्णतः निराकरण होना चाहिए। उनके समानता के दर्जे की ऐसे रूप में गारन्टी होनी चाहिए जिसे वे सरलता से समझ सकें। उन्हें पृथक होने का अर्थात् अपना स्वतन्त्र राज्य बनाने का अधिकार दिया जाना चाहिए। पृथक होने के अधिकार को जिन्ना की एक विशेष सनक समझना अथवा उसे साम्यवादियों का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में देश को बाँटने का षड्यन्त्र मानना मुसलमानों की नवीन जाग्रति की उपेक्षा करना है। यही नहीं, इस प्रकार की धारणा आन्ध्र, कर्नाटकी, मराठी आदि राष्ट्र-जातियों की जाग्रति की उपेक्षा करती है—यह जाग्रति इस बात की द्योतक है कि ये जातियाँ नवीन जीवन चाहती हैं, और उनमें वैयक्तिक राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो चुका है।"[20]

भारतीय साम्यवादियों ने घोषणा की है कि भारत एक बहुराष्ट्रीय देश है।[21] वे आन्ध्र, कर्नाटक, केरल आदि अहिन्दी क्षेत्रों में अधिक शक्तिशाली हैं। प्रादेशिक विघटनकारी तत्वों के साथ साम्यवादियों की साँठगाँठ भारतीय राजनीति में एक खतरनाक तत्व है। साम्यवादियों ने दक्षिण के किसान विद्रोहों की ब्राह्मण-विरोधी प्रवृत्ति को भी उभाड़ा है और उससे लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। कुछ सीमा तक उन्होंने द्रविड़स्तान की माँग का भी समर्थन किया है। अतः भारत में साम्यवादी आन्दोलन देश की एकता तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए गम्भीर खतरा है।[22]

---

19 *People's War*, अक्टूबर 15, 1944. देखिये जी. एम. अधिकारी, *Pakistan and National Unity*, पृ. 7.

20 *The People's War*, अगस्त 9, 1942 का सम्पादकीय; एम. आर. मसानी द्वारा *The Communist Party of India* में पृष्ठ 279 पर उद्धृत।

21 एस. एन. मजूमदार, "Stalin's Work on Linguistics", *New Age*, मार्च 1954.

22 1925 में स्तालिन ने कहा था : "कहा जाता है कि भारत एक इकाई है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि भारत में कोई क्रान्तिकारी उथल-पुथल हुई तो अनेक राष्ट्र-जातियाँ जो अब तक अज्ञात थीं अपनी-अपनी भाषा और अपनी-अपनी विशिष्ट संस्कृति के साथ उभड़कर ऊपर आयेंगी।" 14 अक्टूबर, 1952 को सोवियत संघ की कम्यूनिस्ट पार्टी के उन्नीसवें अधिवेशन के अवसर पर स्तालिन ने कहा था, "पूर्वकाल में पूँजीपति वर्ग राष्ट्र का नेता माना जाता था; उसने राष्ट्र के अधिकारों और स्वतन्त्रता का समर्थन किया, और उन्हें सर्वोपरि माना। अब उस राष्ट्रीय सिद्धान्त का लेशमात्र भी शेष नहीं है। अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय प्रभुत्व का झण्डा फेंक दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि आपको, जो कम्यूनिस्ट तथा लोकतांत्रिक दलों के प्रतिनिधि हैं, इस झण्डे को उठाना पड़ेगा और आगे ले जाना पड़ेगा, यदि आप अपने देश के भक्त बनना चाहते हैं और यदि आप अपने राष्ट्र का प्रमुख शक्ति बनना चाहते हैं। और कोई नहीं है जो इस झण्डे को उठा सके। आज यही स्थिति है।"

1948 में साम्यवादी दल ने अपने द्वितीय सम्मेलन में अपना कार्यक्रम प्रकाशित किया। उसकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं :

(1) राष्ट्रकुल से भारत का सम्बन्ध विच्छेद करना;
(2) आंग्ल-अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ सहयोग न करना;
(3) भारत तथा पाकिस्तान के बीच सहयोग;
(4) वयस्क मताधिकार तथा समानुपाती प्रतिनिधित्व;
(5) जनजातीय तथा पिछड़े हुए वर्गों को समान लोकतान्त्रिक अधिकार;
(6) स्त्रियों के लिए समान लोकतान्त्रिक अधिकार;
(7) नि:शुल्क शिक्षा का अधिकार;
(8) राष्ट्र-जातियों के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार तथा 'ऐच्छिक भारतीय संघ';
(9) स्वायत्ततापूर्ण भाषात्मक प्रान्त;
(10) भूतपूर्व देशी राज्यों का उनकी जनता की इच्छा के अनुसार भारत अथवा पाकिस्तान में प्रवेश, न कि शासकों की इच्छानुसार प्रवेश;
(11) जमींदारी का उन्मूलन, कृषकों की ऋणग्रस्तता का उन्मूलन, सूदखोरी का अन्त;
(12) राज्य द्वारा विदेशी बैंकों, औद्योगिक तथा परिवहन संस्थानों, बागानों, खानों आदि का जब्त किया जाना तथा उनका राष्ट्रीयकरण;
(13) बड़े उद्योगों, बैंकों, बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण और श्रमिकों द्वारा उन पर नियन्त्रण की गारन्टी;
(14) आठ घन्टे का दिन;
(15) आर्थिक नियोजन;
(16) दमनकारी कानूनों को रद्द करना;
(17) नौकरशाही प्रशासन का उन्मूलन; तथा
(18) जनता को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करना।

साम्यवादियों को संसदीय लोकतान्त्रिक प्रणाली से सहानुभूति नहीं है। यह सत्य है कि कार्यनीति की दृष्टि से उन्होंने संसदीय तथा चुनाव पद्धतियों को अपना लिया है किन्तु स्वभावत: उन्हें सोवियतों पर आधारित जनता के लोकतांत्रिक राज्यों में विश्वास है। वर्तमान में उन्होंने अस्थायी रूप से भारतीय राज्य को उलटने के लिए देशव्यापी विद्रोह की कार्यप्रणाली का परित्याग कर दिया है। किन्तु रूस की सैनिक शक्ति की वृद्धि से उनको प्रसन्नता होती है; और उनका कहना है कि चीन के ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों की छापामार युद्ध प्रणाली की जो जीत हुई उसमें शक्तिशाली तथा दृढ़ सोवियत पिछावे का निर्णायक योगदान था। प्रथम आम चुनाव से पहले साम्यवादी दल ने घोषणा की थी, दल का यह नारा होना चाहिए कि वर्तमान सरकार को जाना है और उसके स्थान पर एक ऐसी लोकतान्त्रिक सरकार की स्थापना करनी है जो लोकतांत्रिक शक्तियों की एकता का प्रतिनिधित्व करती हो, जो ब्रिटिश साम्राज्य से अपना सम्बन्ध तोड़ ले और भूमिसुधार तथा लोकतन्त्र के कार्यक्रम को कार्यान्वित कर सके। उसे (दल को) आगामी आम चुनावों का, अपने कार्यक्रम का व्यापार प्रचार करने, लोकतांत्रिक शक्तियों को संगठित और स्वीकृत करने तथा वर्तमान सरकार की नीतियों का भंडाफोड़ करने के लिए प्रयोग करना चाहिए। उसे जनता का उसके दिन-प्रतिदिन के संघर्ष में नेतृत्व करना है और उसे कदम-ब-कदम आगे ले चलना है जिससे वह स्वयं अपने अनुभव के द्वारा सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता तथा अनिवार्यता को समझ ले। पार्टी को यह पुकार नहीं करना है कि फासीवाद अनिवार्य है। उसको चाहिए कि देश में जो व्यापक लोकतांत्रिक विचारधारा फैली हुई है उसका जनता को एकीकृत करने के लिए प्रयोग करे जिससे वर्तमान सरकार की फासीवाद की ओर बढ़ती हुई गति को रोका जा सके। दिन-प्रति-दिन धैर्यपूर्ण तथा व्यवस्थित कार्य करके, जनता की माँगों का साहसपूर्वक समर्थन करके और उसके सभी वर्गों के ठोस संघर्ष में

सही नेतृत्व प्रदान करके अपनी शक्ति में वृद्धि कर सकता है और जनता के लोकतान्त्रिक आन्दोलन के संगठनकर्ता तथा नेता की भूमिका अदा कर सकता है।"[23]

साम्यवादी दल ने भारतीय गणतन्त्रात्मक संविधान की आलोचना की थी। वह उसे जमींदारों और पूँजीपतियों का संविधान मानता था। उसने संविधान के संकटकालीन प्राविधानों का भी विरोध किया है, क्योंकि उसके विचार में इससे नौकरशाही को अपनी शक्ति की वृद्धि करने में सहायता मिलेगी। दल का कहना है कि संविधान का उद्देश्य अर्थतन्त्र, भूमि तथा पूँजी पर जमींदारों, राजाओं तथा साम्राज्यवादियों का शिकंजा मजबूत करना है। वह इस बात की भी आलोचना करता है कि संविधान में श्रमिकों तथा वेतनभोगी वर्गों के लिए हड़ताल करने, निर्वाह योग्य वेतन, काम तथा विश्राम की गारन्टी नहीं है। वह चाहता है कि इन अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायिक उपचारों की व्यवस्था होनी चाहिए। साम्यवादी दल संविधानिक, शासकीय तथा प्रशासकीय स्तर पर निम्नलिखित सुधारों का समर्थन करता है :

(1) जनता का प्रभुत्व अर्थात देश की जनता के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण। राज्य की सर्वोच्च शक्ति पूर्णतः जनता के प्रतिनिधियों में निहित होगी। ये प्रतिनिधि जनता द्वारा निर्वाचित होंगे, और उन्हें बहुसंख्यक निर्वाचकों की माँग पर किसी भी समय वापस बुलाया जा सकेगा। वे एक ही लोकप्रिय सभा, अथवा एक ही विधायी सदन के रूप में कार्य करेंगे।

(2) गणतन्त्र के राष्ट्रपति के अधिकारों पर नियंत्रण, जिससे राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा अधिकृत व्यक्तियों को उन कानूनों को लागू करने से वंचित कर दिया जायगा जिन्हें विधानांग ने पारित नहीं किया है।

(3) भारत के उन सभी पुरुष और स्त्री नागरिकों को जो अठारह वर्ष के हो चुके हैं, विधान सभा तथा विभिन्न स्थानीय निकायों के निर्वाचन में सार्वभौम, समान तथा प्रत्यक्ष मतदान का अधिकार, गुप्त मतदान, हर व्यक्ति को किसी भी प्रतिनिधि संस्था के लिए निर्वाचित होने का अधिकार, जनता के प्रतिनिधियों को वेतन, सभी चुनावों में राजनीतिक दलों का समानुपाती प्रतिनिधित्व।

(4) व्यापक पैमाने पर स्थानीय शासन, और जनसमितियों द्वारा स्थानीय निकायों को विस्तृत शक्तियाँ। ऊपर से नियुक्त किये गये सभी स्थानीय तथा प्रान्तीय अधिकारी वर्गों का उन्मूलन।

(5) शरीर तथा अधिवास की अलंघनीयता; विवेक, भाषण, प्रेस, सभा, हड़ताल तथा संघ-निर्माण की अनबाधित स्वतन्त्रता; आवागमन तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता।

(6) सभी नागरिकों को धर्म, जाति, लिंग, नस्ल अथवा राष्ट्रजाति के भेदभाव के बिना समान अधिकार; लिंग भेद के बिना समान काम के लिए समान वेतन।

(7) सभी राष्ट्रजातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार। भारतीय गणराज्य एक सम्मिलित राज्य की रचना के लिए भारत की विभिन्न राष्ट्रजातियों की जनता को उसकी ऐच्छिक सहमति के आधार पर संयुक्त करेगा, न कि बल प्रयोग के द्वारा।

(8) समान भाषा के सिद्धान्त के आधार पर देशी रियासतों का राष्ट्रीय राज्यों में विलय करके वर्तमान कृत्रिम प्रान्तों अथवा राज्यों का पुनर्निर्माण। उस जनजातीय क्षेत्र अथवा उन क्षेत्रों को, जिनकी जनसंख्या की संरचना विशिष्ट प्रकार की है और विशिष्ट सामाजिक दशा है अथवा जो एक राष्ट्रजातीय अल्पसंख्या के रूप में संगठित है, पूर्ण प्रादेशिक स्वायत्तता और प्रादेशिक शासन प्राप्त होगा।

(9) उद्योग, कृषि तथा व्यापार पर उत्तरोत्तर वृद्धिमान आय-कर तथा श्रमिकों, किसानों और शिल्पियों को कर में अधिकाधिक छूट।

(10) लोगों को अपनी राष्ट्रीय भाषा की पाठशालाओं में शिक्षा पाने का अधिकार; सभी

---

23 एम. आर. मसानी द्वारा *The Communist Party of India* में पृ. 260 पर उद्धृत।

सार्वजनिक तथा राजकीय संस्थाओं में राष्ट्रभाषा का प्रयोग। हिन्दी का एक अखिल भारतीय राज्य भाषा के रूप में प्रयोग अनिवार्य नहीं होगा।

(11) सब लोगों को किसी भी अधिकारी पर लोक न्यायालय में अभियोग चलाने का अधिकार।

(12) राज्य का सभी धार्मिक संस्थाओं से पृथक्करण। राज्य धर्म-निरपेक्ष होगा।

(13) दोनों लिंगों के बालकों के लिए चौदह वर्ष की आयु तक निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा।

(14) पुलिस के स्थान पर लोकसेना की स्थापना। भृत्तिभोगी सेना तथा अन्य दाण्डिक दलों का उन्मूलन तथा भारत की रक्षा के लिए ऐसी राष्ट्रीय सेना, नौसेना तथा वायुसेना की स्थापना जिनका जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

(15) लोक स्वास्थ्य सेवा की स्थापना; सम्पूर्ण देश में चिकित्सा-केन्द्रों तथा अस्पतालों का निर्माण जिनका उद्देश्य देश में हैजा, मलेरिया, आदि महामारियों के केन्द्रों को नष्ट करना होगा।[24]

इस आलोचना तथा इन प्रस्तावों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि साम्यवादी राज्य सभा तथा विधान परिषदों का उन्मूलन करना चाहेंगे। वे चाहेंगे कि राजनीतिक दलों को सभी चुनावों में उनके द्वारा प्राप्त सम्पूर्ण मतों के आधार पर, समानुपाती प्रतिनिधित्व स्वरूप दिया जाय। वे चाहेंगे कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद के उन सभी प्राविधानों को हटा दिया जाय जो व्यक्ति की वाणी, सभा तथा आवागमन आदि की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। सातवें तथा आठवें पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक प्रकार से देश के राजनीतिक एकीकरण को समाप्त करना चाहते हैं और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की आड में सब राष्ट्रजातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर तथा भारतीय राज्य के प्रति भक्ति को ऐच्छिक बनाकर भारतीय संघ को छिन्न-भिन्न कर देना चाहते हैं।

साम्यवादियों की आलोचना है कि सहकारी संस्थाओं अथवा सरकार ने किसानों को जो ऋण दिया है वह बहुत ही अपर्याप्त है। उन्होंने ब्याज भोगी पूँजी की तथा कृषि में पूँजीपतियों के प्रवेश की भर्त्सना की है, और शिकमी काश्तकारों तथा बँटाईदारों का पक्षपोषण किया है। उनकी माँग है कि खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित करदी जाय और ग्रामीण प्रशासन का विकेन्द्रीकरण किया जाय।[25]

तृतीय आम चुनाव से पूर्व अक्टूबर 1961 में साम्यवादी ने अपनी चुनाव-घोषणा प्रकाशित की। उसमें शान्ति की नीति को सर्वोच्च महत्व का काम माना गया। समाजवादी देशों के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की माँग की गयी। महत्वपूर्ण विदेशी संस्थानों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया गया, और कहा गया कि उनके द्वारा लाभ के धन को स्वदेश भेजने पर रोक लगा दी जाय। इसके अतिरिक्त बैंकों, सामान्य बीमा, लोहा, इस्पात तथा कोयले के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की माँग की गयी। साम्यवादी दल ने भूमिहीनों को भूमि देने का जोरदार समर्थन किया। उसने यह भी घोषणा की कि बड़े जमींदारों को मुआवजा न दिया जाय। न्यायसंगत तथा उचित करारोपण का समर्थन किया गया।[26] दल का विचार था कि

---

24 कम्यूनिस्ट पार्टी की चुनाव-घोषणा (प्रथम आम चुनाव)।

25 अजय घोष, *Articles and Speeches*, पृ. 127-28.

26 अखिल भारतीय मजदूर संघ ने जनवरी 1959 में अपने बंगलोर सम्मेलन में अपनी आर्थिक नीति का सारांश इस प्रकार व्यक्त किया था :

(1) हम राजकीय क्षेत्र का समर्थन करते हैं। हम उसको मजबूत बनाने और विस्तृत करने की माँग करते हैं। हम उसे निजी प्रबन्ध अथवा आंग्ल-भारतीय साझेदारी के सुपुर्द करने के विरुद्ध हैं।

(2) हम अंग्रेजों तथा अमरीकियों के उन षड्यन्त्रों का भण्डाफोड़ करते हैं और उनके विरुद्ध संघर्ष करते हैं जिनका उद्देश्य हमारे स्वतन्त्र आर्थिक विकास को रोकना तथा हमें अपने जाल में और अधिक फंसाना है।

(3) हमारा बल इस बात की आवश्यकता पर है कि भारी उद्योग, इंजीनियरी, तेल अन्वेषण तथा औषधियों की योजनाओं को तीव्र किया जाय, और उनका निर्माण मुख्यत: राजकीय क्षेत्र में समाजवादी सहायता से किया जाय। उच्चतम प्राथमिकता भारी उद्योग तथा तेल को दी जाय।

यह कार्यक्रम लोकतांत्रिक है, समाजवादी नहीं। किन्तु यह अनुभव किया गया कि कार्यक्रम के इन उद्देश्यों को पूरा करने से सामन्तवादी[27] तथा साम्राज्यवादी शक्तियाँ दुर्बल होंगी, और अधिक उग्र कार्यक्रम के लिए मार्ग प्रशस्त होगा।

साम्यवादी जनसंघ को साम्प्रदायिक संस्था मानते हैं और इसलिए उसके कट्टर शत्रु हैं। स्वतन्त्र पार्टी के वे इसलिए विरोधी हैं कि वे उसे सामन्तवाद तथा एकाधिकारी पूँजी का समर्थक मानते हैं। स्वतन्त्र पार्टी का आर्थिक दृष्टिकोण अनुदार है, वह अमेरिका की समर्थक है और कांग्रेस की इसलिए भर्त्सना करती है कि उसकी नीतियाँ साम्यवाद-पक्षी हैं। ये सब बातें साम्यवादियों के लिए स्वभावतः अरुचिकर हैं। स्वतन्त्र पार्टी सह-अस्तित्व तथा गुटनिरपेक्षता को कोरी कल्पना मानती है, इसके विपरीत साम्यवादी देशों के साथ अधिक सहयोग का समर्थन करते हैं। जनसंघ इस पक्ष में है कि चीन ने हमारी जो भूमि बलपूर्वक छीन ली है उसे वापस लेने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग किया जाय, किन्तु साम्यवादी दल का कहना है कि सीमा-सम्बन्धी विवादों को वार्ता के द्वारा निपटाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। जनसंघ 'पीकिंग भक्तों' और 'मास्को भक्तों' की राष्ट्र-विरोधी कार्यवाहियों की निन्दा करता है, और साम्यवादी दल जनसंघ को मुसलिम-विरोधी कार्यों के लिए कोसा करता है।

साम्यवादियों की नीति है कि कांग्रेस के अन्तर्गत जो लोकतन्त्रवादी है और कांग्रेस के प्रभाव में जो जनता है उसके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाय। इस नीति में निम्नलिखित कार्यक्रम निहित हैं : "(1) कांग्रेस की प्रगतिशील घोषणाओं का जनता में कार्यात्मक एकता स्थापित करने के लिए प्रयोग करो। (2) प्रचार कार्य में केवल उन्हीं की ओर ध्यान मत दो जो पहले से ही हमारे प्रभाव में हैं, बल्कि उनको भी ध्यान में रखो जो हमारे प्रभाव में नहीं हैं। केवल उन्हीं से बात मत करो जो सामने की पंक्तियों में बैठकर कांग्रेस की हर भर्त्सना पर हर्षध्वनि करते हैं, बल्कि उन्हें भी सम्बोधित करो जो किनारे पर खड़े हुए हैं। (3) दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया के विरुद्ध तथा सम्प्रदायवादी दलों और उनके नारों तथा नीतियों के विरुद्ध दृढ़ संकल्प के साथ तथा बिना समझौते के संघर्ष करो। इससे ईमानदार कांग्रेसजन हमारी ओर आकृष्ट होंगे। (4) कांग्रेस सरकार की नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए भी जहाँ तक सम्भव हो सके दक्षिणपन्थी तत्वों पर ही प्रहार करो। (5) कांग्रेसजनों तथा कांग्रेस जनता के बीच धैर्यपूर्वक समझाने की दृष्टि से आन्दोलन चलाओ।"

जिस समय 1947 में विशिंस्की ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में शान्ति के सम्बन्ध में

---

(4) हमारी माँग है कि खाद्यान्न के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने की घोषित नीति कार्यान्वित की जाय।

(5) हम चाहते हैं कि खनन उद्योग अधिकाधिक राजकीय क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया जाय और निजी क्षेत्र की सावधानी के साथ जांच की जाय।

(6) हम भूमि की सीमाबन्दी की नीति का, किसानों को तत्काल सहायता देने का और धीरे-धीरे किसानों की पहल के आधार पर सहकारी समितियों की स्थापना का समर्थन करते हैं।

(7) हम भ्रष्टाचार का तथा उसमें मन्त्रिमण्डलीय क्षेत्रों की भूमिका की भर्त्सना करते हैं। राज्य को स्वच्छ बनाओ और लोकतन्त्र की रक्षा करो।

(8) वित्तीय नीतियों में ताल मेल बिठलाने के लिए हमारी माँग है कि बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाय और एकाधिकार पर नियंत्रण लगाया जाय।

(9) हमारी माँग है कि कुछ करों को बुद्धिसंगत और सरल बनाया जाय जिससे करदाताओं को कष्ट न हो, वसूली का काम सरल हो जाय, और गरीब उपभोक्ताओं पर कर का भार कम हो जाय।

(10) हम मजदूरी में वृद्धि की माँग करते हैं। हम नवीनीकरण तथा छटनी के विरुद्ध हैं, और हम श्रमिक संघों के अधिकारों तथा लोकतन्त्र के लिए संघर्ष करते हैं। (एस. ए. डांगे, *Crises and Workers*, नई दिल्ली, ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, 1955, पृ. 47).

27 भवानी सेन ने लिखा है कि देश में 'कृषक पूंजीवाद' का विकास इसलिए हुआ कि दूरस्थ जमींदार नये भूमि-विधान के नियमों से बचने के इच्छुक थे। इसके अतिरिक्त कृषि-सम्बन्धी कानूनों को इस ढंग से लागू किया गया कि उनसे छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों का अहित हुआ। (*Evolution of Agrarian Relations in India* (नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1962).

भाषण दिया और इंगलैण्ड तथा अमेरिका को युद्धित्सु (युद्धोत्तेजक) कहकर निन्दित किया, तब से सभी देशों के साम्यवादी शान्ति के समर्थक बन गये हैं। भारतीय साम्यवादियों ने भी अपने शान्ति मोर्चे स्थापित किये। किन्तु शान्ति का यह समर्थन एक चाल मात्र है। उन्होंने मार्क्सवाद-लेनिनवाद के इस आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया है कि हिंसा ही पुराने समाजों को नये समाजों में रूपान्तरित करने का साधन है। हिंसा तथा शक्ति के सिद्धान्तों में साम्यवादी दार्शनिकों के लिए गम्भीर आकर्षण है और शान्ति की बात केवल तात्कालिक लाभ की प्राप्ति के लिए है।

4. निष्कर्ष

भारतीय साम्यवादियों ने राजनीतिक, आर्थिक अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के क्षेत्र में कोई योग नहीं दिया है। उनकी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्तालिनवाद के मूल ग्रन्थों में इतनी गम्भीर आसक्ति है कि उनके लिए सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में किसी प्रकार का मौलिक चिन्तन करना सम्भव ही नहीं है। किन्तु उन्होंने अपने धर्मयोद्धाओं जैसे उत्साह और संघर्षशीलता के द्वारा भारतीय राजनीति में शहरी श्रमिक वर्गों की माँगों को मुखरित करने का प्रयत्न किया है। उनके मन में भारत के प्राचीन गौरव ग्रन्थों और शूरवीरों के लिए तनिक भी सम्मान नहीं है, इसलिए जिम्मेदार लोकप्रिय नेताओं को उनके राष्ट्रवाद में सदैव सन्देह रहा है। उन्होंने भारतीय राजनीतिक जीवन के दुर्बल पहलुओं से लाभ उठाने में अतिशय चतुराई का परिचय दिया है।

यद्यपि भारतीय साम्यवादियों ने सैद्धान्तिक प्रतिपादन के स्तर पर कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दिया है, किन्तु उन्होंने भारतीय इतिहास एवं दर्शन के अध्ययन में ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न किया है, और उनकी कुछ टिप्पणियाँ सचमुच बड़ी तीखी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। किन्तु उन्होंने भारतीय समाज के सामन्तवादी तथा शोषण-मूलक स्वरूप की कटु आलोचना की है। उन्होंने उन ब्राह्मण पुरोहितों के विरुद्ध भी जहर उगला है जिन्होंने भारतीय इतिहास के स्वर्ण युगों में प्रचलित शोषण की क्रिया पर सैद्धान्तिक और रहस्यवादी कलई चढ़ाने का प्रयत्न किया था। साम्यवादियों की इन आलोचनाओं से एक लाभ हुआ है। प्रायः लोगों को भारत की तत्वशास्त्रीय और 'आध्यात्मिक' संस्कृति के सम्बन्ध में बड़ा अहंकार है और वे भावुकतापूर्ण आत्म-प्रशंसा के शिकार बने हुए हैं। साम्यवादियों की कटु आलोचना ने इस प्रकार की प्रवृत्ति और दृष्टिकोण के खोखलेपन को उघाड़ दिया है।

मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद को पूंजीवाद की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति माना है और उसको हेय ठहराया है। उसने पूंजीवादी राष्ट्रवाद के स्थान पर सर्वहारा के अन्तरराष्ट्रवाद के आदर्श का प्रतिपादन किया है। किन्तु जब रूस में स्तालिनवाद की विजय हो गयी तो रूस की जनता पर रूसी राष्ट्रवाद की भावना का संवेगात्मक प्रभाव अत्यधिक तीव्र हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान रूसी राष्ट्रवाद को उत्तेजित और पुष्ट किया गया, यद्यपि ऊपरी तौर पर सोवियत संघ में सम्मिलित राष्ट्रजातियों की स्वायत्तता की दुहाई दी जाती रही है। यह भारी असंगति है कि रूस में साम्यवादी दल के लौह नियन्त्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकीकरण हुआ है, किन्तु भारतीय साम्यवादी दल बहुराष्ट्रवाद तथा उपराष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रचार करके विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे रहा है।

25

निष्कर्ष तथा समीक्षा

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उदय एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में हुआ था जो काफी लम्बे काल तक चलता रहा। यह काल राममोहन राय के जन्म के साथ 1772 में आरम्भ हुआ। तब से लेकर 1958[1] और 1959 तक, जब हमें समाजवादी, साम्यवादी तथा सहकारी विचारधाराओं का नवीनतम विकसित रूप देखने को मिलता है, लगभग दो सौ वर्षों का लम्बा युग है। जिस युग में आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उदय हुआ उसमें यूरोप ने फ्रांस की 1789, 1830 और 1848 की क्रान्तियों के रूप में भयंकर विप्लव देखे। आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की उत्पत्ति का प्रश्न विवादास्पद है। कुछ लोग उसका प्रारम्भ मैकियावेली से, कुछ हॉब्स से और कुछ रूसो से मानते हैं। किन्तु यदि हम आधुनिक और अर्वाचीन में भेद करें तो अर्वाचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ हमें हेगेल और मार्क्स से मानना पड़ेगा। मोटे तौर पर अर्वाचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का युग आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के युग के समानान्तर चलता है। राममोहन राय हेगेल के समकालीन थे और दयानन्द मार्क्स के सम-सामयिक थे। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आधुनिक और अर्वाचीन का सुनिश्चित, स्पष्ट तथा दो टूक भेद करना सम्भव नहीं है। किन्तु भारत में पुनर्जागरण के प्रवर्तकों तथा राष्ट्र-वाद के सिद्धान्त के निर्माताओं के बीच एक विभाजन रेखा स्पष्टतः दीख पड़ती है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि राममोहन राय आधुनिक भारतीय चिन्तन के प्रमुख विभूति हैं, और महात्मा गान्धी अस्मद्कालीन भारतीय इतिहास के महानतम नायक हैं। गान्धीजी के समय से हम अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ मान सकते हैं। हिन्दू तथा मुसलिम सम्प्रदायवाद के अर्वाचीन विचारक कुछ अर्थों में बौद्धिक दृष्टि से भारतीय धर्म सुधार के प्रारम्भिक युग के व्यक्ति हैं।

पाश्चात्य चिन्तन में पुनर्जागरण से, और विशेषकर सत्रहवीं शताब्दी से, वैज्ञानिक पद्धति का उदय हुआ है। उसके फलस्वरूप ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ, कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से, कुछ अर्थों में स्वायत्तता प्राप्त कर चुकी हैं। मैकियावेली, बोदाँ, हॉब्स और लॉक तथा परवर्ती विचारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप राजनीतिक विज्ञान ने ज्ञान की एक पृथक तथा स्वतन्त्र शाखा का पद प्राप्त कर लिया है। किन्तु आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में यह स्वायत्तता अभी तक स्थापित नहीं हो सकी है। यह सत्य है कि स्नातकोत्तर कक्षाओं को राजनीतिक विज्ञान का जो उच्च पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है उसमें राजनीति-विज्ञान एक पृथक विषय है किन्तु निर्धारित पाठ्य-विषय तथा पुस्तकें मुख्यतः पश्चिम से ही ली जाती हैं, अथवा पश्चिम के नमूने पर ढली हुई होती हैं। भारत के राजनीतिक लेखकों की रचनाओं में 'राजनीति' तथा 'राजनीतिक' अभी भी पृथक सैद्धान्तिक स्वायत्तता प्राप्त नहीं कर पाये हैं। जिन समस्याओं की विवेचना की जाती है उनकी प्रकृति तथा क्षेत्र में हमें बहुत अंशों में अवयवी व्यापकता देखने को मिलती है। राजनीतिक

---

1 देखिये कांग्रेस का 1948 का औद्योगिक नीति सम्बन्धी वक्तव्य, समाजवादी ढंग के समाज पर 1955 का अवाड़ी प्रस्ताव और सहयोगी कृषि पर 1958 का नागपुर प्रस्ताव।

लेखक सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं का भी विवेचन करते हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की समीक्षा करने का प्रयत्न किया जाता है। पाश्चात्य देशों के राजनीतिक लेखकों को सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक समस्याओं से कोई प्रयोजन नहीं होता। भारत में स्थिति भिन्न रही है। रानाडे, गान्धी और अरविन्द ने आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक समस्याओं की भी विवेचना की है। चितरंजनदास कहा करते थे कि भारतीय चिन्तन का यह अवयवी स्वरूप इस देश के अवयवी जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्ब है। किन्तु आशा की जा सकती है कि भारत में स्वतन्त्र अनुसन्धान की प्रगति के साथ-साथ उसकी अपनी चिन्तन-प्रणाली पर आधारित उसके अपने पृथक राजनीतिक विज्ञान का विकास होगा।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन सभ्यता के गम्भीर संकट की उपज है। भारतीय सभ्यता की सृजनात्मक प्रतिभा कुंठित हो गयी थी। इसीलिए देश का राजनीतिक विघटन हुआ। 1707, 1757, 1761, 1818, 1849 और 1857 के वर्ष सामाजिक तथा राजनीतिक विघटन की अभिव्यक्ति थे। राजनीतिक पराभव के फलस्वरूप अन्य क्षेत्रों में भी लोगों की सृजनात्मक प्रतिभा का ह्रास हुआ। एक विशाल तथा दुर्जेय विदेशी सभ्यता की चुनौती ने भारतवासियों को आत्मान्वेषण के लिए विवश किया। पूर्व बनाम पश्चिम की समस्याएँ भारतीय चिन्तन का मुख्य विषय बन गयीं। उससे राजनीतिक चिन्तन के लिए भी महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई। अतः भारतीय राजनीतिक चिन्तन एक अर्थ में सभ्यता का आधारभूत दर्शन बन गया है। उसका मुख्य विषय राज्य की प्रकृति तथा सिद्धान्तों की व्याख्या और समीक्षा करना नहीं है। उसके अन्वेषण का क्षेत्र इससे भी अधिक व्यापक है, जिसके अन्तर्गत पूर्व तथा पश्चिम के, पुरातन तथा नवीन के और धार्मिक तथा वैज्ञानिक के समन्वय की समस्या ही मुख्य है। इस प्रकार भारतीय विचारकों के लिए सभ्यता का दर्शन सबसे उपयुक्त और आकर्षक समस्या बन गया है जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के रूस में हुआ था। टैगोर, विवेकानन्द, गान्धी, अरविन्द आदि कुछ विचारकों को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं के जीवन का निजी अनुभव था। उन्होंने पाश्चात्य तथा पूर्वात्य सभ्यताओं के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय इस अनुभव का प्रयोग किया। हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि राजनीतिक विचारों का उदय जीवन की परिस्थितियों और सामान्य सन्दर्भ में ही हुआ करता है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन बहुत कुछ अंशों में विद्यमान सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता की विभिन्न व्याख्याओं का संघटन तथा स्पष्टीकरण है। कहा गया है कि महान चिन्तन का उदय ऐसी विषम परिस्थितियों तथा महान संकट के युगों में हुआ करता है, जब अव्यवस्था और अराजकता के मध्य किसी प्रकार के स्थायित्व के लिए गम्भीर खोज की जाती है। विदेशी पाश्चात्य साम्राज्यवाद के ध्वंसकारी आघात ने हमें अपने मूल का अन्वेषण करने के लिए विवश किया। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन उस काल में फला-फूला जब भारतीय संस्कृति के पुरातन मूल्यों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की यन्त्रचालित क्षमता एवं वैज्ञानिक कौशल के बीच भयंकर संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष के फलस्वरूप बौद्धिक क्षेत्र में एक नये सन्तुलन की खोज आरम्भ हुई। एक नवीन नैतिक तथा आध्यात्मिक टिकासरे को ढूँढ़ निकालने के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। टैगोर तथा गान्धी की रचनाओं में हमें गहरी व्यथा तथा हृदय-मंथन देखने को मिलता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन का जन्म सभ्यता के संकट और बौद्धिक उथल-पुथल के युग में हुआ था। उस पर अपने जन्म के काल की छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उसका मुख्य प्रयोजन नैतिक निश्चितता की खोज करना है। कभी-कभी हमे उसमें प्रचारात्मक रूप भी देखने को मिलता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध समय की आवश्यकताओं से था। उसका उद्देश्य तात्कालिक प्रत्यक्ष सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाकलाप को प्रभावित करना था। प्रायः वह विचारकों के लिए नहीं बल्कि कार्यकर्ताओं के लिए था। कभी-कभी उसमें तत्काल प्रभाव डालने वाले तत्व अधिक देखने को मिलते हैं, किन्तु उसमें आदि सिद्धान्तों के आधार पर चिन्तन को उत्तेजित करने की स्थायी क्षमता नहीं पायी जाती। अतः आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की तुलना उन राजनीतिक रचनाओं से की जा सकती है जो यूरोप में पोप और सम्राट के बीच संघर्षों, प्यूरिटन क्रान्ति और फ्रान्स की क्रान्ति के युगों में लिखी गयी थीं। उसमें विवादमूलक तत्व भी देखने को मिलता

है। कुछ सीमा तक वह द्वन्द्वात्मक भी है और प्रतिपक्षियों के तर्कों का खण्डन करने का प्रयत्न करता है। उसमें प्रत्यक्ष कार्यों को सम्पादित करने के लिए तात्कालिक प्रभाव डालने की जो प्रवृत्ति है, उसी के कारण वह उन राजनीतिक दार्शनिकों की रचनाओं से भिन्न है जो अपने व्यवस्थित सिद्धान्तों के निर्माण में तात्कालिक यथार्थता से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि जीवन की परिस्थितियों से पूर्ण अलगाव न सम्भव है और न वांछनीय। पूर्व और पश्चिम के बीच यह जो सम्पर्क हुआ उसके प्रति भारतवासियों के मन में दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। पुनरुत्थानवादियों की एक मण्डली ने प्राचीन धर्मशास्त्रों से प्रेरणा ली और हिन्दू चिन्तन की शाश्वत धारा को पुनः प्रवाहित करने का प्रयत्न किया। दूसरे वर्ग ने इस बात का समर्थन किया कि या तो पाश्चात्य विचारों को भारतीय चिन्तन में समाविष्ट कर लिया जाय या नवीन तथा पुरातन का समन्वय करने का प्रयत्न किया जाय। किन्तु इन दोनों प्रकार के विचारकों को पृथक करने वाली कोई सुनिश्चित दीवार नहीं थी। पहले वर्ग के लोग भारतीय परम्परा से ओतप्रोत थे, जबकि दूसरों को इस बात की तीव्र चेतना थी कि भारत का राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन और विरासत बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो चुकी है।

पुनरुत्थानवादी धारा के प्रतिनिधि दयानन्द सरस्वती थे जिन्होंने 'वेदों की ओर वापस चलो' का नारा लगाया। दयानन्द वेदों के आधार पर राष्ट्रीय, सामाजिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक पुर्निर्माण की एक योजना बनाना चाहते थे। उनका अनुरोध था कि वैदिक सन्देश को विश्व भर में फैलाने का प्रयत्न किया जाय। रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा अरविन्द को उपनिषदों की अद्वैतवादी शिक्षाओं से प्रेरणा मिली थी और उनकी भावना थी कि सार्वभौम आचारनीति तथा राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक सिद्धान्त की रचना के लिए वेदान्ती अद्वैतवाद ही सबसे अच्छा आधार है। तिलक तथा गान्धी भगवद्गीता के परम भक्त थे। गीता तथा उसके निष्काम कर्म के सिद्धान्त ने क्रान्तिकारियों को भी प्रभावित किया।[2] तिलक ने मराठा राजतन्त्र को अभिहित करने के लिए वैदिक शब्द 'स्वराज्य' का पुनरुद्धार किया। इस शब्द का प्रयोग महाभारत में भी किया गया है। गान्धी तथा चितरंजनदास दोनों ही ग्रामीण पंचायत व्यवस्था के पुनरुत्थान के प्रबल समर्थक थे। गान्धी और अरविन्द ने आधुनिक यूरोप के वाणिज्यवाद, धनिकतन्त्र तथा साम्राज्यवाद की कटु आलोचना की। जिस प्रकार दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, गान्धी और अरविन्द पूर्णतः अथवा अंशतः वैदिक तथा हिन्दू पुनरुत्थानवाद के समर्थक थे, उसी प्रकार मुहम्मद इकबाल और मुहम्मद अली कुरान के पुनरुत्थान तथा सर्वइस्लामवाद के व्याख्याता थे। इकबाल ने तौहीद का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि उसी के आधार पर एक ऐसे समाज-तन्त्र का निर्माण किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के आदर्शों को साक्षात्कृत किया जा सके। मुहम्मद अली कुरान की शिक्षाओं के उत्साही, बल्कि कट्टर पक्षपोषक थे। डा. एनी बेसेंट जन्म से आइरिश थीं, फिर भी उन्होंने हिन्दू पुनरुत्थानवाद का समर्थन किया। धार्मिक पुनरुत्थानवाद ने इन विचारकों के राजनीतिक विचारों को बहुत कुछ प्रभावित किया। उनकी आध्यात्मिक जड़ें अतीत में थीं। यद्यपि इनमें से कुछ ने उत्तरदायी शासन को स्वीकार कर लिया और स्वशासन (होमरूल) के लिए संघर्ष भी किया, किन्तु वे इस बात से सहमत नहीं थे कि मत्सीनी, मिल, स्पेंसर और मोर्ले के विचारों को कार्यान्वित करके देश का उद्धार किया जा सकता है।[3] वर्तमान समय के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि हिन्दू दक्षिणपन्थी दलों और गुटों को पुनरुत्थानवादी भावनाओं से प्रेरणा मिली है।

किन्तु जब हम आधुनिक भारतीय तथा आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का तुलना-

---

2 रेम्जे मैकडानल्ड ने गीता को 'खतरनाक' और 'राजद्रोहात्मक पुस्तक बतलाया है (*The Awakening of India*, पृ. 189)। वह लिखता है, "भारतीय हत्यारा अपनी भगवद्गीता को उसी प्रकार उद्धृत करता है जिस प्रकार स्कॉटलण्ड का कवेनेण्टर पुराने इच्छापत्र (ओल्ड टेस्टामेण्ट) को उद्धृत करता था। और भक्ति तथा आत्म-त्याग की प्रेरणा देने में गीता पुराने इच्छापत्र के अत्यधिक भयावह अंशों से भी अधिक क्रूर है।"

3 इसके विपरीत देखिये मैकडोनल्ड का कथन, "भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में पश्चिम का एक महान योगदान उसका राजनीतिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है।" (*The Awakening of India*, पृ. 196).

त्मक विश्लेषण करते हैं तो हमें एक उल्लेखनीय तथ्य यह दृष्टिगत होता है कि धार्मिक तथा दार्शनिक पुनरुत्थान के बावजूद आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का देश की प्राचीन परम्पराओं से कोई अवयवी सम्बन्ध नहीं है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन तथा आधुनिक भारतीय चिन्तन के बीच यह महत्वपूर्ण अन्तर है। पाश्चात्य चिन्तन में कुछ ऐसी आधारभूत धारणाएँ हैं जो प्लेटो और अरस्तू से लेकर अगस्ताइन, एक्विनास, मार्सीलियो, मैकियावेली, हॉब्स और हेगेल तक बार-बार देखने को मिलती हैं। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख प्रत्ययात्मक ढाँचा यूनानियों का दिया हुआ है। विधि (ग्रीक—'नोमोस'), न्याय (ग्रीक—'डाइक') आदि पदों की रचना यूनानियों ने की थी, और वे आज तक चले आते हैं। किन्तु भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इस प्रकार का प्रत्ययात्मक सातत्य देखने को नहीं मिलता। कौटिल्य, मनु, अबुल फजल तथा एम. एन. राय के बीच कोई सर्वनिष्ठ कड़ियाँ नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक विचारकों में इस अर्थ में परिस्थितियों का सातत्य है कि इन सबने भारत भूमि पर अपनी रचनाएँ की थीं और भारतीय समस्याओं का विवेचन किया था, किन्तु राजनीतिक चिन्तन में वह अवयवी सातत्य नहीं है जो हमें पश्चिम में देखने को मिलता है। किन्तु अन्य सामान्यीकरणों की भाँति मेरा कथन भी ब्योरे की चीजों पर लागू नहीं होता, मैं तो ऐतिहासिक सातत्य के सम्बन्ध में प्रमुख प्रवृत्तियों की बात कर रहा हूँ। मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन राजनीतिक विचारकों के ग्रन्थों का आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के साथ वैसा अवयवी सम्बन्ध नहीं है जैसा कि प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो आदि की रचनाओं का आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के साथ है। कुछ भारतीय नेता भारत के गौरवग्रन्थों के महान पण्डित हुए हैं। दयानन्द तथा तिलक वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे, देवेन्द्रनाथ टैगोर, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर उपनिषदों के अच्छे ज्ञाता थे, लाजपत राय, गान्धी तथा अरविन्द भगवद्गीता के गम्भीर व्याख्याकार थे, किन्तु आधुनिक भारतीय चिन्तन में 'महाभारत', कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' अथवा 'मनुस्मृति' की शिक्षाओं को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में व्यास, कौटिल्य अथवा शुक्र के राजनीतिक चिन्तन की आधारभूत धारणाओं का प्रयोग नहीं किया गया है। अतः भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सातत्य का लोप हो गया है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के अधिकतर आधारभूत पद प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, हॉब्स और क्राबे में समान रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार विचारों की विविधता के बावजूद आधारभूत पदों की समानता का सातत्य तथा स्थायी परम्परा सर्वत्र देखने को मिलती है। तिलक, गान्धी और अरविन्द की रचनाओं में उपनिषदों तथा गीता के कर्मयोग, त्याग, तपस्या, ज्ञान आदि पदों का प्रयोग किया गया है किन्तु, प्राचीन भारत के 'प्रकृतिसम्पदः', 'मण्डल', रत्निन' आदि राजनीतिक पदों का नाममात्र को भी प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिए भारतीय राजनीतिक चिन्तन में हमें वह सातत्य देखने को नहीं मिलता जो पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में पाया जाता है।

भारतीय विचारकों के दूसरे वर्ग की पश्चिम के प्रति प्रतिक्रिया अधिक सहानुभूतिपूर्ण थी। राममोहन राय को ईसाई ऐकेश्वरवाद तथा फ्रांसीसी ज्ञानोदीप्ति से प्रेरणा मिली थी। केशवचन्द्र सेन पर ईसाई परम्पराओं का गहरा प्रभाव था। राममोहन राय, केशवचन्द्र आदि कुछ विचारक विदेशी शासन को देश के लिए वरदान मानते थे। उनका प्रभाव दादाभाई, रानाडे, फीरोजशाह और गोखले पर पड़ा। रानाडे अर्थशास्त्र के जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों तथा फ्रेडरिक लिस्ट के विचारों से प्रभावित थे। उनसे प्रेरित होकर ही उन्होंने अर्थशास्त्र के संस्थापक सम्प्रदाय के विचारों का खण्डन किया। व्यक्तिगत जीवन में उन पर तुकाराम के उपदेशों का प्रभाव था, किन्तु उनके सामाजिक दर्शन पर पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव देखने को मिलता था। मितवादी सम्प्रदाय के अन्य विचारकों पर भी पश्चिम की गहरी छाप थी। वे बुद्धि, सहिष्णुता तथा न्याय के समर्थक थे। उनका आशावादी दर्शन अठारहवीं शताब्दी के तुर्गो, कोन्दर्से आदि विचारकों के दर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। मत्सीनी के राष्ट्रवादी विचारों ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, [illegible]

4 बी. सी. पाल की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीयता किसी राष्ट्र के 'व्यक्तित्व' को कहते हैं। [illegible]

लाजपत राय तथा वी. डी. सावरकर को बहुत प्रभावित किया ।[4] अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियों के सिद्धान्तकारों ने अधिकारों की धारणा पर जो बल दिया था उसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को ही नहीं बल्कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को निरन्तर प्रेरणा दी है । मूल अधिकारों की धारणा जिसका उल्लेख हमें एनी बेसेंट के कॉमनवेल्थ आव इण्डिया बिल (1925), नेहरू रिपोर्ट (1928), करांची कांग्रेस प्रस्ताव (1931) तथा वर्तमान भारतीय संविधान के तृतीय भाग में मिलता है, अमेरिका तथा फ्रांस के प्रभाव का प्रत्यक्ष द्योतक है । हेगेल का प्रभाव ब्रजेन्द्रनाथ सील, अरविन्द तथा सुभाषचन्द्र पर स्पष्टत: देखने को मिलता है । नीत्शे की अतिमानव की धारणा ने अंशत: अरविन्द तथा इकबाल दोनों को प्रभावित किया, यद्यपि उन दोनों ने आध्यात्मिकता का पुट देकर अतिमानव की धारणा को बहुत कुछ बदल दिया है । महात्मा गान्धी पर प्लेटो के विचारों, ईसा के पर्वतीय प्रवचन, रस्किन, तॉल्सतॉय, थोर्यू, एडवर्ड कारपेंटर का प्रभाव पड़ा था, यद्यपि उन्हें अपने आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम टिकासरा भगवद्गीता तथा रामचरितमानस में मिला था ।[5] रवीन्द्रनाथ टैगोर पूर्व तथा पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय के सबसे बड़े सन्देशवाहक थे । यद्यपि अपने परवर्ती जीवन में पाश्चात्य पाशविकता तथा साम्राज्यवादी अहंकार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप टैगोर अनुभव करने लगे थे कि प्रकाश पूर्व से ही प्राप्त हो सकेगा, फिर भी उनकी रचनाओं में हमें समन्वयवाद की गहरी प्रवृत्ति देखने को मिलती है । उनका सार्वभौमवाद तथा विश्वराज्यवाद हमें पीरी डूबॉय, एबे द सेंत पीरी और कांट का स्मरण दिलाता है । रूसी क्रान्ति के विचारों ने लाला लाजपतराय तथा चितरंजनदास पर कुछ प्रभाव डाला था । जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस पर रूस के प्रयोगों का अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है । जवाहरलाल को मार्क्स तथा लेनिन द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक व्याख्या के सिद्धान्तों से गम्भीर प्रेरणा मिली थी । एम. एन. राय तथा भारतीय समाजवादियों और साम्यवादियों पर मार्क्स का प्रभाव अत्यन्त प्रचण्ड रहा है । यद्यपि बाद में, विशेषकर 1946 के उपरान्त, एम. एन. राय मार्क्स के विचारों की मानववादी समीक्षा प्रस्तुत करने लगे, फिर भी उनके राजनीति दर्शन तथा तत्वशास्त्र को मार्क्सवाद ने बहुत कुछ प्रभावित तथा निर्मित किया था । भारतीय समाजवादी तथा साम्यवादी निरन्तर बल देकर कहते आये हैं कि हम मार्क्स के अन्धे अनुयायी नहीं हैं, फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उनके सामाजिक विचार इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र से ओतप्रोत हैं । समाजवादी, साम्यवादी तथा नियोजित आर्थिक जीवन एवं राजनीतिक पूरणीयता के समर्थक पाश्चात्य सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पद्धतियों से बहुत प्रभावित हैं । उन्हें पश्चिमी ढंग की सामाजिक मुक्ति, आर्थिक प्रसार और अभिनवीकरण तथा राजनीतिक संगठन में विश्वास है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1757 से 1857 के युग में भारत में जो राष्ट्रीय विषमावस्था रही उसने दो विचार सम्प्रदायों को जन्म दिया । रूस के उन स्लाव मित्रों की भाँति जो रूस माता के उपासक थे, भारतीय पुनरुत्थानवादियों ने भारत माता को एक पवित्र तथा दयालु देवी मानकर उसकी पूजा की । उसी प्रकार यूरोपीयकरण के समर्थक रूसियों की भाँति कुछ भारतीय नेता भी चाहते थे कि पाश्चात्य विचारों तथा जीवन पद्धति को भारतीय जीवन में समाविष्ट कर लिया जाय । सभ्यताओं के संघर्ष के इस व्यापक सन्दर्भ में राजनीतिक जीवन की समस्याओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया । अत: भारतीय राजनीतिक चिन्तन का सम्बन्ध केवल जीवन के उस संकीर्ण अंग से नहीं है जिसे 'राजनीतिक' कहा जाता है, बल्कि उसका स्वरूप अवयवी तथा व्यापक है, और वह भारतीय सभ्यता के प्रमुख आदर्शों के सन्दर्भ में राजनीति की समस्याओं की विवेचना करता है ।

जो बुनियादी समस्याएँ भारतीय राजनीतिक चिन्तन का विषय हैं उनकी उत्पत्ति सम-

---

राष्ट्रीयता को राष्ट्र के 'चरित्र का मनोद्गार' बतलाया था । पाल ने मत्सीनी का दृष्टिकोण नहीं स्वीकार किया (बी. सी. पाल, *Nationality and Empire*, पृ. 29) ।

5 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, *Political Philosophy of Mahatma Gandhi* (लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1959), अध्याय 9 ।

कालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से हुई है। ब्रिटिश सरकार ने जो सांविधानिक सुधार प्रारम्भ किये उन्होंने वादविवाद तथा आन्दोलन के लिए सामग्री प्रदान की। 1892 तथा 1909 के भारतीय परिषद अधिनियमों तथा 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियमों से ऐसी अपरिमित सामग्री उपलब्ध हुई जिसको लेकर सार्वजनिक वादविवाद चला और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं, राजनीतिक सम्मेलनों तथा कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रस्ताव पारित किये गये। भारतीय राष्ट्रवादी अधिक अंशों में स्वशासन की माँग कर रहे थे। किन्तु ब्रिटिश संसद अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण रियायतें देने में आनाकानी और कंजूसी कर रही थी। इस विषय में भारत तथा यूरोप के बीच बहुत कुछ सादृश्य देखने को मिलता है। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस में राजा तथा सामन्तों के बीच संघर्ष चले। उन्होंने ऐसी ठोस समस्याओं को उत्पन्न किया जो राजनीतिक चिन्तन का विषय बन गयीं। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक पोपों तथा सम्राटों के बीच विवाद चला; उसने जॉन आव साल्सबरी, टॉमस एक्विनास, एगीडिउस रोमेनुस आदि पोप-समर्थकों तथा जॉन आव पेरिस, दान्ते और मार्सीलियो आव पाडुआ आदि साम्राज्यवादियों के चिन्तन के लिए सामग्री प्रदान की। उसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यीय नौकरशाही तथा भारतीय राष्ट्रवादियों की उदीयमान राजनीतिक शक्ति के बीच जो संघर्ष हुआ उसने आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के लिए परिस्थितियाँ तथा सन्दर्भ उत्पन्न किया। चूंकि समस्याएँ उग्र थीं और उनके तात्कालिक समाधान की आवश्यकता थी, इसलिए संघर्ष में अधिक शक्ति लगायी गयी, और आधारभूत प्रत्ययों तथा सामाजिक और राजनीतिक दर्शन के प्रवर्गों के सैद्धान्तिक निरूपण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय राष्ट्रवाद रहा है। राष्ट्रवाद के कारणों तथा उसके अंगों की सांगोपांग विवेचना की गयी है। राष्ट्र, राज्य, जनता, राष्ट्रजाति तथा राष्ट्रवाद के बीच भेद को समझने का भी कुछ प्रयत्न किया गया है। भारतीय लेखकों तथा प्रचारकों ने मिल, रेनन, ब्लूट्श्ली आदि की राष्ट्रवाद सम्बन्धी रचनाओं को उद्धृत किया है। किन्तु राजनीति, विज्ञान तथा विधिशास्त्र के प्रभुत्व, स्वतन्त्रता, राज्य की विधिक तथा अवयवी प्रकृति आदि अन्य जटिल प्रत्ययों का निःशेषतः विश्लेषण नहीं किया गया है। यदाकदा इन विषयों का उल्लेख देखने को मिलता है, किन्तु सम्पूर्ण विषयवस्तु का विशद तथा गम्भीर विवेचन नहीं हुआ है। लेकिन राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की व्याख्या करने में भारतीय राजनीतिक नेताओं ने सचमुच गहरी सूझबूझ से काम लिया है। भारतीय चिन्तन में राष्ट्रवाद की धारणा के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण अपनाये गये हैं, उनमें से तीन का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। दादाभाई नौरोजी, आर. सी. दत्त तथा गोपालकृष्ण गोखले की रचनाओं में राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों का विश्लेषण किया गया है। उन्हें भारतीय पूँजीपति वर्ग का सचेत समर्थक मानना अतिशयोक्ति होगी। उनकी रचनाओं तथा निष्कर्षों में भारतीय अर्थतन्त्र की शोचनीय दशा का चित्रण किया गया है। वह उदीयमान पूँजीपति वर्ग के दृष्टिकोण से ही नहीं किया गया, बल्कि उसमें देहाती जनता का भी ध्यान रखा गया है। गोखले ग्रामीण जनता के कष्टों और दुःखों को दूर करने के उपायों की निरन्तर चर्चा किया करते थे। राष्ट्रवाद की समस्या के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का था जो राष्ट्र के देवत्व में आस्था रखते थे। बंकिम, पाल, चितरंजनदास तथा अरविन्द मातृभूमि को पवित्र सत्ता मानते थे। उनकी दृष्टि में वह केवल भौतिक सत्ता अथवा भौगोलिक प्रदेश नहीं थी। अतः बंगाल के अतिवादियों ने राष्ट्रवाद के प्रचार में ऐसी श्रेष्ठ वाक्पटुता का पुट जोड़ दिया जिसने हिन्दू जनता की चेतना पर स्थायी प्रभाव डाला। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में तीसरा दृष्टिकोण जिन्ना तथा मुस्लिम लीग का था। वह बहुत ही विध्वंसक तथा विघटनकारी था। उनका कहना था कि भारत के उपमहाद्वीप में दो राष्ट्र हैं। वे रीति-रिवाज, शिष्टाचार, जीवन-दर्शन तथा सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण की दृष्टि से एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। इस द्विराष्ट्र सिद्धान्त के विरुद्ध हिन्दू पुनरुत्थानवाद के नेताओं ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इस देश में केवल हिन्दू ही राष्ट्र हैं, अन्य तत्व अल्पसंख्यकों की कोटि में आते हैं। इस प्रकार 1938 से 1947 तक

देश में एक अत्यधिक जीवन्त तथा उत्तेजनापूर्ण विवाद चलता रहा जिसमें राष्ट्रवाद की प्रकृति अनन्त तर्क-वितर्क का विषय बन गयी।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में धार्मिक प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू राजनीतिक चिन्तन तथा मुसलिम राजनीतिक चिन्तन के अनेक सम्प्रदायों में धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा है। दयानन्द, मुहम्मद अली तथा इकबाल की रचनाओं में धर्म सम्बन्धी तत्व भरा पड़ा है। किन्तु भारत में भी पश्चिम के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार के साथ-साथ पुरातन धर्मशास्त्रीय तथा परलोकवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन हो रहा है। यह विचार दृढ़ होता चला जा रहा है कि राजनीति की उसके अपने स्तर पर विवेचना की जानी चाहिए। सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के विवेचन में अन्वेषण की वैज्ञानिक तथा बौद्धिक भावना का प्रभाव बढ़ रहा है। भारत औद्योगीकरण के दौर से गुजर रहा है, और उसने औद्योगीकरण की विशाल योजनाओं को प्रारम्भ कर दिया है। ऐसे समय में आशा की जाती है कि यांत्रिक, वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टिकोण पुरातन धार्मिक विचारधारा का स्थान ले लेगा। हिन्दू पुनरुत्थानवादी राजनीतिक चिन्तन के व्याख्याता भी भविष्य के निर्माण में विज्ञान की भूमिका को स्वीकार करने लगे हैं।[6] कुछ हिन्दू पुनरुत्थानवादियों ने वैदिक मन्त्रों तथा पन्तजलि के योगसूत्रों में से भौतिकी तथा जीवविज्ञान के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। ये प्रयत्न भाषा-वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन भले ही न हों किन्तु वे इस बात का प्रमाण अवश्य हैं कि विज्ञान की भूमिका को स्वीकार करने की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ रही है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में तीन महत्वपूर्ण धारणाएँ हैं। पहली विश्वराज्यवाद तथा मानव एकता की धारणा है। राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन ने धार्मिक सार्वभौमवाद की धूमिल कल्पना की थी। विवेकानन्द विश्व-धर्म के सन्देशवाहक थे। टैगोर ने पूर्व तथा पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय का समर्थन किया और राष्ट्र की आक्रामक, यान्त्रिक साम्राज्यवादी राजनीतिक धारणा की कटु आलोचना की। गान्धीजी सार्वभौमवादी थे। वे अहिंसा के आधार पर मानव भ्रातृत्व की स्थापना करना चाहते थे। वे भारत को इसलिए स्वतन्त्र देखना चाहते थे कि वह विश्व के लिए अपना बलिदान कर सके। चितरंजनदास मानव जाति के संघ का स्वप्न देखा करते थे। एनी बेसेंट सार्वभौम बन्धुत्व की समर्थक थीं। अरविन्द ने मनुष्य की आन्तरिक एकता के आधार पर मानव एकता का पक्षपोषण किया। जवाहरलाल नेहरू अन्तरराष्ट्रीय तनावों को कम करने के पक्ष में थे। इस प्रकार अनेक भारतीय नेताओं ने तथा विचारकों ने विश्वराज्यवाद, सार्वभौमवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद का समर्थन किया है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अन्य स्थायी योगदान गान्धीजी का सत्याग्रह का

---

6 दयानन्द भौतिक विज्ञान के महत्व को स्वीकार करते थे, इसलिए उन्होंने वैदिक मन्त्रों की ऐसी व्याख्या की जो उस समय के प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्षों से मेल खाती थी। उन्होंने वेदों में सूर्य केन्द्रक सिद्धान्त (ऋग्वेद 8, 2, 10, 1 और यजुर्वेद 3, 6) तथा विद्युत के आविष्कार (ऋग्वेद, 1. 221, 57) को खोज निकाला। उनके अनुसार सार्वभौम गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का ऋग्वेद (6, 16, 3-5 और 4, 5, 10-3) तथा यजुर्वेद (18, 43) में उल्लेख है। उनके शिष्य गुरुदत्त विद्यार्थी ने बतलाया कि वैदिक देवता इन्द्र ऑक्सीजन का और वरुण हाइड्रोजन का प्रतीक है। आर्यसमाजी विद्वानों ने हिन्दुओं के अग्निहोत्र, शिखा आदि रीतिरिवाज का 'वैज्ञानिक' आधार पर समर्थन किया। विवेकानन्द ने कहा कि डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त उच्च योनियों के सम्बन्ध में लागू नहीं किया जा सकता। उन्होंने ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त की वेदान्त के अद्वैतवादी तत्वशास्त्र का समर्थन करने के लिए व्याख्या की। दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों ने प्राचीन हिन्दू धर्म को इस ढंग से निर्वाचन किया कि उसकी विज्ञान के साथ संगति बतलायी जा सके। कभी-कभी रामतीर्थ और तिलक ने भी इस पद्धति को अपनाया। अरविन्द ने आधुनिक बेतार के तार तथा धातुओं की रचना के सम्बन्ध में जो विकास हुआ है उसका परम्परागत भौतिकवाद का खण्डन करने की दृष्टि से निर्वचन किया। जवाहरलाल नेहरू तथा एम. एन. राय विज्ञान के महत्व को अधिक अच्छी तरह समझते थे। राय विज्ञान के क्षेत्र में हुए सैद्धान्तिक विकास से परिचित थे। नेहरू ने भारत के राजनीतिक तथा सामाजिक रूपान्तरण के लिए आधुनिक यांत्रिक आविष्कारों के महत्व को अधिक गहराई से समझा।

सिद्धान्त है ।[7] सत्याग्रह की धारणा का आधार इस बात की अनुभूति है कि मनुष्य की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा और अन्तःकरण स्वायत्ततासम्पन्न तथा स्वतःस्फूर्त होते हैं। सत्याग्रह मनुष्य की गरिमा तथा अन्तःकरण के उद्धार का आध्यात्मिक प्रयत्न है। सत्याग्रह के मूल में यह धारणा है कि मनुष्य की आत्मा सर्वोपरि है और न्याय, सत्य तथा पुण्य के लिए संघर्ष करना उसका स्वाभाविक धर्म है। गान्धीजी ने अनेक कष्ट और यातनाएँ भोगकर इस सिद्धान्त को पुनीत किया। इस समय समग्रवाद, सत्तात्मक पद्धतियों तथा केन्द्रीकरण का बोलबाला है, और नाभिकीय विनाश का भय कोरी कल्पना नहीं है। ऐसी स्थिति में आशा की जाती है कि सत्याग्रह विवेक, संयम, शिष्टता, शान्ति और स्वतन्त्रता में विश्वास रखने वालों के हाथों में एक ऐसा अस्त्र सिद्ध होगा जिससे वे शक्ति और सम्पत्ति के ठेकेदारों के विरुद्ध विद्रोह कर सकेंगे और मानव गरिमा की स्थापना करने में समर्थ होंगे।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का तीसरा महत्वपूर्ण योगदान मानवेन्द्रनाथ राय का नवीन मानववाद है। टैगोर, अरविन्द और गान्धी भी आध्यात्मिक मानववादी थे। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' में वैज्ञानिक मानववाद का समर्थन किया है। किन्तु मानवेन्द्रनाथ राय ने मानववाद के दर्शन की विशद विवेचना की है, और उनका मानववाद वैज्ञानिक भौतिकवादी ब्रह्माण्ड शास्त्र पर आधारित है। राय को भारतीय चिन्तन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए उनकी सविस्तर प्रस्थापनाओं से सहमत होना आवश्यक नहीं है। नवीन मानववाद यह स्वीकार करता है कि विज्ञान की सृजनात्मक शक्तियों का अधिक अच्छे समाज के निर्माण के लिए महत्व है, और साथ ही साथ उनका विश्व तथा जीवन की व्याख्या की पद्धति के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। यह सम्भव है कि आधुनिक भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्षता की वृद्धि के साथ-साथ राय का नवीन मानववाद, जिसमें स्वतन्त्रता, बुद्धि तथा विश्वराज्यवाद पर बल दिया गया है, बुद्धिजीवियों को अधिक आकृष्ट करने लगे। यद्यपि वह कोई मौलिक सन्देश नहीं देता, किन्तु व्यापकता की दृष्टि से उसका महत्व है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन तर्क तथा सिद्धान्त की दृष्टि से पर्याप्त रूप में परिपक्व और परिमार्जित नहीं है। अब तक उसके मुख्य प्रवर्तक सामाजिक तथा राजनीतिक नेता रहे हैं, न कि निर्लिप्त दार्शनिक तथा विधिविज्ञ। यूरोप में परिपक्व राजनीतिक चिन्तन का सृजन विद्वानों तथा दार्शनिकों ने किया है। कुछ राजनेताओं के भी उदाहरण हैं जिन्होंने राजनीतिक चिन्तन पर लिखा है। सिसेरो, लाइब्नित्स, हैलीफैक्स, बोलिंगब्रुक और बर्क ऐसे सार्वजनिक नेता थे जिन्होंने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। भारतीय राजनीतिक चिन्तन उन राजनीतिक कार्यकर्ताओं की सृष्टि है जिनके पास व्यस्त जीवन के कारण शुद्ध मनन तथा दार्शनिक चिन्तन के लिए न समय था और न शक्ति। उनका मुख्य काम विचारों को लोकप्रिय बनाना तथा राष्ट्रीय मुक्ति की योजनाओं को कार्यान्वित करना था। इसलिए आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में हमें न तो हॉब्स और ग्रीन जैसा तर्कानुबद्ध विवेचन देखने को मिलता है, और न किसी ने ग्रोशस और पूफेंडॉर्फ के सदृश विशाल ग्रन्थ ही लिखे हैं। राममोहन राय से लेकर गान्धी, नेहरू और बोस तक आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के लिए विद्यार्थी को राजनीतिक और सामाजिक नेताओं की रचनाएँ पढ़नी पड़ेंगीं। चूँकि वे नेता थे, इसलिए उनमें वह दार्शनिक निर्लिप्तता और तटस्थता नहीं थी जो विचारात्मक चिन्तन के लिए आवश्यक होती है। वे परिस्थितियों में डूबे हुए थे। इंगलैण्ड और अमेरिका के राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के लिए विद्यार्थी को बार्कर, लिड्से, लास्की, कोल, मेरियम, मैकाइवर आदि की रचनाएँ पढ़नी पड़ती हैं। वह चर्चिल, एटली, रूजवेल्ट अथवा आइजन-हॉवर के विचारों का अध्ययन नहीं करता। भारतीय राजनीतिक चिन्तन को अभी अपने लास्की, कोल और मनहाइम उत्पन्न करने हैं। अतः आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के शोधकर्ता को आव-

7 मैंने अपनी पुस्तक *Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya* में गान्धीवाद की सविस्तार समीक्षा की है। उसे इस ग्रन्थ का पूरक माना जा सकता है।

श्यकतावश राजनीतिक नेताओं की रचनाओं का अनुशीलन करना पड़ता है, यद्यपि उनमें दार्शनिक गहराई तथा सूक्ष्म समाजशास्त्रीय विश्लेषण का अभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन पद्धति की दृष्टि से अपरिपक्व है। उसके प्रवर्तकों के पास वस्तुगत तथा सुनिश्चित राजनीति विज्ञान के आधारों की विवेचना करने के लिए न समय था और न योग्यता। इसलिए उनकी पद्धति मनोगत, अन्तःप्रज्ञात्मक तथा सूत्रात्मक है। कभी-कभी उसमें पत्रकारों जैसा पक्षपात और दुर्भाव भी देखने को मिलता है। जिन नेताओं के विचारों का इस ग्रन्थ में विश्लेषण किया गया है उनमें कुछ ने अपने विचार भाषणों के द्वारा व्यक्त किये थे, और उन भाषणों के अधूरे प्रलेख ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार के साहित्य में अरस्तू अथवा मार्सीलियो की रचनाओं जैसे सूक्ष्म और गम्भीर विश्लेषण की आशा करना उपहासास्पद होगा। श्रद्धानन्द और मालवीय की रचनाओं में बोदाँ और हॉब्स की सी सैद्धान्तिक गहराई नहीं है। नरेन्द्रदेव और सुभाषचन्द्र बोस सैद्धान्तिक परिपक्वता की दृष्टि से कार्ल मार्क्स, रोजा-लुक्जम्बुर्ग अथवा हिल्फरडिंग की समानता नहीं कर सकते। गोखले की महान रचनाएँ सैद्धान्तिक परिपक्वता की दृष्टि से बर्क, मैकौले और मिल की रचनाओं के समकक्ष नहीं रखी जा सकतीं। अतः सैद्धान्तिक परिपक्वता, दार्शनिक गहराई और तार्किक सूक्ष्मता की दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की तुलना में अधिक मूल्यवान तथा विविधता सम्पन्न है। किन्तु इस प्रसंग में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद को ध्यान में रखना लाभदायक होगा। यह आशा करना भारतीय चिन्तन के साथ अन्याय करना होगा कि वह हॉब्स की निर्मम तर्कपद्धति अथवा हेगेल की राज्य सम्बन्धी प्रत्ययात्मक और द्वन्द्वात्मक धारणाओं का भारतीय संस्करण हो। हर संस्कृति की अपनी रचना-प्रणाली होती है। कौटिल्य और शुक्र के समय से अबुल फजल, गान्धी और तिलक तक भारतीय लेखकों का यह दृष्टिकोण रहा है कि राजनीतिक रचनाएँ वास्तविक राजनीतिक जीवन के निर्माण में सहायता देने के लिए होती हैं। उन्हें शुद्ध विचारात्मक राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास नहीं है। समाज तथा राज्य के तात्कालिक और व्यावहारिक सुधार के लिए सुझाव देना ही भारतीय चिन्तन का मुख्य प्रयोजन रहा है।

स्वतन्त्र भारत ने लोकतन्त्र के संसदीय रूप को अंगीकार कर लिया। उसने सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों में भी आस्था प्रकट की है। इस विशाल प्रयोग से नयी समस्याओं का जन्म होगा और उनके समाधान की आवश्यकता पड़ेगी। एक पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देश में सार्वजनिक लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए गहरे राजनीतिक चिन्तन की आवश्यकता होगी। हमें आशा है कि लोकतन्त्र की यह गम्भीर चुनौती भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्वतन्त्र सम्प्रदायों को जन्म देगी। तीन आधारभूत क्षेत्र हैं जिनमें भारत के लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी प्रयोग मौलिक विचारों को जन्म दे सकते हैं। भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक राष्ट्र है। एक ऐसे देश में वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है जहाँ की बहुसंख्यक जनता निरक्षर है और जहाँ के अस्सी प्रतिशत लोग सौपानिक रूप में संगठित जाति-व्यवस्था में विभक्त हैं। यह जाति व्यवस्था लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी सड़ी-गली व्यवस्था है। इस पुरातन तथा विघटनकारी जाति-व्यवस्था का आधुनिक लोकतान्त्रिक समानतावाद के साथ समन्वय करना एक गम्भीर समस्या है। यह पहला क्षेत्र है जिसमें भारतीय विचारक कुछ मौलिक चिन्तन कर सकते हैं। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र है। एनी बेसेंट, सी. आर. दास तथा महात्मा गान्धी पंचायत प्रणाली को पुनर्जीवित करना तथा उसमें नवजीवन का संचार करना चाहते थे। भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में भी ग्राम पंचायतों को प्रोत्साहन देने पर बल दिया गया है। बलवन्त राय मेहता समिति के प्रतिवेदन के आधार पर राजस्थान, केरल तथा आन्ध्र प्रदेश में ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला-परिषद की तिमंजिली व्यवस्था को कार्यान्वित किया जा रहा है। आधुनिक ग्राम-पंचायतें पुरानी पंचायतों का नवीन रूप मात्र नहीं हैं। विकास सम्बन्धी अनेक कार्य उनके सुपुर्द कर दिये गये हैं। अतः वे एक दूसरा क्षेत्र हैं जहाँ लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण से सम्बन्धित मौलिक चिन्तन किया जा सकता है। नियोजन का तीसरा क्षेत्र है जहाँ मौलिक चिन्तन का प्रादुर्भाव हो सकता है। भारत पिछड़ा हुआ देश है, प्रति व्यक्ति आय शोचनीय है

और उत्पादन की क्षमता बड़ी कम है। ऐसे देश की आर्थिक नौकरशाही के आक्रमणों से जनता के अधिकारों की रक्षा करके लोकतन्त्र को जन-जीवन में साक्षात्कृत करना नियोजन का एक अपरिहार्य अंग है। यह समस्या भी विचारकों तथा नियोजकों की शक्तियों के लिए एक चुनौती सिद्ध होगी। अतः यद्यपि पिछली दो शताब्दियों के भारतीय राजनीतिक चिन्तन में मौलिकता तथा सृजनात्मकता का अभाव है, फिर भी निराशा का कोई कारण नहीं है। स्वतन्त्रता के आगमन से राष्ट्र की शक्तियाँ उन्मुक्त हुई हैं। जब देश पराधीन था उस समय उसे किसी न किसी प्रकार विदेशी शासकों के फौलादी शिकंजे से मुक्त करना ही एकमात्र काम था। इसलिए राष्ट्रवाद भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मुख्य समस्या थी किन्तु स्वाधीनता की प्राप्ति से और नये राजनीतिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक प्रयोगों के प्रारम्भ किये जाने से हमें आशा होने लगी है कि भारतीय राजनीतिक चिन्तन का सृजनात्मक युग शीघ्र ही आने वाला है।

भाग 6

अस्मद्‌कालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की कुछ समस्याएँ

26

लोकतन्त्र तथा भारतीय संस्कृति

हमको विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमेरिका की भूमि आकार में भारतीय संघ की भूमि से लगभग दुगुनी है, किन्तु हमारे निर्वाचकों की संख्या (अठारह करोड़ से अधिक) अमेरिका की सम्पूर्ण जनसंख्या से अधिक है। 1950 में भारत ने एक लोकतन्त्रीय संवैधानिक प्रणाली को कार्यान्वित करने का विशाल प्रयोग आरम्भ किया। यह प्रयोग एक ऐसे अविकसित एशियाई देश में आरम्भ हुआ जहाँ राजतन्त्रीय निरंकुशता, अल्पतन्त्रीय सामन्तवाद, ज्ञान-विरोधी पुरोहित वर्ग तथा पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था की शताब्दियों पुरानी परम्पराएँ चली आ रही थीं। फिर भी भारतीय लोकतन्त्र की सामान्य उपलब्धियाँ सराहनीय हैं। इस देश में 1952, 1957, 1962, 1967 तथा 1971 के पाँच आम चुनाव हो चुके हैं। केन्द्र तथा विभिन्न राज्यों में जो शासकीय निकाय हैं उनके चयन की औपचारिक प्रणाली लोकतन्त्र के सभी सिद्धान्तों को पूरा करती है। केरल में साम्यवादी सरकार की जो स्थापना हुई वह इस बात की द्योतक है कि भारतीय गणतन्त्र निर्वाचकों के निर्णय को स्वीकार करने के लिए तैयार है। संसार के अन्य लोकतान्त्रिक देशों की भाँति भारतीय लोकतन्त्र में भी अनेक दुर्बलताएँ हैं, किन्तु वे निराशा का कारण नही हैं, बल्कि वे नयी चुनौतियाँ हैं जिन पर विजय प्राप्त करनी है।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि आज भारत में लोकतन्त्र के जो कारण तथा क्रियाविधि कार्य कर रहे हैं, वे पश्चिम से और विशेषकर इंगलैण्ड से लिये गये हैं। यद्यपि भारत का प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य अभी केवल पच्चीस वर्ष पुराना है, किन्तु देश में राजनीतिक संविधानवाद के प्रयोग लगभग दो सौ वर्ष से होते आये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन साम्राज्यीय सत्तावादी ढंग का था, फिर भी नियमबद्ध संविधानवाद की धीमी तथा प्रारम्भिक ढंग की परम्परा कम्पनी के शासन के प्रारम्भ से ही काम करने लगी थी। 1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट तथा 1784 का पिट्स इण्डिया एक्ट इसके उदाहरण थे। बर्क ने वारेन हेस्टिंग्ज के कुत्सित इरादों का जो भंडाफोड़ किया था उनसे कम्पनी के शासन में न्यायिक भावना का प्रारम्भ हुआ। 1793, 1813, 1832 और 1853 के चार्टर एक्ट नियमबद्ध संविधानवाद की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। 1757 तथा 1857 के बीच भारतीयों का राजनीतिक शासन की प्रक्रिया में भाग लेने का प्रश्न नहीं उठता था। जब इंगलैण्ड की सरकार ने देश के शासन की बागडोर प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथों में ले ली तो धीरे-धीरे स्थानीय शासन, उत्तरदायी शासन तथा स्वशासन की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। देश में ब्रिटिश उदारवाद, दार्शनिक उग्रवाद तथा राजनीतिक एवं आर्थिक सुधारों के विकास का प्रभाव धीरे-धीरे अनुभव किया जाने लगा। भारतीय पुनरुत्थान तथा प्रारम्भिक राष्ट्रवाद के नेताओं ने स्वतन्त्रता, अधिकारों, सहभागी नागरिकता तथा साम्राज्य-

वादी शोषण से मुक्ति के नाम पर जनता से अपील की । 1947 का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम तथा 1950 में स्थापित किया गया प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का सवैधानिक ढाँचा एक अर्थ में भारतीयों को परिषदों में सम्मिलित करने की उस प्रक्रिया की परिणति थे जिसका प्रारम्भ 1861 के अधिनियम के साथ हुआ था । अतः यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आज भारत में लोकतन्त्र के जो कारण कार्य कर रहे हैं वे पश्चिम के राजनीतिक अनुभवों से लिये गये हैं ।

लोकतन्त्र के दो अर्थ हैं—एक राजनीतिक और दूसरा दार्शनिक । राजनीतिक प्रणाली के रूप में उसका अर्थ है जनता का शासन । अठाहरवीं शताब्दी के सिद्धान्तकारों ने राष्ट्र के प्रभुत्व की धारणा का प्रतिपादन किया था । रूसो समाज की सामान्य इच्छा का समर्थक था । टौमस पेन ने अपने मानव अधिकारों के सिद्धान्त के आधार पर समकालीन समाज की परम्परागत बुनियादों को चुनौती दी । उन्नीसवीं शताब्दी में अब्राहम लिंकन ने 'जनता का, जनता के द्वारा, तथा जनता के लिए' शासन का सन्देश दिया । किन्तु आज के विशाल क्षेत्रों वाले राज्यों में उन परिस्थितियों को पुनः उत्पन्न करना सम्भव नहीं है जो पैरीक्लीज के युग में एथेंस में विद्यमान थीं । स्विट्जरलैण्ड के कुछ प्रान्तों (कैंटनों) में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र भले ही सम्भव हो सके, किन्तु बड़े देशों में आज लोकतन्त्र इसी अर्थ में सम्भव हो सकता है कि जनता को राज्य की नीति के मूल आधारों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करने तथा विधानांग के सदस्यों और सर्वोच्च कार्यपालिका को चुनने का अधिकार दे दिया जाय । एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में आज लोकतन्त्र का अर्थ अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रतिनिधि लोकतन्त्र ही है ।

हमारे देश में लोकतान्त्रिक शासन की राजनीतिक परम्पराओं का प्रचलन नहीं था । जिन संघों अथवा गणों का पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में, सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत का पर्यटन करने वाले यूनानियों के वृत्तान्तों में, और बौद्ध साहित्य तथा महाभारत में उल्लेख आता है वे लोकतन्त्र नहीं थे, अधिक से अधिक उन्हें अभिजाततन्त्रीय गणतन्त्र कहा जा सकता है । यह सत्य है कि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने प्रशासन में मन्त्रियों की सहायता का उल्लेख किया है किन्तु उस काल में मन्त्रियों के जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होने का सिद्धान्त प्रचलित नहीं था । परवर्ती युग में भी 'सभा' और 'समितियाँ' केवल परामर्श देने का काम करती थीं । हाँ, यह सम्भव है कि वैदिक काल में समिति सम्पूर्ण जन की सभा रही हो । मौर्य, गुप्त, वर्द्धन, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट आदि बंशों के साम्राज्यीय शासन के विकास के साथ-साथ पुरानी गणतन्त्रीय व्यवस्था का मूलोच्छेद हो गया । तुर्क-अफगान तथा मुगल शासन के अन्तर्गत ऐसी स्वायत्ततापूर्ण संस्थाओं का विकास न हो सका जो शासकों पर नियन्त्रण रख सकतीं अथवा उनकी शक्ति को सीमित कर सकतीं । शिवाजी का मराठा राजतन्त्र भी उदार निरंकुशवाद का ही नमूना था । इस प्रकार हम देखते हैं कि जब 1950 में प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की लोकतान्त्रिक प्रणाली की स्थापना की गयी उस समय देश में लोकतान्त्रिक संविधानवाद की कोई देशज परम्पराएँ नहीं थी । यहाँ तक कि स्वशासन पर आधारित ग्राम-पंचायतें भी निष्क्रिय अथवा नष्ट हो चुकी थीं । आज की ग्राम-पंचायतों का केवल नाम पुराना है, वास्तव में वे केन्द्रीय या राज्य सरकार की कृति हैं, और ये सरकारें स्वयं पाश्चात्य नमूने पर निर्मित हैं । वर्तमान भारतीय लोकतन्त्र का आधार आंशिक रूप में परिषदीय शासन की वे परम्पराएँ हैं जिनका सूत्रपात भारत की पुरानी ब्रिटिश सरकार ने किया था । अतः स्पष्ट है कि भारत का राजनीतिक लोकतन्त्र पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर प्रारम्भ किया गया है । चीन, स्पेन तथा वाइमर जर्मनी में लोकतन्त्र का जो उन्मूलन हुआ उसका दुःखद इतिहास हमें चेतावनी देता है कि अपने प्रारम्भिक वर्षों में लोकतान्त्रिक सरकार को इसलिए गम्भीर खतरे का सामना करना पड़ता है कि लोकमानस में उसकी जड़ें गहरी नहीं होती हैं । अतः देश में लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए हमें दृढ़ संकल्प और साहस से काम लेना पड़ेगा ।

लोकतन्त्र कोरी राजनीतिक पद्धति अथवा सिद्धान्त नहीं है । वह इस सबसे कुछ अधिक है । वह वस्तुतः एक जीवन-प्रणाली है । वह सामाजिक तथा नैतिक जीवन का दर्शन है । अठाहरवीं शताब्दी में लोकतन्त्र का केवल राजनीतिक अर्थ माना जाता था । उसका स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधित्व के प्राकृतिक अधिकार पर अधिक बल था । उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीतिक लोकतन्त्र में

सामाजिक तथा आर्थिक तत्व भी समाविष्ट कर दिया गया। अमेरिका में दासों की मुक्ति (1865), रूस में अर्द्ध दासों की मुक्ति (1861) तथा उदारवाद, मार्क्सवाद और राज्य समाजवाद का उदय— इन सबसे इस धारणा की पुष्टि हुई कि न्यायपूर्ण अर्थतन्त्र तथा वर्गविहीन सामाजिक व्यवस्था के बिना मताधिकार पर आधारित लोकतन्त्र एक ढकोसला है। बीसवीं शताब्दी में शिक्षा के प्रसार तथा मनोविज्ञान के विकास ने इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बना दिया है कि राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता के लिए ज्ञान का सार्वभौम प्रसार अत्यावश्यक है, और नागरिकों के व्यक्तित्व का निर्माण लोकतान्त्रिक आधार पर किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह विश्वास किया जाता है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए हमें ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है जो संयमी तथा चतुर हों, जिनमें अपने को विभिन्न प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की क्षमता हो, जिनकी विश्व की समस्याओं में व्यापक रुचि हो, जो उदासीन तथा भाग्यवादी न हों, बल्कि स्वतःस्फूर्त सामुदायिक कार्यकलाप में अभिक्रम करने की तीव्र तथा क्रियाशील क्षमता रखते हों। अतः वर्तमान में लोकतन्त्र को एक प्रकार का धर्म माना जाने लगा है; वह समाज तथा राजनीति के सम्बन्ध में एक प्रकार का मूल्यात्मक दृष्टिकोण बन गया है; वह एक ऐसा धर्म है जो मनुष्य का इस ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है कि वह मानववादी तथा सृजनात्मक अर्थ में परार्थवादी बन सके। यदि हम लोकतन्त्र की इस व्याख्या को स्वीकार करलें और उसे पारस्परिक सहयोग तथा सामंजस्य का एक सिद्धान्त मान लें तो भारतीय संस्कृति की परम्पराएँ उसका ठोस आधार बन सकती हैं और उसका पूरक सिद्ध हो सकती हैं। यहाँ मुझे आध्यात्मवाद तथा आत्मवाद की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने की तत्वशास्त्रीय समस्या से प्रयोजन नहीं है। मैं ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में हेतुशास्त्रीय तर्कों में नहीं उलझना चाहता। मेरी समस्या तो केवल राजनीतिक है। मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि भारतीय संस्कृति के मूल विचार लोकतन्त्रीय दर्शन के विरोधी नहीं हैं, बल्कि वे एक ऐसे मन तथा एक ऐसी चिन्तन प्रणाली का पोषण कर सकते हैं जो लोकतन्त्र के पक्ष को बल प्रदान कर सके।

भारतीय संस्कृति की आधारभूत धारणा यह है कि विश्व के मूल में एक आदि आध्यात्मिक सत्ता विद्यमान है। यह सत्य है कि अनेक बौद्ध सम्प्रदाय, प्रारम्भिक सांख्य एवं मीमांसा सम्प्रदाय तथा चारवाक भौतिकवादी किसी निरपेक्ष सर्वव्यापक सत्ता में अथवा सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। फिर भी बहुसंख्यक भारतीय विचारक तथा दार्शनिक एक निरपेक्ष आध्यात्मिक अन्त्य सत्ता को स्वीकार करने के पक्ष में थे। आध्यात्मिक जीवन-दर्शन के अनुयायियों में बहुसंख्यक ऐसे हैं जिन्हें रहस्यात्मक ढंग की सच्ची रूपान्तरकारी अनुभूति कभी नहीं हुई है, फिर भी वे एक बौद्धिक सिद्धान्त तथा परम्परागत विश्वास के रूप में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अंगीकार करते हैं। एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में लोकतंत्र आध्यात्मिक तत्वशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहता। वह तो उसे व्यक्तियों के निजी जीवन का मामला तथा शास्त्रीय विवाद का विषय मानता है। वह इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि नास्तिकों, आध्यात्मवादियों तथा भौतिकवादियों, सभी के साथ समान व्यवहार किया जाय। रूसी साम्यवाद के कुछ समर्थक उग्र नास्तिक थे और धर्म का विनाश करने में विश्वास करते थे। किन्तु लोकतंत्र को आध्यात्मिक विश्व-दर्शन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहना है। वह ब्रह्माण्ड-शास्त्र तथा आधारभूत प्रयोजन-शास्त्र की समस्याओं को अपने क्षेत्र से परे का विषय मानता है। यद्यपि भारत का आध्यात्मवादी लोकतन्त्र मनुष्य की आस्था की समस्याओं के सम्बन्ध में मौन है फिर भी यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक विश्व दर्शन लोकतंत्र की नींव को अवश्य ही बल प्रदान करेगा। मैं आध्यात्मवाद की तत्वशास्त्रीय श्रेष्ठता का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यह है कि राजनीतिक दृष्टि से आध्यात्मिक तत्वशास्त्र लोकतंत्र के आधार को मजबूत बना सकता है। आध्यात्मवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को एकता प्रदान करता है। आजकल जबकि प्रतिस्पर्धा तथा अज्ञानमूलक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के कारण समूहों तथा व्यक्तियों के सर्वत्र निराशा छायी हुई है, इस प्रकार की एकता अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं की वृद्धि, आसन्न संघर्षों का निरन्तर भय और यहाँ तक कि युद्ध जीवन के अनेक क्षेत्रों में अज्ञान तथा अविवेक का राज्य, ये सब बातें स्नायविक तनाव तथा मानसिक दबाव उत्पन्न करती हैं। मानसिक कुसामंजस्य जिनसे मनोविकार उत्पन्न होते

हैं, हीनता-ग्रन्थियाँ तथा किन्हीं ठोस मूल्यों में आस्था का अभाव, आदि लोकतंत्र के लिए भारी खतरा हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण विश्व तथा उसके घोर अन्तर्विरोधों को बुद्धिमूलक सिद्ध करता है, वह मनुष्य के क्रियाकलाप को एक दिशा देता है तथा यह बतलाता है कि ब्रह्माण्ड एक प्रयोजनयुक्त व्यवस्था है जब तक मनुष्य को किन्हीं आधारभूत तात्विक मूल्यों में आस्था नहीं है, तब तक लोक-तंत्र सफल नहीं हो सकता। भारतीय जनता का आध्यात्मिक दृष्टिकोण में विश्वास है, और उस पर पश्चिम के बौद्धिक नास्तिकवाद (सर्वखण्डनवाद) का प्रभाव नहीं है, अतः वह लोकतान्त्रिक दर्शन को पुष्ट करने की निरापद मनोवैज्ञानिक सामग्री बन सकती है। इस प्रकार आध्यात्मिक विश्व-दर्शन का, जो भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण तत्व है, बुनियादी राजनीतिक परिणाम यह है कि वह व्यक्तित्व के एकीकरण और संघटन का मार्ग दिखलाता है, और यह लोकतंत्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आध्यात्मिक तत्वशास्त्र का एक अन्य निहितार्थ यह है कि वह राजनीतिक सत्ता को परिसी-मित करने के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। पश्चिम में राजनीतिक लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण आधार प्राकृतिक विधि की धारणा है जिसके मुख्य प्रतिपादक सिसेरो, टॉमस एक्विनास तथा अन्य विचारक हुए हैं। मध्य युग में उत्कृष्ट प्राकृतिक विधि की परम्परा का बोलबाला रहा, तथा यह धारणा प्रबल रही कि जो मानव विधि उस प्राकृतिक विधि से विचलित होती है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस परम्परा से इस दृष्टिकोण को बल मिला कि राजनीतिक सर्वशक्तिमत्ता पर अंकुश लगाया जाय तथा आधिपत्य सहकारी कार्यकलाप को संलग्न जनता को सौंप दिया जाय। लोकतंत्र अनियंत्रित शक्ति की निरंकुशता को कम करने का उपाय है। वह सत्ताधारियों को नियन्त्रित करता है। वह शक्ति केन्द्रों को इस धारणा से ओतप्रोत करने का प्रयत्न है कि शासन में सबका साझा होना चाहिए। लोकतंत्र शक्ति के केन्द्रों को परस्पर सम्बद्ध करने में तथा उत्तरदायित्व, सत्ता, स्वतन्त्रता और प्रभुत्व का समन्वय करने में विश्वास करता है। वह आधिपत्य को कम से कम करने का प्रयत्न करता है। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त शक्ति को उदात्त तथा सीमित करने में विश्वास करता है। यह परम्परा कि राजनीतिक शक्ति अन्तिम शक्ति नहीं है, लोकतान्त्रिक दर्शन का सार है। इस परम्परा को भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्पराएँ और भी अधिक सशक्त बना सकती हैं। आलोचनात्मक बुद्धिवाद के इन वैज्ञानिक युग में आधुनिक बुद्धिवादियों के लिए आध्यात्मिक दृष्टकोण को स्वीकार करना भले ही सम्भव न हो, किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से कहा जा सकता है कि जो परम आध्यात्मिक सत्ता को सर्वोच मानते हैं उनके लिए शक्ति के उत्तरदायित्वहीन प्रयोग पर अंकुश और नियंत्रण लगाने का लोकतां-त्रिक सिद्धान्त अपरिचित नहीं है। प्राचीन ऋषियों के अनुसार मानव-विधि, देव-विधि तथा राज-कीय विधि और राजशासन (सम्राट का आदेश), इन सबके ऊपर सर्वोच्च धर्म है। सर्वव्यापी ऋत देवताओं, मनुष्यों तथा प्रकृति सभी को नियंत्रित करता है। आध्यात्मिक शासन की इस सर्वव्यापी विधि की धारणा राजनीतिक शक्ति पर नियंत्रण लगाने के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। अतः भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा इस लोकतांत्रिक सिद्धान्त को बल प्रदान कर सकती है कि राजनीतिक शक्ति के उत्तरदायित्वहीन प्रयोग पर अंकुश लगाया जाय।

लोकतन्त्र मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व में विश्वास करता है। 'एक व्यक्ति, एक मत' का आदर्श मनुष्य की आध्यात्मिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि एक दार्शनिक, कवि अथवा राजनीति-शास्त्री की उपलब्धियों तथा एक साधारण तुच्छ लिपिक अथवा ठेकेदार के कार्यों के बीच गहरा गुणात्मक अन्तर होता है। किन्तु उनमें से प्रत्येक को एक ही मत का अधिकार दिया जाता है। इस समानता का आधार वह सिद्धान्त है जिसे अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक प्राकृतिक अधिकार कहते थे तथा जिसे आधुनिक विचारक मनुष्य का आधारभूत नैतिक मूल्य तथा अन्तर्निहित आध्यात्मिक गरिमा नाम के अभिहित करते हैं। मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। मनुष्य का जीवन भौतिक तथा रासायनिक परमाणुओं तक ही सीमित नहीं है। लोकतांत्रिक दर्शन चाहे आध्यात्मिक मनोविज्ञान के तर्कों को स्वीकार न करे और चाहे वह

मनुष्य के मानस की अन्तिम रचना के सम्बन्ध में मौन रहे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि पाश्चात्य लोकतंत्र के राजनीतिक दर्शन ने ईसा, सन्त पॉल तथा लूथर द्वारा प्रतिपादित मानव सम्बन्धी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को चुपचाप अपने में समाविष्ट कर लिया है। ईसाई मानव-शास्त्र पाश्चात्य संविधानवाद का आधार है। भारतीय संस्कृति भी आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करती है। वह मनुष्य को अमर आत्मा मानती है, और सार्वभौम कल्याण की आचारनीति में विश्वास करती है। वह यह स्वीकार करती है कि मनुष्य की आध्यत्मिक तथा नैतिक शक्ति का कभी क्षय नहीं होता। इस आध्यात्मिक मनोविज्ञान के आधार पर भारतीय मानस के लिए इस लोकतांत्रिक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना सरल है कि मनुष्य स्वयं साध्य है, वह साधन नहीं है। मानव प्राणी की पवित्रता में विश्वास ही हर प्रकार के सामूहिक सत्तावाद और नियंत्रण से मनुष्य का बचाव कर सकता है, और यही विश्वास सामाजिक तथा राजनीतिक समानता को साक्षात्कृत करने में हमारी सहायता कर सकता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जिस मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति हो जाती है वह हर प्रकार के सामाजिक बन्धनों तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव से ऊपर उठ जाता है। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक सन्तों तथा ऋषियों के उदाहरण हैं जो समाज के निम्नतम वर्गों में उत्पन्न होने के बावजूद श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये थे। यह लोकतान्त्रिक परम्परा के अनुरूप है। कबीर, नानक और रैदास की शिक्षाओं को पुनर्जीवित करके उनके लोकतन्त्रीय सामाजिक समानता के आदर्श का समर्थन किया जा सकता है। भारतीय जनता बैबूफ,, प्रूधों और हौगस्किन के सामाजिक सिद्धान्तों के प्रति भावनात्मक सहानुभूति भले ही न दिखा सके, किन्तु आत्मवाद का सिद्धान्त सामाजिक तथा राजनीतिक समानता के आदर्श को अवश्य बल देगा।

लोकतन्त्र बुद्धि, सहिष्णुता और समझौते का सिद्धान्त है। उसका विश्वास तर्क, विचार-विमर्श तथा मतपरिवर्तन में है। वह शक्ति को सीमित करने की शिक्षा देता है। वह अहंकारमूलक स्वाग्रह के शमन करने के आदर्श को स्वीकार करता है। वह चाहता है कि परिग्रह तथा संग्रह की प्रवृत्ति के स्थान पर उस चीज को प्रतिष्ठित किया जाय जिसे डेविड ह्यूम ने 'मानवत की भावना' कहा है। साझेदारी लोकतान्त्रिक दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। शासन में, वस्तुओं एवं सामग्री तथा सामूहिक अनुभव सभी में साझेदारी की आवश्यकता है। अतः संग्रह-वृत्ति का परित्याग करना है, आवश्यकताओं को सीमित करना है, तथा अपने पड़ौसी के कल्याण का ध्यान रखना है। विश्व को निर्मम प्रतियोगितामूलक संघर्ष का स्थान नहीं मानता है, बल्कि यह मानकर चलना है कि वह लोकसंग्रह के लिए आवश्यक कार्यों को सम्पादित करने का स्थल है। हमें 'जियो और जीने दो' के सन्देश पर आचरण करना है। अतः लोकतान्त्रिक दर्शन गहरी नैतिक नींव पर आधारित है। भारत मे लोकतन्त्र के नैतिक आधार को अपनी पुरातन आचारनीतिक परम्पराओं के द्वारा सुदृढ़ किया जा सकता है। भारतीय नैतिक अनुशासन अन्तर्मुखी है। वह त्याग तथा आत्मसंयम पर बल देता है। वह दूसरों पर शासन करने और आधिपत्य जमाने का उपदेश नहीं देता। भारतीय धर्म तथा दर्शन में प्रेम, नम्रता, मानवता, दया तथा न्याय की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। बल इस बात पर दिया गया है कि चिन्तन तथा मनन के द्वारा नैतिक उत्साह तथा अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जाय। बाह्य शक्ति तथा धन की खोज में भागदौड़ करना और उसके लिए जोखिम उठाना कभी भारतीय संस्कृति का आदर्श नहीं रहा। दान का विशेष गुणगान किया गया है। महाभारत में एक कथा है कि एक भारतीय ऋषि ने राक्षसों के विनाश हेतु अस्त्र बनाने के लिए अपनी हड्डियाँ तक दे दी थीं। लोकसंग्रह के लिए आत्मोसर्ग का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उद्देश्यों की पवित्रता तथा चरित्र की श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाली भारतीय आचारनीतिक परम्पराएँ लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण को पुष्ट कर सकती हैं। शक्ति का एक ऐसा आन्तरिक नियम है कि उसका धारणाकर्ता स्वतः अतिक्रमण तथा आक्रमण की दिशा में अग्रसर होने लगता है। लोकतन्त्र में शासन के अंगों के कम से कम आंगिक पृथक्करण, मूल अधिकारों, न्यायिक पुनरीक्षा, महाभियोग, प्रत्याह्वान आदि का जो प्राविधान किया जाता है उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति-जनित उन्माद की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना है। भारतीय आचारनीति निरंकुशता के स्थान पर आत्मनियन्त्रण को अधिक महत्व देती है। यह धारणा प्रभुत्व के स्थान पर सेवा और साम्राज्यवाद के स्थान पर

भ्रातृत्व की परम्परा को बल प्रदान कर सकती है । आज के जगत में इस परम्परा की महती आवश्यकता है ।

लोकतन्त्र शैक्षिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है । वह अन्वेषण की स्वतन्त्रता चाहता है, और इस बात पर आग्रह करता है कि दूसरे लोगों के मत को सुना जाय । किसी पर सत्तामूलक कट्टर सिद्धान्तों अथवा धर्मशास्त्रों के आदेशों को थोपना लोकतन्त्र विरोधी कार्य है । चिन्तन तथा सार्वजनिक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है । लोकतन्त्र मानता है कि मानव सभ्यता की प्रगति नागरिकों के इस स्वभाव पर निर्भर होती है कि वे किसी बात को अंगीकार करने से पूर्व प्रारम्भ में उसे शंका की दृष्टि से देखें और उसकी छानबीन करलें । भारतीय संस्कृति अपने युगों के विकास के दौरान कुछ धर्मशास्त्रीय तथा परलोकशास्त्रीय मतवादों से सम्बद्ध हो गयी, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु भारतीय चिन्तन की आत्मा सदैव ही स्वतन्त्र अन्वेषण को प्रोत्साहन देती आयी है । उसने तर्क तथा सन्देह पर बल दिया है । यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति में स्वतन्त्र चिन्तन पर उतना अधिक बल नहीं दिया गया है जितना पश्चिम में सोलहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आन्दोलनों में दिया गया था । फिर भी भारतीय संस्कृति में बुद्धिवाद के महत्वपूर्ण बीज देखने को मिलते हैं । नास्तिक तथा तीर्थक सम्प्रदायों के विचारक वेदों को अपौरुषेय मानने वालों से कहीं अधिक बुद्धिवादी थे । भारतीय इतिहास में हमें कहीं ऐसे धर्मसंघ का प्रमाण नहीं मिलता जिसने किसी का उत्पीड़न किया हो, और न किसी अत्याचारी पुरोहित वर्ग का ही उल्लेख आता है । राजनीतिक शक्ति धारण करने वालों तथा आध्यात्मिक और धार्मिक नेताओं के बीच ऐसा कोई समझौता नहीं था जिसके अनुसार विश्वासी जनता पर कुछ सिद्धान्त अथवा मतवाद थोपने का प्रयत्न किया जाता । अतः भारतीय बुद्धिवाद की परम्परा लोकतन्त्र के बौद्धिक आधारों को सुदृढ़ बनाने में योग दे सकती है ।

मैंने यहाँ भारतीय संस्कृति के तीन आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया है : (1) परब्रह्म की धारणा, (2) आत्मा में विश्वास, (3) आत्मसंयम का आचारनीतिक सिद्धान्त । मैंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि राजनीतिक दृष्टि से ये तीनों धारणाएँ लोकतन्त्र विरोधी नहीं हैं, बल्कि ये लोकतन्त्र को पुष्ट भी कर सकती हैं । यह सत्य है कि आधुनिक प्रतिनिधि लोकतन्त्र की संस्थाएँ तथा कार्यविधि पश्चिम से ली गयी हैं, किन्तु हम आधुनिक लोकतन्त्र में भारतीय संस्कृति के प्राणमूलक तथा सारयुक्त सन्देश को जोड़कर उसके सैद्धान्तिक आधारों को मजबूत बना सकते हैं । हम केवल लॉक और रूसो के तर्कों के बल पर भारतीय लोकतन्त्र की नींव को सुदृढ़ नहीं बना सकते । यदि हम चाहते हैं कि लोकतन्त्र भारतीय लोकमानस में भावात्मक स्फूर्ति उत्पन्न करे तो हमें उससे उन धारणाओं और प्रस्थापनाओं की भाषा में बात करनी पड़ेगी जिनसे वे भली भाँति परिचित हैं । भारत में पश्चिम के वातावरण और परिवेश को उत्पन्न करना सम्भव नहीं है । किन्तु यह हो सकता है कि हम कुछ आधारभूत लोकतान्त्रिक आदर्शों को ले लें और उनका भारतीय सांस्कृतिक विरासत के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करें । यह एक उपाय हो सकता है जिसके द्वारा हम भारत में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का विकास कर सकते हैं ।

मनुष्य के मानस की अन्तिम रचना के सम्बन्ध में मौन रहे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि पाश्चात्य लोकतंत्र के राजनीतिक दर्शन ने ईसा, सन्त पॉल तथा लूथर द्वारा प्रतिपादित मानव सम्बन्धी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को चुपचाप अपने में समाविष्ट कर लिया है। ईसाई मानव-शास्त्र पाश्चात्य संविधानवाद का आधार है। भारतीय संस्कृति भी आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करती है। वह मनुष्य को अमर आत्मा मानती है, और सार्वभौम कल्याण की आचारनीति में विश्वास करती है। वह यह स्वीकार करती है कि मनुष्य की आध्यत्मिक तथा नैतिक शक्ति का कभी क्षय नहीं होता। इस आध्यात्मिक मनोविज्ञान के आधार पर भारतीय मानस के लिए इस लोकतांत्रिक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना सरल है कि मनुष्य स्वयं साध्य है, वह साधन नहीं है। मानव प्राणी की पवित्रता में विश्वास ही हर प्रकार के सामूहिक सत्तावाद और नियंत्रण से मनुष्य का बचाव कर सकता है, और यही विश्वास सामाजिक तथा राजनीतिक समानता को साक्षात्कृत करने में हमारी सहायता कर सकता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जिस मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति हो जाती है वह हर प्रकार के सामाजिक बन्धनों तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव से ऊपर उठ जाता है। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक सन्तों तथा ऋषियों के उदाहरण हैं जो समाज के निम्नतम वर्गों में उत्पन्न होने के बावजूद श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये थे। यह लोकतान्त्रिक परम्परा के अनुरूप है। कबीर, नानक और रैदास की शिक्षाओं को पुनर्जीवित करके उनके लोकतन्त्रीय सामाजिक समानता के आदर्श का समर्थन किया जा सकता है। भारतीय जनता बैबूफ,, प्रूधों और हौगस्किन के सामाजिक सिद्धान्तों के प्रति भावनात्मक सहानुभूति भले ही न दिखा सके, किन्तु आत्मवाद का सिद्धान्त सामाजिक तथा राजनीतिक समानता के आदर्श को अवश्य बल देगा।

लोकतन्त्र बुद्धि, सहिष्णुता और समझौते का सिद्धान्त है। उसका विश्वास तर्क, विचार-विमर्श तथा मतपरिवर्तन में है। वह शक्ति को सीमित करने की शिक्षा देता है। वह अहंकारमूलक स्वाग्रह के शमन करने के आदर्श को स्वीकार करता है। वह चाहता है कि परिग्रह तथा संग्रह की प्रवृत्ति के स्थान पर उस चीज को प्रतिष्ठित किया जाय जिसे डेविड ह्यूम ने 'मानवत की भावना' कहा है। साझेदारी लोकतान्त्रिक दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। शासन में, वस्तुओं एवं सामग्री तथा सामूहिक अनुभव सभी में साझेदारी की आवश्यकता है। अतः संग्रह-वृत्ति का परित्याग करना है, आवश्यकताओं को सीमित करना है, तथा अपने पड़ौसी के कल्याण का ध्यान रखना है। विश्व को निर्मम प्रतियोगितामूलक संघर्ष का स्थान नहीं मानता है, बल्कि यह मानकर चलना है कि वह लोकसंग्रह के लिए आवश्यक कार्यों को सम्पादित करने का स्थल है। हमें 'जियो और जीने दो' के सन्देश पर आचरण करना है। अतः लोकतान्त्रिक दर्शन गहरी नैतिक नींव पर आधारित है। भारत में लोकतन्त्र के नैतिक आधार को अपनी पुरातन आचारनीतिक परम्पराओं के द्वारा सुदृढ़ किया जा सकता है। भारतीय नैतिक अनुशासन अन्तर्मुखी है। वह त्याग तथा आत्मसंयम पर बल देता है। वह दूसरों पर शासन करने और आधिपत्य जमाने का उपदेश नहीं देता। भारतीय धर्म तथा दर्शन में प्रेम, नम्रता, मानवता, दया तथा न्याय की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। बल इस बात पर दिया गया है कि चिन्तन तथा मनन के द्वारा नैतिक उत्साह तथा अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जाय। बाह्य शक्ति तथा धन की खोज में भागदौड़ करना और उसके लिए जोखिम उठाना कभी भारतीय सस्कृति का आदर्श नहीं रहा। दान का विशेष गुणगान किया गया है। महाभारत में एक कथा है कि एक भारतीय ऋषि ने राक्षसों के विनाश हेतु अस्त्र बनाने के लिए अपनी हड्डियाँ तक दे दी थीं। लोकसंग्रह के लिए आत्मोसर्ग का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उद्देश्यों की पवित्रता तथा चरित्र की श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाली भारतीय आचारनीतिक परम्पराएँ लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण को पुष्ट कर सकती हैं। शक्ति का एक ऐसा आन्तरिक नियम है कि उसका धारणाकर्ता स्वतः अतिक्रमण तथा आक्रमण की दिशा में अग्रसर होने लगता है। लोकतन्त्र में शासन के अंगों के कम से कम आंशिक पृथक्करण, मूल अधिकारों, न्यायिक पुनरीक्षा, महाभियोग, प्रत्याह्वान आदि का जो प्राविधान किया जाता है उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति-जनित उन्माद की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना है। भारतीय आचारनीति निरंकुशता के स्थान पर आत्मनियन्त्रण को अधिक महत्व देती है। यह धारणा प्रभुत्व के स्थान पर सेवा और साम्राज्यवाद के स्थान पर

मनुष्य के आचरण को ढालने और प्रभावित करने की कार्यविधि है। शिक्षा का हमारी सामाजिक आवश्यकताओं तथा आर्थिक साधनों से सम्बन्ध होना चाहिए, साथ ही साथ वह ऐसी भी हो कि हम यह आशा कर सकें कि शिक्षित निर्वाचकगण चुनाव के समय योग्य व्यक्तियों को ही वोट देंगे। शिक्षा सम्बन्धी इस समाजशास्त्रीय तथा कार्यमूलक दृष्टिकोण के दो महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं :

(1) अब तक भारतीय समाज तथा संस्कृति पर इस विचार का प्रभुत्व रहा है कि व्यक्ति को शास्त्रों में तथा समाज के उच्च वर्गों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रभावशाली तथा शक्तिसम्पन्न वर्गों ने धार्मिक उपदेशों के बहाने जनता पर अपनी कट्टरतापूर्ण सनकों को थोपने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों में अन्वेषण की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास हो। अतः भारतीय शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे लोगों में बौद्धिक अन्वेषण तथा समझ-बूझ की क्षमता उत्पन्न हो सके। नवजात लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा के सम्बन्ध में इस कार्यमूलक दृष्टिकोण को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाय।

(2) लोकतान्त्रिक समाज में व्यक्तियों के स्वतःस्फूर्त विकास पर सबसे अधिक बल दिया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि लोग 'कारुणिक सन्तोष', रूढ़िबद्ध कार्यकलाप, उदासीनता तथा निष्क्रियता का परित्याग करें, और सामुदायिक विकास के कार्यों में मन लगायें। इसके लिए आवश्यक है कि नागरिकों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे उनमें राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यों के लिए उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न हो। मतदाताओं को यह नहीं समझना चाहिए कि वे अपना मत देकर कुछ प्रत्याशियों की सहायता कर रहे हैं अथवा उन पर अनुग्रह कर रहे हैं। उन्हें मताधिकार के उच्च नैतिक तथा राजनीतिक महत्व को ध्यान में रखकर वोट देना चाहिए। यह आवश्यक है कि जनता में लोकतन्त्र के महान मूल्य की चेतना जाग्रत हो, और बिखरे हुए मतदाताओं को समूहों में संगठित किया जाय और उनमें संस्थागत आचरण की क्षमता उत्पन्न की जाय। वयस्क मताधिकार भारत के लिए एक नयी चीज है। 1909 के मोर्लेमिंटो सुधारों, 1919 के मोंटेग्यू-चेम्सफर्ड सुधारों तथा 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के अनुसार मताधिकार बहुत सीमित था। 21 वर्ष तथा उससे अधिक आयु के लोगों को मताधिकार देकर लोकतन्त्र की दिशा में एक अत्यधिक प्रगतिशील कदम उठाया गया है। इस बात का बहुत भय है कि लोग इस अधिकार का दुरुपयोग करें। अतः इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि भारतीय समाज के सभी वर्गों में ऐसे बुद्धिजीवियों का प्रादुर्भाव हो जो मतदाताओं को उनके उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों के प्रति सचेत करें।

भारतीय निर्वाचकों को शिक्षित करने का अर्थ है कि 21 वर्ष की तथा उससे अधिक आयु की सम्पूर्ण जनता को शिक्षा दी जाय। इसकी पहली शर्त यह है कि निरक्षरता के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन चलाया जाय। मुहम्मद, अकबर तथा शिवाजी जैसे व्यक्तियों के लिए बिना साक्षर हुए चरम उत्कर्ष पर पहुँचना सम्भव था, किन्तु बहुसंख्यक जनता के लिए साक्षरता शिक्षा की अपरिहार्य शर्त है। भारतीय निर्वाचकों को शिक्षित बनाने की दूसरी शर्त यह है कि साक्षर जनता को राजनीतिक शिक्षा दी जाय। इसके लिए स्कूलों तथा कॉलेजों की शिक्षा पर्याप्त नहीं होगी। उसकी पूर्ति अन्य साधनों से करनी होगी। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि शिक्षा-संस्थाएँ जीवन में पृथक एकान्त स्थान है, वास्तव में वे समाज का ही अंग हैं। शिक्षा के प्रति इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का एक विशेष अर्थ है। वयस्क होने पर मनुष्य को परिवार तथा गाँव के प्राथमिक तथा सरल सम्बन्धों की दुनिया से निकलकर गौण सम्बन्धों के जटिल जगत में काम करना पड़ता है; उसके कार्यकलाप का क्षेत्र प्राथमिक सम्बन्धों तक सीमित नहीं रह सकता। शिक्षा का कार्य नागरिक को इस व्यापक जगत में समुचित भूमिका अदा करने के लिए तैयार करना है। नागरिक को निश्चित अवधि के उपरान्त महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय करने पड़ते हैं। उसे पंचायत विधान सभा तथा संसद के सदस्यों का चुनाव करना पड़ता है। इसके लिए आवश्यक है कि उसे सही जानकारी उपलब्ध करायी जाय, और यह तभी सम्भव हो सकता है जब शिक्षा की प्रक्रिया न[illegible] जारी रखी जाय।

27

भारतीय लोकतन्त्र के शैक्षिक आधार

1. भारत में लोकतन्त्र तथा शिक्षा

पिछले डेढ़ सौ वर्षों की एक सबसे महत्वपूर्ण घटना जनता का उत्थान है। राजतन्त्रीय स्वैरतन्त्र, अभिजाततन्त्रीय धनिकतन्त्र तथा अल्पतन्त्रीय भद्रलोक का महत्व घट रहा है। यह सत्य हो सकता है कि शासनतन्त्र के वाह्य रूपों की भिन्नताओं के बावजूद महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय अभी भी थोड़े-से व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं। किन्तु उच्चतम शासकीय शक्ति पर थोड़े-से लोगों का एकाधिकार होने से हमारी इस प्रस्थापना का खण्डन नहीं होता कि प्राचीन, मध्य तथा प्रारम्भिक आधुनिक युगों की तुलना में आज सम्पूर्ण जनता का महत्व बहुत बढ़ गया है। अत्यधिक कठोर अधिनायकवादी सरकारों को भी जनता का विश्वास करने के लिए सब प्रकार के प्रचार तथा प्रकाशन का सहारा लेना पड़ता है। जनता का यह उभाड़ आधुनिक विज्ञान, प्रविधि, समतावादी समाज-दर्शन तथा शिक्षा का परिणाम है।

वर्तमान काल में शिक्षा व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। लोकतन्त्र की माँग है कि शिक्षा का सार्वभौम प्रसार हो। शिक्षा से मतदाता के व्यक्तित्व का विकास होता है, और मतदाता का प्रभुत्व ही लोकतन्त्र का मूलमन्त्र है, और उसी प्रभुत्व को लोकतन्त्र साक्षात्कृत करना चाहता है। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि निर्वाचकों की शिक्षा के बिना लोकतन्त्र एक मखौल है। इसीलिए धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जा रहा है कि शिक्षा एक महत्वपूर्ण मानव अधिकार है, और इस अधिकार की गारन्टी का भी प्रयत्न किया जा रहा है। अनिवार्य शिक्षा का आन्दोलन इसी दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न है। धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का प्राविधान करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि शिक्षा-शास्त्र की नवीन वैज्ञानिक पद्धतियों को लोकप्रिय बनाना भी आवश्यक है। यह लोकतन्त्र का एक आधारभूत सिद्धान्त है कि सबको शिक्षा का समान अवसर दिया जाय, और स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में प्रवेश जन्म के आधार पर नहीं बल्कि प्रमाणित योग्यता के आधार पर होना चाहिए।

लोकतन्त्र के विकास के कारण शिक्षा के सम्बन्ध में एक नये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक हो गया है। हम केवल यह मानकर सन्तोष नहीं कर सकते कि शिक्षा सत्पुरुष बनाने का एक निजी प्रशिक्षण है, अथवा आध्यात्मिक प्रबुद्धीकरण की एक रहस्यात्मक प्रक्रिया है। शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक कार्यविधि मानना है जिसके द्वारा मनुष्य समाज तथा समूह के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर सकता है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में मनुष्य की शक्तियों के विकास तथा मुक्ति को शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था, और इस उद्देश्य को मुख्यतः अभिजात वर्ग के बालकों के सम्बन्ध में ही साक्षात्कृत करने का प्रयत्न किया जाता था। किन्तु शिक्षा के विषय में यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उस गतिशील, प्रसारवान तथा लोकतान्त्रिक समाज के अनुकूल नहीं है जिसे हमारी जनता इस देश में साक्षात्कृत करना चाहती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मतदाता विधायकों को चुनने के अपने प्रभुत्वमूलक अधिकार का सही ढंग से प्रयोग करें तो हमें शिक्षा को वैयक्तिक मुक्ति की निरपेक्ष प्रक्रिया नहीं मानना है, बल्कि यह स्वीकार करना है कि वह

मनुष्य के आचरण को ढालने और प्रभावित करने की कार्यविधि है। शिक्षा का हमारी सामाजिक आवश्यकताओं तथा आर्थिक साधनों से सम्बन्ध होना चाहिए, साथ ही साथ वह ऐसी भी हो कि हम यह आशा कर सकें कि शिक्षित निर्वाचकगण चुनाव के समय योग्य व्यक्तियों को ही वोट देंगे। शिक्षा सम्बन्धी इस समाजशास्त्रीय तथा कार्यमूलक दृष्टिकोण के दो महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं :

(1) अब तक भारतीय समाज तथा संस्कृति पर इस विचार का प्रभुत्व रहा है कि व्यक्ति को शास्त्रों में तथा समाज के उच्च वर्गों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रभावशाली तथा शक्तिसम्पन्न वर्गों ने धार्मिक उपदेशों के बहाने जनता पर अपनी कट्टरतापूर्ण सनकों को थोपने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों में अन्वेषण की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास हो। अतः भारतीय शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे लोगों में बौद्धिक अन्वेषण तथा समझ-बूझ की क्षमता उत्पन्न हो सके। नवजात लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा के सम्बन्ध में इस कार्यमूलक दृष्टिकोण को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाय।

(2) लोकतान्त्रिक समाज में व्यक्तियों के स्वतःस्फूर्त विकास पर सबसे अधिक बल दिया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि लोग 'कारुणिक सन्तोष', रूढ़िबद्ध कार्यकलाप, उदासीनता तथा निष्क्रियता का परित्याग करें, और सामुदायिक विकास के कार्यों में मन लगायें। इसके लिए आवश्यक है कि नागरिकों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे उनमें राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यों के लिए उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न हो। मतदाताओं को यह नहीं समझना चाहिए कि वे अपना मत देकर कुछ प्रत्याशियों की सहायता कर रहे हैं अथवा उन पर अनुग्रह कर रहे हैं। उन्हें मताधिकार के उच्च नैतिक तथा राजनीतिक महत्व को ध्यान में रखकर वोट देना चाहिए। यह आवश्यक है कि जनता में लोकतन्त्र के महान मूल्य की चेतना जाग्रत हो, और बिखरे हुए मतदाताओं को समूहों में संगठित किया जाय और उनमें संस्थागत आचरण की क्षमता उत्पन्न की जाय। वयस्क मताधिकार भारत के लिए एक नयी चीज है। 1909 के मोर्लेमिंटो सुधारों, 1919 के मोंटेग्यू-चेम्सफर्ड सुधारों तथा 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के अनुसार मताधिकार बहुत सीमित था। 21 वर्ष तथा उससे अधिक आयु के लोगों को मताधिकार देकर लोकतन्त्र की दिशा में एक अत्यधिक प्रगतिशील कदम उठाया गया है। इस बात का बहुत भय है कि लोग इस अधिकार का दुरुपयोग करें। अतः इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि भारतीय समाज के सभी वर्गों में ऐसे बुद्धिजीवियों का प्रादुर्भाव हो जो मतदाताओं को उनके उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों के प्रति सचेत करें।

भारतीय निर्वाचकों को शिक्षित करने का अर्थ है कि 21 वर्ष की तथा उससे अधिक आयु की सम्पूर्ण जनता को शिक्षा दी जाय। इसकी पहली शर्त यह है कि निरक्षरता के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन चलाया जाय। मुहम्मद, अकबर तथा शिवाजी जैसे व्यक्तियों के लिए बिना साक्षर हुए चरम उत्कर्ष पर पहुँचना सम्भव था, किन्तु बहुसंख्यक जनता के लिए साक्षरता शिक्षा की अपरिहार्य शर्त है। भारतीय निर्वाचकों को शिक्षित बनाने की दूसरी शर्त यह है कि साक्षर जनता को राजनीतिक शिक्षा दी जाय। इसके लिए स्कूलों तथा कॉलेजों की शिक्षा पर्याप्त नहीं होगी। उसकी पूर्ति अन्य साधनों से करनी होगी। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि शिक्षा-संस्थाएँ जीवन से पृथक एकान्त स्थान है, वास्तव में वे समाज का ही अंग हैं। शिक्षा के प्रति इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का एक विशेष अर्थ है। वयस्क होने पर मनुष्य को परिवार तथा गाँव के प्राथमिक तथा सरल सम्बन्धों की दुनिया से निकलकर गौण सम्बन्धों के जटिल जगत में काम करना पड़ता है; उसके कार्यकलाप का क्षेत्र प्राथमिक सम्बन्धों तक सीमित नहीं रह सकता। शिक्षा का कार्य नागरिक को इस व्यापक जगत में समुचित भूमिका अदा करने के लिए तैयार करना है। नागरिक को निश्चित अवधि के उपरान्त महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय करने पड़ते हैं। उसे पंचायत, विधान सभा तथा संसद के सदस्यों का चुनाव करना पड़ता है। इसके लिए आवश्यक है कि उसे सही जानकारी उपलब्ध करायी जाय, और यह तभी सम्भव हो सकता है जब शिक्षा की प्रक्रिया सतत जारी रखी जाय।

भारतीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए हमें परिश्रमी नागरिक चाहिए। आवश्यकता इस

बात की है कि उनकी विविध राजनीतिक कार्यों में रुचि हो और उनमें इतनी चतुराई हो कि वे चुनाव के लिए खड़े होने वाले प्रत्याशियों के गुणों तथा दोषों की परख कर सकें। यह सत्य है कि एशियायी देशों के निर्वाचकों के व्यवहार में अस्थिरता देखने को मिलती है, फिर भी प्रगतिशील आन्दोलन की गुंजाइश है। भारत के कुछ राजनीतिक तथा प्रशासकीय क्षेत्रों में जो भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती तथा ओछापन व्याप्त है उसे देखते हुए एक बार पुनः प्लेटो तथा अरस्तू की भाँति यह कहना प्रासंगिक नहीं होगा कि हमें सद्गुणसम्पन्न नागरिकों की आवश्यकता है। आजकल यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि शिक्षा से भौतिक लाभ होता है, उससे व्यक्ति की कार्य-कुशलता बढ़ती है और कार्य-कुशलता से उत्पादन की क्षमता में वृद्धि होती है। शिक्षा निर्वाचकों में वार्तालाप की क्षमता उत्पन्न करती है; वे दलों के सदस्यों से भली प्रकार प्रश्न पूछ सकते हैं और विधायकों को समझा सकते हैं कि जनता के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए कार्यक्रम तैयार करना आवश्यक है। निर्वाचकों को इस बात की माँग करनी पड़ती है कि उन्हें काम दिया जाय, सामाजिक तथा आर्थिक अवसर की समानता प्रदान की जाय और शारीरिक शक्ति तथा संस्कृति के विकास की सुविधाएँ, तथा राजनीति में भाग लेने का अवसर दिया जाय। अन्तरराष्ट्रीय तनाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, और भारत में स्थानीय झगड़ों के अनेक क्षेत्र हैं। ऐसे अवसर पर आवश्यक है कि निर्वाचक विभिन्न राजनीतिक दलों के आदर्शों तथा कार्यविधि को भली भाँति समझें। विद्यमान व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के रूढ़िगत रवैये से काम नहीं चल सकता। इसके अतिरिक्त भारतीय निर्वाचकों में उदासीनता की भावना भी बड़ी प्रबल है। इस बात की आवश्यकता है कि उन्हें राजनीतिक कार्यकलाप में भाग लेने के लिए निरन्तर प्रोत्साहित किया जाय, और उनका पथ-प्रदर्शन किया जाय।

2. भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा के विषय : सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान तथा आचारनीति

मैं भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा के विषय के सम्बन्ध में कट्टर दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहता, फिर भी मेरा विचार है कि निर्वाचक के लिए भारतीय इतिहास की कुछ जानकारी आवश्यक है। उदाहरण के लिए हर निर्वाचक को जानना चाहिए कि पाकिस्तान का जन्म किस प्रकार हुआ। नागरिक शास्त्र, भारतीय संविधान तथा भारतीय लोकप्रशासन की जानकारी दूसरा महत्वपूर्ण विषय है। भारतीय अर्थशास्त्र और भूगोल का अत्यन्त प्राथमिक ज्ञान शिक्षा का अन्य आवश्यक विषय है। निर्वाचकों को मुद्रास्फीति, विदेशी ऋण, तथा देश की खाद्य स्थिति का भी ज्ञान होना चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान चौथा विषय है। यह सत्य है कि अन्तरराष्ट्रीय विधि तथा राजनीति के गम्भीर विद्यार्थी के लिए भी विश्व-राजनीति के निरन्तर बदलते हुए रूपों के सम्बन्ध में नवीनतम जानकारी रखना कठिन है, फिर भी निर्वाचकों को पाकिस्तान तथा अमेरिका के सैनिक गठबन्धन, साम्यवादी चीन के उत्कर्ष तथा मध्यपूर्व के तनाव के सम्बन्ध में कुछ जानकारी होनी चाहिए।

सामाजिक तथा ऐतिहासिक विज्ञानों की जानकारी के अतिरिक्त, शिक्षा में मनोविज्ञान का भी कुछ स्थान होना चाहिए। प्रान्तीयता, जाति तथा नस्ल के प्रश्नों ने सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र के मानसिक वातावरण को दूषित कर रखा है। अतः भावनात्मक (संवेगात्मक) विचारधाराओं की वृद्धि हो रही है, जिससे स्वतन्त्र मानसिक विकास में बाधा पड़ती है। देश में सर्वत्र संवेगात्मक महामारियाँ फैली हुई है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि निर्वाचकों के सामूहिक संवेगों से अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति को रोका जाय। सामुदायिक संकीर्णता तथा प्रान्तीयता के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का विनाश हो चुका है। देश के राजनीतिक जीवन में विघटनकारी विचारधाराओं ने प्रवेश कर लिया है, जो बहुत ही खतरनाक है। इससे राष्ट्रीय जीवन छिन्न-भिन्न ही नहीं हो रहा है बल्कि उसमें ऐसे नासूर उत्पन्न हो रहे हैं जो देश की स्वतन्त्रता को भी नष्ट कर सकते हैं। आम चुनाव से पहले तथा बाद में तीन-चार महीने देश का सार्वजनिक वातावरण स्नायविक तनाव, मानसिक ज्वर तथा संवेगात्मक अस्थिरता से व्याप्त रहता है। उन्मादपूर्ण प्रचार में संलग्न लोग सर्वत्र जहर उगला करते हैं। सांस्कृतिक नैतिकता तथा प्रतिमानों का ह्रास हो जाता है। जातियों, गुटों तथा प्रान्तों के आन्तरिक संघर्षों के लक्षण उभरकर ऊपर आ जाते हैं।

पिछले चुनावों के दौरान कुछ जातीय दंगों की लज्जास्पद घटनाएँ भी घटी हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि निर्वाचकगण देश की एकता के आदर्श पर दृढ़ रहें और झूठी देशभक्ति तथा संकीर्ण विचारधाराओं के शिकार न बनें। इन कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षा के द्वारा विघटनकारी विचारधाराओं का भंडाफोड़ किया जाय, उनके प्रच्छन्न भूल को उघाड़ा जाय और यह स्पष्ट किया जाय कि उनका सम्बन्ध दवाव समूहों, गुटों तथा देशद्रोही तत्वों के छिपे हुए स्वार्थों से है। उन आकर्षक प्रतीकों तथा नारों का बौद्धिक विश्लेषण करना है जो ठोस सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता को विकृत करते और छिपाते हैं। कुछ राजनीतिक दलों की विचारधाराएँ देश का विघटन करने वाली हैं। उनको देखते हुए यह अति आवश्यक है कि जनता में उन मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न की जाय जो भारतीय राष्ट्र की नींव को सुदृढ़ बनाने में सहायता दे सकें। समय की सर्वोच्च आवश्यकता इस भावनात्मक, नैतिक तथा सांस्कृतिक विघटन तथा ह्रास का प्रतीकार करना है। केवल बौद्धिक शिक्षा की प्रक्रिया के द्वारा ही स्वस्थ राजनीतिक जीवन के इस भयावह पतन को रोका जा सकता है। शक्तिसम्पन्न तथा संयमी निर्वाचकों की आवश्यकता है। हम निर्वाचकों को मनोवैज्ञानिक ढंग से पुनः शिक्षित करके ही इस योग्य बना सकते हैं कि वे संकीर्ण तथा हिंसात्मक विचारधाराओं के घातक प्रभाव से बचे रह सकें।

भारतीय नागरिक को कभी-कभी ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जो उसके मानसिक सन्तुलन को भंग कर देती हैं। यह कुसामंजस्य अनेक अन्तरसम्बद्ध कारणों का परिणाम है। देश ने अपने आर्थिक जीवन का विराट आयोजन आरम्भ कर दिया है। योजनाओं के निर्माताओं का दावा है कि उन्होंने जनता की आर्थिक सुविधाओं का विस्तार कर दिया है। किन्तु दूसरी ओर मुद्रास्फीति निरन्तर बढ़ती चली जा रही है। इसलिए निर्वाचकों के मन में एक विनाश की भावना ने घर कर लिया है। बुद्धजीवी, जिनकी चुनावों में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, सर्वहारा बन जाने के भय से त्रस्त रहते हैं। आर्थिक संकट जर्मन नात्सीवाद के उदय का एक बुनियादी कारण था। यह आवश्यक है कि निर्वाचकों को देश की आर्थिक नीति समझायी जाय। किन्तु मैं समझता हूँ कि जब तक चीजों के भाव गिरते नहीं तब तक उनके विश्वास की पुनः स्थापना करना सम्भव नहीं है।

कभी-कभी राजनीतिक दल ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देते हैं जिससे निर्वाचकों के मन में भाँति-भाँति के विकार और रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मतदाता देखते हैं कि अनेक समूह विश्व-शान्ति, अहिंसा और पंचशील आदि उच्च नैतिक तथा बौद्धिक मूल्यों की दुहाई देते हैं। दूसरी ओर वे ही समूह अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए हिंसा, भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी का सहारा लेते देखे जाते हैं। उनके आदर्शवाद तथा आचरण के बीच दिखायी देने वाली इस असंगति से निर्वाचकों के मन में तनाव उत्पन्न होता है, और वे यह निर्णय नहीं कर पाते कि किसको चुनें। बहुसंख्यक निर्वाचक निरक्षर होते हैं और आये दिन बढ़ती हुई मुद्रास्फीति पर आधारित प्रतियोगितामूलक अर्थतन्त्र के घातक प्रभाव के शिकार बने रहते हैं। अतः वे अपना संवेगात्मक सन्तुलन खो बैठते हैं। सामाजिक वास्तविकता उन्हें नितान्त अप्रिय प्रतीत होती है। ऐसी परिस्थिति मनस्ताप-ग्रस्त व्यक्तित्व को उत्पन्न करने के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है, और आधुनिक दल तथा दबाव-गुट भाँति-भाँति की तिकड़मों के द्वारा इस प्रकार के व्यक्तित्व से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। केवल ऐसी शिक्षा इस प्रकार के कुसामंजस्यों का प्रतीकार कर सकती है, जो सही मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक मूल्यों पर आधारित हो। ऐसी परिस्थितियों में आवश्यक हो जाता है कि समाज के नैतिक मूल्यों को बल प्रदान करने के लिए सामुदायिक जीवन को अधिक से अधिक प्रोत्साहित किया जाय। आर्थिक संकटों के समय में नैतिक मूल्यों पर बल देना और भी अधिक आवश्यक होता है। एक अन्य उद्देश्य भी महत्वपूर्ण है। अब तक हमारी सामाजिक व्यवस्था असमानता पर आधारित रही है। उसके अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तित्व का दमन होता है और उसके जीवन पर नाना प्रकार के अंकुश और प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। इसमें लोकतान्त्रिक व्यक्तित्व के स्वतन्त्र तथा स्वतःस्फूर्त विकास में बाधा पड़ती है। अतः भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा में हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी

ध्यान में रखना है। इसके लिए मनोवैज्ञानिक पुनर्शिक्षा की एक व्यापक योजना की आवश्यकता है। पाठशाला, राज्य तथा समाज को एक दूसरे से पृथक मानना सम्भव नहीं है। हर स्तर पर तथा हर क्षेत्र में व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहन देना है। लोगों में लोकतान्त्रिक मूल्यों के सम्बन्ध में एक सर्वव्यापी सामाजिक चेतना जाग्रत करने के लिए सांगोपांग मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। मतदान कोई छुटपुट तथा यांत्रिक क्रिया नहीं है, बल्कि वह हमारे राजनीतिक व्यक्तित्व का एक व्यक्त प्रतीक है।

भारतीय राजनीतिक जीवन के कुछ अन्य दोष भी हैं। प्रत्याशी तथा दल मतदाताओं को उपकरण मात्र समझते हैं। उनकी भक्ति लोकतन्त्र के थोथे नारों के प्रति है। उन्होंने अब तक मतदाता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सामना करना नहीं सीखा है। लोकतन्त्र के नैतिक मूल्यों को आत्मसात करना अत्यन्त आवश्यक है। मतदाता तथा प्रत्याशियों और दलों की मनोवृत्ति को रूपान्तरित करना है। कभी-कभी शासक दलों के कुछ वर्ग निरंकुशतापूर्ण और यहाँ तक कि क्रूर ढंग का आचरण करते हैं। इसलिए मतदाता को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उनमें शक्ति, गरिमा, स्फूर्ति तथा स्वावलम्बन की भावना का विकास हो। मतदाता लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत कोई गौण तथा अधीनस्थ वस्तु नहीं है, बल्कि वह एक नैतिक सत्ता है।

3. भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा के अभिकरण

मैंने भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा का एक बहुत ही आदर्शवादी कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया है। इनको पूरा करने के लिए विविध अभिकरणों के सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी। निर्वाचकों के निरक्षर वर्गों को साक्षर बनाने का प्राथमिक उत्तरदायित्व राज्य को ही वहन करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज आदि कुछ परोपकारी संस्थाएँ भी साक्षरता फैलाने के कार्य में सहायता कर सकती हैं। निर्वाचकों को राजनीतिक शिक्षा देना अन्य महत्वपूर्ण समस्या है। इस काम को राजनीतिक दल सार्वजानिक सभाओं, गोष्ठियों, अध्ययन शिविरों आदि के द्वारा कर सकते हैं। सरकार के लोक-सम्बन्ध विभाग तथा प्रचार एवं सूचना विभाग इस कार्य में योग दे सकते हैं। शिक्षा के लिए लिखित सामग्री तथा भाषण, दोनों ही साधनों का प्रयोग करना पड़ेगा। नियमित शिक्षा संस्थानों तथा संस्थाओं के अतिरिक्त रेडियो, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, पर्चों तथा सार्वजनिक सभाओं का भी प्रयोग किया जा सकता है। समय-समय पर विश्वविद्यालयों में राजनीतिक विषयों पर प्रसार व्याख्यानों का भी आयोजन किया जा सकता है। ऐसे भाषणों में साधारण जनता को भी जाने की छूट होनी चाहिए।

4. निष्कर्ष

भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा को सम्पूर्ण आयोजन का अंग नहीं बनाया जाना चाहिए, क्योंकि उससे उनका जीवन कठोर नियन्त्रण के शिकंजे में कस जायगा। किन्तु साथ ही साथ उसकी समस्याओं को अस्थायी उपायों के द्वारा भी हल नहीं किया जा सकता। हमें नियंत्रण तथा अभिक्रम के बीच समन्वय स्थापित करना है। शिक्षा को सामाजिक शक्तियों की गति के साथ-साथ चलना है। हमें उन लोगों से संघर्ष करना पड़ेगा जो शिक्षा पर समग्रवादी तथा एकाधिकारी ढंग का नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं। शिक्षा को राज्य के निर्देशन के अन्तर्गत एक साँचे में ढालने का प्रयत्न करना व्यक्तित्व का दमन करने वाली शक्तियों को निमंत्रण देना है। लोकतन्त्र में हमें स्वतन्त्रता, सत्य के निर्भीक समर्थन, अभिक्रम, सहयोग, तथा न्याय पर बल देना है। लोकतंत्र की सफलता के लिए एक दूसरे के सुख-सुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है। हमारे चुनावों के दौरान जो बर्बर तथा अराजकतावादी विघटनकारी शक्तियाँ उभड़ पड़ती हैं उनको रोकने का एकमात्र सफल उपाय समुचित शिक्षा है। इसके लिए हमें बालकों तथा किशोरों को, जो भावी निर्वाचक हैं, सही ढंग की तथा चतुराई के साथ शिक्षा देनी पड़ेगी। निर्वाचकों के चरित्र में प्रारम्भ से ही ऐसी आदतों का विकास करना होगा जो देश के सामाजिक तथा नैतिक विकास में योग दे सकें।

28

भारतीय समाज में संवेगात्मक एकीकरण

1. संवेगात्मक एकीकरण की धारणा

मनुष्य की मानसिक रचना में संवेग महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। किन्तु उनकी भूमिका तथा महत्व को सदैव समुचित रूप से नहीं समझा गया है। प्लेटो तथा अरस्तू स्वीकार करते थे कि मनुष्य की आत्मा में अवौद्धिक, वासनात्मक तथा तामसिक तत्व होते हैं, किन्तु उन्होंने दार्शनिक संज्ञान तथा वौद्धिक चिन्तन के पहलू को ही अधिक महत्व दिया। रिकार्डो तथा हेगेल ने भी बुद्धि को ही प्रधानता दी थी। किन्तु आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान तथा मानव-विज्ञान ने दर्शा दिया है कि वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में संवेगों की प्रचण्ड भूमिका होती है।[1] मैकडूगल, पेरेतो, दूर्खाइम, टार्ड, ली वौन, कूली, वालास, राट्सेनहोफेर, टॉमस तथा हेज ने भी मनुष्य के मानसिक जीवन के असंज्ञानात्मक पहलुओं पर ही अधिक वल दिया है। इसलिए उन सिद्धान्तों तथा उस कार्य-क्रम के सम्वन्ध में सन्देह होने लगा है जो इस उपयोगितवादी धारणा पर आधारित हैं कि मनुष्य अपने सव कार्यकलाप अपने सुख-दुःख की नाप-तौल को ध्यान में रखकर करता है।[2] मनुष्य के मान-सिक जीवन में संवेगों के भारी महत्व को हिन्दू मनोविज्ञान में भी स्वीकार किया गया है जैसा कि 'एषणा', 'भाव' और 'वासना' की धारणाओं से स्पष्ट है।

देकार्त, स्पिनोजा आदि का यह मत सही नहीं है कि संवेग अस्पष्ट और क्षीण विचार ही हैं।[3] और न जेम्स और लांगे के संवेग सम्वन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करना ही सम्भव है। मैकडू-गल की यह धारणा सही नहीं है कि संवेग मूलप्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया[4] के अंग होते हैं, क्योंकि आज का मनोविज्ञान यह नहीं मानता कि मनुष्य में सघन, जटिल, अपरिवर्तनीय और जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं। फ्रॉयड के अनुसार संवेग प्रारम्भिक जीवन के अनुभवों की पुनरानुभूति होते हैं।[5] फ्रॉयड के दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि उसने मनुष्य के प्रारम्भिक अनुभवों में विद्यमान सामाजिक तत्वों पर वल दिया है। यह सत्य है कि मनुष्य के मानसिक जीवन में संवेग नामक कोई पृथक विभाग नहीं होता। फिर भी यह एक तथ्य है कि वालक में संवेगों का बुद्धि से पहले उदय होता है। संवेगों का सम्वन्ध मनुष्य के भावनात्मक जीवन से होता है।

संवेग पूर्ण तभी हो सकते हैं जव उन्हें वाह्य कार्यों में व्यक्त किया जाय। कभी-कभी संवेग की केवल शारीरिक अभिव्यक्ति होती है। अनेक अवसरों पर संवेग प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं, उदाहरण के लिए भाषा, कला, धर्म, पौराणिक गाथाएँ, कविता, चित्रकारी आदि।

---

1 कुर्ट लैविन, *A Dynamic Theory of Personality* (न्यूयार्क, 1935)।
एच. एफ. डनवर, *Emotions and Bodily Changes* (न्यूयार्क, 1935)।
डब्ल्यू. एम. मार्स्टन, *Emotions of Normal People* (लन्दन, 1928)।

2 कार्ल मनहाइम, *Ideology and Utopia*, पृ. 108-10।

3 ई. कैसीरैर, *The Myth of the State*, पृ. 25-26 (येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1945)।

4 मैक कुर्डी, *The Psychology of Emotion*, पृ. 66.

5 वही।

संवेगात्मक एकीकरण की समस्या का निरपेक्ष रूप से विवेचन नहीं किया जा सकता। हमें संवेगों को परिवर्तनशील मानकर चलना पड़ेगा, और उनकी जटिल क्रिया को विविध सामाजिक तत्वों की पारस्परिक निर्भरता के सन्दर्भ में समझना होगा। संवेगात्मक एकीकरण की समस्या का वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही स्तरों पर विश्लेषण करना पड़ेगा। वस्तुतः समाज से पृथक व्यक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं होती और न पृथक समाज नाम की ही कोई सत्ता हो सकती है। वास्तव में समस्या सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की है। समाज ऐसे व्यक्तियों का जाल है जिनके बीच संचार के स्पष्ट साधन विद्यमान होते हैं। जब कुछ मानव प्राणी किन्हीं प्रवल प्रेरणाओं, मूल प्रवृत्तियों अथवा इच्छाओं का अनुभव करने लगते हैं तो उनकी अभिव्यक्ति सामाजिक स्तर पर भी होने लगती है। किन्तु यद्यपि सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक परिस्थिति को ही प्रत्ययात्मक उपकरण स्वीकार किया जाता है, फिर भी संवेगों का निवास-स्थान व्यक्तियों का मन ही होता है। एक ओर वस्तुगत शक्तियाँ तथा वातावरण होता है और दूसरी ओर मनुष्यों का संवेगात्मक व्यवहार। इन दोनों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है, वे एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त होते रहते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। संवेगों की अभिव्यक्ति के लिए गत्यात्मक उत्तेजना वातावरण से मिलती है, और दूसरी ओर संवेगों का संचित व्यापार वातावरण को बदल सकता है।

एकीकरण अथवा संघटन मनुष्य की संवेगात्मक स्थिरता के लिए आवश्यक है।[6] संवेगात्मक विघटन के अनेक कारण होते हैं। संवेगों के एकीकरण के लिए पुनः शिक्षित करने की सावधानीपूर्ण प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। उसके लिए यह भी आवश्यक हो सकता है कि पुनर्निर्मित मूल्यों को योजनाबद्ध तरीके से हृदयंगम किया जाय। संवेगात्मक एकीकरण की समस्याएँ सभी समाजों और सभ्यताओं में पायी जाती हैं।[7] हमारे देश तथा सभ्यता में आज अनेक अन्तर्विरोध देखने को मिलते हैं। हमारी कुछ समस्याएँ आधुनिक सभ्यता की भी आधारभूत समस्याएं हैं। उदाहरण के लिए केन्द्र तथा प्रादेशिक क्षेत्रों के बीच तालमेल, श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के हितों के बीच सामंजस्य, बेकारी की समस्या का समाधान, शिक्षा-सम्बन्धी विषमताओं का उन्मूलन इत्यादि। इन बड़ी अनसुलझी समस्याओं का संचित परिणाम यह होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में व्यवधान पड़ता है। इनके अतिरिक्त उद्योग तथा विज्ञान पर आधारित पाश्चात्य सभ्यता तथा सामाजिक अनुशासन पर आधारित भारतीय संस्कृति के बीच भयंकर संघर्ष भी संवेगात्मक विक्षोभ का एक मुख्य कारण है। पश्चिम तथा पूर्व के मूल्यों के बीच संघर्ष की सतत चेतना हमें राममोहन राय, दयानन्द, तिलक, अरविन्द और गान्धीजी की रचनाओं में देखने को मिलती है। इस बात पर बल देना आवश्यक है कि भारतीय समाज के संवेगात्मक सन्तुलन को विक्षुब्ध करने के विविध कारण हैं।

2. संवेगात्मक एकीकरण में राजनीतिक आधार

(क) **समस्याएँ**—इस देश के अगणित निवासियों को अभी तक यह अवसर नहीं मिला है कि वे अपने संवेगों को भारत के प्रति भक्ति और प्रेम के आधार पर संघटित कर सकते। भारतीयता अभी भी एक कल्पना मात्र है। यह सत्य है कि पिछले दो हजार वर्षों में भारत में एकता के कुछ व्यापक रूप रहे हैं। हिन्दुत्व ने धर्म तथा संस्कृति दोनों के रूप में भारत के करोड़ों निवासियों को संवेगात्मक एकता का आधार प्रदान किया था। किन्तु सम्पूर्ण देश में राजनीतिक एकीकरण का अभाव रहा है। अशोक, अलाउद्दीन, अकबर और औरंगजेब के समय में भारत नाम के भौगोलिक प्रदेश में अस्थायी राजनीतिक एकता भी स्थापित की गयी थी। किन्तु वह एकता राष्ट्रवाद की सच्ची भावनाओं से ओतप्रोत नहीं थी। वह अस्थायी राजनीतिक एकता थी और निरंकुशवाद के राजनीतिक स्वार्थ के लिए ऊपर से थोपी गयी थी। और उस समय जबकि परिवहन के साधन

---

6 डब्लू. एम. मार्स्टन, सी. डी. किंग और ई. एम. मार्स्टन, *Integrative Psychology* (लन्दन, 1951)।

7 फ्रांस में 1870 के फ्रांस-प्रुशिया युद्ध के उपरान्त संवेगात्मक एकीकरण की समस्याएं बड़ी तीव्र थीं। पुरातनवादी लोगों का मत था कि एकीकरण कैथोलिक तथा परम्परात्मक आधार पर किया जाय। इसके विपरीत प्रत्यक्षवादी राष्ट्रीय एकीकरण के लिए धर्मनिरपेक्ष आधारों के समर्थक थे।

आदिम प्रकार के और अविकसित थे, एकता की सशक्त और जीवन्त भावना का पनप सकना सम्भव भी नहीं था। अँग्रेज विद्वान तथा यन्त्रशास्त्र की शक्तियों का प्रयोग करके देश में लगभग एक सौ तीस वर्ष के लिए राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता थोपने में समर्थ रहे।

देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता की समस्या महत्वपूर्ण वन गयी है। वर्तमान भारतीय गणराज्य का लगभग $\frac{2}{5}$ भाग पहले भारतीय नरेशों के अधिकार में था। यद्यपि पहले के अविभक्त भारत का एक वड़ा क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया है, किन्तु उसमें कुछ नया प्रदेश भी सम्मिलित हुआ है। यह आवश्यक है कि भूतपूर्व ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के निवासियों में भारत के प्रति अनन्य भक्ति के रूप में निकटता तथा एकता की भावना का विकास हो।

ब्रिटिश युग में भारतीय प्रान्त केवल प्रशासनिक इकाइयाँ थे। उनका निर्माण प्रशासन और कभी-कभी प्रतिरक्षा की सुविधा की दृष्टि से किया गया था। 1935 में प्रान्तीय स्वायत्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करके प्रान्तीयता की भावनाओं को सन्तुष्ट करने का कुछ प्रयत्न किया गया। अव राज्यों को 1947 से पहले की तुलना में अधिक शक्तियाँ देकर प्रदेशवाद की भावना के साथ नयी रियायत की गयी है। एक प्रदेश की एक ही भाषा हो, इस विचार ने लोगों के संवेगों को वहुत कुछ प्रभावित किया। भारतीय राज्यों के पुनर्गठन में भाषा की कसौटी को आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस चीज की वहुत प्रशंसा की गयी है। यद्यपि भारत का सांविधानिक ढाँचा प्रमुखत: एकात्मक है, फिर भी कुछ भाषात्मक समूह भाषात्मक राज्यों पर गर्व कर सकते हैं, और साथ ही साथ वे इस विचार से अपने अहं की तुष्टि कर सकते हैं कि हमारा राज्य संघात्मक है। अयुक्तिसंगत प्रादेशिक विभाजन कभी-कभी राजनीतिक अव्यवस्था को जन्म दे सकते हैं। बंगाल के विभाजन का इतिहास एक जीता-जागता उदाहरण है। पिछले दिनों हमारे देश के कुछ भागों में जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ हुई हैं वे भी हमारे लिए शोभनीय नहीं हैं। वर्तमान व्यवस्था में भाषात्मक संकीर्णता के तीव्र हो जाने का खतरा और भी अधिक बढ़ गया है। अत: यह सम्भव है कि पारस्परिक सन्देह पर आधारित संकीर्णता का घातक चक्र चलता रहे और राष्ट्रवादी भावनाओं का ह्रास होता जाय।

आज हमें भारतीय राजनीति में दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। पहली केन्द्रीकरण तथा राजनीतिक एकीकरण की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के समर्थकों का कहना है कि भारतीय इतिहास में राजनीतिक विघटन के विनाशकारी परिणाम हुए हैं। वे भारत पर हुए उन अनेक आक्रमणों का उल्लेख करते हैं जो आठवीं शताव्दी ई. पू. में असुरों के समय से आरम्भ हुए थे। असुरों के उपरान्त मकदूनियाँ के यूनानी, वाख्मी के यूनानी, शक, हूण, मुसलमान तथा यूरोपीय आक्रमणकारी आये। इस दृष्टिकोण के समर्थकों को भय है कि कहीं भविष्य में भारत वालकन प्रायद्वीप की भाँति अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त न हो जाय। उनका आग्रह है कि देश को राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ वनाया जाय। अखिल भारतीय व्यापार तथा वाणिज्य के हितों के पोषक भी इस मत का समर्थन करते हैं। वे स्वतन्त्र बुद्धिजीवी जिनका किसी सामाजिक वर्ग से लगाव नहीं है, इस विचार के मुख्य प्रवर्तक हैं। वे भारत की राजनीतिक एकता और सांस्कृतिक सुदृढ़ता की धारणा के पोषक हैं। इसके विपरीत भाषात्मक तथा सांस्कृतिक प्रदेशवाद की भी प्रवृत्ति है। यह एक रोमानी प्रवृत्ति है जिसका लगाव स्थानीय भूमि, परम्पराओं तथा स्वतन्त्र प्रादेशिक होतव्यता की चेतना से है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग केन्द्रीकरण की वौद्धिक प्रवृत्ति का समर्थक है तो उसके विपरीत नगरों का मध्यवर्ग विशेषकर उस रोमांटिक प्रवृत्ति का शिकार है जो भाषात्मक मातृभूमि के चतुर्दिक संवेगों और भावनाओं का संघटन करने के पक्ष में है। यह वर्ग उस समय उत्तेजित होकर वोल उठता है जब वह देखता है कि भारत के अन्य भागों में भाषात्मक राज्य स्थापित किये जा चुके हैं। इसलिए हमें सीमा-सुधार की पुकार सुनने को मिलती है। अखिल भारतीय केन्द्र की पुकार दिल्ली की दूरी की प्रतीक है और भाषात्मक भूमि की रोमांटिक पुकार उन साक्षात वस्तुओं के प्रति लगाव और भक्ति के महत्व को व्यक्त करती है जिनसे व्यक्ति का दिन प्रतिदिन के जीवन में सम्पर्क होता है।

लोकतन्त्र की प्रगति के फलस्वरूप एक विचित्र मनोवैज्ञानिक-राजनीतिक दृश्य सामने आने लगता है। मैक्स शैलर ने इसे "संवेगों का लोकतन्त्र" कहा है।[8] भारतीय सन्दर्भ में हमें यह दृश्य देखने को मिलता है। जब तक ब्रिटिश शक्ति देश में काम करती रही तब तक विदेशी नौकरशाही मुख्य निर्णय करती रही, और जनता का काम केवल उन निर्णयों का अनुसरण करना था। अब संविधान ने वयस्क मताधिकार का मूल अधिकार प्रदान कर दिया है। इससे अनेक गम्भीर समस्याएँ सामने आ गयी हैं। औसत स्थिति के भारतीय को शक्ति का अभूतपूर्व साधन उपलब्ध हो गया है। अब उसे पता लग गया है कि जिन लोगों का वह अब तक निर्विवाद रूप से सम्मान करता आया था वे ही अब वोट के लिए उसका द्वार खटखटाते हैं। इसलिए अब सम्भव है कि राजनीतिक निर्णय सुरक्षित प्रासादों और कार्यालयों में न किये जाएँ बल्कि उनके सम्बन्ध में जनता के सामूहिक संवेग फूट पड़ें और समस्याओं का निबटारा सड़कों और गलियों में किया जाय। लोकतंत्र एक श्रेष्ठ आदर्श है, किन्तु उसके लिए प्रशिक्षण तथा विकास की लम्बी अवधि की आवश्यकता पड़ती है। जब तक जनता लोकतन्त्र की भावना को अपनी वृत्ति, कार्यों और व्यवहार में आत्मसात नहीं कर लेती तब तक इस प्रकार जनता के संवेगों में फूट पड़ने का भय बना रहेगा। एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील लोकतन्त्रों में यह एक महत्वपूर्ण समस्या है। इस स्थिति में जब अब तक के उपेक्षित और विस्मृत मनुष्य को शक्ति का नया स्रोत उपलब्ध हो गया है, यह सम्भव है कि वह अपने मत का प्रयोग किसी ऐसे गुट के पक्ष में करे जो उसकी तात्कालिक निराशा और क्रोध को किसी कल्पित शत्रु की ओर मोड़ सके।। यह आवश्यक है कि सामूहिक संवेगों के इस विस्फोट से लोकतान्त्रिक व्यवस्था की रक्षा की जाय।

(ख) **उपाय**—संकीर्णता के विघटनकारी प्रभावों का निराकरण करने के लिए आवश्यक है कि ऐसी नीतियाँ नियोजित की जायँ जिनसे लोगों के मन में एक अखिल भारतीय केन्द्र के प्रति भक्ति की प्रबल भावना उत्पन्न हो सके। ऊपर से थोपी गयी राजनीतिक एकता भी धीरे-धीरे एकीकृत करने वाली राष्ट्रीयता की भावना को विकसित कर देती है। बेलजियम की जनता कुछ वैलून और कुछ फ्लेमिश नस्ल की है, और विभिन्न भाषाएँ बोलती है किन्तु समय बीतने पर उसमें भी बेलजियमी राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो गयी है। अतः आशा की जा सकती है कि सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार के राजनीतिक सांविधानिक बन्धन कालान्तर में अखिल भारतीय भक्ति की भावना को उत्पन्न कर देंगे। आवश्यकता इस बात की है कि स्थानीय क्षेत्रों के स्थान पर सम्पूर्ण भारत को महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्यकलाप का केन्द्र-बिन्दु बनाया जाय, नहीं तो सम्भव है कि विघटनकारी तत्व सबल हो जायँ।

यद्यपि राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने वाले कुछ वस्तुगत तत्व होते हैं, जैसे नस्ल, भाषा, धर्म आदि की एकता—फिर भी सार्थक राष्ट्रीयता की नींव का निर्माण करने के लिए ऐसे सांस्कृतिक समाज की भावना का होना आवश्यक है जिसका निर्माण सामान्य स्मृतियों की साझेदारी के आधार पर हुआ हो। एक होने की मनोवैज्ञानिक भावना का होना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब राष्ट्र की आत्मा के साथ एकात्म्य की भावना हो। एक व्यापक तथा उदार अखिल भारतीय दृष्टिकोण की आवश्यकता है। यह अनिवार्य है कि सब देशवासी भारत को माता मानकर उस पर अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं को जाग्रत रूप से केन्द्रित करें। अखिल भारतीय राष्ट्रवाद की भावना के विकास में महान राष्ट्रीय शूरवीरों तथा शहीदों की स्मृतियाँ बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। जब स्थानीय तथा पक्षपातपूर्ण लगाव शक्तिशाली होने लगें तो उनका निराकरण करने के लिए महान वीरों के बलिदान तथा यातनाओं के सम्बन्ध में मनन और चिन्तन करना चाहिए। जब तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आधिपत्य रहा तब तक अखिल भारतीय राष्ट्रवाद की दिशा में स्वतः कुछ प्रगति होती रही, क्योंकि विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध घृणा निषेधात्मक रूप से उसका पोषण करती रही। किन्तु स्वराज्य की प्राप्ति के बाद विकेन्द्रीकरण की विघटनकारी शक्तियाँ सक्रिय हो उठी हैं। स्थानीय लगाव के जो बन्धन राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए ज्वार के कारण, अब तक

8 कार्ल मनहाइम, *Man and Society*, पृ. 45-46.

अस्थायी रूप से दबे पड़े थे वे अब पुनः शक्तिशाली हो गये हैं। अतः आवश्यकता है कि ऐसी भावनाओं का बौद्धिक रूप से पोषण किया जाय जो अखिल भारतीय स्तर पर लोगों को प्रभावित कर सकें। भारतीय इतिहास के हर युग में आधारभूत सांस्कृतिक एकता की भावना विद्यमान रही है। उस एकता की भावना पर बल दिया जाय। मैं ऐसी एकता का समर्थन नहीं करता जो विविधताओं को नष्ट करके ही पनप सके। विविधता में एकता होनी चाहिए। इसलिए स्थानीय संस्कृतियों, प्रादेशिक भाषाओं और समूह-भक्ति का भी पोषण करना होगा। किन्तु सावधानी इस बात की बरतनी है कि स्थानीय भक्ति केन्द्रीय एकता को दुर्बल न करने पाये। अंगों का विकास इस ढंग से होना चाहिए जिससे पूरा शरीर स्वस्थ हो। ऐसी सांस्कृतिक संकीर्णता और भावात्मक लगावों को प्रोत्साहन देना आत्मघाती होगा जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए जोखिम उत्पन्न हो जाय।

यह सम्भव है कि बाह्य जगत के तनाव विशेषकर हमारे निकट के पड़ोसियों के साथ सम्बन्धों का बिगड़ना राष्ट्रीय बन्धनों को मजबूत करने में सहायक हो सकें। किन्तु यह एक निषेधात्मक बात होगी, और अन्तरराष्ट्रवाद तथा विश्व बन्धुत्व की बढ़ती हुई भावना के सन्दर्भ में कल्याणकारी भी नहीं होगी। अतः विघटनकारी तत्वों और शक्तियों का निराकरण करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि राजनीतिक देवी अर्थात् भारतमाता की पूजा पर यत्नपूर्वक बल दिया जाय।

3. संवेगात्मक एकीकरण के आर्थिक आधार

(क) समस्याएँ—आर्थिक स्तर पर भी संवेगात्मक एकीकरण की समस्या महत्वपूर्ण है। हमारे कृषिप्रधान अर्थतन्त्र पर धीरे-धीरे गत्यात्मक और प्रसारशील औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था का क्रूर प्रभाव पड़ रहा है। निर्माणशालाओं तथा संयन्त्रों के विकास के फलस्वरूप नगरों तथा उनकी जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। बड़ी संख्या में लोग गाँवों को छोड़कर नगरों को जा रहे हैं जिससे जनता अपने मूल निवास-स्थानों से उखड़ रही है। यद्यपि जमींदारी का उन्मूलन हो गया है, किन्तु जमींदार शक्ति के नवीन क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा रहे हैं। वे उद्योगों तथा गृह-निर्माण सोसाइटियों में अपने पाँव जमा रहे हैं और पूँजीपतियों के वर्ग को शक्तिशाली बना रहे हैं। भारत के अनेक भागों में शोषणमूलक सामन्ती व्यवस्था के विनाशकारी प्रभाव पड़े हैं। इसके अतिरिक्त वुद्धिमान औद्योगिक पूँजीवाद ने समाज को ऐसे वर्गों में विभक्त कर दिया है जिनकी आय में एकदम गहरा अन्तर देखने को मिलता है। आर्थिक प्रसार की असमान गति ने देश में धनकुबेरों, सट्टेबाजों, साहूकारों, किरायाभोगियों आदि का एक शीर्षस्थ वर्ग उत्पन्न कर दिया है। उनके नीचे दरिद्र लोगों का विशाल जनसमूह है। पाश्चात्य सभ्यता के विकसित देशों में शोषकों तथा शोषितों के बीच सामाजिक दूरी इतनी अधिक नहीं है, क्योंकि उन दोनों के मध्य व्यवसायियों, सफेदपोश श्रमिकों, हिस्सेदारों (शेयरधारियों) तथा वेतनभोगियों का एक बड़ा दल उठ खड़ा हुआ है। भारत में भी एक मध्यवर्ग का विकास होता आया था। उसमें अधिकतर ब्रिटिश प्रशासन में काम करने वाले कर्मचारी सम्मिलित थे। किन्तु 1942 के बाद मुद्रास्फीति की तीव्र प्रवृत्तियों ने मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। आज मध्यवर्ग भारतीय जनता का सबसे अधिक असन्तुष्ट और संवेगात्मक दृष्टि से असन्तुलित वर्ग है। एक ओर तो वह चोटी के लोगों की समृद्धि और वैभव को देखकर चिढ़ता है और दूसरी ओर उसके सामने निरन्तर इस बात का भय खड़ा रहता है कि कहीं उसकी स्थिति सर्वहारा वर्ग की सी न हो जाय। मध्यवर्ग ब्रिटेन तथा अमेरिका के लोकतन्त्र का मेरुदण्ड रहा है। जो जनता दो स्पष्ट वर्गों में विभक्त होती है वह सत्तावाद के उदय के लिए स्वाभाविक पृष्ठभूमि हुआ करती है। ऐसा देश जिसका अर्थतन्त्र अविकसित, कृषि-प्रधान तथा औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हो और जिसमें शक्तिशाली मध्यवर्ग का अभाव हो, जैसा कि भारत में है, अधिनायकतन्त्र के विकास के लिए बहुत उपयुक्त होता है क्योंकि अधिनायकवाद जनता के क्रोध तथा निराशा को व्यक्त करने का मार्ग प्रदान करने के लिए आकर्षक प्रतीक, मिथ्या विश्वास तथा पड़ौसियों पर राजनीतिक आधिपत्य के अबौद्धिक नारे प्रस्तुत कर सकता है।

पूँजीवादी अर्थतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित होता है। यद्यपि प्रतियोगिता से निष्ठायुक्त व्यक्तित्व तथा स्वावलम्ब की भावना उत्पन्न होती है, किन्तु प्रतियोगितामूलक स्वार्थ की धुन भारी

संवेगात्मक तनाव पैदा करती है। प्रतियोगितामूलक अर्थव्यवस्था में मनुष्य को निरन्तर तथा तत्परता के साथ प्रयत्न करने पड़ते हैं जिससे तनाव तथा असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। उसका जो परिणाम होता है उसे कार्ल लाम्प्रेख्ट ने स्नायविक तनाव की भावना कहा है।

आधुनिक आर्थिक जीवन का एक बहुत ही दुःखद तत्व असाध्य बेकारी की समस्या है जो औद्योगिक तथा कृषिक दोनों ही क्षेत्रों में देखने को मिलती है। बेकारी से भयंकर आर्थिक तथा संवेगात्मक विघटन उत्पन्न होता है। आय के स्थिर साधनों के विलुप्त हो जाने से समस्त पारिवारिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उससे मनुष्य के आत्मसम्मान का ह्रास होता है और उससे आत्मग्लानि की भावना उत्पन्न होती है। जब वह वातावरण तथा वे वस्तुएँ सहसा विलुप्त हो जाती हैं जिनके चतुर्दिक कार्य के दौरान मनुष्य की संवेगात्मक व्यवस्था का संगठन होता है, तो मनुष्य के सब लगाव और सम्बन्ध भयंकर रूप से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कभी-कभी तो मनुष्य का सम्पूर्ण संवेगात्मक सन्तुलन ही लुप्त हो जाता है। बेकारी हमारे युवकों का भयंकरतम शत्रु है, और बेकारी के भय ने शिक्षित युवकों का जीवन बहुत ही दूभर कर दिया है। बेकार युवक एक दयनीय प्राणी होता है। जिस वेग से हमारी जनसंख्या बढ़ रही है उसको देखते हुए नये लोगों को काम देना दिन प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। जब तक लोगों के लिए समुचित काम की व्यवस्था नहीं होती तब तक हमारे युवकों में संवेगात्मक सन्तुलन उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

भारतीय अर्थतन्त्र प्रधानतः कृषिक तथा सामन्ती दौर से निकल कर प्रचार के गत्यात्मक चरण में प्रवेश कर रहा है। भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक विकास का असमान होना अनिवार्य है। यह सम्भव है कि विभिन्न प्रान्तों के आर्थिक विकास में अधिक अन्तर और विषमता होने से लोगों में निराशा उत्पन्न हो, और उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत विकसित क्षेत्रों के प्रति आक्रामक प्रवृत्ति के रूप में होने लगे। इससे अन्तरराज्यीय ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

आधुनिक भारतीय आर्थिक जीवन का एक अन्य मनोवैज्ञानिक पक्ष साधारण जनता के दिमागों का खाली होना है। खेतिहर मजदूर को वर्ष में अपेक्षाकृत कम समय काम करना पड़ता है। अकर्मण्यता तथा खालीपन संवेगात्मक विघटन को जन्म देते हैं। महात्मा गान्धी ने ग्रामीण जनता की बेकारी का कटु विरोध किया था, और उनका खादी का कार्यक्रम बहुसंख्यक जनता के ठलुआपन, बेकारी और खालीपन को दूर करने का ही उपाय था।

(ख) **उपाय**—आर्थिक विषमता तथा आर्थिक सुविधाओं का अभाव तनाव तथा निराशा को उत्पन्न करता है। संवेगात्मक एकीकरण को एक निरपेक्ष सूत्र के रूप में साक्षात्कृत नहीं किया जा सकता। जिन आर्थिक बुराइयों से संवेगात्मक असामंजस्य उत्पन्न होता है उन्हें दूर करना होगा। गत्यात्मक आर्थिक प्रसार के लिए भी यह आवश्यक है। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक साधनों का वितरण न्यायसंगत होना चाहिए। देश के विकास की समस्या के सम्बन्ध में क्षेत्रीय दृष्टिकोण से सोचना बुद्धिमानी नहीं है। यह दृश्य कितना भद्दा तथा अशोभनीय है कि लोग अपने-अपने प्रान्तों में शोध कारखानों अथवा अन्य औद्योगिक संस्थानों की स्थापना के लिए झगड़ा करते हैं। अपने आर्थिक जीवन तथा साधनों के नियोजन के सम्बन्ध में हम क्षेत्रों और स्थानों की दृष्टि से सोचने की स्थिति में नहीं हैं। समग्र देश की आवश्यकताएँ सर्वोपरि हैं। अन्त में हमें उसके समन्वित विकास के लिए प्रयत्न करना होगा। आर्थिक विकास का अवसर मिलने से जनता की सृजनात्मक शक्तियाँ मुक्त होंगी। फलतः लोगों की जो संवेगात्मक शक्तियाँ अब तक दबी पड़ी रही हैं उनका रचनात्मक राष्ट्रीय योजनाओं को पूरा करने के लिए प्रयोग किया जा सकेगा।

4. संवेगात्मक एकीकरण के समाजशास्त्रीय आधार

(क) **समस्याएँ**—पुराने मनोवैज्ञानिक सामाजिक विकास की समस्याओं का विश्लेषण व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों तथा मानसिक प्रेरकों के आधार पर किया करते थे। आधुनिक मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण ने संवेगों की उत्पत्ति के सामाजिक कारणों का उद्घाटन किया है। सामाजिक पंक्ति में लोगों की स्थिति की भिन्नता से भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जिन लोगों की

सामाजिक स्थिति अधिक ऊँची होती है उनमें अभिक्रम तथा बुद्धिसंगत निर्णय की क्षमता अधिक देखने को मिलती है, और इसके विपरीत निम्न स्तरों के लोग विनम्र समर्पण और आज्ञापालन के आदी होते हैं ।

भारतीय समाज अब तक अवयवी समाज रहा है और पुरानी लोकरीतियों तथा लोकाचार धार्मिक परम्पराओं और पौराणिक विश्वासों से बँधा रहा है । प्राचीन तथा मध्य युगों में देश पर अनेक आक्रमण हुए और राजवंशों में द्रुतगति से परिवर्तन हुए किन्तु उससे सामान्य जनता की जीवन प्रणाली में विशेष अन्तर नहीं पड़ा । किन्तु आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में नवीन मूल्यों का निर्माण हो रहा है । नगरों के निवासियों में व्यक्तिवाद की नवीन भावना का उदय हो रहा है । चूंकि नगरों में लोगों को आर्थिक प्रगति के अपेक्षाकृत अधिक अवसर और सुविधाएँ मिलती हैं, इससे अपने अधिकारों को जताने की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । नगरनिवासियों की यह बढ़ती हुई व्यक्तिवादी भावना अवयवी ग्रामीण समाज के लोकाचार के लिए निश्चय ही विघटनकारी सिद्ध होगी । नगरनिवासी का व्यक्तिवाद उसके विश्वास तथा आचरण का शताब्दियों पुरानी कसौटियों का उन्मूलन कर देता है । व्यक्तिवाद की नयी भावना नगरनिवासियों तथा उनके ग्रामवासी सम्बन्धियों के बीच फूट उत्पन्न कर देती है । यह भावना कभी-कभी नगरवासियों के लिए भी खतरनाक सिद्ध होती है । कभी-कभी यह भावना उस चीज को उत्पन्न कर देती है जिसे दूर्खाइम ने 'एनौमी' कहा है । 'एनौमी' आदर्शहीनता, एकाकीपन तथा पृथकत्व की भावना को कहते हैं । इस प्रकार की भावना मनुष्य में तब उत्पन्न होती है जब उसके वे बन्धन भिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिनके द्वारा वह समाज के साथ अवयवी रूप में मूलबद्ध होता है । आगामी वर्षों में बड़े नगरों की वृद्धि से सामाजिक सम्बन्ध कम से कम नगरनिवासियों के लिए तो निश्चय ही छिन्न-भिन्न होंगे ।

आधुनिक भारत में सामाजिक नियन्त्रण की परम्परागत व्यवस्था धीरे-धीरे क्षीण हो रही है, और इससे विघटन उत्पन्न हुआ है क्योंकि पुरानी व्यवस्था के स्थान पर सामूहिक नियन्त्रण और सामंजस्य की किसी नवीन व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ है । अतः इससे व्यक्तित्व का विघटन हुआ है ।

लोकतान्त्रिक राजनीतिक विचारधारा को अंगीकार कर लेने के फलस्वरूप सामाजिक तनाव और भी अधिक बढ़ेंगे । लोकतान्त्रिक राजनीतिक आदर्शवाद अभेदपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करता है । वह मानव प्राणियों की समानता पर आधारित होती है । इसके विपरीत जाति-व्यवस्था, जैसी कि वह आज प्रचलित है, सामाजिक दूरी और सामाजिक भाईचारे के अभाव पर कायम है । अस्पृश्यता के अभिशाप का बना रहना लोकतान्त्रिक आदर्शवाद का निषेध है । लोक-तान्त्रिक सिद्धान्तों को जितना ही अधिक कार्यान्वित किया जायगा उतना ही संवेगात्मक विक्षोभ अधिक उत्पन्न होगा । लोकतन्त्र की प्रगति के साथ-साथ उच्च सामाजिक वर्गों को अपनी श्रेष्ठमन्यता की प्रवृत्ति और सामाजिक अधिपत्य का प्रयोग करने की आदत का परित्याग करना पड़ेगा । यदि समानता को बलपूर्वक थोपने का प्रयत्न किया गया तो उच्च सामाजिक वर्गों का क्रोध और निराशा और भी अधिक तीव्र होगी । ये वर्ग अपने क्रोध, घृणा और प्रतिशोध की भावना को उस सरकार के विरुद्ध व्यक्त करने में असमर्थ होंगे जो समानता को लादने का प्रयत्न करेगी, अतः सम्भव है कि वे उन लोगों के प्रति भी उनकी अभिव्यक्ति करने लगें जिनकी मुक्ति का प्रयत्न किया जा रहा है ।

इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि नवीन मुक्त हुए वर्गों को संवेगात्मक सामंजस्य स्थापित करने की समस्या का सामना करना पड़े । वे एक विशेष प्रकार की व्यवहार पद्धति के अभ्यस्त हो चुके हैं । अब उन्हें नवीन प्रकार की अभिवृत्तियाँ अपनानी पड़ेंगी । नवीन अभिवृत्तियों के निर्माण में उन्हें एक प्रकार के संवेगात्मक तनाव की अनुभूति हो सकती है । पश्चिम में भी यह देखने में आया है कि जब गन्दी बस्तियों के निवासियों को नगरों के मकानों में स्थानान्तरित किया गया तो उन्हें गम्भीर संवेगात्मक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । कभी-कभी उन्हें कष्ट का अनुभव हुआ और उन्होंने वापस जाने की इच्छा प्रकट की । आज निम्न वर्गों में जो पुरानी पीढ़ियों के लोग हैं उन्होंने अपने जीवन भर अधीनता की आधारनीति को ईश्वरीय विधान माना है । अब

यदि उन्हें सहसा समानता की स्थिति में रख दिया जाय तो उन्हें गम्भीर संवेगात्मक तनाव का अनुभव होगा।

हम पहले उल्लेख कर आये हैं कि मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों के कारण मध्य वर्ग को निरन्तर इस बात का भय बना रहता है कि कहीं उसे सर्वहारा की पंक्ति में न सम्मिलित होना पड़े। मध्य वर्ग, विशेषकर निम्न मध्य वर्ग के विनाश की आशंका सदैव विद्यमान रहती है, और दूसरी ओर जो अब तक निम्न स्तर पर थे उनका उत्थान हो रहा है और वे समानता की स्थिति प्राप्त कर रहे हैं। यह बात स्वयं एक गम्भीर संवेगात्मक महत्व की समस्या है। भारतीय समाज का मध्य वर्ग गम्भीर संवेगात्मक तनाव और अस्थिरता की स्थिति में है। यह वह वर्ग है जो अपनी जाति खो बैठा है और आर्थिक बोझ से दबा जा रहा है। वह बड़ी व्यग्रता के साथ अपनी पुरानी प्रास्थिति और प्रतिष्ठा को बनाये रखने का प्रयास कर रहा है। वह चाहता है कि उसे जो सम्मान निम्न वर्गों से मिलता आया है वह कायम रहे। दूसरी ओर निम्न वर्ग एक चुनौती के साथ ऊपर उठ रहा है। यह बात मध्य वर्ग के लिए संवेगात्मक दृष्टि से भयंकर संकट उत्पन्न कर सकती है। उसका जर्जरित आत्मसम्मान बाह्य लक्ष्य के अभाव में अपनी ही ओर मुड़ सकता और उदासीनता का शिकार बन सकता है। यह भी सम्भव है कि वह उस अवस्था को प्राप्त हो जाय जिसे फ्रॉय-डरी भाषा में प्रतिगमन (रीग्रैशन) कहते हैं। जब कोई समूह संकट और तनाव के समय में अपने संवेगात्मक तनाव को सामान्य मार्गों से व्यक्त करने में असमर्थ होता है तो वह प्रतिगमन का शिकार बन जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी परिपक्वता की भावना क्षीण हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भयंकर असामंजस्य का लक्षण होता है।

(ख) **उपाय**—यह आवश्यक है कि समाजीकरण अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त किया जाय। इससे मनुष्य की वे शक्तियाँ मुक्त होंगी जो अन्यथा लाभहीन संघर्षों में नष्ट हो सकती हैं। अब तक भारतीय नागरिकों की भक्ति के केन्द्र छोटे-छोटे समूह एवं जातियाँ अथवा अधिक से अधिक प्रान्त रहे हैं। इससे समाज-विरोधी शक्तियों का जन्म होता है। व्यापक समाजीकरण के लिए आवश्यक है कि समूहों के बीच पारस्परिक प्रेरणा और अन्योन्य सम्पर्क हो। अखिल भारतीय महत्व की समस्याओं पर विचार-विनिमय की प्रक्रिया के द्वारा लोगों में पारस्परिक स्पर्धा और गुटगत झगड़ों के स्थान पर ऐसी प्रवृत्तियों को उत्पन्न करना सम्भव है जो सामाजिक मेल-मिलाप और सहयोग के अनुकूल हों। वृद्धिमान अन्योन्य सम्पर्क और पारस्परिक प्रेरणा के द्वारा भाषा, जाति आदि के भेद-भाव को दूर करना और सब भारतीय नागरिकों के प्रति सहानुभूति की भावनाओं को उद्दीप्त करना सम्भव हो सकता है। इस प्रकार साहचर्य की ऐसी भावनाएँ पुष्ट की जा सकती हैं जो अन्तरजातीय प्रतिस्पर्धा की वृद्धि रोकने में समर्थ हो सकें।

यह सामान्य अनुभव की बात है कि बच्चों में जातिगत शत्रुता नहीं होती। यदि परिवार, क्रीड़ास्थल, पड़ौस आदि प्राथमिक समूहों का पारस्परिकता और सहयोग की भावनाओं को विकसित करने के लिए प्रयोग किया जा सके तो सच्चे लोकतान्त्रिक व्यक्तित्व की सुदृढ़ नींव का निर्माण किया जा सकता है। इन प्राथमिक समूहों में उपयुक्त वातावरण का निर्माण करके अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के आदर्शों का परिवर्धन किया जा सकता है। इन प्राथमिक समूहों में भारत के प्रति भक्ति पर आधारित संवेगात्मक एकीकरण की भक्ति निर्मित की जा सकती है और उन्हीं के द्वारा जाति, भाषात्मक प्रदेश आदि की संकीर्णताएँ दूर की जा सकती हैं।

यह आशा की जाती है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ आर्थिक चलिष्णुता बढ़ेगी और वह अन्त में सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहित करेगी। अमेरिका में आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप ऐसे समाज का निर्माण करना सम्भव हो सका है जिसके संगठन का ढंग यूरोपीय समाज की परम्परात्मक प्रणाली से भिन्न है। भारत में भी निम्न वर्गों की आय में वृद्धि से उनके रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा नहीं होगा वल्कि उनका सामाजिक स्तर भी सुधरेगा। सामाजिक प्रास्थिति में प्रगति होने से विभिन्न जातियों के बीच अन्योन्य सम्पर्क बढ़ेगा और समानता की भावना उत्पन्न होगी।

5. संवेगात्मक एकीकरण के शैक्षिक तथा सांस्कृतिक आधार

(क) समस्याएँ—भारत का शिक्षित वर्ग, जिसे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा मिली है, भारी संवेगात्मक तनाव का शिकार रहा है। उस पर वैज्ञानिक भौतिकवाद और संशयवाद का विनाशकारी प्रभाव पड़ा है। उसे कृषिप्रधान धर्मबद्ध समाज के पुरातन प्रतिमानों और मूल्यों में आस्था नहीं रही है। सुकरात जैसे व्यक्ति के लिए मानसिक अशान्ति के बीच भी संवेगात्मक सन्तुलन बनाये रखना भले ही सम्भव हो सके। किन्तु जब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त औसत भारतीय पश्चिम की विभिन्न विस्मयकारी उपलब्धियों को देखता तथा उनके सम्बन्ध में पढ़ता है तो वह पग-पग पर अपने मूल्यों और व्यवस्था की आलोचना करने लगता है। कभी-कभी वह कुत्सित फ्रॉयडवाद को अपने निर्णयों की कसौटी मानने के प्रलोभन में फँस जाता है। भारत में पश्चिम के आदर्शों और व्यवस्थाओं को यथावत् स्थापित करना सम्भव नहीं है। हम कितने ही दुःसाहस के साथ अपने आर्थिक साधनों का नियोजन क्यों न करें, हम भारत में अमेरिका की प्रतिकृति कभी भी स्थापित नहीं कर सकते। किन्तु हमारे शिक्षित-वर्ग पश्चिम से बहुत अनुप्रेरित हैं। किन्तु साथ ही साथ उन्हें आध्यात्मिक संस्कृति के पुराने मूल्यों में भी पूर्ण विश्वास है। किसी व्यक्ति के लिए उन मूल आधारों और परम्पराओं से पूर्णतः ऊपर उठ जाना असम्भव है जिनमें वह जन्म लेता है। इसलिए पश्चिम के प्रति संवेगात्मक सराहना की भावना तथा जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के लिए प्रच्छन्न तथा अडिग आकांक्षा—इन दोनों के बीच एक गहरा संवेगात्मक तनाव उत्पन्न हो गया है। जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर का रंग नहीं बदल सकता वैसे ही वह अपनी सांस्कृतिक विरासत से पूर्णतः मुक्ति नहीं पा सकता। अतः शिक्षित भारतीयों के मन में पूर्वात्य दर्शन के प्रत्ययों और आदर्शों तथा पश्चिम के आदर्शों, कार्यप्रणाली तथा सामाजिक व्यवस्था के बीच निरन्तर संघर्ष चला करता है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप मनुष्य की विभिन्न शक्तियों का विकास असन्तुलित हो गया है। उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा को विशेष उत्तेजना मिली है, किन्तु उसी अनुपात में उसकी नैतिक अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं हुआ है। मनुष्य अपने को कलात्मक प्रतिभा की नवीनतम कृतियों से विभूषित कर सकता है और अधिकाधिक वेगवान परिवहन साधनों में बैठकर उड़ान भर सकता है, किन्तु नैतिक तथा मानवीय क्षेत्र में उसकी संकीर्णता आश्चर्यजनक तथा हृदय को आघात पहुँचाने वाली है।

मनुष्य को संवेगात्मक एकीकरण के लिए प्रशिक्षित करने की दृष्टि से हमारी माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा अत्यन्त दोषपूर्ण है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए उन पर कुछ दबाव और निषेध लागू करता है। इससे उनमें मनोविकार उत्पन्न होते हैं। उचित शिक्षा-प्रणाली का काम यह है कि वह मनुष्य के कार्यक्षेत्रों की गहराई से जाँच करके दबाव और निषेधों से उत्पन्न मनोविकारों का पता लगाये। उनकी उपेक्षा करने तथा उनके विषय में बात न करने से काम नहीं चल सकता। शिक्षा को उन रोगों का उपचार करना है जो दमित कुण्ठाओं के कारण उत्पन्न होते हैं।

कभी-कभी समाचारपत्र तथा गैरजिम्मेदार प्रेस अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचार किया करते हैं जिससे विभिन्न समूहों के सदस्यों के संवेगात्मक एकीकरण में बाधा पड़ती है। प्रेस वैज्ञानिक साक्ष्य का सहारा न लेकर प्रायः लोगों के संवेगों को भड़काने के लिए शुद्ध मौखिक तथा मिथ्या प्रमाणों के आधार पर प्रचार किया करता है। किन्तु नागरिक इन झूठे प्रमाणों में विश्वास कर लेते हैं, विशेषकर यदि वे उनकी मूल-प्रवृत्तियों और भावनाओं के अनुरूप होते हैं।

आज भारतीय समाज के अनेक क्षेत्र और अनुभाग ऐसे हैं जिनमें संवेगात्मक विक्षोभ की सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं। जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है।[9] आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ बढ़ रही हैं, किन्तु सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएँ और अवसर सीमित हैं। ऐसे समय में सम्भव है कि नागरिक उस चीज के शिकार हो जायँ जिसे ग्राहम वालास ने 'हतोत्साहित चित्तवृत्तियाँ' नाम

---

9 ग्राहम वालास, *The Great Society*, पृ. 65-66।

दिया है।[10] व्यापक संवेगात्मक असन्तोष स्वपीड़नरति की प्रवृत्तियों को जन्म दे सकता हैं, और कभी-कभी यदि कोई बलि का बकरा मिल गया तो उसके प्रति क्रूरतापूर्ण आक्रामकता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। सचेत तथा सावधान राजनीतिज्ञ इन विक्षोभों का सफाई से प्रयोग कर सकते हैं। वे जनता की प्रतिशोध-भावना को उस बलि के बकरे की ओर मोड़कर अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार वे अपनी विफलताओं के लिए निन्दित होने से बचने का मार्ग ढूंढ़ निकालने में सफल हो सकते हैं। जर्मनी में यहूदी-विरोधी प्रचार से जो भयावह विनाश हुआ उससे स्पष्ट है कि आर्थिक विपदाओं की स्थिति में कोई दल जनता के क्षुब्ध संवेगात्मक तनावों को एक सुविधा-जनक बलि के बकरे की ओर सरलता से मोड़ सकता है।[10] फ्रॉयड का कहना है कि शान्ति की सामान्य परिस्थितियों में लोगों में सहानुभूति की भावनाएं देखने को मिलती हैं, और वे समाज के सदस्यों के साथ एकात्म्य स्थापित करने का भी प्रयत्न करते हैं। किन्तु संकट के दौरान, उदाहरण के लिए युद्ध-काल में, चारित्रिक पतन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है और फलस्वरूप लोग अपने अधिकारों और स्वार्थों को अधिक महत्व देने लगते हैं तथा साथियों के साथ एकात्म्य की भावना का परित्याग करने लगते हैं।

(ख) **उपाय**—संवेगात्मक असामंजस्य और विक्षोभ की इन समस्याओं का समाधान करने के लिए ऐसा शिक्षा-व्यवस्था की स्थापना करना आवश्यक है जो लोगों को शक्तियों के उदात्तीकरण का सफल मार्ग दिखला सके। हमने पहले भारतीय नागरिकों के संवेगात्मक एकीकरण के तीन मुख्य उपाय बताये हैं—(1) अखिल भारतीय राष्ट्रवाद पर बल देना, (2) गतिशील प्रसारशील आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना, और (3) सामाजिक मेल-मिलाप। किन्तु साथ ही साथ शैक्षिक स्तर पर भी संवेगात्मक एकीकरण के उपाय करने होंगे। शिक्षा को कट्टरतापूर्ण-सत्तावादी वातावरण से मुक्त करना होगा। इसके अतिरिक्त उसे इस ढंग से व्यवस्थित करना पड़ेगा जिससे वह विद्यार्थी वर्ग की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो सके। यह आवश्यक है कि भारतीय विद्यार्थी को सहयोग, परोपकार, पारस्परिक सहायता तथा भाईचारे के मूल्यों की शिक्षा दी जाय।

आधुनिक भारत में जिस सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया जा रहा है वह अवयवी और समन्वयात्मक होनी चाहिए। हम गुप्त युग के बाद के भारत की गतिहीन, कृषिप्रधान, पुरातनपन्थी, अर्धसामन्ती सभ्यता को पुनर्जीवित नहीं कर सकते। वह तो शव को पुनर्जीवित करने का भद्दा-भौंडा प्रयत्न होगा। मुगल भारत को भी लौटा कर नहीं लाया जा सकता। किन्तु प्राचीन भारतीय दर्शनों के मूल्यात्मक तत्वों को बनाये रखना आवश्यक है। हमें उत्पादन का प्रसार करने के लिए पश्चिम की पद्धतियों को अपनाना पड़ेगा, क्योंकि गत्यात्मक प्रसारशील अर्थव्यवस्था के बिना देश की विकट समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। सांस्कृतिक क्षेत्र में मैं विश्व-राज्यवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद का समर्थक हूँ। पूर्व अथवा पश्चिम, उत्तर अथवा दक्षिण की भाषा में बात करना भ्रान्तिमूलक है। म उस समय की कल्पना करता हूँ जब 'एक विश्व' का आदर्श साक्षात्कृत हो सकेगा और लोगों के मन में दार्शनिक तथा वैज्ञानिक मानववाद की आधारभूत धारणाओं के प्रति श्रद्धा होगी। संस्कृत के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण समन्वयात्मक और व्यापक होना चाहिए। इसलिए हमें पूर्व तथा पश्चिम को परस्पर विरोधी न मानकर विश्व-नागरिकता की तयारी करनी पड़ेगी। उस दिशा में प्रथम कदम के रूप में हम भारत में ऐसी संस्कृति की नींव डाल सकते हैं जिसमें पूर्व के नैतिक आदर्शवाद और पश्चिम के सामाजिक समानतावाद का समन्वय हो। मैं उस पश्चिम का समर्थन नहीं करता जो साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद और आर्थिक आक्रामकता का पोषक है। मुझे संत फ्रान्सिस, न्यूटन और अलबर्ट स्वायट्जर के पश्चिम से प्रेम है। हमें उस पश्चिम की सराहना करनी चाहिए जिसने अलंघनीय प्राकृतिक अधिकारों तथा मानव व्यक्तित्व की

10 देखिये एच. डी. लासवेल, "The Psychology of Hitlerism as a Response of the Lower Middle Classes to Continuing Insecurity," *The Analysis of Political Behaviour* पृ. 234-45।

नैतिक स्वायत्तता का समर्थन किया है और ब्रह्माण्ड के रहस्यों का उद्घाटन करने के हेतु आत्मा के अबाध साहसिक कर्मों को प्रोत्साहन दिया है। राष्ट्र के प्रति भक्ति में हमें इतना अन्धा नहीं हो जाना चाहिए कि हम पाश्चात्य सभ्यता के प्रमुख पहलुओं के मूल्य को न समझ सकें।

विद्यार्थियों को स्वतन्त्रता के वातावरण में शिक्षा देने के कार्यक्रम के साथ-साथ हमें भारतीय वयस्कों को पुनः शिक्षित करने का कार्यक्रम भी चलाना पड़ेगा। पुनर्शिक्षण की प्रक्रिया से व्यक्तित्व का अवरुद्ध विकास सुधारा जा सकेगा। इस सम्बन्ध में नवीनीकरण की मनोवैज्ञानिक कार्यप्रणाली को भी अपनाया जा सकता है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान में नवीनीकरण का अर्थ है : बाल्यकाल में पड़ी हुई बुरी आदतों को दूर करके नवीन आदतों को उत्पन्न करना।

भारतीयों का संवेगात्मक एकीकरण अव्यवस्थित ढंग से नहीं किया जा सकता। इसके लिए हमें सामूहिक उद्देश्यों की सावधानी के साथ पुनर्व्याख्या करनी पड़ेगी। अब तक जाति, जनजाति, प्रदेश आदि के तत्व रहे हैं जिनके चतुर्दिक लोग अपनी इच्छाओं को केन्द्रित करते आये हैं। अब उनके स्थान पर राष्ट्र को प्रतिष्ठित करना है। उसके लिए हमें कुछ सीमा तक मूल्यों का पुनः निर्माण करना होगा। इससे बहुसंख्यक जनता की प्रच्छन्न शक्तियों और योग्यताओं का विमोचन होगा। आज सांस्कृतिक शिक्षा भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता है। हर व्यक्ति को संस्कृति का तथा मानव-जाति की संचित विरासत का उपभोग करने का अधिकार है। सांस्कृतिक शिक्षा से लोगों में इस बात की योग्यता उत्पन्न होगी कि वे साहित्य, कला, आचारनीति और मानवविद्याओं के क्षेत्र में इस देश की जो अगणित कृतियाँ हैं उनकी सराहना कर सकें। इससे अबौद्धिक मानसिक शक्तियों की अभिव्यक्ति का मार्ग मिलेगा और उदात्तीकरण की प्रक्रिया को बल प्राप्त होगा।

जनता के पास जैविक शक्ति का अपरिमित फालतू भण्डार है। यदि उसका प्रयोग न किया गया तो उसका ह्रास अवश्यम्भावी है। इसलिए उसका प्रयोग विविध प्रकार के सृजनात्मक कार्यों में किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि नागरिकों की सृजनात्मक शक्तियाँ और क्षमताएँ मुक्त हों जिससे वे सामूहिक अनुभवों में भागीदार बन सकें। विभिन्न अल्पसंख्यक समूह तब तक सम्पूर्ण देश के कल्याण का परिवर्धन करने वाले अनुभवों में भागीदार नहीं बन सकते जब तक वे विरोधी तत्वों के रूप में पृथक बने रहते हैं। भक्ति के वस्तुगत केन्द्र की दृष्टि से उनके अनुभव खण्डित ही बने रहेंगे। यह आवश्यक है कि नागरिकों के मनोवेगों को इस प्रकार संचालित किया जाय जिससे उनमें भारत माता के प्रति प्रेम की प्रमुख भावना जाग्रत हो सके। इससे हमारे उद्देश्यों का पुनर्निर्माण होगा और मूल्यों की नवीन व्याख्या होगी। किन्तु इससे नागरिकों पर भारी उत्तरदायित्व आ जाता है।[11] भारत में लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है जब उनमें आध्यात्मिक भ्रातृत्व की भावना विकसित हो। निम्न से निम्न और अकिंचन से अकिंचन देशवासियों का भाइयों की भाँति आलिंगन किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र की सफलता के लिए सब नागरिकों के बुद्धिमत्तापूर्ण सहयोग की आवश्यकता होती है; किसी एक व्यक्ति के भी योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यापक अर्थ में लोकतन्त्र का उद्देश्य है कि हीन से हीन और तुच्छ से तुच्छ नागरिकों के नैतिक व्यक्तित्व और राजनीतिक आकार का परिवर्धन किया जाय। सांस्कृतिक मुक्ति के इस कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश के जो वर्ग अब तक पददलित रहे हैं उनकी सृजनात्मक शक्तियों के प्रस्फुटन के लिए मिलकर प्रयत्न किया जाय।

6. एकीकरण के लिए धर्म का महत्व

धर्म सामाजिक एकीकरण और नियन्त्रण का एक सबसे महत्वपूर्ण साधन रहा है। मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए धर्म का गम्भीर संवेगात्मक महत्व है। धर्म ने उच्चतर प्राणियों और शक्तियों के

---

11 अर्नेस्ट बार्कर ने अपनी पुस्तक *Reflections on Government* में लोकतन्त्र के संवेगात्मक लाभों की विवेचना की है। उन्होंने तीन लाभ बतलाये हैं : (1) लोकतन्त्र के अन्तर्गत नेतृत्व का परित्याग किये बिना व्यक्तित्ववाद को कम करना सम्भव हो सकता है। (2) लोकतन्त्र में किसी एक सर्वोच्च समूह के प्रति भक्ति के स्थान पर सहयोगी समूह-भ्रातृत्व की भावना का विकास किया जा सकता है। (3) लोकतन्त्र प्रचार की शक्ति को नियन्त्रित करता है।

साथ एकात्मता स्थापित करने का मार्ग प्रदान किया है, और इससे मनुष्य मृत्यु के भयंकर मानसिक भय से मुक्ति पा सकता है। धर्म मृत्यु को अमरत्व का द्वार मानता है, और इस प्रकार वह मृत्यु की बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। धर्म के संघटनवादी बन्धनों के छिन्न-भिन्न होने से भयंकर संवेगात्मक असन्तुलन उत्पन्न हुआ है। पहले मनुष्य को ईश्वर में विश्वास था, इसलिए उसे अवश्यम्भावी मृत्यु की चिन्ता से कुछ शान्ति मिल जाती थी और वह भयंकर मानसिक यातना से बच जाता था। किन्तु अब मृत्यु एक स्थायी भय का कारण बन गयी है। अब मनुष्य के लिए उस समग्रता की भावना का अनुभव करना असम्भव है जो एक आध्यात्मिक समाज में साझेदारी की भावना से उत्पन्न होती थी।

हम कुछ नवीन प्रतीकों और नवीन मूल्यों की स्थापना करके समग्रता की भावना का अनुभव करने का प्रयत्न कर रहे हैं। समाजवाद एक ऐसा ही प्रतीक है, क्योंकि वह समृद्धि, आर्थिक समानता और प्रचुरता का प्रतीक है जिसके आगमन से दरिद्रता से उत्पन्न विघ्न और विक्षोभ समाप्त हो जायेंगे। राष्ट्रवाद इसी प्रकार का एक अन्य प्रतीक है। राष्ट्रवाद उस सीमा तक तो प्रशंसनीय है जहाँ तक वह स्थानीयता, जातिवाद, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता से ऊपर उठने में हमारी सहायता करता है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि राष्ट्रवाद विकृत होकर अहंकार-मूलक फासीवाद और आक्रामक साम्राज्यवाद का रूप न धारण कर ले। इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रवाद का मानववाद से सम्बन्ध न टूटने पाये। आधुनिक जगत ने निष्ठा और गम्भीरता के साथ ईश्वर की पूजा करना छोड़ दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को प्रतिष्ठा और पवित्रता के उच्च आसन पर बिठलाया जाय, अन्यथा इस बात का डर है कि मनुष्य ईश्वर के स्थान पर सम्पत्ति तथा अहं की पूजा करने लगेगा। मानववाद राष्ट्रवाद को विकृत होने तथा राष्ट्रीय अहंवाद का रूप धारण करने से रोक सकता है। इस प्रकार श्रेष्ठ राष्ट्र अथवा समूह की पूजा करने की प्रवृत्ति से बचना सम्भव हो सकता है।

किन्तु मानववाद की विजय के लिए मनुष्य की नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक पुनर्रचना करनी पड़ेगी। हमें मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों, मूल-प्रवृत्तियों, मनोवेगों और संवेगों को ही भली भाँति नहीं समझना है वल्कि सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करना होगा। इसका अर्थ है कि शान्ति, एकता, परोपकार और भ्रातृत्व के मूल्यों को आत्मसात करके मनुष्य के व्यक्तित्व का पुनः निर्माण और संगठन किया जाय। मनुष्य का संवेगात्मक एकीकरण तब तक सम्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को गत्यात्मक पुनर्रचना की दिशा में उन्मुख न कर दिया जाय। राष्ट्रवाद अच्छा है, समाजवादी ढंग के समाज का आदर्श सराहनीय है और सामाजिक समानता की धारणा श्रेष्ठ है। किन्तु इन मूल्यों को समुचित रूप से और स्थायी आधार पर तब तक साक्षात्कृत नहीं किया जा सकता जब तक धार्मिक एकता के मूल्यों को हृदयंगम न कर लिया जाय। धर्म मूल्यों के तत्वज्ञान को साक्षात्कृत करता है। उसका आग्रह है कि हमें आत्म-प्रसार की दृष्टि से अनुशासन को अंगीकार करना चाहिए। मैं पुरोहितवाद के पुनरुत्थान का समर्थक नहीं हूँ। किन्तु मैं आध्यात्मिक मूल्यों का पुनरुद्धार करना चाहता हूँ। उन्हीं के द्वारा हमारे बीच विचारों और आदर्शों की एकता स्थापित हो सकती है। इस बात की आवश्यकता है कि हम कुछ ऐसे आधारभूत मूल्यों के सम्बन्ध में एकमत हों जिनके आधार पर हम संकट और तनाव के समय में लोगों का पथप्रदर्शन कर सकें। मानव व्यक्ति की अर्हा और स्वायत्तता में आस्था लोकतन्त्र का सबसे बड़ा सहारा है। वह हर प्रकार के समग्रवादी (अधिनायकवादी) संकटों का सामना करने का एकमात्र शस्त्र है। हमें कुछ महत्वपूर्ण मूल्यों के आधार पर ऐसे क्षेत्रों की खोज करनी चाहिए जिनमें सर्वसम्मति प्राप्त की जा सके और फिर उन क्षेत्रों को प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। अब तक धर्म ऐसा क्षेत्र था जिसके आधार पर मतैक्य स्थापित किया जा सकता था। किन्तु वहुधा लोगों ने पथगत साम्प्रदायिकता का अपने स्वार्थों के लिए अनुचित प्रयोग किया है। मैं परम्परावाद और धर्मशास्त्रों की पवित्रता का समर्थक नहीं हूँ। मैं श्रद्धा और जीवन की गरिमा के सम्बन्ध में धार्मिक भावना का पुनरुत्थान करना चाहता हूँ। धर्म मानव जीवन की

पवित्रता, श्रेष्ठता और अर्हा पर बल देता है। हमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक एकीकरण के लिए भी कुछ धार्मिक मूल्यों की आवश्यकता है। अब तक धर्म ने सामाजिक एकता के क्षेत्र में प्रचण्ड शक्ति का काम किया है।[12] यह सत्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विश्लेपण और शोध के द्वारा संवेगात्मक एकीकरण के लिए कुछ निर्देश देते हैं। किन्तु आधुनिक सामाजिक विज्ञानों ने मनुष्य के संवेगात्मक एकीकरण की जो कार्यप्रणालियाँ और पद्धतियाँ प्रस्तुत की हैं उनको अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए नैतिक और धार्मिक मूल्यों की आवश्यकता है। किसी प्रकार के नैतिक और धार्मिक व्यक्तित्ववाद के द्वारा ही गत्यात्मक रूपान्तर और समन्वयात्मक एकीकरण सम्भव हो सकता है।[13]

---

12 गार्डीनर, *In the Minds of Men* (न्यूयार्क, 1953)।

13 आधुनिक सामाजिक विद्वानों ने मानव व्यक्तित्व के सन्तुलित संघटन के लिए जो कार्यविधियाँ और प्रक्रियाएँ विकसित की हैं उनका, जहाँ तक वे हमारा काम दे सकें, प्रयोग करना चाहिए। किन्तु कभी-कभी यह भी आवश्यक हो सकता है कि उनकी कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति पर बल देना पड़े।

29

भारतीय लोक प्रशासन में सत्यनिष्ठा

1. सत्यनिष्ठा की धारणा

अन्य सभी सामाजिक कार्यों की भाँति लोक प्रशासन के लिए भी आवश्यक है कि वह कुछ प्रमुख नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हो ।[1] जैसे न्याय, समानता, निष्पक्षता आदि मूल्यों को साक्षात्कृत करना होता है । यदि प्रशासन का उद्देश्य केवल शान्ति और व्यवस्था, कार्य-कुशलता, अधिकाधिक उत्पादन, शक्ति में व्यापक साझेदारी, कम से कम व्यय और अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने तक ही सीमित मान लिया जाय तो लोक प्रशासन की अपेक्षाकृत स्थायी व्यवस्था का निर्माण करना असम्भव होगा । ये औपचारिक उद्देश्य[2] अत्यन्त आवश्यक हैं, किन्तु इनके साथ अधिक तात्विक उद्देश्य भी संयुक्त होने चाहिए, जैसे सार्वजनिक कल्याण की प्राप्ति, सामाजिक सामंजस्य, मनुष्य के नैतिक चरित्र का विकास तथा सामान्य प्रगति और उन्नति को साक्षात्कृत करना । लोक सेवा के क्षेत्र में सत्यनिष्ठा का व्यापक अर्थ है ।[3] हमें उसे नैतिक तथा संस्थागत दोनों ही अर्थों में समझना है । लोक प्रशासन का कार्य-क्षेत्र सामाजिक होता है ।[4] इसलिए ऐसा कोई काम 'राज्य की आवश्यकता' के नाम पर कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता जिससे मनुष्य की मनुष्यता का अपकर्ष होता हो । अत्यधिक संकट की परिस्थितियाँ अवश्य इसका अपवाद मानी जा सकती हैं । यदि राज्य के अस्तित्व के लिए ही खतरा हो तो ऐसे आचरण को उचित माना जा सकता है जिसका मानवीय आचारनीति के आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकता । अतः सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में भी उन नैतिक गुणों की आवश्यकता होती है जो मनुष्य की पूर्णता के लिए आवश्यक होते हैं ।

लगभग एक हजार वर्ष की विभिन्न प्रकार की पराधीनता तथा निराशाओं के बाद भारत स्वतन्त्र हुआ है । लोकतन्त्र तथा समाजवाद के आदर्शों का जनता के लिए तब तक कोई अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि सामाजिक तथा राजनीतिक नेता जनता की अपनी अधिकतम योग्यता के अनुसार सेवा नहीं करते । यह आवश्यक है कि भारत की लोक प्रशासन व्यवस्था देश की नैतिक

---

1 बेन ए. आर. लेज, 'Ethics and Administrative Discretion', *Public Administration Review*, जिल्द 3, 1943, पृ. 10-23, अर्नेस्ट फ्रॉयड, *Administrative Powers over Persons and Property* (शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1928); अरस्तू, *Politics*, Book VI.

2 एम. पी. फौलेट, *Dynamic Administration* ; लूथर गुलिक तथा एल. उर्विक, *Papers on the Science of Administration* (1937), *Report of Roosevelt's Committee on Administrative Management.*

3 फिलिप मोनीपेनी, 'A Code of Ethics as a Means of Controlling Administrative Conduct', *Public Administration Review* (1953), पृ. 184-87 ।

4 फ्रिट्ज एम. मार्क्स, 'Administrative Ethics and the Rule of Law', *American Political Science Review*, 1949, जिल्द 43, पृ. 1936-45 । डगलस, Sub-committee Report, *Ethical Standards in Government.* (U. S. Senate, *Report of a Sub-committee of the Committee of Labour and Public Welfare*).

तथा आध्यात्मिक परम्पराओं पर आधारित हो।[5] नैतिक गुणों तथा मूल्यों का पुनरुत्थान करना अपरिहार्य है। हर लोक सेवक को नैतिक मूल्यों के महत्व को हृदयंगम करना चाहिए और अपने कर्तव्यों का पालन करते समय उनके प्रति निष्ठावान रहना चाहिए।

लोक सेवाओं के नैतिक आधार पर बल दिया जाना चाहिए। ईमानदारी, निष्पक्षता, परिस्थितियों को निर्लिप्त भाव से आँकने की क्षमता, प्रभावकारी निर्णय करने की योग्यता और न्याय की भावना आदि गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। ब्रिटेन के लोक प्रशासन का तात्विक सिद्धान्त यह है कि अधिकारियों को ईमानदार ही नहीं होना चाहिए, बल्कि यह भी आवश्यक है कि वे बेईमानी के सन्देह से भी परे हों। दूसरे शब्दों में बाह्य आचरण ऐसा होना चाहिए जिसका ईमानदारी तथा सदाचार के नियमों के साथ पूर्ण सामंजस्य हो। आज हमें प्रशासकीय क्षेत्र में एक विचित्र बात देखने को मिलती है। प्रशासकीय अधिकारियों अथवा लोक सेवकों के रूप में लोगों का आचरण बहुत ही कुटिल होता है। नैतिक नागरिकों के रूप में उनका आचरण जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता। आचरण का यह दुहरा मापदण्ड समाप्त होना चाहिए।[6] आधारभूत उद्देश्य सद् जीवन है। सद् जीवन के लिए समाज अत्यधिक आवश्यक है, और लोक प्रशासन समाज को बुद्धिसंगत बनाने के लिए महत्वपूर्ण साधन प्रदान करता है।[7] अतः किसी प्रशासकीय व्यवस्था की यही आधारभूत आचारनीति हो सकती है कि वह जीवन को सार्थक बनाने वाले आदर्शों के अधिकाधिक निकट हो। यदि नैतिकता के दुहरे मापदण्ड को स्वीकार किया गया तो सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का पतन अवश्यम्भावी है। हमें सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में भी ईमानदारी, न्याय, सम्यकता आदि उन्हीं आदर्शों को अपनाना पड़ेगा जिन्हें हम पारिवारिक जीवन में तथा व्यक्तियों के रूप में साक्षात्कृत करना चाहते हैं। यदि हम परिवार में सम्यकता तथा शिष्टता चाहते हैं तो हमें सामाजिक क्षेत्र में भी इन्हीं गुणों को व्यावहारिक रूप देना होगा। जिन गुणों की हम एक सत्पुरुष से आशा करते हैं उनको हमें सार्वभौम और सर्वव्यापी बनाना है जिससे वे कल्याणकारी लोक प्रशासन का आधार बनाये जा सकें।[8]

कौटिल्य एक ऐसे प्राचीनतम राजनीतिक वैज्ञानिक थे जिन्होंने प्रशासकीय आचारनीति के इस आदर्श को महत्व दिया।[9] उनका नीतिवाक्य था कि लोकसेवक का जीवन शौचयुक्त होना चाहिए, और उसे ऐसे सभी प्रलोभनों से बचना चाहिए जो अशौच की ओर प्रवृत्त करते हों। कौटिल्य ने लिखा है कि विभिन्न सेवाओं के लिए नियुक्तियाँ करते समय प्रत्याशियों के नैतिक चरित्र की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। जो लोग धार्मिक पक्षपात से मुक्त हों उन्हें न्यायिक पदों पर नियुक्त किया जाय (धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्)। जो लोग आर्थिक प्रलोभनों से परे हों उन्हें प्रशासकीय तथा राजस्व सम्बन्धी पदों पर नियुक्त किया जाय (अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृ संनिधातृनिचयकर्मसु)। जो व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक तथा ऐन्द्रिक आदि सभी

---

5 देखिये नेहरू का सार्वजनिक भाषण, मदुराई, अक्तूबर 5, 1961.

6 एक अधिनियम पारित किया जाय जिसके द्वारा लोकसेवकों को निम्नांकित कार्य करने से रोका जाय—
(क) भेंट आदि स्वीकार करना,
(ख) महत्वपूर्ण वाणिज्यीय और आर्थिक रहस्यों का उद्घाटन करना,
(ग) निजी व्यावसायिक काम करना, और
(घ) जो निजी व्यक्ति सरकारी काम में लगे हैं उनके यहाँ भविष्य में नौकरी पाने की इच्छा रखना। (फिफनर तथा पैस्थस, *Public Administration*, पृ. 573-74).

7 एच. ए. साइमन और डब्लू.आर. डिवाइन, 'Human Factors in an Administrative Experiment', *Public Administration Review*, शरद 1941। बी. गार्डनर, *Human Relations in Industry*, एच. ए. साइमन, डी. डब्लू. स्मिथबर्ग एवं वी. ए. टॉम्पसन, *Public Administration*, पृ. 113-29।

8 चार्ल्स ई. मैरियम, *Public and Private Government* (येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1945) तथा *Systematic Politics*; एलफ्रेड डी ग्रेजिया, *Public and Republic* (न्यूयार्क, अलफ्रेड ए. नौफ, 1951)।

9 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, *Hindu Political Thought*.

प्रकार के प्रलोभनों से परे हों और जो निर्भीक हों उन्हें मन्त्रिपद पर नियुक्त किया जाय (सर्वोपशुद्धान्मन्त्रिणः कुर्यात्)।

2. सत्यनिष्ठा का संवर्धन करने के उपाय

जब मैं प्रशासन को मानववाद तथा नैतिकता के आदर्शों पर आधारित करने की बात सोचता हूँ तो मुझे घर तथा वातावरण का महत्व प्रमुख जान पड़ता है। यह आशा निराधार है कि एक ओर तो परिवार, प्राथमिक समूह, सामाजिक संघ, पाठशालाएँ, धर्मसंघ आदि सामाजिक जीवन की इकाइयाँ अपना नीरस और उदासीन जीवन चलाती रहें, और दूसरी ओर लोक प्रशासक चारित्रिक पूर्णता के आदर्श बनकर कार्य करें। समस्या को समग्र रूप में हल करने का प्रयत्न करना है।[10] मनुष्य पर वातावरण का मनोवैज्ञानिक प्रभाव सचमुच बहुत गहरा पड़ता है।[11] यह अधिकांशतः उन शक्तियों की उपज होता है जिनके बीच उसे अपना जीवन बिताना पड़ता है। वह चेतन और अचेतन रूप से उन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों का मूर्त रूप होता है जिनके सन्दर्भ में उसका जीवन व्यतीत होता है। समस्या का समाधान तब तक असम्भव है जब तक कि हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक मानकर विचार करते रहेंगे। मैं सोचता हूँ कि यह अतिशयोक्ति नहीं है कि भावी प्रशासकों को पालने से ही प्रशिक्षित करना होगा। फ्रॉयडवादियों ने हमें सिखाया है कि मनुष्य पर उसके प्रारम्भिक जीवन की स्मृतियों और भावना ग्रन्थियों का गहरा और बाध्यकारी प्रभाव पड़ता है। अतः हमें लोक प्रशासन की समस्या को मानव के सामाजिक तथा मानसिक पुनर्निर्माण की व्यापक समस्या के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करना होगा।[12]

कोरे उपदेशों का कोई परिणाम नहीं हो सकता। यह आशा करना उपहासास्पद है कि मनुष्य को संगीन का भय दिखाकर नैतिक बनाया जा सकता है। हमें लोक प्रशासन की सफलता के लिए ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना पड़ेगा जिनमें भ्रष्टाचार का प्रलोभन ही न उत्पन्न हो।[13] लोक सेवा को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान देना पड़ेगा। इस देश में लोक सेवाओं का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ दीर्घ काल तक सम्बन्ध रहा है, इसलिए लोक मानस में उनके प्रति कुछ अंशों में घृणा का भाव उत्पन्न होगया है। पुलिस के प्रति लोगों के मन में जो सामान्य घृणा देखने को मिलती है उससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। उच्च असैनिक सेवाओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पिछलगुए के रूप में जो कुकृत्य किये हैं उन पर मैं पर्दा नहीं डालना चाहता। यह भी सत्य है कि जनता की घृणा के कारण और अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाये रखने के उद्देश्य से लोक सेवकों ने मिथ्या ठाटबाट और झूठी शान तथा अकड़ का जीवन अपना लिया है। किन्तु अब समय बदल चुका है। जिम्मेदार तथा विश्वस्त सार्वजनिक नेताओं ने खुले तौर पर इस बात को प्रमाणित किया है कि लोक सेवाओं ने अंग्रेजों के जाने के बाद कठिन परिस्थितियों में देश की सुयोग्यता के साथ सराहनीय सेवा की है। 1947 के उत्तरार्द्ध के तथा 1948 के प्रारम्भिक महीनों के संकटपूर्ण दिनों में कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने में, देशी रियासतों को भारतीय संघ में विलीन करने के काम में तथा दो पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्यों की पूर्ति में सेवाओं ने बहुत अच्छा काम किया है। इसलिए जनता के लिए बुद्धिमानी की बात यह होगी कि वह अपना पुराना सोचने का तरीका छोड़ दे और सेवाओं के सम्बन्ध में अच्छी धारणा बना ले। जनता का सम्मान मिलने से लोक सेवकों के वैय-

---

10 जान एम. पिफनर तथा आर. वॉंस प्रेस्थ्स, *Public Administration* (न्यूयार्क, द रोनेल्ड प्रेस, 1955), तृतीय संस्करण, पृ. 577। लेखकों का कथन है, "लोक प्रशासन को उस वृहत् सामाजिक जीवन का एक अंग मानना चाहिए जिसमे राजनीति, आचारनीति तथा प्रभाव के लिए संघर्ष सदैव विद्यमान रहते हैं।"

11 लेस्टर एफ. वार्ड, *Psychic Factors in Civilization;* हेरिक, *Neurological Foundations of Animal Behaviour* (1924), एच. डी. लासवैल, *Power and Personality;* चार्ल्स ई. मेरियम, *Political Power;* चाइल्ड्स, *Psychological Foundations of Human Behaviour* (1924)।

12 जार्ज ग्राहम, *Education for Public Service* (शिकागो, 1941); पॉल डगलस, *Ethics in Government* (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1952); वेन ए. आर. लेज, *Ethics for Policy Decisions* (प्रेंटिस हाल, 1952)।

13 देखिये इन्टरनेशनल सिटी मेनेजर्स द्वारा अंगीकृत आचार संहिता (1924, संशोधित 1952)।

क्तिक चरित्र में स्थिरता आती है तथा उनमें सत्यनिष्ठा की वृद्धि होती है। जिन लोगों को जनता का सम्मान प्राप्त होता है उनके मन में जनता की प्रत्याशाओं के अनुकूल आचरण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। मैं चाहूँगा कि सरकार के जो राजनीतिक अंग हैं उन्हें भी लोक सेवकों में विश्वास तथा आस्था रखनी चाहिए। विश्वास से एकता और निष्ठा का वातावरण उत्पन्न होता है, तथा कुशल सेवा के लिए मनोवैज्ञानिक आधार तैयार होता है। मैंने लोक सेवाओं के लिए सामाजिक सहानुभूति तथा विश्वास के जिस सिद्धान्त की सिफारिश की है उसकी शिक्षा सेवाओं के सम्बन्ध में और भी अधिक आवश्यकता है। जनता का कर्तव्य है कि विद्वानों का आदर करे। विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए वर्षों की तपस्या की आवश्यकता होती है। नवयुवक अपने को विद्वत्ता की वेदी पर तभी अर्पित कर सकते हैं, जबकि वे अपने मन में अनुभव करें कि शिक्षा का जीवन गरिमा, प्रतिष्ठा और सम्मान का जीवन है।

लोक प्रशासन में सत्यनिष्ठा की स्थापना करने के लिए[14] व्यावसायिक आचारनीति का निर्माण करना आवश्यक है।[15] स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए तनिक-सी लोकनिन्दा भी कटु भर्त्सना समझी जानी चाहिए। सेवाओं की आन्तरिक स्थिति में सुधार की आवश्यकता है जिससे उनमें भी व्यावसायिक आचारनीति का विकास हो सके। व्यावसायिक आचारनीति महान नियन्त्रण का काम करती है।[16] संवेदनशील नागरिक के चरित्र पर आचारनीतिक मापदण्डों का गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: यदि सेवाओं में वास्तविक व्यावसायिक आचारनीति की भावना का विकास होता है तो उनसे सम्बन्धित सभी व्यक्तियों में प्रशासकीय व्यवस्था की प्रमुख मान्यताओं और मूल्यों के प्रति वैयक्तिक भक्ति की भावना अवश्य उत्पन्न होगी।

लोक प्रशासन में सत्यनिष्ठा के विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि वेतन, पारिश्रमिक आदि में सुधार किया जाय। इस बात की उच्च स्वर में घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है कि सेवाओं में नियुक्ति तथा पदवृद्धि योग्यता और कार्यकुशलता की कसौटी के आधार पर की जानी चाहिए। लोकतन्त्र तभी सुरक्षित रह सकता है जबकि सेवाएँ ईमानदार हों, बेईमानी के तनिक भी सन्देह से परे हों और वे निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करें। इसके लिए दो चीजें आवश्यक हैं। प्रथम, सेवाओं का संगठन ऐसा हो कि उनमें समुचित वेतन और भत्ते की व्यवस्था हो, पेंशन और छुट्टी का समुचित प्राविधान हो तथा भविष्य निधि का समुचित प्रबन्ध। स्पष्ट है कि इस आर्थिक पहलू पर जनता की समग्र आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही विचार किया जा सकता है। यहाँ मैं न तो किसी काल्पनिक आदर्शवाद का प्रतिपादन कर रहा हूँ और न आर्थिक ध्रुवीकरण को अधिक तीव्र करने के ही पक्ष में हूँ। कभी-कभी कहा जाता है कि राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति की आय की तुलना में असैनिक सेवाओं के वेतन तथा सुविधाएँ समुचित ही नही हैं बल्कि विशेषाधिकारपूर्ण हैं। यह कथन उच्च प्रशासकीय सेवाओं के सम्बन्ध में सत्य हो सकता है, किन्तु निम्न स्तरों पर अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता है। दूसरे, भर्ती तथा पदवृद्धि के नियमों के लागू करने में पूर्ण वस्तुगतता, निष्पक्षता तथा न्याय से काम लिया जाना चाहिए।

यदि हम चाहते हैं कि सेवाओं में व्यापक अर्थ में सत्यनिष्ठा पायी जाय तो यह भी आवश्यक है कि सेवाओं की सम्पूर्ण व्यवस्था वस्तुगतता, कार्यकुशलता, निष्पक्षता और न्याय की भावना से

---

14 डेविड लेवीटन, 'The Responsibility of Administrative Officials in a Democratic Society', *Political Science Quarterly* (कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, संयुक्त राज्य अमेरिका), दिसम्बर 1941.

15 कुछ विद्वानों का सुझाव है कि 'काम के स्तर का सामाजिक मूल्य का स्रोत मानना चाहिए।'

16 पॉल एपिलबी, *Morality and Administration in Democratic Government* (लुईसियाना स्टेट यूनिवर्सिटी, 1952) पृ. 178। लेखक का कथन है, "लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है: पहले लोकसेवकों के वैयक्तिक नैतिक मूल्यों का परस्पर मिश्रण होता है—और वैयक्तिक दृष्टि से ये मूल्य बहुत ही जटिल होते हैं। फिर इस अन्तर्मिश्रण से उत्पन्न मूल्यों का अधिकृत संस्थागत मूल्यों के साथ तालमेल होता है। इस संगठित अन्तर्मिश्रण तथा तालमेल के लिए अनुशासन की आवश्यकता होती है, और अनुशासन में केन्द्रीय तत्व भक्ति (वफादारी) है।"

ओतप्रोत हो ।[17] प्रान्तीयता, जातिवाद और पक्षपात के विनाशकारी तत्व हमारी सेवाओं की सम्पूर्ण व्यवस्था को जर्जरित कर रहे हैं और उसकी तटस्थता, सार्वजनिक भावना तथा समानता के आदर्शों को नष्ट कर रहे हैं। ये जघन्य प्रवृत्तियाँ सामाजिक शून्यवाद और नैतिक विघटन की भावनाओं को उत्पन्न कर रही हैं। वे जिम्मेदारी के पदों पर कार्य करने वालों को प्रभावकारी ढंग से कार्य करने से रोकती हैं। प्रान्तीयता और जाति के आधार पर अयोग्य तथा भ्रष्ट अधिकारियों को कायम रखा जाता है और यहाँ तक कि उनकी पदवृद्धि भी कर दी जाती है। यह प्रवृत्ति अधिकारियों के मनोबल के लिए बहुत ही घातक है। इससे अधिकारियों की सत्य की विजय में आस्था क्षीण होने लगती है और वे निराशा के शिकार बन जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि भर्ती, प्रशिक्षण और पदवृद्धि के नियम न्याय और साम्य के उच्चतम आदर्शों पर आधारित हों। जब कभी सत्यनिष्ठा के सिद्धान्त का घूस, भ्रष्टाचार अथवा अनैतिक आर्थिक लाभ के कारण उल्लंघन किया जाता है[18] तो वह एक पृथक उदाहरण बन कर नहीं रह जाता, बल्कि उसका व्यापक दुष्प्रभाव पड़ता है और भ्रष्टाचार रूपी पिशाच हर क्षेत्र में अपना सिर उठाने लगता है। उत्तरदायी शासन में सेवाएँ लोकतन्त्र का मुख्य आधार-स्तम्भ होती हैं। राजनीतिक कार्यपालिका का भाग्य लोकमत के अनुसार बनता बिगड़ता रहता है। इसके विपरीत सेवाएँ स्थायी होती हैं, इसलिए सार्वजनिक कर्तव्य के प्रति उनकी भक्ति को डिगाने का प्रयत्न करना निकृष्ट कोटि का देशद्रोह है।[19]

किन्तु मैं सतयुग की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि हमें राम राज्य अथवा ईश्वरीय राज्य के आगमन की प्रतीक्षा में बैठा रहना चाहिए। मैं स्वीकार करता हूँ, कि मानव-जाति को कानून के बल पर नैतिक नहीं बनाया जा सकता। सच्ची नैतिकता मनुष्य के संकल्पों के शुद्धीकरण पर निर्भर होती है। यह सत्य है कि नैतिकता चरित्र के निर्माण पर तथा पूर्ण व्यक्तित्व के उत्थान पर निर्भर हुआ करती है। वह उपदेशों के द्वारा नहीं सिखायी जा सकती, और न उसे संगीनों के बल पर थोपा जा सकता है। सच्ची नैतिकता स्वतःस्फूर्त होती है, और सार्वजनिक कल्याण की भावना तथा आत्मा की शुद्धता पर आधारित हुआ करती है। किन्तु कुछ ऐसे काम भी होते हैं जिनको सामाजिक कल्याण की दृष्टि से करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती, चाहे कर्ता के संकल्पों का रूपान्तर हुआ हो और चाहे न हुआ हो। इसलिए किसी भी अधिकारी को भ्रष्ट होने की इजाजत नहीं दी सकती, चाहे उसका नैतिक पुनरुत्थान हुआ हो और चाहे न हुआ हो। अन्त में कानून को अपना काम करना ही पड़ेगा। यदि कोई अधिकारी भ्रष्ट है, यदि वह उन आदर्शों का पालन नहीं करता जिनकी एक लोकसेवक के रूप में उससे आशा की जाती है और यदि वह घूस लेता है तो न्याय की लौह व्यवस्था को बिना पक्षपात और रियायत के अपना काम करना पड़ेगा। हम उस समय की प्रतीक्षा नहीं कर सकते जब अधिकारी नैतिक विकास की धीमी प्रक्रिया के द्वारा ईमानदारी के गुणों को सीख लेगा। सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ बड़ी प्रबल होती हैं; उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसलिए यदि कोई अधिकारी सत्यनिष्ठा की कसौटी से तनिक भी विचलित होता है तो उसे एक बड़ी बुराई मानकर उसको दण्डित किया जाना चाहिए।

हमारा समाज वह समुदायी समाज है। भारतीय राज्य ने कल्याण को साक्षात्कृत करने का

---

17 देखिये, अमेरिका में द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त में तैयार किया गया, "The Federal Employee's Creed of Service."

18 ए. डी. गोरवाला अपनी *Report on Public Administration* (योजना आयोग, 1953) में पृ. 17-18 पर लिखते हैं, "बंगाल प्रशासकीय समिति का सुझाव था कि दण्डविधान में एक ऐसा प्राविधान किया जाय कि यदि कोई लोकसेवक अथवा उसका आश्रित सहसा धनी हो जाय तो वह निर्दोष है, यह सिद्ध करने का दायित्व उसी पर हो। किन्तु इसे कानून का रूप नहीं दिया गया। शायद यह सोचा गया था कि निर्दोष साधनों से भी सम्पत्ति की वृद्धि सम्भव है, इसलिए इस आधार पर किसी व्यक्ति के ऊपर मुकद्दमा चलाना अन्याय होगा कि वह सहसा धनी होगया है। फिर भी यदि यह पता लगे कि कोई लोकसेवक अथवा उसका आश्रित सहसा धनी हो गया है तो कुछ न कुछ कार्यवाही करना आवश्यक है।"

19 लोकसेवकों को उस चीज से बचने का भी प्रयत्न करना चाहिए जिसे जॉन डोवी ने 'व्यावसायिक मनोविकार' कहा है। ऐसा विकार दिन प्रतिदिन एकसा काम करते रहने से उत्पन्न हो जाता है। इस मनोविकार में विद्वेष अधिमान्यता (अनुचित तरजीह देना), भेदभाव तथा अनुचित बल देना आदि सम्मिलित हैं।"

आदर्श अपनाया है। समाजवादी ढंग के समाज को लोकतान्त्रिक तरीके से साक्षात्कृत करना है। किन्तु राज्य के कार्यों में वृद्धि होने से यान्त्रिकता और औपचारिकता का प्रादुर्भाव होता है, संस्थाओं का महत्व बढ़ता है[20] और वैयक्तिकता का ह्रास होता है। इन चीजों को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि ऐच्छिक समुदाय सामाजिक क्षेत्र में सचमुच सृजनात्मक कार्य करने का अधिकाधिक प्रयत्न करें। सृजनात्मक नागरिकता की भावना की वृद्धि करने तथा लोक जीवन में सत्यनिष्ठा के परिवर्द्धन में भी ऐच्छिक समुदाय महत्वपूर्ण योग दे सकते हैं।

एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों में लोकतन्त्र पर जो भीषण आघात हुए हैं उन्होंने भारत के सामने एक चुनौती प्रस्तुत करदी है। ऐसे संकट के समय में संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित मूल्यों और मौलिक अधिकारों को अंगीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। भारत में लोकतन्त्र की असफलता के सम्बन्ध में जो बकवास की जाती है उसकी ओर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि गोष्ठियों एवं कॉफी घरों में और सड़कों पर जो विचारहीन वाकपटुता प्रदर्शित की जाती है उससे हमारा मनोबल क्षीण होता है, और लोकतन्त्र के आधारों को दृढ़ करने का हमारा संकल्प दुर्बल होता है। ऐसे समय में यही आवश्यक नहीं है कि प्रशासकीय ढाँचा सुयोग्य तथा बुद्धिसंगत हो और कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के उद्देश्य को ध्यान में रखकर कार्य करे, बल्कि इस बात की भी जरूरत है कि वह सत्यनिष्ठा और व्यापक ईमानदारी की भावना से ओतप्रोत हो। यदि हमने किसी भी प्रकार की बुराई के साथ समझौता किया तो उससे राज्य की नींव दुर्बल होगी। अतः हमें भारत में लोकप्रशासन के नैतिक आधारों की हर कीमत पर रक्षा करनी है। मैं लोकसेवाओं में सत्यनिष्ठा की वृद्धि के लिए निम्नलिखित पाँच सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहा हूँ :

(1) परिवार, प्राथमिक समूहों तथा शिक्षा संस्थाओं का नैतिकीकरण।

(2) सेवाओं के आर्थिक ढाँचे में सुधार, विशेषकर प्रशासकीय सोपान के निम्न स्तरों (तकनीकी, कार्यकारी तथा लिपिक वर्गों से सम्बन्धित) पर।

(3) सेवाओं में व्यावसायिक आचारनीति का विकास।

(4) ऐच्छिक समुदाय नागरिकों तथा अधिकारियों में नैतिक व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहन दें।

(5) अन्त में राज्य की कानूनी तथा दण्डात्मक व्यवस्था को सक्रिय होना है। अच्छे जीवन की परिस्थितियों का विद्यमान होना इतना महत्वपूर्ण है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए यदि उनके लिए खतरा उत्पन्न होता हो तो राज्य की दण्ड शक्ति को क्रियाशील होना है।[21]

---

20 देखिये मैक्स वेबर को 'Studies in Bureaucracy' *Wirtschaft and Gesellschaft.*

21 देखिए सीनेटर पॉल डगलस के सुझाव (*Public Administrative Review*, जिल्द 12, 1952, पृ. 8) :
"यह निर्विवाद है कि हमें अपने समाज का हर स्तर पर नैतिक पुनरुत्थान करना है जिससे सुलभ भौतिक सम्पत्ति अथवा कुत्सित सफलता के कारण हमारी सत्यनिष्ठा के आधारभूत प्रतिमान ध्वस्त न हो जायँ। किन्तु कुछ ऐसे संस्थात्मक परिवर्तनों की भी आवश्यकता है जिनका सुझाव 'शासन में नैतिक प्रतिमान विषयक उपसमिति' ने, जिसका सभापति होने का मुझे सम्मान प्राप्त था, दिये थे। ये परिवर्तन दुर्बलों को विचलित करने वाले प्रलोभनों को कम करेंगे और जो भ्रमग्रस्त तथा अनिश्चित हैं उनका पद-प्रदर्शन करेंगे। उनमें मुख्य ये हैं :

(1) आचारनीति की एक संहिता तैयार की जाय। यदि कोई लोकसेवक उसका उल्लंघन करे तो उसे उसके पद से हटा दिया जाय, और यदि कोई गैर सरकारी व्यक्ति उसका उल्लंघन करे तो ठेके आदि अधिकारों और विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया जाय।

(2) राजनीतिक आन्दोलनों को दिये जाने वाले सम्पूर्ण चन्दों को सीमित करने तथा उनका प्रकाशन करने के लिए अधिक समुचित व्यवस्था का विकास करना। साथ ही साथ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कि इन आन्दोलनों के खर्च का बटवारा अधिक लोकतान्त्रिक हो।

(3) जिन संघीय तथा प्रशासकीय अधिकारियों की आय 10,000 डॉलर वार्षिक अथवा उससे अधिक हो उन सबकी आय की प्रत्येक रकम तथा उसके स्रोत का उद्घाटन करना। हमें सरकारी अधिकारियों के गलत कामों का भण्डाफोड़ करने में बड़े उत्साह और तत्परता का परिचय देना चाहिए, और जो अधिकारी दोषी हों अथवा अत्यधिक असावधान हों उन्हें हटाकर उनके स्थान पर अन्य लोगों को नियुक्त किया जाना चाहिए। किन्तु हम सार्वजनिक हितों की तब तक समुचित रूप से रक्षा न कर सकेंगे जब तक हम अपने राजनीतिक तथा सामाजिक आचरण को स्थायी रूप से सुधारने के उपायों पर विचार नहीं करते।

3. निष्कर्ष

लोक सेवा जीवन भर का काम है। सामान्यत: लोग उसमें अपने जीवन के तृतीय दशक के प्रारम्भ में प्रविष्ट होते हैं और साठ वर्ष के होने से पहले उसे छोड़ देते हैं। इसका अर्थ हुआ कि वे अपने जीवन के तीस वर्ष उसमें बिताते हैं। इससे अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि सेवाओं की समस्या को गम्भीर दृष्टि से देखना पड़ेगा। लोकसेवा के लिए गम्भीर दृष्टिकोण, नैतिक संवेदनाओं के परिष्कार तथा उद्देश्य के प्रति समर्पण की भावना की आवश्यकता है। यह नहीं समझना चाहिए कि लोकसेवा अस्थायी आत्मतुष्टि का एक साधन है, वास्तव में वह आत्मविकास का सुन्दर अवसर है। मानव-जीवन का प्रादुर्भाव चाहे करोड़ों वर्ष पहले हुआ हो और चाहे वह कुछ करोड़ वर्ष तक और चलता रहे किन्तु एक विशिष्ट मानव का जीवन दुहराया नहीं जा सकता। एक दृष्टि से तीस वर्ष का काल मानव-जीवन का मूल सार होता है। इसलिए इस काल का श्रद्धा तथा भक्ति की भावना से प्रयोग किया जाना चाहिए। लोकसेवा के सम्बन्ध में हमें यह मानकर चलना चाहिए कि जीवन महान मूल्य और महत्व की वस्तु है। प्रत्येक दिन एक नया अवसर तथा नये जीवन का दिन है। वह हमें अपने अनुभव की वृद्धि करने का अवसर देता है। इसलिए सेवा एक पवित्र चीज है, बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि वह प्रार्थनापूर्ण समपर्ण का अवसर है। सेवा का जीवन तुच्छ कार्यों के लिए नहीं होता। कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि असैनिक सेवा में विज्ञापन और जय-जयकार की उतनी चमकदमक नहीं होती जितनी कि भाग्यशाली राजनीतिज्ञों को उपलब्ध हो जाती है। किन्तु चमकदमक क्षणभंगुर होती है। राष्ट्र की सेवा के द्वारा अपने व्यक्तित्व के विकास में योग देना अत्यधिक महत्वपूर्ण पुरस्कार है। मूक त्याग व्यक्तित्व के गम्भीर रचनात्मक निर्माण का मार्ग है। इसलिए यदि लोक सेवक सेवा के काम को व्यक्तित्व के गम्भीर पुनर्निर्माण की भावना से करें तो उनकी अधमने ढंग से काम करने की वह प्रवृत्ति जिससे प्रेरित होकर वे अनेक तुच्छ कार्य किया करते हैं, अपने आप तिरोहित हो जायगी। जब मैं प्रशासन में मानवीय गुणों के विकास की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय है कि सेवा के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है उसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए। सेवा को वैयक्तिक तुष्टि की भावना से नहीं देखना चाहिए, बल्कि उसे सामुदायिक कल्याण का साधन समझना चाहिए। निर्मल दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि अपने तथा दूसरों के कल्याण को परस्पर विरोधी मानना यथार्थता से बहुत दूर है। दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना कल्याण करना सम्भव नहीं है। भ्रष्टाचार एक महामारी है और वह भयंकर रूप से संक्रामक होती है। एक भ्रष्ट अधिकारी को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि दूषित जगत में उसकी सन्तान के साथ न्याय का वर्ताव किया जायगा। अत: स्पष्ट है कि सत्यनिष्ठा की समस्या जीवन के प्रति समर्पण की भावना के साथ सम्बद्ध है।[22]

22 विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य, विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, Philosophy of Public Administration. (कलकत्ता, 1972)

30

पंचायती राज के कुछ पहलू तथा सर्वोदय

1. प्रस्तावना

सर्वोदय एक व्यापक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दर्शन है। किन्तु समन्वित पंचायती राज की धारणा एक विशिष्ट प्रशासकीय कार्यविधि है जिसे जिला, विकास-खण्ड तथा गाँव के स्तर पर क्रियान्वित करना है। यह सत्य है कि सर्वोदय आन्दोलन ने इस प्रशासकीय क्रियाविधि को न्यूनाधिक रूप में स्वीकार कर लिया है। चिर प्रतिष्ठित अर्थ में लोकतन्त्र जनता का शासन, सामान्य इच्छा का प्रभुत्व अथवा जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन माना जाता है। किन्तु आज की प्रविधि और वाणिज्य प्रधान सभ्यता में इस प्रकार का लोकतन्त्र एक कोरी कल्पना है। दूसरी ओर लोकतन्त्र का अर्थ है उन प्रत्याशियों में से चुनाव करना जो शासक-पद प्राप्त करने के लिए परस्पर होड़ करते हैं। किन्तु इस प्रकार का लोकतन्त्र कोई ऊँचा आदर्श नहीं है। इसलिए आजकल यह नारा लगाया जा रहा है कि जनता को राजनीति और प्रशासन में अधिकाधिक साझा देकर अधिक लोकतन्त्र की स्थापना की जाय। यह आदर्श सचमुच प्रशंसनीय जान पड़ता है। पंचायती राज की योजना लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा शक्ति का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण करने का प्रयत्न है। यह योजना जनता को अपने मामलों का प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी देने की दिशा में एक साहसिक कदम है। भारत के पाँच लाख गाँवों को ऐसी संस्थाएँ प्रदान करना जहाँ वे सहभागी लोकतन्त्र का अभ्यास कर सकें, सचमुच ही एक विशाल प्रयोग है। साथ ही साथ यह क्रान्तिकारी कदम उस पुरानी व्यवस्था की तुलना में अधिक व्यापक अर्थ में प्रभावकारी है जिसके अन्तर्गत जनता से विकास-योजनाओं में अधिक सहयोग देने की आशा की जाती थी। लोकतान्त्रिक व्यवस्था का एक सबसे बड़ा खतरा यह है कि उसके अन्तर्गत राष्ट्रीय सरकार के अभिकरणों तथा अगणित बिखरे हुए मतदाताओं के बीच कोई शक्तिशाली बाँध अर्थात बचाव का साधन नहीं होता। ऐसी स्थिति में यदि कुटिल अधिनायक प्रशासकीय ढाँचे पर अधिकार कर लेते हैं तो फिर सम्पूर्ण व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है। सर्वोदय आन्दोलन ने पंचायती राज की योजना को कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया है। उसका कहना है कि यह योजना बीस करोड़ मतदाताओं और राष्ट्रीय संसद तथा कार्यपालिका के बीच सहभागी लोकतन्त्र को बल देने वाली मध्यस्थ संस्थाओं की स्थापना करती है। पंचायती राज की संस्थाएँ बुनियादी अवयवी लोकतन्त्र का वास्तविक रूप नहीं हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध केवल देहाती वित्त और प्रशासन की समस्याओं से होगा; उन्हें राष्ट्रीय वित्त, विदेश नीति तथा सार्वदेशिक परिवहन आदि की मुख्य राजनीतिक समस्याओं से प्रयोजन नहीं होगा। फिर भी ये संस्थाएँ स्थानीय प्रशासन की इकाइयों से कुछ अधिक होंगी।

2. पंचायती राज के प्रशासकीय पहलू

मैं राजनीतिक तथा प्रशासकीय मामलों में पुरातनवादी (अनुदारवादी) हूँ। मैं चाहता हूँ कि देश धीरे-धीरे आगे बढ़े। मैं यह उचित नहीं समझता कि ग्रामीण लोगों पर प्रशासन की अधिक समस्याएँ लाद दी जायँ। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सामूहिक शिक्षा और सामाजिक शिक्षा

की पुकार के बावजूद हमारे देश में साक्षरों की प्रतिशत संख्या बहुत कम है। इसलिए यह अच्छा होगा कि बहुत-से नये परिवर्तनों को लाने से पहले हम जनता को उन संस्थाओं का अभ्यस्त बना दें जो पहले से चली आ रही हैं। इसलिए मेरे विचार में इस समय द्विस्तरीय व्यवस्था अधिक उपयुक्त होती। यदि पंचायत समितियाँ न होतीं तो अच्छा रहता। किन्तु चूँकि त्रिस्तरीय व्यवस्था स्थापित कर दी गयी है, इसलिए अब उसको सशक्त बनाना हमारा कर्तव्य है। पंचायती राज के स्थायित्व के लिए यही आवश्यक नहीं है कि जिलाधीश का उस पर नियंत्रण न हो, बल्कि यह भी जरूरी है कि विधायक तथा संसद सदस्य भी पंचायत संस्थाओं में हस्तक्षेप न करें।

पंचायती राज की योजना लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयोग है। किन्तु इस योजना की सफलता के लिए आवश्यक है कि पक्षपात के विषाणु से बचा जाय। चुनाव स्थानीय जनता के द्वारा कराये जायँ; अखिल भारतीय दल पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद के चुनावों में हस्तक्षेप न करें। किन्तु विधायक तथा संसद के सदस्य इन निकायों के भी सदस्य होते हैं, इसलिए पक्षपात के विषाणु का उन्मूलन करना संदिग्ध जान पड़ता है। किन्तु मातृभूमि की सेवा को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि राजनीतिक दल स्वयं अपने ऊपर इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगा लें। यदि वे स्वेच्छा से ऐसा नहीं करते तो उनके लिए संसदीय कानून की आवश्यकता हो सकती है।

आज सबसे महत्वपूर्ण समस्या जनता के मन और हृदय में मनोवैज्ञानिक क्रान्ति उत्पन्न करना है। इस काम को अधिकारीगण नहीं कर सकते। हमारे जीवन की यह भारी विडम्बना है कि ग्रामसेवक, जो जनता के सेवक होने चाहिए, उसके शासक बन बैठे हैं। वे हर प्रकार के भ्रष्टाचार के शिकार हैं। मेरा सुझाव है कि अधिकतर ग्रामसेवक (जो अब पंचायत सेवक कहलाते हैं) तथा ग्रामस्तरीय कार्यकर्ता पिछड़े हुए वर्गों में से चुने जायँ। वे अधिक अच्छा काम करेंगे। यदि ग्रामसेवक तथा ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता उच्च जातियों के होंगे तो निरक्षर ग्रामीण लोग उन्हें पुराने सामन्ती उत्पीड़न का अवशेष मानते रहेंगे। इस प्रकार सामाजिक अत्याचार की पुरानी परम्पराओं के साथ शासकीय अत्याचार के नये तत्वों का संयोग हो जायगा। इस संयोग को नष्ट करना है। दलित वर्गों के उद्धार को गान्धीजी सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या मानते थे।[1] हमारे राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के मूल में भी यही उद्देश्य निहित है। किन्तु दलित वर्गों के उत्थान के लिए मनोवैज्ञानिक उपचार की भी आवश्यकता है। यदि तथाकथित पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए मनोवैज्ञानिक उपचार की भी आवश्यकता है। यदि तथाकथित पिछड़े वर्गों को लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकृत प्रशासन की प्रक्रिया में भाग लेने की अधिक सुविधाएँ दी जायँ तो उससे दुर्बल वर्गों को मकान, पीने का पानी आदि की सुविधएँ प्रदान करने का मनोवैज्ञानिक आधार तैयार हो जायगा। चूँकि ग्रामसेवक और ग्रामस्तरीय कार्यकर्ता ग्रामीण लोगों के सबसे अधिक सम्पर्क में आते हैं, इसलिए यदि ये पद पिछड़े हुए वर्गों के लिए सुरक्षित कर दिये जायँ तो उससे ग्रामीण समाज में एकता स्थापित करने का मनोवैज्ञानिक आधार निर्मित हो सकेगा।

कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि पंचायती राज की संस्थाओं को अधिक से अधिक प्रशासकीय शक्तियाँ प्रदान कर दी जायें।। सुझाव देने वालों का कहना है कि इससे देश में अनौपचारिक तथा अदृश्य प्रभुशक्ति से सम्पन्न लगभग 2,50,000 पंचायतें स्थापित हो जायँगी। यदि ऐसी ग्राम सभाएँ, जिनमें गाँव के सभी वयस्क सम्मिलित हों, गाँव से सम्बन्धित सभी मामलों में निर्णय करने के लिए पूर्ण शक्तियों का प्रयोग करने लगें तो इस दृश्य को देखकर देवता भी प्रसन्न होंगे। यदि उन्हें वित्तीय काम भी सौंप दिये जायें तो उनमें जिम्मेदारी की सच्ची भावना भी विकसित होगी। किन्तु मुझे गाँव पंचायतों का जो अनुभव है उसके आधार पर मैं वर्तमान परिस्थितियों में ग्रामवासियों के हाथों में पूर्ण वित्तीय शक्तियाँ देने के विरुद्ध हूँ। इस अध्याय के प्रारम्भ में मैंने कहा था कि मैं धीमी गति के पक्ष में हूँ। जहाँ तक गाँव, विकासखण्ड और जिले की संस्थाओं के

---

1 वी. पी. वर्मा, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya*, पृ. 21.

साथ विधायकों और संसद सदस्यों को सम्बद्ध करने का प्रश्न है, मैं चाहूँगा कि इन शक्ति के भूखे राजनीतिज्ञों को पंचायती राज पर आधिपत्य न जमाने दिया जाय। अच्छा यह होगा कि इन नेताओं को पंचायती राज की संस्थाओं में न तो कोई पद धारण करने दिया जाय और न उन्हें उनके चुनावों में वोट देने का ही अधिकार हो। उनका काम यह होना चाहिए कि वे राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों से सम्बन्धित अपनी व्यापक जानकारी के द्वारा लोगों की सहायता करें। उन्हें इस बात का अवसर न दिया जाय कि वे अपने लिए शक्ति के अतिरिक्त केन्द्र स्थापित कर सकें। वास्तव में पंचायती राज संस्थाओं में उनकी उपस्थिति इसलिए होनी चाहिए कि लोग उनके अनुभव से कुछ सीख सकें, न कि इसलिए कि वे इन संस्थाओं का अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए प्रयोग करें। सर्वोदय आन्दोलन ने हमें चेतावनी दी है कि पंचायती राज संस्थाओं को शक्ति राजनीति के कुत्सित खेल की गोटें न वनाया जाय। इस प्रकार उसने हमारी नैतिक सेवा की है।[2] किन्तु दूसरी ओर हमें सहभागी लोकतन्त्र की धुन में जिलाधीश को समाप्त करने अथवा उसे शक्ति से पूर्णतः वंचित करने की भूल नहीं करनी चाहिए। मेरा विचार है कि असैनिक लोकसेवकों को पंचायती राज के प्रति जबावदेह बनाने का प्रस्ताव भी कोरा आदर्शवाद है। मेरा मत है कि असैनिक लोकसेवकों की भर्ती[3] के मामलों में लोक सेवा आयोगों की राय लेते रहना आवश्यक है।

कभी-कभी विकासखण्डों में जो द्वैध नियंत्रण अथवा द्वैध शासन स्थापित किया गया है उसके विरुद्ध भी शिकायत की जाती है। तकनीकी कार्यकर्ता अथवा प्रसार सलाहकार अपने दिन प्रतिदिन के काम में विकासखण्ड अधिकारी के नियन्त्रण में होते हैं, किन्तु वास्तव में उन्हें अपने विभागों के प्रशासकीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत काम करना पड़ता है। विकासखण्ड-अधिकारी अपनी सीमित शक्तियों से प्रसन्न नहीं हैं।[4] दूसरी ओर तकनीकी कार्यकर्ता विकासखण्ड अधिकारी के नियन्त्रण को बुरा मानते हैं। कठिनाई इसलिए और बढ़ गयी है कि चिकित्सा अधिकारियों तथा विकासखण्ड अधिकारियों का वेतनमान एक ही है। इसलिए चिकित्सा अधिकारी विकासखण्ड अधिकारी के नियन्त्रण को वाहरी हस्तक्षेप मानते हैं। शिक्षा अधिकारी भी विकासखण्ड अधिकारियों के नियन्त्रण से असन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि उनमें कुछ स्नातकोत्तर उपाधिकारी होते हैं जबकि अनेक विकासखण्ड अधिकारी केवल स्नातक होते हैं। अतः प्रशासन को किसी रूप में बुद्धिसंगत बनाना आवश्यक है।[5]

3. अर्थतन्त्र तथा पंचायती राज

(क) कृषि की उत्पादकता को उत्तेजित करना—देहाती क्षेत्र के सम्बन्ध में देश के सामने सबसे महत्वपूर्ण काम वैज्ञानिक कृषि, पशुपालन, तथा बागवानी के द्वारा देहात की उत्पादकता में वृद्धि करना है। खर्च के लक्ष्यों की पूर्ति को देखकर प्रसन्न होना पर्याप्त नहीं है। प्राथमिकता इस बात को दी जानी चाहिए कि कृषि की उत्पादकता बढ़े। इसलिए ग्रामीण कृषिक उत्पादन योजनाओं को इस ढग से तैयार किया जाय कि किसान, ग्राम-सभा के सदस्य तथा तकनीकी प्रसार अधिकारी सब के सब पूरी निष्ठा के साथ कृषि के उत्पादन को बढ़ाने के काम में लग जायँ। ग्रामीण अर्थतन्त्र के विकास में जो बाधाएँ हैं उनको सच्चा मानवीय दृष्टिकोण अपनाये बिना दूर नहीं किया जा सकता। देहाती क्षेत्रों की मुख्य समस्याओं को प्रशासकीय और सहयोगी संस्थाओं की संख्या बढ़ा कर हल नहीं किया जा सकता। संस्थाएँ मानवीय दृष्टिकोण का स्थान नहीं ले सकतीं। गरीब तथा निरक्षर ग्रामीणों को भूमिकर बढ़ाने की धमकी से आतंकित करने (बिहार में 25 प्रतिशत

---

2 जयप्रकाश नारायण, *Swaraj for the People*, पृ. 8 (वाराणसी, अखिल भारत सर्वसेवा संघ, 1961)।

3 वही, पृ. 10।

4 फुलवाड़ी शरीफ के एक खण्ड अधिकारी ने यह बात उस समय कही जब हमारे संस्थान के सदस्य वहाँ गये।

5 विकास आयुक्तों के 11वें वार्षिक सम्मेलन में यह सुझाव प्रस्तुत किया गया था कि जब जिलाधीश विकासखण्ड अधिकारियों के सम्बन्ध में गोपनीय रिपोर्ट तैयार करें तो उससे पहले उसे उन अधिकारियों के सम्बन्ध में जिला कृषि अधिकारी की राय लिखित रूप में प्राप्त कर लेनी चाहिए। इससे प्रशासकीय ढाँचा कुछ हद तक बुद्धिसंगत बनेगा और अधिकारियों का असन्तोष तथा निराशा दूर होगी।

भूराजस्व बढ़ाने के प्रस्ताव पर विचार हो रहा है) अथवा उन्हें सामूहिक और सहकारी फार्मों[6] का हौआ दिखाने से काम नहीं चल सकता। सबसे आवश्यक काम प्रति एकड़ उपज बढ़ाना है। इसलिए कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए भूमि संरक्षण लघु सिंचाई, ईंधन के लिए वृक्षारोपण, वनारोपण, उर्वरक तथा फसलों की अदला बदली कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। पंचायती राज योजनाओं में जिला, विकासखण्ड तथा गाँवों के लक्ष्य इस बुनियादी उद्देश्य को ध्यान में रखकर निर्धारित किये जायँ। उक्त सूची में चारा-उत्पादन कार्यक्रम को भी सम्मिलित किया जा सकता है। ग्राम कृषिक उत्पादन योजना को कार्यान्वित करने के लिए ग्रामसभा की सक्रिय साझेदारी आवश्यक है। गान्धीजी की रचनाओं का अध्ययन करके मुझे विश्वास होगया है कि वे व्यक्तिवादी थे।[7] वे सग्रह की प्रवृत्ति को सीमित करना चाहते थे। मेरे विचार में सर्वोदयी नेता गान्धी के चिन्तन में साम्यवादी आदर्शों को ढूंढ निकालने का जो प्रयत्न कर रहे हैं वह उनकी भूल है। यह कहना की गाँवों की भूमि पर ग्रामसमाजों का स्वामित्व होना चाहिए, गान्धीजी की विचारधारा के विपरीत है। ऐसे नारे केवल गाँव वालों को भड़काने और डराने के लिए हैं। यह आशा करना व्यर्थ है कि इस प्रकार के नारों से गाँवों के लोग विकास योजनाओं में सहयोग देंगे। यदि लघु सिंचाई योजनाओं के द्वारा कृषि की उपज 25 प्रतिशत भी बढ जाय तो उससे गाँव वालों को विशेष आनन्द मिलेगा। बुनियादी स्तर पर जनता के ऐच्छिक संगठनों को दृढ़ करने की लम्बी चौड़ी बातों से उनका उत्साहवर्धन नहीं हो सकता। मुख्य उद्देश्य शहरी-देहाती अर्थतन्त्र के कृषिक-औद्योगिक आधारों को मजबूत करना है। किन्तु इस समय ग्रामीण क्षेत्रों के औद्योगीकरण की योजनाओं पर शक्ति नष्ट करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। तत्काल आवश्यकता तो इस बात की है कि सिंचाई योजनाओं तथा विद्युतीकरण के द्वारा कृषिक उत्पादन में वृद्धि की जाय।

(ख) **देहाती असन्तुलन**—लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना का विकास सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओं के अध्ययन के दौरान हुआ है। इस योजना के अन्तर्गत विकासखण्ड को प्रशासकीय शक्तियों से विभूषित कर दिया गया है। इसलिए सामुदायिक विकास योजनाओं से जो अनुभव उपलब्ध हुए हैं, उनकी ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। सामुदायिक विकास योजनाओं की जो दुर्दशा हुई है उसी ने गाँवों में असन्तुलन उत्पन्न किया है। उन्हीं गाँवों को अधिक लाभ हुआ है जो विकासखण्ड के मुख्य स्थान के निकट हैं अथवा जिनमें कुछ चतुर चालाक लोग निवास करते हैं। शेष बहुसंख्यक गाँवों के साथ सौतेला व्यवहार किया गया है। मुझे बिहार की छपरा तहसील के जलालपुर विकासखण्ड का अनुभव है। उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि गाँवों के लोगों में भारी असन्तोष है। उनकी धारणा है कि उनकी किसी को चिन्ता नहीं है। यह गाँव-असन्तुलन लोकतन्त्र के लिए बड़ा खतरा है। पंचायत समितियों को इस ढंग से काम करना है कि यह गाँव-असन्तुलन सदैव न बना रहे।

(ग) **भूराजस्व**—भारतीय इतिहास और सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि यहाँ के लोगों का स्थानीय भूमि के साथ गहरा लगाव रहा है। इससे उनमें स्थानीय भक्ति की संकीर्ण भावना उत्पन्न हुई है। इस देश के निवासियों के जीवन और चिन्तन में भारत का एक सार्थक राजनीतिक इकाई के रूप में चित्र अभी भी धुँधला है। इसलिए इस बात का सदैव प्रयत्न करना है कि इस देश के निवासी भारत को ही अधिकांशतः अपनी इच्छाओं का केन्द्र बनाएँ। सर्वोदय सम्प्रदाय का यह विचार है कि भूमि का लगान पूरी तरह गाँव-पंचायत और पंचायत-समिति के सुपुर्द कर दिया जाय, बहुत ही घातक सिद्ध होगा[8] क्योंकि इससे गाँव वालों की परम्परागत स्थानीय भक्ति और अधिक तीव्र होगी। गाँव वालों को सीखना चाहिए कि देश की रक्षा का काम भी उनका प्रमुख कर्तव्य है। आत्म-पर्याप्ति की अतिशय चिन्ता करने से पृथकत्व की भावना दृढ़ होती है।

---

6 सोलन (शिमला) में सहकारिता के सम्बन्ध में जो गोष्ठी हुई थी उसमें सुझाव दिया गया था कि विकासखण्ड के कोष में से सहकारी कृषि समितियों को कुछ अनुदान दिया जाय करे। मैं इस सुझाव का अपरिपक्व मानता हूँ।

7 वी. पी. वर्मा, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya*, पृ. 277.

8 जयप्रकाश नारायण, *Swaraj for the People*, पृ. 10।

इसलिए आवश्यक है कि भूमि के लगान का कम से कम 30 प्रतिशत राज्य तथा संघ की संचित निधि के लिए सुरक्षित रखा जाय। पंचायत तथा पंचायत समिति की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज तथा संघ सरकारें अपने-अपने कोष में से कुछ अनुदान दे दिया करें। इस प्रकार पारस्परिकता की भावना का विकास होगा। अन्यथा गाँव वाले समझेंगे कि हमारा भूमि-लगान 'हमारा' है, और हिमालय की सीमाओं की रक्षा करना केन्द्रीय सरकार का काम है। इसलिए मेरा सुझाव है कि भूमि-लगान का कम से कम 30 प्रतिशत राज्य सरकार तथा संघ सरकार को दिया जाय जिससे वे सार्वदेशिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें, चाहे बदले में उन्हें पंचायती राज की प्रशासकीय संस्थाओं को अनुदान ही क्यों न देने पड़े।

4. नैतिक क्रान्ति : समय की माँग

आज नैतिक क्रान्ति की आवश्यकता है। यह अधिक आधारभूत और दीर्घकालीन प्रक्रिया है। किन्तु जब तक लोगों में नैतिक मूल्यों के प्रति समर्पण की भावना का उदय नहीं होता तब तक स्वावलम्ब और सहयोग का उपदेश देने से काम नहीं बन सकता। ग्रामीण जीवन निष्प्राण हो गया है। आज हमारे गाँव अस्थिपंजरों के सदृश हैं। यदि हमारा उद्देश्य उन अस्थिपंजरों में गति और जीवन का संचार करना है तो हमें उनके सामने उनकी समस्याओं का समाधान करने के लिए विनम्र भाव से जाना पड़ेगा। प्रशासकीय संस्थाओं का पुंज कागजी समाधान दे सकता है, किन्तु उससे समस्या की तह तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिए 'जीप मनोवृत्ति' से बचना है। प्रशासकीय मामलों में सरलता की आवश्यकता है, न कि जटिलता की। विशाल अधिकारी वर्ग, दरबार तथा विशाल प्रशासकीय संगठनों की धुन देश की दरिद्रता को देखते हुए बेतुकी और असंगत जान पड़ती है। हमारे देश की एक सबसे बड़ी बीमारी यह है कि गान्धीवादी आदर्शवाद देश के जीवन से तेजी से विलुप्त होता जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता के उपकरण और कार्यप्रणालियाँ देश के लिए घातक सिद्ध हो रही हैं। अतः हमारी नैतिक पूँजी का क्षय हो रहा है। सर्वोदय आन्दोलन की एक बड़ी सेवा यह है वह अवयवी भागीदारी लोकतन्त्र के संस्थागत आधारों को गान्धीवादी नैतिक आदर्शवाद के उपजाऊ जल से सिंचित करने का प्रयत्न कर रहा है। उस आदर्शवाद के बिना संस्थात्मक परिवर्तन बाहरी ढाँचा मात्र सिद्ध होंगे। नैतिक मूल्य राजनीतिक जीवन का भी आवश्यक आधार हैं। लोगों के मन में नैतिक मूल्यों को बिठलाने का काम जिम्मेदार नागरिकों, बुद्धजीवियों, विश्वविद्यालयों के शिक्षकों तथा ऐच्छिक सेवा संस्थाओं को करना है। पंचायती राज की आलोचना के सन्दर्भ में हम कह आये हैं कि पंचायत समितियों में उच्च जातियों के नेताओं, भूमिपतियों तथा सरकारी अधिकारियों के बीच साँठगाँठ के द्वारा पुराने ढंग का अल्पतन्त्रीय शासन कायम रहेगा। इस आलोचना में बहुत कुछ सत्य निहित है। इसलिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि निर्लिप्त बुद्धिजीवी तथा ऐच्छिक संघ गाँव वालों को सामाजिक तथा नैतिक शिक्षा देने का काम और भी अधिक तेजी और निष्ठा के साथ करें। केवल ये लोग और संघ ही गान्धीवादी नैतिक आदर्शवाद से अनुप्राणित होकर प्रच्छन्न तथा व्यक्त अल्पतन्त्रीय प्रवृत्तियों का निराकरण कर सकते हैं।

31

भारतीय लोकतन्त्र की गतिशीलता के कुछ पहलू

1. प्रस्तावना

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारतीय लोकतन्त्र के आदर्श-दर्शन का निरूपण किया गया है। उसकी मुख्य धारणाएँ हैं स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा भ्रातृत्व। शुद्ध नैतिक अर्थ में लोकतन्त्र साधारण जन कल्याण के आदर्श को लेकर चलता है, और साधारण जन का अर्थ है सड़क तथा खेत पर काम करने वाला व्यक्ति, बैलगाड़ी का हँकवारा तथा अन्य दलित एवं उपेक्षित लोग।[1] गान्धीजी ने लोकतन्त्र के इस मानववादी पक्ष पर बहुत बल दिया था। यह सत्य है कि बीसवीं शताब्दी के विशाल राज्यों में लोकतन्त्रीय शासन का अर्थ शाब्दिक अर्थ में जनता 'द्वारा' शासन नहीं हो सकता। फिर भी यह आवश्यक है कि वह जनता के विशाल वर्गों की आधारभूत सम्मति और सामान्य आकांक्षाओं पर आधारित हो। लोकतन्त्र तभी सच्चा माना जा सकता है जब उसमें ये तीन चीजें विद्यमान हों : (1) दबाव, धमकी, आतंक और हिंसा के स्थान पर विवाद, वार्ता, विवेचना और समझाने-बुझाने की बौद्धिक क्रियाविधि का प्रयोग, (2) कांट की इस धारणा में विश्वास और उसी के अनुसार कर्म कि मनुष्य साध्य है, साधन नहीं, और इसके फलस्वरूप सब नागरिकों को राजनीतिक निर्णय में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेने का अवसर देना तथा सार्वभौम कल्याण के दर्शन को स्वीकार करना, (3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत करने के लिए कुछ संस्थात्मक तरीकों का प्रयोग करना, उदाहरण के लिए मूल अधिकारों को लागू करने के उपाय, न्यायिक स्वतन्त्रता, विधायी तथा प्रशासकीय कार्यों की न्यायिक पुनरीक्षा, स्वतन्त्र चुनाव इत्यादि। बल और आतंक के स्थान पर बौद्धिक विचार-विनिमय के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ है विधि-परक व्यवस्था में विश्वास करना, क्योंकि विधि शक्ति की तुलना में अधिक पवित्र चीज है। व्यक्ति के अधिकारों की प्रतिष्ठा करने की इच्छा के मूल में यह धारणा निहित है कि मानव प्राणी का व्यक्तित्व तत्वत: नैतिक और आध्यात्मिक है।

यद्यपि भारत की जनता निरक्षर तथा अर्थतन्त्र अर्द्धविकसित था, फिर भी संविधान सभा ने जानबूझकर लोकतन्त्र की स्थापना का निर्णय किया। किन्तु पिछले अठारह वर्षों में विदेशी आगन्तुकों

---

1 पश्चिम में जिस लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का विकास हुआ है उसके तीन मुख्य आधार हैं : (1) यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म ने न्याय तथा व्यक्ति की स्वायत्तता की धारणाएं प्रदान की हैं। सत्रहवीं शताब्दी में प्यूरिटन धर्म ने नैतिक व्यक्ति तथा उसके अन्त:करण की धारणाओं पर पुन: बल दिया है। (2) रोम के विधिविज्ञों ने विश्व की न्यायिक व्यवस्था पर बल दिया। उनके व्यावहारिक विधि, सार्वराष्ट्रिक विधि तथा प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों ने न्यायिक अवस्थाओं की पवित्रता की भावना के विकास में योग दिया है। प्राकृतिक विधि को प्रभु की कृत्रिम विधि पर नियन्त्रण लगाने के लिए प्रयोग किया गया, इससे राज्य की बाध्यकारी सत्ता को सीमित करने में सहायता मिली। (3) विज्ञान के उदय ने भी लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के विकास में योग दिया है। विज्ञान ने सामाजिक असमानता तथा वर्गगत विशेषाधिकारों के मनवादी तथा अन्धविश्वासपूर्ण आधारों को ध्वस्त करके मानववाद के विकास में योग दिया और समान सुविधाएँ प्रदान करने के लिए संस्थाओं के निर्माण को सम्भव बनाया।

ने देश की बड़ी प्रशंसा की है। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत ने अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की हैं, जैसे पंजाब तथा बंगाल से आने वाले शरणार्थियों का पुर्नवास, पाकिस्तान के साथ कुछ महत्वपूर्ण झगड़ों का निपटारा, पुरानी देशी रियायतों का भारतीय संघ में विलय, प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में कुछ वृद्धि, 'अस्पृश्यता का सांविधानिक उन्मूलन तथा स्त्रियों एवं अन्य दलित वर्गों की सामाजिक तथा विधिक स्थिति में सुधार।

किन्तु अभी भी अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें हल नहीं किया जा सका है। हमें भारतीय लोकतन्त्र की समस्याओं पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना है कि एशिया-अफ्रीका के अनेक देशों की प्रादेशिक सुरक्षा के लिए संकट निरन्तर बढ़ रहा है। अफ्रीका की चिन्ताजनक स्थिति तथा वियतनाम का संकट सचमुच गम्भीर चीजें हैं। चीनी साम्यवादियों ने भारत की 12,000 वर्ग मील भूमि पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया है और इस प्रकार पंचशील के आदर्श को धूल में मिला दिया है, यद्यपि कुछ वामपंथी गुट इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं कि चीनियों ने आक्रमण किया था, किन्तु किसी दल को लोकतान्त्रिक अधिकारों के संरक्षण के अन्तर्गत देश की स्वाधीनता को बेच देने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती। देश की राजनीतिक सुरक्षा तथा स्वाधीनता सर्वप्रथम तथा प्रधान चीज है।

हिंसा की वृद्धि ने संकट की एक नयी परिस्थिति उत्पन्न करदी है। सर्वत्र अनुशासनहीनता तथा हुल्लड़बाजी का राज्य है।[2] हमें ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है जिसमें सड़क के लोगों का दबाव बढ़ रहा है, और उसका प्रतीकार करने के लिए कभी-कभी कानून तथा व्यवस्था के नाम पर क्रूर दमन और निर्मम हिंसा का नाच देखने को मिलता है। यह नितान्त उपहासास्पद स्थिति है कि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में हम बुद्ध तथा गान्धी को आचारनीति का उपदेश देते हैं और प्राचीन भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटते हैं, किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर विधिद्रोही नागरिक तथा सरकार दोनों ही खुलकर बन्दूक का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में हम गान्धी और बुद्ध की जो दुहाई देते हैं वह एक ढोंग जान पड़ती है।

किन्तु पाठकों को मेरे कथन के सम्बन्ध में गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। मैं निराशा और विनाश का सन्देहवाहक नहीं हूँ। मैं आशावादी हूँ। मुझे देश की ऐतिहासिक विरासत में आस्था है, और मुझे आशा है कि हम अपने विस्मृत नैतिक आदर्शों को पुनः प्राप्त करने में सफल होंगे। आदर्श यथास्थिति को बुद्धिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते, और न वे शोषणमूलक समाज के अन्तर्विरोधों को छिपाने का ढोंगपूर्ण उपाय हैं। वे राष्ट्र तथा जनता का पथप्रदर्शन करने वाले होते हैं। लोकतान्त्रिक आदर्शवाद निश्चय ही जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल होते हैं। मनुष्य के चरित्र तथा स्वभाव में निश्चित बौद्धिक तथा प्रदात्त तत्व होते हैं। उनको बल प्रदान करना तथा उन्हें लोकतन्त्र का आधार बनाना बुद्धिमानी का काम है। हमारी जनता लॉक तथा बर्क के दर्शन को भले ही न समझ सकें, किन्तु वह सामाजिक समानता के सम्बन्ध में कबीर के विचारों के महत्व को अवश्य हृदयंगम कर सकती है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि लोकतान्त्रिक आदर्शवाद को साधारण जनता की सम्पत्ति बनाया जाय।

आजकल भारत में हम राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन, सामाजिक परिवर्तन, नियोजित सामाजिक परिवर्तन तथा समन्वित सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं। ये सब श्रेष्ठ तथा प्रशंसनीय आदर्श है। किन्तु प्रश्न यह है कि इन परिवर्तनों को कौन लायेगा। चुनाव के आँकड़ों से सिद्ध होता है कि पिछले पन्द्रह वर्षों में केन्द्र तथा राज्यों दोनों में ही शासक दल 50 प्रतिशत से कम वोटों के आधार पर शासन करता आया है। क्या उसे यह अधिकार है कि वह इस अल्पमत के समर्थन के आधार पर जनता पर सामाजिक परिवर्तन थोपने का प्रयत्न करे? क्या इस अल्प समर्थन के आधार पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लादना, चाहे वे परिवर्तन कितने अच्छे क्यों न हों, लोकतान्त्रिक है? मेरा अभिप्राय यह है कि यदि हम लोकतन्त्र की दुहाई देते हैं तो चाहे उत्पादन के

---

2 राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध में सामान्य नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना खतरनाक है। इस सामान्य निष्कर्ष का कोई सांख्यिकीय आधार नहीं है कि भारतीय जनता कर्म में स्वभाव से सहिष्णु तथा मितवादी है।

साधनों के राष्ट्रीयकरण की समस्या हो चाहे भूमि के समाजीकरण अथवा अनौपचारिक बटाईदारी प्रथा को विधिक रूप देने का प्रश्न हो और चाहे विशाल पैमाने पर स्त्रियों के उद्धार की बात हो, कोई भी परिवर्तन हम तभी कर सकते हैं जब उसके लिए हमें जनता का विशेष आदेश मिला हुआ हो। ये सब परिवर्तन अच्छे हैं और उनसे एक ऐसे समाज और अर्थतन्त्र का निर्माण होगा जो सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध शक्तिशाली बाँध का काम करेगा। किन्तु महत्व की बात यह है कि ये परिवर्तन ऐसी प्रक्रिया के द्वारा ही किये जाने चाहिए जिसका संस्थात्मक रूप लोकतान्त्रिक कहा जा सके।

2. भारतीय लोकतन्त्र की कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ

दल-प्रथा के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर विभिन्न प्रकार के मत और अनुभव उपलब्ध हैं। हम भारत के लिए सत्तावादी-समग्रवादी दल-प्रथा का अनुमोदन नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो संविधानवाद की नींव को ही ध्वस्त कर देती है। इंगलण्ड और अमेरिका की द्विदलीय प्रथा में उन देशों की उदार मानववाद की परम्पराओं का समावेश है, इसलिए उसने सफलतापूर्वक काम किया है। फ्रांस के स्वभाव में लातीनी आवेश और उग्रता का पुट है इसलिए उसने बहुदलीय प्रथा को विकसित कर लिया है। द्विदलीय तथा बहुदलीय दोनों ही प्रथाएँ उन देशों की विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों की उपज हैं।[3]

राजनीतिक तथा आर्थिक विकास केवल चाहने मात्र से नहीं हो सकता। हमारे देश में इंगलैण्ड और अमेरिका की-सी द्विदलीय प्रथा नहीं है, इस बात पर विलाप करना निरर्थक है। हमें यह देखना है कि हमारी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में कौनसे तत्व प्रमुख हैं, और उन्हीं को ध्यान में रखकर हमें अपने निर्णय करने और नीतियाँ बनानी हैं।

हमारे देश में केन्द्र तथा राज्यों, दोनों ही स्तरों पर वस्तुतः एकदलीय शासन है, सर्वत्र कांग्रेस का ही प्रभुत्व है।[4] तीन-चार अन्य दल भी हैं, किन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे अपनी सरकार बना सकें। इसलिए भारत में हम एक दल के शासन पर आधारित लोकतन्त्र का परीक्षण कर रहे हैं। अतः स्थिति कुछ वैसी ही बन रही है जैसी कि अधिनायकवादी देशों में देखने को मिलती है। स्वतन्त्रता के अठारह वर्ष बाद और नये संविधान के लागू होने के सोलह वर्ष बाद भी एक ऐसे प्रभावकारी तथा स्थायी प्रतिपक्ष के उदय होने की सम्भावना नहीं है जो वैकल्पिक सरकार का निर्माण कर सके। लगभग पन्द्रह वर्ष तक सत्तारूढ़ रहने के कारण कांग्रेस अपना पुराना आदर्शवाद खो बैठी है, और वह शक्ति पर अधिकार बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के हथकंडों का प्रयोग करने लगी है।[5] पुराने गान्धीवादी लोकसेवक संघ के आदर्श को धता बता दी गयी है, और राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार की शक्ति एक छोटे से गुट के हाथों में केन्द्रित हो गयी है। राष्ट्रीय विकास परिषद, योजना आयोग तथा संघीय मन्त्रिमण्डल ने एक 'नवीन अल्पतन्त्र' का रूप धारण कर लिया है। यह 'नवीन अल्पतन्त्र' कुछ अंशों में उन पूँजीपतियों के सहयोग से फल-फूल रहा है जो संरक्षित बाजार से लाभ उठाकर अपरिमित धन बटोर रहे हैं। शासकवर्ग तथा धनिकतन्त्रीय तत्वों के बीच यह साठ-गाँठ लोकतन्त्र के लिए एक गम्भीर खतरा है।

लोकतान्त्रिक शासन इस धारणा पर आधारित होता है कि कुछ ऐसे आधारभूत लक्ष्य तथा मूल्य हैं जिनके सम्बन्ध में सहमत होना सम्भव है। सभी राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सहमत होते हैं। इसलिए जो भी वांछित परिवर्तन हों उन्हें सजीव किन्तु संयत

---

3 जेम्स ब्राइस, *Modern Democracies*, 2 जिल्दें।

4 इस बात के कोई स्पष्ट लक्षण नहीं हैं कि निकट भविष्य में दक्षिणपन्थी दलों के हाथों ही देश की शक्ति आ जायगी। वामवाद का भविष्य तनिक अच्छा है। केरल में साम्यवादी शासन का प्रथम प्रयोग असफल रहा। किन्तु केरल का वामवाद लोकतन्त्र विरोधी शक्ति है जिसको ध्यान में रखना आवश्यक है।

5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आदर्शवाद का ह्रास भारतीय लोकतन्त्र की एक बड़ी दुर्बलता है। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में कांग्रेस संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे का प्रतीक थी, और उसने धर्मप्रचारकों के से उत्साह के साथ काम किया। गान्धीजी की मृत्यु के बाद कांग्रेस के पतन की प्रक्रिया तीव्र हो गयी है, और अब वह अन्य राजनीतिक दलों की भाँति एक दल है।

विवाद के द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है। इस देश में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों की तत्काल आवश्यकता है। रूढ़ियों के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करना है। इसलिए लोकतन्त्रवादी किसी ऐसे दल का समर्थन नहीं कर सकता जो यथास्थिति का समर्थन करता हो अथवा सामाजिक विधान को पुरातन धर्मशास्त्रों के उद्धरण देकर विफल करना चाहता हो।

सभी क्षेत्रों में स्वीकार किया जाता है कि जातिवाद भारतीय लोकतन्त्र का सबसे घातक शत्रु है। एक अर्थ में जाति को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया है, फिर भी जाति एक सचमुच का पिशाच बनी हुई है और हमारे जीवन के हर क्षेत्र को त्रस्त कर रही है। किन्तु इस पिशाच का वध करने के लिए एक भावात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। हमें अपनी शक्तियों को ऐसे समाज का निर्माण करने में लगा देना चाहिए जिसमें भारतीय संविधान की प्रस्तावना में निरूपित मूल्यों की प्रतिष्ठा हो। बुद्ध ने जातीय अहंकार का विरोध किया था, नानक और कबीर परम्परावादी जातिवाद के विरोधी थे, और दयानन्द ने सिखाया था कि मनुष्य की प्रास्थिति जन्म से निर्धारित नहीं होती। महात्मा गान्धी ने दलित वर्गों का पक्ष लेकर जातिवाद के विरुद्ध धर्मयुद्ध चलाया। किन्तु जातिवाद को कोरे उपदेशों के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि विज्ञान तथा बुद्धिवाद के उदय से जातिवाद के अन्धविश्वासपूर्ण, चमत्कारिक तथा धर्मशास्त्रीय आधार ध्वस्त हो गये हैं। किन्तु वह राजनीतिक रूप में पुनः सिर उठाने लगा है। जातिवाद के इस रूप का नाश गतिशील अर्थतन्त्र का निर्माण करके ही किया जा सकता है। गतिशील अर्थतन्त्र निश्चय ही गतिशील समाज को जन्म देगा। इस बीच में किसी ऐसे दल को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए जो जातिगत भावनाओं को उभाड़ कर अपना काम बनाना चाहता हो।

इसमें सन्देह नहीं कि पुराने अर्थ में जाति का एक सामाजिक तत्व के रूप में प्रभाव समाप्त होता जा रहा है। यदि जाति से हमारा अभिप्राय शास्त्रों द्वारा निर्धारित सामाजिक वर्गों से है तो हमें निश्चय ही मानना पड़ेगा कि आधुनिक ज्ञान के प्रभाव के कारण जाति-प्रथा के बौद्धिक आधारों का ह्रास हो रहा है। पिछड़ी हुई तथा परिगणित जातियों में से असैनिक सेवकों तथा प्रशासकीय अधिकारियों की भर्ती से ब्राह्मणीय पुरोहितवाद का प्रभाव घट रहा है। आशा की जाती है कि लोकतन्त्र के परिपक्व होने पर जातीय श्रेष्ठता तथा राजनीतिक शक्ति का गठबन्धन छिन्न-भिन्न होगा। सम्पूर्ण भारत में पिछड़ी हुई तथा परिगणित जातियों के लोगों ने दलों में 'अनुयायियों' के रूप में महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर लिये हैं। शीघ्र ही वे उन्नति करके नेता बन जायेंगे। अम्बेडकर तथा कामराज जैसे व्यक्तियों का उत्थान आने वाली स्थिति का सूचक है। पिछड़ी तथा परिगणित जातियों का उत्थान इन वर्गों की राजनीतिक जागृति का ही प्रतीक नहीं है, बल्कि इस बात का भी द्योतक है कि राजनीतिक धन के महत्व को चुनौती दी जा रही है, क्योंकि ये वर्ग मुख्यतः आर्थिक दृष्टि से दलित वर्ग हैं। इसके अतिरिक्त इन वर्गों के हाथों में राजनीतिक शक्ति जितनी ही अधिक संचित होती जायगी उतना ही वे आर्थिक शक्ति के मार्गों पर भी नियन्त्रण स्थापित करने में सफल होंगे। इसके परिणामस्वरूप उन वर्गों की सम्पत्ति का जो अब तक समृद्ध थे, राजनीतिक महत्व कम होगा।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि लोग देशवासियों के साथ एकात्म्य की भावना का अनुभव करें। क्या ऐसे कोई सामान्य प्रतीक हैं जो सभी भारतीय नागरिकों के मन में भक्ति और अनुराग का संचार कर सकें? हम बुद्ध को करुणा, दया और उदात्तता का मूर्त रूप मानते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार हम गान्धीजी को भारतीय स्वाधीनता का संस्थापक मानते और उन पर गर्व करते हैं। किन्तु क्या भारतीय नागरिकों में इतना साहस है कि वे अपने भाषणों और कार्यों में से उन चीजों को निष्कासित कर दें जो बुद्ध और गान्धी के आदर्शों के विपरीत हैं। कोरे नारों और उपदेशों से काम नहीं चल सकता। देशभक्ति और राष्ट्रवाद ऐसी भावनाएँ हैं जिन्हें प्रज्जवलित रखने के लिए प्रयत्न करने पड़ते हैं। करोड़ों भारतवासियों के साथ बन्धुत्व की भावना का अनुभव करना कठिन काम है। एक साधारण नागरिक के लिए देश के करोड़ों लोग अमूर्त, अवैयक्तिक तथा दूर की चीज होते हैं। स्थानीय घर, स्थानीय शूरवीरों और प्रादेशिक भाषा के साथ लगाव स्वाभाविक होता है। भारतीय इतिहास के विकास में एक सबसे

बड़ी कमी यह रही है कि जब कभी बाहरी आक्रमण हुए हैं तब देश में कुछ ऐसे असन्तुष्ट गुट अवश्य रहे हैं जिन्होंने आक्रमणकारियों का स्वागत किया है। ईरानियों और यूनानियों के आक्रमणों के समय से अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और चीनी आक्रमणों के काल तक देश में सदैव ऐसे समूह रहे हैं जिनका देश की भूमि के साथ संवेगात्मक लगाव बड़ा ही दुर्बल रहा है। अतः यदि भारत में लोकतन्त्र तथा संविधानवाद को सफल होना है तो इस बात की आवश्यकता है कि लोगों में गम्भीर राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास हो।[6] यदि पारस्परिक अनुराग के बन्धनों का अभाव है, और यदि हम अपने अस्थायी स्वार्थों के लिए हिंसा और धोखाधड़ी पर उतारू हो जाते हैं तो स्पष्ट है कि हमारे बीच एकता के कोई आधारभूत बन्धन नहीं हैं। ऐसी परिस्थितियों में जबकि राष्ट्रवाद के स्थान पर स्थानीय भक्ति का बोलबाला हो, लोकतान्त्रिक प्रणाली कार्य नहीं कर सकती। विघटनकारी प्रदेशवादी प्रवृत्तियाँ देश की स्वाधीनता के लिए खतरा उत्पन्न करती हैं। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद तथा भाषावाद देश के मर्मस्थलों को ही खाये जा रहे हैं, और कभी-कभी ऐसा लगता है कि देश में वैसी ही स्थिति आ गयी है जैसी कि 236 ई. पू. में अशोक की मृत्यु के बाद उत्पन्न हो गयी थी। कठिनाई यह है कि राष्ट्रीयता की भावना का परिवर्द्धन करने के लिए राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावनात्मक आचारनीति का उपदेश देना मात्र पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि कुछ समूह अथवा क्षेत्र राष्ट के नाम पर सभी आर्थिक और प्रशासकीय लाभों पर अपना एकाधिकार जमाने का प्रयत्न करें और दूसरों को संवेगात्मक एकीकरण के महत्व के सम्बन्ध में उपदेश दें तो स्थिति और भी अधिक भयंकर हो जाती है। इसलिए इस बात का सचेत और सक्रिय रूप से प्रयत्न करना है कि सब में साझेदारी की भावना हो और सबके साथ न्याय किया जाय। कुछ सामान्य लक्ष्यों और मूल्यों को दृढ़ संकल्प के साथ स्थापित करना आवश्यक है। तभी लोकतन्त्र सफल हो सकता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि लोकतन्त्र सफल हो और विकृत होकर गुटबन्दी का रूप न ले ले तो इस बात की आवश्यकता है कि सब लोग राष्ट्रीय एकता के मूल्य को समझें और उसके सम्बन्ध में एक मत हों। 'बहुराष्ट्रीय राज्य' की बात अथवा इस प्रकार का कथन कि बंगाली तथा तमिल उपराष्ट्र हैं, शुद्ध देशद्रोह है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के प्रचार में नहीं फँसना चाहिए।[7] भारत की राष्ट्रीय एकता अथवा राजनीतिक स्वाधीनता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता सहन नहीं किया जा सकता।[8] अतः जो राजनीतिक दल राष्ट्र के प्रति वफादार नहीं हैं उन्हें कभी भी मूल अधिकारों का संरक्षण प्राप्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे सांविधानिक अधिकारों तथा उपचारों का प्रयोग लोकतान्त्रिक व्यवस्था को समाप्त करने के लिए कर सकते हैं।

3. नौकरशाही तथा प्रशासकीय विधि

किसी देश में चोटी के असैनिक अधिकारियों से लेकर बहुसंख्यक जनता तक राजनीतिक सत्ता के पाँच परत होते हैं: (क) लोकसेवक, (ख) मंत्रिमण्डल तथा केबिनेट, (ग) विधानांग (अथवा डायसी की भाषा में विधिक प्रभु), (घ) निर्वाचक गण (अथवा डायसी की भाषा में राजनीतिक प्रभु), तथा (ङ) नागरिकों और निवासियों का समुदाय जो कर देकर तथा उसके आदेशों और कानूनों का पालन करके राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखता है।

लोकसेवक (सिविल सेवक) अपने विभागीय मन्त्रियों तथा उनके द्वारा प्रधान अथवा मुख्य-

---

6 भारत भारी यातनाओं और दुःखों के बाद स्वतन्त्र हुआ है। इस स्वाधीनता की रक्षा और पोषण करने के लिए आवश्यक है कि उसके प्रति हमारी संवेगात्मक भक्ति हो, और हम उसे राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्व तथा मूल्य की वस्तु समझें।

7 जहाँ तक मेरी जानकारी है डी. एम. के. के नेता दक्षिण की जनता को एक पृथक अथवा उपराष्ट्र नहीं मानते। किन्तु यदि कोई दल इस प्रकार का प्रचार करता है तो उसे रोकने के लिए कानून का प्रयोग किया जाना चाहिए।

8 कार्ल मार्क्स के चरित्र तथा विद्वता के लिए मेरे मन में गहरी श्रद्धा है, किन्तु मैं इस बात के लिए तैयार नहीं हूँ कि किसी दल को सर्वहारा के अन्तरराष्ट्रवाद अथवा श्रमिक वर्ग की एकता के नाम पर देश की सीमाओं और भूमि को बेचने का अधिकार दिया जाय।

मन्त्री के प्रति केवल औपचारिक रूप से उत्तरदायी हो सकते हैं। इस तात्कालिक तथा औपचारिक उत्तरदायित्व को ही संस्थात्मक रूप दिया जा सकता है। 'यदि लोकसेवक प्रत्यक्ष रूप से विधानांग के प्रति उत्तरदायी बना दिये जाएँ तो सर्वत्र गड़बड़ी फैल जायगी। वे स्थायी सेवक होते हैं, इसलिए उनका कार्यकाल विधानांग के विश्वास पर निर्भर नहीं होता, इसलिए उन्हें उस अर्थ में विधानांग के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता जिसमें मन्त्रीगण उत्तरदायी होते हैं।

मन्त्रियों के प्रति उत्तरदायी होने के अतिरिक्त लोकसेवक संविधान तथा अन्य अधिनियमों, और सेवा-सम्बन्धी नियमों और विनियमों से नियन्त्रित और निर्देशित होते हैं। विधिक दृष्टि से उनके लिए संविधान, अधिनियमों, नियमों तथा विनियमों का पालन करना आवश्यक होता है। यदि वे उक्त विधिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हैं तो उनके विरुद्ध अभियोग चलाया जा सकता है।

किन्तु मेरे विचार में लोकसेवक किसी औपचारिक अथवा संस्थात्मक रूप में विधानांग अथवा निर्वाचकगण के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाये जा सकते। यह सत्य है कि कुछ देशों में लोक-सेवकों को वापस बुलाने की प्रथा प्रचलित है। किन्तु यह प्रथा जो व्यक्त रूप में लोकतान्त्रिक प्रतीत होती है एक स्थायी धमकी के रूप में कार्य कर सकती है, और इसलिए लोकसेवकों को उत्साह-पूर्वक अपना कार्य करने से रोक सकती है।

संसदीय शासन प्रणाली में लोकसेवक मन्त्रियों द्वारा विधानांग के प्रति उत्तरदायी होते हैं। किन्तु अध्यक्षीय शासन प्रणाली में वे केवल अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होते हैं और उसके द्वारा जनता के प्रति। किन्तु अध्यक्ष निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है और उस अवधि में उसे हटाया नहीं जा सकता। यदि उसे कभी हटाया भी जा सकता है तो महाभियोग के असाधारण तरीके से जिसका प्रयोग बहुत कम अवसरों पर देशद्रोह और आपराधिक मामलों के लिए किया जाता है न कि राजनीतिक नीतियों में बुद्धिहीनता का परिचय देने के लिए। इसलिए अध्यक्षात्मक प्रणाली में विधानांग के प्रति उत्तरदायित्व की यह भावना नहीं होती जो संसदीय प्रणाली में देखने को मिलती है।

कभी-कभी उत्तरदायित्व शब्द का एक भिन्न अर्थ लगाया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक से अनेक देशों में निर्वाचन प्रणाली को लोकतान्त्रिक बनाने की प्रक्रिया चली आ रही है। जनता की राजनीतिक शक्ति में वृद्धि होने के फलस्वरूप इस बात की माँग की जाने लगी कि लोकसेवकों की भर्ती का आधार अधिक व्यापक होना चाहिए। लोकसेवकों की भर्ती और पद-वृद्धि के मामले में सामग्री, अभिजाततन्त्रीय, धनिकतन्त्रीय, धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक हितों को महत्व देना लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से मेल नहीं खाता। इसलिए अधिक विस्तृत अर्थ में उत्तरदायी लोकसेवा के लिए आवश्यक है कि लोकसेवकों की भर्ती बहुसंख्यक जनता में से की जाय। भारत में परिगणित जातियों और जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है जिससे समाज के दुर्बल वर्गों को शासन में कुछ साझा मिल सके। किन्तु मैं लोकसेवकों की भर्ती सामाजिक आधार को विस्तृत करने की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी नौकरशाही के स्थान पर प्रतिनिधि नौकरशाही शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। भर्ती के सामाजिक आर्थिक आधार को विस्तृत करने में लोकसेवक जनता के प्रतिनिधि बनते हैं, न कि उसके प्रति उत्तरदायी।

लोकसेवाओं का अध्ययन करने वालों ने कार्यालयों में औपचारिकता, नियत परिपाटी तथा पूर्वोदाहरणों से चिपके रहने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[9] लालफीता-शाही का अतिरेक लोकसेवाओं का बड़ा दोष है। कभी-कभी कहा जाता है कि लोकसेवक अपनी व्यावसायिक उन्नति का अधिक ध्यान रखते हैं और लोककल्याण की चिन्ता नहीं करते। भारतीय लोक-प्रशासन के गान्धीवादी आलोचकों का कहना है कि लोकसेवक में मिशनरियों की-सी समर्पण की भावना का अभाव है। एक कल्याणकारी राज्य में लोकसेवकों का दिमाग नमनीय होना चाहिए।

---

9 मैक्स वेबर, *Essay n ociology.*

उन्हें विकास और वृद्धि के अर्थतन्त्र को समझना चाहिए, और उनका दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिए कि वे नयी चीजों के महत्व को हृदयंगम कर सकें। परम्परावादी और कट्टरपंथी दृष्टिकोण घातक होता है। सामाजिक न्याय और कल्याण के आदर्शों को कार्यान्वित करना आवश्यक है। प्रायः नौकरशाही के काम में बहुत विलम्ब होता है, क्योंकि वह नियत परिपाटियों और पूर्वोदाहरणों के आधार पर काम करती है, जबकि विकासशील अर्थतन्त्र में शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। यह उचित नहीं है कि लोकसेवक अनामिकता (नामहीनता, गुमनामी) की आड़ में सेवाओं की कार्यविधि को यान्त्रिक तथा व्यक्तिनिरपेक्ष बना दें। यह भी आवश्यक है कि लोकसेवक जनता के आदर्शों, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और माँगों के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की आदत डालें। वे जनता की इच्छा के अधिकृत निर्वचनकर्ता अथवा व्याख्याता नहीं होते, किन्तु लोकतान्त्रिक व्यवस्था में यह आवश्यक है कि वे जनता की बलवती इच्छा के अस्तित्व को मान्यता दें। लोकसेवकों को प्रभुत्वसम्पन्न जनता की इच्छाओं को ध्यान में रखना है। इसलिए यद्यपि लोक-सेवकों को सांविधानिक दृष्टि से जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी यह आवश्यक है कि लोकसेवक जनता की आधारभूत इच्छाओं और माँगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनायें। इसका एक व्यापक पहलू यह है कि लोकसेवकों तथा जनता के बीच सामंजस्य-पूर्ण सम्बन्धों का विकास हो। जनता के साथ व्यवहार करते समय लोकसेवकों को ध्यान रखना चाहिए कि एक अर्थ में जनता के साथ उनका वही सम्बन्ध है जो उपभोक्ताओं का उत्पादकों के साथ होता है। किन्हीं अवसरों पर उनके लिए जनता को सूचना देना मात्र पर्याप्त हो सकता है, किन्तु कभी-कभी उन्हें सरकार की नीतियों का औचित्य भी सिद्ध करना पड़ सकता है। इस प्रकार के व्यवहार में एक अहंकारी प्रमुख जैसा बर्ताव करना लोकतन्त्र की राजनीतिक संहिता से मेल नहीं खाता। भारतीय नौकरशाही को अभी साधारण नागरिक का सम्मान करने की आचारनीति को आत्मसात करना है। देश का प्रशासन अनेक दोषों का शिकार है क्योंकि नौकरशाही का व्यवहार अभी भी पुराने ढंग का है। वह निरंकुश ढंग का आचरण करती है और जनता पर धौंस जमाने को अपना अधिकार मानती है। इसलिए ऊपर से नीचे तक सभी स्तर के लोकप्रशासकों को पुनः शिक्षित करना है जिससे वे सही अर्थ में जनता के सेवक बन सकें।

प्रशासकीय अधिनिर्णय अब एक स्थायी चीज बन गयी है, और भारत में प्रशासकीय न्याया-धिकरणों का विकास हो रहा है। किन्तु यह आवश्यक है कि उनकी कार्यविधि को अधिकाधिक ⁻ायिक रूप दे दिया जाय। किसी न्यायाधिकरण की कार्यप्रणाली न्यायपूर्ण, निष्पक्ष, दुर्भावरहित या निर्लिप्त तभी हो सकती है जबकि सुनिश्चित और वस्तुगत प्रक्रिया का अनुसरण किया जाय। ह स्वाभाविक है कि वे साक्ष्य सम्बन्धी नियमों का उतनी कड़ाई के साथ पालन नहीं कर सकते तनी कि सामान्य न्यायालयों में देखने को मिलती है। इन अर्द्ध-न्यायिक अधिकरणों को समय की चत अवश्य करनी है। इसलिए वे पूरी न्यायिक प्रक्रिया का पालन नहीं कर सकते, केवल महत्व-र्ण नियमों को काम में ला सकते हैं।

न्यायपालिका का मुख्य काम नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना है। इसलिए आवश्यक : कि उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय प्रशासकीय तथा अर्द्ध न्यायिक निकायों के निर्णयों ी कानूनी भूलों की दृष्टि से ही नहीं बल्कि तथ्यों के आधार पर भी पुनरीक्षा करें। मेरा अभिप्राय ह नहीं है कि उच्चतर न्यायालय नये सिरे से किसी वाद का परीक्षण करें, अथवा तथ्यों की पूरी ाँच करें। किन्तु यदि न्यायालयों को अपनी कार्यवाही के दौरान विश्वास हो जाय कि किसी पक्ष ; साथ अन्याय हुआ है तो उन्हें प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की कार्यवाही को रद्द करने में भी नहीं हचकना चाहिए, और ऐसा करने में उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि उन्हें न्यायालयों को) तथ्यों से प्रयोजन है अथवा नहीं। किसी पक्ष के साथ किये गये अन्याय का प्रती-ार करने के लिए असाधारण प्रादेश (रिट) आदि जारी करना न्यायपालिका के स्वविवेक के न्तर्गत आता है। चूँकि राज्य का काम निषेधात्मक न होकर भावात्मक हो गया है, इसलिए उसके ार्य दिन प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं। फलस्वरूप लोकसेवकों का नागरिकों के जीवन और कार्यों में स्तक्षेप भी बढ़ता जा रहा है। यह सम्भव है कि लोकसेवक स्वविवेक का प्रयोग करने के नाम पर

मनमानी करने लगें। प्रशासकों को मनमाने तथा अनियन्त्रित ढंग से शक्ति का प्रयोग करने से रोकने के लिए आवश्यक है कि न्यायिक उपचारों का प्राविधान अनिवार्य हो। यदि न्यायालयों को विश्वास हो जाय कि नागरिकों के मूल अधिकारों तथा अन्य तात्विक अधिकारों को कुचला गया है तो उन्हें प्रतीकारों का अधिक प्रभावकारी ढंग से प्रयोग करना चाहिए।

नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायालयों के निर्णयों को कार्यान्वित किया जाय तथा हठधर्मी कार्यपालक अधिकारियों को उनमें विघ्न डालने से रोका जाय। यदि न्यायालयों के निर्णयों को लागू नहीं किया जाता तो उन निर्णयों का क्या सम्मान रह जायगा। इसलिए आवश्यक है कि अवमान-सम्बन्धी (न्यायालयों की मानहानि से सम्बन्धित) नियमों को अधिक कठोर बनाया जाय, जिससे उन व्यक्तियों तथा अभिकरणों को जो न्यायालयों के निर्णयों का उल्लंघन करते हैं, समुचित दण्ड दिया जा सके।

आज देश आयोजन की विशाल परियोजनाओं को प्रारम्भ करने जा रहा है। कुछ सीमा तक राज्य स्वयं प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक उद्यमों को चला रहा है। इसके अतिरिक्त राज्य ने नियमन और नियन्त्रण की व्यापक शक्तियाँ अपने हाथों में ले ली हैं। पिछड़े तथा कमजोर वर्गों के हितों में सामाजिक कल्याण के दर्शन को कार्यान्वित करने के लिए अनेक सुरक्षा अधिकरणों तथा बीमा आयोगों की स्थापना हो रही है। इस प्रकार विभागों, निगमों, सार्वजनिक कम्पनियों, अभिकरणों, परिषदों, सत्ताओं तथा प्रशासनों का बड़ी संख्या में उदय हो रहा है। इन अभिकरणों को पसन्द करने अथवा न करने का प्रश्न नहीं है, क्योंकि अब तो उन्होंने दृढता से अपने पैर जमा लिये हैं और उनकी संख्या बढ़ती जा रही है। प्रशासकीय अभिकरणों की वृद्धि नागरिकों के अधिकारों के लिए एक खतरा है। एक ओर संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकार तथा राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धान्त हैं। दूसरी ओर प्रशासकीय विभाग बड़े पैमाने पर मूल अधिकारों का अतिक्रमण कर रहे हैं। इस बात की शिकायतें हैं कि अधिकारीगण शक्ति का आवश्यकता से अधिक प्रयोग करते हैं, प्रशासकीय स्वविवेक ने स्वेच्छाचारिता का रूप धारण कर लिया है और निरन्तर बढ़ रही नौकरशाही नागरिकों के अधिकारों का अनावश्यक अतिक्रमण करके प्रशासकीय प्रक्रिया को विकृत कर रही है। जब हम किसी के क्षेत्राधिकार के मनमाने ढंग से अतिक्रमण करने के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमें उत्तरप्रदेश के विवाद का स्मरण हो आता है जिसमें एक ओर मूल अधिकारों की समर्थक न्यायपालिका थी और दूसरी ओर अपने प्रभुत्वपूर्ण विशेषाधिकारों पर गर्व करने वाली व्यवस्थापिका (विधानांग)। प्रसंगवश यहाँ यह दुहरा देना अनुपयुक्त न होगा कि इस प्रभुत्वसम्पन्न विधानांग की सत्ता इस बात पर आधारित थी कि उसने आम चुनाव में डाले गये वोटों का 50 प्रतिशत से भी कम प्राप्त किया था। अतः यह आवश्यक है कि नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा की जाय, और उनकी रक्षा के जो उपचार और उपाय हैं उनका सम्मान किया जाय।

इस सम्बन्ध में मेरा सुझाव है कि फ्रांस की राज्य-परिषद् के ढंग की किसी संस्था की स्थापना कर ली जाय। फ्रांस की प्रशासकीय विधि और प्रशासकीय न्यायालय उस अवस्था को पार कर चुके हैं जब डाइसी ने ब्रिटेन की विधि को शासन तथा फ्रान्स के उन विशेष न्यायालयों की व्यवस्था के बीच अन्तर बतलाया था जिनमें नागरिकों तथा प्रशासकों के बीच उठने वाले विवादों की सुनवाई होती थी। यह सत्य है कि भारतीय संविधान में प्रशासकीय अधिकारियों की भूलों को सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रादेशों (रिटों), आदेशों तथा निर्देशनों का प्राविधान किया गया है। किन्तु इन प्रादेशों में दो गम्भीर दोष हैं। प्रथम, ये उपचार न्यायालयों के स्वविवेक पर निर्भर होते हैं। न्यायालय इन्हें जारी करें अथवा न करें। नागरिक का उनके सम्बन्ध में आदेशात्मक अधिकार नहीं है। दूसरे, प्रादेश तभी जारी किये जाते हैं जब कोई कानून की भूल हो। सामान्यतः न्यायालय तथ्यों की भूल होने पर हस्तक्षेप नहीं करते। इसलिए प्रादेश सरलता से उपलब्ध नहीं होते, न वे अधिकारों के अतिक्रमण के विरुद्ध प्रभावकारी उपचार सिद्ध होते हैं। इसलिए ऐसे नियमित न्यायालयों की आवश्यकता है जिनके प्रमुख उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश हों, और जो नागरिकों को अधिक व्यापक अनुतोष (राहत) दे सकें। इन न्यायालयों के न्यायाधीश प्रशासक नहीं होना चाहिए, जैसा कि फ्रान्स में है, बल्कि ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिन्हें विधिक प्रशिक्षण प्राप्त हो

और जिनमें उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता हो। इन न्यायालयों को तथ्यों क छानबीन करने का भी अधिकार होना चाहिए।

नागरिकों को संविधान के भाग तीन में जो मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं उनकी रक्षा की विशेष आवश्यकता है। अनुच्छेद 14 और 15 की रक्षा की जानी चाहिए। लॉर्ड हीवार्ट ने नौकरशाही के न्याय-निर्णय की और ब्रिटेन के सरकारी विभागों द्वारा न्यायिक क्षेत्र में किये जाने वाले हस्तक्षेप की जो अतिरंजित भर्त्सना की है उससे हम भले ही सहमत न हों, किन्तु इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि कार्यपालिका के आक्रमणों से नागरिकों की रक्षा की जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कार्यपालिका अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न कर सके, आवश्यकता से अधिक शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित न कर ले और स्वविवेक को स्वेच्छाचारिता में परिवर्तित न कर पाये। ऐसी स्थिति में हमारा ध्यान उस संरक्षण की ओर आकृष्ट होता है जो फ्रांस के नागरिकों को वहाँ की राज्य-परिषद द्वारा प्रदान किया जाता है। कभी-कभी सामान्य विधि (कॉमन लॉ) द्वारा न्याय प्राप्त करने में समय अधिक लगता है और धन अधिक खर्च होता है। फ्रान्स की राज्य-परिषद में खर्च कम होता है, और वह अधिक प्रभावकारी भी है। इसलिए हमें उसका अध्ययन करना चाहिए और देखना चाहिए कि हमारे देश में उसकी जैसी किसी संस्था का परीक्षण करना उपयुक्त होगा अथवा नहीं। किन्तु उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जो विशेषाधिकार प्रादेश (रिट) जारी किये जाते है, वे बने रहने चाहिए। मैं इस पक्ष में नहीं हूँ कि प्रशासकीय न्यायालय स्थापित करने के लिए उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय की प्रशासकीय निर्णयों की पुनरीक्षा करने की शक्ति छीन ली जाय। मेरा सुझाव है कि प्रशासकीय न्यायालय उच्च और सर्वोच्च न्यायालयों के पूरक के रूप में स्थापित किये जाने चाहिए।

4. भारत में नियोजन तथा लोक प्रशासन

आज नियोजन की आवश्यकता के सम्बन्ध में दार्शनिक विवाद की आवश्यकता नहीं है। आज इस बात से सभी सहमत हैं कि नियोजित अर्थव्यवस्था ही भारत का दरिद्रता तथा बेकारी के अभिशाप से उद्धार कर सकती है। गाँवों के लोग आधे समय बेकार रहते हैं। इससे उनकी कार्यक्षमता व्यर्थ हो जाती है। नियोजन के द्वारा ही उनकी इस शक्ति का प्रयोग कर सकना सम्भव है। वर्तमान काल में आर्थिक पृथकत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। देश के दूर कोनों में रहने वाले लोगों में भी रहन-सहन के उच्च स्तर की चेतना और आकांक्षा देखने को मिलती है और उपभोक्ता लोग नवीन आवश्यकताओं का अनुभव कर रहे हैं।

नियोजन के दो मुख्य पहलू हैं : (1) आर्थिक विकास की गति में वृद्धि, और (2) आर्थिक क्रियाकलाप का फैलाव। स्पष्ट है कि इससे राज्य के कार्यों में वृद्धि होगी। प्रशासन के इस विस्तार से अर्थशास्त्र पुनः राजनीतिक अर्थशास्त्र का रूप धारण कर लेता है।

यदि नियोजन को लोकतान्त्रिक ढंग से कल्पित और क्रियान्वित किया जाय तो भी उससे नौकरशाही की वृद्धि होती है। अर्थशास्त्र के 'आस्ट्रियाई समुदाय' की इस आलोचना में निश्चय ही सत्य का अंश है कि नियोजन नौकरशाही के अत्याचार को निमन्त्रण देता है। नियोजन दो प्रकार से नौकरशाही की वृद्धि करता है : (1) जो आर्थिक क्षेत्र पहले निजी नियन्त्रण में था उस पर अब राज्य का नियत्रण स्थापित हो जाता है। इस प्रकार उत्पादन, वितरण, बैंकिंग, आयात, निर्यात तथा विनिमय पर राज्य का नियमन और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष राजकीय नियन्त्रण कायम हो जाता है। (2) गैर-सरकारी व्यक्ति जो अब तक अपनी निजी सौदाकारी के द्वारा जीविका कमाते थे, अब राज्य के वैतनिक नौकर बन जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि लोग कभी-कभी सरकार का जो विरोध कर लेते थे और जो लोकतन्त्र की रक्षा के लिए एक बाँध का काम करता था वह भी समाप्त हो जाता है। राज्य के नौकरों के रूप में व्यक्ति राज्य की इच्छा का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकेंगे।

भारत में नियोजन ने प्रशासन को तीन स्तरों पर प्रभावित किया है : (1) उसने आंशिक रूप में राज्यों की स्वायत्तता को ठेस पहुँचायी है, (2) वह वैयक्तिक अभिक्रम (पहल) के विकास का तथा सहभागी नागरिकता का शत्रु है, और (3) उसने भारत में आर्थिक प्रशासन को विदेशी

विधानांगों तथा भारत की सहायता देने वाले संघों और क्लबों की सनक का शिकार बना दिया है।

योजना आयोग जो एक असांविधिक निकाय है, जिसका संविधान में कहीं उल्लेख नहीं है और जिसका निर्माण कार्यपालिका के आदेश से किया गया है, आज एक अत्यधिक शक्तिशाली संस्था बन बैठा है। प्रारम्भ में उसकी एक मंत्रणा अभिकरण (स्टाफ एजेंसी) के रूप में कल्पना की गयी थी और समझा गया था कि उसका काम सलाह देना और शोध करना होगा। किन्तु उसके साथ चोटी के केबिनिट मन्त्रियों का सम्बन्ध है इसलिए उसको अनावश्यक प्रतिष्ठा मिल गयी है और वह नीति-निर्धारण में भी हस्तक्षेप करने लगा है। किन्तु नीति-निर्धारण तो एक राजनीतिक काम है, अतः वह शासक दल का विशेषाधिकार होना चाहिए।

यह सत्य है कि अनेक आर्थिक समस्याओं का कागज पर समाधान कर दिया गया है। हमारे प्रशासक एक आर्थिक भ्रान्ति के शिकार हैं। उनका ध्यान उत्पादन के लक्ष्यों की अपेक्षा खर्च के लक्ष्यों पर अधिक केन्द्रित है। यदि बजट में निर्धारित कुछ लाख अथवा करोड़ रुपये खर्च हो जाते हैं तो हमारे प्रशासकों को सन्तोष हो जाता है। किन्तु जनता को उत्पादन सम्बन्धी ठोस लक्ष्यों से प्रयोजन है। उसे बढ़े हुए खर्च के आँकड़ों से सन्तोष नहीं हो सकता, वह तो ठोस भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहती है। तीन पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद वर्बरतापूर्ण गरीबी, भुखमरी, और अभाव हमारे जीवन को ही नष्ट करने पर तुले हुए प्रतीत होते हैं। हमारे देश में वित्तमन्त्री के अस्तित्व का औचित्य इसी में है कि वह विदेशों से अधिकाधिक ऋण लेने में सफल हो सके। यह हमारे लिए कोई सम्मान और प्रतिष्ठा की चीज नहीं है कि जिस देश में वैदिक युग से धान उत्पन्न होता आया है उसे फ्लोरिडा से अपने लिए चावल मँगाना पड़े। मूल्यों की अस्थिरता से मुद्रास्फीति का खतरा और भी अधिक बढ़ता जाता है। देश पर पचास-साठ करोड़ का विदेशी ऋण लद गया है।

यह सत्य है कि नियोजन भारतीय जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने में असफल रहा है। मैं उन अनेक इस्पात के कारखानों तथा बाँधों का महत्व कम नहीं आँकता जिनका देश में पिछले वर्षों में निर्माण हुआ है। किन्तु कृषि की उत्पादकता को देखते हुए यह बड़ी निराशा की बात है कि दुर्भिक्ष, भुखमरी और अन्नाभाव का भूत अभी भी भारतीय जनता को त्रस्त करता रहता है। नियोजन के बड़े से बड़े समर्थकों ने भी स्वीकार किया है कि योजनाओं के कार्यान्वयन में बड़ी कमियाँ रही हैं। मुझे योजना के सिद्धान्तों और लक्ष्यों के निरूपण से कोई झगड़ा नहीं है, किन्तु मुझे देहात में वह परिवर्तन नहीं दिखायी देता जिसकी हमने कल्पना और संकल्प किया था। योजनाओं के कार्यान्वयन में जो असफलता हुई है उसका उत्तरदायित्व राजनीतिक दलों पर है, और इस सम्बन्ध में कभी-कभी प्रतिपक्ष के नेताओं को भी अपराधी करार दिया गया है। किन्तु प्रशासकीय मशीन भी दोषी है। यद्यपि एपिलबी आदि विशेषज्ञों ने भारत के शीर्षस्थ प्रशासकों की बड़ी प्रशंसा की है, फिर भी यह तथ्य है कि हमारे देश का बीच का प्रशासक वर्ग अपने काम में अयोग्य सिद्ध हुआ है। कभी-कभी आत्मतुष्टि और पदवृद्धि को लोकसेवा की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता है।

यह सत्य है कि एक स्थिर अर्थतन्त्र को गत्यात्मक रूप देने की प्रक्रिया ने अनेक प्रकार के असन्तुलन उत्पन्न कर दिये हैं। कुछ प्रदेशों की शिकायत है कि उनकी उपेक्षा की जा रही है। मुद्रास्फीति में भयंकर वृद्धि हुई है और वह भविष्य के लिए एक भयानक अपशकुन है। यह सत्य है कि योजनाओं के कार्यान्वयन की गति बड़ी धीमी रही है। योजनाओं के उद्देश्यों के रूप में जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे वे अविकल रूप से पूरे नहीं हुए हैं। इसके लिए अनेक तत्व जिम्मेदार हैं। हमें विरासत में अवरुद्ध आर्थिक विकास का जो ढाँचा मिला है उसने भी योजनाओं की पूर्ति में कम बाधाएँ नहीं डाली हैं।

आज हमारे देश में राजनीतिक प्रक्रिया में जनता की साझेदारी की ओर जनशक्ति के निर्माण की बहुत चर्चा हो रही है। किन्तु तथ्य यह है कि योजनाएँ जनता में उस सच्चे उत्साह को जागृत कर में असफल रही हैं जिसकी कि आशा की जाती थी। जनता के दिलों और दिमागों का योज-

नाओं के साथ एकात्म्य स्थापित नहीं हुआ है। वह योजनाओं को अपना नहीं समझती है। जब द्वितीय योजना बनायी जा रही थी उस समय नीचे से योजना बनाने की बड़ी चर्चा थी। किन्तु तृतीय योजना के समय इस प्रकार की चिल्लाहट सुनने को नहीं मिली। इसका कारण शायद यह है कि शासक दल अधिक अधिकारितन्त्रात्मक (नौकरशाही पर अवलम्बित) होता जा रहा है और उसे अपनी शक्ति में अधिक विश्वास हो गया है। किन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि योजना के साथ जनता का सहयोग आवश्यक है। दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में योजना भी एक दलगत मामला बन गयी है, और राजनीतिक दल योजनाओं की विफलता की आलोचना में अधिक व्यस्त रहते हैं, वे योजनाओं को सफल बनाने के लिए भावात्मक रूप में कोई कार्य नहीं करते। आवश्यकता इस बात की है कि जिस काम को करने में राजनीतिक दल असफल रहे हैं उसे ऐच्छिक समुदायों और अभिकरणों को करना चाहिए। यदि शासक दल के सदस्य योजनाओं का गुणगान करते हैं तो उसका अधिक मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक प्रभाव नहीं पड़ता। द्वितीय तथा तृतीय आम चुनावों ने सिद्ध कर दिया है कि कांग्रेस को विधानांगों में बहुसंख्यक स्थान इसलिए मिल सके कि विपक्षी दलों में परस्पर फूट थी। कांग्रेस को अन्य दलों से अधिक मत मिले। किन्तु उसे बहुसंख्यक मत प्राप्त नहीं हुए। इससे स्पष्ट है कि कांग्रेस का निर्वाचकगण के मन पर समुचित मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक प्रभाव नहीं हैं। इसलिए उसके अनुरोध का आवश्यक प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए जो ऐच्छिक समुदाय और अभिकरण योजना के मूल्य को स्वीकार करते हैं, उन्हें यह काम अपने हाथों में लेना चाहिए। जनता का समर्थन प्राप्त करने में सामयिक सभाएँ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। जनता के प्रतिनिधियों से निर्मित सलाहकार समितियाँ अथवा नागरिक परिषदें इस काम में अधिक सफल नहीं हो सकतीं।

योजनाओं के लिए धन जुटाने की समस्या अधिक महत्वपूर्ण है। मैं विदेशी ऋणों के विरुद्ध हूँ। अपने वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के गले में फंदा पड़ता है। यदि यह सत्य है कि राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय बढ़ गयी है तो अतिरिक्त करों के द्वारा राजस्व में वृद्धि करना उतना कठिन नहीं होना चाहिए जितना कि आज जान पड़ता है। नियोजन को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक उत्तेजकों का प्रयोग करना पड़ेगा। हमें मैक्स, शूम्पैटर अथवा अन्य किसी के विकास सम्बन्धी सिद्धान्त को अपनाये बिना आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना है और उसका परिवर्द्धन करना है।

मेरा सुझाव है कि योजनाओं की उपलब्धियों का मूल्यांकन निष्पक्ष अभिकरणों के द्वारा होना चाहिए। योजना आयोग की योजनाओं की परियोजनाओं के सम्बन्ध में एक समिति है। उसने अपने कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन की भी स्थापना करली है। जिसका मुख्य काम सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन करना है। किन्तु मेरा सुझाव है कि कार्यक्रमों का मूल्यांकन सामाजिक विज्ञानों के विशेषज्ञों के स्वतन्त्र अभिकरणों के द्वारा किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालयों के अध्यापक मूल्यांकन यूनिट के अंग के रूप में काम कर सकते हैं।

नियोजन की प्रशासकीय समस्याओं के सम्बन्ध में मेरे निम्न सुझाव हैं :

(1) मैं आवश्यक उद्योगों के क्षेत्र में राज्य पूँजीवाद के विरुद्ध नहीं हूँ। जो उद्योग देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं उनकी स्थापना करनी है और उन्हें चलाना है चाहे उससे कुछ सीमा तक नौकरशाही की ही वृद्धि क्यों न हो।

(2) राज्य खाद्यान्न के उत्पादन के लिए कुछ कृषि फार्म भी चला सकता है।

(3) उपभोग वस्तुओं तथा विलास वस्तुओं के क्षेत्र में राज्य को प्रवेश नहीं करना चाहिए। उसे उस क्षेत्र का नियमन करके ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए।

(4) योजना आयोग के संगठन में कुछ परिवर्तन किये जाने चाहिए। इस प्रकार की संस्था को विधिक रूप दे दिया जाना चाहिए। उसका मुख्य काम शोध करना और मन्त्रणा देना होना चाहिए। साथ ही साथ उसे इस बात की सलाह देनी चाहिए कि वित्त, कृषि, उद्योग और वाणिज्य के मन्त्रालयों के बीच तालमेल किस प्रकार बिठलाया जाय। योजना आयोग को नीति-निर्धारण का

काम अपने हाथों में नहीं लेना चाहिए। और न उसे योजनाओं को स्वीकृत करने का काम सौंपा जाना चाहिए।

(5) योजना अभिकरण का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण किया जाय।

(6) भारतीय राजतन्त्र के संघात्मक रूप को सुरक्षित रखने के उपाय किये जाने चाहिए। आज स्थिति यह है कि योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद् का नीति तथा वित्त पर नियंत्रण है, जबकि योजनाओं को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी राज्यों की सरकारों की होती है। इससे यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि योजनाओं की असफलता की जिम्मेदारी किस पर है। इससे भ्रष्टाचार फैलता है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि जिम्मेदारी समुचित रूप से बाँट दी जाय।

हमें अपने लोकतन्त्र के नैतिक मूल्यों की ओर भी ध्यान देना है। भारत एक गरीब देश है, और ग्रामीण जनता की गरीबी भयंकर है। इसलिए हमारी योजनाओं में गान्धीजी के सरल जीवन के आदर्श का पुट होना चाहिए। कोरे उपदेशों से काम नहीं चलेगा। गान्धीजी, जिन्हें योजना बनाने वाले राष्ट्र का पिता तथा पैगम्बर मानते हैं, सरलता, संयम, तथा लौकिक और आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय में विश्वास करते थे। यह उचित नहीं है कि हम विदेशों से अपरिमित धन उधार ले लेकर ऐसे बड़े-बड़े भवनों का निर्माण करते जायँ जो जनता की दरिद्रता के सन्दर्भ में असंगत और बेतुके जान पड़ते हैं।[10] हमें गान्धीजी के "यदि मैं राज्यपाल होता" शीर्षक निबन्ध का स्मरण करना चाहिए। हमारे जीवन का स्तर और हमारी प्रशासकीय सुविधाएँ हमारी शक्ति और साधनों के अनुरूप होनी चाहिए।

5. सामुदायिक विकास

सामुदायिक विकास की योजना ग्रामीण जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक आधारों को सुधारने की पद्धति और कार्यविधि है। अँग्रेजी साम्राज्यवाद के परिवर्ती दौर में पूँजीवादी शोषण के विनाशकारी परिणामों के कारण ग्रामीण जीवन का नितान्त ह्रास और पतन हो गया था। सामुदायिक विकास कार्यक्रम भारतीय गाँवों का पुनर्वास करने का उपाय है। यह कार्यक्रम उस चीज से भी आगे ले जाने वाले हैं जिसे हम आर्थिक विकास कहते हैं। उनके मूल में कल्पना यह है कि पूँजी को लगाने के बुद्धिमत्तापूर्ण तरीकों को अपना कर लोगों की मनोवृत्ति में दूरगामी रूपान्तर किया जाय। उनका उद्देश्य केवल प्रति एकड़ उपज बढ़ाना नहीं है। आशा यह की जाती है कि इनसे ग्रामवासियों में अपने भौतिक स्तर को सुधारने की तीव्र भावना उत्पन्न होगी। इस दृष्टि से उनका उद्देश्य उस चीज के विरुद्ध संगठित संघर्ष चलाना है जिसे मौंटेग्यू-चैम्सफर्ड रिपोर्ट में 'भारतीयों का दयनीय सन्तोष' कहा गया था।

यह कथन सत्य है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का उद्देश्य गाँववासियों में नयी मनोवृत्ति उत्पन्न करके ग्रामीण जीवन का मनोवैज्ञानिक रूपान्तर करना है। किन्तु कभी-कभी यह मिथ्या प्रयत्न भी सिद्ध हो सकता है। मनोवृत्तियों का निर्माण निरपेक्ष वातावरण में नहीं किया जा सकता। वे वस्तुगत परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब हुआ करती हैं। यदि कृषि की उत्पादकता बढ़ायी जा सके, और गरीब किसानों को आवश्यक खाद्यान्न मिलते रहने का आश्वासन दिया जा सके तो अवश्य ही वे आनन्द और उत्साह का अनुभव करेंगे।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने भारत के आर्थिक पिछड़ेपन के लिए देश की जनता को भाग्यवादी उदासीनता को दोषी ठहराया है। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूँ। विदेशी साम्राज्यवादियों ने देश की आर्थिक दुर्दशा को युक्तिसंगत ठहराने के लिए इस मिथ्या धारणा का पोषण किया था, किन्तु भारतीय अर्थशास्त्रियों को शोभा नहीं देता कि वे इस अप्रमाणित तथा निराधार धारणा को दुहराते रहें। मेरा अपना अनुभव यह है कि भारतीय मजदूरों को अल्प आहार मिलता है, उसको

---

10 यह दुःख की बात है कि आधुनिकता की धुन में हम गान्धीजी के सरल जीवन के आदर्श को छोड़ते जा रहे हैं। प्रासादों जैसे बड़े-बड़ भवनों का निर्माण किया जा रहा है, और चोटी के प्रबन्धकर्ता अधिकारियों को भारी-भारी वेतन दिये जा रहे हैं। इससे साधारण मनुष्य की सेवा करने की भावना के स्थान पर उसको आतंकित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

देखते हुए वे जितनी शक्ति उत्पादन के कार्यों में लगा सकते हैं वह सचमुच आश्चर्यजनक है। जो मजदूर प्रति सप्ताह लगभग सत्तर घंटे काम करता है उस पर भाग्यवादी होने का दोष नहीं लगाया जा सकता।

कागज पर सामुदायिक विकास योजनाओं की उपलब्धियाँ भले ही महान हों, किन्तु सत्य यह है कि भारतीय किसान अंग्रेजी शासन-काल की तुलना में न अधिक सुखी हैं और न अधिक समृद्ध।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के बारे में मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं :

(1) हमें धीमी गति से चलना है। भारत में छः लाख गाँवों में दस अथवा पन्द्रह वर्ष के भीतर 'दूध और शहद' की नदियाँ बहा देने का असम्भव काम हाथ में लेना निरर्थक है। किसी व्यक्ति की आकांक्षाएँ श्लाघ्य हो सकती हैं, किन्तु उसे अयथार्थवादी नहीं होना चाहिए और न झूठ वायदे करने चाहिए। इसलिए अनेक क्षेत्रों में शक्ति लगाने के विचार को छोड़ देना चाहिए।

(2) विकास कार्य के लिए ऐसे लोगों को भर्ती किया जाना चाहिए जिनमें धर्मप्रचारकों जैसा उत्साह हो और जिनकी मनोवृत्ति सेवकों की-सी हो, शासकों की-सी नहीं। प्रारम्भिक क्षेत्रों में अहंकारी सरकारी कर्मचारियों की नयी जाति का निर्माण करना वांछनीय नहीं है।

(3) विकास-क्षेत्र परामर्श समिति के नेतृत्व को शक्तिशाली बनाया जाय।

(4) आवश्यकता इस बात की है कि पंचायतों तथा पंचायत समितियों के द्वारा कार्यान्वित होने वाली लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजनाओं तथा विकासखण्ड अधिकारियों के द्वारा कार्य करने वाले केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों के बीच सम्पर्क स्थापित किया जाय। बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिश थी कि ग्राम-पंचायतें तथा पचायत समितियाँ सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का साधन होना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सुझाव लोकतान्त्रिक प्रतीत होता है, किन्तु समस्या यह है कि मुखिया जनता को हानि पहुँचा कर स्वयं अमीर ठेकेदार बनने का प्रयत्न करते हैं, इस चीज को कैसे रोका जाय।

6. भारत में संकटकालीन आर्थिक प्रशासन के कुछ पहलू

स्वतन्त्रता के बाद हम अपने देश के इतिहास के सबसे बड़े परीक्षा-काल से गुजर रहे हैं। भारत एक ऐसे क्रूर, बर्बर तथा शस्त्रधारी समग्रवादी देश के आक्रमणों से त्रस्त है जो सामूहिक हत्याओं की प्रणाली से प्रचलित है और जिसमें मंगोलों की हिंसात्मक उग्रता देखने को मिलती है। माओ तथा चाऊ एशिया की स्वतन्त्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इस चुनौती का सामना करने के लिए हमें अपने मानवीय तथा भौतिक साधन पूर्णतः एकजुट करने होंगे। यह बड़ी विशाल समस्या है, किन्तु यदि भारत को एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखना है तो इसका समाधान ढूँढ़ना ही पड़ेगा।

हम अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में लगे हुए हैं, और हमारा उद्देश्य यह है कि कृषिक, औद्योगिक तथा विद्युत क्षेत्रों की उत्पादकता बढ़ायी जाय जिससे जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाया जा सके। अब हमें इस लक्ष्य में थोड़ा-सा संशोधन करना पड़ेगा। अब अनेक वर्षों तक हमारा उद्देश्य केवल राष्ट्रीय आय बढ़ाना नहीं है, बल्कि युद्ध-सामग्री उत्पन्न करना भी है। किन्तु उद्देश्य में परिवर्तन करने का अर्थ यह नहीं है कि कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादकता के लक्ष्य को भुला दिया जाय। अपनी सेनाओं की शक्ति को बनाये रखने के लिए भी कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादकता में वृद्धि करना आवश्यक है। सैनिकों को भोजन, ऊनी वस्त्रों तथा अन्य अनेक वस्तु तथा सेवाओं की आवश्यकता होती है। रेल के इंजन, जीपें तथा मोटर ठेले बनाने पड़ेंगे। घायलों की समस्या को हल करने के लिए चिकित्सा सम्बन्धी शोध-कार्य को अधिक तेजी से चलाने की आवश्यकता है। अतः राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद तथा राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के बीच तालमेल स्थापित करने की आवश्यकता है।

कृषि की उत्पादकता बढ़ाना निश्चय ही एक प्रमुख उद्देश्य है। अनेक क्षेत्रों में लक्ष्य पहले से अधिक ऊँचे कर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए भूमि संरक्षण के सम्बन्ध में अब लक्ष्य एक

करोड़ दस लाख एकड़ से बढ़ाकर एक करोड़ साठ लाख एकड़ निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार लघु सिंचाई का लक्ष्य अब एक करोड़ बीस लाख एकड़ से एक करोड़ नब्बे लाख कर दिया गया है। शुष्क कृषि के क्षेत्र में पहले लक्ष्य दो करोड़ एकड़ था, अब पाँच करोड़ एकड़ है।[11] यह आवश्यक है कि कृषिक उत्पादन के सभी साधनों का भरपूर प्रयोग किया जाय, और नये साधन निर्मित किये जायँ। जहाँ तक प्रशासकीय समस्या का सम्बन्ध है, अनेक राज्यों में सामुदायिक विकास खण्ड और पंचायती राज की संस्थाएँ हमारी सहायता कर सकती हैं। उनका काम है कि वे जनता से सम्पर्क स्थापित करें, उसे राष्ट्रीय प्रतिरक्षा तथा योजना से सम्बन्धित कार्यों का तात्कालिक महत्व समझाएँ और इस प्रकार उत्पादन को प्रोत्साहन दें।

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए श्रम-मोर्चा के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को त्याग देना पड़ेगा और उसके स्थान पर देश की रक्षा के लिए समाज के सभी वर्गों को एकजुट होकर समर्पण की नयी भावना से काम करना होगा। संघीय श्रम मंत्रालय ने एक संकटकालीन उत्पादन समिति की स्थापना की है। उत्पादन के सम्बन्ध में औद्योगिक श्रम प्रस्ताव को कार्यान्वित करना उस समिति का काम होगा। वह औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के उपाय बतलायेगी और उत्पादन व्यय में मितव्ययता करने के लिए सुझाव देगी। संघीय श्रम मन्त्रालय ने 60,000 कुशल शिल्पियों के प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी प्रारम्भ किया है। एक राष्ट्रीय श्रम सेना का भी संगठन किया जा रहा है। आवश्यकता पड़ने पर इसके सदस्य प्रतिरक्षा के काम में लगाये जा सकेंगे और उसमें चलती-फिरती टुकड़ियाँ भी होंगी।

मेरा सुझाव है कि मानव श्रम संचालन परिषद की तरह की एक संस्था की स्थापना की जाय। इस परिषद के पास जनसंख्या के राज्य वार सही आँकड़े होंगे। यदि प्रादेशिक सेना के लिए सात लाख और गृह रक्षक सेना (होमगार्ड्स) के लिए दस लाख मनुष्यों की आवश्यकता है तो ये लोग कहाँ उपलब्ध होंगे और उनकी कैसे भर्ती की जायगी—आदि समस्याओं का समाधान यह परिषद करेगी।

अर्थतन्त्र को सुचारु रूप से चलाते रहने तथा उपभोक्ताओं का विश्वास बनाये रखने के लिए मूल्यों को स्थिर रखना अत्यन्त आवश्यक है। चोरबाजारी तथा मुनाफाखोरी का कठोरता से दमन करना होगा। कभी-कभी खुराकबन्दी (राशन) तथा नियन्त्रण व्यवस्था का भी सहारा लेना पड़ सकता है। इस सबके लिए प्रशासकीय परिवर्तन करने होंगे। यह भी सम्भव है कि नयी परिस्थितियों से निपटने के लिए एक नया विभाग, केन्द्रीय वित्त विभाग में एक नया अनुभाग अथवा राज्यों के वित्त विभागों में नये अनुभाग स्थापित करने पड़ें।[12]

कर वसूल करने वाली व्यवस्था में सुधार करना होगा जिससे वसूलयाबी का काम यथावत पूरा हो सके। इसके लिए कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि करनी पड़ सकती है और नये कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करने की आवश्यकता हो सकती है। यह सम्भव है कि नये कर लगाने पड़ें, अतः प्रशासकीय व्यवस्था में और भी अधिक सुधार करने की आवश्यकता होगी।

यह प्रत्याशित है कि बजट के आँकड़ों में कई गुनी वृद्धि होगी। हो सकता है कि पुराना आदेशात्मक बजट जिसमें ब्योरे की भरमार होती थी अब हमारा उद्देश्य पूरा न कर सके। इसलिए हमें कम से कम राष्ट्रीय प्रशासन के लिए 'निष्पत्ति बजट' अपनाना पड़ेगा जैसाकि अमेरिका में प्रथम हूवर आयोग ने सिफारिश की थी।

7. ग्रामीण नेतृत्व तथा जन-संचार

आधुनिक सामाजिक विज्ञानों में अन्योन्यक्रिया (परस्पर क्रिया) की धारणा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए अब उस पुरानी धारणा को त्यागना पड़ेगा जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज दो पृथक सत्ताएँ मानी जाती थीं, क्योंकि अपने में स्वतन्त्र व्यक्ति कोरी सैद्धान्तिक विविक्ति है। वह उन अगणित सामाजिक तत्वों का मूर्तरूप है जो निरन्तर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया करते

---

11 ये आंकड़े 1962 के हैं।

12 कहीं-कहीं ऐसे विभागों की स्थापना कर दी गयी है।

रहते हैं। और न समाज असम्बद्ध व्यक्तियों का निष्क्रिय पुन्ज है; वह व्यक्तियों और समूहों के अविच्छिन्न पारस्परिक सम्बन्धों के कारण निरन्तर बदलता रहता है। जनता एक अखण्ड और अविकल विराट मूर्ति नहीं है। उसमें अगणित व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जिनके बीच निरन्तर अन्योन्यक्रिया चलती रहती है। इसलिए किसी भी सामाजिक शोध में हमें अन्योन्यक्रिया तथा विचारों और भावनाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान के महत्व को समझना होगा।

पिछले दो सौ वर्षों में जो औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रान्तियाँ हुई हैं उनके कारण तथाकथित गतिहीन प्राच्य की जनता भी उद्वेलित हो उठी है और अपनी स्वाभाविक उच्चता को प्राप्त कर रही है। संचार-साधनों के प्रभाव के कारण वह भी सब प्रकार के विचारों और क्रान्तिकारी विचारधाराओं से प्रभावित हो रही है। यदि हम ज्ञान की समाजशास्त्रीय धारणाओं को लागू करें तो हमें मानना पड़ेगा कि न्याय, स्वतन्त्रता तथा सामाजिक और आर्थिक समानता की उन धारणाओं की जड़ें जो आज प्राच्य जगत की जनता को अनुप्राणित और स्पन्दित कर रही हैं, उस वातावरण में हैं, जो वहाँ की जनता और बुद्धिजीवियों के लिए धीरे-धीरे निर्मित हो रहा है।

गाँवों की अगणित समस्याओं को समझने के लिए यथार्थवादी समाजशास्त्रीय तथा आर्थिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। आज गाँवों का जो रूप है उसी को आदर्श मानना हमारी काल्पनिक उत्कण्ठाओं को भले ही सन्तुष्ट कर सके, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि पाश्चात्य प्रतिमान को देखते हुए हमारे गाँव लगभग निर्जीव हैं। सामुदायिक विकास से होने वाले लाभों पर कुछ उच्च वर्गों और चतुर व्यक्तियों ने एकाधिकार जमा रखा है। करोड़ों मूक लोग जिनका उद्धार गान्धीजी करना चाहते थे, अभी भी दयनीय दशा में रह रहे हैं।

भारतीय गाँवों की समस्याओं का समाधान करने के दो मार्ग हैं। एक गान्धीवादी दर्शन तथा रचनात्मक कार्यक्रम का मार्ग है। पिछले वर्षों में अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग ने ग्रामीण जीवन के पुनर्निर्माण के लिए गान्धीवादी अर्थशास्त्र की कुछ चीजों को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण कर लिया है। सामुदायिक विकास योजनाओं में भी गान्धीवादी दर्शन के कुछ तत्व देखने को मिलते हैं। दूसरा विज्ञान तथा प्रविधि का उग्र मार्ग है। उसके अन्तर्गत औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण को अधिक महत्व दिया जाता है। मुझे औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है। किन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि हम इस विशाल कार्य के लिए आवश्यक पूंजी तथा साधन जुटा सकेंगे। हमारी जनता का एक बड़ा वर्ग अर्द्ध-भुखमरी की अवस्था में रह रहा है। ऐसी संकट की स्थिति में यह सोचना भ्रम है कि भूखों मर कर पूंजी का संचय किया जा सकता है। यह सामाजिक आर्थिक परिवर्तन का प्रतिरोध करने का प्रश्न नहीं है। किन्तु मेरा विचार है कि सीमित साधनों की इस स्थिति में बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण करना सम्भव नहीं है। इसलिए हमें दीर्घकाल तक सन्तुलित विकास की भाषा में सोचना पड़ेगा जिसके अन्तर्गत औद्योगीकरण तथा कृषिक पुनर्निर्माण दोनों के लाभ उपलब्ध हो सकें। इसका अभिप्राय यह हुआ कि औद्योगिक अर्थतन्त्र तथा गान्धीवादी सर्वोदयी अर्थतन्त्र दोनों का मिश्रण करना पड़ेगा। भारत अभी भी गाँवों मे रहता है। भारतीय जनता का लगभग 75 प्रतिशत देश के बिखरे हुए 5 लाख गाँवों में रहता है। नागरीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के बावजूद देश की शहरी जनसंख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 70 प्रतिशत जनता 60 बड़े नगरों में रहती है। किन्तु यद्यपि अमेरिका मे ग्रामीण जनसंख्या में भारी कमी हुई है फिर भी यन्त्रीकरण के कारण वहाँ पूर्व के खेतिहर देशों की तुलना में कृषि उत्पादन बहुत अधिक है। किन्तु चूंकि भारत के पास आवश्यक साधन नहीं है इसलिए हमे आधुनिक औद्योगिक अर्थतन्त्र तथा गान्धीवादी-सर्वोदयी अर्थतन्त्र के मिश्रण की भाषा में सोचना पड़ेगा।

नेतृत्व इस बात पर आधारित होता है कि लोग नेताओं को अपने से श्रेष्ठ मानते हैं। नेताओं की श्रेष्ठता वास्तविक भी हो सकती है और कल्पित भी। नेतृत्व का अर्थ है अगुआई करने की क्षमता। इसके लिए दूसरों की इच्छा-शक्ति को प्रभावित करने की योग्यता की आवश्यकता होती है। कभी-कभी लोकतान्त्रिक राजनीति में नेतृत्व की केवल यह प्रभावित करने वाली क्षमता ही देखने को मिलती है। गैर-लोकतान्त्रिक राजनीति में दूसरों पर आधिपत्य जमाने तथा उनकी इच्छाओं को

कुशलतापूर्वक संचालित करने की क्षमता की प्रधानता रहती है। लोकतान्त्रिक देशों में नेताओं तथा अनुयायियों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान भी होता है। अनुयायी अधिक सरलता से अपने नेता के पास पहुँच सकते हैं, और नेता अपने कार्यक्रम में उनके विचारों को भी समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। किन्तु समग्रवादी राजनीति में मानवीय आदेश तथा नियन्त्रण के तत्वों का प्राधान्य होता है और ये तत्व संचार के साधनों तथा शारीरिक हिंसा पर आधारित होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतान्त्रिक राजनीति तथा समग्रवादी राजनीति की नेतृत्व-प्रणाली में आधारभूत अन्तर होता है। किन्तु लोकतान्त्रिक तथा समग्रवादी, दोनों प्रकार के नेताओं में प्रत्ययात्मक स्तर पर एक समानता यह होती है कि वे दोनों ही दूसरों की इच्छाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि समग्रवादी राजनीति में प्रभाव डालने की क्रिया भी अन्त में शक्ति का रूप धारण कर लेती है, और उस शक्ति में शारीरिक हिंसा भी सम्मिलित होती है।

यदि हम नेतृत्व के सम्बन्ध में मैक्स वैबर का प्रकार-क्रम स्वीकार करलें तो हम कह सकते हैं कि भारत के गाँवों में पुरोहित तथा उच्च जातियों के लोग परम्परावादी नेतृत्व के प्रतिनिधि हैं। आधुनिक भारत में चमत्कारी नेतृत्व के भी अनेक उदाहरण हुए हैं। दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक तथा गान्धी चमत्कारी नेतृत्व के उदाहरण थे। उनके नेतृत्व का आधार नैतिक व्यक्तित्व, तपस्या, तथा ईश्वर-साक्षात्कार था। व्यापक अर्थ में लाकसेवा को, जिसमें उच्च प्रशासकीय अधिकारी तथा कार्यालय कर्मचारी वर्ग सम्मिलित होता है, बौद्धिक अथवा विधिक नेतृत्व की संज्ञा दी जा सकती है। इसकी सत्ता का आधार वह नियमित विधि व्यवस्था है जिसे संस्थात्मक रूप दे दिया गया है। बौद्धिक-विधिक नेतृत्व की यह व्यवस्था भारत में नयी चीज है। मुगलों का सामन्त वर्ग अंशतः वंशानुगत होता था। किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आधुनिक ढंग की नौकरशाही का प्रारम्भ किया। जीवनपर्यन्त पद धारण करना इस नौकरशाही की सत्ता का आधार था।

सामुदायिक विकास तथा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजनाओं के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में जिस नेतृत्व का उदय हुआ है उसके लिए बौद्धिक-विधिक प्रकार का होना आवश्यक है, क्योंकि नेतृत्व-निर्माण की प्रक्रिया ही ऐसी है कि उसके अन्तर्गत परम्परावादी और चमत्कारी नेतृत्व का उदय होना असम्भव है। चमत्कारी नेता एक अति महान तथा विस्मयकारी पुरुष होता है। वह अपने व्यक्तित्व की गुरुता तथा उग्रता के कारण दूसरों पर अपना प्रभाव जमा लेता है। ऐसा नेता संकट के समय इतिहास के मंच पर अवतरित होता है। उसे आदेश देकर निर्मित नहीं किया जा सकता। गाँव-स्तर के देहाती नेता से जिस छाटे पमाने के काम की अपेक्षा की जाती है वह चमत्कारी नेता के लिए बहुत छोटा काम होता है। परम्परावादी नेतृत्व ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है और उसकी जड़ें परम्पराओं, रूढ़ियों और विश्वासों में हुआ करती हैं। इसलिए गाँवों के पुर्ननिर्माण के लिए जिस प्रकार के नेतृत्व की सृष्टि करना आवश्यक है वह वैबर की भाषा में बौद्धिक-विधिक प्रकार की होगी। चुने हुए लोगों के किसी समूह में नेतृत्व के गुणों को उत्पन्न करना एक सुविचारित प्रक्रिया है जिसमें बुद्धि तथा संकल्प की आवश्यकता पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि नवीन नेतृत्व जिसके उभड़ कर आने की कल्पना की जा रही है वह बौद्धिक विधिक प्रकार ही होगा। यह भी सम्भव है कि जिन वर्गों के हाथों में परम्परावादी नेतृत्व था उनसे सम्बद्ध कुछ व्यक्ति भी नवीन प्रकार के नेतृत्व के लिए चुनकर आ जायँ। किन्तु सदैव ऐसा होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि नवीन शक्तियाँ भी कार्य कर रही हैं जिनके कारण ऐसे वर्ग सामने आयेंगे जिनका सम्बन्ध परम्परावादी नेतृत्व धारण करने वाले समूह से नहीं है।

यह सत्य है कि गाँवों में नेतृत्व के लिए संघर्ष चल रहा है। ब्राह्मणों के परम्परावादी नेतृत्व की जड़ें हिल गयी हैं। आज का भारतीय नवयुवक पारलौकिक जगत में विश्वास नहीं करता है। जमींदारी उन्मूलन ने सामन्ती नेतृत्व को भी झकझोर दिया है, किन्तु जिन लोगों के पास अभी भी विशाल भू-सम्पत्ति है उनकी स्थिति सुदृढ़ है और वे कुछ हद तक श्रमिक वर्ग पर अपना नियन्त्रण कायम रख सकते हैं। शिक्षित लोग गाँवों से भाग रहे हैं, इसलिए बौद्धिक वर्ग जिस स्वाभाविक नेतृत्व को प्रदान कर सकता था, वह उपलब्ध नहीं है। राष्ट्रीय प्रसार तथा सामुदायिक विकास के कार्यक्रम ऐसी प्रेरणा नहीं दे सके हैं जिससे गाँवों में कार्यमूलक नेतृत्व का विकास हो सकता।

जनपुंज का अर्थ है शिथिल ढंग से संगठित मानव प्राणियों का समूह। संगठन की शिथिलता के कारण जनपुंज के अन्तर्गत विविधता और भिन्नता अधिक पायी जाती है। अतीत में परिवहन की कठिनाइयों के कारण जनपुंजों का अस्तित्व सम्भव था। किन्तु परिवहन और जन-संचार के आधुनिक साधनों के अधिकाधिक प्रयोग के कारण असंगठित जनपुंज भी पहले की अपेक्षा अधिक संगठित हो गये हैं। लेकिन जनसंचार साधनों के विकास के कारण शासक-वर्गों के लिए अपने प्रतीकों का व्यापक रूप से प्रचार और विज्ञापन करना अधिक सरल हो गया है। इससे इस बात का खतरा उत्पन्न हो गया है कि जो जनता अब तक प्रादेशिक अथवा स्थानीय ढंग का जीवन बिताती आयी थी वह कहीं एकरूपता का शिकार न बन जाय। यह एकरूपता कुछ हद तक शासक वर्गों के स्वार्थों को पूरा कर सकती है, किन्तु राष्ट्र के स्वतन्त्र विकास की दृष्टि से वह वांछनीय नहीं है।

अब तक भारतीय जनता पर परम्परावादी राय देने वाले नेताओं का प्रभाव रहा है। उनमें पुरोहित, ज्योतिषी, गाँव के बड़े-बूढ़े, ओझा आदि अधिक महत्वपूर्ण रहे हैं। किन्तु अब राय देने वाले नेता बदल रहे हैं। जो गाँव वाले नगरों में जाकर कुछ धन कमा लेते हैं वे राय देने वाले नेता बन बैठते हैं। उनके द्वारा शहरों की जानकारी भी गाँव वालों तक पहुँचती है। किन्तु इसमें भी एक खतरा है। प्रायः इस प्रकार के नेताओं का एक पैर गाँव में और एक शहर में रहता है। इसलिए वे मुकद्दमेबाजी को प्रोत्साहन देने लगते हैं और इस प्रकार वे सामाजिक मूल्यों के विघटन का माध्यम बन जाते हैं। प्राचीन काल में धर्मोपदेशक और कथावाचक ज्ञान को फैलाने का काम किया करते थे, और राय देने वाले नेताओं के रूप में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। आधुनिक युग में गान्धीजी तथा विनोबा ने इस पुरानी प्रथा को प्रार्थना-सभाओं के रूप में अधिक विशाल पैमाने पर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है।

हमें एक ऐसी कार्यकारी व्यवस्था का निर्माण करना है जो ग्रामीण नेताओं के माध्यम से नये विचारों को प्रभावकारी ढंग से फैलाने में सहायक हो सके। नवीन नेताओं में अभिक्रम (पहल) की क्षमता, चतुराई तथा शिक्षा अपेक्षित हैं। वे कम से कम मैट्रीकुलेशन स्तर तक शिक्षित होने चाहिए तथा उनमें लोकतान्त्रिक आधार पर गाँवों का पुनर्निर्माण करने के आदर्श के प्रति समर्पण की भावना का होना भी आवश्यक है।

8. निष्कर्ष

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व तथा सामाजिक-आर्थिक न्याय पर बल दिया गया है। संविधान के तृतीय अध्याय में लोकतन्त्र के विषय में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को संगठित रूप दे दिया गया। इसीलिए उसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता, समानता तथा नागरिक अधिकारों की प्रमुखता है। चौथे अध्याय में राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धान्तों के रूप में न्यायसगत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को महत्व दिया गया है। इसलिए उसमें शोषण का अन्त, एकाधिकार का उन्मूलन, जीवन स्तर का उन्नयन तथा जनता के सभी वर्गों को सामान्य समृद्धि के आदर्शों का समावेश किया गया है। कल्याणकारी राज्य, समाजवादी ढंग का समाज, लोकतान्त्रिक समाजवाद आदि के आदर्श भारतीय जनता की आधारभूत आकांक्षाओं का निरूपण करते हैं। तीन पचवर्षीय योजनाओं के द्वारा कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादकता को बढ़ाने, सामुदायिक जीवन का विकास करने, शैक्षिक सुविधाओं में सुधार करने तथा जो वर्ग अब तक दलित रहे हैं उनकी दशा को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। पंचायती राज की योजनाओं से इस बात की आशा की जाती है कि वे नवजीवन से स्पन्दित आधारभूत लोकतन्त्र के निर्माण में सहायता देंगी।

किन्तु तीन सफल आम चुनावों के बावजूद भारतीय लोकतन्त्र को भारी दबाव और तनाव का शिकार होना पड़ा है। यद्यपि हमें विदेशी सहायता पर्याप्त मात्रा में मिली है, फिर भी इतने बड़े देश का औद्योगीकरण करने के प्रयत्न के फलस्वरूप चीजों के मूल्यों में भारी वृद्धि हुई है। इससे मध्यवर्ग नष्ट-भ्रष्ट हो गया है और देश में सामान्य आर्थिक अनुरक्षा का वातावरण उत्पन्न हो गया है। साम्यवादी चीन के प्रसारवादी मंसूबे हमारे लिए एक अन्य गम्भीर खतरा हैं। चीन संसार में अपनी प्रमुखता स्थापित करना चाहता है, और वह हिंसात्मक तरीकों से क्रान्ति को सर्वत्र

फैलाना चाहता है। रावलपिंडी तथा पीकिंग के बीच नीचतापूर्ण साँठगाँठ भारत के विरुद्ध एक विद्वेषात्मक कदम है। इससे भारत की राष्ट्रीय शक्तियों का भारी व्यतिक्रम हुआ है। प्रशासकीय स्तर पर भी भ्रष्टाचार के आरोप लगाये जाते हैं। कभी-कभी प्रदेशवाद की विघटनकारी शक्तियाँ भी सिर उठाने लगती हैं।

किन्तु निराशा का कोई कारण नहीं है। हमारी शक्ति का स्रोत हमारी एकता, सहिष्णुता, पारस्परिक सद्भावना और करुणा की परम्पराएँ हैं। वैदिक ऋषियों और बुद्ध तथा महावीर से लेकर तुलसीदास और विवेकानन्द तक हमारे सभी आचार्यों ने सहिष्णुता तथा 'जीने दो' के गुणों का उपदेश दिया, और ये गुण लोकतान्त्रिक आचारनीति के आधारभूत तत्व हैं। महात्मा गान्धी ने विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष की क्रियाविधि के रूप में अहिंसा की प्रभावकारिता को सिद्ध कर दिखाया। यह सोचकर हर्ष होता है कि गान्धीजी की विरासत अभी भी हमारे साथ है और पूर्णत: मुरझा नहीं गयी है।

देश में पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित एक ऐसे शिक्षित वर्ग का उदय हो रहा है जो स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा लोकतान्त्रिक संस्थात्मक व्यवस्था को बनाये रखने में निष्ठापूर्वक विश्वास करता है। यह वर्ग सैनिकवाद के उदय को रोकने में समर्थ हो सकता है।

हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता शान्ति है। यदि हम शान्तिमय जीवन बिता सकें तो हम लोकतान्त्रिक व्यवस्था के सुदृढ़ आर्थिक आधारों का निर्माण कर सकते हैं। सामाजिक अभिजातवर्ग, प्रति व्यक्ति अत्यधिक निम्न आय तथा निरक्षरता से उत्पन्न आन्तरिक खतरों के अतिरिक्त मुझे बाहरी खतरों की अधिक चिन्ता है। किन्तु यदि हम अपने शत्रुओं को नियन्त्रण में रख सकें तो हम लोकतान्त्रिक मार्ग पर अग्रसर होने में सफल हो सकेंगे। हम लोकतान्त्रिक समाजवाद की दिशा में एक बड़ा प्रयोग कर रहे हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता एक अविकल वस्तु है, इसलिए यदि संसार के किसी एक भाग में लोकतन्त्र के लिए संकट उत्पन्न होता है तो उससे मानव की स्वतन्त्रता को सर्वत्र आघात पहुँचता है।

कल्याण की स्थापना भारतीय जनता की लोकतान्त्रिक आकांक्षाओं का मुख्य लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति निम्नलिखित कार्यक्रम को पूरा करके ही सम्भव हो सकती है :

(1) परिश्रम करने वाले बहुसंख्यक किसानों तथा मजदूरों के हितों को उच्चतम प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसका अभिप्राय है कि सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार, निजी क्षेत्र पर अधिकाधिक नियन्त्रण, भूमिहीनों को भूमि, विरासत पर अधिकाधिक प्रतिबन्ध। अर्थतन्त्र में जनता का विश्वास डिगने न पाये, इसके लिए चीजों के मूल्यों को नियन्त्रित करना आवश्यक है।

(2) 14 वर्ष की आयु तक के सभी बालक-बालिकाओं को अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। प्राविधिक तथा विश्वविद्यालयी शिक्षा सस्ती होनी चाहिए।

(3) पंचायती राज की योजनाओं को उत्साह तथा स्फूर्ति के साथ कार्यान्वित करना है और जातिविहीन तथा वर्गविहीन समाज को साक्षात्कृत करने के लिए प्रयत्न करने हैं। 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण' की जो योजना आन्ध्र, राजस्थान, केरल तथा अन्य स्थानों में कार्यान्वित की जा रही है उसका दूसरे क्षेत्रों में भी प्रसार किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास परीक्षणों की सफलता के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने हैं।

(4) श्रमिक संघों को स्वतन्त्र सौदाकारी का अधिकार होना चाहिए। उन आवश्यक उद्योगों को छोड़कर जो राष्ट्र का जीवन-रक्त हैं, राज्य को अन्य श्रमिक संघों के कार्यकलाप को नियन्त्रित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वेतन का नियमन मूल्य सूच्यांक तथा सभ्य जीवन-स्तर की कसौटी के आधार पर किया जाना चाहिए।

(5) राजनीतिक दलों को निष्ठा तथा ईमानदारी के साथ काम करना चाहिए। कम्पनियों से बड़ी धनराशि प्राप्त करना लोक-कल्याण की दृष्टि से घातक समझा जाना चाहिए, क्योंकि इससे धनपतियों की शक्ति बढ़ती है।

(6) देश में भाषावाद, प्रदेशवाद और प्रान्तवाद का जो बोलबाला है उसको ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय तथा संवेगात्मक एकीकरण पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

(7) मूल अधिकारों को लागू करने तथा राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए सांविधानिक उपचार की अधिकाधिक सुविधाएँ मिलनी चाहिए। आधुनिक भारतीय समाज तथा राज्य के लिए ये सुविधाएँ निश्चयात्मक विधिक आवश्यकताएँ मानी जानी चाहिए।

(8) मेरा एक अन्य सुझाव यह है कि प्रशासकीय इकाइयों के ढाँचे को अधिक युक्तिसंगत बनाया जाना चाहिए। ये इकाइयाँ निम्नलिखित हैं—(क) संघ, (ख) राज्य, (ग) मण्डल, (घ) जिला, (ङ) उपखण्ड तथा विकासखण्ड, (च) थाना तथा ग्राम पंचायत, तथा (छ) गाँव तथा संसदीय, विधायी और स्थानीय स्वशासन के चुनाव क्षेत्र।

32

भारतीय लोकतन्त्र के लिए एक दर्शन

हमारा युग मूल्यों की क्रान्ति का युग है। वर्तमान काल में जो बौद्धिक और नैतिक विभ्रम बढ़ रहा है उसका मुख्य कारण बौद्धिक क्षेत्रों में व्याप्त सन्देह, अनास्था और निराशा का वातावरण है। मनुष्य उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों का, जिनका उसे सामना करना पड़ रहा है, समुचित ढंग से नियन्त्रण और संचालन नहीं कर पा रहा है। परिणामस्वरूप उसे भयंकर कष्ट और यातनाएँ भोगनी पड़ रही हैं। इसलिए स्वयं बुद्धि पर सन्देह किया जाने लगा है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों का प्रबल आशावाद कुंठित हो रहा है और उसके स्थान पर अन्तर्मुखी स्वार्थवाद तथा निराशा का दृष्टिकोण पनप रहा है। भारत में इसके अतिरिक्त हमें पूर्व तथा पश्चिम के राजनीतिक मूल्यों के समन्वय की समस्या का भी सामना करना पड़ रहा है। विश्व का वर्तमान संकट विविध शक्तियों की जटिल परस्पर क्रिया और अन्तर्व्यापन का परिणाम है। आर्थिक असामंजस्य तथा अभिनवीकरण का अभाव, बहुसंख्यक वर्गों तथा औपनिवेशिक जातियों की न्यायोचित राजनीतिक आकांक्षाओं का दमन, सामाजिक वर्गभेद के अवशेषों का विद्यमान होना, सामाजिक उत्पीड़न तथा नैतिक मूल्यों के शाश्वत महत्व में अनास्था आदि इस युग की मुख्य शक्तियाँ हैं। ऐसे समय में राजनीतिक दर्शन का काम सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान का नया मार्ग ढूँढ़ निकालना है। राजनीति की भर्त्सना करने तथा उसे शक्ति और छल-कपट के पुनरुत्थान का उदाहरण मानने से कोई लाभ नहीं होगा। राजनीति शक्ति को प्राप्त करने की कुटिल कला तथा क्रियाविधि नहीं है, बल्कि वह राज्य की सेवा का साधन है और उसका आधार बुद्धि, आचारनीति तथा विधि है। राजनीति की भारतीय परम्पराओं का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा विनय का अनुसरण करना रहा है।

आज विश्व के सामने दो आधारभूत राजनीतिक समस्याएँ हैं : (1) राष्ट्रीय प्रभुत्व का अन्तरराष्ट्रीय समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं और माँगों के साथ सामंजस्य स्थापित करना, तथा (2) व्यक्ति की अर्हा और मूल्य का राजनीतिक सत्ता के साथ सामंजस्य कायम करना।

आज विश्व में विविध विचारधाराएँ हैं। कुछ प्लेटो से प्रेरणा लेती हैं, कुछ बाइबिल से, कुछ हेगेल से, और कुछ मार्क्स से तथा कुछ गान्धी से। किसी लेखक अथवा विचार-सम्प्रदाय की महानता उसकी वैज्ञानिक परिशुद्धता पर निर्भर नहीं होती। यदि हम हेगेलवाद, मार्क्सवाद तथा आधुनिक भारतीय प्रत्ययवाद का आधुनिक ज्ञान की दृष्टि से परीक्षण करें तो हमें उनमें अनेक कमियाँ दिखायी देंगी, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उन्हें दर्शन तथा राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मानव की बौद्धिक प्रतिभा का महान कीर्तिस्तम्भ नहीं मानते। हमारे कहने का अभिप्राय केवल यह है कि कोई सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। मानव ज्ञान शनैः-शनैः प्रगति करता है, और कोई विचारक यह दावा नहीं कर सकता कि उसका पूर्ण तथा अविकल सत्य पर एकाधिकार है। भारत में राजनीतिक चिन्तन को एक ऐसा नैतिक दर्शन बनने की आकांक्षा रखनी चाहिए जो अन्तरराष्ट्रीय समाज की बुनियादों की रक्षा कर सके। उसे सामूहिक अहमन्यता, राजनय तथा छल-कपट को उचित ठहराने का साधन नहीं बनना है। उसे कांट तथा गान्धी का अनुसरण करते हुए नैतिक तत्व

की सर्वोच्चता पर बल देना चाहिए। उसका निर्देशक सिद्धान्त परोपकारमय जीवन के तत्वों को उत्तरोत्तर साक्षात्कृत करना होना चाहिए, न कि किसी राजनीतिक दल की सफलता की सराहना करना। व्यावहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का राजनीतिक चिन्तन अनिवार्यत: सामाजिक साधनों के अधिक सन्तुलित तथा समानतामूलक वितरण का समर्थन करेगा, और उन सब उपायों का संवर्धन करेगा जिनका उद्देश्य मानव एकता के आदर्श को संस्थात्मक रूप देना है।

· यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता एक अलंघनीय पवित्र अधिकार है तो हेगेल के राज्य की सर्व-शक्तिमत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि समूह अथवा राष्ट्र का अपना रहस्यात्मक तथा असाधारण व्यक्तित्व होता है और वह उसके सदस्यों के व्यक्तित्व से उत्कृष्ट होता है तो हमें हेगेल के सिद्धान्त को कुछ मान्यता देनी पड़ेगी। यद्यपि फासीवादियों का राज्य को सर्वशक्तिमान और सर्वोपरि बनाने का प्रयत्न बदनाम और विफल हो चुका है, फिर भी कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीय राज्य के प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन किया जा रहा है। लेनिन ने मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद की जो व्याख्या की है उसके अनुसार स्वतन्त्रता के राज्यविहीन सत-युग के आगमन से पहले संक्रमण की अवस्था में राजकीय शक्ति का प्रबल केन्द्रीकरण आवश्यक है। पूर्व के नवोदित राष्ट्रों में राष्ट्रवाद को अभी भी प्रबल भूमिका अदा करनी है। इन देशों में स्वत-न्त्रता तथा न्याय के स्वप्न को साकार करने के लिए शक्ति को राज्य के हाथों में केन्द्रित करने की आवश्यकता है, इससे राज्य के निरंकुशवाद के दर्शन को कुछ समय के लिए नवजीवन प्राप्त हो सकता है। फिर भी विश्व शान्ति तथा विश्व संस्कृति के सन्देशवाहक राष्ट्रीय राज्य से बड़ी राज-नीतिक इकाई की कल्पना करते हैं; और इसलिए आशा की जाती है कि हेगेल का राज्य को साध्य मानने वाला विचार एक अतीत की वस्तु बन जायगा। इस बात की आशा है कि अन्तरराष्ट्रवाद, विश्वराज्यवाद तथा मानव एकता के आदर्शों की प्रगति के साथ-साथ राज्य की प्रत्ययवादी धारणा पुरानी पड़ जायगी। गान्धीजी का आधारभूत चिन्तन कभी भी संकीर्ण राष्ट्रवाद से प्रभावित नहीं था, उसकी मूल प्रवृत्ति सदैव ही विश्वराज्यवादी थी। गान्धीजी ने मानव एकता पर जो बल दिया वह राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार दोनों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

स्वतन्त्रता मनुष्य की एक सबसे अधिक प्रिय और मूल्यवान विरासत है। वह उसका एक मुख्य लक्ष्य भी है। मनुष्य समाज में उत्पन्न होता है, और समाज में अपनी संस्थात्मक व्यवस्था के द्वारा उसके विकास के लिए प्रेरणा तथा सुविधाएँ प्रदान करता है। किन्तु समाज की विद्यमान व्यवस्था के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के साक्षात्करण की सारी सम्भावनाएँ समाप्त नहीं हो जातीं। मनुष्य में अपने आध्यात्मिक जीवन तथा व्यक्तित्व को साक्षात्कृत करने के लिए सामाजिक व्यवस्था से भी परे जाने की प्रवृत्ति होती है, और वह आन्तरिक आत्म-साक्षात्कार से जितना ही अधिक निकट होता है, उतना ही वह अधिक स्वतन्त्र होता है। अत: स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत करने की प्रक्रिया दुहरी होती है। प्रथम स्वतन्त्रता का अर्थ है मनुष्य का सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक बनना। इसका अभिप्राय है कि वह सामाजिक बन्धनों को स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एकीकरण करे। इस सीमा तक स्वतन्त्रता का अर्थ है समाज की शक्तियों तथा परम्पराओं में साझे-दारी, और उनके द्वारा सीमित होना। मनुष्यों को यह हृदयंगम करना है कि वह सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। आधुनिक लोकतन्त्र व्यक्ति के राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों का सम-र्थन करता है, यह उचित ही है। मार्क्सवाद समाज को युक्तिसंगत बनाने का तथा उपभोग वस्तुओं के बाहुल्य का समर्थन करता है। वह चाहता है कि उत्पादक स्वतन्त्रता तथा समानता के आधार पर परस्पर संगठित हों। किन्तु वह मनुष्य के अधिकारों को समुचित महत्व देने में विफल रहा है। दूसरे, स्वतन्त्रता विकास की प्रक्रिया है। इसका अर्थ है मनुष्य की शक्ति तथा क्षमता का विकास जिससे वह अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति का आन्तरिक रूप से साक्षात्कार कर सके। नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति राज्य तथा समाज की सीमाओं में बाँधकर नहीं रखी जा सकती। वह समाज से परे भी जा सकती है। उसमें ध्यान तथा कला, सौन्दर्य, काव्य, धर्म, विज्ञान और दर्शन का चिन्तन सम्मिलित होता है। वह नैतिक शुद्धता पर अधिक बल देता है। उससे शान्ति, स्वतन्त्रता, ज्ञान तथा आनन्द उपलब्ध होता है। गान्धीजी ने मानव जीवन के आध्यात्मिक आधारों

पर और राजनीतिक क्रिया-कलाप के नैतिक आधार पर बल दिया और यह उचित ही था। हेगेल तथा मार्क्स दोनों स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को आवश्यकता के जगत से निकल कर स्वतन्त्रता की दुनिया में पहुँचने से पहले एक संक्रमण की अवस्था में होकर गुजरना पड़ेगा। किन्तु इस संक्रमण की पद्धति के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद है। हेगेल दार्शनिक ज्ञान को और मार्क्स क्रान्ति को संक्रमण का साधन मानता है। वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हमें मानव व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा एक समग्रवादी आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के उदय का भय हो सकता है। ऐसी समग्रवादी व्यवस्था बुद्धिसंगत भले ही हो किन्तु वह मनुष्य की स्वतन्त्रता को अवश्य ही समाप्त कर देगी। आधुनिक भारत में स्वतन्त्रता के एक पूर्ण दर्शन की प्राप्ति के लिए मेरा सुझाव है कि इस विषय में तीन महत्वपूर्ण चिन्तनधाराओं का समन्वय किया जाय—गान्धीजी की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा, मार्क्स की उस स्वतन्त्रता की धारणा जो प्रकृति के बौद्धिक और वैज्ञानिक नियन्त्रण से उपलब्ध होती है, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की आंग्ल-अमरीकी धारणा जिसका निरूपण मिल्टन, लॉक, जैफर्सन और मिल ने किया है।

यूरोप के अनेक देशों में जिस फासीवादी तथा साम्यवादी समग्रवाद का उदय हुआ है उससे हमें महत्वपूर्ण सीख मिलती है। वेदान्त ने जो कि भारतीय संस्कृत का आधार है, आध्यात्मिक व्यक्ति के पारलौकिक महत्व पर बल दिया है। उसके अनुसार सभी मनुष्य अपने अन्तरतम जीवन में परम आध्यात्मिक सत्ता ही हैं। किन्तु अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान भारतीय संस्कृति ने स्थूल व्यक्तियों की समानता का समर्थन किया है, क्योंकि अधिकारवाद के दार्शनिक सिद्धान्त ने और जाति-व्यवस्था की कठोर सत्तावादी प्रवृत्ति ने व्यवहार में असमानता के सिद्धान्त का पोषण किया है। लोकतन्त्र मनुष्यों को अपनी राजनीतिक इच्छा तथा निर्णय का प्रयोग करने का अवसर देकर उनके व्यक्तित्व का उत्थान करना चाहता है। भारतीय लोकतन्त्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं जिनके पास अपनी शृंखलाओं के अतिरिक्त खोने को कुछ नहीं है। ऐसे लोगों को समग्रवाद अच्छा लग सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रूस में नाशवाद (सर्वखण्डनवाद) की जो लहर आयी उसका अनुभव हमें सिखाता है कि आर्थिक सुरक्षा का अभाव मनुष्यों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है कि वे उग्र से उग्र परिवर्तन को स्वीकार करने को उद्यत हो सकते हैं चाहे वह परिवर्तन केवल परिवर्तन के लिए हों। इसलिए हम देखते हैं कि हमारे लोकतन्त्र में अनेक गम्भीर दोष हैं। यदि इन गम्भीर दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर हमने जनता के आध्यात्मिक लोकतन्त्र को विकसित और साक्षात्कृत करने का अतिमानवीय प्रयत्न न किया तो मुझे सांस्कृतिक विनाश, भौतिक अराजकता तथा राजनीतिक अधिनायकतन्त्र का खतरा निकट दिखायी देता है। हमारे सामने विवेकपूर्ण आध्यात्मिक लोकतान्त्रिक दर्शन का निर्माण तथा साक्षात्कार करने की समस्या विद्यमान है जिसका समाधान करना नितान्त आवश्यक है। एक ओर तो हमें राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों को महत्व देना है। उनके साथ हमें गान्धीजी की आचारनीतिक परम्पराओं का संयोग करना है। यह आवश्यक है कि राजनीतिक लोकतन्त्र की समाजवादी नियोजन तथा गान्धीवादी नैतिक पुनरुत्थान के द्वारा अनुपूर्ति की जाय। राजनीति में शक्ति तथा लिप्सा का स्वाभाविक पुट विद्यमान रहता है। इसलिए हमें राजनीतिक जीवन को नैतिक तथा आध्यात्मिक दिशा में उन्मुख करने पर पुनः बल देना है। यह सत्य है कि ऐसा करने पर हमें पिष्टपेषण करने वाला तथा कल्पनाविहारी होने का आरोप सहन करना पड़ेगा, किन्तु हमें इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अभी तक ऐसा कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक उपाय नहीं दिखायी देता जिससे ऐसे नागरिक उत्पन्न किये जा सकें जिनसे कम से कम न्यूनतम अंश में नैतिक आचरण की आशा की जा सके और जो युयुत्सा, बर्बरता और आपराधिक प्रवृत्तियों से मुक्त हों। राज्य साक्षात्कृत नैतिक सार नहीं है, जैसा कि हेगेल का मत है, किन्तु वह नैतिक नागरिकों के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है। अपने देश के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए मैं इस बात पर बल दूंगा कि लोकतन्त्र के मूल्यात्मक आधारों की सुरक्षा के लिए गान्धीजी की नैतिक शिक्षाओं का अनुसरण करना चाहिए। किन्तु नैतिक पुनरुत्थान का यह कार्य समाज को

करना चाहिए, न कि राज्य को। लोकतांत्रिक राज्य में राजनीतिक कार्य तथा निर्णय के बहुत केन्द्र होते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि जिन लोगों को भिन्न स्तरों पर निर्णायक भूमिका अदा करनी पड़ती है उनका नैतिक चरित्र उच्चकोटि का हो। कोरा निर्जीव मार्क्सवादी समाजवाद इस देश में सफल नहीं हो सकता। उस प्रकार का समाजवाद पाश्चात्य पूँजीवाद के सभी दोषों की पुनरावृत्ति करेगा। कोरा लोकतन्त्र अधूरा है, कोरी आचारनीति सामाजिक दृष्टि से शक्तिहीन होती है; और जर्मन समाजवाद तथा ब्रिटिश मजदूर दल के ढंग की समाजवादी लोकतान्त्रिक राजनीति में पर्याप्त नैतिक गति नहीं होती। इसलिए समग्रवाद के दोषों से बचने के लिए लोकतन्त्र, समाजवाद तथा गान्धीवाद के समन्वय की आवश्यकता है। यदि राजनीतिक लोकतन्त्र में आर्थिक न्याय तथा गान्धीवादी आचारनीति का पुट जोड़ दिया जाय तो उससे भारत तथा विश्व की कुछ तात्कालिक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

परिशिष्ट 1

भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन

1. सन् 1857 का महान स्वातन्त्र्य-संग्राम

हमने अपने जीवन काल में स्वतन्त्रता का दर्शन किया, उसके मधुर फलों का आस्वादन किया, उन्मुक्त भारतीय आकाश और प्रमुक्त भारतीय धरती पर विचरण किया और एक विशिष्ट-तर भविष्य की कल्पना से हमारा हृदय उत्फुल्ल है। जिस महान् यज्ञ का प्रारम्भ सन् 1857 में हुआ, 1947 में उसकी पूर्णाहुति हुई। इस यज्ञ का सूत्रपात करने वाले वीर सेनाग्रणियों को हम प्रणाम करते हैं। जब-जब राष्ट्रीय जीवन में तामसिकता, प्रमाद, शैथिल्य और पराभव का आरम्भ होता है, तब-तब देश भक्तों की गाथाओं से ओज और शक्ति प्राप्त कर हम फिर सत्य-पथ पर आरूढ़ होते हैं। कर्तव्य का सतत् अनुसेवन करने में हमें सर्वथा महापुरुषों की जीवन-गाथाओं से मदद मिलती है। इसी को विभूति-पूजा कहते हैं। भगवद्गीता में कहा है :—

यद्यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश सम्भवम् ।। (10/41)

राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह को अप्रतिहत तथा निरवच्छिन्न करने और रखने के लिए विभूति-पूजा परम आवश्यक है। अपने क्षुद्र स्वार्थों का हनन कर परमार्थ, देशभक्ति, सदाचार को आसीन करने के लिए जिन वीरों ने अपना बलिदान किया है वे सभी विभूतियाँ हैं। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, नानासाहब, तात्या टोपे, कुँअर सिंह और अन्य नेतागण इन्हीं विभूतियों की श्रेणी में आते हैं।

सन् 1757 से ही भारतवर्ष के राष्ट्रीय पराभव का सूत्रपात हुआ। पलासी की लड़ाई और बक्सर की लड़ाई में अंग्रेजों की विजय हुई। 1761 के तृतीय पानीपत के युद्ध के बाद मराठों की शक्ति भी कमजोर हुई। यद्यपि महादजी सिन्धिया, नाना फड़नवीस, हैदर अली, टीपू सुल्तान आदि ने बड़ी योग्यता और वीरता से देश की शक्ति के संगठन की चेष्टा की, तथापि राष्ट्रीय पराभव का क्रम बन्द न हो सका। वेलेजली और डलहौजी की नीति की सफलता से देश दिन पर दिन अधोगति की ओर जाता रहा। सिक्खों का पराभव और अवध का पतन उस पतन-चक्र के सिर्फ आखिरी रूप थे। इस सर्वविध राजनीतिक पराभव से देश गुलामी की जंजीर में बँध गया था। इस जंजीर को तोड़ने के लिए एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। उस आन्दोलन को हम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का प्रथम जबर्दस्त कदम मानते हैं।

सन् 1857 के आन्दोलन के अनेक कारण थे। राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों का प्रभाव दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था। मराठों की पराजय देश की बड़ी क्षति थी, क्योंकि प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से जो एक विशिष्ट राजनीतिक शक्ति देश में पनप रही थी उसका अन्त हो गया। मैसूर भी राजनीतिक दृष्टि से समाप्त ही था। सिक्खों ने भी पराजय स्वीकार कर ली थी। अतएव, राजनीतिक पतन और उससे प्रजनित विषाद देश में भावुक हृदयों को बेचैन कर रहा था।

आर्थिक दृष्टि से भी देश कमजोर हो गया था। बंगाल का कपड़े का व्यवसाय बड़ी बेदर्दी से नष्ट किया गया था। वाणिज्य की कोई बढ़ती नहीं हो रही थी। अंग्रेज देश में उद्योगों का विकास नहीं चाहते थे। बंगाल की शस्यश्यामला भूमि अकाल के कारण कंकालों की भूमि बन रही

थी। अवध के तालुकेदारों की जमींदारी छीन ली गयी थी और बम्बई में भी इमाम-कमीशन के निर्णय के अनुसार अनेक लोगों की पुश्तैनी सम्पत्ति ले ली गयी थी। इस प्रकार, आर्थिक पराभव के कारण भी देश में क्रोध और रोष का उदय स्वाभाविक था।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद अपना शिकंजा फैलाता जा रहा था। पश्चिमी सभ्यता अपने भीषण दानवी रूप में बढ़ रही थी। रेल, तार आदि के द्वारा देश पर अपना राजनीतिक अधिकार दृढ़तर करने का भी प्रयास जारी था। ईसाई मिशनरी भी बढ़ रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर एक नया वर्ग भी कायम हो रहा था जो अपनी जीविका के लिए अंग्रेजी सरकार का मुंहताज था। इस प्रकार, न केवल देश राजनीतिक दृष्टि से पराभूत और आर्थिक दृष्टि से जीर्ण-शीर्ण हो गया था, अपितु पश्चिमी सभ्यता का विकराल राक्षस देश की संस्कृति को निगलने के लिए भी आतुर हो रहा था। उन कारतूसों को जिनमें गाय और सूअर की चर्बी लगी थी, दाँत से काटना, एक नृशंस कार्य था और जब सैनिकों को, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे, ऐसा करने को कहा गया तो इससे उनके रोष और क्षोभ की मात्रा अधिक बढ़ी।

1857 की मई में भीषण विस्फोट हुआ, जो 1857 तक चलता रहा। इसका आरम्भ तब हुआ था, जब मंगल पाण्डेय तीन अंग्रेज अफसरों की हत्या करने के कारण मौत के घाट उतार दिया गया और इसका अन्त हुआ तब, जब तात्या टोपे का वध किया गया। 1857 के इस आन्दोलन और युद्ध में देश के नेता बड़ी वीरता से लड़े। नाना साहब और तात्या टोपे ने दूरदर्शिता और शूरता का पूरा परिचय दिया। झाँसी की रानी की वीरता और बहादुरी का समकक्ष उदाहरण संसार के इतिहास में कठिनता से मिल सकता है। अस्सी वर्ष के बूढ़े कुँअर सिंह ने बहादुरी से युद्ध किया। किन्तु, आन्दोलन बड़ी क्रूरता और पाशविकता से दबाया गया। यदि भारतीयों ने एक अंग्रेज की हत्या की तो उसका बदला कम-के-कम पच्चीस भारतीयों की हत्या से लिया गया। यदि नाना साहब ने कानपुर में तीन सौ अंग्रेज स्त्री, बच्चों और पुरुषों की हत्या की जिम्मेवारी ली, तो अंग्रेज कप्तान नील ने इलाहाबाद से कानपुर तक के मार्ग के वृक्षों को भारतीयों के नरमुण्डों से सजाया। बहादुरशाह के जवान बेटों और उनके पोतों की अकारण हत्या कर जीनतमहल की गोद को सूनी करते हुए बाबरी और अकबरी सल्तनत के आखिरी चिराग को सदा के लिए बुझाया गया। संसार के इतिहास में इस प्रकार का अधम अपराध कम मिलता है। उत्तर प्रदेश के गरीब किसानों की कमर तोड़ दी गयी। गाँवों को जलाना, लूटना, आम घटनाएँ थीं। दिल्ली मासूम और निरपराध लोगों की हत्या से चीख उठी। तैमूर और नादिरशाह के पुराने कुकृत्य अपनी अल्पता पर अपमानित हो बैठे। भीषण नरहत्या और अवर्णनीय पाशविकता से यह आन्दोलन दबाया गया।

कुछ सरकारी लेखक और अंग्रेज इतिहासकार इस आन्दोलन को सामन्तवादी (Feudal) आन्दोलन कहते हैं। यह ठीक है कि कुछ विषण्ण और अपमानित सामन्तगण इस युद्ध में शामिल थे। लेकिन, सारा युद्ध सामन्तवादी कदापि नहीं था। बैरकपुर से बनारस तक, शाहाबाद से आजमगढ़ तक, इलाहाबाद और लखनऊ से कानपुर तक, अम्बाला से दिल्ली तक और नेपाल की तराई से नर्मदा की घाटी तक यह स्वातन्त्र्य-आन्दोलन फैला था। इसमें सामन्तगण थे, राजतन्त्र के भी प्रतिनिधि इसमें थे और अन्य लोग भी थे। अंग्रेजों ने अपने हृदय में कभी भी इसको सामन्तवादी आन्दोलन नहीं समझा, नहीं तो इतनी भीषण हत्या कर इस युद्ध को समाप्त करने की जरूरत नहीं होती। यह भारतीय सामन्तों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का युद्ध नहीं था, भारतीयों और अंग्रेजों का था।

मैं मानता हूँ कि इस आन्दोलन और युद्ध के पीछे कोई विराट राजनीतिक दर्शन नहीं था। इसके पीछे मानव-स्वतन्त्रता का कोई घोषणा-पत्र नहीं था। यह भी ठीक है कि आर्थिक न्याय और समानता का भी कोई सन्देश इसमें नहीं था। लेकिन, इनके अभावों के बावजूद इसमें राष्ट्रीय तत्व थे। प्रजातन्त्र और समाजवाद के अभाव में भी राष्ट्रीयता का मंत्र उद्घोपित और चरितार्थ हो सकता है। 'खून और फौलाद' की नीति से जर्मनी की राष्ट्रीयता को पुष्ट करने वाला बिस्मार्क प्रजातन्त्रवादी नहीं था। सोहलवीं शताब्दी से लेकर अठाहरवीं शताब्दी तक के राष्ट्रीय आन्दोलन,

एकतन्त्र और राजतन्त्र की अवधानता में चलते रहे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के वाद ही राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र का समन्वय शुरू हुआ। अतएव, प्रजातन्त्र की उद्घोषणा के विना भी राष्ट्रवाद पनप सकता था। यह ठीक है कि जिन कारणों से राष्ट्रीय एकता होती है—उदाहरणार्थ भाषा, धर्म, नस्ल आदि की एकता—उनका भारत में अभाव था। राष्ट्रवाद के विधेयात्मक पक्ष को पुष्ट करने वाली शक्ति—ऐतिहासिक परम्परा के निरवच्छिन्न प्रवाह में जन-समूह का भाग लेना—का भी उस समय अभाव था। लेकिन, राष्ट्रवाद का निषेधात्मक पक्ष, अर्थात् विदेशी के प्रति द्रोह इस आन्दोलन में वर्तमान था।। अतएव, कहना चाहिए कि देशभक्ति का यह विराट प्रदर्शन आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टि से राष्ट्रीय न होते हुए भी व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय था, क्योंकि इसमें एक 'वयं भावना' वर्तमान थी।

इस युद्ध से हमें अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करनी हैं। हमें राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बँधना है। यदि सिक्ख, गुरखे और सिंधियों ने अंग्रेजों की मदद न की होती, तो शायद भारतीय इतिहास का रुख दूसरा होता। संगठन का अभाव, भारतीय राजनीति का प्रथम अभिशाप है। तेजस्वी और विलक्षण मेधा भी सामाजिक और राजनीतिक संगठन के अभाव में पंगु हो जाती है। अतएव हमें भारतवर्ष में भ्रातृ-भावना देखनी है। दूसरी ओर हमें अपनी दृष्टि को व्यापक वनाना है। संसार की उपेक्षा हमें नहीं करनी है। विज्ञान, उद्योग और तन्त्र की शक्ति को धारण करना है। 1857 के युद्ध में सामरिक कला और आयुध की दृष्टि से अंग्रेज हमसे अधिक शक्तिशाली थे। इस कमी को दूर करना चाहिए। यथार्थवादी राजनीति में 'भिक्षां देहि' की नीति से काम नहीं चल सकता। हमें संसार के साथ चलना होगा। नाना साहव और अजीमुल्ला खाँ ने यूरोप में चलने वाले क्रीमिया के युद्ध का फायदा उठाकर भारत में आन्दोलन करना शुरू किया था। निस्सन्देह यह राजनीतिक वुद्धि का प्रकटीकरण था। इस प्रवृत्ति को और दृढ़ करना होगा।

1857 के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का स्मरण करते हुए हमें शक्तियोग की साधना करनी है। हमें अपने देश के इतिहास पर ध्यान देना है। अपने स्वातन्त्र्य के अभिरक्षण के लिए नूतन मन्त्र लेना है। वलिदान, यज्ञ, साधना, ज्ञान, तपस्या, देशभक्ति, संगठन इन वातों से राष्ट्रीय जीवन को परिपुष्ट करना है। हमें केवल हुतात्माओं और शहीदों की गाथा से सन्तोष नहीं करना है, वल्कि अपने जीवन को उच्चाशय, विशाल, तेजस्वी वनाने का मन्त्र धारण करना है। स्वतन्त्रता वड़ा विशाल तत्व है। इसको धारण करने के लिए वड़ी कठिन तपस्या करनी है। तभी हम संघर्ष में विजयी वन सकते हैं।

2. भारत में स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का प्रथम युग (1858-1885)

राष्ट्रवाद के पीछे एक महती भावना काम कर रही है। सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा, ऐतिहासिक स्मृति के सहारे जन-समूह के अन्दर एकीभाव का उदाय होता है। जव इस एकता को राजनीतिक आत्म-निर्णय के अधिकार का प्रदाता और वाहक हम मानते हैं, तो राष्ट्रवाद का जन्म होता है। यूरोप में सांस्कृतिक पुनरुत्थान (Renaissance) के साथ-साथ मानसिक स्वतन्त्रता का भी जन्म हुआ पन्द्रहवीं शताव्दी से ही यूरोप में एक नये समाज का निर्माण होने लगा। इस नये समाज के मूलभूत दो कारण थे—(क) मानसिक स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप संवर्धित वौद्धिक शक्ति का परम्परा से आए हुए धन और धर्म की संगठित शक्ति के विरोध में खड़ा होना। (ख) पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ एक नये आर्थिक वर्ग का जन्म जो व्यापार और पूँजी के सहारे अपनी शक्ति को वेग से वढ़ा रहा था। राष्ट्रवाद का पहला रूप इंगलैण्ड, फ्रांस, स्पेन तथा हालैण्ड के अन्दर व्यक्त हुआ। अठारहवीं शताव्दी के अन्त तक राष्ट्रीय भावना का प्रदर्शन देश-विशेष के राजवंश के प्रति अनुरक्ति और भक्ति में प्रकट होता था। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के वाद से धीरे-धीरे राष्ट्रवाद का जनतन्त्रात्मक रूप व्यक्त होने लगा।

भारतवर्ष में देशभक्ति की भावना वड़ी प्राचीन है। पोरस, चन्द्रगुप्त मौर्य, खारवेल, स्कन्दगुप्त, राष्ट्रकूट सम्राट, महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि महान् देशभक्त भारत में ही पैदा हुए हैं। किन्तु, देशभक्ति की यह भावना राष्ट्रवाद की भावना से कुछ भिन्न है। जव सारे देश के अन्दर

रहने वाले निवासियों को अपना राजनीतिक भाग्य-निर्णय करने का अधिकार है—इस प्रकार का विचार स्वीकृत होता है, तब हम राष्ट्रवाद का स्वरूप-दर्शन करते हैं। जब तक देश का एक टुकड़ा विदेशी को बाहर निकाल कर स्वयं शासन-सूत्र देश में फैलाता है तब तक हम वहाँ परराष्ट्रवाद की भावना नहीं देखते, यद्यपि वहाँ देशभक्ति की भावना वर्तमान है। भारतीय राष्ट्रवाद का तात्पर्य है—समूचा भारत देश एक है, इस प्रकार की सब की भावना का होना। भाषा, वर्ण तथा अन्य प्रकार की विभिन्नताओं के बावजूद जब हम यह कहते हैं कि सारा भारत एक है और इसके निवासियों को अपना भाग्य निर्णय स्वयं करना चाहिए, तब यही भावना राष्ट्रवाद की भावना कही जा सकती है। इस प्रकार की राष्ट्रभावना मुख्यतः भारतवर्ष में आधुनिक काल में उत्पन्न हुई। एक शक्तिशाली विदेशी साम्राज्य का सामना करने के लिए ही भारतवर्ष के नेताओं ने राष्ट्रवाद के मन्त्र को आहूत किया।

अंग्रेजों के भारत में आमगन के बाद से ही छिटपुट संघर्ष, उनके और भारतीय शक्तियों के बीच होते रहे। अठारह सौ सत्तावन के आन्दोलन के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बदले इंगलैण्ड की साम्राज्ञी और पार्लियामेण्ट के अधिकार के अन्तर्गत भारतवर्ष आ गया, किन्तु इससे देश के अन्दर पूरी शान्ति नहीं हुई। धीरे-धीरे राष्ट्रीय एकता का सन्देश गूंजने लगा और अन्त में सन् 1947 में भारतवर्ष एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया। अठारह सौ सत्तावन के बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम युग को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) भारतीय सुधार-आन्दोलन, (ख) भारतवर्ष में सामूहिक संस्थाओं का विकास, (ग) अठारह सौ अट्ठावन से लेकर अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना तक की राजनीतिक घटनाएँ।

(क) पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के एशिया में आने पर भारतीय धर्म और सांस्कृतिक चेतना का फिर से उत्थान हुआ। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और यांत्रिक विज्ञान के आधार पर स्थापित पश्चिमी सभ्यता के घात और प्रतिघात से भारतीय वेदान्त और कर्मयोग की धारा फिर से जाग्रत हुई। उपनिषद् और अद्वैतवाद के दार्शनिक आधार पर राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना की। ब्रह्म-समाज के द्वारा प्रवर्तित सामाजिक सुधारों का बड़ा प्रभाव हुआ, यद्यपि यह मुख्यतः बंगाल तक ही सीमित था। राममोहन राय उच्चकोटि के मानववादी थे। इनके मानववाद ने ही इनको राष्ट्रवादी बनाया था और यूरोप में वर्तमान राष्ट्रवादी आन्दोलनों के साथ इनकी हार्दिक सहानुभूति थी। यद्यपि ब्रह्म-समाज कोई राजनीतिक आन्दोलन न कर सका, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विजयकृष्ण गोस्वामी, जगदीश चन्द्र बोस आदि भारत के महापुरुष इसकी शिक्षाओं से, पूर्ण प्रभावित थे और भारतीय संस्कृति की चेतना जगाकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में इन लोगों ने राष्ट्रवाद को बुलन्द किया है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जबर्दस्त राष्ट्रधर्मी थे। भारतवर्ष में प्रचलित सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के विरोध में आन्दोलन करना भी उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज के कार्यक्रमों में एक था। देश-प्रेम स्वामी दयानन्द में खूब भरा हुआ था। प्राचीन आर्यों की सांस्कृतिक और चारित्रिक गरिमा से इनको विशाल आदर्शवाद की प्राप्ति हुई थी। पराधीन भारत को यह सन्देश देकर कि समूचे देश में वैदिक आर्य-संस्कृति का प्रचार और प्रसार हो, दयानन्द ने एक क्रान्तिकारी कार्य किया। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पीड़ित भारतवर्ष को सांस्कृतिक और नैतिक उत्कर्ष का जो महामन्त्र स्वामी दयानन्द ने दिया, उसने निस्सन्देह भारतवर्ष में एक तेजस्वी राष्ट्रवाद की नींव पड़ी और इसी दृष्टि से ऐनी बेसेन्ट और महात्मा गाँधी ने भी स्वामी दयानन्द के राष्ट्रीय ऋण को स्वीकार किया है। इतिहासवेत्ता काशीप्रसाद जायसवाल ने स्वामी दयानन्द को उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ भारतीय कहा है। योगी अरविन्द के विचार में स्वामी दयानन्द के वैदिक अनुसंधानों में भी एक राष्ट्रीय प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महान् कलाकार रोम्या रोलां ने बताया है कि जिस दिन काशी के प्रसिद्ध हिन्दू रूढ़िवाद के गढ़ में स्वामी दयानन्द ने यह घोषणा की कि 'वेद पढ़ने का अधिकार शूद्र आदि समस्त मानवों को है', उस दिन भारतीय इतिहासाकाश में नयी स्वतन्त्रता के आलोक का उदय हुआ। समस्त विश्व में आर्य-संस्कृति

का उत्कर्ष हो, भारतवर्ष में कम-से-कम आर्य-चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित हो, इस प्रकार की अभिलाषा स्वामी दयानन्द के महान्ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में मिलती है। और, इसीलिए प्रसिद्ध लेखक साधु टी. एल. वास्वानी ने आर्यावर्त्त के इस नूतन शक्तिदर्शक, पथ-प्रदर्शक ऋषि, की अभ्यर्थना की है।

(ख) भारत में सन् 1851 से ही बहुत-सी संस्थाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने देश में सार्वजनिक जीवन की नींव रखी। सन् 1857 में बंगाल में ब्रिटिश इण्डियन् एसोसियेशन की स्थापना हुई। उसी के अवधान में डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र ने अपना सांस्कृतिक अनुसंधान-कार्य किया। बम्बई एसोसियेशन की स्थापना दादा भाई नैरोजी ने की थी। मद्रास में सार्वजनिक सेवा का कार्यक्रम सुब्रह्मण्यं ऐयर और सुब्बाराव के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। पूना में जोशी के द्वारा एक सभा बनायी गयी, जिसका नाम था 'सार्वजनिक सभा' और इसी के अवधान में रानाडे तथा चिपलूणकर और पीछे चल कर तिलक और गोखले जैसे व्यक्ति काम करते रहे। 1876 में बंगाल में इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना हुई, जिसमें मुख्य व्यक्ति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बसु थे। सन् 1881 में मद्रास महाजन-सभा की स्थापना हुई। जनवरी 1885 में बम्बे प्रेसीडेंसी एसोसियेशन कायम किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि काँग्रेस की स्थापना के पूर्व ही देश में सार्वजनिक जीवन विकसित हो रहा था, यद्यपि वह अभी क्रमबद्ध और पूर्ण संगठित नहीं था। 1857 में करीब चार सौ से अधिक अखबार निकलते थे, जिनमें से अधिकांश प्रान्तीय भाषाओं में थे।

(ग) 1857 के आन्दोलन के बाद देश में वर्णगत कटुता बढ़ रही थी। अंग्रेजों और भारतवासियों के बीच खाई बढ़ती जा रही थी। डलहौजी की नीति के कारण जो असन्तोष फैला था वह अभी शान्त नहीं हुआ था। लार्ड लिटन के प्रतिगामी शासन-काल में देश के अन्दर असन्तोष बहुत अधिक बढ़ गया। लिटन के कारनामे बहुत उत्तेजक साबित हुए। बिना किसी उचित कारण के उसने काबुल पर आक्रमण किया, जिससे दूसरा अफगान युद्ध शुरू हो गया। 1878 में वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट बनाकर उसने भारतीय समाचारपत्रों की शक्ति को बिलकुल दबाने का यत्न किया। रूस से भय का प्राय: एक अवास्तविक हौआ खड़ा कर उसने सेना के ऊपर खर्च बहुत बढ़ा डाला। भारतवर्ष को 'आर्म्स-ऐक्ट' बनाकर निःशस्त्र करने का उसने यत्न किया। लंकाशायर के पूंजीपतियों को सन्तुष्ट करने के लिए उसने 1877 में कपास पर कर उठा लिया। 1877 में बड़ा खर्चीला दरबार किया गया। 1878 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बम्बई और मद्रास की यात्रा की। लार्ड सेलसबरी ने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए उम्मीदवारों की उम्र 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी थी। इसके खिलाफ अपनी यात्राओं में सुरेन्द्रनाथ ने लोकमत जाग्रत किया और इस विषय पर, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में पेश करने के लिए, सारे देश की ओर से एक स्मरण-पत्र भेजा गया। और, इस कार्य में सफलता भी मिली।

लिटन का उत्तराधिकारी लार्ड रिपन था, जो ब्रिटिश प्रधान-मंत्री ग्लैडस्टन के द्वारा चुना गया था। ग्लैडस्टन की ऐसी घोषणा थी कि भारतीय राष्ट्र को उन्नति-पथ पर लाने के लिए ही अंग्रेज भारत में रह सकते हैं। रिपन ईमानदार और उदार व्यक्ति था। इसने अफगानिस्तान के अमीर के साथ सुलह कर लिया। वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर तथा स्थानीय स्वराज्य-प्रणाली का आरम्भ कर भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में रिपन ने एक नया युग स्थापित किया। इसका यह कहना था कि वह समय शीघ्र आने वाला है जब भारतवर्ष का जनमत भारतीय सरकार का मालिक बन जायगा। 1883 में 'इलबर्ट बिल' उपस्थित किया गया। इस बिल के अनुसार, हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेटों पर से यह रुकावट कि वे लोग यूरोपीय जातियों के मुकद्दमे का फैसला नहीं कर सकते थे, हट जाने को था। वर्णगत भेद पर आधारित न्याय सम्बंधी प्रभेद को हटाने के लिए यह बिल एक महान प्रयास था। किन्तु, श्वेतांगों ने इस पर बड़ा हल्ला मचाया। अन्त में यह तय हुआ कि जिला मजिस्ट्रेट या दौरा जज (चाहे वे हिन्दुस्तानी हों या यूरोपीय) के सामने लाये गये श्वेतांग जन, जूरी द्वारा, जिनमें आधे यूरोपीय होंगे, अपने मुकद्दमे की-सुनवाई करा सकते थे। किन्तु इस तरह की सहूलियत हिन्दुस्तानियों को नहीं प्राप्त थी और इस समझौते को मानने से बिल का मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो गया। इलबर्ट बिल के प्रश्न पर जो वर्णगत संघर्ष हुआ, उससे

बड़ी आपसी कटुता फैली। शिक्षित हिन्दुस्तानियों के ऊपर इस असमानता से बड़ा सदमा पहुँचा। किन्तु इस संघर्ष के कारण भारतीय राष्ट्रवाद अधिक पुष्ट और मजबूत ही बना।

1883 में कलकत्ते के अलबर्ट हॉल में एक राजनीतिक परिषद् की आयोजना की गयी। इस परिषद् में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बसु उपस्थित थे। इस परिषद के द्वारा लोगों को एक नया प्रकाश और स्फूर्ति प्राप्त हुई। 1884 में कलकत्ते में अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् आयोजित हुई और इस प्रकार अखिल भारतीय कांग्रेस की संस्थात्मिका पृष्ठभूमि तैयार हुई।

1883 में ऐलन औक्टोविन ह्यूम ने, जिन्होंने पिछले साल सिविल सर्विस से त्याग-पत्र दे दिया था, कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक पत्र लिखा। यह पत्र स्मरणीय है और भारतवर्ष के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर बड़ा प्रकाश डालता है। इस पत्र में उन्होंने लिखा था—'प्रत्येक राष्ट्र ठीक-ठीक वैसी ही सरकार प्राप्त कर लेता है जिसके वह योग्य होता है।' ह्यूम ने बताया कि आत्म-बलिदान और निःस्वार्थता ही सुख और स्वातन्त्र्य के पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने अपने पत्र में पचास भले, सच्चे और निःस्वार्थ, आत्मसंयमी लोगों की माँग की थी। इसी आन्दोलनात्मक वातावरण में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म सन् 1885 में हुआ, जिसकी स्थापना से भारतीय राष्ट्रवाद का एक नया और तेजस्वी अध्याय शुरू होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज-सुधार-आन्दोलन, सार्वजनिक जीवन का विकास और ब्रिटिश सत्ता की कुछ कार्यवाहियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया, इन तीन कारणों के समन्वित परिणाम का फल है—एक सबल देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म। सचमुच ही, राष्ट्रवाद निगूढ़ राष्ट्रीय मनोवृत्ति है और अनेक प्रकार की विचारधाराओं के सम्मिलित उद्योग का फल इसमें हम देख सकते हैं।

3. भारतीय स्वातन्त्र्य-क्रान्ति में अहिंसा का योगदान

क्रान्ति मौलिक और सामूहिक परिवर्तनों को कहते हैं। यद्यपि यह संस्कृत भाषा का शब्द है और संस्कृत-साहित्य में इसका अर्थ होता है—गमन, अग्राभिमुखी प्रयाण, आक्रमण आदि, तथापि आधुनिक भारतीय साहित्य में इस शब्द से वही अर्थ व्यक्त किया जाता है जो यूरोपीय साहित्य में रेवोल्यूशन (Revolution) शब्द से। जब-जब तीव्र वेग से और आमूल परिवर्तन होता है तब-तब हम कहते हैं कि क्रान्ति हुई। अमरीका की राज्यक्रान्ति और फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पीछे राजनीतिक कारण विराजमान थे। रूस की राज्यक्रान्ति मुख्यतः आर्थिक आधार पर हुई थी। इंगलैण्ड की प्यूरिटन राज्यक्रान्ति के पीछे धार्मिक भावनाओं का प्राबल्य था।

यद्यपि क्रान्ति तीव्र, मौलिक और सामूहिक परिवर्तन को कहते है, तथापि हिंसा क्रान्ति का आवश्यक अंग नहीं है। इंगलैण्ड में सन् 1688 की क्रान्ति रक्तहीन थी (Bloodless Glorious Revolution)। कभी-कभी क्रान्तिकारी परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं, किन्तु उनका सामूहिक प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। उदाहरणार्थ, अट्ठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति। यूरोप में प्रायः पचास से सौ वर्ष तक जो यान्त्रिक उत्पादन के क्षेत्र में परिवर्तन हुए, उन्हें हम औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं। धीरे-धीरे भी क्रान्ति हो सकती है, इसका यह एक बड़ा उदाहरण है।

क्रान्ति अनेक कारणों से होती है। प्लेटो ने क्रान्ति के मनोवैज्ञानिक-आर्थिक कारणों की मीमांसा अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) में की है। मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारणों का निर्देश अरस्तू ने किया है। अपने ग्रन्थ दर्शन-दरिद्रता (Poverty of Philosophy) में मार्क्स ने यान्त्रिक शक्तियों के क्रान्तिकारी प्रभाव का उल्लेख किया है। कैपिटल ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में मार्क्स ने आर्थिक शक्तियों के क्रान्तिकारी प्रभाव का विशद् विवेचन किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्त एशिया में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही एक महान परिवर्तन दीख पड़ता है। बीसवीं शताब्दी में एशिया में भी अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं। सन् 1911 में चीन में क्रान्ति हुई और मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में तुर्की में सन् 1922-1924 में बड़ी क्रान्ति हुई। भारत में भी एक बड़ी राजनीतिक क्रान्ति हुई, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी साम्राज्यवाद का देश में अन्त हुआ।

भारत की स्वातन्त्र्य-क्रान्ति पूर्णत: तो नहीं, किन्तु अधिकांशत: अहिंसक थी। सन् 1857 में भारतवर्ष में एक महान् आन्दोलन हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य के साथ संगठित हिंसात्मक युद्ध का वह अन्तिम उदाहरण था। तथापि सन् 1857 के बाद भी छिटपुट कुछ हिंसा बराबर होती रही। सन् 1876 में वासुदेव फड़के ने हिंसात्मक द्रोह किया। सन् 1897 में पूना का प्रसिद्ध हत्याकाण्ड हुआ जिसमें रैंड और एयर्स्ट की हत्या हुई। 1908 में और उसके बाद भारतीय आतंकवाद का उग्र रूप प्रकट हुआ। नासिक में हत्या हुई। मुजफ्फरपुर में बम फेंका गया। पहले विश्वयुद्ध में अमरीका में एक गदर पार्टी बनी, जो भारत में सशस्त्र क्रान्ति के लिए कुछ असफल प्रयत्न कर सकी। 1920 के बाद भी यत्र-तत्र हिंसा का प्रयोग होता रहा। 1942 में भी हिंसा का आश्रय लिया गया। नेताजी सुभाष का आन्दोलन भी हिंसा में विश्वास करता था। और भी कुछ उदाहरण हिंसा के समर्थन और प्रयोग के दिये जा सकते हैं।

किन्तु, इन उदाहरणों के बावजूद यह कहना यथार्थ है कि भारत की राजनीतिक क्रान्ति अधिकांशत: अहिंसात्मक थी। इसके अहिंसक होने के तीन प्रधान कारण थे—(क) अंग्रेजी साम्राज्य ने भारतीयों को अस्त्र-शस्त्र से रहित कर दिया था। उद्योग और विज्ञान की शक्ति से समन्वित अंग्रेजी साम्राज्य के सामने भारतीयों की हिंसात्मक शक्ति प्राय: कुछ भी नहीं थी। यदि वे हिंसा का आश्रय लेते तो अति शीघ्र कुचल और पीस दिये जा सकते थे। (ख) यद्यपि भारतीय संस्कृति में धर्मयुद्ध और अस्त्रबल का समर्थन किया गया है, तथापि औपनिषद् और प्रमुखत: जैन, वैष्णव और बौद्ध-संस्कृति में अहिंसा का विशेष महत्व है। स्वभावत: अब भारतीय जनता शान्तिप्रिय हो गयी है। अत: अहिंसात्मक क्रान्ति का सन्देश इस जनता को अपनी संस्कृति का एक महान सन्देश प्रतीत हुआ। (ग) महात्मा गान्धी का व्यक्तित्व अहिंसक क्रान्ति के उदय और साफल्य का एक अतिशय महान कारण था। महात्मा जी सत्य और अहिंसा के अप्रतिम पुजारी थे। अहिंसा उनके लिए *नीति नहीं, धर्म था।* भारतीय राजनीतिक सफलता के द्वारा वे विश्व के सामने अहिंसा के विराट् सामाजिक और राजनीतिक रूप का प्रकटीकरण करना चाहते थे।

इस सैद्धान्तिक विवेचन के बाद हम भारतीय अहिंसक क्रान्ति की ऐतिहासिक आलोचना करेंगे। कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हुई। इसके पहले ही सामाजिक और धार्मिक सुधार का सूत्रपात ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थना-समाज के प्रचार से हो गया था। बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बम्बई और इंगलैण्ड में दादा भाई नौरोजी और महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक भी अपना राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी आन्दोलन प्रारम्भ कर चुके थे। कांग्रेस की स्थापना से राजनीतिक *प्रयत्नों को, आंशिक रूप में ही सही, केन्द्रित करने में सहूलियत हुई। 1885 से 1904 तक कांग्रेस* सिर्फ आवेदन-पत्र और निवेदन की नीति का आश्रय लेती रही। 1905 में बंग-भंग के प्रश्न को लेकर कुछ गरमी आयी और लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में स्वराज्य, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और बहिष्कार के चतु:सूत्री को कांग्रेस ने स्वीकृत किया। यह ठीक है कि तिलक अहिंसा के पूर्ण पक्षपाती नहीं थे। शिवाजी के द्वारा की गयी अफजल खाँ की हत्या का, गीता के दार्शनिक आधार पर, उन्होंने समर्थन किया था। यह ठीक है कि नरम दल के नेताओं—फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी—के संवैधानिक आन्दोलन (Constitutional Agitation) का उन्होंने उपहास *किया था, तथापि यह भी ठीक है कि यथार्थवादी तिलक भारत की तत्कालीन परिस्थिति* में हिंसात्मक आन्दोलन का समर्थन नहीं करते थे। 1916 में तिलक और बेसेन्ट के नेतृत्व में होम-रूल लीग की स्थापना हुई और इस लीग के प्रचार से निम्नवर्ग की जनता की सहानुभूति भी कांग्रेस के कार्य और साधारणतया राजनीतिक कार्य के प्रति हुई। 1919 में तिलक विलायत में थे और वहाँ उन्होंने ब्रिटिश लेबर पार्टी (मजदूर-दल) के साथ राजनीतिक मैत्री स्थापित की, जो कालान्तर में लाभकारी सिद्ध हुई, क्योंकि इसी दल ने अन्ततोगत्वा 1947 में भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की।

सन् *1920 में, तिलक के देहावसान के बाद,* महात्मा गान्धी देश के सर्वश्रेष्ठ नेता हुए। यद्यपि गान्धीजी गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे, तथापि व्यावहारिक राजनीति में उनकी अहिंसात्मक सत्याग्रह की नीति, नरम दल की ही क्यों, गरम दल की नीति से भी अधिक

उग्र थी। यद्यपि गान्धीजी क्षमा और शान्ति के पक्के पुजारी थे, तथापि दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन (1908-1914), चम्पारन में नीलहों के विरुद्ध सत्याग्रह (1917) तथा खेड़ा के सत्याग्रह में उन्होंने दिखा दिया था कि अन्यायकारी कानूनों का विरोध वे प्राणों की बाजी लगाकर भी करने को तैयार थे। दार्शनिक दृष्टि से तिलकजी पूर्ण अहिंसक नहीं थे और गान्धीजी पूर्ण अहिंसक थे तथापि व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से तिलकजी कानून की सीमा के अन्दर ही आन्दोलन करना चाहते थे, किन्तु गान्धीजी अन्यायकारी कानूनों के सविनय अहिंसात्मक विरोध का पूर्ण समर्थन करते थे।

1920 में पंजाब हत्याकाण्ड और खिलाफत के अन्याय का विरोध करने के लिए असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हुआ। यद्यपि चौरी-चौरा के हिंसाकाण्ड से दुखी होकर 1922 में गान्धीजी ने असहयोग-आन्दोलन बन्द कर दिया, तथापि इस आन्दोलन से देश में एक अभूतपूर्व राजनीतिक जागरण हुआ। 1922 से 1924 तक गान्धीजी जेल में थे। 1924 से 1928 तक उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम पर बल दिया। 1929 में पं. जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्रपतित्व में और गान्धीजी का आशीर्वाद प्राप्त कर कांग्रेस ने लाहौर में भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया। 1907 में योगी अरविन्द ने अपने लेखों में तथा महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों ने 1907-1909 में पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की थी। सन् 1929 में देश की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संस्था ने पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना निश्चित ध्येय बनाया। 1930 में नमक-सत्याग्रह का आन्दोलन हुआ। 1920-1922 की अपेक्षा अधिक सख्ती और कड़ाई से सरकार ने इस नमक आन्दोलन को दबाने की चेष्टा की, किन्तु आन्दोलन बढ़ता ही गया। 1931 में गान्धी-इर्विन समझौते के फलस्वरूप गान्धीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि होकर विलायत गये। 1932 में गान्धीजी ने हरिजनों को हिन्दू समाज से राजनीतिक दृष्टि से पृथक किये जाने का (भिन्न निर्वाचन का) आमरण अनशन कर विरोध किया। 1934 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द किया गया। इसी वर्ष गान्धीजी कांग्रेस से अलग होकर रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा देश को मजबूत और तैयार करने लगे। 1937 में कांग्रेस ने सात प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाया, जो 1939 में विश्वयुद्ध छिड़ने पर, बिना भारतीय जनता को पूछे भारत को भी युद्ध में शामिल कर देने की अंग्रेजी साम्राज्य की नीति के विरोध में त्याग-पत्र देकर हटा लिया गया। 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन छिड़ा। 1942 में महात्मा गान्धी ने 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' (Quit India) के महामन्त्र का उच्चारण किया। 1942 की क्रान्ति जिस बेरहमी और अमानुषिकता से दबायी गयी उसका वर्णन करना कठिन है। इसी समय नेताजी सुभाष अपने भारतीय राष्ट्रीय सैन्य दल (I. N. A.) का संगठन कर रहे थे। इस दल का कार्य भारत को हिंसात्मक नीति से स्वतन्त्र कराने का प्रयास था। नेपाल की तराई में जयप्रकाश नारायण ने अपना आजाद दस्ता बनाया। 1945 में भारत और अंग्रेजी राज्य के बीच समझौते शुरू हुए। 1947 में 15 अगस्त को महान् राष्ट्रीय यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। देश स्वतन्त्र हुआ।

परिशिष्ट 2

महर्षि दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

स्वामी दयानन्द भारतीय इतिहास की एक विशिष्ट विभूति थे। उनका व्यक्तित्व विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न और सशक्त था। भारतीय इतिहास की प्रवहणशील धारा को अपने व्यक्तित्व से तेजस्वी बनाना उनका पुरुषार्थ था। प्राचीन काल से लेकर आज तक भारत में अनेक क्रियाशील महत्तम तेजसम्पन्न पुरुष उत्पन्न हुए हैं और सभी ने अपनी प्रतिभा और कर्म-शक्ति से इसके इतिहास को गौरवान्वित किया है। इतिहास साधारणतः वस्तुनिष्ठ शक्तियों से संचालित होता है। ये शक्तियाँ नानामुख होती हैं, उदाहरणार्थ धनशक्ति, जनशक्ति, जलवायुशक्ति, इत्यादि। सचमुच ये वस्तुनिष्ठ शक्तियाँ प्रमुख हैं। प्रकृति द्वारा प्रदत्त इन शक्तियों का उपयोग मात्र मानव कर सकता है। यह ठीक है कि आधुनिक विज्ञान की शक्तियों का सहारा लेकर प्राकृतिक शक्तियों का अंशतः सम्पूरण और संवर्धन भी किया जा सकता है। किन्तु इतिहास के रंगमंच में केवल वस्तुनिष्ठ प्राकृतिक शक्तियों का प्रकाशन-मात्र ही नहीं होता है। विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न कर्तृत्वशक्तियुक्त महापुरुषों का रचनात्मक योगदान भी इतिहास में कम महत्वपूर्ण नहीं है। स्वामी दयानन्द भारतीय इतिहास में इसी प्रकार के सर्जनात्मक प्रतिभा सम्पन्न युग-निर्माता हुए हैं।

इतिहास में व्यक्तित्व दो प्रकार से कार्य करता है। एक प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो गहरी तपस्या और साधना से दिव्य मन्त्रों और सन्देशों का दर्शन और अभिप्रकाशन करते हैं। स्वयं कर्मरत न होकर भी ऐसे पुरुष शनैः-शनैः अपनी शिक्षाओं के प्रसारण से समाज और राष्ट्र में परिवर्तन कर देते हैं। प्लेटो, सन्त अगस्तीन, रूसो, विरजानन्द, रामकृष्ण परमहंस, रायचन्द्र भाई आदि इसी प्रकार के मन्त्र-प्रदाता पुरुष हैं। यद्यपि ऐसे पुरुष घोर जनरव और तुमुल अनुनाद नहीं उत्पन्न करते, तथापि अदृष्ट रूप में इनकी बौद्धिक शक्तियाँ बराबर कार्य करती रहती हैं। दूसरे वे पुरुष होते हैं जो घोर कर्ममय आन्दोलन करते हैं। उनमें राजनीतिक शक्तियों की प्रधानता होती है। इतिहास की धारा को प्रचण्ड शक्ति से आहत करने का वे उद्योग करते हैं। इस प्रकार का प्रयास करने वाले यदि सफलता प्राप्त करते हैं तो उद्दाम शक्ति का प्रदर्शन होता है। रावण, दुर्योधन, सीजर, औरंगजेब, नेपोलियन, बिस्मार्क, हिटलर आदि के जीवन में इस प्रकार की धृष्टतापूर्ण राजसिकता का प्रदर्शन हुआ है। यदि पहली कोटि के महापुरुष सात्विक विचारों का दान करते हैं तो दूसरे राजसिक शक्ति का अतिरंजित केन्द्रीकरण ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इन दो मार्गों के बीच एक मध्यम प्रतिपदा है। इस मध्यम पथ के अनुयायी, न तो केवल दिव्य दार्शनिक विचिन्तन में रत रहते हैं और न स्वार्थपूर्ण राजसिकता का अनुसरण ही करते हैं। इनके जीवन में बौद्धिक अनुचिन्तन और कर्मयोग का निर्मल समन्वय मिलता है। बुद्ध, दयानन्द, तिलक, मार्क्स, गान्धी इसी प्रकार के मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार के महापुरुष यदि एक ओर शान्ति, साधना, अभ्यास और वैराग्य से अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं तो दूसरी ओर अपनी शक्ति का जन-कल्याण और मानव-परमार्थ में भी व्यापक आन्दोलन के द्वारा उपयोग करते हैं।

महर्षि दयानन्द ने शक्तियोग की आराधना की थी। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इस सूत्र को उन्होंने हृदयंगम किया था। अन्नमय और प्राणमय कोश की उन्होंने कदापि उपेक्षा नहीं की थी। व्यायाम, प्राणायाम उनके दैनिक नित्यकर्म में शामिल थे। शरीर-बल और आरोग्य के लिए

दृढांगता अपेक्षित है। अपने स्वत्व और अधिकारों की रक्षा के लिए भौतिक बल आवश्यक है। तपस्वी का मजबूत शरीर आत्मबल को भी उत्पन्न करता है। आरोग्ययुक्त शरीर ही महान अध्यवसाय को संसिद्ध करने में समर्थ हो सकता है। जो कुछ भी जगत में शक्तिशाली है, प्रचण्ड है, दीर्घकालस्थायी है वह वीर्य, ओज, तेज और वर्चस् का प्रताप है। प्राचीन भारत में शक्ति की पूर्ण उपासना की जाती थी। राम और कृष्ण हिन्दुओं के आदर्श महापुरुष हैं। अधिकांश जनता इन्हें अवतार तक मानती है। किन्तु, इनके जीवन में भी क्षात्रबल का पूर्ण विस्तार पाया जाता है। महाभारत-काल में इस शक्तियोग का मूर्त्त व्यावहारिक रूप हम देखते हैं। जब इस देश में अन्नमय कोश और प्राणमय कोश की उपेक्षा हुई, तब यह देश पराभव को प्राप्त हुआ। जब मुसलमानों का आक्रमण यहाँ पर हुआ उस समय उनका मुकाबला करने के लिए जो राजपूत, मरहट्टे और सिक्ख शस्त्रसंपात में प्रवृत्त हुए, वे इसी कारण ऐसा कर सके कि उनका शरीर भारत के अन्य निवासियों की अपेक्षा मजबूत था। यूनान के दार्शनिकों ने सर्वदा शरीर को उन्नत करने पर बल दिया है। वे जानते थे कि कमजोर और विकृतांग नागरिकों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती थी। यूनानी कला के जो अवशेष मिलते हैं उनमें दृढ़ मांसपेशियों और अस्थियों से संवलित पुरुषों के चित्रण दिखायी देते हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी की इटली की कला के नमूनों में भी हमें दृढांगता का अभिव्यंजन मिलता है। यूरोप की जातियों ने इस महान सत्य को भले प्रकार समझा है कि शरीर की उपेक्षा करने वाले नागरिक और राष्ट्र कदापि जीवन-संघर्ष में नहीं टिक सकते। दयानन्द ने भी इस सत्य को समझा था कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। शरीर की उपेक्षा करने के कारण ही गुरुदत्त विद्यार्थी का केवल छब्बीस वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया। उपनिषद में कहा है कि शरीर अनिवार्य साधन है और आवश्यकता है कि इसको मजबूत और सुरक्षित रखा जाय। अतएव, स्वामी दयानन्द जब समाधि लगाते थे तो फिर समाधि से उठने पर दौड़ भी लगाते थे। जब वे प्रचार कार्य में आए तो अनेक लोगों ने द्वेषवश उन पर तरह-तरह के आक्रमण किये। किन्तु, वज्र के समान शरीर रखने वाला महर्षि जरा भी विचलित न हुआ। कर्णसिंह ने राजमद में चूर होकर स्वामी के ऊपर खड्ग-प्रहार करना चाहा किन्तु स्वामी ने उनके हाथ से तलवार छीनकर तोड़ डाला। जब स्वामीजी प्रभात काल में टहलने चलते थे तो शीघ्रगामी नवयुवकों को भी उनके साथ-साथ चलने में दौड़ना पड़ता था। अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' में स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वीकार किया है कि अपनी जवानी के दिनों में भी महर्षि के साथ चलने में थक कर पीछे रह गये। शरीर योग की इस प्रकार साधना कर महर्षि ने भारतीय राष्ट्र के नवयुवकों के अनुकरण के लिए एक अत्यन्त तेजस्वी उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस देश के गुलाम मस्तिष्क वाले युवक थोड़े-से द्रव्य और यश की प्राप्ति होने पर आलस्य और प्रमाद में अपना समय गँवाते हैं। इस प्रकार के लोगों के लिए महर्षि का जीवन एक सतत् प्रेरणा और चुनौती उपस्थित करता है। अन्य राष्ट्र-निर्माताओं के समान, दयानन्द ने केवल सत्यार्थ-प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका आदि अपने अनेक ग्रन्थों में शारीरिक उन्नति करने का उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि उसे जीवन में क्रियान्वित भी किया। शरीर योग के ऊपर बलप्रदान ऋषि दयानन्द का एक विशिष्ट राष्ट्र-निर्माण-मूलक योगदान है।

महर्षि दयानन्द ने शरीरयोग के साथ-साथ मनोयोग और विज्ञान-योग की भी आराधना की थी। वेद और व्याकरण के वे महान पण्डित थे। दण्डी विरजानन्द सरस्वती से उन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया था। दण्डीजी के अत्यन्त तेजस्वी शिष्यों में दयानन्द ही सर्वाग्रगण्य थे। वैदिक वाङ्मय पर दयानन्द का असाधारण अधिकार था। संस्कृत-साहित्य पर अप्रतिहत गति रखने के कारण भारतीय जनता आचार्य शंकर से दयानन्द की तुलना करती है। स्वामीजी की अध्ययनशीलता की दो विशेषताएँ थीं। प्रथम, वे प्रतिदिन आर्ष-ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे। अतः, वेदादि सद्ग्रन्थों के विशिष्ट स्थल उन्हें सर्वदा उपस्थित मिलते थे। शास्त्रार्थ करने में प्रमाणों के सर्वदा मस्तिष्क में उपस्थित रहने से उन्हें बड़ी सहायता मिलती थी। द्वितीय, वे बुद्धि और विवेक के द्वारा शास्त्रों का परीक्षण करते थे। उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। शिवरात्रि के दिन जो उन्होंने शिवमूर्ति के ऊपर चूहे को चढ़ते देखकर विस्मित हो, सच्चे महाशिव के अनुसन्धान का व्रत लिया, वही प्रमाणित करता है कि परम्परा-प्राप्त पथ का वे अनुसरण नहीं करना चाहते थे। प्लेटो के ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में कहा गया है

कि अधिकांश जनता घोर तमिस्रा में रहकर छाया को ही सत्य मानती है। किन्तु, कोई जिज्ञासु ही ज्ञानसूर्य का दर्शन करने की इच्छा करता है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि कोई धीर जन ही सांसारिक काम-भोग से आवृतचक्षु होकर श्रेय का अनुसन्धान करता है। अन्धवेणुपरम्परा और रूढ़ि-भक्ति का त्याग कर तर्कणा की निशित क्षुरधारा पर शास्त्रप्रतिपादित विषयों का विश्लेपण करना दयानन्द का कार्य था। प्रायः एक हजार वर्षों से भारतीय बौद्धिक इतिहास में तर्कपूर्ण ज्ञान का स्थान परम्परावाद ने ले लिया था। लोग शास्त्रों को पढ़ते तो थे, किन्तु पठित विषयों पर आलोचनात्मक बुद्धि से निर्णय नहीं करते थे। शास्त्रीय अध्ययन-परम्परा में आलोचनात्मक तर्कणात्मक बुद्धि का प्रवेश करना भी स्वमी दयानन्द का महान राष्ट्रीय कार्य है। मध्ययुगीन भारत में भाष्य और टीका पढ़ने की प्रणाली मजबूत हो गयी थी। भाष्य, प्रभाष्य और फक्किका रटते-रटते मनुष्य का समय वर्बाद होता था। दण्डी विरजानन्दजी ने दयानन्द को मूल आर्य ग्रन्थों को पढ़ने का सन्देश दिया। मूलग्रन्थों को पढ़ने से अल्प समय में अनेक विपयों का पारदर्शी ज्ञान हो जाता है। तिलक ने भी लिखा है कि जब गीता के अनेक भाष्यों को उन्होंने बक्से में बन्द कर दिया और मूल गीता की ही अनेक आवृत्तियाँ कीं और उसका गहन चिन्तन किया तो उन्हें एक अत्यन्त विलक्षण और नूतन गूढ़ार्थ मूल गीता से प्राप्त हुआ। आजकल भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र और राजनीतिशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थी मूल पुस्तकों का अध्ययन कम करते हैं। अन्य साधारण जनों द्वारा लिखित नोट-ग्रन्थों और टेक्स्ट-ग्रन्थों से सूचना मात्र प्राप्त कर लेते हैं। जब मैं न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय और शिकागो विश्वविद्यालय में अध्ययन करता था, तो उस समय ऋषि दयानन्द के बताए हुए मार्ग का मर्म मेरी समझ में आया। अमरीका के विश्वविद्यालय में डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त करने या एम. ए. की उपाधि के लिए भी मौलिक ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। हेरल्ड लास्की ने भी लिखा है कि राजनीति-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि मौलिक विचारकों के ग्रन्थों का गहरा अनुशासन हो। बर्टेन्ड रसल ने भी दर्शन-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मौलिक पुस्तकों का स्वाध्याय आवश्यक समझा है। आज से प्रायः पचासी वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने समझ लिया था कि भाष्यों को ही सर्वस्व मानना बड़ी भूल है। समय बता रहा है कि ऋषि की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और अन्तःप्रवेशिनी थी। जब हम अनेक भाष्यों और सूचना-ग्रन्थों को पढ़ते हैं तब हमारी बुद्धि की मौलिकता नष्ट हो जाती है। मौलिक ग्रन्थों से जो एक दिमागी निर्मलता और ताजगी प्राप्त होती है वह सर्वथा संग्रहणीय है। देश को इस प्रकार सच्ची शिक्षा का मार्ग दिखाकर स्वामी दयानन्द ने महान राष्ट्रीय कार्य किया है। भावी नागरिकों और राष्ट्र-संचालकों को ओज और तेज की प्राप्ति की शिक्षा देने वाले आर्य-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त हो, ऋषि का ऐसा विचार विशुद्ध अर्थ में राष्ट्रीय है। प्लेटो और अरस्तू का ऐसा विचार था कि सत्कर्म में प्रेरित करने वाले साहित्य का ही अध्ययन बालकों के लिए अभिवांछित है। होमर का साहित्य देवताओं के सम्बन्ध में विकृत बातें कहता है, अतः भावी राष्ट्र-रक्षकों के सामने गर्हित विचार न प्रस्तुत हो जायँ, इसलिए होमर और हेसोयाड के संपूजित वाङ्मय के बहिष्करण का भी प्लेटो ने प्रस्ताव सामने रखा। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत पुराणों के खण्डन का प्रस्ताव कुछ भावुक, श्रद्धालु लोगों के हृदय पर चोट पहुँचाता है, किन्तु यहाँ भी विचारणीय है कि क्या कोमल-मति नम्र स्वभाव के बालकों के हाथ में उस साहित्य को रखना अच्छा है जिससे अनेक संस्कार विकृत हो जायँ ? क्यों यह सत्य नहीं कि हमारे पुराण-साहित्य में देवताओं के सम्बन्ध में अनेक खटकने वाली बातें कही गयी हैं ? यह ठीक है कि अनेक पौराणिक गाथाओं का रहस्यवादात्मक आत्म-परमात्ममूलक अर्थ लगाया जा सकता है। कृष्ण की रासलीला का आध्यात्मिक तात्पर्य अनेक विद्वानों ने स्वीकृत किया है। किन्तु इस प्रकार का तत्व ज्ञान बालकों के लिए क्लिष्ट है। इसके अतिरिक्त मैं स्वयं इस बात का विरोधी हूँ कि आत्म-परमात्म-विवेचन भौतिक स्त्री-पुरुषों के रूपक के द्वारा वर्णित हो। क्या परमात्मतत्व-विवेचन का अन्त तर्क-संमत माध्यम नहीं मिल सकता ? अतः स्वामी दयानन्द ने जो ग्रन्थों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विवेचन किया है, उसमें भी अंशतः उनकी राष्ट्रप्रतिपादिनी दृष्टि का हमें दर्शन होता है। देश और काल की आवश्यकता के अनुसार, विस्तार की बातों में आंशिक परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता को

विहित मानते हुए भी ऋषि दयानन्द और प्लेटो का यह सिद्धान्त स्वीकरणीय है कि शिक्षा के क्षेत्र में उन्हीं ग्रन्थों को स्थान मिलना चाहिए जिनसे तेजस्विता, वीरता, स्वकर्मानुरक्ति, राष्ट्रसेवा, परमार्थवृत्ति आदि बातों का मण्डन होता है। राष्ट्रीय जीवन की आधारभूत शिक्षा पर अतिशय ध्यान देना और शील तथा स्वकर्मदक्षता का अनुसन्धान करना सामूहिक उन्नति के लिए परम आवश्यक है

महर्षि दयानन्द ने शरीरयोग और विज्ञानयोग के साथ-साथ आत्मयोग की भी आराधना की थी। केवल जड़ प्रकृति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने से कुछ शाश्वत फल नहीं मिलेगा। पश्चिमी देशों में प्रायः, पाँच सौ वर्षों से विज्ञान की अप्रतिहत उन्नति के कारण, जीवन यापन करने के प्रकार में विस्मयकारी रूपान्तर हुए हैं। प्राकृतिक शक्तियों पर अपना प्रभाव व्यक्त करने में मनुष्य समर्थ हुआ है। परन्तु, भौतिक युगान्तर के बावजूद पाशविक और आसुरी वृत्ति के नियन्त्रण के अभाव में मानव-समाज में भयानक त्राहि-त्राहि मचा हुआ है। सभ्यता के संक्रमण और पतन की आवाज सुनायी पड़ती है और निराशा, अनुत्साह और जागतिक विषाद से आज का बौद्धिक वातावरण परिपूर्ण है। चाहे हम पश्चिमी देशों का व्यवहारवादी (Pragmatic) या तार्किक विधेयात्मवादी (Logical Positivism) या जीवनवादी (Existentialism) या घटनावादी (Phenomenology of Husserl), कोई भी दार्शनिक विचार लें, सर्वत्र हमें मानव-जीवन के उन्नयनकारी आदर्शों के सम्बन्ध में निराशा मिलती है। प्रकृति की प्रक्रिया के अनुशीलन में इतनी अधिक व्यस्तता है कि मानव-जीवन के विशाल उद्देश्यों का कोई ज्ञान ही नहीं रह गया है। शब्द-जाल और विकल्प का अधिक प्राबल्य है और यूरोप और अमरीका के बुद्धिजीवी संशयग्रस्त होकर मानव-जीवन का उद्देश्य शायद पूर्णतः भूल चुके हैं। यह ठीक है कि धन और वैज्ञानिक शक्ति की प्रचुरता के कारण और तज्जनित सांसारिक सुखों को भोगने की अपरिमित क्षमता के कारण पश्चिमी बुद्धिजीवी वर्ग का यह आध्यात्मिक खोखलापन उतना उग्र और चिन्ताजनक नहीं प्रतीत होता है, तथापि गम्भीरता से देखने पर कम से कम एक कमी अवश्य मालूम पड़ती है। ऋषि दयानन्द का विज्ञान केवल शाब्दिक नहीं था, अपितु जिन सच्चाइयों का वे जगत में प्रचार और प्रसार करना चाहते थे उनको अपने वैयक्तिक जीवन में साक्षात्कृत करना भी उनका पुरुषार्थ था। ऋषि वही है जिसे सत्य का यथातथ्य दर्शन हो। यह ठीक है कि सीमित मानव की ज्ञान-प्रक्रिया में सम्पूर्ण सत्य नहीं समा सकता है, तथापि बौद्धिकता और जीवन में समन्वय और सन्तुलन करना ऋषि का कार्य है। आज सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप से एक विकृत जड़वाद यूरोपीय और अमरीकी ज्ञान को आक्रान्त कर रहा है। मेरी समझ में प्रकृति के पाश से भागना अथवा प्रकृति पर नियन्त्रण करना ही बस नहीं है। आवश्यकता है कि मानव को आत्मबोध हो। जब तक मनुष्य पदार्थों से अधिक मूल्यवान और तत्वतः विभिन्न अपनी आत्मा को नहीं समझता तब तक ऐसा मानना चाहिए कि उसे आत्मज्ञान नहीं है। आत्मबोध की शिक्षा की आवश्यकता पर सुकरात, शंकर और दयानन्द ने बहुत बल दिया है। शास्त्रार्थ-महारथी और महान बौद्धिक विजेता होने के साथ ही साथ स्वामी दयानन्द आत्मवान पुरुष थे। कांट और स्पेंसर ने अंशतः अज्ञेयवाद का प्रचार किया है। किन्तु, स्वामी दयानन्द ने बताया है कि पवित्र जीवन से जीवन की पूर्णता और समग्रता का बोध होता है। भारतीय सनातन परम्परा में आस्था रखते हुए ऋषि ने योग का उपदेश दिया और बताया कि मानव-जीवन के चरम विकास के लिए समाधिसंसिद्धि आवश्यक है। मृत्यु की भयंकरता का स्वयंवेदनीय परिचय उन्हें अपने चाचा और बहन के असामयिक निधन से मिल चुका था। स्वयं अपनी मृत्यु के समय ऋषि अवचलित रहे और ईश्वर की आज्ञा और इच्छा के अनुकूल अपने को समर्पित कर दिया। उस समय के प्रत्यक्षदर्शी पुरुषों का ऐसा ही कथन है। मृत्यु के समय इस प्रकार अनांदोलित रहना इस बात का प्रमाण है कि ऋषि ने आत्मिक और आन्तरिक प्रदेशों में भी अवश्य विजय प्राप्त की थी। हमें महान आश्चर्य होता है जब हम आज सुनते हैं कि देश प्रसिद्ध वैज्ञानिक आत्महत्या कर लेते हैं। यह इसी कारण सम्भव होता है कि उन्हें सत्यज्ञान नहीं है। ऐसी अवस्था में केवल भौतिक ज्ञान से हमें अश्रद्धा हो जाती है। सांसारिक वस्तुओं का पारदर्शी विज्ञान प्राप्त होने पर भी, वे हमें सर्वदा निराश और भयग्रस्त कर सकते हैं। मरने के समय यूनानी महात्मा

सुकरात अत्यन्त धीर था । दीघ निकाय के महापरिनिर्वाण सूत्र में बताया है कि मरणकाल में महात्मा बुद्ध पूर्णतः धीरमति और स्थितप्रज्ञ थे । शान्ति और गम्भीर तेज से वे युक्त थे । इससे मालूम पड़ता है कि सम्भवतः अनात्मवादी बुद्ध को भी किसी विशिष्ट तात्विक सत्य की उपलब्धि अवश्य हुई थी ।

अवश्यमेय आत्मिक उन्नयन से जीवन-पथ आलोकित होता है और विकट परिस्थितियों में भी मानव कर्तव्यशील रहता है । इसी आत्मिक उन्नति के कारण ही स्वामी दयानन्द अनेक प्रलोभनों और भयों को ठुकरा और कुचल सके । आत्मज्ञान के अभाव में अहंकार और अस्मिता से आविष्ट हो मनुष्य मोह, मत्सर, विषय-वासना और लोभ में लिप्त हो जाता है । इस कारण उसके व्यक्तित्व में विभक्तता (Schizophrenia) दिखायी पड़ती है । जीवन की समग्रता का उसे बोध नहीं रहता । सच्चा आत्मवान वही है जो विशिष्ट सदादर्शों से अपने जीवन को अनुप्राणित और संचालित करता है । आत्मिक जीवन की वास्तविकता का शायद सबसे बड़ा प्रमाण मानव जीवन में आत्मबोध-प्रजनित रूपान्तर के द्वारा व्यक्त होता है । यदि आत्मिक जीवन सत्य न होता तो धनलिप्त, हिंसा-लिप्त, डाकू, विषयलिप्त, लम्पट, भोगी आदि कदापि महात्मा नहीं बन सकते । तुलसीदास, महात्मा गान्धी और श्रद्धानन्द का जीवन तथा भारत के पिछले इतिहास में वाल्मीकि का जीवन इसको प्रमाणित करता है कि आत्मिक जीवन सत्य है । आत्मवान पुरुषों के जीवन में जो शान्ति, जो स्थैर्य और विशाल गाम्भीर्य है वह अन्यत्र कदापि नहीं प्राप्त हो सकता । आत्मवान पुरुष कभी भी क्षुद्रता और स्वार्थ में नहीं फँस सकता । वह अपने से विशालतर वृत्तों के साथ एकात्मता प्राप्त करता है । यदि उसके स्वार्थ और जनपद या राष्ट्र या जगत के स्वार्थ में संघर्ष होगा, तो वह सर्वदा अपना क्षुद्र अहंभावोपेत स्वार्थ छोड़ देगा और सदैव पूर्णता की ओर अभियान करेगा । जगत में एकता, समानता और उच्चाशययुक्त नानामुखता का प्रकटीकरण ही उसके जीवन का एकमात्र कार्य हो जाता है । यदि ऐसा आत्मवान पुरुष उत्पन्न हो तो इससे राष्ट्र धन्य हो जाता है । राष्ट्रीय जीवन के सम्यक् परिपालन के लिए अहंभाव का उत्क्रमण आवश्यक है । मेजिनी, वाशिंगटन, तिलक आदि के जीवन में इसी अहंभावोत्क्रमण के द्वारा व्यापक जनकल्याण-करण का आदर्श चरितार्थ हुआ है । ऋषि दयानन्द का आत्मिक जीवन हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति के मार्ग का द्वार प्रशस्त करता है । जब तक हमें आत्मिक जीवन का, आंशिक ही सही, बोध नहीं होता है तब तक हम अन्याय, अनाचार और स्वार्थ-साधन से ऊपर नहीं उठ सकते । और, यह निश्चित है कि पारस्परिक व्यवहार में अन्याय, अनाचार और स्वार्थ-साधन के वर्तमान रहने पर कोई भी राष्ट्रीय जीवन विकसित नहीं हो सकता । अतः, स्वामी दयानन्द का आत्मिक जीवन, न केवल मृत्यु भय से त्राण पाने का, अपितु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में नैतिक भावनाओं के अनुप्रवेश का मार्ग भी हमारे सामने स्पष्टता से व्यक्त करता है । भौतिक आधारों पर परिपुष्ट होकर भी राष्ट्रवाद एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक वृत्ति है । सांस्कृतिक सामष्टिकता से राष्ट्रवाद परिपुष्ट होता है, किन्तु इस आध्यात्मिक वृत्ति और सामष्टिक चैतन्य के निमित्त आत्मभाव का बोध आवश्यक है । यजुर्वेद में कहा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। [यजुर्वेद, 40/6-7]

स्पष्ट है कि आत्मवत्ता का निश्चित सांसारिक परिणाम है—सर्वभूतों के कल्याण की आराधना । सर्वभूतकल्याणवाद के मार्ग में राष्ट्रवाद एक निश्चित और आवश्यक सीढ़ी है । दयानन्द का आत्मिक जीवन यदि एक ओर राष्ट्रवाद को मजबूत करता है, तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद से भी अधिक उत्कृष्ट विशालतर वृत्तों से एकात्मता का सन्देश देता है ।

शरीरयोग, विज्ञानयोग और आत्मयोग की समन्वित साधना बताती है कि स्वामी दयानन्द का जीवन विशाल समन्वय का अभिदर्शन कराता है । वेदकाल में ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति के

समन्वय का क्रियात्मक उदाहरण प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों की क्रमशः समन्वित साधना का उपदेश प्राप्त होता है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निकोमाकियन एथिक्स' में अरस्तू ने कहा है कि केवल क्षात्रजीवन और राष्ट्रनेता का जीवन ही सर्वस्व नहीं है। इस प्रकार के कर्ममय जीवन से भी ऊपर तर्कपूर्ण दिव्य विचिन्तन का जीवन है। आनन्द की व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि शीलयुक्त कर्मों को सम्पन्न करना ही आनन्द का मार्ग है। प्राचीन वैदिक संस्कृति और यूनानी संस्कृति में समन्वय का आदर्श प्राप्त होता है। किन्तु, बौद्धों के अनात्मवाद और निर्वाणवाद तथा अद्वैतवादियों के मायावाद के प्रचार के कारण भारतीय जीवन में यतिमार्ग और पलायनमार्ग का प्राबल्य हो गया। अतः निश्रेयस् की सिद्धि तो हुई और अपनी साधना से जगत को विस्मित करने वाले पुरुष उत्पन्न तो हुए, किन्तु इससे हमारे राष्ट्र का प्राणमय जीवन कुछ शिथिल अवश्य हो गया है। वेद और गीता में जिस निष्काम-कर्मयोग का उपदेश किया गया है, वह हमारे सामने तात्विक ज्ञान और प्राणमूलिका शक्ति में समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है। मुसलमानों के शासन काल में जो अनेक क्षेत्रों में हमारी लज्जाजनक पराजय हुई, उसके कारण देश में निर्मल आदर्शों का कुछ लोप-सा हो गया। दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द और गान्धी ने पुनरपि इस व्यापक स्वस्थ समन्वयवादी कर्मयोग की शिक्षा देकर भारतीय राष्ट्र का अत्यन्त महान उपकार किया है। सात्विक आदर्शों के अभाव में जाति मृतप्राय हो जाती है। कर्मयोग का अनुशीलन वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन में जीवन-शक्ति सचारित करता है। भगवान् श्रीकृष्ण के समान स्वामी दयानन्द का भी अपने लिए कुछ सांसारिक कर्तव्य या कोई प्राप्तव्य पदार्थ शेष नही रह गया था, तथापि लोक-संग्रह और भूतकल्याण के लिए उन्होंने सर्वदा यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का अपने जीवन में क्रियान्वयन किया :—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ [यजुर्वेद, 40/2]

यदि वेदों को कर्मत्याग अभीष्ट रहता है तो कदापि ऐसा उपदेश वहाँ नहीं मिलता जैसा कि यजुर्वेद से प्राप्त होता है :—

> वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
> ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ [यजुर्वेद, 40/15]

अतः आवश्यक है कि मानव न केवल अमृत आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करे, अपितु सम्यक् कर्मात का भी पालन करे। इस प्रकार कर्मात और वेदान्त का समन्वय न केवल मानव के वैयक्तिक जीवन को उन्नत बनाता है, अपितु राष्ट्र की सर्वविध उन्नति का भी प्रशस्त सशक्त पथ आलोकित करता है।

स्वामी दयानन्द का अनुपम और बलवान व्यक्तित्व, इस प्रकार समन्वय-योग की उपासना के कारण, भारत के नूतन उत्थान में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। आज प्रायः सौ-सवा-सौ-वर्षों से भारतीय राष्ट्र का नूतन निर्माण हो रहा है। इस निर्माणकाल में विशाल आर्य वैदिक आदर्शों की पुनः वेगवती उद्घोषणा कर, दयानन्द ने सर्जनात्मिका शक्ति का प्रवाह किया है। विशाल समन्वयदर्शिनी आदर्शधारा अवश्यमेव राष्ट्रीय जीवन को मजबूत और उदात्त बनाती है। प्राचीन आर्य आदर्शवाद, मनुष्य को वीर्य और ओज की प्राप्ति कर विशिष्ट आकृति और अध्यवसाय में प्रवृत्त होने की शिक्षा देता था। किन्तु, साथ ही साथ ऋत और सत्य की भी उपासना करने का मन्त्र प्रदान करता था। ऋत उस सनातन नैतिक और आध्यात्मिक विराट नियम का नाम है जो समस्त जगत को विधृत किये हुए हैं। साधु वही है जो ऋत के स्वस्तिप्रदायक पथ का अनुसरण करता है। व्रत, दीक्षा, आजर्व और श्रद्धा के सहारे ही ऋतु का अनुसरण सम्भव है। श्री और रयि की प्राप्ति के लिए कुटिल मार्ग का त्याग और सुपथ पर आरोहण अत्यन्त आवश्यक है। इसी रयि की उपासना करने से कल्याण का प्रसाधन होता है। स्वामी दयानन्द भारत की दीन-हीन दशा से दुखी होकर इस देश को प्राण, रयि और ऋत के मार्ग के अनुसरण का सन्देश दे गये हैं। अविश्रान्त गति से, इस ऋतान्वेषी प्राणरयिसंसाधक मार्ग को, अपने जीवन में क्रियान्वित और भारतीय

जीवन में प्रचारित करने में ही ऋषि का जीवन व्यतीत हुआ। विराट् श्रेयवाद से उनका जीवन अनुप्राणित था और अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी आर्यराष्ट्र के निर्माण का वे नमूना बनाना चाहते थे। केवल प्रचार ही सर्वस्व नहीं है, प्रचार भी प्रभावशाली तभी बनता है जब उसके पीछे निर्मल व्यक्तित्व की साधना वर्तमान हो। दयानन्द के जीवन में यह व्यक्तित्व निखरा हुआ रूप धारण करता है।

केवल शक्तिवाद ऐतिहासिक दृष्टि से अकल्याणकारी है। शक्ति की अनियंत्रित उपासना शक्ति-साधकों का पराभव कर डालती है। एक जमाना था जब असीरिया के सम्राटों ने पश्चिमी एशिया में और मंगोलों ने पूर्वी एशिया में साम्राज्यवादी व्यवस्था की पुष्टि कर शक्तिवाद का नग्न दृश्य उपस्थित किया था, किन्तु संहारक काल ने बड़ी क्रूरता से उनका सत्यानाश कर डाला। मदान्ध रावण, दुर्योधन और सीजर के भीषण अन्त से हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। शक्तिवाद कुछ दिनों तक भले ही टिक जाय, किन्तु इसकी उद्दामता और भयंकरता के कारण अवश्य ही इसके विरोध में प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन आरम्भ हो जाते हैं। यदि एकान्ततः शक्तिवाद व्यावहारिक दृष्टि से हेय है, तो दूसरी ओर एकान्ततः विनयवाद भी अनभ्युदय का प्रदाता है। भारतीय संस्कृति मध्ययुग में आत्मवाद और आदर्शवाद का प्रचार करती रही, किन्तु वेदान्त और माध्यमिक दर्शन तत्वज्ञानात्मक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रहते हुए भी यवनों के आक्रमण को कुचलने में हमें कोई ऐतिहासिक प्रेरणा नहीं प्रदान कर सके। नालन्दा विश्वविद्यालय मध्ययुगीन शिक्षण-संस्थाओं का शीर्षस्थान था, किन्तु कुछ मुट्ठी भर विदेशी यवनों ने उसको मिट्टी में मिला दिया। इससे मालूम पड़ता है कि संसार में जीवित रहने के लिए केवल वैराग्यवाद, मायावाद, निर्माणवाद, शून्यवाद आदि से काम नहीं चलेगा। शील, शमथ, विपश्यना पर आधारित उच्च स्तर का तत्वज्ञान कुछ शान्तचेता स्थविरों के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर हमें शक्तिवाद और विनयवाद का समन्वय करना ही पड़ेगा। न तो केवल शक्ति से दीर्घस्थायिनी सफलता मिल सकती है और न केवल विनय से इन विघ्नकारिणी शक्तियों का सामना कर सकते हैं। उत्तरी भारत के भ्रमण के सिलसिले में स्वामी दयानन्द ने भारत के पराभव को देखा था, अतएव उन्होंने उस वैदिक आदर्शवाद की उद्घोषणा की जो समन्वयदर्शी है। यजुर्वेद के मन्त्र 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' पर भाष्य करते हुए दयानन्द ने लिखा है 'हे परमेश्वर! त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्युं धेहि।' अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है कि परम पुरुषार्थ से सम्राट पद और राज्यश्री को प्राप्त करना चाहिए। उनके अनुसार न्यायपालनान्वित पराक्रम और निर्भयता तथा निर्दीनता भी अपेक्षित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामीजी केवल शुष्क वैयाकरण और तथाकथित वैरागी नहीं थे। अक्सर अनेक वैरागी अपने मन की प्रवोध करने के लिए घोर वैतृष्ण्य और संसार की चरम असारता की गाथा गाने लगते हैं। कबीरदास ऐसे वैरागियों के अगुआ थे। भले ही आज कबीर के रहस्यवाद पर टीकाएँ रचकर हम लोग डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर लें, किन्तु कबीर की साखियों के आधार पर एक नूतन भविष्योन्मुख सशक्त राष्ट्र की स्थापना नहीं की जा सकती है। महर्षि दयानन्द उस समन्वय के पक्षपाती थे जिसका क्रियान्वयन रामायणकालीन और महाभारतकालीन भारत में हुआ, जब इस देश में भीष्म और कृष्ण के समान योद्धा, तत्वज्ञानी तथा राम और युधिष्ठिर के समान धर्मराज उत्पन्न हुए थे। दयानन्द के जीवन-चरित को पढ़ने से मुझे स्वयं महाभारतकालीन आर्यावर्त के तेज का स्मरण हो जाता है और आर्य-चरित की महत्ता और वेगवान उत्कर्ष का दर्शन होता है।

वैदिक आदर्शों को पुनरपि भारत और जगत में चरितार्थ करने का सन्देश स्वामी दयानन्द का वैलक्षण्य प्रकट करता है। किन्तु वेदों की ओर प्रत्यावर्तन का विचार कोई प्रतिक्रिया या गति-रोध का सन्देश नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षण को घोर कर्मयोग में व्यतीत करने वाला पुरुष शिथिलता और सुस्ती का सन्देश कैसे दे सकता था? ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है—'चरैवेति चरैवेति'—आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। कठोपनिषद् में कहा है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' वेद का सन्देश है कि हम कार्य करते हुए अदीन रहकर सौ वर्ष और उससे भी अधिक जीने की इच्छा

करें। इन आदर्शों को अपने जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति किस प्रकार भारतीय इतिहास में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता ? स्वामी दयानन्द को प्रतिगामी और यथास्थितिवाद का प्रचारक केवल पश्चिम के अन्धभक्त भारतीय ही कहते हैं। किन्तु, इन अन्धभक्तों की आँखें खुल जानी चाहिए। मध्यकाल में ऐसा एक समय आया था जब कुछ लोगों ने ऐसा स्वप्न देखा और जाल भी बिछाया कि मक्का, मदीना और तेहरान के आधार पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हो। राणा प्रताप, शिवाजी, गोविन्द सिंह आदि ने इन अरब-फारसवादियों के कुचक्र को समाप्त कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में भी एक ऐसा समय आया जब कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव रखा कि बिना लन्दन और पेरिस की नकल किये भारत कभी भी जिन्दा नहीं रह सकता। उनका यह आशय था कि शीघ्र ही हमें, केवल शरीर के काले चमड़े को छोड़कर, सर्वत्र आन्तरिक और बाह्य दृष्टियों से पश्चिम का अंधानुकरण करना चाहिए। परन्तु, भारतीय संस्कृति की वज्र के समान दृढ़ आधार शिला पर अपने को तपाकर दयानन्द, रामतीर्थ, गाँधी आदि उच्चाशय महापुरुषों ने यह बताया कि इस प्रकार का कपित्व हमारे राष्ट्रीय आन्तरिक स्वाभिमान के अनुरूप नहीं है। इन महापुरुषों ने वेद, वेदान्त और गीता की शिक्षाओं को धारण कर पश्चिम को जबर्दस्त चुनौती दी। योगी अरविन्द ने कहा कि वेद और वेदान्त के दिव्य उदात्त मन्त्र के उत्कृष्ट अन्य कोई भी विचार इस जगतीतल पर नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से धीरे-धीरे फिर हम लोग स्वस्थ हुए। आज भारतीय संस्कृति पर एक तीसरा आक्रमण हुआ है। मक्का और मदीना के आक्रमण से और लन्दन और लंकाशायर के आक्रमण से भी यह आक्रमण अधिक भयानक है। कुछ लोग मास्को, लेनिनग्राद और पेकिंग का राग अलापते हैं। कृषक और सर्वहारा-वर्ग को मुक्ति दिलाने के नाम पर वे आर्य-संस्कृति को ही नष्ट करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में वेद, वेदान्त, गीता, महाभारत आदि से कोई प्रेरणा नूतन भारत को नहीं मिल सकती। योग, ब्रह्मचर्य, आत्मवाद आदि महान सन्देश उनकी दृष्टि में निरर्थक और निराशावादी हैं। इस घोर आपत्काल में एक बार फिर हमें ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व का अध्ययन करना है। स्वामी दयानन्द संसार का उपकार करना अपना लक्ष्य मानते थे। उनका उद्देश्य था कि समस्त जगत आर्य अर्थात् श्रेयपन्थान्वेषी बने। हमारे देश की प्रसुप्त शक्ति का विकास हो, इसलिए ही उन्होंने वैदिक आदर्शवाद का मन्त्र दृढ़ किया। वेदों की ओर लौटने का यह अर्थ नहीं है कि लोग सर्वदा इंद्र और अग्नि की उपासना करेंगे और सोमरस पीकर निठल्ले बैठे रहेंगे। यह तो वैदिक आदर्शवाद का विकृत तात्पर्य है। ऋषि दयानन्द के अनुसार वैदिक आदर्शवाद का निगूढ़ तत्व इस मन्त्र में है :—

विश्वानि देव सवितदुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।

अर्थात्, हमारे वैयक्तिक, राष्ट्रीय और सांसारिक जीवन के समस्त दुख और दुष्ट गुण दूर हो जायँ और कल्याणप्रदाता, सर्वदुःखरहित, सत्यविद्याप्राप्ति-मूलक अभ्युदय और निःश्रेयस की समन्वित सिद्धि देने वाला भद्र हमें प्राप्त हो। एक साधारण दुख को दूर करने में कितना परिश्रम करना पड़ता है, फिर समस्त दुखों को दूर करना कितनी कठिन साधना, दीर्घकालीन अभ्यास और अध्यवसाय की अपेक्षा करता है। इस साधनामय कर्मयोग के सन्देश को जो साथ-ही-साथ ब्राह्मशक्ति और क्षात्रबल की प्राप्ति का मन्त्र देता है उसे कोई विचारशील पुरुष कदापि प्रतिगामी नहीं कह सकता। योगी अरविन्द ने लिखा कि ईश्वर की कार्यशाला में जब-जब इस महान कर्मयोगी अर्थात् दयानन्द का स्मरण मुझे आता है तब-तब सर्वदा युद्ध, विजय, शक्ति का स्मरण कराने वाले शब्द मेरे मस्तिष्क में दौड़ लगाते हैं। पुनरपि, इतिहास भी बताता है कि उन्हीं आन्दोलनों में शक्ति आती है जो राष्ट्र की एतिहासिक आदर्शराशि में निष्ठा होकर आगे बढ़ते हैं। उदाहरणार्थ, पन्द्रहवीं शताब्दी का यूरोपीय पुनरुत्थान प्लेटो और अरस्तू के आदर्शवाद से प्रभावित था, लूथर और कल्विन को सन्त पीतर और सन्त पाल की प्राचीन शिक्षाओं से प्रेरणा मिलती थी और संसार में जनतन्त्र की घोषणा करने वाली फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति यूनान और रोम के गणतन्त्रीय आदर्शवाद से प्रभावित थी। अमरीका में जब राज्यक्रान्ति हुई तब वाशिंगटन, जेफरसन आदि नेताओं ने अपनी विशेष शासनसंस्था 'सेनेट' का नामकरण प्राचीन रोमीय सेनेट के आधार पर ही किया। अतएव, ऋषि दयानन्द के इस विचार को कि वेदों के शक्तिदायक मन्त्रों का पुनरापि क्रियान्वयन हो, हमें

ध्यानपूर्वक समझना चाहिए। यदि झूठी आधुनिकता का राग सुनकर हमने उन महान मन्त्रों को भुला दिया, जिसके आधार पर यह सनातन आर्य-जाति अपना जीवन चला रही है, तो वह समय इस देश और समस्त जगत के महान पराभव का दिन होगा। आज वेद और गीता की शिक्षाओं को धारण कर ही हमें अपने वर्तमान को शसक्त और अपने भविष्य को आशान्वित बनाना है। निःसन्देह हमें केवल भूतकाल का गीत नहीं गाना है, वह कर्मयोगी का नहीं अपितु तामसिक वृत्तिवालों का कार्य है। भूतकाल की विराट शिक्षाओं को अपने जीवन में धारण कर हमें विजयी भविष्य का तेजपूर्ण निर्माता बनना हैं। आज देश स्वतन्त्र है और आवश्यक है कि हम अपनी सांस्कृतिक दीक्षा से विभूपित हो अपना और संसार का उपकार करें। तत्ववेत्ता और कर्मयोगी'महर्षि दयानन्द राष्ट्र-निर्माता के रूप में यही महान् सन्देश हमें दे गये हैं।

स्वामी दयानन्द ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से भारतीय राष्ट्रवाद को मजबूत और प्रशस्त किया है। उनके राष्ट्रवाद के व्यावहारिक समर्थन का ऊपर विवेचन किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से उन्होंने हमारे सामने आत्मिक राष्ट्रवाद का चित्र प्रस्तुत किया है। तीन दृष्टियों से यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद से भिन्न है।

(क) आधुनिक राष्ट्रवाद मुख्यतः भौतिकवाद और धर्म-निरपेक्षतावाद पर आधारित है। अपने देश के लोगों का अधिकतम मात्रा में सुख-संवर्धन करना इसका लक्ष्य है। सुख के साधनों का अपरिसीमित एकत्रीकरण ही इसकी दृष्टि में उन्नति और अभ्युदय का लक्षण है। विज्ञान और अर्थ-शास्त्र तथा तन्त्रशास्त्र (Technology) के आधार पर तर्कणायुक्त समाज (Rationalized society) का निर्माण ही इसका परम पुरुषार्थ है। अपने लक्ष्यों की संसद्धि में यदाकदा अनैतिक साधनों का प्रयोग भी यह विहित बताता है, क्योंकि लक्ष्य का वैशिष्ट्य साधनों की अवरता और अधमता को छिपा देता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद समग्र उन्नति का पोषक है। अभ्युदय की यह कदापि उपेक्षा नहीं करता। अभ्युदय की पूर्ण उपासना यह करना चाहता है। यदि अभ्युदय इसे अनभीष्ट होता तो यजुर्वेद में कदापि निम्नलिखित मन्त्र नहीं आता—

> आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
> महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
> रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो
> वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।
> [यजुर्वेद, 22/22]

किन्तु प्रेय, योगक्षेम और अभ्युदय तथा रयि की प्राप्ति को ही आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सर्वस्व नहीं मानता। यह आत्मिक कल्याण और निदिध्यासन का भी समर्थक है। इसके अनुसार राष्ट्रीय कल्याण के लिए आवश्यक है कि आत्मज्ञानवेत्ता ऋषि और महात्मा अपनी तेजःशक्ति का जन-कल्याण के लिए उपयोग करें। तपस्वियों के आत्मज्ञानमूलक लोकसंग्रहात्मक कर्मयोग से यह विशेष फल होगा कि राजकीय और आर्थिक शक्ति का नैतिकीकरण होगा। शक्ति का अतिरेक स्वार्थ और अनाचार में न हो जाय इसके निमित्त आत्मवान् पुरुषों का समाज में रहना और शासन-कार्य में अंशतः हिस्सा लेना आवश्यक है। ऐसे पुरुष, सांसारिक पदार्थों को ही सर्वस्व समझने के कारण उत्पन्न संघर्षों से समाज का परित्राण करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था को संगठित करने के लिए ऋग्वेद के एक मन्त्र पर भाष्य करते हुए स्वामी दयानन्द ने तीन सभाओं का उल्लेख किया है। प्रथम, राजार्य-सभा, जहाँ पर विशेषतः राज-कार्य होता हो। द्वितीय, विद्यार्य-सभा, जहाँ विशेषतः विद्या-प्रचार और उन्नति हो। तृतीय, धर्मा-सभाएँ, जहाँ विशेषतः धर्मोन्नति और अधर्महानि का उपदेश हो। सामान्य कार्य में ये सभाएँ मिलकर उत्तम व्यवहारों का प्रजाओं में प्रचार करें। इस दयानन्दोक्त धर्मार्य-सभा और प्लेटो तथा जर्मन दार्शनिक फ़िक्टे द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक-शासक[1] की कल्पना में आंशिक समानता अवश्य है। इन विचारों के कारण स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द द्वारा समर्थित आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सांसारिक अभ्युदय के साथ परमार्थ और निःश्रेयस् का भी अनुमोदन

---

1 दार्शनिक-शासक=Philosopher-king.

करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने के कारण, यह किसी भी प्रकार का अनैतिक साधनों का प्रयोग विहित नहीं मान सकता।

(ख) आधुनिक राष्ट्रवाद यूरोप में उत्पन्न हुआ और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का समर्थन किया है। फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के तीन नारे थे—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। किन्तु इन निर्मल विचारों की उद्घोषणा करने के बावजूद, फ्रान्स ने भी साम्राज्यवादी लूट-मार में पूरा हिस्सा लिया। अमरीकन स्वातन्त्र्य-घोषणा-पत्र में कहा गया था कि सृष्टिकर्ता ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। किन्तु इसके बावजूद, केन्द्रीय और दक्षिणी अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक साम्राज्यवाद कायम रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ण-श्रेष्ठतावाद के विकृत दर्शन का प्रणयन कर यूरोपीय जातियों ने श्वेतांग जातियों का एशियावासियों पर ईश्वर-प्रदत्त महत्व (White manu's superiority) घोषित किया। बीसवीं शताब्दी में जर्मनी के अधिनायकवादी नेता हिटलर ने जर्मन जातियों की रक्तमूलक श्रेष्ठता का जोरों से प्रतिपादन किया। छिपे रूप में ही सही, यूरोपीय और अमरीकी देशों को इनके यान्त्रिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्कर्ष ने अवश्य ही मदांध बना डाला और संसार में सभ्यता और संस्कृति का आलोक फैलाने वाले एशिया को वे अपने से अधम मानने लगे। यह बीमारी अभी पूर्ण रूप से गयी नहीं है किन्तु, ऋषि दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव की समानता पर आश्रित है। आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में ऋषि ने समानता की शिक्षा दी। निःसन्देह, भारतीय इतिहास में वह क्रान्तिकारी और आलोकमय दिवस था, जब चतुर्वेदज्ञाता, गुजराती ब्राह्मण और संन्यासी होते हुए, काशी और हरद्वार जैसे रूढ़िवाद के केन्द्र में दयानन्द ने बुलन्द आवाज में घोषणा की कि जन्म या जाति से कोई महान और नीच नहीं होता, अपितु गुण, कर्म और स्वभाव से मनुष्य श्रेष्ठता या अधमता प्राप्त करता है। भयंकर ब्राह्मणवाद के गढ़ में यह घोषणा करना कि वेदों को पढ़ने का अधिकार मानवमात्र को है और अछूत-प्रथा को अवैदिक करार करना भारतीय इतिहास में यदि सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रथम घोषणा-पत्र कहा जाय तो उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं होगी। दयानन्द की गम्भीर दृढ़ आवाज भारतीय आकाश में गूँज उठी और निहित स्वार्थों के पृष्ठपोषक घबड़ा उठे। स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि से भारतीय राष्ट्र को मजबूत करने का यह महान प्रयास था। यदि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को मानवोचित स्वतन्त्रता नहीं मिलती तो वे कदापि राष्ट्रानुरक्ति नहीं प्रदर्शित करेंगे। किन्तु आन्तरिक दृष्टि से राष्ट्रवाद को मजबूत करने का सन्देश देकर भी ऋषि मानव-असमानता तथा साम्राज्यवाद का समर्थन नहीं चाहते थे। वे अपने ग्रन्थों में आर्य सर्वभौम चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का सन्देश दे गये हैं। किन्तु शस्त्रबल और हिंसा से सारे विश्व को भारत का अनुवर्ती वे कदापि नहीं बनाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में समस्त मनुष्य एक ही ईश्वर की प्रजा है। ईश्वर ही सब नर-नारियों का विधाता और जनिता है। अतएव हिंसात्मक दमन का वे समर्थन नहीं कर सकते थे। 'कृन्वन्तो विश्वमार्यम्' का उनका सन्देश दमन, उत्पीड़न और अनुसूदन का सन्देश नहीं है। समस्त विश्व में धर्मयुक्त, न्यायपूर्ण, मैत्री-समन्वित व्यवस्था स्थापित हो—यही इसका तात्पर्य है। और, धर्म का अनुशीलन कर ही देश और विदेश में आर्यत्व दृढ़ हो सकता है। स्वामी दयानन्द ने बताया है कि सबसे प्रीतपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार विदित है कि उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव-समानता और भ्रातृत्व का पोषक है। कह सकते हैं कि मानव-संगठन की प्राप्ति में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद एक विशाल अगला कदम है। इसका लक्ष्य है मानवमात्र के साथ एकात्मकता, राष्ट्रस्थ मनुष्यों के साथ एकात्मकता और उनमें एक प्रशस्त काष्ठा।

(ग) आधुनिक राष्ट्रवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद और जड़वाद है। जर्मनी और इटली के उग्र राष्ट्रवाद में अंशतः अविवेकवाद और भावनावाद की प्रधानता थी। अनेक यूरोपीय विचारकों ने मानव को भावना-प्रधान और संकल्प-प्रधान घोषित किया। इस प्रकार जन-समाज की भावनाओं को उभाड़ने का वे षड़यंत्र रचते थे। उनके अनुसार महान नेता की प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि ही परम वस्तु है। जनता को किसी भी प्रकार नेता द्वारा प्रकटित बातों पर वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन नहीं करना चाहिए। जर्मनी और इटली के राष्ट्रवाद में जिस भावनावाद और संकल्पवाद

का प्रचार किया गया, उसके पीछे यूरोपीय संस्कृति की बुद्धिनिष्ठ बातों को नष्ट करने का कुचक्र छिपा हुआ था। कोई भी संस्कृति और सभ्यता केवल भावनावाद पर कदापि नहीं टिक सकती है। ठोस विवेचन-बुद्धि की भी अप्रतिहार्य रूप से आवश्यकता है। वैदिक मनोविज्ञान में भावना और बुद्धि के समन्वय और समीकरण का सन्देश है। ऋग्वेद में कहा गया है :

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
[ऋग्वेद, 10,191,4]

उपनिषदों में यदि एक ओर मनुष्य को काम, संकल्प आदि से युक्त माना गया है, तो दूसरी ओर मनुष्य को विज्ञानवान और विज्ञानसारथी बनने का भी उपदेश दिया गया है। अतएव, स्पष्ट है कि आध्यात्मिक राष्ट्रवाद विवेकवाद संश्रित है।

इस प्रकार, सैद्धान्तिक दृष्टि से आर्य साहित्य के आधार पर ऋषि दयानन्द ने उस आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और समाज का चित्रण किया है, जो जड़वाद के स्थान में आत्मवाद को, मानव-असमानता के स्थान में मानव-समानता को और निरे अविवेकवाद के स्थान में बुद्धिवाद और भावनावाद के समन्वय को प्रश्रय देता है। ऋषि दयानन्द का यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आज की विश्व-राजनीति को एक जबर्दस्त चुनौती है। यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आरम्भ होता है देशस्थ मानवों के स्वतन्त्रतापूर्ण संगठन से और इसकी परिणति यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र द्वारा उद्घोषित आदर्शवाद में होती है—

दृते दृँहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूता निसमीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
[यजुर्वेद, 36/18]

व्यवहारवादी और अवसरवादी आलोचक शीघ्र फल प्राप्त करना चाहते हैं और इसी कारण वे आदर्शवाद की अवमानना करते हैं। किन्तु, ध्यान में रखना चाहिए कि सम्यक् आदर्शों के धारण करने से ही वास्तविक सफलता मिल सकती है। क्या हिटलर और मुसोलिनी के पास व्यावहारिक उपकरणों और साधनों की कमी थी ? किन्तु, उचित आदर्शों के सम्यक् परिग्रहण के अभाव में उनका पतन हो गया। जब हम आदर्शों का विचारपूर्वक स्वीकरण करते हैं तो इससे बड़ी गहरी शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति का भी वास्तविक स्रोत हमारे मन में ही है। महात्मा गान्धी की शक्ति उनके चरित्र-बल में निहित थी। कहते हैं कि व्यवहारवादी नेपोलियन भी बड़े-बड़े सपने देखा करता था और इस प्रकार उसको कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति मिलती थी। उचित कल्याण-साधक आदर्शों को ग्रहण करना और ग्रहण करने के अनन्तर उनका क्रियान्वयन करना ही कर्मयोग का वास्तविक स्वरूप है। ऋषि दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पैगम्बर थे। भारतवासियों की सुप्त किन्तु प्रचण्ड शक्ति में उनका विश्वास था। वे चाहते थे कि पुनरपि समग्रदर्शी वैदिक आर्य-आदर्शवाद का क्रियान्वयन हो और देश और जगत में सर्वत्र कल्याण की सिद्धि हो।

जिस प्रकार रूसो के आदर्शवाद से फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति को प्रेरणा मिली थी और मार्क्स की शिक्षाओं से रूसी क्रान्ति को बल मिला है, उसी प्रकार महर्षि दयानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद से हमारा वर्तमान भारत उन्नत और स्वतन्त्र हुआ है। कभी-कभी कुछ भाइयों को ऐसी शंका होती है कि यदि ऋषि दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पैगम्बर थे तो उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत का सत्यार्थ-प्रकाश में क्यों खण्डन किया है ? ऐसी शंका स्वाभाविक है। जवाहरलाल नेहरू को भी ऐसी शंका हो गयी और इसमें कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु विचारने की बात है कि ऋषि दयानन्द केवल कुछ सिद्धान्तों का खण्डन करते थे। मनुष्यों से उनको कदापि घृणा नहीं थी। दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी जानते हैं कि भगवान बुद्ध ने अन्य मार्गावलम्बियों का कितना उग्र खण्डन किया है। विनयपिटक में तो ऐसी भी गाथा आती है जिसमें बताया है कि गया के काश्यप-बन्धुओं को शास्त्रीय पराजय देने में बुद्ध ने ऋद्धि-बल का भी प्रयोग किया था। किन्तु क्या इससे बुद्ध की महाकरुणा शिथिल हो जाती है ? स्वामी दयानन्द का ऐसा विचार था कि इस्लाम ने शस्त्रबल से अपने मज-

हव का प्रचार किया है। प्रत्येक ऐतिहासिक इस बात को मानता है कि इस्लाम के प्रचार में हिंसा और दमन का हाथ बड़े जोरों में रहा है। यदि हम खलीफा ओमर, औरंगजेब और अशोक के जीवन-चरित का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे तो यह विषय स्पष्ट हो जायगा। ईसाइयत के भी प्रचार में क्रूरता, हिंसा और वीभत्सता का काफी प्रयोग हुआ है। जिस बेरहमी और बेदर्दी के साथ उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के आदिम निवासियों का ईसाई-धर्मावलम्बी जातियों ने शिकार किया और उन्हें धराशायी किया, वह विषय भी इतिहास के विद्यार्थियों से छिपा नहीं है। इन बातों को देखते हुए ऋषि दयानन्द पर यह आक्षेप करना कि वे द्वेषी थे और बदला लेने की उनमें भावना थी, जैसा विख्यात उपन्यासकार और विचारक रोम्यां रोला ने कहा है, सर्वथा अनर्गल है। कम-से-कम भारतवर्ष के लोगों को यह विदित है कि ऋषि दयानन्द ने विष पिलाने वाले हत्यारे को भी क्षमा कर दिया। ऐसा अपूर्व आत्मत्यागी क्षुद्र भावनाओं से प्रभावित होकर किस प्रकार कोई कार्य कर सकता था ? दयानन्द के इस अलौकिक क्षमादान की घटना पर स्वयं महात्मा गान्धी बराबर श्रद्धा प्रकट करते थे। ऋषि दयानन्द बुद्धिवाद और तर्क की कसौटी पर समस्त विश्वधर्मों को तोलते थे, इसलिए सत्यार्थ-प्रकाश में लिखित उन खण्डनों के बावजूद न तो स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवाद पर कोई और न तो 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' द्वारा प्रवर्तित उनके विश्वमानववाद पर कोई धक्का लगता है। ऋषि दयानन्द क्रियाशील उन्नयनकारी वैदिक श्रेयवाद का भारत और जगत में प्रचार और प्रसार चाहते थे। जब देश राष्ट्रभावपन्न हो और सशक्त हो तभी सत्य और पवित्रता का दिव्य मन्त्र जगत में उद्घोषित हो सकता था। भारत में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को पुष्ट कर ही विश्व में आर्यत्व प्रचारित और प्रसारित हो सकता था, इस प्रकार का विशाल विचार निस्सन्देह उन्नीसवीं शताब्दी के महान उन्नायकों में ऋषि दयानन्द को भी स्थान दिलाता है। दयानन्द एक ही साथ धार्मिक निहित शक्तियों के विरोधी और मानव की एकता के प्रचारक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के महान राष्ट्रनायक मेजिनी ही ऋषि दयानन्द की तुलना में आ सकता है।

महर्षि दयानन्द के राष्ट्रवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आत्मिक चैतन्य से दीक्षित था। जिस प्रकार आत्मिक चैतन्य के अभाव में शरीर मृतवत् हो जाता है, उसी प्रकार आत्मिक चैतन्य नहीं रहने पर जाति और राष्ट्र का पतन हो जाता है। राष्ट्रवाद के लिए आत्मिक चैतन्य अनिवार्य है। मनुष्य को अपने सर्जनात्मक चैतन्य का प्रथम बोध धर्म के क्षेत्र में ही होता है। यूरोपीय महासुधार (Reformation) ने जब धार्मिक क्षेत्र में आत्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा की, तो उसका सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों पर भी बड़ा प्रभाव हुआ। आत्मिक चैतन्य से ही शक्तियों का पूर्णतम परिपाक होता है। भारतीय संस्कृति का यह सनातन सिद्धान्त है। शक्ति का वास्तविक स्रोत आन्तरिक है। धर्म मार्ग से ही उस आन्तरिक शक्ति का पता लगता है। संसार में अनेक सभ्यताएँ आयीं और मिट गयीं, किन्तु आत्मिक चैतन्य को धारण करने के कारण ही भारत में अभी जीवन शेष रह गया है। धर्म के क्षेत्र में ही इस राष्ट्र को अपनी क्रियात्मिका शक्ति का भान हुआ है। जिस दिन पराधीन और पराभूत भारत को ऋषि दयानन्द ने यह वैदिक सन्देश दिया कि समस्त जगत को आर्य बनाना है, उस दिन एक प्रचण्ड शक्ति का संचार इस देश के लोगों की धमनियों में हुआ। पराधीन देश के निराश लोगों ने अपने विश्वव्यापक उद्देश्य और कार्य का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार का आत्मविश्वासपूर्ण सन्देश इसीलिए दयानन्द प्रदान कर सके क्योंकि उनमें स्वयं प्रचण्ड आत्मविश्वास था। अनेक बार ऋषि को हिंसात्मक आक्रमण की धमकियाँ दी गयीं, किन्तु जिसने 'नायं हन्ति न हन्यते' का तत्वबोध कर लिया है वह क्योंकर साधारण लोगों की धमकी से किंचित मात्र भय करता। ऋषि दयानन्द ने ललकार कर अपने विरोधियों को कहा कि आत्मा अजर और अमर है और शाश्वत अविनाशी आत्मा में विश्वास रखने के कारण विरोधियों के समस्त आक्रमण ऋषि की तेजपूर्ण दृढ़ता के सामने बेकार साबित हुए। दयानन्द अभय के जीवित मूर्तरूप थे और इस प्रकार का अभय ही पराधीन जाति को स्वतन्त्रता का मन्त्र दे सकता था। कोई भी सांसारिक शक्ति ऋषि को अपने न्यायोचित धर्मपूर्ण मार्ग से नहीं हटा सकती थी। मृत्यु का भय भी उनको कदापि विचलित नहीं कर सकता था। उनकी धीरता और स्थितप्रज्ञता अचल-अटल थी। इस प्रकार के पुरुष का जन्म-धारण और जीवन ही इतिहास में सच्ची क्रान्ति को ला सकता

है। हम लोग जब ध्वनि-विस्तारक यन्त्र का प्रयोग कर राष्ट्रभक्ति, वीरता और तेजस्विता का सन्देश चिल्लाते हैं, तब भी हमारे अन्दर कमजोरी और समझौते की भावना रहती है। स्वामी दयानन्द की परिभाषा में धर्म और सत्य के किसी दूसरे तत्व का समझौता नहीं हो सकता था। अन्याय, अत्याचार और पाखण्ड को सहना उन्होंने कभी सीखा न था। उनकी दृष्टि में असत्य से बगावत और अनाचार का दमन ही मनुष्यत्व है। इसी विराट् आदर्शवाद पर उनका अपना जीवन निर्मित हुआ था। कभी-कभी ऋषि दयानन्द एक आध्यात्मिक अराजकतावादी के रूप में हमारे सामने आते हैं और तब वे कहते हैं कि मैं किसी सांसारिक शक्ति को नहीं मानता, एकमात्र ईश्वर ही मेरा राजा और प्रभु है। ऋषि के प्रचण्ड आत्मबल से प्रभावित होने के कारण ही स्वामी श्रद्धानन्द ने देहली में अंग्रेजी सेना की संगीनों के सामने अपना वक्षस्थल खोल दिया और लाला लाजपतराय देश के उद्धार में अमर शहीद हो गये। निस्सन्देह, आने वाली सन्तान ऋषि दयानन्द को भारत में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के महान पैगम्बर के रूप में, उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नेताओं में, सर्वश्रेष्ठ स्थान देगी।

परिशिष्ट 3

रवीन्द्रनाथ, आत्म-स्वातन्त्र्यवाद तथा मानव-एकता

भारतीय साहित्यिक इतिहास में रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941) का अतिशय महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी कृतियों के वैशिष्ट्य के कारण, भारतवर्ष की जनता के हृदय में उनका अमर स्थान है और रहेगा। वे मुख्यतया साहित्यस्रष्टा थे। वे उस अर्थ में दार्शनिक नहीं थे, जिसमें हम कपिल, कणाद, शंकर प्लेटो, हेगेल, बर्गसां को दार्शनिक मानते हैं। अर्थात् जिस प्रकार सत्ताशास्त्र, ज्ञानशास्त्र, तर्कशास्त्र अथवा अध्यात्म विषय पर एक सुसंगठित, संवद्ध विचारधारा दुनिया के प्रथम कोटि के दार्शनिकों ने हमें प्रदान की है, उस प्रकार की कोई तत्वज्ञानात्मक विचारधारा हमें रवीन्द्र नाथ में नहीं प्राप्त होती है। तथापि दो अर्थो में हमें उनमें दार्शनिक तत्व प्राप्त होता है : (क) प्रकृति की उत्पत्ति के विषय में तार्किक उपक्रम नहीं उपस्थित करते हुए भी मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में प्रत्येक महान साहित्यिक अवश्य ही कोई विराट सन्देश हमें देता है। इस विराट जीवन-दर्शन के अभाव में, साहित्य महत्ता की उपलब्धि कर ही नहीं सकता। मानव-जीवन के प्रति एक जबर्दस्त कुतूहल और उसके रहस्यों के उद्घाटन का एक महान प्रयास हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ग्रन्थों में पाते हैं। अतः, जहाँ तक जीवन-दर्शन का प्रश्न है, रवीन्द्रनाथ की कृतियों में उसकी अवश्य प्राप्ति होती है। (ख) यद्यपि तत्वज्ञान का कोई दीर्घकाय, विशाल, गहन-विकट ग्रन्थ रवीन्द्र-नाथ ने हमें नहीं दिया है, तथापि दर्शन के क्षेत्र में उनकी कुछ कृतियाँ अवश्य हैं; उदाहरणार्थ, 'मनुष्य का धर्म' (Religion of Man), 'साधना', 'व्यक्तित्व' (Personality), 'सर्जनात्मक एकता' (Creative Unity) आदि। उनके ग्रन्थ 'राष्ट्रवाद' (Nationalism) में उनका इतिहास-दर्शन तथा राज्य-दर्शन हमें अंशतः प्राप्त होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मस्तिष्क समन्वयवादी था। उपनिषद् के आध्यात्मिक एकत्ववाद की विचारधारा से वे प्रारम्भ से ही प्रभावित थे। कह सकते हैं कि अपने पिता से विरासत के रूप में उन्हें उपनिषद्प्रोक्त ब्रह्म के प्रति अनुराग प्राप्त हुआ था। कबीर के रहस्यवाद और वैष्णवधर्म के भक्तिवाद का उन पर प्रभाव था। बंगाल के रहस्यवादी साधुगण बाउल (Baull) लोगों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में बड़ी श्रद्धा से उल्लेख किया है। किन्तु, पूर्व की परम्पराओं से प्रभावित होने के साथ-ही-साथ पश्चिमी ज्ञानधारा का भी उन पर प्रभाव था। पश्चिमी साहित्य का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था, मुख्यतया वर्डस्वर्थ, शेली आदि का। उनका शेक्सपीयर का अध्ययन बड़ा गम्भीर था। किन्तु पश्चिमी साहित्य और बाइबिल का अध्ययन करने के बाद भी, रवीन्द्रनाथ भारतीय ऋषि-परम्परा और कवि-परम्परा का ही हमें विशेष स्मरण कराते हैं। समन्वयवादी होते हुए भी प्राच्य का वे वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं।

उपनिषदों के ऋषियों का मूलभूत सन्देश था 'अयत्मात्मा ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्'। सर्वत्र—आन्तरिक जगत हो अथवा बाह्य—उन्हें आध्यात्मिक चिन्मय ब्रह्म का अवबोध होता था। ऋग्वेद के समय में ही ऋषियों को इस तत्व का ज्ञान हुआ और भारतीय वेदान्त ने इसी वैदिक प्रेरणा को बौद्धिक शास्त्र की युक्तियों और शब्दावलि का प्रयोग कर पुष्ट किया। रवीन्द्रनाथ को सर्वत्र ही चिन्मयपूर्णता का भास होता है। यह पूर्णता या अखण्ड भूमा ही उनके दर्शन का केन्द्र है। इसके समर्थन में वे तार्किक युक्ति का उपयोग नहीं करते। हृदय की

अनुभूति ही इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। सर्वत्र उनको पूर्णतत्व के प्राणस्पन्दन का दर्शन होता है। वाह्य जगत में भी आत्मा का दर्शन करना, उनके अनुसार, प्राच्य संस्कृति की विशेषता है। 'महान् पुरुष' या 'पुरुष विशेष' की अभ्यर्थना और उपासना और उसके आधार पर मानव-जीवन का निर्माण, भारतवर्ष के साधकों का महान लक्ष्य था। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात्'—इस वेदवाक्य से रवीन्द्रनाथ अत्यधिक प्रभावित थे और परस्पर विलक्षण, पूर्ण सत्ता को केवल पूर्णज्ञान न मानकर वे उसे पुरुष मानते थे। अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के स्थान में उन्होंने परम पुरुष की विचारधारा को समर्थित किया।

इस परम पुरुष का विलक्षण प्रकाशन मनुष्य के रूप में हो रहा है। मानव केवल भौतिक तत्वों का संघात नहीं है। उसके अन्दर ईश्वर अधिष्ठित है। प्रत्येक रूप उस परम पुरुष का प्रकाशन ही है। मनुष्य, सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ परिणाम है। जगत में विकास-क्रिया हो रही है। इस विकास-क्रिया की पूर्णतम परिणति मानव के रूप में हुई है। यदि नीत्शे और अरविन्द अतिमानव (Superman) का सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, तो रवीन्द्रनाथ दिव्य मानववाद के प्रवर्तक हैं। विश्वप्रज्ञानघन का साक्षात्कार करना हमारा पुरुषार्थ है और इसके लिए सर्वत्र हमें आध्यात्मिक एकता और समरसता का साक्षात्कार करना है। जो कुछ है, वह ब्रह्म है। सर्वत्र ब्रह्म का अभिप्रकाशन हो रहा है, अतः सबके साथ एक आध्यात्मिक सूत्र में संश्लिष्ट होना चाहिए। भारतीय अद्वैत वेदान्त ने सच्चिदानन्द की सत्ता की घोषणा की, किन्तु उसके साथ-साथ अनेक विचारक जगत को माया समझने लगे। सांसारिक अभ्युदय और पारिवारिक समृद्धि को मिथ्या समझने के विचार का जन्म हुआ। 'ब्रह्म सत्यम्' के साथ 'जगन्मिथ्या' विचार भी समर्थित हुआ। रवीन्द्रनाथ मायावाद के दर्शन का दो दृष्टियों से खण्डन करते हैं : (क) यह ब्रह्म की पूर्णता का विरोधी है। पूर्ण सत्ता, सृष्टि का अवसान करने पर नहीं प्राप्त होती है। सब कुछ पूर्ण का अंश है। पूर्णता कोई गणितात्मक रेखा नहीं है। नाना अपूर्णताओं को पूर्णता में संध्वनि प्राप्त होती है। सर्वभूतान्तरात्मा ही नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है, अतः नानात्व को भ्रम या मिथ्या मानना ठीक नहीं है। (ख) आज हजारों वर्षों से ज्ञान और उन्नति के लिए मनुष्य घोर प्रयत्न करता आ रहा है। इस विशाल अनवरत परिश्रम के द्वारा सम्प्राप्त सामग्री को माया या भ्रम कहने का कोई कारण नहीं है। अतः अपने ग्रन्थ 'साधना' में ठाकुर ने कहा है कि परिवार, समाज, राज्य, कला, विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में हमें पूर्णात्मा का साक्षात्कार करना है। साधना और साक्षात्कार के द्वारा हमें विलक्षणत्व और सामान्य का पूर्ण बोध होता है।

परम पुरुष या पूर्णात्मा के साक्षात्कार का साधन प्राचीन और मध्यकालीन जगत में योग और निदिध्यासन को ही समझा जाता था। किन्तु, रवीन्द्रनाथ के अनुसार, मानव-जीवन के वैविध्य—रमणीयता और लावण्य—की उपेक्षा करना ठीक नहीं। सृष्टि का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में इसे विशाल काव्य कहा गया है : "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' प्लेटो भी सौन्दर्यप्रत्यय या पूर्ण सौन्दर्य के विचार का समर्थक था। रवीन्द्रनाथ का कवि-हृदय सौन्दर्य की विश्वात्मक मधुमय कल्पना से भरा हुआ है। पूर्णात्मा शुष्क चितिशक्ति नहीं है, वह परम शिव है और अनन्त आनन्द से भरा है। सौन्दर्य उसके आनन्द का प्रकाशन है। जितना ही अधिक मानव अपनी भावना का विस्तार और चेतना का प्रस्तारण करता है, उतना ही अधिक वह पूर्ण सौन्दर्य के प्रति बढ़ता है। वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रतम अवस्था में ही हमें ईश्वर का दर्शन होता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए हमें मानवता के साथ तादात्म्य करना है। एकान्त में बैठकर तपस्या करना ठीक है, किन्तु वही सर्वस्व नहीं है। हमें मानव-जीवन की एकता को भी हृदयंगम करना होगा। इस विशाल समष्टि को अपनी सेवा और साधना की अंजलि अर्पित करनी होगी। पूर्णात्मा का बोध करने के लिए समस्त मानव-जीवन और समस्त विश्व में हमें एकता का दर्शन करना होगा। इस एकता का क्रमिक दर्शन हमें विश्व-सौन्दर्य का क्रमिक दर्शन कराता है। इस प्रकार बुद्धि का विस्तार और भावना का विस्तार साथ-साथ होता है। देवत्व और मानवत्व का इस प्रकार समन्वय होता है। अपने ग्रन्थ 'सर्जनात्मक एकता' में रवीन्द्रनाथ ने बुद्ध के जीवन के वैशिष्ट्य का समर्थन किया है। बुद्ध ने 'क्षुद्रं अहं' के नाश का उपदेश किया और प्रेम की साधना करने —

'धर्मकाय' की व्याख्या करते हुए ठाकुर का कहना है कि यह अनन्त ज्ञान और प्रेम का समन्वय है। उनके अनुसार, इसी सिद्धान्त का निरूपण नागार्जुन के 'बोधि-हृदय' नामक विचारधारा में भी हुआ है।

दिव्यमानववाद पर अथवा देवत्व और मानवत्व के सहयोग और समन्वय पर बल देना ही ठाकुर के दर्शन का आधार है। हर्डर और गेटे ने जिस मानववाद की जर्मनी में प्रवर्तना की थी, उसमें मानव की क्रियात्मिका शक्ति पर अतिरंजित बल तो दिया गया था, किन्तु उसमें देवत्व के लिए कोई स्थान नहीं था। दूसरी ओर, दिव्य मानववाद का मूल सूत्र है—'समोऽहं सर्वभूतेषु'। शरीर की दृष्टि से मरणधर्मा होते हुए भी मानवता के रूप में मनुष्य अमर है। समस्त भौतिक शक्तियाँ संगठित होकर भी उस विलक्षण अमरता का नाश नहीं कर सकतीं, जिसका लालित्यपूर्ण प्रकाशन मानव जीवन में हो रहा है। इस प्रकार पूर्णसत्ता का भी मानवीकृत प्रकृष्ट रूप है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पूर्ण सत्य का मृदुल मानव-रूप प्रस्तुत किया है। अपने ग्रन्थ 'मानवधर्म' में उन्होंने कहा है: 'पूर्ण सत्ता मानवी है, यह वही है जिसका हमें चैतन्य है, जिसके द्वारा हम प्रभावित होते हैं, जिसकी हम अभिव्यक्ति करते हैं....शाश्वत मानव की, जो स्रष्टा है, उसकी प्राप्ति, उसकी अनुभूति और अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करना चाहिए। मानव सभ्यता, परात्पर मानवता के सतत अनुसंधान का इतिहास है। पूर्ण सत्ता ही पूर्ण मानव है और वह सनातन है। क्षुद्र व्यक्तिवाद कभी भी टिकाऊ नहीं हो सकता।' क्षुद्र व्यक्तिवाद के कारण ही दुख और पाप की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्णता को छोड़कर सीमित की उपासना करने के कारण असंध्वनि और संघर्ष उपस्थित होते हैं। अतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन में सर्वत्र हमें आध्यात्मिक पूर्णता के सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। पूर्णसत्ता केवल ज्ञानमय नहीं है, वह आनन्दमय है। जो भूमा है, वह अनन्त सौन्दर्य का घनीभूत रूप है। जगत प्रत्येक क्षण में नूतन की उत्पत्ति कर ईश्वर की साक्षी दे रहा है। मृत्यु अनन्त जीवन-प्रवाह का ही एक सामयिक आकस्मिक दारुण रूप है। परम आनन्द को न समझने के कारण ही पाप और दुख उत्पन्न होते हैं। इस विशाल पूर्ण समष्टि से सम्बन्ध-विच्छेद करना ठीक नहीं। करुणा, मैत्री, सहानुभूति, सहयोग के द्वारा हमें पूर्णता का बोध होता है। ममत्व, स्पृहा, आकांक्षा, लिप्सा के बदले आत्मप्रसारण का निर्मल मार्ग ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि आध्यात्मिक अद्वैततत्व का दर्शन रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उपनिषद् से मिला है, तो उसका विवेचन करने में वे वैष्णव धर्म और अशतः बौद्धधर्म के विचारों का भी आश्रय लेते हैं। विज्ञान द्वारा समर्थित 'नियम' का विचार भी उनको अभीष्ट है, किन्तु नियम की नीरसता और शुष्कता को उन्होंने दैवी आनन्द से अभिभूत माना है। नियम की कर्कशता को कमनीय संगीतात्मक भावमय दैवी प्रेरणा से उन्होंने आच्छादित माना है। क्षण-क्षण परिवर्तन के द्वारा प्रकृति ब्रह्म की असीम कर्तृत्वशक्ति का प्राणपूर्ण परिचय दे रही है। अनासक्त शुद्ध कर्म के द्वारा तथा शुद्ध भावना और प्रेम के द्वारा हम सत्ता की आध्यात्मिक एकता का बोध प्राप्त करते हैं। सत्य को प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार ऋत का समर्थन वेद में मिलता है और जिस प्रकार 'अग्ने नय सुपथा' यह प्रार्थना ईशोपनिषद् में मिलती है, उसी प्रकार की नैतिक विचारधारा का आश्रयण कर रवीन्द्रनाथ भारतीय परम्परा का समर्थन करते हैं।

पूर्ण पुरुष या परात्पर अनन्त सौन्दर्य में विश्वास करने के कारण मानव-इतिहास की नैतिक व्याख्या में रवीन्द्रनाथ का विश्वास है। शाश्वत सत्य, इतिहास में अपना प्रकाशन करता है। सीमा, असीम को बद्ध नहीं करती, उसकी अभिव्यक्ति आंशिक रूप में ही सही करती है। अनन्त, अखण्ड, घनीभूत चेतन आनन्द का साकार प्रकाशन जगत में हो रहा है। संसार का इतिहास और मानव इतिहास परात्पर सत्य के तेजोमय प्रकाशपूर्ण अभिव्यक्तिकरण के माध्यम हैं। यह अभिव्यक्ति आध्यात्मिक सत्ता की है, अतः नैतिक नियमों का इसमें प्राधान्य है। नैतिक नियमों के अभाव में अध्यात्म एक शिथिल रूप मात्र रह जाता है। यूरोप के आधुनिक इतिहास में इस नैतिकता का अभाव पाया जाता है। निस्सन्देह यूरोपीय सभ्यता का स्रोत आध्यात्मिकता से प्रभावित था। महान साहित्य की सृष्टि कर, कला की रचना कर और सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शवाद को जन्म देकर यूरोप ने आध्यात्मिकता का परिचय दिया था। किन्तु, आधुनिक यूरोप में संशयवाद का प्राधान्य है और

मानव-जीवन का समुचित उन्नयन करने वाले विचारों का वहाँ अभाव है और यदि उनकी कुछ दूर तक प्राप्ति है भी तो उसकी क्रिया में निष्पत्ति नहीं होती। यूरोप में नैतिकता के अभाव का दूसरा प्रमाण साम्राज्यवाद के नारकीय कृत्यों के द्वारा प्राप्त होता है। एशिया और अफ्रीका की कमजोर जनता का अपमान कर यूरोप अपनी उद्दाम संगठित पाशविकता का परिचय दे रहा है। यूरोप ने विज्ञान की उपासना की और इस प्रकार विशाल संगठित यान्त्रिक सभ्यता की उत्पत्ति हुई, जिससे बल और सम्पत्ति की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किन्तु इससे राज्य और पूँजी का ही विकृत विवर्धित रूप हमें देखने को मिला। नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओं का विलक्षण प्रतिनिधित्व जिस व्यक्तित्व से होता है उसका बलिदान, विशाल अमूर्त वैज्ञानिक शक्ति के नाम पर किया जा रहा है। एशिया के ऋषि के रूप में रवीद्रनाथ ने नैतिकता के ह्रास पर यूरोप को कड़ी चेतावनी दी। यह ठीक है कि यूरोप ने सामाजिक हित, राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा कानून का महत्व प्रकटित किया है, किन्तु साम्राज्यवाद के वीभत्स और दारुण कुकृत्यों के कारण यूरोपीय सभ्यता आध्यात्मिक मानव-एकता और विश्वमैत्री की भावनाओं से दूर हट गयी है। यूरोप की सभ्यता की उत्पत्ति यूनान के शहरों में हुई, जो शहर बड़ी-बड़ी दीवारों से घिरे हुए थे, अतः उसी समय सीमित जन-क्षेत्र के आधार पर ही सोचने की आदत यूरोप को पड़ी। इसी कारण, आधुनिक यूरोपीय सभ्यता संगठित हत्यापूर्ण बर्बरता और उन्मत्तता का रूप उपस्थित करती है। यह सभ्यता राजनीतिक है और राज्य, व्यक्ति नहीं, इसके ध्यान का केन्द्र स्थान है। यह वैज्ञानिक सभ्यता है, मानव-सभ्यता नहीं। इस प्रकार के कुचक्र का कारण यह है कि यूरोप ने अपने मानवता का, राष्ट्रवाद की संगठित दानव-लीला कर, नाश कर डाला है। जब कोई जनसमूह केवल राजनीतिक और आर्थिक रूप धारण कर लेता है, तब राष्ट्रवाद का जन्म होता है, आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ राष्ट्रवाद के सबसे जबर्दस्त आलोचक थे। राष्ट्रप्रेम को वे एक प्रकार का नशा कहते थे। राष्ट्रवाद का अवश्यम्भावी परिणाम है साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद देश के सर्वनाश का पूर्व रूप है। यूरोपीय सभ्यता, इसी साम्राज्य-वाद के कारण, पतनोन्मुख है। इसी दुरवस्था का वर्णन करते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है :

"पश्चिमी समुद्र के किनारे
चिताओं से निकल रही हैं
आखिरी शिखाएँ
एक स्वार्थी पतनोन्मुख सभ्यता के दीप से फटी हुई।
शक्ति की उपासना
युद्धक्षेत्रों और फैक्ट्रियों में
तुम्हारी उपासना नहीं है,
ओ संसार के पालनकर्ता !"

इस साम्राज्यवादी पश्चिमी सभ्यता से त्राण पाने का सन्देश उन्होंने एशिया को दिया। पश्चिमी राष्ट्रवादी सभ्यता संघर्ष और विजय पर आधारित है। एकता और सहयोग की वे भावनाएँ, जो आध्यात्म से उत्पन्न होती हैं, उनका इसमें अभाव है। जापान अपनी प्राचीन और मध्यकालीन नैतिक आधारशिला को छोड़कर यूरोप का अन्धानुकरण कर रहा था और इस कारण ठाकुर ने उसका विरोध किया और मानवता की उपासना करने का सन्देश दिया। भारतवर्ष की सभ्यता की मुख्य धारा राजनीतिक नहीं अपितु सामाजिक है। अपने इतिहास के आरम्भ से ही भारत सामाजिक प्रश्नों के समाधान में लगा है। अनेक जातियों और वर्णों का समन्वय करना ही यहाँ का मुख्य प्रश्न है। आधुनिक काल में भी जो नेता और विचारक यहाँ की समस्याओं का केवल राजनीतिक समाधान खोजते हैं, वे भूल करते हैं। सामाजिक दासता की आधारशिला पर राजनीतिक स्वतन्त्रता की इमारत नहीं खड़ी हो सकती।

स्वतन्त्रता एक आन्तरिक विचार है। इसे केवल वाह्य वातावरण की एक वस्तु मानना, इसका आंशिक रूप देखना है। आन्तरिक स्वतन्त्रता हमारे कार्यों को शक्ति और विशालता प्रदान करती है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग वही कर सकता है जो अपनी स्वतन्त्रता के साथ अन्यों को भी स्वतन्त्र देखना चाहता है। जब भारत ने अमर विचारों की रचना की, उस समय उसे शक्ति

प्रदान करने वाला तत्व स्वातन्त्र्य ही था। महाभारत में जिज्ञासा की पूर्ण स्वतन्त्रता का हमें दर्शन होता है। बौद्धकाल में मानसिक स्वतन्त्रता पर जो बल दिया गया, उसी कारण रचनात्मक शक्ति का पूरा विकास हुआ और उसका अच्छा परिणाम समस्त एशिया में देखने को मिला। स्वतन्त्रता के अभाव में भारत में एक सामाजिक कट्टरपन और रूढ़िवाद का जन्म हुआ जो समस्त नूतन रचना का विरोधी है। स्वतन्त्र बनने के निमित्त आवश्यक है स्वतन्त्रता में पूर्ण विश्वास। इस प्रकार के विश्वास के अभाव में इसके प्ररक्षण के लिए कष्ट सहने की हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है। स्वतन्त्रता के बिना नवीन की सृष्टि नहीं हो सकती और नूतन की सृष्टि ही आध्यामिकता का लक्षण है। अतः, आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए हमें पूर्ण स्वतन्त्रता के आदर्श को अपनाना ही पड़ेगा।

रवीन्द्रनाथ के जीवन-काल में भारतवर्ष स्वतन्त्रता को नहीं प्राप्त कर सका था। पूर्ण स्वतन्त्रता तो अभी भी वह प्राप्त नहीं कर सका है और जिस विशाल अर्थ में आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का ठाकुर ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, उस अर्थ में प्रत्येक मानव और प्रत्येक देश के लिए वह परम साध्य ही रहेगी। तथापि कम-से-कम आज राजनीतिक स्वराज्य हमें प्राप्त हो गया है। राजनीतिक स्वराज्य के अभाव में पग-पग पर देश और विदेश में हमारा अपमान होता था। दक्षिण अफ्रीका में 1893-94 में किस प्रकार गान्धीजी का अपमान हुआ, उसका वर्णन पढ़कर आज भी हमारा मस्तक लज्जा से झुक जाता है। किन्तु, पराधीन दुखी भारत को आशावाद का सन्देश रवीन्द्रनाथ ने दिया। बड़े जोरदार शब्दों में उन्होंने कहा कि निराशावादी दर्शन उस समय उपस्थित होता है जब हमारे मन में दुख समाया रहता है। किन्तु, सत्य के विजय के सम्बन्ध में निराश होना, आध्यात्मिकता में अविश्वास का परिचय देना है। अस्वाभाविक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने वालों को निराशावादी दर्शन प्रिय लगता है। किन्तु, अवसादवाद संसृति के मूल में व्याप्त ईश्वरीय करुणा का तिरस्कार है। बड़े बुलन्द शब्दों में उन्होंने कहा : 'आज हमारे मस्तक धूलि में गड़े हैं, किन्तु निस्सन्देह यह धूलि, उन ईंटों से, जिनसे शक्ति का अभिमान पैदा होता है, अधिक पवित्र है।' भारत को उन्होंने कहा कि यहाँ के लोगों को ईश्वर और मानव-आत्मा में विश्वास नहीं खोना चाहिए। निरपराध अपमानित व्यक्ति की, रात्रि में निकली हुई आहों से, धीरे-धीरे वह भयंकर शक्ति उत्पन्न होगी, जिसमें बड़े-बड़े साम्राज्य भी नष्ट हो जायेंगे। कमजोर पीड़ित मानव का अन्तर्दाह आतंककारियों को प्रलयंकर उदधि में डुबो देगा। उन्होंने कहा :—

'भारत ! जागते रहो !
उस पवित्र सूर्योदय के लिए अपनी पूजा-सामग्री ले आओ !
इसके स्वागत का पहला मन्त्र तुम्हारी आवाज में गूंजे और गाओ—
'आओ, शान्ति, तुम ईश्वर के अपने महान दुख पुत्री हो,
अपने सन्तोष की सम्पत्ति, धैर्य के खड्ग के साथ आओ,
सरलता तुम्हारे मस्तक का श्रृंगार हो !'
लज्जित मत होओ भाइयो, शक्तिशाली और अभिमानी के सामने खड़े होने
में अपने सरल श्वेत वस्त्रों में।
तुम्हारा मुकुट नम्रता का हो, तुम्हारी स्वतन्त्रता आत्मा की स्वतन्त्रता हो।
अपनी निर्धनता के प्रचुर अभाव पर
प्रतिदिन ईश्वर के सिंहासन का निर्माण करो
और जान लो कि जो स्थूलकाय है वह महान नहीं है
और अभिमान चिरस्थायी नहीं है।'[1]

अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में रवीन्द्रनाथ पश्चिम से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने लिखा था कि पूर्व का ज्ञानदीप बुझ चुका है और आवश्यक है कि पश्चिम की ज्ञान-शलाका से फिर इसको उद्दीप्त किया जाय। किन्तु, आयु और ज्ञान के परिपाक के साथ उनको पश्चिमी सभ्यता के खोखले

---

1 रवीन्द्रनाथ ठाकुर "The Sunsent of the Centuries" (लेखक द्वारा अनुवाद)।

पन का बोध हुआ और अपने अन्तिम समय में बड़े जोर से उन्होंने घोषणा की कि संसार के परि-त्राण का मार्ग भारतवर्ष की पुरातन आध्यात्मिक परम्परा में है, न कि वैज्ञानिक बौद्धिकता और यान्त्रिक सभ्यता में।

आध्यात्मिकता से रवीन्द्रनाथ का तात्पर्य पूर्णता से था। उनको उस योग पद्धति से अनुराग नहीं था जो केवल निग्रह और दमन की शिक्षा देती है। स्वयं अपने जीवन से अनेक अत्यन्त आत्मीय जनों की मृत्यु के दुख को उन्होंने अनुभव किया था। पत्नी, कनिष्ठ पुत्र और ज्येष्ठ पुत्री की मृत्यु को देखकर भी, जीवन दुखमय है, ऐसा उन्होंने नहीं कहा। उनको जगन्नियंता की अत्यन्त करुणा-शीलता में विश्वास था और यावज्जीवन वे हँसते रहे। वे कलाकार थे और उनका मत था कि शक्ति की प्रचुरता और अधिकता (Surplus) से ही कला की उत्पत्ति होती है। वे सच्ची कला को पूर्ण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे। प्लेटो, कला को तत्वज्ञान का विरोधी और सत्य का विकृत रूप मानता था, किन्तु रवीन्द्रनाथ कला को पूर्णता की सम्प्राप्ति का मार्ग मानते थे। वे अपने दार्शनिक सिद्धान्त को इसी कारण 'एक कलाकार का धर्म' कहते थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक विचारों की विशेषता उनके नूतन होने में नहीं है। स्वयं उन्होंने कभी भी मौलिक दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। आज पश्चिमी जगत का दर्शन, सामाजिक शास्त्रों से और भौतिक विज्ञान की पद्धति से प्रभावित है। रवीन्द्रनाथ ने कभी जगत के गूढ़ तात्विक ग्रन्थों के पाण्डित्य का दावा नहीं किया। तथापि उनकी विशेषता है कि भारतीय आध्यात्मिक विचार के मूल सूत्रों का उन्होंने विशद समर्थन किया है। अपनी दीर्घकालीन वैयक्तिक और साहित्यिक साधना के आधार पर उन्होंने आध्यात्मिकता को ही प्रशस्त बताया। अज्ञेयवाद, अनात्मवाद, भौतिकवाद, संशयवाद के जमाने में, जब बुद्धिजीवी वर्ग विश्वास को खो चुका है, रवीन्द्रनाथ ने अपने अनुभव की मुहर अध्यात्म पर लगाई। अपने निजी अनुभव से बढ़कर सत्य की साक्षी देने का क्या साधन मानव को उपलब्ध है? उनके ग्रन्थों में गम्भीर तार्किक वाग्विलास नहीं है। तथापि, उनके सरल भावपूर्ण उद्‌गार हमारे ऊपर एक गहरा प्रभाव स्थापित करते हैं। दृढ़ विश्वास की वह गरिमा उनके छोटे-छोटे वाक्यों में मिलती है, जो हमारे जीवन को विश्वास और आस्था से पूर्ण कर मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति का सन्देश देती है। प्रकृति के साथ रागात्मक तल्लीनता और मानव की रचनात्मक स्वतन्त्रता का प्रकटीकरण ही रवीन्द्रनाथ के अनुसार मुक्ति के साधन हैं। इस मुक्ति से हमें ईश्वर का सर्वत्र बोध होता है। यही रवीन्द्रनाथ के दर्शन का सार है।

परिशिष्ट 4

लोकमान्य तिलक[1]

सन् 1856 में रत्नागिरि शहर में एक धार्मिक विद्याभिमुख महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में लोकमान्य बलवन्तराव गंगाधर तिलक का जन्म हुआ था। कहने की आवश्यकता नहीं कि निःसीम देशभक्त, अलौकिक राष्ट्रनिर्माता, विलक्षण वेदवेत्ता, महान गणितज्ञ, भगवद्गीता के विशाल भाष्य-प्रणेता तिलक का हमारे देश के इतिहास में एक अनूठा, अप्रतिम स्थान है। महाराष्ट्र में वे देवता की भाँति पूजे जाते थे। समस्त देश उस राष्ट्रसेनानी का अनुसरण करता था। संसार के विद्वान उसकी बौद्धिक विलक्षणता और मेधा की स्तुति करते थे। निष्कलंक, विगतकल्मष, गार्हस्थ्य का चित्र प्रस्तुत कर वे प्राचीन ऋषियों की कोटि में गिने जाते थे।

लोकमान्य के पिता श्री गंगाधर पन्त शिक्षा-विभाग में कार्य करते थे। गणित और संस्कृत के प्रति तीव्र अनुराग उनके हृदय में था। यह अनुराग संवर्धित रूप से उनके पुत्र बलवन्त राव में प्रकट हुआ था। स्वाभिमान की भावना भी तिलक को पिता से विरासत में प्राप्त हुई थी। तिलक की माता श्रीमती पार्वती बाई धार्मिकता और सरलता की मूर्ति थीं। धार्मिक वातावरण में ही तिलक का पोषण हुआ और यावज्जीवन वे हिन्दू-संस्कृति और धर्म के नैष्ठिक उपासक रहे।

बाल्यकाल में ही तिलक की तेजस्विता और मेधा के उदाहरण मिलने लगे। स्कूल और कॉलेज में पढ़ते समय की बनायी उनकी संस्कृत कविताएँ आज भी मनोहारिणी प्रतीत होती हैं। उनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ। जब वे सोलह वर्ष के थे उसी समय उनके पूज्य पिता का निधन हो गया। जब उनकी दस वर्ष की ही अवस्था थी उसी समय उनकी पूजनीया माता का देहान्त हो गया था। इस प्रकार, जीवन की अल्पावस्था में ही उनको महान कष्टों का सामना करना पड़ा, किन्तु असीम धैर्य, अनवरत अध्यवसाय और कष्ट-सहिष्णुता की अत्यधिक मात्रा का विकास भी उनके चरित्र में इन प्रारम्भिक आपदाओं के साथ संघर्ष करने में ही हुआ था। बीस वर्ष की अवस्था में बी. ए. और तेईस वर्ष की अवस्था में कानून की परीक्षा भी उन्होंने उत्तीर्ण की।

कॉलेज में पढ़ने के प्रथम वर्ष में तिलक का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। वे कमजोर थे। अत-एव एक वर्ष उन्होंने स्वास्थ्य-सुधार में लगाया। कसरत, कुश्ती और दुग्धपान के द्वारा उन्होंने अपने शरीर को पूरा मजबूत बनाया। तैरने का उन्हें खूब अभ्यास था। उस समय जो उन्होंने अपने को दृढांग बनाया उसी कारण पीछे जेल-जीवन की यन्त्रणाएँ और यातनाएँ वे सहन कर सके।

कॉलेज में पढ़ते समय तिलक का हृदय देशभक्ति से भर चुका था। उनके जन्म के एक वर्ष बाद ही सन् 1857 का राष्ट्रीय संग्राम हुआ था। बाल्यकाल में देशभक्तों की वीरता और सरकार के भीषण दमन-चक्र के बारे में उन्होंने अवश्य ही सुना होगा। जब वे कॉलेज में पढ़ते थे उसी समय वासुदेव बलवन्त फडके का असफल सरकार-विरोधी कांड हुआ। उसका भी प्रभाव उन पर पड़ा ही होगा। स्वयं तिलक उसी ऐतिहासिक चितपावन कुल में उत्पन्न हुए थे, जिसने पेशवाओं को जन्म दिया था। अवश्य ही बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव के कारनामे उनको सुनने और पढ़ने को

---

1 तिलक की जन्म-शताब्दी (23 जुलाई, 1956) के अवसर पर श्री वर्मा का भाषण।

मिले होंगे। सन् 1818 में पेशवाई का अन्त हुआ था और रत्नागिरि तथा पूना के निवासियों के मुख से मराठा-इतिहास के गौरवपूर्ण अध्यायों का श्रवण कर विलक्षण उत्साह से तिलक का हृदय भर जाता होगा। इसीलिए, हम देखते हैं कि जीवन के उषःकाल में ही तिलक ने एक भीष्म-प्रतिज्ञा की। उन्होंने दृढ़ संकल्प धारण किया कि वे सरकारी नौकरी में नहीं प्रवृत्त होंगे। कॉलेज के दिनों के अपने सहपाठी गोपाल गणेश आगरकर के साथ तिलक ने अपने जीवन को शिक्षण में व्यतीत करने का अविचल निश्चय किया।

इसी समय विष्णु शास्त्री चिपलूणकर का भी साहाय्य तिलक को मिला। मराठी साहित्य के बृहस्पति, निबन्धमाला के यशस्वी लेखक, उग्र देशभक्त चिपलूणकर का महाराष्ट्र में बड़ा प्रशस्त स्थान है। चिपलूणकर और तिलक ने पूना न्यू इंगलिश स्कूल की स्थापना 1880 में की और पूरे एक वर्ष तक तिलक ने बिना एक पैसा लिए इस शिक्षणशाला में अध्यापन किया। 1884 में डेक्कन एजुकेशन सोसायटी की स्थापना हुई और 1885 में फर्ग्युसन कॉलेज खोला गया। पाँच वर्षों तक इस कॉलेज में तिलक ने संस्कृत और गणित का अध्ययन किया। अपने पवित्र चरित्र, गम्भीर पांडित्य और सरलता के कारण आचार्य के रूप में तिलक अत्यन्त ही श्रद्धाभाजन सिद्ध हुए। सामाजिक प्रश्नों पर मतभेद होने के कारण तिलक डेक्कन एजुकेशन सोसायटी से सन् 1890 में अलग हो गये और स्वतन्त्र रूप से इसी साल से 'केसरी' और 'मराठा' इन दो पत्रों का सम्पादन करने लगे।

1881 में 'केसरी' और 'मराठा' इन समाचार-पत्रों की स्थापना हुई थी। 1882 में कोल्हापुर दरबार के दीवान के विरोध में तीन पत्रों को छापने के कारण तिलक और आगरकर को चार महीने की सादी कैद की सजा हुई थी। दीवान के अन्यायों का भंडाफोड़ करने के कारण तिलक मराठी जनता के हृदय के समीप अधिक आ गये। डेक्कन एजुकेशन सोसायटी से अलग होकर 1890 से तिलक इन दो पत्रों द्वारा महाराष्ट्र की जनता में एक उग्र देशभक्ति की भावना भरने लगे।

1893 में उन्होंने गणपति-उत्सव का प्रारम्भ किया। इस उत्सव का मुख्य उद्देश्य था हिन्दुओं में निर्भयता और संघर्ष-शक्ति की भावनाओं को भरना। शीघ्र ही यह सामूहिक गणपति-उत्सव महाराष्ट्र में अत्यन्त जनप्रिय हो गया। 1895 में तिलक ने शिवाजी-उत्सव का आरम्भ किया। मराठा-स्वराज्य के जनक, विभूति-सम्पन्न शिवाजी की स्मृतियों का पुनरुद्धार कर तेजहीन निष्प्राण जाति में शक्ति का संचार करना तिलक का उद्देश्य था। उस समय अंग्रेजी साम्राज्यवाद के आतंक के कारण खुलकर राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना कठिन था। अतएव, सामाजिक और धार्मिक पर्वों के अवसर पर एकत्रित होकर वीरपूजा करना राष्ट्रोद्धार का एक महान कार्य हो सकता है—इसे तिलक के समान दूरदर्शी लोकनायक ही समझ सकता था। यद्यपि 1885 में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी और यद्यपि 1889 से ही तिलक और गोखले कांग्रेस के अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे, तथापि कांग्रेस अभी शक्तिहीन संस्था थी। विदेशी राजनीति-शास्त्रों की शब्दावलियों का प्रयोग कर, तीन-चार दिन अंग्रेजी में वाक्कौशल दिखाना ही काँग्रेस का कार्य था। गणपति और शिवाजी उत्सवों के द्वारा देश की धार्मिक और ऐतिहासिक परम्परा और आदर्शों में राष्ट्रीय आन्दोलन को निष्ठ करना तिलक का उद्देश्य था। इस प्रकार, जनता में देशभक्ति की भावना का संचार कर तिलक कांग्रेस को भी एक ठोस धरातल प्रदान कर रहे थे।

सन् 1896 में पश्चिम भारत में भीषण अकाल पड़ा और उस समय जनता में आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में चैतन्य उत्पन्न करने में तिलक ने अथक परिश्रम किया। पूने की प्रसिद्ध संस्था, सार्वजनिक-सभा के द्वारा उन्होंने जनता की उचित माँगों को सरकार तक पहुँचाया। जनता को भय छोड़ने का उपदेश दिया। सारे महाराष्ट्र में उनके द्वारा प्रशिक्षित कार्यकर्ता घूमने लगे और आर्त्त जनता को अपनी सम्पत्ति बेचकर कर नहीं देने का उपदेश देने लगे। इन सब कार्यों में सम्भवतः आयरलैण्ड के जमीन-संघ (Land League) के उदाहरण से तिलक प्रभावित थे।

1897 में भीषण प्लेग के जमाने में लोकमान्य तिलक ने पूना के निवासियों की बड़ी सेवा की। जब अन्य नेता पूना छोड़ कर भाग गये थे, उस समय आत्मा की अमरता में अखण्ड विश्वास करने वाले तिलक जीवन का मोह छोड़कर जनता की सेवा कर रहे थे। प्लेग के समय कुछ अंग्रेजी सैनिकों ने जारशाही के मार्ग का अनुसरण किया। प्लेग दबाने के नाम पर जनता पर अनेक अत्या-

चार किये गये। प्लेग को दवाने के लिए अपेक्षित सफाई के साधनों को काम में लाने के लिए मन्दिरों और निवास-गृहों की पवित्रता पर आक्रमण के भी अवसर आए। अद्वितीय देशभक्त तिलक ने बड़े बुलन्द शब्दों में इस अन्याय का विरोध किया। फलस्वरूप, वे नौकरशाही की आँखों में गड़ने लगे। 1896 के अकाल-आन्दोलन और 1897 के प्लेग-आन्दोलनों के समय नौकरशाही ने स्पष्ट रूप से देख लिया कि महाराष्ट्र में सूर्य के समान उग्र और अदम्य एक नेता का आविर्भाव हुआ है जो साम्राज्यवाद को खुले रूप में ललकार सकता है। 1897 में शिवाजी-उत्सव के अवसर पर तिलक ने एक व्याख्यान में गीतोक्त तत्वज्ञान के आधार पर शिवाजी द्वारा अफजल खाँ की हत्या का समर्थन किया। शिवाजी कर्तव्य-वुद्धि से कार्य कर रहे थे, न कि व्यक्तिगत स्वार्थ का पोषण। 22 जून, 1897 को दामोदर चाफेकर ने प्लेग के जमाने के दो जुल्मी अफसरों—रैण्ड और आर्यस्ट—की हत्या कर डाली। वातावरण गम्भीर हो गया और तिलक गिरफ्तार कर लिये गये। यद्यपि रैण्ड की हत्या से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी रूप में तिलक का सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सका, तथापि शिवाजी-उत्सव पर दिये गये और 'केसरी' में प्रकाशित उनके व्याख्यान को असन्तोष-प्रचारक मान कर उन्हें 18 महीने की कैद की सजा मिली। जिस वीरता और धीरता से तिलक ने इस कष्ट को सहा उससे राष्ट्र उनका ऋणी हो गया। कांग्रेस में व्याख्यान देते हुए सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने कहा कि तिलक के वन्दी होने के कारण सारा राष्ट्र रो रहा है (A Nation is in tears)।

जेल से छूटने पर तिलक महाराष्ट्र और देश के राष्ट्रीय कामों में लगे रहे। 1905 में वंगाल का विभाजन हुआ। इस औरंगजेवी नीति से वंगाल और समस्त देश वेचैन और क्षुब्ध हो गया। इस समय तिलक ने विलक्षण राष्ट्रनायकत्व का परिचय दिया। बंगाल-विभाजन के विरोध में किये गये आन्दोलन को राष्ट्रीय दासता-विमोचन-आन्दोलन में परिणत कर देना उन्हीं का काम था। स्वराज्य, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और वहिष्कार के चतुःसूत्री ने देश में एक जवर्दस्त हलचल मचा दी। महाराष्ट्र में 'समर्थ विद्यालय' की स्थापना की गयी। स्वदेशी आन्दोलन को उग्रतर और विशालतर होता देखकर सरकार का दमनयन्त्र वेग से काम करने लगा। किन्तु दमन और पीड़न के फलस्वरूप क्रान्तिकारी आतंकवाद का देश में प्रचार हुआ। वम का भी प्रयोग क्रान्तिकारियों ने किया। मुजफ्फरपुर में खुदीराम वोस ने वम फेंका। इस क्रान्तिकारी वम-कांड के सम्वन्ध में अनेक लेख केसरी में निकले। इन्हीं लेखों से कारण तिलक को छह वर्षों तक माँडले में देश-निर्वासन हुआ। सन् 1905 से लेकर 1908 तक तिलक ने जो कार्य किये थे, उससे नौकरशाही थर्रा गयी थी। वम्वई के तत्कालीन गवर्नर सिडेनहम ने मोर्ले (तत्कालीन भारत-मन्त्री) से कहा था कि जून 1908 में वम्वई सरकार के सामने एक ही प्रश्न था—दक्षिण भारत में तिलक का शासन चलेगा या अंगेजी सरकार का। इससे स्पष्ट है कि कितना प्रचण्ड प्रभाव तिलक ने कायम कर लिया था और अंग्रेजी सरकार उनसे कितना भय खाती थी।

तिलक छह वर्ष तक माँडले के कारावास में रहे। इसी समय उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। माँडले के दीर्घ कारावास ने तिलक को असमय में ही वूढ़ा वना दिया। किन्तु, उनकी आत्मा पहले से भी अधिक दृढ़ और वलवान वन गयी थी। इसी कारावास में उन्होंने अपना जगतप्रसिद्ध दार्शनिक और नीतिशास्त्रात्मक ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा जो उनके छूटने पर 1915 में प्रकाशित हुआ। जून सन् 1914 में तिलक मांडले से छूटे। अव तक वे एक महान राष्ट्र योद्धा थे। माँडले की दीर्घकालीन साधना ने उनके व्यक्तित्व में ऋषित्व का अनुप्रवेश कराया। 1916 में होमरूल-लीग की स्थापना हुई। तिलक के परम विरोधी वैलेन्टिन शिरोल ने भी स्वीकार किया है कि जब लखनऊ काँग्रेस के पंडाल में तिलक ने प्रवेश किया तब देवता के समान उनका स्वागत किया गया। लखनऊ काँग्रेस में अनेक प्रसिद्ध नेता उपस्थित थे, किन्तु जो प्रभाव तिलक का था वह अन्यों के लिए अत्यन्त दुर्लभ था। इसी अवसर पर उन्होंने वह सन्देश दिया जो भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेगा—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' 1917-1918 में देश भर में और विशेषकर पश्चिम भारत में स्वराज्य का महामन्त्र गूँज उठा। 1918 में जव तिलक महाराष्ट्र का, होमरूल-लीग डेपुटेशन ले जाने के समय, दौरा कर रहे थे, तव लोगों ने उनके प्रति देवदुर्लभ श्रद्धा और भक्ति प्रकटित की। 1918 में तिलक डेपुटेशन के नेता होकर विलायत के

लिए रवाना हुए, किन्तु कोलम्बो से ही उनके दल को लौटा दिया गया। फिर, बम्बई युद्ध-परिषद में वे शामिल हुए। वहाँ गवर्नर वेलिंगटन के मना करने पर भी उन्होंने अपने राजनीतिक मन्तव्यों पर बोलना प्रारम्भ किया। गवर्नर के द्वारा हस्तक्षेप होने पर वे सभा से उठकर चले गये।

1918 के अन्तिम त्रिमास में वे विलायत गये। वैलेन्टिन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'भारतीय असन्तोष' (Indian Unrest) में उनके राजनीतिक कार्यों की अनुचित आलोचना की थी। शिरोल साम्राज्यवाद का भीषण समर्थक था। तिलक ने उस पर मुकदमा चलाया। यद्यपि सर जॉन सायमन ने बड़ी सफलता से तिलक की वकालत की थी तथापि कार्सन (विरोधी पक्ष के वकील और जज डार्लिंग की आवेशपूर्ण युक्तियों से प्रभावित होकर अंग्रेज जूरी ने तिलक के विरुद्ध ही फैसला किया। अंग्रेजी कोर्ट का फैसला कुछ भी हो, भारतवर्ष की जनता की दृष्टि में ऋषिकल्प तिलक की असीम देशभक्ति और विशुद्ध देवोचित चरित्र की पुष्टि के लिए नये पक्ष-समर्थन की आवश्यकता नहीं थी। शीघ्र ही तीन लाख रुपये तिलक को अर्पित कर (प्रायः तीन लाख रुपये इस मुकदमे में खर्च हुए थे) जनता ने अपनी असीम तिलक-भक्ति का परिचय दिया।

विलायत-प्रवास में अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का अभूतपूर्व परिचय तिलक ने दिया। ब्रिटिश मजदूर-दल के साथ इन्होंने राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया। अन्ततः मजदूर-दल ने ही भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की। निस्सदेह तिलक महान् राजनीतिज्ञ थे।

अमृतसर काँग्रेस में तिलक अपने शिरोमणि रूप में आसीन थे। पंजाब की जनता उनके दर्शन के लिए पागल थी। उस समय उन्होंने प्रति-सहकारी सहयोग (Responsive Co-operation) का प्रस्ताव समर्थित किया। गीता में बताये गये प्रसिद्ध श्लोकार्ध—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्' का ही यह एक राजनीतिक उदाहरण था। मौंटेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव कांग्रेस ने पास किया, वह तिलक के राजनीतिक उत्कर्ष के विजय का एक उदाहरण था। अप्रैल 1920 में तिलक ने कांग्रेस-प्रजातान्त्रिक-दल की स्थापना की। इधर कुछ महीनों से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था और देश के महान् संकट के समय जनता को रोता छोड़कर 31 जुलाई को रात्रि में बारह बजकर चालीस मिनट पर उन्होंने महाप्रयाण कर लिया। चेतनावस्था में गीता का 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाला प्रसिद्ध श्लोक उनके मुख से सुना गया अन्तिम शब्द था। मरणकाल में भी हिन्दू धर्म और संस्कृति के मूल तत्वों पर उनकी अडिग और अविचल आस्था का ही यह उदाहरण था।

लोकमान्य तिलक सिंह के समान निर्भय देशभक्त थे। किसी प्रकार का प्रलोभन या तीव्रतम भीषण भय उनके स्वतःनिर्वाचित पथ से उन्हें विमुख नहीं कर सकता था। मौन्टेगू-चेम्सफोर्ड एक्ट के सम्बन्ध में श्री सत्यमूर्ति ने तिलक का विचार पूछा था। उस समय तिलक ने कहा—

रत्नैर्महार्हैः तुतुषुर्नदेवाः न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न पययुर्विरामम् न विनिश्चर्तार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

जीवन में तिलक का एक ही उद्देश्य था—भारतवर्ष का सर्वतोभावेन उत्कर्ष। इस महान् कार्य की सिद्धि के लिए अपने समस्त जीवन को उन्होंने एक अखण्ड यज्ञ बना डाला। निरन्तर साधना, अटूट अध्यवसाय, दीर्घकालीन देशनिमित्तक कर्मयोग—तिलक के जीवन का यही सार है। देशभक्ति के प्रचण्ड उद्दीप्त अग्निकुण्ड में अपने समस्त जीवन को समिधा के रूप उन्होंने अर्पित कर दिया। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि जितना कष्ट जन्मभूमि के लिए तिलक ने सहा, शायद उतना किसी प्रमुख नेता ने नहीं सहा। त्याग की तो वे मूर्ति थे। कभी भी धन-संचय करने की उनकी इच्छा नहीं थी। 1916 में महाराष्ट्र ने उनके साठ वर्ष की आयु पूरी करने पर एक लाख रुपये की थैली उन्हें भेंट की, किन्तु उन्होंने उसे देशकार्य में अर्पण कर दिया। उनकी कानूनी प्रतिभा विलक्षण थी। कानूनी ज्ञान की विशदता का परिचय उनके सन् 1908 वाले उस व्याख्यान से मिलता है जो 21 घण्टे 10 मिनट में समाप्त हुआ था। यदि तिलक चाहते तो अपने कानूनी ज्ञान का फायदा उठाकर लाखों अर्जित कर सकते थे, किन्तु सर्वदा मुफ्त में उन्होंने अन्यों को अपने कानूनी ज्ञान का लाभ लेने दिया। 1894 में अपने सहपाठी मित्र बापट की घोर विपत्ति के समय अत्यन्त

निष्काम भाव से तिलक ने सहायता की। अनेक वर्षों तक 'केसरी' और 'मराठा' को वे घाटे पर चलाते रहे।

इस प्रचण्ड, अभय, यज्ञभावनामय, तपोमय, त्यागमय जीवन के पीछे उनको शक्ति देने वाला महान संबल उनका निष्कलंक वैयक्तिक जीवन था। चरित्र की विशुद्धता ही उनका महान् अस्त्र था इसी महान् चरित्र के कारण ही उनका वह देवोपम प्रभाव था। उनके चरित्र के ऊपर जब मेरा ध्यान जाता है, तो कोई व्यक्ति शीघ्र सामने नहीं दिखायी देता जिससे उनकी तुलना की जाय। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और पितामह भीष्म के उदात्त, पवित्र, विशुद्ध जीवन से ही तिलक के जीवन की तुलना की जा सकती है।

तिलक का भारतवर्ष के इतिहास में एक विलक्षण स्थान है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, सैनिकवाद की संगठित शक्ति के विरोध में भारतीय स्वराज्य का नारा बुलन्द करना और चालीस वर्ष तक अखण्ड रूप में उस स्वराज्य के लिए लड़ते रहना कर्मयोगी तिलक का ही कार्य था। घोर कष्ट-सहन के द्वारा तिलक ने स्वराज्य की इमारत की आधारशिला को मजबूत किया। उन्होंने अपने सर्वस्व का हवन कर, स्वराज्य के यज्ञ को समृद्ध कर, वैदिक सन्देश 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' को पुष्ट किया। गीता की भाषा में यज्ञक्षपितकल्मष होकर स्वराज्य-यज्ञ के महान् अध्वर्यु और उद्‌गाता के रूप में तिलक हमारे इतिहास में अमर रहेंगे। 1857 के बाद पश्चिमी साम्राज्यवाद और पश्चिमी सभ्यता का भारत में प्रभाव सतत विवर्धित हो रहा था। उससे परित्राण के लिए तिलक जैसे जबर्दस्त राष्ट्रनायक और निर्भीक नेता की अत्यन्त आवश्यकता थी। यह भारतवर्ष का अहोभाग्य था कि स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रारम्भिक दिनों में ऐसे महान् नेता का नेतृत्व उसे प्राप्त हुआ।

राजनीतिक नेतृत्व और राष्ट्र निर्माण में जितना महत्वपूर्ण स्थान तिलक का है उतना ही वैशिष्ट्यपूर्ण उनका स्थान विद्या के क्षेत्र में भी है। ज्योतिष की पद्धति का आश्रय लेकर उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ओरायन' में सिद्ध किया कि ऋग्वेद के कतिपय मंत्र आज से साढ़े छह हजार वर्ष पूर्व रचे गये। भूगर्भशास्त्र तथा तुलनात्मक पुराणशास्त्र के आधार पर उन्होंने बताया कि आर्य जाति का मूल निवास-स्थान उत्तरी ध्रुव के पास था। उनके अनुसार प्राचीन प्राग्वैदिक और वैदिक सभ्यता और संस्कृति के पाँच विभाग हैं—

(1) 10,000—8,000 ई. पूर्व=हिमयुग का आगमन और आर्य-जातियों का उत्तरी ध्रुव से प्रस्थान।

(2) 8,000—5,000 ई. पूर्व=प्राग्-मृगशिरा अथवा अदिति युग।

(3) 5,000—2,500 ई. पूर्व=मृगशिरा युग।

(4) 2,500—1,400 ई. पूर्व=कृत्तिका युग।

(5) 1,400—600 ई. पूर्व=प्राग् बुद्ध अथवा सूत्र युग।

वारेन (Warren) ने तिलक के उत्तरी ध्रुव सम्बन्धी सिद्धान्त की गम्भीरता की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। 'ओरायन' ग्रन्थ की ब्लूमफिल्ड और मैक्समूलर ने भी प्रशंसा की। पुरातत्व और प्राचीन इतिहास में शाश्वत सिद्धान्त नहीं बन सकते, किन्तु इतना निश्चित है कि तिलक विलक्षण मेधा-सम्पन्न वैदिक विद्वान थे। इसका प्रामाणिक उदाहरण उनके इन दो ग्रन्थों—'ओरायन' तथा 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज'—से मिलता है।

तिलक का गीता-रहस्य उनकी सबसे बड़ी कृति है। तत्वज्ञान की दृष्टि से तिलक अद्वैतवाद का समर्थन करते थे, किन्तु नीतिशास्त्र की दृष्टि से गीता को वे प्रवृत्तिपरक मानते थे। 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' इस श्लोक पर पूरा बल देते हुए तिलक ने कहा कि ज्ञान प्राप्ति के निमित्त और ज्ञानोत्तर व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्राप्ति के बाद लोकसंग्रहार्थ निष्पन्न, अनासक्तिपूर्वक विहित, ज्ञानाधारित भक्तिमय कर्मयोग ही गीता का चरम प्रतिपाद्य है। इस ग्रन्थ से तिलक के अलौकिक शास्त्रज्ञान का पता चलता है। मैं मानता हूँ कि इधर एक हजार वर्षों में गीता का इतना बड़ा मर्मज्ञ जगत में नहीं उत्पन्न हुआ।

तिलक सब प्रकार से महान् थे। मैं इतना ही कहूँगा कि भगवान तिलक अद्वितीय थे। उनकी तुलना उन्हीं से की जा सकती है।

परिशिष्ट 5

तिलक का गीता-रहस्य

1. प्रस्तावना

लोकमान्य तिलक ने माँडले के कारागार में प्रसिद्ध 'गीता-रहस्य' की रचना की थी। यह वृहत् और चिरस्थायी ग्रन्थ गीता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य ही नहीं है, अपितु उसने आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की आधिकारिक पाठ्यपुस्तक का भी काम किया है। उसने देश के नवयुवकों को निष्काम कर्म का अनुप्रेरित सन्देश दिया। तिलक को किशोरावस्था से ही भगवद्गीता से प्रेम था। 1892 में ही उन्होंने विवेकानन्द के साथ वार्तालाप के दौरान कहा था कि गीता निष्काम कर्म का उपदेश देती है।[1] जनवरी 1902 में उन्होंने नागपुर में गीता पर एक भाषण दिया। 1904 में भी उन्होंने शंकराचार्य की अध्यक्षता में शंकेश्वर मठ में गीता पर प्रवचन किया। वहुत समय से तिलक यह कहते आये थे कि गीता संन्यास की शिक्षा नहीं देती। वह यह नहीं सिखाती कि मनुष्य सामाजिक जगत के दायित्वों से पृथक रहकर जीवन विताये, वल्कि वह कर्म के सिद्धान्त की शिक्षा देती है। उनके मन में गीता पर एक पुस्तक प्रकाशित करने का भी विचार था किन्तु उन्हें माँडले के कारागार में पहुँचकर ही ऐसा अवसर मिला कि वे अपने जीवन की साधना पूरी कर सके। पाण्डुलिपि के प्रथम प्रारूप को तैयार करने में उन्हें 2 नवम्बर, 1910 से 30 मार्च, 1911 तक केवल पाँच महीने लगे। पुस्तक महान् कठिनाइयों के वीच लिखी गयी, क्योंकि लेखक को कारागार के कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। गीता-रहस्य के सम्वन्ध में उन्होंने 1911 में माँडले से निम्नलिखित पत्र लिखा था जो मार्च 1911 में 'मराठा' में प्रकाशित हुआ था : "गीता के सम्वन्ध में मैंने उस ग्रन्थ को समाप्त कर लिया जिसे मैं गीता-रहस्य कहता हूँ। यह एक स्वतन्त्र तथा मौलिक ग्रन्थ है। इसमें गीता के उद्देश्य का अन्वेषण किया गया है और यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि उसके अन्तर्गत हमारे धार्मिक दर्शन को आचारनीति की समस्याओं का समाधान करने के लिए किस प्रकार प्रयुक्त किया गया है। मेरी दृष्टि में गीता आचारनीति का ग्रन्थ है। उसका दृष्टिकोण न उपयोगितावादी है और न अन्तःप्रज्ञात्मक, वल्कि पारलौकिक है, और कुछ ग्रीन के 'प्रोलीगोमैना टु ईथिक्स' (आचारनीति का उपोद्घात) से मिलता-जुलता है। मैंने गीता-दर्शन की सर्वत्र पाश्चात्य धार्मिक तथा आचारनीतिक दर्शन से तुलना की है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारा दर्शन कम से कम पाश्चात्य दर्शन से घटिया किसी भी रूप में नहीं है। गीता-रहस्य में 15 अध्याय हैं और एक परिशिष्ट है जिसमें महाभारत के एक अंग के रूप में गीता की आलोचनात्मक समीक्षा की गयी है और उसकी तिथि आदि का विवेचन किया गया है। इस पत्र में इस पुस्तक के सम्वन्ध में इससे अधिक कुछ लिखना असम्भव है। मेरे विचार में जिस रूप में वह इस समय है उसको देखते हुए वह डिमाई अठपेजी (डिमाई ओक्टेवो) आकार के 300 से 350 पृष्ठों में पूरी हो जायगी। इसमें मुझे अपने दृष्टिकोण से गीता का अनुवाद करके जोड़ना है। इस समय मैं इसी अनुवाद कार्य में लगा हुआ हूँ और यह काम अपेक्षाकृत सरल भी है। रहस्य मुख्य भाग था जिसे

1 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, 'The Relations of Tilak and Vivekananda', *The Vedanta Kesari*, मद्रास, जिल्द 45, संख्या 7, नवम्बर 1958, पृ. 291-92.

मैंने पूरा कर लिया है। मेरा विश्वास है कि 'ओरायन' की भाँति यह भी मूल ग्रन्थ सिद्ध होगा। गीता का अनुवाद अथवा भाष्य करने में अभी तक इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करने का साहस किसी ने नहीं किया है। किन्तु जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं पिछले 20 वर्षों से गीता के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण से सोचता आया हूँ। मैंने उन सब पुस्तकों का प्रयोग किया है जो इस समय यहाँ मेरे पास हैं। किन्तु पुस्तक में ऐसे ग्रन्थों के भी सन्दर्भ हैं जो यहाँ मेरे पास नहीं हैं। इनके अंशों को मैंने अपनी स्मृति से भी उद्धृत कर दिया है। अत: पुस्तक को प्रकाशित करने से पहले इन उद्धरणों की जाँच करनी पड़ेगी। इसलिए प्रकाशन का काम मेरी मुक्ति के बाद ही पूरा हो सकता है। इस रहस्य तथा गीता के मराठी अनुवाद को मिलाकर 500 पृष्ठों का ग्रन्थ बन जायगा। मैं समझता हूँ कि मैं दो महीने में अनुवाद का कार्य पूरा कर लूँगा। अन्त में मैं आपको यह भी बतला दूँ कि अपनी पुस्तक में मैंने जिन अंग्रेजी ग्रन्थों का सहारा लिया है उनमें कांट का 'क्रिटिक ऑव प्यूर रीजन' और ग्रीन का 'प्रोलीगोमैना टु ईथिक्स' मुख्य हैं। वैसे मेरे ग्रन्थ का आधार ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य), महाभारत और गीता है, और इसमें हिन्दुओं के कर्मयोग दर्शन का विवेचन किया गया है।"

1914 में गणपति उत्सव के अवसर पर तिलक ने गीता-रहस्य में प्रतिपादित गीता के विषय पर चार व्याख्यान दिये थे।[2] उन्होंने बतलाया था कि गीता में ब्रह्म के साथ एकात्म्य स्थापित हो जाने पर भी कर्म करते रहने का उपदेश दिया गया है। ईश्वर-साक्षात्कार के पूर्व तथा पश्चात, दोनों ही अवस्थाओं में, कर्म करना आवश्यक है।

1915 में गीता-रहस्य प्रकाशित हुआ। उसका छ: हजार का प्रथम संस्करण एक सप्ताह के भीतर ही बिक गया। लोकमान्य तिलक के जीवन-काल में पुस्तक के मराठी तथा हिन्दी में अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। उसका भारत की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। कई वर्ष पहले एक अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

1917 में लोकमान्य ने अमरावती में गीता-रहस्य पर एक भाषण दिया। इस भाषण का सारांश तिलक के ही शब्दों में पुस्तक की सुन्दर रूपरेखा प्रस्तुत कर देता है। तिलक ने कहा, "प्रारम्भ में ही मैं आपको यह बतला दूँ कि मैंने भगवद्गीता का अध्ययन क्यों आरम्भ किया। जब मैं बालक ही था उस समय मेरे बड़े-बूढ़े प्राय: कहा करते थे कि शुद्ध धार्मिक और दार्शनिक जीवन तथा प्रतिदिन के तुच्छ एवं नीरस जीवन के बीच सामंजस्य नहीं हो सकता। यदि किसी व्यक्ति में जीवन के उच्चतम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा है तो उसे सांसारिक इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए और जगत से संन्यास ले लेना चाहिए। मनुष्य ईश्वर तथा संसार, इन दो स्वामियों की साथ-साथ सेवा नहीं कर सकता। मैंने इसका अर्थ यह समझा कि यदि कोई व्यक्ति स्वधर्मानुकूल सत् जीवन का अनुसरण करना चाहता है तो उसे सांसारिक जीवन का शीघ्रातिशीघ्र परित्याग कर देना चाहिए। इस विचार ने मुझे सोचने के लिए प्रेरित किया। मेरे मन में जो प्रश्न उठा और जिसका समाधान मुझे ढूँढ़ना था वह इस प्रकार था : क्या मेरा धर्म यह सिखाता है कि मैं मानव-जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करने से पहले ही संसार का परित्याग कर दूँ अथवा मुझे पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए उसका परित्याग करना है? मेरे बाल्यकाल में मुझे यह भी बतलाया गया था कि भगवद्गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें हिन्दू दर्शन के सभी सिद्धान्तों का समावेश है, और उसकी इस विशेषता को सारा विश्व स्वीकार करता है। मैंने सोचा कि यदि ऐसी बात है तो मुझे अपने प्रश्न का उत्तर इस ग्रन्थ में मिलना चाहिए। इस प्रकार मैंने भगवद्गीता का अध्ययन आरम्भ कर दिया। गीता को प्रारम्भ करने से पहले मेरे मन में किसी दर्शन के सम्बन्ध में कोई पूर्वनिर्धारित विचार नहीं थे, और न मेरा ही ऐसा कोई सिद्धान्त था जिसका समर्थन मुझे गीता में ढूँढ़ना था। जब किसी मनुष्य के मन में पहले से कोई विचार विद्यमान होते हैं तो वह किसी ग्रन्थ को पक्षपातपूर्ण दृष्टि से पढ़ता है। उदाहरण के लिए जब कोई ईसाई गीता को

---

2 तिलक का 15 अगस्त, 1914 के 'केसरी' में प्रकाशित लेख। देखिए, *Tilak's Writings in the Kesari* (मराठा में) 4 जिल्दें, जिल्द 4, पृ. 515-27.

पढ़ता है तो वह यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि गीता क्या कहती है, बल्कि वह यह ढूंढ़ता है कि गीता में ऐसे कौन से सिद्धान्त हैं जिन्हें वह पहले बाइबिल में पढ़ चुका है, और फिर वह बिना सोचे-समझे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि गीता में बाइबिल की नकल कर ली गयी है। मैंने अपने ग्रन्थ गीता-रहस्य में इस विषय का विवेचन किया है, इसलिए यहाँ मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है। किन्तु मैं जिस बात पर बल देना चाहता हूँ वह यह है कि जब आप किसी ग्रन्थ को पढ़ना और समझना चाहते हैं, विशेषकर गीता जैसे महान् ग्रन्थ को, तो आपको उसे निष्पक्ष भाव से और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर पढ़ना चाहिए। मैं जानता हूँ की ऐसा करना अत्यधिक कठिन काम है। जो ऐसा कर सकने का दावा करते हैं उनके मन में कोई पक्षपातपूर्ण विचार अथवा पूर्वाग्रह छिपा होता है जिससे ग्रन्थ का अध्ययन कुछ अंशों में विकृत हो जाता है। कुछ भी हो, मैं केवल यह बतला रहा हूँ कि यदि आप सत्य तक पहुँचना चाहते हैं तो आपकी मन:स्थिति कैसी होनी चाहिए। उस मन:स्थिति को प्राप्त करना कितना ही कठिन क्यों न हो, फिर भी उसे प्राप्त करना ही है। दूसरी चीज यह है कि पाठक को उस काल तथा परिस्थितियों पर विचार करना होगा जिनमें पुस्तक लिखी गयी थी, और जिस उद्देश्य से वह लिखी गयी थी उसे भी समझना होगा। संक्षेप में किसी पुस्तक को उसके सन्दर्भ को ध्यान में रखे बिना नहीं पढ़ना चाहिए। भगवद्गीता जैसे ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह बात विशेषकर महत्वपूर्ण है। विभिन्न भाष्यकारों ने पुस्तक के अपने-अपने दृष्टिकोण से भाष्य किये हैं। किन्तु यह निश्चित है कि लेखक ने पुस्तक इसलिए नहीं लिखी होगी कि उसके उतने अर्थ लगाये जायँ। उसका सम्पूर्ण ग्रन्थ में एक ही अर्थ और एक ही उद्देश्य रहा होगा, और मैंने उसी को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। मेरा विश्वास है कि मैं अपने प्रयत्न में सफल हुआ हूँ, क्योंकि मेरा अपना कोई सिद्धान्त नहीं था जिसका समर्थन मैं इस विश्ववन्दित पुस्तक में ढूंढ़ने का प्रयत्न करता, और इसलिए कोई कारण नहीं था कि मैं मूल पाठ को अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए तोड़-मरोड़ करता। गीता का ऐसा कोई भाष्यकार नहीं हुआ जिसने अपने एक प्रिय सिद्धान्त का प्रतिपादन न किया हो और जिसने यह दिखाने का प्रयत्न न किया हो कि भगवद्गीता उसके सिद्धान्त का समर्थन करती है। मेरा निष्कर्ष है कि गीता के अनुसार मनुष्य को ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा परब्रह्म के साथ एकात्म्य प्राप्त कर लेने के उपरान्त इस संसार में कर्म करते रहना चाहिए। कर्म इसलिए है कि यह संसार विकास के उस मार्ग पर चलता रहे जो सृष्टा ने इसके लिए निर्धारित किया है। कर्मकर्ता को बन्धन में न डाले, इसके लिए आवश्यक है कि कर्मफल की कामना किये बिना स्रष्टा के इस उद्देश्य की पूर्ति में योग देने के प्रयोजन से किया जाय। मेरे विचार में गीता का यही उपदेश है। मैं मानता हूँ कि उसमें ज्ञानयोग है। उसमें भक्तियोग भी है। इससे इनकार कौन करता है ? किन्तु वे दोनों उसमें प्रतिपादित कर्मयोग के अधीन हैं। यदि गीता का उपदेश विमनस्क अर्जुन को युद्ध में रत करने अर्थात कर्म में प्रवृत्त करने के लिए दिया गया था तो यह कैसे कहा जा सकता है कि गीता का परम उपदेश भक्ति अथवा ज्ञान है ? तथ्य यह है कि गीता में इन सभी योगों का समन्वय है। जिस प्रकार वायु न केवल ऑक्सीजन है, न हाइड्रोजन और न कोई अन्य गैस, बल्कि किसी विशिष्ट अनुपात में इन तीनों का मिश्रण है, उसी प्रकार गीता सब योगों का मिश्रण है।

"मेरा कथन है कि गीता के अनुसार ज्ञान और भक्ति में पूर्णता प्राप्त कर लेने तथा इन साधनों के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त भी कर्म करना चाहिए। इस दृष्टि से मेरा अन्य सभी भाष्यकारों से मतभेद है। ईश्वर, मनुष्य तथा प्रकृति इन तीनों में आधारभूत एकता है। विश्व का अस्तित्व इसलिए है कि ईश्वर की ऐसी इच्छा है। उसी की इच्छा से यह टिका हुआ है। मनुष्य ईश्वर के साथ एकात्म्य प्राप्त करना चाहता है, और जब यह एकात्म्य प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति की इच्छा सर्वशक्तिमान सार्वभौम इच्छा में विलीन हो जाती है। क्या इस स्थिति में पहुँच जाने पर व्यक्ति यह कहेगा 'कि मैं कर्म नहीं करूँगा, मैं संसार की सहायता नहीं करूँगा' —उस संसार को जिसका अस्तित्व इसलिए है कि जिस इच्छा के साथ उसने अपना एकाकार कर दिया है वही ऐसा चाहती है ? यह बात तर्कसंगत नहीं है। यह मेरा मत नहीं है, गीता का यही उपदेश है। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त करने की मुझे

आवश्यकता है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ। वे इसलिए कर्म करते हैं कि यदि वे न करें तो विश्व का विनाश हो जायगा। यदि मनुष्य ईश्वर के साथ एकाकार होना चाहता है तो उसे विश्व के हितों के साथ भी एकात्म्य स्थापित करना पड़ेगा, और उसके (विश्व के) लिए कर्म भी करना पड़ेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता तो एकता अपूर्ण होगी, क्योंकि उस स्थिति में तीन तत्वों में से दो (मनुष्य और ईश्वर) के बीच एकता स्थापित हो जायगी और तीसरा तत्व (विश्व) छूट जायगा। अतः मैंने अपने लिए तो समस्या का समाधान ढूंढ़ लिया है। मेरा विचार है कि संसार की सेवा करना और उसके द्वारा उसकी इच्छा (ईश्वर की इच्छा) की सेवा करना मोक्ष-प्राप्ति का सर्वाधिक सुनिश्चित मार्ग है, और इस मार्ग का विश्व में रहकर अनुसरण किया जा सकता है, न कि उसका परित्याग करके।"

लोकमान्य तिलक के अनुसार गीता एक महान् और गम्भीर ग्रन्थ है।[3] उसमें अद्वैतवादी तत्वशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है और साथ ही साथ उसमें सृष्टिशास्त्र और ब्रह्माण्डशास्त्र का भी विवेचन है। वह परम आध्यात्मिक अनुभूति का मार्ग बतलाती है, किन्तु इसके साथ वह संसार में कर्म के महत्व से भी इनकार नहीं करती। उसका निष्काम कर्मयोग ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के बीच समन्वय स्थापित करता है। गीता एक उदात्त तथा अनुप्रेरित शैली में वैदिक धर्म का सार प्रस्तुत करती है। अपनी शैली की सरलता तथा सन्देश की उच्चता के कारण वह संसार में बहुत ही लोकप्रिय बन गयी है। गीता वेदान्त के इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि मनुष्य तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि उसे परमात्मा तथा आत्मा की एकता का ज्ञान नहीं हो जाता किन्तु साथ ही साथ उसका यह भी उपदेश है कि कर्म जिज्ञासु तथा ज्ञानी दोनों के लिए आवश्यक है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि दैवी सम्पत्ति से विभूषित व्यक्ति भी युद्ध जैसे भीषण कर्म में क्यों प्रवृत्त होता है। गीता का मुख्य उद्देश्य जनता की सत्ता का उपदेश देना तथा उसके आधार पर कर्म की आधारभूत समस्याओं का निर्णय करना है।[4] दूसरे शब्दों में गीता आचारनीति का ऐसा ग्रन्थ है जिसका आधार आध्यात्मिक तत्व-शास्त्र है।

तिलक के अनुसार गीता सालिवाहन शक से पाँच सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थी।[5] भण्डारकर, तेलंग, सी. वी वैद्य तथा दीक्षित का यही मत है। तिलक ने गीता की तिथि के सम्बन्ध में रिचार्ड गार्बे के मत का खण्डन किया है। वर्तमान गीता जिसमें सात सौ श्लोक हैं वर्तमान महाभारत का ही अंग है और दोनों एक ही लेखक की रचनाएँ हैं; गीता महाभारत में कोई क्षेपक नहीं है। वह महायान धर्म तथा दर्शन के उद्भव से पहले विद्यमान थी।[6]

2. भगवद्गीता रहस्य : व्याख्या तथा विश्लेषण

चूँकि गीता वेदान्ती प्रश्नत्रयी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसलिए मध्ययुगीन भारत के सभी महान् आचार्यों ने उस पर टीकाएँ की हैं। शंकर, रामानुज, माधव, वल्लभ और निम्बारकर सभी ने उस पर भाष्य लिखे हैं। किन्तु तिलक के अनुसार इन आचार्यों ने गीता का अपने-अपने वेदान्ती सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रीय मतवादों का समर्थन करने के लिए एक बौद्धिक उपकरण के रूप में प्रयोग किया है। तिलक ने इस बात पर बल दिया है कि गीता का निर्वचन करते समय हमें उस ऐतिहा-सिक परिस्थिति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिसमें यह उपदेश दिया गया था। यह उपदेश अर्जुन को दिया गया था जो करुणा और विषाद से अभिभूत होकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति खो बैठा था और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। उपदेश के फलस्वरूप उसने पुनः अपनी कमर कस ली और युद्ध के लिए उद्यत हो गया। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अर्जुन ने यही समझा कि गीता कर्तव्य करने

---

3 बाल गंगाधर तिलक, भगवद्गीतारहस्य, पूना (हिन्दी संस्करण, 1950)।
4 बी. जी. तिलक, गीता-रहस्य (हिन्दी संस्करण), पृ. 506।
5 वही, पृ. 570।
6 वही, पृ. 584। तिलक के अनुसार यह सम्भव है कि महायान धर्म में प्रवृत्तिप्रधान भक्तिमार्ग का आदर्श गीता से लिया गया हो। वही, पृ. 582।

का उपदेश देती है । तिलक का कहना है कि अर्जुन को इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से शून्य मानना कि कृष्ण ने उसे दैवी सम्पद से विभूषित परम भक्त माना है, उचित नहीं है । उपक्रम और उपसंहार की इस कसौटी के अतिरिक्त, मीमांसकों ने भी इस वात पर वल दिया है कि गीता में जिन तत्वों को वार-वार दुहराया गया है उनको महत्व दिया जाना चाहिए । इस कसौटी से भी गीता कर्मयोग का ही सन्देश देती है, क्योंकि कृष्ण सूक्ष्म तत्वशास्त्रीय विवेचन के मध्य वार-वार अर्जुन को अपने स्वधर्म का पालन करने तथा युद्ध में रत होने की प्रेरणा देते हैं । गीता-रहस्य के प्रथम अध्याय में इन तथा अन्य प्रारम्भिक चीजों की समीक्षा है ।

गीता-रहस्य के दूसरे अध्याय में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य में से ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जवकि मनुष्य को धर्म-संकट का सामना करना पड़ा है । प्रायः मनुष्य को ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जवकि उसके लिए कर्म का कोई निश्चित मार्ग अपनाना कठिन हो जाता है । क्या परशुराम को अपने पिता की आज्ञा का पालन करके अपनी माता का वध कर देना चाहिए, अथवा उन्हें चाहिए कि अपने पिता की अवज्ञा करदें और मातृघात के घृणित अपराध से वच जायें ? क्या विश्वामित्र को अपने जीवन की रक्षा के लिए चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुरा लेना चाहिए अथवा उन्हें आत्मरक्षा के लिए भी मांस नहीं चुराना चाहिए ? क्या अर्जुन को अपने आचार्यों तथा प्रिय वन्धुओं को मारकर क्षत्रिय गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए अथवा उसे संसार को त्याग कर संन्यास का मार्ग अपना लेना चाहिए ? क्या सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त निरपेक्षत अलंघनीय हैं अथवा उनके अपवाद भी हो सकते हैं ? यदि अहिंसा को निरपेक्ष मान लिया जाय तो मनु ने यह क्यों लिखा है कि आततायी को तुरन्त मार देना चाहिए चाहे वह आचार्य, व्राह्मण, वालक अथवा वृद्ध ही क्यों न हो ? यदि क्षमा को सार्वभौम रूप से व्यवहार्य मान लिया जाय तो महाभारत में प्रहलाद ने यह उपदेश क्यों दिया है कि न क्रोध निरपेक्ष है और न क्षमा ? यदि सत्य निरपेक्ष है तो कृष्ण, जो कि ईश्वर का अवतार माने जाते हैं, युधिष्ठिर को युद्ध-क्षेत्र में 'अश्वत्थामा मर गया है', इस प्रकार का भूठा वचन कहने के लिए क्यों प्रेरित करते हैं ? अतः स्पष्ट है कि नैतिकता की समस्या वड़ी कठिन है। जव मनुष्य के सामने कर्म के वैकल्पिक और कभी-कभी परस्पर-विरोधी मार्ग उपस्थित होते हैं तो उसके लिए अपनी वुद्धि से उनमें से किसी एक को चुन लेना सरल नहीं होता । जो लोग नैतिक दृष्टि से संवेदनशील हैं उनके जीवन में जव निरन्तर कर्म के परस्पर विरोधी विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं तभी आचारनीति की समस्या का वास्तविक निरूपण हो पाता है । इसलिए कर्म, अकर्म और विकर्म क्या हैं, यह जान लेना महत्वपूर्ण है ।

कर्मयोग का आचारशास्त्र वहुत ही महत्वपूर्ण है । हिन्दू-दर्शन में कर्म शव्द का वहुत ही व्यापक अर्थ है । मीमांसा के अनुसार कर्म के चार विशिष्ट प्रकार हैं : (1) नित्य कर्म जिसमें दैनिक स्नान, सन्ध्या आदि सम्मिलित होते हैं, (2) नैमित्तिक कर्म जिनमें यात्रा-सम्वन्धी अनुष्ठान और ग्रहों की शान्ति के लिए किये गये कार्य शामिल रहते हैं, (3) काम्य कर्म सन्तान, वर्षा आदि की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं, और (4) निषिद्ध कर्म जिनका करना वर्जित है । गीता में कर्म का एक भिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है । तिलक का कहना है कि गीता के अनुसार अकर्म का अर्थ सात्विक कर्म और कर्म का अर्थ राजस कर्म है; विकर्म में वे कर्म सम्मिलित होते हैं जिन्हें मनुष्य भ्रान्तिवश करता अथवा छोड़ देता है ।[7] कर्मयोग में 'योग' शव्द का विशेष महत्व है । योग के अनेक अर्थ हैं ।[8] कभी-कभी इसका अर्थ होता है व्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति और कभी-कभी इसका अर्थ चित्तनिरोध अथवा समाधि लगाया जाता है । पतंजलि ने योग की प्रसिद्ध परिभाषा में इसी अर्थ का प्रयोग किया है । अमरकोश में योग का इससे भी अधिक व्यापक अर्थ दिया गया है । तिलक का कहना है कि गीता में यदि योग शव्द के पूर्व कोई विशेषण नहीं लगाया गया है तो उसका अर्थ सदैव कर्मयोग है । तिलक के अनुसार कर्मयोग का अर्थ उस कर्म से है जो व्यवसायत्मिका वुद्धि

---

7 वाल गंगाधर तिलक, गीता-रहस्य (हिन्दी संस्करण), पृ. 675 ।
8 देखिए 'युग समाधौ' तथा 'युजियोगे' । ऋग्वेद में लिखा है 'युन्जते मना' ।

को प्राप्त करने की प्रक्रिया में तथा उसके बाद किया जाता है। और व्यवसायात्मिका बुद्धि वह बुद्धि है जिसमें सन्तुलन, समता तथा अविचलता का भाव विद्यमान होता है। गीता का कर्मयोग मोक्ष प्राप्त करने तथा संसार में कर्म करने का एक पुरातन मार्ग है। गीता स्वीकार करती है कि संन्यास से भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। निश्चय ही गीता संन्यास मार्ग की निन्दा नहीं करती। उसका बल केवल इस बात पर है कि कर्मयोग संन्यास से श्रेष्ठ है। विश्व के कल्याण की दृष्टि से कर्मयोग का मार्ग संन्यास से अच्छा है। तिलक के अनुसार समर्थ रामदास ने भी कर्मयोग का ही उपदेश दिया है। तिलक ने गीता के सन्देश को स्पष्ट करने के लिए कतिपय स्थलों पर दासबोध को भी उद्धृत किया है।

भगवद्गीता महाभारत का एक अंग है। उसे उस महाकाव्य में सम्मिलित करने का उद्देश्य उन महापुरुषों और शूरवीरों के चरित्र और आचरण के नैतिक और आध्यात्मिक औचित्य को सिद्ध करना है जिनके जीवन और कार्यों का उसमें वर्णन है।[9] गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भागवत धर्म की आधारभूत शिक्षाओं को स्वीकार कर लिया गया है। अनुश्रुतियों के अनुसार नर और नारायण दो ऋषि थे जो अर्जुन और कृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे। उन्होंने नारायणीय अथवा भागवत धर्म का प्रतिपादन किया जिसमें निष्काम कर्म को महत्व दिया गया है।[10] भागवत धर्म अनैकान्तिक सात्वत और पंन्चतन्त्र के नाम से भी विख्यात है। महाभारत के अनुसार मूल भागवत धर्म में निष्काम कर्म पर बल दिया गया है। इसलिए शान्तिपर्व में लिखा है :

समुपोढष्वेनीकेषु कुरूपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ।।
\+ \+ \+
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।।

चूंकि भगवद्गीता भागवत धर्म का ग्रन्थ है और भागवत धर्म में प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया गया है, इसलिए यह इस बात का अतिरिक्त प्रमाण है कि उसमें हमें कर्मयोग का सन्देश मिलता है।

भगवद्गीता के चौथे अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष इस ग्रन्थ में प्रतिपादित योग के ऐतिहासिक विकास का वर्णन किया है। यह सनातन योग पहले विवस्वान को सिखाया गया था। विवस्वान ने उसे मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को सिखाया। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इस पुरातन योग को अब मैं तुम्हें पुनः दे रहा हूँ। कृष्ण राजर्षि जनक का उदाहरण देते हैं। जनक तथा उनके सदृश अन्य लोगों ने स्वधर्म का पालन करके आध्यात्मिक परमपद को प्राप्त कर लिया था, इसलिए कृष्ण अर्जुन को प्रेरित करते हैं कि तुम भी उस परम्पराप्राप्त और पुरातन मार्ग का अनुसरण करो।

तिलक का मत है कि गीता आध्यात्मीकृत आचारनीति का ग्रन्थ है और उसकी तुलना टी. एच. ग्रीन के प्रोलीगोमैना टु एथिक्स से की जा सकती है। तिलक ऑगस्त कॉम्त की पद्धति सम्बन्धी आधारभूत मान्यताओं के विश्लेषण से अपना विवेचन आरम्भ करते हैं। उनका कथन है कि कॉम्त ने जिसे ज्ञान की धर्मशास्त्रीय अवस्था माना है उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान की आधिदैविक अवस्था कहते थे। जिसे कॉम्त ज्ञान की तत्वशास्त्रीय अवस्था कहता है उसकी तुलना भारतीयों की आध्यात्मिक पद्धति से की जा सकती है। और जो कॉम्त की भाषा में विध्यात्मक पद्धति है उसे प्राचीन भारतीय आधिभौतिक पद्धति कहते थे। कॉम्त विध्यात्मिक पद्धति को श्रेष्ठ मानता था। किन्तु

9 बी. जी. तिलक, गीता-रहस्य (हिन्दी संस्करण), पृ. 556। पृ. 523 और पृ. 511 भी देखिए।

10 तिलक के अनुसार भागवत धर्म की उत्पत्ति 1400 ई. पू. के लगभग हुई होगी। मूल भागवत धर्म में 'नैष्कर्म्य' पर बल दिया गया है, किन्तु बाद में उसमें भक्ति मार्ग का समावेश कर दिया गया। गीता-रहस्य, पृ. 552-55। भागवत धर्म के विद्यमान ग्रन्थों में गीता, शक्तिपर्व के अन्तिम अठारह अध्याय, शाण्डिल्य सूत्र, भागवत पुराण, नारदपनचरित्र, नारदसूत्र तथा रामानुज के ग्रन्थ मुख्य हैं।

तिलक आचारनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक पद्धति के पक्ष में थे और उनके अनुसार कांट, हेगेल, शोपेनहाअर, डोयसन तथा ग्रीन भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

गीता-रहस्य के चौथे और पाँचवें अध्यायों में तिलक ने दुःख और सुख की प्रकृति का विश्लेषण किया है। विश्लेषण के उद्देश्य से वे भौतिकवादी सुखवाद के सम्प्रदाय को अनेक अनुभागों में विभक्त करते हैं। प्रथम, चारवाक, जावलि आदि का घोर सुखवाद और संवेदनवाद का सिद्धान्त है। गीता की भाषा में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों को आसुरी सम्पद् से युक्त कहा जा सकता है। द्वितीय, हॉब्स और हैल्वेशियस का परिष्कृत सुखवाद है। उन्होंने आत्मपरिरक्षण की धारणा पर आधारित दूरदर्शी स्वार्थ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हॉब्स के अनुसार स्वार्थमूलक भय दानशीलता का आधार है। तृतीय, एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो परार्थवाद की वास्तविकता को स्वीकार करता है। यह सम्प्रदाय भी लौकिक कल्याण को ही महत्व देता है, किन्तु उसका कहना है कि किसी कार्य के नैतिक मूल्य की परख करते समय हमें परार्थवाद को भी ध्यान में रखना चाहिए। सिजविक इस सम्प्रदाय का समर्थक है। इसे प्रबुद्ध स्वार्थपरता का सम्प्रदाय कहा जा सकता है।

चतुर्थ, बैंथम, मिल और शेफ्ट्सबरी का उपयोगितावाद है। उन्होंने अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख पर बल दिया है। यद्यपि मिल ने परिमाणात्मक और गुणात्मक सुख के बीच भेद किया और कहा कि सन्तुष्ट मूर्ख से असन्तुष्ट सुकरात अच्छा है, फिर भी उपयोगितावाद नैतिक गणित की धारणा पर आधारित है क्योंकि उसका विश्वास है कि सुख और दुःख की परिमाणात्मक नाप-तौल सम्भव है। उसका आदर्श दुःख को न्यूनतम करना और सुख की अधिकतम वृद्धि करना है। यह आदर्श इस धारणा पर टिका हुआ है कि सुख और दुःख की सापेक्ष तौल निर्धारित की जा सकती है।

तिलक ने इन सब सम्प्रदायों की आलोचना की है। उन्होंने सुखवादियों की इस परिकल्पना का खण्डन किया है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, और स्वीकार किया है कि मनुष्य में परोपकारिता की प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि आत्मतुष्टि की स्वार्थमूलक भावना। काँट की भाँति तिलक का भी विचार है कि बल मनुष्य के संकल्पों को नैतिक और बुद्धिसंगत बनाने पर दिना जाना चाहिए न कि उसके ठोस कार्यों के वाह्य परिणामों पर। कुछ पाश्चात्य लेखकों ने नैतिक मूल्यों की सापेक्षता का प्रतिपादन किया है। तिलक ने उनका खण्डन किया और कहा कि महाभारत में प्रतिपादित धर्म की नित्यता की धारणा कहीं अधिक समीचीन है।

यद्यपि आचारनीति का उपयोगितावादी सिद्धान्त मानव-जाति के आचारनीतिक विकास में एक उच्चतर अवस्था का द्योतक है, फिर भी उस सिद्धान्त में दोष हैं। तिलक उपयोगितावादी आचारनीति की सविस्तार आलोचना करते हैं। उपयोगितावाद का दोष यह है कि वह श्रेयस तथा सुख को एक ही मानता है। आचारनीतिक कर्म की यह कसौटी मानसिक आनन्द, आत्मसन्तोष तथा लोकोत्तर श्रेयस को समुचित रूप से समझने में असमर्थ है। उपयोगितावादी कसौटी का आधार अस्तित्ववादी दृष्टिकोण है, क्योंकि वह अधिकतम लोगों के सुख अथवा आनन्द को गिनती अथवा नापती है, और संकल्पों के शुद्धीकरण की आवश्यकता पर बल नहीं देती। किन्तु बाइबिल (मैथ्यू, 5, 528) बौद्ध धर्म तथा मनु मनुष्य के प्रेरकों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

तिलक के अनुसार उपयोगितावादी दृष्टिकोण में अनेक भ्रान्तियाँ, कमियाँ और कठिनाइयाँ हैं। प्रथम, वह एक परिमाणात्मक प्रतिमान है और अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को प्राप्त करना चाहता है। किन्तु 'अधिकतम' शब्द भ्रम उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए कौरवों की सेनाँ ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवों की सात अक्षौहिणी थी। उपयोगितावादी दृष्टिकोण से पाण्डवों की तुलना में कौरवों का दावा अधिक उचित माना जाना चाहिए। किन्तु व्यवहार में यह परिमाणात्मक प्रतिमान भ्रामक सिद्ध होता है। सामान्य सम्मति यही है कि एक श्रेष्ठ पुरुष का कल्याण सहस्र दुष्टों के कल्याण की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। अतः श्रेयस अथवा सुख की परिमाणात्मक नाप-तौल कभी भी समुचित और सम्यक् नैतिक कसौटी नहीं मानी जा सकती।

दूसरे, कभी-कभी देखने में आता है कि जो वस्तु अधिकतम लोगों को सुखद और श्रेयस्कर

जान पड़ती है वह एक अथवा अधिक ऋषियों की दूर-दृष्टि और कल्पना के प्रतिकूल होती है। अथेंस और फिलिस्तीन के जनसमुदायों का सोचने और समझने का अपना एक ढंग था। उसके विपरीत श्रेयस के सम्बन्ध में सुकरात और ईसा मसीह के विचार भिन्न थे। इतिहास ने सुकरात और ईसा की अन्तर्दृष्टि को ही अन्त में उचित सिद्ध किया। जनता ने सोचा था कि अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण इन महान विभूतियों की मृत्यु के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण खतरनाक और भयास्पद है। जनता के समक्ष ऐसी कसौटी रखी जानी चाहिए जो हर काल में निरपवाद रूप से अपनायी जा सके। अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख किस चीज में निहित है इसका निर्णय करने का कोई वाह्य साधन नहीं है।

उपयोगितावादी कसौटी के विरुद्ध पूर्वोक्त दो आपत्तियाँ प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उसमें एक तीसरी भ्रान्ति भी है। वह यान्त्रिक है और मनुष्य के आचरण को प्रेरित करने वाले तत्वों को महत्व नहीं देती। मनुष्य कोई यन्त्र नहीं है। उसके हृदय तथा व्यक्तित्व होता है। इसलिए उसके कार्यों के स्रोत पर ध्यान देना आवश्यक है। तिलक का कहना है कि सामान्य जीवन में प्रायः देखा जाता है कि यदि किसी परोपकार के कार्य के लिए एक गरीब मनुष्य बहुत थोड़ा धन और एक धनी व्यक्ति भारी धनराशि के रूप में देता है तो उन दोनों के दान के नैतिक मूल्य को लोग समान समझते हैं। इससे प्रकट होता है कि कार्य के मूल में निहित प्रेरणा अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। तिलक ने डॉ. पॉल कारूस की 'दि एथीकल प्रोब्लम' (आचारनीतिक समस्या) का उदाहरण दिया है। एक बार अमेरिका के एक बड़े नगर में एक व्यक्ति ट्राम-पथ की व्यवस्था करना चाहता था। किन्तु सरकारी अधिकारियों से उसे काम के लिए आवश्यक अनुज्ञा प्राप्त करने में बड़ी देर हो रही थी। इसलिए ट्राम-पथ के प्रबन्धक ने सरकारी अधिकारियों को घूस देकर अनुज्ञा प्राप्त कर ली और ट्राम-पथ प्रारम्भ कर दिया। किन्तु कुछ समय उपरान्त मामला खुल गया, और ट्राम-प्रबन्धक पर अभियोग चलाया गया। पहली बार जूरी के सदस्यों में निर्णय के सम्बन्ध में मतभेद हो गया। अतः दूसरी जूरी नियुक्त की गयी। प्रबन्धक को अपराधी घोषित किया गया और उसे दण्ड दिया गया। तिलक का कहना है कि ट्राम-प्रबन्धक नगरवासियों के लिए सस्ती और द्रुत परिवहन व्यवस्था का निर्माण करके अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण कर रहा था, फिर भी उसे अपराधी माना गया। यह उदाहरण उपयोगितावादी कसौटी की अनुपयुक्तता और भ्रान्ति को सिद्ध करता है। कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि किसी कानून की उपयोगिता की परख करते समय हम विधायकों के मन की प्रक्रियाओं की ओर ध्यान नहीं देते, हम केवल यह देखते हैं कि विशिष्ट कानून से अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण होता है अथवा नहीं। किन्तु यह कसौटी ऐसी सरल नहीं है कि इसे सभी परिस्थितियों में लागू किया जा सके। तिलक स्वीकार करते हैं कि शुद्ध बाह्य दृष्टि से 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' से अच्छी अन्य कोई कसौटी नहीं हो सकती, किन्तु आचारनीति की माँग है कि इससे अधिक सुनिश्चित, सुसंगत और उपयुक्त प्रतिमान की स्थापना की जाय। वे काँट के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि आचारनीति कर्ता के शुद्ध संकल्प से आरम्भ होनी चाहिए। जॉन स्टुअर्ट मिल अपनी 'यूटीलिटेरियनिज्म' (उपयोगितावाद) नामक पुस्तक में लिखता है : "कार्य की नैतिकता पूर्णतः आशय (अभिप्राय) पर अर्थात कर्ता जो कुछ करने का संकल्प करता है, उस पर निर्भर होती है। किन्तु यदि प्रेरक हेतु से, अर्थात उस भावना से जिससे प्रेरित होकर वह काम करता है, कार्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता तो उससे (उस कार्य की) नैतिकता में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता।" तिलक का कहना है कि मिल का यह कथन उसके पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का द्योतक है। ऐसे दो कार्यों में, जिसके वाह्य रूप अथवा परिणाम एक से हों, किन्तु उनके प्रेरक हेतु भिन्न हों, भेद न करना बुद्धिमानी नहीं है। इसलिए उपयोगितावादी कसौटी सीमित रूप में ही लागू की जा सकती है।

तिलक ने उपयोगितावादी आचारनीति में एक चौथी कमी भी ढूँढ़ निकाली है। उनका कहना है कि उपयोगितावादी सम्प्रदाय इस बात का समुचित उत्तर नहीं देता कि परोपकार स्वार्थ से क्यों अच्छा है। यह सत्य है कि सिजविक के प्रबुद्ध स्वार्थवाद के सिद्धान्त के विपरीत उपयोगितावादी स्वीकार करते हैं कि जब स्वार्थ और परोपकार के बीच द्वन्द्व हो तो परोपकार के मार्ग को

ही अपनाना चाहिए। किन्तु उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण को सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करने का प्रयत्न नहीं किया है। यह कोई उत्तर नहीं है कि यह मानव स्वभाव के अनुकूल है। अतः तिलक का कहना है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाना और मानव-आत्मा की शक्तियों को साक्षात्कृत करना आवश्यक है। वे मानते हैं कि आचारनीतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होते हैं। वे महाभारत के इस सिद्धान्त के अनुयायी हैं कि धर्म नित्य होता है और दुःख एवं सुख क्षणिक होते हैं।

आचारनीति के सुखवादी सम्प्रदाय का आधार भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र है। तिलक के अनुसार भौतिकवाद पूर्णतः असन्तोषजनक है क्योंकि उसमें आचारनीति के प्राथमिक सिद्धान्तों तक के लिए स्थान नहीं है। भौतिकवाद मानव आत्मा को स्वतन्त्रता से सम्बन्धित आधारभूत प्रश्नों तक का उत्तर नहीं दे सकता। तिलक के अनुसार परम सुख विवेक तथा आध्यात्मिक दृष्टि में निहित होता है। दार्शनिक अथवा आन्तरिक प्रकार का सुख ऐन्द्रिक तथा भौतिक दोनों प्रकार के सुख से श्रेष्ठ होता है। कर्मयोग का विज्ञान सुख की समस्याओं के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन करता है। भारत में याज्ञवल्क्य और पश्चिम में ग्रीन ने इसी प्रकार के दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

गीता-रहस्य के छठवें अध्याय में तिलक ने आचारनीति के अन्तःप्रज्ञावादी सम्प्रदाय का विश्लेषण और खण्डन किया है। इस विचार-सम्प्रदाय का प्रवर्तन ईसाई लेखकों ने किया है। तिलक के अनुसार यह सम्प्रदाय भी अनुपयुक्त है, क्योंकि मन और बुद्धि के अतिरिक्त अन्तःकरण अथवा अन्तःप्रज्ञा (सदसद्विवेक शक्ति) नाम की किसी पृथक वस्तु की सत्ता को स्वीकार करने का कोई समुचित आधार नहीं है।[11] इसके अलावा भारतीय चिन्तन के अनुसार उन लोगों के अन्तःकरण का ही नैतिक महत्व हो सकता है जिनका आध्यात्मिक पुनर्जनन हो चुका है। जिनकी भावनाएँ और संवेग परिष्कृत और उदार नहीं हुए हैं उनके अन्तःकरण का कोई नैतिक मूल्य नहीं हो सकता। चूँकि सुखवादी और अन्तःप्रज्ञावादी सम्प्रदाय अनुपयुक्त है, इसलिए तिलक तत्वशास्त्रीय अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं।

तत्वशास्त्रीय (आध्यात्मिक) दृष्टिकोण गीता, महाभारत तथा कांट, हेगेल और ग्रीन की रचनाओं में प्रतिपादित किया गया है। तिलक के अनुसार ब्रह्मविद्यायाम् योगशास्त्रे का अर्थ है कि गीता की आचारनीति का आधार सत् (वास्तविकता) के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। यह सत्य है कि गीता और महाभारत दोनों ही सामाजिक संगठन की समस्याओं तथा सब प्राणियों के कल्याण (सर्वभूतहित) की विवेचना करते हैं, किन्तु आत्मा की मुक्ति के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को वे कभी आँख से ओझल नहीं होने देते। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण ही गीता की आचारनीति कॉम्त के उस प्रत्यक्षवाद (वस्तुनिष्ठावाद) से श्रेष्ठ है जो अपने उच्चतम रूप में भी केवल मानवता के धर्म तक पहुँच पाता है। तिलक के अनुसार गीता का आध्यात्मिक दृष्टिकोण 'निकोमेखियन एथिक्स' में प्रतिपादित आत्मसुखवाद के सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ है। तिलक ने गीता का जो निर्वचन किया है उसके अनुसार आध्यात्मिक सार्वभौमवाद की दृष्टि से किया गया कर्म ही सर्वोपरि है। गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार का होता है—सात्विक, राजसिक तथा तामसिक। इस वर्गीकरण का आधार मनुष्य का संकल्प है। यह वर्गीकरण भी सिद्ध करता है कि गीता के अनुसार कर्ता का संकल्प प्राथमिक महत्व की चीज है।

चूँकि भगवद्गीता का आचारशास्त्र (आचारनीति) परम आदि सत्ता (वास्तविकता) की प्रकृति के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर चलती है, इसलिए तिलक ने गीता के सातवें, आठवें तथा नवें अध्यायों में सृष्टिशास्त्र तथा तत्वशास्त्र का विवेचन किया है। शंकर की भाँति तिलक भी स्वीकार करते हैं कि गीता अद्वैतवादी तत्वशास्त्र का प्रतिपादन करती है। गीता के निर्वचन के सम्बन्ध में शंकर तथा तिलक के बीच मतभेद तत्वशास्त्र के सम्बन्ध में नहीं, बल्कि नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में है। शंकर तथा तिलक दोनों का कहना है कि जगत में आदि आध्यात्मिक सत्ता

---

11 तिलक के अनुसार व्यवसायात्मिका बुद्धि में सदसद्विवेकशक्ति सम्मिलित है—गीता-रहस्य (हिन्दी संस्करण) पृ. 427.

है, आधारभूत तथा परम तत्व है, और वह चिन्मय तथा आनन्दमय है। किन्तु आध्यात्मिक सत्ता को सच्चिदानन्द बतलाना उसका केवल उच्चतम प्रत्ययात्मक निरूपण है। वस्तुतः वह अनिर्वचनीय हैं, और सभी प्रकार के निरूपण से परे है। परम सत्ता (सत्) परम ज्ञान और परम आनन्द भी है। वह तीन तत्वों का योग नहीं है, वास्तव में तीनों तत्व एक ही चीज हैं। परम आध्यात्मिक सत्ता (परब्रह्म) का ऋग्वेद के दीर्घतम सूक्त में उल्लेख किया गया है और नासदीय सूक्त में उसकी अत्यन्त ओजस्वी ढंग से व्याख्या की गयी है। तिलक का कहना है कि आदि आध्यात्मिक सत्ता की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में यह निरूपण दार्शनिक चिन्तन की उच्चतम उपलब्धि है। पॉल डॉयसन की भाँति उनका भी विश्वास है कि भविष्य में दार्शनिक शोध के क्षेत्र में कितनी ही अधिक प्रगति क्यों न करली जाय, मानव का मन इस अद्वैतवादी कल्पना से आगे नहीं जा सकता। तिलक रहस्यात्मक अनुभूतियों की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि परम सत्ता (परब्रह्म) के साक्षात्कार के लिए तुरीयावस्था तथा उनके उपरान्त निर्विकल्प समाधि की अवस्था आवश्यक है। अद्वैतवादी वेदान्तियों की भाँति तिलक का भी विचार है कि विश्व परब्रह्म की आभासी तथा दृश्यमान अभिव्यक्ति है। वह परब्रह्म का नैमित्तिक (कारणात्मक) विकास अथवा रूपान्तर नहीं है। वे परम्परावादी अद्वैत वेदान्तियों के विवर्त के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वेदान्त के अनुसार तत्वशास्त्रीय दृष्टि से सच्चिदानन्द परम सत् है। समाधिस्थ अवस्था में पहुँच कर ध्यानी को भी ऐसा ही अनुभूति होती है। किन्तु आराधना की दृष्टि से उसी सच्चिदानन्द (परब्रह्म) को ईश्वर मान लिया जाता है। परब्रह्म आध्यात्मिक सत्ता की परम, आदि प्रकृति का वाचक है; जबकि ईश्वर आस्तिक भक्त के लिए स्वयं परब्रह्म का रूप है। अतः ईश्वर अव्यक्त (परब्रह्म) का व्यक्तीकृत रूप है। उपनिषदों में भी उपासना के लिए अनेक प्रकार की विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है।

गीता वेदान्त के तत्वशास्त्र तथा सांख्य के ब्रह्माण्डशास्त्र के बीच समन्वय स्थापित करती है। ईश्वर कृष्ण द्वारा प्रतिपादित सांख्य अनीश्वरवादी है। सम्भवतः कपिल द्वारा प्रतिपादित मूल सांख्य भी अनीश्वरवादी था। केवल विज्ञानभिक्षु ने, जो सांख्य के एक परवर्ती भाष्यकार थे, सांख्य का ईश्वरवादी दृष्टिकोण से निर्वचन करने का प्रयत्न किया है। सांख्य प्रकृति की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रकृति सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन तत्वों के सन्तुलन की अवस्था है। सांख्य के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त अगणित पुरुष हैं जो तेजोमय, शुद्ध और निष्काम होते हैं। पुरुष के साथ सम्पर्क होने से प्रकृति की सृजनात्मक व्यवस्था क्रियाशील हो उठती है जिसके परिणामस्वरूप अन्त में मानसिक तथा बौद्धिक घटकों का तथा विश्व का निर्माण करने वाले तत्वों का भी विकास होता है। सांख्य के अनुसार महत् तत्व तथा अहंकार ब्रह्माण्डव्यापी होते हैं। गीता ने वेदान्त तथा सांख्य का समन्वय किया है। उसने वेदान्त से इस धारणा को ग्रहण किया है कि परब्रह्म आदि तथा अद्वैत तत्व है। सांख्य से उसने प्रकृति के विकास का सिद्धान्त लिया है। इसलिए गीता में कहा गया है :

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (7, 5)

+ + +

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ (9, 10)

गीता सत्व, रजस और तमस इन तीन प्रकार के गुणों को स्वीकार करती है, और इस सिद्धान्त के आधार पर उसने बुद्धि के तीन प्रकारों, दान के तीन प्रकारों, आदि की विषद व्यवस्था का निर्माण किया है। यही नहीं कि गीता सांख्य सम्प्रदाय के आधारभूत तत्वों को संशोधित रूप में स्वीकार करती है, बल्कि वह सांख्य का विवेक और संन्यास के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त करती है। सांख्य प्रकृति के बन्धनों से मुक्ति के लिए विवेक पर बल देता है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष के लिए परब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है, जबकि सांख्य के अनुसार मोक्ष तब प्राप्त होता है जब मनुष्य अपने को प्रकृति के चंगुल से मुक्त करके आत्मा के पृथक रूप का ज्ञान कर लेता है।

यद्यपि गीता के अनुसार आदि आध्यात्मिक तत्व (परब्रह्म) ही परमार्थ सत् है, किन्तु वह विश्व को भी ब्रह्म की ही सृष्टि मानती है। सृष्टि की रचना का मुख्य कारण माया है। माया और कर्म एक ही चीज हैं, यदि कर्म उस कार्य के अर्थ में लिया जाय जो विश्व के परिरक्षण के लिए किया जाता है (भूतभावोद्भवकरो विसर्गः)। वेदान्त का कहना है कि प्रकृति अथवा माया स्वतन्त्र नहीं हैं, वरन वह परब्रह्म के निरीक्षण में कार्य करती हैं। वेदान्त के अनुसार मायात्मक कर्म भी अनादि है। माया इस अर्थ में अनादि है कि उसकी उत्पत्ति जानी नहीं जा सकती। यदि विश्व के सम्बन्ध में शुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण अपना लिया जाय जैसा कि हैकल ने प्रतिपादित किया है तो हमें मानना पड़ेगा कि मनुष्य एक यन्त्र है जो द्रव्य (पदार्थ) की गति के झोकों के अनुसार विभिन्न दशाओं में मारा-मारा फिरता है। किन्तु विश्व का आध्यात्मवादी दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि प्रकृति की निरन्तर होने वाली घटनाओं और प्रक्रियाओं के बीच भी मनुष्य में कुछ स्वतन्त्रता तथा स्वतःस्फूर्ति विद्यमान रहती है। मनुष्य में संकल्प की स्वतन्त्रता निहित है, और इस संकल्प की अभिव्यक्ति तब होती है जब वह कर्म और इन्द्रियों के चंगुल से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य में परब्रह्म को जानने की इच्छा और क्षमता होती है जिसके द्वारा वह मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है, यह तथ्य ही उसके संकल्प की स्वतन्त्रता का प्रमाण है। किन्तु वेदान्त के दृष्टिकोण से संकल्प को स्वतन्त्रता की धारणा समीचीन नहीं है, क्योंकि संकल्प अन्ततः मन का गुण है और सांख्य के अनुसार मन प्रकृति की उपज है। गीता सांख्य के दृष्टिकोण को स्वीकार करती है। वेदान्त के अनुसार स्वतन्त्रता न तो मन का गुण है और न बुद्धि का; आत्मा की अखण्ड स्वरूपोपलब्धि और पूर्णता ही स्वतन्त्रता है। मानव-आत्मा ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है, और जब वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए दृढ़ता से निरन्तर अभ्यास करती है तो समयानुसार उसे ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। गीता का कहना है कि इस प्रकार कर्मविपाक और मानव-आत्मा की स्वतन्त्रता, इन दोनों का समन्वय किया जा सकता है। गीता-रहस्य के दसवें अध्याय में इस विषय का विवेचन किया गया है। मोक्ष आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है; उसकी प्राप्ति के लिए गीता कर्म-त्याग का उपदेश नहीं देती। उसका उपदेश है कि मनुष्य को केवल कर्म के फल के सम्बन्ध में अहंकार और स्वार्थ का भाव त्याग देना चाहिए। तिलक के अनुसार गीता की सर्वोपरि शिक्षा यह है कि मनुष्य को वर्ण-व्यवस्था पर आधारित अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए और साथ ही साथ उसे स्थितप्रज्ञ की अवस्था तथा ब्रह्म के साथ एकात्म्य प्राप्त करने की भी चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु इस अवस्था और इस एकात्म्य भाव के प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य को स्वधर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह स्वधर्म का असंग और ईश्वरार्पण की भावना से पालन करे। मोक्ष तथा अहंकार के बीच अन्तर्विरोध है, किन्तु निष्काम कर्म और मुक्ति के बीच कोई विरोध नहीं है। गीता ने मनुष्य जाति के समक्ष स्वयं कृष्ण का उदाहरण रखा है। उन्हें अपना कोई निजी अथवा वैयक्तिक उद्देश्य पूरा नहीं करना है, फिर भी वे लोकसंग्रह के लिए निरन्तर कार्य करते रहते हैं। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड के चक्र को सुरक्षित रखना चाहता है, इसीलिए वह अधर्म के विनाश और धर्म की रक्षा के लिए बार-बार अवतार लेता है। अतः मनुष्य को कृष्ण का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए, और अपने श्रेयस् तथा लोकसंग्रह के लिए निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, जीवन का परम उद्देश्य परब्रह्म का साक्षात्कार करना है।

गीता-रहस्य के ग्यारहवें अध्याय में संन्यास तथा कर्मयोग की आचारनीति की विवेचना की गयी है। गीता के अनुसार आचारशास्त्र का आधारभूत प्रश्न यह है कि मनुष्य को कर्म का परित्याग कर देना चाहिए अथवा परम ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी कर्म करते रहना चाहिए। संन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही नैतिक जीवन की पुरातन तथा प्रामाणिक पद्धतियाँ हैं, यद्यपि गीता के अनुसार लोक संग्रह की दृष्टि से कर्मयोग का मार्ग श्रेष्ठतर है। शंकर के मत में मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से होती है। अतः जब कर्म मोक्ष के लिए अनावश्यक है, तो ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त उसका परित्याग कर देना चाहिए। किन्तु गीता के अनुसार केवल आन्तरिक संन्यास आवश्यक है। गीता के मत में विवेकी पुरुष को परम ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी लोक कल्याण के लिए कर्म करते रहने चाहिए।

कृष्ण ने अर्जुन को कर्म में नियोजित किया, इसी से स्पष्ट है कि कृष्ण कर्म का परित्याग करने के पक्ष में नहीं थे। प्राचीन भारत के इतिहास से भी यही प्रमाणित होता है। यदि शुक और याज्ञवल्क्य ने संन्यास का मार्ग अपनाया था तो दूसरी ओर जनक, कृष्ण आदि ने कर्मयोग का अनुसरण किया था। व्यास भी कर्म करते रहे थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही मार्ग पुरातन हैं। गीता का मत स्पष्ट है कि परम ज्ञान पर आधारित निष्काम कर्म ही मोक्ष का सर्वोत्तम मार्ग है। ज्ञान से शून्य यज्ञादि कर्म के द्वारा, जिसका समर्थन मीमांसकों ने किया है, मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकता, उससे केवल स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त कर्म का पूर्ण त्याग असम्भव भी है। ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी विवेकी पुरुष को शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। जब शरीर की भूख उसे भिक्षा जैसे तुच्छ कर्म करने के लिए प्रेरित करती है तो फिर कर्म के परित्याग के लिए कोई बुद्धिसंगत औचित्य नहीं हो सकता।[12] इसलिए मनुष्य को पूर्ण निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, और साथ ही साथ निरन्तर ब्रह्म के ध्यान में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना चाहिए। ब्रह्माण्ड की सत्ता का चक्र ईश्वरीय यज्ञ के सदृश है। स्वयं ईश्वर ने इसकी सृष्टि की है, और इसका उद्देश्य जाना नहीं जा सकता। इसलिए मनुष्य को अपना कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। कर्म तथा उसके परिणामों की शृंखला अपरिहार्य है। इसलिए विवेकी पुरुष के लिए आवश्यक है कि ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त भी कर्म करता रहे। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसे कर्म के फलों के सम्बन्ध में पूर्णतः निरासक्त हो जाना चाहिए। उसे कर्म का परित्याग नहीं करना है। विवेकी पुरुष को अपने कर्मों के द्वारा लोक कल्याण के काम में योग देना है। पूर्ण निरासक्त और निष्काम भाव से किया गया कर्म ही परम पुरुषार्थ है। विवेकी के लिए परोपकार और मानव सेवा नैतिक अधिबन्धन नहीं होते, वे तो परम तत्व के साथ एकात्म्य के साक्षात्कार की भावना से स्वभावतः प्रसूत होते हैं। बुद्धिमान लोग श्वेतकेतु की भाँति सामाजिक परिवर्तनों का भी सूत्रपात कर सकते हैं। जीवन मुक्त की स्थिति की प्राप्ति आध्यात्मिक साधना की परिणति है। बुद्धिमान को ईश्वर की भाँति लोक संग्रह के लिए कर्म करना चाहिए। गीता का बल इस बात पर है कि विवेकी को भी निर्धारित कर्म करने चाहिए। गीता का किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था से लगाव नहीं है, यद्यपि उस युग के हिन्दू समाज के सन्दर्भ में चार वर्णों के कर्तव्य ही आदर्श थे जिनका अनुसरण करना आवश्यक था। किन्तु गीता का सिद्धान्त सार्वभौम है, वह किसी सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नहीं है। प्रमुख धारणा यह है कि मनुष्य को ईश्वरार्पण की भावना से और निरासक्त होकर कर्म करना चाहिए। गीता का सम्बन्ध भागवत धर्म से है जिसमें प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया गया है। शंकर स्मार्त सम्प्रदाय के थे। यह सम्प्रदाय सिखाता है कि एक विशिष्ट अवस्था के बाद मनुष्य को कर्म का परित्याग कर देना चाहिए। इसके विपरीत गीता ईशोपनिषद के इस उपदेश का समर्थन करती है कि मनुष्य को जीवन पर्यन्त निरासक्त भाव से कर्म करना चाहिए। तिलक ने वेदान्त सूत्रों (3, 4, 26 और 3, 4, 32-35) की व्याख्या अपने ढंग से की है और सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य के सामने संन्यास और कर्मयोग दो वैकल्पिक जीवन-प्रणालियाँ होती हैं। स्मार्त सम्प्रदाय कर्मों के परित्याग पर बल देता है और गीता कर्म-फल की इच्छा के परित्याग का उपदेश देती है। मनु और याज्ञवल्क्य कर्मयोग को संन्यास का विकल्प मानते थे, किन्तु आपस्तम्ब तथा बौधायन के धर्म सूत्रों में गृहस्थ जीवन को प्राथमिकता दी गयी है और कहा गया है कि गृहस्थ धर्म का समुचित रीति से पालन करने पर अन्त में मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सकता है। संन्यास-मार्ग में विश्वास करने वालों ने मन के शुद्धीकरण पर बल दिया है और कहा है कि आध्यात्मिक अनुभूति के प्राप्त कर लेने के उपरान्त कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु कर्मयोग सम्प्रदाय का कहना है कि कर्म केवल मन को शुद्ध करने के लिए नहीं किये जाते, बल्कि सृष्टि-क्रम को बनाये रखने के लिए भी किये जाते हैं। अतः अन्तिम ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के उपरान्त भी उनका परित्याग करना उचित नहीं है। तिलक ने

---

12 गीता-रहस्य (हिन्दी संस्करण) पृ. 318, अध्याय 11।

अपने गीता-रहस्य में कर्मयोग और संन्यास के भेद को स्पष्ट करने के लिए गीता के निम्नलिखित श्लोक का अवलम्ब लिया है :

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। (3, 3)

गीता-रहस्य के बारहवें अध्याय में तिलक ने इस बात का विवेचन किया है कि पूर्ण ज्ञान (सिद्धावस्था) की प्राप्ति के उपरान्त कर्म की क्या प्रणाली और प्रक्रिया होनी चाहिए। उनका कथन है कि पूर्ण पुरुष को भी दुष्टों तथा कामी पुरुषों से संकुल इस जगत में रहना पड़ता है। यदि पूर्ण पुरुष को आध्यात्मिक तथा नैतिक प्राणियों के समाज में रहना पड़े तो उसके लिए नैतिक नियमों का पूर्ण कठोरता के साथ पालन करना सम्भव हो सकता है। किन्तु इस बात का सदैव भय रहता है कि पापी और दुष्टात्मा उसके जीवन के लिए ही संकट उत्पन्न कर दें, इसलिए आवश्यक है कि वह अहिंसा, क्षमा आदि गुणों को निरपेक्ष रूप में स्वीकार न करे। गीता के अनुसार तत्व की बात यह है कि मनुष्य को अपने में अध्यात्मोन्मुख अनासक्ति की भावना का विकास करना चाहिए; वाह्य कार्य का, चाहे वह हिंसात्मक हो और चाहे अहिंसात्मक, इतना महत्व नहीं है। यदि विवेकी पुरुष दुष्टों का प्रतिरोध करता है तो उसमें कोई पाप नहीं है। गीता मानसिक अहिंसा का उपदेश देती है, न कि शारीरिक प्रतिरोध के अभाव का। आत्म-संरक्षण[13] का प्राकृतिक अधिकार हर स्थिति में मान्य है, किन्तु ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब विवेकी पुरुष अपने धर्म अथवा देश के लिए अपना बलिदान करना ही उचित समझें। संसार विश्वराज्यवाद और अन्तरराष्ट्रवाद के आदर्शों को साक्षात्कृत करने की दिशा में अग्रसर हो रहा है। तिलक के अनुसार मुख्य वस्तु आध्यात्मिक चेतना है, वास्तविक कर्तव्यों का परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार निरूपण किया जा सकता है। गीता का परम उपदेश है कि मनुष्य को साम्यबुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, और जितने ही अधिक व्यक्ति इसको प्राप्त कर लेंगे उतना ही संसार सतयुग की ओर अग्रसर होता जायगा।

गीता-रहस्य के तेरहवें अध्याय में भक्ति मार्ग का विवेचन है। भक्ति अध्यात्म का एक अंग है। एक साधन के रूप में भक्तिमार्ग भी ईश्वर साक्षात्कार तथा स्थितप्रज्ञ की अवस्था की ओर अग्रसर होने में सहायता करता है। किन्तु भक्ति ज्ञान प्राप्त करने का एक साधन है, वह स्वयं अन्तिम लक्ष्य अथवा निष्ठा नहीं है। गीता के अनुसार ज्ञान तथा कर्मयोग दो निष्ठाएँ हैं। किन्तु भक्ति एक स्वतन्त्र निष्ठा नहीं है। पूर्णता की स्थिति की परिणति का नाम ही निष्ठा है। इसलिए गीता केवल ज्ञान और कर्मयोग दो को निष्ठाएँ मानता है, क्योंकि सिद्धावस्था की प्राप्ति के बाद वे दोनों जीवन की प्रणालियाँ हो सकती हैं, किन्तु भक्ति इस प्रकार का लक्ष्य नहीं बन सकती। भक्ति मार्ग उस 'उपासना' की धारणा का विकसित रूप है जिसका उपनिषदों में उल्लेख आता है। गीता में भक्ति को महत्व दिया गया है, इसलिए वह इतनी लोकप्रिय बन गयी है। गीता में भक्ति पर जो बल दिया गया है उससे उपनिषदों की शिक्षाओं का रूप अधिक लोकतांत्रिक हो गया है, क्योंकि सभी लोग भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं, किन्तु सब लोग तत्वशास्त्र की सूक्ष्म बातों को नहीं समझ सकते। भक्ति के द्वारा ईश्वर के साथ एकात्म्य स्थापित किया जा सकता है, इस धारणा ने देश की जनता के आध्यात्मिक पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

गीता-रहस्य के चौदहवें अध्याय में गीता के अठारह अध्यायों की पारस्परिक संगति का विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि एक अध्याय और दूसरे के बीच तार्किक संगति है। पन्द्रहवें अध्याय में अन्तिम निष्कर्ष दिया गया है। तिलक के अनुसार गीता का सार ज्ञानभक्ति-

---

13 यह ध्यान देने की बात है कि तिलक प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, और आत्मा की तात्विक एकता के सिद्धान्त को उसका आधार मानते हैं। उनके शब्द हैं, 'तथापि सर्वांभूतीं एकच आत्मा असल्यामुले प्रत्येकास या जगांत सुखाने रहण्याचा सारखाच नैसर्गिक हक्क असतो।' उनका कहना था कि किसी व्यक्ति अथवा समाज को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह प्राकृतिक अधिकार को, जो इतने सार्वभौम महत्व का है, कुचल दे।

समन्वित कर्मयोग है।[14] इस अध्याय में तिलक ने गीता की आचारनीति की कांट और ग्रीन की नैतिक शिक्षाओं से तुलना की है। तिलक का कथन है, "यद्यपि कांट ने सब प्राणियों में आत्मा की एकता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी उसने शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि (वासनात्मिका बुद्धि) के प्रश्न पर सूक्ष्मता के साथ विचार करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं : (1) किसी कार्य के नैतिक मूल्य को उसके वाह्य परिणाम के आधार पर निर्धारित नहीं किया जाना चाहिए अर्थात् नैतिक मूल्य निर्धारित करते समय यह नहीं देखना है कि उस काम से कितने लोगों को और किस सीमा तक लाभ होगा। अपितु मूल्य निर्धारित करते समय यह देखना चाहिए कि कर्ता की व्यावहारिक बुद्धि (वासना) कहाँ तक शुद्ध है। (2) किसी मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि (वासनात्मिका बुद्धि) को शुद्ध, निष्कलंक और स्वतन्त्र तभी माना जा सकता है जब वह इन्द्रिय-सुख में लिप्त न होकर निरन्तर शुद्ध बुद्धि के नियन्त्रण में रहे अर्थात् वह कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में शुद्ध बुद्धि के आदेशानुसार काम करे। (3) जिस मनुष्य की इच्छा इन्द्रिय-निग्रह के परिणाम-स्वरूप शुद्ध हो चुकी है उसके लिए नैतिकता के नियमों को निर्धारित करना आवश्यक नहीं है, ये नियम केवल साधारण व्यक्तियों के लिए हैं। (4) जब इच्छा इस प्रकार शुद्ध हो जाती है तो जिस किसी काम की वह प्रेरणा देती है उसके पीछे यह भाव रहता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ यदि वही किसी ने मेरे साथ किया तो उसका क्या परिणाम होगा। और (5) इच्छा की शुद्धता अथवा स्वतन्त्रता की तब तक व्याख्या नहीं की जा सकती जब तक कि मनुष्य कर्म के जगत को त्याग कर ब्रह्म के जगत में प्रविष्ट नहीं हो जाता। किन्तु आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में कांट के विचार अपूर्ण थे। इसलिए ग्रीन ने यद्यपि वह कांट के सम्प्रदाय का था, अपने ग्रन्थ 'प्रोलीगोमेना टु एथिक्स' (अनुभाग 99, पृ. 174-79 और 223-32) में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि वह अगम्य तत्व, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, आंशिक रूप से पिण्ड (मानव-शरीर) की आत्मा के रूप में अवतरित होता है। आगे चलकर उसने निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये : (1) मानव-शरीर में व्याप्त उस शाश्वत तथा स्वतन्त्र तत्व (आत्मा) की उत्कट अभिलाषा होती है कि वह अपने सर्वाधिक व्यापक, सामाजिक तथा सर्वव्यापी स्वरूप को साक्षात्कृत करे। उसकी यह उत्कट इच्छा ही मनुष्य को शुभ कर्म करने के लिए बाध्य करती है। और (2) इस साक्षात्कार में ही मनुष्य का शाश्वत और अपरिवर्तनशील सुख निहित होता है, इसके विपरीत वाह्य वस्तुओं से प्राप्त सुख अस्थायी होता है। स्पष्ट है कि कांट और ग्रीन दोनों का यह दृष्टिकोण तत्वशास्त्रीय है, फिर भी ग्रीन ने अपने को शुद्ध बुद्धि के कार्यकलाप तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि उसने शुद्ध आत्मा को, जोकि पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में समान रूप से व्याप्त है, आधार मानकर कर्तव्य और अकर्तव्य के बीच भेद तथा संकल्प की स्वतन्त्रता दोनों को उचित ठहराया है। यद्यपि पश्चिम के नैतिक दार्शनिकों के ये सिद्धान्त और गीता के सिद्धान्त एकरूप नहीं हैं, फिर भी दोनों के बीच विचित्र समानता देखने को मिलती है। गीता के ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं : (1) कर्ता की इच्छामूलक बुद्धि (वासनात्मिका बुद्धि) उसके वाह्य कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण होती है; (2) जब शुद्ध बुद्धि (व्यवसायात्मिका बुद्धि) आत्मनिष्ठ, संशयमुक्त और सम हो जाती है तो उसकी वासना बुद्धि भी शुद्ध और पवित्र हो जाती है; (3) स्थितप्रज्ञ, जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम और स्थिर हो चुकती है, स्वयं आचार के नियमों से परे पहुँच जाता है; (4) उसका आचरण तथा उसकी आत्मनिष्ठ बुद्धि से उद्भूत नैतिकता के नियम साधारण जनों के लिए प्रामाणिक और आदर्श बन जाते हैं; और (5) आत्मा के रूप में एक ही तत्व है जो पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में व्याप्त है, और पिण्ड में स्थित आत्मा अपने शुद्ध तथा सर्वव्यापी रूप को साक्षात्कृत करना चाहती है (यही मोक्ष है)। और जब मनुष्य इस शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है तो सब प्राणियों के प्रति उसकी दृष्टि आत्मोपम (जैसी कि अपने प्रति होती है) हो जाती है। फिर भी चूँकि वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, माया, संकल्प की स्वतन्त्रता, ब्रह्म तथा आत्मा का एकात्म्य, कार्यकारण आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त कांट और ग्रीन के सिद्धान्तों की तुलना में अधिक उत्कृष्ट और सुनिश्चित हैं, इसलिए गीता में वेदान्त और

---

14 बी. जी. तिलक, गीता-रहस्य (हिन्दी संस्करण), पृ. 416-14।

उपनिषदों की शिक्षाओं के आधार पर जिस कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है वह तत्वशास्त्रीय दृष्टि से अधिक स्पष्ट और पूर्ण है। इसलिए आधुनिक जर्मन वेदान्ती दार्शनिक आचार्य डौयसन ने अपनी पुस्तक (तत्वशास्त्र के तत्व) 'एलीमेंट्स ऑव मैटाफिजिक्स' में आचारनीति के सम्बन्ध में इसी पद्धति को स्वीकार किया है।[15]

3. गीता-रहस्य की सफलता के कारण

अपने प्रकाशन के समय से गीता-रहस्य ने इस देश के चिन्तन और आचरण पर गम्भीर प्रभाव डाला है। तिलक के मन में शंकर के प्रति गहरी श्रद्धा थी और वे उन्हें एक सूक्ष्मदर्शी तत्व-शास्त्री मानते थे, किन्तु उन्होंने उनके आचारनीतिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। शांकर सम्प्रदाय के अनेक विद्वानों ने तिलक के निष्कर्षों का खण्डन करने का प्रयत्न किया। वापट शास्त्री ने 'रहस्य खण्डन' और 'रहस्य परीक्षण' नामक दो ग्रन्थ लिखे। सदाशिव शास्त्री ने तिलक का मण्डन करने के लिए 'रहस्य दीपिका' लिखी। एक वार तिलक ने भी अपने आलोचकों की आपत्तियों का प्रत्युत्तर दिया। उन्हें अनेक पण्डितों और संन्यासियों से शास्त्रार्थ भी करना पड़ा और इन शास्त्रार्थों में वे अपने सिद्धान्तों पर पूर्णतः दृढ़ रहे।

तिलक के मन में गीता के लिए गम्भीर श्रद्धा थी। जीवन में उन्हें इससे परम सन्तोप और शान्ति मिली थी। अन्तिम समय में उन्होंने गीता के कुछ स्मरणीय श्लोकों का जप करते हुए इहिलीला समाप्त की। गीता में अपनी गम्भीर आस्था के कारण ही वे उसका इतना गूढ़ भाष्य प्रस्तुत कर सके। उनका भाष्य एक युगान्तरकारी ग्रन्थ माना जाता है। कर्मयोग की शिक्षा ने देश में प्रचण्ड कर्मवाद की एक लहर उत्पन्न कर दी और तिलक की गणना जगद्गुरुओं में की जाने लगी। गीता-रहस्य की रचना से पहले तिलक भारत के एक शक्तिशाली राजनीतिक नेता थे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त वे एक आचार्य से रूप में सम्मानित होने लगे। महात्मा गान्धी लिखते हैं, "गीता ने ही उन्हें इस योग्य वनाया कि वे अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और अध्ययन के वल पर एक चिरस्मरणीय भाष्य की रचना कर सके। उनके लिए गीता अगाध सत्य का भण्डार थी जिसको समझने में उन्होंने अपनी वुद्धि अर्पित कर दी। मेरा विश्वास है कि उनका गीता-रहस्य उनका अधिक स्थायी स्मारक सिद्ध होगा। जव स्वाधीनता-संग्राम सफलतापूर्वक समाप्त हो जायगा, उसके वाद भी उनका यह भाष्य जीवित रहेगा। उस समय भी उनके जीवन की निष्कलंक शुद्धता तथा गीता-रहस्य के कारण उनकी स्मृति सदैव ताजी रहेगी। न तो उनके जीवन-काल में कोई ऐसा व्यक्ति था और न आज है जिसको शास्त्रों का ज्ञान उनसे अधिक हो। गीता पर उनका भाष्य अद्वितीय है, और भविष्य में वहुत समय तक वना रहेगा। किसी भी व्यक्ति ने गीता तथा वेदों से उत्पन्न प्रश्नों पर इससे अधिक विशद शोध नहीं की है।"[16]

गीता-रहस्य के महात्म्य के दो मुख्य कारण हैं। प्रथम, श्रीमद्भगवद्गीता ऐसा ग्रन्थ है जिसे हिन्दू हृदय से प्रेम करता है। धार्मिक प्रवृत्ति के हिन्दू उसे ईश्वर के अवतार श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत मानते हैं। गीता उत्कृष्ट भक्ति, रहस्यवाद और आध्यात्मिक ज्ञान का उच्चतम कीर्तिस्तम्भ है। इसलिए उसका भाष्य सदैव ही लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है। द्वितीय, गीता-रहस्य में गम्भीर पाण्डित्य और उदात्त जीवन के अनुभवों का समन्वय है। तिलक संस्कृत धर्म-ग्रन्थों के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे अपने युग में भारत विद्या के सवसे वड़े विद्वान थे। उनका पाश्चात्य तत्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और सामाजिक चिन्तन पर भी अच्छा अधिकार था। पूर्वात्य तथा पाश्चात्य चिन्तन के ज्ञान की दृष्टि से वहुत कम लोग उनके समतुल्य होने का दावा कर सकते थे। शायद पॉल डौयसन, व्रजेन्द्रनाथ सील, आर्थर वी. कीथ को केवल उनके समकक्ष माना

---

15 वी. जी. तिलक, *Srimad Bhagavadgita Rahasya* (सुखथंकर द्वारा रचित हिन्दी अनुवाद), जिल्द 2, पूना, 1936, पृ. 679-81.

16 महात्मा गान्धी द्वारा वाराणसी तथा कानपुर में दिये गये भाषणों से। गीता-रहस्य के अंग्रेजी अनुवाद में उद्धृत।

जा सकता था।[17] तिलक का मस्तिष्क सूक्ष्मदर्शी और प्रतिभासम्पन्न था। वे गणितज्ञ भी थे और गम्भीर चिन्तन के अभ्यस्त थे। वे आचारनीति की जटिल समस्याओं का अद्भुत विश्लेषण कर सकते थे। उनमें समन्वय करने की क्षमता थी। वे भगवद्गीता, कांट तथा ग्रीन की आचारनीति का प्रभावकारी तुलनात्मक अध्ययन कर सकते थे। इस बहुमुखी बौद्धिक प्रतिभा के साथ-साथ उनका चरित्र दृढ़ तथा उदात्त था। भारतीयों को शुद्ध और साधु चरित्र वाले लोगों से स्वाभाविक प्रेम होता है। तिलक का निजी जीवन निष्कलंक था। इसलिए भारतीय जनता का एक बड़ा वर्ग उनका स्थायी भक्त बन गया था। गीता-रहस्य सूक्ष्म तथा व्यापक तत्वशास्त्र का ही एक ग्रन्थ नहीं है, अपितु उसके रचयिता को उस महान धर्मशास्त्र की शिक्षाओं में निरपेक्ष आस्था थी। तिलक ने गीता को बौद्धिक रूप से ही ग्रहण नहीं किया, अपितु उन्हें उसमें हार्दिक आस्था थी। तिलक का सम्पूर्ण जीवन गीता की शिक्षाओं से ओतप्रोत था। उन्होंने अपने देश की सेवा में यातनाओं और तपस्या का दीर्घ जीवन बिताया था। उस जीवन से प्रसूत विश्वास उनके इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हैं। गीता-रहस्य अरस्तू की 'निकोमैखियन एथिक्स', स्पिनोजा की 'एथिक्स' (नीतिशास्त्र), कांट की 'क्रिटिक ऑव प्रेक्टीकल रीजन' (व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा) और टी. एल. ग्रीन की 'प्रोलीगोमिना टू एथिक्स' की भाँति मौलिक ग्रन्थ नहीं है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू, स्पिनोजा, कांट तथा ग्रीन तिलक की तुलना में निश्चय ही कहीं अधिक सृजनात्मक थे। किन्तु उनकी तुलना में तिलक का दृष्टिकोण अधिक व्यापक था। उन्होंने पूर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों चिन्तनधाराओं के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाले। इसके अतिरिक्त वे एक कर्मठ राजनीतिक नेता थे, जबकि अरस्तू, स्पिनोजा, कांट और ग्रीन का व्यावहारिक राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। तिलक ने अपना सम्पूर्ण जीवन गीता की शिक्षाओं के अनुसार ढाल रखा था। यही कारण है कि भारतीय मानस के लिए उनके ग्रन्थ में विशिष्ट पवित्रता की आभा विद्यमान है। अपने राजनीतिक जीवन में तिलक को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कभी-कभी तो उनके विरुद्ध कार्य करने वाली शक्तियाँ अत्यन्त विकराल और प्रचण्ड थीं। किन्तु इन सबके बीच तिलक एक चट्टान की भाँति अडिग रहे, क्योंकि वे गीता के निष्काम कर्म के उस उपदेश के अनुयायी थे जिसका उन्होंने अपनी पुस्तक में विवेचन किया है। सुकरात की भाँति अरस्तू के लिए भी ज्ञान गुण है। मनुष्य के बौद्धिक ज्ञान का उसके चरित्र पर अवश्य प्रभाव पड़ता है और पड़ना चाहिए। रामतीर्थ का भी कहना है कि वेदान्त की शिक्षाओं का सार निर्भयता है। तिलक ने भगवद्गीता से निर्भय होकर स्वधर्म का पालन करने का पाठ सीखा था। वे परम भक्ति और निश्चल अध्यवसाय के साथ इस दर्शन का अनुसरण करते रहे। वस्तुतः गीता के सिद्धान्तों को अंगीकार करने के कारण उनका व्यक्तित्व एक विशेष ढाँचे में ढल गया था और रूपान्तरित हो गया था। गीता-रहस्य का भारतीय जीवन पर इतना स्थायी प्रभाव इसलिए है कि वह एक उच्चतम प्रकार के बौद्धिक और नैतिक व्यक्तित्व से उद्भूत हुआ है। सम्भवतः ग्रन्थ का रचना-काल भी उसकी श्रेष्ठता का एक कारण है। तिलक ने उसकी रचना उस समय की थी जब वे मांडले की जेल में छह वर्ष के कारावास का दण्ड भोग रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवद्गीता के महानतम आचार्य श्रीकृष्ण के जन्म और गीता-रहस्य के जन्म के बीच महत्वपूर्ण साहश्य था। श्रीकृष्ण कारागार में उत्पन्न हुए थे और गीता-रहस्य भी मांडले के कारागार में लिखा गया था। भारतीय मानस इस स्पष्ट संयोग के महत्व को समझने में कैसे चूक कर सकता था। यही कारण था कि गीता-रहस्य ने हिन्दुओं की हार्दिक भावनाओं को इतना अधिक प्रभावित किया। गीता पर अगणित भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं, किन्तु उनमें से बहुत कम ऐसी हैं जिन्हें इतनी ख्याति और लोकप्रियता उपलब्ध हुई हो और जिनमें प्रभाव डालने की इतनी स्थायी शक्ति रही हो जितनी कि तिलक की पुस्तक में है।

---

17 मांडले में तिलक ने 10 पुस्तकें लिखने की योजना बनायी थी : (1) हिन्दू धर्म का इतिहास; (2) भारतीय राष्ट्रवाद; (3) प्राक् महाकाव्यकालीन भारत का इतिहास; (4) शांकर दर्शन (भारतीय अद्वैतवाद); (5) प्रान्तीय प्रशासन; (6) हिन्दू विधि; (7) अत्यणु कलन के सिद्धान्त; (8) गीता-रहस्य; (9) शिवाजी का जीवन; और (10) कल्डिया तथा भारत।

4. गीता-रहस्य के गुण

(1) जब से देश में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था तब से धार्मिक और नैतिक जीवन का सार यह समझा जाने लगा था कि मनुष्य सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की आवश्यकताओं और दायित्वों से मुक्त होकर सन्यासी का जीवन बिताये और दार्शनिक चिन्तन में तल्लीन रहे। आधुनिक युग में दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, श्रद्धानन्द तथा महर्षि रमण ने भी संन्यास और तपस्या के जीवन को ही श्रेष्ठ माना है। यह सत्य है कि इन आधुनिक संन्यासियों में से किसी ने भी सामाजिक तथा राजनीतिक कर्म का निषेध नहीं किया था। मध्ययुग के महान आचार्यों ने संन्यास की महत्ता को बढ़ा-चढ़ाकर बतलाया था। उनके प्रभाव के कारण सांसारिक जीवन के प्रलोभनों और दायित्वों का परित्याग करना धार्मिक जीवन का परम सार माना जाने लगा था। गीता-रहस्य की विशेषता यह है कि उसने सुदूर अतीत में जाकर महाभारत के आदर्श को ग्रहण किया है और गत्यात्मक निष्काम कर्म की भावना को अपनाया है। तिलक ने लोगों को कृष्ण के जीवन से पाठ सीखने के लिए बार-बार प्रेरित किया है। क्या कृष्ण ने गृहस्थ-जीवन का परित्याग किया ? नहीं। कृष्ण अपने को कर्म में उस समय भी नियोजित करते हैं जबकि तीनों लोकों में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका उन्हें प्रलोभन हो सके। इस प्रकार स्वयं कृष्ण ने कर्मयोग के मार्ग पर ईश्वरीय मुहर लगा दी है। तिलक का तर्क मौलिक है। उन्होंने गीता के मूल पाठ के सम्बन्ध में थोथा विवेचन नहीं किया है। उनका लोगों से कहना है कि हमें अपना ध्यान उस सन्देश पर केन्द्रित करना चाहिए जो स्वयं गीता के उपदेष्टा के जीवन से मिलता है। अर्जुन भी, जिसके लिए मूलतः गीता का सन्देश दिया गया था, संन्यास ग्रहण नहीं करता। अतः सन्यास की प्रशंसा में जो अतिशयोक्तिपूर्ण बातें कही गयी हैं उनका विशेष महत्व नहीं है। गीता-रहस्य की विशेषता यह है कि उसमें प्रवृत्ति अर्थात् निष्काम कर्म के उस आदर्श का पुनः प्रभावोत्पादक ढंग से प्रतिपादन किया गया है जिसका अनुसरण जनक, राम और भीष्म ने किया था।

(2) आधुनिक युग में नैतिक सापेक्षतावाद का सर्वत्र बोलबाला है। यद्यपि आज कुत्सित सुखवाद अथवा प्रवुद्ध सुखवाद का खुलकर समर्थन करने वाले नहीं हैं, फिर भी नैतिक निरपेक्षता-वाद के सिद्धान्त को चुनौती दी जा रही है। गीता-रहस्य परब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करके चलता है और उसी के आधार पर नैतिक व्यवस्था का निर्माण करता है। कभी-कभी कहा जाता है कि एक अनन्य आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार करना एक प्रकार से नैतिक भेदों का निषेध करना है। कहा जाता है कि नैतिक भेद दो ही परिस्थितियों में युक्तिसंगत माने जा सकते हैं— एक तो उस स्थिति में जब मान लिया जाय कि विश्व शुभ और अशुभ के बीच द्वन्द्वात्मक संघर्ष का क्षेत्र है, और दूसरे यदि एक सगुण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय। यह तर्क सूक्ष्म तथा सबल है। शुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से नैतिक मूल्यों का तब तक समर्थन करना कठिन है जब तक कि यह न मान लिया जाय कि स्वयं ईश्वर उन मूल्यों का परिरक्षण करता है। यदि परम सत् (परब्रह्म) अतिनैतिक (नैतिकता से परे) है तो फिर नैतिक कर्म की प्रेरणा बहुत कुछ दुर्बल हो जाती है। तिलक का तर्क है कि यद्यपि नैतिक भेद भौतिक जगत में ही लागू होते हैं, किन्तु इससे उनके मूल्य का निषेध नहीं हो जाता, क्योंकि विश्व स्वयं ईश्वर की सृष्टि है और उसके परिरक्षण के लिए वह स्वय अवतार लेता है। यह तर्क भौतिकवादियों तथा प्रकृतिवादियों को रुचिकर नहीं लगेगा। किन्तु जिन्हें हिन्दू जीवन-दर्शन में आस्था है उन्हें यह तर्क बहुत आकृष्ट करता है। अपने लोकातीत रूप में परम सत् (परब्रह्म) शुभाशुभ के भेद से भले ही परे हो, किन्तु नैतिक द्वैत से पूर्ण यह जगत भी उसे प्रिय है। इसलिए नैतिक भेदों का भी आध्यात्मिक महत्व है, और उनका भी ईश्वर से सम्बन्ध है।

(3) गीता-रहस्य के 'सिद्धावस्था और व्यवहार' शीर्षक तेरहवें अध्याय में तिलक ने एक सन्तुलित (सम) जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है। उसमें उन्होंने आध्यात्मिक प्रत्ययवाद और सामाजिक यथार्थवाद का समन्वय किया है। इस अध्याय में जीवन-दर्शन की समस्याओं की विवेचना की गयी [illegible]। तिलक उस आदर्श पुरुष के जीवन को श्रेष्ठ और महान मानते हैं जिसने पूर्ण साम्यावस्था [illegible] प्राप्त कर ली है, जो ब्रह्मनिष्ठ है, जो सांख्य दर्शन में वर्णित तीन गुणों के द्वैत तथा

संघर्षों से ऊपर उठ चुका है, जो सर्वोच्च अर्थ में विवेकी और ईश्वर-भक्त है। किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी अन्तर्विरोधों, वर्गगत ईर्षा-द्वेष और घृणा तथा अहंकारमूलक विकृतियों के इस जगत में जीवन-यापन करना पड़ता है। स्थितप्रज्ञों के पूर्ण समाज में दुर्बलों की रक्षा के कर्तव्य की आवश्यकता भले ही न हो, किन्तु इस *अपूर्ण जगत में क्षत्रिय के कार्य आवश्यक* हैं। इसलिए हिन्दुओं के धर्म-शास्त्रों ने तथा प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में राज्य के लिए सैनिकों की आवश्यकता को स्वीकार किया है। किन्तु वे कॉम्त और स्पेंसर की भाँति राष्ट्रवाद को उच्चतम राजनीतिक आदर्श नहीं मानते। उनका आग्रह है कि मनुष्य को सर्वभूतात्मैक्य वुद्धि को ग्रहण करना चाहिए। तिलक के अनुसार साम्य वुद्धि कर्मयोग का सार है।

(4) तिलक का यह कथन सर्वथा सत्य है कि गीता का दृष्टिकोण कांट के दृष्टिकोण से अधिक आध्यात्मिक है। कांट के अनुसार नैतिकता का प्रतिमान यह है कि मनुष्य की स्वतःप्रेरित इच्छा विवेक के उस आदेश की ओर उन्मुख हो जो कर्म की कसौटी को सार्वभौम रूप देता है। इसके विपरीत गीता का आग्रह है कि मनुष्य को अपने कार्यों को ईश्वर को अर्पित करके अपने मन और वुद्धि को पूर्ण रूप से शुद्ध करना चाहिए। गीता का परम नैतिक आदेश यह है कि मनुष्य व्यवसायात्मिका वुद्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

5. तिलक द्वारा की गयी गीता की व्याख्या के दोष

(1) मुझे गीता-रहस्य की आधारभूत दुर्बलता यह मालूम पड़ी है कि सम्भवतः तिलक ने गीता की मुख्य समस्या की गलत व्याख्या कर डाली है। हमें दो नतिक प्रश्नों को एक दूसरे से पृथक करना है : (क) क्या कर्म मोक्ष का प्रमुख मार्ग है अथवा गौण ? (ख) क्या स्थितप्रज्ञ के लिए भी अपने को कर्म में नियोजित करना आवश्यक है ? मेरे विचार में प्रथम समस्या गीता की आधारभूत समस्या है। कुछ सम्प्रदायों का मत है कि ईश्वर का साक्षात्कार ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है। उनका कहना है कि परम सत्य को साक्षात्कृत करने का एकमात्र उपाय इस बात का ज्ञान है कि सम्पूर्ण सृष्टि में आधारभूत एकता है, और परब्रह्म ही परम सत्ता है। इस सम्प्रदाय का वल इस बात पर है कि परब्रह्म का ध्यान किया जाय और संन्यास तथा आत्म-निग्रह के मार्ग का अनुसरण किया जाय। जैसा कि मैंने समझा है गीता बार-बार इस बात पर वल देती है कि निष्काम कर्म परब्रह्म को साक्षात्कृत करने का एक स्वतन्त्र मार्ग है। कर्मयोग का अनुसरण करके परम सत्ता को जाना जा सकता है। मेरे विचार में गीता की मुख्य समस्या ईश्वर-साक्षात्कार की समस्या है। अर्जुन उस समय भी मुमुक्षु था। उसे परम ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी थी। इसलिए गीता का आग्रह है कि कर्म ही सिद्धि का मार्ग है। दूसरे शब्दों में गीता की समस्या तत्वशास्त्रीय है अर्थात् परम सत् का साक्षात्कार करना। गीता में बार-बार कहा गया है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म का मार्ग उतना ही शक्तिशाली और प्रभावकारी है जितना कि संन्यास और चिन्तन का मार्ग, और कभी-कभी गीता में कर्मयोग को कर्म संन्यास से श्रेष्ठ वतलाया गया है। तिलक ने गीता की इस आधारभूत समस्या को उलट दिया है। उन्होंने गीता को आचारनीति (नीतिशास्त्र) का ग्रन्थ माना है और कहा है कि आध्यात्मिक खोज की समस्या नैतिक समस्या की तुलना में गौण है। वे गीता को आध्यात्मिक आचारनीति की पुस्तक मानते हैं। उनके अनुसार उसमें इस वात पर वल दिया गया है कि स्थितिप्रज्ञ के लिए लोक-संग्रहार्थ कर्म करना आवश्यक है। तिलक ने अपने इस दृष्टिकोण को अत्यधिक वढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है और यहाँ तक कह दिया है कि नैतिक कर्म की आधारभूत आवश्यकता साम्य वुद्धि (व्यवसायात्मिका वुद्धि) को प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में तिलक की दृष्टि में आध्यात्मिक चिन्तन परम लक्ष्य नहीं है, वल्कि वह कर्मयोग को सम्पादित करने की एक प्रणाली है। मेरे विचार में यह कहना कि गीता आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर आचारनीति का ग्रन्थ है, उस पुस्तक की प्रमुख भावना का उचित मूल्यांकन नहीं है। मेरा पुनः आग्रह है कि गीता की आधारभूत समस्या यह नहीं है कि स्थितप्रज्ञ को कर्म करना चाहिए अथवा नहीं; वल्कि उसकी मूल समस्या यह है कि कर्म ईश्वर-साक्षात्कार का एक स्वतन्त्र मार्ग हो सकता है अथवा नहीं। यह प्रश्न आधारभूत और मुख्य है। मेरे विचार में गीता की आधारभूत समस्या को स्पष्ट रूप से समझ लेना अत्यन्त

आवश्यक है। यदि हम गीता को महाभारत की परम्परा के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करें तो यह अधिक युक्तिसंगत जान पड़ेगा कि गीता में इसी प्रश्न की विवेचना की गयी है कि प्रवृत्ति परम सिद्धि का स्वतन्त्र मार्ग है अथवा नहीं। मेरे हृदय में तिलक के चरित्र तथा पाण्डित्य के लिए गम्भीर श्रद्धा है, फिर भी मुझे विवश होकर कहना पड़ता है कि उन पर टी. एच. ग्रीन की पद्धति का अतिशय प्रभाव था, और इसलिए एक अर्थ में उन्होंने गीता की शिक्षाओं को एक गलत दिशा दे दी है। ग्रीन की समस्या यह थी कि एक असीम आध्यात्मिक चेतना की धारणा के आधार पर एक आचारनीति का निरूपण किया जाय। इस प्रकार उसकी समस्या आचारनीतिक (नैतिक) थी। किन्तु गीता की प्रमुख समस्या शुभ कर्मों के द्वारा पुरुषोत्तम का साक्षात्कार करना है। इस प्रकार उसकी समस्या आध्यात्मिक है। दूसरे शब्दों में ईश्वर-साक्षात्कार केवल नैतिक कर्म का आधार नहीं है, अपितु वह शुभ कर्मों की परिणति है। इसलिए मेरा विचार है कि गीता आध्यात्मिक आचारनीति का ग्रन्थ नहीं है। वह मूलतः आध्यात्मिक तत्वशास्त्र का ग्रन्थ है। नैतिक कर्म बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु उसे परब्रह्म के साक्षात्कार का साधन मात्र मानना चाहिए।

(2) वेदान्त दर्शन के अनुयायी होने के नाते तिलक सत् तथा असत् (दृश्य जगत) का भेद स्वीकार करते हैं। वे मायावाद के सिद्धान्त को भी मानते हैं। किन्तु उन्होंने यह सिद्ध करने के लिए कोई मौलिक तर्क नहीं दिये हैं कि विश्व प्रतीति (आभास) मात्र है। वे हैकल और डाल्टन के सिद्धान्तों से परिचित थे। तिलक जैसे विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य वाले व्यक्ति से अपेक्षा की जाती थी कि वे भौतिकवाद और परमाणुवाद के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए कुछ मौलिक तर्क प्रस्तुत करेंगे। तिलक को उस विश्वरूप में विश्वास था जिसका दर्शन कृष्ण ने अर्जुन को कराया था। ब्रह्माण्ड-दर्शन की इस बात को विश्वास के रूप में स्वीकार करना सम्भव है। यह कहना भी सम्भव है कि यह सम्पूर्ण विषय परावौद्धिक (परामानसिक) है और अन्तःप्रज्ञात्मक रहस्यात्मक साक्षात्कार (समाधि) की अवस्था में उसका पुनः अनुभव किया जा सकता है। किन्तु संशयवादी और भौतिकवादी ग्यारहवें अध्याय के सम्पूर्ण विषय को काव्यात्मक भावातिरेक की उपज मानेगा। उसके तर्कों का उत्तर देना आवश्यक है। तिलक ने मायावाद के सिद्धान्त की व्याख्या परम्परात्मक शैली में की है। उन्होंने उसके विरुद्ध आधुनिक आलोचकों की जो आपत्तियाँ हैं उन्हें उठाने तथा उनका उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया है।

(3) तिलक एक गणितज्ञ और प्रभावशाली विधिवेत्ता थे। उनका दावा है कि उन्होंने निष्पक्ष भाव से गीता का अर्थ ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया है। किन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि उन्होंने कभी-कभी संन्यास-मार्ग में विश्वास करने वालों का उपहास करने में आनन्द लिया है। कहीं-कहीं उनका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण भी है। उदाहरण के लिए, उनका कहना है कि गीता में जहाँ भी 'योग' शब्द आया है वहाँ वह कर्मयोग के संक्षिप्त रूप में ही प्रयुक्त किया गया है।

6. निष्कर्ष

गीता-रहस्य एक चिरस्थायी ग्रन्थ है। वह मराठी भाषा में एक युगान्तरकारी कृति है। हिन्दी के दार्शनिक साहित्य में भी उसका उतना ही महत्व है। उसने सहस्रों राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं तथा आचार्यों के चिन्तन को प्रभावित किया है। वह प्रथम श्रेणी का दार्शनिक ग्रन्थ है। उसमें विचारों की गम्भीरता तथा शैली की सरलता का समन्वय है। उसकी ओजपूर्ण गद्य स्फूर्ति तथा प्रेरणादायक है। आशा की जाती है कि आधुनिक भारतीय चिन्तन के विद्यार्थी तथा शिक्षक उसकी ओर अधिकाधिक ध्यान देंगे। किन्तु मैं इसे गीता पर अन्तिम वाक्य नहीं मानता।[18] फिर भी वह कर्मयोग की अत्यधिक प्रभावकारी व्याख्या है। मेरा विचार है कि हिन्दुओं के महान् धर्मग्रन्थ भगवद्गीता के सम्पूर्ण महत्व को व्यक्त करने के लिए अधिक समीक्षात्मक, व्यापक तथा समन्वयात्मक ग्रन्थ की अभी भी आवश्यकता है।

---

18 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, 'Philosophy of History in the Bhagavadgita', *The Philosophical Quarterly*, अमलनेर, जिल्द 30, संख्या 2, जुलाई 1957, पृ. 93-114। भगवद्गीता के राजनीतिक दर्शन की व्याख्या के लिए देखिए, वी. पी. वर्मा, *Studies in Hindu Political Thought and Its Metaphysical Foundations*, वाराणसी, 1954, पृ. 124-33.

परिशिष्ट 6

विवेकानन्द का शक्तियोग

स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्त के महान् प्रतिपादक थे। निर्विकल्प समाधि में अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, ऐसा वे मानते थे और उनके शिष्यों तथा अनुयायियों की ऐसी धारणा है कि इस प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था जीवन में कम-से-कम दो बार उनको परमहंस राम कृष्ण की कृपा से प्राप्त हुई थी। किन्तु ब्रह्मज्ञानी और जीवन्मुक्त महात्मा होने के बावजूद भी स्वामी जी शक्ति की पूजा करते थे। यह कहना कि अपने अज्ञानी शिष्यों के सन्तोष के लिए वे ऐसा करते थे, ठीक नहीं होगा। स्वामीजी की निश्चित धारणा थी कि जब तक ब्रह्मवेत्ता शरीर धारण कर रहा है तब तक उसे धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करना चाहिए। काश्मीर यात्रा के प्रसंग में उन्होंने क्षीर-भवानी के मन्दिर में विशेषरूप से यज्ञानुष्ठान किया था। अपने मुसलमान नाविक की चार वर्षों की कन्या का वे उमा के रूप में पूजन करते थे। अनन्तर एक ब्राह्मण पण्डित की छोटी लड़की का भी उमा कुमारी के रूप में वे कुछ दिनों तक प्रति प्रातःकाल पूजन करते थे। इन तान्त्रिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में उनके शरीर को अत्यधिक कष्ट हुआ था।

विराट शक्ति की मातृरूप में स्वामी ने उद्भावना की है। उनका पूर्ण विश्वास था कि यही मातृशक्ति उनके जीवन को परिचालित कर रही है। मातृशक्ति की दुर्ज्ञेय क्रिया-प्रणाली को लक्ष्य कर अपनी एक कविता में वे लिखते हैं :

"स्यात् दीप्तिमान् ऋषि ने
जितना वह व्यक्त कर सका उससे अधिक देखा था ;
कौन जानता है, किस आत्मा को और कब
माता अपना सिंहासन बनायेगी ?
कौन विधान स्वतन्त्रता को बाँध सकता है ?
कौन पुण्य उसके (मातृशक्ति) ईक्षण को निर्दिष्ट कर सकता है,
जिसकी यदृच्छा ही सर्वोत्तम नियम है,
जिसका संकल्प दुर्लंघ्य कानून है ?"

उनके प्रसिद्ध "अम्बास्तोत्र" में भी मातृशक्ति का विराट स्तवन है। संसार रूपी जल उसके द्वारा उत्ताल तरंगों में प्रवाहित (आघूर्णित) है। अविराम गति से वह कर्मफल का विधान कर रही है क्योंकि कर्मपाश की धारयित्री वही है। उसके स्वतन्त्र इच्छापाश से धर्म, अकृत, कपाललेख, अदृष्ट, नियम आदि सभी नियन्त्रित होते हैं। वह अमित शक्तिधारिणी है और जन्म-मरण के प्रवाह की भी विधात्री है। शत्रु, मित्र, स्वस्थ, अस्वस्थ आदि में वह समभाव रखती है। मृत्यु और अमृतत्व भी उसकी दया पर आश्रित हैं। वह अभय की प्रतिष्ठा और जगत की एकमात्र शरण्या है। उसी के कलित विलास से मानव दुखसागर का संतरण कर संसिद्धि का लाभ करता है। इस अम्बास्तोत्र में उत्तंग व्यक्तित्व-सम्पन्न महाप्राण युगपुरुष विवेकानन्द का सरल मधुर भक्तिभाव प्रकटित है। शंकराचार्य जगत्प्रसिद्ध तत्ववेत्ता थे तथापि शिव के सम्बन्ध में रचित उनके मनोहारी श्लोक अतिशय लालित्यपूर्ण, भक्तिरसाप्लावित और मनोमुग्धकारी हैं। शक्ति की उपासना के लिए विरचित स्वामी विवेकानन्द का अम्बास्तोत्र भी बड़ा उदात्तभावनापूर्ण है।

काली को प्रलयकारिणी शक्ति के रूप में स्वामीजी ने एक कविता में मूर्त किया है। काली के आतंक से तारिकाएँ तिरोहित हो गयी हैं, मेघ सघन हो गये हैं, अन्धकार गहन हो चला है और आँधियाँ भीषण रव करती हुई भूचाल ला रही हैं, वृक्ष उखड़ गये हैं और जलधि नीलाभ गगन से प्रलयंकर आलिंगन करने के लिए कातर हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो भीषण निनाद करता हुआ कालमृत्यु चारों ओर नृत्य कर रहा है। ऐसी कराल वेला में स्वामीजी मातृशक्ति का अह्वान करते हैं। मातृशक्ति विपुल है। आतंक ही उसका नाम है, मृत्यु ही उसका निःश्वास है और उसका प्रादप्रक्षेप जगती को प्रनष्ट कर रहा है। वह सर्वनाशविधायिनी कराल कालशक्ति है। जो दुख और संकट को मधुर भाव से स्वायत्त कर सकता है, जो मृत्यु के दुर्धर्ष, भीषण, रोंगटे खड़े करने वाले रूप को अपने अंक में आश्लेष के लिए अपना सकता है उसी को मातृशक्ति काली अपना आश्रय प्रदान करती है।

"श्यामा का नृत्य" नामक एक दूसरी कविता में भी विवेकानन्द ने इसी आशय के भाव व्यक्त किये है। सुख की अभिलाषा और भोगोषणा माया के विलास हैं। इन वन्धनों को मानव मातृशक्ति के अनुग्रह से ही काट सकता है। मलयानिल के मधुर सुगन्ध से अपने शोध को सुवासित करने की मानव कल्पना करता है किन्तु करकापात और पंचभूतों के भीषण युद्ध की आशंका से ही वह काँप उठता है। फेनिल नदियों और झरनों का प्रवाह उसे प्रिय है, किन्तु अन्धकार जहाँ अन्धकार को उगल रहा हो वह वहाँ नहीं रहना चाहता। भावनाओं और उद्वेगों का अकृत्रिम विलास मानव के लिए मनोहारी है किन्तु जहाँ अविराम गति से रक्तपात हो रहा हो और अश्व, हाथी और पैदल सेना दुर्दान्त मृत्यु के गर्भ में प्रवेश कर रही हो, वहाँ से वह हट जाता है। पृथ्वी का स्वर्णाभ, पुष्पमण्डित, फलगुम्फित रूप उसके मनोविनोद का साधन है किन्तु जब प्रलयकालीन धरित्री संसार को धँसाकार जलते हुए पाताल की ओर प्रयाण करती है तब संशयग्रस्त मनुष्य विचलित हो उठता है। विवेकानन्द की ऐसी धारणा इस कविता में व्यक्त हुई है कि इस प्रकार की विभाग-करण आंशिक दृष्टि के अवलम्बन के कारण ही है। जब मानव ऐहिक भोगवासनाओं से ऊपर उठेगा तभी वह मातृशक्ति काली के स्वरूप को पहचानेगा।

स्वामीजी ज्ञानयोगी और अनासक्त कर्मयोगी थे किन्तु अपने ग्रन्थ "राजयोग" में उन्होंने तान्त्रिक शक्तिपूजकों के षट्चक्र का उल्लेख और समर्थन किया है। ये छः चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इनके परे सहस्रार चक्र है जिसका ज्ञान उन ओजसम्पन्न योगियों को होता है जिनकी सुषुम्ना नाड़ी विशुद्ध और निर्वन्ध होती है। तान्त्रिकों की भाँति विवेकानन्द कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में भी आस्थावान थे।

कतिपय विदेशी आलोचक शक्ति-पूजा का उपहास करते हैं। लिंगपूजन और योनिपूजन पर इनका आक्षेप है कि ये प्रजननेन्द्रिय के पूजन हैं और अतः दूषित हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि योनिपूजन अंग विशेष का निन्दनीय पूजन है, पश्चिमी आलोचक यह भी कहते हैं कि कौड़ी और शंख, योनि के प्रतीक के रूप में, कई स्थानों में पूजे जाते हैं। पश्चिमी आलोचकों और उनके भारतीय अन्धानुयायियों का यह भी कथन है कि शिव-शक्ति की पूजा अनार्यों अथवा द्रविड़ों में प्रचलित थी और उन्हीं से आर्यों द्वारा अपनायी गयी। स्वामी विवेकानन्द समस्त हिन्दू जनता के माने हुए आचार्य थे और इन आक्षेपों का उन्होंने जोरदार उत्तर दिया। पेरिस में सन् 1900 में जो विश्व-धर्म सम्मेलन हुआ था, वहाँ पाश्चात्य विद्याविशारदों को ललकारते हुए उन्होंने बताया कि लिंग पूजन, प्रजननेन्द्रिय का उपहासास्पद पूजन न होकर यज्ञस्तम्भ का पूजन है। उस सम्मेलन में जर्मन प्राच्यविद्याविद् गुस्टाव औपर्ट ने कहा था कि शालग्राम की पूजा स्त्री के उत्पादन-अंग का पूजन है। स्वामी विवेकानन्द ने अथर्ववेद का हवाला दिया जहाँ स्तम्भ या स्कम्भ को ब्रह्मस्थानीय माना गया है। अथर्ववेद के आशय को व्यक्त करने वाले प्रकरण लिंगपुराण में भी हैं। काली को अनार्यों की क्रूर, रक्तपिपासु देवी कहकर उपहास करने वाले ईसाइयों को स्वामीजी ने कड़ी फटकार दी और कहा कि भारतीय संस्कृति के प्रसार के क्रम में यही काली और उमा, ईसा मसीह की माता कन्या मेरी के रूप में पूजित हो रही है। आर्य और द्रविड़ के नस्ल या प्रजाति (रेस) सम्बन्वी अर्थ को न ग्रहण कर स्वामीजी समस्त हिन्दुओं को आर्य मानते थे, भले ही मेकडोनल, गफ और अन्यों को

इससे सहमति न हो। ईसाइयों ने इस बात का जोरदार प्रचार किया कि उत्तरी भारत के हिन्दुओं के पूर्वज पश्चिमी एशिया या मध्य यूरोप से आये। इसमें उनकी राजनीतिक चाल थी क्योंकि इससे वे हिन्दुओं की राजनीतिक दृढ़निष्ठा को शिथिल करना चाहते थे। जब पश्चिमी विचारक ऐसा मानते हैं कि समस्त मानवों का क्रमशः लंगूरों से ही विकास हुआ है, तब उनकी दृष्टि में आर्य, द्रविड़, कोल आदि के अन्तर का इतना आग्रह नहीं रहना चाहिए। अपने ग्रन्थ "प्राच्य और पाश्चात्य" में विवेकानन्द ने नस्ल की दृष्टि से समस्त हिन्दुओं को एक ही माना है। स्वामीजी के प्रयत्न की महत्ता तब विदित होती है जब आज के आन्दोलनों की तात्विक उग्रता को हम देखते हैं। आर्चिबाल्ड एडवर्ड गफ नामक विद्वान ने अपने ग्रन्थ "फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स" में लिख मारा कि ब्राह्मणों में आर्यों के अतिरिक्त मंगोल तातारों और हब्शिवत् (निग्रोयाड) लोगों का रक्त प्रवाहित हो रहा है। दक्षिण भारत में आर्य और द्रविण का पृथक्करण इतना घर कर गया है कि वे रक्तपात करने पर भी उतारू हैं। इस पृष्ठभूमि में स्वामीजी के कथन का वैशिष्ट्य हमारे ध्यान में आता है कि समस्त हिन्दू आर्य हैं और इनके प्राचीन ग्रन्थ इसी आशय की घोषणा करते हैं। विवेकानन्द की ऐसा मान्यता थी कि यूरोपीय लोग खशों के वंशज हैं। 'खश' अशिक्षित आर्य कबीले को कहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द सर्वदा यह चाहते थे कि विदेशियों की आलोचनाओं और आक्रमणों से समस्त हिन्दू जाति का संगठन टूटने न पाये। वे दुखवाद के आलिंगन के बदले आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और "स्वयमेव मृगेन्द्रता" के शक्तियोग के समर्थक थे। भौतिकवाद में रमण करने के बदले आध्यात्मिक वेदान्त की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देने का उनका जोरदार प्रस्ताव था। सदियों से पीड़ित और अपमानित हिन्दुओं को शक्तियोग के महामन्त्र से दीक्षित करना ही स्वामीजी की कविताओं और व्याख्यानों का उद्देश्य है। जब शक्तियोग की आराधना में हिन्दू जाति लगेगी तभी आपस के अनेक भेदकारी बन्धन समाप्त होंगे और एक स्वस्थ राष्ट्र की स्थापना हो सकेगी।

वस्तुतः शक्तिपूजा का वामाचार या कौलाचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। शक्तिपूजा विशुद्धि का निर्मल मार्ग है। विवेकानन्द की ऐसी धारणा थी कि मूर लोगों ने स्पेन के ऊपर अपने राज्यकाल में पश्चिमी सभ्यता में शक्तिपूजा का सूत्रपात किया। बाद में जब मूर लोगों ने शक्ति-पूजा को छोड़ दिया तब उनका पतन हुआ। भारतीय संस्कृति में उमा, सीता, सावित्री और दम-यन्ती आदि पूज्य नारियों को जो महत्तम स्थान दिया गया है वह यहाँ की देव-संस्कृति का आधार-स्तम्भ रहा है। जब-जब इस आदर्श की उपेक्षा हुई और विलासवाद का आरम्भ हुआ तब यह देश रसातल को पहुँचा। विराट मातृशक्ति की व्यापकता को समझने वाला व्यक्ति ही सत्य और धर्म की महिमा को जानकर दृढ़व्रत रह सकता है। धर्म को भोगवाद का अस्त्र बनाना वह कदापि नहीं सह सकता। जो सत्य, धर्म और शिव की उत्कृष्टता व्यक्त कर सके और सर्वविध अभय का संचार कर सके वही सच्चा शक्तियोग है। इस शक्तियोग की साधना ही राष्ट्रधर्म और व्यापक मानव-धर्म है।

परिशिष्ट 7

विवेकानन्द : आधुनिक जगत के वीर-ऋषि

1. विवेकानन्द का व्यक्तित्व

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) का व्यक्तित्व शक्तिशाली, तेजस्वी तथा सर्वतोमुखी था। यद्यपि उनका शरीर खिलाड़ियों की भाँति गठीला और पुष्ट था फिर भी उन्हें प्लोटीनुस और स्पिनोजा की भाँति रहस्यात्मक अनुभूति थी तथा उस परमार्थ सत् (ब्रह्म) के साथ उनका सामंजस्य था जिसका विवेचन अद्वैतवादी वेदान्तियों ने किया है। साथ ही साथ वे एक मनीषी भी थे और अध्यात्मवादी वेदान्त के रहस्यों, यूरोपीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों से भली भाँति परिचित थे तथा मनुष्य के कष्टों का निवारण करने के लिए उनके मन में ज्वलन्त उत्साह था। जो व्यक्ति एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका की प्रथम ग्यारह जिल्दों (बीस में से) पर अधिकार कर लेने का पराक्रम दिखला सकता था उसके मन में असम्प्रज्ञात परमानन्दमय दिव्य अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव करने तथा उसमें निमग्न होने की उत्कृष्ट व्यग्रता थी। ब्रजेन्द्रनाथ सील ने प्रमाणित किया है कि विवेकानन्द प्रारम्भ से ही परम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए बेचैन रहते थे। यद्यपि स्वामीजी अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठित आचार्य थे फिर भी उनके व्यक्तित्व में भक्ति-भावना का प्राधान्य था जैसा कि माधव, वल्लभ आदि वेदान्त के पुरातन आचार्यों में देखने को मिलता था। विश्व उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जानता है जिसकी बुद्धि प्रकाण्ड थी और जिसने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति को भारत के पुनरुद्धार के कार्य में लगा दिया था।[1] वे भिक्षु, समाज को संजीवित करने वाले और मानव प्रेमी लोकाराधक थे। जैसा कि वे स्वयं कहा करते थे, उनकी इच्छा होती थी कि वे समाज पर प्रभंजन की भाँति टूट पड़ें। वे ईश्वरीय नगरी के तीर्थयात्री और दलितों के लिए संघर्ष करने वाले महान योद्धा थे। अतः स्वामीजी का व्यक्तित्व दो प्रकार से अद्भुत था—प्रथम उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, दूसरे उनका मन देश के जीवन में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक बुराइयों को देखकर छटपटाया करता था। उन्होंने संन्यास तथा समाजसेवा दोनों का उपदेश दिया। उनकी बौद्धिक दृष्टि बड़ी स्वच्छ थी और वे भारतीय इतिहास में व्यक्त विविध जीवनधाराओं को गहराई से देख और समझ सकते थे। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि उनके मन में ऋग्वेद से लेकर कालिदास, कांट और स्पेंसर तक प्रत्येक वस्तु स्पष्ट एवं स्वयं प्रकाशित

---

1 विवेकानन्द का राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति उनकी इस घोषणा से प्रकट होती है : "अगले पचास वर्ष के लिए····अन्य सब व्यर्थ के देवताओं को अपने मन से निकाल दो। यही एकमात्र देवता है जो जाग्रत है।····सर्वत्र उसी के हाथ, सर्वत्र उसी के पैर, सर्वत्र उसी से कान हैं, और वह हर वस्तु को आच्छादित किये हुए है। अन्य सब देवता सो रहे हैं। हम व्यर्थ के देवताओं का अनुगमन कर रहे हैं, किन्तु उस देवता की, उस विराट की जो हमें अपने चतुर्दिक दिखायी देता है, हम पूजा नहीं करते।····सबसे पहली पूजा उस विराट की पूजा है—उनकी जो हमारे चारों ओर हैं।····ये सब हमारे देवता हैं—ये मनुष्य तथा पशु—और पहले देवता जिनकी हमें आराधना करनी है हमारे देशवासी हैं।····" (*The Future of India*)

थी।[2] उनका दावा था कि उन्होंने लोकातीत सत्य का साक्षात्कार कर लिया था, फिर भी वे सिंह के से पराक्रम के साथ कार्य करने के लिए उद्यत रहते थे। उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता था कि उनकी आत्मा सांख्य के 'पुरुष' की भाँति शान्त थी, अपितु वह वैशेषिक के आत्मन् और उपनिषदों के उस आत्मन् के सदृश सक्रिय प्रतीत होती थी जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को स्फूर्ति और प्राण देने वाला है। ऐसा लगता था कि उनके तेजस्वी व्यक्तित्व में महाभारतकालीन शूरवीरों और मौर्य तथा गुप्त युगों के हिन्दू साम्राज्यवाद के प्रवर्तकों के 'वीर्य' और 'ओजस्' तथा वेद और वेदान्त के प्राचीन ऋषियों के 'तेजस्' का समन्वय था। यही कारण था कि उन्तालीस वर्ष के अल्प जीवन में स्वामीजी चमत्कार कर दिखलाने में समर्थ हो सके।

इस 'हिन्दू नेपोलियन'[3]—स्वामी विवेकानन्द—ने अमरीकी महाद्वीप और यूरोप में जो विजय-यात्राएँ की थीं उन्होंने लोगों को दिखला दिया कि हिन्दुत्व एक बार पुनः शक्तिशाली हो गया है और वह विश्व में आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक-दार्शनिक प्रचार करने के लिए कटिबद्ध है। अमेरिका और यूरोप के नवीन साम्राज्यवाद को एशिया के इस प्रत्याक्रमण का सामना करना पड़ा। अतीत में एशिया ने यूरोप को धर्म तथा संस्कृति के मूल तत्व प्रदान किये थे (यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, रोम के धर्म पर पूर्वात्य प्रभाव, आइवेरी प्रायद्वीप में इस्लाम, तथा थ्यूरो तथा इमर्सन पर वेदान्त का प्रभाव), और अब एशिया पुनः यूरोप को नैतिक प्रेरणा देना चाहता था। सितम्बर 1893 में शिकागो के विश्व-धर्म सम्मेलन में विवेकानन्द ने जो ओजस्वी भाषण दिये उन्होंने हमारी मातृभूमि को एक नया आत्मविश्वास प्रदान किया—ऐसा आत्मविश्वास स्वतन्त्र परराष्ट्र नीति का सच्चा पूर्वगामी हुआ करता है। ऋषियों के इस देश का यूरोपीकरण करने की कुटिल चाल को एक महान् चुनौती का सामना करना पड़ा। अतः विवेकानन्द भारत के सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में एक गत्यात्मक, ओजमय आध्यात्मिक उत्साह का पुट देने में सफल हुए।[4] लूथर और काल्विन ने पश्चिमी यूरोप को जो ओजस्विता प्रदान की थी वह ओजस्विता विवेकानन्द और दयानन्द ने तत्कालीन भारतीय सभ्यता के स्तब्ध वातावरण में फूंक दी थी।[5] इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल के अरविन्द, सुभाषचन्द्र आदि नेताओं पर विवेकानन्द का प्रभाव बहुत गहरा था।

2. हिन्दू धर्म का सार्वभौम रूप

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का इस आधार पर समर्थन किया कि वह नैतिक मानववाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का एक सार्वभौम सन्देश है। इस प्रकार उन्होंने विश्व-धर्म के

---

2 डा. बी. एन. सील ने 1907 में 'प्रबुद्ध भारत' में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा था कि विवेकानन्द ने प्रारम्भ में ब्रह्मसमाज से जिस आशावादी आस्तिकता की शिक्षा ग्रहण की वह मिल के *Three Essays on Religion* (धर्म पर तीन निबन्ध) के अध्ययन से डगमगा गयी थी। वे ह्यूम के संशयवादी दर्शन से भी परिचित थे। किन्तु दार्शनिकों की इन रचनाओं से भी अधिक प्रभाव उन पर शैली की 'ओड टु दि स्पिरिट आव इंटलैक्चुअल ब्यूटी' का पड़ा था। (*The Life of Swami Vivekananda*, अलमोड़ा, अद्वैत आश्रम, 1933, पृ. 92-93)। विवेकानन्द ने कांट और शौपेनहाअर, मिल तथा स्पेंसर का भी अध्ययन किया था। उन्होंने प्राचीन अरस्तू सम्प्रदाय की रचनाओं का भी अवगाहन किया था। कुछ समय के लिए उन्हें कॉम्त के प्रत्यक्षवाद (साक्षाद्वाद, वस्तुनिष्ठावाद) से शान्ति मिली थी। (*Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 1, 'The Man in the Making', पृ. 87)। किन्तु विवेकानन्द को अन्तिम सन्तोष न तो प्लेटो के अपरिवर्तनशील प्रत्ययों में मिला, न हेगेल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद में और न सार्वभौम बुद्धि में। अद्वैतवादी वेदान्त ही उन्हें सच्ची शान्ति दे सका।

3 अपनी इस वीरतापूर्ण प्रवृत्ति तथा दबंग चरित्र के कारण वे 'हिन्दू नेपोलियन' भी कहलाते थे। रोमां रोलां ने लिखा है, 'उनमें नेपोलियन निहित था।' (*The Life of Vivekananda,*) पृ. 19।

4 विवेकानन्द ने एक बार घोषणा की थी, 'प्रसार जीवन है, संकोच मृत्यु है।'—*Works*, जिल्द 4, पृ. 311.

5 आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के दयानन्द, विवेकानन्द आदि नेताओं के वीरतापूर्ण कार्य हमें संत पाल, खलीफा उमर और मार्टिन लूथर का स्मरण दिलाते हैं।

क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू धर्म के विरुद्ध अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ फैला रखी थीं; ये लोग साम्राज्यवादी भावग्रन्थि के शिकार थे और समझते थे कि ईश्वर ने काले तथा पीले लोगों को सभ्य बनाने का भार हमारे सिर पर रखा है, किन्तु वस्तुतः वे इस प्रकार के प्रचार के द्वारा एशिया तथा अफ्रीका के आर्थिक शोषण का मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे। 1870 के बाद आधुनिक साम्राज्यवाद का जो उदय हुआ उसके अध्ययन से उक्त कथन की पुष्टि होती है। किन्तु विवेकानन्द के लिए हिन्दू धर्म एक ऐसा व्यापक सत्य था जो न्याय, सांख्य और वेदान्त के द्वारा अपने हृदय में गम्भीरतम दार्शनिक प्रतिभा को शरण दे सकता था, जो मनोवैज्ञानिकों को राजयोग के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का भण्डार दे सकता था, जो सामवेद के मन्त्रों तथा तुलसीदास एवं दक्षिण के आलवार, नयनार सम्प्रदाय के सन्तों के भजनों के द्वारा भक्तों को प्रेरणा दे सकता था, और जो वीर कर्मयोगियों को गीता में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित निष्काम कर्म का सन्देश दे सकता था। विवेकानन्द की दृष्टि में हिन्दू धर्म उन दुरूह पंथों, कर्मकाण्डी अन्धविश्वासों, परम्परागत मतवादों और आदिम कर्मकाण्ड का पुंज नहीं था जिन्हें देखने के लिए पल्लवग्राही यूरोपीय आलोचक दुर्भाग्यवश सदैव इच्छुक रहता है। उनकी निगाह में हिन्दू धर्म मानव-जाति के उद्धार के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक विधानों और आदिजाद कालनिरपेक्ष नियमों की संहिता था—एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौम महाव्रतम्। (योगसूत्र, 2, 26)

स्वामीजी हिन्दू धर्म को धर्मों की जननी मानते थे, और इस बात को कुछ सीमा तक इतिहास द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है। प्राचीन वैदिक धर्म ने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया था और बौद्ध धर्म ईसाई धर्म के उदय में एक शक्तिशाली तत्व था। वैदिक धर्म ने ईरान और मीडिया के धर्मों को प्रभावित किया था, और छठी शताब्दी ई. पू. में जूडिया में जो सुधारवादी नैतिक आन्दोलन चला उसके कुछ पहलू पश्चिमी एशिया (ईरान और भारत) के धर्मों से प्रेरित हुए थे। इन धर्मों के सम्बन्ध में यहूदियों को उस समय जानकारी प्राप्त हुई थी जब वे बाबुल (बेबीलोनिया) में बन्दियों के रूप में रह रहे थे। मिस्र तथा पश्चिमी एशिया के इतिहास में जो शोध हो रही है उससे सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन धर्म का उन दूरवर्ती प्रदेशों में प्रवेश हो चुका था। तेल-अल-अमर्ना में जो पत्र (1380-1350 ई. पू. के लगभग) उपलब्ध हुए हैं उनमें वैदिक नामों का उल्लेख है। उदाहरण के लिए 'अर्तमन्य' शब्द 'ऋतमन्य' का परिवर्तित रूप है। (ए. बी. कीथ, 'इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली', 1936, पृ. 573) ऋत् प्राचीन भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण धारणा है। मित्तनी देवताओं के नाम निश्चय ही वैदिक नाम हैं। इन नामों का 1400 ई. पू. के अभिलेखों में जिक्र आता है।

विवेकानन्द वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म तक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। उन्होंने वैदिक संहिताओं पर उतना बल नहीं दिया जितना कि स्वामी दयानन्द ने दिया था। उन पर उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का विशेष प्रभाव था। विवेकानन्द का सार्वभौमवाद अशोक की उदार संस्कृति का स्मरण दिलाता है। उनका पालन-पोषण उनके गुरु रामकृष्ण के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था और रामकृष्ण का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस बात का द्योतक और प्रमाण था कि सभी धर्मों में आध्यात्मिक सत्य निहित है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुओं में विधर्मियों को अपने धर्म में सम्मिलित करने की प्रथा अंशतः पुनः प्रारम्भ कर दी। यह प्रथा अनेक शताब्दियों से समाप्तप्राय हो गयी थी।

विवेकानन्द की परिभाषा के अनुसार धर्म वह नैतिक बल है जो व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है।[6] उन्होंने गरजते हुए शब्दों में कहा था, "शक्ति जीवन है, दौर्बल्य मृत्यु है।"

---

6 विवेकानन्द ने वीरतापूर्ण शब्दों में घोषणा की थी, "हमारे लिए यह समय रोने के लिए नहीं है, हम आनन्द के आँसू भी नहीं बहा सकते; हम बहुत रो चुके हैं; यह समय कोमल बनने का नहीं है। कोमलता हमारे जीवन में इतने लम्बे समय से चली आ रही है कि हम रुई के ढेर के सदृश हो गये हैं।....आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यकता है वे हैं लोहे की मांसपेशियाँ, इस्पात की तंत्रिकाएँ, प्रकाण्ड संकल्प जिसका कोई प्रतिरोध न कर सके, जो अपना

जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' में बतलाया है कि स्वामीजी की शिक्षाओं का सार अभयम् था। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" विवेकानन्द क्षत्रियों के पुरुषत्व और ब्राह्मणों की बौद्धिकता का समन्वय करना चाहते थे। उन्होंने अपने को दुर्बल बनाने वाली सब रहस्यात्मक भावनाओं से दूर रखा। मैलमैद ने अपनी पुस्तक 'स्पिनोजा एण्ड बुद्ध' में यहूदी धर्म तथा हिन्दू धर्म का अन्तर बतलाया है। उसका कहना है कि यहूदी धर्म व्यक्तिवादी, आस्तिक एवं आशावादी था और विश्व को मानवकेन्द्रित मानता था। इसके विपरीत हिन्दू धर्म सार्वभौमवादी, निराशावादी, ब्रह्माण्डकेन्द्रित तथा विश्व का निषेध करने वाला था। ये सामान्य निष्कर्ष भारतीय इतिहास और दर्शन के उथले अध्ययन पर आधारित हैं। मौर्य साम्राज्य तथा मराठा राजतन्त्र के निर्माता कोरे भावुक व्यक्ति नहीं थे। विवेकानन्द अद्वैतवादी होते हुए भी लौकिक क्षेत्र में ओजस्वी तथा साहसपूर्ण कर्म के समर्थक थे और उन्होंने वीरतापूर्वक इस बात का सन्देश दिया कि निरपेक्ष शूरत्व तथा दृढ़ और साहसपूर्ण विश्वास इतिहास को हिला सकता है।

3. वेदान्त तथा आचारनीति

यूरोपीय आलोचकों का आरोप है कि भारतीय दर्शन आचारनीति (नैतिकता) के प्रति उदासीन है। डा. ए. बी. कीथ ने कहने का दुस्साहस किया है : "ब्राह्मणों के बौद्धिक कार्यकलाप की तुलना में उपनिषदों का नैतिक तत्व नगण्य तथा मूल्यहीन है।········वे (ब्राह्मण) यह समझने में पूर्णतः असमर्थ रहे कि नैतिकता दर्शन का सर्वाधिक वस्तुगत और तात्विक अंश होती है।"[7] किन्तु विवेकानन्द और रामतीर्थ ने अपने अमेरिका में दिये गये व्याख्यानों में बतलाया है कि आध्यात्मिक[8] समानता की शिक्षा देने वाला वेदान्ती तत्वशास्त्र ही बहुसंख्य मनुष्यों के लिए समानता के व्यवहार की सच्ची गारण्टी हो सकता है। फ्रान्स की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता तथा समानता की शिक्षा दी थी, किन्तु उसने विकृत होकर नेपोलियन प्रथम तथा नेपोलियन तृतीय के साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लिया। रूस में सर्वहारा के अधिनायकत्व का नारा लगाया गया, किन्तु अब उसने तिकड़मबाज गुट के, जिसे 'अग्रदल' कहा जाता है, अधिनायकत्व का रूप धारण कर लिया है, क्योंकि इन आन्दोलनों के मूल में नैतिक प्रेरणा का अभाव है। अन्ततः वास्तविक आचारनीति तथा सामाजिक नैतिकता का प्रयोजन विश्व में सम्यक् आचरण एवं स्वतन्त्रता, अधिकार, आत्मचेतना तथा शुभ का विकास करना है। वेदान्ती तत्वशास्त्र (अध्यात्म) अपने मायावाद के कारण व्यक्ति की मनोगत नैतिक प्रवृत्ति का निषेध नहीं करता, अपितु वह नैतिक कर्म के लिए चट्टानवत आधार का निर्माण करके उसे (नैतिक कर्म को) सशक्त बनाता है।

4. विश्व-चिन्तन में विवेकानन्द का योगदान

विवेकानन्द ने उपनिषदों के अद्वैतवाद का जिसे बादरायण और शंकर ने पद्धतिबद्ध किया था, समर्थन किया। उनका कहना था कि सच्चिदानन्द ही परम तथा नित्य सत्ता (परमार्थ सत्) और दार्शनिक चिन्तन तथा जीवन के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। शंकर के

काम हर प्रकार से पूरा कर ले, चाहे उसके लिए महासागर के तल में जाकर मृत्यु का आमना-सामना ही क्यों न करना पड़े। यह है जिसकी हमें आवश्यकता है, और इसका हम तभी सर्जन कर सकते हैं, तभी स्थापना कर सकते हैं और उसे तभी शक्तिशाली बना सकते हैं जबकि हम अद्वैत के आदर्श का साक्षात्कार कर लें, सबकी एकता के आदर्श की अनुभूति कर लें। अपने में विश्वास, विश्वास और विश्वास। यदि तुम्हें अपने तैंतीस करोड़ पौराणिक देवताओं में तथा उन सब देवताओं में विश्वास है जिन्हें विदेशियों ने तुम्हारे बीच प्रतिष्ठित कर दिया है, किन्तु फिर भी अपने में विश्वास नहीं है, तो तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता। अपने में विश्वास रखो और उस विश्वास पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहो।····क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड़ लोगों पर पिछले एक हजार वर्ष से मुट्ठी भर विदेशी शासन करते आये हैं? क्योंकि उन्हें अपने में विश्वास था और हमें नहीं है।"—'*The Mission of Vedanta*' नामक व्याख्यान से, *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 3, पृ. 190।

7 ए. बी. कीथ : *Religion and Philosophy of the Veda and Upanishad*, पृ. 584-85.

मतानुसार जगत ब्रह्म का विवर्त है। किन्तु विवेकानन्द ने ब्रह्माण्ड की सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उन्हें ऐसा करना चाहिए था। उन्हें अपने गुरु रामकृष्ण से प्रेरणा मिली थी और रामकृष्ण जी विश्व के नियामक तत्व को माता के रूप में देखते थे। यह विचार तन्त्र का मुख्य सिद्धान्त है और बीज रूप में प्राचीन सिन्धु तथा पश्चिमी एशिया के धर्मों में देखने को मिलता है।[8]

विवेकानन्द ने विकासवाद का एक विचित्र सिद्धान्त प्रतिपादित किया। विद्वानों का मत है कि स्वामीजी का सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त का पूरक है। "यद्यपि स्वामीजी ने स्वीकार किया कि डार्विन का सिद्धान्त कुछ सीमा तक समीचीन है, किन्तु उन्होंने उसका उससे भी श्रेष्ठ पतंजलि के 'प्रकृति पूर्ति' के सिद्धान्त (जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्) के आधार पर खण्डन किया। उन्होंने बतलाया कि वह (पतंजलि का सिद्धान्त) विकास के कारणों का अन्तिम समाधान प्रस्तुत करता है।"[9] उनका कथन था कि डार्विन का विश्लेषण निम्न स्तर की दृष्टि से उपयुक्त है, किन्तु उच्चतर स्तर पर नैतिक तत्वों का अधिक महत्व होता है और वे ही मनुष्य को पूर्णता तथा शाश्वत मोक्ष, जो कि उसके जन्मसिद्ध अधिकार हैं, दिला सकते हैं।

विवेकानन्द का ज्ञानशास्त्र परम्परागत वेदान्त के निरूपण पर आधारित है। उन्होंने बतलाया कि जो भी ज्ञान हमें बाहर से मिलता है वह वस्तुतः बाहर से प्राप्त कोई नवीन वस्तु नहीं होती। वह तो बाधाओं के निवारण के लिए एक अवसर होता है जिससे कि सहज, शुद्ध चेतना अपने पूर्ण वैभव एवं प्रकाश के साथ जगमगाने लगे।[10]

विलियम जेम्स ने इस बात का उल्लेख किया है कि विवेकानन्द ने आधुनिक मनोविज्ञान में 'अतिचेतन' की धारणा का समावेश कर दिया है।[11] स्वामीजी के अनुसार धर्म का उदय तब होता है जबकि मनुष्य अपनी सामान्य संज्ञानात्मक शक्तियों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। गौतम बुद्ध ने भी कहा था कि उन्हें बोधि वृक्ष के नीचे लोकोत्तर सत्य का साक्षात्कार हुआ था। कांट ने भी कहा है कि धर्म 'बुद्धि का आधारभूत तत्व' है—यहाँ बुद्धि से अभिप्राय व्यक्ति की मानसिक शक्ति नहीं अपितु ब्रह्माण्ड की सार्वभौम शक्ति है। संत अगस्ताइन, दान्ते और गेटे का भी कथन है कि धार्मिक चेतना मनुष्य में निहित असीम की चेतना के कारण उत्पन्न होती है। हेगेल के अनुसार ईसाइयों का अवतार का सिद्धान्त—जिसका अर्थ है आत्मा तथा पदार्थ का समागम—निरपेक्ष धर्म का उदाहरण है। किन्तु विवेकानन्द सच्चिदानन्द ब्रह्म को हेगेल के अवतार से श्रेष्ठ तत्व मानते थे। कांट और हेगेल सगुण ईश्वर तक पहुँचकर रुक गये। हेगेल ने शैलिंग की भेदशून्य तात्विक परमार्थ सत् की धारणा का खण्डन किया और कहा कि यह तो 'पिस्तौल से निकली हुई गोली के सदृश है।' न्यायमुक्तावली में तथा रामानुज की रचनाओं में निर्गुण ब्रह्म का खण्डन किया गया है। किन्तु विवेकानन्द महान आचार्यों की रहस्यात्मक अनुभूतियों के आधार पर ब्रह्म

---

8 समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परांगतिम्॥ (गीता, 13, 27-28)

9 ब्यौरे के लिए देखिये *Life of Vivekananda*, जिल्द 2, पृ. 747।

10 यह सिद्धान्त लाइब्नित्स के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। बर्ट्राँड रसल लिखते हैं, 'लाइब्नित्स ने बतलाया है कि जब वह कहता है कि सत्य जन्मजात (नैसर्गिक) है तो उसका अर्थ केवल यह नहीं है कि मन में उसको जान लेने की शक्ति है, बल्कि उसमें उसे (सत्य को) अपने में ढूँढ़ निकालने की शक्ति है। जो कुछ भी हम जानते हैं वह हमारी प्रवृत्ति से ही प्रकट होता है, अर्थात् वह चिन्तन के द्वारा प्राप्त होता है, उन अनुभवों को सचेत बनाने से होता है जो पहले चेतनाहीन थे।" *Philosophy of Leibniz*, पृ. 158।

11 आर. डी. रानाडे, *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, पृ. 139 (पूना, 1926)।

में विश्वास करते थे, और उन्होंने स्वयं अपने जीवन में भी उसका साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया। शंकर ने भी कहा है—"दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यम् हि परमार्थसत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धिनामसदिव प्रतिभाति।" (छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, 8, 1, 1)। विवेकानन्द का कहना था कि एकता ही परम सत्य है, किन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पहले द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की अवस्थाओं को पार करना होगा।[12] श्री अरविन्द भी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, तर्क बुद्धि के लिए उनके (द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत) सहअस्तित्व की कल्पना करना कठिन है, किन्तु चेतना की एकता के द्वारा उसकी अनुभूति प्राप्त हो सकती है।" (ईश उपनिषद, पृ. 30)। किन्तु अरविन्द और विवेकानन्द के दृष्टिकोण में अन्तर यह है कि विवेकानन्द उनके सहअस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे, अपितु उनका विश्वास था कि अद्वैत दृष्टि के उदय होने पर द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण का स्वतः निराकरण हो जाता है।

स्वामीजी ने शोपेनहाअर के संकल्प की सर्वोच्चता के सिद्धान्त की भी आलोचना की (आधुनिक व्यवहारवादी दार्शनिकों ने संकल्प के सिद्धान्त का समर्थन किया है)। उन्होंने कहा, "शोपेनहाअर का कहना है कि इच्छा अथवा संकल्प हर वस्तु का कारण है। जीवित रहने की इच्छा हमें व्यक्त करती है, किन्तु हम इसे स्वीकार नहीं करते। इच्छा प्रेरक तन्त्रिकाओं के समरूप होती है।........ इच्छा का कोई लेश भी ऐसा नहीं होता जो प्रतिक्रिया न हो। इच्छा से पहले कितनी ही अन्य घटनाएँ घट चुकती हैं वह अहम् में से निर्मित कोई वस्तु है, और अहम् किसी उच्चतर वस्तु से निर्मित होता है। वह उच्चतर वस्तु बुद्धि है, और बुद्धि स्वयं भेदशून्य प्रकृति से बनती है। बोदा[13] का भी यही विचार था कि हम जो कुछ देखते हैं वह इच्छा ही है। किन्तु यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः गलत है, क्योंकि इच्छा तथा प्रेरक तन्त्रिकाएँ एक ही वस्तु हैं। यदि आप प्रेरक तन्त्रिकाओं को हटा दें तो मनुष्य की कोई भी इच्छा नहीं रह जाती। इस तथ्य को निम्न कोटि के पशुओं पर अनेक परीक्षण करके ढूँढ़ निकाला गया है।" शोपेनहाअर के समर्थन में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उपनिषदों में अनेक अंश ऐसे हैं जिनमें बतलाया गया है कि ब्रह्माण्ड ब्रह्म की इच्छा का ही मूर्तरूप है।[14]

5. विवेकानन्द का समाजशास्त्र

विवेकानन्द की रुचि प्रधानतः धर्म तथा दर्शन में थी। वे समाजशास्त्री नहीं थे, इसलिए वे सामाजिक विज्ञानों के विश्लेषणात्मक तथा प्रत्ययात्मक पक्षों में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दे सके।[15] फिर भी वे समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण करना चाहते थे,[16] किन्तु उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए कहना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में वे अधिक कुछ न कर सके। कभी-कभी उन्होंने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया।[17] इस सम्बन्ध

---

12 विवेकानन्द ने दृढ़तापूर्वक घोषणा की थी कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त वेदान्त की एकता की धारणा की पुष्टि करते हैं। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वेदान्त प्रत्यक्षानुभूति पर आधारित है और विज्ञान की पद्धति प्रयोगात्मक है।

13 यहाँ मैं यह बतला दूँ कि यह बात बौद्ध धर्म के विज्ञानवादी सम्प्रदाय के बारे में कही गयी है, वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि सम्प्रदायों के सम्बन्ध में नहीं।

14 स हायमीक्षां चक्रे (बृहदारण्यक, 1, 4, 2)।

15 कभी-कभी उग्र संन्यास की मनःस्थिति में उन्होंने राजनीति से सम्बन्धों की भर्त्सना की और एक बार यहाँ तक कह दिया कि "भारत अमर है, यदि वह ईश्वर की खोज में दृढ़ रहे। किन्तु यदि उसने राजनीति तथा सामाजिक संघर्ष का मार्ग अपनाया तो उसकी मृत्यु हो जायगी।"—मिस मैकलॉइड ने ये शब्द रोमां रोलां के समक्ष दुहराये थे। *The Life of Vivekananda*, पृ. 169)।

16 कहा जाता है कि उन्होंने सामाजिक एकता के लिए अन्तरजातीय तथा अन्तरउपजातीय विवाहों का समर्थन किया था। (*The Life of Vivekananda*, पृ. 137)।

17 देखिए, मैक्स वेबर के *Essays in Sociology*.

में उन्होंने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच दीर्घकालीन संघर्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया। यद्यपि अनेक उग्र सामाजिक विचारकों पर मार्क्स के वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व का गहरा प्रभाव पड़ा है, फिर भी दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द, भगवान्दास आदि ने हिन्दुओं की कर्म-व्यवस्था पर आधारित कार्यमूलक सामाजिक संगठन का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में इन विचारकों का मत है कि वर्ण-व्यवस्था ही मनुष्यों के आध्यात्मिक-बौद्धिक, रक्षात्मक, आर्थिक तथा सामाजिक कार्यकलाप का समन्वय कर सकती है। विवेकानन्द ने हमारे सामने कोई स्पष्ट और दो टूक सामाजिक कार्यक्रम नहीं रखा।[18] फिर भी उन्होंने जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता की कटु भर्त्सना की। यह स्पष्ट है कि यदि वे देश की महान उथल-पुथल को देखने को जीवित रहते तो उनके मन में शोषित जनता के उद्धार के लिए जो प्रबल भावनाएँ थीं वे उन्हें उग्र सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में अग्रसर होने के लिए अवश्य बाध्य करतीं।[19] किन्तु यह निश्चित है कि पश्चिम में तथा साम्यवादी चीन में स्वतन्त्रता के नाम पर जो सामाजिक उच्छृंखलता फैली हुई थी उसको वे कभी सहन न करते। उस सीमा तक वे पुरातनपन्थी हो सकते थे। सम्भवत: उनका विश्वास था कि समाज का सुधार करने से पहले व्यक्ति का कल्याण करना तथा उसे मुक्ति दिलाना आवश्यक है।[20] इसके विपरीत, फासीवादी और साम्यवादी ढंग का अधिनायकवादी नियन्त्रण मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्तियों को नष्ट कर देता है, और समग्रवादी हिंसामूलक समष्टिवाद व्यक्ति के स्वाभाविक अवयवी विकास का विरोध करता है। विश्व का लिखित इतिहास बतलाता है कि अब तक इतिहास थोड़े से व्यक्तियों और श्रेष्ठ पुरुषों का जीवनवृत्त रहा है, इसलिए अब मेरा आग्रह है कि बहुसंख्यक समाज को प्रतिनिधि लोकतन्त्र की व्यवस्था के द्वारा अपने को प्रभावकारी बनाना चाहिए। यह बात विवेकानन्द के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शवाद के अनुकूल होगी।

6. विवेकानन्द एक वीर-ऋषि के रूप में

विवेकानन्द के वीरतापूर्ण सन्देश का सारांश उनके निम्नलिखित शब्दों में निहित है और इनसे उनके ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रधान तत्वों का भी पता लगता है। "मैं जानता हूँ कि केवल सत्य जीवन देता है, और सत् की ओर अग्रसर होने के अतिरिक्त अन्य कोई बात हमें शक्तिशाली

---

18 एक बार विवेकानन्द ने घोषणा की थी कि मैं 'समाजवादी' हूँ, और उन्होंने स्मृतियों तथा पुराणों के जातिगत विद्वेष की भर्त्सना की थी।—बी. एन. दत्त, *Swami Vivekananda, Patriot-Prophet*, पृ. 369-70।

19 विवेकानन्द के मन में दलितों के उद्धार के लिए जो ज्वलन्त उत्साह था वह इन पंक्तियों से प्रकट होता है, "मुझे इस बात की चिन्ता नहीं है कि वे हिन्दू हैं या मुसलमान अथवा ईसाई, किन्तु जिन्हें ईश्वर से प्रेम है उनकी सेवा के लिए मैं सदैव तत्पर रहूँगा। मेरे बच्चो! अग्नि में कूद जाओ। यदि तुम्हें विश्वास है तो तुम्हें सब कुछ मिल जायगा। हममें से प्रत्येक को दिन-रात भारत के उन करोड़ों दलितों के लिए प्रार्थना करनी चाहिए जो दरिद्रता, पुरोहितों के जंजाल तथा अत्याचार में जकड़े हुए हैं—दिन-रात उनके लिए प्रार्थना करो।....मैं न तत्वशास्त्री हूँ, न दार्शनिक, और मैं सन्त भी नहीं हूँ। मैं दरिद्र हूँ। मुझे दरिद्रों से प्रेम है।....भारत में कौन ऐसा है जिसके मन में उन बीस करोड़ स्त्री-पुरुषों के लिए सहानुभूति हो जो गहरी दरिद्रता और अज्ञान में डूबे हुए हैं? उपाय क्या है? उनके जीवन में प्रकाश कौन ला सकता है? इन्हीं लोगों को अपना देवता समझो। मैं उसी को महात्मा कहता हूँ जिसका हृदय दरिद्रों के लिए द्रवित होता है। जब तक करोड़ों लोग भुखमरी और अज्ञान के शिकार हैं तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती समझता हूँ जो उनके धन से शिक्षा पाकर उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।...." (*The Life of Swami Vivekananda*, अध्याय 83)

20 1895 की शरद् ऋतु में उन्होंने अभयानन्द को लिखा था, "व्यक्तित्व मेरा आदर्श वाक्य है, व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने के अतिरिक्त मेरी अन्य कोई आकांक्षा नहीं है।" (रोमां रोलां द्वारा उद्धृत, *The Life of Vivekananda*, पृ. 790)। एक बार उन्होंने यह भी घोषणा की थी, "अकेले एक व्यक्ति में सम्पूर्ण विश्व निहित होता है।" (वही)

नहीं बना सकती, और कोई व्यक्ति तब तक सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह बलवान नहीं बनता। शक्ति वह औषध है जिसका सेवन धनिकों के अत्याचारों से पीड़ित दरिद्रों को करना चाहिए।……अद्वैतवाद के दर्शन को छोड़कर अन्य कोई वस्तु हमें शक्ति नहीं दे सकती। अन्य कोई वस्तु हमें उतना नैतिक नहीं बना सकती जितना कि अद्वैतवाद का विचार।"[21] इसीलिए हम देखते हैं कि भारत के अनेक महापुरुषों पर विवेकानन्द के व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव पड़ा है। नवीन-वेदान्त के सन्देशवाहक स्वामी रामतीर्थ को जिन्होंने मिस्र, जापान और अमेरिका में गर्जना की थी, उनसे गहरी प्रेरणा मिली थी। सुभाषचन्द्र बोस विवेकानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। अरविन्द उनके महान प्रशंसक थे और अपनी किशोरावस्था में उन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। स्वामी सत्यदेव उनके भक्त थे। राधाकृष्णन ने लिखा है कि हिन्दू धर्म के समर्थन में विवेकानन्द ने जिस उत्साह और वाक्‌चातुर्य का परिचय दिया था उसका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था।[22] महात्मा गान्धी उनसे मिलने के लिए बेलूर मठ गये थे किन्तु वे उनके दर्शन न कर सके क्योंकि वे उस समय अस्वस्थ थे। उस समय 1901 के आसपास गान्धीजी एक नगण्य व्यक्ति थे। जवाहरलाल ने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में स्वामीजी की बड़ी प्रशंसा की है।

स्वामीजी के व्यक्तित्व की गम्भीरता अनिन्द्य है। 'संन्यासी का गीत' बंगालियों की बाइबिल है। वह उस सन्त, रहस्यवादी, योगी तथा देशभक्त का दाय है। स्वामीजी जगद्‌गुरु थे, किन्तु साथ ही साथ वे भारत माता के सपूत भी थे। उनकी उदात्त देशभक्ति की तुलना मत्सीनी, बिस्मार्क अथवा लिंकन की भावनाओं से की जा सकती है। आर्यावर्त की सेवा में उन्होंने जो समर्पण किया वह अद्वितीय था।[23] 'कोलम्बो से अलमोड़ा तक व्याख्यान' वर्तमान काल की गीता है। उसका उद्देश्य अगणित तामसी अर्जुनों को कठिन कर्म के लिए जाग्रत करना तथा उनमें शक्ति का संचार करना था।

---

21 *Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 2।

22 देखिए *Religion in Transition* में उनका लेख।

23 रोमां रोलां लिखते हैं, "उनकी चिता-भस्म से भारत की अन्तरात्मा उसी प्रकार उछल निकली जिस प्रकार कि पुराना अमर पक्षी (फीनिक्स) अपनी चिता-भस्म से उठ खड़ा हुआ था— उस जादू के पक्षी की भाँति वह (भारत की अन्तरात्मा) अपनी एकता और अपने उस महान सन्देश में विश्वास लेकर उठी जिस पर उसकी जाति के स्वप्नद्रष्टा ऋषि वैदिक युग से चिन्तन और मनन करते आये थे, और जिस सन्देश के लिए उसे विश्व के सम्मुख उत्तर देना है।" (*Life of Vivekananda*, अलमोड़ा, 1953, पृ. 7)।

परिशिष्ट 8

विवेकानन्द का समाजशास्त्र[1]

1. भारत के सामाजिक विकास का द्वन्द्व नियम

विवेकानन्द ने भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक पतन के कारणों का अन्वेषण किया और सामाजिक विषमताओं के उन्मूलन के उपाय बतलाये। विश्व उन्हें एक वेदान्ती के रूप में जानता है, भारत उनसे एक प्रचण्ड बौद्धिक तथा नैतिक पथ-प्रदर्शक के रूप में परिचित है, किन्तु हमें उनके जीवन को भारतीय इतिहास तथा राजनीति के अध्येता के रूप में भी समझना चाहिए।[2] एक सिद्धान्तकार के नाते उन्होंने एशियाई तथा यूरोपीय संस्कृतियों की आत्माओं के बीच भेद किया।[3] एशिया के महान देशों ने ईश्वर के प्रभुत्व तथा उसके शाश्वत नियमों को अधिक महत्व दिया है। यूरोप ने विज्ञान, यन्त्रशास्त्र, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र तथा राजनीति की सफलताओं का जय-जयकार किया है। उन्होंने कहा था, "यदि यूरोप, जो कि भौतिक शक्ति की अभिव्यक्ति है, अपनी स्थिति को नहीं समझता, अपनी स्थिति को परिवर्तित नहीं करता और आध्यात्मिकता को अपने जीवन का आधार नहीं बनाता तो वह पचास वर्ष के भीतर ध्वस्त हो जायगा।"[4] विवेकानन्द ने एशियाई जनता की राजनीतिक क्षमता का न्यून मूल्यांकन किया है। उनका कथन है, "एशिया की पुकार धर्म की पुकार है, यूरोप की पुकार विज्ञान की पुकार है।"[5] इस दृष्टि से उनका अध्यात्मोन्मुखी समाजशास्त्र अनुपयुक्त जान पड़ता है। फिर भी यद्यपि विवेकानन्द दार्शनिक दृष्टि से लौकिक जगत को प्रतीति (आभास) मात्र मानते थे, जैसा कि

---

1 यह अध्याय लेखक के 'Vivekananda and Marx as Sociologists' का, जो *The Vedanta Kesari* (मद्रास, जनवरी 1959) के पृ. 479-81 पर छपा था, परिवर्तित और संशोधित रूप है।

2 विवेकानन्द ने पूर्व के पुनरुत्थान की तथा एक सामाजिक विप्लव के आगमन की भविष्यवाणी की थी। उन्होंने कहा था, "········शूद्रों का यह उत्थान पहले रूस में और फिर चीन में होगा। उसके उपरान्त भारत का उत्कर्ष होगा और वह भावी विश्व के निर्माण में सशक्त भूमिका अदा करेगा।" बी. एन. दत्त द्वारा *Vivekananda, Patriot-Prophet* में पृ. 335 पर उद्धृत।

3 "एक ओर पश्चिमी समाजों की स्वार्थ पर आधारित स्वतन्त्रता है, दूसरी ओर आर्य समुदाय का अतिशय बलिदान है। यदि इस हिंसात्मक संघर्ष में भारत को ऊपर और नीचे उछाला जाय तो क्या इसमें कोई आश्चर्य की बात है? पश्चिम का लक्ष्य है वैयक्तिक स्वतन्त्रता, भाषा, अर्थकरी विद्या और साधन है राजनीति; भारत का लक्ष्य है मुक्ति, भाषा है वेद, और साधन है त्याग।"—स्वामी विवेकानन्द, "Modern India", *Complete Works*, जिल्द 4, पृ. 409।

4 स्वामी विवेकानन्द, *India and Her Problems*, पृ. 39।

5 विवेकानन्द का कथन था कि धर्म का "राजनीति से अधिक गहरा महत्व" है, क्योंकि वह मूल तक पहुँचता है और नैतिक आचरण से सम्बन्ध रखता है। (*Complete Works*, जिल्द 5, पृ. 129)। इसलिए उन्होंने घोषणा की थी, "भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने से पूर्व उसे आध्यात्मिक विचारों से प्लावित कर दो।" वही, जिल्द 3, पृ. 221।

वेदान्त में प्रतिपादित किया गया है, किन्तु सामाजिक स्तर पर वे उत्पीड़न तथा अत्याचार की शक्तियों का डटकर सामना करने को तैयार रहते थे। उनकी वीर आत्मा सामाजिक शोषकों के साथ किसी प्रकार का समझौता सहन नहीं कर सकती थी।

स्वामीजी दार्शनिक प्रत्ययवादी थे। फिर भी उन्होंने अपने धार्मिक प्रवचन आधुनिक विश्व की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर दिये। वे संन्यासी थे तथा उन्हें रहस्यात्मक चीजों की अच्छी मनोवैज्ञानिक जानकारी थी; किन्तु साथ ही साथ वे देशभक्त भी थे और कष्टपीड़ित जनता की दुर्दशा को देखकर अत्यधिक व्यथित होते थे। हृदय से वे विद्रोही थे, इसलिए उन्होंने साहसपूर्वक घोषणा की कि जातिगत भेदभाव ब्राह्मणों के आविष्कार हैं। स्वामीजी चाहते थे कि भारतीय समाज के सभी वर्गों को जीवन में प्रगति करने के लिए समान अवसर मिलना चाहिए।

विवेकानन्द के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का स्रोत उनकी यह वेदान्ती धारणा थी कि अन्तरात्मा सर्वशक्तिमान तथा सर्वोच्च है। इसलिए उन्होंने पीड़ित जनता को अभयम्, एकता तथा शक्ति का क्रान्तिकारी सन्देश दिया। वे उन वर्गगत तथा जातिगत श्रेष्ठता के विचारों तथा अत्याचार का उन्मूलन करना चाहते थे जिन्होंने हिन्दू समाज को शिथिल, स्तरबद्ध तथा विघटित कर दिया है। उन्होंने अस्पृश्यता की बुराइयों की कटु भर्त्सना की और पाकशाला तथा पाकभाण्डों पर आधारित धर्म-कर्म की निन्दा की। वे समाज का सांगोपांग कायाकल्प करना चाहते थे, किन्तु उनका आग्रह था कि यह सब कुछ आध्यात्मिक आधार पर किया जाय। उन्हें केशवचन्द्र सेन तथा महादेव गोविन्द रानाडे सदृश उन समाज-सुधारकों की कार्य-शैली से सहानुभूति नहीं थी जो समाज का यूरोपीकरण करने के पक्ष में थे। वे कुछ सीमा तक समाज-सुधारक थे, किन्तु यह निश्चय है कि वे अतीत से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे।

एक सिद्धान्तकार के नाते उन्होंने वर्ण-विभाजन को बुद्धिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया, "जिस प्रकार हर व्यक्ति में सत्व, रजस् और तमस् में से कोई न कोई गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में उन गुणों में से कोई न कोई न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है जिनसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र बनते हैं। किन्तु कभी-कभी उसमें इनमें से किसी एक गुण का विभिन्न अंशों में प्राधान्य रहता है और तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति होती है। किसी मनुष्य को उसके विभिन्न कार्यों की दृष्टि से देखिए। उदाहरण के लिए जब वह वेतन के लिए किसी व्यक्ति की सेवा करता है तो वह शूद्र है; जब वह स्वयं लाभ के लिए कोई व्यवसाय करता है तो उस समय वह वैश्य है; जब वह अन्याय का अन्त करके न्याय की स्थापना करने के लिए संघर्ष करता है तो उस स्थिति में उसमें क्षत्रिय के गुणों की अभिव्यक्ति होती है; और जब वह ईश्वर का ध्यान करता है अथवा ईश्वरविषयक वार्तालाप में संलग्न होता है तो उस समय वह ब्राह्मण बन जाता है। अतः किसी व्यक्ति के लिए एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित होना सम्भव है। अन्यथा विश्वामित्र ब्राह्मण और परशुराम क्षत्रिय कैसे बन जाते ? जाति का उन्मूलन करना आवश्यक नहीं है, बल्कि उसे परिस्थितियों के अनुकूल बना लेना चाहिए।[6] पुरानी व्यवस्था में इतना जीवन है कि उसमें से दो सौ नवीन व्यवस्थाओं का सृजन किया जा सकता है। जाति-व्यवस्था के उन्मूलन की कामना करना कोरी बकवास है····जाति अच्छी चीज है। जीवन की समस्याओं को हल करने का वही एकमात्र साधन है। मनुष्यों के लिए समूह बनाना स्वाभाविक है, तुम उससे बच नहीं सकते। तुम जहाँ कहीं भी जाओगे वहीं तुम्हें जाति देखने को मिलेगी।"[7]

विवेकानन्द के अनुसार समाज का चार वर्णों में विभाजन आदर्श समाज-व्यवस्था का द्योतक है। ब्राह्मण पुरोहित ज्ञान के शासन और विज्ञानों की प्रगति के लिए है। क्षत्रिय का काम

---

6 विवेकानन्द मानते थे कि अपने मूल रूप में जाति "सबसे श्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था" थी, किन्तु वे 'जाति के विकृत रूप' के निश्चय ही विरोधी थे। वे चाहते थे कि भारत "लोकतान्त्रिक विचारों" को अंगीकार कर ले।—विवेकानन्द, *Complete Works*, जिल्द 5, पृ. 128-29।

7 *Swami Vivekananda, On India and Her Problems*, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, चतुर्थ संस्करण, 1946, पृ. 77-78 तथा 80।

व्यवस्था बनाये रखना है। वैश्य वाणिज्य का प्रतिनिधि है और व्यापार के द्वारा ज्ञान के प्रसार में योग देता है। शूद्र समता की विजय का द्योतक है। यदि इन चार प्रमुख तत्वों का समन्वय किया जा सके तो वह आदर्श स्थिति होगी, क्योंकि ज्ञान, रक्षा, आर्थिक क्रियाकलाप तथा समानता निश्चय ही वांछनीय हैं। किन्तु इस प्रकार का समन्वय स्थापित करना कठिन है, क्योंकि हर वर्ग शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहता है, और यही पतन का कारण है। ब्राह्मणों ने ज्ञान पर एकाधिकार स्थापित कर लिया और अन्य वर्णों को संस्कृति के क्षेत्र में बहिष्कृत कर दिया। क्षत्रिय क्रूर तथा अत्याचारी हो गये। वैश्य "शान्तिपूर्वक कुचलने और रक्त चूसने की शक्ति" की दृष्टि से अत्यन्त भयावह है।

इसलिए विवेकानन्द ने उच्च जातियों द्वारा किये गये उत्पीड़न और दमन के विरुद्ध विद्रोह किया। उनका कथन था, "किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये विशेषाधिकार विद्यमान रहें। इन्हें कुचल दिया जाना चाहिए।"[8] यह सत्य है कि हम कार्यात्मक विभाजन के लिए कितने ही उत्सुक क्यों न हों, वर्ण-व्यवस्था के अवांछनीय सामाजिक परिणाम अवश्य होंगे। हम देखते हैं कि 10वीं शताब्दी ई. पू. से छठी शताब्दी ई. पू. तक ब्राह्मणों ने अपनी सामाजिक श्रेष्ठता को सुदृढ़ बनाने के लिए विस्तृत धार्मिक और कर्मकाण्डी व्यवस्था को विकसित कर लिया था जिसका बुद्ध ने खण्डन किया। ढाई हजार वर्ष उपरान्त पुनः जब मद्रास के ब्राह्मणों ने यह कहने का दुस्साहस किया कि स्वामी विवेकानन्द को अब्राह्मण होने के कारण संन्यासी का वस्त्र धारण करने का अधिकार नहीं है तो स्वामीजी ने उन्हें 'परियाओं का परिया' कहा।

समाज-सुधारक के रूप में स्वामीजी में दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। जिस समय वे बहुत ही प्रवुद्ध और अनुप्रेरित होते उस समय वे जाति-व्यवस्था के उन्मूलन की बात करते थे। किन्तु अन्य अवसरों पर विशेषकर जबकि वे परम्परावादी श्रोताओं के समक्ष बोलते तो समाज के अवयवी विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वस्तुतः ये दोनों प्रवृत्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे केवल इस बात की द्योतक हैं कि यद्यपि विवेकानन्द जाति-व्यवस्था के उत्पीड़नकारी रूप तथा उसके नाम पर किये गये कुत्सित कृत्यों के घोर शत्रु थे, फिर भी तात्कालिक सामाजिक कार्यक्रम के ठोस कदम के रूप में वे पूर्णता की ओर जाने के लिए विकासात्मक प्रगति का उपदेश देकर ही सन्तुष्ट थे।

ऐतिहासिक परम्पराओं को नष्ट करना कठिन होता है, और जब तक वैदिक समाजशास्त्र के चार शब्द रहेंगे तब तक सामाजिक शोषण और उत्पीड़न की दुःखद ऐतिहासिक स्मृतियाँ भी कायम रहेंगी। मेरा विश्वास है कि भारत के लिए गम्भीर सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है। मेरा यह विश्वास तब और दृढ़ हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि गान्धी जैसे शक्तिशाली व्यक्ति भी जन्म को जाति का आधार मानते थे। इसलिए दयानन्द गान्धीजी से बड़े सामाजिक क्रान्तिकारी थे, क्योंकि उनका विचार था कि गुण तथा प्रकृति वर्ण का निर्धारण करते हैं। मैं मानता हूँ कि आदर्श रूप में चार वर्ण इस मनोवैज्ञानिक मान्यता पर आधारित थे कि मनुष्यों की योग्यताओं में अन्तर होता है, उनका उद्देश्य प्रतियोगिता का उन्मूलन करना तथा श्रम के विशेषीकरण के द्वारा समाज की सेवा करना था, किन्तु व्यवहार में जो पदावली चली आ रही है उसके मूल में अवश्य ही दुःखद ऐतिहासिक स्मृतियाँ छिपी हुई हैं, अतः उसको पूर्णतः बदल दिया जाना चाहिए। जाति-व्यवस्था पुरातनवादी चिन्तन का सबसे बड़ा गढ़ सिद्ध हुई है। शंकर जैसे अद्वैतवादियों ने भी, जिन्होंने धर्मशास्त्रियों के सगुण ब्रह्म को भी माया कह दिया था, जाति-व्यवस्था का समर्थन किया। विवेकानन्द शंकर से कहीं अधिक उग्र थे। फिर भी स्पष्ट है कि विवेकानन्द सामाजिक सहयोग तथा पारस्परिकता के समर्थक थे[9], जबकि मार्क्स ने सामाजिक शत्रुता, तनाव,

---

8 वही।

9 विवेकानन्द ने "मूर्खतापूर्ण अन्धविश्वासों" पर आक्रमण करने की तो अनुमति दी किन्तु वे "वर्तमान में हिंसात्मक सुधारों" का उपदेश देने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने लिखा था, "समाज को सार्वभौम मुक्ति तथा समानता के उन पुरातन आधारों पर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न

संघर्ष और अन्तर्विरोधों और यहाँ तक कि युद्ध की भी शिक्षा दी। आधुनिक भारत में भी हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। और न देश विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित धीमे विकास की धारणा से ही सन्तुष्ट हो सकता है। समय की माँग है कि लोकतान्त्रिक साधनों के द्वारा आवश्यक सामाजिक सुधार सम्पादित किये जायँ।

2. विवेकानन्द समाजशास्त्री के रूप में

विवेकानन्द सामाजिक यथार्थवादी थे। उनके व्यक्तित्व का प्रमुख पक्ष यह था कि उन्होंने अपनी शक्ति ज्ञान, चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभूति परिपक्व दार्शनिक अन्वेषण में लगा दी। वे निश्चय ही यह चाहते थे कि भौतिकवादी पश्चिम योग तथा वेदान्त की आध्यात्मिक शिक्षाओं को हृदयंगम करे। उनकी यह भी कामना थी कि पश्चिम के लोग अन्तर्दर्शी तथा आत्मगत मनोविज्ञान का अभ्यास करें। किन्तु अपने देशवासियों को उन्होंने यथार्थवाद तथा व्यवहारवाद का सन्देश दिया। उन्होंने भारत तथा पश्चिम के पर्यटन के दौरान अनुभव किया कि जो देश एक हजार वर्ष से भी अधिक समय से दुःख, निराशा और राजनीतिक विपदाओं का शिकार रहा है उसे अपनी कमर सीधी करने के लिए शक्ति और निर्भीकता की आवश्यकता है। वे भारत के करोड़ों लोगों के दुःखों के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक थे। एक संन्यासी के मुख से निसृत ये शब्द सचमुच क्रान्तिकारी हैं, "भुखमरी से पीड़ित मनुष्य को धर्म का उपदेश देना कोरा उपहास है।" एक वेदान्ती की लेखनी से निकला हुआ यह कथन भी क्रान्तिकारी है कि भारत "वह देश है जहाँ दसियों लाख लोग महुआ का फूल खाकर रहते हैं, और दस या बीस लाख साधू तथा एक करोड़ के लगभग ब्राह्मण इन लोगों का रक्त चूसते हैं।" अतः स्पष्ट है कि हिन्दुओं के आध्यात्मिक तत्व-शास्त्र की श्रेष्ठता का शक्तिशाली समर्थक जनता के उद्धार के विषय में किसी प्रकार से झुकने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि "राष्ट्र झोंपड़ियों में रहता है।" सामाजिक क्रान्तिकारी के नाते विवेकानन्द ने जाति-व्यवस्था की बुराइयों की अनियन्त्रित शब्दों में भर्त्सना की और उन ब्राह्मण पुरोहितों को निम्न जातियों के उत्पीड़न के लिए उत्तरदायी ठहराया जिन्होंने जाति-भेद का माया-जाल निर्मित किया था।

विवेकानन्द का गम्भीर सामाजिक यथार्थवाद उनके इस कथन से भी प्रगट होता है कि भारत की एक हजार वर्ष पुरानी दासता की जड़ जनता का दमन है। देश के सामाजिक अत्याचारियों ने और अभिजातीय निरंकुश वर्गों ने बहुसंख्यक जनता का शोषण किया था। उन्होंने जनता को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा और उसे इतना अपमानित किया कि वह अपना मनुष्यत्व ही खो बैठी। जब देश की प्राण-शक्ति का इतना अधःपतन हो गया तो उसमें विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती थी। जनता ही देश का मेरुदण्ड होती है, क्योंकि वही सम्पूर्ण धन और भोजन उत्पन्न करती है।[10] जब उसे अस्वीकार और अपमानित किया जाता है तो वह राष्ट्रीय शक्ति के विकास में योग कैसे दे सकती है। स्वामीजी का कहना था कि देश के जीर्णोद्धार के लिए आवश्यक है कि जनता के उत्थान के लिए भावात्मक तथा रचनात्मक उपाय किये जायँ। देश के करोड़ों लोगों की पुजारियों की पोपलीला, दरिद्रता, अत्याचार तथा अज्ञान से रक्षा करनी है। विवेकानन्द जानते थे कि यह समस्या बड़ी विकट थी और उसके समाधान के लिए आवश्यक था कि शिक्षित भारतीय बलिदान करें। अतः उन्होंने घोषणा की, "मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही ठहराता हूँ जो उनके खर्च पर शिक्षा प्राप्त करके उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।"

स्वामीजी ने भारतीय समाज के उच्च वर्गों की कुटिलता, अहंकार और धूर्तता की निर्मम भर्त्सना की। भारतीय इतिहास के सभी युगों में ये उच्च वर्ग देश के करोड़ों निवासियों का शोषण करते आये हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने लगे और विदेशी

करो जिनका प्रतिपादन शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य आदि पुराने आचार्यों ने किया था।" *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृ. 314।

10 *Complete Works*, जिल्द 5, पृ. 45।

राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की नींव मजबूत करने लगे, क्योंकि वह व्यवस्था उन्हें अपने कम भाग्यशाली बन्धुओं का उत्पीड़न करने की छूट देती थी। विवेकानन्द ने उन तथाकथित उच्च वर्गों, उन आंग्ल-भारतीय नकलचियों के विरुद्ध, जो अपने स्वामियों की जीवन-प्रणाली का अनुकरण करते तथा देश की दरिद्र तथा असहाय जनता पर सब प्रकार के अत्याचार करते, अपनी दबी हुई घृणा, कटुता और क्रोध को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया :

"भारत के उच्च वर्गों, क्या तुम अपने को जीवित समझते हो ? तुम तो केवल दस हजार वर्ष पुरानी ममियाँ हो। भारत में यदि किसी में तनिक सी प्राणशक्ति शेष रह गयी है तो वह उन लोगों में है जिन्हें तुम्हारे पूर्वज चलती-फिरती लाश समझकर घृणा करते थे। चलती-फिरती लाश तो वास्तव में तुम हो, भारत के उच्च वर्गों ! माया के इस जगत में असली माया तुम हो, तुम्हीं गूढ़ पहेली और मरुस्थल की मृगमरीचिका हो। तुम भूतकाल के प्रतिनिधि हो, तुम अतीत के विभिन्न रूपों के अव्यवस्थित जमघट हो, लोगों को तुम वर्तमान में भी दृष्टिगोचर प्रतीत होते हो, यह तो मन्दाग्नि से उत्पन्न दुःस्वप्न है। तुम शून्य हो, तुम भविष्य की सारहीन नगण्य वस्तु हो। स्वप्न-लोक के निवासियो, तुम अब भी क्यों लड़खड़ाते हुए घूम रहे हो ? तुम पुरातन भारत के शव के मांस-हीन और रक्तहीन अस्थिपंजर हो, तुम शीघ्र ही राख बनकर हवा में विलीन क्यों नहीं हो जाते ? तुम अपने को शून्य में विलीन कर दो और तिरोहित हो जाओ, और अपने स्थान पर नये भारत का उदय होने दो। उसे (नये भारत को, अनु.) उठने दो, हल की मूँठ पकड़े हुए किसान की कुटिया में से, मछुओं, मोचियों और भंगियों की झोंपड़ियों में से। उठने दो उसे परचूनी वाले की दुकान से और पकौड़ी बेचने वाले की भट्टी से। उठने दो उसे कारखानों से, हाटों से और बाजारों से। उसे कुंजों, वनों, पहाड़ियों और पर्वतों से उठने दो। इन साधारण जनों ने हजारों वर्षों तक उत्पीड़न सहन किया है और बिना शिकायत किये और बड़बड़ाये सहन किया है, जिसके परिणामस्वरूप उनमें आश्चर्यजनक सहनशक्ति उत्पन्न हो गयी है। वे अनन्त दुःखों को सहते आये हैं जिसने उन्हें अविचल शक्ति प्रदान कर दी है। मुट्ठी भर दानों पर जीवित रहकर वे संसार को झकझोर सकते हैं। उन्हें रोटी का आधा टुकड़ा ही दे दीजिए, और फिर तुम देखोगे कि सारा विश्व भी उनकी शक्ति को सम्भालने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। उनमें रक्तबीज की अक्षय शक्ति विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उनमें आश्चर्यजनक शक्ति है जो शुद्ध तथा नैतिक जीवन से उपलब्ध होती है, और जो संसार में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। ऐसी शान्तिपूर्णता, ऐसा सन्तोष, ऐसा प्रेम, शान्ति-पूर्वक तथा निरन्तर कार्य करते रहने की ऐसी शक्ति और काम के समय ऐसे सिंहतुल्य पौरुष का प्रदर्शन—यह सब तुम्हें कहाँ मिलेगा ? अतीत के अस्थिपंजरो ! यहाँ तुम्हारे समक्ष तुम्हारे उत्तरा-धिकारी खड़े हैं जो भविष्य का भारत है। अपनी तिजोरियों को और अपनी उन रत्नजटित मुँद-रियों को उनके बीच, जितनी शीघ्र हो सके, फेंक दो, और तुम हवा में विलीन हो जाओ जिससे तुम्हें भविष्य में कोई देख न सके—तुम केवल अपने कान खुले रखो। जिस क्षण तुम तिरोहित हो जाओगे उसी क्षण तुम नवजाग्रत भारत का उद्घाटन-घोष सुनोगे।"[11]

इस उद्धरण के स्पष्ट है कि विवेकानन्द निष्ठा और उत्साह के साथ विश्वास करते थे कि पुनर्जाग्रत भारत के भविष्य का निर्माण "सामान्य जनता" की ठोस नींव पर ही होगा और पुराने अभिजातवर्गीय तथा सामन्ती जाति-नेताओं की कब्रों पर गौरवपूर्ण ऐतिहासिक विरासत का उदय और विकास होगा।

विवेकानन्द भारत के पहले विचारक थे जिन्होंने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय दृष्टि से यथार्थवादी व्याख्या की। उन्होंने राजनीतिक उथल-पुथल के प्रलयकारी विप्लवों के मूल में सामाजिक संघर्षों का निरन्तर सूत्र ढूँढ़ निकाला।[12] उन्होंने भारतीय की जो व्याख्या की वह

---

11 वही, जिल्द 7, पृ. 326-28।

12 विवेकानन्द ने अपने लेख 'Modern India' (*Complete Works*, जिल्द 4, पृ. 394-95) में शासक वर्ग तथा सामान्य जनता के बीच संघर्ष का उल्लेख किया है : "इतिहास प्रमाणित करता है कि प्रत्येक समाज किसी समय परिपक्व अवस्था को प्राप्त होता है तब उसके

स्वरूप में अंशत: मार्क्सवादी भी है, किन्तु वह उनके अपने ढंग की मार्क्सवादी है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने 'दि कैपिटल' (पूंजी) अथवा 'दि कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' (साम्यवादी घोषणा) पढ़ी थी। उनके अनुसार प्राचीन भारत में राजशक्ति तथा ब्रह्मशक्ति के बीच संघर्ष चला करता था। बौद्ध धर्म क्षत्रियों का विद्रोह था, उसके कारण पुरोहितों की शक्ति का ह्रास और राजशक्ति का उत्कर्ष हुआ। आगे चलकर कुमारिल, शंकर और रामानुज ने पुरोहित शक्ति के उत्कर्ष का प्रयत्न किया। ब्राह्मण पुरोहितों ने मध्ययुगीन राजपूती सामन्तवाद से मेल करके अपनी शक्ति को कायम रखने की भी चेष्टा की। किन्तु मुसलिम शक्ति की प्रगति के कारण पुरोहित वर्ग के उत्कर्ष की सम्पूर्ण आशाएँ ध्वस्त हो गयीं। और न पुरोहित लोग विदेशी ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही अपनी शक्ति के पुनरुत्थान का स्वप्न देख सकते थे। भारतीय इतिहास की यह समाजशास्त्रीय व्याख्या अंशत: मार्क्सवादी है और अंशत: विल्फ्रैडो परेतो के सिद्धान्त से मिलती-जुलती है। यह मार्क्सवादी इस अर्थ में है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय निरन्तर जनता के शोषण में लगे रहे। दलित वर्गों के शोषण की धारणा मार्क्सवादी है। किन्तु विवेकानन्द का सिद्धान्त परेतो[13] की धारणा से इस अर्थ में मिलता-जुलता है कि उन्होंने शोषक वर्गों के बीच संघर्ष की धारणा का प्रतिपादन किया जिसे परेतो की भाषा में 'विशिष्ट वर्ग का चक्रावर्तन' कहते हैं। इसी प्रकार विवेकानन्द के अनुसार भारतीय इतिहास में दो सामाजिक प्रवृत्तियाँ रही हैं। पहली ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच निरन्तर संघर्ष की प्रवृत्ति है। कभी-कभी ऐसे भी अवसर आये जब दोनों वर्गों ने परस्पर सहयोग किया। दूसरे, पुरोहितों ने अपनी धार्मिक क्रियाओं के द्वारा और क्षत्रियों तथा बाद में राजपूतों ने तलवार के बल पर जनता का निरन्तर शोषण किया।

एक बार स्वामीजी ने घोषणा की थी, "मैं इसलिए समाजवादी नहीं हूँ कि वह पूर्ण व्यवस्था है, बल्कि इसलिए कि आधी रोटी न कुछ से अच्छी है।"[14] विवेकानन्द को दो अर्थों में समाजवादी कहा जा सकता है। प्रथम, इसलिए कि उनमें यह समझने की ऐतिहासिक दृष्टि थी कि भारतीय इतिहास में दो उच्च जातियों—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों—का आधिपत्य रहा है। क्षत्रियों ने गरीब जनता का आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण किया और ब्राह्मणों ने उसे नवीन तथा जटिल धार्मिक क्रियाकलाप और अनुष्ठानों के बन्धन में जकड़ कर रखा। उन्होंने खुले तौर पर जातिगत उत्पीड़न की भर्त्सना की और आत्मा तथा ब्रह्म में आस्था रखने के नाते मनुष्य तथा मनुष्य के बीच सामाजिक बन्धनों को अस्वीकार किया। उनके आध्यात्मिक पूर्णता के सिद्धान्त में यह भाव और विश्वास अनिवार्य रूप से निहित है कि सभी आत्माएँ अपने आध्यात्मिक जन्मसिद्ध अधिकार अर्थात् शाश्वत प्रकाश, ज्ञान तथा अमरत्व को साक्षात्कृत करने के लिए अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ रही हैं, यद्यपि उनका ढंग कितना ही अपूर्ण क्यों न हो। वास्तविक आध्यात्मिक आत्माओं के बीच किसी प्रकार की श्रेष्ठता अथवा ऊँच-नीच की दीवार खड़ी करना पाप है। विवेकानन्द की

अन्तर्गत शासक शक्ति तथा सामान्य जनता के बीच संघर्ष छिड़ जाता है। समाज का जीवन, उसका प्रसार तथा सभ्यता इस संघर्ष में उसकी विजय अथवा पराजय पर निर्भर होते हैं। समाज में क्रान्ति करने वाले ऐसे परिवर्तन भारत में बार-बार होते आये हैं, केवल इस देश में वे धर्म के नाम पर हुए हैं, क्योंकि धर्म भारत का जीवन है, धर्म देश की भाषा है, उसकी समस्त गतिविधियों का प्रतीक है। चारवाक, जैन, बौद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, चैतन्य, ब्रह्म समाज, आर्य समाज—ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य पन्थ, धर्म की लहर उफनती, गरजती, उमड़ती हुई आगे बढ़ती है, और पीछे-पीछे सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होती रहती है।"

13 परेतो के इस कथन से कि इतिहास अभिजात वर्गों का कब्रिस्तान है विवेकानन्द के इन शब्दों की तुलना कीजिए, "........ब्राह्मण जाति प्रकृति के अकाट्य नियमों का अनुसरण करती हुई अपने हाथों से अपनी समाधि का निर्माण कर रही है। यह अच्छा और उचित है कि उच्च वंश की हर जाति और विशेषाधिकार प्राप्त अभिजात वर्ग अपने हाथों अपनी चिता को तैयार करना अपना मुख्य कर्तव्य बनाये।"—विवेकानन्द 'Modern India', *Complete Works*, जिल्द 4, पृ. 391।

14 *Complete Works*, जिल्द 6, पृ. 389।

रचनाओं में सामाजिक समानता का जो समर्थन देखने को मिलता है वह प्रबल पुरातनवाद तथा ब्राह्मणों की स्मृतियों में व्याप्त सामाजिक ऊँच-नीच के सिद्धान्त का सबल प्रतिवाद है, उनका सामाजिक समानता का सिद्धान्त तत्वत: समाजवादी है।

दूसरे, विवेकानन्द समाजवादी इसलिए थे कि उन्होंने देश के सब निवासियों के लिए 'समान अवसर' के सिद्धान्त का समर्थन किया। उन्होंने लिखा, "यदि प्रकृति में असमानता है, तो भी सबके लिए समान अवसर होना चाहिए—अथवा यदि कुछ को अधिक और कुछ को कम अवसर दिया जाय तो दुर्बलों को सबलों से अधिक अवसर दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मण को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि चाण्डाल को। यदि ब्राह्मण को एक अध्यापक की आवश्यकता है तो चाण्डाल को दस की है, क्योंकि जिसको प्रकृति ने जन्म से सूक्ष्म बुद्धि नहीं दी है उसे अधिक सहायता दी जानी चाहिए। वह मनुष्य पागल है जो बाँस बरेली को ले जाता है। पददलित, दरिद्र और अज्ञानी इन्हीं को अपना देवता समझो।"[15] समान अवसर का सिद्धान्त निश्चय ही समाजवादी दिशा का द्योतक है। विवेकानन्द इस सिद्धान्त का समर्थन करके समाज के निम्न वर्गों का उत्थान करना चाहते हैं। यह हमें लोकतान्त्रिक समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिपादित अवसर की समानता की धारणाओं का स्मरण दिलाता है।

किन्तु स्वामी विवेकानन्द पश्चिम के समाजवाद तथा अराजकवाद के आदर्शों की दुर्बलता को समझते थे। वे समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें अवयवी विकास में विश्वास था। किन्तु यह निश्चित है कि वे महान् सामाजिक यथार्थवादी थे, वे भारतीय समाज में प्रचलित जातिगत उत्पीड़न से भली भाँति परिचित थे, और वे भोजन तथा भुखमरी की समस्या का समाधान करने की तात्कालिक आवश्यकता को समझते थे। इसलिए वे चाहते थे कि समाजवाद को भी एक बार परख लिया जाय, "यदि और किसी लिए नहीं तो उसकी नवीनता के लिए ही सही," और इसलिए भी कि सुख और दु:ख का पुनर्वितरण इससे सदैव अधिक अच्छा है कि सुख पर समाज के कुछ वर्गों का एकाधिकार हो।

मार्क्स की व्यवस्था में औद्योगिकी तथा अर्थतन्त्र जो कि सामाजिक व्यवस्था का निचला ढाँचा है, राजनीति के ऊपरी ढाँचे की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। एक अर्थ में उन्हें राजनीतिक परिस्थितियों का निर्णायक माना जाता है।[16] मार्क्स पूंजी के महत्व को भली भाँति समझता था। किन्तु विवेकानन्द संन्यासी थे और उनका लक्ष्य काम और कंचन पर विजय प्राप्त करना था इसलिए उन्होंने धन के सामाजिक तथा आर्थिक मूल्य को तथा ऐतिहासिक क्रियाकलाप के आर्थिक कारणों को उतना महत्व नहीं दिया जितना कि आर्थिक नियतिवादी तथा ऐतिहासिक भौतिकवादी देते हैं। किन्तु पश्चिम से लौटने के बाद वे सामाजिक संगठन के महत्व को समझने लगे और कहा करते थे कि यदि मैं तीस करोड़ रुपया एकत्र कर सकूं तो भारतीय जनता का उद्धार किया जा सकता है। भौतिकवादी पश्चिम के अनुभवों ने इस निर्विकल्प समाधि के साधक के समक्ष भी भुखमरी तथा दरिद्रता को जीतने की माँग के महत्व को स्पष्ट कर दिया। एक बार उन्होंने लिखा था, "दरिद्रों के लिए कार्य उत्पन्न करने हेतु भौतिक सभ्यता अपितु विलासिता भी आवश्यक है। रोटी ! रोटी ! मुझे उस ईश्वर में विश्वास नहीं है जो मुझे यहाँ रोटी नहीं दे सकता और स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता है। उँह ! भारत को उठाना है, मुझे गरीबों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है और पोपलीला का अन्त करना है। पोपलीला का नाश हो, सामाजिक अत्याचार का नाश हो। अधिक रोटी, प्रत्येक के लिए अधिक अवसर !"[17] मार्क्स ने आने वाली सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए सर्वहारा के संगठित दल की आवश्यकता पर बल दिया।

---

15 वही, पृ. 321।

16 वी. पी. वर्मा, Critique of Marxian Sociology,' *The Calcutta Review*, मार्च-जून 1955।

17 *Complete Works*, जिल्द 4, पृ. 313।

इसके विपरीत विवेकानन्द भारत के सामाजिक उद्धार के लिए व्यक्तिगत कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना चाहते थे। उनकी मानववादी आचारनीति तथा कॉम्त के ढंग की व्यावहारिक अभिरुचि इस बात से प्रकट होती है कि उन्होंने संन्यास आश्रम के एकान्तप्रिय, आत्मरति, आत्मतृप्त, व्यक्तिवादी तथा ध्यानोन्मुखी सदस्यों को एक परोपकारी संस्था के रूप में संगठित करके क्रियाशील बना दिया। विवेकानन्द के वेदान्ती समाजवाद तथा मार्क्सवाद में आधारभूत अन्तर यह है कि यद्यपि विवेकानन्द ने समाज के सुधार पर वल दिया, किन्तु उनका इस बात पर और भी अधिक वल था कि मनुष्य की आत्मा उठ कर देवत्व को प्राप्त कर ले। मार्क्स एक महान यथार्थवादी तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी था, इसलिए उसने हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति तक का समर्थन किया। किन्तु मार्क्स के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। उनका स्वरूप एक ऐसे दर्शन का है जिसमें घृणा, तिरस्कार और ईर्ष्या का प्राधान्य देखने को मिलता है। मार्क्सवाद उस अर्थ में गम्भीर तथा तात्विक दर्शन नहीं है जिसमें प्लेटोवाद, वेदान्त, बौद्ध दर्शन अथवा हेगेलवाद है। उसका जन्म औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न विक्षोभ तथा असामंजस्य से संकुल परिस्थितियों में हुआ था। वह पूँजीवाद के अन्तर्विरोधी को हिंसात्मक कार्यप्रणाली के द्वारा नष्ट कर देना चाहता है, किन्तु वह मनुष्य की गम्भीर समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। इसके विपरीत विवेकानन्द के समाजशास्त्र का मूल आध्यात्मिकता है। उसमें चरित्र की शुद्धता तथा भ्रातृत्व पर अधिक वल दिया गया है। इस प्रकार वह न्याय, प्रेम तथा सार्वभौम करुणा के शाश्वत सन्देश का ही पुनः प्रतिपादन है।

पिछले दो विश्व-युद्धों के फलस्वरूप मनुष्यों की समझ में यह आता जा रहा है कि भौतिकवादी समाजशास्त्र, प्राकृतिक आचारनीति तथा संशयवादी तत्वशास्त्र निरर्थक हैं। विवेकानन्द के सामाजिक निष्कर्ष अगणित सन्तों और ऋषियों के शाश्वत आध्यात्मिक अनुभवों पर आधारित हैं। उन्होंने अवयवी विकास, राष्ट्रीय उन्नति तथा मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता पर वल दिया। मेरा विश्वास है कि इस समय समन्वय के अधिक व्यापक सामाजिक और राजनीति दर्शन की आवश्यकता है।[18] भौतिक जगत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पूंजीवादी शोषण का अन्त होना चाहिए और आर्थिक समानता को समाज का आदर्श बनाया जाना चाहिए। किन्तु आर्थिक सुरक्षा की प्राप्ति के उपरान्त विश्व की संस्कृति और उसकी आत्मा के अधिक पूर्ण विकास के लिए तथा मानव-सम्बन्धों को अधिक समुचित रूप से नैतिक नींव पर स्थापित करने के लिए हमें वेदान्त की उन शिक्षाओं से प्रेरणा लेनी पड़ेगी जिनके आधुनिक प्रतिपादक स्वामी विवेकानन्द थे।

18 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, 'Gandhi and Marx,' *The Indian Journal of Political Science*, जून 1954; 'Marxism and Vedant', *The Vishvabharati Quarterly*, शरद, 1954।

परिशिष्ट 10

राजेन्द्रप्रसाद

सर्वप्रथम सन् 1930 के लगभग आदरणीय राजेन्द्र बाबू का नाम सुनाई पड़ा जब मैं छपरा लोअर स्कूल का छात्र था। सम्भवत: 1934 के भूकम्प के बाद आयोजित सेवा-कार्यों के सिलसिले में मधुबनी चर्खा संघ में आयोजित सभा में उनका प्रथम दर्शन हुआ था। सन् 1938 में पटना विश्वविद्यालय के ह्वीलर सीनेट हॉल में "खादी का अर्थशास्त्र" विषय पर उनका प्रसिद्ध भाषण सुनने का अवसर मिला। ऐसा याद आता है कि दमे के जोर के कारण वह भाषण बीच में ही बन्द हो गया।

सन् 1939 में गान्धी सेवा संघ के चम्पारन जिले के अन्तर्गत बृन्दावन स्थान पर आयोजित पंचम वार्षिक अधिवेशन के समय माननीय राजेन्द्र बाबू को देखने का पुन: अवसर मिला। अपार जनसमूह एकत्रित था। शायद डेढ़ दो लाख से भी अधिक जनता उपस्थित थी। राजेन्द्र बाबू भोज-पुरी भाषा में जनसमूह को समझा रहे थे : "भाई लोगनी, पश्चिम से गोलमाल आवता (सभा में, पश्चिमी दिशा में बैठे कुछ लोग शोरगुल कर रहे थे)। अपने लोगन शान्त ना रहब त गाँधीजी ना आएब।"

मोतीहारी शहर के बलुआताल मुहल्ले में स्थित हरिजन होस्टल के उद्घाटन के अवसर पर, सन् 1942 के प्रसिद्ध आन्दोलन के प्राय: दो मास पूर्व, राजेन्द्र बाबू का दर्शन करने का और उनका व्याख्यान सुनने का सुयोग मिला। उस अवसर पर भीड़ साधारण थी अत: उनका पूरा व्याख्यान हम लोग सुन सके।

एक बार सन् 1946 में पहलेजाघाट स्टेशन पर राजेन्द्र बाबू को मैंने देखा। वे काला कोट पहने हुए थे और उनके कन्धे पर एक काली लोई (कम्बल) पड़ी थी। उनकी सादगी उनकी महत्ता को और परिपुष्ट कर रही थी।

सन् 1949 में शिकागो विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय गृह (इन्टरनेशनल हाउस) में भारतीय स्वतन्त्रता दिवस मनाया जा रहा था। उस अवसर पर ऐसा प्रस्ताव किया गया कि विभिन्न भार-तीय भाषाओं के बोलने वाले विद्यार्थी अपनी-अपनी भाषा के कुछ वाक्य पढ़ें जिससे उपस्थित जन-समूह कम से कम भारतीय भाषाओं की ध्वनि सुन तो ले। उस अवसर पर स्वामी सत्यदेव परि-व्राजक विरचित "राष्ट्रीय सन्ध्या" से राजेन्द्र बाबू के विषय में लिखित सात-आठ पंक्तियाँ मैंने पढ़ी थीं। उसका प्रथम वाक्य मुझे अभी भी याद है—"तपस्वी राजेन्द्र को कौन नहीं जानता।"

जब मैं अमरीका से लौटकर भारत आया तो सन् 1950 के अक्टूबर मास में दिल्ली में उनसे मिला। उनसे मेरी यह प्रथम बातचीत थी। प्राय: 40-45 मिनटों तक बातचीत हुई। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि मेरा घर छपरा जिले में है, उन्होंने मुझ से भोजपुरी में ही बोलना आरम्भ कर दिया। उसी वर्ष उन्हें अखिल भारतीय इतिहास कान्फ्रेन्स का उद्घाटन करना था। अतएव उन्होंने मुझे इतिहास की दार्शनिक विवेचना पर एक निबन्ध लिखने को कहा। दिल्ली से लौटने पर "इतिहास का स्वरूप" विषय पर एक निबन्ध प्रणीत कर मैंने उनके निजी सचिव के पास भेज दिया। जब सन् 1951 में जून महीने में मैं पुन: दिल्ली में उनसे मिला तो उस निबन्ध की प्राप्ति-स्वीकृति उन्होंने स्वयं की। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें उद्घाटन भाषण तैयार करने में मेरे निबन्ध से

सहायता मिली थी। मैंने उनका उद्घाटन भाषण देखा था, किन्तु वह उनकी पूरी स्वतन्त्र कृति थी, मेरे निबन्ध की कोई भी बात उसमें नहीं थी। किन्तु इस लोकोत्तर महामानव की असीम उदारता थी कि मेरे उत्साह को बढ़ाने के लिए उन्होंने कह दिया कि मेरा निबन्ध उन्हें अच्छा लगा और उन्होंने उससे मदद ली। सन् 1951 में बड़ी देर तक उनसे वार्तालाप का अवसर मिला था। उनसे मिलकर कुछ वैसा ही परितोष हुआ जो गर्मी के दिनों में गंगा-स्नान से होता है। राजेन्द्र बाबू महत्ता की उस अन्तिम सीमा पर आसीन थे जहाँ पर स्थित पुरुष को किंचिन्मात्र भी अभिमान शेष नहीं रह जाता। निश्चित ही भारतीय राजनीति के वे भरत थे।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के वार्षिकोत्सवों पर तीन बार इस महापुरुष के दर्शन हुए। सन् 1954 में उन्होंने गान्धीजी के चित्र का अनावरण किया। सन् 1956 में जब डॉ. सम्पूर्णानन्द द्वारा बिहारी लेखक पुरस्कार मुझे और अन्य पुरस्कार दूसरे लोगों को प्रदान किये गये थे उस साल के वार्षिकोत्सव पर भी रंगमंच पर राजेन्द्र बाबू समासीन थे। जब सन् 1958 में राजेन्द्र बाबू को परिषद् का वयोवृद्ध पुरस्कार दिया गया था, वह भी एक ऐतिहासिक चिरस्मरणीय दृश्य था। मैथिलीशरण गुप्त भी उस अवसर पर विशेष रूप से आमन्त्रित थे।

राष्ट्रपति के गौरवपूर्ण पद-भार को निरन्तर बारह वर्षों तक वहन कर मई 1962 में जब राजेन्द्र बाबू पटना पधारे तब गान्धी मैदान में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उस अवसर पर अपने भाषण में उन्होंने अणु-युद्ध के प्रलयंकर खतरे की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। सीनेट हॉल में भी एक महती सभा में उन्होंने विस्तार से अणु युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया।

चीनी-आक्रमण के समय राजेन्द्र बाबू का रौद्र रूप प्रकट हुआ। गान्धी मैदान में एक लाख से अधिक जनता उपस्थित थी। वीरतापूर्वक विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए उन्होंने देश की जनता का आह्वान किया। उस अवसर पर उन्होंने तिब्बत की राजनीतिक मुक्ति को भारतीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक बताया। इस प्रकार तिब्बत की स्वतन्त्रता, भारतीयों के लिए, राजेन्द्र बाबू का वसीयतनामा है, ऐसा मान सकते हैं।

सन् 1962 के अक्टूबर में छज्जूबाग स्थित उनके तत्कालीन निवास-स्थान पर तीसरी बार उनसे वार्तालाप करने का सुअवसर मिला। अपनी कुछ पुस्तकें मैंने उन्हें अर्पित कीं। उन्होंने बताया कि वे उस समय मस्तिष्क में दर्द से पीड़ित हैं, समय मिलने पर मेरी पुस्तकों को पढ़ेंगे। जब मैं उनसे मिला था उस समय काफी संध्या हो चली थी। उस वातावरण में राजेन्द्र बाबू को देखने से मेरे हृदय पर कुछ उसी तरह का चित्र उपस्थित हुआ जो एक विशाल किन्तु जीर्ण वटवृक्ष को देखने से होता है। एक बीते हुए युग के विराट् ऐतिहासिक स्तम्भ के रूप में वे प्रतीत हुए।

एक अर्थ में अपने गुरु की अपेक्षा भी राजेन्द्र बाबू अधिक महात्मा थे। गान्धीजी की तुलना में आत्म-प्रचार की मात्रा राजेन्द्र बाबू में बहुत कम थी। यह ठीक है कि पश्चिमी साहित्यकारों का अनुसरण कर दोनों ने ही अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं; किन्तु गान्धीजी की प्राय: समस्त रचनाएँ ही आत्मकथात्मक हो गयी हैं। इस प्रकार की शैली की विशेषता है कि इसमें पाठकों के साथ रागात्मक तादात्म्य स्थापित करने में सहायता मिलती है, किन्तु जब लेखक आत्मानुभवों के प्रकाश के नाम पर यदाकदा सुरुचि की मर्यादा का उल्लंघन करता है तब आलोचक की शील-भावना को ठेस लगती है। साहित्य में जीवन के प्रयोगों का संकलनात्मक अंकन ही ठीक है, साहित्य जीवन की फोटोग्राफी कदापि नहीं है। गान्धीजी की आत्मकथात्मक शैली यदा-कदा आत्मविज्ञानात्मक रूप धारण कर लेती है और महात्मापन का सहारा लेकर ऐसी बातों का भी उल्लेख कर डालती है जिनके कहे बिना भी काम चल सकता था। किन्तु मर्यादा की बाँध में दृढ़ता से बँधे "गृहस्थ" राजेन्द्र बाबू ने कभी भी आत्म-प्रचार के मार्ग का अवलम्बन नहीं किया।

राजेन्द्र बाबू राजनीतिज्ञ थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि कुशल राजनीतिज्ञ वे नहीं रहते तब जवाहरलाल नेहरू की प्रतिकूलता और विरोध के बावजूद पूरे बारह वर्ष तक स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के अत्यन्त गौरवपूर्ण और सम्मान की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान पर नहीं आसीन होते। सन् 1920 से 1946 तक अर्थात् जब तक क्रियात्मक राजनीति का उनका क्षेत्र बिहार में रहा, वे सर्वश्रेष्ठ सर्वमान्य नेता रहे। किसी ने भी उनकी प्रतिद्वन्द्विता करने की हिम्मत नहीं की।

यह ठीक है कि उनका निरहंकार होना उनके अजातशत्रुत्व की रक्षा करता था; किन्तु एक ओर यदि उनकी अनहंवृत्ति उनकी राजनीतिक महत्ता को मजबूत करती थी और साथ ही उनके महात्मापन को भी व्यक्त करती थी, तो दूसरी ओर हमें इस बात का अफसोस रहता है कि यदि राजेन्द्र बाबू अधिक राजसिक प्रकृति के रहते तो शायद देश की राजनीति पर उनका संवर्धित ठोस प्रभाव रहता। यह निर्विवाद है कि दक्षिणपंथी नेताओं में (जिनमें सरदार पटेल, कृपलानी, टण्डन, शंकरराव, पट्टाभि सीतारमैया आदि का महत्वपूर्ण स्थान है) सरदार पटेल के बाद ही राजेन्द्र बाबू का नाम आता है, किन्तु फिर भी भारतीय इतिहास और राजनीति के विद्यार्थी की दृष्टि से मेरे हृदय में एक कसक रह जाती है कि प्रचण्ड पाण्डित्य और निर्णयकारिणी बुद्धि के बावजूद भी क्यों नहीं राजेन्द्र बाबू का और अधिक प्रभावशाली राजनीतिक स्थान हुआ। सम्भवत: इसका कारण यह था कि राजेन्द्र बाबू कुछ तटस्थ वृत्ति के थे, जोरदार शब्दों में अपनी नीति का प्रकाशन उन्हें पसन्द नहीं था, वे महात्मा गान्धी का एक सच्चा अनुयायी होना एक स्वतन्त्र राजसी राजनीतिक नेता होने की अपेक्षा अधिक पसन्द करते थे।

कमजोर रोगग्रस्त शरीर रखने पर भी परिश्रम करने की अटूट क्षमता उनमें थी। गया कांग्रेस, बिहार का 1934 का भूकम्प तथा रामगढ़ कांग्रेस के अवसर पर घोर क्रियाशीलता का सुन्दर उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया। केन्द्रीय सरकार के खाद्य-मन्त्रालय की अध्यक्षता, संविधान सभा की अध्यक्षता, अखिल भारतीय कांग्रेस का तीन बार का राष्ट्रपतित्व (उस समय कांग्रेस अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था), हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता आदि अलंकरणीय पदों के कार्यों का सम्पादन जिस अथक परिश्रमशीलता से आपने किया वह आपके कर्मयोगी व्यक्तित्व को प्रकृष्टतर घोषित करता है। साथ ही कमजोर और व्याधिग्रस्त शरीर की सन्निधि में आपके दुर्दम्य संकल्प बल की भी घोषणा करता है।

उत्सर्ग ही राजेन्द्र बाबू का परमाभिवांछित श्रेय था। प्रेय और संग्रह तो आपके लिए कभी भी अभीसिप्त नहीं रहे। विद्यार्थी अवस्था में ही गोपालकृष्ण गोखले की सेवा में अपना उत्सर्ग करने का उनका संकल्प यद्यपि पारिवारिक बन्धनों की दृढ़ता के कारण साकार न हो सका तथापि उनकी मानसिक वृत्ति का अवश्य सूचक है। किन्तु पूना के संत (अर्थात् गोखले महोदय) के समक्ष आत्म-समर्पण में अवरुद्ध होने पर भी, साबरमती के संत के सामने पूर्ण आत्मसमर्पण करने में राजेन्द्र बाबू सफल हुए। अपने जीवन के छत्तीसवें वर्ष में उन्होंने धन प्राप्ति का मार्ग छोड़ दिया और त्याग के पथ के पथिक बने। राजेन्द्र बाबू का त्याग किसी भी प्रथम श्रेणी के भारतीय राजनीतिक नेता के त्याग से कम नहीं है।

भारतीय इतिहास, विधिशास्त्र (कानून) और राजनीति के वे महान पण्डित थे। संस्कृत साहित्य और कानून का उनका ज्ञान जवाहरलाल नेहरू की अपेक्षा अधिक था, यद्यपि नेहरूजी विश्व-इतिहास और मार्क्सवाद के अनुशीलन में उनसे काफी आगे थे।

राजेन्द्र बाबू परम धार्मिक थे। इस कलियुग के वे बोधिसत्व थे। सन् 1946 में उनकी अध्यक्षता में भगवान बुद्ध का "बोधिदिवस" बिड़ला मन्दिर, पटना में मनाया जाने वाला था। हम लोग समय से कुछ पूर्व ही सभास्थल पर चले गये थे। उस समय भगवान राम की मूर्ति के सामने श्रद्धासमन्वित नतमस्तक राजेन्द्र बाबू का जो रूप मैंने देखा था वह आज भी पूर्णत: मुझे स्मरण है और व्यावहारिक भक्तियोग के अखण्ड उदाहरण के रूप में मेरे हृदय पर अंकित है।

उनकी सरल सुबोध शैली उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। उनके व्यक्तित्व पर विचार करने पर ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके जीवन से कुण्ठा, कल्मष, राग-द्वेष, आदि विकार समाप्त हो गये थे। गंगा की ऋषिकेश-स्थित निर्मल, स्वच्छ धारा के समान उनका जीवन पवित्र था। व्यावहारिक धर्म और सेवापूर्ण राजनीति का आकर्षक समन्वय उपस्थित कर उन्होंने जनक, अशोक, हर्षवर्धन और विलसन की कोटि में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

परिशिष्ट 11

जवाहरलाल नेहरू

1. संस्मरणात्मक

अदम्य उत्साह और अखण्ड जीवन-शक्ति के प्रतीक जवाहरलाल नेहरू के साथ "स्वर्गीय" शब्द युक्त करना पड़ सकता है, इस कल्पना के साथ सामंजस्य करने के लिए मन और हृदय कदापि तैयार नहीं हो सकता था। किन्तु कराल काल की क्रूर गति के विधान को जब राम, कृष्ण और बुद्ध जैसे लोकोत्तर मानवों को भी मानना पड़ा तब अन्य जनों की क्या कथा ?

सन् 1930 के लगभग सर्वप्रथम मैंने जवाहरलाल का नाम सुना। तब मैं छपरा में लोअर स्कूल का छात्र था। जवाहरलाल युवक-हृदय-सम्राट हो चुके थे। उस समय "भारत का डंका आलम में बजवाया वीर जवाहर ने", यह गीत सुनाई पड़ता था। मोतीलाल और जवाहरलाल, ये शब्द काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। उस समय हम छात्र मुख्यतः चार राजनीतिक नेताओं का नाम जानते थे—महात्मा गान्धी, मोतीलाल, जवाहरलाल और राजेन्द्रप्रसाद।

सन् 1934 के भूकम्प के समय मैं मधुबनी में था। विध्वंस की करुण कहानी सुनकर जवाहरलाल वहाँ आये। संभवतः चर्खा संघ में उनका भाषण भी हुआ। मैं तब अस्वस्थ था। किन्तु उस समय मेरे मस्तिष्क में जवाहरलाल एक उद्दीप्त अग्निपुंज के सदृश प्रतीत होते थे। हम छात्र यह मानने लगे थे कि वे एक "गरम" दुर्दम्य नेता हैं।

मुझे सर्वप्रथम रामगढ़ कांग्रेस के पूर्व, फरवरी 1940 में पटना के सदाकत आश्रम में आयोजित सभा के बाद जवाहरलाल का दर्शन हुआ। हम लोगों की इन्टरमीडियेट की परीक्षा चल रही थी। किन्तु हम सभी गान्धीजी और अन्य नेताओं को देखने दौड़ पड़े थे। मोटरकार की अगली पंक्ति में बैठे जवाहरलाल के तेजस्वी मुख-मण्डल को देख मैं बड़ा प्रभावित हुआ। उसी अवसर पर अंजुमन इस्लामिया हॉल में युवकों की सभा में उनका भाषण सुनने को मिला। सरोजिनी नायडू ने उस सभा की अध्यक्षता की थी।

सन् 1942 के "भारत छोड़ो" आन्दोलन के सिलसिले में जवाहरलाल गिरफ्तार कर अहमदनगर किले में बन्द थे। देश की जनता उन्हें पुनः अपने बीच पाने के लिए बेचैन थी। सन् 1945 के दिसम्बर में जब वे कदमकुँआ कांग्रेस मैदान में विद्यार्थियों की सभा में भाषण करने आ रहे थे तब उन्हें अच्छी तरह देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके भरे हुए मुखमण्डल और बड़ी-बड़ी प्रभावशाली आँखों ने मुझ पर एक अमिट छाप छोड़ी। उस दिन गान्धी मैदान में एक-डेढ़ लाख मनुष्यों की महती सभा में उनका भाषण हुआ। सभा आरम्भ होने के प्रायः $1\frac{1}{2}$ घण्टा पूर्व ही मैदान का काफी हिस्सा अपार जनसमूह से भर चुका था।

सन् 1946 में पटना बाँकीपुर लौन में (जिसका नाम अब गान्धी मैदान हो गया है) हिन्दू-मुसलिम दंगे के समय एक ही मंच से राजेन्द्र बाबू और जवाहरलाल के व्याख्यान हुए। दंगे के कारणों की मीमांसा करते हुए नेहरूजी ने लोगों को एक अच्छी सीख दी। उन्होंने कहा कि गान्धीजी ने हम लोगों को यही महत्वपूर्ण बात, जो कहने और सुनने में बहुत मामूली है (नेहरूजी ने अपने बोलने के सिलसिले में "फिजूल" शब्द का प्रयोग किया था) बतायी कि "डरो मत"। दंगे अविश्वास और

परिशिष्ट 9

महात्मा गान्धी का समाज-दर्शन

महात्मा गान्धी के समाज-दर्शन पर सांगोपांग विवेचना करने का अभी अवसर नहीं है। इस विषय पर विस्तार से मैंने अपनी पुस्तक "द पोलिटिकल फिलॉसोफी ऑव महात्मा गान्धी एण्ड सर्वोदय" में विवेचना की है। अभी सिर्फ समाज-व्यवस्था पर उनके विचार का दिग्दर्शन कराया जायगा।

महात्मा गान्धी अपने जीवन के प्रारम्भ से ही परम्परावादी थे और वर्णाश्रम में विश्वास करते थे। वर्णाश्रम का तात्पर्य उस वैदिक व्यवस्था से है जिसमें मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार उसके धर्म का निर्णय किया जाता है। किन्तु परम्परावादी होने के कारण गान्धीजी जन्म से वर्ण मानते थे। इस दृष्टि से अवलम्बन करने के कारण गान्धीजी का वर्ण-व्यवस्थावाद स्वामी दयानन्द के विचार की अपेक्षा अधिक सीमित है। स्वामी दयानन्द वर्ण का निर्धारण जन्म से बिल्कुल नहीं मानते थे। गुण, कर्म और स्वभाव को ही वे मुख्य मानते थे। आश्चर्य है कि विलायत में शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद और उदारचेता हिन्दू होने पर भी महात्माजी जन्म से वर्ण-निर्धारण स्वीकार करते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि उनकी दृष्टि में विदुर आदि सन्तों का उदाहरण रहा होगा और समझते होंगे कि जहाँ कहीं भी मनुष्य रहे अपने निर्मल कर्म के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अनासक्तियोग नामक गीता पर अपने भाष्य में भी गान्धीजी ने जन्ममूलक वर्णाश्रम धर्म का ही समर्थन किया है। यह बिल्कुल ठीक है कि महात्मा गान्धी के वर्णाश्रम में कहीं भी ऊँच-नीच के भाव की गन्ध नहीं पायी जाती है, तथापि जो लोग जन्म से तथाकथित छोटे वर्णों में पैदा होते हैं उनकी दृष्टि में जन्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को मानने का तात्पर्य यह होगा कि तथाकथित उच्च वर्णों में उन्नति प्राप्त करने के लिए उनके पास कोई अवसर नहीं रहेगा। यदि गान्धीजी की विचारधारा लागू की जाती तब तो अम्बेदकर को भारत का विधि मन्त्री नहीं बनना चाहिए था और न कामराज को कांग्रेस का अध्यक्ष।

वैदिक वर्णाश्रम के समर्थक होने के कारण वर्तमान भारत में जो जातिगत संकीर्णता है उसका गान्धीजी ने बड़ा जोरदार खण्डन किया है, और जाति-प्रथा की कुरीतियों और कुव्यवहारों के प्रति बड़ा ही प्रबल आन्दोलन किया है। उस क्षेत्र में उनके आन्दोलन नानक, कबीर, राणा और राममोहन राय के आन्दोलनों से भी आगे बढ़ गये। खेद की बात है कि महात्माजी के मरणोपरान्त उनके चलाये हुए आन्दोलनों में भी जातिवाद का विष बढ़ रहा है। जिस तरह गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों में से जातिवाद खत्म किया, उसी तरह व्यापक आन्दोलन द्वारा महात्माजी के श्रद्धासहित नाम लेने वाले कांग्रेसी और सर्वोदयी को भारत से जातिवाद मिटाना चाहिए। जीवन के अन्तिम दिनों में महात्माजी के सामयिक विचार अत्यधिक उग्र हो गये। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से उन्होंने वर्णाश्रम का विरोध नहीं किया और न इसके समर्थन में लिखे गये अपने लेखों का संशोधन ही किया तथापि वे वर्गहीन, जातिविहीन समाज के समर्थक हो गये। पीछे उनकी उग्रवादिता यहाँ तक बढ़ गयी कि वे हरिजनों और सवर्णों के विवाह का समर्थन करने लगे और ऐसे विवाहों के अवसर

पर ही वे अपना आशीर्वाद देते थे। गान्धीजी की यह उग्रवादिता उनकी प्रारम्भिक परम्परावादिता के बहुत आगे है।

महात्माजी के समाज-दर्शन का अन्तिम प्रतिपाद्य यही माना जायगा कि भारत में जाति-रहित हिन्दू समाज बने। साम्प्रदायिक झगड़ों को भी गान्धीजी सैद्धान्तिक, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक आधारों पर दूर करना चाहते थे। किसी भी सम्प्रदाय के लिए उनमें द्वेष नहीं था। लेकिन अन्तरसाम्प्रदायिक विवादों की अकबरी नीति का कहीं समर्थन उन्होंने नहीं किया।

विश्वसमाज में गान्धीजी समस्त कृत्रिम बन्धनों को दूर कर अहिंसात्मक शोषण-रहित नीतिमूलक समाज की स्थापना करना चाहते थे। इस समाज के नैतिक आधारों पर अत्यधिक बल उन्होंने प्रदान किया है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सत्य और अहिंसा को और साधन बनाने से जो आर्थिक और राजनीतिक विषमताएँ हैं वे स्वतः दूर होने लगेंगी। जब मनुष्य को ईश्वरीय पथ का पथिक बनने का रस मिलने लगेगा तो सांसारिक दुर्भाव, संघर्ष और युद्ध दूर होते जायेंगे। वह कर्तव्य पथ का पथिक बनेगा और दूसरे के अधिकारों की रक्षा के लिए अपने अधिकारों का त्याग करेगा। इस प्रकार विश्व-स्तर पर महात्माजी आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते थे।

हिन्दू समाज, भारतीय समाज और विश्व समाज के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गान्धीजी सर्वदा सत्य और शिव का ही आदर करना चाहते थे। सामाजिक शोषकों के प्रति हिंसात्मक संघर्ष उन्हें अपेक्षित नहीं था। सांसारिक सत्ताधारियों और जुल्मियों के लक्ष्य का प्रेम, दया, करुणा और शील के द्वारा परिवर्तन करने में उन्हें अटूट विश्वास था। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने जो करुणा का सन्देश संसार को दिया उसे फिर से गान्धीजी व्यापक पैमाने पर उद्‌घोषित कर रहे थे। गान्धीजी का सामाजिक दर्शन स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार और निर्भीकता का दर्शन है। समाज में यदि अन्याय और अत्याचार है तो एक व्यक्ति भी सत्य का आश्रय ग्रहण कर इसका विरोध कर सकता है, ऐसा गान्धीजी मानते थे। संख्या पर उनका उतना बल नहीं था जितना आध्यात्मिक और नैतिक संशोधन पर। आज समस्त जगत में हिंसा, संघर्ष, द्वेष, लिप्सा, दम्भ, राजनीतिक अधिकारवाद और सत्तावाद की अग्नि जल रही है। मद से चूर्ण राजनीतिक और आर्थिक सत्ताधारी सामाजिक मूल्यों को विश्रृंखलित कर रहे हैं। गान्धीजी यह चाहते थे कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को कम से कम कर निर्भीक बनकर अहिंसात्मक पद्धति से सामाजिक अन्याय का विरोध करे। गान्धीजी की यह पद्धति बड़ी ही क्रान्तिकारी सिद्ध हुई है। आत्मा की अमरता का उसमें सन्देश भरा हुआ है।

गान्धीजी विलायत में पढ़े थे और युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों में विलायती समाज में रहे थे, तथापि पश्चिमी समाज की सामाजिक स्वतन्त्रता उन्हें बिल्कुल अप्रिय थी। वे सरलता के पक्षपाती थे और ब्रह्मचर्य में उनका विश्वास था कि पश्चिमी सामाजिक दार्शनिक, चाहे वे पूंजीवाद के समर्थक हों या समाजवाद के, दोनों ही आवश्यकताओं को अत्यधिक बढ़ाना और फिर एक पेचीदगीपूर्ण आर्थिक यन्त्र के द्वारा उनकी पूर्ति अपना अभीष्ट मानते हैं। जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए कृत्रिम सन्तति-निग्रह को वे ठीक मानते हैं। महात्माजी की दृष्टि में मनुष्य का परम धर्म है कि वह आवश्यकताओं को सीमित करे, अपनी इन्द्रियों पर स्वेच्छापूर्वक नियन्त्रण करे और ब्रह्मचर्य के द्वारा सन्तति-निग्रह करे। उच्चाशय व्यक्तियों के लिए यह आदर्श ठीक है। किन्तु भारत और चीन इन दो विशाल देशों की बढ़ती हुई जनसंख्या कैसे रोकी जाय इसका भी कोई व्यावहारिक उपाय खोजना होगा।

तत्ववेत्ता की दृष्टि से गान्धीजी राज्य की अपेक्षा समाज को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। राज्य उनके अनुसार एक कृत्रिम यन्त्र है जो हिंसा और शान्ति से अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है। राज्य की बुराइयों के विरोध में गान्धीजी ने सत्याग्रह का महान अस्त्र प्रदान किया। राज्य उनके अनुसार एक ऐसी सत्ता के केन्द्रित रूप में प्रतीत हुआ जिसका विरोध करना जरूरी है, भले ही वह विरोध अहिंसात्मक ढंग से हो। किन्तु समाज का महत्व उन्होंने बहुत माना और सामाजिक संशोधन और उन्नयन पर उनका बहुत जोर रहा। किन्तु राज्य की अपेक्षा समाज को महत्वपूर्ण मानते हुए भी समाज को एक स्वतन्त्र इकाई मानना गान्धीजी को अभीष्ट नहीं था। उनकी दृष्टि में व्यक्तियों के समूह का ही नाम समाज है। अतः व्यक्तियों के संशोधन पर ही उनका मुख्य आधार है। वे ऐसा नहीं मानते थे कि सामाजिक क्रान्ति द्वारा सुधार हो सकता है। अभी उनकी ऐसी आस्था थी कि व्यक्तियों के सुधार के द्वारा ही समाज का सुधार हो सकता है। इस अर्थ में कह सकते हैं कि गान्धीजी व्यक्तिवादी थे और मार्क्स, दुर्खायम आदि समूह के महत्वाभिलाप का इनकी अपेक्षा व्यक्तिवाद का आधार गान्धीजी का परम अभीष्ट है।

गान्धीजी के व्यक्तिवाद में भी कुछ दूर तक हिन्दू धर्म का प्रभाव दीख पड़ता है। गान्धी ऐसा कदापि नहीं मान सकते कि विभिन्न सामाजिक तत्वों और कारकों की प्रतिध्वनि ही व्यक्ति है। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के पुनर्जन्मवाद और संस्कारवाद में विश्वास रखने के कारण गान्धीजी यह मानते थे कि अनेक जन्मों के अच्छे और बुरे संस्कार व्यक्ति के जीवन में रहते हैं और व्यक्ति को हम जैसे चाहें वैसे मोड़ नहीं सकते। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक आन्तरिक संस्काराधारित धर्म होता है और उसी के अनुसार वह आगे बढ़ सकता है।

महात्मा गान्धी के सामाजिक दर्शन पर एक ओर यदि परम्परागत हिन्दू धर्म और दर्शन का गहरा प्रभाव है तो दूसरी ओर आधुनिक विश्व में जो समानतावाद और स्वतन्त्रतावाद की लहर व्याप्त हो रही है उसका भी काफी प्रभाव है।

प्रयत्न के द्वारा समाज में परिवर्तन किया जा सकता है, यह विचार आधुनिक प्रभाव का सूचक है। स्मृति-ग्रन्थों में जो व्यवस्था दे दी गयी है अथवा जो व्यवस्था वर्तमान है, उसकी असंग-तियों का खण्डन करना महात्माजी का उद्देश्य था। यदि वर्णाश्रमवाद और पुनर्जन्मवाद गान्धीजी के परम्परागत विरासत के सूचक हैं तो समानतावाद और सामाजिक परिवर्तनवाद उनकी आधुनिकता का सूचक है।

उनके हृदय की जो पीड़ा थी, उसका निदर्शन होता है। जो अन्य सामाजिक बुराइयां हमारे समाज में रही हैं उनके प्रति भी महात्मा गान्धी अत्यधिक जागरूक थे। गान्धीजी के प्रति हमारी सबसे बड़ी श्रद्धांजलि यही होगी कि अपने देश में व्याप्त सामाजिक असंगतियों और कुरीतियों का हम निराकरण कर डालें। संसार में किसी भी देश में शायद इतनी सामाजिक असमानता नहीं है जितनी भारत में। यह भी स्मरण रखने की बात है कि राजनीति दृष्टि से जितने पददलित हिन्दू किये गये हैं, शायद उतनी अन्य कोई जाति नहीं की गयी। अतः इतिहास से हम शिक्षा ग्रहण करें और गान्धीजी के बताये हुए मार्ग पर चलकर शोषणरहित, जातिरहित, सुखी समाज का निर्माण करें।

भय के कारण ही होते हैं। उसी यात्रा में ह्वीलर सीनेट हाउस में भी नेहरूजी ने विद्यार्थियों की सभा में भाषण करने का यत्न किया। विद्यार्थीगण नेहरूजी से नाराज थे क्योंकि पटना सिटी वाले अपने व्याख्यान में उन्होंने कह डाला था कि यदि बिहार में दंगा बन्द न हुआ तो बम गिराकर सरकार (तब नेहरूजी अन्तरिम सरकार के उपाध्यक्ष थे) उसे दबायगी। सीनेट हाल में बड़ा शोर हुआ और तीन-चार बार प्रयत्न करने पर भी कुछ विद्यार्थियों द्वारा किया गया होहल्ला जारी रहा और नेहरूजी व्याख्यान न दे सके।

सन् 1947 के प्रारम्भ में पटना विश्वविद्यालय ने एक विशेष दीक्षान्त समारोह का आयोजन कर साइन्स के डॉक्टर की सम्मानित उपाधि उन्हें प्रदान की। राजाजी ने दीक्षान्त भाषण किया था। अपने भाषण में नेहरूजी ने उच्च स्तर का शोधकार्य करने वाले विद्वानों और वैज्ञानिकों का महत्व स्वीकार किया। वैदेशिक सेवा आयोजित करने की अपनी योजना का भी उन्होंने उल्लेख किया। कृष्णकुंज के मनोवैज्ञानिक शोध-संस्थान का भी उन्होंने उसी अवसर पर उद्घाटन किया। वहाँ पर कुछ मिनटों तक मुझे बहुत नजदीक से उन्हें देखने का मौका मिला।

सन् 1949 में जवाहरलाल अमरीका गये। शिकागो विश्वविद्यालय के रॉकफेलर गिरजाघर में उनका सत्तर-पचहत्तर मिनटों तक भाषण हुआ। तब हिन्दुस्तान विद्यार्थी संघ की शिकागो शाखा के अध्यक्ष के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय निवासगृह में उनका स्वागत करने का अवसर मुझे मिला था। जब इन्टरनेशनल हाउस के बड़े गेट पर मैं अपना और स्वागत-समिति के सदस्यों का परिचय कराने लगा तब शीघ्र ही पण्डितजी ने मुझ से कहा—"अन्दर चलिए"। तब वे अधिक श्रान्त थे और शिकागो की नवम्बर की ठण्डी बड़ी विकराल थी। एक छपा हुआ स्वागत भाषण भी मैंने पढ़ा था। नेहरूजी के सम्मान में हिन्दुस्तानी जलपान का आयोजन किया गया था। हिन्दुस्तानी पकौड़े और मिठाइयाँ बड़े परिश्रम से बनायी गयी थीं। भाषण के बाद जब नेहरूजी चलने लगे तब उन्होंने मुझ से कहा : "ये सब तमाशे के लिए रखी हैं, खाते क्यों नहीं ?" मैंने कहा : "पण्डितजी ! जब आप शुरू करें.....।" तब उन्होंने नाममात्र को जरा-सा टुकड़ा ले लिया। उनके सिर्फ एक टुकड़ा ग्रहण करने का महत्व मेरी समझ में तब आया जब उनके "विश्व इतिहास की झलक" में नेपोलियन पर लिखा हुआ अध्याय मैंने पढ़ा। नेपोलियन की क्रियाशूरता मशहूर थी। निरन्तर कार्य करते रहने की उसकी क्षमता अनन्यसाधारण थी। इस प्रचण्ड शारीरिक शक्ति का रहस्य उसके अल्पाहार में था। वह कहा करता था कि चाहे मनुष्य कितना भी अपने बारे में समझे कि वह कम खा रहा है, तथापि वह अधिक ही खाता है। सम्भव है, पण्डितजी के अविरत कार्यरत रहने की शक्ति का भी रहस्य उनके अल्पाहार में ही हो। भारत-विभाजन के शीघ्र बाद, अमरीकी पत्रों में, भारत विषयक हत्या और अन्य कुकृत्यों के देश का सम्मान कम करने वाले समाचार, बहुत छपते थे। इनसे पाकिस्तान का काम बनता था। तब 1947 के आखिरी भाग में मेरे मित्र डॉ. शंभुनाथ उपाध्याय ने और मैंने नेहरूजी के नाम न्यूयार्क से एक केबुल (सामुद्रिक तार) भेजा था, जिसमें दिल्ली से अमरीकी पत्रकारों द्वारा भेजे जाने वाले इन अतिरंजित समाचारों को बन्द करने का आग्रह था। जब दो वर्षों के बाद नेहरूजी से शिकागो में परिचय हुआ तब उस केबुल के बारे में मैंने उनसे पूछा। उन्होंने बताया कि वह केबुल उन्हें मिला था। किन्तु मेरा अपना ख्याल है कि पण्डितजी को शायद वह बात विस्मृत थी किन्तु मेरे सन्तोष के लिए उन्होंने कह दिया कि वह केबुल उन्हें मिला था।

भारत लौटने पर अक्टूबर 1950 में उनके ऑफिस में उनसे मिलने का अवसर मिला। मिलते ही उन्होंने कहा : "वर्मा साहब ! मैं तो बहोत (बहुत) बिजी (busy) हूँ।" फिर भी 12-15 मिनटों तक उनसे बातचीत हुई। लौटने के समय पण्डितजी अपनी कुर्सी से उठकर आये और अपने ऑफिस के बड़े कमरे को पार कर दरवाजे तक मुझे पहुँचा आये। दरवाजा भी उन्होंने स्वयं खोला। इस महापुरुष के सौजन्य से मैं बड़ा प्रभावित हुआ।

सन् 1958 में "राजनीति और दर्शन" की एक प्रति उन्हें अर्पित करने के लिए उनके निवास-स्थान पर उनसे मिला। बड़े ही स्नेह से मिले। ग्रन्थ को कुछ मिनटों तक देखने पर बोले—"बड़ी मेहनत आपने की है।" इस ग्रन्थ के समर्पण वाले पन्ने को (यह ग्रन्थ मैंने अपने पूज्य स्वर्गीय

पिता को समर्पित किया है) प्राय: पाँचों मिनटों तक पढ़ते रहे। मैं चुपचाप उनके गम्भीर मुखमण्डल, उनकी प्रभावशाली नाक और उनकी चिन्तक-की आंखों को ओर देख रहा था।

1949 और 1950 में जब मैं पण्डितजी से मिला था, उनकी तुलना में सन् 1958 वाली इस मुलाकात में उनकी बातचीत में उनमें अधिक आत्मविश्वास मालूम पड़ता था। कारण स्पष्ट ही है। उस समय तक उनके राजनीतिक प्रभुत्व का आधार अधिक दृढ़ हो चुका था और वैदेशिक प्रतिष्ठा भी उनकी संवर्धित हो रही थी।

सन् 1962 के अक्टूबर में नई दिल्ली के भारतीय जन-प्रशासन संस्थान के वार्षिकोत्सव पर उनका अन्तिम दर्शन हुआ। उनके चलने में तो उनकी पुरानी युवकोचित मस्ती थी किन्तु उनके भाषण में उनकी आवाज से काफी वार्धक्य मालूम पड़ता था। स्मरण रहे कि घोर चीनी आक्रमण का वह काल था।

2. विवेचनात्मक

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेहरूजी एक लोकोत्तर मानव थे। उनमें अनेक गुण थे। गीता की भाषा में उन्हें "विभूति" की संज्ञा दे सकते हैं। अत: हमें अपने जीवन की बैटरी को उस विद्युत-केन्द्र से सर्वदा "चार्ज" कराते रहना चाहिए जिससे हमारे प्रमाद, शैथिल्य, पलायनवृत्ति आदि कमजोरियाँ दग्ध होती रहें। उनके अनेक सद्‌गुणों में उनकी निर्भीकता ही मुझे सबसे अधिक प्रभावित करती है। संकटों से खेलने में उन्हें मजा आता था। देश-सेवा के निमित्त कोई भी उत्सर्ग उनके लिए मामूली बात थी। खतरा मोल लेने से वे कतराते नहीं थे। विशाल सम्पत्ति वाले माता-पिता का इकलौता पुत्र भोगैश्वर्यप्रसक्ति को छोड़कर साइमन कमीशन के बहिष्कार के समय लाठी की मार से प्राय: बेहोश कर दिया जाय और बेंत की मार से प्राय: अपनी कमर तुड़वा डाले, इससे बढ़कर निर्भीकता का क्या उदाहरण हो सकता है। चीनी आक्रमण के सिलसिले में जब चह्वाण प्रतिरक्षा मन्त्री बनाये गये और प्रधान मन्त्री से मिलने गये तब जवाहरलाल का कहा हुआ एक वाक्य मुझे सर्वदा प्रभावित करता है—"I easily lose my temper but not my nerves." (मुझे गुस्सा जल्दी आ जाता है किन्तु भय मेरे पास नहीं फटक सकता)। भारत के युवकों को उनकी सलाह थी कि वे जोखिम उठाना सीखें। सदियों की गुलामी के कारण हमारे जीवन में साहसिकता का अभाव हो गया है। कुछ द्रव्यों के अर्जन को ही आधुनिक युवकजीवन का परमोद्देश्य मान बैठता है। जवाहरलाल युवकों को सर्जनात्मक परमोद्देश्य के संसाधन के लिए सर्वदा आह्वान करते थे। ऊँचे उद्देश्यों को भूल जाने से जीवन में शिथिलता और सड़ाँद का प्रादुर्भाव हो जाता है। अत: सतत गतिशीलता आवश्यक है।

नेहरूजी लोकतन्त्र के बड़े प्रबल समर्थक थे। वैयक्तिक जीवन में स्वाभिमानी और यदा-कदा उग्र होते हुए भी लोकतन्त्र के वे प्रचण्ड हिमायती थे। देश की गरीबी, अशिक्षा और सामाजिक दुरावस्था का मोचन समाजवाद के मोहनमन्त्र में वे देखते थे। परमात्परवाद के वागाडम्बर से भागते हुए भी वे सर्वदा मानव को एक साध्य, साधन कदापि नहीं, मानते थे। साधारण पीड़ित कृषकों और मजदूरों की इच्छाओं का वे आदर करते थे और उनके जीवन-स्तर को सुधार कर एक उद्‌बुद्ध सुखी जीवन का सपना उनके लिए साकार करना चाहते थे। संगठित धर्म के राजनीतिक कुप्रभावों से वे जनता को त्राण देना चाहते थे। विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव उन्हें सर्वथा अप्रिय था। सरदार वल्लभभाई पटेल की यह उक्ति कि "भारत में एक ही राष्ट्रीय मुसलमान है और वह है जवाहरलाल नेहरू" यद्यपि व्यंग्य में कही गयी है तथापि यह नेहरूजी की धर्मनिरपेक्षता और अल्पसंख्यकों के प्रति उनकी विशेष हमदर्दी को ही प्रकट करती है।

जवाहरलाल राष्ट्रवाद के हिमायती थे। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने जबर्दस्त हिस्सा लिया था। राष्ट्र के ऐतिहासिक अवशेषों और सांस्कृतिक प्रदेयों से उनका गहरा रागात्मक प्रेम था। भगवान बुद्ध की प्रतिमा उनके लिए आदर का पात्र थी। विभिन्न क्षेत्रों में भारतीयों का कर्तव्य उनकी दृष्टि में उनके भावी उत्कर्ष का सूचक था। "भारतमाता" की दिव्य ध्वनि उन्हें भावविभोर कर देती थी। बिना राष्ट्रवाद के विशुद्ध प्रचार के भारत की संकीर्णता और साम्प्र-

दायिकता दूर नहीं होगी, ऐसा वे मानते थे। किन्तु कोई राष्ट्र शक्ति के मद में चूर हो बिस्मार्क वाली "खून और लोहा" की नीति का अवलम्बन करे, यह उन्हें सर्वदा अनभीष्ट था। अतः भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विश्व के अन्य स्थानों से उपनिवेशवाद के बहिष्करण के लिए उन्होंने संगठित उद्यम किया।

नेहरूजी अपने विद्यार्थी जीवन-काल में विज्ञान के शिक्षार्थी थे। रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र और प्राणि-विद्या का उन्होंने अध्ययन किया था। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। यद्यपि उनका हृदय काफी अंश तक कवित्वपूर्ण था तथापि व्यावहारिक समस्याओं का समाधान खोजने में उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही काम करता था। विज्ञान तथ्यों को प्रश्रय देता है और इस प्रकार यथार्थवाद का पोषण करता है। भारतीय इतिहास की धारा को पाश्चात्य विज्ञान की जागरूक अभ्युदयकारी धारा से मिलाकर वे एक तेजस्वी भविष्य का निर्माण करना चाहते थे।

प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय उपस्थित करने में नेहरूजी यत्नवान् थे। पश्चिम का क्रियायोग, "वैज्ञानिक मानववाद", यान्त्रिक अभ्युदय, गतिशीलता आदि उन्हें बड़ी प्रिय थी। किन्तु साथ ही पूर्व के हठयोग (शीर्षासन) और त्याग के आदर्श भी उन्हें अतीव रुचिकर थे। घोर कष्टों और विपदाओं के समय व्यवस्थित चित्त रहने की उनकी वृत्ति, उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि सम्पन्नता को सूचित करती है। रवीन्द्रनाथ और महात्मा गान्धी ने भी पूर्व और पश्चिम के समन्वय का प्रयास किया। किन्तु शनैः-शनैः जीवन-क्रम में उनके समन्वय पर पूर्व का ही प्रभाव अधिक हो गया। टैगोर को भी पूर्व के ऋषियों की वाणी में ही जगत को शान्ति प्रदान करने वाला मंत्र सुनाई पड़ा। गान्धीजी भी शनैः-शनैः गीता और रामचरितमानस में ही आश्वासन पाने लगे। किन्तु नेहरू जी के ऊपर पश्चिमी विज्ञान और राजनीतिक दर्शन का बड़ा गहरा रंग था। गीता और उपनिषद् उन्होंने पढ़ा था किन्तु मार्क्स और लेनिन उन्हें अधिक भाते थे। "भारत की खोज" ग्रन्थ में अन्तिम अनुच्छेद में अपने जीवन-दर्शन का उपसंहार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि जीवन का महत्व वही समझ सकता है और जीवन-रस को वही ग्रहण कर सकता है जो अपने आदर्शों को क्रियान्वित करने के लिए मृत्यु का आलिंगन कर सकता है। विलासपूर्ण और विघ्न-बाधाओं से कतराकर निकलने वाली नीति उन्हें कदापि पसन्द नहीं थी। आज देश और समाज पर चारों ओर खतरे के बादल मंडरा रहे हैं। जवाहरलाल के वीर जीवन से हमें कर्मयोग और निर्भीकता का सन्देश ग्रहण करना है। उनके जीवन-काल में जब शत्रु युद्ध का आह्वान करता था तब उनके तुमुल हुंकार से वह आतंकित हो उठता था। आज हमें नेहरू-साहित्य का अनुशीलन करना चाहिए और उनके उपदेशों को क्रियान्वित करने का सतत यत्न करना चाहिए।

जवाहरलाल का इतना बड़ा व्यक्तित्व कैसे बना ? संघर्षों की अग्नि में तप कर ही वे इतने विशाल महामानव बन सके। महात्मा गान्धी को छोड़ शायद ही कोई अन्य विश्व-नेता नेहरू के समान परिश्रम करने की शक्ति रखता हो। पन्द्रह-सोलह घण्टों तक कार्य करने पर भी अपने स्वास्थ्य को ठीक रखना एक अनहोनी बात थी। देश को उन्नति-पथ पर आगे बढ़ाने की जो ज्वाला उनके हृदय में थी वही उन्हें इस अटूट घोर परिश्रम के लिए उत्तेजना देती थी। बिजली की तरह जवाहरलाल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पच्चीस वर्षों से दौड़ रहे थे। इस अखण्ड कर्मयोग को अनुप्राणित करने वाला उनका आदर्शवाद कितना मजबूत और प्रचण्ड रहा होगा इसकी कल्पना कर ही उनके प्रति हमारी निष्ठा दृढ़ हो जाती है।

परिशिष्ट 12

भारत में लोकमत तथा नेतृत्व

आधुनिक सामाजिक विज्ञानों की प्रगति के साथ-साथ लोकमत की धारणा की बहुत कुछ विवेचना होने लगी है।[1] नेतृत्व तथा लोकमत के बीच सम्बन्ध का भी अध्ययन किया गया है, किन्तु इस प्रकार का अध्ययन पश्चिम के महत्वशाली व्यक्तियों के सन्दर्भ में ही किया गया है।[2] इस अध्याय में मैं लोकतन्त्र तथा नेतृत्व के बीच सम्बन्ध का अध्ययन भारत की उन चार महान विभूतियों के सन्दर्भ में करूँगा जिनका आधुनिक भारत के इतिहास में शीर्षस्थ स्थान है—दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक तथा गान्धी। मैं लोकमत को राजनीतिक मत से अधिक व्यापक वस्तु मानता हूँ और इसलिए लोकमत के अन्तर्गत मैं सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक मत को सम्मिलित कर लेता हूँ। मैं 'मत' शब्द का भी प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ। उसमें अन्तर्निहित अभिवृत्तियाँ, ऐतिहासिक परम्पराएँ जिन्हें अचेतन रूप से बिना तर्क-वितर्क के स्वीकार कर लिया जाता है और जो जनता की मानसिक रचना के अभिन्न अंग बन गयी हैं, और ऐसे मत भी सम्मिलित होते हैं जिन्हें स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया गया है।[3] अभिवृत्तियों की स्पष्ट और औपचारिक अभिव्यक्ति को मत कहते हैं। समाजशास्त्रियों का कहना है कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं की जड़ें सामाजिक-ऐतिहासिक वातावरण में हुआ करती हैं और उस वातावरण से चिन्तन का ढंग तथा शैली निर्धारित होती है इसलिए मैंने मतों के विश्लेषण में अभिवृत्तियों के अध्ययन तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी सम्मिलित कर लिया है।

मत एक ऐसी चीज है जिसमें भारी उतार-चढ़ाव और परिवर्तन होता रहता है इसलिए उसमें गणित की संख्याओं की-सी निश्चितता तथा यथार्थता देखने को नहीं मिलती।[4] मैं उन कार्यविधियों, प्रक्रियाओं और प्रतीकों का विश्लेषण करूँगा जिनका चार भारतीय नेताओं ने जनता पर अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए चेतन अथवा अर्धचेतन रूप से प्रयोग किया है। हम उन प्रमुख परम्पराओं और पौराणिक गाथाओं का भी विश्लेषण करेंगे जो भारतीय राष्ट्रीय मानस के निर्माण में ऐतिहासिक तत्व रही हैं। कुछ रोमांटिक ढंग के विचारकों का कहना है कि हर जाति और राष्ट्र का अपना एक पृथक और स्वतन्त्र मानस (आत्मा) होता है और उस मानस को वे

---

1 डाइसी, लॉवेल, ड्यूवी, लिपमैन, डूब, आल्विग और कैन्ट्रिल की रचनाएँ इसके उदाहरण हैं। लोकमत की धारणा के इतिहास के लिए देखिए डब्ल्यू. बोअर का लेख 'Public Opinion', *Encyclopaedia of Social Sciences* में प्रकाशित।

2 *Encyclopaedia of Social Sciences* में प्रकाशित 'Political Power', 'Authority,' 'Leadership' शीर्षक लेख।

3 अभिवृत्तियों तथा मत के बीच भेद के लिए देखिए डब्ल्यू. आल्विग, *Public Opinion*, (मैकग्रॉ हिल कं., न्यूयार्क, 1939), पृ. 178-80।

4 चंचल तथा सन्तुलनकारी लोकमत के बीच भेद के लिए देखिए, वी. पी. वर्मा, Public Opinion and Democracy', *The Journal of Political Sciences*, दिसम्बर 1956 में प्रकाशित।

एक सारवस्तु मानते हैं।[5] मैं उन विचारकों से सहमत नहीं हूँ। फिर भी हर सांस्कृतिक लोकाचार के मुख्य तत्वों को हम पहिचान सकते हैं, और इस तरह विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों को प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं। राष्ट्र एक इसी प्रकार का सांस्कृतिक समुदाय है। गान्धी और स्तालिन क्रमशः भारत और रूस में ही फल-फूल सकते थे। दयानन्द को फ्रांस की जनता स्वीकार न करती और न रूजवेल्ट चीन में सफल हो सकते थे। महान नेता में कुछ महत्वपूर्ण मौलिक सृजनात्मक विशेषताएँ होती हैं, किन्तु साथ ही साथ वह ऐतिहासिक तथा सामाजिक वास्तविकता के प्रमुख रूपों का भी प्रतिनिधित्व करता है। नेता न तो कोई विलक्षण अतिमानव होता है जैसी कि रैनन और नीत्शे की कल्पना है, और न वह उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों का अभिकर्ता मात्र हुआ करता है। नेता में सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक है, तभी वह अपने समय के लक्षणों को समझने में समर्थ हो सकता है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो वह किसी महान विचार के लिए शहीद भले ही हो जाय, किन्तु वह सफल नेता नहीं बन सकता, उसमें अभिक्रम की ऐसी शक्ति, साहस तथा गत्यात्मक क्षमता होनी चाहिए जिससे कि वह उन शक्तियों का नेतृत्व कर सके जो उसके काल में सर्वोच्चता के लिए संघर्ष करती हैं। आधुनिक भारत के नेताओं को संघर्ष की एक महान चुनौती का सामना करना पड़ा है। इस संघर्ष में एक ओर भारत की धार्मिक, पुण्यात्मक सामाजिक संस्कृति है और दूसरी ओर पश्चिम की आक्रामक राजनीतिक सभ्यता है। जिन चार नेताओं का मैं अध्ययन करने जा रहा हूँ उन सब की प्राचीन परम्पराओं में गहरी जड़ें थीं। उन्हें सफलता इसलिए मिली कि उन्होंने विदेशी चुनौती को स्वीकार किया।

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती

दयानन्द (1824-1883) का जीवनचरित बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि उससे उस व्यक्ति के नेतृत्व की महानता का पता लगता है जिसने अपनी जनता की चिरपोषित धारणाओं, दुर्भावों, मतों के भद्देपन तथा बुद्धिहीनता का निर्मम रूप से भण्डाफोड़ किया। दयानन्द ने अपने पूर्वजों का घर शाश्वत आत्मा की खोज में और मृत्यु के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए छोड़ा था।[6] अपने कुल देवताओं की पूजा में उनके लिए कोई बौद्धिक अथवा संवेगात्मक आकर्षण नहीं रह गया था। दयानन्द अपने जीवन में मूर्तिपूजा को कभी सहन न कर सके। वे उसे अवैदिक मानते थे।

दयानन्द उस लोकतान्त्रिक नेता के सदृश नहीं थे जिसमें अगणित समझौते करने की क्षमता होती है। उन्हें एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में लोकतन्त्र में विश्वास था, किन्तु उनकी मानसिक रचना सत्तावादी नेता की रचना के सदृश थी। उनकी ओजस्वी ललकार, उनका उद्भट तथा पाण्डित्यपूर्ण वेदवाद जो परम्परावादी पण्डितों के विरुद्ध संघर्ष में उनका शक्तिशाली अस्त्र था, और उनकी अपने विचारों की सत्यता में निरपेक्ष आस्था—ये सब चीजें हमें लूथर और काल्विन का स्मरण दिलाती हैं न कि पिट और जैफर्सन का। मध्ययुगीन तथा आधुनिक भारत में अन्य अनेक ऐसे नेता हुए हैं जिन्होंने जनता के अनेक सामाजिक तथा धार्मिक अन्धविश्वासों की भर्त्सना की, किन्तु मूर्ति-पूजा तथा अन्य कुरीतियों का अविचल रूप से खण्डन करने में दयानन्द

---

5 कल्पनावादियों (Romantics) तथा हेगेल ने लोक आत्मा (Volksgeist) को एक सारतत्व मान लिया था। अर्वाचीन काल में मैक्डूगल की कल्पना ऐसी है मानो समूह मानस एक स्वतन्त्र सत्ता हो।

6 देखिए दयानन्द का जीवनचरित (हिन्दी), आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा 2 जिल्दों में प्रकाशित, और देवेन्द्र मुखोपाध्याय द्वारा संकलित सामग्री पर आधारित। इसके अतिरिक्त देखिए सत्यानन्द, 'दयानन्द प्रकाश'। दयानन्द के जीवन, ध्येय तथा उपलब्धियों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक रचनाओं के लिए देखिए *Dayananda Commemoration Volume* (हरविलास शारदा द्वारा सम्पादित, अजमेर, 1933); टी. एल. वास्वानी, *The Torch-Bearer*, लाला लाजपतराय, *The Arya Samaj* (लौंगमेन्स, लन्दन द्वारा प्रकाशित 1915)।

अद्वितीय थे। 1869 में वाराणसी में शास्त्रार्थ हुआ। उसमें विवाद का मुख्य विषय था मूर्ति-पूजा तथा उसकी वैदिक उत्पत्ति। दयानन्द ने विख्यात पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया। उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों के धर्मशास्त्रीय विचारों का भी निर्मम रूप से खण्डन किया।[7] किन्तु उन्होंने परम्परागत हिन्दू धर्म का जो विरोध किया उसके फलस्वरूप उनकी देश के धार्मिक नेताओं और विद्वानों से खुली शत्रुता हो गयी और अनेक बार उन्हें दुत्कारा भी गया, उनका घिराव भी किया गया और उन्हें तंग किया गया। भारत के राष्ट्रीय मानस में यह एक अद्भुत बात है कि जिस व्यक्ति ने पुरातनपंथी भारत के परम्परागत सामाजिक और धार्मिक विचारों का खुलकर विरोध किया उसके व्यक्तित्व और सन्देश की महत्ता को देश ने धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया।

दयानन्द में अनेक गुण थे जिन्होंने उन्हें शक्तिशाली सामाजिक तथा धार्मिक नेता बना दिया। उनका खिलाड़ी जैसा भीमकाय शरीर था; उन्होंने अनेक बार अपने शारीरिक पराक्रम का प्रदर्शन करके जनता का जयजयकार प्राप्त किया। देश के लोकमानस ने उनके इन पराक्रमपूर्ण कार्यों को ब्रह्मचर्य का प्रताप समझा, और लोग मन ही मन उनका आदर करने लगे। दयानन्द बड़े ही सूक्ष्मग्राही नैयायिक थे, और उनकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र तथा विलक्षण थी। उनका संस्कृत भाषा पर अधिकार था और वैदिक साहित्य के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने संस्कृत व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने पुराणों का खण्डन करने के लिए वेदों को, जो कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का युगगत आश्रय और बल रहे हैं, आधार बनाया। उनके इस वेदवाद ने भारतीय जनता को बहुत आकृष्ट किया। दयानन्द का साधारण प्रशंसक उनके वेदभाष्य को भले ही न समझ सके, किन्तु वेदों की महत्ता पर बल देकर दयानन्द ने प्रचण्ड धार्मिक शक्ति के साहित्यिक केन्द्र के साथ अपना एकात्म्य स्थापित कर लिया। हिन्दू भारत पर वेदों का सदैव ही मायावी और रहस्यात्मक प्रभाव रहा है। अतः दयानन्द के धार्मिक नेतृत्व का रहस्य यह था कि यद्यपि उन्होंने परम्परागत धारणाओं का खण्डन किया, किन्तु उनके खण्डन का आधार शुद्ध आलोचनात्मक बुद्धिवाद नहीं था बल्कि उसका आधार वेद थे जो कि परम्परागत श्रद्धा रूपी दुर्ग की नींव रहे हैं।[8]

दयानन्द को आत्मा की सर्वोच्चता में विश्वास था। वे ईश्वरवादी थे। उन्होंने मृत्यु के समय जो अन्तिम वाक्य कहे उनसे उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। वे योगाभ्यास भी करते थे। स्वामीजी के गुरुदत्त, श्रद्धानन्द आदि कुछ महानतम अनुयायी उनकी ओर इसलिए आकृष्ट हुए थे कि वे उन्हें एक महान योगी मानते थे।[9] यद्यपि दयानन्द के विपुल आत्मविश्वास और प्रचण्ड निर्भीकता का स्रोत उनकी आध्यात्मिक अनुभूति थी, किन्तु जनता उनकी ओर उनके मन की विद्युवत् बौद्धिक क्षिप्रता के कारण आकृष्ट हुई थी, न कि उनके शान्त, सौजन्यपूर्ण और मधुर व्यक्तित्व के कारण। किन्तु यह भी सत्य है कि दयानन्द का जनता पर जो प्रभाव पड़ा उसका एक कारण यह भी था कि वे संन्यासी थे, उन्होंने काम और लोभ का परित्याग कर दिया था और गेरुआ धारण कर लिया था—हिन्दू परम्परा में ऐसा संन्यासी ही आदर्श पुरुष माना गया है।

दयानन्द के विचारों और आदर्शों का मूलाधार प्राचीन वैदिक परम्परा थी। वे वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते थे, और उस समय जब पश्चिम के विद्वान वैदिक देवताओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकृतिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में लगे हुए थे स्वामीजी ने घोषणा की कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार हैं। जिस समय देश में पाश्चात्य साम्राज्यवाद और ईसाई धर्म का बोलबाला था उस समय दयानन्द एक महान् धार्मिक पुनरुत्थान के अग्रदूत के रूप में प्रकट हुए। पुनरुत्थानवाद ने दयानन्द के, और बाद में तिलक के, व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रभाव

---

7 स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ प्रकाश' के तेरहवें और चौदहवें अध्याय।

8 बी. पी. वर्मा, Buddha and Dayananda', *The Spark* (पटना), मई 27, 1951 में प्रकाशित।

9 स्वामी श्रद्धानन्द, 'कल्याण मार्ग का पथिक', वाराणसी, 1915; नारायण स्वामी, 'आत्मकथा'।

में भारी वृद्धि की । अतः यदि एक ओर स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं के सामाजिक तथा धार्मिक अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की तो दूसरी ओर उन्होंने ईसाई धर्म और इस्लाम का भी तीव्र खण्डन किया जिसके कारण हिन्दू लोकमत उनके साथ हो गया । इसलिए हिन्दुओं ने उनकी तुलना शंकर से की जिन्होंने बौद्धों के बौद्धिक आक्रमण से वैदिक और वेदान्ती धर्मों की रक्षा की थी ।

दयानन्द की भारत के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में बड़ी आशावादी कल्पना थी । उनके विचार में महाभारत के समय से भारत का पराभव और पतन आरम्भ हुआ था । दयानन्द ने दुःखी तथा भूमिसात जनता को एक नया सन्देश और नयी दृष्टि प्रदान की । उन्होंने भारतवासियों को स्मरण दिलाया कि तुम्हारा ध्येय विश्व में वैदिक संस्कृति का प्रचार करना है । तरुणों पर उनके गम्भीर आशावाद का महान् प्रभाव पड़ा । दयानन्द के जीवन से स्पष्ट है कि सफल नेता वही हो सकता है जो जनता को आशा और कर्म का सन्देश दे ।[10] विश्व की निस्सारता और निराशा का सन्देश कुछ दार्शनिकों को भले ही अच्छा लगे, किन्तु बहुसंख्यक लोगों को अनुयायी बनाने के लिए जनता की अभिवृत्तियों और विचारों को गति और स्फूर्ति प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है ।

दयानन्द की आत्मा साहस और शूरत्व से ओतप्रोत थी । शरीर, मन तथा आत्मा की प्रचण्ड शक्ति उनके व्यक्तित्व का सार थी और यही उनके नेतृत्व का आधार थी । उनके नेतृत्व का अर्थ तिकड़म, कुटिलता अथवा सैनिक बल नहीं था । उनका नेतृत्व वस्तुतः उस चीज का उदाहरण था जिसे मैक्स वेबर ने चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व कहा है । आगे चलकर दयानन्द ने एक धार्मिक पंथ की स्थापना की जिसने उनके नेतृत्व को संस्थागत आधार प्रदान किया । किन्तु प्रारम्भिक वर्षों में उनका नेतृत्व केवल उनकी व्यक्तिगत उपलब्धियों पर आधारित था ।

दयानन्द का जीवनचरित तथा उनके सन्देश को धीरे-धीरे यह मानकर स्वीकार कर लिया जाना कि उसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रवाद तथा हिन्दुओं की एकता की अभिवृद्धि करना है, इस बात का उदाहरण है कि भारतीय लोकमत परिवर्तनशील तथा गत्यात्मक रहा है । प्रारम्भ में स्वामीजी को धर्मद्रोही कहा गया और उनकी भर्त्सना की गयी । उनके सहधर्मियों ने उन्हें अनेक बार धर्मच्युत मानकर विष दिया । किन्तु धीरे-धीरे पुरातनवादी हिन्दू लोकमत ने उन्हें समाज का हितैषी तथा असाधारण योग्यता और शूरत्व से सम्पन्न धार्मिक विभूति के रूप में स्वीकार कर लिया । यह इस बात का द्योतक है कि लोकमत नमनीय तथा परिवर्तनशील है, और उपदेश तथा प्रचार का उस पर प्रभाव पड़ता है ।

2. स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द (1863-1902) का जीवनचरित वैयक्तिक उपलब्धियों पर आधारित नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है । विवेकानन्द की आत्मा चिन्तनशील थी और वे गम्भीर आध्यात्मिक वेदना और आकांक्षाओं से पीड़ित रहा करते थे । किन्तु दयानन्द की भाँति वे भी बाह्य जगत में कुछ भावात्मक काम करना चाहते थे । दयानन्द के ग्रन्थों की भाषा सरल और स्पष्ट है । विवेकानन्द की भाषा अधिक अनुप्रेरित और ओजपूर्ण है । यह निर्विवाद सत्य है कि विवेकानन्द की वक्तृता ने युवकों की मानसिक रचना के निर्माण में शक्तिशाली प्रभाव का काम किया, विशेषकर बंगाल में, किन्तु सामान्यतः सम्पूर्ण भारत में ।[11]

दयानन्द की भाँति विवेकानन्द भी संन्यासी थे और दोनों ने ही त्याग के द्वारा शक्ति प्राप्त की थी । यद्यपि दोनों ने सांसारिक यश और समृद्धि की इच्छा का परित्याग करने की शपथ ली थी, किन्तु दोनों ने सर्वोत्कृष्ट ख्याति उपलब्ध की । विवेकानन्द ने हिन्दू दर्शन का जो गत्यात्मक निर्वचन किया उसने उन्हें जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया । पश्चिम में लोग उन्हें 'हिन्दू नेपोलियन' कहते थे । वे ऋषि थे और उनका दावा था कि मैंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था

---

10 स्वामी सत्यदेव, 'स्वतन्त्रता की खोज में', ज्वालापुर, 1951 ।

11 श्री अरविन्द घोष तथा सुभाषचन्द्र बोस पर विवेकानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा था । विवेकानन्द को बंगाली राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक जनक माना गया है । देखिए, लाजपत राय, *Young India*.

में अतिचेतन (परब्रह्म) का साक्षात्कार कर लिया है। अपने गुरुभाइयों में वे इसीलिए श्रेष्ठ माने गये कि उन्होंने इन्द्रियातीत सत्ता का दर्शन कर लिया था। किन्तु पश्चिम तथा पूर्व के शिक्षित वर्ग विशेषकर उनकी प्रचण्ड बौद्धिक शक्तियों पर मोहित थे। एक गेरुआधारी संन्यासी बर्क की शैली में अंग्रेजी में व्याख्यान दे सकता था, इस बात ने बौद्धिक वर्ग को विस्मित कर दिया। विवेकानन्द का उनके श्रोताओं पर दुर्दमनीय प्रभाव पड़ा, इसका अन्य कारण यह था कि दयानन्द की भाँति उन्होंने भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि प्राचीन हिन्दू धर्म आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों से मेल खाता है। उन्हें आधुनिक दर्शन, विज्ञान और इतिहास का अच्छा ज्ञान था।[12]

कभी-कभी बलिष्ठ शरीर नेता के लिए बहुत सहायक होता है; दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों ही इस बात के प्रमाण हैं।[13] किन्तु दयानन्द ने जनता को इसलिए प्रभावित किया कि उन्होंने अपरिमित शारीरिक शक्ति अर्जित कर ली थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द अपने श्रोताओं को अपने शरीर के लावण्य और आकर्षण के कारण सम्मोहित करने में सफल होते थे। उनका शरीर दयानन्द की भाँति खिलाड़ियों जैसा कभी नहीं था। किन्तु उनके शरीर में एक आकर्षक माधुर्य था जिसका लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। इसलिए लोगों में यह धारणा फैल गयी थी कि योग की शक्तियों ने उनके शरीर को प्रदीप्त कर दिया है।

विवेकानन्द के नेतृत्व को प्रभावोत्पादक बनाने वाला एक अन्य तत्व यह था कि उन्होंने हिन्दुत्व का उस समय समर्थन किया जब पाश्चात्य साम्राज्यवाद और ईसाई धर्म सर्वोच्चता के शिखर पर पहुँच चुके थे। दयानन्द ने केवल वेदों को अपना आधार बनाया और पुराणों की आलोचना करके हिन्दू लोकमत को अपने विरुद्ध कर लिया। इसके विपरीत, विवेकानन्द ने सभी हिन्दू धर्मशास्त्रों के दावों का समर्थन किया और उनमें इतना साहस था कि उन्होंने वैज्ञानिक पश्चिम के फैशनपरस्त और आलोचनात्मक महानगरों की जनता के सामने उनकी श्रेष्ठता की घोषणा की।[14] इस बात ने विवेकानन्द को हिन्दुओं के धार्मिक जगत का नेता बना दिया। यद्यपि अपनी पश्चिम की यात्राओं के दौरान उन्होंने संन्यासी के बाह्य आचरण सम्बन्धी नियमों का सदैव कठोरता के साथ पालन नहीं किया फिर भी जब वे लौटकर स्वदेश आये तो उनका एक महान आचार्य के रूप में अभिनन्दन किया गया। इससे सिद्ध होता है कि यदि नेता किसी प्रशंसनीय कार्य में श्रेष्ठता का परिचय दे तो लोकमत आंशिक रूप में उसकी आचार सम्बन्धी शिथिलता को सहन कर लेता है।

दयानन्द ने हिन्दुओं की अनेक कुरीतियों का खण्डन किया। किन्तु विवेकानन्द कट्टर अर्थ में सुधारक नहीं थे। उन्होंने आलोचना पर नहीं अपितु रचना पर बल दिया। उनका दावा था कि वे उस समग्र हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे जो अपने ऐतिहासिक विकास की अनेक शताब्दियों में विकसित हो चुका था।[15] इसलिए दयानन्द की भाँति उनके नेतृत्व को कभी चुनौती नहीं दी गयी। लोकमत ने उनके नेतृत्व के प्रति उनकी शत्रुता प्रकट नहीं की जितनी कि दयानन्द के प्रति की थी।

दयानन्द और विवेकानन्द दोनों ही हृदय से सन्त थे और उन्हें नेतृत्व से सम्बन्धित कोलाहल और हलचल पसन्द नहीं थी। वे अपने व्यक्तित्व को लोकमत की सनक, दुर्भाव और आदेशों के अनुसार नहीं ढालना चाहते थे। दयानन्द ने अपने विश्वासों के हेतु लोकमत का खुल कर विरोध

---

12 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, *Vivekananda : 'The Hero-Prophet of the Modern World'*, *The Patna College Magazine* के सितम्बर 1946 के अंक में प्रकाशित।

13 ई. एस. बोगार्ड, एफ. एच. एलपोर्ट और एल. एल. बर्नार्ड सुन्दर शरीर अथवा शारीरिक बल अथवा आकृति को नेता का गुण मानते हैं; डब्ल्यू. आल्बिग, *Public Opinion*, पृष्ठ 102-3।

14 भगिनी निवेदिता, *The Master as I Saw Him;* रोमा रोलां, *The Life of Ram Krishna* तथा *The Life of Vivekananda.*

15 *The Complete Works of Swami Vivekananda*, आठ जिल्दों में, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा द्वारा प्रकाशित।

किया। दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों का मन अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व को पूर्ण करने की कार्यविधि में ही अधिक लगता था। नेतृत्व का साज-सामान जुटाने में उनकी रुचि नहीं थी। फिर भी आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने उन दोनों के नेतृत्व के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान किया। इस प्रकार दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों ने दिखा दिया कि एक व्यक्ति धार्मिक सन्देशवाहक तथा सामाजिक नेता दोनों का काम साथ-साथ कर सकता है।

विवेकानन्द अभयम् तथा स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक थे। उनका बल इस बात पर था कि भय पर पूर्ण विजय प्राप्त की जाय। उन्होंने राजनीति में भाग नहीं लिया, फिर भी स्वतन्त्रता के लिए उनके मन में उत्कट अभिलाषा थी। 'संन्यासी का गीत' नामक अपनी कविता में उन्होंने स्वतन्त्रता की धारणा को ओजस्वी भाषा में प्रतिष्ठित और पवित्रीकृत किया है। विवेकानन्द स्वतन्त्रता के सृजनात्मक पक्ष के प्रति अपनी इस उदात्त भक्ति के कारण तरुणों की स्थायी श्रद्धा के पात्र बन गये। आध्यात्मिक अद्वैतवादी होने के नाते विवेकानन्द अन्तरराष्ट्रवादी थे। किन्तु भारत माता के लिए भी उनके मन में गहरा अनुराग था। अपनी उदात्त देशभक्ति के कारण वे भारतीय जनता के स्नेहभाजन बन गये।

विवेकानन्द की सफलता का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने पश्चिम में वेदान्त दर्शन की जो व्याख्या की वह आश्चर्यजनक थी। वे जेम्स, मैक्स मूलर, पॉल डौयसन और रॉयस से मिले तथा आध्यात्मिक अद्वैतवाद की महत्ता पर विचार-विमर्श किया। वे इस बात में विशेष भाग्यशाली थे कि उन्हें पश्चिम में कुछ प्रतिभाशाली तथा निष्ठावान शिष्य मिल गये। उन्हें पश्चिम में भारत के पक्ष में अनुकूल लोकमत का निर्माण करने में सफलता मिली। दूसरी ओर उन्हें शिकागो के सम्मेलन में तथा अन्य स्थानों में जो सफलता उपलब्ध हुई उससे भारतीय लोकमत आन्दोलित हो गया।[16]

3. लोकमान्य तिलक

दयानन्द और विवेकानन्द को सामाजिक और धार्मिक विचारों में अधिक रुचि थी, किन्तु तिलक (1858-1920) पहले नेता थे जिन्होंने जनता के राजनीतिक विचारों में रुचि दिखलायी। तिलक की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे उत्तुंग राजनीतिक नेता थे। उनके जीवन तथा कार्यकलाप से हमें भारत में लोकमत के स्वभाव और महत्ता के सम्बन्ध में नवीन अन्तर्दृष्टि मिलती है।

प्रारम्भिक जीवन में तिलक का शरीर बलिष्ठ तथा ओजस्वी था।[17] किन्तु कारागार के जीवन की कठोरता तथा बीमारी ने उनके शरीर को तोड़ दिया। अतः जब वे अपने राजनीतिक यश की पराकाष्ठा पर थे उस समय जनता पर उनकी बौद्धिक शक्ति का प्रभाव पड़ता था न कि शारीरिक पराक्रम अथवा श्रेष्ठता का। इसलिए तिलक के नेतृत्व में शारीरिक तत्व का उतना महत्व नहीं था जितना कि दयानन्द और विवेकानन्द के नेतृत्व में हमें देखने को मिलता है। तिलक संस्कृत के विद्वान तथा वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने वैदिक अनुसन्धानों तथा गीता-रहस्य के कारण वे हिन्दू जनता के प्रेमभाजन बन गये थे। इससे उनके राजनीतिक नेतृत्व का ठोस आधार तैयार हुआ क्योंकि जनता उनका राजनीतिज्ञ के रूप में ही नहीं बल्कि ऐसे बुद्धिजीवी के रूप में भी सम्मान करती थी जो विधि, गणित, दर्शन, इतिहास तथा ज्योतिष में पारंगत थे।[18]

तिलक के जीवन में सबसे बड़ी पूंजी उनका नैतिक चरित्र था। उनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारणा बड़ी प्रबल थी और वे पूर्णतः निर्भीक थे। भारतीय जनता उन्हें दुर्दमनीय साहस तथा

---

16 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2।

17 1955 में पूना में एम. एस. अणे ने वार्तालाप के दौरान मुझसे कहा था कि 1905 में बनारस कांग्रेस के अवसर पर तिलक ने दिसम्बर के ठण्डे महीने में आधी गंगा को पार कर लिया था।

18 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, *The Achievements of Lokamanya Tilak'*, *The Mahratta* (पूना) अगस्त 5, 1955 में प्रकाशित। स्वामी श्रद्धानन्द तिलक की ओर इसलिए आकृष्ट हुए थे कि उन्होंने *The Orion* नामक महान् ग्रन्थ की रचना की थी।

उदात्त देशभक्ति का मूर्त रूप मानती थी। नौकरशाही ने उन पर 1897, 1908 और 1916 में अभियोग चलाये और उनके द्वारा उसने भारतीय जनता में उनके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके सब उपाय विफल सिद्ध हुए। वे निःस्वार्थ थे और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति-पद की कभी अभिलाषा नहीं की। किन्तु उनकी हिमालय जैसी दृढ़ता, अनमनीय इच्छाशक्ति और संकल्प ने उन्हें भारतीय जनता तथा ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में देश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजनेता सिद्ध कर दिया था।[19] भारतीय विद्रोह के जनक, आधुनिक भारत के अग्रणी निर्माता तथा दक्षिण के बिना मुकुट के राजा के रूप में तिलक की सबसे बड़ी सेवा यह थी कि उन्होंने देश में प्रबल तथा अनमनीय राष्ट्रीय लोकमत का निर्माण किया।[20]

एक राजनीतिज्ञ तथा राजनेता के रूप में तिलक विश्वासतः लोकतन्त्रवादी थे।[21] उन्होंने सदैव बहुमत का अनुगमन किया। खिलाफत तथा असहयोग के प्रश्नों पर उन्होंने बहुसंख्यकों के निर्णय को अंगीकार कर लिया था।[22] एक नेता के रूप में तिलक लोकतन्त्र को एक राजनीतिक कार्यपद्धति ही नहीं समझते थे, अपितु वे उसे एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करते थे। उन्हें जनता से प्रेम था। उनके लिए जनता अपने नेतृत्व का प्रयोग करने का साधन मात्र नहीं थी। निम्न से निम्न व्यक्ति उनके पास सरलता से पहुँच सकता था।[23] उनका जीवन बड़ा सादा तथा मितव्ययितापूर्ण था। वे जनोत्तेजक नहीं थे। उन्होंने जनता की भद्दी और कुत्सित वासनाओं को उभारने का कभी प्रयत्न नहीं किया। तिलक ने स्वराज्य के पक्ष में सबल लोकमत का निर्माण करने के लिए विविध कार्यप्रणालियों का प्रयोग किया। उन्होंने पूना न्यू इंगलिश स्कूल, फर्ग्युसन कॉलिज तथा समर्थ विद्यालय की स्थापना की। उन्होंने 'मराठा' तथा 'केसरी' नामक दो पत्र प्रारम्भ किये जिन्होंने महाराष्ट्र की जनता को ठोस राजनीतिक शिक्षा दी। 'केसरी' नौकरशाही के विरुद्ध वृद्धिमान लोकमत का मुख-पत्र था। तिलक पर तीन बार राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया और 1897 तथा 1908 में उन्हें 'केसरी' में सम्पादकीय लेख प्रकाशित करने के लिए दण्ड दिया गया। 'पाइनियर', 'दि स्टेट्समैन', 'दि टाइम्स आव इण्डिया' सरकारी नीति के समर्थक थे, इसके विपरीत 'केसरी' तथा 'बंगाली' राष्ट्रीय लोकमत का समर्थन करने वाले थे। तिलक ने जीवन भर स्वराज्य के पक्ष में शक्तिशाली लोकमत तैयार करने का प्रयत्न किया।

दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक का नेतृत्व मुख्यतः बौद्धिक था। उन्होंने देश की नैतिक तथा आध्यात्मिक परम्पराओं के नाम पर भी जनता से अनुरोध किया। किन्तु लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिए उन्होंने मुख्य रूप से बौद्धिक साधनों का ही प्रयोग किया। तिलक मराठी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे।[24] उनकी ओजस्वी तीक्ष्ण शैली वॉल्तेयर की रचनाओं का स्मरण दिलाती है। उन्होने मराठी में गीता-रहस्य लिखा। तिलक ने कांग्रेस आन्दोलन का निश्चित रूप से भारतीयकरण किया। उन्होंने 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवाजी उत्सव' आरम्भ किये और इस प्रकार जनता की भावनाओं, परम्पराओं और विचारों तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच अवयवी

---

19 यह मत 2 अगस्त, 1920 की *Amrita Bazar Patrika* का ही नहीं था, बल्कि एडविन मोंटेग ने भी अपनी *An Indian Diary* में यही मत व्यक्त किया था।

20 गान्धीजी के 4 अगस्त, 1920 और 23 फरवरी, 1922 की *Young India* में प्रकाशित लेख।

21 तिलक के पक्के विरोधी डा. परांजपे ने भी मुझ से 1955 में पूना में कहा था कि महाराष्ट्र में तिलक को देवता माना जाता था।

22 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, 'The Foundations of Lokamanya's Political Thought', *The Statesman*, जुलाई 24, 1956 में प्रकाशित।

23 राजनीतिक नेतृत्व के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए देखिए मैक्स वेबर, 'Politics as a Vocation', *Essays in Sociology*, पृ. 77-78।

24 देखिए तिलक की मराठी रचनाओं की चार जिल्दें मूलतः 'केसरी' में प्रकाशित।

सम्बन्ध स्थापित किया।[25] पहले उन्होंने राष्ट्रीय एकता के पक्ष में सबल लोकमत का निर्माण किया और फिर उसका साम्राज्य-विरोधी अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। भारत में राजनीति की ओर उन्मुख लोकमत का निर्माण करने में तिलक का जीवन युग-प्रवर्तक है।

4. महात्मा गान्धी

तिलक और गान्धी (1869-1948) के जीवनचरित का अध्ययन करने से हमें आधुनिक भारत में लोकमत का स्पष्टतः राजनीतिक रूप देखने को मिलता है। मोहनदास करमचन्द गान्धी ने उस समय नेतृत्व ग्रहण किया जब देश का लोकमत पूर्णतः ब्रिटिश शासन के विरुद्ध था। तिलक तथा बेसेंट की होम लीगों के प्रचार ने देश में स्वराज्य के लिए उत्कट आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी। जलियांवाला हत्याकाण्ड ने जनता को पूर्णतः ब्रिटिश साम्राज्य का शत्रु बना दिया था। अंग्रेज शासकों ने प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान दमनकारी नीति का प्रयोग किया था जिसके फलस्वरूप जनता में भारी असन्तोष फैल गया था। गान्धीजी भारत की उचित राजनीतिक आकांक्षाओं के मूर्त रूप बनकर प्रकट हुए। तिलक ने जनता को राजनीति में लाने का काम आरम्भ कर दिया था, गान्धीजी ने उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। वे अपने को किसान और जुलाहा कहा करते थे। उन्होंने कांग्रेस को एक बड़े जनसंगठन का रूप दे दिया, यद्यपि उसका नेतृत्व मध्य वर्ग के ही हाथों में बना रहा।

गान्धीजी में नेतृत्व के लिए आवश्यक शारीरिक गुण नहीं थे जैसा कि हमें दयानन्द और विवेकानन्द के सम्बन्ध में देखने को मिलता है। उन्हें प्राचीन साहित्य का वैसा गम्भीर ज्ञान नहीं था जैसा कि दयानन्द और तिलक को था। गान्धीजी की वक्तृता-शक्ति भी बहुत कुछ सीमित थी। फिर भी उन्होंने भारतीय लोकमत पर आश्चर्यजनक आधिपत्य स्थापित कर लिया। भारतीय लोकमत उनकी पूजा करता था, और यह अतिशयोक्ति नहीं है कि एक-चौथाई शताब्दी से अधिक समय तक वे ही भारत के लोकमत थे।

गान्धीजी चम्पारन सत्याग्रह (1917), असहयोग आन्दोलन (1920-22), सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-34) और भारत छोड़ो आन्दोलन में नेतृत्व करके भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र समर्थक बन गये। उनके नेतृत्व का आधार यह था कि वे भारत के राष्ट्रीय संघर्ष के सबसे महत्वशाली प्रतीक थे। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व ने उनके नेतृत्व को और भी अधिक बल प्रदान कर दिया। उनका आग्रह था कि राजनीति में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को समाविष्ट किया जाय।[26] वे निरन्तर ईश्वर तथा अन्तर्वाणी का उल्लेख किया करते थे, प्रार्थना करना उनका दैनिक क्रम था और उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा था—इन सब बातों ने उन्हें एक महान् सन्त और ऋषि बना दिया, और भारतीय जनता उनकी आराधना करने लगी। गान्धीजी का नेतृत्व अद्भुत था, क्योंकि अपने महान् राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त उनमें एक सन्त की महानता और गम्भीरता भी थी। भौतिकवादियों और धर्मनिरपेक्षवादियों की दृष्टि में उनके नेतृत्व में अबौद्धिकता का तत्व हो सकता था, किन्तु भारतीय जनता उन्हें लगभग देव तुल्य मानती थी।

गान्धीजी ने अपने नेतृत्व को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए पत्रकारिता की शक्ति का प्रयोग किया। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने 'दि इण्डियन पब्लिक ओपिनियन' नामक पत्र का सम्पादन किया। उनकी 'यंग इण्डिया' उदीयमान भारतीय राष्ट्रवाद की बाइबिल बन गयी। उनके 'हरिजन' ने अनेक वर्षों तक भारत की राष्ट्रवादी राजनीति का पथ निर्धारित किया। गान्धीजी ने लोकमत का निर्माण करने के लिए प्रेस के अत्यन्त शक्तिशाली साधन का प्रयोग किया। उनके अपने पत्रों के अतिरिक्त भारत के राष्ट्रीय प्रेस के एक बड़े अंग ने भी गान्धीजी के नेतृत्व को बल देने में सहायता दी।

एक नैतिक ऋषि तथा राजनीतिक नेता के रूप में गान्धीजी में लोकमत को उत्तेजित करने

---

25 विपिनचन्द्र पाल, *Swadeshi and Swaraj*, (कलकत्ता, 1954), पृ. 73-83।

26 वी. पी. वर्मा, 'Gandhi and Marx', *The Indian Journal of Political Science*, जून 1954।

तथा उसे नाटकीय रूप देने की विशेष क्षमता थी। 1920-21 में उन्होंने एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन दिया। यद्यपि वह वचन वेसिरपैर का सिद्ध हुआ किन्तु उसके कारण उनके नेतृत्व का संवेगात्मक प्रभाव बहुत बढ़ गया। 1930 में उनकी डण्डी यात्रा ने भारतीय लोकमत को प्रचण्ड उत्तेजना प्रदान की। उनके प्रसिद्ध मन्त्र 'करो या मरो' ने भी जनता की भावनाओं तथा कल्पना को प्रज्वलित किया।

गान्धीजी अजेय हो गये थे, क्योंकि दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक की भांति उनका नेतृत्व भी आत्मत्याग पर आधारित था। चूँकि वे यश और सम्पत्ति की इच्छा का त्याग कर चुके थे इसलिए न कोई प्रलोभन उन्हें पथभ्रष्ट कर सकता था और न कोई धमकी उन्हें आतंकित कर सकती थी। वे एक ईश्वर-भक्त के रूप में श्रद्धा और आदर का केन्द्र बन गये। गान्धीजी की सत्ता का आधार कोई सरकारी पद नहीं था। वह वैयक्तिक पुरुषार्थ पर आधारित थी। उनमें वैयक्तिक चमत्कार (करिश्मा) की शक्ति थी,[27] इसलिए वे भारतीय समाज के निरक्षर वर्गों में कुछ उसी प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न कर सकते थे जैसी कि लोगों के मन में अवतारों के लिए हुआ करती थी। गान्धीजी ऋषि के से नेतृत्व के प्रतीक थे। उनका सादा पहनावा, उनका निरामिष भोजन, उनके हाथ में डण्डा और भाषण देने के समय उनके बैठने की मुद्रा—इन सब बातों ने पुरातनपन्थी धार्मिक विचारों के लोगों को उनके पक्ष में कर दिया। उन्होंने 1924, 1932, 1933, 1943 तथा अन्य अवसरों पर जो उपवास किये उनका जनता के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा और लोकमत की उनके पक्ष में तुरन्त और तत्काल प्रतिक्रिया हुई।

गान्धीजी की सत्य में निरपेक्ष निष्ठा थी, और चूँकि वे निरन्तर अपनी भूलों को स्वीकार करते रहते थे, इसलिए लोकमत सदैव उनके पक्ष में बनता रहा। 1919 में उन्होंने स्वीकार किया कि मैंने हिमालय के सदृश महान भूल की है, फिर भी भारतीय लोकमत उनका विरोधी नहीं हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धीजी ने राजनीतिक नेतृत्व के क्षेत्र में अगस्ताइन और रूसो की भाँति स्वीकारोक्ति की पद्धति का प्रयोग किया।

कुछ ऐसे भी अवसर थे जब गान्धीजी को शत्रुतापूर्ण लोकमत का सामना करना पड़ा। उनका अस्पृश्यता के विरुद्ध धर्मयुद्ध, उनका एक बछड़े को भारी शारीरिक वेदना की अवस्था में गोली मार देने की अनुमति देना, और उनकी मुसलमानों के प्रति नीति जिसे पक्षपातपूर्ण माना जाता था—इन बातों ने पुरातनपन्थी हिन्दू लोकमत को अवश्य उनके विरुद्ध कर दिया था, किन्तु जनता की गम्भीर भावनाएँ सदैव उनके पक्ष में बनी रहीं।

ईसाई लोकमत, भारत में तथा बाहर, गान्धीजी के पक्ष में रहा। कुछ लोगों को गान्धीजी टॉल्सटॉय के अनुयायी प्रतीत होते थे। गान्धीजी की जीवनी लिखने वाले सर्वप्रथम व्यक्तियों में डोक नामक ईसाई था। रोमां रोलां, होम्स आदि उनके सबसे बड़े पाश्चात्य प्रशंसक निष्ठावान ईसाई थे। गान्धीजी पर बाइबिल की शिक्षाओं का प्रभाव पड़ा था और थोरो की रचनाओं में उन्हें अपने सत्याग्रह सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए समर्थन मिल गया था। 1931 में उन्होंने गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया, इसलिए इंगलैण्ड का लोकमत कुछ हद तक उनके पक्ष में हो गया। उन्होंने लन्दन के पूर्वी छोर (मजदूरों की बस्ती) में निवास किया, मजदूरों के साथ भाईचारे का बर्ताव किया, अपनी दैनिक प्रार्थना भक्तिपूर्वक करते रहे और सम्राट से अपनी सादा पोशाक में भेंट की। उन्होंने अपनी गम्भीर नम्रता और सरलता से इंगलैण्ड की जनता को मोहित कर लिया।[28] कुछ हद तक पाश्चात्य ईसाई लोकमत उन्हें ईसा मसीह के बाद सबसे बड़ा ईसाई मानता था।

---

27 मैक्स वेबर ने सत्ता के तीन भेद बताये हैं: (क) परम्परागत, (ख) बौद्धिक अथवा विधिक, तथा (ग) चमत्कारपूर्ण। "उस नेता की सत्ता हुआ करती है जिसमें असाधारण व्यक्तिगत श्री, निरपेक्ष व्यक्तिगत निष्ठा तथा ईश्वरीय ज्ञान में व्यक्तिगत विश्वास, शूरत्व अथवा व्यक्तिगत नेतृत्व के अन्य गुण होते हैं।" मैक्स वेबर, *Essays in Sociology* (ऑक्सफोर्ड, 1946), पृष्ठ 78-79।

28 मूरियल लेस्टर, *Gandhi : World Citizen*, किताब महल, इलाहाबाद, 1945, पृ. 72।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धीजी के नेतृत्व के इतने शक्तिशाली होने का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने राजनीतिक नेताओं तथा ऋषियों, दोनों की कार्यप्रणाली का प्रयोग किया था। किसी भी राजनीतिक नेता का अपने जीवन-काल में लोकमत पर इतना आधिपत्य नहीं रहा जितना गान्धीजी का था।

5. निष्कर्ष

आधुनिक भारत के चार प्रमुख नेताओं के अध्ययन से निम्नलिखित अस्थायी निष्कर्ष निकलते हैं :

(1) उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिक भारतीय लोकमत की अभिव्यक्ति मुख्यतः सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं के क्षेत्र में होती थी, किन्तु अर्वाचीन काल में उसका स्वरूप स्पष्टतः राजनीतिक हो गया है। फिर भी जिन राजनीतिक नेताओं का स्वरूप धार्मिक होता है उनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

(2) धार्मिक परम्पराएँ तथा भावनाएँ बड़ी क्रियाशील सामाजिक शक्ति हुआ करती हैं। दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक और गान्धी के नेतृत्व से प्रकट होता है कि भारत में लोकमत को निर्मित करने में नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्वों का गहरा प्रभाव रहता है।

(3) दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक और गान्धी का नेतृत्व लोकमत के समर्थन पर आधारित था न कि अधिनायकवादी कार्यप्रणाली के प्रयोग पर। किन्तु भारत में अभी तक राजनीति-उन्मुख शक्तिशाली लोकमत का विकास नहीं हुआ है। शक्तिशाली व्यक्तित्व के नेता को लोकमत लगभग नये सिरे से निर्मित करना पड़ता है।

परिशिष्ट 13

स्वराज्य और राजनीति विज्ञान

आधुनिक युग में भारतीय विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान का अध्ययन स्वराज्य प्राप्ति के आन्दोलन के साथ गौणत: सम्बद्ध रहा है। अमेरिका में सर्वप्रथम न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में प्रो. वर्जेस के नेतृत्व में सन् 1880 में राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग की स्थापना हुई। इसके बारह वर्षों के बाद सन् 1892 में लन्दन स्कूल आफ इकॉनॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइन्स की स्थपाना की गयी। कोलम्बिया की प्रवृत्ति विधिशास्त्रीय और परम्परानुमोदक थी। लन्दन की प्रवृत्ति सुधारवादिनी थी। कोलम्बिया के बाद मिशिगन (1881), जॉन होपकिन्स, शिकागो (1893) तथा हार्वर्ड (1900) विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग खोले गये। कैम्ब्रिज में अब तक राजनीति विज्ञान का स्वतन्त्र विभाग नहीं है। सन् 1921 से ऑक्सफोर्ड में राजनीति विज्ञान की विशेष पढ़ाई आरम्भ हुई। लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के आन्दोलनों के फलस्वरूप जो भारतीय राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध हुई उसी के सन्दर्भ में सन् 1921 में लखनऊ में, सन् 1927 में इलाहाबाद में, सन् 1929 में हिन्दू विश्वविद्यालय में और सन् 1937 में मद्रास विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभागों की स्थापना की गयी।

सन् 1947 की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग अनेक स्थानों पर खोले गये। सन् 1948 में बम्बई तथा पटना में स्नातकोत्तर विभाग स्थापित हुए।

आज भारतवर्ष में प्राय: चालीस विश्वविद्यालयों और संस्थानों में राजनीति शास्त्र के उच्चस्तरीय अध्यापन की व्यवस्था है। शायद समस्त भारतवर्ष में इस विषय के दस हजार अध्यापक होंगे। शायद ऐसा माना जा सकता है कि देश में आठ लाख ऐसे छात्र और भूतपूर्व छात्र होंगे जिन्होंने कॉलिजों या विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान की शिक्षा एक या दो वर्षों तक पायी होगी। अत: स्पष्ट विदित है कि संस्थात्मक स्तर पर राजनीति शास्त्र पाठ्य विषयों में सर्वाधिक लोकप्रिय है। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद राजनीतिक चेतना का जो सार्वत्रिक और सर्वविध विमोचन हुआ है उसकी पृष्ठभूमि में राजनीति विज्ञान के विस्तार को देखना संगत है।

राजनीति विज्ञान के दो पक्ष हैं। एक है विशुद्ध चिन्तनात्मक। इसमें आधारभूत प्रश्नों पर जैसे राज्य का उद्भव, स्वरूप और कार्य, दायित्व और आज्ञाकारिता, संप्रभुता और विधि, मौलिक चिन्तन द्वारा बौद्धिक कर्त्तत्व का सृजनात्मक प्रकटीकरण किया जाता है। प्लेटो, हॉब्स तथा हेगेल आदि इसी परम्परा के शीर्पस्थानीय व्यक्ति हैं, जिन्होंने राजनीति, मानव समाज और व्यक्ति के कर्तव्य पर तत्वज्ञानात्मक चिन्तन प्रस्तुत किये हैं। पराजित राष्ट्र को समस्त शक्तियों का केन्द्रीयकरण स्वराज्य-प्राप्ति के लिए करना पड़ता है। अत: दादाभाई नौरोजी, गोखले, तिलक, गान्धी, एम. एन. राय आदि नेताओं की कृतियों में मुख्यत: उन्हीं विषयों का विवेचन है जिनका स्वराज्य-प्राप्ति के लक्ष्य के साथ सम्बन्ध है। राजनीति शास्त्र के आधारभूत प्रश्नों पर चिन्तन करने का उनको अपेक्षित समय नहीं था। अत: राजनीति शास्त्र विषय के उनके ग्रन्थ भी प्राय: निबन्धों के संग्रह ही हैं, जमकर लिखे गये स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ कम हैं, यद्यपि यह ठीक है कि श्री अरविन्द तथा एम. एन. राय ने मौलिक चिन्तन भी किया है और कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

स्वतन्त्र भारत में हमारे देश के अध्यापकों को भी डुगुइ, क्रेव, मैरियम, मैकाइवर, लास्की, लासवेल आदि विद्वानों से सैद्धान्तिक राजनीति शास्त्र के संवर्धन में टक्कर लेना है। कब तक हम दूसरों से विचारों का ऋण लेते रहेंगे ? यदि प्राचीन काल में व्यास, कौटिल्य तथा मनु जैसे राजनीति शास्त्र के विचारक हो सकते थे तो निश्चित ही आज भी हो सकते हैं।

भारतवर्ष की साहित्यिक परम्परा बड़ी पुरानी है। ऋग्वेद और अथर्ववेद समस्त संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। संस्कृत तथा अनेक भारतीय भाषाओं में बहुत बड़ा साहित्य संरक्षित है। ऋग्वेद से लेकर गान्धी और अरविन्द तक जो चिन्तन हुआ है उसका लोकतन्त्र और मानव स्वतन्त्रता की दृष्टि से पर्यालोचन करना है। प्लेटो ने भी कहा था कि होमर आदि के प्रतिष्ठित साहित्य का भी विद्यार्थी के मानस को उच्चाशय बनाने की दृष्टि से आलोचन होना चाहिए। ऋग्वेद से लेकर महात्मा गान्धी तक का जो हमारा साहित्य है उसका केवल पूजन ही नहीं करना है अपितु आज के जनहित के आदर्शों को सम्पुष्ट करने में भी उसका उपयोग करना है। समाजवाद, मौलिक अधिकार, लोकतन्त्र, न्यायिक पुनर्विलोकन आदि मूलशस्त्र पश्चिमी संविधानवाद से हमने उधार लिये हैं। इन्हें भी भारतीय परम्परा में निष्ठ करना है। हमारी परम्परा समन्वयवादिनी रही है। अतः इस प्रकार का समन्वय करने में, जिसमें प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यिक अवशेषों से व्यापक जनहित पुष्ट हो सके, हमें कार्य करना है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और मानव भ्रातृत्व के जो आदर्श हमारे संविधान के प्रारूप में उद्घोषित हुए हैं, उनको जो साहित्यिक परम्परा पुष्ट करे वह अभिनन्दनीय है और जो परम्परा उनका विरोध करे वह सर्वथा त्याज्य और तिरस्करणीय है। बुद्धिवाद का कठोर शस्त्र धारण कर हमें प्रत्येक भारतीय नागरिक को समुचित न्याय दिलाने के लिए उद्योग करना होगा। स्पष्ट है कि भारत के नूतन निर्माण में राजनीति विज्ञान का कितना बड़ा कर्तव्य है।

राजनीति विज्ञान का दूसरा पक्ष प्रक्रियात्मक है। राजनीति प्रक्रियाओं का अध्ययन अभिप्रेत है। राजनीतिक संस्थाओं के क्या आधार हैं इसका विधिशास्त्रीय अध्ययन तो होना ही चाहिए। किन्तु संस्थाओं में जो मानव इकाइयाँ हैं उन इकाइयों तथा उनकी अन्तःक्रियाओं तथा अन्तस्सम्बन्धों का भी व्यावहारिक और आचरणवादी अनुशीलन अभिप्रेत है। जिस प्रकार अर्थशास्त्रियों ने मूल्य, आयात, निर्यात, माँग और पूर्ति के सम्बन्ध में व्यावहारिक और प्रयोगात्मक अध्ययन कर, गणित की शब्दावली में अभिव्यंजनीय सिद्धान्तों का निर्माण कर, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाई है उसी प्रकार का कार्य राजनीति विज्ञान वेत्ताओं को भी करना है।

भारतीय लोकतन्त्र में जनता और प्रशासक तथा राजनीतिज्ञों के क्या मेच्छित और आचरण हैं तथा न्यायालय, लोकसेवा आयोग आदि की क्या चर्चाएँ हैं, इनका भी तटस्थ एवं निष्पक्ष अनुशीलन अभिवांछित है। लोकतन्त्र और समाजवाद को अपना मूल उद्देश्य मानने से आज भारतवर्ष में निर्णयकारी क्षेत्रों का विशदीकरण हो रहा है। लोकजीवन को प्रभावित करने वाले स्थल बढ़ रहे हैं। अतः इन क्षेत्रों के क्रियाकलापों का भी अध्ययन अभिवांछित है। जब प्रक्रियाओं, अन्तःसम्बन्धों और व्यवहारों के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होगी तब उसके आधार पर नीतिनिर्माण और निर्मित नीतियों के क्रियान्वयन में मदद मिलेगी।

राजनीतिक नेताओं के हाथ में सत्ता है और सत्ता के प्रकटीकरण के लिए वे नीतिनिर्माण करते हैं। नीति-निर्माण के क्षेत्र में उन लोगों की राय भी ली जानी चाहिए जिन्होंने वर्षों तक प्रामाणिक ढंग से इन विषयों का अनुशीलन किया है। जिस प्रकार क्रियात्मक राजनीतिज्ञों को राजनीति विज्ञान वेत्ताओं के साहाय्य की आवश्यकता है उसी प्रकार प्रशासकों को भी। प्रसन्नता की बात है कि देश में ऐसे लोक प्रशासन संस्थानों की स्थापना हो रही है जहाँ प्रशासक और राजनीति विज्ञान वेत्ता आपस में विचार-विमर्श करें और इस बौद्धिक संलाप का फल व्यावहारिक जीवन पर पड़े। टॉमस, हिलग्रीन, ग्राहम वालास और चार्ल्स मेरियम आदि राजनीति दर्शन के प्रकाण्ड विद्वानों ने व्यावहारिक राजनीति और सामाजिक जीवन से अपने को सम्बद्ध कर मानव व्यवहारों के विषय में नूतन अन्तःदृष्टि प्राप्त की और इसका आशय अपने ग्रन्थों में व्यक्त किया। राजनीतिक कर्म की धारा से सम्बद्ध होकर ही ज्ञान सशक्त बनता है और ज्ञाननिष्ठ कर्म ही [illegible]

राजनीति विज्ञान के अध्यापकों ने अनेक ग्रन्थों की रचना कर भारतीय स्वराज्य के बौद्धिक और नैतिक धरातल को मजबूत बनाया है। भारतीय विषयों पर शोध की जो परम्परा प्रमथनाथ बनर्जी, वेंकट शिवराम, बेणीप्रसाद, वेंकटरमैया, गुरुमुख निहालसिंह, वीरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव प्रसाद वर्मा, शेरवानी, विमान विहारी मजूमदार, कृष्णप्रसाद मुखर्जी, के. एन. वी. शास्त्री, परगट सिंह मुहार, गोपीनाथ धवन आदि ने चलायी वह आज अनेक प्रकार से पुष्ट होकर देश के बौद्धिक जीवन को मजबूत कर रही है। अनेक सुबोध पाठ्य-ग्रन्थों का प्रणयन भी विशिष्ट सेवा है। ऐडी आशीर्वादम्, अप्पादोराई, महादेव प्रसाद शर्मा, रत्नास्वामी, ज्योतिप्रसाद सूद, ब्रजमोहन शर्मा, कन्हैया-लाल वर्मा, पुन्ताम्बेकर, कृष्णराव, विमान विहारी मजूमदार आदि ने पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन कर न केवल विद्यार्थी जगत का उपकार किया है, अपितु अपने ग्रन्थों में स्वतन्त्रता, समानता और न्याय की संस्तुति कर भारतीय स्वराज्य के धरातल को मजबूत बनाया है। भारतीय प्रशासन सम्बन्धी अध्ययन और शोध को पुष्ट करने में सी. के. नन्दन मेनन जे. एन. खोसला, आर. भास्करन् ने अच्छा कार्य सम्पादित किया है। शिक्षक के रूप में ताराचन्द, आशीर्वादम्, सोंधी, मुकुट विहारीलाल चाको आदि ने विद्यार्थियों को प्रभावित किया और इस प्रकार भारतीय नागरिकता की सेवा की है। आज सैकड़ों की संख्या में अध्यापक और शोधप्रज्ञ भारतीय स्वराज्य, राजनीतिक विचार, संविधान आदि विषयों का अनुशीलन कर रहे हैं जिनकी सेवाओं का महत्वपूर्ण स्थान होगा।

आज राजनीति विज्ञान के शिक्षकों को गहरा उत्तरदायित्व निभाना है। उच्च स्तर के राष्ट्र-सम्मत राजनीतिक नेताओं का अब अभाव है। प्रान्तसम्मत राजनीतिक नेताओं की भी दुर्भाग्यवश समाप्ति हो रही है। अब दलगत और जातिगत नेताओं का युग आ रहा है। प्रश्न यह है कि जन-मत का निर्देशन कहाँ से होगा ? इस कार्य में राजनीति विज्ञान के वरिष्ठ अध्यापकों का नैतिक उत्तर-दायित्व है। आज हमारे बीच अनेक राजनीति विज्ञान के आचार्य हैं जिनके छात्र मन्त्री और उप-मन्त्री बने हैं। क्या ये आचार्य अपने भूतपूर्व छात्रों को प्रेरणा नहीं दे सकते ? हम राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी निमन्त्रण देते हैं कि वे राजनीति विज्ञान के अध्यापकों से मेलजोल बढ़ावें। व्यावहारिक राजनीति में समता और स्वतन्त्रता को क्रियान्वित करने में जो कठिनाइयाँ उनको हो रही हैं उन्हें वे इन अध्यापकों के सामने रखें। दूसरी ओर प्राध्यापक भी पाठ्य-पुस्तकों से संगृहीत तथा अपने चिन्तन से विस्तृत विचारों को कार्यकर्ताओं को दें जिनका वे व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करें। अमेरिका में फ्रेंकलिन रूजवेल्ट तथा कैनेडी अपने साथ राजनीति शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के दक्षों और प्रवरों को बड़ी संख्या में रखते थे और अपनी कठिनाइयों का उनसे समाधान माँगते थे। विश्वविद्यालयों में जो राजनीति विज्ञान का विस्तार हो रहा है उसका पूरा लाभ इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध-संवर्धन से राष्ट्र को मिलना ही चाहिए।

समाचार-पत्रों के प्रकाशकों से भी एक मेरा निवेदन है। वे कृपया राजनीतिक नेताओं को ही प्रशस्ति करना बन्द करें। जिन अध्यापकों ने जीवन के अनेक वर्ष राजनीतिक प्रश्नों के चिन्तन पर ही व्यतीत किये हैं उनके विचारों को भी प्रकाशित करें। जो स्थान आर्थर कीथ, हैराल्ड लास्की आदि अध्यापकों के विचारों को विदेश के प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों द्वारा दिया जाता था उसी प्रकार की परम्परा हमारे देश में भी बननी चाहिए। प्रतिदिन और प्रति सप्ताह एक ही प्रकार का समरस चर्वित चर्वण और पिष्टप्रेषण जनता के समक्ष रखना ठीक नहीं है। समाचार-पत्र जनता के सर्वविध ज्ञानवर्धन के लिए जिम्मेवार हैं। राजनीतिक परतन्त्रता के युग में स्वराज्य के नेताओं की संस्तुति की जो परम्परा चली उसको बन्द कर देना चाहिए। एक तो देशसम्मत नेता अब प्रायः नहीं रहे। दूसरी ओर, स्वतन्त्र देश की बौद्धिक क्रियात्मकता के जो अनेक पक्ष हैं उनका प्रकटीकरण आवश्यक है।

ग्रन्थ-सूची

अध्याय 1—भारत में पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद

अम्बेडकर, बी. आर. : Pakistan or Partition of India (बम्बई, थैकर एण्ड कं., 1945)।

——What Congress and Gandhi Have Done to the Untouchables (बम्बई, थैकर एण्ड कं., 1945)।

आगा खाँ : India in Transition (बम्बई, टाइम्स ऑव इण्डिया, 1918)।

आजाद, अबुल कलाम : India Wins Freedom (कलकत्ता, ओरिएण्ट लाँगमैन्स, 1959)।

एण्ड्रूज, सी. एफ. : The Renaissance in India.

कॉटन हेनरी : New India or India in Transition (लन्दन, कीगन पॉल, 1907)।

——Indian Speeches and Addresses (कलकत्ता, एस. के. लाहिरी एण्ड कं., 1903, पृष्ठ 136)।

कीथ, ए. बी. : The Constitutional History of India.

केलकर, एन. सी. : Pleasures and Privileges of the Pen.

कोह्न, हेन्स : A History of Nationalism in the East.

——Nationalism and Imperialism in the Hither East.

——Western Civilization in the Near East.

गुप्ता, जे. एन. : Life and Work of Romesh Chunder Dutt (लन्दन, जे. एम. डैण्ट एण्ड सन्स, 1911)।

गोपालकृष्णन, पी. के. : Development of Economic Ideas in India (1880-1950)।

ग्लासेनैप, एच. : Religiose Reformbewegungen in Heutigen Indien (लीपजिग, 1928)।

चक्रवर्ती, ए. : Humanism and Indian Thought, प्रिंसीपल मिलर भाषणमाला, 1935 (मद्रास विश्वविद्यालय, 1937, पृष्ठ 29)।

चन्दावरकर, एन. जी. : Speeches and Writings (बम्बई, मनोरंजक ग्रन्थ प्रसारक मण्डली, 1911)।

चिन्तामणि, सी. वाई. : Indian Politics since the Mutiny (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1940)।

जकारियास, एच. सी. ई. : Renascent India (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1933)।

जयकर, एम. आर. : The Story of My Life, दो जिल्दें।

डॉडवैल, एच. एच. : Sketch of the History of India from 1859 to 1918.

दत्त, आर. पी. : India Today.

नटराजन, एस. : A Century of Social Reform in India (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958)।

पणिक्कर, के. एम. : Asia and Western Dominance (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1955)।

परांजपे, आर. पी. : The Crux of the Indian Problem (लन्दन, वाट्स एण्ड कं., 1931)।
———Rationalism in Practice, 1934 के कमला भाषण (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1935)।
पॉल, के. टी. : The British Connexion with India.
प्रधान, आर. जी. : India's Struggle for Swaraj (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं., 1930)।
फर्क्हार, जे. एन. : Modern Religious Movements in India (न्यूयार्क, मैकमिलन एण्ड कं., 1918)।
फनर ब्रॉकवे, ए. : Non-Cooperation in Other Lands (मद्रास, टैगोर एण्ड कं., 1921)।
The Indian Crisis (लन्दन, विक्टर गोलकैंज, 1930)।
———A Week in India (लन्दन, 1928)।
———India and Its Government (मद्रास, टैगोर एण्ड कं., 1921)।
वसु, डी. डी. : Commentary on the Constitution of India, 3 जिल्दें (5-जिल्दी योजना)।
वार्थ, ए. The Religions of India, रेवरैंड जे. वुड का अधिकृत अनुवाद, छठा संस्करण (लन्दन, कीगन पॉल, ट्रैंच ट्रवनर एण्ड कं., 1932)।
वेनीप्रसाद : The Hindu-Muslim Questions (लाहौर, मिनर्वा पब्लिकेशन्स, 1943)।
ब्रैल्सफोर्ड, एच. एन. : Subject India (बम्बई, वोरा एण्ड कं., 1946)।
भट्टाचार्य, एच. : Individual and Social Progress, प्रिंसीपल मिलर भाषणमाला, 1938 (मद्रास विश्वविद्यालय, 1939, पृष्ठ 50)।
मजूमदार, बी. बी. : History of Political Thought from Ram Mohan to Dayanand (कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934)।
मुदालियर, ए. आर. : An Indian Federation (मद्रास विश्वविद्यालय, 1933)।
मुहार, पी. एस. Perspectives of Contemporary Political Thought in India (हार्वर्ड विश्वविद्यालय में पी-एच. डी. थीसिस, 1933, अप्रकाशित)।
मूर, चार्ल्स ए. (सम्पादित) : Philosophy—East and West (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1946)।
मेहता, अशोक व पटवर्धन : The Communal Triangle in India (इलाहाबाद, किताबिस्तान, 1942)।
मैकडोनल्ड, जे. रैम्जे : The Government of India (लन्दन, स्वार्थमोर प्रेस, 1923)।
———The Awakening of India (लन्दन, हॉडर एण्ड स्टाउटन)।
मैकनिकोल, एन. : The Making of Modern India (ऑक्सफोर्ड, 1924)।
रत्नास्वामी एम. : The Political Theory of the Government of India (मद्रास, थॉमसन एण्ड कं. 1928)।
राजेन्द्रप्रसाद : आत्मकथा (पटना, 1946)।
———Autobiography (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958)।
रॉबर्ट्स, पी. ई. : History of Modern India.
रामगोपाल : Indian Muslims (1858-1947) (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1959)।
रोनाल्डशे, अर्ल ऑव : The Life of Lord Curzon, 3 जिल्दें (लन्दन, अर्नेस्ट वैन लि., 1928)।
———India (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1926)।
———The Heart of Aryavarta (लन्दन, कान्सटेवल एण्ड कं. लि., 1925)।
लवेट, हैरिंगटन : History of the Indian Nationalist Movement.
वाचा, डी. ई. : Speeches and Writings (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)।
वाडिया, ए. आर. : Civilization as a Cooperative Adventure, प्रिंसीपल मिलर भाषण-माला, 1935 (मद्रास विश्वविद्यालय, 1953, पृ. 51)।

वासवानी, टी. एल. : India in Chains (मद्रास, गणेश एण्ड कं., 1921)।
वैडरबर्न, डब्ल्यू. : Life of A. O. Hume.
शफात अहमद खाँ : The Indian Federation.
शारदा, हरविलास : Speeches and Writings (अजमेर, वैदिक यन्त्रालय, 1935)।
शिरोल, वैलेंटाइन : The Indian Unrest (1910)।
——India, Old and New.
——India (1926)।
सीतारमैया, पट्टाभि : The History of the Indian National Congress, 2 जिल्दें (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स)।
Life and Works of Jatindra Mohan Sen Gupta (कलकत्ता, मॉडर्न बुक एजेन्सी, 1933, पृष्ठ 158)।
The Cultural Heritage of India, 3 जिल्दें।
The Indian Nation Builders, 3 खण्ड (मद्रास, गणेश एण्ड कं.)।
The Speeches of President Rajendra Prasad, 2 जिल्दें (गवर्नमेंट ऑव इण्डिया पब्लिकेशन्स डिवीजन, 1957-58)।

अध्याय 2—ब्रह्म समाज

इकबाल सिंह : Ram Mohan Roy, जिल्द 1 (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958)।
कौलेट, सोफिया डॉब्सन (सम्पादित) : Keshav Chandra Sen's English Visit (लन्दन, स्ट्रैहन एण्ड कं., 1871)।
टैगोर, देवेन्द्रनाथ : Autobiography.
पारेख, मणिलाल सी. : The Brahmo Samaj (राजकोट, ओरिएण्टल क्राइस्ट हाउस, 1929)।
——Rajarshi Ram Mohan Roy.
——Brahmarshi Keshav Chandra Sen.
बाल, उपेन्द्र नाथ : Ram Mohan Roy : A Study of His Life, Works and Thoughts (कलकत्ता, यू. राय एण्ड सन्स, 1933)।
मजूमदार, पी. सी. : The Life and Teachings of Keshav Chandra Sen (प्रथम संस्करण, कलकत्ता, 1887; तृतीय संस्करण, कलकत्ता, नव विधान ट्रस्ट, 1931)।
——The Faith and Progress of the Brahmo Samaj (कलकत्ता, 1883)।
राममोहन राय : The English Works of Raja Ram Mohan Roy, जोगेन्द्रचन्द्र घोष द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, श्रीकान्त राय, 1901, जिल्द 1, 2, 3)।
शास्त्री, शिवनाथ : History of the Brahmo Samaj (कलकत्ता आर. चटर्जी, जिल्द 1, 1911; जिल्द 2, 1912)।
Ram Mohan Roy : His Life, Writings and Speeches (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं., 1923)।
The Father of Modern India, राममोहन राय शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ (कलकत्ता, 1935)।

अध्याय 3—दयानन्द सरस्वती

दयानन्द, स्वामी : सत्यार्थ प्रकाश।
——ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।
——भाष्य, यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के अंशों पर।
मुखोपाध्याय, डी. : Life of Dayananda Saraswati, 2 जिल्दें।

शारदा, हरविलास : Life of Dayananda Saraswati (अजमेर, 1946)
——शंकर और दयानन्द (अजमेर, 1944)।
त्यदेव विद्यालंकार : राष्ट्रवादी दयानन्द (नई दिल्ली, 1941)।
सत्यानन्द : दयानन्द प्रकाश (मथुरा)।

अध्याय 4--एनी बेसेंट तथा भगवान्दास

एनी बेसेंट : Ancient Ideals in Modern Life.
——A Bird's-Eye view of India's Past as the Foundation for India's Future.
——Britain's Place in the Great Plan.
——Children of the Motherland.
——England, India and Afghanistan (प्रथम बार लन्दन में 1879 में मुद्रित) (मद्रास, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस (थि. प. हा.), 1931, पृ. 123)।
——The Future of Indian Politics (मद्रास, थि. प. हा., 1922, पृ. 351)।
——Higher Education in India, Past and Present Hindu Ideals.
——How India Wrought for Freedom (मद्रास, थि. प. हा., 1951)।
——In Defence of Hinduism.
——India : A Nation (मद्रास, थि. प. हा., 1930, चतुर्थ संस्करण)।
——Indian Ideals in Education, Religion, Philosophies, Art, कमला भाषणमाला 1924-25, मद्रास, थि. प. हा., 1930)।
——India's Struggle to Achieve Dominion Status.
——The Inner Government of the World.
——The New Civilization.
——Problems of Reconstruction.
——Wake up India (मद्रास, थि. प. हा., पृ. 131)।
——World Problems of Today.
——Lectures on Political Science (मद्रास, दि कॉमनवैल्थ ऑफिस, अड्यार, 1919, पृ. 117)।
——Shall India Live or Die ? (नेशनल होम रूल लीग, 1925)।
——Hints on the Studies of the Bhagavadgita.
——English Translation of the Bhagavadgita.
——Popular Lectures on Theosophy.
——Autobiography (मद्रास, थि. प. हा., तृतीय संस्करण, 1939, पृ. 653)।
——The Schoolboy as Citizen (मद्रास, थि. प. हा., 1942)।
——India (निबन्ध तथा भाषण, जिल्द 4, लन्दन, थियोसोफिकल पब्लिशिंग सोसाइटी, 1913, पृ. 328)।
——The India that Shall Be (*New India* में एनी बेसेंट के हस्ताक्षरयुक्त लेख—मद्रास, थि. प. हा., 1940)।
——Civilization's Deadlocks and the Keys (मद्रास, थि. प. हा., 1925)।
——Ancient Wisdom.
——India and the Empire (लन्दन, थि. प. सो., 1914, पृ. 153)।
——The Wisdom of the Upanishads (1907, पृ. 115)।
——An Introduction to Yoga (पृ. 135)।

एनी बेसेंट : Congress Speeches of Annie Besant (मद्रास, दि कॉमनवील ऑफिस, 1917, पृ. 138)।
——The Besant Spirit, 4 जिल्दें (मद्रास, थि. प. हा., 1938, 1939)।
——For India's Uplift, भाषणों तथा लेखों का संग्रह, द्वितीय संस्करण (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)।
——Brahmavidya (मद्रास, थि. प. हा., 1923, पृ. 113)।
——The Masters, प्रथम संस्करण, 1912, पृ. 65 (मद्रास, थि. प. हा., 1932)।
——'The Basic Truths of the World Religion'—*The Three World Movements* में संकलित (मद्रास, थि. प. हा., 1926)।
——(सम्पादित) : Our Elder Brethren (मद्रास, थि. प. हा., 1934)।
——The Universal Text-Book of Religion and Morals (मद्रास, थि.प.हा., 1910)।
पाल, बी. सी. : Mrs. Annie Besant : A Psychological Study (मद्रास, गणेश एण्ड कं.)।
भगवान्दास : Ancient versus Modern 'Scientific Socialism or Theosophy and Capitalism, Fascism or Communism' (मद्रास, थि. प. हा., 1934, पृ. 209)।
——Social Reconstruction (वाराणसी, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, 1920, पृ. 130)।
——Krishna (मद्रास, थि. प. हा., 1929, पृ. 300)।
——The Science of Emotions.
——The Science of Peace and Adhyatma Vidya.
——The Science of Social Organization of the Laws of Manu in the Light of Atma Vidya (मद्रास, थि. प. हा., 1932. पृ. 394)।
——The Science of Sacred Word or Pranava Vada, 3 जिल्दें।
——The Science of Religion.
——The Philosophy of Non-Cooperation.
——Mystic Experiences or Tales from Yoga Vasistha.
——समन्वय (वाराणसी, भारती भण्डार)।
——World War and Its Only Cure—World Order and World Religion (वाराणसी, 1941, लेखक द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 544)।
——दर्शन का प्रयोजन।
——पुरुषार्थ।
श्री प्रकाश : Annie Besant (बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1954)।

अध्याय 5—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

चटर्जी, आर. (सं.) : The Golden Book of Tagore (1931)।
टैगोर, रवीन्द्रनाथ : The Crescent Moon.
——Gitanjali.
——Sadhana.
——The Religion of Man.
——Nationalism.
——Personality.
——Creative Unity
——Stray Birds.
——The Gardener.

टैगोर : Lover's Gift and Crossing.
——Fruit Gathering.
दास, डा. तारकनाथ : Rabindranath Tagore : His Religious, Social and Political Ideal (कलकत्ता, सरस्वती लाइब्रेरी, 1932)।
थॉमसन, एडवर्ड : Rabindranath Tagore (कलकत्ता, एसोसिएशन प्रेस, 1928)।
रीस, अर्नेस्ट : Rabindranath Tagore (लन्दन, मैकमिलन एण्ड कं., 1915)।
लेस्नी, वी. : Rabindranath Tagore (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन लि., 1939)।
सेन, सचिन : Political Philosophy of Rabindranath (कलकत्ता, एशर एण्ड कं., 1929)

अध्याय 6—स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ

1. स्वामी विवेकानन्द

दत्त, भूपेन्द्रनाथ : Vivekananda : Patriot-Prophet (कलकत्ता, नवभारत पब्लिशर्स, 1954)।
निवेदिता, सिस्टर : The Master as I Saw Him (कलकत्ता, उद्‌बोधन ऑफिस, पंचम संस्करण, 1939)।
वर्क, मैरी लुई : Swami Vivekananda in America : New Discoveries (कलकत्ता, अद्वैत आश्रम, 1958)।
मैक्स मूलर, एफ. : Ramakrishna.
रोमां रोलां : Life of Ramakrishna (तृतीय संस्करण, 1944)।
——Life of Vivekananda (अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, चतुर्थ संस्करण, 1953)।
Life of Ramakrishna (अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, 1936, द्वितीय संस्करण)।
Life of Swami Vivekananda—उनके पौर्वात्य तथा पाश्चात्य शिष्यों द्वारा (अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, 1933, द्वितीय संस्करण)।
The Complete Works of Swami Vivekananda, 8 जिल्दें (अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम)।

2. स्वामी रामतीर्थ

नारायण स्वामी, आर. एस. : स्वामी रामतीर्थ की जीवनी।
पूरणसिंह : Swami Rama : The Poet Monk of the Panjab.
वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : स्वामी रामतीर्थ के कुछ विचार (पटना, किशोर, 1946)।
शर्मा, ब्रजनाथ : The Legacy of Swami Rama.
In Woods of God-Realization or the Complete Works of Swami Ramatirtha, 8 जिल्दें (लखनऊ, रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग)।
Poems of Swami Rama (लखनऊ, रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग)।

अध्याय 7—दादाभाई नौरोजी

नौरोजी, दादाभाई : Poverty and Un-British Rule in India (लन्दन, स्वान सोनेनशीन एण्ड कं., 1901)।
पारेख, सी. एल. (सं.) : Essays, Speeches, Addresses and Writings of Dadabhai Naoroji (बम्बई, कैक्सटन प्रिंटिंग वर्क्स, 1887)।
मसानी, आर. पी. : Dadabhai Naoroji : The Grand Old Man of India (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन लि., 1939)।
Speeches and Writings of Dadabhai Naoroji, द्वितीय संस्करण (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं., 1917)।

अध्याय 8—महादेव गोविन्द रानाडे

कर्वे, डी. जी. : Ranade : The Prophet of Liberated India (पूना, आर्य भूषण प्रेस, 1942)।

गोखले, जी. के. तथा वाचा, डी. ई. : Ranade and Telang (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)।

चिन्तामणि, सी. वाई. (सं.) : Indian Social Reform, 4 खण्ड (मद्रास, थॉमसन एण्ड कं., 1901)।

फाटक, एन. आर. : रानाडे की जीवनी (मराठी में) 1924।

मानकर, जी. ए. : Mahadev Govinda Ranade, 2 जिल्दें (बम्बई, 1902)।

रानाडे, एम. जी. : धर्म पर व्याख्यान (मराठी में); Essays in Indian Economics.

——Rise of the Maratha Power.

——Essays in Religious and Social Reforms (एम. बी. कोलस्कर द्वारा सम्पादित)।

रानाडे, श्रीमती रमाबाई : संस्मरण (मराठी में)।

——The Miscellaneous Writings of M. G. Ranade, श्रीमती रमाबाई रानाडे द्वारा प्रकाशित (बम्बई, मनोरंजन प्रेस, 1915, पृ. 380)।

अध्याय 9—फीरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

चिन्तामणि, सी. वाई. (सं.) : Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta (इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905)।

बनर्जी, एस. एन. : A Nation in Making.

——Speeches and Writings (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)।

——Speeches (1876-1884), रामचन्द्र पलित द्वारा सम्पादित, जिल्द 1 व 2, द्वितीय संस्करण (कलकत्ता, एस. के. लाहिरी एण्ड कं., 1891)।

——Speeches (1886-1890), राज जोगेश्वर मित्तर द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, के. एन. मित्र, 1890)।

मोदी, एच. पी. : Sir Pherozeshah Mehta : A Political Biography, 2 जिल्दें।

अध्याय 10—गोपालकृष्ण गोखले

काले, वी. जी. : Gokhale and Economic Reforms.

गोखले, जी. के. : Speeches and Writings (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)।

गोखले, जी. के. : Speeches and Writings of G. K. Gokhale, जिल्द 1—अर्थशास्त्रीय (पूना, दक्कन सभा, 1962)।

परांजपे, आर. पी. : Gopal Krishna Gokhale.

पर्वते, टी. वी. : Gopal Krishna Gokhale (अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1959)।

वाचा, डी. ई. : Reminiscences of the Late Mr. G. K. Gokhale.

शास्त्री, श्रीनिवास : Gopal Krishna Gokhale.

——My Master Gokhale.

——Sastry Speaks (पीटरमैरिजबर्ग, 1931)।

——Letters of V. S. Srinivasa Sastry (मद्रास, रोकाउज एण्ड सन्स, 1944)।

——Speeches and Writings of V. S. Srinivasa Sastry (मद्रास, जी. ए. नटेसन एण्ड कं.)

साहनी, टी. के. : Gopal Krishna Gokhale (बम्बई, आर. के. मोदी, 1929)।

होयलैण्ड, जे. एस. : Gopal Krishna Gokhale.

अध्याय 11—बाल गंगाधर तिलक

अठाले, डी. वी. : Life of Lokmanya Tilak.
अरविन्द : बंकिम-तिलक-दयानन्द ।
आगरकर, जी. जी. : आगरकर की संग्रहीत रचनाएं, 3 जिल्दें (मराठी में) ।
———'केसरी' में प्रकाशित लेख, 2 जिल्दें (मराठी में) ।
———डोंगरी जेल के संस्मरण (मराठी में) ।
कुलकर्णी, एन. वी. : तिलक की जीवनी, 3 खण्ड (मराठी में) ।
केलकर, एन. सी. : आत्मकथा (मराठी में) ।
———इंगलैण्ड से पत्र (मराठी में) ।
———लोकमान्य तिलक की जीवनी, 3 जिल्दें—तिलक की जीवनी पर मराठी में सर्वश्रेष्ठ स्तरीय कृति, लगभग 2000 पृष्ठ में ।
———Sketches of Chiploonkar.
———The Case for Indian Home Rule.
———A Passing Phase of Politics.
———The Tilak Trial of 1908.
———Life and Times of Lokmanya Tilak (केलकर कृत Life of Tilak की पहली जिल्द का डी. वी. दिवाकर कृत संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद) ।
केलकर, एन. सी. (सं.) : लोकमान्य तिलक के जीवन के धार्मिक पहलू पर लेख (मराठी में) ।
खाडिलकर, के. पी. : संग्रहीत लेख, 2 जिल्दें (मराठी में) ।
खानखोजे : 'केसरी' में प्रकाशित लेख (दिनांक 23, 26 फरवरी तथा 28 सितम्बर, 1954) ।
गुरुजी, के. ए. : तिलक की जीवनी (मराठी में) ।
गोखले, डी. वी. : The Tilak Case of 1916.
चन्द्र, बी. : टीके लगाने के विषय पर लोकमान्य तिलक से विवाद (मराठी में) ।
चिपलूणकर, वी. के. : निबन्धमाला (मराठी में) ।
जोशी : A Gist of Tilak's Gita Rahasya.
तिलक, बाल गंगाधर : गीता-रहस्य (मूल मराठी में, सप्रे द्वारा हिन्दी में तथा सुकथानकर द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित) ।
———स्वदेशी आन्दोलन के समय दिये गये भाषण (मराठी में, करंदिकर द्वारा सम्पादित) ।
———मद्रास, लंका और बर्मा यात्रा में दिये गये भाषण (मराठी में) ।
———'केसरी' में लोकमान्य तिलक के लेख, 4 जिल्दें ।
———अवन्तिकाबाई गोखले कृत महात्मा गान्धी की जीवनी की प्रस्तावना (मराठी में) ।
———The Arctic Home in the Vedas.
———Orion.
———Vedic Chronology and Vedanga Jyotisha.
———Speeches and Writings.
———Tilak's Speeches (तिरुमलि एण्ड कं.) ।
———Speehes of Tilak (एच. आर. भागवत द्वारा सम्पादित) ।
———Speeches of Tilak (श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित, फैजाबाद) ।
———Tilak's Campaign of Swarajya, 4 खण्ड ।
———श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखे गये तिलक के पत्र (*Mahratta* में प्रकाशित, दिनांक 16, 23 फरवरी, 1 मार्च, 26 जुलाई, 1936) ।

तिलक, बाल गंगाधर : हिन्दुत्व ('चित्रमय जगत' में जनवरी 1915 में प्रकाशित लेख)।
नेविन्सन, एच. डब्ल्यू : The New Spirit in India.
पाठक, मातासेवक : लोकमान्य तिलक की जीवनी।
बापट, एस. वी. : लोकमान्य तिलक के संस्मरण तथा कथाएँ, 3 जिल्दें (मराठी में)।
———तिलक सूक्ति-संग्रह (मराठी में)।
भाई शंकर और कांगा : The Tilak Case of 1897.
मराठे : तिलक की जीवनी (मराठी में)।
राधाकृष्णन, एस : "Tilak as an Orientalist', *Eminent Orientalists* में प्रकाशित (मद्रास, नटेसन एण्ड कं.)।
वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : 'Achievements of Tilak' (*Searchlight* में 30-1-55 को तथा *Mahratta* में 5-8-1955 को प्रकाशित)।
वागसुरामण्य, टी. : Life of Lokmanya Tilak (Row Publisher Bros.)
शर्मा, ईश्वरीप्रसाद : लोकमान्य तिलक की जीवनी।
शर्मा, गोकुलचन्द्र : तपस्वी तिलक।
शर्मा, नन्दकुमार देव : लोकमान्य तिलक की जीवनी।
शास्त्रुलु : All about Lokmanya Tilak.
सर्वटे तथा भण्डारी : तिलक-दर्शन।
सेतलुर, एस. एस. और देशपाण्डे, के. जी. : The Tilak Case of 1897.
संत निहालसिंह : Tilak's Work in England (*Modern Review* में लेख, अक्तूबर 1919)।
स्ट्रैची, जस्टिस : Charge to Jury in the Tilak Case of 1897.
'ऊषा-कला-माला', अगस्त 1920 का विशेषांक।
'सह्याद्रि' का तिलक विशेषांक, अगस्त 1935।
A Nation in Mourning (लोकमान्य के निधन पर श्रद्धांजलियाँ)।
A Step in the Steamer (नेशनल ब्यूरो)।
'केसरी' की जिल्दें, 1881-1920।
Mahratta की जिल्दें, 1881-1920।
Life of Bal Gangadhar Tilak (मद्रास, नटेसन एण्ड कं.)।
Life of Lokmanya Tilak (मद्रास, गणेश एण्ड कं.)।
The Bombay High Court Decision in the Tai Maharaj Case (1920)।
The Kesari Prosecution of 1908 (मद्रास, गणेश एण्ड कं.)।
Tilak *vs*. Chirol, 2 जिल्दें (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस)।

अध्याय 12—विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपत राय

जोशी, वी. सी. (सं) : Autobiographical Writings of Lajpat Rai (दिल्ली, यूनिवर्सिटी पब्लिशर्स, 1965)।
पाल, वी. सी. : Responsible Government (कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड कं., 1917, पृ. 149)।
———The Soul of India (कलकत्ता, चौधरी एण्ड चौधरी, 1911, पृ. 316)।
———Nationalism and the British Empire.
———Annie Besant (मद्रास, गणेश एण्ड कं., 1917)।
———Nationality and Empire (कलकत्ता, थैकर स्पिंक एण्ड कं., 1916, पृ. 416)।
———Indian Nationalism : Its Personalities and Principles (मद्रास, एस. आर. मूर्ति एण्ड कं., 1918, पृ. 238)।

पाल, बी. सी. : The Spirit of Indian Nationalism (लन्दन, दि हिन्दू नेशनलिस्ट एजेन्सी, 140, सिनक्लेअर रोड, वेस्ट केनसिंगटन, पृ. 141)।

———Memories of My Life and Times (1858-1885), जिल्द 1 (कलकत्ता, मॉडर्न बुक एजेन्सी, 1932)।

———Memories of My Life and Times (1885-1900), जिल्द 2 (कलकत्ता, युगयात्री प्रकाशक, 1951)।

———The New Economic Menace to India (मद्रास, गणेश एण्ड कं., 1920, पृ. 250)।

———An Introduction to the Study of Hinduism (कलकत्ता, कार्नवालिस स्ट्रीट, 1908, पृ. 237)।

———Swaraj (बम्बई, वाधवानी एण्ड कं., 1922, पृ. 42)।

———Beginnings of Freedom Movement in Modern India (कलकत्ता, युगयात्री प्रकाशक, 1954, पृ. 61)।

———Sri Krishna (मद्रास, टैगोर एण्ड कं., पृ. 182)।

———Life and Utterances of Bipin Chandra Pal (मद्रास, गणेश एण्ड कं., पृ. 181)।

लाला लाजपतराय : आत्मकथा (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।

———तवारीख-ए-हिन्द (हिन्दी और उर्दू में)।

———मत्सीनी की जीवनी (उर्दू में, 1892)।

———गैरीवाल्डी की जीवनी (उर्दू में, 1893)।

———Life of Pt. Gurudatta Vidyarthi (लाहौर, विरजानन्द प्रेस)।

———Life of Swami Dayananda.

———Life of Mahatma Sri Krishna.

———Chhatrapati Shivaji (1896)।

———The Political Future of India (न्यूयार्क, बी. डब्ल्यू. ह्यूब्श, 1919)।

———The Call to Young India (मद्रास, गणेश एण्ड कं., 1921)।

———India's Will to Freedom (मद्रास, गणेश एण्ड कं., 1921)।

———Young India (न्यूयार्क, बी. डब्ल्यू. ह्यूब्श, 1917)।

———The Story of My Deportation.

———National Education in India (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1920)।

———England's Debt to India (न्यूयार्क, बी. डब्ल्यू. ह्यूब्श, 1917)।

———An Open Letter to Lloyd George.

———Self-Determination for India.

———The Arya Samaj (लॉगमैन, ग्रीन एण्ड कं., 1915)।

———The United States of America : A Hindu's Impression and a Study (कलकत्ता, आर. चटर्जी, 1916)।

———The Evolution of Japan and Other Papers (कलकत्ता, आर. चटर्जी, 1919)

———Unhappy India (कलकत्ता, बन्ना पब्लिशिंग कं., 1928)।

———A Speech on Depressed Classes.

———The Depressed Classes (लाहौर, आर्य ट्रैक्ट सोसाइटी)।

शास्त्री, अलगूराय (अनु.) : लाला लाजपतराय (दिल्ली, लोकसेवक मण्डल, 1951)।

अध्याय 13—श्री अरविन्द

श्री अरविन्द : Bandematram, The Arya, और Dharma की जिल्दें।
——'New Lamps for Old' (*Indu Prakash* में 7 लेख)।
——The Life Divine.
——Essay on the Gita.
——On the Veda.
——The Synthesis of Yoga.
——The Human Cycle.
——The Ideal of Human Unity.
——The Spirit and Form of India Polity.
——The Doctrine of Passive Resistance.
——The Ideal of the Karmayogin.
——War and Self-Determination.
[श्री अरविन्द की कृतियों की विस्तृत सूची मेरी पुस्तक Political Philosophy of Sri Aurobindo (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई) में दी है।]

अध्याय 14—महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

एण्ड्रूज, सी. एफ. : Mahatma Gandhi's Ideals.
——Mahatma Gandhi : His Own Story.
गान्धी, एम. के. : Autobiography.
——अनासक्तियोग।
——गीता बोध।
——मंगल प्रभात।
——सर्वोदय।
——Satyagraha in South Africa.
——Hind Swaraj.
——Young India, 3 जिल्दें।
——Non-Violence in Peace and War, 2 जिल्दें।
——Community Unity.
——Satyagraha.
——Speeches and Writings of M. K. Gandhi.
——Towards Non-Violent Socialism.
ग्रैग, रिचर्ड : The Power of Non-Violence.
दत्त, डी. एम. : The Philosophy of Mahatma Gandhi.
फिशर, एल. : The Life of Mahatma Gandhi.
बोस, एन. के. : Selections from Gandhi.
रोलैण्ड, आर. : Mahatma Gandhi.
वर्मा, वी. पी. : 'Philosophic and Sociological Foundations of Gandhism' (*Gandhian Concept of State* पुस्तक में)।
——'Gandhi and Marx' (*Indian Journal of Political Science*, जून 1954)
——The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya (आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल)।

अध्याय 15—हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद

करन्दिकर, एस. एल. : सावरकर की जीवनी (मराठी में)।
कीर, धनंजय : Life and Times of Savarkar.
गोलवलकर, एम. एस. : We or Our Nationhood Defined (नागपुर, भारत प्रकाशन)।
चतुर्वेदी, सीताराम : महामना मालवीय।
चित्रगुप्त : Life of Barrister Savarkar—इन्द्रप्रकाश द्वारा संशोधित तथा परिवर्द्धित (नई दिल्ली. हिन्दू मिशन पुस्तक भण्डार, 1939, पृ. 259)।
ध्रुव, ए. बी. (सं.) : Malaviya Commemoration Volume (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1932)।
भट्टाचार्य, के. सी. : 'The Concept of Philosophy', Contemporary Indian Philosophy, राधाकृष्णन और म्यूरहैड द्वारा सम्पादित (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड कं., द्वितीय संस्करण, पृ. 103-25)।
——'Swaraj in Ideas' (*The Visvabharati Quarterly*, 1954)।
——Studies in Vedantism.
——The Subject as Freedom.
——Studies in Philosophy, 2 जिल्दें (कलकत्ता, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, 1956)।
भाई परमानन्द : हिन्दू संगठन (लाहौर, सेण्ट्रल हिन्दू युवक सभा, 1936)।
——वीर बैरागी (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।
——यूरोप का इतिहास।
राधाकृष्णन, एस. : The Philosophy of Rabindranath Tagore.
——The Reign of Religion in Contemporary Philosophy.
——Indian Philosophy, 2 जिल्दें।
——An Idealist View of Life.
——The Hindu View of Life.
——Eastern Religions and Western Thought.
——East and West in Religion.
——East and West.
——Kalki or The Future of Civilization.
——The Recovery of Faith.
——India and China.
——Is This Peace ?
——Religion and Society.
——Gautama the Buddha.
——The Heart of Hindustan.
——Great Indians.
——Education, Politics and War.
[राधाकृष्णन की अधिकांश महत्वपूर्ण पुस्तकें जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन लि., लन्दन द्वारा प्रकाशित की गयी हैं।]
लाला हरदयाल : Hints for Self Culture (बम्बई, जैको पब्लिशिंग कं., 1961)।
विद्यालंकार, एस. डी. : स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी।
श्रद्धानन्द और रामदेव : The Arya Samaj and Its Detractors.

स्वामी श्रद्धानन्द : कल्याण मार्ग का पथिक (वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 1952)।
———Inside Congress.
सावरकर, वी. डी. : हिन्दुत्व।
———हिन्दू-पद-पादशाही (हिन्दी अनुवाद) (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।
———लन्दनची वातामित्रेप (मराठी में)।
———माझी जन्मथेप (मराठी में)।
त्रिपाठी, आर. एन. : तीस दिन मालवीयजी के साथ।
उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद।
धम्मपद का अंग्रेजी अनुवाद
भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद (1948)।
परम पूजनीय डा. हेडगेवार (नागपुर, बी. आर. शिन्दे, पृ. 141)।
Justice on Trial—एम. एस. गोलवलकर और भारत सरकार के बीच हुआ पत्र-व्यवहार (1948-49) (बंगलौर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)।
Writings of Lala Hardayal (बनारस, स्वराज पब्लिशिंग हाउस, 1922, पृ. 228)।

अध्याय 16—मुसलिम राजनीतिक चिन्तन

अफजल, इकबाल (सं.) : My Life : A Fragment—मुहम्मद अली की आत्मकथात्मक जीवनी (लाहौर, शेख मुहम्मद शरीफ, 1942, पृ. 273)।
अल-बरूनी, ए. एच. : Makers of Pakistan and Modern Muslim India (लाहौर, 1950)।
अली, रहमत : The Millat and the Mission (कैम्ब्रिज, 1942, पृ. 21)।
अहमद, खान ए. : The Founder of Pakistan (लन्दन, लुजाक एण्ड कं., 1942, पृ. 33)।
आगा खाँ : India in Transition.
कौन्सल, जी. डी. : Jinnah : The Gentleman (जयपुर, गोयल एण्ड गोयल, 1940)।
कौशिक, वी. जी. : The House that Jinnah Built (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1944)।
ग्राहम, जी. एफ. आई. : The Life and Work of Sir Syed Ahmad Khan (लन्दन, हॉडर एण्ड स्टाउटन, 1909, पृ. 296)।
जिन्ना, एम. ए. : Speeches and Writings (1912-1917) (मद्रास, गणेश एण्ड कं.)।
दुग्गल, एम. आर. : Jinnah : The Mufti-i-Azam (लाहौर)।
बोलिथो, हेक्टर : Jinnah (लन्दन, जॉन मरे, 1954)।
सैयद अहमद खाँ : The Causes of the Indian Revolt.
———Transcript and Analysis of the Regulations.
———Archaeological History of the Ruins of Delhi (1844)।
———The Loyal Mohammedans of India.
———Essays on the Life of Muhammad.
सैयद, एम. एच. : Mohammed Ali Jinnah : Political Study (लाहौर, मुहम्मद अशरफ, 1945)।
Jinnah-Gandhi Talks (सितम्बर 1944) (केन्द्रीय कार्यालय, ऑल इण्डिया मुसलिम लीग, 1944)।
Select Writings and Speeches of Maulana Mohammad Ali (लाहौर, मुहम्मद अशरफ, 1944, पृ. 485)।

अध्याय 17—मुहम्मद इकबाल

अली, एस. ए. : Iqbal : His Poetry and Message (लाहौर, कुतुबखाना, 1932)।
इकबाल, मुहम्मद : Six Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam.
——Reconstruction of Religious Thought in Islam (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934)।
——The Development of Metaphysics in Persia (लन्दन, लुजाक एण्ड कं., 1908)।

इकबाल की फारसी कृतियाँ :

अर्मुगान हेजाज (हेजाज का दान)।
असरार-ए-खुदी (आत्मा के रहस्य)।
जहूर-ए-आजम (ईरान का टेस्टामेण्ट)।
पयाम-ए-मशरिक (पूर्व का सन्देश)।
पस चे बयद करद ऐ अकवाम शर्क (तब क्या किया जाय, ओ पूर्व के राष्ट्रो !)।
मुसाफिर।
रुमूज-ए-बेखुदी।

इकबाल की उर्दू कृतियाँ :

जर्ब-ए-कलीम (मूसा के डण्डे की चोट)।
जवाब-ए-शिकवा (शिकायत का उत्तर)।
बांग-ए-दारा (कारवां की घण्टी)।
बाल-ए-जिबराईल (जिबराईल का पंख)।
शिकवा (शिकायत)।

अनवर, आई. एच. : Metaphysics of Iqbal (लाहौर, मुहम्मद अशरफ, 1933)।
दर, बी. ए. : A Study of Iqbal's Philosophy (लाहौर, मुहम्मद अशरफ, 1944)।
वेग, ए. ए. : The Poet of the East (लाहौर, कुतुबखाना, 1939)।
——Iqbal as a Thinker (लाहौर, मुहम्मद अशरफ)।
शमलू (संकलित).: Speeches and Statements of Iqbal (लाहौर, अल-मनार अकादमी, 1944, पृ. 220)।
सच्चिदानन्द सिन्हा : Iqbal the Poet and His Message (इलाहाबाद, रामनरायनलाल, 1943)।

अध्याय 18—मोतीलाल नेहरू तथा चितरंजन दास

भट्टाचार्य, यू. सी. तथा चक्रवर्ती, एस. एस. : Life and Works of Pt. Motilal Nehru (कलकत्ता, माडर्न बुक एजेन्सी, 1931, पृ. 181)।
मालवीय, के. डी. : Pandit Motilal Nehru (इलाहाबाद, लॉ जनरल प्रेस 1919, पृ. 147)।
——A Life Sketch of Pt. Motilal Nehru (बम्बई, नेशनल लिटरेचर हाउस, पृ. 25)।
राय, पी. सी. : Life and Times of C. R. Das (लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1927, पृ. 313)।
——Speeches of Mr. C. R. Das (कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड कं., 1918, पृ. 293)।

अध्याय 19—जवाहरलाल नेहरू

जकारिया, रफीक (सं·) : A Study of Nehru (बम्बई, टाइम्स ऑव इण्डिया पब्लिकेशन, पृ. 478)।

नेहरू, जवाहरलाल : India's Foreign Policy (1946-1961) (पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत सरकार, 1961)।

——Soviet Russia.

——Letters from a Father to His Daughter (इलाहाबाद, किताबिस्तान, 1928)।

——Glimpses of World History (लन्दन, लिंडसे ड्रमण्ड, 1938)।

——Autobiography (लन्दन, जॉन लेन, दि बॉडली हैड, 1936)।

——The Discovery of India (कलकत्ता, दि सिगनेट प्रेस, 1946)।

——The Unity of India (लन्दन, लिंडसे ड्रमण्ड, 1941)।

——लड़खड़ाती दुनिया।

ब्रेचर, माइकेल : Nehru : A Political Bibliography (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959)।

मोरेस, फ्रैंक : Jawaharlal Nehru (बम्बई, टाइम्स ऑव इण्डिया प्रेस, 1956)।

शर्मा, जे. एस. : A Descriptive Bibliography of Nehru (दिल्ली, एस. चन्द एण्ड कं. 1955)।

सिन्हा, सच्चिदानन्द : A Short Life-Sketch of Jawaharlal Nehru (पटना, लॉ प्रेस, 1936, पृ. 15)।

स्मिथ, डोनल्ड यूजीन : Nehru and Democracy (कलकत्ता, ओरिएण्ट लॉंगमैन्स, 1958, पृ. 194)।

Jawaharlal Nehru's Speeches (1946-1949) (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन)।

Jawaharlal Nehru's Speeches (1949-1953) (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन)।

Jawaharlal Nehru's Speeches (1953-1957) (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन)।

अध्याय 20—सुभाषचन्द्र बोस

टोय, ह्यू : The Springing Tiger (बम्बई, एलाइड पब्लिशर्स, 1959)।

बोस, एस. सी. : An Indian Pilgrim—आत्मकथा—1897-1920 (कलकत्ता, थैकर, स्पिक एण्ड कं., 1948)।

——The Indian Struggle (1920-1934) (कलकत्ता, थैकर, स्पिक एण्ड कं.)।

——The Indian Struggle (1934-1942) (कलकत्ता, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कं., 1952)।

——तरुण के स्वप्न।

अध्याय 21—मानवेन्द्रनाथ राय

राय, एम. एन. : Planning in India (कलकत्ता, रेनासां पब्लिशर्स, 1944)।

——India's Problem and Its Solution (1922)।

——From Savagery to Civilization (कलकत्ता, 1940)।

——War and Revolution (रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1942)।

——National Government or People's Government ? (रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1943)।

——New Humanism (कलकत्ता, रेनासां पब्लिशर्स, 1947)।

——Fragments of a Prisoner's Diary, जिल्द 2, The Ideal of Indian Womanhood (देहरादून, इण्डियन रेनासां एसोशिएसन लि., 1941)।

राय, एम. एन. : The Communist International.
——Materialism, द्वितीय संस्करण, 1951 ।
——Science and Philosophy.
——The Russian Revolution.
——Scientific Politics.
——New Orientation.
——Fascism.
——Reason, Romanticism and Revolution, 2 जिल्दें; जिल्द 1, 1952 और जिल्द 2, 1955 ।
——Jawaharlal Nehru (दिल्ली, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1945, पृ. 61) ।
——India in Transition—अवानी मुखर्जी के सहयोग से लिखित, जेनेवा, 1922, पृ. 241) ।
——Heresies of the 20th Century—दार्शनिक निबन्ध (मुरादाबाद, प्रदीप कार्यालय, 1940, पृ. 206) ।
——My Experience of China.
——Revolution and Counter-Revolution in China (मूलतः जर्मन भाषा में लिखित और 1931 में प्रकाशित) (कलकत्ता, रेनासां पब्लिशर्स, 1946, पृ. 689) ।
——The Future of Indian Politics (लन्दन, आर. बिशप, 1926, पृ. 118) ।
——An Open Letter to the Rt. Hon. J. R. Macdonald.
——The Aftermath of Non-Cooperation.
——The Alternative (बम्बई, वोरा एण्ड कं., 1940, पृ. 83) ।
——Nationalism (बम्बई, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1942, पृ. 84) ।
——Indian Labour and Post-War Reconstruction (दिल्ली, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1943, पृ. 58) ।
——Problem of Freedom (कलकत्ता, रेनासां पब्लिशर्स, 1945, पृ. 140) ।
——What Do We Want ?
——Freedom or Fascism (दिसम्बर 1942, पृ. 110) ।
——Poverty or Plenty ? (पृ. 156) ।
——Nationalism and Democracy.
——Freedom and Democracy.
——Library of a Revolutionary.
——What is Marxism ?
——Historical Role of Islam.
——Our Differences.
——Politics, Power and Parties (कलकत्ता, रेनासां पब्लिशर्स, 1960) ।
राय, एम. एन. तथा अन्य : India and War (दिसम्बर 1942) ।
राय, एम. एन. तथा कर्णिक, वी. वी. : Our Problems (कलकत्ता, वारेन्द्र लाइब्रेरी, 1938, पृ. 274) ।
राय, एम. एन. तथा राय, एविलन : One Year of Non-cooperation : From Ahmedabad to Gaya (कम्यूनिस्ट पार्टी ऑव इण्डिया, 1923, पृ. 184) ।

अध्याय 22—भारत में समाजवादी चिन्तन

अशोक मेहता : Studies in Asian Socialism (बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1959)।
———Democratic Socialism.
जयप्रकाश नारायण : Towards Struggle (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946)।
नरेन्द्रदेव : Socialism and the National Revolution (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946)।
———राष्ट्रीयता और समाजवाद (वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 1949)।
लखनपाल : History of the Congress Socialist Party (लाहौर, 1946)।
लोहिया, राम मनोहर : The Mystery of Sir Stafford Cripps (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1942)।
सेठ, एच. एल. : The Ted Fugitive : Jaya Prakash Narayan (लाहौर, इण्डियन प्रिंटिंग वर्क्स)।
सेठ, एच. के. : A History of the Praja-Socialist Party (लखनऊ, 1959)।

अध्याय 23—सर्वोदय

जयप्रकाश नारायण : From Socialism to Sarvodaya.
———A Reconstruction of Indian Polity.
दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन।
वर्मा, वी. पी. : Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya (आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल)।
विनोबा भावे : स्वराज्य शास्त्र।
———भूदान गंगा, 7 जिल्दें।

अध्याय 24—भारत में साम्यवादी आन्दोलन तथा चिन्तन

ओवरस्ट्रीट, जी. डी. तथा विण्डमिलर, एम. : Communism in India (कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958)।
काये, सेसिल : Communism in India (दिल्ली, गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया प्रेस, 1926)।
कौट्स्की, जॉन एच. : Moscow and the Communist Party of India (न्यूयार्क, जॉन विली, 1956)।
घोष, अजय : Articles and Speeches (मास्को, पब्लिशिंग हाउस फॉर ओरिएण्टल लिटरेचर, 1962)।
———The Communist Party of India in Struggle for Freedom and Democracy.
———Theories and Practices of the Socialist Party of India.
जयप्रकाश नारायण : Socialist Unity and the Congress Socialist Party, 1941.
डांगे, एस. ए. : India : From Primitive Communism to Slavery.
ड्रूहे, डेविन एन. : Soviet Russia and Indian Communism (न्यूयार्क, बुकमैन एसोसिएट्स, 1959)।
मधु लिमये : Communist Party : Facts and Fiction.
मसानी, एम. आर. : The Communist Party of India (लन्दन, डेरेक वर्शोइल, 1954)।
मुजफ्फर अहमद : The Communist Party of India and Its Formation Abroad—मूल बंगला का एच. मुखर्जी कृत अंग्रेजी अनुवाद (कलकत्ता, नेशनल बुक एजेन्सी, 1962)।
राहुल सांकृत्यायन : साम्यवाद ही क्यों ?
———मानव समाज।

राहुल सांकृत्यायन : द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।
——दर्शन दिग्दर्शन।
——बीसवीं सदी।
——मेरी जीवन-यात्रा (2 जिल्दें)।
हैरिसन, जॉन एच. : India : The Most Dangerous Decades.

REPORTS

1. Congress Village Panchayat Committee Report (1954).
2. Local Finance Enquiry Commission Report (1951).
3. Taxation Enquiry Commission Report, 3 Vols. (1953).
4. Report of the Team for the Study of Community Development and National Extension Service, 3 Vols. (Balwant Rai Mehta Committee Report).
5. Indian Statutory Commission Report (Simon Commission).
6. Nehru Report (with Supplement).
7. Montague Chelmsford Report.
8. Muddiman Committee Report.
9. Decentralization Commission (1909) Report.
10. Civil Disobedience Enquiry Committee Report.
11. University Education Commission (Radhakrishnan Commission) Report, 3 Parts.
12. Welby Commission Report.